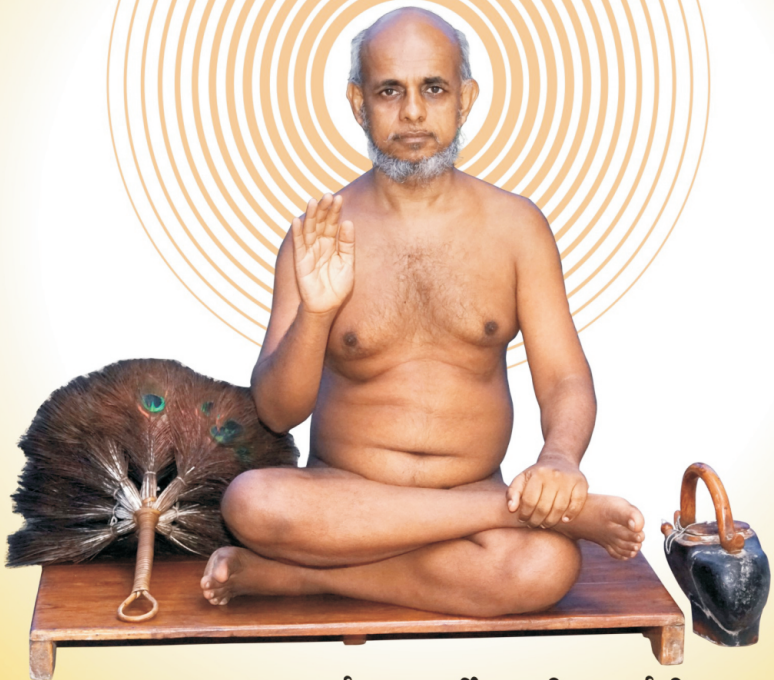

परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि-परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19-03-1971 * मुनिदीक्षा-11-05-1989 * आचार्यपद- 20-06-2004

पट्टाधीशपद- 24-12-2010 (20-06-2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणाः-

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी-जुलाई 2004) (अक्षयज्योति-अक्तूबर 2004)

सिद्धिविनिश्चय

भाग 1

ग्रन्थकार
आचार्यश्री अकलंक जी महाराज

सम्पादक
न्यायाचार्यश्री महेन्द्रकुमार जी जैन

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ

(परम्परानायक)

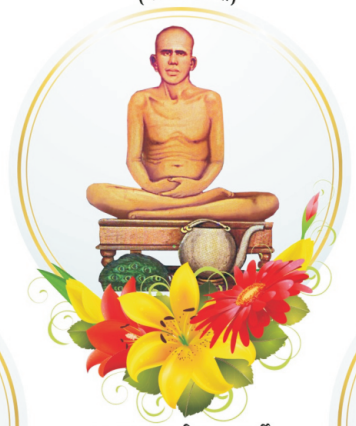

परम पूज्य चारित्र-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त-शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तृत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि-परिवार

ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला [संस्कृत ग्रन्थाङ्क–२२]

श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवप्रणीतस्य

सवृत्तिसिद्धिविनिश्चयस्य

रविभद्रपादोपजीवि-अनन्तवीर्याचार्यविरचिता

सिद्धिविनिश्चय टीका

(डॉ० महेन्द्रकुमारन्यायाचार्य संकलित 'आलोक' टिप्पण-प्रस्तावनादिसहिता)

[प्रथमो भागः]

[ग्रन्थोऽयं काशी हिन्दूविश्वविद्यालयेन 'पीएच० डी०' इत्युपाधिकृते स्वीकृतः]

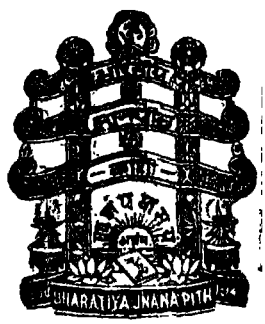

सम्पादक—
डॉ०महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य, जैन-प्राचीन न्यायतीर्थ, एम०ए०, पीएच०डी० आदि
बौद्धदर्शनाध्यापक, संस्कृत महाविद्यालय, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

प्रथम आवृत्ति
६०० प्रति

माघ, वीर नि० २४८५
वि० सं० २०१५
फरवरी १९५९

मूल्य १८ रु०

स्व० पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवीकी पवित्र स्मृतिमें तत्सुपुत्र साहू शान्तिप्रसादजी द्वारा

संस्थापित

भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन-ग्रन्थमाला

संस्कृत ग्रन्थाङ्क २२

इस ग्रन्थमालामें प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड, तामिल आदि प्राचीन भाषाओंमें उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक और ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक जैन साहित्यका अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन और उसका मूल और यथासम्भव अनुवाद आदिके साथ प्रकाशन होगा। जैन भण्डारोंकी सूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, विशिष्ट विद्वानोंके अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन-साहित्य ग्रन्थ भी इसी ग्रन्थमालामें प्रकाशित होंगे।

ग्रन्थमाला सम्पादक
डॉ. हीरालाल जैन,
एम० ए०, डी० लिट्०
डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये,
एम० ए०, डी० लिट्०

प्रकाशक
अयोध्याप्रसाद गोयलीय
मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

मुद्रक—

ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, काशी	B. H. U. प्रेस, काशी	सन्मतिमुद्रणालय, काशी
फार्म १ से ४६ तक	अंग्रेजी १ से १५ फार्म तक	टाइटिल १—२
प्रस्तावना १—२२ तक		

स्थापनाब्द
फाल्गुन कृष्ण ६
वीर नि० २४७०

सर्वाधिकार सुरक्षित

विक्रम सं० २०००
१८ फरवरी सन् १९४४

JÑĀNAPĪTHA MURTIDEVĪ JAINA GRANTHAMĀLĀ

SANSKRIT GRANTHA, No. 22

SIDDHIVINISHCHAYATIKA

OF

SHRI ANANTAVIRYACHARYA,

THE COMMENTARY

ON

SIDDHIVINISHCHAYA AND ITS VRITTI

of

BHATTA AKALANKA DEVA

[VOL.1]

[Thesis Approved for the Ph. D. Degree of The Banaras Hindu University.]

EDITED WITH

'ALOKA' AND INTRODUCTION etc.

By

Dr. MAHENDRAKUMAR JAIN, NYAYACHARYA, M.A., Ph.D. etc.

LECTURER, BAUDDHADARSHAN

Sanskrit Mahavidyalaya, Banaras Hindu University

Published by

BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪTHA KĀSHĪ

First Edition
600 Copies

MAGHA VIRA SAMVAT 2485
V. S. 2015
FEBRUARY 1959

Price
Rs. 18/-

BHARĀTĪYA JÑĀNAPĪTHA Kāshi

FOUNDED BY

SETH SHĀNTI PRASĀD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE BENEVOLENT MOTHER

SHRĪ MŪRTI DEVĪ

BHĀRATĪYA JNĀNA-PĪTHA MŪRTI DEVĪ
JAIN GRANTHAMĀLĀ

SANSKRIT GRANTHA NO. 22

IN THIS GRANTHAMĀLĀ CRITICALLY EDITED JAIN ĀGAMIC PHILOSOPHICAL, PAURĀṆIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS AVAILABLE IN PRĀKRIT, SANSKRIT, APABHRANSHA, HINDI, KANNADA, TAMIL ETC., WILL BE PUBLISHED IN THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES

AND

CATALOGUES OF JAIN BHANDARĀS, INSCRIPTIONS, STUDIES OF COMPETENT SCHOLARS & POPULAR JAIN LITERATURE WILL ALSO BE PUBLISHED

General Editors
Dr. Hiralal Jain, M. A., D. Litt.
Dr. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.

Publisher
Ayodhya Prasad Goyaliya
Secy., Bharatiya Jnanapitha
Durgakund Road, Varanasi

Founded on
Phalguna krishna 9.
Vira Sam. 2470

All Rights Reserved

Vikrama Samvat 2000
18 Febr. 1944.

FOREWORD

[1]

A complete history of Indian philosophy during the early mediaeval age remains yet to be written. It represents probably the most prolific period in the intellectual life of India when scholastic metaphysics and logic, like other branches of Indian culture, had their origin and development. It covers nearly a thousand years before the advent of Islamic invaders Like Nyaya Vaisheshika, Mimansa, Vedanta, Vyakarana and Agamik schools on the orthodox side, the Buddhist and Jaina schools also produced some of their best philosophic writers during this period. Thanks to the untiring labours and admirable perseverance of modern scholars some of the best works of these schools, supposed to have been irrevocably lost, are being gradually recoverd and brought to light. We are sincerely grateful to these pains taking workers for what they have been doing in this field.

I congratulate Dr. Mahendra Kumar Jain, M. A., Nyayacharya, Ph. D. of the College of Oriental Learning, Banaras Hindu University on his remarkable achievement in the sphere of early Jain philosophical speculations. Having recovered Siddhi Vinishchaya, the lost work of the veteran Jain logician, Akalanka and having edited it and its commentary by Ananta-virya he has rendered an invaluable service to the cause not only of the Jain philosophy but of the entire mediaeval philosophy of India. The text of Akalanka's work had to be reconstructed by him from the single manuscript of a single commentary, with occasional help derived from other sources. The labours involved in this text have naturally been immense and it is a pleasure to find that we are at last presented with the fruits of his long continued labour in the form of an excellent critical edition of the text and commentary accompanied by a learned introduction (116 pages in English and 164 pages in Hindi) and by notes in Sanskrit (named Aloka) by the editor himself. It is true that in a work of this kind it is not possible to ensure absolute freedom from inaccuracies but there is no doubt that a tolerably correct and readable text of Akalanka's *magnum opus* is now available to us for closure study and further investigation.

Gopinath Kaviraj
(Mahamahopadhyaya, M. A., D. Litt.,
Ex. Principal, Govt. Sanskrit College, Varanasi)

2 A, Sigra
Varanasi

प्राक्कथन

[१]

पूर्व मध्यकालीन युगके भारतीय तत्त्वज्ञानका इतिहास अभी सर्वथा अपूर्ण है। भारतके बौद्धिक जीवनका संभवतः यह सर्वाधिक सुफल युग था। इसी युगमें भारतीय संस्कृतिकी अन्य शाखाओंकी भाँति उच्चकोटिके तत्त्वज्ञान तथा तर्कशास्त्रका प्रादुर्भाव एवं विकास हुआ। यह काल मुसलमानोंके आक्रमणके प्रायः एक सहस्र वर्ष पूर्वका है। इसी कालमें वैदिक परम्पराके न्याय-वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त, व्याकरण तथा आगम आदि विषयोंके बहुश्रुत लेखकोंकी तरह बौद्ध एवं जैन परम्परामें अत्युत्कृष्ट तत्त्वज्ञानी लेखक भी उत्पन्न हुए थे। किन्तु उस कालके अनेक श्रेष्ठ ग्रन्थ प्रायः नष्ट हो गये माने जाते हैं, फिर भी कुछ आधुनिक विद्वानोंके अथक परिश्रम एवं सराहनीय अध्यवसायसे इस नष्टप्राय बहुमूल्य सामग्रीका पुनरुद्धार हुआ है तथा वह फिर हमारे सामने आई है। एतदर्थ हम उन परिश्रमी विद्वानोंके ऋणी हैं।

संस्कृत महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके डॉ० महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य, एम० ए०, पीएच० डी० इन्हीं उत्कृष्ट विद्वानों की श्रेणीमें हैं, और मैं प्राचीन जैन दर्शनके क्षेत्रमें उनके विलक्षण कार्य एवं असाधारण सफलताके लिए उन्हें बधाई देता हूँ। उन्होंने प्रमुख जैन तार्किक आचार्य अकलंकके लुप्त ग्रंथ 'सिद्धिविनिश्चय' और उसकी स्ववृत्तिका उद्धार तथा आचार्य अनन्तवीर्यकी टीकाके साथ उसका समालोचनात्मक सम्पादन करके न केवल जैन दर्शनकी महती सेवा की है वरन् मध्यकालीन समग्र भारतीय दर्शनका बड़ा उपकार किया है। अकलंकदेवका मूल सिद्धिविनिश्चय एवं उसकी स्ववृत्ति अप्राप्य है, केवल उसकी टीकाकी एक पाण्डुलिपिके आधार पर डॉ० जैनने इस अमूल्य ग्रन्थका पुनर्निर्माण किया है, यत्र तत्र अन्य साधनोंका भी उपयोग किया है। इस कार्यके सम्पादनमें जो महान् प्रयत्न एवं परिश्रम निहित है, उसका केवल अनुमान ही किया जा सकता है। हमें परम हर्ष है कि उनकी यह दीर्घकालिक साधना सफल हुई, जिसके परिणामस्वरूप एक अत्युत्तम ग्रन्थका बड़ा शोधपूर्ण संस्करण प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थमें सिद्धिविनिश्चय मूल, उसकी स्ववृत्ति तथा अनन्तवीर्यकी टीकाके अतिरिक्त हिन्दी (१६४ पृ०) और अंग्रेजी (११६ पृ०) में एक सुविस्तृत प्रस्तावना लिखी गई है और साथ-साथ तुलनात्मक संस्कृत 'आलोक' टिप्पण भी दिये गये हैं। इतने बड़े ग्रन्थमें अशुद्धिका सर्वथा अभाव होना तो संभव नहीं किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं है कि संपादकने अकलंकदेवके इस महान् ग्रन्थका प्रायः शुद्ध एवं सुपठ संस्करण प्रस्तुत किया है, जिसके अनुशीलन से आगेके शोधकार्यमें बड़ी सहायता मिलेगी।

२ ए, सिगरा
वाराणसी

गोपीनाथ कविराज
[महामहोपाध्याय, एम० ए०, डी० लिट्०
भूतपूर्व प्रिन्सिपल, गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, वाराणसी]

It is a regrettable fact that, while almost every educated Indian, particularly every educated Hindu, swears by Indian philosophy, the number of those who know anything about our philosophical thinking is pitiably small. To most people Indian philosophy is synonymous with Vedanta as interpreted by Shankar, namely, Advaitavada and the essence of Vedanta can be easily expressed by the repetition of a few words like Brahma, Maya, nescience, Avidya and Moksha. This is a very incomplete and unfair picture of Indian philosophical thought. Anyone who cares to make a systematic study of Vedanta itself will see that every standard work on the subject presupposes a sound knowledge of other systems, particularly Sankhya and Nyaya. Instead of making any direct statement of his own position, Vyasa in the Vedanta Sutras devotes three-fourths of the Tarkapada to a refutation of the Sankhya doctrine and the greater part of the remainder to a refutation of other schools, including both Bauddha and Jain. Criticism and refutation apart, there can be no doubt that every school has been influenced by every other and no system can be studied entirely in isolation.

This inter-relation is not confined to the so-called six systems of Hindu philosophy. In the first place, it is pointless to speak of six only. There are many more. In the Sarva Darshana Sangraha, Madhavacharya desrcibes sixteen, some of these are no doubt variants of the other and better known systems. But those differences which mark them off from the parent systems are themselves important signposts on the path which leads to an understanding of the Truth. What is true of these orthodox systems is equally true of the Nastika schools. It should be understood that the sense in which the words Astika and Nastika are used at present is not the same in which the words are used in our religious and philosophic literature. They have nothing to do with belief or disbelief in the existence of God. Whoever accepts the Vedas as the final authority in all matters is an Astika. Everyone else is a Nastika. The Bauddha and Jain philosophies are, of course, Nastika in this sense; but they have had a profound influence on Indian thought. Buddhism has practically disappeared from India and Jainism also has very few followers. None the less, Buddhist and Jain thoughts have deeply impressed the Indian mind and not only compelled Astika thinkers to reorientate and, to some extent, modify their own doctrines but have become part and parcel of popular belief. Unfortunately, very few Indian scholars care to study these systems. The ordinary Sanskrit pandit is content to derive his knowledge of these schools second-hand from the criticisms levelled against them by authors of Vedantic treatises, without caring to inquire whether these indictments are based on a fair knowledge and presentation of the other side. Because of the fact that Buddhism

is the religion of such a large population of the world, it has attracted Western thinkers and many educated men in India have begun to acquire a fair knowledge of its basic principles through English translations. Jainism has, unfortunately, not received similar treatment.

Shri Mahendra Kumar Jain has rendered a very valuable service to Indian philosophy by editing the Siddhi Vinishchaya Tika. The author of the book was Akalanka who himself wrote a Vritti or notes on the book and then Anantvirya wrote the tika or commentary. Although quotations from the book have been found plentifully in a number of books on Nyaya, a copy of the original manuscript was, for the first time, found in the year 1926. It required a good deal of editing and Shri Mahendra Kumar has had to amend the extant text in more places than one. This is not to be wondered at. Akalanka flourished somewhere about the 7th or 8th century of the Christian era. The political upheavals which the country underwent in the following centuries were responsible, as we know to our cost, for the destruction and loss of a large number of valuable books some of which are known today, if at all, only by name. In a period when the preservation of a manuscript was a task requiring all the ingenuity and courage of which a man was capable, it was difficult to preserve purity and completeness of transcription. Shri Mahendra Kumar has had to devote several years to the task of editing the book. His has been a labour of love which deserves commendation. The Introduction which he has contributed gives a wealth of useful material which should provide a useful background to the study not only of this book but of Jain logic in general. Along with an English Introduction there is an equally valuable Prastavana in Hindi.

As I have indicated earlier, Nyaya philosophy is one of the directions in which Indian philosophical genius developed. It has a uniqueness all its own but gives evidence at every step of that fundamental fountain-head from which all Indian thinking has sprung. The free play and inter-play of mind upon mind has been a special feature of Indian culture and I am sure a study of this book will help the reader, even if he has previously studied Hindu philosophical literature, to obtain a better grasp of the subject.

Lucknow
19–12–58

Sampurnanand,
(Chief Minister, Uttar-Pradesh)

प्रायः प्रत्येक शिक्षित भारतवासी विशेषकर हिन्दू, भारतीय दर्शनके जानकार होनेकी हामी भरता है, किन्तु दार्शनिक विचारधारासे यथार्थतः अवगत लोगोंकी संख्या सचमुच अत्यल्प है। बहुतोंके लिए तो शंकराचार्यकी वेदान्तव्याख्या अर्थात् अद्वैतवाद ही भारतीय तत्त्वज्ञानका पर्यायवाची बन गया है, तथा ब्रह्म, माया, अज्ञान, अविद्या और मोक्ष सदृश कुछ शब्दोंके उच्चारणमें ही वेदान्तका सारा सार भरा है। किन्तु वस्तुतः यह भारतीय दर्शनका सर्वथा अपूर्ण और भ्रान्त चित्र है। वेदान्तके अध्ययनमें ही अन्य सभी दर्शनों की विशेषकर सांख्य और न्यायदर्शनके विशिष्ट ज्ञानकी परमावश्यकता होती है। स्वयं व्यासने 'वेदान्तसूत्र' के तर्कपादके तीन चौथाई भागमें सांख्यदर्शनका खंडन किया है तथा शेष भागके अधिकांशमें अन्य दर्शनोंका निराकरण। इनमें बौद्ध तथा जैन दर्शन भी सम्मिलित हैं। यदि हम आलोचना और खंडनकी बातको अलग रखकर भी सोचें तो इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि प्रत्येक दर्शन इतर दर्शनोंसे बराबर प्रभावित हुआ है। अतः शेष दर्शनोंको छोड़कर केवल किसी एक दर्शनका समुचित अध्ययन संभव ही नहीं है।

उपर्युक्त पारस्परिक सम्बन्ध की बात केवल छह हिन्दू दर्शनों तक ही सीमित नहीं है। पहिले तो दर्शनोंकी छह संख्या ही ठीक नहीं जान पड़ती, क्योंकि माधवाचार्यने ही अपने 'सर्वदर्शन संग्रह' में सोलह दर्शनोंका वर्णन किया है। इनमेंसे कुछ तो मुख्य दर्शनोंके ही प्रकारमात्र हैं, किन्तु जिन विशेष बातों को लेकर ये मूलदर्शनसे पृथक् हुए हैं वस्तुतः वे ही बातें सत्यको समझनेमें मार्गचिह्नका काम करती हैं। जो बात इन परम्परागत दर्शनोंके लिए सही है वही नास्तिक विचारधाराके लिए भी ठीक है। यहाँ यह जान लेना भी आवश्यक है कि 'आस्तिक' एवं 'नास्तिक' शब्दोंका जो अर्थ आजकल लगाया जाता है वह हमारे धर्म एवं दर्शन साहित्यमें प्रयुक्त इन शब्दोंके अर्थसे भिन्न है। इनका 'ईश्वर' को मानने या न माननेसे कोई सम्बन्ध नहीं है। वस्तुतः जो वेदोंको अन्तिम प्रमाणके रूपमें स्वीकार करता है वह 'आस्तिक' है तथा शेष 'नास्तिक' हैं। इस परिभाषाके अनुसार ही बौद्ध और जैन दर्शन भी नास्तिक माने गये हैं। इसके बावजूद भी भारतीय दर्शनपर इनका बड़ा प्रबल प्रभाव पड़ा है। यद्यपि बौद्ध धर्म इस देशसे प्रायः लुप्त हो गया तथा जैन धर्मावलम्बियों की संख्या भी बहुत थोड़ी है फिर भी इनकी परम्पराओंने भारतीय तत्त्ववेत्ताओंके मनपर गहरी छाप लगाई है, और न केवल आस्तिक विचारोंको अपने सिद्धान्तोंमें संशोधन परिवर्तन करनेके लिए ही बाध्य किया है प्रत्युत ये दर्शन हमारी सार्वजनीन विचारधाराके अभिन्न अंग बन गये हैं। किन्तु दुर्भाग्यकी बात यह है कि केवल कुछ भारतीय पंडित ही इन दर्शनोंका अनुशीलन करते हैं। साधारणतया संस्कृतके पंडित लोग इनका ज्ञान केवल वेदान्तिक ग्रन्थकारों द्वारा की गई इनकी आलोचनाओंसे ही प्राप्त करते हैं और इस बातपर तनिक भी विचार नहीं करते कि ये आलोचनाएँ किस हद तक ठीक हैं या तथ्यों पर आधारित हैं। इस देशसे लुप्त हो जानेपर भी बौद्धधर्म संसार की एक बहुत बड़ी जनसंख्याका धर्म हो गया है अतः बहुतसे विचारकोंका ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हुआ है और अंग्रेजी अनुवादोंके सहारे ही सही उसके आधारभूत सिद्धान्तोंका लोगोंने अध्ययन और मनन किया है, लेकिन 'जैनदर्शन' को यह सुयोग भी सुलभ नहीं हो सका।

उपर्युक्त पृष्ठभूमिमें यह निर्विवाद है कि श्री महेन्द्रकुमार जैनने इस 'सिद्धिविनिश्चय टीका' का सम्पादन करके भारतीय दर्शन की बहुमूल्य सेवा की है। आचार्य अकलंकदेवने सिद्धिविनिश्चय मूल और उसकी वृत्ति स्वयं रची है। तत्पश्चात् आ० अनन्तवीर्यने उनपर उक्त टीका लिखी। यद्यपि न्यायके अनेक ग्रन्थोंमें उपर्युक्त ग्रन्थके उद्धरण मिलते हैं किन्तु (मूल सिद्धिविनिश्चय और उसकी वृत्ति की प्रति आज तक उपलब्ध नहीं हुई) केवल सिद्धिविनिश्चय टीका की एक प्रति सर्व प्रथम ई० १९२६ में प्राप्त हुई। इसके सम्पादनमें श्रीमहेन्द्र-

कुमारजीको महान् परिश्रम करना पड़ा है तथा उन्होंने अनेक स्थानोंपर मूल पाठका संशोधन भी किया है। अकलंकदेव ईसाकी ७वीं या ८वीं शताब्दीमें कभी हुए हैं। आगे की शताब्दियोंमें इस देशका जो विध्वंस या तहस-नहस हुआ उसकी करुण कहानी हम सब जानते हैं। इसके परिणाम स्वरूप हमारा जो आर्थिक और राजनैतिक ह्रास हुआ वह हमारी सांस्कृतिक तथा साहित्यिक हानिकी तुलनामें अत्यल्प ही कहा जा सकता है। हमारे असंख्य ग्रन्थरत्न नष्ट हो गये और आज तो उनमेंसे केवल कुछके ही नाम शेष रह गये हैं। ऐसे समयमें जब कि मूल ग्रन्थोंकी प्रतिलिपिकी सुरक्षा करना ही मानव प्रयासके लिए एक चुनौती थी उस समय उनकी शुद्धता पूर्णता एवं यथार्थता का संरक्षण बहुत दूरकी अथवा कल्पनातीत बात थी। इन परिस्थितियोंमें श्रीमहेन्द्रकुमारजीको इस ग्रन्थ सम्बन्धी शोधकार्य एवं उसके सम्पादनमें अनेक वर्षोंतक अधिक परिश्रम करना पड़ा तो इसमें आश्चर्य ही क्या? मैं उनके अध्यवसाय और विद्याप्रेम की समुचित प्रशंसा करता हूँ। उन्होंने इस ग्रन्थकी जो भूमिका लिखी है वह तो अत्यन्त मूल्यवान् सामग्रीका एक भण्डार बन गई है, जिससे न केवल इस ग्रन्थके विशेष अध्ययनमें ही सहायता मिलेगी वरन् वह सामान्यतः जैनन्यायके अनुशीलनमें बड़ी महत्वपूर्ण पृष्ठभूमिका कार्य करेगी। अंग्रेजी भूमिकाके साथ ही साथ वैसी ही बहुमूल्य हिन्दी प्रस्तावना भी इसमें दी गई है।

न्याय दर्शन की दिशा उन दिशाओंमें से एक है जिनमें भारतीय तत्त्वज्ञानकी प्रतिभा विकसित हुई है। इसकी अपनी विलक्षणता है। तथा पद-पदपर यह उस मूल उद्गमका भी प्रमाण प्रस्तुत करता है जहाँसे भारतीय विचारधारा प्रस्फुरित हुई है। उन्मुक्त विचारशैलीके साथ-साथ पारस्परिक चिन्तन और विचार विनिमय भारतीय संस्कृतिकी बड़ी विशिष्टता रही है। मेरा पूर्ण विश्वास है कि श्रीमहेन्द्रकुमारके इस ग्रन्थके अध्ययनसे हिन्दूदर्शनके पंडितोंको भी अपने विषयको और अधिक समझने और विचारनेमें बड़ी सहायता मिलेगी।

लखनऊ
१६ दिसम्बर १९५८

सम्पूर्णानन्द
(डी० लिट्, मुख्यमंत्री उत्तरप्रदेश)

प्राथमिक

अकलंकके नामसे जैन समाजका प्रत्येक व्यक्ति सुपरिचित है। किन्तु इस परिचयका आधार है प्रायः अकलंकके जीवनका वह कथानक जिसके अनुसार उन्होंने बौद्ध शास्त्रोंके गूढ़ अध्ययनके लिए किसी बौद्ध महाविद्यालयमें, वहाँके नियमोंके विरुद्ध, वेष बदलकर प्रवेश किया, तथा सच्ची बात खुल जाने पर वहाँसे भाग कर बड़े क्लेशसे अपने प्राणोंकी रक्षा की। तत्पश्चात् उन्होंने राज-सभामें बौद्धोंसे शास्त्रार्थ कर उन्हें परास्त किया और देश भरमें जैनधर्मका डंका बजाया।

कथानक अधिकांश काल्पनिक हुआ करते हैं, और उनमें अनेक बातें बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन की जाती है। किन्तु उनमें हमें बहुधा, विवेकसे विचार करने पर, तथ्यांशके दर्शन भी हो जाते हैं। अकलंकके विषयमें जो बातें उनकी रचनाओंके अध्ययन व अन्य ऐतिहासिक खोज-शोधसे ज्ञात हो सकी हैं उनसे उक्त कथानककी यह बात पूर्णतः प्रमाणित हो जाती है कि अकलंकने जैन धर्मके अतिरिक्त वैदिक व बौद्ध शास्त्रोंका गहन अध्ययन किया था, और अपने ग्रन्थोंमें उनकी तीव्र आलोचना करके जैन धर्मके महत्त्वको बहुत बढ़ाया था।

अकलंकका सबसे अधिक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है 'तत्त्वार्थ-राजवार्त्तिक'। यह उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रकी विशद और सुविस्तृत टीका है, जिसमें उनसे पूर्वकी पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थवृत्तिका बहु-भाग वार्त्तिक रूपसे ग्रहण कर विषयको विस्तारसे समझानेका प्रयत्न किया गया है। उस कृतिका पंडित-समाजमें बहुत कालसे प्रचार है, और इसे पढ़कर ही वे जैन सिद्धान्तशास्त्रीका पद प्राप्त करते चले आ रहे हैं। उनकी दूसरी प्रसिद्ध रचना है 'अष्टशती'। यह समंतभद्र कृत 'आप्तमीमांसा' की टीका है जिसे आत्मसात् करके विद्यानन्द स्वामीने अपनी 'अष्टसहस्री' नामकी टीका लिखी है। जैन न्यायके ज्ञानके लिए यह रचना भी दीर्घकालसे सुविख्यात है। इनके अतिरिक्त अकलंककी चार रचनाएँ और अभी अभी प्रकाशमें आई हैं। ये हैं 'लघीयस्त्रय', 'न्यायविनिश्चय', 'प्रमाणसंग्रह' और 'सिद्धिविनिश्चय'। ये चारों ही ग्रन्थ न्याय-विषयक हैं, जिनमें जैन न्यायके सिद्धान्तोंको सुप्रतिष्ठित और पल्लवित करते हुए उनके द्वारा जैन आगमिक परम्पराका पोषण किया गया है, और यथावसर वैदिक व बौद्ध सिद्धान्तोंकी आलोचना की गई है। इन ग्रन्थोंका अभी उतना प्रचार नहीं हो पाया जितना प्रथम दो रचनाओंका हुआ है। ये कृतियाँ, हैं भी अपेक्षाकृत अधिक दुर्बोध और पाण्डित्यपूर्ण। इसी कारण इन ग्रन्थोंकी प्राचीन प्रतियाँ भी दुर्लभ हो गई थीं। यह तो इस कालकी गवेषणावृत्ति तथा तत्संबंधी विद्वानोंके विशेष प्रयासोंका सुपरिणाम है जो ये ग्रन्थ प्रकाशमें लाये जा सके हैं।

जब हम न्यायविषयक ग्रन्थोंका अवलोकन करते हैं तब हमें अपने इन अतिप्राचीन विद्वानोंकी प्रतिभा, ज्ञानोपासना तथा साहित्यिक अध्यवसायपर आश्चर्य और गर्व हुए बिना नहीं रहता। किन्तु एक बात बारम्बार हृदयमें उठती है कि वैदिक परम्पराके नैयायिकोंने बौद्ध व जैन मतमतान्तरोंका खंडन किया व बौद्ध तथा जैन नैयायिकोंने अपने-अपने दोनों विरोधी धर्मोंका। न्यायकी जो शैलियाँ इन ग्रंथोंमें अपनायी गई हैं उनका प्रयोजन मुख्यतः अपनी-अपनी आगमिक परम्पराओंका पोषण करना ही रहा है, जब कि न्यायका उद्देश्य होना चाहिए यथार्थताका निर्णय। जैनधर्मने न्यायशास्त्र ही नहीं किन्तु समस्त ज्ञानात्मक चिंतनके लिए कुछ ऐसे सिद्धान्त स्थापित किये हैं जिनका प्रयोजन वस्तुके स्वरूप पर विशाल दृष्टिसे विचार करना तथा संकुचित दृष्टिका निषेध करना है। इसी ध्येयसे सत्ताकी परिभाषा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक रूपसे की

गई, ठीक-ठीक पदार्थ ज्ञानके लिए प्रमाणके अतिरिक्त नयकी आवश्यकता पर जोर दिया गया तथा स्याद्वाद और अनेकान्तात्मक बुद्धि व वचनशैलीका प्रतिपादन किया गया और यह दावा भी किया गया कि:—

"पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥" [हरिभद्र]

इतना ही नहीं, किन्तु यह भी स्पष्ट रूपसे स्वीकार किया गया कि जितनी भी मिथ्यादृष्टियाँ हैं उनमें भी सत्यका अंश विद्यमान है। इस प्रकार, सामंजस्य जैन सिद्धांतकी सबसे बड़ी विशेषता है। नाना देश और कालकी विषम परिस्थितियोंमें भी जो यह धर्म जीवित व फलता-फूलता रहा है उसका एक विशेष कारण उसकी यह सामंजस्य वृत्ति भी रही है। अत एव जैन नैयायिकों पर इस बातका विशेष उत्तरदायित्व था कि वे अपने ग्रन्थोंमें वैदिक व बौद्ध परम्पराकी खंडन-मंडन शैलीका परित्याग कर अपनी समन्वय शैली द्वारा उक्त सभी दृष्टियोंमें सामंजस्य स्थापित करके दिखलाते। यद्यपि इन ग्रन्थोंमें स्याद्वाद, अनेकान्त, नय-निक्षेप, आदि समन्वयकारी नियमोंका ही प्रतिपादन किया गया है तथापि परमतोंकी समीक्षा करते समय जैन न्यायका यह पक्ष खासकर क्रियात्मक रूप धारण करता हुआ दिखाई नहीं देता जिससे कि उसका एकान्त-दूषित वादोंसे पृथक् वैशिष्ट्य प्रमाणित होता। हमारे मतसे भविष्यमें जैनदर्शन व अनेकान्त न्यायके प्रतिपादनमें यह सामंजस्य वृत्ति ही विशेष रूपसे सन्मुख लाई जानी चाहिए। उसीकी आजके द्वेषदग्ध संसारको आवश्यकता है। उसीकी इस देशमें मांग है और वही आज विश्वको जैन धर्मकी सबसे बड़ी देन हो सकती है।

अकलंकके उपर्युक्त छह ग्रंथोंमें अन्तिम ग्रंथ 'सिद्धिविनिश्चय' का यह प्रकाशन हो रहा है। इसकी टीकाकी एक मात्र प्राचीन हस्तलिखित प्रति उपलब्ध हो सकी थी। उसीके आधारसे पंडित महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने बड़े परिश्रमसे इस अनुपम ग्रंथरत्नकी मूल कारिकाओं और ग्रंथकारकी स्ववृत्तिका उद्धार किया है और अनन्तवीर्यकी टीकाके साथ उनका सम्पादन किया है। पंडितजीकी न्यायशास्त्र सम्बन्धी विद्वत्ता एवं साहित्य सेवाकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। विशेषतः अकलंकके समस्त साहित्यके सुन्दर रूपसे सम्पादन प्रकाशन द्वारा उन्होंने जैन साहित्यका बड़ा उपकार किया है।

ग्रन्थकार और ग्रन्थ विषय सम्बन्धी जो विशाल प्रस्तावना १६४ पृष्ठोंमें इस ग्रन्थके साथ प्रस्तुत है उसके महत्त्वके सम्बन्धमें इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उसीसे युक्त सिद्धिविनिश्चयके प्रस्तुत संस्करणके आधारसे उनकी योग्यताको स्वीकार कर काशी-विश्वविद्यालयने उन्हें पीएच० डी० की उपाधिसे विभूषित करनेका निर्णय कर लिया है। इस सफल लेखन व सम्पादन कार्यके लिए डा० महेन्द्रकुमारजीको हमारा हार्दिक अभिनन्दन है। हम आशा करते हैं कि अपनी साहित्यसेवाके इस पुरस्कारसे प्रोत्साहित होकर पंडितजी और भी अधिक अपनी कृतियों द्वारा उस भंडारकी संवृद्धि करेंगे। पाठक देखेंगे कि ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रकाशनोंके द्वारा मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला कितनी गौरवान्वित हुई है और उसके संचालक अपने ध्येयमें कितने सफल हो रहे हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथजी कविराज तथा उत्तरप्रदेशके मुख्यमंत्री मान्यवर डॉ० सम्पूर्णानन्दजीने इस ग्रन्थके प्राक्कथन लिखकर हमें बहुत अनुगृहीत किया है। भारतीय तत्त्वज्ञानका योग्य मूल्यांकन कैसा होना चाहिए इसका सच्चा मार्ग उन्होंने बतलाया है; और हमें आशा है कि उनके विचार सभी विद्वानोंको मार्ग दर्शक होंगे।

मुजफ्फरपुर
कोल्हापुर

हीरालाल जैन
आ० ने० उपाध्ये
ग्रंथमाला सम्पादक

सम्पादकीय

लुप्त ग्रन्थोंकी उद्धार गाथा—

सन् १९३३ में जब श्रद्धेय प्रज्ञानयन पं० सुखलालजी हिन्दू विश्वविद्यालयमें जैनदर्शनके अध्यापक होकर आये और उन्होंने हमें ग्रन्थ सम्पादन-संशोधनमें लगाया, तभीसे यह संकल्प मनमें हुआ कि जैन प्रमाण-व्यवस्थाके प्रस्थापक युगप्रधान आचार्य अकलङ्कदेवके लुप्तप्राय ग्रन्थरत्नोंका उद्धार अवश्य करना है। इसी समय वे 'जैनसाहित्य और इतिहास' के प्रवक्ता पं० नाथूरामजी प्रेमीका पत्र लाये कि अकलङ्कके 'लघीयस्त्रय' का प्रभाचन्द्रकृत 'न्यायकुमुदचन्द्र' वृत्तिके साथ सन्मतितर्ककी तरह सर्वाङ्गीण सम्पादन हो और उसके प्रकाशनकी शक्यता माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे है। इतना ही नहीं उन्होंने पंडितजीके साथ न्यायकुमुदचन्द्रकी ईडर भंडारसे प्राप्त एक अति प्राचीन प्रति भी भेज दी। तदनुसार हमने और स्याद्वादविद्यालयके धर्माध्यापक श्री पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने लघीयस्त्रय स्ववृत्तिका उद्धारका प्रारम्भ स्ववृत्तिके उन ग्यारह त्रुटित पत्रोंकी सहायतासे किया जो न्यायकुमुदचन्द्रकी प्रतिमें ही संलग्न थे। जब न्यायकुमुदचन्द्रके प्रथम भागका अधिकांश छप गया तब जयपुरके भंडारसे स्ववृत्तिकी एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई, और इस तरह लघीयस्त्रय स्ववृत्ति के उद्धार कार्यको पूर्णता और प्रामाणिकता मिली।

न्यायकुमुदचन्द्रके संपादनकालमें ही जब हमने सन् १९३६ में, पं० सुखलालजीको प्राप्त सिद्धिविनिश्चय टीकाकी एक मात्र प्रतिके आधारसे प्रतिलिपि की तब पता चला कि इसमें अकलङ्ककृत स्ववृत्तिका भी व्याख्यान अनन्तवीर्य आचार्यने किया है और उसके संकलनकी शक्यता है। सामग्रीका अभाव और प्रतिके अत्यन्त अशुद्ध होनेके कारण उस समय यह कल्पना भी नहीं थी कि उसका सम्पादन इस रूपमें हो सकेगा। सन् १९३९ में हमने इस टीकाका आलोडन कर सिद्धिविनिश्चयके मूल श्लोकोंके पुनर्ग्रथन तथा स्ववृत्तिके संकलनका प्रारम्भिक प्रथम प्रयास किया और उसके विशृंखलित अंशोंका अपने सम्पादित ग्रन्थोंके टिप्पणोंमें उपयोग किया। इसी समय 'प्रमाणसंग्रह' ग्रन्थ पं सुखलालजीको पाटनके भंडारसे उपलब्ध हुआ और सिंघी-जैन ग्रन्थमालामें लघीयस्त्रय स्ववृत्तिके साथ उसके प्रकाशनके विचारने न्यायविनिश्चय मूलके प्रकाशनकी ओर भी ध्यान खींचा, और निश्चय किया गया कि अकलङ्कके इन तीनों ग्रन्थोंको 'अकलङ्क ग्रन्थत्रय' नामसे मैं ही सम्पादित करूँ। तदनुसार हमने वादिराजके न्यायविनिश्चय विवरणसे न्यायविनिश्चयमूलका उद्धार कर उसको 'अकलङ्कग्रन्थत्रय' में शामिल कर सम्पादन किया। इतः पूर्व न्यायविनिश्चय मूलके उद्धारका प्रयत्न श्री पं० जिनदासजी शास्त्री सोलापुर ने किया था और इसी संकलनका मिलान तथा संशोधन श्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारके द्वारा हो चुका था, इसी तरह इसके उद्धारका द्वितीय प्रयत्न श्री पं० कैलाश-चन्द्रजी शास्त्रीने भी अपने ढंगसे किया था और हमें इन विद्वानोंके द्वारा उद्धृत न्यायविनिश्चयसे अपने द्वारा उद्धृत न्यायविनिश्चयका मिलान करने पर अनेक पाठभेद प्राप्त हुए थे। न्यायविनिश्चयके उद्धारके समय यह भी पता चला कि न्यायविनिश्चयकी भी एक स्ववृत्ति थी, जिसका अवतरण सिद्धिविनिश्चय टीकामें दिया गया है, परन्तु न्यायविनिश्चय विवरणमें उसका यथावत् व्याख्यान न होनेके कारण इसके उद्धारका कोई भी साधन हमारे पास नहीं रहा और आज भी यह वृत्ति लुप्त ही है।

जब सन् १९४४ में भारतीय ज्ञानपीठकी स्थापना हुई तो उसके कार्यक्रममें आ० अकलङ्कके ग्रन्थोंके प्रकाशनको प्राथमिकता दी गई। तदनुसार हमने न्यायविनिश्चयका आ० वादिराजकृत न्यायविनिश्चय-विवरणके साथ सम्पादन किया। इस समय तक आ० धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिक वादन्याय और हेतुबिन्दु, प्रज्ञाकर गुप्तका प्रमाणवार्तिकालङ्कार, अर्चटकी हेतुबिन्दुटीका, जयसिंह भट्टका तत्त्वोपप्लवसिंह, कर्णकगोमिकी प्रमाणवार्तिक स्ववृत्तिटीका आदि अमूल्य दार्शनिक साहित्य त्रिपिटिकाचार्य महापण्डित राहुल सांकृत्यायन

आदिके महान् भ्रमसे प्रकाशमें आया जिसका खंडन न्यायनिनिश्चय विवरणमें प्रचुर मात्रामें है। सिद्धि-विनिश्चयटीकाका बहुभाग भी इन्हीं ग्रन्थोंके खंडनसे भरा हुआ है अतः कुछ उत्साह उस अशुद्धिपुंज सिद्धिविनिश्चयटीकाके संपादनका भी हुआ और ज्ञानपीठसे मुक्त होते ही हम इस कार्यमें पूरी तरह जुट गये। लगभग ५ वर्षकी सतत साधनाके बाद सिद्धिविनिश्चय टीका तथा उससे उद्धृत सिद्धिविनिश्चय मूल एवं उसकी स्ववृत्ति इस अवस्थामें आगये कि उनके सम्पादन और प्रकाशनके विचारको प्रोत्तेजन मिला। प्रयत्न करने पर भी अभी तक न तो सिद्धिविनिश्चय मूल और उसकी स्ववृत्तिकी प्रति ही मिली और न सिद्धिविनिश्चय टीकाकी दूसरी प्रति ही। अतः उस एकमात्र उपलब्ध प्रतिके आधारसे सम्पादन कार्य करना पड़ा है। सन् १९५६ में, भारती महाविद्यालय, हिन्दू विश्वविद्यालयके संस्कृत और पाली विभागके अध्यक्ष सम्माननीय डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री एम० ए०, डी० लिट्के निर्देशनमें जब इस ग्रन्थको 'ए क्रिटिकल एडीशन ऑफ सिद्धिविनिश्चय टीका' शीर्षकसे पी एच० डी० उपाधिके लिए महानिबन्धके रूपमें प्रस्तुत करनेका निश्चय हुआ तो इस कार्यको पूरी पूरी प्रगति मिली और उनके सुरुचि और विद्वत्तापूर्ण निर्देशनका यह फल है कि यह ग्रन्थ हिन्दू विश्वविद्यालयके द्वारा पी एच० डी० उपाधिके महानिबन्धके रूपमें स्वीकृत होकर इस रूपमें प्रकाशित हो रहा है।

इस संस्करणकी सामग्री और प्रस्तावना तथा टिप्पण आदिके वैशिष्ट्यका परिचय प्रस्तावनाके प्रारम्भ में दे दिया है। प्रस्तावनामें अकलङ्क और अनन्तवीर्यके समयनिर्णयके प्रसङ्गमें आ० भर्तृहरि धर्मकीर्ति कुमारिल जयराशि प्रज्ञाकरगुप्त अर्चट शान्तभद्र धर्मोत्तर और कर्णकगोमि आदि अनेक आचार्योंके समयपर साधार प्रकाश डाला गया है। दो अविद्धकर्ण और अनन्तकीर्ति आचार्यके समय आदिपर तो सर्वप्रथम विचार इसीमें प्रस्तुत हुआ है।

आभार—

अन्तमें हम उन सभी सहायक महानुभावोंका हार्दिक आभार मानते हैं जिनके अमूल्य सहयोगसे यह महान् साहित्ययज्ञ इस रूपमें पूर्ण हो सका है—

भारतीय ज्ञानपीठके संस्थापक संस्कृतिप्रिय दानवीर सेठ शान्तिप्रसादजी तथा उनकी समशीला धर्मपत्नी सौ० रमाजीने प्राचीन साहित्यके उद्धार और प्रकाशन तथा लोकोदयकारी साहित्यके प्रकाशनके लिए भारतीय ज्ञानपीठकी स्थापना की है। इन्होंने इस ग्रन्थके प्रकाशन तथा इसे महानिबन्धके रूपमें प्रस्तुत करनेमें विशेष ध्यान दिया है।

श्रद्धेय डॉ० प्रज्ञानयन पं० सुखलालजीने प्रस्तुत ग्रन्थकी प्रति सुलभ कर मुझे इसके संपादनका अवसर दिया है। इनके गत २५ वर्षके साहचर्य विचारपद्धति और प्रेरणाका इस ग्रन्थकी अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग समृद्धिमें बहुमूल्य हाथ है। सम्माननीय डॉ० सूर्यकान्तजी शास्त्रीके अमूल्य निर्देशनमें यह ग्रन्थ 'महानिबन्धके रूपमें स्वीकृत हुआ है। सुप्रसिद्ध दार्शनिक सन्त महामहोपाध्याय पं गोपीनाथ कविराजजीने तथा उत्तरप्रदेशके मुख्यमन्त्री माननीय डॉ० सम्पूर्णानन्दजीने इसके 'प्राक्कथन' लिखकर हमें प्रोत्साहित किया है। मूर्तिदेवी ग्रन्थमालाके सम्पादक डॉ० हीरालालजी जैन, संचालक प्राकृत विद्यापीठ वैशालीने मूलग्रन्थ और प्रस्तावनाकी पूर्णताके लिए अनेक सूचनाएँ दी हैं। हमारे अनन्य मित्र प्रो० दलसुखभाई मालवणियाके दैनन्दिन साहचर्य, चरचा, प्राप्त सामग्रीके विश्लेषण और कार्यपद्धतिकी रूपरेखाके निर्णय आदिसे सम्पादनके सभी प्रमुख कार्योंमें पूरा-पूरा अयाचित सहयोग प्राप्त हुआ है। इनके सभी अन्तरंग बहिरंग साधनोंसे मैं सदा आश्वस्त रहा हूँ।

मित्रवर डॉ० गोरखप्रसादजी श्रीवास्तवने अपने अमूल्य क्षणोंको, अंग्रेजी प्रस्तावना आदिको अपनी सूक्ष्मदृष्टि और पैनी कलमसे माँजनेमें लगाया है।

श्री डॉ० बी० बी० रायनाडेने अंग्रेजी प्रस्तावना तथा अन्य कार्योंमें पूरा-पूरा हाथ बटाया है।

उन सभी विद्वानोंका भी स्मरण कर मैं यहाँ कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ जिनके ग्रन्थों और निबन्धोंसे प्रस्तावना आदिमें सहायता ली गई है। इनका निर्देश यथास्थान किया गया है। पार्श्वनाथ जैनाश्रम,

स्याद्वाद विद्यालय, भारतीय ज्ञानपीठ और हिन्दू विश्वविद्यालयके पुस्तकालयोंका इसके सम्पादनमें पूरा-पूरा उपयोग किया है।

ज्ञानमंडल प्रेसके मैनेजर श्री ओम्प्रकाशजी कपूर तथा हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेसके मैनेजर श्री रामकृष्ण दासजीने इस ग्रन्थको यथासमय छापनेमें विशेष सतर्कता बरती है। मैं इन सभी सहायकोंका आभार मानकर फिर उसी तथ्यकी ओर संकेत कर इस वक्तव्यको समाप्त करता हूँ कि **'सामग्री जनिका कार्यस्य नैकं कारणम्'** अर्थात् सामग्रीसे कार्य होता है, एक कारणसे नहीं। मैं तो उस सामग्रीका मात्र एक अंग ही हूँ अधिक कुछ नहीं।

वसन्तपञ्चमी,
१२।२।१९५९
हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी

—महेन्द्रकुमार जैन
(न्यायाचार्य, एम० ए०, पीएच० डी० आदि)

ग्रन्थ लागत

१०७३	२६	कागज २२।२६—२८ पौंड ५३ रीम ११ दिस्ता १७ शीट	३२	००	चित्र कागज, छपाई
३१४१	००	छपाई ८३ फार्म	४१	५७	ब्लाक डिजाइन
६००	००	जिल्द बँधाई	३३४०	००	सम्पादन
२७	४३	कवर कागज	६००	००	भेंट आलोचना ५० प्रति
४०	००	कवर छपाई	८७	५०	पोस्टेज ग्रन्थ भेजने का
			३७४०	००	कमीशन, विज्ञापन बिक्री व्यय आदि

कुल लागत—१३०२२—७६

६०० प्रतियाँ छपीं, लागत मूल्य २१-७० नये पैसे
मूल्य १८) रुपये

CONTENTS

(1) Abbreviations of Introduction English ... 10

" " **Hindi** ... 12

(2) Introduction (English) 17

1. **The Material for the Edition** ... ... 17—20
   1. The MS. of Siddhiviniścaya-ṭīkā 17
   2. The reconstruction of Siddhiviniścaya and its Vṛtti 18
   3. The nature of Quotations 19
   4. Āloka-Ṭippaṇa by the Editor 19
   5. Appendices 20

2. **The Authors** ... ... 21—92

   1. *Bhaṭṭa Akalaṅka* ... ... 21—69
      (a) Epigraphical references of Akalaṅka ... 22
      (b) Citations in various works 24
      (c) Life-story of Akalaṅka 25
         (i) Tradition of Similar Legends 27
         (ii) Analysis of Legends 28
         (iii) The Problem of Nikalaṅka 29
      (d) Akalaṅka and other Ācāryas 31
         1. Puṣpadanta and Bhūtabali 31
         2. Kundakunda 31
         3. Umāswāti 32
         4. Samantabhadra 32
         5. Siddhasena 33
         6. Yativṛṣabha 33
         7. Śridatta 34
         8. Pūjyapāda 35
         9. Mallavādi 35
         10. Jinabhadragaṇi 35
         11. Pātrakesari 36
         12. Bhartṛhari 36
         13. Kumārila 38

14. Dharmakīrti 40
15. Jayarāśibhaṭṭa 42
16. Prajñākaragupta 43
17. Arcaṭa 44
18. Śāntabhadra 44
19. Dharmottara 45
20. Karṇagomi 45
21. Śānarakṣita 46

(e) The influence of Akalaṅka on his contemporaries and the subsequent writers ... ... 47—53

1. Dhanañjaya, 2. Vīrasena, 3. Śrīpāla, 4. Jinasena, 5. Kumārasena, 6. Kumāranandi, 7. Vidyānanda, 8. Śīlāṅkācarya, 9. Abhayadevasūri, 10. Somadevasūri, 11. Anantakīrti, 12. Māṇikyanandi, 13. Śāntisūri, 14. Vādiraja, 15. Prabhācandra, 16. Anantavīrya, 17. Vādidevasūri, 18. Hemacandra, 19. Malayagiri, 20. Candrasena, 21. Ratnaprabha, 22. Āśādhara, 23. Abhayacandra, 24. Devendrasūri, 25. Dharmabhūṣaṇa, 26. Vimaladāsa, 27. Yaśovijaya and others ... 47—53

(f) The Age of Akalaṅka 53
(g) The works of Akalaṅka 62
1. Tattvārthavārtika and its Bhāṣya ... 62
2. Aṣṭaśatī 63
3. Laghīyastraya with Vṛtti 64
4. Nyāyaviniścaya and its Vṛtti 65
5. Pramāṇasaṅgraha and its Vṛtti 66
6. Siddhiviniścaya 67
(h) The Contribution of Akalaṅka to Jaina-nyāya—Akalaṅka-Nyāya 67
(i) Personality of Akalaṅka 69

2. *Anantavirya*

(a) Anantavīrya as Dogmatic Logician ... ... 70—91
(b) Anantavīrya's Erudition 73
1. Vedic Literature 73
2. Mahābhārata 73
3. Works of Grammar 73
4. Philosophical Classics 73

5. Additional points of comparative studies ... 73
(i) Bṛhat-Saṁhitā 73
(ii) Two Aviddhakarṇas 73
(c) The Date of Anantavīrya 77
1. Textual Evidences 81
2. Epigraphical evidences 86
3. Critique of Conflicting views 90
(a) Works of Anantavīrya 92

3. A Critical Study of SV, SVV and SVT 93

(a) The author of SV and SVV: Akalaṅka ... 93
(b) Historical background of the title of the work ... 93
(c) General outlines of the SV and SVV ... 93
(d) The Style of SV and SVV 95
(e) The Style of SVT 96
(f) Analysis of the Subject-Matter 97
1. Pramāṇamīmāṁsā 97
(i) The Soul and the Knowledge 97
(ii) Only jñāna is pramāṇa 98
(iii) Jñāna as Self-cognisance 99
(iv) The Development of Pramāṇa-lakṣaṇa ... 100
(v) Kevalajñāna 100
(vi) The Historical background of the theory of Omniscience 101
(vii) Parokṣa Pramāṇa 104
1. Smṛti, 2. Pratyabhijñāna, 3. Tarka, 4. Hetu, 5. Hetvābhāsa, 6. Debate, 7. Jayaparājaya, 8. Āgama ... ...
2. Prameyamīmāṁsā 111
3. Nayamīmāṁsā 113
4. Nikṣepamīmāṁsā 114

(३) प्रस्तावना (हिन्दी) १–१६४

१. सम्पादनसामग्री और उसकी योजना १–६

अकलङ्क की अलभ्यकृति ... ... ,,
प्रतिपरिचय ... ... ,,
प्रति की प्रशस्तियाँ २
सम्पादन क्रम ३

सिद्धिवि० मूल का उद्धार ... ... ,,
पाठशुद्धि ४
अवतरणनिर्देश ... ... ,,
आलोक टिप्पण ... ... ,,
प्रस्तावना ५
विषयसूची ... ... ,,
परिशिष्ट ... ... ,,
टाइप योजना ६

२. ग्रन्थकार ७–८६

१. भट्टाकलङ्कदेव ७–६६
शिलालेखोल्लेख ७
ग्रन्थोल्लेख १०
जीवनगाथा ११
कथाओं का साम्प्रदायिकरूप १३
कथाओं की समीक्षा १४
निष्कलङ्क की समस्या १५
तत्त्वार्थवार्तिकगत श्लोक १५
अकलङ्क की तुलना १६–४४
पुष्पदन्त भूतबलि और अकलङ्क १७
कुन्दकुन्द ... ... ,,
उमास्वाति ... ... ,,
समन्तभद्र ... ... ,,
सिद्धसेन १८
यतिवृषभ ... ... ,,
श्रीदत्त १९
पूज्यपाद ... ... ,,
मल्लवादी २०
जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण ... ... ,,
पात्रकेसरी २१
भर्तृहरि ... ... ,,
कुमारिल २३
धर्मकीर्ति २५
जयराशि-तत्त्वोपप्लव २८
प्रज्ञाकरगुप्त ३०
अर्चट ३२
शान्तभद्र ३३
धर्मोत्तर ३४
कर्णकगोमि ३५
शान्तरक्षित ३५

अकलङ्क का समकालीन और परवर्ती आचार्यों पर प्रभाव			**३७–४४**
धनञ्जय	...	...	३७
वीरसेन	...	...	३७
श्रीपाल	...	...	३८
जिनसेन	...	...	,,
कुमारसेन	...	...	,,
कुमारनन्दि	...	...	३९
विद्यानन्द	...	...	,,
शीलाङ्काचार्य	...	...	४०
अभयदेव सूरि	...	...	४०
सोमदेव सूरि	...	...	,,
अनन्तकीर्ति	...	...	,,
माणिक्य नन्दि	...	...	,,
शान्तिसूरि	...	...	४१
वादिराज	...	...	,,
प्रभाचन्द्र	...	...	,,
अनन्तवीर्य	...	...	,,
वादिदेवसूरि	...	...	,,
हेमचन्द्र	...	...	४२
मलयगिरि	...	...	,,
चन्द्रसेन	...	...	,,
रत्नप्रभ	...	...	,,
आशाधर	...	...	४३
अभयचन्द्र	...	...	,,
देवेन्द्रसूरि	...	...	,,
धर्मभूषण	...	...	,,
विमलदास	...	...	,,
यशोविजय	...	...	,,
अकलङ्क का समय निर्णय	...	...	**४४–५५**
डॉ० पाठक आदि का मत	...	...	४४
आर. नरसिंहाचार्य आदि का मत	...	...	४५
हमारी विचारणा	...	...	**४६–५५**
आर. नरसिंहाचार्य आदि के मत की समीक्षा			
(१) मान्यखेट राजधानी	...	...	४६
(२) मल्लिषेण प्रशस्तिगत साहसतुंग दन्तिदुर्ग का उपनाम है	...	...	४६
रामेश्वरमन्दिर का शिलालेख	...	...	४९
(३) अकलंकचरितगत शास्त्रार्थ शक संवत् ७०० का है			५०
(४) धवला में तत्त्वार्थवार्तिक के अवतरण		...	५१
(५) सिद्धसेनगणि की भाष्य टीका का सिद्धिविनिश्चय का उल्लेख			५१

(६) हरिभद्रसूरि का 'अकलङ्क न्याय' उल्लेख ... ५३
(७) निशीथचूर्णिका उल्लेख शिवार्य के सिद्धिविनिश्चय का है ५३
अकलङ्क को ८ वीं सदी (७२०–७८०) का आचार्य सिद्ध करने वाले प्रमाण ५४

अकलङ्क के ग्रन्थ ५५–६०
तत्त्वार्थवार्तिक ५६
अष्टशती ५७
लघीयस्त्रय सविवृति ५७
न्यायविनिश्चय सवृत्ति ५८
सिद्धिविनिश्चय ६०
प्रमाणसंग्रह ... ... ,,

अकलङ्क की जैन न्याय को देन ६१–६४
प्रमाण के लक्षण में अविसंवादिपद ६१
अविसंवाद की प्रायिक स्थिति ६२
परकल्पित प्रमाणलक्षणनिरास ... ... ,,
प्रमाण का विषय ... ... ,,
पूर्व पूर्वज्ञान की प्रमाणता, उत्तरोत्तर की फलरूपता ... ,,
ईहा और धारणा की ज्ञानरूपता ... ... ,,
अर्थ और आलोक ज्ञान के कारण नहीं ... ... ,,
प्रत्यक्ष का लक्षण ... ... ,,
वैशद्य का लक्षण ६३
सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ... ... ,,
परोक्ष का लक्षण और भेद ... ... ,,
स्मृति का प्रामाण्य ६३
प्रत्यभिज्ञान का प्रामाण्य ६३
तर्क की प्रमाणता ६३
अनुमान के अवयव ६४
हेतु के भेद ६४
अदृश्यानुपलब्धि से भी अभाव की सिद्धि ६४
हेत्वाभास ... ... ,,
वाद और जल्प ... ... ,,
जाति का लक्षण ... ... ,,
जय पराजय व्यवस्था ... ... ,,
सप्तभंगी निरूपण की प्रगति ६५
उपसंहार ६५

अकलङ्क का व्यक्तित्व ६५–६६

२. **अनन्तवीर्य, सिद्धिविनिश्चय टीका के कर्ता** ६७–८९

अनन्तवीर्य अद्वितीय तार्किक ६७
अनन्तवीर्य का बहुश्रुतत्व ६९
वैदिकसाहित्य और अनन्तवीर्य ... ... ,,

महाभारत ६९
व्याकरणग्रन्थ ७०
दर्शनशास्त्र ७०
विशेष तुलना ७१–७४
बृहत्संहिता और अनन्तवीर्य ७१
दो अविद्धकर्ण और ,, ... ७२
अनन्तवीर्य का समय ७५–८९
शिलालेखोल्लेख ७५
ग्रन्थोल्लेख ७७
ग्रन्थोल्लेखों की समीक्षा ८१
विद्यानन्द और अनन्तवीर्य ८१
अनन्तकीर्ति ,, ,, ... ८२
सोमदेव ,, ,, ... ८६
अनन्तवीर्य का समय ९५०-९९० तक सिद्ध करनेवाले प्रमाण ८७
विप्रतिपत्तियों की आलोचना ८७
अनन्तवीर्य के ग्रन्थ ८९

३. ग्रन्थ परिचय ९०-१६४

सिद्धिविनिश्चय की अकलङ्ककर्तृकता ९०
नाम का इतिहास ... ... ,,
विषयविभाजन ९०–९२
रचनाशैली ९२
टीका की शैली ९२–९४
आन्तरिक विषयपरिचय ९४–१६४

१. प्रमाणमीमांसा ९५–१३१
आत्मा और ज्ञान ९५
ज्ञान ही प्रमाण है ९६
ज्ञान का स्वसंवेदित्व ९७
प्रमाण के लक्षणों का विकास ९८
अविसंवाद की प्राथिक स्थिति ९९
अविसंवादित्व का प्रकार ९९
जैनपरम्परा के दर्शन का स्वरूप १०२
प्रत्यक्ष का विषय १०६
अवग्रहादिज्ञान १०८
केवलज्ञान की सिद्धि और इतिहास १०९
निश्चयनय और सर्वज्ञता १११
परोक्षप्रमाण ११५
हेतुविचार ११५

हेत्वाभास	...	...	११९
कथाविचार	...	...	१२१
जयपराजय व्यवस्था	...	...	१२३
शब्द का स्वरूप	...	...	१२५
आगमश्रुत	...	...	१२६
वेदापौरुषेयत्वविचार	...	...	१२७
शब्द की अर्थवाचकता	...	...	१२९
२. प्रमेयमीमांसा	...	...	१३२–१३९
ध्रौव्य और सन्तान	...	...	१३३
सामान्यविशेषात्मक अर्थ	...	...	१३४
प्रमेय के भेद	...	...	१३५
जीव का स्वरूप	...	...	१३६
३. नयमीमांसा	...	...	१३९–१६०
परमार्थ और व्यवहार	...	...	१४३
सुनय दुर्नय	...	...	१४३
दो नय द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक	...	...	१४२
द्रव्यास्तिक द्रव्यार्थिक	...	...	१४३
ज्ञाननय अर्थनय और शब्दनय	...	...	१४३
मूलनय सात	...	...	१४४
नैगम नय	...	...	१४४
नैगमाभास	...	...	१४४
संग्रह-संग्रहाभास	...	...	१४५
व्यवहार-व्यवहाराभास	...	...	१४६
ऋजुसूत्र-तदाभास	...	...	१४६
शब्दनय-तदाभास	...	...	१४७
समभिरूढ-तदाभास	...	...	१४८
एवम्भूत-तदाभास	...	...	१४९
अर्थनय शब्दनय	...	...	१४९
निश्चय और व्यवहार	...	...	१४९
पंचाध्यायी का नयविभाग	...	...	१५०
कुन्दकुन्द की अध्यात्मभावना	...	...	१५२
स्याद्वाद	...	...	१५३
वस्तुकी अनन्तधर्मात्मकता	...	...	१५७
सदासदात्मक तत्त्व	...	...	१५७
एकानेकात्मक तत्त्व	...	...	१५७
नित्यानित्यात्मक तत्त्व	...	...	१५७
भेदाभेदात्मक तत्त्व	...	...	१५९
४. निक्षेपमीमांसा	...	...	१६०–६४
निक्षेपों में नययोजना	...	...	१६३

(४) सिद्धिविनिश्चयटीका का विषयानुक्रम १६५–७१

(५) शुद्धिपत्र १७२

(६) प्रति के दो पृष्ठों के चित्र

(७) सिद्धिविनिश्चयटीका ग्रन्थ प्रथम भाग १–३७०

" " " द्वितीय भाग ३७१–७५२

(८) परिशिष्ट ७५३–८०८

१. मूलश्लोकों का श्लोकार्घानुक्रम ७५५–७६४
२. सिद्धिविनिश्चयवृत्तिगत श्लोकों का अनुक्रम ७६५
३. सिद्धिविनिश्चयगत उद्धृत वाक्य ७६५
४. सिद्धिविनिश्चय के पाठान्तर ७६५
५. सिद्धिविनिश्चय के विशिष्ट शब्द ७६६–७१
६. टीकाकार रचित श्लोकों का अर्घानुक्रम ७७२–७३
७. टीकागत उद्धृत वाक्यादि ७७४–८४
८. टीका में उद्धृत मूल सिद्धिविनिश्चय के श्लोकादि ... ७८५
९. मूल और टीकागत ग्रन्थ और ग्रन्थकार ७८६–८७
१०. मूल और टीकागत न्याय और लोकोक्तियाँ ७८८
११. टीका के विशिष्ट शब्द ७८९–८०२
१२. सम्पादनोपयुक्त ग्रन्थसङ्केत विवरण ८०३–८०८

ABBREVIATIONS

(The following abbreviations include those which are used in English Introduction. Vide Appendix No. 12 for detailed list of the works consulted in preparation of the present volume.)

ABORI	Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona.
ADP	Adipurāṇa, Bharatiya Jṇānapitha, Kasi.
AGT	Akalaṅka-granthatraya, Singhi Jaina Series, Bharatiya Vidya Bhavana, Bombay.
AJP	Anekāntajyapatākā, Gaekwad Oriental Series, Baroda.
BHSJ	Bombay Historical Society Journal, Bombay.
BPRV	Bhāratake Prācīna Rājyavaṁsa, Hindi Grantha Ratnakara, Bombay.
BSS	Bṛhat-sarvajñasiddhi, Manikcandra Grantha Mala, Bombay.
DDT	Dvātriṁśat Dvātriṁśatikā, Atmanand Sabha, Bhavanagar.
EC	Epigraphia Carnaṭikā.
HIL	History of Indian Logic, University of Calcutta, Calcutta.
Hindi Intro.	Hindi Introduction printed in the present volume.
IA	Indian Antiquary.
JBORS	Journal of the Bihar and Orissa Research Society, Patna.
JSI	Jaina Sāhitya aur Itihāsa, 2nd Ed. Hindi Grantha Ratnākara Kāryālaya, Bombay.
JSIV	Jaina Sahitya Aur Itihasa para Viṣadaprakāśa, Virasevā-mandir, Delhi.
JSLS	Jaina Śilālekha Saṁgrah, Manikcandra Digambar Jaina Grantha Mala, Bombay.
JTVV	Jainatarkavārtikavṛtti—Nyāyāvatāravārtikavṛtti, Singhi Jaina Series, Bombay.
KK	Kathākośa, Press copy prepared by Dr. A. N. Upadhye, Rajaram College, Kolhapur.
KPTS	Kannada Prāntiya Tāḍapatrīya-granthasūci, Bharatiya Jñāinapith, Kasi.
LSS	Laghusarvajñasiddhi, Manikcandra Jaina Granthamala, Bombay.
LT	Laghīyastraya, Akalaṅka Granthatraya, Singhi Jaina Series, Bombay.
LTV	Laghīyastrayavṛtti, Akalaṅkagranthatraya, Singhi Jaina Series, Bombay.

MSLT	Mīmāṁsāślokavārtika-tīkā, University of Madras, Madras.
MSLV	Mīmāṁsaślokavārtikavṛtti of Sucaritamiśra, Trivendrum.
NC	Niśīthacūrṇi, Sanmatī Jnānapith, Agra.
NKC	Nyāyakumudacandra, Manikcand Digambar Jaina Granthamālā, Bombay.
NV	Nyāyaviniścaya, Bharatiya Jñānapitha, Banaras.
NVV	Nyāyaviniścaya-vivaraṇa, Bharatiya Jñānapitha, Banaras.
PKM	Prameyakamalamārtaṇḍa, Nirnayasagar Press, Bombay.
PMS	Parīkṣāmukhasūtra (Pramyakamalamārtaṇḍa), Nirnayasagar Press, Bombay.
PP	Pravacanapraveśa (LT), AGT, Singhi Jaina Series, Bombay.
PRM	Prameyaratnamālā published by Pt. Phulacandraji, Kasi.
PV	Pramāṇavārtika, Bihar and Orissa Research Society, Patna.
PVB	Pramāṇavārtikabhāṣya, Kasiprasad Jayaswal Research Institute, Patna.
PVV	Pramāṇavartikavṛtti, Kitab Mahal, Allahabad.
PVVT	Pramāṇavārtikavṛttiṭīkā (Karṇagomi), Kitab Mahal, Allahabad.
SR	Syādvādaratnākara, Ārhataprabhākara Kāryālaya, Poona.
SS	Sarvārthasiddhi, Bharatiya Jñānapiṭha, Banaras.
SV	Siddhiviniścaya printed in the present volume.
SVT	Siddhiviniścaya-Tīkā printed in the present volume.
SVV	Siddhiviniścaya-vṛtti printed in the present volume.
TBh	Tattvārthādhigama-bhāṣya, Devacand Lalbhai Fund, Surat.
TLK	Trilakṣaṇakadarthana of Pātrakesari quoted in SVT, the present volume.
TP	Tiloyapannatti, Jivaraja Jain Granthamala, Kolhapur.
TPS	Tattvopaplavasiṁha, Gaekwad Oriental Series, Baroda.
TS	Tattvasaṁgraha, Geakwad Oriental Seires, Baroda.
TSLV	Tattvārthaślokavārtika, Nirnayasagar Press, Bombay.
TSu	Tattvārthasūtra, printed as the Appendix to Tattvārtha Vārtika, Banaras.
TV	Tattvārthavārtika, Bharatiya Jñānapitha, Banaras.
TVB	Tattvārthavārtikabhāṣya, Bharatiya Jñānapiṭha, Banaras.
YST	Yaśastilakacampū, Nirnayasagar Press, Bombay.

प्रस्तावनोपयुक्त ग्रन्थसङ्केत विवरण

[समग्र ग्रन्थ में उपयुक्त ग्रन्थों का विवरण परिशिष्ट १२ में दिया है। यहाँ केवल प्रस्तावना में उपयुक्त ग्रन्थों का विवरण है।]

अकलंकग्र० प्रस्ता०	अकलङ्कग्रन्थत्रयप्रस्तावना, सिंघी जैन सीरीज, भारतीय विद्याभवन बम्बई
अच्युत	पत्रिका, गोयनका निधि, काशी
अनगारधर्मामृतप्रशस्ति	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बंबई
अनेकान्त	मासिक, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली
अभोग्रवृत्ति	लिखित, भारतीय ज्ञानपीठ काशी
आचा०	आचारांगसूत्र, आगमोदय समिति, सूरत
आदिपु०	आदिपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ काशी
ऑन युवेनच्वांग भाग २	ओरियंटल ट्रांसलेशन फंड, लन्दन
आप्तप० प्रस्ता०	आप्तपरीक्षा प्रस्तावना, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली
आराधना०	आराधना कथाकोश नेमिदत्तकृत, जैन ग्रन्थरत्नाकर बम्बई
आलापप०	आलापपद्धति, प्रथमगुच्छक, प्र० पन्नालाल जैन, बनारस
इंत्सिंग की भारत०	इंत्सिंग की भारतयात्रा, इंडियन प्रेस, प्रयाग
इंस्क्रि० एट् श्रवणबेलगोला द्वि०	इंस्क्रिप्सन एट श्रवणबेलगोला द्वितीयभाग मैसूर
उत्तरपुराण प्रास्ता०	उत्तरपुराण प्रास्ताविक, भारतीय ज्ञानपीठ काशी
ए० इं०	एपिग्राफिया इंडिका
ए० क०	एपिग्राफिका कर्नाटिका
ए० भा० ओ० रि० इं०	एनल्स भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना
कन्नडप्रा० ता० सूची	कन्नडप्रान्तीय ताडपत्रीय ग्रन्थ सूची, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
कसायपाहुड चूर्णि	वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली
कौषीतकी०	कौषीतकी उपनिषत्, निर्णयसागर बंबई
क्षीरतरंगिणी प्रस्तावना	मीमांसाश्लोकवार्तिक तात्पर्य टीका प्रस्तावना में उद्धृत, मद्रास यूनि०सीरीज
गणधरवाद प्रस्ता०	गणधरवाद, प्रस्तावना, गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद
गद्यकथाको० लि०	गद्यकथाकोश लिखित, डॉ० उपाध्ये, राजाराम कालेज, कोल्हापुर
चतुर्विंशतिप्रबन्ध	राजशेखरकृत, निर्णयसागर बम्बई
चत्वारः कर्मग्रन्थाः प्रस्ता०	चत्वारः कर्मग्रन्थाः की प्रस्तावना, आत्मानन्द सभा, भावनगर
चत्तारिदंडक	पंचप्रतिक्रमण, आत्मानन्द सभा, आगरा
जयधव० प्र० प्रस्ता०	जयधवला प्रथम भाग प्रस्तावना, भा० दि० जैन संघ, मथुरा
जर्नल बंबई ब्रांच रायल एशि०सो०	जर्नल रायल एशियाटिक सोसाइटी बम्बई
जर्नल रायल एशि० सो०	जर्नल रायल एशियाटिक सोसाइटी
ज० बि० ओ० रि० सो०	जर्नल बिहार एन्ड ओरिसा रिसर्च सोसाइटी पटना
जैनतर्कभाषा प्रस्ता०	जैनतर्कभाषा प्रस्तावना, सिंघी जैन सीरीज, भारतीय विद्याभवन, बम्बई
जैनतर्कवा० प्रस्ता०	न्यायावतारवार्तिक वृत्ति प्रस्तावना, सिंघी जैन सीरीज, भारतीय विद्याभवन, बम्बई
जैनदर्शन	ले० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य, वर्णीग्रन्थमाला भदैनी, काशी
जैनदर्शन	मासिक, भा० दि० जैनसंघ, मथुरा

जैनशि० तृ०	जैन शिलालेख संग्रह तृतीय भाग, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बंबई
जैनशि० द्वि०	,, ,, ,, द्वितीय भाग ,, ,,
जैनशि० प्र०	,, ,, ,, प्रथम भाग ,, ,,
जैनसा० इ०	जैन साहित्य और इतिहास, द्वितीय संस्करण, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई
जैनसा० इ० वि० प्र०	जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली
जैनसा० नो सं० इ०	जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, श्वेताम्बर कान्फ्रेन्स, बम्बई
जैनसा० सं०	जैन साहित्य संशोधक, पूना
जैन हितैषी	सं० नाथूराम प्रेमी, बम्बई
जैनिज्म इन साउथ इं०	जैनिज्म इन साउथ इंडिया, जीवराज ग्रन्थमाला, सोलापुर
ज्ञानार्णव	रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला बम्बई
ज्ञानोदय	मासिक, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
तत्त्वसं० प्रस्तावना	तत्त्वसंग्रह प्रस्तावना, ओरियंटल सीरीज, बड़ौदा
तत्त्वार्थ० प्रस्ता०	तत्त्वार्थ सूत्र विवेचन प्रस्तावना, भा० जैन महामंडल, वरधा
तत्त्वोपप्लव० प्रस्ता०	तत्त्वोपप्लवसिंह प्रस्तावना, ओरियंटल सीरीज, बड़ौदा
तिलोयप०	तिलोयपण्णत्ति, जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर
तिलोयप० द्वि० प्रस्ता०	तिलोयपण्णत्ति द्वितीयभाग प्रस्तावना ,, ,,
तैत्ति०	तैत्तिर्युपनिषत्, निर्णयसागर बंबई
दर्शनदिग्दर्शन	किताब महल, इलाहाबाद
दी राष्ट्रकूटाज०	दी राष्ट्रकूटाज़ एंड देअर टाइम्स, ओरियंटल बुक एजेंसी, पूना
दी लॉइफ ऑफ़ युवेनच्वांग	लन्दन
द्वात्रिंशत् द्वात्रिं० यशो०	द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशतिका, यशोविजयकृत, जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर
द्वितीय रिपोर्ट, सर्च ऑफ दी मैन्यु०	द्वितीय रिपोर्ट, सर्च ऑफ दी मैन्युस्क्रिप्ट (पिटर्सन), बम्बई
धर्मोत्तरप्र० प्रस्ता०	धर्मोत्तरप्रदीप प्रस्तावना, काशीप्रसाद जायसवाल इंस्टीटयूट, पटना
नयच०	नयचक्र, मुनि जम्बूविजय संपादित
नयच० वृ० लि०	नयचक्र वृत्ति लिखित, श्वे० जैन मन्दिर रामघाट, काशी
नियमसारटी०	नियमसारटीका, जैन ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई
न्यायकु० द्वि० प्रस्ता०	न्यायकुमुदचन्द्र, द्वितीय भाग प्रस्तावना, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई
न्यायकु० प्र० प्रस्ता०	,, प्रथम भाग प्रस्तावना ,,
न्यायदीपिका प्रस्ता०	न्यायदीपिका प्रस्तावना, वीरसेवा मन्दिर, दिल्ली
न्यायवि० वि० द्वि० प्रस्ता०	न्यायविनिश्चयविवरण द्वितीय भाग प्रस्तावना, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
न्यायवि० वि० प्र० प्रस्ता०	,, ,, प्रथम भाग प्रस्तावना ,,
पार्श्वनाथ च०	पार्श्वनाथचरित माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बंबई
प्रकृति अनु०	प्रकृतिअनुयोगद्वार, धवलाटीका जैन साहित्योद्धारक फंड, भेलसा
प्रथम क० ग्रन्थ टी०	सटीका: चत्वार: कर्मग्रन्था:, प्रथमकर्मग्रन्थटीका, आत्मानन्दसभा, भावनगर
प्रभावकचरित	प्रभावकचरित, निर्णय सागर, बम्बई
प्रमाणवार्तिकभाष्य प्रस्तावना	काशी प्रसाद जायसवाल इंस्टीटयूट, पटना
प्रमेयक० प्रस्ता०	प्रमेयकमलमार्तण्ड प्रस्तावना, निर्णयसागर, बम्बई
प्रवचनसार अंग्रेजी अनुवाद प्रस्ता०	प्रवचनसार अंग्रेजी अनुवाद की प्रस्तावना जैन लिटरेचर सोसाइटी, केम्ब्रिज

प्रवचनसार भू०	प्रवचनसार भूमिका, रायचन्द्र शास्त्रमाला, बम्बई
बम्बई कर्नाटक इंस्क्रि०	बम्बई कर्नाटक इंस्क्रिप्शन
बम्बई हि० सो० जर्नल	बम्बई हिस्टोरिकल सोसाइटी जर्नल, बम्बई
बुद्धिप्रकाश पु०	बुद्धिप्रकाश मासिक, पुस्तक, गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी, अहमदाबाद
बृहती द्वि० भाग प्रस्ता०	बृहती द्वितीयभाग प्रस्तावना, मद्रास यूनि० मद्रास
बृहत्कथाकोश प्रस्ता०	बृहत्कथाकोश प्रस्तावना, सिंघी जैन सीरीज, भारतीय विद्याभवन, बंबई
बौद्धधर्मदर्शन	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
बौद्ध संस्कृति	राहुलजीकृत, कलकत्ता
ब्रह्मसि० प्रस्ता०	ब्रह्मसिद्धि प्रस्तावना, मद्रास यूनि० सीरीज
भा० प्रा० राज०	भारत के प्राचीन राजवंश, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई
भारतीय इतिहास की रूपरेखा	प्रथम संस्करण हिन्दुस्तानी एकेडेमी, अलाहाबाद
भारतीय विद्या	पत्रिका, भारतीय विद्याभवन, बम्बई
महापुराण	महापुराण, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
महापुराण पुष्पदन्त कृत	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई
मिडिवल जैनि०	मिडिवल जैनिज्म, कर्नाटक पब्लिशिंग हाउस, बम्बई
मी० श्लो० ता० टी० प्रस्ता०	मीमांसाश्लोकवार्तिक तात्पर्यटीका प्रस्तावना, मद्रास यूनि० सीरीज
मुनिसुव्रत का०	मुनिसुव्रतकाव्य, जैन सिद्धान्त भवन, आरा
राजा भोज	विश्वेश्वर नाथ रेऊ, हिन्दुस्तानी एकेडमी, अलाहाबाद
लघी० प्रस्ता०	लघीयस्त्रय प्रस्तावना, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई
लघुसर्वज्ञसि०	लघुसर्वज्ञसिद्धि (लघीयस्त्रयादि संग्रह) माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई
वादन्याय प्रस्ता०	वादन्याय प्रस्तावना, महाबोधि सोसाइटी, सारनाथ
राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रन्थ	आहोर
वेदान्तप०	वेदान्तपरिभाषा, निर्णयसागर, बम्बई
षट्खंडागम प्रथमपु० प्रस्ता०	षट्खंडागम प्रथम पुस्तक प्रस्तावना, जैनसाहित्योद्धारक फंड, अमेलसा
संस्कृत साहित्य का इतिहास	प्रथम संकरण, काशी
सत्साधुस्मरण मङ्गल पाठ	वीरसेवा मन्दिर, दिल्ली
सन्मतिप्र० प्रस्तावना	सन्मतितर्क प्रकरण प्रस्तावना गुजराती, पुरातत्त्वमन्दिर, अहमदाबाद
समयप्रा० समयसा०	समयप्राभृत, जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता
समयसा० आत्म०	समयप्राभृत आत्मख्याति टीका, जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था कलकत्ता
सर्वदर्शनसंग्रह प्रस्तावना	भाण्डारकर ओ० रिसर्च इंस्टीटचूट, पूना
साउथइं० इं०	साउथ इंडियन इंस्क्रिप्सशन
सौन्दरनन्द	पंजाब यूनिवर्सिटी, लाहौर
स्याद्वादसि० प्रस्ता०	स्याद्वादसिद्धि प्रस्तावना, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई
हनुमच्चरित	लिखित
हरिवंश पु०	हरिवंशपुराण, माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
हि० इ० ला०	हिस्ट्री ऑफ इंडियन लॉजिक, कलकत्ता यूनि०, कलकत्ता
हेतु बि० टी० प्रस्ता०	हेतुबिन्दुटीका प्रस्तावना, ओरियंटल सीरीज, बड़ौदा

INTRODUCTION

TO

SIDDHIVINIŚCAYA-TĪKĀ

"Victory to Akalanka's Sacred Word, which is like a moon in the sky of Anekanta."

—Shubhachandra.

INTRODUCTION[1]

The Introduction to the present work is given under three divisions :

1. The material available for the present volume and its critical utilisation,
2. The authors and their age, and
3. Historical and Philosophical discussion of the ideas embodied in the original text, *Siddhiviniścaya* of Akalaṅka and its *tīkā* by Anantavīrya.

The mediæval period of Indian Philosophy has to be accredited for producing the epoch-making philosophers like Kumārila, the great exponent of Mīmāṁsā, Dharmakīrti, the brilliant logician of Buddhism, and Akalaṅka, the very pinnacle of logical acumen and philosophical wisdom. Akalaṅka was the most original interpreter of Jaina epistemology and he built a system of Nyāya which later came to be known as *Akalaṅka-nyāya*.

In the present volume, Akalaṅka's *Siddhiviniścaya* (SV) with *vṛtti* (SVV) of the author himself and *Siddhiviniścaya-ṭīkā* (SVT) of Anaṅtavīrya are published for the first time with the help of a single manuscript, and that too has been only available for SVT, out of which the other two, namely, the SV and SVV have been reconstructed.

1. THE MATERIAL FOR THE EDITION

1. *The Ms. of Siddhiviniścaya-tīka* :

The Ms. of the *Siddhiviniścaya-ṭīkā* was found out from Koḍāyagrāma in Cutch, in 1926, by the revered Pt. Sukhalalji while he was editing *Sanmati Tarka*. Panditji has given some quotations from the SVT in his edition of *Sanmati Tarka*, in the foot-notes.

Unfortunately, the Ms. of SVT is full of mistakes, firstly because[2] some of the letters are disfigured due to the leaves having got stuck up, and secondly perhaps because the original Ms. from which the one under reference is copied, was written in *paḍimātrā* style and the copyist being

[1] The English Introduction gives only the gist of Hindi Intro. The readers are, therefore, requested to consult the Hindi Intro. for detailed discussions.

[2] See Hindi Intro. p. 2.

unable to distinguish the *mātras*—'*ā*' and 'e'; has made the confusion of vowels, which mainly accounts for mistakes at various places. Besides many such causes there are blank dotted spaces just as ..... : given in the Ms. which indicate that either some letters have been brushed out of the original Ms. or it did not have that portion at all. Leaf numbering 487 is missing in the Ms.

From the *Praśasti*, at the end of the Ms., it is clear that this was written by Sāhu Dhanarāja of Nāmaḍāgotra for Dharmasūri of Viśālagaccha beginning from Āryarakṣita. Further it is known that the Ms. is a copy of the Ms. which was got written by Śānti, a generous *aṇuvrati Śrāvaka* and presented to Nāgadevagaṇi. The copyist was Viṣṇudeva who copied it in Samvat 1662. From the external evidences, e.g. the quality of the paper etc., of the present Ms. it can be conjectured that this copy was prepared without the lapse of any long interval of time. Reference has already been made to the fact that the Ms. is full of mistakes and omissions. The corrections in SVT have been given in round brackets ( ) and additions have been shown in square brackets [ ].

2. *The reconstruction of Siddhiviniścaya and its Vṛtti*:

As already stated, SV and SVV are reconstructed with the help of SVT, so with a view to substantiate the correctness of the reconstruction of the said texts, the references to SV and SVV, found here and there in the SVT and other Jaina as well as non-Jaina works, have been added in the foot-note called *Āloka-Ṭippaṇa*. The SV. and SVV of Akalaṅka have been reconstructed by selecting words from the SVT. It was, indeed, very difficult to reconstruct SV in various metrical forms; still it had to be done and an appreciable success has, it is hoped, been achieved. The difficulty is felt still more when SVT is silent at certain places; and at such spots the reconstruction has only been possible where other sources were available. It is quite possible that in such a stupendous text as SVT, comprising almost as many as eighteen thousand verses (*granthāgra*), the words of SV and SVV, selected for commentary, may be merged in the SVT or the words of the SVT may be mistaken to be those of SV and SVV.

Being quite aware of these difficulties, attempt has been made to the best of the author's capacity to reconstruct SV and SVV. Hence, the SV and SVV have been printed in square brackets [ ]; such brackets are also given for the words which are added with the help of the works other than SVT.

To substantiate our reconstruction, cross-references are given in the foot-notes giving the text of SV and SVV. referred to in SVT. Such references are alphabetically shown in the Appendix No. 8.

The following table shows the number of verses of SV reconstructed in the present volume. They are as follow :

1.	*Pratyakṣasiddhi*	28
2.	*Savikalpasiddhi*	29
3.	*Pramāṇāntarasiddhi*	24
4.	*Jīvasiddhi*	24
5.	*Jalpasiddhi*	28½
6.	*Hetulakṣaṇasiddhi*	43½
7.	*Śāstrasiddhi*	30
8.	*Sarvajñasiddhi*	43
9.	*Śabdasiddhi*	45
10.	*Arthanayasiddhi*	28
11.	*Śabdanayasiddhi*	31
12.	*Nikṣepasiddhi*	16
		370

In addition to SV, the SVV, which is reconstructed in prose, will come to about 500 verses if metrically composed.

3. *The Nature of Quotations* :

The references drawn from works other than the text are printed in double inverted ("……") comas with the sign of (*), in Grate No. 2. The sources of the quotations are given in square brackets just at the end of the quotation. There are some quotations in the text before us, which are referred to such authors and their works as are not traceable in the works available to the editor of this volume. In such places, similar references are given in the foot-notes ; besides variant readings are also supplied from other sources. At the same time, the quotations which throw some light upon historical matters have been carefully scrutinised and critically reviewed.

4. *Āloka-Ṭippaṇa by the Editor* :

A large number of references relevant to the arguments for and against the topics discussed, have been added in foot-notes called *Āloka*, so that such comparative notes may give a clear idea of the historical development of the problems. The explanatory notes are also supplied. Variant readings of the quotations are given in the Notes which are based on more

than two-hundred and fifty works, the detailed survey of which has been given at the end under *Saṅketa-Vivaraṇa*-Appendix No. 12.

5. *Appendices*:

The following is the list of topics dealt with in various Appendices.

1. The alphabetical arrangement of the first and the third *pāda* of *Siddhiviniścaya*.
2. The Kārikās included in SVV.
3. The quotations of the SVV.
4. The Variant readings of SV and SVV referred to in SVT.
5. The alphabetical list of the technical words of SV and SVV.
6. Kārikās by Anantavīrya in SVT.
7. The quotations, with references, of SVT.
8. SV and SVV as quoted in SVT.
9. The authors and works quoted in SVT.
10. Axioms and Epigrams.
11. Some technical words of SVT.
12. Abbreviations.

2. THE AUTHORS

1. Bhatta Akalanka

It can be said without much exaggeration that Akalaṅka is a brilliant personality in the Jaina Philosophical literature; undoubtedly, he occupies the highest place in the Jaina Nyāya literature. Though the *Āgamas* do contain discussions about *Pramāṇa*, the credit goes to Akalaṅka for the systematic classification of the above with correct phraseology. And thus the Jaina commentators and philosophers of the later period owe much to Akalaṅka's incisive insight to understand the old classics; in fact, Akalaṅka stands independent by himself; and his work has rightly been referred to as Akalaṅka-Nyāya.

Certainly, Akalaṅka can be compared with the intellectual giants of other systems of Indian philosophy as referred to above. Akalaṅka systematised the Jaina logic on the basis of the philosophical expositions of Samantabhadra and Siddhasena. He gave the precise meaning to the terms used in the Āgamas and moulded them into a systematic body of thought.

It must be readily admitted that the mediæval period, e.i., the seventh, eighth and ninth centuries, of the Indian Philosophical history is one of a brisk intellectual revolution. Every system of Indian thought was systematised by its respective exponents; this is not all. These exponents subjected other schools of thought to severe criticism. This period has to its credit, the philosophical debates giving opportunity to the exponents and scholars of different schools to study other systems intensively with a view to combat the arguments of the opponent schools. The purpose was not only to win over other schools but to have the royal patronage without which the propagation of the religion would not be effective. The literature of this era exemplifies more refutations of other schools rather than construction of their own systems.

Akalaṅka was an inspiring philosopher and he himself invited inspiration from without; this he gathered from the attacks on Jaina philosophy by the exponents of other schools, particularly the Buddhist philosophers. In his attempt to defend the teachings of Jaina Āgamas, without being dogmatic, he reconstructed and rejuvenated the Jaina-Nyāya on a firmer foundation.

(*a*) *Epigraphical references of Akalaṅka*:

As stated already, Bhaṭṭa Akalaṅka was an epock-maker; naturally, the inscriptions of later period are full of adorations and admirations for Akalaṅka's logical subtlety and philosophical sublimity. A note-worthy instance of his unrivalled popularity is witnessed by his *mangalācaraṇa*[1] of *Pramāṇasaṁgraha* which has been taken as *maṅgala śloka* in a number of inscriptions[2]. Some of the following inscriptions will help us to know something about Akalaṅka's life.

1. The Kannaḍa inscription of Melukaḍa Vanti at Kaḍavanni refers to Mahideva Bhaṭṭāra as the disciple of Akalaṅka Bhaṭṭa of Devagaṇa. The inscription is of about *C.*1060 A.C[3].
2. In a stone inscription dated śaka 996 (1074.A.D.) of Bandali there is reference to Akalaṅka as a *guru*[4].
3. The stone inscription of 1077 A.C. found near Balagambe Vaḍagiyarahoṇḍa refers to '*tarkaśāstradaviveka ḍolintakalaṅka-devarembudu,*' while praising Rāmasena[5].
4. An inscription in Kannaḍa-cum[6]-Sanskrit language found in the quadrangle of Pañcabasti at Humach refers to Akalaṅka as '*Vādisiṁha Syādvādāmoghajihva*'[7], flourishing after Sumatideva. The said inscription is dated Śaka 999 (1077 A.C.).
5. The Humach inscription dated 1077 A.C. refers to Akalaṅka-deva after Siṁhanandi[8].
6. One more inscription from Humach refers *Sadasi yadakalaṅkaḥ* while praising Vādirāja. It is dated 1077 A.C[9].
7. The pillar inscription of Kattile Basti refers to Jinacandra muni as 'Sakalasamayatarke ca Bhaṭṭākalaṅkah'; it belongs to c. 1100 A.C[10].

---

[1] Śrimat parama-gambhīrasyādvādāmoghalāñchhanaṁ,
Jīyāt trailokyanāthasya śāsanaṁ Jinaśāsanaṁ.—PMS, p. 1.

[2] Vide Hindi Intro. p. 7 Note 2.

[3] EC. vol. VI, No. 75.

[4] EC. vol. VII, Sikarpur, No. 221.

[5] EC. vol. VII, Sikarpur No. 124; see also JSLS. vol. II, No. 217, p. 311.

[6] ibid. vol. VIII, Nagar No. 35.

[7] Vide Hindi Intro. p. 8, No. 2.

[8] EC. vol. VIII, Nagar No. 36; JSLS. vol. II, 214.

[9] EC. vol. VIII, Nagar No. 39.

[10] JSLS. vol. I, p. 115, No. 55 (69).

8. An inscription of Eraḍukaṭṭe Basti, Meghacandra muni is spoken of as *vibudha* as Akalaṅka in Ṣaṭtarka[1]. It bears the date Śaka 1037 (1115 A.C.).
9. Similar expression is found in a pillar inscription of Gandhavāraṇa basti; its date being Śaka 1068 (1146 A.C.)[2].
10. The Kalturaguḍḍa inscription refers to Akalaṅka after Guṇanandideva. It bears the date Śaka 1043 (1121 A.C.)[3].
11. Challagrama inscription refers to Akalaṅka as *Vāḍībhasiṁha* after *ekasandhi* Sumati Bhaṭṭāraka. It belongs to Śaka 1047 (1125 A.C.)[4].
12. In Mallişena *Praśasti* inscribed on a pillar of Pārśvanātha Basti, there is detailed description of a debate of Akalaṅka Ācārya. It bears the date Śaka 1050 (1128 A.C.)[5].
13. In the inscription of Saumyanāyaka temple at Bellur, a very brilliant tribute is paid to Akalaṅka in these words: *samayadīpaka unmīlitadoṣa.....rajanīcarabala.....udbodhitabhavyakamala*, etc., after Sumati Bhattāraka; it bears the date Śaka 1059 (1137 A.C.)[6].
14. In an inscription of Banasankari at Budri Akalaṅka is mentioned as guru; it beolngs to c. 1139 A.C[7].
15. Akalaṅka is referred to as *tārāvijetā*[8]; further there are verses containing the references as '*sadasiyadakalaṅkaḥ*' and '*nāhaṅkāravaśīkṛtena*' in the inscription, written in Kannaḍa-cum-Sanskrit, of Bogadi. The date is missing; probably it belongs to 1145 A.C[9].
16. After Siṁhanandi, Akalaṅka is spoken as *Jinamatakuvalayaśaśāṅka* in an inscription of Humach of Śaka 1069(1147 A.C.)[10].
17-18. A stone inscription (about 1130 A.C.) of Kakkamma temple[11] at Sukadare and one more (1154A.C.) at Yallādahaḷḷi refer to Akalaṅka after Samantabhadra.

[1] ibid. p. 58, No. 47 (127), see also Hindi Intro. p. 8, Note 7.
[2] ibid, vol. I, p. 71, No. 50 (140)
[3] EC. vol. VII. Simmogga, No. 4; JSLS, vol. II, No. 277, p. 408.
[4] JSLS. vol. I, No. 493, p. 395.
[5] JSLS. vol. I, No. 54 (67), p. 101.
[6] EC. vol. V, Badur, No. 17. JSLS. vol. III, No. 305, p. I.
[7] EC. vol. VIII, Sorab No. 233; JSLS. vol. III, No. 313, p. 31.
[8] Vide Hindi Intro. p. 9, Note. 3.
[9] EC. vol. IV, Nāgamaṅgala, No. 100; JSLS. vol. III, No. 319.
[10] EC. vol. VIII, Nagar No. 37; JSLS, vol. III, p. 66.
[11] EC. vol. IV, Nāgamaṅgala, No. 76; JSLS. vol. III, p. 60.

19. The pillar inscription of Mahānavami maṇḍapa at Chandragiri refers to Akalaṅka as *mahāmati* etc., it is dated Śaka 1085 (1163A.C.)[1]

20. Akalaṅka's victory over Buddhists is referred to in a stone[2] inscription of Basavanapur ; it belongs to Śaka 1105 (1183A.C.) Further it refers to his colleague Puṣpasena muni and after him Vimalacandra, Indranandi and Paravādimalla[3] are also referred to.

21. Akalaṅka is referred to as *Samantādakalaṅka*[4] in a plillar inscription of Siddhara Basti ; it belongs to Śaka 1320 (1398A.C.).

22. He is also referred to as *Śāstravidagresara* and *mithyāndhakārabhedaka*[5]; further, it relates the fact that after Akalaṅka, the *Saṁgha* was divided into four branches, viz., *Deva*, *Nandi*, *Siṁha* and *Sena ;* it is dated Śaka 1355 (1433A.C.).

    It seems from this inscription that Devasaṁgha came into being with Akalaṅka Deva ; naturally he must have been the first Ācārya.

23. The Humach inscription of about 1530A.C., refers to Akalaṅka as *Mahardhika* and *Devāgamabhāṣyakāra*[6].

(*b*) *Citations in various works* :

Akalaṅka, the versatile writer, the graceful debator and an epoch-making figure, is eulogised not only in the epigraphs but in various works as well. Some of the citations are : *Tarkbhūvallabha*, *Akalaṅkadhī*, *Bauddhabuddhivaidhavyadīkṣāguru*, *Mahardhika*, *Samastavādikarīndradarponmūlaka*, *Syādvādakesarasaṭāśatatīvramūrtipancānana*, *Aśeṣakutarkavibhramatamonirmūlonmūlaka*, *Akalaṅkabhānu*, *Acintyamahimā Śāstā*, *bhūyobhedanayāvagāhagahanāvāṅmaya*, *Sakalatārkikacakracūdamanimarīcimecakitanakhakiraṇa*, *Samantādakalaṅka*, *prakaṭitatīrthāntarīyakalaṅka*, etc. Puṣpadanta in his *Mahāpurāṇa* and Asaga in his *Munisuvratakāvya* have gratefully referred to Akalaṅka. Śubhachandra is also full of reverence for Akalaṅka[7].

---

[1] ibid. No. 103 ; JSLS. vol. II, No. 274.

[2] JSLS. vol. I, No. 40(64), p. 25 ; see also Hindi Intro. p. 9.

[3] EC. vol. III, Tirumakuḍlu, No. 105 JSLS. vol. III, No. 410, p. 205-6.

[4] JSLS. vol. I, No. 105(254), p. 195.

[5] ibid. No. 108 (258), p. 211.

[6] EC. vol. VIII, Nagar No. 46 ; JSLS. vol. III, No. 667, p. 541.

[7] Vide Hindi Introduction p. 10.

(c) The Life-story of Akalaṅka:

It is a matter of regret that we do not possess authoritative biography by his immediate successors; nor did he ever write anything about himself. It is a very characteristic feature of Indian authors that they seldom write anything about themselves. At the top of this, the successors too, at times, are silent about them. It is interesting to find that Hariseṇa's *Kathākoṣa*[1] is silent about Samantabhadra and Akalaṅka, even though both of them were, no doubt, epoch-makers. Hariṣeṇa gives the date of the completion of his work as—Śaka 853 (931 A.C.). The first reference to Akalaṅka occurs in the *Kathākoṣa*, in prose, of Prabhācandra. The Praśasti of the said text suggests that this work is written by Prabhācandra, the well-known author of *Nyāyakumudacandra* and *Prameyakamalamārtaṇḍa*. It has been proved that the date of Prabhācandra is 980-1065 A.C[2]. The *Kathākoṣa* was composed during the regime of Jayasiṁhadeva (1055 A.C.)[3]. This is the only reliable text, providing substantial evidence, to know something about the life of Akalaṅka. This very text was recomposed in poetic form, with some alterations here and there, by Brahma-Nemidatta; this fact is clearly mentioned by the author himself[4]. We have one more text, viz., *Rājāvalikathe*, which refers to Akalaṅka; but it is not of much help as it belongs to a very late period, i.e., sixteenth century.

The *Kathākoṣa* (KK) of Prabhācandra and Nemidatta refer to the life-story of Akalaṅka as follows: The King Śubhatuṅga of Mānyakheṭa had a minister named Puruṣottama. He had two sons: Akalaṅka and Nikalaṅka. Once, both the brothers accompanied their parents on their way to the temple on the occasion of Aṣṭāhnika festival. On this auspicious day the parents took the vow of celibacy and initiated the boys also to the same. At the prime of their youth, they did not marry in conformity to the vow taken. The father persuaded the sons that vow was meant only for eight days; but the sons, persistent in their determination, made it a life-long vow. So they utilised their time in studying the scriptures. They joined the Buddha-maṭh in disguise in order to study. The teacher, while teaching the Dignāgas attack on *Anekānta*, could not make out the text due to some mistake and he suspended the class that day. The very next day he found the text corrected; this led him to suspect that a Jaina student must be in their midst in disguise. In order to spot out such a student

[1] See Hindi Intro. p. 11.

[2] *Nayāyakumudacandra* (NKC), vol. II, pp. 50-58.

[3] Dr. A. N. Upadhye holds the same view. See his Intro. to *Bṛhatkathākoṣa*, pp. 60-62; see also Hindi Intro. p. 11 Note 3.

[4] vide Hindi Intro. p. 11, Note 6; see also NKC. II. p. 26.

he ordered his disciples to cross over the idol of Jina. Akalaṅka saved himself from this critical test by putting on a thread over the idol.

One night the teacher threw a bag of bronz vessels over the top floor where the students were sleeping, with the result that all of them woke up uttering the respective names of their deities. At this very time Akalaṅka uttered *'namo arahantāṇaṁ'* etc.; this was enough to single out the 'culprit'. Both the brothers were arrested and captivated in the top floor of the maṭh. But they jumped down with the help of an umbrella and escaped.

On the way Nikalaṅka requested, nay, implored his brother to escape by hiding himself in the tank nearby so that he may not be caught by the pursuing armed guards. Nikalaṅka thought that his brother, an intellectual prodigy, could well serve the cause of Jaina literature. Akalaṅka, with inexpressible sorrow, submitted to the suggestion of Nikalaṅka. Nikalaṅka was running away but just then he was seen by a washerman. He too started running with Nikalaṅka, pursued by armed guards. At last both were slain by the horse-men.

Akalaṅka, after the completion of his studies, took to renunciation; he was a forceful debater; he impressed the royal courts by his orations at several places and thus influenced the public with the teachings of the Jinas. Once he went to the Ratnasañcayapura in Kaliṅga deśa. There, the queen Madanasundarī, the wife of King Himaśītala, thought of the Jaina procession of chariots on the occasion of Aṣṭāhnika. But this was not to be; for a Buddhist teacher, Saṅghaśri came forward and interrupted by challenging any Jaina teacher to come forward and defeat him then alone the procession could proceed. The King accepted the proposal, and the Queen became very anxious. At last Akalaṅka accepted the challenge and defeated the Buddhist teacher. The success of Akalaṅka naturally led to the spread of Jainism[1].

In addition to this we have the episode of Akalaṅka given by Rice based on *Rājāvalikathe* and some other stories[2]: At the time of Buddhist suppression of Jainism at Kanchi the jaina Brāhmin Jinadāsa and his wife Jinamati had two sons, viz., Akalaṅka and Nikalaṅka. They sent both their sons, in disguise, to a Buddhaguru Bhagavaddāsa, since there was no Jaina teacher. The brothers progressed in their studies by leaps and bounds. Their progress led to the suspicion in the mind of the teacher.

[1] vide NKC, vol. I. Intro. p. 28.

[2] Jaina Hitaiṣi, vol. XI. Nos. 7-8. Art: Bhaṭṭa Akalaṅkadeva; See also NKC. vol. I. Intro. p. 28.

He tried to find out the true history of these brothers. In his examination with all types of devices, at last they were found to be Jainas.

(I) The Tradition of Similar Legends :

(1) The Press copy prepared by Muni Puṇyavijayaji, of *Prākṛta Kathāvali* of Bhadreśvarasūri (12th C. A.D.[1]) has a legend about Haribhadra as follows—Haribhadra took to renunciation at the instance of Jinadattācārya ; he had two disciples, namely, Jinabhadra and Vīrabhadra. Buddhism was at the height of its glory in Chittor at that time ; naturally Buddhists were the rivals of Haribhadra. The climax of this communal jealousy resulted in the murder of both the disciples of Haribhadra. Haribhadra took it seriously and decided to observe fast unto death ; but it was averted due to the intervention of influential personalities. Philosopher as he was, he devoted his life in writing down works on Jaina philosophy. Haribhadra was known also by his nick-name *Bhavaviraha sūri* since he used to bless his devotees with *Bhavaviraha.*

(2) The *Prabhāvakacarita* (1277.A.D.) of Candraprabha Sūri gives the account of two disciples of Haribhadra : Haṁsa and Paramahaṁsa ; both the brothers joined a Buddha maṭh at Sugatapura for their education. They wrote down the counter attack on Buddhist criticism of Jaina philosophy pointing out the inconsistencies in Buddhism. The teacher chanced to look into them ; naturally he became suspicious of the presence of non-Buddhist disciples at his maṭh. In order to find-out he ordered his students to cross the painting of Jinadeva ; both the brothers passed over the painting after drawing a line with the chalk representing the sacred thread on the chest of the Jina ; similar experiments—e.g. throwing the bronz vessels were undertaken to find out the non-Buddhist students ; finally, they were arrested when it was clearly revealed that they were Jainas. They tried to escape but were followed by the guards ; Haṁsa asked his younger brother to run away and to surrender to the king named Sūrapāla and died himself in fighting with the guards. The king Sūrapāla refused to give Paramahaṁsa to the guards ; on the other hand he summoned the Buddhist scholars for a debate in which Paramahaṁsa secured a grand victory over his opponents. Then he broke the pot in which the Goddess Tārā was installed to help the Buddhists. Even then he was not free from danger ; he ran away ; he approached a washer-man and bade him to run away as the army was approaching. The washer-man ran away and Paramahaṁsa took his place. When the soldiers came and asked about Paramahsṁsa, he pointed at the direction in which the washer-man was running. Thus he saved himself

[1] Vide Hindi Intro. p. 13. f. n. No. 1.

and joined his *guru*. He narrated the whole tragic end of his brother and his pathetic story with the result that he himself died due to over grief. Haribhadra, the witness of the end of his disciple in revange defeated many Buddhist scholars in debate and wrote many works to refute Buddhism. At the end of every work the word *viraha* occurs, indicative of his separation of his disciples.

(3) Similar story is given by Rājaśekharasūri in his Caturviṁśati Prabandha (1348 A.D.) with the exception that the episode of washerman is absent.

(*II*) *Analysis of Legends*:

In brief, the facts of education of two brothers at the seat of Buddhists, their tussle with the scholars on Buddhism, the murder of one, and the debates by the other etc., are common in all legends, except the names—Haṁsa and Paramahaṁsa which are not in consonance with the Jaina tradition. No doubt Jinabhadra and Vīrabhadra bear testimony of Jaina tradition; one thing is self-expressive—that such episodes are formed to illustrate the glory of the religious tradition implying some historical fact, however dim it may be.

The episode described in *Rājāvalikathe* of the sixteenth century is simply an eulogy of the Jaina tradition. There is very little of history in it. But of all these legends the one by Prabhācandra, in his *Kathākośa*, is the oldest and reflects some historical facts as under:

(1) *Śubhatuṅga was the King of Mānyakheṭa*: So far as the dynastic history of Rāṣṭrakūṭa kings goes, *Śubhatuṅga* was the *Biruda* of king Kriṣṇa I[1]. The Rāṣṭrakūṭas had their capital at Mānyakheṭa; but it was re-established near about 815 A.D. by King Amoghavarṣa[2]. Before Amoghavarṣa, Govinda III got the trench and fort built for the protection from the Eastern Chalukyas of Vengi[3]. Even before this, a copper-plate of Devarahaḷḷi[4], dated Saka, 698 (776 A.D.) refers to Mānyapura, from which it is clear that King Śri Puruṣa's victorious army was, in Śaka 698, at Mānyapura.

Inspite of this, the specialists on the history of Rāṣṭrakūṭas, like Dr. Altekar. remark that there is no substantial material to prove the whereabouts of the capital of Rāṣṭrakūṭas before Amoghavarṣa[5]. After the death of Dantidurga II, in the prime of his youth, *Śubhatuṅga* Kṛṣṇa I, was

[1] EI. vol. III, p. 106.

[2] ibid. vol. XII, p. 263.

[3] BPRV. vol. III, p. 39.

[4] EC. vol. IV, Nagamangala No. 85; JSLS. vol. II, No. 121.

[5] *The Rashtrakūtas and their Times* p. 44.

on the throne. A reward of gift[1], made by Dantidurga, is found in Sāmangaḍa, Kolhapur District, which bears the date, Śaka 675 (753 A.D.). It speaks of his glorious valour and victory. The copper-plate referring to Kṛṣṇarāja has been published by the Bhārata Saṁśodhaka Maṇḍaḷa[2]. Its date lies, according to English calender, in September 758. Dr. Altekar admits the year of Coronation of Kṛṣṇa I, at the age of fortyfive, as 756 A.D[3].

There is reference to Mānyapura before the time of Amoghavarṣa; on the contrary, there is nothing to prove that Mānyakheṭa was not the capital before Amoghavarṣa. Even conceding to the fact that Amoghavarṣa made Mānyakheṭa his capital, it can be said that Mānyapura—Mānyakheṭa, had strong affinity with the Rāṣṭrakūtas by the time of the author of *Kathākoṣa* and it is for this reason that Kṛṣṇa, the *Śubhatuṅga*, is referred to as the king of Mānyakheta.

(2) *Puruṣottama, the minister of Śubhatuṅga*: Though we do not have data other than K to prove that Purusottama was the minister; even then, it is not impossible that Puruṣottama might have been a feudal king or a minister of Śubhatuñga.

(3) *Debates at the Court of Himaśītala of Kaliṅga*: Dr. Jyotiprasad[4] has attempted in his article, '*Akalaṅka Paramparāke Mahārāja Himaśītala*', to identify King Nagahuṣa, *Mahābhavagupta* IV (619-644 A.D.) of lunar dynasty of Trikaliṅga with Himaśītala. But he starts with the presupposition that Samvat 700, as written in Akalaṅkacarita, is the same as Vikrama Samvat 700; naturally, he has sought to find out any king of V.S. 700 (643 A.D.); therefore, when he found Nagahuṣa of the said period he identified him with Himaśītala.

But in the light of a correct interpretation of the said Samvat as Śaka and other arguments shown later on, it is proved that Akalaṅka's date is 720-780 A.D.; hence, the identification by Jyotiprasad Jain is not valid[5].

(*III*) *The Problem of Nikalaṅka*:

According to Pt. Kailaschandraji it is just impossible to hold the historicity of Nikalakṅa for obvious reasons: that Akalaṅka himself is silent about Nikalaṅka, who risked his own life to save his brother (Akalaṅka) to serve the cause of Jaina literature are unthinkable facts of his

[1] IA. vol. 11, p. 111; see also BPRV. vol. III, p. 26.

[2] The Rāṣṭakūṭas and their Times p. 44.

[3] ibid.

[4] Jñānodaya, vol. II, Nos. 17-21.

[5] Vide Hindi Intro. p. 15 and section: Date of Akalaṅka, p. 55

life. Panditji's contention is not without its own value. The *Kathākoṣa*, in prose, is older than *Kathāvali*; naturally, it cannot have derived such a story from *Kathāvali*. If by *varatanayaḥ*, it is understood that Akalaṅka was the elder son, then he must have a younger brother.

The last lines of the 1st Ch. of TV are as follow:

Jīyāc-ciram*akalaṅka*brahmā *laghuhavva*nṛpativaratanayaḥ,
anavaratanikhilavidvajjananutavidyaḥ praśastajanahṛdyaḥ.

This refers to Akalaṅka as the elder or pre-eminent son of King Laghuhavva. This verse is not found in the palm-leaf MSS. of Śravanbelgoḷa and Mūḍabidri, but found in the Beawar and other North Indian MSS. The verse cannot claim to be written by Akalaṅka, because it is written at the end of the very first chapter. If it be that the verse is written by Akalaṅka himself or by any immediate contemporary, it proves one thing that Laghuhavva was the father of Akalaṅka. In the Introduction to my '*Akalaṅka-Grantha-Traya*', some problems have been critically discussed; and the possibility of Laghuhavva and Puruṣottama being identical has been pointed out therein. Of the Rāṣṭrakūṭa dynasty, Indra II and Kṛṣṇa I were real brothers. After the death of Indra II, his son Dantidurga II became the ruler of the kingdom. In Kannaḍa, the father is called '*abba*' or '*appa*'. It is not improbable that Dantidurga, addressed his uncle Kṛṣṇa I as '*abba*' or '*avva*'.

It is almost a general rule, so to say people addressing in the same way as the king would address—*abba* or *avva*. Kṛṣṇa I, who had Śubhatuṅga as his *biruda*, became the king after Dantidurga. It seems Puruṣottama might have been a junior-colleague of Kṛṣṇa I; it is for this reason, Dantidurga himself and consequently the subjects would be addressing Puruṣottama as '*Laghuhabba*'. He might have become minister during the regime of Kṛṣṇa I; and Kṛṣṇa was on the throne at his old age[1]; hence, it may not be inappropriate to suppose that Puruṣottama was almost of the same age of Kṛṣṇa; and so, on this supposition, we can explain the narration of his debate by Akalaṅka in the court of Dantidurga alias Sāhasatuṅga[2].

The nickname—Laghuhabba of Puruṣottama might have been so common that he was addressed by this popular name instead of his original name. If it be conceded that the verse of *Tattvārthavārtika* was written by some body other than Akalaṅka, it is not unnatural that this unknown author could prefer popular name—Laghuhabba instead of Puruṣottama;

[1] A. S. Altekar: The Rāṣṭrakūṭas and their Times, p. 44.
[2] EC. vol. II, 67, Malliṣeṇa Praśasti.

though he might not be a king, it is just possible he was called a King-*Nṛpati*, due to his royal relation. If the inference to identify Puruṣottama and Laghuhabba were true, it can be said, further, that Akalaṅka might have born in or in the suburbs of Mānyakheṭa.

It can be said that his father was Puruṣottama, his popular name being Laghuhavva. The change from Laghuabba to Laghuhavva is phonetically possible.

One more observation may also be added here, that the aforesaid verse is not at all written by Akalaṅka; and it is inserted in some MSS. of TV copied only after Prabhācandra (980-1065 A.D.), the author of K; because, though Prabhācandra has referred to Akalaṅka's TV in his NKC (p. 646), he has not given, in his KK, the name of Laghuhabba *nṛpati* as the father of Akalaṅka.

Further, it is not inconsistent that Akalaṅka was the son of a minister of Śubhatuṅga (756-772 A.D.) if Akalaṅka's date is fixed as 720-780 A.D.

(*d*) *Akalaṅka and other Ācāryas*:

In this section an attempt is made to discuss some of the authors who influenced Akalaṅka and also those whom he criticised.

1. *Puṣpadanta and Bhūtabali*:

Puṣpadanta is the author of *Satprarūpaṇā* of the *Ṣaṭkhaṇḍāgama* and Bhūtabali of the rest[1] of it. It is maintained that the said work was composed in the beginning of Christian era.[2] Akalaṅka in his earlier writings appears before us as a philosopher concerned with the exposition of the traditional lore; but in due course he assumes the role of a first rate logician and produced works on Pure Logic and Philosophy. In his *Tattvārthavārtika* (TV) he has quoted *Jīvasthāna*[3], as a scriptural evidence. This is clear in his exposition of *Manaḥparyāya Jñāna* by such references—*manasā manaḥ paricchidya*, etc. quoted from *Mahābandha* (p. 24).

2. *Kundakunda*:

Kundakunda is one of the exponents of Digambara Canonical works. After Bhūtabali and Puṣpadanta, Kundakunda features as an authority on *Āgamic* lore for Akalaṅka. It is maintained that Kundakunda flourished in the beginning of Christian era.[4] His works are imbued with philosophical ideas, which fact is eloquently attested by his works: *Samayaprābhṛta*,

[1] Ṣaṭkhaṇḍāgama vol. I, Intro. p. 20.

[2] ibid. p. 85.

[3] TV. pp. 79, 135, 154.

[4] A. N. Upadhye: *Pravacanasāra*, Intro.

Pancāstikāya, *Pravacanasāra* and *Niyamasāra*. There is hardly any doubt that Akalaṅka has drawn inspiration from the above-noted works in his discussion of *utpāda*, *vyaya* and *dhrauvya*.

3. *Umāsvāti*:

It is beyond any doubt that *Tattvārthasūtra* (TSu) of Umāsvāmi or Umāsvāti alias *Gṛddhapiccha*, is in the form of *Sūtras* in sanskrit containing, for the first time, the teachings of the *Āgamas*. There are two earliest commentaries on TSu. It has undergone two recensions; one as accepted in the *Bhāṣya* (TSB) and the other accepted in the *Sarvārtha Siddhi* (SS). Akalaṅka accepted the latter recension and has criticised, at certain places, some Sūtras of the *Bhāṣya* recension and the *bhāṣya* itself. It is also found that he has composed *Vārtikā* out of the sentences from the *Bhāsya*.[1] The last portion of the tenth chapter, of *Bhāsya*. both in prose and verse, is taken verbatim in TV.

Further, a chapter—*Pramāṇanaya-Praveśa* of *Laghīyastraya* is the outcome *in toto* of "*Pramāṇanayairadhigamaḥ*"[2] of TSu. He quotes extensively *Sarvārtha Siddhi* recension of TSu in his SV.

4. *Samantabhadra*:

With regard to the exact date of Samantabhadra, the champion of *Syādvāda*, there is much controversy. Inspite of the reference to, "*Catuṣṭayaṁ Samantabhadrasya*" in *Jainedra Vyākaraṇa*, Pt. Sukhalalji and Pt. Premi, maintain that Samantabhadra was the elder contemporary of Pūjyapāda.[3] The argument advanced in this behalf is that according to Vidyānanda, the *Āptamīmāṁsā* of Samantabhadra is composed as a commentary on '*Mokṣamārgasya netāraṁ*' which is the *mangalācaraṇa* of *Sarvārthasiddhi* of Pūjyapāda. But it is curious to find that Vidyānanda has not written commentary on this *maṅgalācaraṇa* in TSLV, according to him the said verse is composed by Sūtrakāra.[4] Under such conditions, the reference of Vidyānanda disarms one in respect of historical background and his statement—'*svāmimīmāṁsitam*' loses the significance of historicity. On the other hand, Pt. Jugal Kishorji maintains that he flourished during the 2nd c. of Vikram Era.[5] In fact, we do not have any substantial internal evidences relating to his time. The whole framework of *Anekānta* and *Saptabhaṅgi* in Akalaṅka's works can be safely attributed to the genius of Samantabhadra.

[1] TV. p. 17.
[2] Tsu. 1.6.
[3] JSI. pp. 45-46.
[4] Āptaparīkṣā *Kārikā* 3.
[5] JSIV. p. 697.

Akalaṅka's *Aṣṭaśatī* is the finest specimen of scintillating intellect and incisive insight, being the commentary on *Āptamīmāṁsā* of Samantabhadra. No doubt, the author expresses his gratefulness in an indigenous manner. His Jaina Logic and Epistemology are grounded in the aphoristic statements of Samantabhadra. Akalaṅka uses such phrases as are expressive of the greatness of Samantabhadra,—*Syādvādapuṇyodadhiprabhāvaka*, *Bhavyaikalokanayana* and *Syādvādavartmaparipālaka*; etc.

5. *Siddhasena*:

Sanmatisūtra (SSu) is a renowned work of Siddhasena; it is maintained that *Dvātriṁśat dvātriṁśatikā* (DDT) and *Nyāyāvatāra* are also the works of Siddhasena; who probably flourished during the 5th century of Vikrama era[1]. Pūjyapāda belongs to the last quarter of this period, since the latter quotes *viyojayati cāsubhiḥ*—DDT in his SS (vii. 13); further, the *Laghīyastraya* (v. 67) contains the sanskrit version of the *gātha*—'*titthayaravayaṇa*' from SSu 1. 3. In addition, he quotes '*paṇṇavaṇijjā*' etc. (SSu. II. 16) and '*viyojayatī* (DDT. III. 16) in his TV p. 87 and p. 540 respectively. It is clear that *Sanmatitarka* was the valid text for Akalaṅka, which he quotes at several places in his TV[2]. Besides, he refers to Siddhasena by name—'*Asiddhaḥ Siddhasenasya*' (SV. VI. 21) before Devanandi and Samantabhadra.

6. *Yativṛṣabha*:

The author of *kaṣāya Pāhuḍa cūrṇi* is a great canonical scholar to whom is attributed *Tiloyapaṇṇatti* also. Critics are not unanimous regarding the genuineness of *Tiloyapaṇṇatti* in its present form[3]. As regards his time, it is proved to lie between 473 A.D. and 609 A.D[4]. Akalaṅka writes the following verse in the opening section of his earlier work—*Laghīyastraya*[5]—

"*Praṇipatya Mahāviraṁ syādvādekṣaṇasaptakaṁ,*
Pramāṇanayanikṣepānabhidhāsye yathāgamaṁ".

After this, he explains *Pramāṇa*, *naya* and *nikṣepa*, according to *Āgamas*. It is as follows:

"*Jñānaṁ pramāṇamātmāderupāyo nyāsa iṣyate.*
Nayo Jñātūrabhiprāyo yuktito'rthaparigrahaḥ"

[1] Sanmati Prakaraṇa, Intro. p. 41; NVVV. Intro. p. 141.
[2] NKC. Intro. p. 72.
[3] TP. vol. II, Intro. p. 15; JSIV, p. 586.
[4] Jayadhavalā vol. I, Intro. p. 57 and TP. vol. II, Intro. p. 15.
[5] LT, p. 18.

Tiloyapaṇṇatti has the following two gāthās in the first chapter—

jo ṇa pamāṇaṇayehiṁ ṇikkheveṇaṁ nikkhide atthaṁ,
tassājuttaṁ juttaṁ jattamajuttaṁ ca paḍihādi ॥82॥
nāṇaṁ hodi pamāṇaṁ nao vi ṇādussa hidayabhāvattho,
nikkhevo vi uvāo juttīe atthapaḍigahaṇaṁ ॥83॥

It is clear that the second *Kārikā* of LT is just the sanskrit form of the second *Gāthā* of TP. It will be seen in the following pages that Akalaṅka wrote first the *Pramāṇanayapraveśa* of LT and then *Pravacanapraveśa* (PP) separately ; such separate MSS. of PP are also found[1]. It seems either Akalaṅka or Anantavīrya named the compendia of both these works as *Laghīyastraya* taking into consideration all the *praveśas*. This Kārikā is given just after the proposition to write a treatise according to the *Āgamas*—*yathāgamam*, clearly indicative of its dependence on TP. The sanskrit form of a *Gāthā* of *Sanmati Sūtra* (I. 3) is found in this very text PP (p. 23).

"titthayaravayaṇasaṁgahaviseṣapatthāramūlavāgaraṇī,
davvatthio ya pajjavaṇao ya sesā viyappā siṁ."

The Sk. version is : *"tataḥ tīrthakara-vacanasaṅgrahaviśeṣaprastāramūla-vyākāriṇau dravyaparyāyārthikau niścetavyau"*.—LT, v. 67.

On the basis of this, we can definitely say, that in his earlier stages Akalaṅka preferred to follow his predecessors and sanskritised some *gāthās* of prākrit scriptural texts. The aphoristic statement *"Jñānam Pramāṇam"* does not reflect originality of Akalaṅka.

7. *Śrīdatta* :

Śrīdatta is referred to in *Jainendra-vyākaraṇa* (I. 4. 34) of Ācārya Devanandi ; even Akalaṅka refers to him as *"iti Śrīdattaṁ"* in his *Tattvārtha-vārtika* (p. 57) ; it seems he must have been a philologist of eminence. He flourished prior to Pūjyapāda. Ācārya Vidyānanda too accredits him for his triumphant victory over sixtythree debaters ; not only this, he refers to his *"Jalpanirṇaya"*[2]. also Further, Acārya Jinasena respectfully refers to him as *"Pravādībhaprabhedin"*[3]. Above all the vivid influence of this Ācārya can be traced on Akalaṅka in his *Siddhiviniścaya*, especially in the chapter—*Jalpasiddhi*, and also in *Jayaparājaya-vyavasthā* in the same way as is the influence of Pātrakesari on him.

[1] See KPTS.
[2] TSLV, p. 280.
[3] ADP, p. I, 45.

8. *Pūjyapāda*:

Pūjyapāda is the author of *Jainendravyākaraṇa* and *Sarvārthasiddhi*; his date has been fixed as the 5th century A.D.[1] It is a well-known fact that Akalaṅka gave the form of *Vārtika* to several sentences of *Sarvārthasiddhi* and explained them in detail in his TV. TV quotes *Jainendravyākaraṇa* also; besides this, Pūjyapāda is referred to as *Śabdānuśāsanadakṣa* in SVV (p. 653); further Pūjyapāda is referred by name in the verse of SV (VI. 21) as '*Viruddho Devanandinaḥ*'. Obviously Pūjyapāda's works form the very basis of those of Akalaṅka, who has frankly expressed his indebtedness to Pūjyapāda.

9. *Mallavādi*:

Muni Jambūvijayaji has reconstructed the *Nayacakra* of Mallavādi from the *Vṛtti* of Siṁhasūrigaṇi. The *Nayacakra* refers to Bhatṛhari and Dignāga; hence Mallavādi cannot be taken to have existed before the 5th c. A.D. He has also referred to Siddhasena; this fact also supports the limit of his age. The discussion of *naya* by Akalaṅka in his *Nyāyaviniścaya*[2] and *Pramāṇasaṁgraha*[3] bears eloquent testimony to the influence of *Nayacakra* which is no other text than one of Mallavādi himself. The work *Nayacakra* that is referred to by Akalaṅka and Vidyānanda is not the *nayacakra* of Devasena (933 A.D.). Though the *Nayacakra* refers to Dignāga in connection with his doctrine of *apoha* he is said to be the contemporary of Dignāga[4]. The age of Mallavādi has not been finally decided. The fact that the *Nayacakra* refers to Dignāga and is totally silent about Dharmakīrti and his disciples, leads us to the irresistible conclusion that Mallavādi flourished after Dignāga (5th c. A.D.) and before 7th c. A.D. Akalaṅka's reference to "*Sūtrapātavad ṛjusūtraḥ*" in TV (1. 33) is taken from *Nayacakra*[5] itself.

10. *Jinabhadragaṇi*:

Jinabhadragaṇi Kṣmāśramaṇa, the author of *Viśeṣāvaśyaka bhāṣya* belongs to the last quarter of the 6th and first quarter of the seventh century A.D. Muni Jinavijayaji fixes the date of Jinabhadra's VBH, at 609 A.D. from the *Praśasti* of *Viśeṣāvaśyakabhāṣya*[6]. Pt. Malvania regards this as

[1] JSI p, 41.

[2] *Nyāyaviniścaya*, iii, 477.

[3] *Pramāṇasaṁgraha*, p. 125.

[4] Dalasukha Malvania: Ācārya Mallavādikā Nayacakra, *Rajendrasūri Smāraka Grantha.*

[5] Nayacakra Vṛtti Ms. p. 345B.

[6] Vide Hindi Intro. p. 20.

the date of the copy of the MSS. of VBH. So the upper limit of the date of Jinabhadra is 593 A.D. At any rate one thing is clear that Jinabhadra belongs to the last quarter of the 6th century A.D., which can be pushed further upto 609 A.D. Jinabhadra divides *pratyakṣa* into *mukhya* and *sāṁvyavahārika*; the latter being the out-come of the joint operation of senses and mind[1]. Akalaṅka also adopts the same method of division of *pramāṇa*[2]. Thus Akalaṅka follows Jinabhadra who himself was an exponent of the Āgamic conception of *Pramāṇa*. The concept of *sāṁvyahārika pramāṇa*, though the word is coined by Buddhist philosophers[3], is adopted by the Jaina logicians also; Jinabhadra is first to absorb this in Jaina logic.

11. *Pātrakesari*:

According to Anantavīrya there was a work of Pātrakesari, viz., *Trilakṣaṇakadarthana*[4]. *Tattvasaṁgraha*[5] quotes Pātrawsāmi's *'anyathānupapannatvaṁ'* etc. The inscriptions[6] refer to Pātraswami after Sumati. The three forms of *hetu* (reason) are propounded by Dignāga and elaborated by Dharmakīrti. The oldest reference to Pātraswāmi is made by Śāntarakṣita (705-762 A.D.) and Karṇakagomi (between the last quarter of 7th and 8th century A.D.). Hence Pātraswāmi must have lived after Dignāga (425 A.D.) and before Śāntarakṣita. It seems, therefore, that he belongs to the last part of the 6th century A.D. and earlier part of the 7th century A.D.; his famous verse *'anyathānupannatva'* is incorporated by Akalaṅka in his Nyāyaviniścaya[7].

12. *Bhartṛhari*:

It is generally accepted on the strength of I-Tsing's record of his travels that Bhartṛhari lived in 650 A.D.; for he refers to Bhartṛhari's death just before forty years from the time of his records (691 A.D.). But recent researches have thrown much light and suggest a drift from the accepted date. Muni Jambuvijayaji in his article on *"Jainācārya Mallavādi ane Bhartṛhari no Samaya"*[8] has put forth some arguments to reject the said date. According to him:

[1] *Viśeṣāvaśyakabhāṣya*, v. 95.
[2] *Laghiyastraya*, *v.* 3.
[3] *Pramāṇavārtika*, *I.* 7.
[4] See Sec.: Anantavirya as Logician, Hindi Intro. p. 67.
[5] *Tattvasaṁgraha* p. 405.
[6] EC. vol. VIII, Nagar No. 39 see Hindi Intro. p. 8.
[7] *Nyāyaviniścaya*, ii. 323.
[8] *Buddhiprakāśa*, vol. 98 Part II, November 1951.

(1) Bhartṛhari was the disciple of Vasurāta, which fact is stated by Puṇyarāja in his commentary on *Vākyapadīya* and Mallavādi in his *Nayacakra*.[1] Paramārtha Pandita wrote the biography of Vasubandhu in Chinese probably in 560 A.D., wherein it is stated that Vasurata pointed out the grammatical errors in *Abhidharmakośa* of Vasubandhu, who, with a view to reply this grammarian, wrote a book, a fact which is generally accepted by scholars. The age of Vasubandhu is supposed to be 280-360 A.D.[2], hence it can be surmised that Bhartṛhari, the disciple of Vasurāta who was the contemporary of Vasubandhu, might have flourished during the early part of the 5th c. A.D.

(2) Dignāga, the disciple of Vasubandhu, quotes from Bhartṛhari's *Vākyapadīya* (II. 156-7) two Kārikas in the last portion of 5th ch. on *Apoha* in *Pramāṇasamuccaya*. They are:

saṁsthānavarṇāvayavairviśiṣṭe yaḥ prayujyate,
śabdo na tasyāvayave pravṛttirūpalabhyate.
saṁkhyāpramāṇasaṁsthānanirapekṣaḥ pravartate,
bindau ca samudāye ca vācakaḥ salilādiṣu.

This is attested by Jinendrabuddhi's commentary on PS. viz., *Viśālāmalavatīṭīkā* where he writes in this context—'*Yathāha Bhartṛhariḥ*'. It is clear from this that Bhartṛhari was the contemporary of Dignāga; similarly, the teachers of both these scholars must have been contemporaries. We know the time of Dignāga (c. 425 A.C.). In his *Nayacakra*, Mallavādi quotes views and also 3 Kārikas of Vasurāta and Bhartṛhari[3]. Bhartrihari, therefore, must have lived during the last quarter of the 4th century A.D. Scholars are indeed, indebted to Jambuvijayaji for throwing new light on this problem. Of course, before this attempt, Prof. Bruno and Kunhan Rāja have proved the date of Bhartṛhari as c. 450 A.D.[4] In the light of these evidences, it can be remarked that Bhartṛhari about whom I-Tsing refers in his Records[5] was certainly a Buddhist scholar, which is sufficiently self-evident in the words of I-Tsing who refers to him as the author of a commentary on *Mahābhāṣya* of about twenty-five thousand verses.....he had intensive faith in *triratna*.....he was meditating on *Śūnya*.....he became an ascetic in order to acquire *Saddharma* and in this way he changed his mode of life seven times. Therefore, that Bhartṛhari, the ascetic by way of life and Śūnyavādi by faith, is totally different from

[1] *Nayacakra*, p. 371 A, 379 B.
[2] Frauwelnere: On the Date of Vasubandhu.
[3] *Nayacakra*, p. 147, 242.
[4] MSLT. Intro. p. 17; see also Kṣīrataraṅgiṇi, Intro.
[5] Vide Hindi Intro. p. 22, f. no. 3, 4 and 5.

his namesake, the author of *Vākyapadīya*; the latter has denounced the use of Apabhraṁśa words in *Vākyapadīya* and he established the existence of *nitya-śabda-Brahma.*

It seems that confusion has been made in regard to Bhartṛhari, the author of *Vākyapadīya* identifying him with his namesake, the Buddhist about whose death I-Tsing refers. Besides Kumārila quotes and explains some verses from *Vākyapadīya* (II. 81). It is repeated twice in his *ślokavārtika* (p. 251-3). Kumārila subjects to criticism the lines, '*tattvāvabodhaḥ.....(vākyapadīya* 1. 7) in *Tantravārtika* (p. 209-10). The ten types of sentences expounded by *Vākyapadīya* (II. 1-2) are criticised in MSLV by Kumārila. Kumārila subjects Bhartṛhari's doctrine of *sphoṭa* to searching criticism.

Dharmakirti does not spare Bhartṛhari. The former refutes the *sphoṭa* theory in his PV (III. 257) and PVV.[1]

Akalaṅka refers to Bhartṛhati's *Vākyapadīya* (I. 79): '*indriyasyaiva saṁskāraḥ śabdasyobhayasya vā*', and criticises in his TV (p. 486) the contention of this *Kārikā*; further he quotes a line from a *Kārika*—"*śāstreṣu prakriyābhedairavidyaivopavarṇyate*", from *Vākyapadīya* (II. 235) in his TV. (p. 57).

13. *Kumārila*:

It is regarded that Kumārila, the outstanding exponent of Mīmāṁsā, flourished during the seventh century A.D. He, as referred to above, quotes Bhatṛhari. We have discussed the date of Bhartṛhari lying in between 4th and 5th centuries A.D. It was believed by K. B. Pathak that Kumārila refers to Dharmakīrti and criticises him. In support of this contention Pathak refers to the commentaries of Pārthasārathi Miśra and Sucarita Miśra. Pathak refers to some verses[2] of Kumārila as quoting the views of Dharmakīrti.

But the careful reading of the verses will reveal the truth that the said verses form the *pūrvapakṣa* of Buddhists. Though the commentators quote Dharmakīrti's '*avibhāgo'pi*' (PV. II. 354). etc., still it can be said, there is much difference in verbal expression. The views criticised by Kumārila were held by Vasubandhu and Dignāga etc.

On the other hand, it will be evident from the following discussions, that Dharmakīrti himself criticises Kumārila, who inflicted a severe attack on the conception of *Dharmajña* in these words:

---

[1] See Hindi Intro. p. 23.

[2] MSLV. Śūnyavāda 15-17; Hindi Intro. p. 23.

"Dharmajñatvaniṣedhastu kevalo'tropayujyate,
sarvamanyadvijānañstu puruṣaḥ kena vāryate[1]*."*

The Buddhist reply is given by Dharmakīrti in his PV (I. 31-35).

The definition of perception by Kumārila in MSLV (p. 168) is as follows:

"asti hi-ālocanājñānaṁ prathaṁ nirvikalpakaṁ,
bālamūkādivijñānasadṛśaṁ śuddhavastujaṁ".

Dharmakīrti criticises in PV (II. 141) the views expressed in the above *Kārikā*, thus:

"Kecidindriyajatvāderbāladhīvadkalpanāṁ.
āhurbālāḥ....."

Similarly several such views held by Kumārila are severely criticised by Dharmakīrti[2].

Akalaṅka is the ablest critic of Kumārila. The latter has written in MSLV (p. 85):

"pratayakṣādyavisaṁvadipremeyatvādi yasya tu,
sadbhāvavāraṇe śaktaṁ ko nu taṁ kalpayiṣyaiti".

while criticising the theory of omniscience.

Akalaṅka retorts Kumārila in almost identical language:

"tadevaṁ prameyatvasattvādir-yatra hetulakṣaṇaṁ puṣṇāti
taṁ kathaṁ cetanaḥ pratiseddhumarhati saṁśayituṁ vā"
(*Aṣṭaśatī* and *Aṣṭasahasrī*, p. 58.)

Sāntarakṣita has elaborately discussed the following verse taking it to be of Kumārila in his *Tattvasaṁgraha*—

"daśahastāntaraṁ vyomno yo nāmotplutya gacchati,
na yojanaśataṁ gantuṁ śakto'bhyāsaśatairapi".

Akalaṅka reduces the idea in SV VIII. 12., in this way:

"daśahastāntaraṁ vyomno notplaveran bhavādṛśāḥ,
yojanānāṁ sahasraṁ kinnotplavet pakṣirāḍiti".

Similarly, there are a large number[3] of quotations from Kumārila in Akalaṅka's works. Akalaṅka pulverises the arguments of Kumārila against the doctrine of omniscience.

The facts that Kumārila has criticised Dignāga and is himself subjected to criticism by Dharmakīrti and Akalaṅka, go to prove that he must have flourished not later than the early part of the 7th c. A.D.

---

[1] This verse is quoted in the name of Kumārila in TS. p. 817; see Hindi Intro. p. 24.

[2] Vide Hindi Intro. p. 24.

[3] See Hindi Intro. p. 25.

14. *Dharmakīrti*:

Dharmakīrti was born in Trimalaya in South[1]. According to Tibetan tradition Kotunanda was his father[2]; it is also attested by a reference, '*Kurundārakośi*[3] *Kena tadatsarabhraṁsāt* (read as: *tadavasarabhraṁśāt*)' in SVT[4]. At Nālandā, Dharmakīrti was the disciple of Dharmapāla; the latter lived upto 642 A.D.; Dharmakīrti, probably, was alive upto that period. According to Tārānātha, he was contemporary of a Tibetan king, Sroṅgtsan Gum Po (627-698[5] A.D.).

The Chinese pilgrim Yuwan-Chwang toured India from 629 to 645 A.D. His first visit to Nālandā was in 637 A.D. and the second one in 642 A.D[6]. During his first visit, he was residing in a dwelling to the north of the abode of Dharmapāla Bodhisattva, where he was provided with every sort of charitable offering[7]. He refers to "some celebrated men of Nālandā who had kept up the lustre of the establishment and continued its guiding work. There were Dharmapāla and Chandrapāla who gave a fragrance to Buddha's teachings, Guṇamati and Sthiramati of excellent reputation among contemporaries, Prabhāmitra of clear argument, and Jinamitra of elevated conversation, Jñānachandra of model character and perspicacious intellect, and Śīlabhadra whose perfect excellence was buried in obscurity. All these were men of merit and learning and authors of several treatises widely known and highly valued by contemporaries"; during[8] his second visit Śīlabhadra was the head of the Institution. Yuwan-Chwang studied Yoga from him. Obviously, Dharmapāla had retired before 642 A.D.[9] From the records of travels, nothing can be known about the time of Dharmapāla's end of life[10]. However, we know that Śīlabhadra was alive in 642 A.D. i.e. during the time of Yuwan-Chwang's second visit and he might have died after 645 A.D.[11]

---

[1] S. C. Vidyābhuṣan, History of Indian Logic, (HIL) p. 302.

[2] *Darśana Digdarśana*, p. 741.

[3] should be read as Kurunandadārakosi.

[4] p. 54.

[5] HIL, p. 306, Note 1.

[6] On Yuwan-Chwang, vol. II, App. by Vincent Smith, p. 335.

[7] S. Beal: The Life of Hiuen-Tsiang, p. 109.

[8] Thomas Watters: On Yuwan-Chwang, vol. II, p. 165.

[9] ibid, p. 168-9.

[10] Takakusu conjectures that Dharmapāla was not alive in 635 A.D.—vide I-Tsing's Travels. Intro. p. 26.

[11] Yuwan Chwang's letter to Jinaprabha proves the death of Śīlabhadra, after Yuwan Chwang's return to China—Bauddha Saṁskṛti, p. 337.

The fact that Yuwan-Chwang is silent about Dharmakīrti shows according to Vidyābhuṣana[1], that he might be in preliminary stage of his studies. Rahul Sāṅkṛtyāyan[2] observes that—Dharmakīrti might have died when the pilgrim Yuwan-Chwang visited Nalanda; besides he did not bother himself about Logicians as he had no interest at all; so it is not surprising if Dharmakīrti is not referred to.

There is no sense in saying that simply because Yuwan-Chwang had no interest in Logic, he might have ignored Dharmakīrti. Really, Yuwan-Chwang did refer to Nagārjuna and Vasubandhu, the great stalwarts of Buddhistic Logic; besides, he refers to Guṇamaṭi, Sthiramati etc., who cannot stand the comparison with Dharmakīrti; to refer to Dharmakīrti, the author of epoch-making seven volumes, spells the exemplary honesty of any scholar; if he would have flourished before Yuwan-Chwang, by no stretch of imagination it appears to be correct to hold that he was not interested in logic. Hence the right surmise would be that Dharmakīrti was at preliminary stages of his learning at Nālandā during the sojourn of Yuwan-Chwang.

The second pilgrim to visit India was I-Tsing, whose period of travel lies from 671 to 695 A.D.[3] He stayed at Nālandā for ten years (675-685). He recorded his travels in 691-692 A.D. He refers to the line of luminous scholars in very glowing terms; suffice it to refer here, in order, Nāgārjuna, Deva, Aśvaghoṣa of the ancient period; after that, Vasubandhu, Asaṅga, Saṁghabhadra and Bhāvaviveka of the mediæval period and lastly, Jina, Dharmapāla, Dharmakīrti, Śīlabhadra, Siṁhachandra, Sthiramati, Guṇamati, Prajñāgupta, Guṇaprabha and Jinaprabha[4]. Further, he writes, that Dharmakīrti systematised *Hetuvidyā* after 'Jina'. Prajñāgupta (not Matipāla) has expounded the doctrines of true religion subjecting other religions to repudiation.

From all this, it seems, Dharmakīrti was regarded as an author of the first galaxy. The very fact that he is referred to with Dharmapāla, Guṇamati and Sthiramati and also his commentator pupil Prajñā(kara)-gupta, shows that he refers to a long period of not less than eighty years. If Dharmakīrti would have died, according to Rāhulji, I-Tsing would have definitely expressed his grief just as he does about Bhartṛhari, a Buddhist monk and not the author of *Vākyapadīya*.

[1] HIL, p. 306.

[2] *Vādanyāya*, Intro. p. 6.

[3] Vide Intro. to *Akalaṅka-Grantha-Traya*, p. 25.

[4] *I-Tsing kī Bhārata Yātrā*, p. 277.

Against the background of this brief analysis, it can be surmised that Dharmakīrti might have lived during 625-650 A.D.; this time limit can be rightly extended from 620-690 A.D. This explains Yuwan Chwang's silence about Dharmakīrti and reference by I-Tsing and Tārānātha's contention that Tibetan king Sroṅgtsan Gum Po (629-685) was the contemporary of Dharmakīrti. There is hardly any doubt about the fact, that Akalaṅka imbibes the method, style and the spirit of Dharmakīrti's criticism of other schools of thought, which is attested by several quotations from all the works of Dharmakīrti in his own vast literature[1].

15. *Jayarāśi Bhaṭṭa:*

In the Introduction to *Tattvopaplavasiṁha* (TPS) the date of Jayarāśi, the author of TPS is fixed by Pt. Sukhalalji as not later than eighth century A.D., on the strength of the references to Jayarāśi and TPS by Anantavīrya and Vidyānanda in their respective works; and, later on he assigned him to the period of 725-825 A.D.[2] According to Panditji, the TPS is not referred to by Akalaṅka, Haribhadra and others belonging to the later period of 8th c. A.D.; nor do we find any indirect suggestion of them in TPS. But, admitting that TPS is not clearly referred to by Haribhadra, we see that there is a clear reference to TPS in SVV of Akalaṅka—*Bahirantaśca-upaplutam* (SVV IV. 12)[3]. Commenting on this, Anantavīrya, in his SVT., refers to TPS and also its author Jayarāśi[4]. Hence the upper limit of TPS is not later than the first quarter of 8th c. A.D. This conclusion is supported by other sources also. Dharmakīrti attempts to establish the identity of happiness and knowledge, in his PV (III. 252):—

"tadatadrūpiṇo bhāvāḥ tadatadrūpahetujāḥ,
tatsukhādi kimajñānaṁ vijñānābhinnahetujam".

On the basis of this very argument Jayarāśi has established the identity of *rūpa* and *jñāna*, and has inserted the word '*rūpādi*' in the place of '*sukhādi*' in the said *Kārikā*.

Prajñākara has given a reply to Jayarāśi, in his *Pramāṇavārtikālaṅkāra* (p. 313) citing the altered *Kārikā* of Jayarāśi in this way:—

"anena etadapi nirastam—
tadatadrūpiṇo bhāvāḥ tadatadrūpahetujāḥ,
tadrūpadi kimajñānaṁ vijñānābhinnahetujam".

---

[1] *Tattvopaplavasiṁha*, Intro. p. 10.

[2] *Bhāratīya Vidyā*, vol. II, No. 1.

[3] Vide Hindi Intro. pp. 28-29.

[4] *Tattvopaplavakaranāt Jayarāśiḥ saugatamatamavalambya brūyāt tatrāha—svasaṁvedana ityādi*—SVT, p. 278.

Obviously, Jayarāśi must have lived after Dharmakīrti and before Prajñākara or at least he must have been a contemporary of both.

According to Rahulji, Prajñākara lived in 700 A.D.[1]; and rightly so. It has been discussed elsewhere that Akalaṅka criticises Prajñākara's[2] theories of *Bhāvikāraṇa* and *svapnāntikaśarīra*. Naturally, it is not inconsistent to maintain that TPS was seen by Akalaṅka who criticises Prajñākara, the critic of Jayarāśi. Therefore the period of Jayarāśi can be fixed somewhere between 650-700 A.D.

16. *Prajñākaragupta*:

Amongst Dharmakīrti's commentators, Prajñākaragupta is the follower of the Āgama school; in spite of being a commentator he was an independent thinker. Dr. Vidyābhuṣan assigns him to the 10th c. A.D[3]. But rightly Rāhulji relying on Tibetan tradition, opines that he belonged to 700 A.D.[4] Rāhulji's contention is further substantiated by the references to Prajñākara found in Vidyānanda[5] (800-840 A.D.), Jayantabhaṭṭa[6] (810 A.D.) Anantavīrya[7] (950-990 A.D.) and Prabhācandra[8] (980-1065 A.D.).

Prajñā (kara) gupta referred to by I-Tsing in his Records as a critic of other systems, is none else than this very scholar who can be said to be the contemporary of Dharmakīrti; certainly, Dharmakīrti might be older than Prajñākaragupta. Therefore, latter must have flourished in 660-720 A.D. Further, it will be proved that Akalaṅka has criticised Prajñākaragupta who is prior to Karṇagomi, since the latter refers to, '*alaṅkāra evāvastutvapratipādanāt*', meaning thereby Prajñākara's PVB.

Akalaṅka[9] has criticised Prajñākara's own theories with regard to *bhāvikāraṇavāda*, *Svapnāntikaśarīravāda* and partial validity of *pītaśaṅkhādijñāna*.

---

[1] PVB, Intro. p. (ḍha).
[2] AGT, Intro. p. 26.
[3] HIL. p. 336.
[4] *Vādanyāya*, App. and PVB., Intro.
[5] *Aṣṭasahasrī*, p. 278.
[6] *Nyāyamañjari-Prameya*, p. 70.
[7] SVT. App. 9.
[8] PKM. p. 380.
[9] SVT p. 96 also Hindi Intro. pp. 31-32.

17. *Arcaṭa*:

Arcaṭa is known by another name Dharmākaradatta[1]. He is the author of three works: *Hetubindu Tikā*, *Kṣaṇabhaṅgasiddhi* and *Pramāṇadvayasiddhi*. In the opinion of Tārānātha, Dharmākaradatta was preceptor of Dharmottara. Dr. Vidyābhuṣana[2] assigns him to 700 A.D.

Rāhulji first assigned him to 825 A.D. in *Vādanyāya*[3] but relying on Tibetan tradition he changed that date and has suggested it to be 700 A.D.[4] Futher he mentions that Dharmottara was his disciple. Pt. Sukhalalji assigns him to the last part of 7th c. A.D. and early part of 8th c. A.D.[5]; the age 700-725 as inferred by Rahulji and Panditji, is supported by Akalaṅka's (720-780 A.D.) reference to "*sāmānyaviṣayā vyāptiḥ tadvisiṣṭānumiteriti*", in his SVT p. 177. Anantavīrya comments on this: '*Sāmānya ityādi Arcaṭamatamādūṣayitṁ śaṅkate*" implying that Akalaṅka is criticising the views of Arcaṭa.

It can, therefore, be maintained that Arcaṭa might have been a contemporary of Akalaṅka.

18. *Śāntabhadra*:

Pt. Dalasukh Mālvania has proved, with evidences, that Śāntabhadra had written a commentary on *Nyāyabindu*.[6] Dharmottar subjects to criticism the views of Śāntabhadra and Vinītadeva; Dharmottara is placed in 700 A.D. naturally, Śāntabhadra can be said to be his elder contemporary.[7]

Akalaṅka refutes the theory of *mānasa pratyakṣa* held by Śāntabhadra, in NV. (I. 161-2) as:

"*antareṇedamakṣānubhūtaṁ cet na vikalpayet,*
santānāntaravac-cetaḥ samanantarameva kim."

This is attested by Vādirāja's reference to *Śāntabhadrastvāha*', while commenting upon this *śloka*. Further, SVT (p. 129) also refers to '*atrāha Śāntabhadraḥ*'[8]. Akalaṅka himself quotes Śāntabhadra and criticises him.

[1] *Hetubindu Tikā* p. 233.
[2] HIL. p. 331.
[3] *Vādanyāya*, A. M.
[4] *Pramāṇavārtikālaṅkāra*, Intro. p. 7.
[5] *Hetubindu*, Intro. p. 12.
[6] *Dharmottarapradīpa* Intro. p. 52.
[7] Vide Hindi Intro. p. 33.
[8] *ibid.*

19. *Dharmottara*:

Of all the commentators of *Nyāyabindu*, Dharmottara is unique. He not only explaind the text verbatim but expounded the ideas embodied in the text. He was the disciple of Arcaṭa; he must have flourished during the last quarter of 7th c. A.D.

The Jaina Ācārya Mallavādi has written a *Tippaṇa* on Dharmottara's commentary on *Nyāyabindu*. Pt. Malvania has discussed about the date of Mallavādi in his Intro. (p. XXIX) to *Dharmottara-pradipa*: 'Dr. A. S. Altekar has edited a copper-plate inscription of Karkasuvarṇavarsha, a Rāṣṭrakūta king of Gujarat in the *Epigraphia Indica* (vol. XXI. p. 133). It mentions the names of Mallavādi of the Mūlasaṁgha-sena-āmnāya, his pupil Sumati and Sumati's pupil Aparājita. This inscription belongs to Śaka-Samvat 743. Dr. Altekar conjectures that the author of the *Nyāya-bindu-tippaṇa* is probably this Mallavādi. This view is quite consistent with the date of Dharmottara'.

It is clear that Mallavādi flourished probably in 725 A.D., naturally Dharmottara can be placed in about 700 A.D. He was the author of *Nyāya-bindu-ṭīkā*, *Prāmāṇya-parīkṣā*, *Apoha-prakaraṇa*, *Paraloka-siddhi*, *Kṣaṇa-bhaṅga-siddhi* and *Pramāṇaviniścaya-ṭīkā* etc.

With regard to the definition of *Mānasapratyakṣa*, there is a controversy amongst the commentators of *Nyāyabindu*. Dharmottara criticised the views of Śāntabhadra and established that *mānasapratyakṣa* should be regarded as *Āgama-siddha* and not *Yuktisiddha* as is accepted by Śāntabhadra. Akalaṅka criticises both of them in his NV (I, 169)[1].

20. *Karṇagomi*:

Dharmakīrti has written his own commentary on *Svārthānumāna* chapter of *Pramāṇavārtika*; *Karṇagomi* has written a commentary on this *Vṛtti*. As has already been discussed elsewhere by us, he is assigned to the early part of the 8th c. A.D[2]. Rahulji places him in 9th c. A.D.; because Karṇagomi refers to Maṇḍana Miśra who according to Rahulji flourished in 9th c. A.D[3].

[1] Also see NVV where Vādirāja explicitly mentions the names of Śāntabhadra and Dharmottara with their views.

[2] AGT. Intro. p. 30.

[3] PVVT. p. 109. Karṇagomi quotes Maṇḍana's *Kārikā*—"*ātmavidhātṛ pratyakṣam*", with "*taduktaṁ Maṇḍanena*".

But Rāmanāth Shastri in his intro. to *Bṛhati* vol. II gives the period of Maṇḍana to be 670-720 A.D[1]. M. M. Kuppusvami has proved the time of Maṇḍana Miśra to be 615-690 A.D[2].

It is but definite that Maṇḍana Miśra must be posterior to Kumārila and Prabhākara and a contemporary of Dharmakīrti.

The lower limit of the date of Karṇagomi must be fixed as later than Prajñākara (A.D. 660-720) because Karṇagomi refers to Prajñākara and the upper limit is the date of Akalaṅka because Akalaṅka refers to Karṇagomi: he must have flourished between Prajñākara and Akalaṅka, therefore, Karṇagomi must be placed in the later part of 7th c. A.D. and in the earlier part of 8th c. A.D.

Kumārila's attack on Buddhist theory of *Pakṣadharmatvarūpa*, is replied by Karṇagomi in PVVT[3], and Akalaṅka criticises this view of Karṇagomi in his *Pramāṇasaṅgraha* (p. 104) in these words: "*Kālādidharmikalpanāyāmatiprasaṅgaḥ*". Further, SVT (p. 158) refers to the *Kārikā*:— "*Yathārtharūpaṁ buddher vitatapratibhāsanāt*", as the view held by Karṇaka; and also SV (p. 158) '*Svarūpamantareṇa* etc.' is explained by Anantavīrya:— *Kallakastvāha*". It seems, Kallaka is identical with "Karṇaka".

21. *Śāntaraksita*:

Śāntarakṣita is one of the most brilliant commentators of Dharmakīrti. He has commented on Dharmakīrti's *Vādanyāya*. His other monumental work is *Tattvasaṅgraha*. It is mentioned that he flourished in 705-762 A.D[4]. He undertook his first journey to Tibet in 743 A.D. Probably he had finished his *Tattvasaṅgraha* before his departure for Tibet. There are several sentences and verses which go to show the influence of Śāntarakṣita on Akalaṅka, e.g. compare "*Vṛkṣe Śākhāḥ Śilascāge ityeṣā laukikī matiḥ*" (TS. p. 267)—with, "*tāneva paśyan pratyeti śakhā vṛkṣepi laukikāḥ*" (*Praṁāṇasaṅgraha*, v. 26; NV. v. 104); "*evaṁ yasya prameyatva*" (TS. 885) etc., with "*tadevaṁ prameyatvasattvādir yatra*.....etc." (*Aṣṭaśatī*, *Aṣṭasahasrī*, p. 58); and, "*astihīkṣanikādyākhyā*"; (TS. p. 888) etc., with NV. v. 407.

In this way we have seen that Akalaṅka refers and refutes the views of the various commentators of Dharmakīrti such as Prajñākaragupta, Arcaṭa, Śāntabhadra, Dharmottara, Karṇagomi and Śāntarakṣita.

---

[1] *Bṛhati*, vol. II, p. 31.

[2] *Brahmasiddhi*, Intro. p. 58.

[3] "*Yadi evaṁ tatkālasambandhitvameva sādhyasādhanayoḥ*....."PVVT, p. 11.

[4] TS. Intro. p. 96.

Pt. Kailashchandraji assigns Akalaṅka to the middle of 7th c. A.D.; so he is of the opinion that the views of Dharmakīrti's commentators could not be refuted by Akalaṅka, so he concludes that the commentators of Akalaṅka were wrong in saying that some of the views criticised by Akalaṅka are those of the commentators of Dharmakīrti[1].

But taking into consideration the view of the definite age of Akalaṅka (720-780), there is a possibility of criticism by Akalaṅka of the commentators of Dharmakīrti. So there is the least possibility of error committed by the commentators of Akalaṅka in attributing some of the views to the commentators of Dharmakīrti.

(e) The influence of Akalaṅka on his contemporaries and the subsequent writers:

Having dealt with the problem of influence of pre-Akalaṅka philosophers over Akalaṅka, a survey of Akalaṅka's inescapable influence upon his contemporaries and subsequent writers demands closer study. At the outset, it must be readily admitted that no philosopher has an impact and stirring influence over others as Akalaṅka. Jain philosophers Digambara and Śvetāmbara alike after Akalaṅka, having accepted his views in toto, have explained and expounded his subtle thoughts; of course, there are some Ācāryas like Śāntiṣūri and Malayagiri who differ in minor details from Akalaṅka. Of the non-Jaina philosophers to refer to Akalaṅka, there is only Durvekamiśra (10th c. A.D.) who quotes Akalaṅka by name[2] from SV in his *Dharmottarapradīpa*.[3] A brief critical survey of the philosophers and of other writers who were influenced by Akalaṅka will be discussed here.

1. *Dhanañjaya*[4]:

He is the author of *Dvisandhāna-kāvya* and *Nāmamālākoṣa*. Dr. K. B. Pathaka places him in 1123-1140 A.D. Some other scholars also hold the same view[5].

But this view is on slippery ground because Prabhācandra (980-1065 A.D.) refers to *Dvisandhāna* in his *Prameyakamalamārtaṇḍa* (p. 402). Vādirājasuri (c. 1025 A.D.) eulogises him in *Pārśvanātha-carita* (p. 4); further Viraśena (748-823 A.D.) quotes "*hetāvevaṁprakārādyaiḥ* from *Anekārtha-*

[1] Vide Hindi Intro. p. 36 for detailed discussion.

[2] See SVT. p. 580, note 3.

[3] "*Yadāha Akalaṅkaḥ.....*" *Dharmottarapradīpa*, p. 246.

[4] NKC. vol. II, Intro. p. 27.

[5] History of Sankrit Literature, p. 173,

nāma-mālā of Dhanañjaya in Dhavalā[1]. It is quite plain that Dhanañjaya can be placed in 8th c. A.D.

Dhanañjaya praises Akalaṅka in these words :—

"Pramāṇamakalaṅkasya Pūjyapādasya lakṣaṇam,
Dhanañjayakaveḥ kāvyaṁ ratnatrayamapaścimam."

2. *Vīrasena* (748-823 A.D.[2]) :

Vīrasena the famous commentator of *Ṣaṭkhaṇḍāgama*, refers to Akalaṅka as *"Pūjyapāda Bhaṭṭāraka"*[3] and quotes his *Tattvārthavārtika* naming it *Tattvārtha Bhāṣya*[4].

He quotes SV also in *Dhavalā, Vargaṇā Khaṇḍa*, vol. XIII, p. 356; *"Siddhiviniścaye uktam— "avadhivibhaṅgayor-avadhidarśanameva"*. But we do not find it in the present SV.

3. *Śripāla* :

He was the disciple of Vīrasena and a colleague of Jinasena (763-843 A.D.) who respectfully refers to him as the *"Sampālaka"* or *"Poṣaka"* of *Jayadhavalā-ṭīkā*; possibly, Śripāla belongs to the period of Jinasena. It seems, he could have seen Akalaṅka in his young age.

4. *Jinasena* (763-843)[5] :

Jinasena is the author of *Jayadhavalā* and *Mahāpurāṇa*. Akalaṅka is respectfully referred to in his works; further, it is a well-known fact that he corroborated with Vīrasena, his preceptor, in the commentaries on the canonical works.

5. *Kumārasena* :

He is referred to by Jainasena in *Harivaṁśa Purāṇa* (Śaka 705-783) : *"ākūpāraṁ yaśo loke.....guroḥ Kumārasenasya....."* According to Devasena, Kumārasena established the Kāṣṭāsaṅgha; he was the disciple of Vinayasena who himself was the pupil of Vīrasena. Jinasena had composed the poetical work *Pārśvābhyudaya* at the instance of Vinayasena. Acārya Vidyānanda says the glory of his *Aṣṭasahasrī* was due to Kumāraśena[6].

---

[1] *Dhavalā*, vol. I, Intro. p. 27.

[2] JSI, p. 140.

[3] *"Pūjyapāda-Bhattarakairapyabhāṇi Sāmānyanayalakṣaṇamidameva tadyathā pramāṇa-prakāśitārtha-prarūpako nayaḥ"*.

[4] *'Ayaṁ vākyanayaḥ Tattvārthabhāṣyagataḥ' Jaya Dhavalā*, vol. I, p. 210, see, TV, for original p. 1.33.

[5] See the footnote of p. 49 No. 3 and JSI, p. 129.

[6] *Aṣṭasahasrī*, p. 295; see also 1. 11. p. 38.

There is a reference to Kumārasena before Akalaṅka and after Sumatideva, "*udetya.....Kumāraseno munirastamāpat.....*"[1], a fact clearly indicating the time of Kumārasena to be 720-800 A.D. at the latest. On this assumption, it is but natural that Vidyānanda could have had a thorough acquaintance with Kumārasena's ideas and could substantiate his ideas in his monumental work *Aṣṭasahasrī*. And Jinasena could refer to him in his *Harivaṁśa Purāṇa* (783 A.D.); though being an elder contemporary of Akalaṅka, Kumārasena might have explained *Aṣṭaśatī* to Vidyānanda who explicitly accepts the gratitude of Kumārasena.

6. *Kumāranandi*:

Vidyānanda refers to him in *Pramāṇaparīkṣā* (p. 72) and TSLV (p. 280) which suggests that Kumāranandi was the author of *Vādanyāya*, "*Kumāranandinaścāhur-Vādanyāyavicakṣaṇāḥ*"; further, *Patraparīkṣā* (p. 3) also refers to him. In one of the records of gift by *Pṛthvikongaṇi* (Śaka 698-716 A.D.) to Candranandi, there is a geneological list of teachers of Kumāranandi. It seems he lived near about 776 A.D.

Kumāranandi's *Vādanyāya* explicitly bears the influence of SV of Akalaṅka. Though *Vādanyāya* is not available. The quotations from it bear the testimony that it is influenced by Akalaṅka-nyāya.

7. *Vidyānanda*:

He is the celebrated commentator on *Aṣṭaśatī* of Akalaṅka. Regarding his age, he himself states in the Praśasti of his magnum opus *Tattvārthaślokavārtika*, that he lived during the regime of śivamāra II (810 A.D.), the heir to king Śripuruṣa of Ganga dynasty. According to Pt. Darbarilal Kothia, Vidyānanda completed his works,—*Vidyānandamahodaya* and *Tattvārthaślokavārtika* during the reign of Śivamāra II (810 A.D.) and *Āptaparīkṣā*, *Pramāṇaparīkṣā* and *Yuktyanuśāsanālaṅkṛti* during the regime of Rācamalla Satyavākya I (816-830 A.D.). *Aṣṭasahasrī* was written after TSLV and before *Āptaparīkṣā*. etc. It might have been completed in 810-815 A.D. and *Patraparīkṣā*, *Śrīpura-Pārśvanātha-stotra* and *Satyaśāsanaparīkṣā* in 830-840 A.D.; from all this discussion it can be concluded that Vidyānanda flourished in 775-840 A.D.[2]

Vidyānanda wrote TSLV after *Vidyānandamahodaya*, in 810 A.D.; he might have started writing at the prime of his youth. Admitting that he was born in 760 A.D., it can be said that he could write his works from the age of forty; hence, he too flourished as a younger contemporary of Akalaṅka like Kumārasena.

[1] EC. vol. II, No. 67.

[2] *Āptaparīkṣā*, Intro. Pp. 51-53.

Vidyānanda has profusely quoted Akalaṅka in his works,[1] and elucidated the works of Akalaṅka by bringing out the hidden meaning of Akalaṅkanyāya.

8. *Śīlāṅkācārya* (*V.* 925 : *A.D.* 868) :

Śīlāṅkācārya is a well-known commentator on Āgamas ; he quotes two ślokas from LT in Sūtrakṛtaṅgaṭīkā[2].

9. *Abhayadevasūri*[3] (10th *c. A.D.*) :

Abhayadevasūri, the *tarkapañcānana* quotes some verses from LT with *vṛtti*[4] in *Sanmati-Tarkatīkā* to substantiate the study of Pramāṇas.

10. *Somadevasūri* (10th *c. A.D.*) :

Somadevasūri,[5] the versatile writer quotes in his *Yaśastilaka Campū*,[6] a verse *'ātmalābhaṁ vidurmokṣaṁ'*.....from SV (VII. 19).

11. *Anantakīrti* (10th *c. A.D.*) :

Anantakīrti quotes *daśahastāntaram* (SV. VIII. 12) in his *Laghu sarvajña-siddhi* (p. 120) which is enriched by the arguments of Akalaṅka.

12. *Māṇikyanandi* (993-1053 *A.D.*)[7].

Maṇikyanandi was the preceptor of Prabhācandra ; his *Parīkṣāmukha-sūtra* is the gist of Akalaṅka-nyāya[8].

13. *Śāntisūri* (993-1047)[9]

Śāntisūri quotes in *Nyāyāvatāravārtika*[10] a verse *"bhedajñānāt"* (NV I. 114) and *"asiddhaḥ siddhasenasya"* (SV VI. 21) with some alteration ; he criticises (p. 53) *"tridhā śrutamaviplavam"* from *pramāṇasaṁgraha* (v. 2) of Akalaṅka. For the influence of Akalaṅka on Śāntisūri's *Nyāyāvatāravārtika* readers are referred to the appendix to the same (p. 297).

---

[1] Vide Hindi Intro. p. 40 f. ns. 1-8.

[2] On p. 227a and 236a, vv. 4 & 72 resp.

[3] *Sanmati*, Intro. p. 83.

[4] See Hindi Intro. p. 40 f. n. No. 12.

[5] JSI, p. 182.

[6] p. 280.

[7] *Āptaparīkṣā*, Intro. p. 33.

[8] Vide. the Appendix to Intro. to *Prameyakamalamārtaṇḍa* in which the PMS is Compared with the various works of Akalaṅka, NVV and AGT. etc.

[9] *Nyāyāvatāravārtika*, p. 151.

[10] p. 110.

14. *Vādirāja* (*c.* 1025 *A.D.*)[1]:

Vādirāja, the *Śyadvādavidyāpati* is the famous commentator on NV of Akalaṅka, sometime he gives four or five meanings of certain words of Akalaṅka. The exposition of Akalaṅka's work NV by Vādirāja was mainly due to the help he received from the commentary on Akalaṅka by Anantavīrya.

15. *Prabhācandra* (980-1065)[2]:

Akalaṅka's works were the source of information for Prabhācandra who wrote excellent commentaries. He is the author of NKC, the commentary on *Laghīyastraya* of Akalaṅka. He has been benefited by the help of Anantavīrya for the explanation of difficult portions; in addition to this, he wrote *Prameya-kamala-mārtaṇḍa*, the commentary on PMS; he quotes "*bhedajnānāt pratīyrte*" (NV. I. 114) in *Ātmānuśāsanatīkā*, the commentary on *Ātmānuśāsana*.

16. *Anantavīrya* (*c.* 11*th A.D.*):

Anantavīrya wrote a commentary *Prameyaratnamāla* (PRM) on *Parīkṣā-mukha-sūtra* which is based on Akalaṅka's works and was written after *Prameya-kamala-mārtaṇḍa*. He refers in PRM (III. 5) to LT and NV.

17. *Vādidevasūri* (1086-1130 *A.D.*):

Vādidevasūri wrote *Pramāṇanayatattvāloka* with his own *tīkā* known as *Syādvādaratnākara* (SR), mostly based on *Parīkṣā-mukha-sūtra*. He quotes LT and LTV in his SR (I. 4, II. 3 and II, 12, verses 3, 4, and 5 of LT, with *Vṛtti*). Further, he quotes a line from SV in SR (p. 641); he accepts the fundamental principles of Akalaṅka's Logic and elaborates the discussion of *Hetu* with divisions and subdivisions etc. accepted by Akalaṅka.

18. *Hemacandra* (1088-1173 *A.D.*):

It seems that Akalaṅka's SV has an indelible impact on the mind of Hemacandra, the *Kalikālasarvjña*, he quotes two verses from SV in his *Pramāṇa-mīmāṁsā*. He was an exponent of Akalaṅka's Logic.

19. *Malayagiri* (about 11th & 12th *c. A.D.*):

Malayagiri was a colleague of Hemacandra. In his *Avaśyaka Niryukti-Ṭīkā*, he differs from Akalaṅka in holding that the use of *syāt* in *naya-vākya* is inadmissible, for the simple reason that *naya* itself constitutes

[1] for detailed discussion see NVV. vol. I and II, Introductions.

[2] for detailed discussion on Prabhācandra see NKC. vol. 2. Introduction.

that notion; if *syāt* is used in this context, then it ceases to be *naya-vākya* and becomes *Pramāṇavākya.*

But Vidyānanda and others of mediæval period and Yaśovijaya of modern times uphold the doctrine of Akalaṅka. According to Yaśovijayaji, the use of *syāt* in *Nayavākya* connotes the other attributes but does not denote them. In this context, Malayagiri was an isolated scholar; no one accepted his views.

20. *Candrasena* (12th *c. A.D.*):

Candrasena quotes a verse, "*na pasyāmaḥ*.....etc. from SV in his *Utpādādisiddhi.*

21. *Ratnaprabha* (12th *c. A.D.*):

Ratnaprabha was the disciple of Vādidevasūri; he respectfully refers to Akalaṅka in these words '*prakaṭitatīrthāntarīyakalaṅkokalaṅkaḥ*'; he quotes a verse from LT in his *Ratnākarāvatārikā* (p. 71).

22. *Aśādhara* (1188-1250 *A.D.*):

Aśādhara quotes the 4th and 72nd verses from LT in *Anagāra-dharmāmṛta,* (p. 169) and *Iṣṭopadeśa-ṭīkā* (p. 30); his *Prameya-ratnākara* is extinct.

23. *Abhayacandra* (*c.* 13th *A.D.*):

Abhayacandra has written a *Tātparyavṛtti* on Akalaṅka's *Laghīyastraya.*

24. *Devendrasūri* (*c.* 13th *A.D.*):

Devendrasūri refers to *Malaviddhamaṇi*.....etc. from LT in his *Karmagrantha-ṭīka* (vol. I. p. 8).

25. *Dharmabhūṣaṇa* (of 14th *c. A.D.*):

Dharmabhūṣaṇa quotes LT (v. 52) and NV (I. 3 & II. 172) in his *Nyāyadīpikā,*[1] which is merely the extracts of Akalaṅkanyāya.

26. *Vimaladāsa* (*c.* 15th *A.D.*):

Vimaladāsa quotes a verse beginning with "*Prameyatvādibhiḥ*....."etc. as '*taduktaṁ Bhaṭṭākalaṅkadevaiḥ*' in his *Saptabhangitaraṅgiṇī.* It occurs in *svarūpasamvidhāna* (v. 3) which does not bear any testimony regarding the authorship of Akalaṅka; Mahāsena is also said[2] to be the author of this work. Vimaladāsa's SBT is mainly based on Akalaṅkanyāya[3].

[1] *Nyāyadīpika,* Intro. pp. 96-98.

[2] NKC. vol. I, Intro. p. 54.

[3] vide TV. IV. 42.

27. *Yaśovijaya* (17th *c. A.D.*) *and other Ācāryas :*

Yośovijaya, the Gaṅgeśa of Jaina Nyāya was the exponent of Navya-Nyāya in Jaina logic. He was one of the outstanding exponents of Akalaṅka's logic. In his works *Jaina-tarkabhāṣā*, *śāstravārtā-samuccayaṭīkā* and *Gurutattvaviniścaya* he quotes[1] Akalaṅka extensively; besides he has replied to the objections raised by Malayagiri on Akalaṅka in his *Gurutattva-viniścaya*. He wrote a commentary on *Aṣṭasahasrī*, which is the commentory on *Aṣṭaśatī* of Akalaṅka.

Besides all these references to Akalaṅka, there are still other philosophers who quote Akalaṅka in their respective works, e.g. *Syādvāda-siddhi of* Vādībhasiṁha, *Āptamīmāṁsā-vṛtti* of Vasunandi, *Ṣaḍ-darśana-samuccaya-vṛtti* of Guṇaratna, *Syādvādamañjari* of Mallişeṇa, *Viśvatattva-prakāśa* of Bhāvasena, *Pramāṇaprameyakalikā* of Narendrasena, *Nyāyamaṇidīpikā* (a commentary on *Prameyaratnamālā*) of Ajitasena and *Prameya-ratna-mālā-laṅkāra* of Cārukīrti Paṇḍitācārya, etc., all these authors have glorified Akalaṅka.

From this exhaustive discussion, it is quite clear that Akalaṅka's impact on Jaina logicians is immense. Out of all these authors referred to above Vidyānanda, Anantavīrya, Prabhācandra, Abhayacandra, Vādirāja and Yaśovijaya are the commentators of Akalaṅka.

(*f*) *The age of Akalaṅka*:

Of epigraphical evidences that throw light upon the age of Akalaṅka, the oldest inscription to refer to him is of *c.* 1016 A.D. But epigraphical evidences are not to be exclusively depended upon. In this attempt the textual references are of immense help both from the standpoint of fixing the time limit and comparative studies.

The above discussion leads us to the conclusion that the time limit of Akalaṅka lies from Dharmakīrti and his line of disciples, which extends from the last part of 7th *c.* A.D. to the early phase of 8th *c.*; particularly the age of Śāntarakṣita (762 A.D.) is definitely the lower limit of Akalaṅka's date. The upper limit of his date can be fixed with the help of the date of his commentator Vidyānanda (775-840 A.D.) and with that of Dhanañjaya (8th *c.* A.D.) and Vīrasena (748-813 A.D.) who quote him. Hence *Akalaṅka can be placed in the 8th c. A.D.*

But in the light of the newly available material even the particular decade of the eighth century can be fixed.

[1] For references to quotations see Hindi Introduction p. 43.

There is a controversy over the issue of deciding the time limit of Akalaṅka :

(1) A galaxy of scholars led by K. B. Pathak holds that Akalaṅka flourished during the last quarter of the eighth century A.D. ; this group includes S. C. Vidyābhūṣaṇ, R. G. Bhandarkar, Peterson, L. Rice, Winternitz, F. W. Thomas, A. B. Keith, A. S. Altekar, Pt. Nathuram Premi, Pt. Sukhalalji, B. A. Saletore, MM. Gopinath Kaviraj.

(2) The other group of scholars maintain that 7th *c.* A.D. is the time of Akalaṅka, on the evidence of a *śloka* from *Akalaṅka-carita* in which the date is given as *Vikramārka Śaka* 700 i.e. 643 A.D., it includes R. Narasimhācharya, S. Srikantha Śāstri, Pt. Jugal Kishor Mukhtar, A. N. Upadhye, Pt. Kailashchandra, Jyoti Pd.[1] etc.

The arguments advanced by the first group of scholars are leading us near the truth and they are as follows—

(1) That Akalaṅka is referred to be the son of a minister to king Śubhatuṅga of Rāṣṭrakūta dynasty in Prabhācandra's KK.[2]

(2) That the Malliśeṇa praśasti inscribed on the pillar of Pārśvanātha Basti at Chandragiri refers that Akalaṅka narrates in the court of Sāhasatunga his victory over Buddhists at the court of king Himaśītala. Probably Sāhasatuṅga is identical with Dantidurga (744-756 A.D.)[3].

(3) That *Akalaṅka-carita* refers to Akalaṅka's debate in Śaka 700 (778 A.D.) in these words :
"vikramārkaśakābdīya śatasaptapramājuṣi,
kāle'kalaṅkayatino Bauddhair-vādo mahānabhūt."[4]

Now the second group of scholars advances the arguments in the following way :

(1) That KK refers to Mānyakheṭa as the capital of Śubhatuṅga, whereas it is Amoghavarṣa who made Mānyakheṭa the capital in 815 A.D. ; hence, the genuineness of KK is not altogether beyond doubt[5].

(2) That the identification of Sāhasatuṅga with Dantidurga II is a matter of conjecture only[6].

---

[1] Vide Hindi. Intro, for the references of views expressed by these Scholars, pp. 44-5.
[2] K. B. Pathak, ABORI, vol. XI. p. 155.
[3] Ibid.
[4] ABORI, vol. XI. Art. by K. B. Pathak.
[5] NKC, vol. I, Intro. p. 104.
[6] A. N. Upadhya, ABORI, vol. XII, p. 373.

(3) That the reference to *Vikramārkaśaka*, in *Akalaṅka-carita*, means Vikrama Samvat[1] and not Śaka.

(4) That Vīrasena quotes Akalaṅka's TV as Āgamapramāṇa in Dhavalā (the completing date 816 A.D.), hence he must be of remote age, so he flourished in the early period of 7th *c.* A.D.[2]

(5) *Siddhaśenagaṇi* (8th A.D.) refers to Akalaṅka's SV; hence he must have lived in 7th century A.D.

(6) That Haribhadra (700-770 A.D.) refers to *Akalaṅka-nyāya* in *Anekānta-jaya-patākā* shows that Akalaṅka is earlier than Haribhadra[3].

(7) Jinadāsagaṇi Mahattara (676 A.D.) refers to SV in *Niśītha-Cūrṇi*[4]; naturally Akalaṅka must be placed in the early part of the 7th century A.D.[5]

Now let us examine the arguments of the second group of scholars. It has been proved by us elsewhere[6] that Akalaṅka flourished in 720-780 A.D. on the strength of the internal and external evidences. This date is confirmed by the additional evidences that are available today. The aforesaid date as already mentioned, has been proved by K. B. Pathak and defended by S. C. Vidyābhusana and Pt. N. Premiji. The age proved by these scholars is substantially and firmly fixed, irrespective of the disproof of some of the evidences employed by them. The article on 'The Age of Guru Akalaṅka' by Dr. Saletore is a very significant contribution in this direction to firmly establish the conclusion arrived at[7]. Now let us examine the arguments one by one.

(1) As has already been discussed that the mention of Mānyakheṭa as the capital of Rāṣṭrakūṭa's is not a decisive factor. The reference of Mānyakheṭa as the capital of Śubhatuṅga in KK may be the result of an established fact of later times, that lead the author to mention it so, because of its strong affinity with the Rāṣṭrakūṭas.

---

[1] ABORI, vol. XII, Art. by A. N. Upadhye.

[2] ibid.

[3] NKC. vol. I, p. 105.

[4] *Pīthikā* gāthā No. 486.

[4] Jugalkishor Mukhtar, *Anekānta*, Vol. I, No. 1; NKC, vol. I, Intro. p. 105.

[6] *Akalaṅka-Grantha-Traya*, Intro. Pp. 13-32.

[7] B. A. Saletore, The Age of Guru Akalaṅka, BHSJ, vol. VI, pp. 10-33. This article by the veteran scholar is of special importance; he confirms the conclusion arrived at elsewhere (AGT. Intro.).

(2) According to Mallişeṇa Praśasti, Mallişeṇamuni expired in Śaka 1050 (1128 A.D.) and the said inscription is engraved to commemorate the saint. This inscription refers to 'Rājan Sāhasatuṅga'; it gives a chronological list of teachers such as: *Mahāvādi* Samantabhadra, *Mahadhyāni* Simhanandi, *ṣaṇmāsavādi* Vakragrīva, *navastotrakāri* Vajranandi, Pātrakesari the author of *Trilakṣaṇakadarthana*, Śumatideva the author of *Sumatisaptaka*, Kumārasena, Cintāmaṇi, *Kavicūdāmaṇi* Śrivardhadeva praised by Daṇḍi, *mahāvādavijeta* Maheśvara and Akalaṅka—destroyer of Tārā installed in an earthen pot. Further, some verses are put in the mouth of Akalaṅka[1]. The Praśastikāra quotes these verses in the Praśasti, not as composed by himself but he accepted them as they were prevalent traditionally. This shows that they were composed in the remote past.

Further, it refers to Akalaṅka's debates in the court of Sāhasatuṅga and his effort to invite Paravādimalla to the court of Śubhatuṅga for explanation, signifying that Sāhasatuṅga and Śubhatuṅga were two different kings; of course, before this Praśasti (1128 A.D) Prabhacandra (980-1065 A.D.) refers to Akalaṅka's debate in the court of Himaśītala but is silent in regard to his narration at the court of Sāhasatuṅga.

So far as we know the history of Rāṣṭrakūṭas, it is the rulers of this dynasty who only bear the *birudas* of the type—*śubhatuṅga*, *Nṛpatuṅga*, *Jagattuṅga*, i.e., the *birudas* necessarily have the suffix-*tuṅga*. That Kṛṣṇarāja I had the *biruda* Śubhatuṅga is sufficiently proved by several inscriptions[2]; there is nothing to prove the travesty of the contents of the said Praśasti. The reference to 'Rājan Sāhasatuṅga.....' etc. (v. 21) glorifies the qualities of a king with several adjectives. It is a vivid fact of history to note that Dantidurg had conquered the northern part of the kingdom of Kīrtivarmā II belonging to Solaṅki Chalukyas in the middle of 748-753 A.D. and had reestablished the sovereignty of the Rāṣṭrakūṭas[3]. The Sāmngaḍa (Dist. Kolhapur) inscription, dated Śaka 675 (753 A.D.) records the magnificent victorious career of Dantidurga[4]. The glowing tributes of this inscription[5] prove that this Sāhasatuṅga was prior to Śubhatuṅga, who defeated the Chalukyas; and this Sāhasatuṅga is shown to be identical with Dantidurga[6]. Dr. Altekar also upholds the same conclusion. It will be seen in the sequel, it is but definite that Sāhasatuṅga was the *biruda* of only Dantidurga II.

[1] Vide Hindi Intro. Pp. 46-47 for the text of Praśasti.
[2] EI, vol. III, p. 106 and vol. XVI, p. 125.
[3] Bhāratake Prācina Rājāvaṁśa, vol. III, p. 26.
[4] IA, vol. XI, p. 111.
[5] Vide Hindi Intro. p. 48, for the text of Inscr.
[6] BPRV, vol. III.

It has been already discussed that Akalaṅka was a young man during the last phase of Sāhasatuṅga's reign. It can be said without any fear of contradiction that the final verdict, thanks to Dr. Saletore, on the problem of the identity of Sāhasatuṅga with Dantidurga has been passed by his research. He concludes, after a masterly analysis of the problem of identifying Sāhasatuṅga with Dantidruga II-: "This is proved by an inscription on the four faces of a pillar set up in the court-yard of the Rāmaliṅgeśvara temple at Rāmeśvara near Proddhaṭūru,.....It is written in Sanskrit and Kannaḍa languages, the script being in Kannaḍa.....It belongs to the reign of the Rāṣṭrakūṭa King Kṛṣṇa III.....The inscription consists of about twenty-five verses which give the genealogical account of the Rāṣṭrakūṭas down to Kṛṣṇa III, who is praised in the record....." The lines referring to Dantidurga as Sāhasatuṅga are :

Srī-Dantidurga-eti durdhara-bāhu-vīryyo
Cālukya-sindhu-mathanodbhava-rājalakṣmīm
Yas sambabhāra ciraṁ-ātmakul-aikakāntāṁ
tasmin Sāhasatuṅga-nāmni ṇrpatau svassundarīprārthite[1]

Thus, it is conclusively proved that Sāhasatuṅga was no other than Dantidurga II. The date of *Sāhasatuṅga* Dantidurga is 756 A.D.[2]

(3) In the light of this proof that Dantidurga had the *biruda* Sāhasatuṅg, the reference to the line—*'vikramārkaśakābdīya'* will be taken as Śaka Samvat for the following reasons :

(i) The verse containing *'vikramārkaśakābdīya'* should be read as *'vikramāṅkaśakābdīya'* implying thereby Śaka era qualified by Vikrama.

(ii) It is almost an accepted tradition followed by Jaina authors to refer Śaka era as *'vikramāṅkaśaka'*. This is supported by several instances. Dhavalā was completed in 816 A.D., 'when Jagattuṅga (i.e. Govinda III of the Rāṣṭrakūṭa dynasty) had abandoned the throne and Amoghavarsha I was ruling[3].' It is mentioned that *Dhavalā* was completed in the year 738 of Śaka (A.D. 816). The ending verses of Dhavalā run—

"aṭhatīsamhi Satasae Vikkamarāyaṅkie-susagaṇāme
Vāse suterasīe bhāṇuvilagge dhavalapakkhe"

Hence *Vikramāṅkita Śaka* must be interpreted as Śaka era[4]. Otherwise it will not tally with the time of Jagattuṅga and Amoghavarṣa.

[1] JBHS, vol. VI, Pp. 29-33.
[2] The Rāṣṭrakūṭas and their Times, p. 10.
[3] *Ṣaṭkhaṇḍāgama*, vol. I, Eng. Intro. p. ii and Hindi Intro. Pp. 35-45.
[4] Dhavalā, vol. I Hindi Intro. p. 41.

Dr. Hiralal Jain in support of this interpretation quotes a line from the commentary on Trilokasāra (v. 850) by Mādhavacandra Traividya which contains "*Śri Vīranāthanīvṛteḥ sakāśāt Pañcaśatottara ṣaṭ śatavarṣāṇi*" (605) *pañcamāsayutāni gatvā paścāt Vikramāṅkaśakarājo Jayate* etc. which shows the tradition of attaching the word *Vikramāṅka with Śaka era.*

Hence Samvat, referred to in Akalaṅka Carita, is in complete conformity with the historical fact of mentioning Śaka era with Vikramāṅka. This contention is also held by J. C. Vidyālaṅkāra[1].

(4) Conceding to the facts of Akalaṅka's contemporaneity with *Śāhasatuṅga* Dantidurga and flourishing in 720-780 A.D., it is by no means impossible for *Dhavalā* to quote TV of Akalaṅka, which was accepted as an authentic text within a short period due to its intrinsic value, the possibility of quoting it is still more enhanced when we purview that the TV was the first work of Akalaṅka.

(5) Further Acārya Siddhasenagaṇi wrote a commentary on *bhāṣya* of TSu. Pt. Sukhalalji assigns him between 7th c. A.D. and 9th c. A.D.[2] Because Siddhasena refers to Dharmakīrti and is referred to by Śīlāṅkācārya (Śaka 799 ; 877 A.D.) in his Vṛtti on *Ācārāṅga*[3] ; hence he must have flourished during the last phase of 8th c. A.D. Panditji conjectures[4] that Akalaṅka, Gandhahasti (Siddhasena) and Haribhadra might be contemporaries ; if so, Akalaṅka's TVA or *Rājavartika* could be before Siddhasena (last quarter of 8th c. A.D.).

Though one more *Siddhiviniścaya* of Ārya Śivasvāmi has been found out ; Siddhasena's reference to *'evaṁ.....Siddhiviniścaya sṛṣṭiparīkṣāto'*, seems to be definitely indicating SV (VII Ch. on *Śāstrasiddhi*, v. 13) of Akalaṅka.[5]

(6) The age of Haribhadra is fixed by Muni Jinavijayaji to be 700-770 A.D. on the basis of *Kuvalayamālā* (777 A.D.) of Uddyotana who refers to Haribhadra, and on other internal evidences.[6] It has been shown elsewhere[7] that Haribhadra quotes verbatim the second pādas of two verses from *Nyāyamañjarī* in his *Ṣaḍdarśana-samuccaya* (v. 20). Though recent research[8]

[1] Vide Hindi Intro. p. 50, f. N. 4.
[2] *Tattvārthasūtra*, Intro. p. 46.
[3] ibid, p. 43, Note 2.
[4] See Hindi Intro. p. 53.
[5] ibid, p. 51.
[6] Jaina Sāhitya Saṁśodhaka, vol. I, Part 1.
[7] NKC, vol. II, Intro. p. 38.
[8] JBORS, vol. IV, 1955.

in Nyāya studies has shown that Trilocana, the guru of Vācaspati Miśra, had written a *Nyāyamañjarī* still it is definite that the quotation by Haribhadra is from Jayanta's *Nyāyamañjarī*. The age of Jayanta was fixed by myself to be 760-840 A.D.[1]

As has already been shown elsewhere, the date of Haribhadra should be extended to 810 A.D., in view of the fact that he quotes Nyāyamañjarī of Jayanta who flourished in 760-840 A.D.[2]

Therefore, Haribhadra's age lies from 720 A.D. to 810 A.D. In other words, he was the contemporary of Akalaṅka.

Haribhadra's reference to "*Akalaṅkanyāyānusāri cetoharaṁ vacaḥ*" in Anekāntajayapatākā (p. 275) implies the soptless character of logic and in no way is referring to Akalaṅka's Nyāya works. In AJP there are still more references of this type e.g. "*niṣkalaṅkamatisamutprekṣita sanyāyānusārataḥ*", such epithets are used while discussing the *pūrvapakṣa* of Buddhists and Naiyāyikas who claim the purity of their own logic; hence it is clear that they do not refer to Akalaṅka's logic.

(7) Jinadāsagaṇi refers to *Siddhiviniścaya* in his *Niśītha Cūrṇi* but it bears no relation whatsover with the present SV of Akalaṅka. Muni Punyavijayaji[3] has found out a *ṭīkā* on a treatise named *Strimukti of Śākaṭāyana*; it is in a mutilated condition having some of the leaves of the first and the last portion missing. In that MS. there is reference to ".....*Bhagavadācārya-Sivasvāminaḥ Siddhiviniścaye.....*", indicating the existence of *Siddhiviniścaya* by Śivārya, who is other than Akalaṅka; because the views quoted in the name of Śivārya from SV are against the views of Akalaṅka, particularly regarding the problem of *Strīmukti*.

Śākaṭāyana in his *Amoghavṛtti*[4] (1.3.-168) refers Śivārya's *Siddhiviniścaya* as :—"*Sādhu khalvidaṁ.....Siddher-viniścayaḥ Śivāryasya Śivāryeṇa vā.....*" which fact clearly menifests that Śivārya also wrote a work named *Siddhiviniścaya*.

There is hardly any doubt that Śākatāyana had before him Śivārya's *Siddhiviniścaya* which defends *Strimukti*.

When in the year 1926 A.D. the reference to *Siddhiviniścaya* was found out in *Niśītha-cūrṇi* (NC) and the MS. of Anantavīrya's *Siddhiviniścayaṭīkā*

[1] NKC, vol. II, Intro. p. 16; in the light of recent researches a correction is required to be made in one of my arguments: the verse, '*ajñānatimira*'.....etc., which refers to *Nyāyamañjarī* written by a guru of Vācaspati is none else than Trilocana.

[2] Ibid, p. 16.

[3] The author is indebted to Pt. Mālvania for this suggestion.

[4] Vide Hindi Intro. p. 53.

on Akalaṅka's SV was discovered, Pt. Jugalkishorji identified the *Siddhiviniścaya* referred to in NC with that of Akalaṅka in his article on SVT in *Anekānta*. This evoked further research in this direction as a result of which Pt. Sukhalalji and Pt. Bechardāsji rightly pointed out that the reference to SV in NC cannot be that of SV of Akalaṅka, since Jinadāsa Mahattara is decidedly earlier than Akalaṅka[1]. In fact, the SV referred to in NC should necessarily be the work of an unknown author other than Akalaṅka, who must have been a Śvetāmbara; for (i) there is no other evidence to prove that the Śvetāmbara Ācāryas have referred to a Digambara work as *darśanaprabhāvaka*, (ii) the reference to SV is with a Śvetāmbara work, viz. *Sanmati*, moreover it is given the first place in order of mentioning[2]. Muni Jinavijayaji also expressed such opinions[3] in his foreword to AGT. I had also my own doubts regarding this matter. If NC refers to Akalaṅka's SV., the author must be posterior to Akalaṅka; further it was a matter of doubt whether Jinadāsa was the author of *Nandicūrṇi*; the existence of SV, except that of Akalaṅka was not thought of;[4] for, SV of Akalaṅka is purely a philosophical classic which could have been glorified by Śvetāmbara Ācāryas. Though Jinavijayaji attempted to establish Jinadāsa as the author of *Nandicūrṇi* and placed him in 676 A.D. the problem of SV referred to in NC was not solved. Happily, this problem is now solved on the strength of explicit reference to Śivārya's SV in *Strimukti ṭīkā* and *Amoghavṛtti*. It is a matter of pretty certainty that Śivārya was Yāpanīya, since Śākatāyana who quotes SV of Śivārya, was himself a devout Yāpāniya; naturally the Śvetāmbara Ācāryas quote it (SV of Śivārya) whenever they discuss the problem of *Strimukti*. Śivārya can be placed before 7th C. A.D. on the basis of his reference in NC.

On the basis of this discussion it can be conclusively proved that NC does not refer to SV of Akalaṅka. So he can be placed in 8th C. A.D. and certainly not in the 7th C. A.D.

The Crux of the whole discussion is :—

1. Akalaṅka's narration of his victory at the court of King Himaśītala before Dantidurga alias *Sāhasatuṅga*; Dantidurga ruled in the year 745-755 A.D., he had *biruda Sāhasatuṅga* which fact is conclusively proved by the Pillar Inscription of Rāmeśvara temple.

[1] *Anekānta*, vol. I. No. 4.
[2] NKC, Vol. I Intro. P. 105. Note 3.
[3] AGT. Foreword, P. 5.
[4] Ibid, Intro. pp. 14-15.

2. The KK of Prabhācandra refers to Akalaṅka as the son of Puruṣottam who was the minister of Kṛṣṇa I (756-775 A.D.).
3. The reference to Akalaṅka's debates in Śaka 700 (778 A.D.) with the Buddhists in *Akalaṅka-carita.*
4. The reference to the influence of the following Ācāryas in Akalaṅka's works:
   Bhartṛhari (4th or 5th c. A.D.)
   Kumārila (the first part of 7th c. A.D.)
   Dharmakīrti (620-690 A.D.)
   Jayarāśi Bhaṭṭ (7th cent. A.D.)
   Prajñākara Gupta (660-720 A.D.)
   Dharmākardatta or Arcaṭa (680-720 A.D.)
   Śāntabhadra (700 A.D.)
   Dharmottara (700 A.D.)
   Karṇagomi (8th cent. A.D.)
   Śāntarakṣita (705-762 A.D.)
5. Dhanañjaya states in his *Nāmamāla,* '*pramāṇamakalaṅkasya*'; this *Nāmamāla* is quoted in *Dhavalā* (816 A.D.). Therefore Dhanañjaya must have flourished in 810 A.D.
6. Vīrasena's (guru of Jinasena) reference to Akalaṅka's TV in his *Dhavalā* (816 A.D.).
7. Jinasena's (760-813 A.D.) reference to Akalaṅka in *Ādi-purāṇa.*
8. Jinasena, the author of Harivaṁsapurāna, completed in Śaka 705 (783 A.D.), refers to Vīrasena's reputation as '*akalaṅka*'.
9. Vidyānanda's (775-840 A.D.) commentary on *Aṣṭaśatī* of Akalaṅka named *Aṣṭasahasrī.*
10. Inscriptions refer to Akalaṅka after Sumati. The copper plate, dated Śaka 743; 821 A.D.) recording the gift made by Rāṣṭrakūṭa Karka Suvarṇa of Gujarat to Aparājita, the disciple of Sumati and grand disciple of Mallavādi.

The TS refers to Sumati as a Digambar scholar. *Tattvasaṁgraha-Pañjika* (TSP) suggests that Sumati repudiated Kumārila's theory of *ālocanamātra pratyakṣa.* Obviously, Sumati must have followed Kumārila; his date has been fixed by Dr. Bhattāchaṛya at about 720 A.D. If Sumati, referred to in the copper-plate, is the same as quoted in TS it can be inconsistent with this date (720 A.D.); because,

according to copper-plate inscription Sumati's disciple Aparājita lived in 821 A.D.; it can be presumed that the relation between the teacher and the taught—might have been for certain time within this long period of 100 years. It has been rightly observed by Pt. Dalsukh Mālvania, according to whom, Sumati's literary activities might be about 740 A.D. Śāntarakṣita completed his TS in 745 A.D. i.e. before his journey to Tibet where he established a Vihāra in. 749 A.D. If Sumati is thought to be the contemporary of Śāntarakṣita, he might be living in 762 A.D., under such conditions, it is not improbable to maintain that his disciple Aparājita could have flourished in 821 A.D.

Akalaṅka, who is mentioned after Sumati and other two or three Ācāryas, must have flourished in 8th c. A.D.

On the strength of these evidences it can be safely concluded that Akalaṅka flourished in 720-780 A.D.

(g) The Works of Akalaṅka

It is needless to repeat Akalaṅka's unparalleled contribution by an inexhaustible fertility of his intellect, insight and intuition all combined; his TV stands as an example of purity, clarity of thought and sobriety of mind; his works *Aṣṭaśati* and *Siddhiviniścaya* etc. reflect force, cogency and satire, as the then prevailing necessity to combat the Buddhist criticism stirred him and as a result of which we have several excellent works on Jaina philosophy. A brief analysis, estimation and evaluation of the various works of Akalaṅka will be given in the following pages.

(1) *Tattvārthavārtika (TV) and its Bhāṣya (TVB)*:

TV is a commentary on the *Tattvārthasūtra* (TSu) of Gṛddhapiccha Ācārya Umāsvāmi in a *vārtika* form resembling *Nyāyavārtika* of Uddyotakara. TV has a commentary by the author himself. The commentary is called Bhāṣya[1] or Alaṅkāra. TV contains the discussion of *Jīva, Ajīva, Āsrava, Bandha, Saṁvara, Nirjarā* and *Mokṣa*. The *Puṣpikā* of TVB, refers to the title of the text as *"Tattvārthavārtika-vyākhyānālaṅkāra"*. A large portion of SS forms the very structure of *Vārtikas* of TV, similar is the case with several sentences[2] of *Tattvārthādhigama-bhāṣya* (TBh) some

[1] Dhavalā Vol. I, Intro. p. 67. NKC. p. 646.

[2] TBh, I, I.

of which he criticises at several places and also criticises some of the *sūtras* accepted by TBh; this fact clearly indicates that TBh and its *sūtras* were accessible to him. The TBh is referred to by him as *Vṛtti*[1]. The prose in the last section of the 10th chapter and 32 verses of TBh are assimilated in TV by Akalaṅka. In the description of Dvādaśāṅga, while dealing *Kriyāvādi*, *Akriyāvādi*, *Ajñānika* and *Vaināyika* reference is made to the Vedic *Ṛṣis* of various *śākhās* such as—Sākalya, Vāṣkala, Kuthumi, Kaṭha, Mādhyandina, Mauda, Pippalāda, Gārgya, Maudgalāyana Āśvalāyana, etc.

There are several quotations from *Ṣaṭkhaṇḍāgama* and *Mahābandha* which are in perfect tune with the spirit of TV; verily, it is a mine of Jaina philosophy, Ethics, Cosmology and other allied subjects where in philosophical section deals specially the various aspects of Anekāntavāda[2].

There is refutation of definition of sense perception held by Dignāga. But it is curious to note that he has not criticised that of Dharmakīrti, though the first śloka, beginning with "*Buddhipūrvāṁ kriyāṁ*" of *Santānāntarasiddhi* of Dharmakīrti is quoted. It seems that all the works of Dharmakīrti might have not been accessible to Akalaṅka at the time of writing TV; this can be the reason to strengthen the supposition that TV is the first work of Akalaṅka.

It may be noted that Akalaṅka was also a grammarian, since he exhibits his sound knowledge of correct usage and word formation of terms used in the *sūtras*. He closely follows the *Jainendra Vyākaraṇa* of Pūjyapāda though some times he refers to Pāṇini and *Pātanjala-bhāṣya*.

So far as cosmological discussions are concerned, *Trilokaprajñapti* is served as a reference book for Akalaṅka. Besides, he refers to *Yoniprābhṛta*, *Vyākhyāprajñapti* and *Vyākhyāprajñapti-daṇḍaka* etc., indicative of his vast erudition; besides TV quotes a number of standard works of different systems of thought for instance:—*Vedas*, *Upaniṣads*, *Smṛtis*, *Purāṇas*, *Paṇini-sūtras*, *Pātanjala-bhāṣya*, *Abhidharmakośa*, *Pramāṇasamuccaya*, *Santānāntara-siddhi*, *Yuktyanuśāsana*, *Dvātrinśad-dvātrinśatikā* etc.

(2) *Aṣṭaśatī*:

Aṣṭaśati, amounting to 800 verses, is a most precious work in Jaina philosophy, dealing mainly with logic; it is a brief but extra-ordinarily brilliant commentary on *Āptamīmāṁsā* alias *Devāgama* of Samantabhadra, the latter work embodies in itself the acute analysis of other schools of thought from the standpoint of Anekānta philosophy. Vidyānanda's

[1] TV, p. 444.

[2] Vide, TV. pp. 833-836.

work named *Aṣṭasahasrī* stands by itself as the most original work though it is a commentary on *Aṣṭaśatī*, he incorporates *Aṣṭaśatī* in such a way that it becomes a part and parcel of the unique work. He is supremely aware of the difficulty of commenting on *Aṣṭaśatī*, a fact which is clearly expressed in the words "*Kaṣṭasahasrī siddhā Sāṣṭasahasrī*". He is proud of this stupendous achievement of such a commentary, suggestive of the par excellence of this work over such other works of Buddhists.

Aṣṭaśatī comprises the discussion on *Sadekānta-asadekānta, bhedaikānta-abhedaikānta, nityaikānta-anityaikānta* etc. In the examination of these schools, first he starts with the position held by the schools, from the authoritative texts. He discusses the concept of omniscient being, self-subsistent in itself and establishes the theory on a firm footing, on the strength of the conformity of the teachings with logic and the scriptures. Lastly, he discusses the epistemological problems, like pramāṇa, naya and durṇaya such as "(*Pramāṇāt*)*tadatat-pratipatteḥcnayāt*)*tat-pratipatteḥ* (*durṇayāt*) *tadanyanirākṛteśca*"[1]. i.e. *Pramāṇa* consists in the apprehension of the intended (*Vivakṣita*) and unintended (*avivakṣita*) ; *naya* refers to the intended objects and *durṇaya* negates the unintended ones. It criticises all the absolutistic systems uptodate and has established the non-Absolutism of the Jainism.

(3) *Laghīyastraya with Vivṛti* :

The title of LT is self-expressive of the fact that it is a compendium of three small treatises. The colophon[2] of the *vṛtti* on LT goes to prove that the *Pramāṇa Praveśa* and *Naya Praveśa* together formed one book and was named as *Pramāṇanaya-Praveśa*. Since the *Pravacana Praveśa* has a separate *maṅglācaraṇa* and repeats mostly the topics of *Nayapraveśa*, it can be proved that it is a separate treatise[3].

It seems that Akalaṅka was inspired by *Nyāya-Praveśa* of Dignāga to write a treatise on Jaina Logic namely *Pramāṇanaya-Praveśa*. As regards the designation *Laghiyastraya* of these works nothing can be definitely said as to who did this ; however, we can venture to remark that either Akalaṅka himself or very probably his commentator Anantavīrya might have taken them as *Laghiyastraya* a fact which can be proved by the references to *Naya Praveśa* as a separate work by Anantavīrya in SVT.[4] Thus there was the

[1] *Aṣṭaśatī* & *Aṣṭasaḥasrī*, P. 291.

[2] AGT,—LT. p. 17.

[3] "*iti pramāṇanaya-praveśaḥ samāptaḥ Kṛtirīyaṁ sakalavādi-cakravartino Bhaṭṭākalaṅkadevasya.*"

[4] SVT. p. 737.

possibility of giving the name *Laghīyastraya*. It is but natural that he should quote these for the first time as *Laghīyastraya*. However, it is also possible that it is Anantavīrya who coined the name *Laghīyastraya* for the trio of *pramāṇapraveśa*, *Naya-praveśa* and *Pravacanapraveśa*.

Thus *Laghīyastraya* (LT) includes the above three treatises, the total number of slokas being 78. At the end of *Nayapraveśa*, we have "*mohenaiva paro'pi*" which is not commented either by Prabhācandra in NKC or by Abhayacandra in *Tātparyavṛtti* nor does it have any consistency with the text. Hence it can be regarded as a spurious addition.

Akalaṅka himself wrote a commentary on LT not with a view to explain and interpret the content of the whole text but to clarify ideas of the text. Really speaking the text and the commentary are to be taken as a whole.

It is apparent that Akalaṅka followed in this regard the chapter on *Svārthānumāna* of PV and its *vṛtti* of Dharmakīrti, this is also the case with the *Pramāṇasaṅgraha* and its *Vṛtti* of Akalaṅka. Prabhācandra refers to the prose section of LT, as *Vivṛti* when he says "*Vivṛtim Vivṛṇvannāha*".

Prabhācandra's *Nyāyakumudacandra* is an exhaustive commentary on LT and its *Vivṛti*.

Laghīyastraya contains six chapters[1] embodying the exhaustive discussion of philosophy in general and epistemology in particular *Pramāṇa*, *naya* and *nikṣepa*.

(4) *Nyāya-viniścaya and its Vṛtti*[2]:

Nyāya-viniścaya written in verses and prose, is designed after *Pramāṇaviniścaya* of Dharmakīrti, the original MS. of which is not available. Vādirāja has written a commentary on NV, but on the *ślokas* only. I have restored the NV by culling words from the commentary of Vādirāja,[3] but the reconstruction of *Vṛtti* is impossible in absence of any commentary; there can be no doubt about the existence of *Vṛtti* of NV. Since it is quoted in SVT.[4] That commentary was called Vṛtti, is proved by these words "*Vṛttimadḥyavartitvāt*" etc. It appears, this *Vṛtti*, also known by the name "*cūrṇi*", is quoted by Vādirāja in NVV,[5] thus "*tathā ca sūktam cūrṇau devasya vacanam-Samāropavyavacchedāt*".

[1] Vide Hindi, Intro, p. 58 for the Analysis of the Chapters.

[2] Published in *Akalaṅka-grantha-trayaya* (SJS. Vol. 12) and *Nyāya-Viniścaya-vivaraṇa* in two Volumes (BJPB).

[3] Vide AGT. Intro. p. 6.

[4] *taduktāni Nyāyaviniścaye "na caitad bahireva Pratibhāsate"* SVT. p. 141.

[5] NVV. Vol. I. p. 301, 390.

NVV contains in all 480½ verses[1] which are of three types :—*Vārtika, antaraśloka* and *Saṅgrahaśloka*; it has three prastāvas : *Pratyakṣa, Anumāna* and *Pravacana*, just as *Nyāyāvatāra* consists of three chapters : *Pratyakṣa, Anumāna* and *Śruta*; similarly we find three chapters in Dharmakīrti's *Pramāṇaviniścaya* also, viz., *Pratyakṣa, Svārthānumāna* and *Parārthānumāna*. It seems Akalaṅka derived inspiration from these authors.

The first chapter includes the topics: the nature of perception, the refutation of the view that knowledge is non-perceptible, the nature of substance, refutation of views held by other schools regarding the perception, etc.

The second chapter deals with the study of inference, the empirical elements in inference, the nature of *Vāda, nigrahasthāna, Vādābhāsa* etc. related with the topic of *anumāna*.

The third chapter deals with the nature of *Pravacana* (the scripture), the refutation of Buddhist theory of *Āpta*, Vedic dogma of *apauruṣeyatva*; the proof of omniscience, refutation of *anātmavāda* of Buddhists, the conception of *mokṣa*, the theory of *Saptabhaṅgi* and *Syādvāda* etc.[2]

(5) *Pramāṇasaṁgraha and its Vṛtti*:

As the title suggests this work is a collection of statements; really it is a work on epistemology or *Pramāṇa*; it has a very compact style. From the maturity of judgments and acute analysis, it can be said that it is the last work of Akalaṅka; besides, he includes some of the *kārikās* from NV. It is understood that Anantavīrya wrote a commentary, named *Pramāṅa-Saṅgrahabhāṣya* or *Pramāṇa-Saṁgrahālaṅkāra*, since he himself refers to it[3].

There are nine chapters and 87½ *kārikās*. Akalaṅka wrote a supplementary Vṛtti on this work. Vṛtti and the kārikā together come to about the same size of *Aṣṭaśatī*.

There are nine chapters in this work dealing with the topics: *Pratyakṣa, Parokṣa* (mediate knowledge), *Anumāna* (inference), *Hetu* (reason), its classifications, *Hetvābhāsa* (fallacies of reason), non-existent (*asiddha*) contradictory and inconclusive, *Vāda* (legitimate discourse), *Pravacana* (the nature of scripture), proof of omniscience, refutation of *apauruṣeyatva, Saptabhaṅgi* (the seven fold predication), *naya* and its classification, lastly conclusion on *pramāṇa* (valid-knowledge), *naya* (partial standpoint) and *nikṣepa*

[1] Ibid, p. 34.

[2] Vide Hindi Intro. pp. 58, 60.

[3] SVT pp. 8, 10, 130 etc.

(6) *Siddhiviniścaya*:

The detailed discussion on this will be given in a separate section No. 3.

Besides the above mentioned works there are some others such as *Svarūpasambodhana*, *Nyāya-cūlikā*, *Akalaṅkapratiṣṭhā-pāṭha*, *Akalaṅka prāyaścitta-saṁgraha* and *Akalaṅka-stotra* etc. attributed to Akalaṅka by tradition. But at a closer scrutiny it will be revealed that these works are not of Akalaṅka[1]; may be they were composed by various Akalaṅkas[2] who flourished after the great Akalaṅka.

(h) The contribution of Akalaṅka to Jainanyāya—Akalaṅkanyāya:

There can be no doubt that Akalaṅka was an intellectual prodigy; he stands as a tower of strength and self-confidence in the firmament of Jaina-Nyāya. He brought dignity to Jaina-Nyāya by his examplary originality of his logical acumen. It stands much to his credit that he has established the Jaina-nyāya on a firmer footing. In fact he was fortunate to belong to the period of Indian Philosophical history which was surcharged by the sharp attacks and counter attacks by Dharmakīrti and his followers on the one hand and non-Būddhist-philosophers on the other.

The works of Akalaṅka echo the reflection and reaction of his times. The followers of Dharmakīrti had used derogatory terms such as *aślīla*, *ākulapralāpa* etc. to redicule, rather than refute, the Jaina Siddhānta. In order to combat these caustic critics, he realised the necessity of systematising the Jaina thought bringing out the strength of its teachings, before attempting to counter-attack, as a result of which we possess works systematising Jaina philosophy in general and logic in particular. His contribution to Logic is summarised below:

(1) the '*avisaṁvāda*' non-discrepancy in the definition of *Pramāṇas*:

In Epistemology, Samantabhadra[3] and Siddhasena[4] used the term '*svaparāvabhāsaka*' and '*svaparābhāsi*' respectively while defining the nature of valid knowledge. According to them valid knowledge or *Pramāṇa* is self-revelatory, in other words self-revelation is the essential character of the organ of knowledge (*Pramāṇa*). Akalaṅka introduces the term '*āvisaṁvādi*'[5] or non-discrepant to represent the essence of *Pramāṇa*; his

[1] vide NKC, vol. I. Intro. pp. 58.

[2] ibid. p. 25.

[3] *Bṛhat-svayambhū stotra*, v. 63.

[4] *Nyāyāvatāra*, v. 1.

[5] *Aṣṭaśatī and Aṣṭasahasrī*, p. 175.

emphasis is not so much on '*svasaṁvedana*', since self-cognisance is a common charac teristic, not only of *Pramāṇa*, but of knowledge, valid or invalid, as a whole. Hence, he used the terms '*svārthaviniścaya*'[1] and '*tattvārthnirṇaya*'[2] indicating the result of *Pramāṇa* sometime. He uses the term '*anadhigatārthādhigama*'[3] but without any emphasis.

Obviously, it is Akalaṅka who for the first time uses the term "*avisaṁvādi*", in definition of *Pramāṇa* in Jaina Logic. Similarly he is the first to reject the *Sannikarṣa* and *nirvikalpaka darśana* as the means of valid knowledge when he gives the term *Jñāna* in the definition of *Pramāṇa*.

(2) *The partial discrepancy :* He did not stop at this stage only, he further argues that no knowledge is valid or invalid from the absolute standpoint; validity or invalidity is conditioned by the degree of non-discrepancy. Though there may be partial discrepancy, on the strength of extensive non-discrepancy the knowledge can be valid.

(3) Refutation of the definitions of *Pramāṇa*[4] accepted by others : Akalaṅka refutes the Buddhist theory of non-discrepancy as the test of valid knowledge; because it is inconsistent with indeterminate knowledge (*nirvikalpaka jñāna*) which is accepted by the Buddhist as valid knowledge. *Sannikarṣa* accepted by the Naiyāyika as the source of knowledge is untenable because it is not knowledge by itself.

(4) The object[5] of *Pramāṇa* is a reality which is of the nature of substance-cum-modifications and universal-cum-particular and knowledge itself.

(5) *Matijñāna* : Akalaṅka widens the scope of Mati. Mati is confined to the knower himself, it is rather subjective ; the four types—*Avagraha* (conation), *Īhā* (conception), *Avāya* (judgement) and *Dhāraṇā* (retention), have the characteristic of occurring successively, each antecedent member (of the order) is the cognitive organ and each succeeding member is the resultant. This completes the division of organ and resultant.

(6) *Īhā* (speculation or conception) and *Dhāraṇā : īhā* or activation and *dhāraṇā* or dispositions (*Bhāvanā*) are accepted by the *Naiyāyika* as other than knowledge. Akalaṅka establishes them to be of the nature of knowledge because they are substantive cause and effect of knowledge.[6]

---

[1] SV. 1.3.

[2] *Pramāṇasaṅgraha*, p. 1.5.

[3] *Aṣṭaśatī*, *Aṣṭasahasrī*, p. 175.

[4] SV. I. 3.

[5] NV. I. 3. [6] LTV. I. 6.

(7) *Artha* (object) and *Āloka* (light), are not conditions of knowledge.[1] Akalaṅka admits of sense organs and mind as the conditions of knowledge and not object and light, since the latter two factors do not have relation of concommitance and difference (affirmation and negation) with knowledge.

(8) The nature of perception: Ācārya Siddhasena defined *pratyakṣa* as the negation of mediate knowledge i.e. his approach is mainly *via negativa*. Akalaṅka defines that *Pratyakṣa* is immediate-cum-lucid and further he defined the conspicuity of this, which has been accepted by the subsequent writers.

The contributions to Logic by Akalaṅka are too many to narrate in this short introduction; suffice it to say that he had his original contribution to *Pratyakṣa—Sāṁvyavahārika* (empirical), *Parokṣa*—its definition and divisions: *Smṛti*, *Pratyabijñāna*, *Tarka*, *Anumāna* and *Āgama*; the inference and its syllogistic forms; Hetu and its divisions; *Hetvābhāsa*—fallacies of reason, *Vāda*—nature and scope; *Jāti*—fallacy of refutations; *Jayaparājayavyavasthā*—the ground of defeat; *Saptabhaṅgī—pramāṇa saptabhaṅgī* and *nayasaptabhaṅgī*; *Sakalādeśa* and *Vikalādeśa*. *Naya* and *nayābhāsa*—fallacies of partial standpoint; discussion on assertion; *nikṣepa*—imposition or aspect; combating the critics of *Anekānta* etc.[2]

Akalaṅka has rendered the signal contribution to Jaina philosophy of *Anekānta*.

(*i*) *Personality of Akalaṅka*:

Thus, on the strength of epigraphical, textual and contemporary evidences it can be concluded without any misgivings that Akalaṅka was the epoch-maker of the 8th *C.* A.D. Famous he was as an author, equally proficient in debates also with which he vanquished the Buddhists in the court of Himaśītala; *Mallisena Praśasti's* glowing tributes to Akalaṅka, in verse beginning with "*Rājan Sāhasatuṅga*" etc. reflect his forceful writings and graceful orations.

His works, both original and commentorial, stand as eloquent testimony to his penetrating mind and show a remarkable advancement in Jaina Logic. He had chivalrous disposition to help the people misled by the Buddhists. In his writings he was very satirical and caustic about

[1] LT. vs. 53. 56.

[2] For detailed discussions see, Itroductions to AGT and NVV vol I and II; *Jaina Darśana* pp. 146, 152, 269, 273. 286, 315-28, 344-361, 410-416, 475-514. 516-617 etc; Hindi Intro, pp 61-65; 95 ff;

Buddhists, particularly about Dharmakīrti, in retorting the euphiemistic criticism of *Syādvāda* by Dharmakīrti[1]. Akalaṅka replies in forceful words[2]. The examples of scathing attack of Buddhists are innumerable in Akalaṅka's works. *Pramāṇasaṁgraha* embodies several such caustic remarks such as "*jāḍyahetavaḥ*", "*Paśulakṣaṇam*", "*alaukikam*", "*tamasam*"; which were used by Dharmakīrti himself.

That he was a celibate, his heart was burning with grief on account of the tragic end of his brother and the exertion of his utmost skill in combating the spring-tide of carping criticism by the Buddhists show his all-round capacity to succeed in re-establishing Jainism on the rock-bottom of new interpretation of Āgamic teachings.

2. Anantavirya

Ācārya Anantavīrya was a Logician of amazing capacity though sometimes he shows leniency toward dogmatism. Truly, he was a genius of his time. He had his utmost attempt to probe into the heart of Akalaṅka's works and reveal the truth. Inspite of the commentary on Siddhiviniścaya by other *Vṛddha* Anantavīrya, it seems he was not satisfied with it as it is sufficiently clear from the opening verses of SVT. He frankly expresses the deficiency of the old commentary on Akalaṅka's works, as will be clearly seen in this verse :—

Devasyānantavīryo'pi padaṁ vyaktaṁ tu sarvataḥ,
na jānīte'kalaṅkasya citrametat paraṁ bhuvi.

Though out-wardly it seems that he is expressing his own incompetency, in other way, it goes to justify my conclusion that he is referring this to the old commentator whom he quotes[3] in several places.

These phrases like '*ityanantavīryaḥ*' go to prove that it is *Vṛddha* Anantavīrya who is referred to, besides this, it proves also the existence of Anantavīrya before him. The commentator Anantavīrya's expressions e.g. '*anye*' and '*apare*' suggest that *vṛddha* Anantavīrya's commentary stands in contradiction with the meaning of original *ślokas* of SV and inconsistencies with SVT. He is not satisfied with old Anantavīrya; that is

[1] *Sarvasyobhayarūpatve tadviśeṣanirākṛteḥ,*
Codito dadhi khādeti kimuṣṭram nābhidhāvati. PV. III, 181.

[2] *Sugato'pi mṛgo jātaḥ mṛgo'pi Sugatastathā.*
Tathāpi Sugato vandyaḥ mṛgaḥ khādyo yatheṣyate.
Tathā vastubalādeva bhedābhedavyavasthitiḥ.
Codito dadhi khadeti kimuṣṭramabhidhāvati, NV, vv. 373-4.

[3] Vide, Hindi Intro. p. 67.

to say, he was not so much influenced by *vṛddha* Anantavīrya. This is not all. In order to show his own distinctness he used such adjectives '*Ravibhadrapādopajīvi*' and '*Ravibhadrapāda-kamalacañcarīka*' in the introductory verses of the chapters.

Though admitedly Anantavīrya's SVT has a lucid style, it has not the fluency due to the very compact and complicated style of Akalaṅka.

(a) Anantavīrya as Dogmatic Logician:

It is interesting to note that Anantavīrya, though a first rate logician, is dogmatic sometimes. This is proved by his discussion on the authorship of the following *vārtika*:

anyathānupapannatvaṁ yatra tatra trayeṇa kim,
nānyathānupapannatvaṁ yatra tatra trayeṇa kim.

The author of this *vārtika* is Pātrakesariswāmi, this fact is attested by Śāntarakṣita, the author of *Tattvasaṁgraha*[1] and its (TS) commentator Kamalaśīla; also by Vādideva, the author of *Syādvādaratnākara*[2]. This verse occurs in TS (p. 405) and it is clearly stated therein that it belongs to Pātrakesariswāmi. It also occurs in *Pramāṇavārtikasvavṛtti-ṭīkā* (p. 9), but without the name of Pātrakesariswāmi. Sravaṇ Belgoḷ inscription of *Malliṣeṇa Praśasti*[3] suggests that Pātrakesari had written a work—*Trilakṣaṇakadarthana* (TLK). Besides, Anantavīrya's reference—*tena tadviṣayatrilakṣaṇakadarthanaṁ uttarabhāṣyaṁ yataḥ kṛtaṁ* (SVT. p. 371), proves that the verse cited above is taken from TLK of Pātrakesari and this is also supported by tradition. Pātrakesari and Pātraswami are identical persons. This contention is supported by Anantavīrya's reference (SVT): '*svāminaḥ pātrakesariṇaḥ*'. Further, Vādirāja, in his *Nyāyaviniścaya-vivaraṇa*,[4] refers to '*pātrakesari swāmine*'. From our discussion it can be stated that the verse cited above is definitely from TLK of Pātrakesariswāmi[5]; it must be noted that he was referred to by all the three names, viz., Pātraswāmi, Pātrakesari, Pātrakesariswāmi.

In spite of these evidences, Anantavīrya ascribes the authorship of this work TLK, to Sīmandharaswāmi[6]; he criticises the views of those who attribute the authorship to Pātrakesari in the following manner:

---

[1] TS. p. 60

[2] S.R. p. 521.

[3] JSLS, Vol. I, No. 54.

[4] NVV, Vol. II, p. 177.

[5] *Trilakṣṇakadarthane vā Śāstre vistareṇa Pātrakesari-swāminā pratipādanāt*,–vide NVV. Vol. II. p. 234.

[6] According to Jaina tradition Sīmandharaswāmi is a living *Tīrthaṅkara* residing is Mahāvideha near Mt. Sumeru.

Anantavīrya: How do you know that Pātrakesari is the author?

Opponent: Because he has composed a logical work *Trilakṣaṇa-kadarthana* in the form of *uttarabhāṣya*.

Anant: If it be so, it must belong to Śīmandharaswāmi, since he is the composer of this *śloka*.

Opponent: How is it known?

Anant: How do you know that Pātrakesari is the author of TLK?

Opponent: Simply by the tradition of Ācāryas.

Anant: Exactly so, it holds good in this case also; besides it has its own old story. If there is no proof to attribute it to Sīmandharaswāmi, there is no proof regarding Pātrakesari also as the author of it.

Opponent: That it is composed *for* Pātrakesari, is the proof that it is the work of Pātrakesari.

Anant: Then all the works and sermons that are meant *for* the disciples should be attributed to the disciples themselves. Similarly, this verse cannot belong to Pātrakesari, because he must have written it for someone of his disciples; for, it should be regarded of him *for* whom it is composed.

Opponent: Pātrakesari has written a commentary on this topic; hence this verse must belong to him.

Anant: If so, there will be no author of any sūtras; in that case the commentators would become the authors; it must, therefore, be of Sīmandharaswāmi.

From this dialogue, it appears that Anantavīrya does not accept the tradition of attributing the authorship of this śloka to Pātrakesariswāmi by explaining the word '*svāminaḥ*' in the phrase '*amalālīḍhaṁ padaṁ svāminaḥ*' (in SV of Akalaṅka), as referring to Sīmandharaswāmi. Ācārya Vidyānanda, while explaining this verse, attributes the authorship to vārtikakara and not to Sīmandharaswāmi. Anantavīrya just manipulates in this way: The goddess Padmāvati had handed over the *vārtika* to Pātrakesari bringing it from Simandharaswāmi.

The gist of the whole argument is that sometimes he exhibits the elements of dogmatism by attempting to attribute the authorship of the verse to Sīmandharaswāmi and also defending the impact of tradition, in spite of the just opposite opinion of earlier commentator viz., *vṛddha* Anantavīrya. It is also proved that there must have been prevalent a legend of this type. Of the available literature till today, it is only Prabhācandra's *Kathākośa* that refers to the history of Pātrakesari; this also occurs in the KK of Brahma-Nemidatta of the later period.

(b) Anantavīrya's Erudition

Anantavīrya refers to and states the views of his predecessors to substantiate the arguments of Jain Philosophy; in the Pūrvapakṣa, he quotes the original sentences from the authors whom he criticises i.e., he had a very comprehensive study of other systems of thought[1]. The references which are discussed below help us not only to determine the date of Anantavīrya but also to throw a new light on known and unknown authors.

1. *Vedic Literature*:

That his field of studies includes the Vedas, Upaniṣads etc., is borne by the references such as: *'puruṣa evedaṁ* (*Ṛgveda*)', *'agnihotraṁ juhuyāt' (Kṛṣṇa Yajurveda, kāṭhaka saṁhitā)*, *'śvetamālabheta' (Taittariya Saṁhitā)* *'ārāmaṁ tasya paśyanti'* (*Bṛhadāraṇyaka*) etc.

2. *Mahābhārata*:

The authorship of Mahābhārata which includes Gītā in itself is generally attributed to Vyāsa. Anantavīrya subscribes to this contention (p. 518), since it must have been prevalent in his times. He quotes, *'ajño janturanīśo'yaṁ'* and *'kālaḥ pacati bhūtāni'* from *Vanaparva* and *Ādiparva* respectively.

3. *Works of Grammar*:

It seems that Anantavīrya was thoroughly acquainted with the *sūtras* of Pāṇini and Pātañjala-bhāṣya. He quotes from the former book—*artha-vad-dhātu* and *'prakṛtipara eva pratyayaḥ prayoktavyaḥ pratyayapara eva ca prakṛtiḥ (Pātañjala-Bhāṣya, III. 1-2)*; and he gives the substance of this in these words: *na kevalā prakṛtiḥ prayoktavyā'*. But he depends mostly on *Jainendra-vyakaraṇa* of Pūjyapāda.

4. *Philosophical classics*:

Cārvāka: Anantavīrya quotes from *Tattvopaplavasiṁha* (TPS) and explicitly mentions Jayarāsi as the author of TPS; his reference to *'para-paryanuyogaparāṇi Bṛhaspateḥ sūtrāṇi'*[2], seems to be from TPS, but as the first leaf of the Ms. of TPS is missing, it is not traceable in it. He refers to one Aviddhakaraṇa in the *pūrvapakṣa* of Cārvākas[3] about whom we will discuss later on.

Nyāya-vaiśeṣika: Anantavīrya quotes Akṣapāda's *Nyāyasūtras* (NS) and Vātsyāyana's *Nyāyasūtra-bhāṣya* (NSB) in the *pūrvapakṣa*. He expands

[1] See App. 9 for all quotations.

[2] SVT, p. 277.

[3] Vide Sec. dealing with Aviddhakaraṇas.

the *sūtra*, '*pūrvavaccheṣavat*' of *Anumāna* section, into three *sūtras*; similarly he refers to *Nyāyavārtika* of Uddyotakara. He quotes the sūtras of Vaiśeṣika mentioning the authors as Kaṇacara and Kaṇabhakṣa. Some of the quotations from the *Vaiśeṣika* commentary are found in SVT (p. 56) which show that there were commentaries other than the available ones. At certain places he refers to *Praśastapāda-bhāṣya* and its *Vyomavatī* commentary.

Sāṁkhya-Yoga: At several places the *sāṁkhya-kārikā* of Īśvarakṛṣṇa, the *Yoga-sūtras* of Patañjali and Vyāsa's *bhāṣya* are quoted. The reference to '*indriyāṇyarthamālocayanti ahaṁkārobhimayate*' is not found in the available commentary of *Sāṁkhya-kārikā*; perhaps, it was quoted from the ancient work on Sāṁkhya. Similarly he refers to '*guṇānāṁ paraṁ rūpaṁ*' which is quoted in *Yoga-bhāṣya* (IV. 13) as '*tathā ca śāstrānuśāsanaṁ* and in *Bhāmati* (p. 352) it is attributed to Vārṣagaṇya.

Mīmāṁsa: Anantavīrya quotes from the *sūtras* of Jaimini, śabara-bhāṣya, *vṛtti* of Upavarṣa, and above all a great number of *ślokas* from *ślokavārtika* of Kumārila, some of which are not found today. Similarly he refers to (p. 260) Prabhākara and quotes a kārikā '*na māṁsa bhakṣaṇe*' in the name of Prabhākara, but it is traceable in Manu (V. 56).

Buddhism: It is no wonder that almost one-fourth of SVT is devoted to the criticism of Buddhists, since Akalaṅka was the champion critic of Buddhism. The *pūrvapakṣa* of SVT contains several references to *Tripiṭaka*, *Abhidharmakośa* of Vasubandhu, *Mādhyamika-Kārikā* of Nāgārjuna, *Pramāṇasumuccaya* of Dignāga and its *vṛtti*, *Pramāṇavārtika*, *Pramāṇaviniścaya*, *Nyāyabindu*, *Vādanyāya*, *Hetubindu* and *Sambandha-parīkṣā* of *Dharmakīrti* etc. Out of many commentators of Dharmakīrti, the SVT copiously quotes Prajñākara, but some of the quotations are not traced in the recently published PVB of Prajñākara. Further he quotes a *śloka* attributing it to Gādgalakīrti[1] about whom nothing is known as yet. Arcaṭa is referred to and a verse attributed to him is not found in his *Hetubindutīkā*, the only available work; it may be from his other works. Besides these, other commentators such as Śāntabhadra, Kallaka (Karnaka) are referred to and quoted.

Jaina Works: Anantavīrya refers to his Jaina predecessors such as Umāsvāmi, Samantabhadra and others. A reference—'*yayoḥ sahopalambha*' in the name of Samantabhadra is found mutilated but is not available in the works of Samantabhadra. Nothing can be said definitely as to which Samantabhadra he is referring, admitting for a moment that it is of great

[1] SVT, p. 450

Samantabhadra it remains to be seen as to from which work he quotes. He quotes, *'je santavāya'* from *Sanmati-tarka* of Siddhasena, *'anyathānupapannatva'*, from *Trilakṣaṇakadarthana* of Pātrakesari and *'aśeṣavidihekṣyate'* from *Pātrakesari-strotra*. There is reference to *Kathātrayabhaṅga*, but it is not yet traced. The reference to *Cūrṇi* indicates the *vṛtti* of NV, a fact which is supported by the reference *'na caitad-bahi'* referring to NV. The śloka, *'jño jñeye kathamajñaḥ"*, from Yogabindu of Haribhadra; this very *śloka* is quoted by Vidyānanda in his *Aṣṭasahasrī*. The *'Jīvasiddhiprakaraṇa'* is none other than the chapter *'Jivasiddhi'* of SV. There is reference to *svataṛ-prāmāṇyabhaṅga* of Anantakīrti and a verse from *Yaśastilaka* of Somadeva.

Thus, such of these quotations stand to the finest erudition of Anantavīrya.

5. *Additional points of comparative studies*

Bṛhat-Saṁhitā:

Bṛhat-saṁhitā (501 A.D.) of Ācārya Varāhamihira, a well-known work on Astrology, says, while discussing the nature of mind, that: *"ātmā sahaiti manasā mana indriyeṇa*.....etc., it is commented by Bhaṭṭotpala (Śaka 888=966 A.D.): *'ayamarthaḥ ātmā manasā saha Yujyate manas-ca indriyeṇa indriyamarthena'*. This is also referred to in *Nyāya-bhāṣya* (I. 1-4) and in PVVT (p. 177). Jayantabhaṭṭa, too, refers to it in this way: *'ātmā manasā saṁyujyate mana indriyeṇa indriyamarthena'* in his *Nyāyamañjarī* (p. 70); from the nature of the sentence, it seems that it is from a Nyāya work which was versified by Varāha Mihira. In *Nyāya-bhāṣya* this sentence runs in these words—*'na tarhi idānīṁ idaṁ bhavati'* which shows that originally this sentence belonged to pre-Nyāya-bhāṣya work of the Nyāya school.

Two Aviddhakarṇas:

Aviddhakarṇa is one of the forgotten philosophers of India, about whom very little has been known. But due to the recent researches in Buddhology, we have the knowledge of two Aviddhakarṇas, as will be discussed here in brief.

One Aviddhakarṇa was a Naiyāyika, who commented on *Nyāya bhāṣya*[1] as suggested by Vādanyāya (p. 78). The following is a summary of the philosophical views held by Aviddhakarṇa.

1. *Dravya* is knowable even without the knowledge of *rūpa*.[1]
2. The whole and the part are different succeeding each other.

[1] Vide Hindi Intro. for a ⊐ exhaustive collection of references, p. 72-74

3. If the proposition is said to be meaningless, the application is also meaningless.
4. The objects perceived by one or two senses are the creations of an Intelligent Being.
5. The soul is eternal and all-pervasive.
6. Destruction is affected by the cause.
7. Atoms are eternal.
8. Number is an indcpendent category of Quality.
9. Aggregation, continuity and specific conditions etc., are not inexplicable (*anirvacanīya*).
10. Conclusion is category itself.
11. *Upamāna* (comparison) is different from Āgama.
12. Besides *pratyakṣa* (perception) and *anumāna* (inference) there are other *pramāṇaṣ* and *prameyas* (object) besides *svalakṣaṇa* (particular) and *sāmānya lakṣaṇa* (universal).
13. Cause and Effect are not simultaneous.
14. According to Buddhists, there is no permanent soul, hence there is no possibility of knowledge of concomitance (*avinābhāva*).

All these views strongly support the contention that Aviddhakarṇa was a Naiyāyika philosopher. It has been seen that Śāntarakṣita, the author of *Tattvasaṁgraha*, and his commentator Kamalaśīla flourished in 762 A.D., who quotes Aviddhakarṇa; therefore, he must be placed before 762 A.D. The same is the case with Karṇagomi who quotes him.

The TPS (p. 57) refers to the eternalistic view of Ātman held by *Naiyāyika*, a fact which is expressly attributed to Aviddhakarṇa by Kamalaśila in his *Tattva-saṁgrahapañjikā* (p 82) Further, Aviddhakarṇa is referred to by Dharmakīrti in his *Vādanyāya*. This is clear by the commentary on it by Śāntarakṣita. He refers to Aviddhakarṇa after Uddyotakara meaning thereby that the former flourished after Uddyotakara; that is, he might be an elder contemporary of Dharmakīrti; this contention is supported by TPS itself. Hence Aviddhakarṇa can be assigned to the period of 620-700 A.D.

In Addition to this Aviddhakarṇa, the PVVT refers to one more Aviddhakarṇa who was the exponent of Cārvāka philosophy since his theories are :

1. Even if *Anumāna* be accepted as *Pramāṇa* from empirical standpoint still the definition of probans (liṅga) is not possible[1].
2. *Pramāṇa* consists in cognising an object which is not yet cognised. So, there is no possibility of valid inference.[2]
3. *Pramāṇa* is non-subordinate whereas inference is subordinate[3]

Anantavīrya refers to this Aviddhakarṇa in SVT (p. 306) as : "*itarasya acetanasya vā bhūmyādeḥ mūrtasya (jñānam) anena Aviddhakarṇasya samayo darśitaḥ*", i.e. *jñāna* is nothing but the modification of the matter as maintained by Aviddhakarṇa.

This Aviddhakarṇa must have been prior to Karṇagomi (8th A.D.), since the latter quotes him. While discussing the views of Aviddhakarṇa there occurs '*Pramānasyāgauṇatvāt*' which is quoted by Jayantabhaṭṭa also (9th *c.* A.D.) attributing it to Cārvāka Philosophy[4]. The said sentence is named, '*Paurandarasūtra.* in *Syādvādaratnākara* (p. 265), implying the existence of a work so named. It is possible that the author of *Paurandharasūtra* was Aviddhakarṇa

On the basis of these reasons adduced, Aviddhakarṇa can be assigned to the eigth century A.D.

(c) The date of Anantavīrya :

We do not possess any sufficient material about the life of Anantavīrya. The colophons of the present work SVT speak of Anantavīrya as "*Ravibhadrapādopajīvi*" ; it means that Ravibhadra was the name of his preceptor. Nothing is known about Ravibhadra as regards his geneology. Hence we have mostly to depend upon the epigraphical evidences and references to Anantavīrya in other works. From the following inscriptions we get information about several Anantavīryas.

(1) From Peggur Kannaḍa inscription[5] it is found that Anantavīrya was the grand disciple of Vīrasena, Siddhāntadeva and disciple of Goṇasena Pandita Bhaṭṭāraka[6]. He was the resident of Sribelgol. The king Rakkasa of Beddoregare had donated Peraggadūr and Nayikhai. This inscription is dated Śaka 899 (977 A.D.).

[1] PVVT, p. 19
[2] ibid, p. 25
[3] ibid p. 25
[4] *Nyāyamañjarī*, p. 108 PKM, p. 180.
[5] JSL. Vol. II, P. 199.
[6] Ibid.

(2) The name of Anantavīrya occurs in the Maroḷa inscription of Bijapur district of the Bombay (now Mysore) state. This belongs to the period of Chalukya Jayasiṁha II and Jagadeka Malla I (1024 A.D.). The names of Kamaladeva Bhaṭṭāraka, Vimuktavratīndra, Siddhāntadeva, Aṇṇiya Bhaṭṭāraka, Prabhācandra and Anantavīrya are in the serial order. Anantavīrya had the knowledge of all the *śāstras* but was particularly well versed in Jaina philosophy, he had two disciples—Guṇakīrti Siddhānta Bhaṭṭāraka and Devakīrti Paṇḍita. He probably belongs to the Yāpanīyasaṁgha or Sūrasthagaṇa[1].

(3) In an inscription of Mugad, the name of Anantavīrya is referred to. This belongs to the period of Someśvara I (1045 A.D.).[2] It refers to the donation to Govardhanadeva, the senior religious preceptor of Kumudagaṇa of Yāpanīyasaṁgha for the contribution of Samyaktva-Ratnākara Chaityālaya. Anantavīrya is referred with Govardhanadeva; but nothing is said about their relationship. Kumārakīrti was the colleague of Anantavīrya and Dāmanandi was the disciple of Kumārakīrti.

This Dāmanandi seems to be the same as referred to in *Jaina Śilālekha saṁgraha* No. 55 as the disciple of Caturmukhadeva who was the Sadharmā of Ācārya Prabhācandra the contemporary of Dhārādhīpa Bhojarāja; Prabhācandra had defeated Viṣṇubhaṭṭa and Mahāvādi. The historical period of Dhārādhipa Bhoja is generally accepted as 1014-1053 A.D. Though both the inscriptions differ in the name of the preceptors of Dāmanandi still in view of the consistency of dates of both the inscriptions, the identification is possible.

(4) The stone inscription[3], found in the quadrangle of the Pancabasti at Humach, refers to Anantavīrya as the commentator (*Vṛttikāra*) of *Akalaṅkasūtras*[4]. It is mentioned therein that he belongs to the Ācāryas of Nandisaṁgha. The inscription belongs to the period of 1077 A.D. it mentions Kumārasenadeva, Mounideva and Vimalacandra Bhaṭṭāraka; it further refers to Vādirāja as *Ṣaṭtarkaṣaṇmukha.*

(5) The stone inscription[5] of Parśvanāthasvāmi Basti Cāmofrājanagara refers to Anantavīrya as belonging to the Dravida Saṁgha. It bears the date, Śaka 1039 (1117 A.D.).

[1] BKI. Vol. 1, Pt. I, No. 61.
[2] JSI. P. 142, BKI, 1. 1. 78.
[3] JSL. Vol. II. P. 294.
[4] Ibid P. 395.
[5] Ibid. p. 387.

(6) The Niḍigi stone inscription[1] refers to Anantavīrya as the Sun to the lotus garden of Krāṇūragaṇa.[2] It bears the date, Śaka 1039 (1117 A.D.).

(7) The Kadambahalli inscription[3] refers to Anantavīrya as "*Rāddhāntārṇavapāraga, ādi-cāru-cāritra bhūdhara*[4]" belonging to Sūrasthagaṇa. His disciple was Bālacandramuni. The inscription bears the date Śaka 1040 (1118 A.D.).

(8) The Kalluraguḍḍa inscription[5], dated Śaka 1043 (1127 A.D.) of Siddheśvaramandira refers to Anantavīrya as *Suddhākṣarākārada*,[6] belonging to the Ācāryas of Krāṇūragaṇa. It refers to Anantavirya and Municandra as colleagues of Prabhācandra who had his lay disciple named Bhujabalaganga Barmadeva. The latter had four sons : Mārasiṅga, Nanniyagaṅga Rakkasagaṅga and Bhujabalagaṅga. The date of donation by the Barmadeva is shown as Śaka 976 (1054 A.D.). It shows that Rakkasagaṅgadeva, the lay disciple of Anantavīrya donated during the same period of time[7].

(9) The stone inscrption of Someśvaramandira at Purale refers to Anantavīrya, the Siddhāntakāra Prabhācandra's colleague Ābhinavagaṇadhara.[8] He is referred also in the list of Ācāryas belonging to the *krāṇūragaṇa* of Mulasangha. Its date is Śaka 1056 (1132 A.D.). This inscription suggests that the donation was granted at the instance of the disciple of Prabhācandra Siddhāntadeva in Śaka 989 (1069 A.D.).

(10) The Humach inscription[9] refers to Anantavīrya Mahāvādi as the junior colleague of Śṛipāladeva.[10] He belongs to Nandigaṇa of Drāviḍa saṁgha. It bears the date Śaka 1069 (1147 A.D.).

The examination of the above mentioned ten inscriptions presents to us three Anantavīryas of different lineage.

(i) Anantavīrya mentioned in No. 4 belonging to the tradition of lineage Nandigana Aruṇgalānvaya of Dravidasaṁgha He

[1] JSL Vol. II. p. 392.
[2] Ibid. p. 395.
[3] Ibid. p. 399.
[4] Ibid. p. 399.
[5] JSL. Vol. II. p. 408.
[6] Ibid. p. 416.
[7] Ibid. p. 452.
[8] Ibid. p. 464.
[9] JSL. Vol. III. p. 66.
[10] Ibid. p. 72.

is said to be the commentator of *Akalaṅkasutras*. 5th and 10th hold one and the same Anantavīrya mentioned in No. 4. He was the junior colleague of Śṛipāladeva, the great grand teacher of Vādirāja. Vādirāja belongs to the period of 1025 A.D. His teacher might have been just fifty years before that is, 975 A.D. and to this period only Anantavīrya must have belonged No. 1 refers to one Anantavīrya as the grand disciple of Virasena-Siddhantādeva and disciple of Goṇaśena. The names of the latter two Ācāryas are not found in the list of Krānūragana. Hence it appears that this Anantavīrya belonged to Drāvidasaṁgha and not to Krānūragaṇa. This Anantavīrya is not different from the one mentioned in No. 4, 5 and 10.

(ii) Anantavīrya belonging to the Sūrasthagaṇa, is referred to as *ādicāritrabhūdhara* in No. 7. This Anantavīrya cannot be the commentator of Akalaṅkasutras because of different lineage.

(iii) No. 6, 8 and 9 refer to one Anantavīrya of Krānūragana. No. 2 and 3 also refer to Anantavīrya belonging to Yāpāniyasaṁgha. Therefore, it can be said that this Anantavīrya is identical with Anantavīrya of Krānūragana.

As we have already stated that Anantavīrya, the author of SVT is mentioned as '*Ravibhadrapādopajīvi*', i.e. the pupil of Ravibhadra; further this Anantavīrya has referred to the other Anantavīrya, who commented on SV of Akalaṅka prior to him, thus we have two commentators of SV of the same name.

But from the inscriptions, as stated just before, we have information about three different Anantavīryas. The problem of identification of these two commentators with the three referred to in above inscriptions remains to be solved. For the sake of differentiation we will refer to the first Anantavīrya as *vṛddha* Anantavīrya and the second simply as Anantavīrya. Anantavīrya referred to in No. 4 as the *Vṛttikāra* of Akalaṅka can be identified with *Vṛddha* Anantavīrya and also with Anantavīrya the author of the SVT assuming that he had two preceptors, one being Ravibhadra. It cannot be ascertained definitely as to which Anantavīrya the Humach inscription refers to. It will be proved in the following pages that Anantavīrya, the author of the present commentary SVT must have belonged to a peroid later than 959 A.D. and earlier than 1025 A.D. As the identification is doubtful, we have to rely upon other evidences for fixing the date of Anantavīrya.

1. *Textual Evidences :*

The name of Anantavīrya is referred to in several works which are discussed below :

(1) *Tattvārthavārtika* refers to Anantavīrya Yati[1]. He must have been much earlier than Akalaṅka as is clear from *'pratighātaśruteḥ'*.

From the following evidences it can be definitely proved that there was a commentary by another Anantavīrya prior to the author of the present work. He refers to the previous commentator Anantavīrya by name while commenting on v. 5 in the following words : *nanvayamartho'nantarakārikāvṛttāvuktaḥ, na ca punastasyaivābhidhāne sa eva samarthito nāma atiprasaṅgāt, kintu anyasmāt hetoḥ, sa cātra noktaḥ, tasmāt uktārtho'nantara-śloko'yaṁ ityanantavīryaḥ"*.

(*a*) It is clear from the above quotation that Anantavīrya differed from the explanation given by the previous Anantavīrya.

(*b*) It can be definitely proved by other references suggestive of the difference of opinion as well as variant reading, that there was in existence another commentary written before the present volume and that must be the one of *vṛddha* Anantavīrya.

(*c*) It is certain that the author of SVT has little regard for the previous Anantavīrya. Therefore, it seems that our author gives his own identity by the word *Ravibhadrapādopajīvī*.

(2) In the benedictory verse he writes.

"devasyānantavīryo'pi padaṁ vyaktaṁ tu sarvataḥ,
na jānīte'kalaṅkasya citrametat paraṁ bhuvi".

It is not surprising to see that Anantavīrya, with such infinite capacity, cannot understand Akalaṅka clearly.

(3) Vādirājasūri, eulogising Anantavīrya in *Pārśvanātha-carita* speaks of him as a mighty cloud to the fire of nihilism of the Buddhists. He has referred to Anantavīrya as a flood of light illuminating the words of Akalaṅka. We know that *Pārśvanātha-carita* was composed in Śaka 947 (1025 A.D.)[2].

(4) Ācārya Prabhācandra refers to Anantavīrya along with Akalaṅka with the same degree of reverence to Jinendra ; further, he respectfully expresses his debt to Anantavīrya in studying Akalaṅka[3]. Prabhācandra had composed NKC during the regime of Dhārādhirāja Jayasiṁhadeva

[1] TV. p. 154.

[2] *Pārśvanātha-Carita, Praśasti*, v. 5.

[3] NKC, p. 605.

(V. 1112; 1055 A.D.).[1] The date of Prabhācandra can be fixed in between 960 and 1020 A.D.[2]

(5) Śāntyācārya, while discussing the problem of perception in *Jainatarkavārtika-vṛtti* (p. 77), refers to such phrase, '*smṛtyūhādikamityeke*'. The views referred to Anantavīrya are found in SVT[3] based on Akalaṅka-nyāya[4]. The date of Śāntyācārya has been fixed between V. S. 1050 and 1175 (993-1118 A.D.)[5].

(6) Vādidevasūri in his *Syādvādaratnākara* (p. 350) while critically examining the doctrine of identity of *dhāraṇā* and *saṁskāra* held by the great Vidyānanda, refers to Anantavīrya's view on the same topic : '*Anantavīryo'pi tathā nirṇītasya kālāntare tathaiva smaraṇahetuḥ saṁskāro dhāraṇā iti tadevāvadat*'. Similarly Devasūri in his *Kevalibhuktisamarthana*, refers to Anantavīrya as : '*anatavīrya-prabhṛtipraṇītāḥ kuhetavaḥ kevalibhuktisiddhyai, anye'pi ye te'pi nivāraṇīyāḥ*'. He was in the Ācārya status in V. S. 1174 (1117 A.D.)[6]; the period of his activities can be said to be from V. S. 1174 (1117 A.D.) to V. S. 1226 (1169 A.D.); because, hs happened to die during the reign of Rājarṣi Kumārapāla. The view about *KB* which Vādidevasuri refers to Anantavīrya is not found in the present text SVT.

But so far as the theory of non-difference between *dhāraṇā* and *saṁskāra*, held by Akalaṅka[7] and justified by Vidyānanda,[8] is concerned we find such discussion in SVT, for instance, while commenting upon the first verse of the second chapter, he interpretes '*saṁskāratāṁ yātyapi*' as '*dhāraṇātmikā bhavati*'[9]. Anantavīrya was also the expnent of the said doctrine referred to above. It seems, that the reference to *Kevalibhukti* to which Vādidevasurihad made, may be in Anantavīrya's *Pramāṇasaṁgrahabhāsya* or it may refer to other Anantavīrya.

(7) After Prabhācandra's work *Prameyakamalamārtaṇḍa*, the commentary on *Parikṣāmukhasūtra* of Maṇikyanandi, there has been one Anantavīrya, who wrote *Parikṣāmukha Pañjikā*, named *Prameyaratnamālā*; this

[1] His record of gift has been found belonging to the V. S. 1112; see also *Rāiā-Bhoia* by Viśveśvaranātha Reu, Pp. 102-3.
[2] Vide NKC, vol. II, Intro. p. 48.
[3] *SVT*, p. 223.
[4] LTV, v. 61.
[5] JTVV, Intro. k. 151.
[6] *Jaina Sahityano Itihāsa*, p. 248.
[7] LTV, v. 5.
[8] TSLV, p. 220.
[9] SVT, p. 120.

pañjikā is written for Sāntisena at the request of Hīrap, the beloved son of Vaijeya. The author of the *Pañjikā* refers to Prabhācandra's *Prameyakamalamārtaṇḍa* in these words. "*Prabhenduvacanodāracandrikāprasare sati*" therefore, we can say that he must be posterior to Prabhācandra (980-1015 A.D.) and obviously must be a different person from Anantavīrya, quoted by Prabhācandra, as the commentator of Akalaṅka. Pt. Āśādhara, in the *Svopajñatīkā* on *Anagāradharmāmṛta*, quotes the benedictory verse of *Prameyaratnamālā*. He completed the *Anagāradharmāmṛta* in V. Samvat 1300 (1243 A.D.)[1]. Hence, we can say that Anantavīrya, the author of *Prameyaratnamālā* belongs to the period of 1065-1243 A.D. His *Prameyaratnamālā* seems to have influenced Hemacandra's *Pramāṇamīmāṁsā* here and there[2]. Hemacandra belongs to the period of 1088-1173 A.D.[3], that is to say, that Anantavīrya, the author of Prameyaratnamālā, must be a scholar of eleventh century A.D., hence he must be altogether a different person from his namesake, the commentator of SV.

(8) Kavicakravarti Mallişeṇa had completed his *Mahāpurāṇa* in Śaka Saṁvat 969 (1047 A.D.[4]); he respectfully refers to Anantavīrya in the introductory part of his work[5].

(9) Abhayacandrasūri in the commentary known as *Syādvādabhūṣaṇa* on *Laghīyastraya* refers to Anantavīrya with the adjective "*Jinendra*"; he had written this vṛtti after going through the *Nyāyakumudacandra* of Prabhācandra, as is clear from his references such as "*Akalaṅka prabhāvyaktam*" etc. His date according to Pt. Nāthūrāma Premi's calculation, lies at the beginning of the thirteen century[6]. He is later than Prabhācandra (11th *c.* A.D.).

(10) Sāyaṇa Mādhavācārya, the author of *Sarvadarśana Saṁgraha*, in his examination of *Saptabhangī* in the section dealing with Ārhata-Darśana, refers to Anantavīrya in these words: '*tatsarvamanantavīryaḥ pratyapīpadat*'. Further he writes "*tadvidhānavivakṣāyāṁ Syādastīti gatirbhavet, Syānnāstīti prayogaḥ syāttanniṣedhe vivakṣite*"; etc. but these verses are not found in SVT; nor do we find any discussion of the *Saptabhaṅgī*; it can be said that Sāyaṇamādhavācārya is quoting from some work of Anantavīrya which does not bear any relation whatsoever with the present work (SVT); so

[1] AD, p. 691.

[2] PM Notes, NKC, vol. II, Intro. p. 35.

[3] PM Intro. p. 43.

[4] JSI, p. 315.

[5] K. B. Pathak, Art. in ABORI, XII. 40, p. 373.

[6] LTS. Intro p. 5.

it can be surmised that either it belonged to the other Anantavīrya or to the other work of Anantavīrya, the author of SVT. It will be shown in the following pages that there is one work, *Pramāṇasaṁgrahabhāṣya*, written by Anantavīrya which includes a chapter on *Saptabhaṅgi*; may be, the verses referred to above are from this work. The period of Sayaṇācārya is Śake 1312 (1390 A.D.)[1].

From the foregoing discussion emerge out the following Anantavīryas :

(i) Anantavīryayati referred by Akalaṅka in his *Tattvārthavārtika*.

(ii) Anantavīrya quoted by Ravibhadrapadopajīvi i.e, Anantavīrya, the commentator of SV of Akalaṅka.

(iii) Anantavīrya, the author of the present commentary on *Siddhiviniścaya*.

(iv) Lastly, Anantavīrya, the author of *Prameyaratnamālā* who refers to PKM of Pabhācandra. Out of these four Anantavīryas, the one referred to by Akalaṅka in his TV, the first of all his works, must be a prior Ācārya to Akalaṅka himself, naturally he cannot be the *Akalaṅka-Sūtravṛttikāra* referred in the above mentioned inscription.

It has been seen already that *Prameyaratnamālā* was written by Anantavīrya at the request of Hīrap[2]; this author is definitely later than Prabhācandra, the author of *Prameyakamalamārtaṇḍa*. The commentator Anantavīrya, the author of SVT who is gratefully remembered by Prabhācandra is a certainly different person from Anantavīrya, the author of *Prameyaratnamālā*, who himself seems to be much obliged to Prabhācandra. Now the problem remains in regard to *vṛddha* Anantavīrya and Anantavīrya, the author of SVT. As regards the *vṛddha* Anantavīrya we do not have any work at all; naturally nothing can be said about his works and age etc. in the absence of any positive evidence about him, all that can be said is that he is referred to in SVT by Anantavīrya and that the way of examining his views show that he must have been a senior contemporary of Anantavīrya.

About the Anantavīrya referred to by Śaṇtyācārya, Vādidevasūri and Sāyaṇamādhavācārya in their respective works, we are not in any better position to say as to which of the two commentators they are referring, *vṛddha* Anantavīrya or Anantavīrya. It can be seen that out of these two

[1] *Sarvadarśanasaṁgraha*, Intro. p. 33.

[2] *Vaijeyapriyaputrasya Hīrapasyoparodhataḥ Śāntiṣeṇārthamārabdhvā Parīkṣāmukha-Pañjikā. (Prameyaratnamālā Praśasti)*

commentators, Anantavīrya refers to himself as *Ravibhadrapādopajīvi*; suggestive of his distinctness from *vṛddha* Anantavīrya.

In order to determine the date of Anantavīrya it is essential to rely upon the internal evidences of SVT. The following comparative study will help us determine the age of Anantavīrya, the author of SVT.

Vidyānanda :

Ācārya Anantavīrya quotes : '*ūho matinibandhanaḥ*', in SVT (p. 189). This sentence occurs in TSLV (I. 13. 99) of Vidyānanda in this form : '*samāropachhidūho'tra mānaṁ malīnibandhanaḥ*'. In the present work SVT (p. 6) the author refers to some '*svayūthya*'[1] according to whom '*śraddhākutūhalotpāda*' is deemed as the purpose of *ādivākya* ; the refutation of this is quoted in SVT taken from TSLV with the word '*apare*'. Therefore we can say that the works of Vidyānanda must have been before our Anantavīrya. Hence Anantavīrya cannot be prior to 850 A.D.

Ācārya Vādidevasūri in his SR (p. 350), commenting upon Vidyānanda's contention of the non-difference between *dhāraṇā* and *saṁskāra* refers to Anantavīrya as repeating the same view '*tadevāvadat*'. Hence it can be rightly said that Anantavīrya is posterior to Vidyānanda, or, in other words Anantavīrya belongs to the tradition of Vidyānanda's school of thought.

Anantakīrti :

Laghusarvajñasiddhi (LSS) and *Bṛhatsarvajnasiddhi* of Anantakīrti are published in *Laghīyastrayādi-saṁgraha* ; a careful reading will convince that Anantakīrti was a renowned scholar of his time. In his *sarvajñasiddhi* ; he has refuted the Brahmanic tradition of apauruṣeyatva of the Vedas ; he established the validity of the Canons taught only by the omniscient person. In the *pūrvapakṣa* of the section dealing with omniscience (BSS, Pp. 131-142) he refers to 64 verses in order beginning with '*yajjātīyaiḥ pramāṇaistu*' ; the same verses are quoted by Śāntisūri in his NVVV in the same order ; out of these verses some belong to MSLV, PV, and TS Śāntisūri, in NVVV (p. 77) quotes '*svapnavijñānaṁ yat spaṣṭamutpadyate ityanantakīrtyādayaḥ*' by which he refers to Anantakīrti's view that dream-knowledge is the same as mental perception. This is the view held by Anantakīrti, the author of BSS, in these words : '*tathā svapnajñāne cānakṣaje'pi vaiśadyamupalabhyate*'[2] The period of Sāntisūri lies, according to Pt. Dalsukha Malvania, some where in the middle of 993-1162[3].

[1] SVT, p. 6.

[2] BSS, p. 151.

[3] NVVV, Intro. p. 151.

The date of Prabhācandra, the author of PKM and NKC is fixed from 980 A.D. to 1065 A.D.[1]. Prabhācandra has copied almost verbatim from BSS of Anantakīrti, in the chapter on *Sarvajñasiddhi* in his works NKC and PKM. The last pages of BSS (Pp. 181-208), with little variation, have almost the identical appearance with the chapter on *muktivāda* of NKC (Pp. 838-847); even casual reading will show as if one is copied from the other. It appears to me that it is NKC that is developed on the lines of BSS; because, Śāntisūri, the contemporary of Prabhācandra refers to Anantakīrti.

Abhayadevasūri, the commentator of *Sanmati-tarka*, was contemporary of Dhārādhipati Muñja; his date, according to Pt. Sukhalalji, lies in the last quarter of the 10th *c.* and the first quarter of eleventh centuries of Vikrama[1]. Abhayadevasūri, in chapter on *Sarvajñasiddhi* in *Sanmati-tarka* gives the main arguments in the same terms as those of *Sarvajñasiddhi* and also quotes *kārika.*

"nakṣatrāgrahapañjaramaharnišaṁ lokakarmavikṣiptaṁ
bhramati śubhāśubhamakhilaṁ prakāśayatpūrvajanmakṛtaṁ"

which is found with some other verse in BSS (p. 176); one thing becomes clear that there is influence of one over the other. From the evidence of Śāntasūri's quotation it can be proved that Anantakīrti must be earlier than 990 A.D., it is also probable that the contents of BSS might have been borrowed by the author of *Sanmati-tarkaṭikā.*

Ācārya Vādirāja in his *Pārśvanātha-carita* refers to Anantakīrti in the following terms:

ātmanaivādvitīyena jīvasuddhiṁ nibhadhntā,
anantakīrtinā muktirātrimārgeva lakṣyate,—v. 24.

From this it can be inferred that he wrote a treatise named *Jīvasiddhi.* Pt. Nathuram Premi conjectures that Anantakīrti must have written a commentary on Samantabhadras' *Jīvasiddhi* which is quoted by Jinasena. Vādirājasuri relies on the same main arguments which are found in BSS of Anantakīrti; he is the same Anantakīrti who is referred by Vādirāja in *Pārśvanātha-carita.*

2. *Epigraphical evidences*:

The stone inscription of Candragiri[2] hills refers to Anantakīrti as the grand disciple of Meghacandra Traividya of Pustakagaccha, Desigana and

[1] NKC, vol. II, Intro. Pp. 48-58.

[2] JSI, p. 404.

Mulasaṁgha and disciple of Vīranandi Traividya; he is described as well-versed in debates and learned in Śyadvāda philosophy. The inscription bears the date 1235 (1313 A.D.)[1]; it also refers to the death of Śubhacandra, the disciple of Rāmacandra of the same tradition. The inscription No. 47[2] bears the date of the death of Meghacandra Traividya as Mārgasīrṣa Śuddha 14 Śaka 1037 (1115 A.D.).

Inscription No. 50 gives the date of the demise of Prabhācandra, the disciple of Meghacandra as *'āśvina śuddha daśami'* Śaka 1068 (1146 A.D.); it also refers to two disciples of Meghacandra: Prabhācandra and Vīranandi.[3] It is shown that Meghacandra's disciple Prabhācandra caused *Mahāpūjā-Pratiṣṭhā* in Śaka 1041 (1118 A.D.)[4].

Thus the Ācāryas of the tradition, referred to in the inscriptions will be of the order.

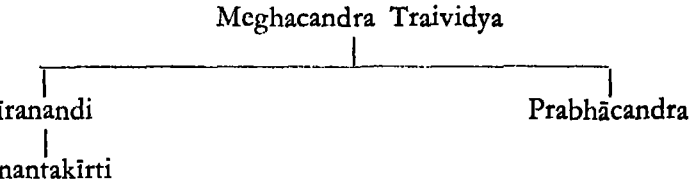

Plainly speaking Anantakīrti was the grand disciple of Meghacandra Traividya who died in 1115 A.D.; hence Anantakīrti can be assigned to the 12th c. A.D. obviously, Anantakīrti is decidedly a different person from his namesake referred to in *Pārṣvanath-carita* (1025 A.D.); if the age of those Ācāryas be supposed to be about one hundred and twentyfive years, disciples and grand disciples might be contemporaries; in that case, Anantavirya referred to in the inscriptions could be identical with his namesake referred in *Pārsvanāth-carita*. But this push and pull theory is inadequate in this case.

The Śāntinātha Basadi at Bāndhavanagara was built in *c.* 1207 A.D. when king Brahmā of Kadamba dynasty was ruling. The temple was in charge of Anantakīrti Bhaṭṭāraka of *Tintiṇḍikagachha* of *Krāṇūragana*[5] who is different from his namesake of Pustakagachha Desigana; he is also different from Anantakīrti, the author of *Jīvasiddhi*. The Cikkamāgaḍi inscription[6] of Basavaṇṇamandira belongs to the 23rd year of Hoysaḷa Vīra Ballāḷa (about *c.* 1212 A.D.). This inscription refers to the voluntary

[1] JSL. p. 30.
[2] Ibid, p. 64.
[3] Ibid, p. 80.
[4] JSL. p. 39.
[5] B. A. Saletore, *Medieval Jainism*, p. 209.
[6] JSL, vol. III, p. 232.

Briefly, the discussion can be summarised as below:

1. The age of Akalaṅka has been fixed as 720-780 A.D.; so his commentator Anantavīrya must be later than this period.
2. Anantavīrya quotes Vidyānanda who flourished in 840 A.D.
3. Anantavīrya quotes *svataḥ-Prāmāṇya-bhaṅga* (840-950 A.D.) written after Vidyānanda, i.e. after 840 A.D.
4. Somadeva's YST (959 A.D.) is quoted by Anantavīrya.
5. Humach inscription refers to Anantavīrya as the colleague of the grand teacher of Vādirāja who flourished in 1025 A.D.; hence it can be said that the grand teacher Śṛipāla and his colleague Anantavīrya lived in 975 A.D. i.e., fifty years before Vādirāja. On the strength of these proofs *Anantavīrya can be assigned to* 950-990 *A.D.*

3. *Critique of Conflicting Views*:

Dr. A. N. Upadhye, subjecting the view of Dr. K. B. Pathak[1] to critical examination, writes: "In his recent paper on Dharmakirti and Bhāmaha, Dr. K. B. Pathak refers to Anantavīrya as a commentator of *Parīkṣāmukha* of Māṇikyanandi and also as the author of a commentary on the *Nyāyaviniścaya* of Akalaṅkadeva. Finally he concludes that this Anantavīrya belonged to the close of the tenth century A.C. from the facts that he is referred to by Vādirāja who wrote in Śaka 947 (1025 A.C.), by Mallisena in his Mahāpurāṇa written in Śaka 969 (1047 A.C.) and also by Nagara Inscription of Śaka 999 (1077 A.C.). With due deference to the learned scholar one has to say that there has been a gross misrepresentation and puzzle of facts in his remarks and his conclusion about the date is an illustration of loose logic".[2] With these remarks about Dr. K. B. Pathak, Dr. Upadhye concludes that: "So far as my knowledge of Jaina literature goes, I do not know of any commentary on that (NV) work by Anantavīrya"[2]. Further, that Anantavīrya, the commentator of SV is different from his namesake, the author of *Prameyaratna-mālā*. Dr. Upadhye guesses the date of Anantavīrya as "though the exact date of Anantavīrya is still a desideratum this much is certain that he flourished some time after Akalaṅka (*circa* last quarter of the seventh century at the latest"[3].)

Dr. Upadhye's suspicion about the possibility and availability of a commentary on NV of Anantavīrya is not without its worth. It is proved beyond any shadow of doubt that Anantavīrya, the disciple of Ravibhadra,

[1] ABORI, vol. XII, p. 373.

[2] ABORI, vol. XIII, Pt. *ii*, p. 161. [3] Ibid, p. 165

is altogether a different person from Anantavīrya, the author of *Prameya-ratnamālā*. But the date of *Ravibhadrapādopajīvi* Anantavīrya suggseted by him seems to be unacceptable in the light of the available evidences today; this has been sufficiently clarified in the preceding pages. The fact that Akalaṅka was a renowned teacher of 720-780 A.D. i.e., the last quarter of 8th century A.D. cannot enable us to suppose that his commentator belonged to the last quarter of the seventh century. I have proved that Anantavīrya, the disciple of Ravibhadra, belonged to the period of 950-990 A.D.[1] this conclusion is in harmony with the conclusion of Dr. Pathak; hence it seems impossible to hold that he belonged to the last quarter of the 8th century A.D. About *Vṛddha* Anantavīrya, only this much, can be said that he probably belonged to the earlier part of ninth or tenth century A.D. But it cannot be said about Anantavīrya, the author of SVT, that he belonged to a period prior to the last quarter of tenth century A.D. It is also proved that Anantavīrya, the author of *Prameyaratna-mālā* was a scholar of the eleventh century A.D.

Dr. Upadhye seems to rely upon the identification of Prabhācandra mentioned in *Ādipurāṇa* (858 A.D.) with his namesake, the author of NKC. It may be said, with due deference to his examplary service, that Dr. Upadhye commits the mistake of identifying one with the other of the same name.

It should be noted here that Pt. Kailashcandraji has proved, with strong evidences, that Dhārānivāsi Prabhācandra the author of NKC, is different from Prabhācandra, the author of *Candrodaya*, who is referred to by Jinasena in his *Ādipurāṇa*. The date of Prabhācandra, the author of NKC, is proved to be 980-1065 A.D.[1] So on the strength of Prabhācandra mentioned in *Ādipurāṇa* we cannot fix the date of Anantavīrya; but, to solve this problem we will have to take into considration the date of the other Prabhācandra.

Dr. S. C. Vidyabhusan maintained that Anantavīrya had written a *vṛtti* on NV and that Śāntisena and Śāntisūri were identical; on this identification he fixed the date of Anantavīrya, the author of Prameyaratnamālā to be 11th *c.* A.D.

Dr. Vidyābhuṣan's contentions are rightly refuted by Dr. Upadhye, except the time limit of Anantavīrya fixed by him, which is found to be correct as discussed above.

[1] NKC, vol. II, Intro. pp. 48-58.

(d) Works of Anantavīrya

Besides SVT, Anantavīrya seems to have written one more valuable work viz., *Pramāṇasaṁgrahabhāṣya* or *Pramāṇasaṁgrahālaṅkāra*. Wherever he does not intend to dwell more than necessary in SVT, he hints at the work *Pramāṇasaṁgraha bhāṣya* for detailed study, a fact which is supported by such words '*carɔitaḥ*', '*vyākhyātaḥ*', '*uktaṁ*' etc. It is clear that *Pramāṇasaṁgrahabhāṣya* was written before SVT. *Pramāṇasaṁgraha*[1] is too difficult to follow. The quotations, attributed to Anantavīrya and referred to by the authors of *syādvādaratnākara* and *Sarvadarśanasaṁgraha* which are not found in SVT may be from *Pramāṇasaṁgrahabhāṣya* of Anantavīrya.

[1] Published in *Akalaṅkagranthatraya*, Singhi Jaina Series.

3. A CRITICAL STUDY OF SV, SVV AND SVT

(a) The author of SV and SVV: Akalaṅka:

Anantavīrya, the commentator of SV eulogises Akalaṅka with the adjective 'Jinendra' in the opening verses of the present work SVT, and pledges to comment on SV; besides, the following verses of SVT bespeak of Akalaṅkas' praise in glowing terms. Vidyānanda quotes SV (IX. 2): *śabdaḥ pudgalaparyāyaḥ* attributing it to Akalaṅka, in TSLV (p. 424) Vādirāja in his NVV mentioned SV as the work of Deva, i.e. Akalaṅka:

etadeva svayaṁ devairuktaṁ siddhiviniścaye,
pratyāsattyāyayaikyaṁ syāt[1]'

Vādirājasūri, the author of *Syādvādaratnākara* (p. 641), explicitly refers to Akalaṅka as the author of SV: '*yadāh Akalaṅkaḥ Siddhiviniścaye—varṇa-samudyaḥ padamiti*'.

Evidently, Akalaṅka is the author of SV and SVV, since the references are self-expressive of the existence of SV and SVV of Akalaṅka.

(b) Historical background of the title of the work:

It is a tradition of long standing to have the titles of the works ending with 'viniścaya'; e.g. *Tiloyapaṇṇatti* (TP) (5th *c.* A.D.) frequently refers to a work '*Lokaviniścaya*'[2]. May be[3], Akalaṅka, following this practice, named his works on Nyāya as *Nyāyaviniścaya* and *Siddhiviniścaya*; it has been already referred to the fact that there was a work named *Siddhiviniścaya* by Ārya Śivasvāmi of *Yāpanīyasaṁgha*,[4] who flourished before Akalaṅka. But the chief source of inspiration for entitling his work with the suffix '*viniścaya*' is *Pramāṇaviniścaya* of Dharmakīrti, in spite of Akalaṅka's different tradition from Buddhists. The works of the epoch-making philosopher, Dharmakīrti and his disciples and followers, have directly or indirectly provoked Akalaṅka to build his own system of logic, known as *Akalaṅkanyāya*, against the severe attacks of Buddhists.

(c) General outlines of the SV and SVV:

The SV contains twelve chapters, mostly dealing with epistemological concepts such as—*Pramāṇa*, *Naya* and *Nikṣepa* etc., the gist of which are given in the following pages.

---

[1] NVV. Vol. I p. 168.

[2] TP, IV, 1866, 1975, 1982, 2028; V. 68, 129, 167; VII. 203; VIII. 270, 386; IX. 9 etc.

[3] TP, vol. II, Intro. p. 12.

[4] *Infra* p. 59.

1. *Pratyākṣasiddhi*: The topics brought under discussion are the nature of *Pramāṇa*, the result of *Pramāṇa*, the proof of external objects, the validity and conspicuity of conceptual cognition (*savikalpa*), rejection of the validity of indeterminate perception, refutation of the indeterminate nature of self-cognisance, the establishment of valid knowledge on the strength of wide, not whole, application of non-discrepancy, the possibility of *mati* and *śruti* knowledge etc., without the application of words; and so on.

2. *Savikalpasiddhi*: The description of *avagraha* (perception) etc., examination of mental perception, determinate (*savikalpa*) knowledge is not the resultant of indeterminate (*nirvikalpaka*) one; each cognitive member of *avagraha* etc. (in order) is the cognitive organ and each succeeding member as the resultant; impossibility of knowing other person if the Buddhist view is accepted etc.

3. *Pramāṇāntarasiddhi*: Establishment of recollection and recognition as separate *pramāṇa*, inclusion of comparison in recognition, justification of *tarka* as *pramāṇa*, the impossibility of the action in the philosophy of flux, justification of *utpāda* (creation) *vyaya* (destruction) and *sthiti* (subsistence), destruction as the creation of other modification, the establishment of eternity and identity-cum-difference of substance and modifications.

4. *Jīvasiddhi*: Mithyājñāna, the result of the operation of knowledge-obscuring *(jñānāvaraṇīya)* Karmas, causal efficiency, continuum etc. untenable in momentariness, with respect to bondage *jīva* and *ajīva* are one though differing essentially in their nature, the causes of influx of Karmas, disbelief in *prajñāsat* and *prajñaptisat*, criticism of *Tattvopaplava* philosophy, refutation of *bhūtacaitanyavāda* (materialism), Nyāya-conception of soul, criticism of *sāṁkhya* theory of *tattvas*, the bondage of *Karmas* with the formless *cetana*, the identity-cum-difference of *jñāna* etc. and *ātman*.

5. *Jalpasiddhi*: The nature of Disputation or wrangling (*jalpa*), the four-limbs of it, the connotation of *śabdaa*, *śabda* is not necessarily the indication of intention, criticism of the occasion of censure (*nigrahasthāna*) due to the statement of other than an essential condition of proof etc., definition of *jaya* (victory) and *parājaya* (defeat).

6. *Hetulakṣaṇa-siddhi*: The otherwise impossibility is the characteristic of reason invariable, concomitance is not conditioned by identity (*tādātmya*) and Causation (*tadutpatti*) only, justification of division of *hetu* (reason); justification of *pūrvacara* (prior), *uttaracara* (posterior) and *sahacara* (simultaneous), the possibility of *sattva hetu* etc. only in the *Anekānta* Philosophy.

7. *Śāstrasiddhi :* The value of *śruta* in spiritual path, the signification of *śabda*, the consciousness of Jiva while asleep, error of Jivas due to the rise of Karmas, refutation of theism, criticism of Nyāya conception of *mokṣa*, the possibility of par excellence of knowledge in man, non-discrepancy of *Syādvāda*, repudiation of *apauruṣeyatva of Veda* etc.

8. *Sarvajñasiddhi* : Knowledge of imperceptible things also is possible, *vaktṛtva* etc. are not contradictory with omniscience, proof of omniscience on the basis of non-contradictory reasons, the impossibility of omniscience in the Sāṁkhya theory—omniscience is the result of the total destruction of knowledge-obscuring (*jñāṇāvaraṇīya*) Karmas etc.

9. *Śabdasiddhi* : the material nature of word, its nature of aggregation as shadow and light, the relation of the word and the meaning, word connotes particular object, significance of words even to establish the illusory nature of all things, if the particular is not signified by the word, it will become imperceptible, if the word denotes only the intention, there will be no discrimination between right and wrong, the discussion on the expression '*eva*', refutation of *sphoṭa*.....etc.

10. *Arthanayasiddhi* : *naya* is the standpoint of the knower, it is also *pramāṇa*, two fundamental *nayas*, *Nirapekṣa Naya* (absolute) is *mithyā* (false), *Naigama-naya* (non-analytical), Sāṁkhya theory—a *Naigamā-bhāsa* (fallacy of *Naigama*), *saṁgraha naya* (collective) and its fallacy, *Vyavahāra-naya* (practical or empirical), *Ṛju-sūtra-naya* (immediate).....etc.

11. *Śabdanayasiddhi* : The discussion of the nature of *śabda*, refutation of *sphoṭa* (doctrine of phonetic explosion), rejection of the eternalistic view of the word—*śabdanaya*, description of *samabhirūḍhanaya* and *evaṁbhūtanaya* etc.

12. *Nikṣepasiddhi* : The nature of *nikṣepa* (aspect or imposition). Its four divisions are : *Nāma* (name), *Sthāpanā* (picture), *Dravya* and *Bhāva*. The first three are related to *Dravyāstika* and *bhāva* with *Paryāyāstika*.

The topics discussed in SV and SVV and other allied topics are elaborately discussed by Anantavīrya in SVT.

(d) The style of SV and SVV :

It has been discussed more than once that Akalaṅka became an unflagging logician after a period of his career as an expositor of tradition ; his logical dissertations stand by themselves for their rigid, compact and complicated style. Anantavīrya as has been found already, expresses his inability to follow Akalaṅka. He also refers to it (SV) as '*sūktisadratnākara*'[1]. Vādirāja and Prabhācandra also express their inability

[1] SVT. p. 1.

to understand the works of Akalaṅka, a fact which is not mere expression of courtesy but a statement of truth and honesty.

The central interest of SV consists in criticising Dharmakīrti and his commentators, as is clear from the fact that almost one-third of the text is devoted for the purpose, at the same time other schools of thought such as Cārvāka, Nyāya-Vaiśeṣika, Mīmāṁsā and Sāṁkhya-yoga etc. are brought under critical examination.

Akalaṅkas' pointed references to other systems display not only the caustic remarks, but also embody the proverbial, idiomatic, illustrative and axiomatic statements full of wit and humour, intellect and insight; such as—*anātmajñatā, antargaḍu, andhayaṣṭikalpa, amalālīḍha, aślīlamevākulaṁ, mastake śṛngaṁ, rājapathikṛta, śilāplava, mūṣikālarkaviśavikāra,* . His works are the signal proofs of his acute and profound study of other systems; particularly of Buddhism. He expresses a lot in a few chosen words and phrases, which are above the level of the understanding of common readers. The main target of his searching criticism are Pramāṇavārtika and other works; casually he refers to other schools of Buddhism; but the outstanding example of his pungent criticism is in the context of refutation of Kumārila, who criticises the theory of omniscience.

(e) The style of SVT:

Anantavīrya explains and expands the original words of SV and SVV of Akalaṅka with a view to estimate and evaluate the criticism of other systems by Akalaṅka. Prabhācandra's expression

trailokyodaravartivastuviṣayajñānaprabhāvodayaḥ,
duṣprāpo'pyakalaṅkavasaraṇiḥ prāpto'trapuṇyodayāt,
svabhyastaśca vivecitaśca satataṁ so'nantavīryoktitaḥ,
bhūyānme nayanītidattamanasaḥ tad-bodhasiddhipradaḥ—NKC p. 605

prove the value of Anantavīrya's commentary on Akalaṅka's works. Vādirāja too expresses his gratefulness to Anantavirya whom he compares to a beacon-light so far as the studies in Akalaṅka are concerned[1].

Anantavīrya composes poetic prose bordering on *Campū* to explain the meaning of some sentences; of course, the formidable difficulty of rigid style of Akalaṅka is not easily overcome; even then Anantavirya deserves the highest compliment for his illuminating commentary; besides he was a great terminologist.

There are several popular *proverbs* used in the SVT[2].

[1] *Vyañjayatyalamanantavīryavāgdīpavartiranišaṁ pade-pade*—NVV, Intro. p. 1.
[2] Vide Hindi Intro. Pp. 93-4 for details.

(f) Analysis of the Subject Matter:

We propose now to discuss in detail the problems raised in SV, SVV and SVT bringing out the line of development of ideas in Indian logic in general and those in Jain logic in particular. The problems dealt with in all the chapters of SV etc. will be briefly discussed under four heads: 1. *Pramāṇa-mīmāṁsa*, 2. *Prameya-mīmāṁsā*, 3. *Naya-mīmāṁsā* and 4. *Nikṣepa-mīmāṁsā*.

1. *Pramānamīmāṁsā* includes *Pratyakṣa-siddhi savikalpasiddhi, sarva-jñasiddhi, Pramāṇāntarasiddhi* and *Hetūlakṣaṇasiddhi*.
2. *Prameyamīmāṁsā* includes *Jīvasiddhi* and *śabdasiddhi*.
3. *Nayamīmāṁsā* includes *Arthanayasiddhi*, and *śabdanaya-siddhi*.
4. *Nikṣepamīmāṁsā* discusses the summary of *Niksepasiddhi*.

1. Pramanamimamsa

(i) The Soul and the Knowledge:

Before dwelling on the discussion of *pramāṇa* it seems necessary to bring out the relationship between *ātman* and *jñāna*. At the outset, it can be said that all the systems of Indian Philosophy, with the exception of Cārvāka, accept the *ātman* or *citta* as a separate entity. The soul is the substratum of transcendental knowledge.

According to Vedānt, Brahman which is of the nature of pure consciousness (cit), is the absolute reality or Supreme Truth. The quality of knowing does not constitute the nature of Brahman, for Brahman is above these limitations. This is the function of consciousness associated with *antaḥkaraṇa*[1]. Brahman is of the purest form bereft of duality of the knower and the known.

Puruṣa, in Sāṁkhya system, is of the nature of consciousness (cetana)[2]. Intelligence is not innate to *puruṣa* but an evolute of *Prakṛti*. So as long as the *puruṣa* is in contact with *Prakṛti*, the former is conscious of the functions of intelligence. As a result of the separation of *Puruṣa* from *Prakṛti*, cognitive processes cease to function and the *Puruṣa* remains as pure consciousness[3].

Nyāya-Vaiśesika systems regard *jñāna* as an independent category, though the soul is the substratum. The peculiar feature of Naiyāyika system is that *jñāna* or knowledge is an attribute of the self, and that too, not an essential, but only an adventitious one. When the *ātman* attains

[1] Vedāntaparibhāṣā, p. 17.
[2] Yoga-bhāṣya, I. 9.
[3] Yoga-sūtra, I. 3.

mokṣa the qualities are purged[1] out from it. It is not subject to the functions of knowledge and its accessories. Only at the mundane level it has a relationship with mind; hence it has the function of knowing.

Buddhists propound the beginningless stream of consciousness (*citta*) which takes the form of *ālayavijñāna* and *pravṛttivijñāna*. There is no permanent substance serving as the matrix of this process; when the consciousness is void of influx of *avidyā* and *tṛṣṇā*, it becomes pure. This is the philosophical contention which is subsequent to the doctrines of Gautama Buddha. Buddha himself maintained that nothing can be predicated (avyākṛta) about *citta* at the time of *nirvāna*. Consequently, the concept of *Nirvāna* was explained by the example of a extinguishing lamp, with the result that most of the critics of Buddhist philosophy subscribe to the view that *citta* becomes non-entity at the time of *Nirvāna*. But the authors like Dharmakīrti and others are clear in their mind that there is a continuous stream of *citta*, pure and simple, which is quite different from matter.

Jainism endorses the view of three modes of the substance, *utpāda* (origination), *vyaya* (destruction) and *dhrauvya* (subsistence); every object whether it is material or not, is amenable to these three conditions; it undergoes changes maintaining at the same time the permanent nature; the intrinsic nature itself does not change to the extent of self-destruction nor does it remain ever stationary or *kuṭasthanitya* as in *Upaniṣads*. The *ātman* that undergoes such changes is of the nature of consciousness (upayoga); this consciousness, when it comprehends the external reality is *jñāna* and is *darṣana* when it intuits the self. *Jnāna* is one of the modifications of the soul by virtue of which the object is known. It is quality (guṇa) also, since it modifies into various ways. In fact knowledge is innate and inherent in the soul; verily, *ātman* is knowledge and knowledge is *ātman*; *ātman* is of the nature of *anantacatuṣṭaya* and *jñāna* is one of them. From the standpoint of pure consciousness knowledge (*jñāna*) is a modification, but is *guṇa* also since it has its own modifications.

(ii) Only Jñāna is Pramāṇa:

By the statement—'*pramīyate yena tatpramāṇam*' it should be understood that *Pramāna* is the essential means of right knowledge (pramā). There is a controversy on the point of the means of pramā. Nyāya system holds both *sannikarṣa* (intercourse) and jñāna as means of pramā;[2] for Vaiśeṣika,

[1] Nyāyamañjari, p. 77.

[2] Nyāya-bhāṣya, I. 1. 3.

the *sannikarṣa, svarūpalocana* and *jñāna* are means of *pramā*[1] ; the activities of sense-organs are the instruments of right knowledge in sāṁkhya[2]; Prabhākara regards knowledge (*anubhūti*) as *pramāna*[3] ; Buddhists maintain that non-discrepant knowledge is pramāṇa[4] ; further, they contend that the 'sameness of form' (*sārupya*) and 'capability' (yogyatā) are also accepted as means of *pramā*[5].

Thus it is seen that the means of cognition are jñāna, sense-organs and the conjunction of senses and objects (*sannikarṣa*). Out of these, Jainas endorse the view that knowledge is the only means of *pramā*, since right knowledge (*pramā*) is of the nature of consciousness; that is to say, no non-conscious instruments are admissible as means of *pramā*; of course, sense-organs, their functions, and sannikarṣa bring about knowledge which serves as a valid means of right knowledge (*pramā*). Sense-organs etc., cannot be pramāṇa since the former are mediate means, while *jñāna* is an immediate means of *pramā*. Just as darkness is removed by light, because of contradictory nature, so in order to remove ajñāna, jñāna is necessary; hence *sannikarṣa* etc. which are not of the nature of jñāna, cannot be the means of pramā ; though, sometimes, knowledge is produced out of sannikarṣa etc., it is not produced invariably; hence they cannot be pramāṇa; and knowledge is the guide for purposive actions, it cannot be other than knowledge.

This topic has been discussed in the present volume in details[6].

(iii) Jñāna as Self-cognisance :

According to Mīmāṁsā, Jñāna is non-perceptive (parokṣa) because buddhi itself is known by inference consequent upon the knowledge of objects apprehended by *buddhi*.[7] But as the *buddhi* of ourselves is as imperceptive as the *buddhi* of others, so it is impossible to know the objects by our *buddhi* in as much as we do not know them by the help of the *buddhi* of others. Naiyāyika holds that jñāna is perceived not by itself but by the other knowledge. They argue that anything cannot act upon itself, just as a sharp edge cannot cut itself. But this view remains self-condemned by the example of a lamp which illumines itself and illuminates the objects

[1] *Praśastapādabhāṣya*, p. 553.

[2] *Yogavārtika*, p. 30 ; *Sāṁkhya-Pravacana-bhāṣya*, I. 87.

[3] *Śabarabhāṣya*, 1. 1. 5.

[4] PV, II. 1.

[5] TS, v. 1344.

[6] *Pratipatturapekṣaṁ yat pramāṇaṁ na tu pūrvakaṁ*—SV, I. 3.

[7] *Śabarabhāṣya*, I. 1. 5.

simultaneously. The Naiyāyika view suffers from the fallacy of *infinite regressus.*

Sāṁkhya holds that *buddhi* is the evolute of *Prakṛti*; the contact of *prakṛti* and *Puruṣa* results in the functioning of intelligence.

But rightly understood, *jñāna, buddhi* etc. are one and the same and are of the nature of consciousness; even though they have slight variations, they cannot transgress the limit of consciousness. If puruṣa is inactive, he cannot be the enjoyer; *cetana* and its qualities are self-illuminative just as a lamp.

All schools of Buddhism, irrespective of their differences, are unanimous in holding knowledge as self-cognised. According to Jain tradition, cognition of knowledge itself is always valid, but can be valid or invalid with regard to the objects.

(iv) The Development of Pramāṇa-lakṣaṇa:

All the Jaina Ācāryas have accepted the self-cognition as one of the characteristics of valid knowledge. Samantabhadra and Siddhasena Divakara define *pramāṇa* as the knowledge which is of the self-revelatory character; Siddhasena develops the theory further by adding one more characteristic *bādhavarjita* i.e. admitting of no contradiction. Akalaṅka maintains the non-discrepancy (*avisaṁvāda*) as a test of *pramāṇa* and adds one more characteristic '*anadhigatārthagrāhi*' i.e., knowledge of object which is not yet cognised. Maṇikyanandi summarises the definition of *pramana* in these words *svāpūrvārthavyavasāyātmakam*' PMS, 1.1. previously not ascertained; it ascertains itself.

Vidyānanda holds that *pramaṇā* consists in ascertainment of itself as the object. He finds no necessity to add the characteristic '*anadhigatārthagrāhi*'. Akalaṅka found it necessary to characterise the source of valid knowledge (*pramāṇa*) as *avisaṁvāda.*

We have already discussed *sāṁvyayahārika-pratyakṣa* in the preceding pages, now let us turn to the discussion of *mukhya pratyakṣa* or trancendental perception.

(v) Kevala-jñāna:

Kevala-jñāna is the result of the total destruction of the knowledge-obscuring Karmas; it is the consummation of all knowledge, as a result of which the soul perceives all the substances with all their modifications; it is supra-sensorial and of the purest form with which the soul shines in

its pristine glory. Ordinary knowledge is apprehensive whereas kevala-jñāna or omniscience is all comprehensive.

(vi) The Historical background of the theory of Omniscience:

It is a heritage of the Indian philosophy to advocate the close relation of omniscience with emancipation. The problem that arose before the spiritual aspirants, is the nature of mokṣa and the path constituting it; mokṣa-mārga presupposes the life of religious fervour; hence the problem: 'is realisation possible' arose?

There is a school of philosophers like Śabara, Kumārila etc. who hold that omniscience is impossible on the ground that religion is supra-sensorial; only the Vedas have the final word over such problems, as has been said, '*codanālakṣaṇo'rthaḥ dharmaḥ*'. Naturally the upholders of Vedic authority formulated the theory of man's capability of achieving the super-sensorial knowledge. Besides, man is under the influence of *rāga*, *dveṣa* and *ajñāna* etc., hence they developed the theory that *Vedas* were *apauruṣeya*.

The acceptance of this dogma naturally led the exponents of *Mīmāṁsā* to decry omniscience. Kumārila declares that the denial of omniscience means the denial of perceptual knowledge of religion; the latter is possible only with the help of the Vedas and not by means of sense or super-sensuous perception etc., the Mīmāṁsakas have no objection if any one becomes omniscient by knowing the *Dharma* with the help of the Vedas and all other things by means of other *pramaṇas*[1].

The Buddhists, on the other hand accept that man is capable of perceiving *Dharma*; they support this contention by the example of Buddha who perceived *Dharma* as such in the form of *Caturārya satya*; according to them Buddha realised the great truth of life: that there is sorrow, cause of sorrow, the removal of sorrow and the way of removing sorrow. The fact of revelation of the truth of life implies that he himself should be taken as a *pramāṇa*.

Dharmakīrti does not deny the possibility of omniscience but emphasises the acquisition of knowledge of the essentials; he does not bother about the person whether he knows the things or not, which are not connected with his religious pursuit. Whereas Kumārila rejects the perception of Dharma, Dharmakīrti establishes it.

Prajñākaragupta, the commentator of Dharmakīrti, justifies the arguments of Dharmakīrti, in establishing the *dharmajña*; he further proved the

[1] TS, v. 3128.

sarvajñatva or omniscience, which can be attained by any spiritual aspirant; subject to the subduing of passions[1]. Ācārya Śāntaraksita also proves that omniscient can know each and everything if he wants to know it, because he is void of obscuration of knowledge[2].

Yoga and Vaiśeṣika systems hold that omniscience is a *ṛddhi* or supernatural power which is not necessarily realisable by all unless special efforts are made.

Regarding Jainism, it is maintained that omniscient person perceives all substances with all their modifications related to—past, present and future[3]. It was believed before the period of Logical Reflection that, one who knows one thing knows all things, a fact which is not emphasised by the subsequent authors. Ācārya Kundakunda speaks of omniscience as the Kevali who knows and perceives all things; this is the view of vyavahāra naya or empirical stand point; and Kevali knows only his own self from the transcendental point of view. Obviously, the higher wisdom is evolved from within and not without[4].

In *Pravacanasāra*,[5] he speaks of Kevali as: He, who does not know simultaneously the objects of the three tenses, and the three worlds, can not know even a single substance with its infinite modifications. A single substance has infinite modes; if any one does not know all substances, how will he be able to know one?

To know *ghaṭa* is to know the intrinsic nature of it and knowledge of *ghaṭa* also, since it is the very nature of knowledge to reveal other objects and reveal itself. The ātman has infinite capacity to know all the objects; when one knows such capacity of the self, he has to know all the objects.

Samantabhadra establishes the perception of subtle, obscure and distant objects on the basis of inference.

Ācārya Virasena suggests one more argument for omniscience. According to him, *Kevalajñāna* is innate to the ātman; due to destruction-cum-subsidence of *Karmas* it functions as *matijñāna*; the self-cognised mati implies the fractional *Kevalajñāna*, just as the observation of a part of mount leads us to the perception of the mountain itself.

---

[1] PVB, p. 329.

[2] TS, v. 3328.

[3] *Ṣaṭkhaṇḍāgama, Payaḍi*; *Sūtra* 78; *Ācārāṅga Sūtra* 402.

[4] "Je egaṁ jāṇai se savvaṁ jānai" Acāraṅga Sūtra 123.

[5] *Niyamasāra, gāthā*, 158.

[6] *Pravacanasāra*, I. 47-49.

Jain Ācāryas did not emphasise like Dharmakīrti on *dharmajña* but endeavoured to establish an omniscient person who must be *dharmajña* as well. Akalaṅka, following his predecessors, says that the soul has the inherent capacity to comprehend the substance; if it does not, it is due to the obscuration of that capacity by the veil of Karmic bondage; the destruction of Karmas will result in the perception of all things[1]. Further, he establishes the soundness of this doctrine in Siddhiviniscaya:

If supra-sensorial knowledge is inadmissible, how can we have the non-discrepant astrological divinations? Hence it must be accepted that there is a faculty of knowledge which is super-sensuous and this type of knowledge is nothing but Kevalajñana or omniscience[1].

The very progressive gradation of knowledge necessarily implies the highest magnitude of knowledge attainable by man[1]. If a person has no capacity to know all, by means of Veda also he will not be able to know all;[2] hence the vindication of the concept of *sarvajña*. Impossibility of omniscience cannot be established without the knowledge of persons of all times. That is to say, one who rejects *sarvajña* for all times must be a *sarvajña*[3]. In this way, after giving the positive arguments, he relies on the negative argument that it is certain, there is no contradictory *pramāṇa*[4] to reject the established omniscience; he substantiates this argument by examining the various so-called contradictory *pramānas*[5].

Mahāvīra, the last tīrthankara of the Jainas, was reputed as an omniscient person; it is said that he was conscious of all the objects and at all times. It is perhaps, for this reason that Buddha himself declared as the knower of four Noble Truths and refused to believe that he was a sarvajña.

This is attested by the contemporary Pali Piṭakas which often redicule the idea; and later Buddhist scholars like Ācārya Dharmakīrti refer and ridicule the omniscience of Ṛṣabha and Mahāvīra as a fallacy of dṛṣṭānta[6]. Briefly, Mahāvīra was a *sarvajña* and Buddha a *dharmajña*; as the consequence of this, the Buddhist philosophers are less interested in discussing the concept of sarvajña, whereas the Jaina works are exhaltant and exhuberant on this problem.

[1] SV, VIII. 8.
[2] ibid, VIII. 3.
[3] ibid, VIII. 10, 14.
[4] SV, VIII. 12-18; vide also AGT, intro. 11. 55-56; NVVV, II, intro. p. 26-27.
[5] 'asti sarvajnah suniscitasambhavad-badhaka-pramanatvat sukhadivat.—SVV, VIII. 6.
[6] Nyāyabindu, III. 131.

Accepting the fact that knowledge is an essential characteristic of *ātman*, there is hardly any doubt to hold that the omniscience will be the result of total destruction of the veil of *Karmas*; whatever may be the empirical tests of omniscience, the intrinsic purity and capability of perfection of the soul are unquentionable.

(vii) Parokṣa Pramāṇa:

Indirect valid knowledge is of two kinds: (1) mati and (2) śruti[1]. It is believed that *smṛti*, *saṁjñā* (*pratyabhijñāna*), *cintā* (*tarka*), *abhinibodha* (*anumāna*) and *śruta* (*āgama*) are to be held as parokṣa,[2] the only difficulty was with *mati*, because of its sensuous nature; this difficulty was solved by calling it as an empirical perception (*sāmvyavahārika pratyakṣa*).

Akalaṅka regards *anumāna* as *manomati* in LTv. 67, and as *śruta* in TV, I. 20; anumāna is for one self which has the verbal designation (*anakṣaraśruta*) and the inference for others which is designated by words (*akṣaraśruta*).

Akalaṅka puts *smṛti* (memory), *pratyabhijñāna* (recognition), *cintā* (discursive thought) and *abhinibodha* (perceptual cognition) under mental perception (manomati)[1] when they are not associated with words; and all these when associated with words, are brought under *śruta*[3].

The problem arises regarding the exact line of demarcation between *pratyakṣa* and *parokṣa*. Akalaṅka himself makes it sufficiently clear. The problem is solved by the definition of parokṣa—parokṣa is non-distinct knowledge; distinct knowledge is independent of other knowledge; sensuous and mental perceptions are distinct, because they do not depend upon other knowledge, while *smṛti* etc. are dependent on other knowledge and hence indistinct or *parokṣa*[4].

Cārvāka philosophy believes only in pratyakṣa derived from the sense-organs; hence *parokṣa* has no place in this materialistic system; naturally, non-discrepancy is not beyond the verification of sense-organ.

While rejecting this view, Akalaṅka states that establishment of validity or invalidity is not possible without accepting the validity of *anumāna*.

---

[1] TSu, 1-10.
[2] LT, v. 67.
[3] LT, v. 10; SVV, 1. 27.
[4] LT, v. 4.

1. *Smṛti*, memory involves the knowledge of the past; it presupposes a chain of experiences which result in precipitation of *samskāras*; these very *saṁskāras* give rise to recollection of the past. It is valid knowledge because of its non-discrepancy[1].

According to Vedic school, *smṛti* is valid only in conformity with the dictates of *śruti*; in other words, *śruti* is self-evident knowledge itself, while *smṛti* is dependent upon it; it has no validity of its own.

Though Jayanta Bhaṭṭa believes in invalidity of *Smṛti*, he explains differently. According to him, *smṛti* is invalid, because it is not produced by the object[2]. Smṛti is valid because it is just opposite to *vismaraṇa*, *saṁśaya* and *viparyaya*. It cannot be invalid even if it is dependent on previous experience; for, the validity is not necessarily conditioned by the dependence or independence of experience; otherwise even the inference will not be valid; therefore, *smṛti* is *pramāṇa*, since there is non-discrepancy involved in it.

2. *Pratyabhijñāna* or Recognition is the synthetic result of perception and recollection;[3] it is of nature of 'that necessarily is it'—*tadevedaṁ* (judgment of identity), 'it is like that'—*tatsadṛśaṁ* (judgment of similarity) 'that is dissimilar to that'—*tad-vilakṣaṇaṁ* (judgment of dissimilarity), 'this is different from that'—*tatpratiyogi* (judgment of difference), and so on. 'That necessarily is it' or *tadevedam* and others are discussed in detail elsewhere.[4] All these types of recognition when they do not admit of discrepancy or contradiction, are *pramāṇas* by themselves.

Now an attempt will be made to meet the objections of other schools of Indian philosophy who deny it as *pramāṇa*.

The Buddhists observe that it is not a unique knowledge, but two cognitions are taken to be one viz., recollection indicated by the word 'that' and perception indicated by 'this'[5].

This objection of Buddhists is on a slippery ground. They raise this objection in conformity and consistency with their position of the philosophy of flux or momentariness; naturally any cognition involving '*sa evāyamiti*' is illusory.

[1] SV, III. 2.

[2] *Nyāyamañjarī* (Vijayanagaram), p. 23.

[3] SVV. III. 4-5; LTV v. 10 & 21, PMS, III. 5.

[4] See the author's *Jaina-Darśana*, pp. 322ff.

[5] PVB, p. 51; PVVT, p. 78.

Rightly understood the object which is envisaged by recogniton cannot be comprehended by recollection and perception combined together. The sphere of recognition presupposes the substance in its relation to its antecedent and subsequent model conditions. Certainly, this identity cannot be the object of recollection (*smṛti*).

The Naiyāyikas maintain that recognition is nothing but a species of perception[1]. This is not correct: perception has its own limitations, since it refers to the actually present data only. Hence perception cannot be said to include the past data. Further, they argue that perception is assisted by memory which helps to recognise the object seen before. This view also is not beyond contradiction, since sense-organ although aided by memory cannot proceed beyond its sphere. Hence the correct positoin is to hold that the cognition of identity directly evolves out of the self, supported by unseen potency.

3. *Tarka* or inductive reasoning is an independent valid knowledge; because to know the concomitance there is no other valid means than *tarka*. If concomitance is not known there is no possibility of inference[2].

4. *Hetu:* In SV Akalaṅka gives special attention to *hetu*, because he already has discussed the definition of *anumāna* and its component parts elsewhere in detail[3].

Keeping in view the three characteristics *pakṣadharmatva* etc. of *hetu* accepted by the Buddhists[4] Akalaṅka establishes that only the *anyathānupapatti* or the *vipakṣavyāvṛtti* is the essential characteristic of *hetu*. He has explained that *anyathānupapatti* or *vipakṣavyāvṛtti* is nothing else than *avinābhāva* or *vyāpti*[5]. There are certain cases where *hetu* is devoid of its characteristics of *pakṣadharmatva* just as the rising of *Rohiṇi* in future is inferred on seeing the rise of *Kṛttikā*[6]. Further Akalaṅka argues that their most favourite *hetu*, *sattva* establishing the momentariness is such that it has no *sapakṣasattva*; and still they believe that *sattva* is a valid *hetu*. So it is quite clear that *sapakṣasattva* cannot be an essential characteristic of *hetu*[7]. According to the Buddhists *avinābhāva* is conditioned by the relation

[1] Nyāyamañjari p. 224, 461.
[2] SV. III. 8, 9.
[3] Vide NV, Ch. II; see also AGT, Intro. p. 58ff.
[4] *Nyāyapraveśa*, p. 1.
[5] SVV, VI. 2.
[6] SV, VI. 16.
[7] SV, VI. 16.

one of them may be there, but there are certain cases where we do not find either of them conditioning *avinābhāva* just as we can give an example of the above mentioned inference about the relation of *Rohiṇi* and *Kṛttikā*[1].

When Akalaṅka did not accept the condition of *tādātmya* and *tadutpatti* as conditions of *avinābhāva*, it is but appropriate for him to reject the classification of *hetu* based on them; and instead of only three types of *hetu* (*svābhāva*, *kārya* and *anupalabdhi*), Akalaṅka accepted *Kāraṇa*, *pūrvacara*, *uttaracara* and *sahacara* also[2].

Special attention is given to establish *Kāraṇahetu*, because this was not accepted by the Buddhists; Akalaṅka has given many instances where the effect can be inferred with the help of cause (*kāraṇa*)[3]; while discussing *kāraṇahetu* he expressly mentions that we should see that only such cause may be taken as *hetu* which is sure to produce the effect. And such thing is possible when all other causes are present and there is no non-existence of obstruction (*pratibandhakābhāva*).

Dharmakīrti maintained that only through *dṛśyānupalbdhi* one is able to infer the non-existence of a certain thing but the *adṛśyānupalabdhi* produces the doubt about the non-existence of a certain thing[4]. With regard to this Akalaṅka maintains that the meaning of *dṛśya* should not be taken as 'perceived' only but it should be taken as 'cognised' by any of the valid knowledge, be it *pratyakṣa* or other than *pratyakṣa*. So according to Akalaṅka the object which is non-sensuous can be negativated as the non-existence of consciousness is inferred in a dead body by certain signs[5]; otherwise even this cannot be decided whether a person is a ghost or not[6].

Akalaṅka has exhaustively classified *hetu* in his other works[7].

5. *Hetvābhāsa*: According to the Buddhists and Naiyāyikas the classification of *hetvābhāsa* was dependent upon the characteristics of *hetu*. Buddhists maintained the three characteristics, hence there are three *hetvābhasās*, viz., *asiddha*, *viruddha* and *anaikāntika*, whereas the Naiyāyikas accepted the five characteristics, accordingly there were five types of *hetvābhāsas*, viz., three mentioned above plus *prakaraṇasama* and *asatpratipakṣa*

[1] SVV, VI. 2, 3.
[2] SVV, VI. 9, 16.
[3] SV, VI. 9; LT, v. 13.
[4] *Nyāyabindu*, II. 28-30, 46, 48, 49.
[5] SV, VI. 35; *Aṣṭaśatī* and *Aṣṭsahasrī*, p. 52.
[6] SV, VI. 36 and LT, v. 15; vide Hindi Intro. p. 118 for details.
[7] *Pramāṇasaṁgraha*, IV, p. 104ff; vide AGT, Intro. p. 16.

But as Akalaṅka rejected more than one characteristic so it was not possible for him to classify exactly the types of *hetvābhāsas*; This explains the various classifications available in Akalaṅka's works. He explicitly says that there is only one type of *hetvābhāsa* and that is *asiddha*[1] which is the resultant of the absence of *anyathānupapatti* and as there are various causes of the absence of *anyathānupapatti*, the *asiddha-hetvābhāsa* can be variously classified.

In NV (II. 195) we find:

anyathāsaṁbhavābhāvabhedāt sa bahudhā smṛtaḥ,
viruddhāsiddhasandigdhairakiñcitkaravistaraiḥ.

and in *Pramāṇasaṁgraha* (vv, 48-9) we find many more than mentioned in these words: *ajñātaḥ saṁśayāsiddhavyatirekānanvayāditaḥ*; the idea is expressed in SV (VI. 32). In this regard there is no unanimity in the followers of Akalaṅka. Vidyānanda and others classified *hetvābhasas* in three types[2] just as the Buddhists, while Māṇikyanandi and others classified them into four,[3] adding one more type, viz., *akiñcitkara*. It should be notedh ere that though Māṇiyanandi accepts the separate class of *akiñcitkara* still he maintains that *akiñcitkara* is the result of the error in *pakṣa*. So one should be cautious in debates not to use such *hetu*[4].

6. *Vāda* (debate): Generally Caraka, the Naiyāyikas, and the Buddhists describe the nature of debate; according to the Naiyāyikas, debate is of three types—*vāda, jalpa* and *vitaṇḍā*; *vāda*, generally, is between the teacher and the taught or between colleagues; while *jalpa* and *vitaṇḍa* take place where one of the parties is desirous of conquerring the other; so in such debates unfair means (*chala, jāti*) are allowed. The aim of such debate is accepted as defending ones' own doctrines;[5] but of the former, difference between *jalpa* and *vitaṇḍā* theory by friendly discussions. The i.e. *vāda* is to arrive at a certain is that in *jalpa* each of the participants has his own theory to defend while in *vitaṇḍā* one of them is not to establish his own theory but only refutes that of the opposite.

In Caraka *Vimānasthāna* the word *sandhāya-sambhāṣā* is used for the *vāda* while the term *vigṛhya-sambhāṣā* for *jalpa* and *vitaṇḍā*. Though Naiyāyikas accept that, employment of *chala* (duet) and *jāti* (self-confuting reply) is not proper, since they are unfair means. Still there are certain

[1] NV, II. 365; SV, VI. 32; TSLV, p. 259.
[2] *Pramāṇaparīkṣā*.
[3] *Parikṣāmukha*, VI. 21.
[4] *Parīkṣāmukha*, VI. 39 vide Hindi Intro. p. 121.
[5] *Nyāyasūtra*, IV. 2-50

occasions when het opposition is so strong that one is not able to defend his theory by fair means with the result that his simple-minded followers may reject the theory and accept the opposite and may thus be misled. Only to avoid such occasions one is to resort to unfair means.[1]

In ancient Buddhist logical works the position of Naiyāyikas with regard to debates seem to have been accepted[2]. But seeing that such unfair means are not consistent with the fundamental moral tenets of Buddhism, Dharmakīrti denounced the employment of unfair means in debates[3].

Akalaṅka has also accepted this position and upholds the theory of employing fair means for right aims[4]. Most of the Jaina authors after Akalaṅka follow him with the exception of Yaśovijaya, who like old Buddhists, accepted the use of unfair means in exceptional cases[5]. When there was no place for unfair means in debates, the difference between *vāda* and *jalpa* was reduced to nothing and as regards *vitaṇḍa*, Akalaṅka has clearly stated that it is the fallacy of *vāda* ;[6] so for Akalaṅka, there remains one type of debate, viz. *vāda*,[7] which is also termed as *jalpa*[8].

7. *Jaya-parājaya* : When unfair means were allowed by theNaiyāyikas and old Buddhists, such unfair means also were thought proper for the victory of one and defeat of the other, hence elaborate exposition and training weree mployed which can be seen in their respective works[9].

Dharmakīrti[10] was the first person to criticise such unfair means and established that the *vādi* should not employ such words which are not tantamount to establish (*asādhanāṅgavacana*) the proposition and if he does not expose the drawbacks of the opponent (*adoṣodbhāvana*), he is defeated. The *prativādi* is defeated if he is blaming the opponent wrongly and is not able to find the faults of the opponent. Though we see that Dharmakīrti reduced the great number of *nigrahasthānas* into two viz. *Asādhanāṅgavacana* and *adoṣodbhāvana*, but he was himself entangled in various explanations of

---

[1] *Nyāyamañjarī*, p. 11.
[2] Vide *Upāyahṛdaya* and *Tarkaśāstra*.
[3] *Vādanyāya*, p. 71.
[4] SVV. V. 2.
[5] *Vāda-dvātriṁśatikā*, VIII. 6.
[6] NV, II. 384.
[7] *Pramāṇasaṁgraha*, v. 51.
[8] SV. V. 2.
[9] NS. Ch. V.
[10] *Vādanyāya*. v. 1.

those words and further, the definition of *sādhana* and *doṣa* was such that the problem was not solved efficiently. The insurmountable difficulties were awaiting the final solution and this was briliantly solved by Akalaṅka.

Akalaṅka[1] clearly says that if one is able to establish his own *pakṣa*,[2] it is *jaya* for him and defeat for the other, it is needless to state that according to Akalaṅka, the establishment of one's own theory is possible only by means of right reasoning. This constitutes the essential device in debates.[3]

8. *Āgama*: Before discussing the validity of *āgama*, it is necessary to know the views about the nature of *śabda* according to the Jains. In Jaina *āgamas*,[4] the *śabda* has been established as having material nature (*pudgala*). Ācārya Akalaṅka has given arguments in favour of this theory and on the analogy of shadow and sunshine has firmly established the material nature of word[5] and rejected the theory of the Naiyāyikas that the *śabda* is the quality of the sky. Further he has vehemently criticised the eternity of the word accepted by the *Mīmāṁsakas*,[6] and has also criticised the *sphoṭa* theory of *Vaiyākaraṇas*.[7] For the Jains, unlike the Mīmāṁsakas, the scriptures are the collection of the preachings of the *Tirthaṅkaras*. So it was necessary for Akalaṅka to refute the Vedic tradition of *apauruṣeyatva*[8] and to establish the origin of the *āgamas*. Akalaṅka has rejected the validity of the *āgamas* established on the strength of *apauruṣeyatva*; and, affirmed the validity of the *āgama* on the strength of the virtues of the speaker.[9] Thus, the scriptures of the Jains take the place of *śruti* and further, the scope of the *āgama-pramāṇa* is expanded when he says that anyone knowing and describing a thing *as such* becomes *Āpta*.[10] So, not only the *Tirthaṅkaras* but an ordinary person can be an *āpta* in a limited sphere. Further a lively discussion on the meaning of words and the relation of words and the meaning is found in Akalaṅkas works, especially in SV. Akalaṅka has refuted in this connection the *apoha* of the Buddhist and other theories.

---

[1] SV, V. 1, 2.

[2] *tadukta-svapakṣasiddhirekasya nigraho'nyasya vādinaḥ—Aṣṭasahasrī*, p. 87.

[3] Vide Hindi Intro. p. and *Jaina Darśana* p. 372ff.

[4] Uttarādhyayma-Sūtra, XXVIII, 12. 13; TSu. V. 24.

[5] SVT, IX. 2ff.

[6] SV, VI. 2ff.

[7] SV. VI. 5ff.

[8] SV VII, 28. 29.

[9] ibid, VII. 30.

[10] *Aṣṭaśatī*, and *Aṣṭasahasrī*, p. 236; Vide Hindi Intro. p. 126 ff.

2. Prameya-Mimamsa

Jainism is frankly realistic and pluralistic; in other words, it is pluralistic realism: realistic, because it believes in the existence of external world which includes substances, the existential entities, that are infinite and beginningless; and pluralistic in so far it asserts the infinite number of souls, infinite number of material atoms, innumerable atoms of *kāla* (time); and *dharma, adharma* and *ākāśa*, one each. The following *gāthā* (PaS, 15) summarises the metaphysical position of the Jainas:

bhāvassa natthi nāso natthi abhāvassa ceva uppādo,
guṇapajjaesu bhāvā uppāyavayaṁ pakuvvanti.

That is, neither an existent is destructible nor anything comes into existence afresh. All substances, with their various qualities and modifications, are coupled with origination, destruction and permanence; all the existents are permanent, i.e. they are so of all times; the number is neither diminished nor increased since the number of existents is fixed. The truth is *ex nihilo nihil fit*.[1]

As referred already, that *sat* is subject to *utpāda, vyaya* and *dhrauvya*; each substance takes the form of one modification, leaves it and develops some other quality; this mode of change is applicable to both types of existents: *cetana* and *acetana*; because the change is the core of reality; it has been never stopped nor will it have an end still. The substance retains its nature in the process of change; it does not allow any foreign element in it, for the substance is self-existent in itself.

It is the very nature of substance to persist inspite of transformation it undergoes every instant. The production of one, in this process is the destruction of the other and *vice versa*; the thoery of causality pervades the ontology. It is interesting and instructive to note the differences of Buddhists and Jainas, in connection with their views on the problem of *santāna* (continuum) and *dhrauvya* (permanance). Just as the Jainas regard the continuous modifications of the substance as production and destruction, Buddhists hold the constant flux of objects. Jainas believe in incessant modifications of the substance. According to Buddhists though there is flux continuity is expressed by the word *santāna*. According to the Jainas in spite of the modifications there is continuity expressed by the word *dhrauvya*. Both the Jainas and Buddhists believe that there is nothing which is without any change. So it is certain that both the Jainas and Buddhists believe that a particular component of *paryāya* or santāna is not

[1] Cf. *Gitā*, II p. 16.

transferred to another substance or *santāna* Naturally there arises the question regarding the exact line of demarcation between *santāna* and *dhrauvya*.

The Buddhists clearly maintain that there is continuity of the stream (*santāna*) but the experience of continuity in itself is an illusion because of the momentariness of the Knower and the Known. To illustrate this illusion they cite the example of an army and a line[1]. They say the army is an abstract idea, so is the line (*pankti*), because though there is the reality of the soldiers etc. there is no substantial reality of an army as anything other than the soldiers.

So they maintained that *citta-santāna* has an end. This tantamounts to the saying that there is no *santāna*. So in this way, the very criterion of reality that the element is indestructible, is contradicted[2].

The Jainas here maintained that *dhrauvya* is not an illusion, it is just real in as much as the componants of the *santāna* are real. So there is no question of cessation of continuity of any existent. Even in Mokṣa, the soul in its pristine purity continues this momentary change and this fact of the Jainas permeates all the existents.

The reality is also defined as universal-cum-particular; the universality is of two types: the *dhrauvya* called *ūrdhvatāsāmā- nya*, continuity in time of a particular substance, also known as *dravya* and *ekatva* and the other type known as *tiryak-sāmānya*, which is *sādṛśya* or similarity of various substances. This type of universality is not permanent and allpervasive, as held by the Naiyāyikas, but is extended to the limit of a particular. So according to the Jainas this universality is many in kind and not one. Particulars are also of two types: one type is called *paryāya* of a particular substance and the other is the *vyatireka* i.e. independent substances spread out in the space.

To summarise, when the real is defined as *dravyaparyāyātmaka*, the substance is taken as *dravya* and its mode as *paryāyas*; and when the reality is defined as *sāmānya-viśeṣātmaka*, the *sāmānya* is taken as substance and *viśesa* as *paryāya*; moreover, the similarity is taken as *sāmānya* and individuality is taken as *viśeṣa*.

---

[1] *Santānaḥ samudāyaśca panktisenādivanmṛṣā*, Bodhicaryavatāra, p. 334.

[2] The later philosophers like Dharmakīrti etc, surrender their position by accepting that even in Nirvāna, *citta* continues its *santāna* as pure one. Vide TS, p. 184.

Keeping in view this theory of reality, Akalaṅka has criticised the Vedānta's absolutistic theory of one *Brahma*[1], the sāṁkhya's oneness of *prakṛti*[2], the independent *sāmānya* and *viśeṣa* which are the eternal entities according to Naiyāyikas,[3] the *śabdabrahma* of Vaiyākaraṇas,[4] *apoha* of the Bauddhas etc.[5]

3. Naya-mimamsa :

According to the Jains reality is of the nature of *anantadharma* or infinite attributes. The comprehension of all these attributes is not possible by an ordinary person, only an omniscient can have the comprehension of all the attributes ; so it is but natural that in relation to reality the ordinary cogniser may have the various modes of apprehensions because of his limitations as a result of his incompetency, liking and disliking and various such factors. These modes are termed as *nayas*. Akalaṅka defines *naya* as *jñātṛṇām abhisandhayaḥ khalu nayāḥ te dravyaparyāyataḥ* (SV. X. I). The Jaina philosophers have classified the modal apprehensions into *nayas*: *dravyārthika* and *paryāyārthika*. The mode of apprehension which takes into consideration the universal, comes under *dravyārthika* ; and the mode of apprehension which takes into consideration the particular, is *paryāyārthika*. They are called respectively *dravyāstika* and *paryāyāstika* also (TV. I. 33).

The relation between *naya* and *pramāna* is discussed by Akalaṅka. He is of the opinion that when one comprehends a substance on the ground of a particular attribute, that is to say, when he cognises the whole reality (*sakalādeśa*) through a particular attribute, it is called *pramāna* ; and when a person cognises the attributes of reality (*vikalādeśa*), it is called *naya* ; the reality as the aggregate of all the attributes is the object of *pramāna* while a particular attribute of the reality is *naya*.

So it is quite clear that *naya* is the outcome of the comprehension of *pramāna* and that *pramāna* is none other than *śrutajñāna*[6].

It is obvious, that various schools of philosophy are the outcome of the absolutist view of a substance giving emphasis on certain aspects with the result that they reject downright the other aspects of reality.

[1] SV. VII 9, 10, X 10, XII 10.
[2] Ibid IV 15-20.
[3] Ibid IV 23.
[4] *Ibid* XI 5.
[5] *Ibid* IX 13.
[6] Ibid X 3.

Keeping such views in mind Akalaṅk has classified the *nayas* into right (*sunaya*) and wrong (*durṇaya*).[1] That is to say that *sunaya*, though gives preference to one of the attributes, does not reject others; on the other hand, *durnaya* not only prefers but endorses that and rejects the rest.

Briefly we can say that *pramāna* comprehends one and all, *naya*, one, *durnaya* rejects other than one[2].

The aforesaid two *nayas* are further subdivided into seven: *naigama*, *saṁgraha* etc.[3] These seven are classified again into *arthanaya* and *śabdanaya*; the first four—*naigama*, *saṁgraha*, *vyavahāra* and *rjusūtra* are called *arthanayas*; and the rest viz., *śabda*, *samabhirūḍha* and *evaṁbhūta* are *śabdanayas*.[4]

Akalaṅka has attempted to include the various schools of Indian philosophy into *durnayas* related to the seven *nayas*.[5]

The statement of *naya* is to be qualified by the word '*syāt*' which denotes the other attributes of a substance, which are not expressed by the statement. Some scholars, both modern and ancient, have wrong notions about this word. But Akalaṅka is manifestly clear that it does not denote the doubt,[6] indecision and such other knowledge but it only asserts a certain point of view and denotes the existence of the other attributes not expressed by the words. Though sometimes some *naya* statements do not have this word, still it is to be understood.

The topics related to the *nayas* such as the definition and the scope of each *naya* and *nayābhāsa*,[7] *syādvāda*, *saptabhaṅgi*, *sakalādeśa*, *vikalādeśa* etc., are exhaustively dealt with elsewhere.[8] So it is needless to dwell at greater length.

4. Nikshepa-Mimamsa

One of the means to know the reality is *nikṣepa* or explaining the meaning or the connotation of the word. Jaina philosophers have devoted much attention to this aspect. They have evolved a special system of commenting on the old scriptural texts on the basis of *nikṣepas*. The

[1] SV, X. 4.

[2] *Aṣṭaśatī*, *Aṣṭasaharī*, p. 290; for the relevant quotation vide *infra*, p. 64.

[3] SV, X. 1.

[4] Ibid

[5] Ibid, X. 1.

[6] Lt, V. 62-63.

[7] Hindi Intro, p. 144-149.

[8] Introductions to AGT, NVV; and *Jainadarśana*, pp. 475-617.

words have various connotations and denotations and to find out the exact meaning out of them, which would fit in the context, is the aim of *nikṣepas*. The words sometimes connote the knowledge, sometimes external objects and also the words. So in order to remove the confusion the procedure of *nikṣepa* is essential to arrive at the right meaning. Just like *nayas*, *nikṣepas* are also of various types. But briefly they are classified into four : *Nāma*, *Sthāpana*, *Dravya* and *Bhāva*.[1] Akalaṅka explains this in these words :

nikṣepo'nantakalpaścaturavaravidhaḥ prastutavyākriyārthaḥ,
tattvārthajñānaheturdvayanayaviṣayaḥ saṁśayacchedakārī.[2]

The *nāma-nikṣepa* deals with the words without their connotation. The *sthāpanā* deals with the meaning related to knowledge and *dravya* and *bhāva* deal with the external objects.

Now let us illustrate these *nikṣepas* taking the word *Indra* as an example. A person named Indra without any quality or capacity of the heavenly god Indra, is known by the name (*nāma*) *Indra*. Here the word Indra denotes only the name. The idol of Indra is also called Indra ; but there is difference between a person called Indra and an idol called by that name. The person called Indra does not get that reverence which is due to an idol of Indra, because the idol of Indra is taken to represent the real Indra. So the idol can be called by the name Indra as well as the synonyms of Indra just like Śakra, Purandhara etc. But a person named Indra cannot be called by the above mentioned synonyms. The person who is to take birth as Indra is also called Indra and a person who has abandoned the position of Indra is also called Indra. This is the dravya-*nikṣepa* which takes into view the past as well as the future mode of a particular thing. When the word connotes its real meaning it is called *bhāva* ; when Indra itself is called Indra, it is *bhāva*.

In common parlance of life, there are certain occasions when we attach importance to the *nāma* only and on other occasions we are concerned ourselves with *sthāpanā*, just as while playing chess we are not concerned with actual horses etc. but their representatives ; and we see, for example, the boy is satisfied with the toy-horse instead of a real one.

The relation between *naya* and *nikṣepa* is also explained. The *nāma*, *sthāpana* and *dravya* are the objects of *dravyārthika-naya*, while the *bhāva* is the object of *paryāyārthika-naya*.

[1] SV, XII. 2.
[2] Ibid. XII. 1.

I have dealt with all these topics in detail in my book *Jaina-darśana* and the Hindi Introduction of the present volume and other introductions to various Jaina philosophical works edited by me; most of them are of Akalaṅka. While discussing these subjects, the historical development and the philosophical aspect are taken into consideration. They are also discussed in a comparative manner, comparing each view with those of other systems of Indian philosophy. So repeation seems unnecessary here.

प्र स्ता व ना

इस प्रस्तावना के तीन भाग हैं—

१ सम्पादन सामग्री और उसकी योजना, २ ग्रन्थकार और ३ ग्रन्थ।

सम्पादन सामग्री और उसकी योजनामें प्रति परिचय, संस्करण परिचय और मुद्रण क्रम आदि का वर्णन होगा।

ग्रन्थकार विभागमें **अकलङ्क देव** और **अनन्तवीर्य** के व्यक्तित्वका परिचय और कालनिर्णय आदि होंगे।

ग्रन्थ विभागमें सिद्धिविनिश्चय और उसकी टीका में प्रतिपादित विषयों का ऐतिहासिक क्रमविकास की दृष्टि से तात्त्विक प्रतिपादन होगा।

१ सम्पादनसामग्री और उसकी योजना–

अकलङ्ककी अलभ्य कृति–

मध्यकालीन भारतीय दर्शनके इतिहासमें मीमांसकधुरीण कुमारिल और तार्किकचक्रचूडामणि बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति की तरह स्याद्वादपञ्चानन तर्कभूवल्लभ भट्टाकलङ्कदेव भी युगप्रवर्तक आचार्य थे। ये जैन प्रमाणशास्त्रके व्यवस्थापक और प्रतिष्ठापक महान् ज्योतिर्धर थे। युग युग में ऐसे विरल पुरुष-पुङ्गव होते हैं जिनके बिना वह युग हतप्रभ और निरालोक कहा जाता है।

प्रस्तुत संस्करण में इन्हीं अकलङ्कदेवकी सुप्रसिद्ध किन्तु अलभ्य कृति सिद्धिविनिश्चय अपनी स्वोपज्ञवृत्ति तथा अनन्तवीर्यकृत टीका के साथ प्रथम बार प्रकाशित हो रही है। इनमें मूल सिद्धिविनिश्चय तथा उसकी स्वोपज्ञवृत्ति का कोई हस्तलेख कहीं पर भी उपलब्ध नहीं हो सका। टीका से एक एक शब्द चुन-चुन कर उनका अस्तित्व प्रकाशमें लाया जा रहा है।

प्रति परिचय–

सिद्धिविनिश्चय टीका की एकमात्र प्रति श्रद्धेय डॉ० पं० सुखलालजी को उनके सन्मतितर्कके सम्पादन काल (सन् १९२६)में कोडाय ग्राम (कच्छ) के जैन ज्ञानभंडारसे उपलब्ध हुई थी। इसका उपयोग उन्होंने सन्मतितर्कके सम्पादनमें यत्र-तत्र किया है। इस प्रतिमें सिद्धिविनिश्चयके मूल श्लोक तथा मूलवृत्ति-गद्यभाग पृथक् नहीं लिखे गये हैं और न कोई भेदक चिह्न ही दिया गया है जिससे यह ज्ञात हो सके कि ये शब्द मूलश्लोक और मूलवृत्तिके हैं। १८ हजार श्लोक प्रमाण इस टीकाग्रन्थरूपी समुद्रमें वे मूल रत्न यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं।

प्रति पडिमात्रामें लिखी हुई है। अक्षर बाँचने लायक होने पर भी यत्र-तत्र घिस गये हैं। कई पत्रोंके एक दूसरेसे सट जानेके कारण अक्षरोंकी दुर्गति हो गई है। प्रति अशुद्धियों का भण्डार है। प्रत्येक पृष्ठमें दस

पन्द्रह अशुद्धियोंसे कम न होंगी। संस्कृत भाषाके लेखकोंमें संयुक्ताक्षरों तथा सदृश अक्षरोंको अन्यथा पढ़नेसे बहुतसी अशुद्धियाँ हो जाती है। अशुद्धियोंके कुछ कारण ये हैं—

पृ०	१	पं०	८	स्व और स का भेद नहीं कर पाना	स्वैरं	सैरं
पृ०	२	पं०	७	श और स ,, ,, ,,	दिशति	दिसति
पृ०	३	पं०	१३	प और व ,, ,, ,,	पीता-	वीता-
पृ०	६	पं०	६	त्र और त्र ,, ,, ,,	तत्र	तत्र
पृ०	६	पं०	१७	च और व प और य ,, ,,	वायदिस्य	चापदिश्य
पृ०	९	पं०	८	ला और ल्ला ,, ,, ,,	नीला	नील्ला
पृ०	१९	पं०	२७	त और न ,, ,, ,,	ननु	ननु
पृ०	४०	पं०	२१	क और व ,, ,, ,,	एक	एव
पृ०	२१४	पं०	१४	च और व ,, ,, ,,	चित्क्षण	वित्क्षण
पृ०	३२६	पं०	११	स और भ ष्य और व्य ,, ,,	साध्य	भाव्य
पृ०	५५५	पं०	९	ण्य और न्य ,, ,, ,,	मण्यादी	मन्यादी
पृ०	५६७	पं०	२४	त और व ,, ,, ,,	तजा	वजा
पृ०	६५३	पं०	२९	श्व और स्व ,, ,, ,,	इशार्थ	स्वार्थ
पृ०	७०९	पं०	२३	ब्द और ब्द ,, ,, ,,	शब्दाब्द	शब्दाब्द
पृ०	७०९	पं०	९	ट और ड ,, ,, ,,	कट	कड
पृ०	७१२	पं०	८	च्छ्र और द्ग्र ,, ,, ,,	तच्छ्रवण	तद्ग्रवण
पृ०	७२०	पं०	१०	भ्य और त ,, ,, ,,	तेभ्यः	तेतः
पृ०	७३३	पं०	१३	स्व और एव ,, ,, ,,	स्वभाव	एवभाव
पृ०	७३७	पं०	२	न और व ,, ,, ,,	नयः	वयः

इत्यादि। ह्रस्व का दीर्घ, दीर्घ का ह्रस्व, अनुस्वार का अभाव, सदृश शब्दोंके कारण पाठ छोड़ना या दो बार लिख देना आदि जितने अशुद्धियोंके कारण हो सकते हैं उन सबके उदाहरण इस प्रतिमें मिल सकते हैं। यह प्रति पड़िमात्रामें लिखी गई है, अतः कुछ अशुद्धियाँ 'ए'की मात्राको ठीक न पढ़नेके कारण भी हुई हैं। न्यायशास्त्रके ग्रन्थोंमें ननु और ननुका विपर्यास अर्थका अनर्थ कर देता है। इस प्रतिमें अशुद्धियोंका पूरा इतिहास विद्यमान है। मालूम होता है कि प्रति लिखने समय एक बोलनेवाला तथा दूसरा लिखनेवाला था, अतः उच्चारणके दोषसे भी सैकड़ों अशुद्धियाँ आ गई हैं। प्रतिका ४८७ वाँ पत्र लिखनेसे छूट गया है। अनेक पत्रोंमें अक्षरों का स्थान '''''इस प्रकारके बिन्दु देकर छोड़ दिया गया है[1]।

प्रतिकी प्रशस्तियाँ–

इस प्रतिमें दो प्रशस्तियाँ दी गई हैं–एक दाताकी और दूसरी लेखककी। प्रथम प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि श्री शान्तिनामक विद्वान् अणुव्रती उदार भव्य श्रावकने सिद्धिविनिश्चय टीकाकी प्रति लिखवा कर स्याद्वादविद्याकोविद श्री नागदेव गणिको दान की थी। श्री विष्णुदास लेखकने इसे संवत् १६६२ में लिखा था। यह प्रशस्ति उस आदर्शभूत मूल प्रतिकी मालूम होती है जिस परसे प्रस्तुत प्रतिकी नकल की गई होगी; क्योंकि इसके बाद ही एक और लेखक प्रशस्ति दी गई है। उसमें बताया है कि–'आर्यरक्षित गुरुके विशाल

(१) देखो आगे मुद्रित प्रतिका चित्र। (२) सिद्धिवि० टी० पृ० ७५२।

गच्छमें परम्परासे धर्मसूरि नामक आचार्य हुए। [सम्भवतः] इनके लिये नामडा गोत्रोत्पन्न साहु धनराजने इस ग्रन्थको लिखा। इससे ज्ञात होता है कि वर्तमान प्रति सं० १६६२ के बाद किसी समय लिखी गई है। प्रतिके कागज आदिकी स्थिति को देखते हुए लगता है कि यह उस प्रतिके बाद बहुत शीघ्र ही लिखी गई होगी।

प्रति १० इञ्च लम्बी ४½ इञ्च चौड़ी कागजके दोनों ओर लिखी हुई है। पत्रके बीचमें बाँधनेके लिये छेद करनेको स्थान छूटा हुआ है। लाल स्याहीसे हाँसिया बँधा है तथा विरामचिह्न मात्र खड़ी पाई दी गई है। संपूर्ण पत्र संख्या ५८१ है। प्रतिपत्र १३ पंक्तियाँ और प्रतिपंक्ति ३७–३८ अक्षर हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ १८ हजार श्लोक प्रमाण है। प्रतिमें सर्वत्र पञ्चमाक्षरके स्थानमें अनुस्वारका प्रयोग किया गया है। रेफ्के बादवाले अक्षरको द्वित्व किया गया है यथा कर्म्म धर्म्म आदि।

[सम्पादन क्रम]

सिद्धिविनिश्चय मूलका उद्धार–

सिद्धिविनिश्चयटीकाकी उक्त एकमात्र प्रतिसे अकलङ्कदेवके मूल सिद्धिविनिश्चय तथा उसकी स्वोपज्ञवृत्ति का सर्वप्रथम उद्धार हमने किया है। टीका खण्डान्वय पद्धतिसे लिखी हुई है। उसमेंसे एक-एक शब्द जोड़कर मूल श्लोक अनुष्टुप् मन्दाक्रान्ता स्रग्धरा आदि छन्दोंमें यथास्थान बैठाये हैं। हमारा विश्वास है कि इस प्रयासमें बहुत हद तक सफलता मिली है। जैनदर्शनके या जैनेतर दर्शनके जिन-जिन ग्रन्थोंमें प्रस्तुत सिद्धिविनिश्चयके श्लोक प्रमाण रूपमें या पूर्वपक्षके रूपमें उद्धृत मिलते हैं, उनका यथास्थान टिप्पणमें पाठशुद्धिकी साक्षीके रूपमें संग्रह किया गया है। इसी तरह अकलङ्कदेवकी स्ववृत्तिका उद्धार भी इसी टीकासे एक-एक शब्द जोड़कर किया है। टीकाकारने वृत्तिका व्याख्यान करते समय जहाँ यह लिख दिया है कि **'कारिकायाः सुगमत्वात् व्याख्यानमकृत्वा' 'शेषं सुगमम्'** यानी मूलकी प्रतीकको सरल समझकर प्रतीकका व्याख्यान ही नहीं किया है वहाँ मूलके शब्दोंके उद्धारका कोई साधन हमारे पास नहीं रहा। ऐसे एक-दो स्थल हैं जहाँ ग्रन्थान्तरोंके अवतरणसे मूलपाठकी पूर्तिमें भी सहायता मिली है। १८ हजार श्लोक प्रमाणवाले इस टीकासमुद्रसे ८०० श्लोक प्रमाण मूल सिद्धिविनिश्चय और उसकी वृत्तिके शब्दोंको चुनते समय पर्याप्त सावधानी रखनेपर भी यह सम्भव है कि कहीं मूलके शब्दरत्न टीकासमुद्रमें ही विलीन रह गये हों या टीकाके शब्द मूलकी तरह प्रतिभासित हुए हों और वे मूलके रूपमें संगृहीत हो गये हों। पर चूँकि साधनान्तरोंके अभावमें मूलके उद्धार कार्यमें टीकाकी यह एकमात्र अशुद्धि प्रति ही हमें प्रमुख आलम्बन रही है, अतः जितना शक्य था उतने से ही सन्तोष कर लिया है। जिन शब्दोंकी पूर्ति हमने ग्रन्थान्तरोंके अवतरणसे की है उन्हें [ ] इस प्रकारके चतुष्कोण ब्रेकिटमें रखा है। टीका में आगे-पीछे भी मूलके वाक्योंको प्रमाण रूपमें उद्धृत किया है। ऐसे स्थल मूलके पाठनिर्णयमें निकटतम साधक हुए हैं। टीकाकार ही मूल पाठका विशिष्ट और निकटतम साक्षी हो सकता है। इसीलिये इस टीकामेंप्राप्त इसी मूल ग्रन्थके 'वक्ष्यते या उक्तम्'के साथ आये हुए वाक्योंको हमने एक पृथक् परिशिष्टमें दे दिया है।

इस उद्धृत मूल सिद्धिविनिश्चयमें श्लोक संख्या इस प्रकार है—

१ प्रत्यक्षसिद्धि–श्लो० २८।	२ सविकल्पसिद्धि–श्लो० २९।
३ प्रमाणान्तरसिद्धि–श्लो० २४।	४ जीवसिद्धि–श्लो० २४।
५ जल्पसिद्धि–श्लो० २८½।	६ हेतुलक्षणसिद्धि–श्लो० ४३½।
७ शास्त्रसिद्धि–श्लो० ३०।	८ सर्वज्ञसिद्धि–श्लो० ४३।
९ शब्दसिद्धि–श्लो० ४५।	१० अर्थनयसिद्धि–श्लो० २८।
११ शब्दनयसिद्धि–श्लो० ३१।	१२ निक्षेपसिद्धि–श्लो० १६।

पन्द्रह अशुद्धियोंसे कम न होंगी। संस्कृत भाषाके लेखकोंमें संयुक्ताक्षरों तथा सदृश अक्षरोंको अन्यथा पढ़नेसे बहुतसी अशुद्धियाँ हो जाती है। अशुद्धियोंके कुछ कारण ये हैं—

पृ०	१	पं०	८	स्व और स का भेद नहीं कर पाना	स्वैरं	सैरं
पृ०	२	पं०	७	श और स ,, ,, ,,	दिशति	दिसति
पृ०	३	पं०	१३	प और व ,, ,, ,,	पीता-	वीता-
पृ०	६	पं०	६	न्न और त्र ,, ,, ,,	तन्न	तत्र
पृ०	६	पं०	१७	च और व प और य ,, ,,	वायदिस्य	चापदिश्य
पृ०	९	पं०	८	ला और त्वा ,, ,, ,,	नीला	नीत्वा
पृ०	१९	पं०	२७	त और न ,, ,, ,,	नतु	ननु
पृ०	४०	पं०	२१	क और व ,, ,, ,,	एक	एव
पृ०	२१४	पं०	१४	च और व ,, ,, ,,	चित्क्षण	वित्क्षण
पृ०	३२६	पं०	११	स और भ ध्य और न्य ,, ,,	साध्य	भाव्य
पृ०	५५५	पं०	९	ण्य और न्य ,, ,, ,,	मण्यादी	मन्यादी
पृ०	५६७	पं०	२४	त और व ,, ,, ,,	तज्ञा	वज्ञा
पृ०	६५३	पं०	२९	श्व और स्व ,, ,, ,,	इशार्थ	स्वार्थ
पृ०	७०९	पं०	२३	ब्ध और न्न ,, ,, ,,	शब्दाब्ध	शब्दान्न
पृ०	७०९	पं०	९	ट और उ ,, ,, ,,	कट	कउ
पृ०	७१२	पं०	८	च्छ्र और द्म ,, ,, ,,	तच्छ्रवण	तद्म्रवण
पृ०	७२०	पं०	१०	भ्य और त ,, ,, ,,	तेभ्यः	तेतः
पृ०	७३३	पं०	१३	स्व और एव ,, ,, ,,	स्वभाव	एवभाव
पृ०	७३७	पं०	२	न और व ,, ,, ,,	नयः	वयः

इत्यादि। ह्रस्व का दीर्घ, दीर्घ का ह्रस्व, अनुस्वार का अभाव, सदृश शब्दोंके कारण पाठ छोड़ना या दो बार लिख देना आदि जितने अशुद्धियोंके कारण हो सकते हैं उन सबके उदाहरण इस प्रतिमें मिल सकते हैं। यह प्रति पडिमात्रामें लिखी गई है, अतः कुछ अशुद्धियाँ 'ए'की मात्राको ठीक न पढ़नेके कारण भी हुई हैं। न्यायशास्त्रके ग्रन्थोंमें ननु और ननुका विपर्यास अर्थका अनर्थ कर देता है। इस प्रतिमें अशुद्धियोंका पूरा इतिहास विद्यमान है। मालूम होता है कि प्रति लिखते समय एक बोलनेवाला तथा दूसरा लिखनेवाला था, अतः उच्चारणके दोषसे भी सैकड़ों अशुद्धियाँ आ गई हैं। प्रतिका ४८७ वाँ पत्र लिखनेसे छूट गया है। अनेक पत्रोंमें अक्षरों का स्थान '''''इस प्रकारके बिन्दु देकर छोड़ दिया गया है[1]।

प्रतिकी प्रशस्तियाँ—

इस प्रतिमें दो प्रशस्तियाँ दी गई हैं—एक दाताकी और दूसरी लेखककी। प्रथम प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि श्री शान्तिनामक विद्वान् अणुव्रती उदार भव्य श्रावकने सिद्धिविनिश्चय टीकाकी प्रति लिखवा कर स्याद्वादविद्याकोविद श्री नागदेव गणिको दान की थी। श्री विष्णुदास लेखकने इसे संवत् १६६२ में लिखा था। यह प्रशस्ति उस आदर्शभूत मूल प्रतिकी मालूम होती है जिस परसे प्रस्तुत प्रतिकी नकल की गई होगी; क्योंकि इसके बाद ही एक और लेखक प्रशस्ति दी गई है। उसमें बताया है कि—'आर्यरक्षित गुरुके विशाल

(१) देखो आगे मुद्रित प्रतिका चित्र। (२) सिद्धिवि० टी० पृ० ७५२।

गच्छमें परम्परासे धर्मसूरि नामक आचार्य हुए। [सम्भवतः] इनके लिये नामडा गोत्रोत्पन्न साहु धनराजने इस ग्रन्थको लिखा। इससे ज्ञात होता है कि वर्तमान प्रति सं० १६६२ के बाद किसी समय लिखी गई है। प्रतिके कागज आदिकी स्थिति को देखते हुए लगता है कि यह उस प्रतिके बाद बहुत शीघ्र ही लिखी गई होगी।

प्रति १० इञ्च लम्बी ४½ इञ्च चौड़ी कागजके दोनों ओर लिखी हुई है। पत्रके बीचमें बाँधनेके लिये छेद करनेको स्थान छूटा हुआ है। लाल स्याहीसे हाँसिया बँधा है तथा विरामचिह्न मात्र खड़ी पाई दी गई है। संपूर्ण पत्र संख्या ५८१ है। प्रतिपत्र १३ पंक्तियाँ और प्रतिपंक्ति ३७–३८ अक्षर हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ १८ हजार श्लोक प्रमाण है। प्रतिमें सर्वत्र पञ्चमाक्षरके स्थानमें अनुस्वारका प्रयोग किया गया है। रेफ्के बाद-वाले अक्षरको द्वित्व किया गया है यथा कर्म्म धर्म्म आदि।

[सम्पादन क्रम]

सिद्धिविनिश्चय मूलका उद्धार–

सिद्धिविनिश्चयटीकाकी उक्त एकमात्र प्रतिसे अकलङ्कदेवके मूल सिद्धिविनिश्चय तथा उसकी स्वोपज्ञवृत्ति का सर्वप्रथम उद्धार हमने किया है। टीका खण्डान्वय पद्धतिसे लिखी हुई है। उसमेंसे एक-एक शब्द जोड़कर मूल श्लोक अनुष्टुप् मन्दाक्रान्ता शार्दूलविक्रीडित आदि छन्दोंमें यथास्थान बैठाये हैं। हमारा विश्वास है कि इस प्रयासमें बहुत हद तक सफलता मिली है। जैनदर्शनके या जैनेतर दर्शनके जिन-जिन ग्रन्थोंमें प्रस्तुत सिद्धिविनिश्चयके श्लोक प्रमाण रूपमें या पूर्वपक्षके रूपमें उद्धृत मिलते हैं, उनका यथास्थान टिप्पणमें पाठशुद्धिकी साक्षीके रूपमें संग्रह किया गया है। इसी तरह अकलङ्कदेवकी स्ववृत्तिका उद्धार भी इसी टीकासे एक-एक शब्द जोड़कर किया है। टीकाकारने वृत्तिका व्याख्यान करते समय जहाँ यह लिख दिया है कि **'कारिकायाः सुगमत्वात् व्याख्यानमकृत्वा' 'शेषं सुगमम्'** यानी मूलकी प्रतीकको सरल समझकर प्रतीकका व्याख्यान ही नहीं किया है वहाँ मूलके शब्दोंके उद्धारका कोई साधन हमारे पास नहीं रहा। ऐसे एक-दो स्थल हैं जहाँ ग्रन्थान्तरोंके अवतरणसे मूलपाठकी पूर्तिमें भी सहायता मिली है। १८ हजार श्लोक प्रमाणवाले इस टीका-समुद्रसे ८०० श्लोक प्रमाण मूल सिद्धिविनिश्चय और उसकी वृत्तिके शब्दोंको चुनते समय पर्याप्त सावधानी रखनेपर भी यह सम्भव है कि कहीं मूलके शब्दरत्न टीकासमुद्रमें ही विलीन रह गये हों या टीकाके शब्द मूलकी तरह प्रतिभासित हुए हों और वे मूलके रूपमें संगृहीत हो गये हों। पर चूँकि साधनान्तरोंके अभावमें मूलके उद्धार कार्यमें टीकाकी यह एकमात्र अशुद्धि प्रति ही हमें प्रमुख आलम्बन रही है, अतः जितना शक्य था उतने से ही सन्तोष कर लिया है। जिन शब्दोंकी पूर्ति हमने ग्रन्थान्तरोंके अवतरणसे की है उन्हें [ ] इस प्रकारके चतुष्कोण ब्रेकिटमें रखा है। टीका में आगे-पीछे भी मूलके वाक्योंको प्रमाण रूपमें उद्धृत किया है। ऐसे स्थल मूलके पाठनिर्णयमें निकटतम साधक हुए हैं। टीकाकार ही मूल पाठका विशिष्ट और निकटतम साक्षी हो सकता है। इसीलिये इस टीकामेंप्राप्त इसी मूल ग्रन्थके 'वक्ष्यते या उक्तम्'के साथ आये हुए वाक्योंको हमने एक पृथक् परिशिष्टमें दे दिया है।

इस उद्धृत मूल सिद्धिविनिश्चयमें श्लोक संख्या इस प्रकार है—

१ प्रत्यक्षसिद्धि–श्लो० २८।	२ सविकल्पसिद्धि–श्लो० २९।
३ प्रमाणान्तरसिद्धि–श्लो० २४।	४ जीवसिद्धि–श्लो० २४।
५ जल्पसिद्धि–श्लो० २८½।	६ हेतुलक्षणसिद्धि–श्लो० ४३½।
७ शास्त्रसिद्धि–श्लो० ३०।	८ सर्वज्ञसिद्धि–श्लो० ४३।
९ शब्दसिद्धि–श्लो० ४५।	१० अर्थनयसिद्धि–श्लो० २८।
११ शब्दनयसिद्धि–श्लो० ३१।	१२ निक्षेपसिद्धि–श्लो० १६।

इस तरह उद्धृत मूल श्लोक ३७० हैं। टीकाके आधारसे उद्धृत स्ववृत्तिका प्रमाण भी लगभग ५०० श्लोक प्रमाण होगा।

यह सब उद्धृत मूलभाग ग्रन्थमें [ ] इस प्रकारके चतुष्कोण ब्रेकिटमें यथास्थान मुद्रित किया गया है।

पाठशुद्धि–

इस ग्रन्थके सम्पादनमें एकमात्र समुपलब्ध यह प्रति ही हमें आधारभूत रही है। अतः पाठशुद्धिके प्रमुख साधनभूत अन्य प्रतियोंके अभावमें हमें ग्रन्थान्तरोंके अवतरण और सदृशपाठ ही पाठशुद्धिके साधन रहे हैं। इसलिये हमने टीकाकी उस एकमात्र प्रतिको ही आदर्श प्रति मानकर उसका जो भी शुद्ध या अशुद्ध पाठ रहा उसे ऊपर स्थान दिया है। जो भी सुधार हमने किया है वह [ ] ( ) इस प्रकारके चतुष्कोण और गोल ब्रेकिटमें किया है। जहाँ किसी नये शब्द या अक्षरको अपनी ओरसे रखना पड़ा है वहाँ वह शब्द या अक्षर [ ] इस प्रकारके चतुष्कोण ब्रेकिटमें रखा है और जहाँ मूलप्रतिके किसी शब्द या अक्षरके स्थानमें दूसरा शब्द या अक्षर सुझाना पड़ा है वह ( ) इस प्रकारके गोल ब्रेकिटमें सुझाया गया है। जहाँ पाठशुद्धिकी साक्षीके रूपमें ग्रन्थान्तरीय अवतरण मिल सके हैं वे नीचे टिप्पणीमें दे दिये हैं। उद्धृत वाक्योंकी पाठशुद्धिमें जिन मूलग्रन्थोंके वे वाक्य हैं उन ग्रन्थोंके पाठको आधार माना है। तात्पर्य यह कि जितना जो कुछ भी शुद्ध किया है या शुद्धपाठ सुझाया है वह यथासम्भव साधार किया गया है और वह सब ब्रेकिटमें ही किया है। इससे मूल आदर्श प्रतिके पाठकी सुरक्षा भी हो गई है।

अवतरणनिर्देश–

ग्रन्थान्तरों के उद्धृत वाक्यों को हमने " " डबल इन्वर्टेड कामा के भीतर * इस प्रकार का चिह्न लगाकर **ग्रेट नं० २** टाइप में छापा है। अवतरण वाक्यों के साथ या स्वतन्त्र भाव से आये हुए ग्रन्थ और ग्रन्थकारों के नाम चालू टाइप में **ध र्म की र्ति** इस प्रकार अक्षर फैलाकर छापे हैं। अवतरणवाक्यों के मूलस्थलों का निर्देश यथासंभव अवतरण वाक्य की समाप्ति के बाद [ ] चतुष्कोण ब्रेकिट में वहीं कर दिया है। उनमें जो पाठभेद है वह नीचे टिप्पणी में दे दिया है। जो शुद्धि की है वह ऊपर ही ब्रेकिट में कर दी है। कुछ अवतरण ग्रन्थकार के या ग्रन्थ के नामोल्लेख के साथ तो आते हैं, पर उस ग्रन्थ में उनका वह क्रम या स्वरूप उपलब्ध नहीं होता जैसा कि प्रकृत ग्रन्थ में उद्धृत है, ऐसे स्थलों में हमने जो पाठ उपलब्ध है वह नीचे टिप्पण में दे दिया है। विभिन्न ग्रन्थों में अवतरणों के जो विभिन्न पाठ उद्धृत मिलते हैं वे भी यथासंभव टिप्पण में दे दिये हैं। कुछ ऐतिहासिक महत्त्व के अवतरण जहाँ जहाँ जिन जिन ग्रन्थों में जिस जिस पाठभेद के साथ उद्धृत मिलते हैं वे सब पाठभेद और स्थल टिप्पण में संगृहीत कर दिये हैं। ऐसा उन्हीं अवतरणों के संबन्ध में किया है जिनका मूलस्थल नहीं मिला है। जिस ग्रन्थकार के नाम से अवतरण उद्धृत किया है उसका मूल स्थल न मिलने पर उसीके ग्रन्थान्तर से सदृश पाठ भी टिप्पण में इसलिये दे दिया है कि उस विचार का सम्बन्ध उस ग्रन्थकार से सप्रमाण द्योतित हो जाय। अवतरण वाक्यों का ऐतिहासिक क्रम-विकास के ज्ञान में जो महत्त्वपूर्ण स्थान है उसका ध्यान रखते हुए उनका विवेक किया गया है।

सम्पादक द्वारा विरचित आलोक टिप्पण–

आलोक नामक टिप्पणमें ग्रन्थकी पंक्ति या शब्दोंका अर्थ स्पष्ट करनेकी दृष्टिसे अर्थबोधक टिप्पण तो दिये ही गये हैं, साथ ही साथ पाठ शुद्धिके समर्थक टिप्पण, अवतरणोंके उद्धरणस्थल और उनके पाठभेदके संग्राहक टिप्पण भी दे दिये गये हैं। इन टिप्पणोंमें जिन वादियोंके मत पूर्वपक्षमें आये हैं वे मत भी उन उन

दर्शनग्रन्थोंसे चुने हैं जो सम्भवतः टीकाकारके सामने रहे हैं। जहाँ ऐसे प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो सके हैं वहाँ उत्तरकालीन ग्रन्थोंका भी उपयोग किया है। इस टीकामें या मूलमें आये हुए उत्तरपक्षीय विचारों-का बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव द्योतन करनेवाले तुलनात्मक टिप्पणोंकी प्रचुरता भी इसलिये की गई है कि इससे तत्त्वान्वेषियोंको उस विचारका ऐतिहासिक क्रमविकास एक हद तक ध्यानमें आ जाय। लगभग २२५ दार्शनिक या अन्य विषयक ग्रन्थोंके प्रमाण या पाठोंसे यह तुलनात्मक भाग संकलित किया गया है। इनके नाम और संस्करणोंका पता 'संकेत विवरण' नामक परिशिष्टमें दिया है। टिप्पणोंकी यह सामग्री प्रत्येक विचारके अर्थको स्पष्ट करने, उसके क्रमविकास और ऐतिहासिक महत्त्वको सूचन करनेके प्रमुख हेतुओंसे संकलित की है। जहाँ प्रतिमें पाठ टूट गया है या छूट गया है या दुबारा लिखा है ऐसे स्थलोंकी सूचना भी वहीं टिप्पणमें कर दी है। दुबारा लिखे गये पाठ मूलग्रन्थमें इस § चिह्न विशेषके अन्तर्गत छापे हैं।

प्रस्तावना–

प्रस्तावनाके **ग्रन्थकार** विभागमें मूल ग्रन्थकार अकलङ्कदेव और टीकाकार अनन्तवीर्यके समय आदिका साङ्गोपाङ्ग ऊहापोह किया है। इस भागमें उन अन्य ग्रन्थकारों और ग्रन्थोंकी प्रसङ्गतः चर्चा की है जिनका नामोल्लेख प्रकृत मूलग्रन्थ और टीकामें किया गया है। अनेक आचार्योंके प्रचलित समयके सम्बन्धमें नई सामग्रीके आधारसे ऊहापोह किया है यथा–भर्तृहरि, जयराशि, अर्चट, कर्णकगोमि, जयन्तभट्ट, अनन्तकीर्ति आदि। कुछ आचार्योंका समय भी निश्चित किया है यथा–दो अविद्धकर्ण और शान्तभद्र आदि। अकलङ्कके समकालीन और परवर्ती आचार्य प्रकरणमें भी कुछ आचार्योंके समयादिका वर्णन है। अकलङ्क और अनन्तवीर्यके जीवनवृत्त और व्यक्तित्वके परखनेकी सामग्री भी इस भागमें संकलित की है। जैनदर्शनको इनकी क्या विशिष्ट देन है इसकी चर्चा भी इस भागमें कर दी है।

ग्रन्थ विभागमें–मूलग्रन्थ और टीकाग्रन्थका बाह्य स्वरूप और अन्तरङ्ग विषय परिचय दिया है। अन्तरङ्ग विषयपरिचयमें उस उस विषयकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी संक्षेपमें दिखाई है। सामान्यतया यह ध्यान रखा गया है कि इसको पढ़कर ग्रन्थका सामान्य परिचय तो हो ही जाय साथ ही विशेष जिज्ञासाकी तृप्ति भी अमुक अंश तक हो जाय।

विषयसूची–

स्थूल विषयों का निर्देश तो पृष्ठके शीर्षकोंमें ही दिया है किन्तु उन स्थूल विषयोंका सूक्ष्म विषयभेद इस सूचीमें दिया है। इससे जिज्ञासु मूल और टीकाके प्रतिपाद्य विषयोंका आकलन कर सकेंगे।

परिशिष्ट–

इस संस्करणमें निम्नलिखित १२ परिशिष्टोंकी योजना की गई है—

१. मूलश्लोकोंकी श्लोकार्धानुक्रमणिका।
२. मूलवृत्तिगत श्लोकोंकी सूची।
३. मूलग्रन्थान्तर्गत अवतरणोंकी सूची।
४. सिद्धिविनिश्चयके पाठान्तर।
५. मूलग्रन्थके विशिष्टशब्द।
६. टीकाकाररचित श्लोकोंकी श्लोकार्धानुक्रमणी।
७. टीकान्तर्गत उद्धृत वाक्योंकी मूलस्थल निर्देश सहित सूची।
८. टीकामें उद्धृत मूलवाक्य और श्लोकादि की अनुक्रम सूची।
९. टीकानिर्दिष्ट ग्रन्थ और ग्रन्थकार।

१०. टीकान्तर्गत न्याय और लोकोक्ति आदिकी सूची ।
११. टीकाके विशिष्ट शब्द ।
१२. ग्रन्थसङ्केत विवरण ।

टाइप योजना–

ग्रन्थके मुद्रणमें मूल श्लोकों को **ग्रेट नं० १** टाइपमें स्ववृत्तिको **ग्रेट नं० २** टाइपमें, टीकाको **ग्रेट नं० ४** टाइपमें और टिप्पणीको **पाइका नाटा** टाइपमें मुद्रित कराया है। अवतरणवाक्य **ग्रेट नं० २** में * यह चिह्न देकर " " डबल इनवर्टेड कामाके साथ मुद्रित किये गये हैं। सामान्यतया प्रतिमें जो नया जोड़ा है वह [ ] इस चतुष्कोण ब्रेकिटमें और जो किसी के स्थानमें सुझाया गया है वह ( ) इस गोल ब्रेकिटमें सुझाया है। मूलप्रतिमें सिवाय '।' इस खड़ी पाईके और कोई भेदक चिह्न कहीं नहीं है; किन्तु हमने इसमें यथास्थान , ; ? ! " " ' ' आदि सभी चिह्नोंका उपयोग किया है। पाठकी स्पष्टताके लिये हमने कहीं कहीं पदोंकी सन्धियाँ पृथक् कर दी हैं। पञ्चमाक्षरमें जहाँ एक पदमें नित्य पञ्चमाक्षर चाहिए वहीं पञ्चमाक्षर रखा है बाकी सर्वत्र अनुस्वारका ही प्रयोग किया है। टीकामें मूल श्लोकोंके शब्दोंको श्लोकके टाइप **ग्रेट नं० १** में तथा वृत्तिके शब्दोंको वृत्तिके टाइप **ग्रेट नं० २** में ही रखा है। अवतरणवाक्य यद्यपि **ग्रेट नं० २** टाइप में हैं पर उन्हें * इस तारक चिह्न और डबल इनवर्टेड कामासे विभक्त कर दिया है।

२ ग्रन्थकार

[१ श्रीमद् भट्टाकलङ्कदेव]

श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेव जैन न्यायके प्रतिष्ठापक पदपर प्रतिष्ठित हैं। इन्होंने समन्तभद्र और सिद्धसेनसे प्राप्त भूमिकापर प्राचीन आगमिक शब्दों और परिभाषाओंको दार्शनिक रूप देकर अकलङ्क न्यायका प्रस्थापन किया है। जैन आगमिक परम्परामें प्रमाणकी चरचा यद्यपि मिलती है पर उसकी व्यवस्थित परिभाषाएँ और भेद-प्रभेदकी रचना करनेका बहुत बड़ा श्रेय भट्टाकलङ्क-देवको है। बौद्धदर्शनमें धर्मकीर्ति, मीमांसा दर्शनमें भट्टकुमारिल, प्रभाकर दर्शनमें प्रभाकर मिश्र, न्यायवैशेषिकमें उद्योतकर और व्योमशिव तथा वेदान्तमें शंकराचार्यका जो स्थान है वही जैन न्यायमें भट्टअकलङ्कका है। ईसाकी ७ वीं ८ वीं ओर ९ वीं शताब्दियाँ मध्यकालीन दार्शनिक इतिहासकी क्रान्तिपूर्ण शताब्दियाँ थीं। इनमें प्रत्येक दर्शनने जहाँ स्वदर्शनकी किलेबन्दी की वहाँ परदर्शन पर विजय पानेका अभियान भी किया। इन शताब्दियोंमें बड़े-बड़े शास्त्रार्थ हुए, उद्भट वादियोंने अपने पाण्डित्यका डिंडिम नाद किया तथा दर्शनप्रभावना और तत्त्वाध्यवसाय संरक्षणके लिये राज्याश्रय प्राप्त करनेके हेतु बुद रोपे गये। इस युगके ग्रन्थोंमें स्वसिद्धान्त-प्रतिपादनकी अपेक्षा परपक्ष के खण्डनका भाग ही प्रमुखरूपसे रहा है। इसी युगमें महावादी भट्टाकलङ्कने जैनन्यायके अभेद्य दुर्गका निर्माण किया था। उनकी यशोगाथा शिलालेखों और ग्रन्थकारोंके उल्लेखोंमें बिखरी पड़ी है।

शिलालेखोल्लेख–

भट्टाकलङ्कदेव इतने प्रसिद्ध और युगप्रधान आचार्य हुए कि इनकी प्रशंसा स्तुति और श्लाघा अनेक शिलालेखोंमें उत्कीर्ण है। उनके प्रमाण संग्रहका मङ्गलाचरण[1] तो इतना लोकप्रिय हुआ कि वह पचासों शिलालेखोंमें मङ्गल श्लोकके रूपसे उत्कीर्ण हुआ[2] है। उनका यशोगान करनेवाले कुछ शिलालेख इस प्रकार हैं–

(१) कडबनिमें लुकडवन्तिकी चट्टानपर उत्कीर्ण भग्न कन्नड लेखमें देवगणके अकलङ्क भट्टारके शिष्य महीदेव भट्टार बताये गये हैं। यह लेख सम्भवतः ई० १०६० का है।[3]

(२) बन्दलिमें एक पाषाण लेखमें अकलङ्कदेव गुरुको नमस्कार किया है। संस्कृत कन्नड भाषाका यह भग्न लेख[4] शक सं० ९९६ ई० १०७४ का है।

(३) बलगाम्बे बडगियर होण्डके पास एक पाषाणपर उत्कीर्ण लेखमें[5] रामसेनकी प्रशंसामें **'तर्कशास्त्रद-विवेकदोळिन्तकलङ्कदेवरेम्बुदु'** कहा है। यह लेख ई० १०७७ का है।

---

(१) **"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम्।**
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम्॥" –प्रमाण सं० पृ० १।

(२) देखो– जैनशि० प्र० भाग लेख नं० ३९, ४२, ४३, ४४, ४५, ४८, ५१, ५२, ५३, ५५, ५९, ६८, ८१, ८२, ८३, ९०, ९६, १०५, १११, ११३, १२४, १३०, १३७, १३८, १४१, १४४, २२१, ३६२, ४८६, ४९३–४९५, ४९६, ४९९, ५०० इत्यादि।

(३) जैनशि० द्वि० पृ० २३४, लेख नं० १९३। ए० क० भाग ६ नं० ७५।

(४) जैनशि० द्वि० पृ० २६३, लेख नं० २०७। ए० क० भाग ७ शिकारपुर ता० नं० २२१।

(५) जैनशि० द्वि० पृ० ३११, लेख नं० २१७। ए० क० भाग ७ शिकारपुर ता० नं० १२४।

(४) हुम्मचमें पञ्चवस्तिके आँगनके एक संस्कृत कन्नडमय पाषाण[१] लेखमें एकसन्धि सुमतिदेवके बाद अकलङ्कदेवकी **वादिसिंह** और **स्याद्वादामोघजिह्व** रूपसे स्तुति की है।[२] यह लेख शक सं० ९९९ ई० १०७७ का है।

(५) हुम्मचमें ही तोरणवागलिके दक्षिणी खम्भेमें उत्कीर्ण लेखमें सिंहनन्दि आचार्यके बाद अकलङ्कदेवका उल्लेख है। यह लेख भी ई० १०७७ का है।[३]

(६) हुम्मचमें ही मानस्तम्भके ऊपर दक्षिणकी तरफ उत्कीर्ण लेखमें वादिराजकी स्तुतिके प्रसङ्गमें **'सदसि यदकलङ्कः'** विशेषण दिया है। यह लेख भी ई १०७७ का है।[४]

(७) कत्तिले बस्तीके द्वारसे दक्षिणकी ओर एक पाषाण स्तम्भ लेखमें जिनचन्द्र मुनिको **'सकल-समयतर्क च भट्टाकलङ्कः'** कहा है। यह लेख लगभग ई० ११०० का है[५]।

(८) एरडुकटे वस्तिके पश्चिमकी ओर मण्डपमें स्तम्भपर उत्कीर्ण 'लेखमें मेघचन्द्र मुनिकी प्रशंसामें उन्हें षट्तर्कोंमें अकलङ्कके समान विबुध कहा गया है[६]। यह लेख शक सं० १०३७ ई० ११११५ का है।

(९) गन्धवारण बस्तीके प्रथममण्डपके स्तम्भ लेखमें भी इसी प्रकारका उल्लेख है। यह लेख शक सं० १०६८ ई० ११४६ का है।[७]

(१०) कल्लूरगुड्ड (शिमोगा) सिद्धेश्वर मन्दिरकी पूर्व दिशाके पाषाणपर उत्कीर्ण लेखमें गुणनन्दिदेवके बाद अकलङ्कदेवका षड्दर्शन विजेताके रूपमें उल्लेख है। यह लेख शक सं० १०४३ ई० ११२१ का है।[८]

(११) चल्लग्रामके बयिरे देव मन्दिरके पाषाण लेखमें[९] एकसन्धि सुमति भट्टारकके बाद वादीभसिंह अकलङ्कदेवका उल्लेख है। यह लेख शक सं० १०४७ ई० ११२५ का है।

(१२) पार्श्वनाथ वसतिके स्तम्भपर खुदी हुई मल्लिषेण प्रशस्तिमें अकलङ्कदेवके वादका विस्तृत वर्णन है। यह प्रशस्ति शक सं० १०५० ई० ११२८ की है।[१०] इसका विशेष वर्णन आगे किया जायगा।

(१३)बेलूर सौम्यनायकी मन्दिरकी छतके पत्थरपर उत्कीर्ण लेख[११]में सुमतिभट्टारकके बाद अकलङ्कदेवकी **'समयदीपक उन्मीलित दोष···रजनीचरबल···उद्बोधितभव्यकमल'** आदि विशेषणोंसे स्तुति की है। यह लेख शकसं० १०५९ ई० ११३७ का है।

---

(१) जैनशि० द्वि० पृ० २८१ लेख नं० ११३। ए० क० भाग ८ नगर ता० नं० ३५।

(२) "राजन् बुद्धोऽप्यबुद्धः सुरगुरुरगुरुः पूरणोऽपूरणेच्छः,
स्थाणुः स्थाणुस्वजोजोर्विरविरलघुर्माधवोऽमाधवस्तु।
व्यासोऽप्यव्यासयुक्तः कणभुगकणभुग् वागवागेव देवी,
स्याद्वादामोघजिह्वे मयि विशति सति मण्डपं वादिसिंहे ॥ य ॥
एनिसिदकलङ्कदेवरवरि···" —वही पृ० २९४।

(३) जैनशि० द्वि० पृ० ३०१, लेख नं० २१४। ए० क० भाग ८ नगर ता० नं० ३६।

(४) वही पृ० ३०६, लेख नं० २१५। ए० क० भाग ८ नगर ता० नं० ३९।

(५) जैनशि० प्र० पृ० ११५, लेख नं ५५ (६९)।

(६) जैनशि० प्र० पृ० ५८, लेख नं० ४७ (१२७)।

(७) "षट्तर्केष्वकलङ्कदेवविबुधः साक्षादयं भूतले।" —वही पृ० ६२।

(८) जैनशि० प्र० पृ० ७१, लेख नं० ५० (१४०)।

(९) जैनशि० द्वि० पृ० ४०८, लेख नं० २७०। ए० क० भाग ७ शिमोगा नं० ४।

(१०) जैनशि० प्र० पृ० ३९५, लेख नं० ४९३।

(११) जैनशि० प्र० पृ० १०१, लेख नं० ५४ (६७)।

(१२) जैनशि० तृ० पृ० १, लेख नं० ३०५। ए० क० भाग ५ बेलूर ता० नं० १७।

(१४) बुद्रिमें बनशंकरी मन्दिरके पूर्वीय पाषाण लेख[1]में भी अकलङ्क गुरुको नमस्कार किया है। यह लेख ई० ११३९ का है।

(१५) बोगादिके भग्न पाषाण पर उत्कीर्ण संस्कृत कन्नड पाषाण लेख[2]में अकलङ्कदेवकी **'तारविजेता** के रूपमें स्तुति की है। इसमें आगे **'सदसि यदकलङ्कः'** श्लोक तथा **'नाहङ्कारवशीकृतेन'** श्लोक भी है। काल लुप्त है, पर संभवतः ११४५ ई० है।

(१६) हुम्मचमें ही तोरणवागिलके उत्तर स्तम्भमें उत्कीर्ण संस्कृत कन्नड लेख[3]में सिंहनन्दि आचार्यके बाद अकलङ्कदेवको **'जिनमतकुवलयशशाङ्क'** लिखा है। यह लेख शक १०६९ ई० ११४७ का है।

(१७) मुक्कदरे (होणकेरी परगना) लक्कम्म मन्दिर के पाषाण लेख[4] लगभग ई० ११३० में तथा

(१८) यल्लादहल्ली (नेल्लीकेरी प्रदेश) गाँवके पासके पाषाणलेख[5]में स्वामी समन्तभद्रके बाद अकलङ्कदेवका उल्लेख है। यह लेख ई० ११५४ का है।

(१९) चन्द्रगिरि पर्वतके महानवमी मंडप[6]के स्तम्भके लेखमें अकलङ्कदेवको **महामति** और **जिन शासनको अकलङ्क करनेवाला** बताया है[7]। यह लेख शक सं० १०८५ ई० ११६३ का है।

(२०) जोडि बसवनपुरमें हुण्डिसिद्दन चिक्कके खेतके पास एक पाषाण पर उत्कीर्ण लेख[8]में अकलंकका **बौद्धवादिविजेता** के रूपमें उल्लेख है[9]। यह लेख शक सं० ११०५ ई० ११८३ का है। इस लेखमें अकलङ्कके सधर्मा पुष्पसेन मुनिके उल्लेखके बाद विमलचन्द्र इन्द्रनन्दि और परवादिमल्लका उल्लेख है।

(२१) सिद्धवस्तीमें उत्तरकी ओर एक स्तम्भमें उत्कीर्ण लेख[10]में अकलङ्कदेवको **समन्तादकलङ्क** कहा[11] है। यह लेख शक सं० १३२० ई० १३९८ का है।

(२२) सिद्धवस्तीमें दक्षिणकी ओर उत्कीर्ण स्तम्भलेखमें[12] अकलङ्कदेवको **शास्त्रविद्ग्रेसर** और **मिथ्यान्धकारभेदक** लिखा है[13]। आगे इसी लेखमें बताया है कि अकलंक महर्षिके स्वर्ग चले जाने

(१) जैनशि० तृ० पृ० ३१ लेख नं० ३१३। ए० क० भाग ८ सोराब ता० नं० २३३।

(२) जैनशि० तृ० पृ० ४६, लेख नं० ३१९। ए० क० भाग ४ नागमंगल ता० नं० १००।

(३) "तारा येन विनिर्जिता घटकुटीगूढावतारा समम्,
बौद्धैर्यो घृतपीडपीडितकुदृग् देवार्थसेवाञ्जलिः।
प्रायश्चित्तमिवाङ्घ्रिवारिजरजःस्नानं च यस्याचरद्,
दोषाणां सुगतस्य कस्य विषयो देवाकलङ्कः कृती॥"—वही पृ० ४८।

(४) जैनशि० तृ० पृ० ६६, लेख नं० ३२६। ए० क० भाग ८ नगर ता० नं० ३७।

(५) जैनशि० तृ० पृ० ६०, लेख नं० ३२४। ए० क० भाग ४ नागमंगल ता० नं० ७६।

(६) जैनशि० द्वि पृ० ४०४, लेख नं० २७४। ए० क० भाग ४ नागमंगल ता० नं० १०३।

(७) जैनशि० प्र० पृ० २४, लेख नं० ४० (६४)।

(८) "अजनिष्टाकलङ्कं यत् जिनशासनमादितः।
अकलङ्कं बभौ येन सोऽकलङ्को महामतिः॥"—वही पृ० २५।

(९) जैनशि० तृ० पृ० २०५, लेख नं० ४१०। ए० क० भाग ३ तिरुमाकुडलु ता० नं० १०५।

(१०) "तस्याकलङ्कदेवस्य महिमा केन वर्ण्यते।
यद्वाक्यखड्गघातेन हतो बुद्धो विबुद्धि सः॥"—वही पृ० २०६।

(११) जैनशि० प्र० पृ० १९५, लेख नं १०५ (२५४)।

(१२) "भट्टाकलङ्कोऽकृत सौगतादिदुर्वाक्यपङ्कैः सकलङ्कभूतम्।
जगत् स्वनामेव विधातुमुच्चैः सार्थं समन्तादकलङ्कमेव॥"—वही पृ० १९९।

(१३) जैनशि० प्र० पृ० २०९, लेख नं० १०८ (२५८)।

(१४) "तत परं शास्त्रविदां मुनीनामग्रेसरोऽभूदकलङ्कसूरिः।
मिथ्यान्धकारस्थगिताखिलार्थाः प्रकाशिता यस्य वचोमयूखैः॥"—वही पृ० २११।

पर संघ देव, नन्दि, सिंह और सेन इन चार भागोंमें देशभेदसे बँट गया। यह लेख शक सं० १३५५ ई० १४३३ का है। इस लेखसे ज्ञात होता है कि देवसंघ अकलङ्कदेवके नामसे चला और उसके प्रथम आचार्य अकलङ्कदेव ही थे।

(२२) हुम्मचमें पद्मावती मन्दिरके प्राङ्गणमें एक पाषाणपर उत्कीर्ण लेख[1]में अकलङ्कका **महर्द्धिक और देवागमके भाष्यकार** के रूपमें उल्लेख[2] है। यह लेख लगभग ई० १५३० का है।

*

ग्रन्थोल्लेख

अकलङ्कदेव महान् वादी ग्रन्थकार सभापंडित और अद्भुत प्रभावसम्पन्न युगप्रवर्तक आचार्य थे। उनकी गुणस्तुति शिलालेखों की तरह ग्रन्थोंमें भी उनके निर्मल व्यक्तित्वका उद्घोष कर रही है। शिलालेखों और ग्रन्थोंमें उन्हें [3]तर्कभूवल्लभ, अकलङ्कधी, बौद्धबुद्धिवैधव्यदीक्षागुरु,[4] महर्धिक,[5] समस्तवादिकरीन्द्रदर्पोन्मूलक,[6] स्याद्वादकेसरसटाशततीव्रमूर्तिपञ्चानन, अशेषकुतर्कविभ्रमतमोनिर्मूलोन्मूलक,[7] अकलङ्कभानु, अचिन्त्यमहिमा, शास्ता[8] भूयोभेदनयावगाहगहनवाङ्मय[9] सकलतार्किकचक्रचूडामणिमरीचिमेचकितनखकिरण[10] समन्तादकलङ्क[11] प्रकटिततीर्थान्तरीयकलङ्क[12] आदि विशेषणोंसे विभूषित किया गया है, जो उनके अकलङ्कन्यायकी कीर्तिपताका-को फहरा रहे हैं। पुष्पदन्तने महापुराण[13] और असग कविने भी मुनिसुव्रत[14] काव्यमें इनका स्मरण किया है।

(१) जैन शि० सं० पृ० ५१४, लेख नं० ६६७। ए० क० भाग ८ नगर ता० नं ४६।

(२) "जीयात् समन्तभद्रस्य देवागमनसंज्ञिनः।
स्तोत्रस्य भाष्यं कृतवानकलङ्को महर्धिकः॥" –वही, पृ० ५१८।

(३) "तर्कभूवल्लभो देवः स जयत्यकलङ्कधीः।
जगद्द्रव्यमुषो येन दण्डिताः शाक्यदस्यवः॥" –पार्श्वनाथचरित।

(४) "अकलङ्कगुरुर्जीयात् अकलङ्कपदेश्वरः।
बौद्धानां बुद्धिवैधव्यदीक्षागुरुरुदाहृतः॥"–हनुमच्चरित।

(५) देखो टि० २।

(६) "इत्थं समस्तमतवादिकरीन्द्रदर्पमुन्मूलयन्नमलमानदृढप्रहारैः।
स्याद्वादकेसरसटाशततीव्रमूर्तिः पञ्चाननो भुवि जयत्यकलङ्कदेवः॥"
–न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ६०४।

(७) "येनाशेषकुतर्कविभ्रमतमो निर्मूलमुन्मीलितम्,
स्फारागाधकुनीतिसार्थसरितो निःशेषतः शोषिताः।
स्याद्वादाप्रतिमप्रभूतकिरणैः व्याप्तं जगत् सर्वतः,
स श्रीमानकलङ्कभानुरसमो जीयाज्जिनेन्द्रः प्रभुः॥"–न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ४०२।

(८) "मिथ्यायुक्तिपलालकूटनिचयं प्रज्ज्वाल्य निःशेषतः,
सम्यग्युक्तिमहांशुभिः पुनरियं व्याख्या परोक्षे कृता।
येनासौ निखिलप्रमाणकमलप्राज्यप्रबोधप्रदः,
भास्वानेष जयत्यचिन्त्यमहिमा शास्ताऽकलङ्को जिनः॥"–न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ५३१।

(९) "भूयोभेदनयावगाहगहनं देवस्य यद्वाङ्मयम्"–न्यायविनिश्चयविवरण भाग २ पृ० ३६९।

(१०) "सकलतार्किकचक्रचूडामणिमरीचिमेचकितचरणनखकिरणो भट्टाकलङ्कदेवः॥"
–अष्टसह० टिप्पण पृ० १।

(११) देखो पृ० ९ टि० १२।

(१२) "प्रकटिततीर्थान्तरीयकलङ्कोऽकलङ्कोऽप्याह॥"–रत्नाकरावतारिका पृ० ११३७।

(१३) महापुराण पृ० २९। (१४) मुनिसुव्रतका० १।१०।

शुभचन्द्राचार्यने[1] तो मुग्ध होकर उनकी पुण्य सरस्वतीको अनेकान्त गगनकी चन्द्रलेखा लिखा है।[2]

*

जीवनगाथा

अकलङ्कदेवकी जीवनगाथा न तो उनके उपलब्ध ग्रन्थोंमें पाई जाती हैं और न उनके समकालीन या अति निकट उत्तरवर्ती किसी लेखकके ग्रन्थोंमें ही। उपलब्ध कथाकोशोंमें हरिषेणकृत कथाकोषमें समन्तभद्र और अकलङ्क जैसे युगनिर्माता आचार्योंकी कथाएँ ही नहीं हैं। हरिषेणने स्वयं अपने कथाकोशकी समाप्तिका काल शकसंवत् ८५३ (ई० ९३१) दिया है। इसके अनन्तर भट्टारक प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोशमें सर्वप्रथम अकलङ्कदेवकी कथा मिलती है। यह कथाकोश जैसा कि उसकी अन्तिम प्रशस्ति[3]से विदित होता है उन्हीं प्रसिद्ध प्रभाचन्द्रकी कृति है जिन्होंने न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्तण्डकी रचना की है। प्रभाचन्द्रका समय हमने ई० ९८०–१०६५ तक सिद्ध किया है[4]। प्रभाचन्द्रने यह कथाकोश जयसिंहदेवके राज्य (ई० १०५५) में बनाया था[5]। अकलङ्कदेवके जीवनवृत्तके लिये हमें अभी यही एक पुराना साधन उपलब्ध है। इसी कथाकोशको ब्रह्मचारी नेमिदत्तने वि० सं० १५७५ के आसपास पद्य रूपमें परिवर्तित किया था, यह बात स्वयं उन्हींके उल्लेखसे विदित हो जाती है[6]। देवचन्द्रकृत कनड़ी भाषाकी राजावलीकथेमें भी अकलङ्ककी कथा है। इसका रचनाकाल १६ वीं सदीके बाद का है।

गद्य कथाकोश[7] तथा **नेमिदत्तके कथाकोश**[8]में अकलङ्कदेवकी कथा इस प्रकार है[9]–"मान्यखेट नगरीके राजा शुभतुंगके पुरुषोत्तम नामका मन्त्री था। उसके दो पुत्र थे–एक अकलङ्क और दूसरा निकलङ्क। एक बार अष्टाह्निका पर्वमें माता पिताके साथ दोनों भाई जैन गुरु रविगुप्तके पास गये। माता पिताने इस पर्वमें ब्रह्मचर्य व्रत लिया और अपने बालकोंको भी दिलाया। जब ये युवा हुए तो पुराने ब्रह्मचर्य व्रतको यावज्जीवन व्रत मानकर इन्होंने विवाह नहीं किया। पिताने समझाया कि वह प्रतिज्ञा तो पर्वके लिये थी पर ये कुमार अपनी बातपर दृढ़ रहे और इन्होंने आजन्म ब्रह्मचारी रहकर अपना समय शास्त्राभ्यासमें लगाया। अकलङ्क एक-सन्धि तथा निकलङ्क द्विसन्धि थे। जैनधर्म पर बौद्धोंके आक्षेपोंसे उनका चित्त विचलित हो रहा था और वे इसके प्रतीकारार्थ बौद्धशास्त्रोंका अध्ययन करनेके लिये बाहर निकल पड़े। वे अपना धर्म छिपाकर एक बौद्ध-मठमें विद्याध्ययन करने लगे। एक दिन गुरुजीको दिग्नागके अनेकान्त खण्डनके पूर्वपक्षका कुछ पाठ अशुद्ध होनेके कारण नहीं लग रहा था। उस दिन पाठ बन्द कर दिया गया। रात्रिको अकलङ्कने वह पाठ

---

(१) "श्रीमदकलङ्कस्य पातु पुण्या सरस्वती।
अनेकान्तमरुन्मार्गे चन्द्रलेखायितं यया॥"–ज्ञानार्णव।

(२) सत्साधुस्मरण मङ्गलपाठ।

(३) "श्री जयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपञ्चपरमेष्ठिप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन आराधनासत्कथाप्रबन्धः कृतः।" –गद्यकथा को० लि० पृ० ११५। न्यायकुमु० प्र० प्रस्ता० पृ० १२३।

(४) न्यायकुमु० द्वि० प्रस्ता० पृ० ५०–५८।

(५) डॉ. ए.एन. उपाध्ये भी इसका यही रचनाकाल मानते हैं–बृहत्कथाकोश प्रस्ता० पृ० ३०–३२।

(६) "देवेन्द्रचन्द्रार्कसमर्चितेन तेन प्रभाचन्द्रमुनीश्वरेण।
अनुग्रहार्थं रचितं सुवाक्यैराराधनासारकथाप्रबन्धः॥
तेन क्रमणैव मया स्वशक्त्या श्लोकैः प्रसिद्धैश्च निगद्यते सः।"–नेमिदत्तकृत कथाकोश पृ० १।

(७) डॉ० उपाध्ये गद्यकथाकोश प्रेस कापी, पृ० ३–८।

(८) आराधना कथाकोश पृ० ७-१८।

(९) न्यायकुमुदचन्द्र प्र० भाग प्रस्ता० पृ० २८।

शुद्ध कर दिया। दूसरे दिन जब गुरुने शुद्ध पाठ देखा तो उन्हें सन्देह हो गया कि कोई जैन यहाँ छिपकर पढ़ रहा है। इसकी खोजके सिलसिलेमें एक दिन गुरुने जैनमूर्तिको लाँघनेकी सब शिष्योंको आज्ञा दी। अकलङ्कदेव उस मूर्तिपर एक धागा डालकर उसे लाँघ गये और इस संकटसे त्राण पा गये। एक रात्रि गुरुने अचानक काँसेके बर्तनोंसे भरे बोरेको छतपर गिराया। सभी शिष्य इस भीषण आवाजसे जाग गये और अपने इष्टदेवका स्मरण करने लगे। इस समय अकलङ्कके मुखसे 'णमो अरहंताणं' आदि पञ्च नमस्कार मन्त्र निकल पड़ा। बस दोनों भाई पकड़ लिये गये। दोनों भाई मठके ऊपरी मंजिलमें कैद कर दिये गये। दोनों एक छातेकी सहायतासे कूदकर भाग निकले। रास्तेमें छोटे भाई निकलङ्कने बड़े भाईसे प्रार्थना की कि आप एकसन्धि और महान् विद्वान् हैं, आपसे जिनशासनकी महती प्रभावना होगी, अतः आप इस तालाबमें छिपकर अपने प्राण बचाइए, शीघ्रता कीजिए, समय नहीं है। वे हत्यारे हमें पकड़नेके लिये शीघ्र ही पीछे आ रहे हैं। आखिर दुःखी चित्तसे अकलङ्कने तालाबमें छिपकर अपनी प्राण रक्षा की। निकलङ्क आगे भागे। वहीं एक धोबीने निकलङ्कको भागता देखा। वह पीछे आते हुए घुड़सवारोंको देख किसी अज्ञात भयकी आशंकासे निकलङ्कके साथ ही भागने लगा। आखिर घुड़सवारोंने दोनोंको तलवारके घाट उतारकर अपनी रक्तपिपासा शान्त की।

एक बार वे कलिंग देशके रत्नसंचय पुर पहुँचे। वहाँके राजा हिमशीतलकी रानी मदनसुन्दरीने अष्टाह्निका पर्वपर जैन रथयात्रा निकलवानेका विचार किया। किन्तु बौद्धगुरु संघश्रीके बहकावेमें आकर राजाने रथयात्रा निकालनेकी यह शर्त रखी कि यदि कोई जैनगुरु बौद्धगुरुको शास्त्रार्थमें हरा दे तो ही जैन रथयात्रा निकल सकती है। रानी चिन्तित हुई। आखिर अकलङ्कदेव आये और हिमशीतलकी सभामें शास्त्रार्थ हुआ। संघश्री बीचमें परदा डालकर उसके पीछेसे शास्त्रार्थ करता था। छह माह हो गये पर किसीकी हार जीत नहीं हो पाई। एक दिन रात्रि के समय चक्रेश्वरी देवीने अकलङ्कको इसका रहस्य बताया कि परदेके पीछे घटमें स्थापित तारादेवी शास्त्रार्थ करती है। तुम उससे प्रातःकाल कहे गये वाक्योंको दुबारा पूँछना, इतनेसे ही उसका पराजय हो जायगा। अगले दिन अकलङ्कने चक्रेश्वरी देवीकी सम्मतिके अनुसार प्रातः कहे गये वाक्यों-को फिर दुहरानेको कहा तो उत्तर नहीं मिला। उन्होंने तुरन्त परदा खींच कर घड़ेको पैरकी ठोकरसे फोड़ डाला। इससे जैनधर्मकी प्रभावना हुई और रानीके द्वारा संकल्पित रथयात्रा धूमधामसे निकाली गई।"

राजावलीकथे तथा दूसरी कई कथाओंके आधारसे राइस सा०ने अकलङ्कदेवका वृत्तान्त इस प्रकार दिया है—जिस समय काञ्चीमें बौद्धोंने जैनधर्मकी प्रगतिको रोक दिया था उस समय जिनदास नामके जैन ब्राह्मणके यहाँ उनकी जिनमती स्त्रीसे अकलङ्क और निकलङ्क नामके दो पुत्र हुए। वहाँ उनके सम्प्रदायका पढ़ानेवाला कोई गुरु नहीं था इसलिये इन दोनों बालकोंने गुप्तरीतिसे भगवद्दासके नामके बौद्ध गुरुसे पढ़ना शुरू किया। भगवद्दासके मठमें रहकर दोनों भाइयोंने असाधारण शीघ्रतासे उन्नति की। गुरुको इनकी इस प्रतिभासे सन्देह हो गया कि ये कौन हैं? अतः एक रात्रिमें सोते समय इनकी छातीपर बुद्धका दाँत रख दिया। इससे वे बालक जिन सिद्ध कहते हुए जागे तो गुरुने जाना कि वे जैन हैं। दूसरी कथाके आधारपर उन बालकोंने एक दिन जब कि गुरु कुछ क्षणोंके लिये उनसे अलग हुए तो एक हस्तलिखित पुस्तकमें उन्होंने "**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः**" लिख दिया। गुरुको इसकी छानबीन करनेसे ज्ञात हुआ कि वे जैन हैं। आखिर इन्हें मारनेका निश्चय किया गया और वे दोनों भाग निकले। निकलङ्कने अपना पकड़ा जाना और मारा जाना उचित माना जिससे उसके भाईको भागनेका अवसर मिल सके। अकलङ्क एक धोबीके कपड़ोंकी गठड़ीमें छिपकर बच गये और दीक्षा लेकर उन्होंने सुधापुरके देशीय गणके आचार्यका पद सुशोभित किया[1]।"

---

(१) जैन हितैषी भाग ११ अङ्क ७-८ में प्रकाशित 'भट्टाकलङ्क' शीर्षक लेख, न्यायकुमुदचन्द्र प्र० भाग प्रस्ता० पृ० २८।

कथाओंका साम्प्रदायिक रूप–

श्वेताम्बर परम्परामें भद्रेश्वरसूरिकी प्राकृत कथावली ई० १२ वीं शताब्दी का ग्रन्थ है[1]। इसकी मुनि पुण्यविजयजी कृत प्रेसकापीमें हरिभद्रसूरिकी कथा इस प्रकार दी गई है[2]–"हरिभद्रसूरिने जिनदत्ताचार्यसे 'भवविरह' के हेतु जिनदीक्षा धारण की। उनके जिनभद्र और वीरभद्र दो शिष्य थे। उस समय चितौड़में बौद्धमतका प्राबल्य था और बौद्ध हरिभद्रसे ईर्ष्या करते थे। एक दिन बौद्धोंने हरिभद्रके दोनों शिष्योंको एकान्तमें मार डाला। यह सुनकर हरिभद्रको बहुत दुःख हुआ और उन्होंने अनशन करनेका निश्चय किया। प्रभावक पुरुषोंने उन्हें ऐसा करनेसे रोका और हरिभद्रने ग्रन्थराशिको ही अपना पुत्र मान उसकी रचनामें चित्त लगाया। ग्रन्थ निर्माण और लेखन कार्यमें जिनभद्र वीरभद्रके काका लल्लिकने बहुत सहायता की। हरिभद्र जब भोजन करते थे तो लल्लिक उस समय शंख बजाता था। उसे सुनकर बहुतसे याचक एकत्र हो जाते थे हरिभद्र उन्हें 'भवविरह करनेमें प्रयत्न करो' यह आशीर्वाद देते थे। इससे हरिभद्रसूरि 'भवविरह-सूरि'के नामसे प्रसिद्ध हो गये थे।"

चन्द्रप्रभसूरिके प्रभावक चरित[3] (ई० १२७७) में हंस परमहंसकी कथा इस प्रकार है–"हरिभद्रसूरिके हंस और परमहंस नामके दो शिष्य थे। ये दोनों भाई सुगतपुरमें बौद्ध शास्त्रोंके अध्ययनके लिये गये और वहाँ किसी बौद्धमठमें विद्याध्ययन करने लगे। उन्होंने एक पत्रपर जिन मतके खंडनका प्रतिखण्डन और दूसरेपर सुगतमतके दूषण लिख रखे थे। दैवयोगसे वे पत्र एक दिन हवामें उड़ गये और उनपर बौद्धगुरुकी दृष्टि जा पड़ी। उन्हें देखकर गुरुको इनके जैन होनेका सन्देह हो गया। परीक्षाके लिये उसने मार्गमें जिन-बिम्बका चित्र बनवा दिया और सब छात्रोंको उसपर पैर रखकर जानेकी आज्ञा दी। प्राणोंपर संकट जान-कर दोनों भाइयोंने खड़ियासे प्रतिमाके हृदयपर यज्ञोपवीतका चिह्न बना दिया और उसे बुद्ध प्रतिमा मानकर लाँघ गये। तब दूसरी परीक्षाके समय रात्रिमें ऊपर बर्तन गिराकर सहसा चौंका देनेवाला शब्द किया गया। हंस परमहंस चौंककर जागे और जिन देवका स्मरण करने लगे। इसी समय गुप्तचरों द्वारा पकड़ लिये गये। मठकी छतपरके कमरेमें दोनों भाई कैद कर दिये गये। मृत्युके भयसे दोनों भाई छातोंकी सहायतासे पृथिवीपर उतर कर भागे। उन्हें पकड़नेके लिये सवार दौड़ाए गये। हंसने अपने छोटे भाईको तो राजा सूरपालकी शरणमें भेज दिया और स्वयं लड़कर मारा गया।

सवार राजाके पास गये और अपराधीको माँगा किन्तु राजाने इनकार कर दिया और शास्त्रार्थका प्रस्ताव रखा। मठाधिपतिने प्रस्ताव तो स्वीकार कर लिया किन्तु यह कहकर कि बुद्धके मस्तकपर पैर रखनेवाले व्यक्तिका मुख हम नहीं देख सकते।

बौद्धोंने घटमें अपनी देवीका आह्वान किया और उससे परमहंसका शास्त्रार्थ हुआ। शास्त्रार्थ बहुत दिन तक चला। अन्तमें शासनदेवीके द्वारा बतलाये गये उपायसे काम लिया गया। अन्तमें परमहंसने विजय पाई और पर्दा खींचकर घड़ेको पैरसे फोड़ डाला। परमहंसने विजय तो पाई किन्तु उसकी विपत्तिका अन्त नहीं हुआ। बौद्ध पराजित हो और भी कुपित हो गये। अस्तु, किसी तरह आँख बचाकर वह सूरपालसे बिदा हुआ। रास्तेमें उसने एक धोबी देखा और सवारोंको समीप आया जानकर उससे कहा–भागो, सेना आ रही है। बेचारा धोबी कपड़े छोड़कर भाग खड़ा हुआ और परमहंसने उसका स्थान ले लिया। सवारोंके निकट आने पर और उससे उस मार्गसे जानेवाले मनुष्यका पता पूँछनेपर परमहंसने उस भागते हुए की ओर संकेत

(१) मुनि जिन विजयजी इसका समय १२ वीं शताब्दी मानते हैं–न्यायकु० प्र० भाग प्रस्ता० पृ० ३२ टि० १। डॉ० उपाध्येने बृहत्कथाकोशकी प्रस्तावना (पृ० ४५) में श्री दलालका मत इसे कर्णके राज्य-काल (ई० १०६४–९४) का मानने का तथा डॉ० जैकोबीका मत इसे ई० १२ वीं के उत्तरार्ध माननेका देकर अन्तमें इसे हेमचन्द्रके परिशिष्ट पर्व (ई० ११५० के लगभग) से पूर्ववर्ती माना है।

(२) न्यायकु० प्र० भाग प्रस्ता० पृ० ३२।

(३) प्रभावकचरित पृ० १०३–२३। न्यायकु० प्र० भाग प्रस्ता० पृ० ३२।

कर दिया। इस तरह अपनी जान बचाकर गुरुके पास पहुँचा,[1] और सब हाल सुनाते हुए भाईके तीव्र शोकके वेगसे उसकी छाती फट गई और वह वहीं मर गया। हरिभद्र सूरिको अपने प्रिय शिष्योंकी मृत्युसे बहुत खेद हुआ और उसका बदला लेनेके लिये उन्होंने बहुतसे बौद्ध पंडितोंको शास्त्रार्थमें हराया और शर्तके अनुसार उन्हें तप्त तैलमें डाल दिया। पीछे गुरुके द्वारा भेजी गई गाथाओंसे वे शान्त हुए। हरिभद्रके प्रत्येक ग्रन्थके अन्तमें 'विरह' शब्द आता है, जो उनके प्रिय शिष्योंके वियोगका चिह्न है।"

राजशेखरसूरिके चतुर्विंशतिप्रबन्ध (इ० १३४८) में भी हंस परमहंसकी कथा है[2]। उसमें शास्त्रार्थ और धोबीवाली घटना नहीं है। बाकी सब लगभग प्रभावकचरित्र जैसा ही है। उसमें दोनों भाइयोंने युद्ध किया, हंस मारा गया और परमहंस भागे। किन्तु सैनिकोंने चित्रकूट नगरके द्वारपर सोते हुए परमहंसका सिर काट लिया। आदि।

समीक्षा–

इन कथानकोंमें दो भाइयोंके बौद्धमठमें पढ़ने जाना, एकका मारा जाना दूसरेका शास्त्रार्थ करना आदि घटनाएँ लगभग एक जैसी हैं। हंस परमहंस नाम जैन परम्पराके अनुकूल नहीं लगते। हाँ, प्राकृत कथावलीके जिनभद्र और वीरभद्र नामों पर जैन परम्पराकी छाप है। कालकी दृष्टिसे प्रभाचन्द्रका कथाकोश सबसे पुराना है। इस प्रकारकी कथाओंमें शासनप्रभावनाकी बात मुख्य रहती है और ऐतिहासिक तथ्य उसीमें लिपटकर सामने आते हैं।

राजवली कथे आदि १६ वीं सदीकी बहुत बादकी रचनाएँ हैं। इनमें परम्परागत तथ्योंका अपने युगकी अनुश्रुतियोंसे मिलाकर प्रभावनार्थ चित्रण किया गया है। इन्हें इतिहासका समर्थन नहीं मिल पा रहा है। इनमें जिनदास और जिनमती नाम जैनत्वके रंग में रंगे हुए हैं। अन्य घटनाओं में धर्म-प्रभावनाकी भावना ही मुख्य रही है।

प्रभाचन्द्रका कथाकोश अवश्य प्राचीन साधन है जो कुछ ऐतिहासिक सामग्री उपस्थित करता है। यथा–

(१) **'मान्यखेट नगरीका राजा शुभतुङ्ग था।'** जहाँ तक ऐतिहासिक साधनोंसे जाना जा सका है राष्ट्रकूटवंशीय कृष्ण प्रथमकी उपाधि 'शुभतुङ्ग' थी[3]। राष्ट्रकूटोंकी राजधानी भी मान्यखेट थी, पर इसकी पुनः स्थापना अमोघवर्षने ई० ८१५ के आसपास की थी[4]। अमोघवर्षके पहिले गोविन्द तृतीयने वेंगीके पूर्वी चालुक्य द्वारा मान्यखेटके रक्षार्थ उसके चारों तरफ शहरपनाह बनवाई थी[5]। इसके भी पहिले शक संवत् ६९८ (ई० ७७६) के देवरहल्लि[6]के ताम्रपत्रोंमें मान्यपुरका उल्लेख है। जिससे श्रीपुरुषका विजय-स्कन्धावार ६९८ शकमें मान्यपुरमें था यह विदित होता है।

राष्ट्रकूटकालके विशिष्ट अभ्यासी डॉ आल्तेकर अमोघवर्षके पहिले राष्ट्रकूटोंकी राजधानी कहाँ थी यह निश्चय करनेमें कोई प्रमाण नहीं पाते।[7]

शुभतुङ्ग कृष्णराज प्रथम अपने भतीजे दन्तिदुर्ग द्वितीयकी जवानीमें ही मृत्यु हो जानेके बाद राज्याधिकारी हुए थे। दन्तिदुर्ग द्वितीयका एक दानपत्र[8] (शक सं० ६७५ ई० ७५३) सामनगढ़ (कोल्हापुर राज्य) में मिला है। इसमें इसके प्रतापका विस्तृत वर्णन है। भारत[9] इतिहास संशोधक मण्डलने एक ताम्रपत्र

(१) न्यायकु० प्र० भाग प्रस्ता० पृ० ३२।
(२) एपि० इं० भाग ३ पृ० १०६।
(३) ए० इं० भाग १२ पृ० २६३।
(४) भारतके प्राचीन राजवंश भाग ३ पृ० ३९।
(५) जैनशि० भाग २ लेख नं० १२१। ए० क० भाग ४ नागमंगल ता० नं० ८५।
(६) दी राष्ट्रकूटॉज एण्ड देअर टाइम्स पृ० ४८।
(७) ए० इं० भाग ११ पृ० १११। भा० प्रा० राज० भाग ३ पृ० २६।
(८) दी राष्ट्रकूटॉज० पृ० ४४।

कृष्णराजका प्रकाशित किया है। यह सितम्बर सन् ७५८ का है। अतः डॉ० आल्तेकर ई० ७५६ में ४५ वर्षकी अवस्थामें कृष्ण प्रथमका राज्याधिरोहण मानते हैं।[१]

यद्यपि अमोघवर्षके पहिले भी मान्यपुरका उल्लेख उपलब्ध है और अमोघवर्षके पहिले मान्यखेट राजधानी नहीं थी ऐसा उल्लेख नहीं है फिर भी यदि यही मान लिया जाय कि अमोघवर्षने ही मान्यखेटको राजधानी बनाया था तो इससे इतना ही कहा जा सकता है कि–कथाकोशकारके समय राष्ट्रकूटोंके साथ मान्यखेटका सम्बन्ध दृढ़मूल हो गया था और इसलिए कथाकोशकारने कृष्णराजको मान्यखेटका अधिपति लिख दिया है।

(२) **'शुभतुंगके मन्त्री पुरुषोत्तम थे।'** यद्यपि अभी तक किसी दूसरे प्रमाणोंसे पुरुषोत्तमके मन्त्री होनेका कोई समर्थन नहीं हो सका है फिर भी अकलङ्कदेवका मन्त्रीपुत्र होना अनहोनी बात नहीं है। ये स्वयं जागीरदार या ताल्लुकेदार होकर 'नृपति' कहे जाते होंगे।

(३) **'कलिंगाधिपति हिमशीतलकी सभामें शास्त्रार्थ करना'**–यद्यपि स्पष्टरूपसे अभी कोई हिमशीतल इतिहासके पृष्ठोंपर अवतीर्ण नहीं हो सका है फिर भी डॉ० ज्योतिप्रसादजी ने 'अकलङ्क परम्पराके महाराज हिमशीतल' लेखमें[२] त्रिकलिङ्गाधिपति सोमवंशी सम्राट् नगहुषराज महाभवगुप्त चतुर्थ (ई० १९-६४४) को हिमशीतलके रूपमें निश्चित करनेका प्रयत्न किया है। किन्तु उनका समस्त लेख यह मानकर चला है कि अकलंक चरितमें उल्लिखित ७०० संवत्का शास्त्रार्थ विक्रम सं० ७०० में हुआ था, अतः सन् ६४३ के आसपास किसी राजाकी खोज की जाय और उन्होंने नगहुषराज महाभवगुप्त चतुर्थको हिमशीतल मान लिया किन्तु जब अकलंकका समय सुदृढ़ प्रमाणोंसे ई० ७२०–७८० सिद्ध हो रहा है, तब इस प्रकारकी खींचतान पूर्वक की गई कल्पनाओंसे इतिहासकी रक्षा नहीं हो सकती।

निष्कलङ्ककी समस्या–

निष्कलङ्कके विषयमें पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने लिखा है[३] कि–"किसी भी शिलालेख या ग्रन्थमें निकलङ्क नामके व्यक्तिका उल्लेख नहीं पाया जाता। दूसरोंका तो कहना ही क्या स्वयं अकलङ्क तक उसके सम्बन्धमें मूक हैं। जरा सोचिए तो सही, छोटा भाई बड़े भाईके प्राण बचानेके लिये सिर कटवा दे और इस प्रकार जीवनके महत् उद्देश्य जिनशासनके प्रचार और प्रसारमें सहायक हो और बड़ा भाई उसके इस महान् त्यागकी स्मृतिमें उसका नाम तक भी न ले, क्या यह सम्भव है? हम हैरान हैं कि कथाकारने किस आधार-पर अकलङ्कके साथ निकलङ्ककी कल्पना कर डाली।" उनका यह लिखना विचारणीय है। प्राकृत कथावलीसे कालकी दृष्टिसे गद्यकथाकोश पुराना है, अतः उसके आधारसे इसमें यह कल्पना नहीं आ सकती। तत्त्वार्थवार्तिकके **'नृपतिवरतनयः'** से यदि अकलङ्कको वरतनय-ज्येष्ठपुत्र माना जाय तो अवश्य उनके लघुभ्राताकी सूचना मिलती है।

तत्त्वार्थवार्तिक गत श्लोक–

तत्त्वार्थवार्तिक[४] प्रथम अध्यायके अन्तमें निम्नलिखित श्लोक पाया जाता है–

"जीयाच्चिरमकलङ्कब्रह्मा लघुहव्वनृपतिवरतनयः।
अनवरतनिखिलविद्वज्जननुतविद्यः प्रशस्तजनहृद्यः॥"

---

(१) दी राष्ट्रकूटॉज० पृ० ४४।

(२) ज्ञानोदय वर्ष २ अंक १७–२१ तक।

(३) न्यायकुमु० भाग १ प्रस्ता० पृ० ३२।

(४) भारतीय ज्ञानपीठका संस्करण पृ० ९९।

इस श्लोकमें अकलङ्कको लघुहव्वनृपतिका वरतनय—ज्येष्ठपुत्र या श्रेष्ठपुत्र बताया है। यह श्लोक श्रवणबेलगोला और मूडबिद्रीकी ताडपत्रीय प्रतियोंमें नहीं पाया जाता। व्यावरकी ताडपत्रीय प्रति तथा अन्य उत्तरप्रान्तीय प्रतियोंमें पाया जाता है। यह श्लोक चूँकि प्रथम अध्यायके अन्तमें दिया है तथा कुछ प्रतियोंमें उपलब्ध नहीं है अतः इसकी अकलङ्ककर्तृकता बहुत निश्चित नहीं कही जा सकती। फिर भी यदि यह श्लोक वस्तुतः अकलङ्ककर्तृक है या तत्समकालीन या निकट उत्तरवर्ती किसी आचार्यकी कृति है तो इससे अकलङ्क के पिताका नाम लघुहव्व सूचित होता है। हमने अकलङ्कग्रन्थत्रयकी प्रस्तावना (पृ० १२) में इस समस्याके सुलझानेके लिये निम्नलिखित वाक्य लिखे थे—

"मुझे तो ऐसा लगता है कि लघुहव्व और पुरुषोत्तम एक ही व्यक्ति हैं। राष्ट्रकूट वंशीय इन्द्रराज द्वितीय तथा कृष्णराज प्रथम सगे भाई थे। इन्द्रराज द्वितीय का पुत्र दन्तिदुर्ग द्वितीय अपने पिताकी मृत्युके बाद राज्याधिकारी हुआ था। कर्नाटक प्रान्तमें पिताको अव्व या अप्प कहते हैं। संभव है कि दन्तिदुर्ग अपने चाचा कृष्णराजको भी अव्व कहता हो। यह एक साधारण नियम है कि जिसे राजा 'अव्व' कहता हो प्रजा भी उसे अव्व ही कहती है। कृष्णराज जिसका दूसरा नाम शुभतुंग था दन्तिदुर्गके बाद राज्याधिकारी हुआ। मालूम होता है कि पुरुषोत्तम कृष्णराजके प्रथमसे ही लघु-सहकारी रहे हैं, इसलिए स्वयं दन्तिदुर्ग और प्रजाजन इन्हें 'लघुअव्व' कहते हों। बादमें कृष्णराजके राज्यकालमें ये मन्त्री बने हों। कृष्णराज अपनी परिणत अवस्थामें राज्याधिकारी हुए थे, इसलिये यह माननेमें कोई आपत्ति नहीं है कि पुरुषोत्तमकी अवस्था भी करीब-करीब उतनी ही होगी और उनका श्रेष्ठ पुत्र अकलङ्क दन्तिदुर्ग द्वितीयकी सभामें जिनका उपनाम 'साहसतुंग' है अपने हिमशीतलकी सभामें हुए शास्त्रार्थकी बात कहे। पुरुषोत्तमका लघुअव्व नाम इतना रूढ़ हो गया था कि अकलंक भी उनके असली नाम पुरुषोत्तमकी अपेक्षा प्रसिद्ध नाम 'लघुअव्व' ही अधिक पसन्द करते हों। यदि तत्त्वार्थवार्तिकवाला उक्त श्लोक अकलङ्क या तत्समकालीन किसी अन्य आचार्यका है तो उसमें पुरुषोत्तमकी जगह 'लघुअव्व' नाम आना स्वाभाविक ही है। लघुअव्व एक तल्लुकेदार होकर भी विशिष्ट राजमान्य तो थे ही अतः वे नृपति भी कहे जाते हों।...यदि पुरुषोत्तम और लघुअव्व के एक ही व्यक्ति होनेका अनुमान सत्य है तो कहना होगा कि अकलङ्ककी जन्मभूमि मान्यखेट या उसके पास ही होगी। उनके पिताका असली नाम पुरुषोत्तम तथा प्रचलित नाम 'लघुअव्व' होगा। लघुअव्व की जगह लघुहव्व होना तो उच्चारणकी विविधता और प्रतिके लेखन वैचित्र्यका फल है।"

इसमें मैं यह और जोड़ देना चाहता हूँ कि—'यह श्लोक स्वयं अकलङ्कका तो प्रतीत नहीं होता साथ ही कथाकोशकार प्रभाचन्द्र (ई० ९६०-११६५) के पश्चात् ही वह तत्त्वार्थवार्तिककी कुछ प्रतियोंमें प्रक्षिप्त हुआ है; क्योंकि प्रभाचन्द्रने अकलङ्कदेवके तत्त्वार्थवार्तिकका न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ६४६) में निर्देश किया है। यदि तत्त्वार्थवार्तिकका में यह श्लोक होता तो प्रभाचन्द्र अपने गद्यकथाकोशकी कथामें अकलङ्कके पिताके 'लघुहव्व' नाम का निर्देश अवश्य करते। जैसा कि आगे सिद्ध किया जायगा कि अकलङ्कका समय ई० ७२० से ७८० तक है, तो उनका शुभतुंग (ई० ७५६ से ७७२) के मन्त्रीका पुत्र होना इतिहास-विरुद्ध नहीं हो पाता।'

*

अकलङ्ककी तुलना

इस प्रकरणमें क्रमशः उन पूर्ववर्ती और समकालीन आचार्योंकी तुलना प्रस्तुत की जाती है जिनसे अकलङ्कने अपने 'अकलङ्क न्याय' को समृद्ध किया है तथा जिनके मतोंकी समीक्षा की है—

---

(१) तत्त्वार्थवार्तिककी मूडबिद्रीकी भोजपत्रीय प्रति तथा श्रवणबेलगोलाकी ताडपत्रीय प्रतिमें यह श्लोक नहीं है। देखो भारतीयज्ञानपीठसे प्रकाशित संस्करण पृ० ९९।

पुष्पदन्त भूतबलि और अकलङ्क–

षट्खण्डागम[1] सिद्धान्तग्रन्थके जीवट्ठाणकी सत्प्ररूपणाके कर्ता आचार्य पुष्पदन्त तथा शेष अंशके तथा अन्य पाँच खंडोंके कर्ता आचार्य भूतबलि है। इनका रचना काल ई० प्रथम शताब्दी माना जाता है[2]। अकलङ्कदेव पहिले सैद्धान्तिक-दार्शनिक थे पीछे उनका तार्किक-दार्शनिकरूप सामने आया है। तत्त्वार्थवार्तिकमें उन्होंने आगमके रूपमें जीवस्थान[3] का उल्लेख किया है। मनःपर्यय ज्ञानके वर्णन[4]में आगमके नामसे **"मनसा मनः परिच्छिद्य"** आदि महाबंध (पृ०२४) का अंश उद्धृत किया है। इसी तरह जहाँ भी आगमिक वर्णन है अकलङ्कदेवने इन्हीं ग्रन्थोंका आधार लिया है।

कुन्दकुन्द और अकलङ्क–

दिगम्बर परम्परामें आ० कुन्दकुन्द आम्नायके प्रवर्तक आचार्योंमें हैं। आगमिक अकलङ्कको भूतबलि पुष्पदन्तके बाद जिनकी विरासत मिली है, वे हैं आचार्य कुन्दकुन्द। ये प्रथम सदीके आचार्य माने जाते हैं।[5] इनके ग्रन्थोंमें दार्शनिकताकी पुट भी थोड़ी बहुत देखी जाती है। समयप्राभृत पञ्चास्तिकाय प्रवचनसार और नियमसारमें प्रायः इसके दर्शन होते हैं। अकलङ्कदेवने द्रव्यके उत्पाद व्यय और ध्रौव्यसे भेदाभेदकी चरचामें कुन्दकुन्दकी विचार सरणिका पूरा लाभ लिया है।

उमास्वाति और अकलङ्क–

जैन आगमिक और सैद्धान्तिक वाङ्मयको संस्कृतसूत्रमें निबद्ध करनेवाला आद्य ग्रन्थ तत्त्वार्थ-सूत्र है। इसके कर्ताके नाम उमास्वाति और उमास्वामी दोनों प्रसिद्ध हैं। उन्हींकी एक उपाधि गृद्धपिच्छ थी। इसके दो पाठ प्रचलित हैं–एक भाष्यमान्य और दूसरा सर्वार्थसिद्धिमान्य। अकलङ्कदेवने सर्वार्थसिद्धि-मान्य सूत्रपाठ पर तत्त्वार्थवार्तिक ग्रन्थ लिखा है तथा भाष्यमान्य सूत्रपाठ तथा भाष्य दोनोंकी आलोचना की है। भाष्यके एक दो वाक्योंको अपने तत्त्वार्थवार्तिक में वार्तिक बनाया है[6]। दसवें अध्यायके अन्तका गद्य और पद्य सभी तत्त्वार्थवार्तिकमें हैं।

तत्त्वार्थसूत्रके **"प्रमाणनयैरधिगमः"** इस सूत्रके अधिगमके उपायों पर ही लघीयस्त्रयका प्रमाणनय-प्रवेश बनाया गया है। अकलङ्कदेव सिद्धिविनिश्चय आदि में सर्वत्र सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ के सूत्र ही उद्धृत करते हैं।

समन्तभद्र और अकलङ्क–

सप्तभंगी और स्याद्वादके प्रतिष्ठापक युगप्रधान आचार्य समन्तभद्रके समयके सम्बन्धमें अभी ऐकमत्य नहीं है। जैनेन्द्रव्याकरणमें **'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य'** उल्लेख रहने पर भी पं० सुखलालजी और पं० नाथूरामजी प्रेमी उन्हें पूज्यपादका वृद्ध समकालीन मानते हैं[7]। इसका विशेष कारण यह दिया गया है कि–विद्यानन्दके उल्लेखानुसार **'मोक्षमार्गस्य नेतारम्'** श्लोक पर ही समन्तभद्रने आप्तमीमांसा बनाई है। यह निस्सन्देह सही है कि यह श्लोक पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिका मंगलाचरण है, पर विद्यानन्द इसे सूत्रकारका ही कहते हैं, यद्यपि वे स्वयं इस श्लोक की तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें व्याख्या नहीं करते। ऐसी दशामें विद्यानन्द के उल्लेखकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि निर्बल हो जाती है और उनके 'स्वामिमीमांसितम्' का कोई ऐतिहासिक महत्त्व नहीं रह जाता। दूसरी ओर पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार इन्हें वि० की द्वितीय शताब्दीका विद्वान् समझते[8]

(१) डॉ० हीरालाल–षट्खंडागम प्रथम पु० प्रस्ता० पृ० २०। (२) वही पृ० ३५।
(३) त० वा० पृ० ७९, १३५, १५४। (४) वही पृ० ८५।
(५) डॉ. ए. एन–उपाध्ये–प्रवचनसार भूमिका।
(६) त० वा० पृ० १७। (७) त० सू० १।६।
(८) जैनसा० इ० पृ० ४५–४६। (९) जैनसा० इ० वि० प्र० पृ० ६९७।

हैं। फिलहाल इनके समयका सटीक निर्णायक अन्तरङ्ग प्रमाण सामने नहीं आया। अकलङ्कदेवको अनेकान्त और सप्तभङ्गीका मूल चौखटा समन्तभद्र स्वामीसे ही प्राप्त हुआ था। उनने समन्तभद्रभारतीको अकलङ्क भारती बनाया है।

अकलङ्कदेवने इन्हींकी आप्तमीमांसा पर अष्टशती टीका लिखी है और इनका सबहुमान श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है। समन्तभद्रके सूत्रोंको पकड़कर अकलङ्कदेवने जैनन्याय और प्रमाणशास्त्र की पूरी तरह प्रस्थापना की है। वे इनके लिये स्याद्वादपुण्योदधिप्रभावक भव्यैकलोकनयन और स्याद्वादवर्त्मपरिपालकके रूपमें श्रद्धेय रहे हैं और उन्हींके आदर्शपर इन्होंने अकलङ्कन्यायका भव्य प्रासाद खड़ा किया है।

सिद्धसेन और अकलङ्क–

स्वतन्त्र विचारक आ० सिद्धसेनका सन्मतिसूत्र ग्रन्थ प्रसिद्ध है। द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशतिकाएँ और न्यायावतार इन्हीं की कृति मानी जाती हैं। इनका समय वि० ५ वीं सदी माना जाता है[1]। इनके समयकी उत्तरावधि आ० पूज्यपादका समय (वि० ५ वीं) है, क्योंकि उन्होंने द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशतिका (३।१६)से सर्वार्थसिद्धि (७।१३)में **'वियोजयति चासुभिः'** श्लोक उद्धृत किया है। इनके सन्मतिसूत्रकी (१।३) **'तित्थयरवयण'** गाथाका संस्कृतीकरण लघीयस्त्रय (श्लो० ६७)में किया गया है। तत्त्वार्थवार्तिक (पृ० ८७) में सन्मति० (२।१६) की **'पण्णवणिज्जा'** गाथा तथा पृ० ५४०में **'वियोजयति'** श्लोक द्वात्रिंशतिका (३।१६) से उद्धृत किया गया है। इस तरह सिद्धसेनका सम्मतितर्क अकलङ्कदेवको प्रमाणभूत रहा है। उसके अनेक मन्तव्योंका राजवार्तिकमें उल्लेख है। सिद्धिवि० (६।२१) के **'असिद्धः सिद्धसेनस्य'** श्लोकमें इनका नामोल्लेख सर्वप्रथम किया गया है।

यतिवृषभ और अकलङ्क–

कषायपाहुड चूर्णिके कर्त्ता यतिवृषभ आगमिक विद्वान् हुए हैं। उनका तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ भी प्रसिद्ध है। तिलोयपण्णत्तिके वर्तमान स्वरूपमें विद्वानोंमें मतभेद है[2]। इनका समय ई० ४७३ और ई० ६०९ के बीच निर्धारित किया गया है[3]।

अकलङ्कदेवने अपनी प्रारम्भिक दार्शनिक कृति लघीयस्त्रयके प्रवचन प्रवेशमें–

"प्रणिपत्य महावीरं स्याद्वादेक्षणसप्तकम्।
प्रमाणनयनिक्षेपानभिधास्ये यथागमम्॥"

इस मंगल प्रतिज्ञा श्लोकके अनन्तर आगमानुसार प्रमाण नय और निक्षेपका लक्षण करनेके लिये यह श्लोक लिखा है–

"ज्ञानं प्रमाणमात्मादेरुपायो न्यास इष्यते।
नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः॥"

तिलोयपण्णत्तिके प्रथम अधिकारमें निम्न लिखित दो गाथाएँ हैं–

"जो ण पमाणणयेहिं णिक्खेवेणं णिक्खदे अत्थं।
तस्याजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं च पडिहादि ॥८२॥

---

(१) सन्मतिप्रकरण प्रस्ता० पृ० ४१। जैनतर्कवा० प्रस्ता० पृ० १४१।
(२) न्यायकुमु० प्र० प्रस्ता० पृ० ७२।
(३) देखो–तिलोयप० द्वि० प्रस्ता० पृ० १५। और जैनसा० और इ० वि० प्र० पृ० ५८६।
(४) जयधवला प्र० प्रस्ता० पृ० ५७। तिलोयप० द्वि० प्रस्ता० पृ० १५।
(५) लघी० पृ० १८।

णाणं होदि पमाणं णओ वि णादुस्स हिदयभावत्थो ।
णिक्खेवो वि उवाओ जुत्तीए अत्थपडिगहणं[1] ॥८३॥"

इसमें दूसरी गाथाका संस्कृत रूपान्तर अकलङ्कके द्वारा आगमानुसार प्रवचन प्रवेशमें किया गया है।

लघीयस्त्रयके परिचयमें आगे बताया जायगा कि अकलङ्कदेवने पहिले 'प्रमाणनयप्रवेश' बनाया तदनन्तर स्वतन्त्र प्रवचनप्रवेश। केवल 'प्रवचन प्रवेश' की प्रतियाँ भी [2]मिलती हैं। पीछे स्वयं अकलङ्कने या अनन्तवीर्यने दोनों ग्रन्थोंको मिलाकर प्रवेशके अनुसार लघीयस्त्रय नाम दिया है। यह श्लोक प्रवचन-प्रवेशकी मंगल-प्रतिज्ञाके बाद ही दिया गया है जिसमें 'यथागमं' प्रवचन प्रवेशार्थ ये लक्षण किये जा रहे हैं।

यह भी सही है कि अकलङ्कदेव आगमिक-दार्शनिक होनेके बाद ही तार्किक-दार्शनिक बने हैं, क्योंकि तत्त्वार्थवार्तिकमें उनके आगमिक-दार्शनिकताके दर्शन होते हैं तदनन्तर ही तार्किक-दार्शनिकताका स्वरूप आता है।

इसी प्रवचनप्रवेश (पृ० २३) में आ०सिद्धसेनके सन्मतिसूत्र की–

"तित्थयरवयणसंगहविसेसपत्थारमूलवागरणी ।
दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पासिं ॥"–सन्मति० १।३।

इस गाथाका संस्कृत रूपान्तर इस प्रकार किया गया है–

"ततः तीर्थकरवचनसंग्रहविशेषप्रस्तारमूलव्याकारिणौ द्रव्यपर्यायार्थिकौ निश्चेतव्यौ।"
–लघी० स्ववृ० श्लो० ६७।

इससे इतनी बात स्पष्ट हो जाती है कि अकलङ्कदेवने अपने आगमिक-दार्शनिक कालमें प्राचीन आगम-वाक्योंका संस्कृतीकरण किया है, अतः **'ज्ञानं प्रमाण'** श्लोक उनकी मौलिक कृति नहीं है। धवला टीकामें तो वह तिलोयपण्णत्ति और लघीयस्त्रय दोनोंसे ही उद्धृत हो सकता है पर अधिक संभावना यही है कि वह तिलोयपण्णत्तिसे संस्कृत रूपान्तरित होकर उद्धृत हुआ है; क्योंकि धवलामें तिलोयप० की दोनों गाथाओंका रूपान्तर है और **'ज्ञानं प्रमाणमित्याहुः'** पाठ है जो तिलोयप० के **'णाणं होदि पमाणं'** का रूपान्तर है।

श्रीदत्त और अकलङ्क–

आ० देवनन्दिने जैनेन्द्र व्याकरण (१।४।३४) में श्रीदत्त नामके आचार्यका उल्लेख किया है। अकलङ्कदेवने भी तत्त्वार्थवार्तिक (पृ० ५७) में शब्द प्रादुर्भाव अर्थमें इति शब्दके प्रयोगकी चरचाके प्रसङ्गसे **'इति श्रीदत्तम्'** उल्लेख किया है। इससे ज्ञात होता है कि ये कोई शब्दनिष्णात आचार्य थे। ये पूज्य-पादसे पूर्ववर्ती थे। आ० विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें इन्हें ६३ वादियोंका विजेता कहा है तथा इनके जल्प निर्णय ग्रन्थका उल्लेख किया है[3]। आ० जिनसेनने भी इनका **'प्रवादीभप्रभेदिन्'** के रूपमें स्मरण किया है।[4] अकलङ्कके सिद्धिविनिश्चयके जल्पसिद्धि प्रकरण तथा जय-पराजयव्यवस्थापर पात्रस्वामीकी तरह इनका प्रभाव हो सकता है।

पूज्यपाद और अकलङ्क–

पूज्यपाद देवनन्दि आचार्यने जैनेन्द्रव्याकरण और सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रन्थ बनाये हैं। इनका समय[5]

(१) इन दोनों गाथाओंका संस्कृत रूपान्तर धवला टीका (सत्प्र० पु० १ पृ० १६) में उद्धृत है। कुछ विद्वानोंका विचार है (जैन सि० भा० भाग ११ किरण १) कि तिलोयपण्णत्तिमें ही अकलङ्कके संस्कृत-श्लोकका प्राकृतीकरण किया गया है, पर ऐसा प्रमाणित नहीं होता।

(२) कन्नडप्रा० ता० सूची।

(३) "त्रिप्रकारं जगौ जल्पं तत्त्वप्रातिभगोचरम् ।
त्रिषष्टेर्वादिनां जेता श्रीदत्तो जल्पनिर्णये ॥४५॥"– त० श्लो० पृ० २८०।

(४) आदिपु० १।४५। (५) जैनसा० इ० पृ० ४१–।

ई० ५ वीं सदी है। अकलङ्कदेवने सर्वार्थसिद्धिकी पंक्तियोंको वार्तिक बनाकर तत्त्वार्थवार्तिककी रचना की है, तत्त्वार्थवार्तिकमें प्रायः जैनेन्द्र व्याकरणके ही सूत्रोंके उद्धरण दिये हैं, सिद्धिविनिश्चय वृत्ति[1]में शब्दानुशासन-दक्ष पूज्यपादका उल्लेख किया है, तथा सिद्धिविनिश्चय[2] के **'असिद्धः सिद्धसेनस्य'** श्लोकमें **'विरुद्धो देवनन्दिनः'** लिखकर देवनन्दिका उल्लेख किया है। तात्पर्य यह कि अकलङ्कदेवको पूज्यपादके ग्रन्थ आधार-भूत रहे हैं। अकलङ्कदेवने पूज्यपादके प्रति अपनी विनयवृत्ति पूरी तरह प्रकट की है।

मल्लवादी और अकलङ्क–

श्री मुनि जम्बूविजयजीने आचार्य मल्लवादीके नयचक्रका सिंहसूरि गणि क्षमाश्रमणकी वृत्तिसे उद्धार करके संपादन किया है। मल्लवादीके मूल नयचक्रमें भर्तृहरि और दिग्नागके मत आये हैं, अतः इनका समय ई० ५ वींके पूर्व नहीं है। इन्होंने सिद्धसेनके उद्धरण दिये हैं इसलिये भी इस समयका समर्थन होता है। अकलङ्कदेवने न्यायविनिश्चय[3] और प्रमाणसंग्रह[4] में नयोंका विशेष विवरण जिस नयचक्रसे देखनेकी प्रेरणा की है वह यही नयचक्र मालूम होता है। आ० देवसेन (ई० ९३३)का एक नयचक्र प्रकाशित हुआ है किन्तु अकलङ्क और विद्यानन्द द्वारा उल्लिखित यह नयचक्र नहीं है। नयचक्र पर सिंहसूरिगणि क्षमाश्रमणकी वृत्ति है। इसमें 'विद्वन्मन्य अद्यतन बौद्ध' विशेषणसे अपोहसमर्थक दिग्नागका उल्लेख मानकर इन्हें दिग्नागका समकालीन कहा जाता है[5]। इनके ग्रन्थोंमें धर्मकीर्ति तथा उनके शिष्य परिवारके किसी ग्रन्थका उल्लेख नहीं है, अतः ये ई० ७ वींके पहिले और दिग्नाग (५ वीं) के बादके विद्वान् हो सकते हैं। अकलङ्कदेवके तत्त्वार्थवार्तिक (१।३३)में **'सूत्रपातवद् ऋजुसूत्रः'** वाक्य [6]नयचक्रसे आया है।

जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण और अकलङ्क–

आचार्य जिनभद्र क्षमाश्रमणके विशेषावश्यक भाष्य आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनके समयकी उत्तरावधि ई० ६०९ है। मुनि श्री जिनविजयजीने जैसलमेर भंडारसे प्राप्त विशेषावश्यक भाष्यकी प्रतिके अन्तमें पाई जानेवाली प्रशस्तिकी इन गाथाओंके आधारसे उनका काल ई० ६०९ ही निर्धारित किया है।

"पंचसता इगतीसा सगणिवकालस्स वट्टमाणस्स।
तो चेत्त पुण्णिमाए बुधदिण सातिम्मि णक्खत्ते॥
रज्जे णु पालणपरे सी [लाइ] च्चम्मि णरवरिन्दम्मि।
वलभीणगरीए इमं महवि·····मि जिणभवणे॥"

प्रो० दलसुख मालवाणिया इसे प्रति लेखनका काल इसलिये मानते हैं कि उक्त गाथाओंमें ग्रन्थ समाप्तिका सूचक शब्द नहीं है और वे ई० ५९३ इनकी उत्तरावधि लिखते हैं[7]। अस्तु, ये ई० ६ वींके अन्तभाग और अन्ततः ई० ६०९ तकके विद्वान् हैं। इन्होंने अपने विशेषावश्यक भाष्यमें प्रत्यक्षके मुख्य और सांव्यवहारिक दो भेद करके इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न ज्ञानको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है[8]। अकलङ्कदेवने भी प्रमाणसंख्या व्यवस्था करते समय प्रत्यक्षके ये ही दो भेद किये हैं[9]। इस तरह अकलङ्क-

---

(१) सिद्धिवि० पृ० ६५३। (२) सिद्धिवि० ६।२१।

(३) "इष्टं तत्त्वमपेक्षातो नयानां नयचक्रतः।"–न्यायवि० ३।४७७।

(४) "तद्विशेषाः प्रपञ्चेन संचिन्त्या नयचक्रतः।"–प्रमाणसं० पृ० १२५।

(५) प्रो० दलसुखभाई– 'आचार्य मल्लवादीका नयचक्र' लेख, विजयेन्द्रसूरि स्मारकग्रन्थ।

(६) नयच० हू० लि० पृ० ३४५ ख०। (७) देखो गणधरवाद प्रस्ता० पृ० ३२।

(८) "इंदियमणोभवं जं तं संववहारपच्चक्खं।"–विशेषा० गा० ९५।

(९) "प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः।"–लघी० श्लो० ३।

देवने आगमिक क्षमाश्रमणके विचारोंका अपनी प्रमाण व्यवस्थामें उपयोग किया है। यद्यपि सांव्यवहारिक प्रमाण माननेकी परम्परा विज्ञानवादी बौद्धोंसे प्रचलित रही है[1] पर जैन परम्परामें सर्व प्रथम इस विचारका प्रवेश विशेषावश्यकमें ही देखा गया है।

पात्रकेसरी और अकलङ्क–

अनन्तवीर्यके उल्लेख[2]के अनुसार पात्रकेसरीका त्रिलक्षणकदर्थन ग्रन्थ था। [3]तत्त्वसंग्रहमें पात्रस्वामीके नामसे **"अन्यथानुपपन्नत्वं"** श्लोक उद्धृत है। [4]शिलालेखोंमें 'सुमति' से पहिले पात्रस्वामीका नाम आता है। हेतुका त्रिलक्षण स्वरूप दिग्नागने न्यायप्रवेशमें स्थापित किया है और उसका विस्तार धर्मकीर्तिने किया है। पात्रस्वामीका पुराना उल्लेख करनेवाले शान्तरक्षित (ई० ७०५–७६२) और कर्णकगोमि (ई ७ वींका उत्तरार्ध और ८वींका पूर्वार्ध) हैं। अतः इनका समय दिग्नाग (ई० ४२५) के बाद और शान्तरक्षितके मध्यमें होना चाहिए। ये ई० ६ वीं के उत्तरार्ध और ७ वीं के पूर्वार्धके विद्वान् ज्ञात होते हैं। इनके प्रसिद्ध **'अन्यथानुपपन्नत्वं'** श्लोकको अकलङ्कदेवने न्यायविनिश्चय[5]के मूलमें शामिल कर लिया है।

भर्तृहरि और अकलङ्क–

वैयाकरण दर्शनके प्रतिष्ठापक आचार्य भर्तृहरिका समय अभी तक इत्सिंगके यात्राविवरणके उल्लेखके आधारसे ई० ६५० निर्विवाद रूपसे माना जाता था; क्योंकि इत्सिंग (ई० ६९१) ने लिखा था कि भर्तृहरिको मरे हुए अभी ४० वर्ष हुए हैं। परन्तु मुनि श्री जम्बूविजयजीने **"जैनाचार्य मल्लवादि अने भर्तृहरिनो समय"** शीर्षक लेख[6]में इस बद्ध धारणाको बदलनेके निम्नलिखित कारण उपस्थित किये हैं—

"(१) भर्तृहरि वसुरातके शिष्य थे। वाक्यपदीयकी टीकामें पुण्यराजने भी यह उल्लेख किया है तथा नयचक्रमें मल्लवादी भी इसका निर्देश करते हैं[7]। परमार्थपंडितने ई० ५६० के आसपास चीनी भाषामें वसुबन्धुका जीवन लिखा है। उसमें बताया है कि जब महावैयाकरण वसुरातने वसुबन्धुरचित अभिधर्मकोशमें व्याकरणसम्बन्धी अशुद्धियाँ बताईं तो वसुबन्धुने उन दोषोंके परिहारके लिये एक ग्रन्थ बनाया था, यह बात विद्वज्जन स्वीकार करते हैं। वसुबन्धुका समय ई० २८०-३६० माना जाता है[8]। अतः वसुबन्धुके समकालीन वसुरात के शिष्य भर्तृहरिका समय अन्ततः ई० ५वीं का पूर्वार्ध ही हो सकता है।

(२) वसुबन्धुके शिष्य दिग्नागने प्रमाणसमुच्चयके ५ वें अपोहपरिच्छेदके अन्तिम भागमें भर्तृहरिकी वाक्यपदीय की ये दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं—

"संस्थानवर्णावयवैर्विशिष्टे यः प्रयुज्यते।
शब्दो न तस्यावयवे प्रवृत्तिरुपलभ्यते॥
संख्याप्रमाणसंस्थाननिरपेक्षः प्रवर्तते।
बिन्दौ च समुदाये च वाचकः सलिलादिषु॥"

–वाक्यप० २।१५६-५७।

प्रमाणसमुच्चयके टीकाकार जिनेन्द्रबुद्धिने विशालमलवती टीका[9] में **'यथाह भर्तृहरिः'** लिखकर इन श्लोकोंकी टीका लिखी है। ये श्लोक दिग्नागने मूल प्रमाणसमुच्चयमें दिये हैं। इससे स्पष्ट है कि भर्तृहरि

---

(१) "प्रामाण्यं व्यवहारेण"–प्र० वा० १।७।
(२) देखो आगे 'अनन्तवीर्य अद्वालु तार्किक' प्रकरण। (३) वही। (४) पृ० ८।
(५) न्यायवि० श्लो० २।३२३। (६) बुद्धिप्रकाश पु० ९८ अंक ११ नवम्बर १९५१।
(७) 'वसुरातस्य भर्तृहर्युपाध्यायस्य मतं तु तथा···"–नयचक्र०।
(८) तत्त्वसं० प्रस्ता० पृ० ६४।
(९) मुनि श्री जम्बूविजयजीने इस टीकाका तिब्बेटियनसे अनुवाद करके इस स्थल की जाँच की है।

वैयाकरण दिग्नागके समकालीन थे और उनके गुरु वसुरात दिग्नागके गुरु वसुबन्धुके समकालीन। दिग्नागका समय ई० ४२५ के आसपास है। अतः भर्तृहरि ईसा की ५ वी सदीके पूर्वार्द्धके पूर्वके ही विद्वान् ठहरते हैं बादके नहीं।

(३) इसका एक साधक प्रमाण यह है कि नयचक्रके कर्ता मल्लवादीका परम्परागत समय वीरनिर्वाण ७८४ वि० संवत् ४१४ ई० ३५७ माना जाता है। इन्होंने अपने नयचक्रमें वसुरात और भर्तृहरिका नाम लेकर उनका मत तथा वाक्यपदीयकी कारिकाएँ उद्धृत[1] की हैं। अतः भर्तृहरिका समय भी ई० ४ थी सदीका उत्तरार्ध ही होना चाहिए।"

मुनि श्री जम्बूविजयजीकी युक्तियाँ विचारणीय हैं और स्वीकरणीय हैं। इससे एक बहुत बड़ी भ्रान्तिका निवारण हो जाता है।

इसके पहिले प्रो० ब्रूनो लीविश और सी० कुन्हनराजने भर्तृहरिका समय ई० ४५० सिद्ध किया है[2], जो उपयुक्त है। ऐसी दशामें इत्सिंगके द्वारा निर्दिष्ट भर्तृहरि वैयाकरण भर्तृहरि नहीं है अपि तु कोई शून्यवादी दूसरा पंडित था जैसा कि इत्सिंगने स्वयं लिखा है–

"इसके अनन्तर भर्तृहरि शास्त्र है यह पूर्वोल्लिखित चूर्णिकी टीका है और भर्तृहरि नामके एक परम विद्वान्की रचना है। इसमें २५ हजार श्लोक हैं और इसमें मानव जीवन तथा व्याकरणशास्त्रके नियमोंका पूर्णरूपसे वर्णन है।[3]...उसका तीन रत्नोंमें अगाध विश्वास था और इसमें वह दुहरे शून्यका बड़ी धुनसे ध्यान करता था। सर्वोत्कृष्ट धर्मके आलिङ्गनकी इच्छासे वह परिव्राजक हो गया, परन्तु सांसारिक वासनाओंके वशीभूत होकर वह फिर गृहस्थीमें लौट गया। इसी रीतिसे वह सात बार परिव्राजक बना और सात ही बार फिर गृहस्थीमें लौट गया।...वह धर्मपालका समकालीन था...तब वह उपासककी अवस्थामें वापिस चला गया और मठमें रहते हुए एक श्वेत वस्त्र पहिनकर सच्चे धर्मकी उन्नति और वृद्धि करता रहा। उसकी मृत्यु हुए चालीस वर्ष हुए हैं।[4]"

"इनके अतिरिक्त वाक्यपदीय है। इसमें ७०० श्लोक हैं और इसका टीका भाग ७००० श्लोकोंका है। यह भी भर्तृहरिकी ही रचना है। यह पवित्र शिक्षाके प्रमाणद्वारा समर्थित अनुमानपर और व्याप्ति-निश्चयकी युक्तियोंपर एक प्रबन्ध है।[5]"

हमें यह लगता है कि पूर्वोक्त भर्तृहरि जिसने ७ बार परिव्राजक वेश छोड़ा और जो शून्यका अभ्यासी था, वह वाक्यपदीयकार वैदिक भर्तृहरि नहीं है, क्योंकि वाक्यपदीयमें नित्य शब्दब्रह्मका समर्थन तथा संस्कृतेतर असाधु शब्दोच्चारणका निषेध किया गया है। पूर्वोक्त भर्तृहरिके वर्णनके बाद 'वाक्यपदीय' का वर्णन आया है। चूँकि यह समान नामक भर्तृहरिकी कृति है, अतः दोनों एक समझ लिये गये हैं, जब कि वाक्यपदीयकार भर्तृहरि दिग्नागके समकालीन थे। वे ई० ७ वीं के शून्यवादी भर्तृहरिसे निश्चयतः भिन्न हैं[6]। इसने महाभाष्य पर २५ हजार श्लोक प्रमाण कोई टीका लिखी थी।

मीमांसकधुरीण कुमारिलने भर्तृहरिके वाक्यपदीयसे अनेकों श्लोक उद्धृत कर उनकी समालोचना की है। यथा–

"अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम्।
अपूर्वदेवतास्वर्गैः सममाहुर्गवादिषु ॥"–वाक्यप० २।८१।

(१) नयच० पृ० १४७, २४२।

(२) मी० श्लो० ता० टी० प्रस्ता० पृ० १७। क्षीरतरंगिणी प्रस्तावना।

(३) इत्सिंगकी भारत० पृ० २७३।

(४) वही पृ० २७३–२७५। (५) वही पृ० २७६।

(६) वाक्यपदीय (लाहौर संस्करण) के संपादक पं० भारुदेव शास्त्री अपने उपोद्घात (पृ० ३) में यही मत व्यक्त करते हैं और वे इत्सिंगके उल्लेखको सन्दिग्ध मानते हैं।

यह श्लोक तन्त्रवार्तिक (पृ० २५१-५३) में दो जगह उद्धृत होकर आलोचित हुआ है। तन्त्रवार्तिक (पृ० २०९-१०) में कुमारिल ने वाक्यपदीय[1]के "**तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते।**" इस अंशका खण्डन किया है। मीमांसाश्लोकवार्तिक[2] में वाक्यपदीय (२।१-२) में आये हुए दशविध वाक्यलक्षणोंका समालोचन किया गया है। भर्तृहरिके स्फोटवादकी भी आलोचना कुमारिलने मीमांसाश्लोकवार्तिकके स्फोटवाद प्रकरणमें बड़ी प्रखरतासे की है।

आ० धर्मकीर्तिने भी भर्तृहरिके स्फोटवादका खण्डन अपने प्रमाणवार्तिक तथा उसकी स्वोपज्ञवृत्तिमें किया है। वे स्फोटवादका खण्डन प्रमाणवार्तिक (३।२५१–) में करते हैं। भर्तृहरिकी–

"**नादेनाहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह।**
आवृत्तिपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवभासते॥" –वाक्यप० १।८५।

इस कारिकामें वर्णित वाक्यार्थबोधप्रकारका खण्डन प्रमाणवार्तिक स्वोपज्ञवृत्ति (३।२५३) में इस प्रकार उल्लेख करके किया गया है–

"**समस्तवर्णसंस्कारवत्या अन्त्यया बुद्ध्या वाक्यावधारणमित्यपि मिथ्या।**"

अकलङ्कदेवने तत्त्वार्थवार्तिक (पृ० ४८६) में भर्तृहरिके स्फोटवादकी आलोचनाके सिलसिलेमें वाक्यपदीय (१।७९) की–

"**इन्द्रियस्यैव संस्कारः शब्दस्योभयस्य वा।**"

इस कारिकामें वर्णित इन्द्रियसंस्कार शब्दसंस्कार और उभयसंस्कार इन तीनों पक्षोंका खण्डन किया है। तत्त्वार्थवार्तिक (पृ० ५७) में वाक्यपदीय[3] की

"**शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते।**"

यह कारिका उद्धृत की है।

आचार्य अनन्तवीर्यने भी शब्दाद्वैतके प्रकरणमें वाक्यपदीयसे '**अनादिनिधनं ब्रह्म**' कारिका तथा नैगमाभासके प्रसङ्गमें '**तां प्रतिपदिकार्थे**' कारिका उद्धृत की है तथा पृ० ६८५ में उनका नामनिर्देश भी किया है[4]।

कुमारिल और अकलङ्क–

मीमांसकधुरीण भट्ट कुमारिल ई० सातवीं सदीके प्रख्यात विद्वान् माने जाते हैं[5]। इन्होंने तन्त्रवार्तिक में भर्तृहरिकी वाक्यपदीयसे श्लोक उद्धृत किये हैं और उनकी आलोचना की है[6]। भर्तृहरिका समय ई० ४ थी ५ वीं सदी बताया जा चुका है। डॉ०के० बी० पाठक आदिको विश्वास था कि कुमारिल ने धर्मकीर्ति की आलोचना की है और पार्थसारथि मिश्र और सुचरित मिश्र की व्याख्याओं में उद्धृत धर्मकीर्ति के श्लोकोंके आधारसे यह प्रायः प्रसिद्ध हो गया था कि कुमारिल धर्मकीर्ति के आलोचक हैं[7]। मीमांसाश्लोकवार्तिक शून्यवाद (श्लो० १५–१७) के जिन श्लोकोंकी चर्चा डॉ० पाठक करते हैं और जिनकी व्याख्यामें सुचरित मिश्र '**अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा**' श्लोक उद्धृत करते हैं, वे ये हैं–

"**मत्पक्षे यद्यपि स्वच्छो ज्ञानात्मा परमार्थतः।**
तथाप्यनादौ संसारे पूर्वज्ञानप्रसूतिभिः॥
चित्राभिश्चित्रहेतुत्वाद् वासनाभिरुपप्लवात्।
स्वानुरूपेण नीलादिग्राह्यग्राहकदूषितम्॥
प्रविभक्तमिवोत्पन्नं नान्यमर्थमपेक्षते।"–मी० श्लो०।

---

(१) वाक्यप० १।७। (२) वाक्याधिकरण श्लो० ५१–।
(३) वाक्यप० २।२३५। (४) देखो परिशिष्ट ७।
(५) म०म० कुप्पुस्वामी–ब्रह्मसि० प्रस्ता० पृ० ५८। (६) पृ० २२।
(७) अकलङ्कग्रन्थत्रय प्रस्ता० पृ० १८।

पर इन श्लोकोंकी शब्दावलीका ध्यान से पर्यवेक्षण करनेसे ज्ञात होता है कि–ग्रन्थकार इन श्लोकोंको सीधे तौरसे किसी पूर्वपक्षीय ग्रन्थसे उठाकर उद्धृत कर रहा है। इनकी शब्दावली **'अविभागोऽपि'** श्लोककी शब्दरचनासे बिलकुल भिन्न है। यद्यपि अर्थकी दृष्टिसे **'अविभागोऽपि'** श्लोक की संगति **'मत्पक्षे'** आदि श्लोकों से कुछ बैठायी जा सकती है; पर यह विषय स्वयं धर्मकीर्ति द्वारा मूलतः नहीं कहा गया है। धर्मकीर्तिके पूर्वज वसुबन्धु दिग्नाग आदिने विज्ञानवादका पूरा समर्थन किया है।

अब कुछ ऐसे स्थल उद्धृत किये जाते हैं जिनसे यह निर्धारित किया जा सकेगा कि धर्मकीर्ति ही कुमारिल की आलोचना करते हैं–

(१) कुमारिलने शाबर भाष्यके **'धर्मे चोदनैव प्रमाणम्'** वाक्यको ध्यानमें रखकर अपने द्वारा किये गये सर्वज्ञत्व-निकारण का एक ही तात्पर्य बताया है–धर्मज्ञत्व का निषेध। यथा–

"धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते।
सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते॥"[1]

धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक (१।३१–३५) में ठीक इससे विपरीत सुगत की धर्मज्ञता ही सिद्ध करते हैं।

(२) कुमारिलके **"नित्यस्य नित्य एवार्थः कृतकस्याप्रमाणता।"** (मी० श्लो० वेदनि० श्लो० १४) इस वाक्य का धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिकमें उल्लेख करके उसकी मखौल उड़ाते हैं–

"मिथ्यात्वं कृतकेष्वेव दृष्टमित्यकृतकं वचः"–प्रमाण वा० ३।२८९।

(३) कुमारिल मी० श्लो० (पृ० १६८) में निर्विकल्पक प्रत्यक्षका वर्णन इस प्रकार करते हैं–

"अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्।
बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम्॥"

धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिक (२।१४१) में इसका उल्लेख करके खण्डन किया है–

"केचिदिन्द्रियजत्वादेर्बालधीवदकल्पनाम्।
आहुर्बालाः.....।"

कुमारिलने वेदको अपौरुषेय सिद्ध करनेके लिये **'वेदाध्ययनवाच्यत्वात्'** हेतुका प्रयोग किया है[2]। धर्मकीर्तिने कुमारिलके इस हेतु का भी खण्डन प्रमाणवार्तिक (३।२४०) में **'यथायमन्यतो'** श्लोकमें किया है। कर्णकगोमि इस श्लोककी उत्थानिकामें कुमारिलके **'वेदस्याध्ययनं सर्वम्'** इत्यादि श्लोकको ही उद्धृत करते हैं। इन उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि धर्मकीर्तिने ही कुमारिलकी आलोचना की है।

अकलङ्कदेवके ग्रन्थोंमें कुमारिलके मन्तव्योंके आलोचनके साथ ही कुछ शब्दसादृश्य भी पाया जाता है। यथा–

(१) कुमारिल सर्वज्ञका निराकरण करते हुए लिखते हैं कि–

"प्रत्यक्षाद्यविसंवादि प्रमेयत्वादि यस्य तु।
सद्भावधारणे शक्तं को नु तं कल्पयिष्यति॥" –मी० श्लो० पृ० ८५।

अकलङ्कदेव इसका यथातथा उत्तर देते हैं–

"तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र हेतुलक्षणं पुष्णाति तं कथं चेतनः प्रतिषेद्धमर्हति संशयितुं वा॥"–अष्टश०, अष्टसह० पृ० ५८।

(२) तत्त्वसंग्रहकार शान्तरक्षितने कुमारिलके नामसे यह श्लोक सर्वज्ञताके पूर्वपक्षमें उद्धृत किया है–

"दशहस्तान्तरं व्योम्नो यो नामोत्प्लुत्य गच्छति।
न योजनशतं गन्तुं शक्तोऽभ्यासशतैरपि॥"–तत्त्वसं० पृ० ८२६।

---

(१) यह श्लोक कुमारिलके नामसे तत्त्वसंग्रह (पृ० ८१७) में उद्धृत है।
(२) मी० श्लो० पृ० ९४९। (३) शेषके लिये देखो–अकलङ्कग्रन्थत्रय प्रस्ता० पृ० २०–२१।

अकलङ्कदेव सिद्धिविनिश्चय[1]में इसका उपहास करते हुए लिखते हैं–

"दशहस्तान्तरं व्योम्नो नोत्प्लवेरन् भवादृशः।
योजनानां सहस्रं किंशोत्प्लवेत पक्षिराडिति ॥"–सिद्धिवि० ८।१२

(३) कुमारिलने जैनसम्मत केवलज्ञानकी उत्पत्तिको आगमाश्रित मानकर अन्योन्याश्रय दोष दिया है–

"एवं यैः केवलज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः।
सूक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकिल्पतम् ॥
नतें तदागमात् सिध्येत् न च तेनागमो विना।"–मी० श्लो० पृ० ८७।

अकलङ्कदेव न्यायविनिश्चयमें कुमारिलके शब्दोंको उद्धृत करके उत्तर देते हैं–

"एवं यत्केवलज्ञानमनुमानविजृम्भितम्।
नतें तदागमात् सिध्येत् न च तेन विनागमः ॥
सत्यमर्थबलादेव पुरुषातिशयो मतः।
प्रभवः पौरुषेयोऽस्य प्रबन्धोऽनादिरिष्यते ॥"–न्यायवि० श्लो० ४१२-१३।

शाब्दिक तुलना भी देखिए–

"पुरुषोऽभ्युपगन्तव्यः कुण्डलादिषु सर्पवत्।"–मी० श्लो० पृ० ६९५।
"प्रत्यक्षप्रतिसंवेद्यः कुण्डलादिषु सर्पवत्।"–न्यायवि० श्लो० ११७।
"तदयं भावः स्वभावेषु कुण्डलादिषु सर्पवत्।"–प्रमाण सं० पृ० ११२।

इस तरह अकलङ्क और धर्मकीर्तिके द्वारा आलोचित होने तथा दिग्नागकी आलोचना करनेके कारण कुमारिलका समय ई० ७ वीं सदीका पूर्वार्ध सिद्ध होता है।

धर्मकीर्ति और अकलङ्क–

[2]धर्मकीर्तिका जन्म दक्षिण त्रिमलयमें हुआ था। तिब्बतीय परम्पराके अनुसार इनके पिताका नाम कोरुनन्द था[3]। इसके लिये एक प्रमाण सिद्धिवि० टी० में उपलब्ध हुआ है[4]। यहाँ एक वाक्य उद्धृत है–

"कुरुन्दारकोऽसि केन तदत्सरभ्रंसात् (तदवसरभ्रंशात्)"

इस श्लोकांशमें 'कुरुन्दारकोऽसि' के स्थानमें 'कोरुनन्ददारकोऽसि' पाठ होना चाहिए। इसमें धर्मकीर्तिका 'कोरुनन्ददारक' कहकर उपहास किया है। इससे ज्ञात होता है कि धर्मकीर्तिके पिता 'कोरुनन्द' थे यह अनुश्रुति ई० दसवीं सदीसे पुरानी है। धर्मकीर्ति नालन्दाके आचार्य धर्मपालके शिष्य थे। धर्मपाल ई० ६४२ तक जीवित थे। धर्मकीर्ति भी ई० ६४२ तक जीवित रहे होंगे। यह समय टिबेटियन इतिहास लेखक तारानाथके उस लेखसे मेल खाता है जिसमें धर्मकीर्तिको टिबेटियन राजा स्रोङ्त्सन् गम्पो का समकालीन बताया है। इसका राजकाल ई० ६२७ से ६९८ तक था।[5]

चीनी यात्री युवेनच्वांगने भारत यात्रा ई० ६२९ से ६४५ तक की थी। वह नालन्दा[6]में पहिली बार ई० ६३७ में तथा दूसरी बार ई० ६४२ में पहुँचा था। पहिली बार जब वह नालन्दा पहुँचा तो उसे धर्मपाल बोधिसत्त्वके बसतिगृहके उत्तरवाले स्थानमें ठहराया गया जहाँ उसे सब सुविधाएँ दी गईं[7]। उसने उन चुने हुए विद्वानोंके नाम दिये हैं जिनके द्वारा उस समय नालन्दामें मार्गदर्शन चालू था। उनमें

(१) सिद्धिवि० टी० पृ० ५४३। (२) डॉ० स० विद्याभूषण–हि० इ० ला० पृ० ३०२।
(३) दर्शनदिग्दर्शन पृ० ७४१। (४) पृ० ५४ पं० ६। (५) हि० इ० ला० पृ० ३०६ टि० १।
(६) ऑन युवेनच्वांग भाग २ परि०, विन्सेंट स्मिथ पृ० ३३५।
(७) बील–दी लॉइफ ऑफ युवेनच्वांग पृ० १०९।

धर्मपाल और चन्द्रपालने बुद्धके उपदेशोंकी सुवासको फैलाया था। गुणमति और स्थिरमतिकी प्रतिष्ठा तत्कालीन व्यक्तियोंमें सर्वाधिक थी। प्रभामित्र स्पष्ट युक्तिवादके लिये प्रसिद्ध थे। जिनमित्र सुन्दर संभाषणके लिये ख्यात थे। ज्ञानचन्द्र आदर्श चरित्र और सूक्ष्मप्रज्ञ थे। शीलभद्र सम्पूर्ण योग्यतावाले थे पर अभी तक इनके गुण अज्ञात थे। ये सब योग्यता और शिक्षाके लिये प्रसिद्ध थे[1]।

जब वह दूसरी बार (ई० ६४२) नालन्दा पहुँचा तो शीलभद्र आचार्य पदपर थे[2]। इनसे उसने योगशास्त्रका अध्ययन किया था।

इस विवरणसे ज्ञात होता है कि ई० ६४२ में धर्मपाल निवृत्त हो चुके थे और शीलभद्र उपाध्याय पद पर थे। किसी यात्रा विवरणसे यह पता नहीं चलता कि धर्मपालकी मृत्यु कब हुई[3]? इतना पता तो लग जाता है कि ई० ६४२ में शीलभद्र वयोवृद्ध थे और ई० ६४५ के बाद उनकी मृत्यु हुई।[4]

धर्मकीर्तिका नाम न देनेके विषयमें डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण[5] आदिका यही विचार है कि धर्मकीर्ति उस समय प्रारम्भिक विद्यार्थी होंगे।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायनका विचार है[6] कि–'धर्मकीर्तिकी उस समय मृत्यु हो चुकी होगी। चूँकि युवेनच्वाँगको तर्कशास्त्रसे प्रेम नहीं था और यतः वह समस्त विद्वानोंके नाम देनेको बाध्य भी नहीं था इसीलिए उसने प्रसिद्ध तार्किक धर्मकीर्तिका नाम नहीं दिया। **'अकलङ्क ग्रन्थत्रय'** की प्रस्तावना (पृ० २५) में इस सम्बन्धमें निम्नलिखित वाक्य लिखे गये थे और आज भी उन वाक्योंमें हेर-फेरका कोई कारण नहीं दिखाई देता।

"राहुलजीका यह तर्क उचित नहीं मालूम होता; क्योंकि धर्मकीर्ति जैसे युगप्रधान तार्किकका नाम युवेनच्वाँगको उसी तरह लेना चाहिए था जैसे कि उसने पूर्वकालीन नागार्जुन या वसुबन्धुका लिया है। तर्कशास्त्रसे प्रेम न होनेपर भी गुणमति स्थिरमति जैसे विज्ञानवादी तार्किकोंका नाम जब युवेनच्वाँग लेता है तब धर्मकीर्तिने तो बौद्धदर्शनके विस्तारमें उनसे कहीं अधिक और ठोस प्रयत्न किया है। इसलिये प्रमाण-वार्तिक आदि युगान्तरकारी सात ग्रन्थोंके रचयिता धर्मकीर्तिका नाम लिया जाना न्यायप्राप्त ही नहीं था किन्तु युवेनच्वाँगकी सहज गुणानुरागिताका द्योतक भी था। यह ठीक है कि वह सबके नाम लेनेको बाध्य नहीं था पर धर्मकीर्ति ऐसा साधारण विद्वान् नहीं था जिसकी उपेक्षा अनजानमें भी की जाती। फिर यदि धर्मकीर्तिका कार्यकाल गुणमति और स्थिरमति आदिसे पहिले ही समाप्त हुआ होता तो धर्मकीर्तिकी विशाल ग्रन्थराशिका इनके ग्रन्थोंपर कुछ तो असर मिलना चाहिए था, जो उनके ग्रन्थोंका सूक्ष्म पर्यवेक्षण करने पर भी दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः यही उचित मालूम होता है कि धर्मकीर्ति उस समय युवा थे जब युवेनच्वाँग नालन्दा आये थे।

दूसरा चीनी यात्री इत्सिंग था। जिसने ई० ६७१ से ६९५ तक भारतवर्षकी यात्रा[7] की थी। यह ई० ६७५ से ६८५ तक दस वर्ष नालन्दा विश्वविद्यालयमें रहा। इसने अपना यात्रा वृत्तान्त ई० ६९१-९२ में लिखा था। वह विद्यालयके लब्धप्रतिष्ठ स्नातकोंकी चर्चाके सिलसिलेमें लिखता है कि–"प्रत्येक पीढ़ीमें ऐसे

---

(१) थामस वेटर्स–ऑन युवेनच्वांग भाग २ पृ० १६५। (२) वही पृ० १६८-६९।

(३) ज० तककुसुका अनुमान है कि सन् ६३५ में धर्मपाल जीवित नहीं जान पड़ता।–इत्सिंगकी भारत यात्रा, व्यापक भूमिका पृ० ज २६।

(४) युवेनच्वांगने जिनप्रभको चीनसे पत्र लिखा कि–"एक राजदूतसे मैंने सुना कि आ० शीलभद्र अब जीवित नहीं है। यह समाचार सुनकर मैं असह्य शोकमें मग्न हो गया। आह!"–बौद्ध संस्कृति पृ० ३३७।

(५) हि० इ० ला० पृ० ३०६। (६) न्यायसूत्र प्रस्तावना पृ० ६।

(७) इत्सिंगकी भारत यात्रा पृ० २७७।

मनुष्योंमेंसे केवल एक या दो ही प्रकट हुआ करते हैं जिनकी उपमा चाँद या सूर्यसे होती है और उन्हें नाग या हाथीकी तरह समझा जाता है। पहिले समयमें नागार्जुन, देव, अश्वघोष, मध्यकालमें वसुबन्धु, असङ्ग संघभद्र और भवविवेक अन्तिम समयमें जिन, धर्मपाल, धर्मकीर्ति, शीलभद्र, सिंहचन्द्र, स्थिरमति, गुणमति, प्रज्ञागुप्त, गुणप्रभ और जिनप्रभ ऐसे मनुष्य थे[1]।" वे फिर लिखते हैं कि–"धर्मकीर्तिने 'जिन' के पश्चात् हेतुविद्याको और सुधारा। प्रज्ञागुप्तने (मतिपाल नहीं) सभी विपक्षी मतोंका खण्डन करके सच्चे धर्मका प्रतिपादन किया।"

इन उल्लेखोंसे मालूम होता है कि सन् ६९१ तकमें धर्मकीर्तिकी प्रसिद्धि ग्रन्थकारके रूपमें हो रही थी। इत्सिंगके द्वारा धर्मपाल गुणमति स्थिरमति आदिके साथ ही साथ धर्मकीर्ति तथा धर्मकीर्तिके टीकाकार शिष्य प्रज्ञागुप्तका नाम लिये जानेसे यह मालूम होता है कि उसका उल्लेख किसी खास समयके लिये नहीं है किन्तु एक ८० वर्ष जैसे लम्बे समयवाले युगके लिए है। यदि राहुलजी की कल्पनानुसार धर्मकीर्तिकी मृत्यु हो गई होती तो इत्सिंग जिस तरह भर्तृहरि (प्रसिद्ध वैयाकरण वाक्यपदीयकार नहीं, अन्य भिक्षु) को धर्मपालका समकालीन लिखकर उनकी मृत्युके विषयमें भी लिखता है कि–'उसे मरे हुए अभी ४० वर्ष हो गए' उसी तरह अपने युगप्रवर्तक प्रसिद्ध ग्रन्थकार 'धर्मकीर्ति'की मृत्युपर भी आँसू बहाए बिना न रहता।

इस विवेचनसे हमारा आज भी यही निश्चित विचार है कि–प्रमाणवार्तिक (स्ववृत्ति सहित) न्याय-बिन्दु, प्रमाण विनिश्चय, सन्तानान्तरसिद्धि, वादन्याय और सम्बन्धपरीक्षा (सवृत्ति) आदि प्रौढ विस्तृत और सवृत्ति प्रकरणों और ग्रन्थोंके रचयिता धर्मकीर्तिकी समयावधि ई० ६२५–५० से आगे लम्बानी होगी और यह अवधि ई० ६२० से ६९० तक रखनी समुचित होगी[2]। इससे युवेनच्वाँगके द्वारा धर्मकीर्तिके नामका उल्लेख न होनेका तथा इत्सिंग द्वारा होनेवाले उल्लेखका वास्तविक अर्थ भी संगत हो जाता है तथा तिब्बतीय इतिहास लेखक तारानाथका धर्मकीर्तिको तिब्बतके राजा 'स्रोङ् त्सन् गम् पो' का, जिसने सन् ६२९ से ६८५ तक राज्य किया था, समकालीन लिखना भी युक्तियुक्त सिद्ध हो जाता है।

अकलङ्कदेवने धर्मकीर्तिके ग्रन्थोंकी केवल मार्मिक आलोचना ही नहीं की है किन्तु परपक्षके खण्डनमें उनका शाब्दिक और आर्थिक अनुसरण भी किया है। यथा–

(१) धर्मकीर्तिकी सन्तानान्तरसिद्धिका पहिला श्लोक[3] यह है–

"बुद्धिपूर्वां क्रियां दृष्ट्वा स्वदेहेऽन्यत्र तद्ग्रहात्।
मन्यते बुद्धिसद्भावं सा न येषु न तेषु धीः॥"

अकलङ्कदेवने तत्त्वार्थवार्तिक (पृ० २५) में इसे 'तदुक्तम्' के साथ उद्धृत किया है तथा सिद्धिविनिश्चय[4]में तो यह श्लोक **'ज्ञायते बुद्धिरन्यत्र अभ्रान्तैः पुरुषैः क्वचित्'** यह पाठभेद करके मूलमें ही शामिल कर लिया है।

(२) हेतुबिन्दु (पृ० ५३) का **'अर्थक्रियार्थी हि सर्वः प्रेक्षावान् प्रमाणमप्रमाणं वाऽभ्येषते'** यह वाक्य लघीयस्त्रय स्ववृत्ति (पृ० ३) में मूल रूपसे पाया जाता है।

हेतुबिन्दु (पृ० ५२) की **'एकधर्मस्तदंशेन'** यह आधी कारिका सिद्धिवि०[5] (६।२) में आलोचित हुई है।

(३) प्रमाणविनिश्चयके

"सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः।"

---

(१) इत्सिंगकी भारत यात्रा पृ० २७७।

(२) स्व० आचार्य नरेन्द्रदेव भी धर्मकीर्तिका समय ई० ६७५–७०० मानते थे।–बौद्धधर्म दर्शन पृ० १७०।

(३) राहुलजीकी सूचनानुसार। (४) सिद्धिवि० टी० पृ० १६४। (५) सिद्धिवि० टी० पृ० ३१२, ३७२।

इस श्लोकांशकी आलोचना अष्टशती[1]में हुई है।

सिद्धिवि० (५।३) में **"शब्दाः कथं कस्यचित् साधनम् इति ब्रुवन्"** वह वाक्य प्रमाण-विनिश्चयका उल्लेख कर रहा है; क्योंकि टीका (पृ० ३२०) में इस वाक्यको **'तदुक्तं विनिश्चये'** करके उद्धृत किया है।

(४) वादन्यायकी

"असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः।
निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तमिति नेष्यते॥"

इस आद्य कारिकाकी समालोचना न्यायविनिश्चय[2] सिद्धिविनिश्चय[3] और अष्टशती[4]में की गई है।

(५) न्यायबिन्दु[5]के **'विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणस्य मरणस्य'** इस अंशकी आलोचना **'यदि पुनरायुर्निरोधमेव मरणं किं स्याद्यतः तद् विज्ञानादिनिरोधेन विशिष्यते।'** इस सिद्धिवि०[6]में की गई है।

(६) प्रमाणवार्तिककी आलोचना तो सिद्धिविनिश्चय और न्यायविनिश्चयमें दसों स्थानोंमें हैं। इसके लिये देखो अकलङ्कग्रन्थत्रय टिप्पण–पृ० १३१–१३३, १३६–१३९, १४१, १४२, १४६, १५२, १५५–१५७, १५९–१७० में आये हुए प्रमाणवा० के अवतरण तथा सिद्धिवि० मूलके उद्धृत वाक्य[7]।

प्रमाणवा० स्ववृत्तिके भी अवतरण सिद्धिवि० मूलके उद्धृत वाक्य परिशिष्ट[8]में देखना चाहिए।

(७) सिद्धिविनिश्चय[9]में **'एतेन सम्बन्धपरीक्षा प्रत्युक्ता'** लिखकर अकलङ्कदेवने धर्मकीर्तिके 'सम्बन्ध परीक्षा' प्रकरणका ही उल्लेख किया है। यह त० श्लोक वार्तिक (पृ० १४८–), प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ५०९–११), स्या० रत्नाकर (पृ० ८१२–) और प्रमाणवार्तिकभाष्यकी भूमिका (पृ० (ङ)) में पूरी उद्धृत है।

इस तरह अकलङ्कदेवने धर्मकीर्तिकी समस्त ग्रन्थराशिका ही नहीं उसकी व्याख्याओंका भी आलोडन किया है और उनकी आलोचना की है।

जयराशिका तत्त्वोपप्लव और अकलङ्क–

भट्टजयराशिकृत तत्त्वोपप्लवसिंह ग्रन्थ बड़ौदासे प्रकाशित हुआ है। उसके विद्वान् संपादक पं० सुखलालजीने जयराशिका समय अनन्तवीर्य और विद्यानन्दके उल्लेखोंको उत्तरावधि मानकर ईसाकी ८ वीं शताब्दी अनुमानित किया है[9]। भारतीय विद्या[10]में प्रकाशित 'तत्त्वोपप्लवसिंह–चार्वाकदर्शनका एक अपूर्व ग्रन्थ' लेखमें श्रीमान् पं० सुखलालजीने ई० ७२५ और ई० ८२५ के बीच जयराशिका समय मानते हुए ये वाक्य लिखे हैं–"पर साथमें इस जगह यह भी ध्यानमें रखना चाहिए कि ई० सन् की आठवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें होनेवाले या जीवित ऐसे अकलङ्क हरिभद्र आदि किसी जैन विद्वान् का तत्त्वोपप्लवमें कोई निर्देश नहीं है और न उन विद्वानोंकी कृतियोंमें ही तत्त्वोपप्लव का वैसा सूचन है।" किन्तु हरिभद्रके ग्रन्थोंमें तत्त्वोपप्लवका स्पष्ट निर्देश न होनेपर भी हमें अकलङ्कके सिद्धिविनिश्चयका निम्नलिखित सन्दर्भ इस नतीजेपर पहुँचा देता है कि अकलङ्कदेवके सामने तत्त्वोपप्लववादीके विचार अवश्य थे। यथा–

"प्रमाणाभावेन प्रत्यक्षमेकं नापरं प्रमेयतत्त्वं वेति न तथा प्रतिपत्तुमर्हति। प्रमाणान्तर-

---

(१) अष्टसह० पृ० ८१।
(२) श्लो० ३७८। (३) सिद्धिवि० टी० पृ० ३१२,३३४।
(४) अष्टसह० पृ० ८१। (५) न्यायवि० ३।५९।
(६) सिद्धिवि० टी० पृ० १६५। (७) सिद्धिवि० टी० परि० पृ० ७१५।
(८) सिद्धिवि० टी० पृ० ७४९।
(९) तत्त्वोपप्लव० प्रस्तावना पृ० १०। (१०) भारतीय विद्या वर्ष २ अंक १।

प्रतिषेधे प्रत्यक्षलक्षणानुपपत्तेः किं केन विदध्यात् प्रतिषेधयेद्वा यतः चातुर्भौतिकमेव जगत् स्यात्। यदि नाम स्वसंवेदनापेक्षया बहिरन्तश्चोपप्लुतमिति ; सूक्तमेवैतत्, निराकृतपरदर्शनगमनात्। विभ्रमैकान्तमुपेत्य स्वसंवेदनेऽपि अपलापोपलब्धेः अन्यथा विप्रतिषेधात् चतुर्भूतव्यवस्थामपि लक्षणभेदात् कथयितुमर्हति, अन्यथा अनवस्थाप्रसङ्गात्।"

—सिद्धिवि० स्ववृ० ४।१२।

इसमें प्रथम तो यह बताया है कि प्रमाणमात्रका निषेध करनेपर प्रत्यक्ष ही प्रमाण है यह स्वीकार नहीं किया जा सकता; क्योंकि अनुमान प्रमाणका निषेध करनेपर प्रत्यक्षका लक्षण सिद्ध नहीं हो सकता, तब किसका किससे विधान या प्रतिषेध किया जायगा जिससे चातुर्भौतिक जगत् माना जाय। यदि स्वसंवेदनकी अपेक्षा बाह्य और आभ्यन्तर दोनों तत्त्वोंको उपप्लुत कहते हो तो यह भी कथन 'सूक्त' नहीं हुआ; क्योंकि जिस बौद्धदर्शन (स्वसंवेदन प्रत्यक्षवाद) का खण्डन किया था उसी दर्शनका आश्रय लेना पड़ा। फिर विभ्रमैकान्तका आश्रय लेकर स्वसंवेदनका भी अपलाप किया जा सकता है। यदि स्वसंवेदनमें विभ्रम नहीं है तो चतुर्भूतव्यवस्था भी लक्षणभेदपूर्वक कहनी चाहिए। अन्यथा चतुर्भूतव्यवस्था नहीं होगी आदि।

जैसा कि पं० सुखलालजीने स्वयं उक्त लेखमें लिखा है[1] कि—"जयराशि बृहस्पतिका अनुयायी होकर भी अपनेको बृहस्पतिसे भी ऊँची बुद्धि भूमिकापर पहुँचा हुआ मानता है।" सचमुच जयराशिकी वही प्रकृति इस सन्दर्भमें साफ-साफ झलकती है। पूर्वोक्त सन्दर्भमें अकलङ्कदेव जयराशिको, जो कि बाह्य और अन्तर सर्वत्र तत्त्वको उपप्लुत तत्त्व ही कहता है, समझाते हैं कि स्वसंवेदनके माने बिना विधि-प्रतिषेध नहीं किया जा सकता। फिर जिस प्रकार अन्यके निषेधके लिये स्वसंवेदन मानना चाहते हो ; उसी तरह चतुर्भूत व्यवस्था भी कहनी चाहिये और वह व्यवस्था प्रत्यक्षके बिना नहीं हो सकती और प्रत्यक्षकी व्यवस्था प्रमाणान्तरके अभावमें सम्भव नहीं है। तात्पर्य यह कि अनुमान नामका प्रमाण भी मानना होगा आदि।

अतः अकलङ्कके उक्त सन्दर्भमें आए हुए **'बहिरन्तश्च उपप्लुतम्'** पद यह स्पष्ट बता रहे हैं कि उनकी दृष्टिमें तत्त्वोपप्लववादी है। सिद्धिविनिश्चय टीकाकार अनन्तवीर्यने इस अंशकी व्याख्या तत्त्वोपप्लव और जयराशिका नाम लेकर ही की है[2]। अतः अकलङ्कके सामने जयराशिके रहनेपर पंडितजीने जो जयराशिके समयकी पूर्वावधि (ई० ७२५) बताई है वह उत्तरावधि होनी चाहिये।

इसके समर्थनके लिये एक अन्य प्रमाण यह है—धर्मकीर्तिने सुखकी ज्ञानरूपता सिद्ध करनेके लिये निम्नलिखित श्लोक प्रमाणवार्तिक (३।२५२) में लिखा है—

"तदतद्रूपिणो भावाः तदतद्रूपहेतुजाः।
तत्सुखादि किमज्ञानं विज्ञानाभिन्नहेतुजम्॥"

अर्थात् तद्रूप पदार्थ तद्रूप हेतुसे उत्पन्न होते हैं और अतद्रूप पदार्थ अतद्रूप हेतुसे। तो जब सुख विज्ञानके अभिन्न कारणोंसे उत्पन्न होता है तो उसे अज्ञानरूप क्यों कहा जाय ? जयराशि धर्मकीर्तिके इसी युक्तिवादको रूपको ज्ञानात्मक सिद्ध करनेके लिये लगाते हुए उक्त श्लोकके **'सुखादि'** पदके स्थानमें **'रूपादि'** पद रख देते हैं—

"अथ ज्ञानं ज्ञानेन उपादानभूतेन जन्यते ; रूपमपि तेनैव जन्यते। नहि तस्य रूपोपादाने आत्माऽन्यत्वम्। एवं च

तदतद्रूपिणो भावाः तदतद्रूपहेतुजाः।
[3]तद्रूपादि किमज्ञानं विज्ञानाभिन्नहेतुजम्॥

---

(१) भारतीय विद्या वर्ष २ अंक १।

(२) "तत्त्वोपप्लवकरणात् जयराशिः सौगतमतमवलम्ब्य ब्रूयात् तन्नाह—स्वसंवेदन इत्यादि"—सिद्धिवि० टी० पृ० २७८।

(३) 'तद्रूपादि' पद वदता हुआ यह श्लोक विद्यानन्दकी अष्टसहस्री (पृ० ७८) में 'तदुक्तम्' के साथ उद्धृत है।

अथ रूपोपादानजन्यत्वे…"–तत्त्वोप० पृ० ४५।

इस सन्दर्भ में तत्त्वोपप्लवमें जो यह परिवर्तित श्लोक जयराशिने प्रस्तुत किया है वह उद्धृत वाक्य नहीं है जैसा कि प्रकाशित संस्करणमें छापा गया है ; क्योंकि उसके आगे पीछे उद्धृतवाक्य सूचक 'उक्तं च' आदि कोई पद नहीं है।

जयराशिके इस '**तद्रूपादि**' वाली बातका उत्तर धर्मकीर्तिके शिष्य प्रज्ञाकरने अपने प्रमाणवार्तिकालङ्कार (पृ० ३१३) में जयसिंहकी बदली हुई कारिकाका उद्धरण देकर ही दिया है–

"अनेन एतदपि निरस्तम्–

तदतद्रूपिणो भावाः तदतद्रूपहेतुजाः।

तद्रूपादि किमज्ञानं विज्ञानाभिन्नहेतुजम् ॥" –प्र० वार्तिकाल० पृ० ३१३।

इससे यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि जयराशि धर्मकीर्तिके उत्तरकालमें तथा प्रज्ञाकरके पहिले हुए हैं या इन दोनोंके समकालीन हैं।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायनने प्रज्ञाकरका समय ई० ७०० ही रखा है[1]। जो ठीक है। हमने 'प्रज्ञाकर गुप्त और अकलङ्क' की तुलना करते हुए विस्तारसे बताया है[2] कि अकलङ्क देवने प्रज्ञाकरके भाविकारणवाद और स्वप्रान्तिकशरीरवादका निरसन किया है।

अतः तत्त्वोपप्लवकारकी आलोचना करनेवाले प्रज्ञाकरका भी खण्डन करनेवाले अकलङ्कदेवके सामने यदि तत्त्वोपप्लववाद रहता है तो उसमें कोई बाधा नहीं है।

ऐसी स्थितिमें हमें जयराशिके समयको थोड़ा और पूर्व में खींचना होगा यानी उनकी समयावधि–धर्मकीर्ति और प्रज्ञाकरके बीचमें ई० ६५० से ७०० तक रखनी होगी।

आचार्य अनन्तवीर्यने प्रस्तुत टीकामें जयसिंहराशि और तत्त्वोपप्लव ग्रन्थका खण्डन नामोल्लेख करके किया है[3]।

प्रज्ञाकरगुप्त और अकलङ्क–

आ० धर्मकीर्तिके टीकाकारोंमें प्रज्ञाकरगुप्त आगमापेक्षी टीकाकार हैं। ये केवल टीकाकार ही नहीं थे किन्तु कुछ अपने स्वतन्त्र विचार भी रखते थे। डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषणने इन्हें १०वीं सदीका विद्वान् लिखा है[4]। महापण्डित राहुल सांकृत्यायनने टिबेटियन गुरु परम्पराके अनुसार इन्हें ई० ७०० का विद्वान् बताया है[5]। इनका नामोल्लेख विद्यानन्द[6] (ई० ८००-८४०) अनन्तवीर्य[7] (ई० ९५०-९९०) प्रभाचन्द्र[8] (ई० ९८०-१०६५) वादिराज[9] (ई० १०२५) और वादिदेवसूरि[10] (ई० ११९७-११६९) ने किया है। "जयन्तभट्टने वार्तिकालङ्कार (पृ० ३२५) से **"एकमेवेदं हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्तं पश्यामः तत्र यथेष्टं संज्ञाः क्रियन्ताम्"** इस वाक्यका उद्धरण देकर उसका खण्डन किया है। जयन्तभट्टका समय ई० ८१० तक है।

इत्सिंगने अपने यात्रा-विवरणमें जिस प्रज्ञागुप्तका नाम लिया है और लिखा है कि "प्रज्ञागुप्त (मतिपाल नहीं) ने सभी विपक्षी मतोंका खण्डन करके सच्चे धर्मका प्रतिपादन किया।" वह यही प्रज्ञाकर गुप्त हैं कोई दूसरा नहीं। इस तरह सन् ६९१-९२ में लिखे गये यात्राविवरणमें प्रज्ञाकरगुप्तका नाम होनेसे ये

(१) प्रमाणवार्तिकभाष्य प्रस्तावना पृ० (ङ)।
(२) अकलङ्क ग्रन्थत्रय प्रस्ता० पृ० २६। (३) देखो पृ० २७७, २७८।
(४) हि० इ० लि० पृ० ३३६। (५) वादन्याय परिशिष्ट और प्रमाणवार्तिकभाष्य प्रस्तावना।
(६) अष्टसह० पृ० २७८। (७) सिद्धिवि० टी० परि० ९। (८) प्रमेयक० पृ० ३८०।
(९) न्यायवि० वि० प्र०, द्वि० भाग। (१०) स्या० रत्ना० पृ० ३१४। (११) न्यायम० प्रमे० पृ० ७०।

धर्मकीर्तिके समकालीन ही सिद्ध होते हैं। हाँ, धर्मकीर्ति निश्चयतः वृद्ध थे और ये युवा रहे होंगे। अतः इनका समय ई० ६६० से ७२० तक मानना ठीक है। आगे अकलङ्ककी तुलनामें बताया जायगा कि इनके ग्रन्थोंको अकलङ्कने देखा है। इस तरह इनके उक्त समयका पूरा-पूरा समर्थन हो जाता है। ये प्र० वा० स्ववृत्तिके टीकाकार कर्णकगोमिसे पहिले हैं; क्योंकि कर्णकगोमिने **"अलङ्कार एवावस्तुत्वप्रतिपादनात्"** लिखकर[1] इनके प्रमाणवार्तिकालङ्कारका उल्लेख किया है।

प्रज्ञाकरगुप्तके कुछ अपने भी विचार थे जिनका ये स्वतन्त्र भावसे प्रतिपादन ही नहीं समर्थन भी करते थे–

(१) ये सुषुप्त अवस्थामें ज्ञानकी सत्ता नहीं मानते थे। जाग्रत अवस्थाके ज्ञानको प्रबोधकालीन ज्ञानका उपादान मानकर अतीतको कारण मानना तथा भाविमरणको वर्तमान अपशकुनमें कारण मानना इनकी विशेषता थी। तात्पर्य यह कि अतीतकारणवाद और भाविकारणवाद दोनों ही प्रज्ञाकरके मत थे। ये मत वार्तिकालङ्कार (पृ० ६८) में इस प्रकार प्रतिपादित हैं—

"अविद्यमानस्य करणमिति कोऽर्थः ? तदनन्तरभाविनी तस्य सत्ता। तदेतदानन्तर्यमुभयापेक्षयापि समानम्। यथैव भूतापेक्षया तथा भाव्यपेक्षयापि। न चानन्तर्यमेव तत्त्वे निबन्धनम्, व्यवहितस्यापि कारणत्वात्। तथाहि—

गाढसुप्तस्य विज्ञानं प्रबोधे पूर्ववेदनात्।
जायते व्यवधानेन कालेनेति विनिश्चितम्॥"–प्र० वार्तिकाल०।

प्रमेयकमल मार्तण्ड[2]का **"ननु प्रज्ञाकराभिप्रायेण भाविरोहिण्युदयकार्यतया···"** यह उल्लेख इस बातका सबल प्रमाण है कि प्रज्ञाकर भाविकारणवादी थे। इसी तरह व्यवहितकारणवादके प्रसङ्गमें अनन्तवीर्यका यह लिखना[3] कि–**"इति प्रज्ञाकरगुप्तस्यैव मतं न धर्मोत्तरादीनामिति मन्यते।"** प्रज्ञाकरके व्यवहितकारणवादीकी प्रसिद्धिका खासा प्रमाण है। प्रज्ञाकरके समकालीन धर्मोत्तर आदि तथा उत्तरकालीन शान्तरक्षित आदि इस मतसे सहमत नहीं थे।

(२) स्वप्नान्तिक शरीर मानना[4]। प्रज्ञाकर स्थूलशरीरके अतिरिक्त स्वप्नमें एक सूक्ष्मशरीर और भी मानते रहे हैं। उसीमें स्वप्न सम्बन्धी समस्त अर्थक्रियाएँ होती हैं। यथा–

"यथा स्वप्नान्तिकः कायः प्रासलङ्घनधावनैः।
जाग्रद्देहविकारस्य तथा जन्मान्तरेऽपि॥"

अनन्तवीर्य सिद्धिवि० टीका[5]में **"यस्तु प्रज्ञाकरः स्वप्नान्तिकशरीरवादी"** लिखकर इनके स्वप्नान्तिकशरीरवादित्वका समर्थन करते हैं।

(३) पीतशंखादिज्ञानोंसे अर्थक्रिया नहीं होती अतः वे प्रमाण नहीं हैं, पर संस्थानमात्र अंशसे होनेवाली अर्थक्रिया तो उनसे भी हो सकती है अतः उस अंशमें उन्हें अनुमानरूपसे प्रमाण मानना चाहिए तथा अन्य अंशमें संशयरूप। इस तरह एक ज्ञानमें आंशिक प्रमाणता तथा आंशिक अप्रमाणता है–

"पीतशङ्खादिविज्ञानं तु न प्रमाणेव तथार्थक्रियाव्याप्तेरभावात्, संस्थानमात्रार्थक्रियाप्रसिद्धौ अन्यदेव ज्ञानं तथाहि–

प्रतिभास एवम्भूतो यः न स संस्थानवर्जितः।
एवमन्यत्र दृष्टत्वाद् अनुमानं तथा च तत्॥

ततोऽनुमानं संस्थाने संशयः परत्रेति प्रत्ययद्वयमेतत् प्रमाणमप्रमाणं च।"

–प्र० वार्तिकाल० पृ० ५।

---

(१) प्र० वा० स्व० वृ० टी० पृ० १७३। (२) पृ० ३८०।
(३) सिद्धिवि० टी० पृ० १९६। (४) प्र० वार्तिकाल० पृ० ५६। (५) पृ० १६५।

अकलङ्कदेवने प्रज्ञाकर गुप्तके उक्त सभी सिद्धान्तोंका खण्डन किया है। यथा–

(१) अकलङ्कदेव सिद्धिवि०[1]में **"न हि स्वापादौ चित्तचैतसिकानामभावं प्रतिपद्यमानान् प्रमाणमस्ति।"** इस वाक्यके द्वारा स्वापादिमें ज्ञानाभाव माननेवालोंका खण्डन करते हैं।[2]

(२) न्यायविनिश्चय (श्लो० ४७) में अकलङ्कदेवने प्रज्ञाकरके स्वप्रान्तिकशरीरका 'अन्तःशरीर' शब्दसे उल्लेख करके पूर्वपक्ष किया है।

(३) जिस प्रकार प्रज्ञाकर गुप्तने पीतशंखादिज्ञानोंको संस्थानमात्र अंशमें प्रमाण तथा इतरांशमें अप्रमाण कहा है उसी तरह अकलङ्क भी लघीयस्त्रय[3] तथा अष्टशतीमें द्विचन्द्रज्ञानको चन्द्रांशमें प्रमाण तथा द्वित्वांशमें अप्रमाण कहते हैं। अष्टशती[4] में तो वे प्रज्ञाकर गुप्तकी संस्थानमात्रको अनुमान माननेकी बातपर आक्षेप करते हैं। यथा–**"नापि लैङ्गिकं लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धाप्रतिपत्तेः।"**

प्रज्ञाकरके वार्तिकाल० (पृ० ३२५) का **"एकमेवेदं हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्तं पश्यामः"** वाक्य सिद्धि वि०[5]के इस वाक्यसे तुलनीय है–

"हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्तज्ञानवृत्तेः प्रकृतेरपरां चैतन्यवृत्तिम्..."

इस तरह इस तुलनासे स्पष्ट है कि अकलङ्कदेवने प्रज्ञाकर गुप्तके ग्रन्थोंको देखा ही नहीं उनकी समालोचना भी की है।

अर्चट और अकलङ्क–

अर्चटका दूसरा नाम धर्माकर दत्त था[6]। इन्होंने हेतुबिन्दुटीका क्षणभङ्गसिद्धि और प्रमाणद्वयसिद्धि ये तीन ग्रन्थ रचे थे[7]। टिबेटियन इतिहास लेखक तारानाथके उल्लेखानुसार धर्माकरदत्त धर्मोत्तरके गुरु थे। डॉ विद्याभूषणने इनका समय ई० ९०० अनुमानित किया है[8]। राहुलजीने इनका समय वादन्याय परिशिष्ट में ई० ८२५ लिखा था किन्तु प्रमाणवार्तिकालङ्कारकी प्रस्तावना (पृ० ७) में उसमें सुधार कर ई० ७०० दिया है, तथा टिबेटियन परम्परा के अनुसार धर्मोत्तर इनका शिष्य है यह भी सूचित किया है। हेतुबिन्दुके सम्पादक पं० सुखलालजीने इनका समय ई० सातवींका अन्त तथा ८ वींका पूर्वभाग सूचित किया है।[9] इनमें राहुलजी और पं० सुखलालजीका इन्हें ई० ७००से ७२५ तकका विद्वान् बताना इसलिये भी उपयुक्त है कि अकलङ्कदेव (ई० ७२०-७८०) ने सिद्धिविनिश्चयमें इनकी आलोचना की है। उदाहरणार्थ—

"सामान्यविषया व्याप्तिः तद्विशिष्टानुमितेरिति चेत्[10];"

यह पूर्वपक्ष सिद्धिविनिश्चय स्ववृत्ति में किया गया है। टीकाकार अनन्तवीर्य इसकी उत्थानिकामें लिखते हैं कि–**"सामान्य इत्यादि अर्चटमतं दूषयितुं शङ्कते।"** इससे स्पष्ट है कि अकलङ्कदेवने अर्चटकी भी समालोचना की थी। अन्य अवतरणोंके लिये 'अर्चट' नामके उल्लेख सिद्धिवि० टी० परि० ९ में देखना चाहिए।

इस तरह अर्चट–धर्माकरदत्त ई० ७ वीं सदीके अन्तिम भागके विद्वान् होकर अकलङ्कके समकालीन हैं। इनकी आलोचना सिद्धिविनिश्चय टीका, न्यायविनिश्चिय विवरण तथा स्याद्वादरत्नाकर आदिमें भी प्रचुरता से है।

---

(१) सिद्धि वि० टी० पृ० ९६।
(२) विशेषके लिये देखो अकलङ्क ग्रन्थत्रय प्रस्ता० पृ २८।
(३) देखो लघी० टि० पृ० १४० पं० २० से। (४) अष्टसह० पृ० २७७।
(५) सिद्धिवि० टी० पृ० ६७४। (६) हेतुवि० टीकालो० पृ० २३३।
(७) हेतुवि० टी० प्रस्ता० पृ० १२। (८) हि० ई० लि० पृ० ३३१।
(९) हेतुवि० प्रस्ता० पृ० १२। (१०) सिद्धिवि०, टी० पृ० १७७।

शान्तभद्र और अकलङ्क–

प्रो० दलसुख मालवणियाँने न्यायबिन्दु-धर्मोत्तरप्रदीपकी प्रस्तावना (पृ०५२) में शान्तभद्रकी टीका भी न्यायबिन्दुपर थी इसे सप्रमाण सिद्ध किया है। धर्मोत्तरप्रदीपमें 'शान्तभद्र और विनीतदेवकी टीकाओंसे लम्बे-लम्बे अवतरण देकर धर्मोत्तरने उनका खण्डन किया है। धर्मोत्तरका समय ई० ७०० है, अतः शान्तभद्रको भी धर्मोत्तरका वृद्ध समकालीन मानना चाहिए।

शान्तभद्रका मानस प्रत्यक्षके सम्बन्धमें अपना मत यह था कि–पहिले चक्षु रूपमें चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न करता है फिर चक्षुर्विज्ञान अपने समकालीन रूपक्षणके साथ मिलकर तीसरे क्षणमें मानस प्रत्यक्षको उत्पन्न करता है[2]। शान्तभद्रने इस प्रकारके मानसप्रत्यक्षके सद्भावमें प्रमाण यह दिया है कि–यदि मानसप्रत्यक्ष न माना जाय तो मानसप्रत्यक्षसे होनेवाले विकल्प न होंगे और इस तरह रूपादि व्यवहार न हो पायगा। 'चक्षुरादिविज्ञानसे अनुभूत हो जानेके कारण रूपादि विकल्प हो सकेंगे' यह मत सन्तानभेद हो जानेके कारण उचित नहीं है। अतः रूपादि विकल्पोंका अभाव न हो जाय इसके लिये मानसप्रत्यक्ष मानना चाहिए[3]।

तात्पर्य यह कि शान्तभद्र मानसप्रत्यक्षको युक्तिसिद्ध मानते थे। वे 'विकल्पोदय' रूप कार्यसे मानस-प्रत्यक्षका अनुमान करते थे और इन्द्रियविज्ञानसे सन्तानभेद होनेके कारण 'विकल्पोदय' नहीं मानना चाहते थे। 'धर्मोत्तरने न्यायबिन्दुमें उनके इस मतका खण्डन किया है, और मानसप्रत्यक्षको सिद्धान्तप्रसिद्ध बताया है तथा कहा है कि इसको सिद्ध करने की कई युक्ति नहीं है। 'तब लक्षण करनेका क्या प्रयोजन है ?' इस प्रश्नके उत्तरमें कहा है कि यदि वह ऐसा हो तो मानसप्रत्यक्ष समझना चाहिये।

अकलङ्कदेवने न्यायविनिश्चय (१।१६१-६२) में शान्तभद्रके इस मानस प्रत्यक्ष सम्बन्धी मतका खंडन किया है। यथा–

"अन्तरेणेदमक्षानुभूतं चेन्न विकल्पयेत्।
सन्तानान्तरवच्चेतः समनन्तरमेव किम्॥"

न्यायविनिश्चयविवरणकार वादिराजसूरिने[4] इस श्लोककी उत्थानिकामें **'शान्तभद्रस्त्वाह'** लिखकर शान्तभद्रका पूर्वोक्त मत देकर ही इस श्लोककी व्याख्या की है।

---

(१) न्यायबि० धर्मोत्तरप्र० पृ० ५, ३१, ३२, ६१, १३८, २०२।

(२) "इह शान्तभद्रेण सौत्रान्तिकानां मतं दर्शयता पूर्वं चक्षू रूपे चक्षुर्विज्ञानं ततस्तेनेन्द्रिय-विज्ञानेन सहजसहकारिणा तृतीयस्मिन् क्षणे मानसप्रत्यक्षं जन्यते" इति व्याख्यातम्"–धर्मोत्तर प्र० पृ० ६१।

(३) "इह पूर्वैः–'बाह्यार्थालम्बनमेवंविधं मनोविज्ञानमस्तीति कुतोऽवसेयम्' इत्याशङ्क्य 'तदभावे तद्बलोत्पन्नानां विकल्पानामभावात् रूपादौ विषये व्यवहाराभावप्रसङ्गः स्यात्' इत्युक्तम्। 'चक्षुरादिविज्ञाने-नानुभूतत्वाच्च विकल्पाभावः' इति चाशङ्क्याभिहितम्–'देवदत्तेनापि दृष्टे यज्ञदत्तस्यापि विकल्पप्रसङ्गः।' 'सन्तानभेदाच्च भविष्यति' इति च पुनराशङ्क्य अत्रापि सन्तानभेदादेव विकल्पो न प्राप्नोति यत इहापि इन्द्रियाश्रयभेदादेव सन्तानभेदो युगपत्प्रवृत्तेश्च ···तस्मात् रूपादिविकल्पाभावो मा भूदित्यविकल्पकं मनो-विज्ञानमभ्युपेयम् ···"–धर्मोत्तर प्र० पृ० ६२-६३।

(४) "एतच्च सिद्धान्तप्रसिद्धं मानसप्रत्यक्षं न त्वस्य प्रसाधकं प्रमाणमस्ति। एवंजातीयकं तद्यदि स्यात् न कश्चिद् दोषः स्यादिति वक्तुं लक्षणमाख्यातमिति।"–न्यायवि० टी० पृ० ६३।

(५) "शान्तभद्रस्त्वाह–यद्यपि प्रत्यक्षतस्तस्य तस्मात् भेदो न लक्ष्यते कार्यतो लक्ष्यत एव। कार्यं हि नीलादिविकल्परूपं स्मरणापरव्यपदेश्यं न कारणमन्तरेण, कादाचित्कत्वात्। न चाक्षज्ञानमेव तत्कारणम् सन्तानभेदात् प्रसिद्धसन्तानान्तरतज्ज्ञानवत्। ततोऽन्यदेव अक्षज्ञानात्तत्कारणम्। तदेव च मानसं प्रत्यक्ष-मिति। एतदेव दर्शयित्वा प्रत्याचिख्यासुराह–अन्तरेण–"–न्यायवि० वि० प्र० पृ० ५२३।

सिद्धिवि० टी० (पृ० १२९) में भी 'अत्राह शान्तभद्रः' लिखकर इनके मतसे मानसप्रत्यक्षकी कल्पनाका प्रयोजन उस मानसविकल्पकी उत्पत्तिको बताया है[1] जो सन्तानभेदके कारण इन्द्रियज्ञानसे उत्पन्न नहीं हो सकता। अकलङ्कदेव उस मतको अपने मूल श्लोकमें उन्हींके शब्दोंमें उल्लिखित करके उसका खंडन करते हैं–

"प्रत्यक्षान्मानसादृते बहिर्नाक्षधियः स्मृतिः।
सन्तानान्तरवच्चेत्तत्समनन्तरमस्य किम्॥"

–सिद्धि वि० २।५

इस तरह हम देखते हैं कि अकलङ्कदेवने न्यायविनिश्चय और सिद्धिविनिश्चय दोनोंमें शान्तभद्रकी स्पष्टतया आलोचना की है।

धर्मोत्तर और अकलङ्क–

धर्मकीर्तिके न्यायबिन्दुके टीकाकारोंमें अर्थप्रधान व्याख्याकारोंमें धर्मोत्तरका प्रधान स्थान है। ये धर्माकरदत्त अपर नाम अर्चटके शिष्य थे। 'अर्चट और अकलङ्क' शीर्षकमें लिखा जा चुका है कि अर्चट ई० ७वीं सदीके अन्तिम भागके विद्वान हैं, अतः उनके शिष्य धर्मोत्तरका भी समय ७वींका अन्तिम भाग ही समझना चाहिए। अर्चट वृद्ध और धर्मोत्तर युवा होकर दोनों समकालीन हैं। इसका साधक एक प्रमाण यह भी है कि[2] धर्मोत्तरकी टीकाके ऊपर मल्लवादीने टिप्पण लिखा है। मल्लवादीके सम्बन्धमें प्रो० दलसुखजीने लिखा है कि "डा० अल्टेकर[3]ने एपिग्राफिका इन्डिका[4]में गुजरातके राष्ट्रकूट राजा कर्क सुवर्णवर्षका एक ताम्रपट्ट सम्पादित किया है। उसमें मूलसंघके सेन आम्नायके मल्लवादी उनके शिष्य सुमति और उनके शिष्य अपराजितको दिये गये दानका उल्लेख है। यह लेख शकसंवत् ७४३ का है। डॉ० अल्टेकरका अनुमान है कि न्यायबिन्दुके टिप्पणकार इस लेखमें उल्लिखित मल्लवादी हो सकते हैं और उनका यह अनुमान धर्मोत्तरके समयके साथ भी संगत होता है। शकसंवत् ७४३ अर्थात् ई० ८२१ में अपराजित हुए, मल्लवादी अपराजितके गुरु सुमतिके भी गुरु थे।"

इससे स्पष्ट है कि मल्लवादी ई० ७२५ के आसपास हुए हैं तो धर्मोत्तरको ७०० ई० के आसपास होना चाहिए। इन्होंने[5] न्यायबिन्दुटीका प्रामाण्यपरीक्षा अपोहप्रकरण परलोकसिद्धि क्षणभंगसिद्धि और प्रमाणविनिश्चयटीका आदि ग्रन्थ रचे हैं।

शान्तभद्रके प्रकरणमें लिखा जा चुका है कि धर्मोत्तर मानस प्रत्यक्षको सिद्धान्तप्रसिद्ध मानते थे युक्तिसिद्ध नहीं। अकलङ्क देवने 'न्यायविनिश्चयमें शान्तभद्रके मानसप्रत्यक्ष सम्बन्धी विचारोंका खण्डन करनेके बाद शान्तभद्रकी आलोचना करनेवाले धर्मोत्तरके इस मतका भी कि 'मानसप्रत्यक्ष सिद्धान्तप्रसिद्ध है, उसका लक्षण विप्रतिपत्तिके निराकरणके लिये किया गया है' खंडन किया है। यथा–

"वेदनादिवदिष्टं चेत् कथञ्चातिप्रसज्यते
प्रोक्षितं भक्षयेन्नेति दृष्टा विप्रतिपत्तयः॥
लक्षणं तु न कर्त्तव्यं प्रस्तावानुपयोगिषु।" –न्यायवि० १।१६२-६३

अर्थात् सुखादिकी तरह यदि वह मानस प्रत्यक्ष अनुभवगम्य है तो अतिप्रसङ्ग हो जायगा। 'प्रोक्षित

(१) "अत्राह शान्तभद्रः–तत्कल्पनया बहिरर्थे मानसं स्मरणं लब्धम्। नहि तत् चक्षुरादिजं युक्तं भिन्नसन्तानत्वात्।..."–सिद्धिवि० टी० पृ० १२९।
(२) धर्मोत्तरप्र० प्रस्तावना पृ० ५५। (३) वही।
(४) एपि० इं० भाग २१ पृ० १३३।
(५) धर्मोत्तरप्र० प्रस्तावना पृ० ५३।
(६) न्यायवि० वि० प्र० पृ० ५१०।

मांस खाया जाय या नहीं' इसमें भी विवाद है तो इस न्यायशास्त्रमें उसका भी लक्षण करना चाहिए। यदि मानस प्रत्यक्ष आगमप्रसिद्ध है; तो उसका लक्षण नहीं करना चाहिए या आदि। वादिराजने इन कारिकाओंको **'धर्मोत्तरस्त्वाह'** लिखकर उसके खंडनपरक ही लगाया है[1]। अनन्तवीर्यने भी अकलङ्कके अनेक वाक्योंको धर्मोत्तरके खंडनपरक लगाया है[2]।

कर्णकगोमि और अकलङ्क–

आ० धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिकके स्वार्थानुमान परिच्छेदपर स्ववृत्ति रची है। इसकी टीका कर्णकगोमि आचार्यने लिखी हैं। इनका समय हमने[3] ई० ८ वीं सदीका पूर्वभाग सूचित किया था। राहुलजीने प्रमाणवा० स्ववृ० टीकाकी प्रस्तावना (पृ० १२) में इन्हें ई० ९ वीं शताब्दीका विद्वान् माना है। उसका आधार है मण्डनमिश्रको ई० ९ वीं सदीका मानना। कर्णकगोमिने मण्डनमिश्रकी **"आहुर्विधातृ प्रत्यक्षम्"** कारिका **'तदुक्तं मण्डनेन'** लिखकर उद्धृत की है तथा उसकी आलोचना भी की है[4]। बृहती द्वि० भागकी प्रस्तावनामें[5] मण्डनमिश्रका समय ई० ६७० से ७२० सूचित किया गया है तथा म० म० कुप्पुस्वामी शास्त्रीने अनेक प्रमाणोंसे ब्रह्मसिद्धिकी प्रस्तावनामें मण्डनका समय ई० ६१५ से ६९० सिद्ध किया है[6]। यह निश्चित है कि मण्डनमिश्र कुमारिल और प्रभाकरके अनन्तर तथा धर्मकीर्तिके समकालीन हैं, अतः इनका समय ई० ७ वीं सदीके बाद कथमपि नहीं हो सकता। कर्णकगोमिने स्ववृत्तिटीका (पृ० १७३) में **"अलङ्कार एवावस्तुत्वप्रतिपादनात्"** लिखकर प्रज्ञाकरके वार्तिकालङ्कारका उल्लेख किया है। इसलिये इनकी पूर्वावधि प्रज्ञाकरका समय है और उत्तरावधि हमारे विचारसे अकलङ्कका समय है; क्योंकि अकलङ्कने कर्णकगोमिके मतका खण्डन किया है। अतः कर्णकगोमि ई० ७ वीं या अन्ततः ८ वीं पूर्वार्धके विद्वान् हैं।

जब कुमारिल आदिने बौद्धसम्मत पक्षधर्मत्वरूप पर आक्षेप करते हुए कहा कि चन्द्रोदय आदि हेतु समुद्रवृद्धि आदि पक्षमें नहीं रहते तब पक्षधर्मत्व अव्यभिचारी कैसे? तो इसका उत्तर कर्णकगोमिने प्र० वा० स्ववृ० टीकामें इस प्रकार दिया है कि कालको पक्ष मानकर पक्षधर्मत्व घटया जा सकता है[7]।

अकलङ्कदेवने प्रमाणसंग्रह (पृ० १०४) में इसकी आलोचना करते हुए लिखा है कि–**"कालादिधर्मिकल्पनायामतिप्रसङ्गः।"** अर्थात् काल आदिको धर्मी माननेमें अतिप्रसङ्ग दोष होगा।

सिद्धिवि० टी० (पृ० १५८) में **'यथार्थरूपं बुद्धेः वितथप्रतिभासनात्'** इस कारिकाको 'कर्णक' के मतका निर्देश करनेके हेतु लगाया है और इसकी मूलवृत्ति में **'स्वरूपमन्तरेण विभ्रमप्रतिभासासंभवात्'** इस अंशको 'कल्पकस्त्वाह' कहकर कर्णकका ही मत बताया गया है। यह कल्पक 'कर्णक' ही ज्ञात होता है।

शान्तरक्षित और अकलङ्क–

धर्मकीर्तिके टीकाकारोंमें शान्तरक्षित भी बड़े प्रखर विद्वान् थे। इनका वादन्यायकी टीकाके सिवाय तत्त्वसंग्रह नामका विशाल ग्रन्थ भी प्रकाशित हुआ है। इनका समय[8] सन् ७०५–७६२ तक माना जाता है। इन्होंने सन् ७४३ में अपनी प्रथम तिब्बत यात्रा की थी। इसके पहिले ही वे अपना तत्त्वसंग्रह बना चुके होंगे। हम शान्तरक्षित और अकलङ्ककी तुलनाके लिये कुछ वाक्य देते हैं–

(१) न्यायवि० वि० प्र० पृ० ५३०।

(२) देखो–सिद्धिवि० टी० परि० ९ में धर्मोत्तरके नामके पृष्ठ।

(३) अकलङ्कग्रन्थत्रय प्रस्ता० पृ० ३०। (४) ब्रह्मसिद्धि २।१। (५) प्र० वा० स्ववृ० टी० पृ० १०९। (६) बृहती द्वि० भाग प्रस्ता० पृ० ३१। (७) ब्रह्मसिद्धि प्रस्तावना पृ० ५८।

(८) "यद्येवं तत्कालसम्बन्धित्वमेव साध्यसाधनयोः। तदा च स एव कालो धर्मी तत्रैव च साध्यानुमानं चन्द्रोदयश्च तत्सम्बन्धीति कथमपक्षधर्मत्वम्।"–प्र० वा० स्ववृ० टी० पृ० ११।

(९) विनयतोष भट्टाचार्य–तत्त्वसं० प्रस्ता० पृ० ९६।

"वृक्षे शाखाः शिलाश्चाग इत्येषा लौकिकी मतिः।"

—तत्त्वसं० पृ० २६७।

"तानेव पश्यन् प्रत्येति शाखा वृक्षेऽपि लौकिकाः।"

—प्रमाणसं० श्लो० २६। न्यायवि० श्लो० १०४।

शान्तरक्षितने कुमारिलके सर्वज्ञत्व निराकरणके लिये दिये गये प्रमेयत्व और सत्त्वादि हेतुओंका उत्तर देते हुए लिखा है—

"एवं यस्य प्रमेयत्ववस्तुसत्त्वादिलक्षणाः।
निहन्तुं हेतवोऽशक्ताः को न तं कल्पयिष्यति॥"

—तत्त्वसं० पृ० ८८५

अकलङ्कने उन्हीं प्रमेयत्व और सत्त्व आदि हेतुओंको सर्वज्ञत्वसिद्धिमें इस प्रकार लगाया है—

"तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र हेतुलक्षणं पुष्णाति तं कथं चेतनः प्रतिषेद्धुमर्हति संशयितुं वा।"—अष्टश०, अष्टस० पृ० ५८।

इसके सिवाय क्षान्तरक्षित सर्वज्ञत्वसिद्धिके लिये ईक्षणिकादि विद्याका दृष्टान्त देते हैं—

"अस्ति हीक्षणिकाद्याख्या विद्या या सुविभाविता।
परचित्तपरिज्ञानं करोतीहैव जन्मनि॥" —तत्त्वसं० पृ० ८८८।

अकलङ्कदेव भी न्यायविनिश्चय (श्लो० ४०७) में ईक्षणिकाविद्याका दृष्टान्त देते हैं।

इन अवतरणोंसे अकलङ्क और शान्तरक्षितके बिम्बप्रतिबिम्बभावका आभास हो जाता है।

इस तरह प्रज्ञाकरगुप्त अर्चट शान्तभद्र धर्मोत्तर कर्णकगोमि और शान्तरक्षितकी तुलनासे ज्ञात हो जाता है कि अकलङ्कने इन सब टीकाकारोंके ग्रन्थोंको देखा है तथा उनका खण्डन भी किया है।

श्री पं० कैलाशचन्द्रजी[1]ने अकलङ्कका समय ई० ७ वीं शताब्दीका मध्य माना है अतः जब ये अनन्तवीर्य और वादिराजके द्वारा अकलङ्कके मूल ग्रन्थको ७ वीं के अन्तिम समयमें हुए उक्त टीकाकारोंके खण्डनपरक लगाता हुआ देखते हैं तो सहसा लिख देते हैं कि—"टीकाकारोंने अकलङ्कके द्वारा जो उक्त ग्रन्थकारों (शान्तभद्र प्रज्ञाकर धर्मोत्तर अर्चट) का खण्डन कराया है वह इतिहासविरुद्ध है, जैसा कि अकलङ्कके समय निर्णयसे ज्ञात हो सकेगा। हम लिख आये हैं कि दार्शनिकोंमें ऐतिहासिक दृष्टिकोणका ध्यान रखते हुए अनुशीलनकी पद्धतिका प्रचार न था तथा इसकी पुष्टिमें धर्मोत्तरके टिप्पणकार मल्लवादीका उदाहरण भी दे आये हैं।...अतः प्रज्ञाकर धर्मोत्तर और अर्चटका अकलङ्कके ग्रन्थोंका खण्डन होनेका जो उल्लेख टीकाकारोंने किया है वह तब तक निर्भ्रान्त नहीं कहा जा सकता जब तक उक्त तीनों विद्वानोंको धर्मकीर्तिका साक्षात् शिष्य या प्रशिष्य होनेका सौभाग्य प्राप्त न हो।"

किन्तु जब अकलङ्कका समय अबाधित प्रमाणोंसे ई० ७२०-७८० सिद्ध हो रहा है तथा उपर्युक्त विवेचनसे ये सभी ग्रन्थकार धर्मकीर्तिके शिष्य-प्रशिष्य या प्रप्रशिष्य ही सिद्ध हो रहे हैं तब टीकाकारोंके द्वारा कराये गये खण्डनोंका औचित्य एवं इतिहाससिद्धता अपने आप प्रकट हो जाती है। मल्लवादीके द्वारा विनीतदेवके खण्डनकी बात भी ऐसे ही भ्रान्त आधारोंसे अनुचित लगती है। जब विनीतदेव और शान्तभद्र दुर्वेकमिश्रके उल्लेखानुसार धर्मोत्तरके पूर्ववर्ती वृद्ध सिद्ध हो रहे हैं[2] तब उस असिद्ध उदाहरणसे टीकाकारोंके उल्लेखोंमें भ्रान्तता नहीं कही जा सकती।

*

(१) न्यायकुमुदचन्द्र प्र० भाग प्रस्ता० पृ० ९७। (२) धर्मोत्तरप्र० प्रस्ता० पृ० ५२।

अकलङ्कका समकालीन और परवर्ती आचार्योंपर प्रभाव–

ऊपरकी तुलनासे अकलङ्कके पूर्ववर्ती और समकालीन आचार्योंके साथ उनके साहित्यिक प्रभावका यत्किंचित् दिग्दर्शन करानेके अनन्तर अब अकलङ्कके द्वारा प्रतिष्ठित अकलङ्क न्यायके विस्तार और प्रसारका भी आभास दिया जा रहा है। सामान्यतया अकलङ्कके द्वारा स्थापित व्यवस्थाओंको सभी उत्तरकालीन दि० श्वे० आचार्योंने स्वीकार किया है और उन्हें प्रमाणभूत मानकर उनका विकास किया है। केवल शान्तिसूरि और आचार्य मलयगिरिने उनके विचारोंसे मतभेद प्रकट किया है।

अजैन ग्रन्थोंमें अकलङ्कदेवका अवतरण केवल एक स्थानपर मिला है, वह है **दुर्वेकमिश्र** (ई० १० का अन्त) द्वारा **धर्मोत्तरप्रदीप**[1] में अकलङ्कका नाम लेकर सिद्धिविनिश्चयका दिया गया उद्धरण[2]।

अकलङ्कका उल्लेख करनेवाले, उनका उद्धरण देनेवाले तथा उनके आलोचक जैन आचार्य इस प्रकार हैं–

धनञ्जय कवि–

[3]धनञ्जय कविका द्विसन्धान काव्य तथा नाममाला कोश प्रसिद्ध है। इनका समय डॉ० के० बी० पाठक ने ई० ११२३-११४० माना है। 'संस्कृत साहित्यका संक्षिप्त ईतिहास[4]' के लेखकद्वयने भी इनका समय १२ वीं सदी ही माना है। किन्तु–

प्रभाचन्द्र (ई० ९८०-१०६५) ने इनके द्विसन्धानका उल्लेख प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ४०२) में किया है।

वादिराजसूरि (ई० १०२५) ने पार्श्वनाथ चरित[5]में इनकी प्रशंसा की है।

आ० वीरसेन[6] (ई० ७४८–८२३) ने धवलाटीकामें धनञ्जयकी अनेकार्थनाममालाका **"हेतावेवं प्रकाराद्यैः"** श्लोक उद्धृत किया है। अतः इनका समय ई०८ वीं सदी निश्चित होता है।

इन्होंने अपनी नाममाला के अन्त में–

"प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
धनञ्जयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्॥"

लिखकर अकलङ्कके प्रमाणशास्त्रकी प्रशंसा की है।

वीरसेनाचार्य–

सिद्धान्तपारगामी आचार्य वीरसेन षट्खंडागमकी धवलाटीका तथा कसायपाहुडकी जयधवला (२० हजार श्लोक प्रमाण) के रचयिता थे। इनका समय ई० ७४८–८२३ है[7]। ये अकलङ्कके लघु समकालीन हैं।

इन्होंने अकलङ्कदेवका उल्लेख **'पूज्यपाद भट्टारक'**के नामसे तथा उनके तत्त्वार्थवार्तिकका उल्लेख **'तत्त्वार्थभाष्य'**के नामसे इस प्रकार किया है–[8]

"पूज्यपादभट्टारकैरप्यभाणि सामान्यनयलक्षणमिदमेव तद्यथा प्रमाणप्रकाशितार्थ-प्ररूपको नयः।"–धवला टीका (प० ७००)

---

(१) **"यदाह अकलङ्कः…"**–धर्मोत्तर प्र० पृ० २४६।
(२) देखो–सिद्धिवि० टी० पृ० ५८० टि० ३।
(३) न्यायकुमु० द्वि० प्रस्ता० पृ० २७। (४) पृ० १७३। (५) पृ० ४।
(६) धवला पु० १ प्रस्ता० पृ० १२।
(७) जैनसा० इ० पृ० १४०। (८) षट् खं० पुस्तक १ प्रस्ता० पृ० ६१।

"प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपको नयः। अयं वाक्यमयः तत्त्वार्थभाष्यगतः।"
—जयध० प्रथमभाग पृ० २१०।

नयका यह लक्षण तत्त्वार्थवार्तिक (१।३३) का है।
इन्होंने धवलाटीकामें सिद्धिविनिश्चयका भी यह अवतरण लिया है—

"सिद्धिविनिश्चये उक्तम्-अवधिविभङ्गयोरवधिदर्शनमेव।"
—धवलाटीका, वर्गणा खं० पु० १३ पृ० ३५६।

किन्तु यह वाक्य प्रस्तुत सिद्धिविनिश्चयमें नहीं मिला।

श्रीपाल[1]—

श्रीपाल वीरसेनके शिष्य थे। ये जिनसेनके सधर्मा या गुरुभाई थे। जिनसेनने इन्हें जयधवला टीकाका संपालक या पोषक कहा है और आदिपुराणमें इनके निर्मल गुणोंकी प्रशंसा की है। अतः ये जिनसेनके ज्येष्ठ सहचर हैं। जिनसेनका समय ई० ७६३-८४३ है। अतः इनका समय भी यही होगा। ये अपनी बाल्यावस्थामें अकलङ्कके दर्शन कर सकते हैं। इन्होंने जिनसेनकी तरह अकलङ्कके तत्त्वार्थभाष्यका परिशीलन अवश्य किया होगा।

जिनसेन—

जयधवला और महापुराण आदिके रचयिता जिनसेन वीरसेनके साक्षात् शिष्य थे। इन्होंने अकलङ्कके निर्मल गुणोंका स्मरण किया है। इनका समय ई० ७६३-८४३ है[2]। ये भी अपनी बाल्यावस्थामें अकलङ्कके दर्शन कर सकते हैं। इन्होंने अपने गुरुकी तरह अकलङ्क देवके तत्त्वार्थभाष्यका परिशीलन किया था। ये अपने गुरुकी सिद्धान्तटीकामें उनके सहायक थे।

कुमारसेन—

जिनसेनने हरिवंश पुराण (शकसं० ७०५ ई० ७८३) में कुमारसेनका स्मरण इन शब्दोंमें किया है—

"आकूपारं यशो लोके प्रभाचन्द्रोदयोज्ज्वलम्।
गुरोः कुमारसेनस्य विचरत्यजितात्मकम्॥"

देवसेनके कथनानुसार वीरसेनके शिष्य विनयसेन, उनके शिष्य कुमारसेनने काष्ठासंघकी स्थापना की थी[3]। विनयसेनकी प्रेरणासे जिनसेनने पार्श्वाभ्युदयकी रचना की थी।

आचार्य विद्यानन्द अपनी अष्टसहस्रीको कुमारसेनकी उक्तियोंसे वर्धमान बताते हैं[4]।

मल्लिषेण प्रशस्तिमें अकलङ्कदेवसे पहिले और सुमतिदेवके बाद एक कुमारसेनका उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

"उदेत्य सम्यग्दिशि दक्षिणस्यां कुमारसेनो मुनिरस्तमापत्।
तत्रैव चित्रं जगदेकभानोस्तिष्ठत्यसौ तस्य तथा प्रकाशः॥१४॥"

अतः अकलङ्कके पूर्वमें उल्लिखित कुमारसेनका समय भी अन्ततः ई० ७२०-८०० सिद्ध होता है। इनके अन्तिम समयमें विद्यानन्द इनकी उक्तियोंको सुन सकते हैं और उनसे अष्टसहस्रीको पुष्ट कर सकते हैं,

(१) जैनसा० इ० पृ० १२९। (२) जैनसा० इ० पृ० १४०।
(३) जैनसा० इ० पृ० १२९।
(४) "कष्टसहस्रीसिद्धा साष्टसहस्रीयमत्र मे पुष्यात्।
शश्वदभीष्टसहस्री कुमारसेनोक्तिवर्धमानार्था॥"—अष्टसह० पृ० २९५।

और ये हरिवंशपुराण (ई० ७८३) में स्मृत हो सकते हैं। ये अकलङ्कके पूर्व-समकालीन होकर भी अकलङ्ककी अष्टशतीके द्रष्टा अवश्य रहे हैं तभी इनकी उक्तियोंसे विद्यानन्दकी अष्टसहस्री परिपुष्ट हो सकती है।

कुमारनन्दि–

इनका उल्लेख विद्यानन्दने अपनी प्रमाणपरीक्षा[1] में किया है तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक (पृ० २८०) में इनके वादन्याय ग्रन्थका उल्लेख कुमारनन्दि नामके साथ किया गया है। यथा–

"कुमारनन्दिनश्चाहुर्वादन्यायविचक्षणाः।"

पत्रपरीक्षा (पृ० ३) में "कुमारनन्दिभट्टारकैरपि स्ववादन्याये निगदितत्वात्" लिखकर

"प्रतिपाद्यानुरोधेन प्रयोगेषु पुनर्यथा।
प्रतिज्ञा प्रोच्यते तज्ज्ञैः तथोदाहरणादिकम् ॥१॥
न चैवं साधनस्यैकलक्षणत्वं विरुध्यते।
हेतुलक्षणतापायादन्यांशस्य तथोदितम् ॥२॥
अन्यथानुपपत्येकलक्षणं लिङ्गमङ्गयते।
प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः ॥" ये तीन श्लोक उद्धृत किये हैं।

[2]गंगवंशके पृथ्वीकोंगणि महाराजके एक दानपत्र[3] (शक सं० ६९८ ई० ७७६) में चन्द्रनन्दिको दिये गये दानका उल्लेख है। इस दानपत्रमें कुमारनन्दिकी गुरुपरम्परा दी है। अतः इनका समय ई० ७७६ के आसपास सिद्ध होनेसे ये भी अकलङ्कके समकालीन हैं। इनके वादन्यायपर सिद्धिविनिश्चयके जल्पसिद्धि प्रकरणका प्रभाव इसलिये माना जा सकता है कि इनके नामसे उद्धृत श्लोकोंमें अकलङ्क न्यायकी पूरी-पूरी छाप है।

आ० विद्यानन्द–

ये अकलङ्ककी अष्टशतीके व्याख्याकार हैं। आप्तपरीक्षाकी प्रस्तावना[4] में पश्चिमी गंगवंशी नरेश श्रीपुरुषके उत्तराधिकारी शिवमार द्वितीय (ई० ८१०) का तत्त्वार्थश्लोक वार्तिककी प्रशस्तिमें उल्लेख देखकर इनकी ग्रन्थ रचनाका समय इस प्रकार दिया गया है–"विद्यानन्दमहोदय और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक शिवमार द्वितीयके समय (ई० ८१०) आप्तपरीक्षा प्रमाणपरीक्षा और युक्त्यनुशासनालङ्कृति ये तीन कृतियाँ राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम (ई० ८१६-८३०) के राज्यकालमें बनी हैं क्योंकि इनमें उसका उल्लेख है। अष्टसहस्री श्लोकवार्तिकके बाद की तथा आप्तपरीक्षा आदिके पूर्व की रचना है। यह करीब ई० ८१०-८१५ में रची गई होगी तथा पत्रपरीक्षा श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र और सत्यशासनपरीक्षा ये तीन रचनाएँ ई० ८३०-४० में रचीं ज्ञात होती हैं। इससे भी आ० विद्यानन्दका समय पूर्वोक्त ई० ७७५ से ८४० प्रमाणित है।"

विद्यानन्दने विद्यानन्दमहोदयके बाद तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक ई० ८१० में बनाया है। उन्होंने अपनी प्रौढ़ अवस्थामें ग्रन्थ रचना प्रारम्भ की होगी। यदि विद्यानन्दका जन्म ई० ७६० में मान लिया जाय तो ये अपनी ४० वर्षकी अवस्थासे ग्रन्थ रचना प्रारम्भ कर सकते हैं। ऐसी दशामें इन्हें भी कुमारसेनकी तरह अकलङ्कके उत्तर समकालीन होनेका सौभाग्य प्राप्त हो सकता है।

---

(१) "तथा चान्यत्रापि कुमारनन्दिभट्टारकैः–अन्यथानुपपत्येकलक्षणं···"–प्रमाण प० पृ० ७२। यह श्लोक न्यायदी० पृ० ६९, ८२ में उद्धृत है।

(२) जैन सा० इ० पृ० ७९। (३) एपि० इ० भाग २ पृ० १५६–५९।

(४) पं० दरबारीलालजी कोठिया–आप्तप० प्रस्ता० पृ० ५१-५३।

विद्यानन्दने अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक[1], अष्टसहस्री[2], प्रमाणपरीक्षा[3], पत्रपरीक्षा[4], नयविवरण[5] और सत्यशासनपरीक्षा[6] आदि सभी ग्रन्थोंमें अकलङ्कके लघीयस्त्रयकी कारिकाएँ उद्धृत की हैं। सिद्धिविनिश्चय[7] और न्यायविनिश्चय[8]के श्लोक भी इसी तरह प्रमाणरूपमें उद्धृत हैं। इन्होंने अकलङ्कवाङ्मयको खूब माँजा और उसके गूढ़ रत्नोंको अपनी प्रज्ञाशाणपर रखकर चमकाया है।

शीलाङ्काचार्य–

आगमोंके अद्यटीकाकार शीलाङ्कचार्यने वि० ९२५ (ई० ८६८) में चउपन्न महापुरिस चरिउ समाप्त किया था[9]। ये आगमोंके प्रसिद्ध टीकाकार हैं। इन्होंने सूत्रकृताङ्गटीका[10]में लघी० से दो श्लोक उद्धृत किये हैं।

अभयदेव सूरि–

वादमहार्णवकार तर्कपञ्चानन अभयदेवसूरि[11] (ई० १० वीं सदी) ने सन्मतितर्कटीकामें लघीयस्त्रय[12]की कारिकाएँ तथा उसकी स्ववृत्ति उद्धृत की हैं और उनकी प्रमाण-व्यवस्थाका समर्थन किया है।

सोमदेव सूरि–

सुप्रसिद्ध बहुश्रुत साहित्यकार आचार्य सोमदेव सूरि[13] (ई० १० वीं सदी) ने यशस्तिलक चम्पू उत्तरार्ध[14]में सिद्धिविनिश्चयका **'आत्मलाभं विदुर्मोक्षम्'** श्लोक[15] उद्धृत किया है।

अनन्तकीर्ति–

आचार्य अनन्तकीर्ति (ई० १० वीं) ने अपने लघुसर्वज्ञसिद्धिप्रकरण[16]में सिद्धिविनिश्चयका **'दशहस्तान्तरं'** श्लोक[17] उद्धृत किया है और उनके वाङ्मयकी युक्तियोंसे इस प्रकरणको समृद्ध किया है।

माणिक्यनन्दि–

सूत्रकार माणिक्यनन्दि प्रभाचन्द्रके गुरु थे। इनका समय ई० ९९३–१०५३ है[18]। इन्होंने अकलङ्क वचोऽम्भोधिसे न्यायविद्यामृतका उद्धार करके ही परीक्षामुखसूत्र रचा है। विशेष विवरणके लिये परीक्षामुख-सूत्रोंकी तुलना[19]में न्यायविनिश्चय और लघीयस्त्रय आदि ग्रन्थोंके अवतरण देखना चाहिए।

---

(१) पृ० १८५, ४२४, २३९, २७०, ३३० और २७१ में क्रमशः कारिका ४, ७, १०, ३२, ५४ और ७०।

(२) पृ० १३४ में का० ३। (३) पृ० ६९ में का० ३।

(४) पृ० ५ में का० ३। (५) श्लो० ६७ में का० ३२।

(६) पृ० १५ ख में का० ३७। (७) त० श्लो० पृ० १८९ में श्लो० १।२७।

(८) त० श्लो० पृ० १८४ में श्लो० १।३। अष्टसह० पृ० ११६ में श्लो० १।५४।

(९) जैनसा० सं० इ० पृ० १८१।

(१०) पृ० २२७ क और ३२६ क में क्रमशः श्लो० ४ और ७२।

(११) सन्मति० प्र० पृ० ८३। (१२) पृ० ५५३, ५५३, ५५३, ५९५, २७२ और ५४४ में क्रमशः श्लो० ५, ५, १०, २२, ३२ और ५६।

(१३) जैन सा० इ० पृ० १८२। (१४) पृ० २८०। (१५) सिद्धिवि० ७।१९।

(१६) पृ० १२०। (१७) सिद्धिवि० ८।१२।

(१८) आप्त० प्रस्ता० पृ० ३३। (१९) प्रमेयक० प्रस्ता० के अन्तकी परीक्षामुखसूत्र तुलना।

शान्तिसूरि–

वार्तिककार आचार्य शान्तिसूरि[1] (ई० ९९३–१०४७) ने जैनतर्क वार्तिकमें[2] न्यायविनिश्चयके 'भेदज्ञानात्' श्लोकको[3] तथा सिद्धिविनिश्चयके 'असिद्धः सिद्धसेनस्य' श्लोकको[4] थोड़े परिवर्तनके साथ ले लिया है[5]। इन्होंने अकलङ्कके 'त्रिधा श्रुतमविप्लवम्' इस प्रमाणसंग्रहीय[6] मतकी आलोचना की है[7]। शेष के लिये देखो न्यायावतारसूत्र वार्तिक तुलना[8]में न्यायविनिश्चय और लघीयस्त्रय के अवतरण।

वादिराज–

स्याद्वाद विद्यापति वादिराज सूरि (ई० १०२५) न्यायविनिश्चयके प्रख्यात विवरणकार हैं। ये अकलङ्कवाङ्मयके गंभीर अभ्यासी रहे हैं और इन्होंने न्यायविनिश्चय विवरणमें श्लोकोंके चार पाँच अर्थ तक किये हैं। गूढार्थ अकलङ्कवाङ्मय रूपी रत्नोंको अगाध भूमिसे इन्होंने अनन्तवीर्यके वचनदीपकी सहायतासे खोजा और पाया था। इन्होंने अकलङ्कके समग्र वाङ्मयसे उद्धरण लिये हैं तथा उनकी स्थापित प्रमाणपद्धतिका समर्थन किया है[9]।

प्रभाचन्द्र–

सुप्रसिद्ध टीकाकार आचार्य[10] प्रभाचन्द्र(ई० ९८०–१०६५) ने अकलङ्कदेवके लघीयस्त्रयपर लघीयस्त्रयालङ्कार-न्यायकुमुदचन्द्र नामकी १८ हजार श्लोक प्रमाण टीका रची है। इन्होंने अकलङ्कन्यायका अनन्तवीर्यकी उक्तियों से शतशः अभ्यास और विवेचन किया है। इनके सुप्रसन्न न्यायकुमुदचन्द्र नामके टीकाग्रन्थ और प्रमेयकमलमार्तण्डमें अकलङ्कवाङ्मय आधारभूत दीपस्तम्भ रहा है। इन्होंने अकलङ्कके चरणोंमें अपनी श्रद्धाञ्जलि बड़ी विनम्रतासे चढ़ाई है। इनकी आत्मानुशासन तिलक टीका[11]में न्यायविनिश्चय[12]का 'भेदज्ञानात् प्रतीयेते' श्लोक उद्धृत है।

अनन्तवीर्य–

प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्य[13] (ई० ११ वीं) ने प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्तण्डके अनन्तर अकलङ्कवाङ्मयोद्धृत परीक्षामुखपर प्रमेयरत्नमाला टीका बनाई है। इन्होंने प्रमेयरत्नमाला (३।५) में लघीयस्त्रय[14] तथा न्यायविनिश्चय[15]को उद्धृत किया है। इन्होंने अकलङ्कोक्त न्यायका श्रद्धापूर्वक समर्थन किया है।

वादिदेवसूरि

स्याद्वादरत्नाकरकार वादि देवसूरि[16] (ई० १०८६–११३०) ने अकलङ्क वचनाम्भोधिसे उद्धृत परीक्षामुखसूत्रके आधारसे प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारकी रचना की है तथा उसकी स्याद्वादरत्नाकर-टीका

---

(१) जैनतर्कवा० प्रस्ता० पृ० १५१। (२) पृ० ११०। (३) श्लो० १।११४।
(४) श्लो० ६।२१। (५) पृ० ५३। (६) श्लो० २। (७) पृ० ७४।
(८) जैनतर्कवा० पृ० २९७।
(९) देखो न्यायवि० वि० दोनों भागकी प्रस्तावनाओं का ग्रन्थ विभाग और टिप्पण।
(१०) विस्तृत विवरण देखो–न्यायकुमु० द्वि० प्रस्ता०। (११) लिखित, श्लो० १७२ की टीकामें।
(१२) श्लो० १।११४।
(१३) न्यायकुमु० द्वि० प्रस्ता० पृ० ३५। (१४) श्लो० १९–२०।
(१५) प्रमेयरत्नमा० ३।१५ में न्यायवि० १।१२।
(१६) विस्तृत परिचय देखो–न्यायकुमु० द्वि० भाग प्रस्ता० पृ० ४१।

भी स्वयं ही लिखी है। इनके प्रमाणनयतत्त्वा० सूत्रमें लघी० स्ववृत्तिके वाक्य उनकी शोभा बढ़ा रहे हैं। स्याद्वादरत्नाकरमें इन्होंने अकलङ्कके सिद्धिविनिश्चयका एक वाक्य उद्धृत किया है। इन्होंने अकलङ्क और अकलङ्कके टीकाकारोंके वाक्यरत्नोंसे रत्नाकरकी खूब वृद्धि की है। इन्होंने अकलङ्क न्यायकी मूल व्यवस्थाओं-को स्वीकार करके हेतुके भेद प्रभेद आदिमें उसका विस्तार भी किया है।

हेमचन्द्र–

कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्र सूरि (ई० १०८८–११७३) को अकलङ्कवाङ्मयमें सिद्धिविनिश्चय बहुत प्रिय था। इसमेंसे उन्होंने प्रमाणमीमांसामें दो श्लोक उद्धृत किये हैं[1]। अकलङ्कदेवके द्वारा प्रतिष्ठापित अकलङ्क-न्यायके ये समर्थक और विवेचक थे।

मलयगिरि–

सुप्रसिद्ध आगमटीकाकार आ० मलयगिरि (ई० ११ वीं १२ वीं) हेमचन्द्रके सहविहारी थे। इन्होंने आवश्यक निर्युक्ति टीका[2]में अकलङ्कदेवके 'नयवाक्यमें भी स्यात् पदका प्रयोग करना चाहिए' इस सिद्धान्तसे असहमति प्रकट की है। इसी प्रसङ्गमें उन्होंने लघीयस्त्रय स्ववित्तिसे **'नयोऽपि तथैव सम्यगेकान्तविषयः स्यात्'** यह वाक्य उद्धृत किया है। अकलङ्कदेवने प्रमाणवाक्यकी तरह नयवाक्यमें भी नयान्तरसापेक्षता दिखानेके लिये 'स्यात्' पदके प्रयोगकी आवश्यकता बताई है। आ० मलयगिरिका कहना है कि यदि नयवाक्यमें 'स्यात्' पदका प्रयोग किया जाता है तो वह 'स्यात्' शब्दमें सूचित अन्य अशेष धर्मोंको विषय करनेके कारण प्रमाणवाक्य ही हो जायगा। इनके मतसे सभी नय मिथ्यावाद हैं। किन्तु जब अकलङ्कोक्त व्यवस्थाका समर्थन अन्य सभी विद्यानन्द आदि आचार्योंने किया तो उपाध्याय यशोविजयजीने तदनुसार ही इसका उत्तर गुरुतत्त्वविनिश्चय[3]में दे दिया है कि नयवाक्यमें 'स्यात्' पदका प्रयोग अन्य धर्मोंका मात्र सद्भाव द्योतन करता है उन्हें प्रकृत वाक्यका विषय नहीं बनाता। मलयगिरि द्वारा की गई यह आलोचना इन्हीं तक ही सीमित रही है।

चन्द्रसेन–

आ० चन्द्रसेन[4] (ई० १२ वीं) ने उत्पादादि सिद्धि प्रकरणमें[5] सिद्धिविनिश्चयका **'न पश्यामः'** श्लोक[6] उद्धृत किया है।

रत्नप्रभ–

आचार्य रत्नप्रभ (ई० १२ वीं) वादिदेवसूरिके ही शिष्य थे। इन्होंने अपनी रत्नकरावतारिका[7]में अकलङ्कदेवके प्रति **'प्रकटिततीर्थान्तरीयकलङ्कोऽकलङ्कः'** लिखकर बहुमान प्रकट किया है। इन्होंने उसमें लघीयस्त्रयके श्लोक भी यथास्थान उद्धृत किये हैं[8]।

---

(१) १।४, २।३ और २।१२ में का० ३, ४ और ५ की स्ववृत्तिके वाक्य।
(२) पृ० ६४१।
(३) पृ० १२ में सिद्धिवि० ८।२ और ८।३।
(४) पृ० ३७१ क०। (५) श्लो० ६२। (६) पृ० १७ ख०।
(७) जैन सा० सं० इ० पृ० २७५। (८) पृ० ७१। (९) सिद्धिवि० २।१२।
(१०) स्या० रत्ना० पृ० ११३७। (१०) रत्नाकराव० ३।१३ में श्लो० १९-२०।

आशाधर–

प्रज्ञापुञ्ज पं० आशाधरजी[1] (ई० ११८८-१२५०) ने भी अकलङ्क[2]-वाङ्मयका पारायण किया था। इन्होंने अनगारधर्मामृतटीका[3]और इष्टोपदेशटीका[4] में लघीयस्त्रयका चौथा और बहत्तरवाँ श्लोक उद्धृत किया है। इनका स्याद्वादविद्याका निर्मल प्रासाद 'प्रमेयरत्नाकर' ग्रन्थ अप्राप्य है अन्यथा इनके अकलङ्क-वाङ्मयके अवगाहनका और भी पता लगता।

अभयचन्द्र–

अभयचन्द्रसूरि[5] (ई० १३ वीं) ने अकलङ्कदेवके लघीयस्त्रयपर एक छोटीसी तात्पर्यवृत्ति रची है और भट्टाकलङ्क शशाङ्ककी कौमुदीसे उसे समुज्ज्वल बनाया है।

देवेन्द्रसूरि–

कर्मग्रन्थकार आचार्य देवेन्द्रसूरि[6] (ई० १३ वीं) के विद्वान् हैं। इन्होंने कर्मग्रन्थकी टीका[7]में लघीयस्त्रयका **'मलविद्धमणि'** श्लोक[8] उद्धृत किया है।

धर्मभूषण–

न्यायदीपिकाकार धर्मभूषणयति[9] (ई० १४ वीं) ने न्यायदीपिका[10]में लघीयस्त्रय[11]और न्यायविनिश्चय[12]के उद्धरण दिये हैं तथा अकलङ्क न्यायका दीपन किया है।

विमलदास–

विमलदास गणिने नव्य शैलीमें सप्तभङ्गितरङ्गिणी ग्रन्थ लिखा है। इन्होंने 'तदुक्तं भट्टाकलङ्कदेवैः' के साथ यह श्लोक उद्धृत किया है।

"प्रमेयत्वादिभिः धर्मैरचिदात्मा चिदात्मकः।
ज्ञानदर्शनतस्तस्माच्चेतनाचेतनात्मकः॥"

यह श्लोक स्वरूपसम्बोधनमें मूल (श्लो०३) रूपसे विद्यमान है। स्वरूपसम्बोधन ग्रन्थ रचना आदि की दृष्टि से अकलङ्कका तो नहीं मालूम होता। यह महासेनकृत भी कहा जाता है[13]। इस पर पाण्डवपुराणके कर्ता शुभचन्द्रने वृत्ति लिखी थी–यह पाण्डवपुराणकी प्रशस्तिसे ज्ञात होता है।

विमलदासगणिने अकलङ्क वाङ्मयका आलोडन किया था और सकलादेश विकलादेशके प्रकरण में कालादि आठकी दृष्टिसे भेदाभेद निरूपण करके उसका पर्याप्त प्रसार किया है।

यशोविजय–

नव्यन्याययुग प्रवर्तक उपाध्याय यशोविजयजी[14] (ई० १७ वीं सदी) अकलङ्कन्यायके गहरे अभ्यासी और समर्थक थे। इनके जैनतर्कभाषा[15] शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका[16] गुरुतत्त्वविनिश्चय[17] आदि ग्रन्थोंमें अकलङ्क[18]-

(१) जैनसा० इ० पृ० ३४२। (२) पृ० १६९। (३) पृ०३०।
(४) लघी० प्रस्ता० पृ० ५। (५) 'चत्वारः कर्मग्रन्थाः' की प्रस्ता० पृ० १६।
(६) प्रथम कर्मग्रन्थटीका पृ० ८। (७) श्लो० ५७।
(८) न्यायदीपिका प्रस्ता० पृ० ९६–९८। (९) पृ० १२५, २४ और ७० में।
(१०) श्लो० ५२। (११) श्लो० १।३ और श्लो० २।१७२।
(१२) न्यायकुमु० प्र० प्रस्ता० पृ० ५५।
(१३) जैनतर्कभाषा प्रस्ता०। (१४) पृ० २५। (१५) पृ० ३१० ख०। (१६) पृ० १६।
(१७) क्रमशः लघी० स्ववृ० श्लो० ७६, श्लो० ४, श्लो० ३०, ६३।

वाक्यके उद्धरण तो हैं ही, गुरुतत्त्वविनिश्चयमें मलयगिरिकृत अकलङ्ककी समालोचनाका सयुक्तिक उत्तर भी है। इन्होंने अष्टशती के भाष्य अष्टसहस्री पर अष्टसहस्री-विवरण रचकर अकलङ्क न्यायको समुज्ज्वल किया है।

इनके सिवाय वादीभसिंहकी स्याद्वादसिद्धि[1] वसुनन्दिकी[2] आप्तमीमांसावृत्ति, गुणरत्नकी षड्दर्शनसमुच्चय बृहद्वृत्ति, मल्लिषेणकी स्याद्वादमंजरी, भावसेनके विश्वतत्त्वप्रकाश, नरेन्द्रसेनकी प्रमाणप्रमेयकलिका, अजितसेनकी न्यायमणिदीपिका (प्रमेयरत्नमाला टीका) और चारुकीर्ति पण्डिताचार्यके प्रमेयरत्नमालालङ्कार आदि में भी अकलङ्क-न्यायके शुभ दर्शन होते हैं।

*

अकलङ्क का समय निर्णय

पूर्वनिर्दिष्ट शिलालेखोल्लेखोंमें अकलङ्कदेवका प्राचीनतम उल्लेख ई० १०१६ के शिलालेखमें है।

ग्रन्थकारोंकी तुलनासे यह ज्ञात होता है कि–उनकी पूर्वावधि धर्मकीर्ति तथा उनके शिष्य परिवारका समय है। यह समय ई० ७ वीं का उत्तरार्ध और ८ वीं का पूर्वार्ध है। विशेष कर शान्तरक्षित (ई० ७६२) का समय ही अकलङ्ककी निश्चित पूर्वावधि है। उत्तरावधिके लिये उनके प्रसिद्ध टीकाकार आ० विद्यानन्दका समय (ई० ७७५–८४०) तथा प्राचीन उल्लेख करनेवाले कवि धनञ्जय (ई० ८ वीं) और आचार्य वीरसेन (ई० ७४८–८१३) का समय है। इस तरह अकलङ्कदेवके समयकी शताब्दी ई० ८ वीं सुनिश्चित हो जाती है।

अब उनके समयके सम्बन्धमें जो विचार किया जा चुका है तथा जो नये प्रमाण उपलब्ध हुए हैं उनके प्रकाशमें शताब्दी के दशक निश्चित करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

अकलङ्कदेवके समयके सम्बन्धमें अब तक जिन विद्वानोंने ऊहापोह किया है उनके मत दो भागोंमें बाँटे जा सकते हैं–

(१) पहिला मत अकलङ्कदेवको ईसाकी आठवीं शताब्दीके उत्तरार्धका विद्वान् माननेका है। यह मत स्व० डॉ० के० बी० पाठकका है। इसके समर्थक स्व० डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण[3], स्व० डॉ० आर० जी० भाण्डारकर[4], पिटर्सन[5], लुइस राइस[6], डॉ० विंटरनिट्ज[7], डॉ० एफ० डब्ल्यू थॉमस[8], डॉ० ए० बी० कीथ[9],

---

(१) स्याद्वादसि० प्रस्ता० पृ० १९। यदि ये अकलङ्कके सधर्मा पुण्यसेनके ही शिष्य हैं तो ये अकलङ्कके भी लघुसमकालीन हो सकते हैं।

(२) इनकी आप्तमीमांसावृत्ति पर अष्टशतीका पूरा प्रभाव है। विद्यानन्दकी अष्टसहस्री (पृ० २९५) के उल्लेखानुसार 'जयति जगति' आदि श्लोक कोई आप्तमीमांसाका मंगल मानते हैं। वसुनन्दिने अपनी वृत्तिमें इसे समन्तभद्र कृत तथा आप्तमीमांसाका अन्तिम श्लोक माना है। यदि विद्यानन्द 'केचित्' पदसे इन्हींका निर्देश कर रहे हैं तो इनका समय ई० ९ वीं सदी का प्रारम्भ होना चाहिए।

(३) 'भर्तृहरि और कुमारिल'लेख,जर्नल बम्बई ब्राँच रायल एशि० सोसाइटी भाग १८ सन् १८९२।

(४) हि० इ० ला० पृ० १८६।

(५) ए० भा० ओ० रि० इं० भाग ११ पृ० १५५ में प्रकाशित 'शान्तरक्षिताज़ रिफरेंसेस् टु कुमारिलाज़ अटैक्स ऑ० समन्तभद्र एण्ड अकलङ्क' शीर्षक लेख।

(६) पिटर्सन–द्वितीय रिपोर्ट सर्च ऑफ दी मैन्यु० पृ० ७९।

(७) राइस०–जर्नल रायल एशि० सो० भाग १५ पृ० २९९।

(८) हि० इ० लि० भाग २ पृ० ५८८।

(९) प्रवचनसार अंग्रेजी अनुवादकी प्रस्ता० (जैन लिट० सो० सीरीज नं० १ केम्ब्रिज)।

(१०) हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट० पृ० ४९७।

डॉ० ए० एस० आल्तेकर[1], श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी[2], पं० सुखलालजी[3], डॉ० बी० ए० सालेतोर[4], म० म० पं० गोपीनाथ कविराज[5] आदि विद्वान् हैं।

(२) दूसरा मत है अकलङ्कदेवको ईसाकी सातवीं शताब्दीका विद्वान् माननेका। इसका मूल आधार है–अकलङ्क चरितका विक्रमार्कशकाब्दीय श्लोक। इस श्लोकका विक्रमसंवत् ७०० अर्थ मानकर अकलङ्कका समय ईसाकी ७ वीं शताब्दी माननेवालोंमें आर० नरसिंहाचार्य[6], प्रो० एस० श्रीकण्ठ शास्त्री[7], पं० जुगलकिशोर मुख्तार[8], डा० ए० एन० उपाध्ये[9], पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री[10] और डा० ज्योतिप्रसादजी[11] आदि हैं।

प्रथम ८ वीं शताब्दी माननेवालोंकी मुख्य अबाधित युक्तियाँ इस प्रकार हैं[12]–

(१) प्रभाचन्द्रके गद्य कथाकोशमें अकलङ्कको राजा शुभतुङ्गके मन्त्रीका पुत्र कहा है अतः अकलङ्क शुभतुङ्गके समकालीन हैं[13]।

(२) चन्द्रगिरि पर्वत पर पार्श्वनाथ बस्तिमें उत्कीर्ण एक स्तम्भलेख जिसे मल्लिषेण प्रशस्ति भी कहते हैं, अकलङ्कका साहसतुङ्गकी सभामें अपने हिमशीतलकी राजसभामें हुए शास्त्रार्थकी बात कहना। यह साहसतुङ्ग दन्तिदुर्ग द्वितीय (ई० ७४४ से ७५६) हो सकता है[14]।

(३) अकलङ्क चरितमें शक संवत् ७०० (ई० ७७८) में अकलङ्कके शास्त्रार्थका यह उल्लेख[15]–

"विक्रमार्कशकाब्दीय शतसप्तप्रमाजुषि।
कालेऽकलङ्क यतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत्॥"

द्वितीय ७ वीं शताब्दी माननेवालोंकी मुख्य युक्तियाँ इस प्रकार हैं—

१. गद्यकथाकोशमें शुभतुङ्गकी राजधानी मान्यखेट लिखा है, और चूँकि मान्यखेट राजधानीकी स्थापना राष्ट्रकूटवंशीय अमोघवर्षने ई० ८१५ के आसपास की थी अतः कथाकोशका वर्णन प्रामाणिक नहीं है[16]।

२. साहसतुंग दन्तिदुर्गका उपनाम या विरुद था यह अनुमान मात्र है[17]।

३. अकलङ्क चरितमें आए हुए श्लोकका विक्रमार्कपद विक्रम संवत्का बोधक है[18]।

४. वीरसेनाचार्य जैसे सिद्धान्त पारगामीने धवला टीका (समाप्ति काल ई० ८१६) में अकलङ्कदेवके राजवार्तिकके अवतरण आगम प्रमाणके रूपमें उद्धृत किये हैं। अतः अकलङ्कको बहुत पहिले सातवीं शताब्दी में होना चाहिए[19]।

---

(१) दी राष्ट्रकूटाज़ एण्ड देअर टाइम्स पृ० ४०९।
(२) जैन हितैषी भाग ११ अङ्क ७।८।
(३) अकलङ्कग्रन्थत्रय प्राक्कथन पृ० १०। न्यायकुमुदचन्द्र द्वि० भाग, प्राक्कथन पृ० १६।
(४) मिडिवल जैनि० पृ० ३५। (५) 'अध्युत' वर्ष ३ अंक ४।
(६) इंस्क्रि० एट श्रवणबेलगोला द्वि० सं० की भूमिका।
(७) ए० भा० ओ० रि० इं० भाग १२ में 'दी एज ऑफ शंकर' शीर्षक लेख।
(८) जैनसा० और इतिहासपर विशद० पृ० ५४१।
(९) 'डॉ पाठकाज न्यू ऑन अनन्तवीर्याज़ डेट' लेख, ए० भा० ओ० रि० इं० भाग १३ पृ० १६१।
(१०) न्यायकुमु० प्र० भाग प्रस्ता० पृ० १०५।
(११) 'ज्ञानोदय' अंक १७ नवम्बर १९५०, 'अकलङ्क परम्परा के महाराज हिमशीतल' लेख।
(१२) डॉ० पाठक–ए० भा० ओ० रि० इं० भाग ११ पृ० १५५। (१३) वही। (१४) वही।
(१५) पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री–न्यायकुमुदचन्द्र प्र० भाग प्रस्तावना पृ० १०४।
(१६) डॉ० उपाध्ये–ए० भा० ओ० रि० इं० भाग १२ पृ० ३७३। (१७) वही। (१८) वही।

५. सिद्धसेनगणि ई० ८ वीं सदीके विद्वान् हैं। उन्होंने अकलङ्कके सिद्धिविनिश्चयका उल्लेख किया है इसलिये अकलङ्कको ७ वीं सदीका होना चाहिए[1]।

६. हरिभद्र (ई० ७००–७७०) ने अनेकान्तजयपताकामें अकलङ्कन्याय शब्दका प्रयोग किया है तथा उन पर अकलङ्कका प्रभाव है अतः अकलङ्कको उनसे पूर्व होना चाहिए[2]।

७. जिनदासगणि महत्तर (ई० ६७६) ने निशीथचूर्णिमें सिद्धिविनिश्चयका दर्शनप्रभावक ग्रन्थोंमें उल्लेख किया है अतः अकलङ्क को ७वीं के मध्यमें होना चाहिए[3]।

हमारी विचारणा–

अकलङ्कदेवके ग्रन्थोंके अन्तःपरीक्षण तथा बाह्य साक्ष्योंके आधारसे अकलङ्कदेवका समय ई० ७२०–७८० तक सिद्ध किया जा चुका है[4]। उसमें अब तक जो नई बातें और ज्ञात हो सकी हैं उनसे हमें अपने निर्धारित समयकी दृढ़ प्रतीति ही हुई है। यह समय वही है जिसे स्व० डॉ० पाठकने निर्धारित किया था तथा डॉ० विद्याभूषण और प्रेमीजी आदि जिसका समर्थन करते रहे हैं। इन विद्वानोंकी कुछ युक्तियाँ बाधित हो गई हैं पर इनके निष्कर्षमें बाधा नहीं आई। कई अन्य[5] विद्वानों तथा डॉ० साल्तोर[6]ने भी अपने **'दी एज ऑफ गुरु अकलङ्क'** लेखमें हमारे विचारोंको मान्यता दी है।

यहाँ ७ वीं सदी माननेवालोंकी उन सभी युक्तियोंपर क्रमशः विचार प्रस्तुत किया जा रहा है। जिससे बाधकोंका निराकरण होकर अकलङ्कका समय ई० ७२०–७८० निर्बाध सिद्ध होता है।

(१) यह पहिले लिखा जा चुका है[7] कि प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोशमें राजधानीका नाम मान्यखेट इसलिये लिखा गया है कि उस समय साधारणतया राष्ट्रकूटोंकी राजधानी मान्यखेट रूढ हो गई थी। राष्ट्रकूट नाम आते ही 'मान्यखेटोंके राष्ट्रकूट' यह बोध होने लगा था। अतः प्रभाचन्द्रने राजधानी मान्यखेट लिख दिया है। इतने मात्रसे कथाकोश अप्रामाणिक नहीं ठहर सकता।

(२) मल्लिषेण प्रशस्ति[8], जिसमें **'राजन् साहसतुंग'** उल्लेख है, श्रवणबेल्गोलाके चन्द्रगिरि पर्वतकी पार्श्वनाथ वसतिके एक स्तम्भपर खुदी हुई है। शक संवत् १०५० (११२८) में मल्लिषेण मुनिने शरीरत्याग किया था, उन्हींकी स्मृतिमें यह प्रशस्ति खोदी गई थी।

इसमें क्रमशः महावादी समन्तभद्र, महाध्यानी सिंहनन्दि, पण्मासवादी वक्रग्रीव, नव स्तोत्रकारी वज्रनन्दि, त्रिलक्षणकदर्थनके कर्त्ता पात्रकेसरिगुरु, सुमतिसप्तकके रचयिता सुमतिदेव, महाप्रभावशाली कुमारसेन, मुनिश्रेष्ठ चिन्तामणि, दण्डिके द्वारा स्तुत कविचूडामणि श्रीवर्धदेव और सतति महावादविजेता महेश्वर मुनिके वर्णनके बाद घटावतीर्ण तारादेवीके विजेता अकलङ्कदेवका स्तवन किया गया है। यहीं स्वयं अकलङ्कदेवके मुखसे अपनी निरवद्यविद्याके विभवका वर्णन इस प्रकार दिया है–

"चूर्णिः-यस्येदमात्मनोऽनन्यसामान्यनिरवद्यविद्याविभवोपवर्णनमाकर्ण्यते ॥

राजन् साहसतुङ्ग सन्ति बहवः श्वेतातपत्रा नृपाः,
किन्तु त्वत्सदृशा रणे विजयिनः त्यागोन्नता दुर्लभाः।
तद्वत्सन्ति बुधा न सन्ति कवयो वादीश्वरा वाग्मिनो
नानाशास्त्रविचारचातुरधियः काले कलौ मद्विधाः ॥ २१ ॥
नमो मल्लिषेणमलधारिदेवाय ॥

---

(१) न्यायकुमु० प्र० भाग प्रस्ता० पृ० १०४। (२) वही पृ० १०५।
(३) पं० जुगलकिशोर मुख्तार–अनेकान्त वर्ष १ अंक १। न्यायकुमु० प्र० भाग प्रस्ता० पृ० १०५।
(४) अकलङ्क ग्रन्थत्रय प्रस्ता० पृ० १३–३२।
(५) तत्त्वोप०, जैनतर्कवा० और हेतुवि० टी० की प्रस्ता०।
(६) बम्बई हि० सो० जर्नल भाग ६ पृ० १०–३३। (७) पृ० १४।
(८) जैन शि० भाग १ पृ० १०१। लेख नं० ५४ (६७)। प्र० क० भाग २ नं० ६७।

(पूर्वमुख)

राजन् सर्वारिदर्पप्रविदलनपटुस्त्वं यथात्र प्रसिद्ध-
स्तद्वत्ख्यातोऽहमस्यां भुवि निखिलमदोत्पाटनः पण्डितानाम् ।
नो चेदेषोऽहमेते तव सदसि सदा सन्ति सन्तो महान्तो
वक्तुं यस्यास्ति शक्तिः स वदतु विदिताशेषशास्त्रो यदि स्यात् ॥ २२ ॥

नाहङ्कारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं
नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यबुद्ध्या मया ।
राज्ञः श्री हिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो
बौद्धौघान् सकलान्विजित्य सुगतः (स घटः) पादेन विस्फोटितः ॥ २३ ॥"

प्रशस्तिमें इन श्लोकोंको प्रशस्तिकारने उद्धृत किया है । इससे ज्ञात होता है कि ये श्लोक प्रशस्तिके रचनाकालसे पहिले के हैं। इनमें वर्णित घटनाओंमें अकलङ्कदेवका साहसतुङ्ग राजाकी सभामें जाकर वादियोंको ललकारने और हिमशीतल राजाकी सभामें शास्त्रार्थके समय घड़ेको फोड़नेकी बातका समर्थन होता है।

इसी प्रशस्तिमें आगे अकलङ्कदेवके सधर्मा पुष्पसेन मुनिकी स्तुति है । तदनन्तर पत्रवादी विमलचन्द्र और इन्द्रनन्दिके वर्णनके बाद घटवादघटाकोटिकोविद परवादिमल्लदेवका स्तवन किया गया है । यहाँ भी उन्हींके मुखसे शुभतुङ्गकी सभामें अपने नामकी सार्थकता इस प्रकार बतलवाई गई है–

"चूर्णिः–येनेयमात्मनामधेयनिरुक्तिरुक्ता नाम पृष्टवन्तं कृष्णराजं प्रति ॥
गृहीतपक्षादितरः परः स्यात् तद्वादिनस्ते परवादिनः स्युः ।
तेषां हि मल्लः परवादिमल्लः तन्नाम मन्नाम वदन्ति सन्तः ॥ २९ ॥"

इस प्रशस्तिमें अकलङ्कदेवके वर्णनसे पदवादिमल्ल तकका उक्त वर्णन अपनी ऐतिहासिक विशेषता भी रखता है । इसमें अकलङ्कका साहसतुङ्गकी सभामें वादियोंको शास्त्रार्थके लिए ललकारना और परवादि-मल्लका शुभतुङ्गकी सभामें अपने नामका अर्थ वर्णन करना इस बातका साक्षी है कि प्रशस्तिकार इन दो राजाओंको पृथक् समझते थे । इस प्रशस्ति (ई० ११२८) से पहिले प्रभाचन्द्रके (ई० ९८०–१०६५) गद्य कथाकोशमें हिमशीतलकी सभामें हुए शास्त्रार्थकी चरचा[1] तो है पर उनके साहसतुङ्गकी सभामें जानेका कोई उल्लेख नहीं है ।

जहाँ कि ज्ञात हो सका है शुभतुङ्ग नृपतुङ्ग जगतुङ्ग आदि तुङ्गान्त उपाधियोंको राष्ट्रकूटवंशी नरेशोंने ही धारण किया था । कृष्णराज प्रथमकी उपाधि शुभतुङ्ग थी यह तो शिलालेखोंमें उत्कीर्ण उन्हींकी प्रशस्तियोंसे ज्ञात होता है । मल्लिषेण प्रशस्तिमें ग्रन्थकारों और व्यक्तियोंका जिस पौर्वापर्यसे वर्णन किया गया है उसमें कोई बाधक देखनेमें नहीं आया । प्रशस्तिगत **'राजन् साहसतुंग'** श्लोकमें साहसतुंगको महा-पराक्रमी रणविजयी और त्यागोन्नत बताया है । यह तो प्रायः अभिलेखोंसे इतिहासप्रसिद्ध है[2] कि "दन्ति-दुर्गने (ई० ७४८-७५३) के बीच सोलङ्की (चालुक्य) कीर्तिवर्मा (द्वितीय) के राज्यके उत्तरी भाग वातापीपर अधिकार कर दक्षिणमें फिर राष्ट्रकूट राज्यकी स्थापना की थी । शकसंवत् ६७५ (ई० ७५३) के सामनगढ़ (कोल्हापुर) के [3]दानपत्रमें इसके पराक्रमका वर्णन इस प्रकार किया है–

(१) देखो पृ० १५ । इसका उल्लेख न्यायमणिदीपिका पृ० १ में भी है ।

(२) "……श्री कृष्ण (ष्ण) राजस्य" शुभतुंगतुंगतुरगप्रहृद्धरेण्वर्धरुद्धरविकिरणम्"– ए० इं० भाग ३ पृ० १०६।

"विषमेषु विषमशोको यस्त्यागमहानिधिर्दरिद्रेषु ।
कान्तासु वल्लभतरः ख्यातः प्रणतेषु शुभतुङ्गः ॥" –ए० इं० भाग १४ पृ० १२५ ।

(३) भारतके प्राचीन राजवंश भाग ३ पृ० २६। (४) इ० ए० भाग ११ पृ० १११।

"माही महानदीरेवा-रोधोभित्तिविदारणं
.....यो वल्लभं सपदिदण्डबलेन जित्वा
राजाधिराज परमेश्वरतामुपैति ॥
कांचीशकेरलनराधिपचोलपाण्ड्य- श्रीहर्षवज्रटविभेदविधानदक्षम् ।
कर्णाटकं बलमनन्तमजेयरथ्यै-र्भृत्यैः कियद्भिरपि यः सहसा जिगाय ॥

अर्थात् इस (दन्तिदुर्ग) के हाथी माही महानदी और नर्मदा तक पहुँचे थे।

इसने रथोंकी फौज लेकर ही कांची केरल चोल और पांड्यदेशके राजाओंको तथा राजाहर्ष और वज्रटको जीतनेवाली कर्णाटककी सेनाको हराया था। कर्णाटककी सेनासे चालुक्योंकी सेनाका ही तात्पर्य है; क्योंकि चालुक्यराज पुलकेशी द्वितीयने वैसवंशी राजा हर्षको जीता था, जैसा कि एहोलेके शिलालेखसे विदित है। इसी दन्तिदुर्गने उज्जयिनीमें सुवर्ण और रत्नोंका दान दिया था।"

इस वर्णनसे हम समझ सकते हैं कि त्यागोन्नत और साहसका प्रतीक 'साहसतुंग' पद उस शुभतुंगके पूर्ववर्ती राजाकी ओर इंगित कर रहा है जिसने चौलुक्योंकी सेनाको जीता था।

'भारतके प्राचीन राजवंश'[1] में दन्तिदुर्गकी उपाधियोंमें 'साहसतुंग' उपाधिका भी नाम दिया है। राष्ट्रकूटोंके विशिष्ट अभ्यासी डॉ० अल्टेकरने भी संभावना की है कि दन्तिदुर्ग ही साहसतुंग है[2] और जैसा कि आगे बताया जायगा कि–साहसतुंग दन्ति दुर्ग द्वितीयका ही नाम है यह प्रात शिलालेखसे भी सिद्ध हो जाता है।

प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोशके अनुसार यदि अकलङ्कदेव शुभतुंगके मन्त्रीके पुत्र हैं तो भी ये साहसतुंगकी सभामें अपने शास्त्रार्थकी बात कह सकते हैं। शुभतुंग कृष्णप्रथम, साहसतुंगदन्तिदुर्गके चाचा थे और वे दन्तिदुर्गकी युवावस्थामें मृत्यु हो जानेके बाद राज्याधिरूढ हुए थे। इनके मन्त्री पुरुषोत्तम इनसे वृद्ध हो सकते हैं, अतः जैसा कि आगे अन्य प्रमाणोंसे सिद्ध होगा कि 'अकलङ्कका समय ई० ७२०-७८०[3] है', मान लिया जाय तो अकलङ्क साहसतुंगके राज्यके अन्तिम वर्षोंमें ३० वर्षके युवा होंगे और वे अपने शास्त्रार्थकी चर्चा उनकी सभामें कर सकते हैं।

इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर भी सहज में पहुँच सकते हैं कि मल्लिषेण प्रशस्ति और गद्य-कथा कोश का वर्णन अधिक प्रामाणिक है। उसका समर्थन ग्रन्थों के आन्तरिक प्रमाणों से भी हो जाता है।

ऊपर यह बताया जा चुका है कि रणविजयी और त्यागोन्नत विशेषण शुभतुंगसे पूर्ववर्ती किसी राजाको यदि ठीक ठीक बैठते हैं तो वह दन्तिदुर्ग द्वितीय ही है, और उसका ही विरुद साहसतुंग होना चाहिए; क्योंकि तुङ्गान्त विरुदोंका राष्ट्रकूटोंमें ही परम्परागत विशेष प्रचलन था–जैसा कि आगे उद्धृत शिलालेख[4]के "**तुङ्गाभ्ययोत्तुङ्गजयध्वजेन**" इस वाक्य में राष्ट्रकूटवंशका '**तुङ्गाभ्यय**'शब्दसे उल्लेख भी है।

और अब डॉ०बी.ए. सालेतोरने रामेश्वर प्राङ्गटूरु ता०कुडप्पाह जिला मद्रासके रामलिंगेश्वर मन्दिरके प्रांगण में प्राप्त स्तम्भलेख[5]से साहसतुंगकी समस्याको सप्रमाण हल कर दिया है। उन्होंने अपने विद्वत्तापूर्ण लेख[6]में उक्त मन्दिरके स्तम्भलेखका विवरण इस प्रकार दिया है–'यह स्तम्भलेख संस्कृत और कन्नड भाषामें तथा कन्नड लिपिमें लिखा हुआ है। लेखमें कोई तिथि नहीं है किन्तु यह राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय (ई० ९४०–६८) के[7] समयका है। इस लेखमें इनके सामन्त कन्नायके द्वारा रामेश्वर मन्दिरको दिये गये दानका तथा तिप्पय

(१) भाग ३ पृ० २७। (२) दी राष्ट्रकूटाज़० पृ० ३४ का फुटनोट।
(३) दी राष्ट्रकूटाज़० पृ० ४०९।
(४) साउथ इं० इं० भाग ९ पृ० ३९–४२। लेख नं० ४२।
(५) साउथ इं० इं० भाग ९ नं० ४२।
(६) जर्नल ऑफ बम्बई हि० सो० भाग ६ पृ० २९–'दी एज ऑफ गुरु अकलङ्क' लेख।
(७) दी राष्ट्रकूटाज़० पृ० १२२।

गोरवको दी गई भूमिका उल्लेख है। इसमें लगभग २५ श्लोक हैं। इनमें कृष्णतृतीय तक के राष्ट्रकूटवंशकी राजाओंकी विरुदावली है। ब्रह्मसे राष्ट्रकूटवंशकी परम्परा अत्रि चन्द्र यदु कुकुर वृष्णि वासुदेव (कृष्ण) और अनिरुद्ध तक लानेके बाद कहा है–कि उस कुलमें नृपसहस्रपूजित आसमुद्र पृथिवीका पति राजा हुआ जो राष्ट्रकूट इस नामको धारण करता था। उसी कुलमें दुर्धरबाहुवीर्य पृथिवीका एकमात्र पति दन्तिदुर्ग नामका राजा हुआ, जिसने चालुक्य रूपी समुद्रका मथन कर उसकी लक्ष्मीको चिरकाल तक अपने कुलकी कान्ता बनाया था। जब वह साहसतुंग नामवाला दन्तिदुर्ग स्वर्ग सुन्दरियोंसे प्रार्थित हो युवावस्थामें ही स्वर्गवासी हो गया, तब चालुक्योंसे प्राप्त वह राजलक्ष्मी, वेश्याकी तरह सूर्यसमान प्रतापी श्रीकृष्णराजके रम्य गुणों पर मोहित हो चिरकालतक उसे आलिङ्गित करती रही ''इत्यादि।

शिलालेखके मूल श्लोक इस प्रकार हैं—

"एवं वंशे यदूनामतिविसरद्विक्रमैकाश्रयाणां
भूपा भोगीन्द्रदीर्घस्थिरभुजपरिघक्षितोर्वी विवशां सहाय्यं
यैः प्रयासुररिपुस्त्रमितौ श्रीमदाखण्डलस्य [ते]
नैकेनैकवृत्त्या शशविशदयशोराशयस्का बभूवुः
तस्मिन् कुले सकलवारिधिचारुवीचि
काञ्चीभृतौ महितभूमिमहामहिष्यः।
भर्त्ताभवन्नृपसहस्रकमौलिमान्यम्।
श्रीराष्ट्रकूट इति नाम निजं दधा [नाः] [४]
तत्राम्वयेऽप्यभवदेकपतिः[पृ]थिव्याम्।
श्रीदन्तिदुर्ग इति दुर्धरदाहुवीर्यो
चालुक्यसिन्धुमथनोद्भवराजलक्ष्मीम्।
यः संबभार चिरमात्मकुलैककान्ताम्। [५]
तस्मिन् साहसतुंगनाम्नि नृपतौ स्वःसुन्दरीप्रार्थिते
याते यूनि दिवं दिवाकरसमं वेश्येव लक्ष्मीस्ततः।
तत्रावाप भुजाद्वयेन निबिडं संश्लिष्य रम्यैर्गुणैः।
प्रीत्या प्राणसमं चिरं रमयति श्रीकृष्णराजाधिपम्॥ [६]
तस्मादभूत्सूनुरुदारकीर्तिः प्रभूतवर्षो
·····भु यो···यामुनिवद्विभाति ॥७॥
रतिपतिरुरुभावे दर्शनात् सुन्दरीणां
सुरत धत्ते तत्र भूपे नुजे स्य।
ध्रुव इति नृपतित्वे मन्त्रिभिश्चाभिषिक्ते
निरुपम इति भूमौ म बुधोपि ॥८॥
तुंगाम्वयोत्तुंगजयध्वजेन जगत्तुंग इति क्षितीन्द्रः ॥९॥"

इन श्लोकों के 'तस्मिन् साहसतुंगनाम्नि' इस पदमें दन्तिदुर्गका दूसरा नाम साहसतुंग था इस बात का इतना स्पष्ट उल्लेख है कि उसमें किसी प्रकारके सन्देहको अवकाश नहीं है; क्योंकि इसमें दन्तिदुर्ग साहसतुंगके स्वर्गवासके बाद कृष्ण प्रथमके राजसिंहासनासीन होनेकी इतिहासप्रसिद्ध घटना और दन्तिदुर्गकी चालुक्यविजयकी घटनाका उल्लेख है। अतः अब 'साहसतुंग' नामको अनुमानमात्र कहकर उसे सन्देहकोटिमें डालनेकी कोई गुंजाइश नहीं रह जाती। साहसतुंग दन्तिदुर्गका समय ई० ७५६ तक है[1]।

(३) जब 'साहसतुंग निर्विवादरूपसे दन्तिदुर्गका उपनाम या विरुद था' यह सिद्ध हो गया तब हमें

(१) दी राष्ट्रकूटाज० पृ० १०।

अकलङ्कचरितके शास्त्रार्थवाले श्लोकके **'विक्रमार्कशकाब्दीय'** पदको इसीके प्रकाशमें देखना होगा और इसका अर्थ शकसंवत् करके ही हम समयकी संगति बिठा सकते हैं। इसके अन्य कारण इस प्रकार हैं–

१. इस श्लोकके **'विक्रमार्कशकाब्दीय'** के स्थानमें **'विक्रमाङ्कशकाब्दीय'** पाठ मानना चाहिए, जिसका अर्थ है विक्रमविभूषित शकसम्बन्धी।

२. जैन परम्परामें शकसंवत्का उल्लेख बहुत प्राचीनकालसे ही 'विक्रमाङ्कशक' शब्दसे होता रहा है। उसके दो प्रमाण ये हैं–

(क) धवला टीकाकी समाप्ति जगत्तुंगदेवके राज्यकी समाप्ति और अमोघवर्षके प्रारम्भकालमें ई० ८१६ में हुई थी। धवला टीका प्रथम भागकी प्रस्तावना[1]में अनेकविध ऊहापोहसे इस समयकी सिद्धि की गई है। धवलाकी अन्तिम प्रशस्तिवाली गाथा इस प्रकार है–

"अठतीसम्हि सतसए विक्कमरायंकिए सुसगणामे।
वासे सुतेरसीए भाणुविलग्गे धवलपक्खे ॥"

इस गाथामें धवलाकी समाप्तिका काल विक्रमराजाङ्कित शके ७३८ दिया है, जो शकसंवत् माननेसे ही ठीक सिद्ध हो सकता है; क्योंकि जगत्तुंग और अमोघवर्षके राज्यकाल इतिहाससे वही सिद्ध हैं जो इसे शकसंवत् माननेसे आते हैं[2]।

(ख) डॉ० हीरालालजीने अपने मतके समर्थनके लिये वहीं (पृ० ४०) त्रिलोकसार (गा० ८५०) के टीकाकार श्री माधवचन्द्र त्रैविद्यका यह अवतरण दिया है–**"श्री वीरनाथनिर्वृतेः सकाशात् पञ्चशतोत्तरषट्शतवर्षाणि (६०५) पञ्चमासयुतानि गत्वा पश्चात् विक्रमाङ्कशकराजो जायते।"**

इस अवतरणमें वीरनिर्वाणसंवत् ६०५ में प्रवर्तित शकसंवत्के संस्थापकका **'विक्रमाङ्कशकराज'** शब्दसे स्पष्ट उल्लेख है, जो हमें **'विक्रमाङ्क'** पदको शकराजाकी उपाधि माननेके लिये प्रेरित करता है। इन दो प्रमाणोंसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि जैन लेखक **'विक्रमाङ्कशक'** शब्दसे शकसंवत्का उल्लेख प्राचीन काल (ई० ९वीं सदी) से ही करते आये हैं। इतना ही नहीं [3]त्रिलोकप्रज्ञप्ति (गाथा ८६, ८९) में शककी उत्पत्ति वीरनिर्वाणसे ४६१ वर्ष पश्चात् या विकल्पसे ६०५ वर्ष पश्चात् बतलाई गई है। उसमें यही मान्यता ध्वनित है; क्योंकि वीरनिर्वाणसे ४६१वाँ वर्ष प्रसिद्ध विक्रमके राज्यकालमें पड़ता है और ६०५ वें वर्षसे शककाल प्रारम्भ होता है। अतः अकलङ्कचरितके श्लोकमें शकसंवत्का उल्लेख ही इतिहाससंगत सिद्ध होता है।

सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री जयचन्द्रजी विद्यालङ्कारका विचार[4] भी उक्त मान्यताको पुष्ट करता है।

---

(१) पृ० ३५ से ४५ तक।

(२) धवलाटीका प्रथम भाग प्रस्तावना पृ० ४१। (३) वही।

(४) वे भारतीय इतिहासकी रूपरेखा (पृष्ठ ८२४ से ८२९) में लिखते हैं कि–"महमूद गजनवीके समकालीन प्रसिद्ध विद्वान् यात्री अल्बेरूनीने अपने भारतविषयक ग्रन्थमें शकराजा और दूसरे विक्रमादित्यके युद्धकी बात इस प्रकार लिखी है–'शकसंवत् अथवा शककालका आरम्भ विक्रमादित्यके संवत्से १३५ वर्ष पीछे पड़ा है। प्रस्तुत शकने उन (हिन्दुओं) के देशपर सिन्धु नदी और समुद्रके बीच आर्यावर्तके उस राज्यको अपना निवासस्थान बनानेके बाद बड़े अत्याचार किये। कहयोंका कहना है कि वह अलमन्सूरा नगरीका शूद्र था, दूसरे कहते हैं वह हिन्दू था ही नहीं और भारतमें पश्चिमसे आया था। हिन्दुओंको उससे बहुत कष्ट सहने पड़े। अन्तमें उन्हें पूरबसे सहायता मिली जब कि विक्रमादित्यने उसपर चढ़ाई की, उसे भगा दिया और मुल्तान तथा लोनीके कोटलेके बीच करूर प्रदेशमें उसे मार डाला। तब यह तिथि प्रसिद्ध हो गई क्योंकि लोग उस प्रजापीड़ककी मौतकी खबरसे बहुत खुश हुए और उस तिथिमें एक संवत् शुरू हुआ जिसे ज्योतिषी विशेष रूपसे बर्तने लगे···किन्तु विक्रमादित्य संवत् कहे जानेवाले संवत्के आरम्भ और शकके मारे जानेके बीच बड़ा अन्तर है, इसमें मैं समझता हूँ कि

(४) अकलङ्कको दन्तिदुर्गके समकालीन मानकर उनका समय यदि ई० ७२० से ७८० तक माना जाता है तब भी धवलाटीका (ई० ८१६) में उनके राजवार्तिकसे आगम प्रमाणके रूपमें अवतरण लिये जा सकते हैं; क्योंकि राजवार्तिक अकलङ्कके सैद्धान्तिक कालकी प्रथम कृति है। वह तत्त्वार्थकी टीकाओंमें इतनी परिपूर्ण और प्रमेयबहुल है कि उसकी अपने सम्प्रदाय और अपने ही प्रान्तमें प्रसिद्धिके लिए दस वर्षकी भी आवश्यकता नहीं थी।

(५) आचार्य सिद्धसेन गणी सभाष्य तत्त्वार्थाधिगमसूत्रके व्याख्याकार हैं। इनका समय पं० सुखलालजीने[1] ई० नवीं शताब्दीसे पहले और ७ वीं के बाद का निर्धारित किया है। इसका कारण भी दिया है कि गणिजीने धर्मकीर्तिका उल्लेख किया है तथा शक ७९९ (ई० ८७७) में हुए[2] शीलांकाचार्यने आचारांगवृत्तिमें इनका उल्लेख[3] किया है, अतः ये ई० ८ वीं सदीके उत्तरार्धके विद्वान् हैं। पंडितजीकी सम्भावना[4] है कि—"अकलङ्क गन्धहस्ती (सिद्धसेन) तथा हरिभद्र ये अपने दीर्घजीवनमें थोड़े समयतक भी समकालीन रहे होंगे" और यदि यह सम्भावना ठीक है तो ई० ८ वीं सदीके उत्तरार्धके विद्वान् सिद्धसेन अकलङ्कके राजवार्तिकको देख सकते हैं।

यद्यपि आर्यशिवस्वामीके एक सिद्धिविनिश्चयका और पता चला है[5] फिर भी सिद्धसेन गणि कृत तत्त्वार्थभाष्य टीका (पृ० ३७) का यह उल्लेख—

"एवं कार्यकारणसम्बन्धः समवायपरिणामनिमित्तनिर्वर्तकादिरूपः सिद्धिविनिश्चय-सृष्टिपरीक्षातो योजनीयो विशेषार्थिना दूषणद्वारेणेति।"

सिद्धिविनिश्चयके ७ वें शास्त्रसिद्धि प्रस्तावके श्लोक १३ के बाद निबद्ध ईश्वरनिराकरण प्रकरणसे तुलनीय है। यथा—

"तत्परिणामोपगमेऽपि समवायिकारणत्वस्थित्वाप्रवृत्त्यादेश्च परिणामिन एव सम्भवात्..."

—सिद्धिवि० टी० पृ० ४७७।

सम्भावना यही है कि सिद्धसेन गणीने अकलङ्कके इसी ग्रन्थके इस प्रकरणकी ओर ही संकेत किया है। तब भी इससे अकलङ्कके ई० ८ वीं शताब्दीवाले समयपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

(६) आ० हरिभद्रसूरिका समय मुनि श्री जिनविजयजीने कुवलयमाला कथा (ई० ७७७)में उद्योतन-सूरि द्वारा हरिभद्रका स्मरण होनेसे तथा अन्य आन्तरिक प्रमाणोंके आधारसे ई० ७००—७७० निर्धारित

उस संवत्का नाम जिस विक्रमादित्यके नामसे पड़ा वही शकको मारनेवाला विक्रमादित्य नहीं है, केवल दोनोंका नाम एक है (पृ० ८२४-२५) इस पर एक शंका उपस्थित होती है शालिवाहनवाली अनुश्रुतिके कारण। अल्बेरुनी स्पष्ट कहता है कि ७८ ई० का संवत् राजा विक्रमादित्य (सातवाहन) ने शकको मारनेकी यादगारमें चलाया। वैसी बात ज्योतिषी भट्टोत्पल (ई० ९९६) और ब्रह्मगुप्त (ई० ६२८) ने भी लिखी है। यह संवत् अब भी पंचांगोंमें शालिवाहन शक अर्थात् शालिवाहनाब्द कहलाता है।"—भारतीय इतिहासकी रूपरेखा पृ० ८३६।

ऊपर दिये गये अवतरणोंसे इतनी बात सिद्ध हो जाती है कि विक्रमादित्य (सातवाहन) ने शकको मारकर अपनी विजयके उपलक्ष्यमें एक संवत् चलाया था, जो सातवीं शताब्दी (ब्रह्मगुप्त) से ही शालिवाहनाब्द माना जाता है। धवला टीका आदिमें जिस 'विक्रमाङ्क शकसंवत्' का उल्लेख आता है वह यही शालिवाहन शक होना चाहिए। उसका 'विक्रमाङ्क शक या विक्रमार्कशक' नाम शक विजयके उपलक्ष्यमें विक्रम द्वारा चलाये गये शक संवत्की स्पष्ट सूचना कर रहा है

(१) तत्त्वार्थ० प्रस्ता० पृ० ४६। (२) जैन सा० नो सं० इ० पृ० १८१।

(३) तत्त्वार्थ० प्रस्ता० पृ० ४३ टि० २।

(४) अकलङ्कग्रन्थत्रय प्रस्ता० पृ० १०। (५) देखो आगे पृ० ५३।

किया है।[1] मुनिजीके समय निर्णयका औचित्य मानते हुए हमने न्यायकुमुदचन्द्र द्वितीय भागकी प्रस्तावना[2]में सुझाव दिया था कि–चूँकि हरिभद्रसूरिके षड्दर्शनसमुच्चय (श्लो० २०) में [3]न्यायमंजरीके

"गम्भीरगर्जितारम्भनिर्भिन्नगिरिगह्वराः।
रोलम्बगवलव्यालतमालमलिनत्विषः॥
त्वङ्कत्तडिल्लतासङ्गपिशङ्गोत्तुङ्गविग्रहाः।
वृष्टिं व्यभिचरन्तीह नैवंप्रायाः पयोमुचः॥"

इन दोनों श्लोकोंके द्वितीय पादोंको जैसाका तैसा ले लिया गया है। अतः उनका समय जयन्तभट्टके बाद होना चाहिए। विधिविवेक न्यायकणिका टीकाके–

"अज्ञानतिमिरशमनीं परदमनीं न्यायमञ्जरीं रुचिराम्।
प्रसवित्रे प्रभवित्रे विद्यातरवे नमो गुरवे॥"

इस मंगल श्लोकमें न्यायमंजरीका नाम देखकर हमने अनुमान किया था कि जयन्तका समय ई० ७६० से ८४० तक होना चाहिये; क्योंकि वाचस्पति मिश्रका समय ई० ८४१ निश्चित है[4]। किन्तु अभी श्री अनन्तलाल ठाकुरने "गुरु त्रिलोचनकी न्यायमंजरी एक विस्मृत ग्रन्थ" शीर्षक लेखमें[5] वाचस्पति मिश्रके गुरु त्रिलोचनकी न्यायमंजरीका पता दिया है। उन्होंने उक्त लेखमें बताया है कि ज्ञानश्री और रत्नकीर्तिने अपने क्षणभङ्गाध्याय (ईश्वरवाद?) आदि ग्रन्थोंमें त्रिलोचनकृत न्यायमंजरीके कई उद्धरण त्रिलोचनके नामके साथ लिये हैं[6]। इस तरह त्रिलोचन गुरुकी न्यायमंजरीका पता लग जानेसे और वाचस्पति मिश्र द्वारा त्रिलोचन गुरुकी ही न्यायमञ्जरीका उल्लेख किया जाना निश्चित हो जानेसे अब भट्ट जयन्तकी समयावधिपर स्वतन्त्र भावसे विचार करना होगा।

भट्ट जयन्तके पुत्र अभिनन्दने अपने कादम्बरी कथासारमें अपनी वंशावली इस प्रकार दी है– "भारद्वाज कुलमें शक्ति नामका गौड़ ब्राह्मण था। उसका पुत्र मित्र, मित्रका पुत्र शक्तिस्वामी हुआ। ये शक्तिस्वामी कर्कोट वंशके राजा मुक्तापीड ललितादित्यके मन्त्री थे। शक्तिस्वामीके पुत्र कल्याणस्वामी, कल्याणस्वामीके पुत्र चन्द्र तथा चन्द्रके पुत्र जयन्त हुए, जो नववृत्तिकार नामसे प्रसिद्ध थे। जयन्तके अभिनन्द नामका पुत्र हुआ।"

काश्मीरके कर्कोट वंशके राजा मुक्तापीड ललितादित्यका राज्यकाल ई० ७३३ से ७६८ तक रहा है[7]। अतः इनके मन्त्री शक्तिस्वामीकी तीसरी पीढ़ीमें उत्पन्न होनेवाले जयन्तका जन्म समय ई० ७७० से पहले नहीं जा सकता। ऐसी दशामें जयन्तकी न्यायमञ्जरीकी रचना जल्दी से जल्दी ई० ८०० तक हो सकती है। अतः यदि हरिभद्रने जयन्तकी न्यायमञ्जरीसे ही षड्दर्शनसमुच्चयमें उक्त श्लोक लिये हैं तो उनके समयकी उत्तरावधि ई० ८१० तक लम्बानी होगी तभी वे जयन्त भट्टकी न्यायमञ्जरीको देख सकते हैं।

इस तरह हरिभद्रसूरिका समय ई० ७२० से ८१० तक निश्चित होता है जो उस समयके दीर्घायुष्यको देखते हुए असम्भव नहीं है। ये अकलङ्कदेवके समकालीन रहे हैं।

अनेकान्तजयपताका (पृ० २७५) में आया हुआ "**अकलङ्कन्यायानुसारि चेतोहरं वचः**" वाक्य अकलङ्ककृत न्यायका उल्लेख नहीं कर रहा है अपि तु न्यायकी निष्कलङ्कताका द्योतन करता है। इसी

(१) हरिभद्रसूरिका समय निर्णय लेख, जैन सा० सं० भा० १ अंक १।
(२) पृ० ३८।
(३) न्यायमञ्जरी, विजयनगरम् संस्करण, पृ० १२९।
(४) ज० वि० ओ० रि० सो० पटना, १९५५. भाग ४।
(५) "मञ्जर्म्यां त्रिलोचनः पुनराह–बुद्धिमत्पूर्वकत्वेन…।"–वही पृ० ५०८ टि० २ आदि।
(६) न्यायकु० द्वि० प्रस्तावना पृ० १६।
(७) संस्कृत साहित्यका इतिहास, परिशिष्ट (ख) पृ० १५।

अनेकान्तजयपताका (पृ० ३२) के "**निष्कलङ्कमतिसमुत्प्रेक्षितसन्न्यायानुसारतः सर्वमेव प्रमाणादि प्रतिनियतं न घटते**" इस पूर्वपक्षीय वाक्यमें जिस प्रकार पूर्वपक्षी बौद्ध अपने न्यायको '**निष्कलङ्कमति-समुत्प्रेक्षित न्याय**' कह रहा है इसी तरह "**अकलङ्कन्यायानुसारि चेतोहरं वचः**" वाक्यमें नैयायिक अपनी युक्तिको '**अकलङ्कन्यायानुसारि**' कह रहा है जिसका अर्थ 'निर्दोषन्याय'से भिन्न कोई दूसरा नहीं हो सकता। यदि '**अकलङ्कन्यायानुसारि**' वाक्यका 'अकलङ्कदेवका न्याय' यह अर्थ लिया जाय तो उसकी संगति नैयायिकके पूर्वपक्षके साथ नहीं बैठ सकती।

इस तरह जब हरिभद्र लगभग अकलङ्कके लघुसमकालीन ई० ८ वीं शताब्दीके विद्वान् हैं तब उनके द्वारा उल्लखित या अनुल्लिखित होनेसे उनके समयका अकलङ्कके समयावधिपर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता।

(७) जिनदासगणि महत्तरकी निशीथ चूर्णिमें दर्शनप्रभावक शास्त्रोंमें सिद्धविनिश्चयका नाम अवश्य दिया है। किन्तु यह सिद्धिविनिश्चय अकलङ्ककृत प्रकृत सिद्धिविनिश्चय नहीं है। मुनि श्री पुण्यविजयजीको[1] शाकटायनकृत स्त्रीमुक्ति प्रकरणकी एक टीका मिली है, जो खंडित है। उसका आदि अन्त नहीं है इसलिए टीकाकारका नाम मालूम नहीं हो सका। उसमें एक जगह लिखा है–"**अस्मिन्नर्थे भगवदाचार्यशिवस्वामिनः सिद्धिविनिश्चये युक्त्यभ्यधायि आर्याद्वयमाह–यत्संयमोपकाराय वर्तते।**" इसमें आचार्य शिवस्वामीके सिद्धिविनिश्चय ग्रन्थका उल्लेख है जो अकलङ्कदेवके सिद्धिविनिश्चयसे भिन्न है; क्योंकि इसमें स्त्रीमुक्तिका समर्थन करनेवाली वे आर्याएँ[2] हैं जिन आर्याओंको शाकटायन ने (ई० ८१४–८६७) अपने स्त्रीमुक्ति प्रकरणमें उद्धृत किया है। इसके अतिरिक्त शाकटायनने स्वयं अपनी अमोघवृत्ति (१।३।१६८) में शिवार्यके सिद्धि-विनिश्चयका उल्लेख इस प्रकार किया है–"**साधु खल्विदं शब्दानुशासनमाचार्यस्य आचार्येण वा। शोभनः सिद्धेर्विनिश्चयः शिवार्यस्य शिवार्येण वा**[3]।" इस अवतरण में शिवार्यके सिद्धिविनिश्चयका स्पष्ट कथन है।

इन दो उल्लेखोंसे इस बातमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि शाकटायनके सामने शिवार्यका सिद्धि-विनिश्चय रहा है, जिसमें स्त्रीमुक्तिका समर्थन था।

जब निशीथचूर्णिमें सिद्धिविनिश्चयका उल्लेख उपलब्ध हुआ और कच्छके भंडारसे अकलङ्ककृत सिद्धि-विनिश्चयकी अनन्तवीर्यकृत टीकाकी प्रति उपलब्ध हुई और '**अनेकान्त**' में श्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने, इसका परिचय देते हुए निशीथचूर्णिका निर्देश किया, तभी '**अनेकान्त**' पत्र[4]में श्री पं० सुखलालजी और पं० बेचरदासजीकी ओरसे एक संशोधन और सूचन प्रकाशित हुआ था, जिसमें लिखा था कि–'निशीथचूर्णिमें निर्दिष्ट सिद्धिविनिश्चय अकलङ्कदेवका तो हो ही नहीं सकता' क्योंकि वे उक्त चूर्णिके रचयिता जिनदास महत्तरके बाद ही हुए हैं। अतः चूर्णिमें निर्दिष्ट सिद्धिविनिश्चय अन्य किसीका रचा हुआ होना चाहिये। और वे अन्य संभवतः श्वेताम्बरीय विद्वान् होंगे। अपनी इस संभावनाके उन्होंने दो मुख्य कारण बतलाये थे। एक तो श्वेताम्बरीय किसी ग्रन्थ में निश्चित दिगम्बरीय ग्रन्थका प्रभावकके तौर पर अन्यत्र उल्लेख न मिलना, दूसरे सन्मतितर्क जो श्वेताम्बरीय प्रतिष्ठित ग्रन्थ है उसके साथ और उससे पहिले सिद्धिविनिश्चयका उल्लेख होना[5]।

---

(१) प्रो० दलसुखभाईने यह सूचना दी है।

(२) "यत्संयमोपकाराय वर्तते प्रोक्तमेतदुपकरणम्।
धर्मस्य हि तत्साधनमतोऽन्यदधिकरणमाहार्हन् ॥१२॥
धस्तैन्याद्धिर (अस्यैर्यव्याहार) व्युत्सर्गविवेकैषणादिसमितीनाम्।
उपदेशनमुपदेशो ह्युपधेरपरिग्रहत्वस्य ॥१३॥"
–स्त्रीमुक्ति प्र० श्लो० १२–१३। जैन सा० सं० खंड २ अंक ३–४।

(३) इस अवतरणकी सूचना श्री पं० कैलाशचंद्रजी शास्त्रीने दी है।

(४) अनेकान्त वर्ष १, अंक ४।

(५) न्यायकु० प्रथम भाग प्रस्तावना पृ० १०५, टि० ३।

मुनि श्री जिनविजयजीने भी 'अकलङ्क ग्रन्थत्रय' के प्रास्ताविक (पृ० ५) में इसी प्रकारका संदेह व्यक्त किया था।

जब हमने अकलङ्क ग्रन्थत्रयकी प्रस्तावनामें अकलङ्कके ग्रन्थोंके आन्तरिक परीक्षणके आधारसे उनका समय ई० ७२०–७८० तक निर्धारित किया तो हमारे मनमें यह शंका तो हुई थी कि–'जब अकलङ्ककृत सिद्धिविनिश्चयका उल्लेख निशीथ चूर्णिमें है तो निशीथ चूर्णिके रचयिता जिनदासका समय अकलङ्कके बाद होना चाहिये[1]।' इसलिये मैंने नन्दीचूर्णिके कर्त्ता जिनदास हैं या नहीं इस प्रकारका सन्देह व्यक्त किया था। पर मेरे मन में यह नहीं आया था कि सिद्धिविनिश्चय भी दूसरा हो सकता है; क्योंकि प्रकृत सिद्धिविनिश्चय इतना विशुद्ध दार्शनिक ग्रन्थ है कि उसका उल्लेख श्वेताम्बर आचार्यद्वारा सहज ही दर्शनप्रभावक ग्रन्थोंमें किया जा सकता है।

यद्यपि मुनि श्री जिनविजयजीने अकलङ्क ग्रन्थत्रयके प्रास्ताविक में मेरे उस सन्देहका निवारण कर नन्दीचूर्णिके कर्ता जिनदास ही हैं और उनका समय भी ई० ६७६ ही हो सकता है यह प्रतिपादित कर दिया था, फिर भी निशीथचूर्णिमें सिद्धिविनिश्चयके उल्लेखकी समस्या खड़ी ही थी।

किन्तु अब स्त्रीमुक्ति टीका तथा अमोघवृत्तिके उक्त उल्लेखोंसे शिवार्यकृत सिद्धिविनिश्चयका निर्णय हो जानेसे स्थिति सर्वथा स्पष्ट हो जाती है।

शिवार्य यापनीय हैं; क्योंकि यापनीय शाकटायनने उनके सिद्धिविनिश्चयका स्त्रीमुक्तिके समर्थनमें उद्धरण दिया है। इसीलिये स्त्रीमुक्तिके समर्थक श्वेताम्बर आचार्य द्वारा जिस सिद्धिविनिश्चयका चूर्णिमें दर्शनप्रभावक रूपमें उल्लेख है वह शिवार्यका ही हो सकता है। अतः चूर्णिके उल्लेखके आधारसे अकलङ्कका समय ई० ७ वीं सदी नहीं माना जा सकता, जबकि उनके ८ वीं सदी में होने के अनेक आन्तर और बाह्य प्रमाण मिल रहे हैं। ये शिवार्य[2] निशीथ चूर्णिके उल्लेखके आधारसे ई० ७ वीं सदीके पहिलेके विद्वान् सिद्ध होते हैं।

अब मैं उन साधक प्रमाणोंको उपस्थित करता हूँ जिनसे अकलङ्कका समय ई० ८ वीं सदीका उत्तरार्ध सिद्ध होता है–

१. दन्तिदुर्ग द्वितीय, उपनाम साहसतुंगकी सभा में अकलङ्कका अपने मुखसे हिमशीतलकी सभामें हुए शास्त्रार्थकी बात कहना[3]। दन्तिदुर्गका राज्यकाल ई० ७४५ से ७५५ है, और उसीका नाम साहसतुङ्ग था यह रामेश्वर मन्दिरके स्तम्भलेखसे सिद्ध हो गया है[4]।

२. प्रभाचन्द्रके कथाकोशमें अकलङ्कको कृष्णराज के मन्त्री पुरुषोत्तमका पुत्र बताना[5]। कृष्णका राज्यकाल ई० ७५६ से ७७५ तक है।

३. अकलङ्कचरितमें अकलङ्कके शक सं० ७०० ई० ७७८ में बौद्धोंके साथ हुए महान् वादका उल्लेख होना[6]।

४. अकलङ्कके ग्रन्थोंमें निम्नलिखित आचार्योंके ग्रन्थोंका उल्लेख या प्रभाव होना[7]–

भर्तृहरि ई० ४ थी ५ वीं सदी	धर्मकरदत्त (अर्चट) ई०६८०–७२०
कुमारिल ई० ७ वींका पूर्वार्ध	शान्तभद्र ई० ७००
धर्मकीर्ति ई० ६२० से ६९०	धर्मोत्तर ई० ७००
जयराशि भट्ट ई० ७ वीं सदी	कर्णकगोमि ई० ८ वीं सदी
प्रज्ञाकर गुप्त ई० ६६० से ७२०	शान्तरक्षित ई० ७०५-७६२

(१) अकलङ्कग्रन्थत्रय प्रस्तावना पृ० १४–१५।

(२) भगवती आराधनाके कर्ता शिवार्य और ये आर्य शिवस्वामी या शिवार्य एक ही व्यक्ति हैं या जुदे, यह प्रश्न बड़े महत्त्वका है। पं० नाथूरामजी प्रेमी शिवार्यको यापनीय मानते हैं। देखो–जैन सा० इ० पृ० ७३।

(३) पृ० ४६। (४) पृ० ४९। (५) पृ० ११। (६) पृ० ४९। (७) पृ० २१–३६।

५. कविवर धनञ्जयके द्वारा नाममालामें 'प्रमाणमकलङ्कस्य' लिखकर अकलङ्कका स्मरण किया जाना। धनञ्जय की नाममालाका अवतरण धवला टीकामें है। अतः धनञ्जयका समय ई० ८१० है।[१]

६. जिनसेनके गुरु वीरसेनकी धवला टीका (ई० ८१६)में तत्त्वार्थवार्तिकके उद्धरण होना[२]।

७. आदिपुराणमें जिनसेन द्वारा उनका स्मरण किया जाना[३]। जिनसेनका समय ई० ७६० से ८१३ है।

८. हरिवंशपुराणके कर्ता पुन्नाटसंघीय जिनसेनके द्वारा वीरसेनकी कीर्तिको 'अकलङ्का' कहा जाना[४]। इन्होंने शक ७०५ ई० ७८३ में हरिवंश पूर्ण किया था।

९. विद्यानन्द आचार्य द्वारा अकलङ्ककी अष्टशतीपर अष्टसहस्री टीकाका लिखा जाना[५]। विद्यानन्दका समय ई० ७७५–८४० है।

१०. शिलालेखोंमें अकलङ्कका स्मरण सुमतिके बाद आना[६]। गुजरातके राष्ट्रकूट कर्क सुवर्णका मल्लवादिके प्रशिष्य और सुमतिके शिष्य अपराजितको दिये गये दानका एक ताम्रपत्र शक संवत् ७४३ ई० ८२१ का मिला है।[७]

तत्त्वसंग्रहमें[८] सुमति दिगम्बरका मत आता है। तत्त्वसंग्रह पंजिकामें[९] बताया है कि सुमति कुमारिलके आलोचनामात्र प्रत्यक्षका निराकरण करते हैं। अतः सुमतिका समय कुमारिलके बाद होना चाहिए। डा० भट्टाचार्यने सुमतिका समय ई० ७२० के आस-पास निर्धारित किया है।[१०] यदि ताम्रपत्रमें उल्लिखित सुमति ही तत्त्वसंग्रहकार द्वारा उल्लिखित सुमति हैं तो इनके समयकी संगति बैठानी होगी क्योंकि ताम्रपत्रके अनुसार सुमतिके शिष्य अपराजित ई० ८२१ में हैं और इस तरह गुरु शिष्य के समयमें १०० वर्षका अन्तर हो जाता है। प्रो० दलसुख मालवणियाने[११] इसका समाधान इस प्रकार किया है कि–"सुमतिकी ग्रन्थ रचनाका समय ई० ७४० के आसपास यदि माना जाय तो पूर्वोक्त असंगति नहीं होगी। शान्तरक्षितने तिब्बत जानेसे पूर्व ही तत्त्वसंग्रहकी रचना की है, अत एव वह ई० ७४५ के पूर्व रचा गया होगा; क्योंकि शान्तरक्षितने तिब्बत जाकर ई० ७४९ में विहारकी स्थापना की थी। सुमतिको यदि शान्तरक्षितका समवयस्क मान लिया जाय तो उनकी भी उत्तरावधि ई० ७६२ के आसपास होगी। ऐसी स्थितिमें सुमतिके शिष्य अपराजितकी सत्ता ई० ८२१ में होना असम्भव नहीं है।" यह समाधान सयुक्तिक है। ऐसी दशामें सुमतिसे २–३ आचार्य बाद होनेवाले अकलङ्कका समय ई० ८ वीं का उत्तरार्ध ही सिद्ध होता है।

इस तरह विप्रतिपत्तियोंका निराकरण तथा सुनिश्चित साधक प्रमाणोंके आधारसे अकलङ्कदेवका समय ई० ७२० से ७८० सिद्ध होता है। वे इस समय अवश्य रहे हैं, हो सकता है कुछ और भी जीवित रहे हों।

*

अकलङ्कके ग्रन्थ

भट्टाकलङ्क षट्तर्ककुशल और सकलसमयाभिज्ञ थे। उनके सिद्धान्तज्ञान अनेकान्तदृष्टि स्याद्वादभाषा और तर्कनैपुण्यके दर्शन उनके ग्रन्थोंमें पग-पगपर होते हैं। वे पहले समयदीपक ही रहे थे पीछे षट्तर्कविबुध और वादीभसिंह या वादिसिंह बने थे। वे प्रथम जिनमतकुवलयशशाङ्क थे फिर शास्त्रविदग्रेसर हो मिथ्यामतान्धकारविभेदक प्रकाशपुञ्ज हुए थे। उनके इस स्वसाधक और परदूषक महान् व्यक्तित्व और बहुश्रुतत्व रूपके दर्शन उनके अतिगहन दुरवबोध और प्रौढ़ ग्रन्थोंमें होते हैं। तत्त्वार्थवार्तिकमें वे जितनी अतिशय

(१) जैन सा० इ० पृ० १११। (२) पृ० ३७। (३) पृ० ३८। (४) हरिवंशपु० १।३९।
(५) पृ० ३९। (६) पृ० ८। (७) धर्मोत्तरप्र० प्रस्ता० पृ० ५५।
(८) तत्त्वसं० पृ० ३७९, ३८२, ३८३, ३८९, ४९६।
(९) "तत्र सुमतिः कुमारिलाद्यभिमतालोचनामात्रप्रत्यक्षविचारणार्थमाह"–तत्त्वसं० प० पृ० ३७९।
(१०) तत्त्वसं० प्रस्ता० पृ० ९२। (११) धर्मोत्तरप्र० प्रस्ता० पृ० ५५।

प्रसन्न और सुबोध शैलीसे वस्तुतत्त्वका स्फुट और विशद निरूपण करते हैं अष्टशती और सिद्धिविनिश्चयादि ग्रन्थोंमें वे उतने ही ओजःपूर्ण, दुरूह और गूढ बन जाते हैं। यहाँ उनकी भाषामें ओजस्विता, तीक्ष्णता और व्यंग्यकी पुट बराबर लक्षित होती है; इसका कारण है बौद्ध दार्शनिकोंके वाग्बाणोंके प्रहारसे उनके मनका विक्षुब्ध हो जाना।

अकलङ्कदेवने तत्त्वार्थवार्तिक और अष्टशती ये दो टीका ग्रन्थ लिखे हैं तथा लघीयस्त्रय सवृत्ति, न्यायविनिश्चय सवृत्ति, प्रमाणसंग्रह और सिद्धिविनिश्चय सवृत्ति ये चार स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे हैं। उनके सभी दार्शनिक ग्रन्थ लघुकाय हैं।

१ तत्त्वार्थवार्तिक सभाष्य–

यह गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थपर उद्योतकरके न्यायवार्तिककी शैलीसे लिखा गया प्रथम वार्तिक है। इसमें जीव अजीव आस्रव बन्ध संवर निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोंका साङ्गोपाङ्ग सर्वाङ्ग विवेचन ऊहापोह पूर्वक किया गया है। इसमें वार्तिक जुदे हैं तथा उनकी व्याख्या जुदी है। यह व्याख्या 'भाष्य' शब्दसे भी उल्लिखित हुई है[1]। इसकी पुष्पिकाओंमें इसका नाम तत्त्वार्थवार्तिकव्याख्यानालंकार दिया गया है। पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिका बहुभाग इसमें मूलवार्तिकका रूप पा गया है। इसमें तत्त्वार्थाधिगम भाष्यके भी अनेक वाक्य[2] वार्तिकके रूपमें पाये जाते हैं। अकलङ्कदेवने तत्त्वार्थाधिगमभाष्य तथा तत्सम्मत सूत्रपाठ[3]की आलोचना अनेक स्थलोंमें की है। इससे यह निर्विवाद है कि अकलङ्कदेवके सामने श्वेताम्बरपरम्परासम्मत सूत्रपाठ और स्वोपज्ञभाष्य था। उन्होंने उस भाष्यका 'वृत्ति' शब्दसे उल्लेख किया है[4]। दसवें अध्यायके अन्तका गद्यभाग और ३२ पद्य ज्योंके त्यों इसके अंग बन गये हैं। इसमें द्वादशांगके निरूपणमें क्रियावादी अक्रियावादी आज्ञानिक आदिमें जिन साकल्य वाष्कल कुथुमि कठ मध्यन्दिन मौद पैप्पलाद गार्ग्य मौद्गल्यायन आश्वलायन आदि ऋषियोंके नाम लिये हैं वे सब ऋग्वेदादिके शाखा ऋषि हैं। तत्त्वार्थवार्तिकमें अनेक स्थलोंमें षट्खंडागमके सूत्र और महाबन्धके वाक्य उद्धृत किये गये हैं और उनसे संगति बैठाई है। यह ऐसा आकर ग्रन्थ है जिसमें सैद्धान्तिक भौगोलिक और दार्शनिक सभी चर्चाएँ यथास्थान मिलती हैं। सर्वत्र अनेकान्त दृष्टिका प्रयोग होनेसे ऐसा लगता है जैसे सैद्धान्तिक तत्त्वप्ररोहोंकी रक्षाके लिये अनेकान्तकी बाड़ी लगाई जा रही हो। सर्वत्र भेदाभेद नित्यानित्यत्व और एकानेकत्वके समर्थनका क्रम अनेकान्त प्रक्रियासे दृष्टिगोचर होता है। स्वरूपचतुष्टयके ग्यारह-बारह प्रकार, सकलादेश विकलादेशका विस्तृत प्रयोग तथा सप्तभङ्गीका विशद और विविध विवेचन इसी ग्रन्थमें अपनी विशिष्ट शैलीसे मिलता है।

इसमें दिग्नागके प्रत्यक्षलक्षण-कल्पनापोढका खण्डन है पर धर्मकीर्तिकृत 'अभ्रान्त' पदविशिष्ट प्रत्यक्षलक्षणका नहीं। यद्यपि धर्मकीर्तिकी सन्तानान्तरसिद्धिका आद्य श्लोक 'बुद्धिपूर्वा क्रियां' उद्धृत है फिर भी ऐसा लगता है जैसे तत्त्वार्थवार्तिककी रचनाके समय धर्मकीर्तिके अन्य प्रकरण अकलङ्कदेवके अध्ययनमें न आये हों। इसीलिये लगता है कि तत्त्वार्थवार्तिक अकलङ्कदेवकी आद्य कृति है। अकलङ्कदेव अच्छे वैयाकरण भी थे। सूत्रों में शब्दोंकी सार्थकता तथा व्युत्पत्ति करनेमें उनके इस स्वरूपके खूब दर्शन होते हैं। यद्यपि वे सर्वत्र पूज्यपादकृत जैनेन्द्र व्याकरणका ही उद्धरण देते हैं, पर पाणिनि और पातञ्जलभाष्यको वे भूले नहीं है। भूगोल और खगोलके विवेचनमें त्रिलोकप्रज्ञप्ति उनके सामने रही है। वस्तुतः यह तत्त्वार्थकी उपलब्ध टीकाओंमें मूर्धन्य और आकर ग्रन्थ है।

---

(१) धवलाटीका, न्यायकुमु० पृ० ६४६।

(२) "एषां च पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरम्। उत्तरलाभे तु नियतः पूर्वलाभः।"–त० भा० १।१।

(३) त० वा० पृ० १७।

(४) "पृथुतराः इति केषाञ्चित् पाठः"–त० वा० ३।१।

(५) त० वा० पृ० ४४४।

योनिप्राभृत व्याख्याप्रज्ञप्ति व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डक आदिका उल्लेख इसमें किया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि अकलङ्कदेव विद्याके क्षेत्रमें अधिकसे अधिक संग्राहक भी थे।

इसमें वेद उपनिषद् स्मृति पुराण पाणिनिसूत्र पातञ्जलभाष्य वाक्यपदीय न्यायसूत्र वैशेषिकसूत्र जैमिनिसूत्र योगसूत्र सांख्यकारिका न्यायभाष्य व्यासभाष्य अभिधर्मकोश प्रमाणसमुच्चय सन्तानान्तरसिद्धि युक्त्यनुशासन द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशतिका आदि ग्रन्थोंके अवतरण पर्याप्तमात्रामें उपलब्ध होते हैं। यह अब संशोधित होकर भारतीय ज्ञानपीठसे दुबारा प्रकाशित हो गया है।

२. अष्टशती–

यह समन्तभद्रकृत आप्तमीमांसा अपरनाम देवागमस्तोत्रकी संक्षिप्त वृत्ति है। जैनदर्शन ग्रन्थोंमें आप्तमीमांसाका विशिष्ट गौरवपूर्ण स्थान है। इसमें अनेकान्त और सप्तभंगीका अच्छा विवेचन है। इसका परिमाण ८०० श्लोक प्रमाण होनेसे इसे अष्टशती कहा जाता है। इसपर विद्यानन्द आचार्यकी अष्टसहस्री टीका है। जो सुवर्णमें मणिकी तरह आगे-पीछेके व्याख्यावाक्यों में अष्टशतीको जड़ती चली जाती है। विद्यानन्दने अपनी उस अष्टशतीगर्भित अष्टसहस्रीमें लिखा है कि यह अष्टसहस्री कष्टसहस्रीसे बन पाई है और इसीलिए वे गर्वसे कहते हैं कि–'**श्रोतव्या अष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः**।'– इसमें यह विशेषता अकलङ्कके सूक्तरत्न को सुवर्णालंकृत करनेके कारण आई है।

इसमें मूल आप्तमीमांसामें आये हुए सदेकान्त असदेकान्त भेदैकान्त अभेदैकान्त नित्यैकान्त क्षणिकैकान्त अपेक्षैकान्त अनपेक्षैकान्त युक्तयेकान्त अन्तरङ्गार्थतैकान्त बहिरङ्गार्थतैकान्त दैवैकान्त और पौरुषैकान्त आदि एकान्तोंकी आलोचना कर पुण्य-पापबन्धकी चरचा की है। इन सब एकान्तोंकी आलोचनाके प्रसङ्गमें अष्टशतीमें उन-उन एकान्तवादियोंके मन्तव्य पूर्वपक्षमें साधार उपस्थित किये गये हैं। सर्वप्रथम अकलङ्कदेवने आज्ञाप्रधानियोंके देवागम और आकाशगमन आदिके द्वारा आप्तके महत्त्वख्यापनकी प्रणालीकी आलोचना कर आप्तमीमांसाके आधारसे ही वीतराग सर्वज्ञको आप्त सिद्ध कर उसे युक्ति और आगमसे अविरोधी वचनवाला सिद्ध किया है। इसी सिलसिलेमें अन्य आप्तोंके एकान्तवादोंकी आलोचना चालू हुई है। अन्तमें प्रमाण और नयकी चरचा आई है। अकलङ्कदेवने प्रमाण नय और दुर्नयकी सटीक परिभाषा इसमें की है[1]—

"**[प्रमाणात्] तदतत्प्रतिपत्तेः [नयात्] तत्प्रतिपत्तेः [दुर्णयात्] तदन्यनिराकृतेश्च**।"

अर्थात् प्रमाण विवक्षित और अविवक्षित सभीको जानता है, नयसे विवक्षितकी प्रतिपत्ति होती है तथा दुर्णय अविवक्षितका निराकरण कर देता है। इसमें जयपराजयव्यवस्था बताई है तथा चित्राद्वैत संवेदनाद्वैत और शून्याद्वैत आदि वादोंकी बड़ी मार्मिक आलोचना की गई है।

३. लघीयस्त्रय सविवृति–

लघीयस्त्रय नामसे ज्ञात होता है कि यह छोटे-छोटे तीन प्रकरणोंका संग्रह है। लघीयस्त्रय स्वविवृतिकी प्रतियोंमें इसके प्रमाणप्रवेश और नयप्रवेशको एक ग्रन्थके रूपमें माना है तथा प्रवचनप्रवेशको जुदा; क्योंकि उसमें पृथक् मंगलाचरण किया गया है और नय-प्रवेशके विषयोंको दुहराया है। विवृतिकी प्रतिमें[2] '**इति प्रमाणनयप्रवेशः समाप्तः। कृतिरियं सकलवादिचक्रचक्रवर्तिनो भट्टाकलङ्कदेवस्य**' यह पुष्पिकावाक्य दिया है। इससे ज्ञात होता है कि अकलङ्कदेवने प्रथम दिग्नागके न्यायप्रवेशकी तरह जैनन्यायमें प्रवेश करानेके लिए प्रमाणनयप्रवेश बनाया था। पीछे या तो स्वयं अकलङ्कदेवने या फिर सिद्धिविनिश्चयटीकाकार अनन्तवीर्यने तीनों प्रकरणोंकी लघीयस्त्रय संज्ञा रखी[3]; इसका कारण यह ज्ञात होता है कि अनन्तवीर्य नयप्रवेशक प्रकरणको स्वतन्त्र मानते थे और इसीलिये उन्हें तीनों प्रकरणोंको लघीयस्त्रय संज्ञा देनेकी सूझी हो। अस्तु,

(१) अष्टश०, अष्टसह० पृ० २९१। (२) अकलङ्कग्रन्थत्रय, लघी० पृ० १७।
(३) अकलङ्कग्र० प्रस्ता० पृ० ३४।

यह निश्चित है कि यह संज्ञा अनन्तवीर्यके कालसे तो अवश्य है; क्योंकि आगेके टीकाकार प्रभाचन्द्रने इसे एक लघीयस्त्रय मानकर ही उसपर अपनी न्यायकुमुदचन्द्र टीका बनाई है जिसे लघीयस्त्रयालंकार भी कहते हैं[1]।

इस ग्रन्थमें तीन प्रवेश हैं –१ प्रमाणप्रवेश २ नयप्रवेश और ३ प्रवचन प्रवेश। लघीयस्त्रयमें कुल ७८ मूल कारिकाएँ हैं। नयप्रवेश[2] के अन्तमें **'मोहेनैव परोऽपि'** श्लोक पाया जाता है, किन्तु इसका व्याख्यान न तो न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रभाचन्द्रने ही किया है और न लघीयस्त्रयकी तात्पर्यवृत्तिमें अभयचन्द्रने ही, अतः इसे प्रक्षिप्त मानना चाहिए। इस श्लोककी मूल ग्रन्थके साथ कोई अर्थमूलक संगति भी नहीं है।

अकलंकदेवने स्वयं लघीयस्त्रय पर एक विवृति लिखी है। यह विवृति कारिकाओंकी व्याख्यारूप न होकर उसमें सूचित विषयोंकी पूरक है। अकलंकने यह विवृति श्लोकोंके साथ ही लिखी है क्योंकि वे जो पदार्थ कहना चाहते हैं उसके अमुक अंशको श्लोकमें कहकर शेषको विवृतिमें कहते हैं अतः उसका नाम वृत्ति न होकर विवृति अर्थात् विशेष विवरण ही उपयुक्त रखा गया है। विषय की दृष्टिसे पद्य और गद्य मिलकर ही ग्रन्थकी अखण्डता बनाते हैं। धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिकके स्वार्थानुमान परिच्छेदपर जो वृत्ति लिखी है वह भी इसी प्रकारकी पूरक वृत्ति है। अकलंकके प्रमाणसंग्रहके अध्ययनसे हमें इस बातकी प्रतीति हो जाती है कि उनका गद्यभाग शुद्ध वृत्ति नहीं कहा जा सकता। शुद्ध वृत्तिमें तो मूलश्लोककी मात्र व्याख्या ही होनी चाहिए, पर लघीयस्त्रयकी विवृति और प्रमाणसंग्रहके गद्यभागमें व्याख्यात्मक अंश नहींके बराबर हैं। प्रभाचन्द्रने इसे विवृति ही माना है क्योंकि जब वे गद्यभागका व्याख्यान करते हैं तब **'विवृतिं विवृण्वन्नाह'** ही लिखते हैं। लघीयस्त्रयमें ६ परिच्छेद है। इनमें चर्चित मुख्य विषय इस प्रकार हैं–

प्रथमपरि० में सम्यग्ज्ञानकी प्रमाणता, प्रत्यक्ष परोक्षके लक्षण, प्रत्यक्षके सांव्यवहारिक और मुख्य दो भेद, सांव्यवहारिकके इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष भेद, सांव्यवहारिकके अवग्रहादि भेद, पूर्व पूर्व-ज्ञानोंकी प्रमाणता तथा उत्तरोत्तर ज्ञानोंकी फलरूपता आदिका विवेचन है।

द्वितीयपरि० में द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुकी प्रमेयरूपता, नित्यैकान्त और क्षणिकैकान्तमें अर्थक्रियाका अभाव आदि प्रमेय सम्बन्धी चरचा है।

तृतीयपरि० में मति स्मृति संज्ञा चिन्ता तथा अभिनिबोध आदिका शब्दयोजनासे पूर्व अवस्थामें मतिव्यपदेश तथा शब्दयोजनाके बाद श्रुतव्यपदेश, स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्क और अनुमानका परोक्षत्व, प्रत्यभिज्ञानमें उपमानका अन्तर्भाव, कारण पूर्वचर और उत्तरचर हेतुओंका समर्थन, अदृश्यानुपलब्धिसे भी अभावकी सिद्धि और विकल्पबुद्धिकी वास्तविकता आदि परोक्षप्रमाण सम्बन्धी विषयोंकी चरचा है।

चतुर्थपरि० में किसी भी ज्ञानमें ऐकान्तिक प्रमाणता या अप्रमाणताका निषेध करके प्रमाणाभासका स्वरूप, श्रुतकी प्रमाणता और शब्दोंका अर्थवाचकत्व आदि आगमप्रमाण सम्बन्धी विषयोंका विचार है।

पञ्चमपरि० में नय दुर्णयके लक्षण, नयोंके द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक आदि भेद, नैगमादिनयोंमें अर्थनय और शब्दनयका विभाग आदि नयपरिवारका विवेचन है।

छठे प्रवचन प्रवेशमें फिर प्रमाण और नयका विचार है। अर्थ और आलोककी ज्ञानकारणताका खंडन, सकलादेश-विकलादेश विचार और निक्षेपका फल आदि प्रवचनके अधिगमोपायभूत प्रमाण नय और निक्षेपका निरूपण किया गया है।

इस तरह अकलंकदेवकी यह पहिली दार्शनिक और मौलिक रचना है। यह अकलङ्क ग्रन्थत्रयमें प्रकाशित हो गई है।

४. न्यायविनिश्चय सवृत्ति–

धर्मकीर्तिके प्रमाणविनिश्चयकी तरह न्यायविनिश्चयकी रचना भी गद्यपद्यमय रही है। इसके मूल

(१) न्यायकुमु० पृ० २१२ आदि, परिच्छेद समाप्तिकी पुष्पिकाएँ।
(२) लघी० प० १७।

श्लोकोंकी तथा उसपरके गद्य भागकी कोई हस्तलिखित प्रति कहीं भी उपलब्ध नहीं हुई। वादिराज सूरिने इसपर एक न्यायविनिश्चय विवरण टीका बनाई है परन्तु इसमें केवल श्लोकोंका ही व्याख्यान किया गया है। अतः विवरणमेंसे एक-एक शब्द छाँटकर श्लोकोंका संकलन तो किया गया है[1], किन्तु गद्यभागके संकलनका कोई साधन नहीं था अतः वह नहीं किया जा सका। पर गद्य भाग था अवश्य; इसका एक अवतरण सिद्धि-विनिश्चयटीकामें[2] न्यायविनिश्चयके नामसे मिला है[3]। न्यायविनिश्चय विवरणकारके **'वृत्तिमध्यवर्तित्वात्'** आदि वाक्य भी इसके साक्षी हैं। उस गद्यभागको संभवतः चूर्णि कहते थे क्योंकि वादिराजने न्यायविनिश्चय विवरणमें[4] **'तथा च सूक्तं चूर्णौ देवस्य वचनम्'** लिखकर **'समारोपव्यवच्छेदात्'** श्लोक उद्धृत किया है। न्यायविनिश्चयमें वार्तिक अन्तरश्लोक और संग्रहश्लोक इस तरह तीन प्रकारके श्लोकोंका संग्रह है। जैसे **'प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः'** (१।३) श्लोक मूल वार्तिक है क्योंकि आगे इसी श्लोकगत पदोंका विस्तृत विवेचन है। वृत्तिके मध्यमें यत्र तत्र आनेवाले श्लोक अन्तरश्लोक हैं तथा वृत्तिके द्वारा प्रदर्शित मूल वार्तिकके अर्थका संग्रह करनेवाले संग्रह श्लोक हैं।[5] इसमें कुल ४८०॥ श्लोक हैं।[6] न्यायविनिश्चयमें तीन प्रस्ताव हैं—प्रत्यक्ष अनुमान और प्रवचन। न्यायावतारमें प्रत्यक्ष अनुमान और श्रुत इन तीन प्रमाणोंका वर्णन है और धर्मकीर्तिने प्रमाणविनिश्चयमें प्रत्यक्ष स्वार्थानुमान और परार्थानुमान तीन ही परिच्छेद रखे हैं, जो इनकी प्रस्ताव रचना के प्रेरक मालूम होते हैं।

प्रथम प्रत्यक्ष प्रस्तावमें—प्रत्यक्षका लक्षण, इन्द्रिय प्रत्यक्षका स्वरूप, प्रमाण सम्प्लव सूचन, चक्षुरादि बुद्धियोंका व्यवसायात्मकत्व, विकल्पके अभिलापवत्त्व आदि लक्षणोंका खण्डन, ज्ञानको परोक्ष माननेका निराकरण, ज्ञानके स्वसंवेदनकी सिद्धि, ज्ञानान्तरवेद्यज्ञाननिरास, साकारज्ञाननिराकरण, अचेतनज्ञान-निरास, निराकारज्ञानसिद्धि, संवेदनाद्वैतनिरास, विभ्रमवादनिरास, बहिरर्थसिद्धि, चित्रज्ञानखण्डन, परमाणुरूप बहिरर्थका निराकरण, अवयवातिरिक्त-अवयवीका खण्डन, द्रव्यका लक्षण, गुण और पर्यायका स्वरूप, सामान्यका स्वरूप, अर्थके उत्पादादित्रयात्मकत्वका समर्थन, अपोहरूप सामान्यका निरास, व्यक्ति-भिन्न सामान्यका निराकरण, धर्मकीर्तिसम्मत प्रत्यक्षलक्षणकी समालोचना, बौद्धकल्पित स्वसंवेदन-योगि-मानसप्रत्यक्षनिरास, सांख्यकल्पित प्रत्यक्षलक्षणकी आलोचना, नैयायिकसम्मत प्रत्यक्षलक्षणका निराकरण और अतीन्द्रिय प्रत्यक्षका लक्षण आदि विषयोंका विवेचन किया गया है।

द्वितीय अनुमान प्रस्तावमें—अनुमानका स्वरूप, अनुमानकी बहिरर्थविषयता, साध्य-साध्याभासका स्वरूप, अन्य मतोंमें साध्यप्रयोगकी असम्भवता, शब्दका अर्थवाचकत्व, सङ्केतग्रहणका प्रकार, भूतचैतन्य-वादकी समालोचना, गुणगुणिभेदका निराकरण, साध्य-साधनाभासके लक्षण, प्रमेयत्वहेतुकी अनेकान्तसाध-कता, सत्त्व हेतुकी परिणामित्वप्रसाधकता, त्रैरूप्यखण्डनपूर्वक अन्यथानुपपत्तिसमर्थन, तर्ककी प्रमाणता, अनुपलम्भ हेतुका समर्थन, पूर्वचर उत्तरचर और सहचरहेतुका समर्थन, असिद्धादि हेत्वाभासोंका निरूपण, दूषणाभासका लक्षण, जातिका लक्षण, जयपराजयव्यवस्था, दृष्टान्त-दृष्टान्ताभासविचार, वादका लक्षण, निग्रहस्थानका लक्षण और वादाभासका लक्षण आदि अनुमानप्रमाणसम्बन्धी विषयोंका वर्णन है।

---

(१) इस संकलनके इतिहासके लिए देखो अकलंकग्रन्थत्रय प्रस्ता० पृ० ६।

(२) पृ० १४१

(३) "तदुक्तं न्यायविनिश्चये—न चैतद् बहिरेव। किं तर्हि? बहिः बहिरिव प्रतिभासते। कुत एतत्? भ्रान्तेः, तदन्यत्र समानमिति।"—सिद्धिवि० टी० पृ० १४१।

(४) प्र० भाग पृ० ३०१, ३९०।

(५) "निराकारेत्यादयोऽन्तरश्लोकाः वृत्तिमध्यवर्तित्वात्, विमुखेत्यादिवार्तिकव्याख्यानवृत्तिग्रन्थमध्य-वर्तिनः खल्वमी श्लोकाः।.....संग्रहश्लोकास्तु वृत्युपदर्शितस्य वार्तिकार्थस्य संग्रहपरा इति विशेषः।"—न्यायवि० वि० प्र० पृ० २२९।

(६) न्यायवि० वि० प्र० प्रस्ता० पृ० ३४।

तृतीय प्रवचन प्रस्तावमें–प्रवचनका स्वरूप, सुगतके आप्तत्वका निरास, सुगतके करुणावत्त्व तथा चतुरार्यसत्यप्रतिपादकत्वका परिहास, वेदके अपौरुषेयत्वका खण्डन,सर्वज्ञत्वसमर्थन, ज्योतिर्ज्ञानोपदेश सत्यस्वप्न और ईक्षणिकादि विद्याके दृष्टान्तों द्वारा सर्वज्ञत्वकी सिद्धि, शब्दनित्यत्वनिरास, जीवादितत्त्वनिरूपण, नैरात्म्य-भावनाकी निरर्थकता, मोक्षका स्वरूप, सप्तभङ्गीनिरूपण, स्याद्वादमें संशयादि दोषोंका परिहार, स्मरण प्रत्यभिज्ञान आदिका प्रामाण्य और प्रमाणका फल आदि विषयोंपर प्रकाश डाला गया है।

यह ग्रन्थ अकलङ्कग्रन्थत्रय तथा न्यायविनिश्चयविवरणमें प्रकाशित है।

५. सिद्धिविनिश्चय–

प्रकृत ग्रन्थ, इसका विषय परिचय आदि इसी प्रस्तावनाके ग्रन्थ विभागमें दिया जायगा।

६. प्रमाणसंग्रह–

जैसा कि इसका नाम है वैसा ही यह ग्रन्थ वस्तुतः प्रमाणों-युक्तियोंका संग्रह है। इस ग्रन्थकी भाषा और विषय दोनों ही जटिल और दुरूह हैं। यह ग्रन्थ प्रमेयबहुल है। ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ न्याय-विनिश्चयके बाद बनाया गया है; क्योंकि इसके कई प्रस्तावोंके अन्तमें न्यायविनिश्चयकी अनेकों कारिकाएँ बिना किसी उपक्रम वाक्यके लिखी गई हैं। इसकी प्रौढ़ शैलीसे ज्ञात होता है कि यह अकलङ्कदेवकी अन्तिम कृति है और इसमें उन्होंने यावत् अवशिष्ट विचारके संग्रह करनेका प्रयास किया है, इसीलिये यह इतना गहन हो गया है। इसमें हेतुओंके उपलब्धि-अनुपलब्धि आदि अनेकों भेदोंका विस्तृत विवेचन है जब कि न्यायविनिश्चयमें मात्र उनका नाम ही लिया गया है। इसपर अनन्तवीर्यकृत प्रमाणसंग्रहभाष्य या प्रमाण-संग्रहालंकार टीका रही है। इसका उल्लेख स्वयं अनन्तवीर्यने ही किया है।[1] इसमें ९ प्रस्ताव हैं तथा कुल ८७½ कारिकाएँ हैं। स्वयं अकलङ्कदेवने इन कारिकाओंके सिवाय एक पूरकवृत्ति लिखी है। इस गद्य-पद्यमय प्रमाणसंग्रहका कुल प्रमाण अष्टशतीके बराबर ही है।

प्रथम प्रस्तावमें प्रत्यक्षका लक्षण, श्रुतका प्रत्यक्षानुमानागमपूर्वकत्व, प्रमाणका फल और मुख्य प्रत्यक्ष आदि प्रत्यक्षविषयक निरूपण है।

द्वितीय प्रस्तावमें परोक्षके भेद स्मृति प्रत्यभिज्ञान और तर्कका वर्णन है।

तृतीय प्रस्तावमें अनुमान और अनुमानके अवयव साधनादिके लक्षण, सदेकान्त आदिमें साध्य-प्रयोगकी असम्भवता, सामान्यविशेषात्मक वस्तुकी साध्यतामें दिये जानेवाले संशयादि दोषोंका परिहार आदि निरूपित है।

चतुर्थ प्रस्तावमें त्रैरूप्यका खण्डन कर अन्यथानुपपत्तिरूप एक हेतुका समर्थन, हेतुके उपलब्धि-अनुपलब्धि आदि भेदोंका वर्णन तथा कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर आदि हेतुओंका समर्थन है।

पंचम प्रस्तावमें विरुद्धादि हेत्वाभासोंका निरूपण, सर्वथा एकान्तमें सत्त्व हेतुकी विरुद्धता, सहोपलम्भ नियम हेतुकी विरुद्धता, विरुद्धाव्यभिचारीका विरुद्धमें अन्तर्भाव, अज्ञातका अकिञ्चित्करमें अन्तर्भाव आदि हेत्वाभासविषयक चरचा है।

षष्ठ प्रस्तावमें वादका लक्षण, जयपराजय व्यवस्था, जातिका लक्षण आदि वादविषयक कथन है। अन्तमें धर्मकीर्ति आदिने अपने ग्रन्थोंमें प्रतिवादियोंको जिन जाड्य अह्लीक आदि अपशब्दोंका प्रयोग किया है उन शब्दोंको प्रायः उन्हींको लौटाया गया है।

सप्तम प्रस्तावमें प्रवचनका लक्षण, सर्वज्ञताका समर्थन और अपौरुषेयत्वका खण्डन आदि प्रवचन सम्बन्धी विषय वर्णित हैं।

अष्टम प्रस्तावमें सप्तभङ्गी तथा नैगमादि सात नयोंका कथन है।

नवम प्रस्तावमें प्रमाण नय और निक्षेपका उपसंहार है।

---

(१) सिद्धिवि० टी० पृ० ८, १०, १३० आदि।

इस तरह ये छह ग्रन्थ निश्चित रूपसे भट्टाकलङ्कदेवकी कृति हैं। इनमें अकलङ्कके महान् पाण्डित्यके दर्शन होते हैं। परम्परागत प्रसिद्धिकी दृष्टिसे स्वरूपसम्बोधन, न्यायचूलिका, अकलङ्कप्रतिष्ठा पाठ, अकलङ्क प्रायश्चित्तसंग्रह और अकलङ्कस्तोत्र आदि भी अकलङ्कके नामपर दर्ज हैं। पर ये प्रसिद्ध अकलङ्ककी कृतियाँ नहीं हैं[1] पीछेके अकलङ्कनामधारी अन्य आचार्योंकी हैं। अकलङ्क नामके अनेकों ग्रन्थकार हुए हैं जो सब इन के बादके हैं।[2]

*

अकलङ्ककी जैन न्यायको देन : अकलङ्क न्याय–

भट्टाकलङ्क जैसे उद्भटवादी थे वैसे ही प्रतिभापुञ्ज ग्रन्थकार भी थे। उनके द्वारा लिखे गये ग्रन्थोंके परिचयसे उनकी अप्रतिहत लेखनीका चमत्कार स्वतः ज्ञात हो जाता है। अनेकान्तदृष्टि और स्याद्वादभाषाका अहिंसक उद्देश्य था समस्त मत-मतान्तरोंका नयदृष्टिसे समन्वयकर समताकी सृष्टि करना। अनेकान्तदर्शनके अन्तः यह रहस्य भी है कि हमारी दृष्टि वस्तुके पूर्णरूपको जान नहीं सकती, जो हम जानते हैं वह आंशिक सत्य है। हमारी तरह दूसरे मतवादियोंके दृष्टिकोण भी आंशिक सत्यताकी सीमाको छूते हैं। इसीलिये उसमें यह शर्त लगाई गई कि जो दृष्टिकोण अन्य दृष्टियोंकी अपेक्षा रखता है उनकी उपेक्षा या तिरस्कार नहीं करता वही सच्चा नय है। और ऐसे नयोंका समूह ही अनेकान्तदर्शन है।

इस पवित्र उद्देश्यसे अनेकान्तदर्शन और स्याद्वादपर ही जैन परम्पराने अनेकों ग्रन्थ लिखे हैं। पर, ऐसा लगता है जैसे यह समन्वयकी दृष्टि अंशतः परपक्षखण्डनमें बदल गई है। यद्यपि किसी भी मतके ऐकान्तिक दृष्टिकोणकी आलोचना किये बिना उसकी सापेक्षताका प्रतिपादन अपनेमें पूर्ण नहीं हो सकता फिर भी जितना भार समन्वयपर दिया जाना चाहिए था उतना नहीं दिया गया। भट्टाकलङ्क उस शताब्दीके व्यक्ति हैं जब कि धर्मकीर्ति और उसके टीकाकार शास्त्रार्थोंकी धूम मचाये हुए थे। अतः अकलङ्क देवके दार्शनिक प्रकरणोंमें उस युगकी प्रतिक्रियाकी प्रतिध्वनि बराबर सुनाई देती है। वे जब भी अवसर पाते हैं बौद्धोंके तीक्ष्ण खण्डनमें नहीं चूकते। जब धर्मकीर्ति परिवारने जैन सिद्धान्तको अश्लील आकुलप्रलाप आदि कहना प्रारम्भ किया तो इनका अहिंसक मानस डोल उठा और उन्होंने इन परप्रहारोंसे जैनशासनकी रक्षा करनेके हेतु सर्वप्रथम अपने सिद्धान्तोंकी व्यवस्थाकी ओर ध्यान दिया। उनकी जैनन्यायको देन इस प्रकार है–

१. प्रमाणके लक्षणमें 'अविसंवादि' पद–

प्रमाण सामान्यके लक्षणमें समन्तभद्र[3]ने 'स्वपरावभासक' और सिद्धसेन[4]ने 'स्वपराभासि' पद देकर ऐसे ज्ञानको प्रमाण माननेकी ओर संकेत किया था जो स्व और परका अवभासक हो। यह उसका स्वरूपनिरूपण था। अकलङ्कदेवने प्रमाणके लक्षणमें 'अविसंवादी' पद[5]का प्रवेशकर ऐसे ज्ञानको प्रमाण कहा जो अविसंवादी हो। इस लक्षणमें उन्होंने 'स्व' पदपर जोर नहीं दिया; क्योंकि स्वसंवेदन ज्ञान-सामान्यका धर्म है, प्रमाणज्ञानका ही नहीं। इसीलिये वे कहीं[6] प्रमाणके फलभूत सिद्धिको 'स्वार्थ विनिश्चय' शब्दसे व्यक्त करते हैं तो कहीं 'तत्त्वार्थ निर्णय'[7] शब्दसे। यद्यपि अष्टशतीके लक्षणमें 'अनधिगतार्थाधिगम' शब्दका प्रयोग किया गया है किन्तु इसपर उनका भार नहीं रहा; क्योंकि प्रमाणसंप्लव उपयोगविशेषमें इन्हें स्वीकृत है। इस तरह प्रमाणके लक्षणमें 'अविसंवादि' पदका प्रयोग अकलङ्कदेवने ही सर्वप्रथम किया है।

---

(१) देखो न्यायकुमुदचन्द्र प्र० प्रस्तावना पृ० ५७–५८। (२) वही, पृ० २५।
(३) बृहत्स्व० श्लो० ६३। (४) न्यायावतार श्लो० १।
(५) अष्टश० अष्टसह० पृ० १७५। (६) सिद्धिवि० १।३। (७) प्रमाणसं० पृ० १।५।

इसी तरह ज्ञानपदसे अज्ञानरूप सन्निकर्षादि तथा अकिञ्चित्कर निर्विकल्पक दर्शनादिका व्यवच्छेद भी इन्होंने किया है[1]।

२. अविसंवादकी प्रायिक स्थिति[2]–

अकलङ्कदेवने अविसंवादको प्रमाणताका आधार मानकर भी एक विशेष बात कही है कि हमारे ज्ञानोंमें प्रमाणता और अप्रमाणताकी संकीर्ण स्थिति है। कोई भी ज्ञान एकान्तसे प्रमाण या अप्रमाण नहीं है। द्विचन्द्रज्ञान भी चन्द्रांशमें प्रमाण और द्वित्वांशमें अप्रमाण है। एकचन्द्रज्ञान भी चन्द्रांशमें ही प्रमाण है 'पर्वत स्थित' रूपमें नहीं। प्रमाणता या अप्रमाणताका निर्णय अविसंवादकी बहुलता या विसंवादकी बहुलतासे किया जाना चाहिए। जैसे कि जिस पुद्गलमें गन्धकी प्रचुरता होती है उसे गन्धद्रव्य कहते हैं[3]।

३. परपरिकल्पित प्रमाणलक्षणनिरास[4]–

अकलङ्कने बौद्धसम्मत अविसंवादि ज्ञानकी प्रमाणताका खण्डन इसलिये किया है कि उनके द्वारा प्रमाणरूपसे स्वीकृत निर्विकल्पज्ञानमें अविसंवाद नहीं पाया जाता। सन्निकर्षकी प्रमाणताका निराकरण इसलिये किया है कि उसमें अचेतनरूपता होनेके कारण प्रमाके प्रति साधकतमत्व नहीं आ सकता।

४. प्रमाणका विषय[5]–

द्रव्यपर्यायात्मक और सामान्य-विशेषात्मक पदार्थको प्रमाणका विषय बतानेके साथही साथ उसे आत्मार्थगोचर यानी स्व और अर्थ उभयको विषय करनेवाला बताया है।

५. पूर्व-पूर्वज्ञानकी प्रमाणता तथा उत्तरोत्तरमें फलरूपता[6]–

अकलङ्कदेवने अवग्रह ईहा अवाय और धारणा इन चार मतिज्ञानोंमें पूर्व-पूर्वका प्रामाण्य तथा उत्तर-उत्तरमें फलरूपता स्वीकृत की है। विशेषता यह है कि ये पूर्व-पूर्वकी प्रमाणताकी ओर बढ़ते समय ज्ञानसे आगे सन्निकर्षमें नहीं गये।

६. ईहा और धारणाकी ज्ञानरूपताका समर्थन[7]–

ईहाका साधारण अर्थ चेष्टा और धारणाका अर्थ भावनात्मक संस्कार लिया जाता है किन्तु अकलङ्क देवने ज्ञानोपादानक होनेसे इनमें भी तत्त्वार्थसूत्रप्रतिपादित ज्ञानरूपताका समर्थनकर प्रमाणफलभावकी व्यवस्था की है।

७. अर्थ और आलोक ज्ञानके कारण नहीं[8]–

अकलङ्कदेवने ज्ञानके प्रति साक्षात् कारणता इन्द्रिय और मनकी ही मानी है अर्थ और आलोककी नहीं; क्योंकि इनका ज्ञानके साथ अन्वय-व्यतिरेक नहीं है।

८. प्रत्यक्षका लक्षण[9]–

आ० सिद्धसेनने प्रत्यक्षका लक्षण करते समय न्यायावतार[1] में 'अपरोक्ष' पद देकर प्रत्यक्षका लक्षण परोक्षसापेक्ष किया था। अकलङ्कदेवने 'विशदज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं' यह उसका स्वाश्रित लक्षण किया है। जिसे सभीने एक स्वरसे अपनाया है।

---

(१) लघी० स्ववृ० १।३।
(२) अष्टश० अष्टसह० पृ० २७७। लघी० स्ववृ० श्लो० २२।
(३) सिद्धिवि० १।३। (४) न्यायवि० १।३।
(५) लघी० श्लो० ६। (६) लघी० स्ववृ० १।६।
(७) लघी० श्लो० ५३-५६।
(८) लघी० श्लो० ३। (९) वही श्लो० ४।

९. वैशद्यका लक्षण[1]–

विशदज्ञानको प्रत्यक्ष कहनेके बाद वैशद्यका लक्षण करना न्यायप्राप्त था। अकलङ्कदेवने 'अनुमान आदिसे अधिक विशेष प्रतिभास' को वैशद्य कहा है।

१०. सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष[2]–

तत्त्वार्थसूत्रमें मति श्रुत आदि पाँच आगमिक ज्ञानोंका केवल प्रत्यक्ष और परोक्षरूपसे दो प्रमाण माननेका निर्देश किया गया था। किन्तु उनकी प्रत्यक्षता और परोक्षताके आधार जुदे थे। आत्ममात्र-सापेक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष और इन्द्रिय तथा मनकी अपेक्षा रखनेवाले ज्ञान परोक्ष थे। जबकि सभी दार्शनिक इन्द्रियजन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष तथा अनुमानादिको परोक्षकी श्रेणीमें रखते थे। प्रत्यक्षमें 'अक्ष' शब्द इसी व्यवस्थाका साक्षी था। यद्यपि जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणने इन्द्रिय और मनोजन्य ज्ञानको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है फिर भी उसका सयुक्तिक प्रतिपादन दार्शनिक भाषामें अकलंकने ही किया है। उन्होंने कहा कि–चूँकि इन्द्रियजन्यज्ञान एकदेशसे विशद है अतः वैशद्यांशका सद्भाव होनेसे यह भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है।

११. परोक्षका लक्षण[3] और भेद–

अकलङ्कदेवने तत्त्वार्थसूत्रकारके द्वारा निर्दिष्ट परोक्षज्ञानोंमें मतिज्ञानके 'मति' को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा,किन्तु साथमें यह भी कहा कि मति स्मृति संज्ञा चिन्ता और आभिनिबोधिक शब्दयोजनाके पहले मतिज्ञान हैं और शब्दयोजनाके बाद श्रुतज्ञान हैं। श्रुत अविशद होनेसे परोक्ष है। ये मति स्मृति आदि ज्ञान शब्दयोजनाके बिना भी होते हैं और शब्दयोजनाके बाद भी। शब्दयोजनाके पहिले ये सभी ज्ञान मतिज्ञान हैं और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष हैं। तत्त्वार्थवार्तिकमें अकलङ्कदेवने अनुमान आदि ज्ञानोंको स्वप्रतिपत्तिकालमें अनक्षरश्रुत तथा परप्रतिपत्तिकालमें अक्षरश्रुत कहा है। लघीयस्त्रयमें[4] स्मृति संज्ञा चिन्ता और अभिनिबोधको अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष भी कहा है। इससे यह ज्ञात होता है कि तत्त्वार्थवार्तिक और लघीयस्त्रयमें अकलङ्कदेव स्मृत्यादिज्ञानोंको अवस्था विशेषमें मतिज्ञान या सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहकर भी न्यायविनिश्चयमें उन स्मृति आदि ज्ञानोंके ऐकान्तिक परोक्षत्वका विधान करते हैं और यहीं वे परोक्षप्रमाणके स्मृति संज्ञा चिन्ता अभिनिबोध और श्रुत-आगम ये पाँच भेद निश्चित कर देते हैं।

१२. स्मृतिका प्रामाण्य[5]–

प्रायः सभी वादी स्मरणको गृहीतग्राही मानकर अप्रमाण कहते आये हैं। किन्तु अकलङ्कदेवने स्वविषयमें अविसंवादी होनेके कारण इसे प्रमाणताका वही दर्जा दिया है जो अन्य प्रमाणोंको प्राप्त था।

१३. प्रत्यभिज्ञानका प्रामाण्य[6]–

प्रत्यभिज्ञानको मीमांसकने इन्द्रियप्रत्यक्षमें और नैयायिकने मानसविकल्पमें अन्तर्भूत किया था तथा बौद्धने अप्रमाण कहा था। परन्तु अकलङ्कदेवने इसे स्वतन्त्र प्रमाण मानकर इसीके भेदस्वरूप सादृश्य प्रत्यभिज्ञानमें नैयायिकादिके उपमानका अन्तर्भाव दिखाया है और कहा है कि यदि सादृश्यविषयक उपमानको पृथक् प्रमाण मानते हो तो वैधर्म्यविषयक तथा आपेक्षिक आदि प्रत्यभिज्ञानोंको भी स्वतन्त्र प्रमाण मानना पड़ेगा।

१४. तर्ककी प्रमाणता[7]–

व्याप्तिग्राही तर्कको न तो वादी प्रमाण कहना चाहते थे और न अप्रमाण। प्रमाणोंका अनुग्राहक माननेमें उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। किन्तु अकलङ्कदेवने कहा कि यदि तर्कको प्रमाण नहीं मानते हो तो

(१) लघी० श्लो० ४। (२) लघी० श्लो० ३।
(३) लघी० श्लो० १०। (४) श्लो०६१। (५) लघी० स्ववृ० १।१०।
(६) लघी० श्लो० १०, १९–२१। (७) लघी० श्लो० ११। प्रमाणसं० श्लो० १२।

उसके द्वारा गृहीत व्याप्तिमें कैसे विश्वास किया जा सकेगा ? अतः तर्क भी स्वविषयमें अविसंवादी होनेसे प्रमाण है।

१५. अनुमानके अवयवोंकी व्यवस्था–

यद्यपि सिद्धसेन दिवाकरके न्यायावतार और पात्रस्वामीके त्रिलक्षणकदर्थन एवं श्रीदत्तके जल्प-निर्णयसे अनुमानका लक्षण उसके अवयव और साध्याभास हेत्वाभास आदिकी रूपरेखा अकलङ्कदेवको मिली होगी। पर उन्होंने अविनाभावैकलक्षण हेतु तथा एक ही प्रकारके अनुमानको माननेका अपना मत रखा है। अवयवोंमें प्रतिज्ञा और हेतु दो अवयवोंको पर्याप्त माना है। प्रतिपाद्यके अनुरोधसे अन्य अवयवोंमें दृष्टान्तको भी प्रमुखता दी है।

१६. हेतुके भेद[1]–

अकलङ्कदेव ने कार्य स्वभाव और अनुपलब्धिके सिवाय कारणहेतु पूर्वचरहेतु उत्तरहेतु और सहचर-हेतुको पृथक् माननेका समर्थन किया है।

१७. अदृश्यानुपलब्धिसे भी अभावकी सिद्धि[2]–

अदृश्यका साधारण तात्पर्य 'प्रत्यक्षका अविषय' लिया जाता है और इसीलिये अदृश्यानुपलब्धिसे धर्मकीर्तिने संशय माना है। अकलङ्कदेव अदृश्य किन्तु अनुमेय परचित्त आदिका अभाव भी अदृश्यानुपलब्धिसे स्वीकार करते हैं। ये अनुपलब्धिसे विधि और प्रतिषेध दोनों साध्योंकी सिद्धि मानते हैं।

१८. हेत्वाभास[3]–

यद्यपि अकलङ्कदेव अविनाभावरूप एक लक्षणके अभावमें वस्तुतः एक ही असिद्ध हेत्वाभास मानते हैं, किन्तु अविनाभावका अभाव कई प्रकारसे होता है अतः विरुद्ध असिद्ध सन्दिग्ध और अकिञ्चित्कर ये चार हेत्वाभास भी मानते हैं।

१९. वाद और जल्प एक हैं[4]–

नैयायिक तत्त्वनिर्णय और तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणको जुदा मानकर तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणके लिये छलादि असत् उपयोंका आलम्बन करना भी उचित ही नहीं, न करनेपर निग्रहस्थान मानते हैं। पर अकलङ्कदेवने किसी भी दशामें छलादिका प्रयोग उचित नहीं माना। अतः इनकी दृष्टिसे छलादिप्रयोगवाली जल्प कथा और वितण्डा कथाका अस्तित्व ही नहीं है। वे केवल एक वादकथा मानते हैं। इसीलिये वे वादको ही जल्प कहते हैं। इस सम्बन्धका सूत्र सम्भवतः इन्हें श्रीदत्तके जल्पनिर्णयसे मिला होगा।

२०. जातिका लक्षण–

अकलङ्कने मिथ्या[5] उत्तरको जात्युत्तर कहा है। साधर्म्यादिसमा आदि जातियोंके प्रयोगको ये अनुचित मानते हैं। उन्होंने यह भी कहा है कि मिथ्या उत्तर अनन्त प्रकारके हैं अतः उनकी गिनती करना कठिन है।

२१. जय पराजय व्यवस्था–

नैयायिकोंने जय-पराजयव्यवस्थाके लिये निग्रहस्थानोंका जटिल जाल बनाया है। बौद्धोंने उससे निकलकर असाधनाङ्ग वचन और अदोषोद्भावन इन दो निग्रहस्थानोंको मानकर उस जालको बहुत कुछ तोड़ा था। किन्तु उनके विविध अर्थोंका जो थोड़ा-बहुत उलझाव था उसे अकलङ्कदेवने अत्यन्त सीधा बनाते हुए कहा कि जो अपना पक्ष सिद्ध कर ले उसका जय और जिसका पक्ष निराकृत हो जाय उसका

(१) लघी० श्लो० १२–१४। (२) लघी० श्लो० १५।
(३) न्यायवि० श्लो० ३६५–३७०। (४) सिद्धिवि० ५।२।
(५) न्यायवि० श्लो० ३७१।

पराजय होना चाहिए। अपने पक्षको सिद्ध करके यदि कोई नाचता भी है तो भी कोई दोष नहीं। इस तरह उन्होंने जय-पराजयका सीधा मार्ग बताया[1]।

२२. सप्तभंगी निरूपणमें प्रगति–

सप्तभङ्गी विधिमें प्रमाणसप्तभङ्गी और नयसप्तभङ्गीकी योजनाके लिये सकलादेश और विकलादेशका सयुक्तिक विस्तृत निरूपण अकलङ्कदेवने किया है[2]। यहीं अभेदवृत्ति और अभेदोपचारके लिये काल आत्मरूप अर्थ सम्बन्ध उपकार गुणिदेश संसर्ग और शब्द इन कालादि आठकी दृष्टिसे विवेचनकी प्रक्रिया बताई है।

अनेकान्तमें दिये जानेवाले संशयादि दोषोंके उद्धारका व्यवस्थित क्रम इनके ग्रन्थोंमें विशेष रूपसे देखा जाता है[3]।

इसी तरह नय नयाभासोंका विवेचन, सकलादेश और विकलादेशमें एवकारके प्रयोगका विचार, निक्षेप निरूपणकी अपनी पद्धति आदिका वर्णन भी अकलङ्कके ग्रन्थोंमें है[4]। बौद्धोंके साथ ही साथ अन्य दर्शनोंकी मार्मिक आलोचना भी अकलङ्कदेवने यथावसर करके अकलङ्क न्यायके स्वपक्ष साधन और परपक्षदूषण दोनों पक्षोंको खूब समृद्ध किया है। इनमेंसे कुछ विशेष मुद्दोंका विवेचन आगे 'ग्रन्थ-परिचय' विभागमें विस्तारसे किया जायगा।

इस तरह तर्कभूवल्लभ भट्टाकलङ्कदेव शशाङ्ककी कीर्तिकौमुदी उनके अकलङ्कन्यायकी ज्योत्स्नासे तर्करसिकोंके मानसको द्योतित करती हुई आज भी छिटक रही है।

*

अकलङ्कका व्यक्तित्व–

इस तरह शिलालेखोल्लेख, ग्रन्थोल्लेख, समकालीन और परवर्ती आचार्योंपर प्रभाव और उनके ग्रन्थ आदि स्तम्भोंमें आई हुई चरचासे हम समझ सके हैं कि अकलङ्कदेव ई० ८ वीं सदीके युगनिर्माता महापुरुष थे। वे अनेक शास्त्रार्थोंके विजेता महान् वाग्मी थे और थे घटवादविस्फोटक सभाचतुर पंडित। कथाकोशमें उनके शास्त्रार्थोंकी कथाका सार पाठक पढ़ ही चुके हैं। मल्लिषेण प्रशस्तिके **'राजन् साहसतुंग'** श्लोकके गौरवपूर्ण उद्घोषसे ऐसा लगता है जैसे अकलङ्कके गलेकी विजयमाला अभी भी तरोताजी है। यह विजय इतनी बड़ी थी कि अकलङ्क जैसे वाचंयमीके मुखसे भी वह श्लोक निकलवा सकी। यह वह काल था जब धर्मकीर्तिके शिष्योंका समुदाय भारतीय दर्शनके रङ्गमञ्चपर छाया हुआ था और नैरात्म्यके नारोंसे आत्मदर्शन हिल उठा था। उस कालमें अकलङ्कदेवने भारतीय दर्शनकी हिलती हुई दीवालोंको थाँभा और इसी प्रयत्नमेंसे अकलङ्कन्यायका जन्म हुआ।

उनके टीका ग्रन्थ और मौलिक कृतियाँ उनके गहन तत्त्वविचार उनकी सूक्ष्मतर्कप्रवणता तथा स्वतत्त्व-निष्ठाका पगपगपर दर्शन कराती हैं। वे बौद्धोंके विचारोंसे होनेवाली निरात्मकतासे जनजनकी रक्षा करनेकी करुणाबुद्धिसे ओतप्रोत थे और इसीलिये उनके तत्त्वप्रकोपके मूल लक्ष्य बौद्धाचार्य और बहुशः बौद्धाचार्य ही रहे हैं। वे उनके अश्लील परिहास और कटूक्तियोंका उत्तर भी बड़े मजेसे देते हैं–धर्मकीर्तिने जब प्रमाण-वार्तिक[5] में अनेकान्तवादियोंको दही और ऊँटके अभेदप्रसङ्गका दूषण देकर कहा कि 'दहीकी जगह ऊँटको क्यों नहीं खाते?' तब अकलङ्कदेव न्यायविनिश्चय में उसका सटीक उत्तर देते हुए लिखते हैं कि–'सुगत मृग

(१) न्यायवि० श्लो० १८३। (२) तत्त्वार्थवा० १।३३।
(३) अकलङ्कग्रन्थत्रय टि० पृ० १७०। (४) वही पृ० १४६-५४।
(५) "सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति॥"–प्र० वा० ३।१८१।

हुए थे और मृग भी सुगत हुआ फिर भी जैसे आप लोग मृगको ही खाते हो सुगतको नहीं, उनकी तो वन्दना ही करते हो, ठीक उसी तरह पर्यायभेदसे दही और ऊँटके शरीरमें भेद है[१]।'

सिद्धिविनिश्चयस्ववृत्ति (६।३७) में अदृश्यानुपलब्धिसे अभावकी सिद्धि न माननेपर वे कहते हैं कि—

"दध्यादौ न प्रवर्तेत बौद्धः तद्भुक्तये जनः।
अदृश्यां सौगतीं तत्र तनूं संशङ्कमानकः॥
दध्यादिके तथा भुक्ते न भुक्तं काञ्जिकादिकम्।
इत्यसौ वेत्तु नो वेत्ति न भुक्ता सौगती तनुः॥"

अर्थात् अदृश्यकी आशंकासे बौद्ध दही खानेमें निःशंक प्रवृत्ति न कर सकेंगे; क्योंकि वहाँ सुगतके अदृश्य शरीरकी शंका बनी रहेगी। दही खाने पर काँजी नहीं खाई यह तो वे समझ सकते हैं पर बुद्धशरीर नहीं खाया यह समझना उन्हें असंभव है।

प्रमाणसंग्रहमें उन्होंने धर्मकीर्तिकी 'जाड्य अह्रीक पशु अलौकिक प्राकृत और तामस' आदि कटूक्तियोंको जो वे प्रतिवादियोंके प्रति प्रयुक्त करते रहे हैं, बहुत कुछ उन्हें ही उन्हींके सिद्धान्तोंकी असङ्गतियोंका उल्लेख करके ठंडे तरीकेसे लौटा दिया है[२]।

कथाकोशकी कथासे विदित होता है कि वे बालब्रह्मचारी निर्ग्रन्थव्रती थे और उनके मनमें अपने प्यारे भाईके बलिदानकी आग बराबर जल रही थी। इससे भी अधिक उनके मानसमें उथल-पुथल तो बौद्धोंके क्रान्तिकारी सिद्धान्तोंके प्रचारसे आत्मवादके लुप्त हो जानेसे मची हुई थी। शिलालेख उनपर ऋद्धिप्राप्त और महायतिके रूप में श्रद्धाप्रसून चढ़ाते हैं और उन्हें चारित्र्यभूधर कह उनके सामने नततस्तक हैं।

इस तरह अकलङ्क एक महान् वाग्मी प्रज्ञानिष्णात ग्रन्थकार और दृढ़ चारित्र्यसम्पन्न युगप्रवर्तक महापुरुष थे। उनकी अकलङ्कप्रभासे जैनशासनगगन आज भी आलोकित है और रहेगा।

---

(१) "सुगतोऽपि मृगो जातः मृगोऽपि सुगतस्तथा।
तथापि सुगतो वन्द्यो मृगः खाद्यो यथेष्यते॥
तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रमभिधावति॥"—न्यायवि० श्लो० ३७३-७४।

(२) "शून्यसंवृतिविज्ञानकथानिष्फलदर्शनम्।
सञ्जयापोहसन्तानाः सहैते जाड्यहेतवः॥
प्रतिज्ञाऽसाधनं यत्तत्साध्यं तस्यैव निर्णयः।
यददृश्यमसंज्ञानं त्रिकमहीकलक्षणम्॥
प्रत्यक्षं निष्फलं शेषं भ्रान्तं सारूप्यकल्पनम्।
क्षणस्थानमसत्कार्यमभाव्यं पशुलक्षणम्॥
प्रेत्यभावात्ययो मानमनुमानं मृदादिवत्।
शास्त्रं सत्यं तपो दानं देवता नेत्यलौकिकम्॥
शब्दः स्वयंभुः सर्वत्र कार्याकार्येष्वतीन्द्रिये।
न कश्चिच्चेतनो ज्ञाता तदर्थस्येति तामसम्॥
पदादिसत्त्वे साधुत्वन्यूनाधिक्यक्रमस्थितिः।
प्रकृतार्थाविघातेऽपि प्रायः प्राकृतलक्षणम्॥"—प्रमाणसं० पृ० ११५-१६।

२. सिद्धिविनिश्चयटीकाके कर्त्ता अनन्तवीर्य

आचार्य अनन्तवीर्य अपने युगके श्रद्धालु तार्किक और प्रतिभासम्पन्न आचार्य थे। भट्टाकलङ्कदेवके गूढ़तम प्रकरण ग्रन्थोंके हार्दको उद्घाटित करनेका इन्होंने अप्रतिम प्रयत्न किया है। यद्यपि इनके सामने अकलङ्क सूत्रके वृत्तिकार वृद्ध अनन्तवीर्यकी सिद्धिविनिश्चयवृत्ति रही है पर जैसा कि इनके द्वारा लिखे गये इस श्लोकसे विदित होता है कि ये वृद्ध अनन्तवीर्यकी व्याख्यासे बहुत सन्तुष्ट नहीं थे। ये आश्चर्य प्रकट करते हुए लिखते हैं कि--

"देवस्यानन्तवीर्योऽपि पदं व्यक्तं तु सर्वतः।
न जानीतेऽकलङ्कस्य चित्रमेतत् परं भुवि॥"--पृ० १

अर्थात् अकलङ्कदेवके पदोंका स्पष्ट अर्थ अनन्तवीर्य भी नहीं जानते यह बड़े आश्चर्यकी बात है। यद्यपि इस श्लोकको अपनी लघुताके पक्षमें लगाया जा सकता है पर प्रस्तुत टीकामें जो इन्होंने पाठान्तरोंका उद्धरण देकर[1] पूर्वव्याख्याकारसे मतभेद प्रकट किया है उससे मेरे कथनका समर्थन हो जाता है।

टिप्पण दिये गये उद्धरणोंमें 'अन्ये' और 'अपरे' शब्दसे इन्हें वृद्ध अनन्तवीर्य ही इष्ट हैं। इसका समर्थन (पृ० ३१) में दिये गये **'इत्यनन्तवीर्यः'** इस पदसे हो जाता है। यह उल्लेख ही वृद्ध अनन्तवीर्यके अस्तित्वका साक्षी है। प्रकृतटीकाकार अनन्तवीर्य पूर्वव्याख्याकार वृद्ध अनन्तवीर्यकी व्याख्यासे कारिकार्थका विरोध, पूर्वापर विरोध, तथा अर्थकी असंगतिको जिस रूपमें उपस्थित करते है, उससे स्पष्ट झलकता है कि वे वृद्ध अनन्तवीर्यकी व्याख्यासे बहुत प्रभावित नहीं थे। कहीं भी इन्होंने पूर्वव्याख्याकारके प्रति एक भी शब्द प्रशंसासूचक नहीं लिखा है।

इन्होंने पूर्वटीकाकार अनन्तवीर्यसे अपना पार्थक्य दिखानेके लिए **'रविभद्रपादोपजीवी' 'रविभद्रपदकमलचञ्चरीक'** आदि विशेषण स्वयं प्रस्तावोंके अन्तके पुष्पिकावाक्योंमें दिये हैं।

प्रस्तुत टीकाकार अनन्तवीर्यकी व्याख्याशैली सहज सुबोध होनेपर भी अकलङ्कके प्रकरणोंकी संक्षिप्तता और गूढार्थताके कारण वह बहुत प्रवाहबद्ध नहीं हो पायी है।

अनन्तवीर्य : श्रद्धालु तार्किक--

प्रस्तुत टीकाकार अनन्तवीर्य तार्किक होकर भी श्रद्धालु रहे हैं। उन्हें जो पुरानी परम्पराएँ प्राप्त हुईं उसका यथासम्भव वे समर्थन करते रहे हैं। इसका एक उदाहरण है अन्यथानुपपत्तिवार्तिकके कर्तृत्वका प्रकरण।

"अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥"

---

(१) "अन्ये तु दृष्टे संस्कारः दृष्टजातीये स्मृतिः इति व्याचक्षते। तेनायमर्थो लभ्यते न वेति चिन्त्यम्"--सिद्धिवि० टी० पृ० २७।

"अन्ये 'चित्रस्यैव' इति पठन्ति, तेषां कारिकोपात्तोऽयमर्थो भवति न वेति चिन्त्यमेतत्। अस्माकं तु इवशब्दपाठाच्च दोषः।"--पृ० ५७।

"अन्ये तु 'स्पष्टनिर्भासान्वयैकस्वभावे' इति पठन्ति, तेषां कथमन्यथा इत्यादि विरोधः।" --पृ० १२५।

"अपरे शास्त्राप्रामाण्यात्" इति पठन्ति तेषामनन्तरमेव तत्प्रामाण्यसमर्थनं किं विस्मृतं येनैवं पठन्ति।"--पृ० ५३८।

'यह अन्यथानुपपत्ति वार्तिक पात्रकेसरी स्वामीका है' इस विषयमें हमें तत्त्वसंग्रहके कर्ता शान्तरक्षित और उनके टीकाकार कमलशील तथा स्याद्वादरत्नाकरके कर्त्ता वादिदेवसूरिके स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं।[1] तत्त्वसंग्रह (पृ० ४०५) में यह श्लोक है और टीकामें स्पष्टतया इसे पात्रस्वामीका लिखा है। प्रमाणवार्तिक स्ववृत्तिटीका (पृ० ९) में यह श्लोक तो है, पर कर्ताके रूपमें पात्रस्वामीका नाम नहीं है। श्रवणबेलगोलाकी मल्लिषेण प्रशस्तिके इस श्लोकसे[2] ज्ञात होता है कि पात्रकेशरीने त्रिलक्षणकदर्थन नामका ग्रन्थ बनाया था। स्वयं अनन्तवीर्यके "**तेन तद्विषयत्रिलक्षणकदर्थनम् उत्तरभाष्यं यतः कृतम्**" (सिद्धिवि० टी० पृ० ३७१) इस उल्लेखसे ज्ञात होता है कि 'पात्रकेसरीके त्रिलक्षणकदर्थनका यह श्लोक है' ऐसी परम्परा उन्हें ज्ञात रही है। पात्रकेसरी और पात्रस्वामी एक व्यक्ति हैं यह बात प्रस्तुत टीकाके "**स्वामिनः पात्रकेशारिणः**" इस उल्लेखसे ज्ञात हो जाता है और इसका समर्थन न्यायविनिश्चयविवरणकार[3] वादिराजके "**पात्रकेसरिस्वामिने**" इस उल्लेखसे हो जाता है। वादिराजके[4] वचनोंसे इस बातका भी समर्थन होता है कि पात्रकेसरीस्वामीका त्रिलक्षणकदर्थन ग्रन्थ था। उपर्युक्त विवरणसे यह निश्चित हो जाता है कि उक्त श्लोक पात्रकेशरीके त्रिलक्षणकदर्थनका है, और पात्रस्वामी पात्रकेसरी और पात्रकेसरीस्वामी इन तीनों नामोंसे उनका उल्लेख होता था।

प्रस्तुत टीकाकार अनन्तवीर्य इसे सीमन्धरस्वामी(तीर्थंकर)कृत माननेका समर्थन किसी पूर्व व्याख्याकारके मतका खण्डन करके इस प्रकार करते हैं[5]—"यह श्लोक पात्रकेसरी स्वामीका है ऐसा कोई मानते हैं।

अनन्तवीर्य—यह कैसे जाना ?

शंकाकार—चूँकि उन्होंने हेतुविषयक त्रिलक्षणकदर्थन नामका उत्तरभाष्य बनाया है।

अनन्तवीर्य—यदि ऐसा है तो सीमन्धरस्वामीका यह श्लोक होना चाहिये; क्योंकि उन्होंने सर्वप्रथम यह श्लोक बनाया है।

शंकाकार—यह कैसे जाना ?

अनन्तवीर्य—पात्रकेसरीने त्रिलक्षणकदर्थन किया यह कैसे जाना ?

शंकाकार—आचार्य प्रसिद्धिसे;

अनन्तवीर्य—आचार्यप्रसिद्धि तो इसमें भी है, और इस विषयकी बड़ी कथा प्रसिद्ध है। यदि सीमन्धरकृत माननेमें कोई प्रमाण नहीं है; तो इसे पात्रकेसरीकृत माननेमें भी प्रमाण नहीं है।

शंकाकार—पात्रकेसरीके लिए यह श्लोक बनाया गया है अतः वह पात्रकेसरीकृत है।

अनन्तवीर्य—तब तो सभी ग्रन्थ और उपदेश चूँकि शिष्योंके लिए किये जाते हैं अतः वे शिष्यकृत माने जाने चाहिए। फिर पात्रकेसरी का भी यह श्लोक नहीं हो सकता; क्योंकि उन्होंने भी किसी अन्य शिष्यके निमित्त इसे बनाया होगा। जिसके लिए बनाया होगा उसीका वह माना जाना चाहिए।

शंकाकार—पात्रस्वामीने तद्विषयक प्रबन्ध (टीका) बनाया है अतः उनका यह श्लोक है।

अनन्तवीर्य—तब तो मूलसूत्रकारका कोई वाक्य नहीं मानना चाहिये। टीकाकारके ही सब वाक्य या सूत्र हो जायँगे। अतः यह श्लोक सीमन्धरस्वामी(तीर्थंकर)का ही है।"

---

(१) "अन्यथेत्यादिना पात्रस्वामिमतमाशङ्कते—नान्यथानुपपन्नत्वम्···अन्यथानुप···"—तत्त्वसं० प० पृ० ४०४–४०५। "तदुक्तं पात्रस्वामिना अन्यथानुपपन्नत्वम्"—स्या० रत्ना० पृ० ५२१।

(२) "महिमा स पात्रकेसरिगुरोः परं भवति यस्य भक्त्यासीत्।
पद्मावती सहाया त्रिलक्षणकदर्थनं कर्तुम्॥"—जैनशि० सं० प्र० ले० ५४।

(३) देखो—न्यायवि० वि० द्वि० पृ० ११७।

(४) "त्रिलक्षणकदर्थने वा शास्त्रे विस्तरेण पात्रकेसरिस्वामिना प्रतिपादनात्"—न्यायवि० वि० द्वि० पृ० २३४।

(५) सिद्धिवि० टी० पृ० ३७१।

इस शङ्का-समाधानसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अनन्तवीर्य आचार्य यह स्पष्ट परम्परा होते हुए भी कि 'यह श्लोक पात्रकेसरीके त्रिलक्षणकदर्थनका है' उसे नहीं मानकर अपनी श्रद्धावृत्तिसे उसे सीमन्धर स्वामीका मानते ही नहीं हैं किन्तु पात्रकेसरीकृत माननेवालोंका खण्डन भी करते हैं। अकलङ्कदेवके सिद्धि-विनिश्चय (६-१) के "अमलालीढं पदं स्वामिनः" में आये हुए 'स्वामिनः' पदसे वे सीमन्धर स्वामी तीर्थंकरका ग्रहण करते हैं जब कि अकलङ्कदेवका अभिप्राय 'पात्रस्वामी' ग्रन्थकारसे ही लगता है। अकलंकदेवने न्यायविनिश्चय (२।१५४) में इसे मूलकारिकाके रूपमें गृहीत किया है।

आ० विद्यानन्द इसे वार्तिककारका कहते हैं[1]। आ० वादिराज इन सबका समन्वय करके कहते हैं कि सीमन्धर स्वामी तीर्थंकरके पाससे पद्मावती देवताने पात्रकेसरी स्वामीको यह वार्तिक लाकर दिया है।

तात्पर्य यह कि पूर्व व्याख्याकार (वृद्ध अनन्तवीर्य) का स्पष्ट मत होते हुए भी उनका उस श्लोक-को सीमन्धरस्वामीकृत होनेका समर्थन करना उनकी श्रद्धावृत्तिका ही उन्मेष है। इस शंका समाधानसे यह भी ज्ञात होता है कि उनके सामने कोई 'महती कथा' प्रसिद्ध रही है। अभी तकके उपलब्ध कथा साहित्य में प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोशमें सर्वप्रथम पात्रकेसरीकी यह कथा उपलब्ध होती है, ब्रह्म नेमिदत्तका कथाकोश तो इनके बादका है।

*

अनन्तवीर्यका बहुश्रुतत्व–

आचार्य अनन्तवीर्यने जिस प्रकार विषयको स्पष्ट करनेके लिए पूर्वपक्षीय ग्रन्थोंसे सैकड़ों अवतरण 'तदुक्तम्' आदिके साथ उद्धृत किये हैं उसी तरह स्वपक्षके समर्थनके लिए भी पूर्वाचार्योंके वचनोंके पचासों प्रमाण उपस्थित किये हैं। इनका दर्शनशास्त्रीय अध्ययन बहुव्यापक और सर्वतोमुखी था। हम इनके द्वारा उल्लिखित ग्रन्थों और ग्रन्थकारोंमें उनका विशेष परिचय दे रहे हैं जिनके सम्बन्धमें कुछ नई जानकारी मिली है या जिनसे इनके समय आदिके निर्णयमें सहायता मिल सकती है।

वैदिक साहित्य और अनन्तवीर्य–

आ० अनन्तवीर्यका वैदिक संहिताओं, उपनिषद् और उनके भाष्य और वार्तिक तकका अध्ययन था और उन्होंने यथावसर पूर्वपक्षके वर्णनमें इन ग्रन्थोंके उद्धरण[2] दिये हैं। यथा–ऋग्वेदसे 'द्रुहय एवेदं,' कृष्ण यजुर्वेद काण्डकसंहितासे 'अग्निहोत्रं जुहुयात्', तैत्तिरीयसंहितासे 'श्वेतमालभेत', बृहदारण्यकोपनिषत्से 'आरामं तस्य पश्यन्ति', छान्दोग्योपनिषत्से 'आत्मैवेदं सर्वम्', मैत्रायण्युपनिषत्से 'अग्निहोत्रं', तथा ब्रह्मबिन्दूपनिषत् तथा त्रि० तापिन्युपनिषत्से 'एक एव हि भूतात्मा' आदि वाक्य उद्धृत किये हैं। अद्वैतके समर्थनमें सुरेश्वराचार्यके बृहदारण्यकभाष्यवार्तिकसे 'यथा विशुद्धमाकाशम्' आदि दो श्लोक उद्धृत किये हैं। इसी तरह स्मृतियोंमें मनुस्मृतिसे 'न मांसभक्षणे दोषः' श्लोक उद्धृत किया है।

महाभारत और अनन्तवीर्य–

महाभारत और तदन्तर्गत गीताके प्रणेता महर्षि व्यास माने जाते हैं। आचार्य अनन्तवीर्यने प्रस्तुत टीका (पृ०५१८) में 'भारत' को व्यासकी कृतिकी प्रसिद्धिका निर्देश किया है। महाभारतके वनपर्वसे 'अक्षो अन्युरनीशोऽयम्' तथा आदिपर्वसे 'कालः पचति भूतानि' श्लोक उद्धृत किये हैं। इससे ज्ञात होता है कि–आ० अनन्तवीर्यके समयमें महाभारत व्यासकी कृति माना जाता था।

(१) त० श्लो० पृ० २०५। प्र० परी० पृ० ७२।

(२) पृष्ठ संख्याके लिए देखो परिशिष्ट ७।

"आत्मा सहैति मनसा मन इन्द्रियेण
स्वार्थेन चेन्द्रियमिति क्रम एष शीघ्रः ।
योगोऽयमेव मनसः किमगम्यमस्ति,
यस्मिन् मनो व्रजति तत्र गतोऽयमात्मा ॥" –बृहत्संहिता ७४।३

इसकी टीका करते हुए भट्टोत्पलने यह लिखा है–"अयमर्थः–आत्मा मनसा सह युज्यते मनश्च इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेन ।" भट्टोत्पलका समय शक ८८८ (ई० ९६६) है। न्यायभाष्य (१।१।४) में 'न तर्हि इदानीमिदं भवति आत्मा मनसा युज्यते मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेनेति' यह वाक्य उद्धृत जैसा पाया जाता है। प्रमाणवार्तिक स्ववृत्ति टीकामें (पृ० १७७) में भी यह उद्धृत है। भट्टजयन्तने भी न्यायमञ्जरी प्रमाणभाग (पृ० ७०) के चतुष्टय सन्निकर्षके प्रकरणमें "आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेन" ये वाक्य लिखे हैं।

रचना से तो ज्ञात होता है कि यह वाक्य किसी न्यायग्रन्थका होना चाहिये जिसे वराहमिहिरने श्लोकबद्ध किया है। न्यायभाष्यका 'न तर्हीदानामिदं भवति' इस वाक्यसे लगता तो ऐसा है जैसे किसी समानतन्त्रीय भाष्यपूर्वकालीन ग्रन्थका यह वाक्य हो। अस्तु, यह वाक्य बहुत पुराना[1] अर्थात् न्याय-भाष्यसे भी बहुत पुराना है। आचार्य अनन्तवीर्यने प्रस्तुत टीकामें यह वाक्य दो बार उद्धृत किया है।

दो अविद्धकर्ण और अनन्तवीर्य–

भारतीय विस्मृत दर्शनकारोंमें अविद्धकर्ण भी हैं, जिनके सम्बन्धकी जानकारी बहुत थोड़ी है। किन्तु कुछ बौद्धदर्शनके ग्रन्थोंके प्रकाशमें आनेसे दो अविद्धकर्णोंका पता चलता है।

एक अविद्धकर्ण नैयायिक थे और ये न्यायभाष्यके टीकाकार थे। वादन्याय (पृ० ७८) में प्रतिज्ञान्तर निग्रहस्थानके प्रकरणमें इनकी न्यायभाष्यटीकाका उल्लेख[2] किया गया है।

इनके अन्य मत इस प्रकार उपलब्ध होते हैं—

(१) रूपादिके ग्रहण न होनेपर भी द्रव्यका ग्रहण होता है।[3]

(२) अवयव और अवयवी पूर्वोत्तरकालभावी होनेसे विभिन्न है।[4]

(३) यदि प्रतिज्ञावाक्यको निरर्थक कहा जाता है तो 'कृतकश्च शब्दः' यह भी नहीं कहना चाहिये क्योंकि अनित्यत्व कहने से ही शब्दमें कृतकत्व और अनित्यत्व दोनोंका बोध हो जाता है।[5]

---

(१) तुलना–"आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते ।
व्यक्ता तदाप्तये या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते ॥–चरकसं० १।११।२०

(२) "अविद्धकर्णस्तु भाष्यटीकायाम् इदमाशङ्क्य परिजिहीर्षति–ननु चासर्वगतत्वे सतीति हेतु-विशेषणमुक्तम् । सविशेषणश्च हेतुः विपक्षे नास्तीति न प्रतिज्ञान्तरं निग्रहस्थानम् । न हि तदेवमसर्वगतः शब्द इति प्रतिज्ञान्तरोपादानात् । हेतुविशेषणोपादाने हेत्वन्तरं निग्रहस्थानमिति । एतच्च अतिस्थूलम्"–वादन्याय टी० पृ० ७८ ।

(३) "अविद्धकर्णस्त्वाह–रूपाद्यग्रहेऽपि द्रव्यग्रहणमस्त्येव यतो मन्दप्रकाशे अनुपलभ्यमानरूपादिकं द्रव्यमुपलभते । अनिश्चितरूपं गौरश्वो वेति ।"–वादन्याय टी० पृ० ३५ ।

(४) "तदेतेनैव अविद्धकर्णोक्तं पूर्वोत्तरकालभावित्वात् इत्यादि तत्साधनमपहसितं वेदितव्यम् ।"
–वादन्याय टी० पृ० ४० ।

(५) "तदत्र अविद्धकर्णः प्रतिबन्धकन्यायेन प्रत्यवतिष्ठते–यथेदम् कृतकश्च शब्द इत्येतदपि न वक्तव्यम् । किं कारणम् ? अनित्यत्वमित्येतेनैव शब्देऽपि कृतकत्वमनित्यत्वञ्चोभयं प्रतिपद्यते·····"।
–वादन्याय टी० पृ० १०९ ।

(४) द्वीन्द्रियग्राह्य और अग्राह्य सभी द्रव्य बुद्धिमद्धेतुक हैं; क्योंकि वे स्वारम्भक अवयवोंकी विशिष्ट रचनासे युक्त हैं।[1] परमाणु आदि चेतनसे अधिष्ठित होकर अपना कार्य करते हैं; क्योंकि वे रूपादिसे युक्त हैं जैसे कि तन्तु आदि।

(५) आत्मा नित्य और व्यापक है।[2]

(६) विनाश सहेतुक है।[3]

(७) परमाणु नित्य हैं।[4]

(८) संख्या स्वतन्त्र गुण है।[5]

(९) समूह और सन्तान आदि अवस्थाविशेष अनिर्वचनीय नहीं हैं।[6]

(१०) निगमन स्वतन्त्र अनुमानावयव है।[7]

(११) उपमान आगमसे पृथक् प्रमाण है।[8]

(१२) प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणोंसे भिन्न भी अन्य प्रमाण हैं तथा स्वलक्षण और सामान्यलक्षणसे भी भिन्न प्रमेय हैं।[9]

---

(१) "तत्राविद्धकर्णोपन्यस्तमीश्वरसाधने प्रमाणद्वयमाह– यत्स्वारम्भकेत्यादि'''तदुक्तं द्वीन्द्रियग्राह्याग्राह्यं विमत्यधिकरणभावापन्नं बुद्धिमत्कारणपूर्वकं स्वारम्भकावयवसन्निवेशविशिष्टत्वात् घटादिवत्, वैधर्म्येण परमाणवः इति।'''तनुकरणभुवनोपादानानि चेतनावदधिष्ठितानि स्वकार्यमारभन्ते इति प्रतिज्ञानीमहे रूपादिमत्त्वात् तन्त्वादिवत् इति।" –तत्त्वसं० प० पृ० ४०-४१। सन्मति० टी० पृ० १००। प्रमेयक० पृ० २६९।

(२) "अथ नित्यविभुत्वे कथमस्य प्रतिपत्तव्ये इत्यत्राविद्धकर्णस्तावत्प्रमाणयति–मातुरुदरनिष्क्रमणोत्तरकालं मदीयाद्यप्रज्ञानसंवेदकसंवेद्यानि अतत्कालानि मदीयानि प्रज्ञानानि मदीयप्रज्ञानत्वात् आद्यमदीयप्रज्ञानवत्।"–तत्त्वसं० पृ० ८२।

(३) "अत्राविद्धकर्णोक्तानि विनाशस्य हेतुमत्त्वसाधने प्रमाणानि निर्दिदिक्षुराह–नन्वित्यादि।

ननु नैव विनाशोऽयं सत्ताकालेऽस्ति वस्तुनः।
न पूर्वं न चिरात् पश्चात् वस्तुनोऽनन्तरं त्वसौ ॥३६७॥
एवं च हेतुमानेष युक्तो नियतकालतः।
कादाचित्कत्वयोगो हि निरपेक्षे निराकृतः ॥"–तत्त्वसं० प० पृ० १३६।

(४) "अविद्धकर्णस्त्वणूनां नित्यत्वसाधनाय प्रमाणमाह–परमाणूनामुत्पादकाभिमतं सद्धर्मोपगतं न भवति सत्त्वप्रतिपादकप्रमाणाविषयत्वात् खरविषाणवदिति।"–तत्त्वसं० प० पृ० १८७। सन्मति० टी० पृ० ६५८।

(५) "गजादीत्यादिनाऽविद्धकर्णोक्तं संख्यासिद्धये प्रमाणमाशङ्कते'''स ह्याह–संख्याप्रत्ययो गजतुरङ्गस्यन्दनादिव्यतिरिक्तनिबन्धनः गजादिप्रत्ययविलक्षणत्वात् नीलपटप्रत्ययवदिति।"–तत्त्वसं० प० पृ० २३१। सन्मति० टी० पृ० ६७४।

(६) अथेत्यादिनात्र अविद्धकर्णस्योत्तरमाशङ्कते'''सह्याह–समूहसन्तानावस्थाविशेषाः तत्त्वान्यत्वाभ्यामवचनीया न भवन्ति प्रतिनियतधर्मयोगित्वात् रूपरसादिवदिति।"–तत्त्वसं० प० पृ० २२५।

(७) "अविद्धकर्णस्त्वाह–विप्रकीर्णैश्च वचनैः नैकार्थः प्रतिपाद्यते। तेन सम्बन्धसिद्ध्यर्थं वाच्यं निगमनं पृथक् ॥"–तत्त्वसं० पृ० ४२२।

(८) "अविद्धकर्णस्त्वाह–आगमात् सामान्येन प्रतिपद्यते विशेषप्रतिपत्तिस्तु उपमानादिति।"–तत्त्वसं० प० पृ० ४५२।

(९) "अविद्धकर्णस्तु द्वे एव प्रमाणे स्वलक्षणसामान्यलक्षणाभ्यां चान्यत् प्रमेयं मास्तीति एतद् विघटनार्थं प्रमाणयति–प्रत्यक्षम् अनुमानव्यतिरिक्तप्रमाणान्तरसद्वितीयं प्रमाणत्वात् अनुमानवत्'''तथा स्वलक्षणं सामान्यलक्षणव्यतिरिक्तप्रमेयार्थान्तरसद्वितीयं प्रमेयत्वात् सामान्यलक्षणवत्'''।"–तत्त्वसं० प० पृ० ४५५।

(१३) कार्योत्पत्ति और कारणविनाशका काल एक नहीं है।[1]

(१४) क्षणिकवादीके मतमें आत्माका अवस्थान नहीं है अतः अविनाभावका ग्रहण नहीं हो सकता।[2]

इनसे ज्ञात होता है कि अविद्धकर्ण नैयायिक थे और उन्होंने न्यायभाष्यकी टीका बनाई थी। तत्त्वसंग्रहकार शान्तरक्षित और पञ्जिकाकार कमलशीलका समय ई० ७६२ निर्णीत है[3]। अतः इन अविद्धकर्णका समय ई० ७६२ के पहिले होना चाहिए। कर्णकगोमिका समय भी ई० ८ वीं सदी सिद्ध किया जा चुका है[4]।

तत्त्वोपप्लव (पृ० ५७) में आत्माके नित्यत्वको सिद्ध करनेवाले एक नैयायिकका मत उन्हीं शब्दोंमें दिया गया है[5] जिन शब्दोंमें वह मत तत्त्वसंग्रहपंजिका (पृ० ८२) में[6] अविद्धकर्णके नामके साथ पाया जाता है। तत्त्वोपप्लवका यह अवतरण अविद्धकर्णको आत्मवादी नैयायिक मानता है। जैसा कि वादन्यायके प्रथम उद्धरणसे ज्ञात होता है कि अविद्धकर्ण न केवल वादन्यायके टीकाकार शान्तरक्षितके ही सामने हैं अपि तु स्वयं धर्मकीर्तिके सामने भी हैं ऐसा लगता है। शान्तरक्षित अविद्धकर्णके मतको न्यायवार्तिककारके मतके बाद उपस्थित करते हैं इससे यह लगता है कि अविद्धकर्ण उद्योतकरके बाद और धर्मकीर्तिके समकालीन हों। तत्त्वोपप्लवका उल्लेख भी इसीकी पुष्टि करता है। अतः नैयायिक अविद्धकर्णका समय हम ई० ६२०–७०० के आसपास रख सकते हैं।

इस नैयायिक अविद्धकर्णके अतिरिक्त एक अविद्धकर्ण और हुआ है। यह चार्वाक मतका अनुयायी था। प्रमाणवार्तिकतत्त्ववृत्तिटीकामें इस चार्वाक अविद्धकर्णका मत इस प्रकार दिया गया है–

(१) अनुमानको लोकव्यवहारकी दृष्टिसे प्रमाण मान भी लेते हैं, पर लिङ्गका लक्षण नहीं बनता[7]।

(२) प्रमाण अनधिगत अर्थको जाननेवाला होता है। चूँकि अनुमान अर्थका परिच्छेद ही नहीं करता अतः वह प्रमाण नहीं है[8]।

(३) प्रमाण अगौण होता है, अनुमानसे अर्थनिश्चय दुर्लभ है। यह मत भी इसी सिलसिलेमें दिया है।

अनन्तवीर्यने प्रस्तुत सिद्धिविनिश्चयटीका (पृ० ३०६) में इसी चार्वाक अविद्धकर्णका उल्लेख किया है। यथा–

"इतरस्य अचेतनस्य वा भूम्यादेः मूर्तस्य [ज्ञानम्] अनेन अविद्धकर्णस्य समयो दर्शितः।"

अर्थात् अचेतन और मूर्त पृथिव्यादिका परिणाम ज्ञान है। यह अविद्धकर्णका मत है।

इस अविद्धकर्णका समय कर्णकगोमि (ई० ८ वीं) से पहिले होना चाहिये।

---

(१) "एतेन यदप्युच्यते अध्ययन-अविद्धकर्णोद्योतकरादिभिः–यदि तुलान्तयोर्नामोन्नामवत् कार्योत्पत्तिकाल एव कारणविनाशः तदा कार्यकारणभावो न स्यात्, यतः कारणस्य विनाशः कारणोत्पादः। एवं भाव एव नाश इति वचनात्, एवं च कारणेन सह कार्यमुत्पन्नमिति प्राप्तम्।"–प्र० वा० स्ववृ० टी० पृ० ९०।

(२) "अविद्धकर्णस्त्वाह–अविनाभावित्वमेकं दृष्ट्वा द्वितीयादिदर्शने सति सिध्यति। न च क्षणिकवादिनो द्रष्टुरवस्थानमस्ति। न चान्येनानुभूतेऽर्थे अन्यस्य अविनाभावित्वस्मरणमस्ति अतिप्रसङ्गादिति।" –प्र० वा० स्ववृ० टी० पृ० ९८।

(३) देखो तत्त्वसं० प्रस्ता० पृ० ९६। (४) देखो पृ० ३५।

(५) "मातुरुदरनिष्क्रमणानन्तरं यदाद्यं ज्ञानं तज्ज्ञानान्तरपूर्वकं ज्ञानत्वात् द्वितीयज्ञानवत्।"–तत्त्वोप० पृ० ५७। (६) देखो–पृ० ७३ टि० २।

(७) "तेन यदुच्यते अविद्धकर्णेन सत्यमनुमानमिष्यत एवास्माभिः प्रमाणं लोकप्रतीतत्वात्, केवलं लिङ्गलक्षणमयुक्तमिति"–प्र० वा० स्ववृ० टी० पृ० १९।

(८) "तेन यदुच्यते अविद्धकर्णेन–अनधिगतार्थपरिच्छित्तिः प्रमाणम्, अतो नानुमानं प्रमाणमर्थपरिच्छेदकत्वाभावादिति।"–प्र० वा० स्ववृ० टी० पृ० २५।

(९) "एतेनैतदपि निरस्तम्–प्रमाणस्यागौणत्वादनुमानादर्थनिश्चयो दुर्लभः।"–प्र० वा० स्ववृ० टी० पृ० २५।

जिस 'प्रमाणस्यागौणत्वात्' वाक्यको कर्णकगोमिने अविद्धकर्णके मतके सिलसिलेमें दिया है, और वह प्रकरणसे अविद्धकर्णका ही लगता है, वह वाक्य भट्टजयन्त(ई० ९वीं सदी)की न्यायमञ्जरीमें भी चार्वाकके प्रकरणमें उद्धृत है।[1] स्याद्वाद रत्नाकरमें इसे पौरन्दरसूत्र[2] कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि इसके ग्रन्थ का नाम पौरन्दर सूत्र होगा। इन सब कारणों से इस चार्वाक अविद्धकर्णका समय ई० ८ वींसे पूर्व होना चाहिये।

*

अनन्तवीर्यका समय निर्णय–

आचार्य अनन्तवीर्यके सम्बन्धमें हमें कुछ भी जानकारी उनकी लिखी हुई नहीं मिलती। प्रस्तुत सिद्धिविनिश्चयटीकाके पुष्पिका वाक्योंमें दिये गये 'रविभद्र पादोपजीवी' विशेषणसे मात्र इतना ही ज्ञात होता है कि इनके गुरु का नाम रविभद्र था। इन रविभद्र आचार्यका भी पता नहीं चलता कि ये किस परम्परामें कब हुए हैं। अतः उनके जीवनवृत्त और समय निर्णयके लिये हमें शिलालेख तथा ग्रन्थों में आये हुए उल्लेखों पर निर्भर रहकर ही विचार करना है। शिलालेखोंसे हमें निम्नलिखित अनन्तवीर्योंकी जानकारी मिलती है–

शिलालेखोल्लेख–

(१) वे अनन्तवीर्य जिनका पेग्गूरके कन्नड शिलालेख[3]में वीरसेन सिद्धान्तदेवके प्रशिष्य और गोणसेन पण्डित भट्टारकके शिष्यके रूप में उल्लेख है।[4] ये श्रीबेळगोलके निवासी थे। इन्हें बेद्दोरेगरेके राजा श्रीमत् रक्कसने पेरग्गदूर तथा नई खाईका दान किया था। यह दानलेख शक ८९९ (ई० ९७७) का लिखा हुआ है।

(२) वे अनन्तवीर्य जिनका मरोळ (बीजापुर बंबई) के शिलालेख[5]में निर्देश है। यह शिलालेख चालुक्य जयसिंह द्वितीय और जगदेकमल्ल प्रथम (ई० १०२४) के समयका उपलब्ध हुआ है। इसमें कमलदेव भट्टारक विमुक्त व्रतीन्द्र सिद्धान्तदेव अण्णियभट्टारक प्रभाचन्द्र और अनन्तवीर्य का क्रमशः उल्लेख है। ये अनन्तवीर्य समस्त शास्त्रोंके विशेष कर जैनदर्शन के पारगामी थे। अनन्तवीर्यके शिष्य गुणकीर्तिसिद्धान्त भट्टारक और देवकीर्ति पंडित थे। ये संभवतः यापनीयसंघ या सूरस्थगणके थे।

(३) वे अनन्तवीर्य जिनका मुगद शिलालेख में उल्लेख है। यह शिलालेख धारवाड़ में सोमेश्वर प्रथमके समय (ई० १०४५) का उपलब्ध हुआ है।[6] इसमें यापनीयसंघ कुमुदगण के ज्येष्ठ धर्मगुरु गोवर्धन-देवको सम्यक्त्वरत्नाकर चैत्यालयके लिये दिये गये दानका उल्लेख है। गोवर्धनदेवके साथ ही अनन्तवीर्यका उल्लेख है, पर यह स्पष्ट नहीं है कि अनन्तवीर्यका गोवर्धनसे क्या सम्बन्ध था। इसमें यह भी उल्लेख है कि– कुमारकीर्ति अनन्तवीर्यके सह अध्यापक थे और दामनन्दि कुमारकीर्तिके शिष्य थे।

---

(१) "तथा चाहुः–प्रमाणस्यागौणत्वादनुमानादर्थनिश्चयो दुर्लभः।"–न्यायम० प्रमा० पृ० १०८। प्रमेयक० पृ० १८०।

(२) "प्रमाणस्यागौणत्वादनुमानादर्थनिश्चयो दुर्लभ इति पौरन्दरसूत्रम्।"–स्या० रत्ना० पृ० २६५।

(३) जैनशि० भाग २ पृ० १९९। ए० क० भाग १ कुर्ग नं० ४।

(४) "श्रीवेलगोळनिवासिगळप्प श्रीवीरसेनसिद्धान्तदेवरवरशिष्यर् श्रीगोणसेनपण्डितभट्टारक वरशिष्यर् श्रीमान् अनन्तवीर्यव्रतिगळ्…"–जैनशि०।

(५) बम्बई कर्नाटक इंस्क्रि० जिल्द १ भाग १ नं० ६१। जैनिज्म इन साउथ इं० पृ० १०५।

(६) बम्बई कर्नाटक इंस्क्रि० जिल्द १ भाग १ नं० ७८। जैनिज्म इन साउथ इं० पृ० १४१।

ये दामनन्दि वे हो सकते है जिनका उल्लेख जैनशिलालेख संग्रह भाग एकके लेख नं० ५५ में चतुर्मुख देवके शिष्यों में है। धाराधिप भोजराजकी सभाके रत्न आचार्य प्रभाचन्द्रके ये सधर्मा थे और इन्होंने विष्णुभट्ट महावादीको हराया था।

धाराधिप भोजका राज्यकाल (ई० १०१८से१०५३) माना जाता है। जब दामनन्दि का ई० १०४५ के शिलालेखमें उल्लेख है तो वे भोजके राज्यकालमें रहनेवाले प्रभाचन्द्रके सधर्मा दामनन्दिसे अभिन्न हो सकते हैं। अतः दामनन्दिके गुरु कुमारकीर्तिके सहाध्यापक अनन्तवीर्यकी स्थिति इस लेखसे ई० १०४५ तक पहुँचती है।

(४) वे अनन्तवीर्य जिनका हुम्मचकी पंचवस्तिके आँगनके एक पाषाण लेखमें[1] अकलङ्कसूत्रके वृत्तिकर्त्ताके रूपमें उल्लेख है। ये अरुङ्गलान्वय नन्दिसंघके आचार्योंकी परम्परामें हुए हैं। यह लेख शक ९९९ (ई० १०७७) का है। इसी लेखमें आगे कुमारसेनदेव मौनिदेव और विमलचन्द्रभट्टारकका निर्देश है। इनके शिष्यके रूपमें वादिराजकी प्रशस्ति की गई है। वादिराजको षट्तर्कषण्मुख लिखा है।

(५) वे अनन्तवीर्य जिनका उल्लेख चामराजनगरके पार्श्वनाथ स्वामी बस्तीके एक पाषाणलेख[2]में किया गया है। ये द्रविण संघकी परम्पराके आचार्य थे। यह लेख शक १०३९ (ई० १११७) का है।

(६) वे अनन्तवीर्य सिद्धान्ती जिनका निदिगिमें प्राप्त एक पाषाण लेखमें[3] क्राणूरगण रूपी कमलवनके सूर्यके रूपसे उल्लेख मिलता है।[4] यह लेख शक १०३९ (ई० १११७) का है।

(७) वे अनन्तवीर्य राद्धान्तार्णवपारग जिनकी स्तुति कदम्बहल्लिके शिलालेखमें[5] सूरस्थगणके आदि चारु चारित्रभूधरके रूपसे की गई है।[6] इनके शिष्य बालचन्द्र मुनि थे। यह शिलालेख शक १०४० (ई० १११८) का है।

(८) वे अनन्तवीर्य जिनका उल्लेख कल्लूरगुड्डुके सिद्धेश्वर मन्दिरके पाषाण लेख[7]में क्राणूरगणके आचार्योंमें शुद्धाक्षराकरदके रूपसे किया गया है।[8] यह लेख शक १०४३ (ई० ११२१) का है। इस लेखमें माघनन्दि सिद्धान्तदेवके शिष्य प्रभाचन्द्रके सधर्मा रूपसे अनन्तवीर्य और मुनिचन्द्रका उल्लेख है। प्रभाचन्द्रके गृहस्थ शिष्य भुजबलगंग बर्म्मदेव थे। बर्म्मदेवके चार पुत्र थे मारसिंह, नन्नियगंग, रक्कसगंग और भुजबलगंग। बर्म्मदेवके दानका समय शक सं० ९७६ (ई० १०५४) है। अनन्तवीर्यके गृहस्थशिष्य रक्कसगंगदेवने भी इसी समय दान दिया था।

(९) वे प्रभाचन्द्रसिद्धान्तदेवके सधर्मा सिद्धान्तकर अनन्तवीर्य जिनका उल्लेख पुरलेके सोमेश्वर मन्दिरके सामने पड़े हुए एक पाषाणलेख[9]में अभिनव गणधरके रूपसे किया गया है।[10] यह उल्लेख मूलसंघके क्राणूरगणके आचार्योंमें किया गया है। यह लेख शक १०५४ (ई० ११३२) का है। इस लेखमें प्रभाचन्द्र-सिद्धान्तदेवके शिष्य द्वारा शक ९८९ (ई० १०६७) में दिये गये दानका उल्लेख है।

(१०) वे अनन्तवीर्य महावादी जिनका उल्लेख हुम्मचके तोरण वागिलके उत्तर खम्भेके लेख[11]में

---

(१) जैनशि० द्वि० पृ० २९४। ए० क० भाग ७ नगर ता० नं० ३५।
अकलङ्कसूत्रके वृत्तियंवरेदनन्तवीर्यभट्टारकवरि।"—जैनशि०

(२) जैन शि० द्वि० पृ० ३८७। ए० क० भाग ४ चामराज नगर ता० नं० ८३।

(३) जैन शि० द्वि० पृ० ३९२। ए० क० भाग ७ शिमोगा ता० नं० ५७।

(४) "क्राणूर्गणसद्विसरुहवनार्केनेम्बुदु वसुमतियोळनन्तवीर्यसिद्धान्तिगरम्।"—वही पृ० ३९५।

(५) जैनशि० द्वि० पृ० ३९९। ए० क० भाग ४ नागमंगल ता० नं० १९।

(६) "श्री सूरस्थगणे जातश्चारुचारित्रभूधरः। भूपालानतपादाब्जो राद्धान्तार्णवपारगः॥ आदाव-नन्तवीर्य...."—वही पृ० ३९९।

(७) जैनशि० द्वि० पृ० ४०८। ए० क० भाग ७ शिमोगा नं० ४। (८) वही पृ० ४१६।

(९) जैनशि० द्वि० पृ० ४५२। ए० क० भाग ७ शिमोगा ता० नं० ६४। (१०) वही पृ० ४६४।

(११) जैनशि० तृ० पृ० ६६। ए० क० भाग ८ नगर० नं० ३७।

श्रीपालदेवके लघुसधर्माके रूपमें किया गया है[1]। ये द्रविड़ संघके नन्दिगणके आचार्य थे। यह लेख शक १०६९ (ई० ११४७) का है।

इन दस शिलालेखोंमें तीन परम्पराओंके अनन्तवीर्योंका उल्लेख है–

(१) द्रविण संघ नन्दिगण अरुंगलान्वयकी परम्पराके अनन्तवीर्य जो अकलङ्कसूत्रके वृत्तिकार थे। नं० ४ नं० ५ और नं० १० के अनन्तवीर्य इसी परम्पराके व्यक्ति हैं। ये वादिराजके दादागुरु श्रीपालके लघु-सधर्मा थे। वादिराजका समय ई० १०२५ है। अतः उनके दादागुरु ५० वर्ष पहिले अर्थात् ई० ९७५ के आसपास होंगे। नं० १ अनन्तवीर्य वीरसेनसिद्धान्तिदेवके प्रशिष्य और गोणसेनके शिष्य थे। क्राणूरगणके आचार्योंमें वीरसेनसिद्धान्तिदेव और गोणसेनका उल्लेख नहीं मिलता। अतः यही लगता है कि ये अनन्तवीर्य क्राणूरगणके न होकर सम्भवतः द्रविडसंघीय हों और नं० ४, ५ और १० से अभिन्न हों।

(२) सूरस्थगणके अनन्तवीर्य। ये सूरस्थगणके आदि चारित्रभूधर कहे गये हैं। नं० ७ के ये अनन्त-वीर्य अकलङ्कसूत्रके वृत्तिकार नहीं हैं।

(३) क्राणूरगणके अनन्तवीर्य। नं० ६ नं० ८ और नं० ९ के तीनों अनन्तवीर्य इसी परम्पराके व्यक्ति ज्ञात होते हैं। नं० २ और नं० ३ के अनन्तवीर्य भी यापनीय सूचित किये गये हैं, अतः ये भी क्राणूरगणके अनन्तवीर्यसे अभिन्न मालूम होते हैं।

अकलङ्कसूत्रके वृत्तिकार दो अनन्तवीर्य हुए हैं। एक रविभद्रपादोपजीवी और दूसरे इन्हीं अनन्त-वीर्यद्वारा उल्लिखित सिद्धिविनिश्चयके प्राचीन व्याख्याकार अनन्तवीर्य जिन्हें हम 'वृद्ध अनन्तवीर्य' कह आये हैं। यह कहना कठिन है कि हुम्मचके शिलालेखमें अकलङ्कसूत्रके वृत्तिकर्ताके रूपमें किस अनन्तवीर्यका उल्लेख है। प्रस्तुत सिद्धिविनिश्चयटीकाके कर्ता अनन्तवीर्य ई० ९५९ के बाद और ई० १०२५ से पहिले किसी समय हुए हैं यह हम आगे प्रमाणित करेंगे। अतः ई० ९७७ से ई० ११४७ तक के इन शिलालेखोंमें दोनोंमेंसे किसी भी अनन्तवीर्यका उल्लेख होनेमें कोई बाधा नहीं है। किन्तु लगता यह है कि जो अनन्तवीर्य वादिराजके दादागुरु श्रीपालके सधर्मारूपसे उल्लिखित हैं वही हमारे टीकाकार अनन्तवीर्य हैं। वृद्ध अनन्त-वीर्य इनसे कुछ और पहिले हो सकते हैं।

अब कुछ ऐसे अन्तरङ्ग प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं जिनसे शिलालेखोक्त समयावधिके समर्थन की सामग्री उपस्थित होती है—

ग्रन्थोल्लेख–

अनन्तवीर्यका जिन ग्रन्थोंमें नाम लेकर उल्लेख स्मरण या समीक्षण है, वे इस प्रकार हैं—

(१) तत्त्वार्थवार्तिक[2] (पृ० १५४) में वैक्रियिक और आहारक शरीरमें भेद बताते हुए लिखा है कि वैक्रियिक शरीर का कचित् प्रतिघात भी देखा जाता है। इसके समर्थनमें उन्होंने अनन्तवीर्ययतिके द्वारा इन्द्रकी शक्तिका प्रतिघात करनेकी घटनाका उल्लेख किया है। ये अनन्तवीर्ययति निश्चयतः अकलङ्कदेवसे बहुत पहिले हुए हैं; क्योंकि इस घटनाका उल्लेख वे **'प्रतिघातश्रुतेः'** शब्दसे 'सुनी हुई' बताते हैं। अक-लङ्कदेवका समय ई० ७२० से ७८० सिद्ध किया जा चुका है।

(२) प्रस्तुत सिद्धिविनिश्चय टीका[3]में एक और अनन्तवीर्यका उल्लेख आता है। प्रथम प्रस्तावकी कारिका (नं० ५) के उत्थानमें प्रस्तुतटीकाके कर्ता रविभद्रशिष्य अनन्तवीर्य लिखते हैं कि–

"इममेवार्थं समर्थयमाना [नः] प्राह–आधत्ताम् इत्यादि"

अर्थात् इसी अर्थके समर्थनके निमित्त **'आधत्ताम्'** आदि कारिका कहते हैं। इसके आगे वे एक अन्य अनन्तवीर्य का मत उद्धृत करते हैं कि–

---

(१) जैनशि० सं० पृ० ७२।

(२) "अनन्तवीर्ययतिना चेन्द्रवीर्यस्य प्रतिघातश्रुतेः सप्रतिघातसामर्थ्यं वैक्रियिकम्।"–त० वा पृ० १५४। (३) पृ० ३१।

"नन्वयमर्थोऽनन्तरकारिकावृत्तावुक्तः, न च पुनस्तस्यैवाभिधाने स एव समर्थितो नाम अतिप्रसङ्गात्, किन्तु अन्यस्मात् हेतोः, स चात्र नोक्तः, तस्मात् उक्तार्थोऽनन्तर-श्लोकोऽयम् इत्यनन्तवीर्यः।"

अर्थात् यह अर्थ पूर्वकारिकाकी वृत्ति में कहा जा चुका है, बार बार उसी अर्थ के कहने से तो समर्थन होता नहीं है, किन्तु किसी अन्यहेतुसे उसका समर्थन करना चाहिए, पर वह हेतु यहाँ कहा नहीं है, अतः इस श्लोकका अर्थ पूर्वश्लोकमें कहा जा चुका है, यह उक्तार्थ है, ऐसा अनन्तवीर्य आचार्यका मत है। इस विवरणसे यह ज्ञात होता है कि प्रस्तुत टीकाकार अनन्तवीर्य **'आधत्ताम्'** श्लोकको पूर्वश्लोकके समर्थनमें लगाना चाहते हैं जब कि जिनके मतका उल्लेख किया है वे अनन्तवीर्य इस **'आधत्ताम्'** श्लोकको पूर्वश्लोकका समर्थक नहीं मानकर इसे उक्तार्थक कह रहे हैं। ऐसी दशामें यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत टीकाकार अनन्तवीर्य किसी अन्य अनन्तवीर्यका जो कि सिद्धिविनिश्चयके पूर्वटीकाकार हैं, उल्लेख कर रहे हैं। इसके समर्थनमें निम्नलिखित प्रमाण भी विचारणीय हैं–

(क) प्रस्तुत टीकाकार अनन्तवीर्य ग्रन्थकी पुष्पिकाओंमें अपनेको **'रविभद्रपादोपजीवी'** **'रविभद्रपादकञ्जभ्रमर'** आदि विशेषणों से रविभद्र का शिष्य सूचित करके पूर्वोक्त वृद्ध अनन्तवीर्य से स्वयं को जुदा बताना चाहते हैं।

(ख) पूर्वोक्त कारिका (नं० ५) के उत्थानमें अपना मतभेद दिखाकर प्रस्तुत टीकाकार अनन्तवीर्य वृद्ध अनन्तवीर्यके प्रति किञ्चित् सन्मान प्रकट करके भी यह सूचित करनेमें भी नहीं चूकते कि वे अकलङ्कके पदोंके अर्थको पूरी तरह समझनेमें समर्थ नहीं हैं[1]। इससे ध्वनित होता है कि प्रस्तुत टीकाकार रविभद्रपादोप-जीवी अनन्तवीर्य अपने पूर्ववर्ती किसी अन्य अनन्तवीर्यका उल्लेख कर रहे हैं।

(ग) प्रस्तुत टीकामें 'अनेक स्थानोंमें **'अपरे इति पठन्ति'** **'केषाञ्चिदयं पाठः'** आदि कहकर प्रस्तुत अनन्तवीर्यने पूर्वकालीन टीकाकार या व्याख्याकारकी स्पष्ट सूचना ही नहीं दी है किन्तु उनकी व्याख्यासे अपना मतभेद भी प्रकट किया है।

ऐसी स्थितिमें यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत रविभद्रपादोपजीवी अनन्तवीर्यसे भिन्न एक और अकलङ्क के व्याख्याकार अनन्तवीर्य हुए हैं। जिन्हें हम **'वृद्ध अनन्तवीर्य'** संज्ञा देते आ रहे हैं।

(३) पार्श्वनाथ चरितमें वादिराजसूरिने अनन्तवीर्यकी स्तुति करते हुए लिखा है[2] कि उस अनन्त सामर्थ्यशाली मेघके समान अनन्तवीर्यकी स्तुति करता हूँ जिनकी वचनरूपी अमृतवृष्टिसे जगत्को चाँट जानेवाला शून्यवादरूपी हुताशन शान्त हो गया था। इन्होंने न्यायविनिश्चय विवरणमें अनन्तवीर्यको उस दीपशिखाके समान लिखा है जिससे अकलङ्क वाङ्मयका गूढ़ और अगाध अर्थ पद-पदपर प्रकाशित होता है[3]। पार्श्वनाथ चरितकी रचना शक संवत् ९४७ (ई० १०२५) में हुई थी[4]।

(४) आचार्य प्रभाचन्द्र अपने न्यायकुमुदचन्द्र[5] के प्रारम्भमें जिनेन्द्रके विशेषणके रूपमें अकलङ्कके साथ ही अनन्तवीर्यका भी उल्लेख करते हैं। वे आगे उनका सबहुमान स्मरण करते हुए लिखते हैं कि अकलङ्कार्थका अभ्यास और विवेचन मैंने अनन्तवीर्यकी उक्तियोंसे ही सैकड़ों बार किया है।[6] प्रभाचन्द्रने

---

(१) देखो पृ० ६७।

(२) देखो–पृ० ६७ टि० १। तथा पाठान्तरोंका परिशिष्ट, पृ० ७६४।

(३) "वदाम्यनन्तवीर्यार्कं यद्वागमृतवृष्टिभिः।
जगज्जिघत्सशून्यार्णः शून्यवादहुताशनः॥"–पार्श्वनाथच०।

(४) न्यायवि० वि० प्र० पृ० १।

(५) "शाकाब्दे नगवार्धिरन्ध्रगणने संवत्सरे क्रोधने।"–पार्श्वनाथच० प्रश० श्लो० ५।

(६) "श्रीमज्जिनेन्द्रमकलङ्कमनन्तवीर्यमानम्य"–न्यायकुमु० पृ० १।

(७) "स्वभ्यस्तश्च विवेचितश्च सततं सोऽनन्तवीर्योक्तितः।"–न्यायकुमु० पृ० ६०५।

न्यायकुमुदचन्द्रकी रचना धाराधिराज जयसिंहदेवके राज्यकाल[1] (वि० ११११ ई० १०५५) में की थी[2]। प्रभाचन्द्रका समय ई० ९८० से १०६५ निश्चित किया गया है।[3]

(५) शान्त्याचार्यने जैनतर्कवार्तिकवृत्ति (पृ० ७७) में अनिन्द्रियज प्रत्यक्षका वर्णन करते समय पूर्वपक्षमें **'स्मृत्यूहादिकमित्येके'** इस श्लोकांशके **'एके'**पदसे **'अनन्तवीर्यादयः'** यानी अनन्तवीर्य आदिका निर्देश किया है। इतना तो सुनिश्चित है कि–स्मृति ऊह और आदि पदसे गृहीत अवायको अनिन्द्रियजप्रत्यक्ष माननेवाले ये अनन्तवीर्य अकलङ्कदेवकी परम्पराके आचार्य हैं; क्योंकि अकलङ्कदेव लघीयस्त्रय स्ववृत्ति[4]में स्मृत्यादि ज्ञानोंको मानसप्रत्यक्ष कहते हैं। प्रस्तुत सिद्धिविनिश्चय टीकामें भी[5] अनन्तवीर्यका यही मत प्रतिभासित होता है। शान्त्याचार्यका समय वि० १०५०-११७५ (ई० ९९३–१०१८) के बीच स्थिर किया गया है।[6]

(६) स्याद्वादरत्नाकर (पृ० ३५०) में वादिदेवसूरिने धारणा और संस्कारको एकार्थक माननेवाले आ० विद्यानन्दके मतकी आलोचना करते हुए एक अनन्तवीर्यका भी मत इस प्रकार दिया है—

"अनन्तवीर्योऽपि तथा निर्णीतस्य कालान्तरे तथैव स्मरणहेतुः संस्कारो धारणा इति तदेवावदत्।"

इन्होंने केवलिभुक्तिसमर्थनप्रकरण (पृ० ४७९) में

"अनन्तवीर्यप्रभृतिप्रणीताः कुहेतवः केवलभुक्तिसिद्ध्यै।
अन्येऽपि ये तेऽपि निवारणीयाः···"

इस श्लोकमें यह सूचित किया है कि–अनन्तवीर्य आदिने केवलिभुक्तिका निराकरण किया है। वादिदेवसूरिने वि० संवत् ११७४ (ई० १११७) में आचार्यपद पाया था।[7] इनका कार्यकाल वि० ११७४ (ई० १११७) से वि० सं० १२२६ (ई० ११६९) तक है; क्योंकि राजर्षिकुमारपालके राज्यकालमें इनकी मृत्यु हुई थी। यद्यपि वादिदेवसूरिके द्वारा उद्धृत वाक्य अक्षरशः हमें प्रस्तुत सिद्धिवि० टीकामें नहीं मिल सका, और न प्रस्तुत टीकामें केवलिभुक्तिका खण्डन ही है, किन्तु धारणा और संस्कारको एक माननेकी अकलङ्कीय परम्पराका[8] समर्थन जैसा विद्यानन्दने किया है[9] उसी तरह प्रस्तुत सिद्धिवि० टीकामें पाया जाता है। वे द्वितीय प्रस्तावके प्रथम श्लोककी व्याख्यामें **'संस्कारतां यात्यपि'** पदका **'धारणात्मिका भवति'** अर्थ करते हैं[10] और इसी प्रस्तावके चौथे श्लोकके **'धारयति'** पदका **'स्वार्थसंस्कारमाधत्ते'** अर्थ करते हैं।[11] इन अर्थोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अनन्तवीर्य धारणा और संस्कारको एकार्थक मानते हैं। जो वाक्य वादिदेवसूरिने उद्धृत किया है वह या तो वृद्ध अनन्तवीर्य का है या फिर इन अनन्तवीर्यके प्रमाणसंग्रहभाष्यका हो सकता है।

(७) माणिक्यनन्दिके परीक्षामुखसूत्रपर प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्तण्डके अनन्तर एक अनन्तवीर्यने

---

(१) इनका एक दानपत्र वि० सं० १११२ का मिला है। देखो–'राजा भोज' (विश्वेश्वरनाथ रेऊकृत) पृ० १०२-१०३।

(२) न्यायकुमु० प्रश० पृ० ८८० टि० ५।

(३) देखो न्यायकुमुदचन्द्र द्वि० भाग प्रस्तावना पृ० ४८।

(४) " अनिन्द्रियप्रत्यक्षं स्मृतिसंज्ञाचिन्ताभिनिबोधात्मकम्"–लघी० स्व० श्लो० ६१।

(५) "चिन्ता इन्यन्वर्थसंज्ञाकरणात् तर्कस्य मानसविकल्पत्वोपवर्णनम्।"–सिद्धिवि० टी० पृ० २२३।

(६) जैनतर्कवार्तिक० प्रस्तावना पृ० १५१।

(७) देखो जैनसाहित्यका सं० इतिहास पृ० २४८।

(८) "स्मृतिहेतुर्धारणा संस्कार इति यावत्।"–लघी० स्ववृ० श्लो० ५।

(९) त० श्लो० पृ० २२०। (१०) सिद्धिवि० टी० पृ० १२०। (११) वही पृ० १२४।

प्रमेयरत्नमाला नामकी परीक्षामुखपञ्जिका लिखी है। यह पञ्जिका वैजेयके प्रियपुत्र हीरपके अनुरोधसे शान्तिषेणके लिए लिखी गई है। पञ्जिकाकारने **'प्रमेन्दुवचनोदारचन्द्रिकाप्रसरे सति'** लिखकर प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्तण्डका निर्देश किया है। अतः इनका समय प्रभाचन्द्र (ई० ९८० से १०६५) के बादका होना चाहिए और प्रभाचन्द्रके द्वारा स्मृत अकलङ्कके व्याख्याकार अनन्तवीर्यसे इन्हे भिन्न भी होना चाहिए। पं० आशाधरने अनगारधर्मामृतकी स्वोपज्ञटीका (पृ० ५२८) में प्रमेयरत्नमालाका मङ्गलश्लोक उद्धृत किया है। इन्होंने वि० संवत् १३०० (ई० १२४३) में अनगारधर्मामृत समाप्त किया था।[१] अतः प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्यका समय ई० १०६५ और ई० १२४३ के बीच आ जाता है। इनकी प्रमेयरत्नमालाका प्रभाव हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमांसा पर यत्र तत्र है[२]। हेमचन्द्रका समय ई० १०८८ से ११७३ है।[३] अतः प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्य ई० की ११ वीं शताब्दीके विद्वान् प्रमाणित होते हैं।

ये भी प्रस्तुत सिद्धिविनिश्चय टीकाके कर्ता अनन्तवीर्यसे भिन्न हैं।

(८) उभयभाषा कविचक्रवर्ती मल्लिषेणने अपना महापुराण शक सं० ९६९ (ई० १०४७) में समाप्त किया था[४]। इन्होंने महापुराणके प्रारम्भमें अनन्तवीर्यका स्मरण किया है[५]।

(९) अभयचन्द्रसूरिने लघीयस्त्रयकी स्याद्वादभूषण नामक तात्पर्यवृत्तिके प्रारम्भमें जिनेन्द्रके विशेषणके रूपमें अकलङ्क और अनन्तवीर्यका नामोल्लेख किया है। अभयचन्द्रसूरिने प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रको देखकर यह वृत्ति बनाई थी जैसा कि उनके द्वारा किये गये **'अकलङ्कप्रभाद्यक्तम्'** आदि उल्लेखोंसे ज्ञात होता है। इनका समय श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने १३वीं सदीका प्रारम्भ अनुमानित किया है[६]। अभयचन्द्रसूरि निश्चयतः प्रभाचन्द्र (११वीं सदी) के बादके विद्वान् हैं।

(१०) सर्वदर्शनसंग्रहके कर्ता सायणमाधवाचार्य आर्हतदर्शनके निरूपण (पृ० ८३) में सप्तभङ्गीके प्रसङ्गमें **'तत्सर्वमनन्तवीर्यः प्रत्यपीपदत्'** लिखकर–

"तद्विधानविवक्षायां स्यादस्तीति गतिर्भवेत् ।
स्यान्नास्तीति प्रयोगः स्यात्तन्निषेधे विवक्षिते ॥१॥
क्रमेणोभयवाच्छायां प्रयोगः समुदायभाक् ।
युगपत्तद्विवक्षायां स्यादवाच्यमशक्तितः ॥२॥
आद्यावाच्यविवक्षायां पञ्चमो भङ्ग इष्यते ।
अन्त्यावाच्यविवक्षायां षष्ठभङ्गसमुद्भवः ॥३॥
समुच्चयेन युक्तश्च सप्तमो भङ्ग उच्यते ।"

ये ३½ श्लोक उद्धृत करते हैं। ये श्लोक हमें प्रस्तुतटीकामें नहीं मिले हैं। प्रस्तुतटीकामें सप्तभङ्गीकी चर्चा भी नहीं है। अतः यह सम्भव है कि सायणमाधवाचार्य अनन्तवीर्यकी प्रस्तुतटीकासे भिन्न किसी अन्य कृतिसे उक्त श्लोक उद्धृत कर रहे हैं, या किसी अन्य अनन्तवीर्यका निर्देश कर रहे हों। आगे बताया जायगा कि अनन्तवीर्यकी एक कृति और है, और वह है प्रमाणसंग्रहभाष्य। प्रमाणसंग्रहमें सप्तभङ्गीका प्रकरण भी है। सायणाचार्यका समय शक १३१२ ई० १३९० है[७]।

---

(१) देखो अनगारधर्मामृत प्रशस्ति पृ० ६९१।
(२) देखो प्रमाणमीमांसा टिप्पण। न्यायकुमुदचन्द्र द्वि० भाग प्रस्तावना पृ० ३५।
(३) प्रमाणमीमांसा प्रस्तावना पृ० ४३।
(४) जैनसाहित्य और इतिहास पृ० ३१५।
(५) देखो डॉ० पाठकका लेख–भा० ओ० रि० इं० पत्रिका भाग १२,४ पृ० ३७३।
(६) देखो लघीयस्त्रयादिसं० प्रस्ता० पृ० ५।
(७) देखो सर्वदर्शनसंग्रह प्रस्तावना पृ० ३३।

इन १० उल्लेखोंमें हम निम्नलिखित चार अनन्तवीर्योंको पाते हैं—

१. अकलङ्कदेव द्वारा तत्त्वार्थवार्तिकमें उल्लिखित अनन्तवीर्ययति।

२. रविभद्रपादोपजीवी अनन्तवीर्य द्वारा सिद्धिविनिश्चयटीकामें उल्लिखित पूर्वव्याख्याकार वृद्ध अनन्तवीर्य।

३. स्वयं रविभद्रपादोपजीवी अनन्तवीर्य, जो प्रस्तुत टीकाके रचयिता हैं।

४. प्रमेयकमलमार्तण्डकार प्रभाचन्द्रका उल्लेख करनेवाले प्रमेयरत्नमालाके रचयिता अनन्तवीर्य।

इनमें तत्त्वार्थवार्तिकवाला उल्लेख किसी महाप्रभावशाली ऋद्धिप्राप्त अनन्तवीर्ययतिका निर्देश कर रहा है। ये अनन्तवीर्य अकलङ्कसूत्रके वृत्तिकार नहीं हैं; क्योंकि तत्त्वार्थवार्तिक अकलङ्कदेवकी प्रथम रचना है और अकलङ्कसूत्रसे जिन लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय और प्रमाणसंग्रहका ग्रहण करना इष्ट है वे ग्रन्थ तत्त्वार्थवार्तिकके बाद बने हैं। अतः प्रस्तुत टीकाके रचयिता अनन्तवीर्य और वृद्ध अनन्तवीर्य, दोनों ही इनसे सर्वथा भिन्न हैं।

प्रमेयरत्नमालाके कर्ता अनन्तवीर्यने वैजेयके प्रियपुत्र हीरपके अनुरोधसे शान्तिषेणके लिये परीक्षामुखकी पञ्जिका बनाई थी।[1] यह आचार्य प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्तण्डके बाद बनाई गई है। अतः आचार्य प्रभाचन्द्र जिन अनन्तवीर्यका सबहुमान स्मरण करते हैं वे अकलङ्कसूत्रके वृत्तिकार अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्रका गुणगान करनेवाले प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्यसे निश्चयतः भिन्न हैं।

अब रह जाते हैं वृद्ध अनन्तवीर्य, इनका हमें कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं है। अतः इनके समय आदिके सम्बन्धमें निश्चितरूपसे कुछ विशेष कहना सम्भव नहीं है। फिर भी प्रस्तुत अनन्तवीर्य इनका जिस ध्वनिमें उल्लेख और आलोचना करते हैं उससे यही लगता है कि ये प्रस्तुत अनन्तवीर्यके समकालीन वृद्ध हैं।

शान्त्याचार्य वादिदेवसूरि सायणमाधवाचार्य तथा अन्य ग्रन्थोल्लेखोंसे हम स्पष्ट निर्णय नहीं कर सकते कि उन लोगोंने किस अनन्तवीर्यका निर्देश किया है; क्योंकि दोनों ही अकलङ्कके टीकाकार हैं। उनमें भेदक रेखा तो प्रस्तुत अनन्तवीर्यने अपने साथ 'रविभद्रपादोपजीवी' विशेषण देकर खींची है। अतः हमें इनके सटीक समयनिर्णयके लिये अन्य प्रमाणोंको टटोलना होगा। वृद्ध अनन्तवीर्य अकलङ्क (ई० ७२०–७८०) के बाद तथा प्रकृत अनन्तवीर्य (९५०–९९०) से पहिले हुए हैं, यह निश्चित है। हमारा अनुमान है कि ये प्रकृत अनन्तवीर्यसे अधिक पहिले नहीं होंगे।

दार्शनिकोंके समयनिर्णयमें ग्रन्थोंकी अन्तरङ्ग समीक्षा भी एक समर्थ साधक होती है। पौर्वापर्यका निर्णय तो उससे हो ही जाता है। अतः हम अब कुछ ऐसे प्रमाण उपस्थित करते हैं जिससे प्रस्तुत अनन्तवीर्यके समयकी सीमाएँ खींची जा सकतीं हैं–

विद्यानन्द और अनन्तवीर्य–

आचार्य विद्यानन्दका जैनतार्किकोंमें अपना विशिष्ट स्थान है। इनके विद्यानन्दमहोदय तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अष्टसहस्री आप्तपरीक्षा प्रमाणपरीक्षा युक्त्यनुशासनटीका पत्रपरीक्षा और सत्यशासनपरीक्षा ये दार्शनिकग्रन्थ हैं। श्रीपुरपार्श्वनाथ स्तोत्र भी इन्हींकी कृति है[2]। इनका समय ई० ७७५ से ८४० है।[3]

*आ० अनन्तवीर्यने प्रस्तुत सिद्धिवि० टीका (पृ० १८९) में "ऊहो मतिनिबन्धनः" वाक्य उद्धृत किया है। विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० १९६) में यह वाक्य इस रूपमें उपलब्ध है–

(१) "वैजेयप्रियपुत्रस्य हीरपस्योपरोधतः।
शान्तिषेणार्थमारब्धा परीक्षामुखपञ्जिका॥"–प्रमेयरत्नमाला प्रश०

(२) श्रीपुरपार्श्वनाथ स्तोत्र प्रस्तावना।

(३) पृष्ठ ३९। न्यायकुमु० द्वि० भाग प्रस्ता० पृ० ३०। आप्तपरी० प्रस्ता० पृ० ७७-५२।

"समारोपव्यवच्छेदोऽत्र मानं मतिनिबन्धनः।"
—त० श्लो० १।१३।९९।

लगता यही है कि इस श्लोक के अंश को ही अनन्तवीर्यने प्रमाणरूपसे उद्धृत किया है।

प्रस्तुत टीका (पृ०६) में आदिवाक्य की चर्चाके प्रसङ्गमें **'श्रद्धाकुतूहलोत्पाद'** को आदिवाक्यका प्रयोजन माननेवाले किसी 'स्वयूथ्य' का मत उद्धृत किया गया है। फिर इस स्वयूथ्यका खण्डन करनेवाले किसी अन्य आचार्यका मत भी दिया गया है।[1] आचार्य विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० ४) में श्रद्धाकुतूहलोत्पादको आदिवाक्यका प्रयोजन माननेवालेके मतका खण्डन[2] उसी प्रकार किया है जिस प्रकारका उद्धरण 'अपरे' शब्दके साथ प्रस्तुत टीकाकार दे रहे है। इससे भी ज्ञात होता है कि विद्यानन्दके ग्रन्थ प्रस्तुत अनन्तवीर्यके सामने रहे हैं। अतः अनन्तवीर्यका समय ई० ८५० से पहिले नहीं हो सकता।

आचार्य वादिदेवसूरि स्याद्वादरत्नाकर (पृ० ३५०) में धारणा और संस्कार को एकार्थक माननेवाले महोदयकार विद्यानन्दकी आलोचना करके अनन्तवीर्यका मत देते हुए **'तदेवावदत्'** पदका प्रयोग करते हैं। इससे लगता है कि वादिदेवसूरि अनन्तवीर्यको विद्यानन्दका पश्चाद्वर्ती मानते थे या उस समय 'विद्यानन्दके पश्चात् अनन्तवीर्य हुए थे' यह परम्परा थी। इस उल्लेखसे विद्यानन्द और अनन्तवीर्यकी पौर्वापर्यकी परम्परा का एक स्पष्ट निर्देश मिल जाता है।

अनन्तकीर्ति और अनन्तवीर्य—

आ० अनन्तकीर्तिकृत लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत्सर्वज्ञसिद्धि ये दो प्रकरण लघीयस्त्रयादि संग्रहमें छपे हैं। इनका बारीकीसे अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि आचार्य अनन्तकीर्ति अपने युगके प्रख्यात विद्वान् थे। उन्होंने सर्वज्ञसिद्धि प्रकरणमें वेदोंके अपौरुषेयत्वका खंडन कर आगमको सर्वज्ञप्रणीतत्वके कारण ही प्रमाणता है यह विस्तारसे सिद्ध किया है। सर्वज्ञताके पूर्वपक्ष (बृहत्सर्वज्ञसिद्धि पृ० १३१–१४२) में जो **'यज्ञातीयैः प्रमाणैस्तु'** आदि ६४ श्लोक जिस क्रमसे उद्धृत किये गये हैं ठीक उसी क्रमसे वे श्लोक शान्तिसूरिकृत जैन-तर्कवार्तिक (पृ० ५२–५५) में उद्धृत हैं। इनमें कुछ श्लोक मीमांसा-श्लोकवार्तिकके कुछ प्रमाणवार्तिकके और कुछ तत्त्वसंग्रहके हैं।

आ० शान्तिसूरिने जैनतर्कवार्तिकवृत्ति (पृ० ७७) में **"स्वप्नविज्ञानं यत् स्पष्टमुत्पद्यते इत्यनन्तकीर्त्यादयः"** लिखकर स्वप्नज्ञानको मानसप्रत्यक्ष माननेवाले अनन्तकीर्ति आचार्यका मत दिया है। यह मत बृहत्सर्वज्ञसिद्धिके कर्ता अनन्तकीर्तिका ही है। वे लिखते हैं—**"तथा स्वप्नज्ञाने चानक्षजेऽपि वैशद्यमुपलभ्यते।"** (बृहत्सर्वज्ञसिद्धि पृ० १५१) शान्तिसूरिका समय ई० ९९३ से ११४७ के बीच माना गया है।[3]

प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके कर्ता आचार्य प्रभाचन्द्र का समय हम ई० सन् ९८० से १०६५ निर्णीत कर चुके हैं।[4] प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्तण्डके सर्वज्ञसिद्धि प्रकरणोंमें अनन्तकीर्तिकी बृहत्सर्वज्ञसिद्धिका शब्दानुसरण पूरा पूरा किया है। बृहत्सर्वज्ञसिद्धि (पृ०१८१-२०४ तकके) अन्तिम पृष्ठ तो कुछ थोड़ेसे हेरफेरसे न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८३८ से ८४७) के मुक्तिवाद प्रकरणसे अपूर्व सादृश्य रखते हैं। इन्हें पढ़कर कोई साधारण भी व्यक्ति कह सकता है कि इन दोनोंमेंसे किसी एकने दूसरेका पुस्तक सामने रखकर अनुसरण किया है।

---

(१) "तद्वाक्यात् अभिधेयादौ श्रद्धाकुतूहलोत्पादः ततः प्रवृत्तिः इति केचित् स्वयूथ्याः; तान् प्रति अपरे प्राहुः···"—सिद्धिवि० टी० पृ० ६।

(२) "तस्य प्रमाणत्वाप्रमाणत्वपक्षयोः तदुत्पादकत्वायोगात्।"—त० श्लो० पृ० ३।

(३) जैनतर्कवार्तिक० प्रस्ता० पृ० १४१।

(४) न्यायकुमुदचन्द्र द्वि० भाग प्रस्तावना पृ० ४८-५८।

हमारा यह निश्चित मत है कि बृहत्सर्वज्ञ सिद्धिका ही अनुसरण न्यायकुमुदचन्द्रमें किया गया है;[1] क्योंकि प्रभाचन्द्र के समकालीन शान्तिसूरि ने अनन्तकीर्तिका उल्लेख किया है।

सम्मतितर्कके टीकाकार अभयदेवसूरि धाराधिपति मुंजके समकालीन थे। [2]इनका समय श्रीमान् पं० सुखलालजीने विक्रमकी दसवीं सदीका उत्तरार्ध और ग्यारहवींका पूर्वार्ध निश्चित किया है। सन्मति० टीकाके सर्वज्ञसिद्धि प्रकरण (पृ० ६५) में अभयदेवसूरिने भी उसी नष्टमुष्टिचिन्ता लाभालाभ सुखासुख जीवितमरण ग्रहोपरागमन्त्रौषधिशक्त्यादिके अविसंवादि अलिङ्ग अनुपदेश और अनन्वयव्यतिरेक पूर्वक उपदेशकी अन्यथानुपपत्तिवाले हेतुका प्रयोग किया है जो बृहत्सर्वज्ञसिद्धिमें है। इतना ही नहीं ज्योतिःशास्त्रके–

"नक्षत्रग्रहपञ्जरमहर्निशं लोककर्मविक्षिप्तम्।
भ्रमति शुभाशुभमखिलं प्रकाशयत्पूर्वजन्मकृतम्॥"

इस श्लोकको भी, जो कि बृहत्सर्वज्ञसिद्धि (पृ० १७६) में एक अन्य श्लोकके साथ उद्धृत है, उद्धृत किया है। इन प्रकरणोंकी तुलनासे स्पष्ट है कि–एकने दूसरेके ग्रन्थोंको देखा है। शान्तिसूरि के उल्लेखसे सिद्ध होता है कि अनन्तकीर्तिका समय ई० ९९० से पूर्व है। तब यही अधिक संभव है कि–बृहत्सर्वज्ञसिद्धिके विचार सन्मतितर्कमें पहुँचे हों।

आचार्य वादिराजने अपने पार्श्वनाथचरितमें एक अनन्तकीर्तिका स्मरण इस प्रकार किया है–

"आत्मनैवाद्वितीयेन जीवसिद्धिं निबध्नता।
अनन्तकीर्तिना मुक्तिरात्रिमार्गेव लक्ष्यते॥ २४॥"

इससे ज्ञात होता है कि इन्होंने 'जीवसिद्धि' ग्रन्थ या प्रकरण भी लिखा है। श्रीमान् पं० नाथूरामजी प्रेमीने सम्भावना की है[3] कि–जिनसेन द्वारा उल्लिखित समन्तभद्रकी जीवसिद्धि पर अनन्तकीर्तिने टीका लिखी होगी।

न्यायविनिश्चयविवरणके[4] सर्वज्ञसिद्धि प्रकरणमें आचार्य वादिराज जिस–**"तज्ज्ञेयम्–यो यत्रानुपदेशालिङ्गानन्वयव्यतिरेकाविसंवादिवचनोपक्रमः स तत्साक्षात्कारी यथा सुरभिचन्दनगन्धादौ अस्मदादिः, तथाविधवचनोपक्रमश्च कश्चित् ग्रहनक्षत्रादिगतिविकल्पे मन्त्रतन्त्रादिशक्तिविशेषे च तदागमप्रणेता पुरुष इति।"**–हेतुका प्रयोग कर रहे हैं वह अनन्तकीर्तिकृत लघुसर्वज्ञसिद्धि[5] (पृ० १०७) का प्रमुख हेतु है, और वह उन्हींके शब्दोंमें प्रायः उपस्थित किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि वादिराज लघुसर्वज्ञसिद्धिके कर्ता अनन्तकीर्तिसे परिचित थे, जिनका कि उल्लेख वे पार्श्वनाथचरितमें कर रहे हैं।

---

(१) तुलना–"किन्त्वतज्ञो जनो दुःखाननुषक्तसुखसाधनमपश्यन् आत्मस्नेहात् संसाराम्भःपतितेषु दुःखानुषक्तसुखसाधनेषु प्रवर्तते। हिताहितविवेकज्ञस्तु तादात्विकसुखसाधनं स्त्र्यादिकं परित्यज्य आत्मस्नेहात् आत्मसुखसाधने मुक्तिमार्गे प्रवर्तते। यथा पथ्यापथ्यविवेकमजानन्नातुरः तादात्विकसुखसाधनं व्याधिविवृद्धिनिमित्तं दध्यादिकमुपादत्ते। पथ्यापथ्यविवेकज्ञस्तु आतुरस्तादात्विकसुखसाधनं दध्यादिकं परित्यज्य पेयादावारोग्यसाधने प्रवर्तते। तथा च कस्यचिद्विदुषः सुभाषितम्–तदात्वसुखसंज्ञेषु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते। हितमेवानुरुध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः॥"–बृहत्सर्वज्ञसिद्धि पृ० १८१।

"किन्तु अज्ञो जनः दुःखानुषक्तसुखसाधनमपश्यन् आत्मस्नेहात् सांसारिकेषु दुःखानुषक्तसुखसाधनेषु प्रवर्तते। हिताहितविवेकज्ञस्तु···यथा पथ्यापथ्यविवेकमजानन्नातुरः···दध्यादिकमुपादत्ते, पथ्यापथ्यविवेकज्ञस्तु तत्परित्यज्य पेयादावारोग्यसाधने प्रवर्तते। उक्तञ्च–तदात्वसुखसंज्ञेषु···"–न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ८४२।

(२) सन्मतितर्क गुजराती प्रस्तावना पृ० ८३।

(३) जैनसाहित्य और इतिहास पृ० ४०४। (४) द्वि० भाग पृ० २९७।

(५) "यो यद्विषयानुपदेशालिङ्गानन्वयव्यतिरेकाविसंवादिवचनानुक्रमकर्ता स तत्साक्षात्कारी···"

शिलालेखोक्त अनन्तकीर्ति–

[1]जैनशिलालेख संग्रह प्रथम भागमें दिये गये चन्द्रगिरि पर्वतके महानवमी मण्डपके एक शिलालेख में मूलसंघ देशीगण पुस्तकगच्छीय मेघचन्द्र त्रैविद्यके प्रशिष्य और वीरनन्दित्रैविद्यके शिष्य अनन्तकीर्तिका स्याद्वादरहस्यवादनिपुणके रूपमें वर्णन मिलता है। यह शिलालेख शक सं० १२३५ (ई० १३१३) का है। इसमें इनकी परम्पराके रामचन्द्रके शिष्य शुभचन्द्रके उक्त तिथिमें किये गये देहत्यागका वर्णन है।

शिलालेख नं० ४७ में[2] इन्हीं मेघचन्द्रत्रैविद्यके देहत्यागका समय मार्गशीर्ष शुद्ध १४ शक संवत् १०३७ (ई० १११५) दिया गया है।

लेख नं० ५० में इन्हीं मेघचन्द्रके शिष्य प्रभाचन्द्रके देहत्यागकी तिथि आश्विन शुद्ध दशमी शक सं० १०६८ (ई० ११४६) दी गई है। इस लेखमें मेघचन्द्रके दो शिष्य प्रभाचन्द्र और वीरनन्दिका उल्लेख है।[3]

मेघचन्द्रके शिष्य प्रभाचन्द्रदेवने शक १०४१ (ई० १११८) में एक महापूजा प्रतिष्ठा कराई थी।[4]

इन तीन शिलालेखोंमें वर्णित अनन्तकीर्तिकी गुरुपरम्परा इस प्रकार है–मेघचन्द्र त्रैविद्यके शिष्य वीरनन्दि और प्रभाचन्द्र तथा वीरनन्दिके शिष्य अनन्तकीर्ति।

इन शिलालेखोंमें वर्णित मेघचन्द्र त्रैविद्यके प्रशिष्य अनन्तकीर्तिका समय ई० १२ वीं शताब्दी बैठता है; क्योंकि इनके दादागुरुका स्वर्गवास ई० १११५ में हो गया था। अतः ये अनन्तकीर्ति पार्श्वनाथ चरित (ई० १०२५) में स्मृत ग्रन्थकार अनन्तकीर्तिसे जुदे ही कोई भिन्न आचार्य हैं। यदि उस समयके आचार्योंके १२५ वर्ष तकके दीर्घजीवन पर दृष्टिपात किया जाय और गुरु-प्रशिष्यको समकालीन माना जाय तो कदाचित् उक्त शिलालेखोंमें उल्लिखित अनन्तकीर्तिका पार्श्वनाथचरितमें स्मृत अनन्तकीर्तिसे मेल बैठाया जा सके। पर यह खींचतान ही होगी।

बान्धवनगरकी शान्तिनाथबसदि ई० १२०७ में बनाई गई थी। जब कि कदम्बवंशके किंग ब्रह्मका राज्य था। यह बसदि उस समय क्राणूरगण तिंतिड़िकगच्छके अनन्तकीर्ति भट्टारकके अधिकारमें थी[5]।

ये अनन्तकीर्ति पूर्वोक्त देशीगण पुस्तक गच्छकी परम्पराके अनन्तकीर्तिसे जुदे व्यक्ति हैं। और पार्श्वनाथ चरितमें स्मृत जीवसिद्धि ग्रन्थकार अनन्तकीर्तिसे भी जुदे हैं।

चिक्कमागडिकी बसवण्णमन्दिरके एक शिलालेखमें[6] जो होय्सलवीर बल्लाळ देवके २३ वें वर्ष (ई० १२१२ के लगभग)का है, जक्कलेके समाधिमरणका वर्णन है। इसमें जक्कलेके उपदेष्टा गुरुके रूपमें एक अनन्तकीर्तिका उल्लेख है। ये अनन्तकीर्ति बान्धवनगरकी शान्तिनाथबसदिके अधिकारी अनन्तकीर्तिसे अभिन्न हो सकते हैं; क्योंकि दोनोंका काल लगभग एक है।

श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने अनन्तकीर्तिका समय वादिराज (१०२५ ई०) के पूर्व तथा उनके द्वारा जिनसेनके बाद अनन्तकीर्तिका स्मरण होनेके कारण जिनसेन (ई० ७८३) के बाद होना चाहिये यह माना है।[7] जैसा कि ऊपर लिखित प्रभाचन्द्र और शान्तिसूरिके साथ अनन्तकीर्तिकी तुलनासे स्पष्ट हो जाता है कि अनन्तकीर्तिकी उत्तरावधि निश्चित रूपसे प्रभाचन्द्रका समय है। और यही समय वादिराजका भी है। अतः अनन्तकीर्तिकी उत्तरावधि ई० ९८० तक रखना सर्वथा उचित है। अब पूर्वावधिका नियामक एक प्रमाण मेरी दृष्टिमें यह आया है—

---

(१) जैन शि० भाग १ पृ० ३०। लेख नं० ४१।
(२) वही पृ० ६४।
(३) वही पृ० ८०। (४) जैनसाहित्य और इतिहास पृ० ३९।
(५) मिडिवल जैनिज्म पृ० २०९।
(६) जैनशि० सं० भाग पृ० २३२। पृ० क० भाग ७ शिकारपुर नं० १९६।
(७) जैनसा० और इ० पृ० ४०४।

आचार्य अनन्तकीर्तिने बृहत्सर्वज्ञसिद्धि और लघुसर्वज्ञसिद्धिमें सर्वज्ञ सिद्ध करनेके लिये मुख्य हेतु यह दिया है–[1]

"सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षाः अनुपदेशालिङ्गानन्वयव्यतिरेकपूर्वकत्वे सति अविसंवादिनष्टमुष्टिचिन्तालाभालाभसुखदुःखप्रहोपरागाद्युपदेशकरणान्यथानुपपत्तेः ।"

यह हेतु तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० ११) के इस श्लोकसे [2]तुलनीय है—

"सूक्ष्माद्यर्थोपदेशो हि तत्साक्षात्कर्तृपूर्वकः ।
परोपदेशालिङ्गाक्षानपेक्षाऽवितथत्वतः ॥"

अनन्तकीर्तिने प्रमाणपञ्चकाभावलक्षण अभावको समुद्रकी जलसंख्यासे अनैकान्तिक बताते हुए लिखा है–

"प्रमाणपञ्चकाभावलक्षणोऽभावः समुद्रोदकपरिसंख्यानेन अनैकान्तिकः"

–लघुसर्वज्ञसि० पृ० ११३ ।

यह अंश तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० १३) के निम्नलिखित श्लोक से अत्यधिक साम्य रखता है–

"स्वसम्बन्धि यदीदं स्याद् व्यभिचारि पयोनिधेः ।
अम्भःकुम्भादिसंख्यानैः सद्भिरज्ञायमानकैः ॥"

इसी तरह आप्तपरीक्षा (पृ० २२२) का सर्वज्ञसिद्धि प्रकरण तथा तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० ११–) का सर्वज्ञसिद्धि प्रकरण शैली और युक्तिपरम्परा आदिकी दृष्टिसे अनन्तकीर्तिके प्रकरणोंसे तुलनीय है ।

आचार्य विद्यानन्दके समयकी उत्तरावधि ई० ८४० बताई जा चुकी है । अतः अनन्तकीर्तिके समयकी पूर्वावधि भी यही माननी चाहिए । श्रीमान् पं० नाथूरामजी प्रेमी द्वारा सूचित समयावधिका इससे समर्थन हो जाता है ।

जिस प्रकार ज्ञानश्री रत्नाकरशान्ति (ई० १० वीं) आदिने क्षणभङ्गसिद्धि अवयविनिराकरण आदि लघु प्रकरण ग्रन्थ लिखे हैं उसी तरह आचार्य अनन्तकीर्तिने भी जीवसिद्धि लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत्सर्वज्ञसिद्धि प्रकरण लिखे हैं ।

अनन्तवीर्य प्रस्तुत सिद्धिविनिश्चयटीका (पृ० २३४) प्रामाण्यविचार प्रकरणमें आचार्य अनन्तकीर्तिके एक **'स्वतः प्रामाण्यभङ्ग'** प्रकरणका उल्लेख इस प्रकार करते हैं–

"शेषमुक्तवत् अनन्तकीर्तिकृतेः स्वतःप्रामाण्यभङ्गादवसेयमेतत् ।"

प्रस्तुत टीका (पृ०७०८) के सर्वज्ञसिद्धिमें अनन्तवीर्य भी उसी **"अनुपदेशालिङ्गाव्यभिचारिनष्टमुष्ट्याद्युपदेशान्यथानुपपत्तेः"** हेतुका प्रयोग करते हैं जो कि अनन्तकीर्तिकी बृहत्सर्वज्ञसिद्धि (पृ० १३०) और लघुसर्वज्ञसिद्धि (पृ०१०७)का मूल हेतु[3] है ।

---

(१) बृहत्सर्वज्ञसि० पृ० १३०। लघुसर्वज्ञसि० पृ० १०७ । (२) अष्टसह० पृ० ४७ ।

(३) यह हेतु वसुनन्दि की आप्तमीमांसा वृत्ति (पृ० ४) के इस अंशसे भी तुलनीय है–"तथाच स्वभावविप्रकृष्टा मन्त्रौषधिशक्तिचित्तादयः, कालविप्रकृष्टाः लाभसुखदुःखप्रहोपरागादयः, देशविप्रकृष्टा मुष्टिस्थद्रव्यादिद्रव्यम् । दूरा हिमवन्मन्दरमकराकरादयः।" यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने की है कि अष्टसहस्री के अन्तमें (पृ० २९४) लिखे गये "अत्र शास्त्रापरिसमाप्तौ केचिदिदं मङ्गलवचनमनुमन्यन्ते जयति जगति केशवेश···" इस वाक्यसे ज्ञात होता है कि कोई आचार्य 'जयति जगति' इस श्लोकको शास्त्रापरिसमाप्ति सूचक मङ्गलवचन मानते हैं । इस 'जयति जगति' श्लोकको आप्तमीमांसा का मानकर वसुनन्दिने इसकी भी टीका बनाई है और इसकी उत्थानिकामें लिखा है कि–"कृतकृत्यो निर्व्यूढप्रतिज्ञ आचार्यः श्रीमत्समन्तभद्रकेसरी···इदमाह । अर्थात् वसुनन्दिके मतसे यह श्लोक स्वामी समन्तभद्र का था और यह आप्तमीमांसा का अंग था । अतः विद्यानन्द का संकेत इन्हीं वसुनन्दिकी ओर है यह ज्ञात होता है ।

जहाँ तक ज्ञात हो सका है ग्रन्थकर्त्ता अनन्तकीर्ति यही हैं जिनके लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत्सर्वज्ञसिद्धि ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं तथा जिनकी जीवसिद्धि निबन्धका उल्लेख पार्श्वनाथचरितमें है। इन्हीं अनन्तकीर्तिका वह 'स्वतः प्रामाण्यभङ्ग' ग्रन्थ होना चाहिए। जैसा कि लिखा जा चुका है कि अनन्तकीर्तिका समय ई० ८४० के बाद और ई० ९८० के पहिले है; तदनुसार इसमें रविभद्रशिष्य अनन्तवीर्यका समय भी रखना समुचित प्रतीत होता है।

सोमदेव और अनन्तवीर्य–

सिद्धिविनिश्चय टीका (पृ० २६७)में कर्मबन्धके प्रकरणमें अनन्तवीर्यने निम्नलिखित श्लोक **'तदुक्तम्'** लिखकर उद्धृत किया है–

> **"एषोऽहं मम कर्म शर्म हरते तद्बन्धनान्यात्मवैः,**
> **ते क्रोधादिवशाः प्रमादजनिताः क्रोधादयस्तेऽव्रतात्।**
> **मिथ्याज्ञानकृतात्ततोऽस्मि सततं सम्यक्त्ववान् सव्रतः,**
> **दक्षः क्षीणकषाययोगतपसां कर्त्तेति मुक्तो यतिः॥"**

यह श्लोक सोमदेवसूरिके यशस्तिलक उत्तरार्ध (पृ० २४६) में है।

गुणभद्राचार्यके आत्मानुशासन ग्रन्थमें इसी भावका एक श्लोक इस प्रकार पाया जाता है–

> **"अस्त्यात्मास्तिमितादिबन्धनगतः तद्बन्धनान्यात्मवैः,**
> **ते क्रोधादिकृताः प्रमादजनिताः क्रोधादयस्तेऽव्रतात्।**
> **मिथ्यात्वोपचितात् स एव समलः कालादिलब्धौ क्वचित्,**
> **सम्यक्त्वव्रतदक्षताकलुषतायोगैः क्रमान्मुच्यते॥"**

–आत्मानुशासन श्लो० २४१।

उपर्युक्त दोनों श्लोकोंमें बिम्बप्रतिबिम्बभाव ही नहीं शब्द रचना भी बहुत कुछ मिलती जुलती है। आत्मानुशासनके कर्ता आचार्य गुणभद्रका जन्म शक ७४० (ई० ८१८) और कार्यकाल ई० ९०० तक रहा है[1]। आ० सोमदेवसूरिने यशस्तिलक चम्पू चैत्र सुदी १३ शक संवत् ८८१ (ई० ९५९) में समाप्त किया था जैसा कि उसकी प्रशस्तिसे ज्ञात होता है[2]। अतः यह निश्चित करनेमें कोई कठिनता नहीं है कि यशस्तिलकमें ही गुणभद्रके श्लोकका परिणमन किया गया है। सोमदेवने इस श्लोकके बाद "इति च सुभाषितमास्वनिते निधाय" शब्द लिखे हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ये किसी सुभाषितका निर्देश कर रहे हैं; परन्तु उसका पाठ उन्होंने परिवर्तित किया है। सिद्धिविनिश्चय टीकामें यह श्लोक परिवर्तित पाठके साथ यशस्तिलक चम्पूसे आया है; क्योंकि प्रस्तुत ग्रन्थमें यह 'तदुक्तम्' करके दिया गया है जब कि यशस्तिलकमें वह परिवर्तित होकर मूलका अंग बन गया है। सोमदेवने गुणभद्रके आत्मानुशासनसे **'परिणाममेव कारणमाहुः'** (४४) श्लोक भी यश० उ० (पृ० ३३६) में उद्धृत किया है। इसमें भी **'प्राज्ञाः'** के स्थानमें **'कुशलाः'** पाठ परिवर्तित है। इस तरह ई० ९५९ में बनाये गये यशस्तिलक चम्पूके परिवर्तित श्लोकका उद्धरण अनन्तवीर्यके समयकी पूर्वावधि ई० ९६० निश्चित कर देता है, और उत्तरावधि वादिराजके पार्श्वनाथ चरितमें अनन्तवीर्यका स्मरण किया जाना तथा हुम्मचके शिलालेखमें इन्हें वादिराजके दादा गुरु श्रीपालका लघु सधर्मा लिखा जाना है। वादिराजने पार्श्वनाथ चरित शक ९४७ (ई० १०२५) में बनाया था, अतः उनके दादा गुरु श्रीपाल यदि ५० वर्ष पहिले हों तो वे ई० ९७५ के ठहरते हैं।

यदि इस श्लोकका पाठपरिवर्तन हम सोमदेवसूरि द्वारा न मानकर किसी 'अन्य आचार्य' द्वारा भी मानें और उसीका यशस्तिलक और प्रस्तुतग्रन्थमें उद्धरण मानें तो भी वह 'अन्य आचार्य' गुणभद्रके बादका

---

(१) देखो जैन सा० इ० पृ० १४१।

(२) जैनसा० इ० पृ० १७९।

ही होगा। गुणभद्रने अपना उत्तरपुराण शक सं० ८२० ई० ८९८ में समाप्त किया था और उनके शिष्य लोकसेनने तभी उसकी पूजा कराई थी।[1] इस समय लोकसेन विदितसकलशास्त्र थे। प्रभाचन्द्रकृत आत्मानुशासन तिलकके उल्लेखानुसार गुणभद्राचार्यने लोकसेनको विषयव्यामुग्धबुद्धि देख उनके प्रतिबोधनार्थ आत्मानुशासन ग्रन्थ बनाया था[2]। तो इसकी रचना सन् ८८० के आसपास कभी हुई होगी; क्योंकि लोकसेन गुणभद्रके प्रिय शिष्योंमें थे। प्रभाचन्द्रका **'बृहद्धर्मभ्रातुः'**–'महान् धर्मभाई' विशेषण गुणभद्रका अपने शिष्यके प्रति रहनेवाले अतिशय स्नेह और आदरका सूचक है। अतः ई० ८८० के आसपास बने हुए आत्मानुशासनके श्लोकका पाठ परिवर्तन ई० ८८१ से ९५० के बीच कभी हुआ है। इससे भी अनन्तवीर्यकी तिथिके सम्बन्धमें जो निष्कर्ष निकाला गया है, उसमें कोई अन्तर नहीं आता। वे ई० १०वीं सदीके विद्वान् ही सिद्ध होते हैं।

उपर्युक्त विवेचनके आधारसे हम अनन्तवीर्यका समय निम्नलिखित युक्तियोंसे ई० ९५० से ९९० तक रख सकते हैं–

१. अकलङ्कदेवका समय ई० ७२० से ७८० सिद्ध किया जा चुका है। अतः उनके टीकाकार रविभद्रशिष्य अनन्तवीर्यका समय ई० ८वीं सदीके बाद होना चाहिए।

२. विद्यानन्द(ई० ८४०)का अवतरण लेनेवाले तथा उनके मतका उल्लेख करनेवाले अनन्तवीर्यका समय ई० ८४० के बाद होना चाहिए।

३. विद्यानन्दके उत्तरवर्ती अनन्तकीर्तिके स्वतःप्रामाण्यभङ्गका उल्लेख करनेवाले अनन्तवीर्यका समय ई० ९वींका उत्तरार्ध या १०वींका पूर्वभाग होना चाहिए।

४. आचार्य गुणभद्रके आत्मानुशासनके श्लोकके सोमदेवसूरिकृत परिवर्तित रूपको उद्धृत करनेवाले अनन्तवीर्यका समय सोमदेवके बाद अर्थात् ई० ९६० के आसपास होना चाहिए।

५. हुम्मच[3]के शिलालेखमें अनन्तवीर्यको वादिराजके दादागुरु श्रीपाल त्रैविद्यका सधर्मा लिखा है। वादिराज (ई० १०२५) से यदि उनके दादागुरु ५० वर्ष पहिले मान लिये जायँ तो अनन्तवीर्यकी स्थिति ई० ९७५ में आती है।

इन हेतुओंसे अनन्तवीर्यकी समयावधि ई० ९५० से ९९० तक निश्चित होती है।

इस समयका समर्थन शान्तिसूरि (ई० ९९३-१०४७) और वादिराज(ई० १०२५) के द्वारा किये गये अनन्तवीर्यके उल्लेखोंसे हो जाता है और प्रभाचन्द्र इनकी उक्तियों को सुन सकते हैं।

विप्रतिपत्तियोंकी आलोचना–

डॉ० ए० एन० उपाध्येने[4] अनन्तवीर्यके सम्बन्धमें स्व० डॉ० पाठकके मतकी आलोचना करते हुए डॉ० पाठकका मत इस प्रकार उपस्थित किया है[5]–

---

(१) श्रीमान् प्रेमीजी शक ८२० को पूजाका काल मानते हैं और यह सूचित करते हैं कि उत्तरपुराणकी समाप्तिका काल लिखा ही नहीं गया (जैन सा० इ० पृ० १४१) पर इससे निष्कर्षमें कोई अन्तर नहीं आता। डॉ० हीरालालजी और डॉ० उपाध्ये शक ८२० को ग्रन्थ समाप्ति और पूजा दोनोंका काल मानते हैं (उत्तरपुराण प्रस्ता० पृ० ४) जो उचित है। क्योंकि ग्रन्थ समाप्त होते ही उसकी पूजा की गई होगी।

(२) *"बृहद्धर्मभ्रातुः लोकसेनस्य विषयव्यामुग्धबुद्धेः सम्बोधनव्याजेन सर्वसत्त्वोपकारकं सन्मार्गमुपदर्शयितुकामो गुणभद्रदेवः'...."* ।–न्याय कुमु० द्वि० प्रस्ता० पृ० ५१

(३) पृ० ७६।

(४) एनल्स भा० ओ० रि० इ० पूना भाग १२, २. पृ० १६१–१७०। अनुवाद 'जैनदर्शन' वर्ष ७ अंक ९।

(५) वही भाग ११, ४. पृ० ३७३। (६) जैनदर्शन' वर्ष ७ अंक ९।

"धर्मकीर्ति और भामहके सम्बन्धमें लिखे गये अपने लेखमें डॉक्टर के० बी० पाठकने माणिक्यनन्दिके परीक्षामुखके टीकाकार अनन्तवीर्यका उल्लेख किया है और बतलाया है कि अकलङ्कदेवके न्यायविनिश्चयके ऊपर भी उन्होंने एक टीका बनाई है। अन्तमें डॉ० पाठकने नतीजा निकाला है कि निम्नलिखित कारणोंसे अनन्तवीर्य ईसाकी १० वीं शताब्दीके अन्तमें हुए हैं–

१. अपने पार्श्वनाथ चरितमें वादिराजने उनका उल्लेख किया है। यह चरित शकस० ९४७ (ई० १०२५) में समाप्त हुआ था।

२. महापुराणमें मल्लिषेणने उनका स्मरण किया है। इसका रचनाकाल शकसं ९६९ (ई० १०४७) है।

३. शकसं० ९९९ (ई० १०७७) के नागर शिलालेखमें उनका उल्लेख है।[1] विद्वान् लेखकके साथ उचित मतभेद रखते हुए हम यह कहनेके लिए बाध्य हैं कि उनके कथनमें थोथा अयथार्थवाद है, उन्होंने सत्य बातोंको गोरखधन्देमें डाल दिया है और समयके सम्बन्धमें उनका नतीजा तर्कशून्यताका ताजा उदाहरण है।"

इसकी आलोचना करके डॉ० उपाध्येने निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले हैं–[2]

१. अनन्तवीर्यकी कोई टीका न्यायविनिश्चय पर नहीं है।

२. अकलंकके टीकाकार अनन्तवीर्य प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्यसे भिन्न है।

३. अकलंकके सिद्धिवि० के टीकाकार रविभद्र शिष्य अनन्तवीर्यका समय ईसाकी ८ वीं सदीका पूर्वार्ध है।

डॉ० उपाध्येका यह शंका प्रकट करना सही है कि न्यायविनिश्चय पर अनन्तवीर्यकी टीकाकी कोई प्रति उपलब्ध नहीं है और न कहीं उसका उल्लेख ही है। रविभद्रशिष्य अनन्तवीर्य प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्यसे निश्चयतः भिन्न हैं यह उन्होंने अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है। परन्तु उन्होंने रविभद्र शिष्य अनन्तवीर्यका समय जो ई० ८ वीं सदीका पूर्वभाग अनुमानित किया है वह प्राप्त प्रमाणोंके प्रकाशमें ठीक नहीं जँचता। जैसा कि पहिले सिद्ध किया जा चुका है[3] कि–अकलंकदेव ई० ७२०-७८० यानी ई० ८ वीं सदीके उत्तरार्धके विद्वान् हैं तो उनके टीकाकारका ई० ८ वीं के पूर्वार्धमें होना संभव नहीं है।

रविभद्रशिष्य अनन्तवीर्यका समय सप्रमाण ई० ९५० से ९९० तक सिद्ध किया जा चुका है[4], जो कि डॉ० पाठकके द्वारा निकाले गये निष्कर्षके अनुसार ही है। उनका ई० ८वींके पूर्वार्धमें होना कथमपि संभव नहीं है। मैं जिन वृद्ध अनन्तवीर्यका उल्लेख कर आया हूँ[5] उनके समयके सम्बन्धमें अभी इतना ही कहा जा सकता है कि वे ९ वीं सदी या १० वींके पूर्वार्धमें कभी हुए हैं। किन्तु रविभद्रशिष्य अनन्तवीर्य १० वीं सदीके अन्तिमभागसे पहिले नहीं हो सकते। प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्य ई० की ११ वीं सदीके विद्वान् हैं यह भी निश्चित है[6]।

डॉ० उपाध्येने रविभद्रशिष्य अनन्तवीर्यके समयको ई० ८ वीं सदीके निर्णय करनेमें मुख्य प्रमाण आदिपुराणकार जिनसेन (ई० ८३८) के द्वारा चन्द्रोदयकार प्रभाचन्द्रका स्मरण किया जाना और प्रभाचन्द्र के द्वारा न्यायकुमुदचन्द्रमें अनन्तवीर्यका अतिसन्मानसे उल्लिखित होना उपस्थित किया है। यहाँ डॉ० उपाध्ये भी दो ग्रन्थकारों और दो ग्रन्थोंके सदृश नामके कारण भ्रममें पड़ गये हैं।

न्यायकुमुदचन्द्र प्रथम भागकी प्रस्तावना[7]में श्री पं० कैलाशचन्द्रजीने यह सप्रमाण सिद्ध किया है कि जिनसेन द्वारा स्मृत प्रभाचन्द्र और चन्द्रोदय, न्यायकुमुदचन्द्र और उसके कर्ता धारानिवासी प्रभाचन्द्रसे जुदे हैं।[8] न्यायकुमुचन्द्रके कर्ता प्रभाचन्द्रका समय सप्रमाण न्यायकुमुदचन्द्र द्वितीयभागकी प्रस्तावनामें

(१) 'जैनदर्शन' वर्ष ४ अंक ९। (२) पृ० ५५।
(३) पृ० ८७। (४) पृ० ७७। (५) पृ० ८०। (६) पृ० ११७।
(७) इस निष्कर्षसे सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ विद्वान् पं० नाथूरामजी प्रेमी भी सहमत हैं। देखो–न्यायकुमुदचन्द्र द्वितीयभागका प्रकाशकीय वक्तव्य।

ई० ९८०-१०६५ सिद्ध किया जाचुका है।[1] अतः वह मूलप्रमाण रविभद्रशिष्य अनन्तवीर्यकी समयावधि बाँधनेमें असमर्थ है।

डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण[2]ने अनन्तवीर्यकी न्यायविनिश्चयवृत्तिका उल्लेख करके प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्यने जिस शान्तिषेणके लिये प्रमेयरत्नमाला लिखी थी, उसका सम्बन्ध शान्तिसूरिसे बैठाया है। यद्यपि उनकी इन दोनों भ्रान्त धारणाओंकी आलोचना डॉ० उपाध्येने भलीभाँति की है[3] किन्तु डॉ० विद्याभूषणने प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्यका समय जो ई० ११ वी सदी सूचित किया है, उसका समर्थन अन्य प्रमाणोंसे हो जाता है।[4]

इस तरह विप्रतिपत्तियोंका निराकरण होकर अनन्तवीर्यका समय ई० ९५०-९९० सिद्ध होता है।

*

अनन्तवीर्यके ग्रन्थ—

अनन्तवीर्य आचार्यके प्रस्तुत सिद्धिविनिश्चय टीकाके सिवाय जिस एक और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थका पता चलता है वह है **प्रमाणसंग्रहभाष्य या प्रमाणसंग्रहालङ्कार**। वे प्रस्तुतटीकामें जिस विषयकी विस्तृत चरचा नहीं करना चाहते या उसके विशेष समर्थनके लिये किसी ग्रन्थके देखनेकी ओर इशारा करना चाहते हैं वहाँ वे प्रमाण संग्रहभाष्य या प्रमाणसंग्रहालंकारका निर्देश कर देते हैं।[5] **'चर्चितम्' 'व्याख्यातः' 'उक्तम्'** आदि भूतकालिक पदोंसे सूचित होता है कि प्रमाणसंग्रहालङ्कार या प्रमाणसंग्रहभाष्यकी रचना प्रस्तुत टीकासे पहिले हो चुकी है। अकलङ्कदेवका प्रमाणसंग्रहग्रन्थ 'अकलङ्क ग्रन्थत्रय' में मूल प्रकाशित हो चुका है। वह इतना दुरूह और गंभीर है कि उसका यथार्थ रहस्य जानना अत्यन्त कठिन हो रहा है। स्याद्वादरत्नाकर और सर्वदर्शनसंग्रहमें अनन्तवीर्यके नामसे जो वाक्य और श्लोक उद्धृत मिलते हैं वे संभवतः प्रमाणसंग्रहभाष्यके ही हों।

इस तरह आ० अनन्तवीर्य एक श्रद्धालु तार्किक बहुश्रुत विद्वान् और यशस्वी टीकाकार थे। उनकी यह अनुपम कृति अकलङ्कवाङ्मयका आलोक बनकर आज भी अज्ञान तमस्तोमका भेदन कर रही है।

---

(१) न्यायकुमुदचन्द्र द्वि० भाग प्रस्तावना पृ० ४८-५८।

(२) हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लॉजिक पृ० १९८।

(३) 'जैनदर्शन' वर्ष ४ अंक ९। (४) देखो पृ० ८०।

(५) "केवलमिन्द्रियमवशिष्यते। तदपि न प्रमाणं विचेतनत्वात् घटादिवदिति चर्चितं प्रमाणसंग्रहभाष्ये"—सिद्धिवि० टीका पृ० ८।

"शेषमत्र प्रमाणसंग्रहभाष्यात् प्रत्येयम्"—वही पृ० १३०।

"महेश्वरस्य सकलोपकरणादिज्ञानं प्रमाणसंग्रहभाष्ये निरस्तम्"—वही पृ० ४८३।

"दोषो रागादिः व्याख्यातः प्रमाणसंग्रहभाष्ये"—वही पृ० ५४१।

"एतदुक्तं भवति—यथा दृश्यप्राप्ययोर्भेदः तथा दृश्यस्य दर्शनस्य च प्रत्यक्षयत्वं भेदाच्च कस्यचिद् दर्शनमिष्टुक्तं प्रमाणसंग्रहालङ्कारे।"—वही पृ० १०।

३ ग्रन्थ

[ग्रन्थ स्वरूप]

सिद्धिविनिश्चयकी अकलङ्क-कर्तृकता–

टीकाकार अनन्तवीर्यने प्रथम मङ्गलश्लोकमें जिनेन्द्रका अकलङ्क-विशेषण दिया है और उसके अनन्तर सिद्धिविनिश्चयकी टीका करनेकी प्रतीज्ञा की है। इसके आगेके श्लोकोंमें भी अकलङ्कके वचनोंकी ही प्रशंसा की गई है। विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक[1]में सिद्धिवि०का 'शब्दः पुद्गलपर्यायः'श्लोक [2]अकलङ्कके नामके साथ उद्धृत किया है। वादिराज सूरिने न्यायविनिश्चयविवरण[3]में 'देव' (अकलङ्कदेव)के साथ सिद्धिविनिश्चयका उल्लेख इस प्रकार किया है–

"एतदेव स्वयं देवैरुक्तं सिद्धिविनिश्चये। प्रत्यासत्त्या ययैक्यं स्यात्…"

[4]स्याद्वादरत्नाकरमें वादिदेवसूरि तो स्पष्टतः अकलङ्क और सिद्धिविनिश्चय दोनोंका उल्लेख करते हैं–**"यदाह अकलङ्कः सिद्धिविनिश्चये वर्णसमुदायः पदमिति…"**

इन उल्लेखोंसे निश्चित हो जाता है कि सिद्धिविनिश्चय मूलश्लोक तथा उसकी वृत्ति दोनों अकलङ्ककर्तृक हैं; क्योंकि गद्य और पद्य दोनों अकलङ्कदेवके नामके साथ उद्धृत हैं।

नामका इतिहास–

जैन परम्परामें ग्रन्थका विनिश्चयान्त नाम रखनेकी परम्परा बहुत पुरानी है। तिलोयपण्णत्ति (ई० ५ वीं)में लोकविनिश्चय ग्रन्थका उल्लेख बार-बार आता है।[5] इस परसे संभावनाकी जाती है[6] कि अकलङ्कदेवने अपने न्यायविनिश्चय और सिद्धिविनिश्चय ग्रन्थोंका नामकरण इस परसे किया होगा। यह सही है। साथ ही, यापनीयाचार्य आर्य शिवस्वामीके सिद्धिविनिश्चयका उल्लेख किया जा चुका है[7], यह भी निश्चयतः अकलङ्कसे पहिले का है। इस तरह अपनी परम्पराओंके रहते हुए भी जिसने अकलङ्कको यह नाम रखने और ग्रन्थ बनानेकी विशेष प्रेरणा दी होगी वह है धर्मकीर्तिका प्रमाणविनिश्चय ग्रन्थ। धर्मकीर्ति ऐसे युगनिर्माता बौद्ध आचार्य थे कि इनके ग्रन्थोंके प्रकाश में आते ही लोग इनके पुराने आचार्योंको भूलने लगे थे और अकलङ्कने इन्हींके विशेष समालोचन तथा इन्हींके नैरात्म्यवादसे रक्षा करनेके निमित्त 'अकलङ्कन्याय' सम्बन्धी ग्रन्थोंकी रचना की ओर प्रवृत्ति की थी अतः तात्कालिक आवश्यकताके विचारसे लगता है कि विनिश्चयान्त नाम रखनेमें धर्मकीर्तिका प्रमाणविनिश्चय विशेष कारण रहा हो।

विषय विभाजन–

सिद्धिविनिश्चयमें १२ प्रस्ताव हैं। इनमें प्रमाण नय और निक्षेप का विवेचन है।

१. **प्रत्यक्षसिद्धिमें**–प्रमाण सामान्यका लक्षण, प्रमाणका फल, बाह्यार्थकी सिद्धि, व्यवसायात्मक विकल्पकी प्रमाणता और विशदता, चित्रज्ञानकी तरह विचित्र बाह्य पदार्थोंकी सिद्धि, निर्विकल्पक प्रत्यक्षका

(१) पृ० ४२४। (२) ९।२। (३) प्र० भाग पृ० १६८।
(४) पृ० ६४१।
(५) तिलोयप० ४।१८६६, १९७५, १९८२, २०२४; ५।६९, १२९, १६७; ७।२०३; ८।२७०, ३८६; ९।९ आदि।
(६) तिलोयप० द्वि० प्रस्ता० पृ० १२। (७) पृ० ५३।

निरास, स्वसंवेदनप्रत्यक्षके निर्विकल्पकत्वका खण्डन; अविसंवादकी बहुलतासे प्रामाण्यव्यवस्था तथा मति स्मृति आदि शब्दयोजनाके बिना भी होते हैं इत्यादिका निरूपण है।

२. **सविकल्पसिद्धि में**–अवग्रहादिज्ञानोंका वर्णन, मानस प्रत्यक्षकी आलोचना, निर्विकल्पकसे सविकल्पकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, अवग्रहादिमें पूर्व पूर्वकी प्रमाणता और उत्तरोत्तरमें फलरूपता और बौद्धमतमें सन्तानान्तरकी प्रतिपत्ति संभव नहीं, आदि विषयोंका विवेचन है।

३. **प्रमाणान्तरसिद्धि में**–स्मरणकी प्रमाणता, प्रत्यभिज्ञानका प्रामाण्य, उपमानका सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमें अन्तर्भाव, तर्ककी प्रमाणताका समर्थन, क्षणिक पक्षमें अर्थक्रियाका अभाव, उत्पादव्ययस्थित्यात्मक तत्त्वका समर्थन, विनाश भावान्तरोत्पाद रूप है, अनाद्यनन्त द्रव्यकी सत्ता तथा द्रव्य और पर्यायका भेदाभेद आदिका विचार है।

४. **जीवसिद्धि में**–ज्ञाताको ज्ञानावरणके उदयसे मिथ्याज्ञान, क्षणिकचित्तमें कार्यकारणभाव सन्तान आदिकी अनुपपत्ति, जीव और कर्म चेतन और अचेतन होकर भी बन्धके प्रति एक हैं, कर्मास्रवके कारण, प्रज्ञासत् और प्रज्ञप्तिसत्के भेदसे दो प्रकारका नास्तिक्य, तत्त्वोपप्लववादकी मीमांसा, भूतचैतन्यवाद निराकरण, नैयायिकाभिमत आत्मस्वरूपका निराकरण, सांख्याभिमत तत्त्वसमीक्षा, अमूर्तचेतनको भी कर्मबन्ध, और ज्ञानादिगुणोंका जीवसे कथाञ्चिद् भेद आदि विषयोंकी चरचा है।

५. **जल्पसिद्धि में**–जल्पका लक्षण, उसकी चतुरङ्गता, जल्पका फल मार्गप्रभावना, शब्दकी अर्थवाचकता, शब्दमात्र विवक्षाके सूचक नहीं, असाधनाङ्गवचनादि निग्रहस्थानोंकी आलोचना और जय-पराजय-व्यवस्था, आदि का निरूपण है।

६. **हेतुलक्षण सिद्धि में**–हेतुका अन्यथानुपपत्ति लक्षण, तादात्म्य तदुत्पत्तिसे ही अविनाभावकी व्याप्ति नहीं, हेतुके भेद, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर हेतुका समर्थन, सत्त्वादि हेतुओंका अनेकान्तमें ही संभवत्व, सहोपलम्भनियमसे ज्ञानाद्वैतकी सिद्धि संभव नहीं और अदृश्यानुपलब्धिसे भी अभाव की सिद्धि आदि विषयों का निरूपण है।

७. **शास्त्रसिद्धि में**–श्रुतका श्रेयोमार्गसाधकत्व, शब्दका अर्थवाचकत्व, स्वापादिदशामें भी जीवकी चेतनता, भेदैकान्तमें कारक ज्ञापकस्थितिका अभाव, कर्मोदयसे जीवमें भ्रान्तिकी उत्पत्ति, ईश्वरवादका खण्डन, नैयायिकके मोक्षस्वरूपकी आलोचना, पुरुष में ज्ञानातिशयकी संभावना, स्याद्वादश्रुतकी ही अविसंवादिता, नित्य वेदमें अर्थप्रतिपादकत्वका अभाव और वेदकी अपौरुषेयताका निराकरण आदि विषयोंकी चरचा है।

८. **सर्वज्ञसिद्धि में**–अत्यन्तपरोक्षार्थका भी ज्ञान संभव है, वक्तृत्वादि हेतु सर्वज्ञत्वके बाधक नहीं, सुनिर्णीतासंभवद्बाधकत्व हेतुसे सर्वज्ञताकी सिद्धि, अतिशयवत्त्व हेतुसे सर्वज्ञताका साधन, अतीन्द्रियज्ञानकी संभावना, सांख्यमतमें सर्वज्ञताका असंभव, और ज्ञानावरणके अभावमें सर्वज्ञत्व इत्यादि विषयोंका निरूपण है।

९. **शब्दसिद्धि में**–शब्दकी पुद्गलपर्यायता, शब्दमें छाया और आतपकी तरह पुद्गलस्कन्धरूपता, शब्दका अर्थसे वाच्यवाचक सम्बन्ध, शब्दकी स्वलक्षण-अर्थविषयता, सर्वमृषात्वकी सिद्धिके लिये भी शब्दका अर्थवाचकत्व आवश्यक, यदि स्वलक्षण अवाच्य है तो उसमें अदृश्यत्वका प्रसङ्ग होगा, शब्दोंको वक्तृअभिप्रायका वाचक मानने पर सत्यानृतव्यवस्था न हो सकेगी, एवकारादि प्रयोग विचार और स्फोटवाद निरास आदिका वर्णन है।

१०. **अर्थनयसिद्धि में**–ज्ञाताका अभिप्राय नय है, नय प्रमाणात्मक भी है, दो मूलनय, निरपेक्ष नय मिथ्या, नैगम नय, सांख्य नैगमाभास, संग्रहनय, संग्रहाभास, व्यवहारनय और ऋजुसूत्रनय आदिका विवेचन है।

११. **शब्दनयसिद्धि में**–शब्दस्वरूपनिरूपण, स्फोटवादका खण्डन, शब्दनित्यत्वका निरास, शब्दनय, समभिरूढनय और एवंभूतनय आदिका वर्णन है।

१२. **निक्षेपसिद्धि**में–निक्षेपका लक्षण, नाम स्थापना आदि भेद, भाव पर्यायार्थिकका तथा शेष द्रव्यार्थिकके निक्षेप तथा अनेकान्तमें ही निक्षेपकी संभावना आदि विषयोंका विवेचन है।

यह मूल सिद्धिविनिश्चयका विषय परिचय है। सिद्धिविनिश्चय टीकामें इन्हींका विस्तार तथा आनुषङ्गिक विषयोंका और भी निरूपण है।

रचना शैली–

यह पहिले लिखा जा चुका है कि अकलङ्क आगमिक-दार्शनिक होनेके बाद तार्किक-दार्शनिक बने थे। उनके ग्रन्थोंके वर्णनमें उनकी शैलीका एक आभास तो करा दिया गया है। यहाँ सिद्धिविनिश्चयकी शैलीके सम्बन्धमें ही कुछ विशेष वक्तव्य है। अकलङ्कके तार्किक प्रकरण अतिसंक्षिप्त गूढ़ार्थ जटिल और बहुर्थ हैं। सिद्धिविनिश्चयके सम्बन्धमें तो अनन्तवीर्य प्रकारान्तरसे यह कहते ही हैं कि अनन्त सामर्थ्य रखकर भी अकलङ्कके वचनोंका मर्म समझमें नहीं आता वह बड़े आश्चर्यकी बात है[1]। उन्होंने इसे 'सूक्तसद्रत्नाकर' कहा है[2]। अकलङ्क वचोम्भोधिकी गहराई मापनेमें प्रभाचन्द्र और वादिराज जैसे प्रकाण्ड पण्डित भी अपनेको असमर्थ बताते हैं।

सिद्धिविनिश्चयमें उनके प्रमुख लक्ष्य हैं धर्मकीर्ति और उनके टीकाकार। क्योंकि ग्रन्थका एक तिहाई भाग इन्हींकी आलोचनासे पूर्ण है, फिर चार्वाक न्यायवैशेषिक मीमांसक सांख्ययोग आदि सभी दर्शन उनकी आलोचनाके क्षेत्रमें हैं।

उनकी भाषा व्यंग्योंसे पूर्ण है और वह 'अनात्मज्ञता, अन्तर्गडु, अन्धयष्टिकल्प, अमलालीढ, अयोनिशो मनस्कार, अश्लीलमेवाकुलम्, आन्ध्यविजृम्भण, कुशकाशावलम्बन, कोशपान, तदद्वेषी तत्कारी, धार्ष्ट्य, प्रशस्तपण्डितवेदनीय, मस्तके शृङ्गम्, राजपथीकृत, शिलाप्लव और शौद्धोदनिशिष्यक आदि प्रयोगोंसे तथा म्लेच्छादि व्यवहार और मूषिकालर्क विषविकार आदि उदाहरणोंसे पर्याप्त समृद्ध और ओजःपूर्ण बन गई है।

अकलङ्कका षड्दर्शनोंका गम्भीर अध्ययन तथा बौद्ध-शास्त्रोंका आत्मसात्करण भी उनके प्रकरणोंकी जटिलताको बढ़ा देते हैं। वे चाहते हैं कि कमसे कम शब्दोंमें अधिक-से-अधिक सूक्ष्म और बहु पदार्थ ही नहीं बहुविध पदार्थ लिखा जाय। उनकी यह सूत्रशैली बड़े-बड़े प्रकाण्डपण्डितोंको अपनी बुद्धिका माप दण्ड हो रही है।

अकलङ्कदेव धर्मकीर्तिके ग्रन्थोंको लक्ष्य कर अनेकों पूर्वपक्ष उनके प्रमाणवार्तिक आदि ग्रन्थोंसे शब्दशः लेते हैं साथ ही लगे हाथ वहीं सांख्य और न्यायवैशेषिककी आलोचना करते जाते हैं। जहाँ भी अवसर आया सौत्रान्तिक और विज्ञान-शून्यवादियोंपर पूरा प्रहार किया है। कुमारिलकी सर्वज्ञताविरोधिनी युक्तियाँ उनके मीमांसाश्लोकवार्तिकको सामने रखकर आलोचित हुई हैं।

टीकाकी शैली–

अनन्तवीर्यने टीकामें मूलके अभिप्रायको विशद और पल्लवित करनेके हेतु अपनी सारी शक्ति लगाकर अपना विशिष्ट स्थान बनाया है। आ० प्रभाचन्द्र अकलङ्कदेवकी सरणिको प्राप्त करनेके लिए इन्हींकी युक्तियों और उक्तियोंका अभ्यास करते हैं तथा उनका विवेचन करनेकी बात बड़ी श्रद्धासे लिखते हैं कि–

"त्रैलोक्योदरवर्तिवस्तुविषयज्ञानप्रभोदयः,
दुष्प्रापोऽप्यकलङ्कवेधसरणिः प्राप्तोऽत्र पुण्योदयात्।

---

(१) पृ० १।

(२) "अकलङ्कवचोऽम्भोधेः सूक्तरत्नानि यद्यपि।
गृह्यन्ते बहुभिः स्वैरं सद्रत्नाकर एव सः॥"–पृ० १।

स्वभ्यस्तश्च विवेचितश्च सततं सोऽनन्तवीर्योक्तितः,
भूयान्मे नयनीतिदत्तमनसः तद्बोधसिद्धिप्रदः ॥[1]"

अर्थात् अकलङ्कदेवकी समस्त प्रमेयोंसे समृद्ध सरणि बड़े पुण्योदयसे प्राप्त हुई है, उसका मैंने अनन्तवीर्यकी उक्तियोंसे सैकड़ों बार अभ्यास किया और विवेचन किया आदि।

अकलङ्कदेवके गूढ़ अर्थको ढूँढ़नेके लिये आ० वादिराज[2] तो पद-पदपर अनन्तवीर्यके वचनदीपोंके प्रकाशकी बाट जोहते हैं और कहते हैं कि उनके वचनदीप ही उस दिशामें सतत प्रकाश देते हैं। एक तो तर्कका क्षेत्र वैसे ही कर्कश और फिर अकलङ्कके दुरूह जटिल ग्रन्थकी टीका करना। इन कठिनाइयोंके रहते हुए भी अनन्तवीर्यने अपनी टीकाको पर्याप्त सरल करनेका प्रयास किया है। १८००० श्लोक प्रमाण विस्तृत टीका रचनेपर भी वे उसके पार पानेका दावा नहीं करते।

वे अकलङ्कके मनोगत भावोंको स्पष्ट करनेके लिये उनके सूत्रको पकड़कर पूर्वपक्षीय ग्रन्थोंके सैकड़ों अवतरण देकर विषय को खूब विशद और बुद्धिगम्य बनाते हैं। यह उनका सदा ध्यान रहता है कि खण्डनके प्रसङ्गमें कोई बात 'अमूल'–बिना प्रमाण की न लिखी जाय और इसीलिये टीकामें ग्रन्थान्तरीय अवतरणोंकी भरमार है। वेद उपनिषद्से लेकर सभी दार्शनिक ग्रन्थोंके चुने हुए अवतरण पाठककी बुद्धिको पर्याप्त विश्राम देते हैं, उसे ऊबने नहीं देते। फिर लोकोक्तियाँ, न्याय, विशेष उदाहरण और हास-परिहाससे परिपूर्ण व्यङ्ग्योक्तियाँ विषयकी जटिलताको खूब सुबोध और सरल कर देती हैं।

आलोचना और खण्डन करनेमें हास्य और व्यंग्यका अवसर तो पूरा-पूरा रहता ही है और यदि उस समय कोई सटीक बैठनेवाली लोकोक्ति कही जाय तो जिसका खण्डन हो रहा है वह भी मन मसोसकर भी कहनेवालेकी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता। ऐसे स्थल अनन्तवीर्यकी शैलीमें खूब हैं। उनकी लोकोक्तियाँ न्याय और विशिष्ट मुहावरोंके कुछ नमूने देखिए—

"अधिकार्यिन्याः पतितं तदपि च यत्पिञ्जने लग्नम्
–आधी छोड़ एकको धावे ऐसा डूबे पार न पावे
घोटकारूढोऽपि विस्मृतघोटको जातः
–काँखमें लड़का गाँवमें टेर
आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे
–पूँछे खेतकी कहे खलिहानकी
इतः सरः इतः पाशः
–इधर कुँआँ उधर खाई
यादृशो यक्षः तादृशो बलिः"
–जैसेको तैसा इत्यादि।[3]

अर्धवैशस न्याय, याचतिकमण्डन न्याय, काकाक्षगोलक न्याय, तीरादर्शिशकुनि न्याय, वीचीतरङ्ग न्याय आदि न्यायोंके प्रयोगसे विषय तो स्पष्ट हो ही जाता है साथ ही भाषाका चमत्कार पाठकको प्रमुदित कर देता है। इसी तरह–

"अर्के कटुकत्वदर्शनात् गुडेऽपि योजयति।
गण्डूपदभयात् अजगरमुखप्रवेशमनुसरति।
न चाण्डाल्या दर्शनमिच्छामि स्पर्शं त्विच्छामि।

---

(१) न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ६०५।
(२) "व्यअवत्यत्यलमनन्तवीर्यवाग्दीपवर्तिरहिर्यं पदे पदे"–न्यायवि० वि० प्र० पृ० १।
(३) शोधके लिये देखो परिशिष्ट १०।

भाण्डत्यागे दुग्धत्यागवत् ।
वन्ध्यासूनोर्विक्रमादिगुणसम्पद्वर्णनमुपक्रमति ।
विषोपयोगमृते शत्रौ न हि तद्व्यापादनाय स्वल्पचपेटादिकं युज्यते ।
स्ववधाय शूलतक्षणम् ।
स्वामेव वृत्तिं स्ववाचा विडम्बयति ।
तत्कारी तद्द्वेषी चेति उपेक्षामर्हति ।
को हि स्वं कौपीनं विवृणुयात् ।
खात् पतिता रत्नवृष्टिः ।
न हिमालयो डाकिन्या भक्ष्यते ।"

इत्यादि व्यङ्ग्योक्तियों और विशिष्ट मुहावरोंका प्रयोग टीकाको सर्वग्राह्य बनानेके प्रयत्नका ही फल है। 'मालवक अलसीके तैलके प्रयोगसे मलबन्ध होता है' आदि प्रचलित दवाइयोंका निर्देश भी उदाहरणके रूपमें यत्र-तत्र किया गया है।

'दूषण लगता है' अर्थमें 'दूषणं लगति' प्रयोग उनकी भाषाकी सरलताका अच्छा नमूना है।

अनन्तवीर्य बीच-बीचमें प्रकरणगत अर्थको स्वरचित श्लोकोंमें भी व्यक्त करते हैं। इससे कहीं-कहीं मणिप्रवालकी तरह गद्य-पद्यमय चम्पूका आनन्द आ जाता है। कठिनाई टीकाकारकी यह है कि उसे मूलका व्याख्यान करना है, अतः मूलानुगामित्वके कारण उसका प्रवाह उसके हाथमें नहीं है। फिर जहाँ मूल ही जटिल और विविध प्रमेयबहुल हो वहाँ प्रकरणबद्धता लाना दुष्कर होता है। यही कारण है कि सिद्धि-विनिश्चय टीकामें न्यायकुमुदचन्द्रके प्रकरणबद्ध शास्त्रार्थोंका सौष्ठव दृष्टिगोचर नहीं हो पाता। फिर भी आ० अनन्तवीर्यने इस टीकाको अत्यन्त परिष्कृत और सर्वग्राह्य बनानेमें कुछ उठा नहीं रखा है।

इनका शब्दकोश बहुत बड़ा तथा अपूर्व था। यही कारण है कि दर्शन शास्त्रको इनसे अनेक नये शब्द मिले हैं। अनेक नये-नये उदाहरण भी इनकी टीका में आये हैं।[1]

इस तरह यह टीका अपनेमें परिपूर्ण और प्रमेयसमृद्ध है, तथा अकलङ्कवाङ्मयके लिये सचमुच प्रदीप है।

*

[आन्तरिक विषय परिचय]

सिद्धिविनिश्चयमें प्रमुख रूपसे जिन विषयोंका विवेचन है उनका किंचित् क्रम विकास और तात्त्विक निरूपणके लिये हम उनको १ प्रमाणमीमांसा २ प्रमेयमीमांसा ३ नयमीमांसा और ४ निक्षेप मीमांसा इन चार विभागोंमें बाँटकर वर्णन करेंगे।

१ प्रमाणमीमांसामें १ प्रत्यक्षसिद्धि २ सविकल्पसिद्धि ८ सर्वज्ञसिद्धि ३ प्रमाणान्तरसिद्धि और ६ हेतुलक्षणसिद्धि इन प्रस्तावोंमें प्रतिपादित प्रमाणसम्बन्धी विषयोंका सार होगा।

२ प्रमेयमीमांसामें—४ जीवसिद्धि और ९ शब्दसिद्धिमें प्रतिपादित प्रमेयसम्बन्धी सामान्य स्वरूपका वर्णन होगा।

३ नयमीमांसामें १० अर्थनयसिद्धि और ११ शब्दनयसिद्धिके विषयोंका प्रतिपादन होगा।

४ निक्षेप मीमांसामें १२ निक्षेपसिद्धि के विषयोंका सारांश दिया जयगा।

---

(१) देखो परिशिष्ट नं० ११।

१ प्रमाणमीमांसा

आत्मा और ज्ञान–

प्रमाण का विचार करने के पहिले प्रमाणभूत ज्ञान, उसके आधारभूत आत्मा और उनके परस्पर सम्बन्ध का विचार कर लेना आवश्यक है। भारतीय आस्तिक या आत्मवादी दर्शनोंमें आत्मा या चित्तकी जड़ पदार्थोंसे भिन्न सत्ता स्वीकार की गई है, साक्षात् या परम्परया ज्ञानको आत्माश्रित या चित्ताश्रित भी सभी आस्तिक दर्शनोंमें माना है। आस्तिक शब्दका प्रयोग यहाँ जड़ पदार्थोंसे आत्मा या चित्तकी पृथक् सत्ता मानने के अर्थ में किया जा रहा है।

वेदान्त दर्शनमें ब्रह्मको ही परमार्थ तत्त्व मानकर उसे चिद्रूप माना है। चैतन्य या चिति शक्ति ब्रह्मका निज रूप है। ज्ञान यानी ज्ञेयको जाननेवाला गुण ब्रह्मका निजरूप नहीं है। वह तो अन्तःकरण मनका धर्म है[1]। जब ब्रह्म अपने शुद्ध रूपमें रहता है तब उसमें ज्ञेयाकारपरिणति रूप ज्ञान का प्रतिभास नहीं रहता।

सांख्य[2] पुरुषको चैतन्य स्वरूप कहते हैं। ज्ञान पुरुषका धर्म नहीं है, किन्तु वह प्रकृतिका विकार है। जब तक पुरुषके साथ प्रकृतिका संसर्ग है तब तक पुरुष बुद्धिके द्वारा अध्यवसित अर्थका मात्र संचेतन करता है। जब पुरुष प्रकृतिसंसर्गका परित्याग कर मुक्त होता है तब उस स्वरूपैकप्रतिष्ठित पुरुषमें प्रकृतिका विकार ज्ञान नहीं रहता। जब तक उसका विकार महत्तत्त्व यानी बुद्धि या ज्ञान पुरुषके स्वच्छ चैतन्य रूपमें प्रतिफलित होते हैं तभी तक पुरुषको ज्ञेयका भान होता है। जब यह संसर्ग चरितार्थ हो जाता है तब केवल पुरुष शुद्ध चैतन्यमात्रमें प्रतिष्ठित हो जाता है[3]।

नैयायिक वैशेषिक आदि ज्ञानको पृथक् पदार्थ मानकर भी उसका आधार नित्य आत्माको मानते हैं। ज्ञान आत्माका अयुतसिद्ध गुण है। जब आत्मा मुक्त हो जाता है तब वह ज्ञानादि गुणों से शून्य आत्ममात्र रह जाता है[4]। उसमें आत्ममनःसंयोगजन्य ज्ञानादि गुणोंकी उत्पत्ति नहीं होती। संसारावस्थामें मनका संयोग है। अतः जितने आत्मप्रदेशोंमें मनका संयोग है उतने आत्मप्रदेशोंमें ज्ञानादि गुण उत्पन्न होते हैं।

बौद्ध विज्ञानधारा मानते हैं। उनका मत है कि अनादिकालसे कारणकार्यरूप विज्ञानधारा चली आती है। वही आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञानके क्रमसे ज्ञेयोंका प्रतिभास करती है। कोई स्थिर द्रव्य इस धाराका आधारभूत नहीं है। 'जब चित्तसन्तति निरास्रव अर्थात् अविद्या और तृष्णासे शून्य होती है तब वह शुद्ध और निर्मल हो जाती है' यह एक दार्शनिक[5] पक्ष चित्तनिर्वाणके विषयमें पाया जाता है, पर चित्तनिर्वाणको जब स्वयं बुद्धने अव्याकृत कोटिमें रखा था तब बहुत काल तक निर्वाणके विषयमें प्रदीपनिर्वाणका पक्ष ही मुख्य रूपसे प्रचलित रहा है। उनका कहना है[6] कि–जिस प्रकार तेलके जल जानेपर प्रदीप बुझ जाता है, हम नहीं बता सकते कि वह किस दिशा विदिशा आकाश या पाताल कहाँ गया उसी तरह निर्वृत चित्त न किसी दिशामें जाता है न विदिशामें न आकाशमें न भूमिमें, वह तो क्लेशके

---

(१) "अन्तःकरणतूपरयवच्छिन्नं चैतन्यं प्रमाणचैतन्यम्।"–वेदान्तप० पृ० १७।

(२) "चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्"–योगभा० १।९।

(३) "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्"–योगसू० १।३।

(४) "तदेवं नवानामात्मगुणानां निर्मूलोच्छेदोऽपवर्गः"–न्यायम० प्रमे० पृ० ७७।

(५) "मुक्तिर्निर्मलता धियः"–तत्त्वसं० पृ० १८४।

(६) "दिशं न काञ्चित् विदिशं न काञ्चित् नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्,
दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतः स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्।
दिशं न काञ्चित् विदिशं न काञ्चित् नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्,
क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥"–सौन्दरनन्द १६।२८,२९।

क्षयसे शान्त हो जाता है। इस तरह चित्तसन्ततिका उच्छेद निर्वाण है, यह पक्ष प्रचलित है। इससे स्पष्ट है कि बौद्ध परम्परामें ज्ञान जड़ पदार्थोंका धर्म नहीं है किन्तु वह चित्तप्रवाह रूप है।

जैन परम्पराने वस्तुमात्रको उत्पाद व्यय और ध्रौव्य रूपसे त्रयात्मक माना है, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ चाहे वह जड़ हो या चेतन प्रतिक्षण अपनी पूर्व पर्यायको छोड़ता है, नूतन पर्यायको धारण करता है और उनके अनादि अनन्त प्रवाहरूप ध्रौव्यको स्थिर रखता है। इस ध्रौव्यके कारण प्रतिक्षण परिवर्तित होते हुए भी द्रव्य इतना नहीं बदलता कि वह अपना तद्द्रव्यत्व ही समाप्त कर दे और न उपनिषद्वादियोंकी तरह कूटस्थ नित्य ही रहता है कि उसमें कोई परिवर्तन या परिणमन ही न हो। यह परिणामी आत्मा उपयोग स्वरूप है, चैतन्य स्वरूप है। यही उपयोग या चैतन्य जब ज्ञेयको जानता है अर्थात् ज्ञेयाकार होता है तब साकार-ज्ञान कहलाता है और जब स्वरूपका संचेतन करता है तब दर्शन कहलाता है। उपयोग या चैतन्य क्रमशः ज्ञान और दर्शनरूपसे परिणति करते हैं। तात्पर्य यह कि ज्ञान आत्माकी पर्याय है और ऐसी पर्याय जिसमें ज्ञेयका प्रतिभास होता है। इसे गुण भी कहते हैं; क्योंकि यही सामान्य ज्ञान अपनी घटज्ञान पटज्ञान आदि अवान्तर पर्यायोंके रूपमें परिणत होता है। इस ज्ञानका आत्मासे तादात्म्य सम्बन्ध है अर्थात् आत्मा ही ज्ञान है और ज्ञान ही आत्मा है। अन्तर इतना ही है कि आत्मा ज्ञान दर्शन सुख आदिका आधार है जब कि ज्ञान उसका एक गुण या अवस्थाविशेष है। एक चैतन्यकी दृष्टिसे ज्ञान एक पर्याय है पर अपनी अवान्तर पर्यायोंकी दृष्टिसे वही अन्वयी होने से गुण है।

ज्ञान ही प्रमाण है–

प्रमाण शब्दकी 'प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्' इस सर्वमान्य व्युत्पत्तिसे यही सूचित होता है कि जो प्रमाका साधकतम करण हो वह प्रमाण है। 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' यह व्युत्पत्तिमूलक लक्षण भी इसी अर्थको कहता है। विवाद तो यहाँ है कि प्रमाका करण क्या हो सकता है? न्यायभाष्य[1]में करणरूपसे सन्निकर्ष और ज्ञान दोनोंका स्पष्टतया निर्देश है। वैशेषिकपरम्परा[2]में क्रमशः सन्निकर्ष स्वरूपालोचन और ज्ञानको प्रमाण कहा है। सांख्य[3] इन्द्रियवृत्तिको करणके स्थानमें रखते हैं। प्रभाकर[4] अनुभूतिको प्रमाण कहते हैं। बौद्धपरम्परामें यद्यपि अविसंवादिज्ञानको प्रमाण माना[5] है फिर भी वे करणके स्थानमें सारूप्य और योग्यताको भी स्थान देते हैं।[6] सामान्यतया विचार यह प्रस्तुत है कि–ज्ञानको करण मानना या अचेतन इन्द्रिय और सन्निकर्षको भी।

जैनपरम्पराका स्पष्ट विचार है कि चूँकि प्रमा चेतन है और चेतनक्रियामें साधकतम करण कोई अचेतन नहीं हो सकता अतः अव्यवहित रूपसे प्रमाका जनक ज्ञान ही करण हो सकता है। इन्द्रियसन्निकर्ष इन्द्रियवृत्ति सारूप्य और योग्यता आदि ऐसे ज्ञानके जनक अवश्य होते हैं, जो ज्ञान प्रमाका साक्षात् साधकतम होता है। अतः ज्ञानसे व्यवहित होनेके कारण इन्द्रिय सन्निकर्ष आदि प्रमाण नहीं हो सकते। प्रमिति या प्रमा अज्ञाननिवृत्तिरूप होती है। इस अज्ञाननिवृत्तिमें अज्ञानका विरोधी ज्ञान ही करण हो सकता है; जैसे कि अन्धकारकी निवृत्तिमें अन्धकारका विरोधी प्रकाश ही मुख्य करण होता है। "इन्द्रिय सन्निकर्ष

(१) "यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः, यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्।"–न्यायभा० १।१।३। (२) प्रश० भा०, व्यो० पृ० ५५३।

(३) "प्रमाणं वृत्तिरेव च"–योगवा० पृ० ३०। सांख्यप्र० भा० १।८७।

(४) "अनुभूतिश्च प्रमाणम्।"–शाबरभा० बृह० १।१।५।

(५) "प्रमाणमविसंवादिज्ञानम्"–प्र० वा० २।१।

(६) "विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते।
स्वविदितिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा॥"–तत्त्वसं० श्लो० १३४४।

(७) "सन्निकर्षादेरज्ञानस्य प्रामाण्यमनुपपन्नमर्थान्तरवत्"
–कषा० स्वबृ० १।३। सिद्धिवि० बृ० १।३।

आदि स्वयं अचेतन हैं, अत एव अज्ञानरूप होनेके कारण प्रमितिमें साक्षात् करण नहीं हो सकते। यद्यपि कहीं-कहीं इन्द्रिय सन्निकर्ष आदि ज्ञानकी उत्पादक सामग्रीमें सम्मिलित हैं पर उनका सार्वत्रिक और सार्वकालिक अन्वय-व्यतिरेक न मिलनेके कारण उनकी कारणता अव्याप्त हो जाती है। सामान्यतया जो क्रिया जिस गुणकी पर्याय है उसमें वही साधकतम हो सकता है। चूँकि 'जानाति' क्रिया ज्ञानगुणकी पर्याय है अतः उसमें अव्यवहित कारण ज्ञान ही हो सकता है। प्रमाण चूँकि [1]हित प्राप्ति और अहित परिहारमें समर्थ होता है अतः वह ज्ञान ही हो सकता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ सिद्धिविनिश्चयमें इसी ज्ञानकी प्रमाणताका समर्थन करते हुए लिखा है[2] कि प्रतिपत्ता अर्थात् आत्माको प्रमिति क्रिया या स्वार्थविनिश्चयमें जिसकी अपेक्षा होती है वही प्रमाण है और वह साधकतम रूपसे अपेक्षणीय है ज्ञान।

ज्ञानका स्वसंवेदित्व–

मीमांसक ज्ञानको परोक्ष मानते हैं। उनका कहना है कि बुद्धि स्वयं परोक्ष है; उसके द्वारा पदार्थका ज्ञान होनेपर हम उसे अनुमानसे जानते हैं।[3] किन्तु जिस प्रकार देवदत्तकी बुद्धिसे यज्ञदत्तको पदार्थका बोध नहीं होता क्योंकि देवदत्तकी बुद्धिका यज्ञदत्तको प्रत्यक्ष नहीं होता उसके लिये वह परोक्ष है, उसी तरह यदि देवदत्तकी बुद्धि स्वयं देवदत्तको प्रत्यक्ष नहीं है तो ऐसी परोक्षबुद्धिसे स्वयं देवदत्तको भी पदार्थका बोध कैसे हो सकेगा ?

नैयायिक ज्ञानको ज्ञानान्तरवेद्य मानते हैं[4]। इनका सबसे बड़ा तर्क है 'स्वात्मनि क्रियाविरोध' का। अर्थात् जैसे कोई कितनी ही तीक्ष्ण तलवार क्यों न हो वह अपने आपको नहीं छेद सकती, कितना ही सुशिक्षित नटबटु क्यों न हो वह अपने ही कन्धेपर नहीं नाच सकता। किन्तु प्रदीपका दृष्टान्त स्वपरप्रकाशकत्वकी सिद्धिके लिये उपलब्ध है। प्रदीप अपने-आपको भी प्रकाशित करता है और घटपटादि पदार्थोंको भी। ज्ञानान्तरवेद्य पक्षमें अनवस्था दूषण तो स्पष्ट ही है।

सांख्यके मतसे बुद्धि प्रकृतिका धर्म है वह पुरुषके द्वारा संचेतित होती है[5]। पुरुषके संयोगसे महदादि स्वयं अचेतन होकर भी चेतनायमान होते हैं। पुरुष बुद्धिके द्वारा अध्यवसित पदार्थोंका स्वयं संचेतन करता है। किन्तु 'ज्ञान बुद्धि उपलब्धि और चेतना आदि सभी चेतनके ही धर्म हैं, ये प्रायः पर्यायवाची हैं। किंचित् क्रियाभेद होनेपर भी इनमेंसे कोई भी चेतनत्वकी सीमाको नहीं लाँघता। कूटस्थ नित्य पुरुष यदि स्वयं कर्ता नहीं है तो भोक्ता अर्थात् भोगक्रियाका कर्ता कैसे हो सकता है ? अतः चेतन और चेतनके धर्म प्रदीपकी तरह स्वयं प्रकाशमान होते हैं।

बौद्धपरम्परा चाहे वह सौत्रान्तिक मतावलम्बिनी हो या विज्ञानवादावलम्बिनी दोनों ही ज्ञानमात्रका स्वसंवेदित्व धर्म स्वीकार करती है।[6] कोई भी ऐसी चित्तमात्रा या चित्तावस्था नहीं है जो स्वसंविदित या

---

(१) "हिताहितप्राप्तिनिमित्तपरिच्छेदनम्"–न्यायवि० पृ० १०५। परीक्षामु० १।२।

(२) "प्रतिपत्तुरपेक्षं यत् प्रमाणं न तु पूर्वकम्"–सिद्धिवि० १।३।

(३) "अप्रत्यक्षा नो बुद्धिः, प्रत्यक्षोऽर्थः, स बहिर्देशसम्बद्धः प्रत्यक्षमनुभूयते, ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति बुद्धिम्।"–शाबरभा० १।१।५।

(४) "ज्ञानान्तरसंवेद्यं संवेदनं वेद्यत्वात् घटादिवत्।"–प्रज्ञा० न्यो० पृ० ५२९। विधिवि० न्यायकणि० पृ० २६७।

(५) "तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।"–सांख्यका० २०।

(६) "बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्।"–न्यायसू० १।१।१५। प्रज्ञा० भा० पृ० १७१। तत्त्वसं० पृ० ११५। न्यायकुमु० पृ० १९३।

(७) "सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं स्वसंवेदनम्"–न्यायवि० १।११।

स्वयं प्रकाशमान न हो । आचार्य दिङ्नागने स्वसंवित्तिको प्रमाणका फल बताया है[१] इससे ज्ञानका स्वसंवेदित्व सिद्ध होता है।

जैन परम्परामें ज्ञान या दर्शन जितनी भी चेतनकी पर्यायें हैं वे सब स्वसंविदित हैं, न वे अचेतन हैं न परोक्ष हैं और न ज्ञानान्तरवेद्य ही। ज्ञान चाहे प्रमाण हो या अप्रमाण वह अपने स्वरूपका संवेदन करता ही है। संशय विपर्यय और अनध्यवसाय जैसे मिथ्याज्ञान भी स्वरूपके संवेदक होते हैं। यह सम्भव ही नहीं है कि ज्ञान उत्पन्न हो जाय और वह स्वयंको अज्ञात रहे। वह तो दीपककी तरह जगमगाता हुआ ही उत्पन्न होता है। स्वरूपसंवेदनकी दृष्टिसे सभी ज्ञान प्रमाण हैं, कोई प्रमाणाभास नहीं है। प्रमाण और प्रमाणाभास विभाग बाह्य अर्थकी प्राप्ति और अप्राप्तिसे सम्बन्ध रखता है[२]।

प्रमाणके लक्षणोंका विकास–

जैन दार्शनिकोंमें आचार्य समन्तभद्रने स्वसंवेदी ज्ञानको प्रमाण माननेकी भूमिकापर प्रमाणका लक्षण करते हुए 'स्वपरावभासक' ज्ञानको प्रमाण कहा है।[३] सिद्धसेन दिवाकर इसमें 'बाधवर्जित' पदका समावेश कर अबाधित स्वपरावभासि ज्ञानको प्रमाण कहते हैं।[४] अकलङ्कदेव अविसंवादि ज्ञान को प्रमाण कहकर उसे अनधिगतार्थग्राही भी कहते हैं।[५] माणिक्यनन्दि आचार्यने स्वापूर्वार्थव्यवसायी ज्ञानको प्रमाण बताया है।[६] विद्यानन्दिने प्रमाणके लक्षणमें स्वार्थव्यवसायात्मक पद देकर अनधिगतार्थग्राहिताको अनुपयोगी बताया है।[७] सन्मतिटीकाकार अभयदेव सूरि विद्यानन्दिकी तरह स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञानको ही प्रमाण कहते हैं[८] पर 'व्यवसायात्मक'के स्थानमें 'निर्णीति' पदका प्रयोग करते हैं। इस जैनपरम्परामें प्रमाणके लक्षणमें कहीं स्वावभासक पद है और कहीं[९] नहीं। सामान्यतया जैनपरम्परा ज्ञानमात्रको स्वसंवेदी मानती है। ज्ञान चाहे मिथ्या हो सम्यक् वह स्वसंवेदी होता ही है। अतः अकलङ्कदेवने[१०] प्रमाणके फलमें स्वार्थविनिश्चय पद देकर भी प्रमाणके लक्षणमें केवल 'अविसंवादि ज्ञान' पद ही दिया है। 'अनधिगत' पदसे वे सूचित करना चाहते हैं[११] कि ऐसा ज्ञान प्रमाण होगा जो प्रमाणान्तरसे अनिर्णीत अर्थका निर्णय करे। अकलङ्कदेवने अविसंवादि ज्ञानको प्रमाण कहकर उसकी विशेषताओंमें अनिर्णीत अर्थकी निर्णीतिका निर्देश किया है। 'उन्होंने प्रमाणसंप्लव–अर्थात् एक ही प्रमेयमें अनेक प्रमाणोंकी प्रवृत्तिका समर्थन परिच्छित्तिविशेष या उपयोगविशेषमें ही किया है। 'जहाँ उपयोगविशेष हो वहाँ एक प्रमाणके द्वारा जाने गये प्रमेयमें प्रमाणान्तरकी प्रवृत्ति सार्थक है और वह प्रमाणकोटिमें है।' यह भाव अष्टसहस्री (पृ० ४) से ज्ञात होता है।

---

(१) "स्वसंवित्तिः फलं चात्र तद्रूपादर्थनिश्चयः।"–प्र० समु० १।१०।

(२) "भावप्रमाणापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः।
बहिःप्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तद्विभं च ते॥"–आप्तमी० श्लो० ८३।

(३) "स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्"–बृहत्स्व० श्लो० ६३।

(४) "प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्।"–न्यायावता० श्लो० १।

(५) "प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्"–अष्टश०, अष्टसह० पृ० १७५।

(६) "स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं"–परीक्षामु० १।१।

(७) "तत्स्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानमितीयता।
लक्षणेन गतार्थत्वात् व्यर्थमन्यद्विशेषणम्॥"–त० श्लो० १।१०।७७।

(८) "प्रमाणं स्वार्थनिर्णीतिस्वभावं ज्ञानम्।"–सन्मति० टी० पृ० ५१८।

(९) "सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्"–प्र० मी० १।१।

(१०) "प्रमाणस्य फलं साक्षात् सिद्धिः स्वार्थविनिश्चयः।"–सिद्धिवि० १।३।

(११) "अनधिगतार्थाधिगन्तृ विज्ञानं प्रमाणमित्यपि केवलमनिर्णीतार्थनिर्णीतिरभिधीयते। अधिगतमात्रस्य विसंवादकस्य साधनान्तरापेक्ष्यगोचरस्य साधकतमत्वानुपपत्तेः।"–सिद्धिवि० स्व० १।३।

अविसंवादकी प्रायिक स्थिति–

अकलङ्कदेवके इस विचारके सम्बन्धमें संक्षेपतः पृ० ६२ में निर्देश किया गया है कि हमारे ज्ञानोंमें प्रमाणता और अप्रमाणताकी प्रायः संकीर्ण स्थिति है। कोई ज्ञान सर्वथा प्रमाण या अप्रमाण नहीं है। उसमें विशेष प्रश्न यह उपस्थित होता है कि–

'तब व्यवहारमें किसी ज्ञानको प्रमाण या अप्रमाण कहनेका क्या आधार माना जाय ?' इस प्रश्नका उत्तर यह है कि–'ज्ञानोंकी प्रायः संकीर्ण स्थिति होने पर भी जिस ज्ञानमें अविसंवादकी बहुलता हो उसे प्रमाण माना जाय तथा विसंवादकी बहुलतामें अप्रमाण। जैसे कि इत्र आदिमें रूप रस गन्ध और स्पर्शके रहनेपर भी गन्धगुणकी उत्कटताके कारण उन्हें 'गन्धद्रव्य' कहते हैं उसी तरह अविसंवादकी बहुलतासे प्रमाण व्यवहार होजायगा।[1] अकलङ्कदेवके इस विचारका कारण यह मालूम होता है कि इन्द्रियजन्य क्षायोपशमिक ज्ञानोंकी स्थिति पूर्ण विश्वसनीय नहीं मानी जा सकती। स्वल्पशक्तिक इन्द्रियोंकी विचित्र रचनाके कारण इन्द्रियोंके द्वारा प्रतिभासित पदार्थ अन्यथा भी होता है। यही कारण है कि आगमिकपरम्परामें इन्द्रिय और मनोजन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष न कहकर परोक्ष कहा है। अकलङ्कदेव इस विचारको अष्टशती, लघी० स्ववृत्ति और सिद्धिविनिश्चयमें दृढ़ विश्वासके साथ उपस्थित करते हैं। आ० विद्यानन्दने अष्टसहस्रीमें तो उसकी व्याख्या की ही है, साथही साथ वे अकलङ्कके उक्त विचारका तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें भी पूर्ण समर्थन करते हैं।[2] पर आगे इस विचारकी परम्परा नहीं चली।

अविसंवादित्वका प्रकार–

इस तरह जब अविसंवादी ज्ञानकी ही प्रमाणता स्थापित हो गई तब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि कौन ज्ञान अविसंवादी कहा जाय ? सामान्यतया अविसंवादीका स्वरूप यही है कि जिस ज्ञानमें जो प्रतिभासित हो वही यदि प्राप्त हो जाय तो वह ज्ञान अविसंवादी कहा जाता है। दूसरे शब्दोंमें बाह्यार्थकी यथावत् प्राप्ति और अप्राप्तिपर अविसंवाद और विसंवाद निर्भर हैं।

बौद्ध परम्परामें विज्ञानवादी तो बाह्यार्थकी सत्ता ही स्वीकार नहीं करता अतः उसके मतसे यह अविसंवाद और प्रामाण्य व्यवहाराश्रित है। वस्तुतः प्रमाणमात्र स्वरूपका साक्षात्कारी है।

सौत्रान्तिक बाह्यार्थवादी है। वह वास्तविक प्रमेय एक स्वलक्षण ही मानता है। सामान्यलक्षण प्रमेय तो अतद्व्यावृत्ति या अकार्यकारणव्यावृत्ति रूप होनेसे कल्पित है। यह ग्राह्य तो होता है पर प्राप्य नहीं होता। इनकी अपनी प्रकिया यह है–निर्विकल्पक प्रत्यक्ष क्षणिक परमाणुरूप स्वलक्षणसे उत्पन्न होता है। इसमें स्वलक्षण पदार्थ आलम्बन कारण है, पूर्वज्ञान समनन्तर (उपादान) कारण, इन्द्रियाँ अधिपति कारण और प्रकाश आदि सहकारी कारण हैं। यद्यपि जिस क्षणसे ज्ञान उत्पन्न होता है, वह क्षण ज्ञानकालमें नष्ट हो जाता है फिर भी उस क्षणकी सन्तान या उस सन्तानमें पतित अग्रिम क्षण ग्राह्य और प्राप्य होता है, अतः सन्तानमूलक एकत्वाध्यवसायसे अविसंवाद मान लिया जाता है। इसका कारण यह है कि वह क्षण चूँकि अपना आकार ज्ञानमें देता है और वह उस ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण होता है अतः वही क्षण उस

---

(१) "येनाकारेण तत्स्वपरिच्छेदः तदपेक्षया प्रामाण्यमिति। तेन प्रत्यक्षतदाभासयोरपि प्रायशः संकीर्णप्रामाण्येतरस्थितिरुन्नेतव्या। प्रसिद्धानुपहतेन्द्रियदृष्टेरपि चन्द्रार्कादिषु देशप्रत्यासत्याद्यभूताकाराऽवभासनात्, तथोपहताक्षादेरपि संख्यादिविसंवादेऽपि चन्द्रादिस्वभावतत्त्वोपलम्भात्। तत्प्रकर्षापेक्षया व्यपदेशव्यवस्था गन्धद्रव्यादिवत्।"–अष्टश०, अष्टस० पृ० २७७। लघी० स्व० श्लो० २२। सिद्धिवि० १।१९।

(२) "अनुपप्लुतदृष्टीनां चन्द्रादिपरिवेदनम्।
तत्संख्यादिषु संवादि न प्रत्यासन्नतादिषु॥" –त० श्लो० पृ० १००।

ज्ञानका ग्राह्य कहा जाता है[1]। अनुमानमें ग्राह्य विषय तो सामान्यलक्षण है; क्योंकि अग्निसामान्य ही उसका विषय है फिर भी प्राप्त स्वलक्षण होता है, अतः प्राप्य स्वलक्षणकी अपेक्षा उसमें प्रामाण्य है। इसमें मणिप्रभा और प्रदीपप्रभामें होनेवाले मणिज्ञानका दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे प्रदीपप्रभामें होनेवाला मणिज्ञान और मणिप्रभामें होनेवाला मणिज्ञान दोनों ही भ्रान्त हैं, किन्तु मणिप्रभामें होनेवाला मणिज्ञान मणिकी प्राप्ति करा देनेसे विशेषता रखता है उसी तरह अनुमान और मिथ्याज्ञान दोनों अवस्तुको विषय करनेकी दृष्टिसे समान हैं किन्तु अनुमानसे अर्थक्रिया हो जाती है अतः वह प्रमाण है, मिथ्याज्ञान नहीं[2]। तात्पर्य यह कि परमार्थ स्वलक्षण ग्राह्य हो या नहीं, किन्तु यदि प्राप्ति स्वलक्षणकी हो जाती है तो वह ज्ञान अविसंवादी और प्रमाण माना जाता है।

निर्विकल्पक प्रत्यक्षमें दुहरी प्रमाणता है—वह परमार्थ स्वलक्षणको विषय भी करता है तथा उससे प्राप्ति भी स्वलक्षणकी ही होती है। अनुमानका ग्राह्य विषय यद्यपि कल्पित है पर प्राप्ति स्वलक्षणकी होती है अतः वह प्रमाण है। अनुमानका ग्राह्य मिथ्या क्यों है? इसका भी कारण यह है कि—यतः अनुमान एक विकल्प ज्ञान है। विकल्पमें शब्द संसर्ग या शब्द संसर्गकी योग्यता होती है। शब्दका अर्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है और शब्द कल्पित सामान्यका ही वाचक होता है, अतः विकल्प अर्थका स्पर्श नहीं कर सकता। जो शब्द विद्यमान अर्थ में प्रयुक्त होते हैं वे ही अर्थके अभावमें भी प्रयुक्त होते हैं। अतः शब्दोंका अर्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। [3]'अर्थमें शब्द नहीं है और न अर्थ शब्दात्मक ही है जिससे अर्थके प्रतिभासित होनेपर वे अवश्य ही प्रतिभासित हों। इसीलिये परमार्थ स्वलक्षणसे उत्पन्न होनेवाले निर्विकल्पक प्रत्यक्षमें शब्दसंसर्ग नहीं हो पाता। निर्विकल्पक विकल्प ज्ञानको उत्पन्न करता है। अतः जो विकल्प निर्विकल्पक प्रत्यक्षके अनन्तर उत्पन्न होता है यानी जिस विकल्पमें निर्विकल्पकज्ञान समनन्तर-प्रत्यय होता है वह विकल्पज्ञान निर्विकल्पकसे समुत्पन्न होनेके कारण व्यवहारसाधक होता है, पर जो विकल्पज्ञान केवल विकल्पवासनासे बिना निर्विकल्पकका पृष्ठबल प्राप्त किये उत्पन्न हो जाता है वह व्यवहारसाधक नहीं हो सकता। इसीलिये प्रत्यक्षबलोत्पन्न 'यह नीला है यह पीला है' इत्यादि विकल्पोंमें निर्विकल्पककी विशदता और प्रमाणता झलक मारती है और वे व्यवहारमें प्रत्यक्षकी तरह प्रमाणरूपमें सामने आते हैं, किन्तु जो राजा नहीं है उस व्यक्तिको होनेवाला 'मैं राजा हूँ' यह विकल्प केवल शब्द-वासनासे ही शेखचिल्लीकी कल्पनाके समान उद्भूत होनेके कारण प्रमाण कोटिमें नहीं आ सकता। चूँकि निर्विकल्पक और तदुत्पन्न विकल्प अतिशीघ्रतासे[4] उत्पन्न होते हैं अतः स्थूल दृष्टि व्यवहारी समझता है कि मुझे विकल्पज्ञान ही उत्पन्न हुआ है या वह दोनोंको एक ही मान बैठता है। तात्पर्य यह कि जिन विकल्पोंमें केवल शब्दवासना और संकेत ही कारण है वे विकल्प कोरी कल्पनाएँ ही हैं, न तो वे प्रत्यक्ष कहे जा सकते हैं और न विशद ही।

अनुमान विकल्पकी प्रक्रिया जुदी है—सर्वप्रथम धूम स्वलक्षणसे धूमनिर्विकल्पक होता है, फिर 'धूमोऽयम्' यह धूम विकल्पज्ञान, तदनन्तर व्याप्ति स्मरण आदिका साहाय्य लेकर 'यह अग्निवाला है' यह

(१) "भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः।
हेतुत्वमेव युक्तिज्ञा ज्ञानाकारार्पणक्षमम्॥"—प्र० वा० २।२४७

(२) "मणिप्रदीपप्रभयोः मणिबुद्ध्याभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति॥
यथा तथाऽयथार्थत्वेऽप्यनुमानतदाभयोः।
अर्थक्रियानुरोधेन प्रमाणत्वं व्यवस्थितम्॥"—प्र० वा० २।५७-५८।

(३) "उक्तं च—न ह्यर्थे शब्दाः सन्ति तदात्मानो वा येन तस्मिन् प्रतिभासमाने तेऽपि प्रतिभासेरन्।"—न्यायप्र० वृ० पृ० ३५।

(४) "मनसोर्युगपद्वृत्तेः सविकल्पाविकल्पयोः।
विमूढो वस्तुवृत्तेर्वा तयोरैक्यं व्यवस्यति॥"—प्र०वा० २।१३३।

अनुमान विकल्प। इसमें चूँकि परम्परासे अग्निजन्य-धूमस्वलक्षण कारण पड़ रहा है अतः वह प्रमाण है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है कि–यदि अग्नि न होती तो धूम भी उत्पन्न नहीं हो सकता था, धूम के न होने पर धूमविषयक निर्विकल्पक नहीं हो सकता था, धूम निर्विकल्पक न होता तो धूम सविकल्पक नहीं हो सकता था, धूम सविकल्पक नहीं होता तो व्याप्ति स्मरणकी सहायता लेकर होनेवाला 'अग्निरत्र' यह अनुमान विकल्प भी उत्पन्न नहीं हो सकता था। अतः परम्परासे अनुमानविकल्प स्वविषय सम्बद्ध-अर्थसे उत्पन्न होनेके कारण प्रमाण है[1]। तात्पर्य यह कि जैसे प्रत्यक्षकी[2] प्रमाणताका मूल आधार है–परमार्थ अर्थके अभावमें नहीं होना, यानी अर्थाविनाभावी होना, तो यदि अनुमान विकल्प भी अविनाभावी अर्थसे परम्परया उत्पन्न होता है तो वह भी उसीकी तरह प्रमाण है।

बौद्ध शब्दका अर्थके साथ सम्बध नहीं मानते, उसके मुख्य कारण ये हैं–

(१) वैदिक संस्कृतिमें वेदको अपौरुषेय और स्वतः प्रमाण माना गया है। वैदिक शब्द जब स्वतः प्रमाण हैं तो उन्हें प्रमाणमात्रको स्वतःप्रमाण मानना पड़ा। इनकी प्रक्रिया यह है कि शब्दमें दोष वक्ताके कारण आते हैं। अतः यदि वैदिक शब्दोंका कोई वक्ता ही न माना जाय तो दोष कहाँसे आयँगे! इस तरह वैदिक संस्कृतिमें शब्दको स्वतःप्रमाण माना गया है।

बौद्ध वेदको प्रमाण नहीं मानना चाहते थे, अतः उन्होंने यावत् शब्दविकल्पोंको अप्रमाण कह दिया। उसका कारण उन्होंने यही दिया है कि–शब्दका अर्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, वे वस्तुस्वरूपका स्पर्श नहीं करते, वस्तुकी सामर्थ्यसे उत्पन्न नहीं होते, वक्ताकी इच्छाके अनुसार संकेताधीन उनकी प्रवृत्ति है, अतः उनमें स्वतः प्रामाण्य नहीं है। प्रमाणता तो अर्थजन्य निर्विकल्पकमें होती है। सविकल्पकमें प्रमाणता तो उधार ली हुई है। एक बार यदि शब्दका अर्थके साथ सम्बन्ध स्वीकार कर लिया तो उसमें निर्विकल्पक की तरह अर्थसामर्थ्यजन्य प्रामाण्य मानना ही पड़ेगा और फिर पीछे यह विवेक करना कठिन हो जायगा कि किस शब्दका अर्थके साथ सम्बन्ध है किसका नहीं। अतः शब्द केवल वक्ताकी उस इच्छाका द्योतन करता है जिस इच्छासे वह शब्दका प्रयोग कर रहा है। इस तरह वैदिक शब्दोंको स्वतःप्रमाण न माननेकी दृष्टिसे शब्दमात्रका या शब्दसंसर्गी विकल्पका अर्थसे साक्षात् सम्बन्ध अस्वीकृत किया गया।

(२) परमार्थ अर्थ वस्तुतः शब्दोंके अगोचर है। उसका वास्तविक निजरूप अतिगहन है, उस तक शब्दोंका पहुँचना असम्भव है; क्योंकि शब्दका प्रयोग अन्ततः संकेताधीन ही तो है। मनुष्य वस्तुके स्वरूप को अपनी वासना और संस्कारोंके अनुसार रँगता है और उसे इच्छानुसार संज्ञाएँ देकर विकृत करता है। उदाहरणार्थ–किसी पिंडमें जो कि परमाणुओंके ढेरके सिवाय कुछ नहीं है 'स्त्री' यह संज्ञा शब्द-वासनासे ही तो रखी गई है। फिर उसके स्तन आदि अवयवोंमें सौन्दर्यकी कल्पना भी शब्दोंसे ही आई है। वह वस्तुका स्वरूप तो नहीं है। फिर मनुष्य अपनी वासनाके अनुसार उस पिंड यानी परमाणुपुंजमें 'स्त्री' आदि संज्ञाएँ रखकर उनमें अनुरक्त होता है और कर्मबन्धनमें पड़ता है। अतः वस्तुतः 'स्त्री' आदि शब्दों का उद्भव अपनी वासनासे हुआ है उनका वस्तुके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इस तरह 'स्त्री' आदि अनुव्यङ्गक संज्ञाओंको अपरमार्थ कहनेके हेतुसे शब्द और विकल्पमात्रका अर्थसे सम्बन्ध तोड़ दिया गया है।

---

(१) "अनुमानं च लिङ्गसम्बद्धं नियतमर्थं दर्शयति।"–न्याय वि० टी० १।१।

(२) "अत एवाह–अर्थस्यासंभवेऽभावात् प्रत्यक्षेऽपि प्रमाणता।
प्रतिबद्धस्वभावस्य तद्धेतुत्वे समं द्वयम्॥"–प्र० वार्तिकाल० ४।११७।

(३) "शब्दे दोषोद्भवस्तावद् वक्त्रधीन इति स्थितम्।
तदभावः क्वचित्तावद् गुणवद्वक्तृकत्वतः॥
तद्गुणैरपकृष्टानां शब्दे संक्रान्त्यसंभवात्।
यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रयाः॥"–मी० श्लो० चोदना सू० श्लो० ६२-६३।

(३) वास्तविक अर्थ क्षणिक और परमाणु रूप है, वह अनन्त है हम जिसमें संकेत ग्रहण करते हैं, वह व्यवहारकाल तक ठहरता नहीं है। अतः जब अर्थमें संकेत ग्रहण करना ही संभव नहीं है, तब अर्थको शब्दका वाच्य कैसे माना जा सकता है? इस तरह बौद्ध परम्परामें शब्द और शब्दसंसर्गी विकल्पको अवस्तुविषयक कहकर उनमें निश्चित रूपसे अविसंवाद नहीं माना है। कहीं यदि अविसंवाद है भी तो वह अर्थसमुद्भूत निर्विकल्पकके पृष्ठबलके कारण है।

वेदान्तदर्शन निर्विकल्पकको ही प्रमाण मानता है क्योंकि वही परमार्थ सत् ब्रह्मका ग्राहक है। विकल्पज्ञान उस परमार्थसत् तक नहीं पहुँच सकते।

न्यायवैशेषिक दर्शनमें प्राचीन परम्परा निर्विकल्प दर्शनको प्रमाण मानती रही है[1]। कारिकावली[2] में भ्रमभिन्न ज्ञानको प्रमा कहा है और इसीलिये निर्विकल्पको प्रमा माना है। परन्तु गङ्गेश उपाध्यायने प्रमात्वको प्रकारता आदिसे घटित विशिष्टप्रतिभासरूप माननेके कारण निर्विकल्पको प्रमा और अप्रमा उभयसे शून्य माना है।

मीमांसक[3] सर्व प्रथम जात्यादि योजनासे रहित एक निर्विकल्प प्रत्यक्ष मानते हैं, जो आलोचना ज्ञान रूप है।

जैन परम्परामें आत्मा चैतन्य रूप है। यही चैतन्य ज्ञान और दर्शन रूपसे परिणत होता है। 'ज्ञान और दर्शन का भेद और अभेद, ये क्रमसे होते हैं या युगपत्' इत्यादि विचारों में दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओंमें मतभेद है। विचारणीय बात यह है कि—आगमिक काल में ज्ञान और दर्शनका स्वरूप क्या था और इनके सम्यक्त्व और मिथ्यात्वके आधार क्या थे?

आगमिक कालमें ज्ञानका सम्यक्त्व और विपर्यय बाह्यार्थकी यथावत् प्राप्ति और अप्राप्ति पर निर्भर नहीं था किन्तु जो ज्ञान सम्यग्दर्शनसे युक्त अर्थात् सम्यग्दृष्टिका ज्ञान है वह सम्यक् है और मिथ्यादृष्टिका ज्ञान विपर्यय है। सम्यग्दृष्टिके संशयादि ज्ञान भी सम्यक् हैं और मिथ्यादृष्टि के प्रमाणभूत ज्ञान भी विपर्यय हैं। इसका कारण यही बताया है कि जो ज्ञान मोक्षमार्गमें उपयोगी हो रहे है उनमें सम्यक्त्व है और जो मोक्ष मार्गमें उपयोगी नहीं हैं वे विपर्यय कहे जाते हैं। लौकिक प्रमाणता या अप्रमाणतासे उनका कोई सम्बन्ध नहीं हैं।

जैनपरम्पराके दर्शनका स्वरूप—

एक ही पस्णामी चैतन्य जब शेयको जानता है, तब वह ज्ञान कहलाता है जब वह शेयको न जानकर स्वमग्न या स्वसंचेतन करता है तब दर्शन कहलाता है। तत्त्वार्थवार्तिक (२।८) में उपयोग का लक्षण करते हुए अकलङ्कदेवने लिखा है कि—

"बाह्याभ्यन्तरहेतुद्वयसन्निधाने यथासंभवमुपलब्धुश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः।"

अर्थात् दो प्रकारके बाह्य और दो प्रकारके अभ्यन्तर हेतुओंका यथासंभव सन्निधान होने पर उपलब्धि स्वभाववाले आत्माका चैतन्यको अनुविधान करनेवाला अवस्थाविशेष उपयोग है। इस उपयोगके लक्षणमें बताया है कि उपलब्धि करनेवाला आत्मा प्राप्त कारणसामग्रीके अनुसार परिणमन करता है। यह परिणमन कभी शेयाकार यानी शेयको जाननेवाला होता है और कभी ज्ञानाकार यानी ज्ञान उस समय मात्र अपने स्वरूपमें मग्न रहता है। इस बातका खुलासा अकलङ्कदेवने ही स्वयं इस प्रकार किया है—

(१) "शब्दाः सङ्केतितं प्राहुर्व्यवहाराय सा स्मृतः।
तदा स्वलक्षणं नास्ति सङ्केतस्तेन तत्र न॥"—प्र० वा० ३।९१।

(२) प्रशा० कन्द० पृ० १९८। (३) कारिका १३४।

(४) "अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्।
बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम्॥"—मी० श्लो० प्रत्यक्षसू० श्लो० ११२।

"अथवा चैतन्यशक्तेर्द्वौ आकारौ ज्ञानाकारो ज्ञेयाकारश्च। अनुपयुक्तप्रतिबिम्बाकारादर्शतलवत् ज्ञानाकारः प्रतिबिम्बाकारपरिणतादर्शतलवत् ज्ञेयाकारः।"

—त० वा० १।६।

अर्थात् चैतन्यशक्तिके दो आकार होते हैं—एक ज्ञानाकार और दूसरा ज्ञेयाकार। सप्रतिबिम्ब दर्पणकी तरह ज्ञेयाकार होता है तथा प्रतिबिम्बशून्य दर्पणकी तरह ज्ञानाकार। इस विवेचनसे इतना तो ज्ञात हो जाता है कि ज्ञानकी ऐसी अवस्था भी होती है जिसमें ज्ञेयका प्रतिभास नहीं होता।

सिद्धान्त ग्रन्थोंमें दर्शनकी परिभाषा करते समय यही बात विशेष रूपसे ध्यानमें रखी गई है। धवला टीकामें दर्शनकी परिभाषा करते हुए लिखा है[1] कि—सामान्यविशेषात्मक बाह्यार्थ के ग्रहणको ज्ञान कहते हैं तथा स्वरूपके ग्रहणको दर्शन कहते हैं। जब उपयोग आत्मेतर पदार्थोंको जाननेके समय ज्ञेयाकार या साकार होता है तब उसकी ज्ञानपर्याय विकसित होती है और जब वह बाह्य पदार्थोंमें उपयुक्त न होकर मात्र चैतन्यरूप रहता है तब निराकार अवस्थामें दर्शन कहलाता है। दर्शन अन्तरङ्ग अर्थको विषय करनेवाला होता है। चैतन्यकी प्रकाशवृत्तिको दर्शन कहते हैं। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि—उत्तर ज्ञानोत्पत्तिके लिये आत्मा जो प्रयत्न करता है उस प्रयत्नावस्थाका संचेतन दर्शन है। यह इन्द्रिय और पदार्थके संपातसे पहिलेकी अवस्था है। जब आत्मा अमुक पदार्थके ज्ञानसे उपयोगको हटाकर दूसरे पदार्थके जाननेके लिए प्रवृत्त होता है तब वह बीचकी निराकार यानी ज्ञेयाकारशून्य या स्वाकारवाली दशा दर्शन है।

आ० कुन्दकुन्द नियमसार (गा० १६०) में **"दिट्ठी अप्पपयासया चेव"** लिखकर 'दर्शन आत्मप्रकाशक होता है' यह पूर्वपक्ष उपस्थित करते हैं। इससे ज्ञात होता है कि 'दर्शन आत्मप्रकाशक होता है पर द्रव्यप्रकाशक नहीं' यह मत बहुत पुराना है। यह मत जैन सिद्धान्तियोंका ही है। कुन्दकुन्दाचार्य आगेकी चरचामें नयदृष्टिसे इसी मतका समर्थन करते हुए भी अन्तमें आत्मासे अभिन्न होनेके कारण दर्शनको भी स्वपर प्रकाशक कहते हैं—

'ज्ञान परप्रकाशक, दर्शन आत्मप्रकाशक और आत्मा स्वपर प्रकाशक होता है' यदि ऐसा मानते हो तो; (गा० १६०)

यदि ज्ञान परप्रकाशक है तो ज्ञानसे दर्शन भिन्न हो जायगा, क्योंकि दर्शन परद्रव्यगत नहीं होता यानी परका प्रकाशक नहीं होता (गा० १६१)।

यदि आत्मा परप्रकाशक है तो आत्मासे दर्शन भिन्न हो जायगा, क्योंकि दर्शन परद्रव्यका प्रकाशक नहीं होता।

यदि ज्ञानको परप्रकाशक व्यवहारनयसे मानते हो तो ज्ञान और दर्शन एक हैं। यदि आत्माको परप्रकाशक व्यवहारनयसे मानते हो तो आत्मा और दर्शन एक हैं। (गा० १६३)

---

(१) "ततः सामान्यविशेषात्मकबाह्यार्थग्रहणं ज्ञानं तदात्मकस्वरूपग्रहणं दर्शनमिति सिद्धम्।··· भावानां बाह्यार्थानामाकारं प्रतिकर्मव्यवस्थामकृत्वा यद् ग्रहणं तद् दर्शनम्···(पृ० १४९) प्रकाशवृत्तिर्वा दर्शनम्। अस्य गमनिका प्रकाशो ज्ञानम्, तदर्थमात्मनो वृत्तिः प्रकाशवृत्तिः दर्शनम्, विषयविषयिसम्पातात् पूर्वावस्था इत्यर्थः। (पृ० १४९) नैते दोषाः दर्शनमाढौकन्ते तस्य अन्तरङ्गार्थविषयत्वात्।"—ध० टी० सत्प्ररू० प्रथमपुस्तक।

(२) "उत्तरज्ञानोत्पत्तिनिमित्तं यत्प्रयत्नं तद्रूपं यत् स्वस्यात्मनः परिच्छेदनमवलोकनं तद्दर्शनं भण्यते। तदनन्तरं यद् बहिर्विषयविकल्परूपेण पदार्थग्रहणं तज्ज्ञानमिति वार्तिकम्। यथा कोऽपि पुरुषो घटविषयविकल्पं कुर्वन्नास्ते, पश्चात् पटपरिज्ञानार्थं चित्ते जाते सति घटविकल्पाद् व्यावृत्य यत् स्वरूपे प्रथममवलोकनं परिच्छेदनं करोति तद्दर्शनमिति। तदनन्तरं पटोऽयमिति निश्चयं यद् बहिर्विषयरूपेण पदार्थग्रहणविकल्पं करोति तज्ज्ञानं भण्यते।"—बृहद् द्रव्यसं० टी० गा० ४३।

(३) "ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा।"—नियमसा० गा० १६१।

ज्ञान निश्चयनयसे आत्मप्रकाशक है तो वह दर्शन ही है। आत्मा निश्चयनयसे आत्मप्रकाशक है तो वह दर्शन ही है। (गा० १६४)

आत्माके बिना ज्ञान नहीं और ज्ञानके बिना आत्मा नहीं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। अतः जैसे ज्ञान स्वपरप्रकाशक होता है इसी तरह दर्शन भी। (गा० १७०)

इस वर्णनसे हम इस निष्कर्षपर पहुँच सकते हैं कि–आ० कुन्दकुन्दका अभिप्राय 'दर्शन आत्मप्रकाशक है' इस मतके खण्डनका नहीं है, किन्तु नयदृष्टिसे उसका समर्थन करते हुए परप्रकाशक ज्ञानसे अभिन्न आत्मासे अभेद रखनेके कारण दर्शनको भी ज्ञानकी तरह स्वपरप्रकाशक कहने का है।

आ० सिद्धसेन दिवाकरने सन्मतितर्क (२।१) में दर्शनका लक्षण करते हुए लिखा है–

"जं सामण्णग्गहणं दंसणमेयं विसेसियं णाणं।"

अर्थात् सामान्यग्रहणको दर्शन कहते हैं और विशेषग्रहणको ज्ञान।

बृहद्द्रव्य संग्रह[1], कर्मप्रकृति[2], पंचसंग्रह[3] तथा गोम्मटसार जीवकांड[4]में इस गाथाका यह रूप है–

"जं सामण्णग्गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं।
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णए समए॥"[5]

अर्थात् पदार्थोंके आकारका ग्रहण नहीं करके साधारण रूपसे जो सामान्यग्रहण है वह दर्शन है।

इन लक्षणोंमें स्पष्टतया दर्शन 'आत्मदर्शन'की सीमासे निकलकर 'पदार्थके सामान्यग्रहण' तक जा पहुँचा है।

धवला टीका[6]में जो शंका-समाधान दिया गया है उसमें इस गाथापर भी चर्चा की गई है और उसके **'सामान्यग्रहण'** का भी **'आत्मग्रहण'** ही अर्थ किया गया है। अस्तु इससे इतना स्पष्ट हो जाता है कि आगमिक युगमें भी 'दर्शन'के सम्बन्धमें दो स्पष्ट मत थे। और पुराना मत 'आत्मदर्शन'के ही माननेका था। इसका प्रमाण यह है कि मति श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान मिथ्यात्वके साहचर्यसे विपर्यय[7] भी होते हैं पर इनके पहिले होनेवाले चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शनमें यह विपरीतता नहीं आती। इतना ही नहीं किन्तु लोकप्रसिद्ध संशय विपर्यय और अनध्यवसाय आदि अप्रमाणज्ञानोंके पहिले भी चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन ही होते हैं उनमें विपरीतता नहीं मानी जाती। यदि दर्शनका सम्बन्ध बाह्य पदार्थके सामान्यावलोकनसे होता तो संशयादिज्ञानोंके पूर्व होनेवाले दर्शनोंमें संशयत्व विपर्ययत्व और अनध्यवसायत्व अवश्य दिखाया जाता और दर्शनके भी 'ज्ञान-अज्ञान'की तरह 'दर्शन-अदर्शन' भेद किये जाते। 'स्वात्मदर्शन' रूप परिभाषाके रहनेसे तो यह असंगति इसलिये नहीं आती कि स्वात्मदर्शन या स्वात्मावलोकन तो चाहे सम्यग्ज्ञान हो या मिथ्याज्ञान प्रमाणज्ञान हो या अप्रमाणज्ञान, सभीके पहिले निर्बाधरूपसे होता है, पहिले ही नहीं उन ज्ञानोंके कालमें भी होता है। मिथ्याज्ञानोंका स्वसंवेदन भी सम्यक् होता है; क्योंकि स्वसंवेदनकी दृष्टिमें प्रमाण और अप्रमाण विभाग ही नहीं हैं[8]। यह विभाग तो बाह्यार्थकी दृष्टिसे होता है।

इस तरह 'दर्शन' आगमिक युगमें प्रमाण और प्रमाणाभासकी परिधिसे ऊपर था। वह सर्वत्र व्याप्त स्वात्मावलोकनरूप था। निराकार इसलिये था कि उस कालमें आत्मा ज्ञेयको नहीं जानता था। ज्ञानकालका स्वसंवेदन तो ज्ञानकी तरह साकार ही होता है। क्योंकि साकारज्ञानकी परिणतिके समय तद्रूप आत्माका संवेदन निराकार नहीं रह सकता। उस समय यह स्वसंवेदन उसी ज्ञानपर्यायका धर्म है जो उस समय हो रही है। परन्तु ज्ञानकी प्रमाणता और तदाभासता इस स्वसंवेदनको भी नहीं छूती। तात्पर्य यह कि ज्ञानकी

(१) गा० ४३। (२) गा० ४३। (३) १।१३८। (४) गा० ४८१।
(५) धवला, सत्प्ररू० पु० १ पृ० १४९ में यह गाथा उद्धृत है।
(६) वही, पृ० १४५-१४९।
(७) "मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च"–त० सू० १।३१।
(८) आप्तमी० श्लो० ८३।

उत्पत्तिके लिये सचेष्ट आत्माका अवलोकन रूप स्वात्मावलोकन जो कि आगमिकयुगका दर्शन है, तथा ज्ञानकालमें होनेवाला स्वरूपसंवेदन जो कि ज्ञानका ही धर्म है, दोनोंमें प्रमाण और प्रमाणाभास व्यवहार नहीं होता। दर्शनोंके आगमिक लक्षण इस प्रकार हैं—

१. चक्षुदर्शन—चक्षुरिन्द्रियजन्य ज्ञानकी उत्पत्तिके लिये सचेष्ट आत्माका निराकार अवलोकन।

२. अचक्षुदर्शन—चक्षुसे भिन्न इन्द्रियोंसे ज्ञानकी उत्पत्तिके लिये सचेष्ट आत्माका निराकार अवलोकन।

३. अवधिदर्शन—अवधिज्ञानकी उत्पत्ति या उपयोगके लिये सचेष्ट आत्माका निराकार अवलोकन।

चूँकि मनःपर्यय ज्ञान ईहामतिज्ञानपूर्वक होता है अतः उसके अव्यवहितपूर्व क्षणमें निराकार अवस्था न होनेके कारण मनःपर्ययदर्शन नहीं माना गया।

४ केवल दर्शन—केवलज्ञानके समय क्रमवर्तित्वका कारण क्षयोपशम नहीं रहता, अतः केवलज्ञान और केवलदर्शन युगपत् ही होते हैं। इस समय यह विवेक करना कठिन है कि उस निरावरण उपयोगावस्था या चैतन्यावस्थाके किस अंशको दर्शन कहा जाय और किस अंशको ज्ञान। इसीलिये युगपद्वादका पर्यवसान केवलज्ञान और केवलदर्शनके अभेदमें ही होता है।

यद्यपि सन्मतितर्क और प्रा० पंचसंग्रह आदिमें उपलब्ध **'जं सामण्णग्गहणं'** गाथा से ज्ञात होता है कि दर्शनके बाह्यार्थके सामान्यावलोकनकी चरचा पुरानी है फिर भी उसे व्यवस्थित दार्शनिक रूप आचार्य पूज्यपादके समयसे मिला है। उन्होंने यह दर्शन-अवस्था[1] विषय और विषयीके सन्निपातके अनन्तर पदार्थकी सामान्यसत्ताके प्रतिभासके रूपमें मानी है जबकि स्वात्मावलोकनरूप अवस्था विषयविषयिसन्निपातके पहिले होती है।

इतना होनेपर भी किसीने दर्शनको प्रमाण कोटिमें लानेका प्रयत्न नहीं किया। यद्यपि जैनदर्शनमें प्रमाणकी चर्चा आनेके बाद यह प्रश्न स्वाभाविक था कि इसे प्रमाण माना जाय या नहीं। किन्तु सन्मतितर्कके टीकाकार अभयदेवसूरिने दर्शनको भी ज्ञानकी तरह प्रमाण माननेका मत व्यक्त किया है। वे लिखते हैं[2] कि—निराकार और साकार दोनों ही उपयोग अपने विषयको मुख्यरूपसे प्रतिभास करनेके कारण तथा इतर विषयको गौण करनेके कारण प्रमाण हैं। यदि वे इतर विषयका निराकरण करते हैं तो प्रमाणता नहीं आ सकती। केवल सामान्यग्राही या केवल विशेषग्राही उपयोग हो ही नहीं सकता। सामान्यग्राही उपयोगमें भी यत्किंचित् विशेषका प्रतिभास तथा विशेषग्राही उपयोगमें तदनुगत सामान्यका प्रतिभास है ही। सम्भवतः यह एक ही आचार्य हैं जिन्होंने दर्शनमें भी आपेक्षिक प्रमाणता घटानेका प्रयत्न किया है। माणिक्यनन्दि और तदनुगामी वादिदेवसूरिने 'दर्शन' को प्रमाणाभास[3] इसलिये कहा है कि—वह स्वविषयका उपदर्शक या स्वपरका व्यवसायक नहीं है। यथार्थतः जिस दर्शनको ये प्रमाणाभास कहना चाहते हैं वह बौद्धाभिमत निर्विकल्पक दर्शन ही है; क्योंकि इन्होंने प्रमाणकी रेखा व्यवसायात्मक ज्ञानमें खींची है।

प्राचीन आगम और सिद्धान्तग्रन्थोंमें[4] केवलज्ञानके वर्णनमें **"जाणादि पस्सदि"** और **"जाणमाणे पासमाणे"** शब्द आते हैं। इससे लगता है कि सामान्यतया ज्ञान और दर्शन इन दो गुणोंका साथ-ही-साथ वर्णन होता था। पर जब इसका दार्शनिक दृष्टिसे विश्लेषण प्रारम्भ हुआ तो प्रथम यह व्याख्या प्रस्तुत हुई कि—स्वरूपका देखना और परपदार्थका जानना साथ-ही-साथ होता है। फिर यह व्याख्या आई कि—वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है अतः सामान्यांशका देखना और विशेषांशका जानना होता

(१) "विषयविषयिसन्निपाते सति दर्शनं भवति।"—सर्वार्थसि० १।१५।

(२) *"निराकारसाकारोपयोगौ तूपसर्जनीकृततदितराकारौ स्वविषयावभासकत्वेन प्रवर्तमानौ प्रमाणं न तु निरस्तेतराकारौ, तथाभूतवस्तुरूपविषयाभावेन निर्विषयतया प्रमाणत्वानुपपत्तेः इतरांशविकलैकांशरूपोपयोगसत्तानुपपत्तेश्च।"*—सन्मति० टी० पृ० ५५८।

(३) परीक्षामुख ६।१। प्रमाणनय० ६।२५।

(४) "सम्मं जाणदि पस्सदि विहरदिसि"—प्रकृति अनु०।

"जाणमाणे पासमाणे णं विहरइ"—आचा० श्रुत० २ चू० ३।

है। किन्तु इस व्याख्यासे भी सन्तोष नहीं होता था; क्योंकि इसमें ज्ञान और दर्शन दोनों एकाकी हो जाते थे। इसीका समन्वय अभयदेवसूरिने दोनोंको उभयग्राहक मानकर और दोनोंको प्रमाण मानकर किया है।

यथार्थतः जब ज्ञानको प्रमाण माननेका दार्शनिक क्रम चालू हुआ तो ज्ञानप्राग्भावी दर्शन अपने आप प्रमाण-अप्रमाणकी चरचासे बहिर्भूत हो जाता है। अकलङ्कदेवने इसी तत्त्वको ध्यानमें रखकर ऐसे ज्ञानको प्रमाण कहा जो संव्यवहारोपयोगी हो। चूँकि दर्शन न तो संव्यवहारमें उपयोगी है और न किञ्चित्कर ही, अतः वह प्रमाणकोटिमें नहीं आ सकता। वे निर्णयात्मकत्व विशेषण से संशय और विपर्ययके साथ-ही-साथ अकिञ्चित्कर दर्शनका भी व्यवच्छेद कर देते हैं[1]। वे निर्णयात्मक अविसंवादी और व्यवहारोपयोगी ज्ञानको प्रमाण मानकर सविकल्पकज्ञानको ही प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं निर्विकल्पकको नहीं।

प्रत्यक्षका विषय–

जैन दार्शनिकोंकी प्रमाणव्यवस्थाका सम्बन्ध प्रमेयव्यवस्थासे है। उन्होंने पदार्थका स्वरूप उत्पाद-व्ययध्रौव्यात्मक परिणामी मानकर उसे सर्वथा क्षणिक या नित्य पक्षसे भिन्न नित्यानित्यात्मक स्वीकार किया है। उनके द्वारा स्वीकृत छह द्रव्योंमें शुद्धजीव आकाश काल धर्म और अधर्म ये द्रव्य सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके विषय नहीं होते। संसारी आत्माएँ भी कायव्यापार और वचन आदिसे अनुमानके विषय होती हैं, इन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्षके विषय नहीं होतीं। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षके विषय तो केवल पुद्गल द्रव्य ही होते हैं। जैनदर्शन वास्तव बहुत्ववादी है। वह प्रत्येक परमाणुको परमार्थ अखण्ड और स्वतन्त्र द्रव्य मानता है। प्रत्येक परमाणु प्रतिसमय अपने उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक स्वभावके कारण अपनी पर्यायोंमें अविच्छिन्न भावसे अनादिकालसे चला आ रहा है और आगे अनन्त काल तक चला जायगा। जैनके परमाणुद्रव्य और बौद्धके स्वलक्षण परमाणुकी स्थिति लगभग एक जैसी है। वह जैसे प्रतिक्षण परिवर्तमान है तो यह भी प्रतिक्षण परिणामी है। प्रश्न है घट पट आदि स्थूल दृश्यमान पदार्थोंका। जब इनके उपादानभूत द्रव्य परमाणुरूप हैं तो यह स्थिर और स्थूल दिखाई देनेवाला है क्या? इस सम्बन्धमें बौद्धोंका कहना है कि–अत्यासन्न किन्तु अत्यन्त असंसृष्ट परमाणुओंके पुञ्जमें हम स्थिरता और स्थूलताका अभिमान करते हैं। उन परमाणुओंमें एक अतिरिक्त अवयविद्रव्य नहीं आता। वही पुंज हमें स्थूल दृष्टिसे घट पट आदि रूपसे केवल प्रतिभासित ही नहीं होता, तत्सम्बन्धी जलधारण शीतनिवारण आदि अर्थक्रियाएँ भी करता है। यदि घड़ेका बुद्धिसे विश्लेषण किया जाय तो आखिर वह परमाणुपुञ्जके सिवाय क्या बचता है? नित-नूतन सदृश पर्यायोंमें हमें स्थिरता या एकत्वका भ्रम[2] होता है, और होता है पुञ्जमें स्थूलताका भ्रम।

वेदान्तीने एक ब्रह्मकी ही पारमार्थिक सत्ता मानी है। घट पट आदि उसी ब्रह्मके प्रातिभासिक या व्यावहारिक रूप हैं, परिणमन नहीं। अविद्याके कारण वही परमार्थसद् ब्रह्म, घट पट आदि अचेनात्मक और मनुष्य पशु आदि चेतनात्मक नाना रूपोंमें प्रतिभासित होता है। एक पक्ष यह भी है कि एक ब्रह्म ही यावत् प्रतिभासमान चेतन अचेतन जगत्का उपादान कारण है। अन्ततः यह सब प्रपञ्च है अविद्यामूलक ही।

सांख्यने एक ब्रह्मके ही चेतन और अचेतनरूप विरुद्ध परिणमनकी आपत्तिको हटानेके लिये अनन्त चेतनोंका स्वतन्त्र अस्तित्व तथा जड़ प्रकृतिका स्वतन्त्र अस्तित्व माना है। इनके मतसे जड़ और चेतन एक दूसरेके प्रति परिणामीकारण नहीं होते। एक ही जड़ प्रकृति पृथिवी जल आदि मूर्त तथा आकाश नामक अमूर्त भूतके रूपमें परिणमन करती है। घट पट आदि कार्य उसी सूक्ष्म प्रकृतिके परिणमन हैं। यहाँ भी लगभग वैसा ही विरोध वर्तमान है कि–कैसे एक प्रकृति एक साथ निष्क्रिय और सक्रिय, मूर्त और अमूर्त आदि नानारूपोंमें परिणमन कर सकती है? फिर घट पट आदिमें विरुद्ध परिणमन क्यों दृश्यमान होते हैं?

न्यायवैशेषिक परम्परामें इस असंगतिको हटानेके लिये पृथिवी आदि द्रव्य सब जुदे-जुदे स्वीकार किये

(१) "तद्धेतुत्वं पुनः सन्निकर्षादिवन्न दर्शनस्य। अभ्रान्तत्वेऽपि सर्वथा निर्णयवत्त्वात् प्रामाण्यसिद्धेः ...अकिञ्चित्करसंशयविपर्ययव्यवच्छेदेन निर्णयात्मकत्वं मान्यथा।"–सिद्धिवि० १।३, पृ० १३।

(२) "सदृशापरोत्पत्तिविप्रलब्धो वा स्थूलपुनर्जातनखकेशादिवत्"–प्र० वार्तिकाल० पृ० १४७।

गये। मूर्त द्रव्य जुदे तथा अमूर्त द्रव्य जुदे माने गये। पृथिवी आदिके अनन्त परमाणु स्वीकार किये गये। किन्तु ये इतने आत्यन्तिक भेद पर उतरे कि गुण क्रिया सम्बन्ध और सामान्य आदि परिणमनोंको भी स्वतन्त्र पदार्थ मानने लगे, यद्यपि गुण क्रिया सम्बन्ध और सामान्य आदिकी पृथक् उपलब्धि नहीं होती और न ये पृथक्सिद्ध ही हैं। नैयायिक वैशेषिकोंने परमाणुओंके संयोगसे द्वयणुक आदि क्रमसे बननेवाले घट आदि कार्योंमें एक 'अवयविद्रव्य' पृथक् स्वीकार किया है, जो परमाणुरूप समवायिकारण तथा उनके संयोगरूप असमवायिकारण से उत्पन्न होता है। यही अवयविद्रव्य हम लोगोंके इन्द्रियज्ञानका विषय होता है। जब कभी घड़ेका एक अंश झर जाता या चटक जाता है तो शेष परमाणुओंमें फिर क्रिया होती है और उतने ही परमाणुओंसे फिर एक नया अवयविद्रव्य शेष अवयवोंमें रहनेवाला उपस्थित हो जाता है। इस तरह यह प्रक्रिया चालू रहती है। परमाणुद्रव्य नित्य हैं तथा उनके संयोग क्रिया और गुण आदि अनित्य हैं। अवयविद्रव्य अनित्य हैं और ये अपने अवयव रूपी कारणोंमें समवाय सम्बन्धसे रहते हैं।

इस तरह ऊपरके विवेचन से यह ज्ञात हुआ कि–एक पक्षका कथन है कि ये घटादि स्थूलद्रव्य या सूक्ष्म परमाणुद्रव्य हैं ही नहीं, केवल प्रतिभास है; दूसरा पक्ष है कि–परमाणु तो हैं पर अवयवी प्रतिभासमात्र है; तो तीसरा पक्ष है कि–परमाणु भी हैं और अवयवी भी स्वतन्त्र द्रव्य हैं, उनका परस्पर समवायसम्बन्ध है।

जैनदर्शनकी अपनी प्रक्रिया यह है कि–पुद्गल परमाणु स्वतन्त्र द्रव्य हैं। प्रत्येक द्रव्य अपने निज स्वभावके कारण नवीन पर्यायका उत्पाद, पूर्व पर्यायका नाश और अविच्छिन्न सन्ततिरूप ध्रौव्यकी परम्परा को कायम रखे हुए हैं। जब कुछ परमाणुओंको मिलाकर एक पिण्ड या स्कन्ध बनाया जाता है या स्वयं बनता है, तो उसमें सम्मिलित परमाणु एक दूसरेसे सम्बद्ध हो जाते हैं और वे सब अपनी एक जैसी पर्यायोंके उत्पादक होने लगते हैं। यह उस सम्बन्धपर निर्भर करता है कि क्या वह सम्बन्ध रासायनिक है जैसे कि हल्दी और चूनेका, जिसमें दोनों अपने रूपको बदलकर तीसरा ही रूप ले लेते हैं; या मात्र संयोग है जैसे पाँच रंगके जुदेजुदे धागोंसे बनी हुई पचरंगी साड़ीमें धागोंका मात्र संयोग हुआ है, उनका हल्दी और चूनेकी तरह रासायनिक मिश्रण नहीं हुआ है। सम्बन्धके असंख्य प्रकार हैं–कोई स्कन्धाकार परिणति कराता है, तो कोई दृढ़ कोई शिथिल कोई निबिड कोई सघन आदि होता है। बात यह है कि–सभी पुद्गल परमाणु मूलतः एकजातीय हैं। इनमें परस्पर कोई जातिभेद नहीं है। कोई ऐसा पुद्गलपरिणमन किन्हीं खास परमाणुओंका निश्चित नहीं है जो साक्षात् या परम्परासे दूसरे परमाणुओंका न हो सके। प्रत्येकमें पुद्गलके अनन्त परिणमनोंकी योग्यता है। यह तो परिस्थिति पर निर्भर करता है कि किन परमाणुओंका किस समय कैसा परिणमन हो। हर परमाणुको प्रतिसमय अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभावके कारण बदलना अवश्य है। जब जिसे जहाँ जैसी सामग्री मिल जाती है वह वहाँ उसी प्रकार परिणति करता जाता है। उदाहरणार्थ आकाशमें एक ऑक्सीजनका परमाणु है और दूसरा हाइड्रोजनका। यदि किसी प्रयोग या संयोगवश दोनों एक दूसरे से मिल जाते हैं तो दोनोंका पानी रूपसे परिणमन हो जाता है, अन्यथा जैसे संयोग उपलब्ध होंगे उनके अनुसार ऑक्सीजनका ऑक्सीजन रह सकता है या अन्य कोई संभव अवस्थाको पा सकता है। तात्पर्य यह कि पुद्गलकी अचिन्त्य शक्तियाँ हैं, कब किस शक्तिका किस संयोगसे कैसा विकास होगा यह विवरणके साथ जानना शक्य नहीं है, तो भी सामान्य रूपसे उसकी परिणमन प्रक्रिया और दिशा तो ज्ञात है ही।

तो जब मिट्टीके पिंड के परमाणु एक दूसरेसे मिलकर पिंड बनते हैं और पिंड से घड़ा बनते हैं तो उनमें कोई पिंड नामक अवयवीद्रव्य ऊपरसे आकर नहीं बैठता किन्तु परस्पर विशिष्ट सम्बन्धके कारण तदृश अवस्थाको प्राप्त परमाणु ही पिंड बन जाते हैं। उस समय उनका व्यक्तित्व समूहमें विलीन हो जाता है और परस्पर सम्बन्धके अनुसार उनके रूप रस गन्ध आदिका लगभग समान परिणमन होता रहता है। जब कोई आम किसी खास स्थानपर सड़ने लगता है, तो उस संघटनमें सम्मिलित परमाणुओंके समुदायसे कुछ परमाणु विद्रोह कर बैठते हैं और अपनी जुदी अवस्थाके लिये तैयार हो जाते हैं। यह सड़ाँद उनके पृथक् परिणमनकी स्थिति है। यह ध्यानमें रखना चाहिए कि पुद्गलके अनन्त परिणमन होते हैं। अवस्था

विशेषमें किसीमें कोई गुण उद्भूत अल्पोद्भूत या अनुद्भूत रहता है तो किसीमें कोई गुण। पर इससे उस समय उसमें उस गुणका अभाव नहीं हो जाता। यह उद्भव और अभिभव या उत्पाद और विनाशकी प्रक्रिया निरपवाद रूपसे प्रतिक्षण चालू रहती है। इस सामुदायिक बन्धन दशामें उस पिण्डके रूप रस गन्ध और स्पर्श आदि गुण वे ही ग्राह्य होते हैं जिनमें सम्मिलित परमाणुओंकी बहुमति होती है। यह भी संभव है कि घड़ेके एक भागके परमाणुओंमें लाल रूप प्रकट हो और दूसरी ओर काला या पीला। इसी तरह रस और गन्ध आदिकी भी विचित्रता हो सकती है। और इसमें आश्चर्यकी कोई खास बात नहीं है; क्योंकि यह तो उस पुद्गलके स्वभाव-भूत परिणमनकी योग्यता और विकासकी सामग्रीके वैचित्र्यपर निर्भर करता है कि कब किसका कहाँ कैसा परिणमन हो।

तात्पर्य यह कि जैनदर्शन न तो अतिरिक्त अवयवीद्रव्य मानता है और न घटादिके प्रतिभासको भ्रम मानता है किन्तु वास्तविक परमाणुओंकी वास्तविक सम्बद्ध पर्यायमें ही वास्तविक प्रतिभास और वास्तविक व्यवहार मानता है। वह सर्वतः वास्तववादी है। ऐसे पदार्थको वह शब्द से अछूता भी नहीं रखना चाहता किन्तु पदार्थमें वाच्यशक्ति और शब्दमें वाचकशक्ति मानता है और उनका वास्तविक वाच्यवाचक सम्बन्ध भी स्वीकार करता है। उसे यह डर नहीं है कि यदि शब्दका अर्थसे सम्बन्ध मान लिया तो कोई शब्द असत्य नहीं हो पायगा। जिसका वाच्यभूत अर्थ यथावत् उपलब्ध हो वह सत्य और जिसका उपलब्ध न हो वह असत्य, यह सत्यासत्यकी कसौटी खुली हुई है। जो इसमें जितना खरा उतरे उसमें उतनी ही मात्रामें सत्यता और असत्यता होगी।

इस तरह प्रमेयकी वास्तविक स्थिति होनेपर इन्द्रियजन्य ज्ञानको जो संव्यवहारप्रत्यक्ष कहा गया है उसका अपना दूसरा ही सैद्धान्तिक कारण है। जैनपरम्परामें जो ज्ञान आत्ममात्रसापेक्ष होता है, पर की अपेक्षा नहीं रखता उसे 'प्रत्यक्ष' संज्ञा दी है। इन्द्रियाँ और मन पराश्रित साधन हैं, अतः जो ज्ञान इनके अधीन है वह वस्तुतः स्वावलम्बी प्रत्यक्षकी मर्यादामें नहीं आ सकता। यह इनकी अपनी प्राचीन व्याख्या है। परन्तु लोकव्यवहारमें तो इन्द्रियजन्यज्ञान स्पष्ट और प्रायः सर्वसम्मत रूपसे प्रत्यक्ष कहा जाता है तब इस असंगतिका समाधान करनेके लिये संव्यवहार प्रत्यक्षका अवतार किया गया। यानी शास्त्रीय व्यवस्थामें इन्द्रियजन्य ज्ञान परोक्ष होकर भी लोकव्यवहारमें वैशद्यांशका सद्भाव होनेसे प्रत्यक्ष कहा गया। संव्यवहारका अर्थ वेदान्तीकी अविद्या या माया और विज्ञानाद्वैतवादीकी संवृति जैसा 'असद्भूत' नहीं है किन्तु यह तो केवल वास्तविक वर्गीकरणकी एक पद्धतिमात्र है। यहाँ इन्द्रियाँ भी सत्य हैं, पदार्थ भी सत्य है, उनका योग्यदेशावस्थिति रूप सम्बन्ध भी सत्य है और उनसे समुत्पन्न ज्ञान भी सत्य है। प्रश्न इतना ही था कि इस ज्ञानको प्रत्यक्ष कहा जाय तो किस रूपमें कहा जाय। उसीका समाधान 'संव्यवहार प्रत्यक्ष'से किया गया है।

अवग्रहादि ज्ञान–

जिस अवग्रह ज्ञानसे प्रमाणकी सीमा प्रारम्भ होती है वह अपनेमें अवान्तरसामान्यसे विशिष्ट किसी विशेषांशका भी निश्चय रखता है। स्वांशके निश्चयका प्रमाणसे कोई सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि स्वसंवेदन ज्ञान सामान्यका धर्म है, वह प्रमाण और अप्रमाण सभी ज्ञानोंमें समान भावसे पाया जाता है। कोई भी ज्ञान भले ही वह वस्तुको विषय करनेवाला ही क्यों न हो यदि अध्यवसायात्मक या व्यवसायात्मक नहीं है तो वह अनध्यवसायकी तरह अकिञ्चित्कर ही होगा। अवग्रह ज्ञानमें 'पुरुषोऽयम्' रूपसे पुरुषत्व जातिवाले पुरुषका स्पष्ट निर्णय हो जानेपर ही उसमें विशेषांशकी जिज्ञासा संशय ईहा और विशेषांशका निर्णय यह ज्ञानधारा चलती है। इनमें ईहा ज्ञान ऐसा है जो विशेषांशके यथार्थ निर्णयमें सहायक होता है। ईहा संशयकी अवस्था को पार करके 'ऐसा होना चाहिए' इस प्रकारका निर्णयोन्मुख ज्ञान है। यह चेष्टाका पर्यायवाची नहीं है। इस अवाय ज्ञान तक चलनेवाली ज्ञानधारामें कोई ज्ञान न सर्वथा प्रमाणात्मक है और न सर्वथा फलात्मक ही। पूर्व पूर्व ज्ञान उत्तर उत्तरके प्रति साधकतम और परिणामी कारण होनेसे प्रमाण हैं और उत्तर उत्तर

ज्ञान फल रूप हैं। धारणाके साथ अवायका भी ऐसा ही प्रमाणफलभाव है। अवायकी दृढतम अवस्था धारणा कहलाती है और यह प्रत्यक्ष ज्ञानका ही भेद है। अकलङ्कदेव इस धारणाको ही संस्कार कहते हैं। इसका प्रबोध आगे स्मरणमें कारण होता है। इसमें इतना ही विवेक आवश्यक है कि अवायोत्तर कालमें होनेवाली धारणा जबतक इन्द्रियव्यापारका अनुविधान करती है तभीतक वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्षमें अन्तर्भूत है। आगे वही इन्द्रियव्यापार बदल जानेपर संस्कार अवस्थाको प्राप्त हो जाती है।

इस विवेचनका फलितार्थ यह हुआ कि–जैन दर्शनमें कोई ज्ञान निर्विकल्पक नहीं होता। जो निर्विकल्पक हैं वह दर्शन है और उसका पर्यवसान अन्ततः स्वात्मावलोकनमें होता है, अतः वह प्रमाण विचारके बहिर्भूत है। प्रमाणव्यवहार ज्ञान अवस्था से होता है और ज्ञान सदा सविकल्पक ही होता है। उसमें निश्चयात्मकता ही सविकल्पकता है। किसी भी ज्ञानमें शब्दका संसर्ग होने या न होनेसे प्रमाणता और अप्रमाणताका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह तर्क भी उचित नहीं है कि–जब पदार्थ स्वयं शब्दशून्य है तब उससे शब्दसंसर्गवाला सविकल्पक ज्ञान कैसे उत्पन्न हो सकता है? क्योंकि जिस प्रकार शब्दशून्य निर्विकल्पकसे सविकल्पक ज्ञानके उत्पन्न होनेमें कोई बाधा नहीं है उसी तरह शब्दशून्य अर्थसे सविकल्पक ज्ञान भी उत्पन्न हो सकता है।

नैयायिकके द्वारा जो निर्विकल्पक ज्ञानका वर्णन किया गया है वह तो एक प्रकारसे निश्चयात्मक ज्ञानका ही वर्णन है। घट और घटत्वका जुदा-जुदा प्रतिभास होना निर्विकल्पक है और घटत्वविशिष्ट घटका विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही प्रतिभास होना सविकल्पक है। निश्चयात्मक ज्ञानोंकी ये दो सीमाएँ इसलिये बाँधनी पड़ीं कि नैयायिक सामान्यपदार्थ पृथक् मानता है। किन्तु जब सामान्य भी वस्तुरूप ही फलित होता है तब इस प्रकारका ज्ञानभेद मानना बहुत उपयोगी नहीं रह जाता। नैयायिककी तरह मीमांसक भी निर्विकल्पक-सविकल्पक दोनोंको ही प्रमाण मानता है।

केवलज्ञानकी सिद्धि और इतिहास–

समस्त ज्ञानावरणके समूल नाश होनेपर प्रकट होनेवाला निरावरण ज्ञान केवल ज्ञान है। यह आत्ममात्रसापेक्ष होता है। यह केवल अर्थात् असहाय–अकेला होता है। इस ज्ञान के उत्पन्न होते ही समस्त क्षायोपशमिक ज्ञान विलीन हो जाते हैं। यह समस्त द्रव्योंकी सर्व पर्यायों को विषय करता है, अतीन्द्रिय और सम्पूर्ण निर्मल होता है। इसकी प्राप्तिसे मनुष्य सर्वज्ञ हो जाता है। ज्ञेय स्वल्प हो जाते हैं। यह ज्ञान सर्वतः अनन्त होता है।

प्राचीन कालमें भारतवर्षकी परम्पराके अनुसार सर्वज्ञताका सम्बन्ध भी मोक्षके साथ ही था। मुमुक्षुओंमें विचारणीय विषय तो यह था कि मोक्ष तथा मोक्षके मार्गका किसीने साक्षात्कार किया है? यह मोक्ष मार्ग धर्म शब्दसे निर्दिष्ट होता है। अतः सीधे विवादका विषय यह रहा कि–धर्मका साक्षात्कार हो सकता है या नहीं। एक पक्षका, जिसके अनुगामी शबर, कुमारिल आदि मीमांसक हैं, कहना था कि–धर्म जैसी अतीन्द्रिय वस्तुएँ हम लोग प्रत्यक्षसे नहीं जान सकते। धर्म के सम्बन्धमें वेदका ही अन्तिम और निर्बाध अधिकार है। धर्मकी परिभाषा "चोदनालक्षणोऽर्थः धर्मः" करके धर्ममें वेदको ही प्रमाण माना है। इस धर्ममें वेदको ही अन्तिम प्रमाण माननेके कारण उन्हें पुरुषमें अतीन्द्रियार्थविषयक ज्ञानका अभाव मानना पड़ा। उन्होंने पुरुषमें राग द्वेष और अज्ञान आदि दोषोंकी शंका होनेसे अतीन्द्रियधर्मप्रतिपादक वेदको पुरुषकृत न मानकर अपौरुषेय माना है। इस अपौरुषेयत्वकी भावनासे ही पुरुषमें सर्वज्ञताका अर्थात् प्रत्यक्षसे होनेवाली धर्मज्ञताका निषेध हुआ है। कुमारिल स्पष्ट लिखते हैं[2] कि–सर्वज्ञत्वके निषेधसे हमारा तात्पर्य केवल धर्मज्ञत्वके निषेधसे है। धर्मके सिवाय यदि कोई पुरुष संसारके समस्त अर्थों को जानना चाहता है तो भले ही जाने, हमें कोई

(१) "पूर्वपूर्वप्रमाणत्वं फलं स्यादुत्तरोत्तरम्"–लघी० श्लो० ६।

(२) "धर्मज्ञत्वनिषेधश्च केवलोऽत्रोपयुज्यते।
सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते॥"–तत्त्वसं० का० ३१२८। (कुमारिलके नामसे उद्धृत)।

आपत्ति नहीं है पर धर्मका ज्ञान केवल वेदके द्वारा ही होगा, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से नहीं। इस तरह वेदको वेदके द्वारा तथा धर्मातिरिक्त शेष पदार्थोंको यथासम्भव अनुमानादि प्रमाणोंसे जानकर यदि कोई पुरुष टोटलमें सर्वज्ञ बनता है तब भी कोई विरोध नहीं है।

दूसरा पक्ष बौद्धों का है। ये बुद्धको धर्म-चतुरार्य सत्यका प्रत्यक्षज्ञाता मानते हैं। इनका कहना है कि–बुद्धने अपने भास्वर ज्ञानके द्वारा दुःख, दुःखके कारण, निरोध-मोक्ष, मार्ग–मोक्षके उपाय इस चतुरार्यसत्य धर्मका प्रत्यक्ष दर्शन किया है। अतः धर्मके विषयमें धर्मद्रष्टा सुगत ही अन्तिम प्रमाण हैं। वे करुणा करके कषाय ज्वालासे झुलसे हुए संसारी जीवोंके उद्धारकी भावनासे उपदेश देते हैं। इस मतके समर्थक धर्मकीर्तिने लिखा है[1] कि–हम 'संसारके समस्त पदार्थोंका कोई पुरुष साक्षात्कार करता है या नहीं' इस निरर्थक बातके झगड़े में नहीं पड़ना चाहते, हम तो यह जानना चाहते हैं कि उसने इष्ट तत्त्व–धर्मको जाना है कि नहीं। मोक्षमार्गके अनुपयोगी दुनियाभरके कीड़े-मकोड़े आदि की संख्याके परिज्ञानका भला मोक्षमार्गसे क्या सम्बन्ध है? धर्मकीर्ति सर्वज्ञताका सिद्धान्ततः विरोध नहीं करके उसे निरर्थक अवश्य बतलाते हैं। वे सर्वज्ञताके समर्थकोंसे कहते हैं कि मीमांसकोंके सामने सर्वज्ञता–त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थोंका प्रत्यक्षसे ज्ञान–पर जोर क्यों देते हो? असली विवाद तो धर्मज्ञतामें है कि धर्मके विषयमें धर्मके साक्षात् द्रष्टाको प्रमाण माना जाय या वेदको। उस धर्मके साक्षात्कारके लिए धर्मकीर्तिने आत्मा–ज्ञानप्रवाहसे दोषोंका अत्यन्तोच्छेद माना और उसके साधन नैरात्म्यभावना आदि बताये हैं। तात्पर्य यह कि–जहाँ कुमारिलने प्रत्यक्षसे धर्मज्ञताका निषेध करके धर्मके विषयमें वेदका ही अबाधित अधिकार स्वीकार किया है, वहाँ धर्मकीर्तिने प्रत्यक्षसे ही धर्म–मोक्षमार्गका साक्षात्कार मानकर प्रत्यक्षके द्वारा होनेवाली धर्मज्ञताका जोरोंसे समर्थन किया है।

धर्मकीर्तिके टीकाकार प्रज्ञाकर गुप्तने[2] सुगतको धर्मज्ञके साथ ही साथ सर्वज्ञ–त्रिकालवर्ती यावत्पदार्थोंका ज्ञाता भी सिद्ध किया है और लिखा है कि सुगतकी तरह अन्य योगी भी सर्वज्ञ हो सकते हैं, यदि वे अपनी साधक अवस्थामें रागादिनिर्मुक्तिकी तरह सर्वज्ञताके लिए भी यत्न करें। जिनने वीतरागता प्राप्त कर ली है; वे चाहें तो थोड़े से प्रयत्न से ही सर्वज्ञ बन सकते हैं। शान्तरक्षित[3] भी इसी तरह धर्मज्ञताके साथही साथ सर्वज्ञता सिद्ध करते हैं और सर्वज्ञताको वे शक्ति रूपसे सभी वीतरागोंमें मानते हैं। कोई भी वीतराग जब चाहे तब जिस किसी भी वस्तुका साक्षात्कार कर सकता है।

योग-दर्शन और वैशेषिक दर्शनमें यह सर्वज्ञता अणिमा आदि ऋद्धियों की तरह एक विभूति है जो सभी वीतरागोंके लिए अवश्य ही प्राप्तव्य नहीं है। हाँ, जो इसकी साधना करेगा उसे यह प्राप्त हो सकती है।

"जैन दार्शनिकोंने प्रारम्भसे ही त्रिकालत्रिलोकवर्ती यावज्ज्ञेयोंके प्रत्यक्ष दर्शनके अर्थमें सर्वज्ञता मानी

---

(१) "तस्मादनुष्ठेयगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम्।
कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते ॥३३॥
दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु।
प्रमाणं दूरदर्शी चेदेत गृद्ध्रानुपास्महे ॥३५॥"–प्रमाणवा० १।३३–३५।

(२) "ततोऽस्य वीतरागत्वे सर्वार्थज्ञानसंभवः।
समाहितस्य सकलं चकास्तीति विनिश्चितम्।
सर्वेषां वीतरागाणामेतत् कस्माच्च विद्यते?
रागादिक्षयमात्रे हि तैर्यत्नस्य प्रवर्तनात् ॥...
पुनः कालान्तरे तेषां सर्वज्ञगुणरागिणाम्।
अल्पयत्नेन सर्वज्ञत्वसिद्धिरवारिता ॥"–प्र० वार्तिकालं० पृ० ३२९।

(३) "यद्यदिच्छति बोद्धुं वा तत्तद्वेत्ति नियोगतः।
शक्तिरेवंविधा ह्यस्य प्रहीणावरणो ह्यसौ ॥"–तत्त्वसं० का० ३६२८।

(४) "सई भगवं उप्पण्णणाणदरिसी...सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्मं समं जाणदि पस्सदि विहरदित्ति"–षट्खं० धवलि० सू०७८।

है और उसका समर्थन भी किया है[1]। यद्यपि तर्क युग से पहले "जे एगे जाणइ से सव्वे जाणइ" [आचा० सू० १।२३] जो एकको जानता है, वह सबको जानता है, इत्यादि वाक्य जो सर्वज्ञताके मुख्य साधक नहीं हैं, पाये जाते हैं, पर तर्कयुगमें इनका जैसा चाहिये वैसा उपयोग नहीं हुआ। आचार्य कुन्दकुन्द[2]ने नियमसारके शुद्धोपयोगाधिकार (गाथा १५८) में लिखा है कि–'केवली भगवान् समस्त पदार्थोंको जानते और देखते हैं, यह कथन व्यवहार नयसे है परन्तु निश्चयसे वे अपने आत्मस्वरूपको ही देखते और जानते हैं।' इससे स्पष्ट फलित होता है कि केवलीकी परपदार्थज्ञता व्यावहारिक है, नैश्चयिक नहीं। व्यवहारनयको अभूतार्थ और निश्चयनयको भूतार्थ–परमार्थ स्वीकार करनेकी मान्यतासे सर्वज्ञताका पर्यवसान अन्ततः आत्मज्ञतामें ही होता है। यद्यपि उन्हीं कुन्दकुन्दाचार्यके अन्य ग्रन्थोंमें सर्वज्ञताके व्यावहारिक अर्थका भी वर्णन देखा जाता है, पर उनकी निश्चयदृष्टि आत्मज्ञताकी सीमाको नहीं लाँघती।

आ० कुन्दकुन्दने प्रवचनसार[3]में सर्वप्रथम केवलज्ञानको त्रिकालवर्ती समस्त अर्थोंका जाननेवाला लिखकर आगे लिखा है कि जो अनन्तपर्यायवाले एक द्रव्यको नहीं जानता वह सबको कैसे जानता है? और जो सबको नहीं जानता वह अनन्तपर्यायवाले एक द्रव्यको पूरी तरहसे कैसे जान सकता है? इसका तात्पर्य यह है कि–जो मनुष्य घटज्ञानके द्वारा घटको जानता है वह साथ ही साथ घटज्ञानके स्वरूपका भी संवेदन कर ही लेता है, क्योंकि प्रत्येक ज्ञान स्वप्रकाशी होता है। इसी तरह जो व्यक्ति घटको जाननेकी शक्ति रखनेवाले घटज्ञानका यथावत् स्वरूपपरिच्छेद करता है वह घटको तो अर्थात् ही जान लेता है, क्योंकि उस शक्तिका यथावत् विश्लेषणपूर्वक परिज्ञान विशेषणभूत घटको जाने बिना हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार आत्मामें अनन्त ज्ञेयोंके जाननेकी शक्ति है, अतः जो संसारके अनन्त ज्ञेयोंको जानता है वह अनन्तज्ञेयोंके जाननेकी शक्ति रखनेवाले पूर्णज्ञानस्वरूप आत्माको जान ही लेता है, और जो अनन्तज्ञेयोंके जाननेकी शक्तिवाले पूर्णज्ञानस्वरूप आत्माको यथावत् विश्लेषण करके जानता है वह उन शक्तियोंके उपयोगस्थानभूत अनन्त पदार्थोंको भी जान ही लेता है; क्योंकि अनन्तज्ञेय तो उस ज्ञानके विशेषण हैं और विशेष्यका ज्ञान होनेपर विशेषणका ज्ञान अवश्य हो ही जाता है। जैसे जो व्यक्ति घटप्रतिबिम्बवाले दर्पणको जानता है वह घटको भी जानता है और जो घटको जानता है वही दर्पणमें आये हुए घटके प्रतिबिम्बका वास्तविक विश्लेषणपूर्वक यथावत् परिज्ञान कर सकता है। 'जो एकको जानता है वह सबको जानता है', इसका यही रहस्य है।

निश्चयनय और सर्वज्ञता–

निश्चयनयकी दृष्टिसे सर्वज्ञताका जो पर्यवसान आत्मज्ञतामें किया गया है उस सम्बन्धमें यह विचार भी आवश्यक है कि निश्चयनयका वर्णन स्वाश्रित होता है।[4] दर्शनके वर्णनमें यह बताया जा चुका है कि चैतन्य जब तक निराकार यानी मात्र स्वाकार रहता है तब तक वह दर्शन है और जब वह साकार अर्थात्

---

(१) "से भगवं अरहं जिणे केवली सव्वन्नू सव्वभावदरिसी···सम्वलोए सव्वजीवाणं सव्वभावाइं जाणमाणे पासमाणे एवं च णं विहरइ"–आचा० २।३ पृ० ४३५।

(२) "जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥"

(३) "जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं॥
जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तेकालिके तिहुवणत्थे।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेकं वा॥
दव्वमणंतपज्जयमेकमणंताणि दव्वजादाणि।
ण विजाणदि जदि जुगवं कध सो सव्वाणि जाणादि॥"–प्रवचनसार १।४७–४९।

(४) "स्वाश्रितो निश्चयः पराश्रितो व्यवहारः इति वचनात्"–नियमसार टी० गा० १५८।

ज्ञेयाकार बनता है तब ज्ञान कहलाता है। अब प्रश्न यह है कि निश्चयनयकी दृष्टिमें ज्ञान स्वसेाभिन्न किसी पर-पदार्थको जानता है क्या ? और यदि जानता है तो उसका यह परका जानना क्या पराश्रित कहा जाकर व्यवहारकी सीमामें नहीं आयगा ? इस प्रश्नके उत्तरमें हमें अपनी दार्शनिक प्रक्रियासे ऊपर उठकर कुन्दकुन्दकी दृष्टिसे ही विचार करना होगा। आ० कुन्दकुन्दकी दृष्टिमें जहाँ कहीं थोड़ा भी पर पदार्थका आश्रय आया कि वह निश्चयनयकी सीमासे बाहर हो जाता है। समयप्राभृत[२] में तो उन्होंने ज्ञान दर्शन और चारित्रके गुणभेद तकको भी व्यवहारनयमें ही डाल दिया है–

"ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो॥"

अर्थात् चारित्र दर्शन और ज्ञानके भेदका उपदेश व्यवहारनयसे है। निश्चयनयसे न ज्ञान है न चारित्र और न दर्शन ही, वह तो शुद्ध ज्ञायक है।

जहाँ तक द्रव्य के परिणमनकी बात है, वह एक द्रव्यमें एक समयमें एक ही होता है। वह भी उसके अपने निज उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक मूलस्वभाव के कारण। द्रव्य चाहे शुद्ध हो या अशुद्ध, इस परिणामी स्वभावके कारण वह प्रतिक्षण पूर्वपर्यायको छोड़कर नई पर्यायको धारण करता हुआ–अतीतसे वर्तमान होता हुआ आगे बहता चला जा रहा है। आत्मद्रव्य एक अखण्ड द्रव्य है। वह भी इसी ध्रुव नियमके अनुसार प्रतिक्षण परिणामी है। उसके इस एक वर्तमानकालीन परिणमनको ज्ञान दर्शन सुख और चारित्र आदि अनेक गुणमुखोंसे देखा जाता है। इन समस्त गुणों में एक चैतन्य जाग्रत रहता है। वही एक चैतन्यज्योति सभी गुणों में प्रकाशमान है। कुन्दकुन्द उसी ज्योति को 'शुद्धज्ञायक' शब्दसे कहते हैं। ज्ञान और दर्शनमें भी यही ज्ञायकज्योति प्रकाशमान है। जब यह ज्योति स्वसे भिन्न किसी ज्ञेयको प्रकाशित करती है तब ज्ञान कही जाती है और जब वह मात्र स्वको प्रकाशित करती है तब दर्शन कहलाती है। यानी इस ज्योति में 'ज्ञान' संज्ञा परके प्रकाशकत्वसे आती है। अब विचार कीजिये कि–जो निश्चयनय अपने गुण-गुणीभेदको भी सहन नहीं करता वह 'चैतन्य'में परप्रकाशकत्वसे आनेवाली 'ज्ञान' इस संज्ञाको कैसे स्वीकार कर सकता है? दूसरे शब्दोंमें वह 'ज्ञायक' को 'शुद्ध ज्ञायक' मानना चाहता है। आत्मा जब तक विभावपरिणति करता रहता है तब तक उसके अनेक योग उपयोग और विकल्प होते रहते हैं किन्तु जब यह विभाव दशासे स्वभावमें पहुँचता है तब उसकी परिणति एक ही होती है और वह होती है शुद्धज्ञायक परिणति। सिद्ध होनेके प्रथम क्षणसे अनन्तकाल तक एक जैसी शुद्ध परिणति उसकी होती है। तब यह प्रश्न उठता है कि–यदि सिद्धकी अनन्तकालतक एक जैसी शुद्धपर्याय बनी रहती है तो उत्पाद और व्यय माननेसे क्या लाभ ? इसका सहज समाधान यही है कि–यह तो द्रव्यका मूलभूत निज स्वभाव है कि वह प्रतिक्षण उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक हो। बिना इसके वह 'सत्' नहीं हो सकता। उसमें जो अगुरुलघुगुण है उसके कारण वह न गुरु होता है और न लघु, वह अपने निज द्रव्यत्वको बनाये रखता है। उत्पाद-व्ययका यह अर्थ कभी नहीं है कि जो प्रथम समयमें है वह द्वितीय समयमें न हो या उससे विलक्षण ही हो, किन्तु उसका अर्थ केवल इतना ही है कि पूर्वपर्याय विनष्ट हो और उत्तर पर्याय उत्पन्न हो। वह उत्तर पर्याय सदृश विसदृश अर्धसदृश और अल्पसदृश कैसी भी हो सकती है। स्वभाव दृष्टिसे तो 'हो' इतना ही विचारणीय है, 'कैसी हो' यह सामग्री पर निर्भर करता है। अनन्तकाल तक एक जैसी शुद्ध अवस्था यदि रहती है; तो रहो, इसमें उनके सिद्धत्वकी कोई क्षति नहीं है।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार विभाव अवस्थामें उसके विचित्र अशुद्ध परिणमन होते थे उस प्रकार स्वभाव अवस्थामें नहीं होते। स्वभाव एक ही होता है और शुद्धता भी एक ही होती है।

तो क्या शुद्ध अवस्थामें आत्मा ज्ञानशून्य हो जाता है ? इस प्रश्नका शुद्ध निश्चयनयसे यही उत्तर हो सकता है कि चैतन्य के परिणामी होते हुए भी ऐसी कोई अवस्था नहीं होनी चाहिए जिसमें परकी अपेक्षा हो। ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य आदि भेद भी शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिमें नहीं है। वह तो एक अखण्ड चिपिण्ड-

(२) गाथा ७।

को देखता है। 'आत्माके ज्ञान दर्शन आदि गुण हैं,' इसे वह भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिक मानता है[1]। तथा 'केवलज्ञानादि जीव हैं' इसे वह निरुपाधि गुणगुण्यभेदविषयक अशुद्ध निश्चयनय समझता है।[2]

सारांश यह है कि शुद्धनिश्चयनयकी दृष्टिमें किसी भी प्रकारका भेद या अशुद्धता नहीं रहती। इस दृष्टिसे जब सोचते हैं तो जिस प्रकार वर्णादि आत्मा के नहीं है उसी प्रकार रागादिभी आत्माके नहीं हैं और गुणस्थानपर्यन्त समस्त ज्ञानादि भाव भी आत्माके नहीं हैं। इसी दृष्टिसे यदि 'जाणदि पस्सदि' का व्याख्यान करना हो तो प्रथम तो 'ज्ञान और दर्शन' ये भेद ही नहीं होंगे, कदाचित् स्वीकार करके चलें भी, तो इनका क्षेत्र 'स्वस्वरूप' ही हो सकता है 'स्व' के बाहर नहीं। परका स्पर्श करते ही वह पराश्रित व्यवहारकी मर्यादामें जा पहुँचेगा। यह नय ज्ञानका पर पदार्थको जानना व्यवहार समझता है। निश्चयतः वह स्वरूपज्योति है और स्वनिमग्न है, उसका पराश्रितत्व व्यवहारकी सीमामें है।

जैनदर्शनकी नयप्रक्रिया अत्यन्त दुरूह और जटिल है। इसका अन्यथा प्रयोग वस्तुतत्त्वका विपर्यास करा सकता है। अतः जिस प्रकरणमें जिस विवक्षासे जिस नयका प्रयोग किया गया है उस प्रकरणमें उसी विवक्षासे समस्त परिभाषाओंको देखना और लगाना चाहिए। किसी एक परिभाषाको शुद्धनिश्चय नयकी दृष्टिसे लगाकर तथा अन्य परिभाषाओंको व्यवहारकी दृष्टिसे पकड़कर घोलघाल करनेमें जैन शासनका यथार्थ निरूपण नहीं हो सकता किन्तु विपर्यास ही हाथ लगता है।

समन्तभद्रादि आचार्यों का मत–

समन्तभद्र आदि आचार्योंने सूक्ष्म अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थोंका प्रत्यक्षत्व अनुमेयत्व हेतुसे सिद्ध किया[3] है। बौद्धोंकी तरह किसी भी जैनग्रन्थमें धर्मज्ञता और सर्वज्ञता विभाजन कर उनमें गौणमुख्यभाव नहीं बताया है। सभी जैन तार्किकोंने एक स्वरसे त्रिकाल त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थोंके पूर्ण परिज्ञानके अर्थमें सर्वज्ञताका समर्थन किया है। धर्मज्ञता तो उक्त पूर्ण सर्वज्ञताके गर्भमें ही निहित मान ली गई है।

आचार्य वीरसेन स्वामीने जयधवलाटीकामें केवलज्ञानकी सिद्धिके लिये एक नवीन ही युक्ति दी है। वे लिखते हैं कि–केवलज्ञान ही आत्मा का स्वरूप है। यह केवलज्ञान ज्ञानावरण कर्मसे आवृत होता है और आवरणके क्षयोपशमके अनुसार मतिज्ञान आदिके रूपमें प्रकट होता है। तो जब हम अंशभूत मतिज्ञान आदिका स्वसंवेदन करते हैं तब उस रूपसे अंशी केवलज्ञानका भी अंशतः स्वसंवेदन हो जाता है। जैसे पर्वतके एक अंशको देखनेपर भी पर्वतका व्यवहारतः प्रत्यक्ष माना जाता है उसी तरह मतिज्ञानादि अवयवों को देखकर अवयवीरूप केवलज्ञान यानी ज्ञानसामान्यका प्रत्यक्ष भी स्वसंवेदनसे ही हो जाता है। यहाँ आचार्यने केवलज्ञानको ज्ञानसामान्यरूप माना है।

'अकलंकदेवने सर्वज्ञताका समर्थन करते हुए लिखा है कि–आत्मामें समस्त पदार्थोंके जाननेकी पूर्ण सामर्थ्य है। संसारी अवस्थामें ज्ञानावरणसे आवृत होनेके कारण उसका पूर्ण प्रकाश नहीं हो पाता, पर जब चैतन्यके प्रतिबन्धक कर्मोंका पूर्ण क्षय हो जाता है, तब उस अप्राप्यकारी ज्ञानको समस्त अर्थोंके जाननेमें क्या बाधा है? यदि 'अतीन्द्रिय पदार्थोंका ज्ञान न हो सके तो सूर्य चन्द्र आदि ज्योतिर्ग्रहोंकी

(१) "भेदकल्पनासापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिको यथा आत्मनो दर्शनज्ञानादयो गुणाः।"
–आलापप० पृ० १६८।

(२) "तत्र निरुपाधिगुणगुण्यभेदविषयकोऽशुद्धनिश्चयः यथा केवलज्ञानादयो जीव इति।"
–आलापप० पृ० १७७।

(३) "सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः॥"–आप्तमी० श्लो० ५।

(४) देखो न्यायवि० श्लो० ४६५।

(५) "वीरस्यन्तपरोक्षेऽर्थे न चेत्पुंसां कुतः पुनः।
ज्योतिर्ज्ञानाविसंवादः श्रुताच्चेत्साधनान्तरम्॥"
–सिद्धिवि०, टी० पृ० ४१६। न्यायवि० श्लो० ४१४।

ग्रहण आदि भविष्यत् दशाओंका उपदेश कैसे हो सकेगा ? ज्योतिर्ज्ञानोपदेश अविसंवादी और यथार्थ देखा जाता है अतः यह मानना ही चाहिये कि उसका यथार्थ उपदेश अतीन्द्रियार्थदर्शनके बिना नहीं हो सकता। जैसे स्वप्नदर्शन इन्द्रियादिकी सहायताके बिना ही भावी राज्यलाभ आदिका यथार्थ स्पष्ट ज्ञान कराता है तथा विशद है, उसी तरह सर्वज्ञका ज्ञान भी भावी पदार्थोंमें संवादक और स्पष्ट होता है। जैसे प्रज्ञप्तिविद्या या [1]ईक्षणिकादि विद्या अतीन्द्रिय पदार्थोंका स्पष्ट भान करा देती है। उसी तरह अतीन्द्रिय ज्ञान स्पष्टभासक होता है।

जिस प्रकार परिमाण अणुपरिमाणसे बढ़ता-बढ़ता आकाशमें परममहापरिमाण या विभुत्वको प्राप्त होता है क्योंकि उसके प्रकर्षका तारतम्य देखा जाता है, उसी तरह ज्ञानके प्रकर्षमें भी तारतम्य देखा जाता है, अतः जहाँ वह ज्ञान निरतिशय[2] अर्थात् सम्पूर्ण अवस्थाको प्राप्त हो जाय वहीं सर्वज्ञता आ जाती है।

[3]माणिक्य आदिसे मलको हटाते-हटाते जैसे वह अत्यन्त निर्मल हो जाता है और मल समूल नष्ट हो जाता है उसी तरह ज्ञान भी आवरणके सम्पूर्णरूपसे हटनेपर निर्मल हो जाता है। यदि ज्ञानकी परम प्रकर्ष दशाकी संभावना न हो तो वेदके द्वारा भी अतीन्द्रियार्थोंका बोध कैसे हो सकता है ? 'संसारमें कोई सर्वज्ञ नहीं है' इस प्रकार जगत्की सर्वज्ञरहितताका परिज्ञान भी सर्वज्ञको ही हो सकता है असर्वज्ञको नहीं।

इस तरह अनेक साधक प्रमाणोंको बताकर उन्होंने जिस एक महत्त्वपूर्ण हेतुका प्रयोग किया है[4], वह है 'सुनिश्चिताऽसंभवद्बाधकप्रमाणत्व' अर्थात् बाधक प्रमाणोंकी असंभवताका पूर्ण निश्चय होना। किसी भी वस्तुकी सत्ता सिद्ध करनेके लिए 'बाधकाऽभाव' स्वयं एक बलवान् साधक प्रमाण है। जैसे 'मैं सुखी हूँ' यहाँ सुखका साधक प्रमाण यही हो सकता है कि मेरे सुखी होनेमें कोई बाधक प्रमाण नहीं है। चूँकि सर्वज्ञकी सत्तामें कोई बाधक प्रमाण नहीं है, अतः उसकी निर्बाध सत्ता होनी चाहिये।

भगवान् महावीरके समयमें स्वयं उनकी प्रसिद्धि सर्वज्ञके रूपमें थी। उनके शिष्य उन्हें सोते, जागते, हर हालतमें ज्ञानदर्शनवाला सर्वज्ञ बताते थे। पाली पटिकोंमें उनकी सर्वज्ञताकी परीक्षाके एक दो प्रकरण हैं, जिनमें सर्वज्ञताका एक प्रकारसे उपहास ही किया है। [5]न्यायबिन्दु नामक ग्रन्थमें धर्मकीर्तिने दृष्टान्ताभासोंके उदाहरणमें ऋषभ और वर्धमानकी सर्वज्ञताका उल्लेख किया है। इस तरह प्रसिद्धि और युक्ति दोनों क्षेत्रोंमें बौद्ध-ग्रन्थ वर्धमानकी सर्वज्ञताके एक तरहसे विरोधी ही रहे हैं। इसका कारण यही मालूम होता है कि बुद्धने अपनेको केवल चार आर्य सत्योंका ज्ञाता ही बताया था, बल्कि बुद्धने स्वयं अपनेको सर्वज्ञ कहनेसे इनकार किया था। वे केवल अपनेको धर्मज्ञ या मार्गज्ञ मानते थे और इसीलिए उन्होंने आत्मा मरणोत्तर जीवन और लोककी सान्तता और अनन्तता आदिके प्रश्नोंको अव्याकृत—न कहने लायक-कहकर इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंमें मौन ही रखा, जब कि महावीरने इन सभी प्रश्नोंके अनेकान्तदृष्टिसे उत्तर दिये और शिष्योंकी जिज्ञासाका समाधान किया। तात्पर्य यह है कि बुद्ध केवल धर्मज्ञ थे और महावीर सर्वज्ञ। यही कारण है कि बौद्ध-ग्रन्थोंमें मुख्य सर्वज्ञता सिद्ध करनेका जोरदार प्रयत्न नहीं देखा जाता, जब कि जैनग्रन्थोंमें प्रारम्भसे ही इसका प्रबल समर्थन मिलता है। आत्माको ज्ञानस्वभाव माननेके बाद निरावरण दशामें अनन्तज्ञान या सर्वज्ञताका प्रकट होना स्वाभाविक ही है। सर्वज्ञताका व्यावहारिक रूप कुछ भी हो, पर ज्ञानकी शुद्धता और परिपूर्णता असम्भव नहीं है।

---

(१) देखो न्यायवि० श्लो० ४०७। न्यायवि० वि० द्वि० भाग प्रस्तावना पृ० २६।

(२) "तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्"—योगसू० १।२५। व्यासभा० १।२५। सिद्धिवि० ८।८।

(३) सिद्धिवि० ८।९–१५।

(४) "अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत्"—सिद्धिवि० मू० ८।६। 'जैनदर्शन' पृ० ३०९।

(५) "यः सर्वज्ञः आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिदेशयान् तद्यथा ऋषभवर्धमानादिरिति। तत्रासर्वज्ञतानाप्ततयोः साध्यधर्मयोः संदिग्धो व्यतिरेकः।"—न्यायवि० ३।१२०।

परोक्षप्रमाण–

'अकलङ्कन्याय' के प्रकरणमें स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्क अनुमान और आगमके प्रामाण्यके सम्बन्धमें कहा जा चुका है।[1] अकलङ्कदेवकी एक ही दृष्टि है कि जो भी ज्ञान अविसंवादी हों उन्हें प्रमाण मानना चाहिए। स्मृति प्रत्यभिज्ञान और तर्क अपनी उत्पत्तिमें भले ही ज्ञानान्तरोंकी अपेक्षा रखते हों पर उत्पत्तिके अनन्तर स्वविषयप्रकाशन और स्वविषय-सम्बन्धी अविसंवाद तो उनमें बराबर है ही, अतः उन्हें प्रमाणतासे वंचित नहीं किया जा सकता। समस्त जीवनव्यवहार स्मृति और प्रत्यभिज्ञानसे ही चलता है। बन्धमोक्षादिव्यवस्था और कर्तृकर्मफलभाव आदिका ग्रहण प्रत्यभिज्ञानके बिना असंभव है। स्मृति और प्रत्यभिज्ञानके बिना अविनाभाव ग्रहणकी संभावना नहीं की जा सकती। संकेतस्मरण और संकेतग्रहण भी स्मृति और प्रत्यभिज्ञानके बिना असंभव हैं, अतः अनुमानप्रमाण और आगमप्रमाणकी सामग्रीके रूपमें भी इनकी सार्थकता है। व्याप्तिस्मरणके बिना अनुमान की और संकेतस्मरणके बिना आगमप्रमाणकी उत्पत्ति ही असंभव है। स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्क और अनुमानमें पूर्व पूर्व उत्तर उत्तर में कारण होते हैं। स्मरण प्रत्यभिज्ञानमें, स्मरण और प्रत्यभिज्ञान तर्कमें, तथा स्मरण प्रत्यभिज्ञान और तर्क अनुमानमें कारण होते हैं। जब अनुमानके बिना प्रत्यक्षकी प्रमाणताका निश्चय करना अशक्य है, दूसरेकी बुद्धिकी प्रतिपत्ति तथा परलोकादिका निषेध भी जब अनुमान के बिना संभव नहीं है तब अनुमान प्रमाण तो प्रामाणिक पद्धतिमें स्वीकार करना ही पड़ता है। किसी भी वादीका लोकव्यवहार स्मरण प्रत्यभिज्ञान तर्क और अनुमानके बिना चल नहीं सकता। वे इनसे व्यवहार चलाना तो चाहते हैं, पर इनकी प्रमाणता स्वीकार करने में हिचकिचाते हैं। किसी स्मरण प्रत्यभिज्ञान तर्क या अनुमानको व्यभिचारी देखकर सभीको व्यभिचारी या अप्रमाण नहीं कहा जा सकता, अन्यथा किसी तैमिरिक रोगीका प्रत्यक्ष भी व्यभिचारी देखा जाता है तो प्रत्यक्षमात्रको भी व्यभिचारी मानना पड़ेगा। यह तो प्रमाताका अपराध है, जो वह उचित रीतिसे उनका प्रयोग नहीं करता या चूक जाता है, इसमें प्रमाणोंका कोई दोष नहीं है।

हेतु विचार–

अनुमानकी प्रमाणता स्थापित हो जानेके बाद उसके अवयवोंके विवेचन करनेका प्रसङ्ग क्रमप्राप्त है। अकलङ्कदेवने धर्मी साध्य और साधन आदिके लक्षण न्यायविनिश्चयके अनुमान प्रस्तावमें विस्तारसे किये हैं। यहाँ अनुमानकी उत्पत्तिमें सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान जिस हेतुका है और जिसकी व्याप्तिके बलसे ही अनुमानका उदय होता है उस हेतुसम्बन्धी विचार ही विशेष रूपसे प्रस्तुत किये जाते हैं।

जैनाचार्योंने प्रारम्भसे ही साधनका एकमात्र लक्षण माना है अन्यथानुपपन्नत्व[2] या अविनाभाव[3]। अन्यथा–साध्यके अभावमें अनुपपन्नत्व–नहीं होना, यही अन्यथानुपपन्नत्व है जो अविनाभावका पर्याय है। बौद्धपरम्परामें यद्यपि अविनाभावको हेतुका स्वरूप कहा[4] है पर वे उसकी परिसमाप्ति त्रैरूप्य[5]में मानते हैं। पक्षधर्मत्व सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति हेतुके ये तीन रूप असिद्ध विरुद्ध और व्यभिचार इन तीनों दोषोंका वारण करनेके लिये माने गये हैं[6]। त्रैरूप्यका विवरण करते हुए आचार्य धर्मकीर्तिने न्यायबिन्दु (२।५-७) में लिखा है कि–(१) लिङ्गकी अनुमेयमें सत्ता ही होनी चाहिए (२) सपक्षमें ही सत्ता और (३) विपक्षमें असत्ता ही होनी चाहिए। अकलङ्कदेवका यही ध्येय रहा है कि लक्षणमें उतने ही पद रखना चाहिए जो अत्यन्त आवश्यक हों तथा सर्वसंग्राहक हों। 'अविनाभाव' यह सामान्यलक्षण तो सही है पर इसके स्वरूपके लिये केवल 'विपक्षव्यावृत्ति' ही अनिवार्य है पक्षधर्मत्व और सपक्षसत्त्व नहीं। 'एक' मुहूर्तके बाद रोहिणी नक्षत्रका उदय

---

(१) पृ० ६२–६४।
(२) न्यायावता० श्लो० ५। (३) वही श्लो० २२।
(४) "अविनाभावनियमात्" –प्र० वा० ३।१५। (५) "हेतुस्त्रिरूपः"–न्यायप्र० पृ० १।
(६) प्र० वा० ३।१४। (७) सिद्धिवि० ६।१७। लघी० श्लो० १२–१४।

होगा क्योंकि अभी कृत्तिकाका उदय है' इस पूर्वचर अनुमानमें कृत्तिकोदय हेतु रोहिणी नामक पक्षमें नहीं रहता, अतः पक्षधर्मत्व न रहनेपर भी मात्र अविनाभावके कारण यह सद्धेतु है। 'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्' बौद्धोंके इस प्रसिद्ध अनुमानमें सबको पक्ष कर लेनेके कारण सपक्षका अभाव होनेसे 'सपक्षसत्त्व' नहीं है फिर भी उनके मतमें यह सद्धेतु माना ही जाता है। अतः अविनाभावको ऐसे नियमोंमें नहीं जकड़ना चाहिए जिससे उसका स्वरूप अव्याप्त अतिव्याप्त या असम्भव बन जाय।

नैयायिक[1] उपर्युक्त त्रैरूप्यके साथ अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्वको भी हेतुका आवश्यक अंग मानकर अविनाभावकी परिसमाप्ति पंचरूपमें मानते हैं। किन्तु जब पक्षके लक्षणमें प्रत्यक्षाद्यनिराकृत या अबाधित विशेषण विद्यमान है तो फिर हेतुके लक्षणमें इस रूपकी आवश्यकता नहीं रह जाती। अविनाभावी हेतुमें किसी प्रकारकी बाधाकी सम्भावना भी नहीं है, क्योंकि बाधा और अविनाभावमें विरोध है[2]। प्रमाणप्रसिद्ध अविनाभाववाले हेतुका समानबलशाली कोई प्रतिपक्षी भी संभव नहीं है, अतः असत्प्रतिपक्षत्व रूप भी निरर्थक है।

हेतुबिन्दुटीका (पृ० २०५) में ज्ञातत्व और विवक्षितैकसंख्यत्व नामके दो अन्य रूपोंका भी पूर्वपक्षमें उल्लेख किया गया है। इनमें 'ज्ञातत्व'का पृथक् कहना इसलिये अनावश्यक है कि हेतु ज्ञात ही नहीं अविनाभावी रूपसे 'निश्चित' होकर ही साध्यका अनुमापक होता है। यह तो हेतुके लिए आवश्यक और प्राथमिक शर्त है। इसी तरह विवक्षितैकसंख्यत्वका कथन भी सत्प्रतिपक्षकी तरह अनावश्यक है क्योंकि अविनाभावी हेतुके प्रतिपक्षी किसी द्वितीय हेतुकी सम्भावना ही नहीं है जो इस हेतुकी विवक्षित एकसंख्याका विघटन कर सके।

धर्मकीर्तिके टीकाकार कर्णकगोमि[3]ने रोहिणीके उदयका अनुमान करानेवाले कृत्तिकोदय हेतुमें काल या आकाशको धर्मी बनाकर पक्षधर्मत्व घटानेका प्रयास किया है; किन्तु इस तरह परम्पराश्रित प्रयास करनेसे तो पृथिवीको धर्मी मानकर महानसगत धूम हेतु समुद्रमें भी अग्नि सिद्ध करनेमें पक्षधर्मत्वरहित नहीं होगा। व्यभिचारी हेतुओंमें भी काल आकाश और पृथिवी आदिकी अपेक्षा पक्षधर्मत्व घटाया जा सकेगा।

अतः अविनाभाव या अन्यथानुपपन्नत्व ही एकमात्र लक्षण हो सकता है। इसके रहनेपर अन्य रूप हों या न हों वह सद्धेतु होगा ही। इसी बातको लक्ष्यमें रखकर पात्रस्वामीने त्रिलक्षणकदर्थनमें यह प्रसिद्ध कारिका कही है—

"अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥"

इसीका अनुकरण कर विद्यानन्दने प्रमाणपरीक्षा (पृ० ७२) में पंचरूपके प्रति यह कारिका कही है—

"अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः॥"

[4]बौद्ध अविनाभावको तादात्म्य और तदुत्पत्ति से नियत मानते हैं। उनके मतसे हेतुके तीन भेद हैं—स्वभाव कार्य और अनुपलब्धि। इनमें स्वभावहेतु और कार्यहेतु विधिसाधक हैं तथा अनुपलब्धिहेतु प्रतिषेध साधक। स्वभावहेतुमें तादात्म्य सम्बन्ध कार्यहेतुमें तदुत्पत्ति और अनुपलब्धिहेतुमें यथासंभव दोनों सम्बन्ध अविनाभावके साधक होते हैं।

अकलङ्कदेवने इसकी आलोचना करते हुए लिखा है कि—जहाँ तादात्म्य या तदुत्पत्ति सम्बन्धसे हेतुमें गमकत्व देखा जाता है वहाँ अविनाभाव तो रहता ही है, भले ही वहाँ वह अविनाभाव तादात्म्य और तदुत्पत्तिप्रयुक्त कह लिया जाय, किन्तु अनेक ऐसे भी हेतु हैं जिनका अपने साध्यसे न तो तादात्म्य ही

(१) न्यायवा० १।१।५।
(२) "बाधाविनाभावयोर्विरोधात्"—हेतुवि० पृ० ६८।
(३) प्र० वा० स्वयं० टी० पृ० ११। (४) न्यायवि० २।२५।

है और न तदुत्पत्ति सम्बन्ध ही, पर वे मात्र सामान्य अविनाभाव होनेसे गमक होते हैं, जैसे कि कृत्तिकोदय आदि पूर्वचर और उत्तरचर हेतु। कृत्तिकाका उदय देखकर 'भरणीका उदय हो चुका' तथा 'रोहिणीका उदय होगा' ये अनुमान बराबर होते हैं, पर न तो कृत्तिकोदयका अतीत भरण्युदय और भविष्यत् शकटोदयसे तादात्म्य सम्बन्ध है और न तदुत्पत्ति सम्बन्ध ही।

हेतुके भेद—अकलङ्कने सामान्यतया हेतुके दो भेद किये हैं—एक उपलब्धिरूप और दूसरा अनुपलब्धिरूप। दोनों ही प्रकारके हेतु विधि और प्रतिषेध दोनों प्रकारके साध्योंको सिद्ध करते हैं। इनमें उपलब्धिहेतुके स्वभाव, कार्य, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर ये छह भेद हैं। बौद्ध इनमें स्वभाव और कार्य ये दो ही मानते हैं।

कारण हेतु—वृक्षसे छायाका ज्ञान या चन्द्रसे जलमें पड़नेवाले उसके प्रतिबिम्बका ज्ञान करना कारण हेतु है। यद्यपि[1] 'कारण अवश्य ही कार्यको उत्पन्न करे ही' यह नियम नहीं है; क्योंकि कारणोंकी सामर्थ्यमें रुकावट तथा सामग्रीके अन्तर्गत कारणोंकी विकलता भी देखी जाती है, किन्तु ऐसे कारणसे जिसकी शक्तिमें कोई प्रतिबन्ध न हो और कारणान्तरोंकी विकलता न हो, कार्यका अनुमान करनेमें क्या बाधा है? अनुमाताकी अशक्तिसे अनुमानको सदोष नहीं कहा जा सकता।

बौद्ध रससे रूपका अनुमान करनेमें यह प्रक्रिया बताते हैं कि—रससे उसकी एक सामग्री अर्थात् पूर्व रूप और पूर्व रसका अनुमान किया जाता है। पूर्वरूप अपने सजातीय उत्तररूपको उत्पन्न करके ही उत्तर-रसकी उत्पत्तिमें सहकारी होता है। एक सामग्रीमें रूप तभी शामिल होता है जब वह अपने सजातीय उत्तर-रूपको उत्पन्न कर चुकता है।

किन्तु एक सामग्यन्तर्गत पूर्वरूपसे उत्तररूपका अनुमान करना कारणसे कार्यका अनुमान ही हुआ। कारणको हेतु बनानेकी यह शर्त मान्य होनी ही चाहिए कि—यदि सामर्थ्यका प्रतिबन्ध न हो और कारणान्तरों की विकलता न हो तो ऐसा कारण अवश्य ही कार्यको उत्पन्न करेगा।

[2]पूर्वचर-उत्तरचर हेतु—जिन साध्य और साधनमें निश्चित क्रमभाव तो है पर न तो परस्पर कार्य-कारणभाव है और न स्वभाव-स्वभाववान् सम्बन्ध है ऐसा साधन पूर्वचर या उत्तरचर हेतु होता है। जैसे भरणी कृत्तिका और रोहिणी ये तीनों नक्षत्र क्रमशः एक-एक मुहूर्तके अन्तरालसे उदयमें आते हैं। अतः 'कृत्तिकाके उदय होनेसे भरणीका उदय हो चुका है' यह हेतु उत्तरचर हेतु है, और 'रोहिणीका उदय होगा' यहाँ वही पूर्वचर हेतु है। ये हेतु स्वभाव कार्य या कारण किसी हेतुमें अन्तर्भूत नहीं हो सकते।

[3]सहचर हेतु—चन्द्रमाके इस भागको देखकर उस भागके अस्तित्वका अनुमान या तराजूके एक पलड़ेको उठा हुआ देखकर दूसरे पलड़ेके नीचे झुकनेका अनुमान सहचरहेतुजन्य है। इनमें परस्पर न तादात्म्य सम्बन्ध है और न तदुत्पत्ति ही; क्योंकि एक अपनी स्थितिमें दूसरेकी अपेक्षा नहीं करता तथा दोनों एक साथ होते हैं, किन्तु अविनाभाव अवश्य है।

जैन दर्शनमें इसीलिये अविनाभावका नियामक केवल सहभावनियम और क्रमभावनियमको ही माना है। यह सहभावनियम कहीं तादात्म्यमूलक भी हो सकता है तथा कहीं केवल सहभाव ही होता है। इसी तरह क्रमभाव नियम कहीं कार्यकारणभावमूलक भी हो पर कहीं वह मात्र क्रमभावमूलक ही होता है। अतः अविनाभाव ही एकमात्र हेतुका सच्चा लक्षण हो सकता है।

अनुपलब्धि विचार—बौद्ध अनुपलब्धिको केवल प्रतिषेधसाधक मानते हैं किन्तु अकलङ्क-देवने उपलब्धि और अनुपलब्धि दोनोंको ही विधिसाधक और दोनोंको ही प्रतिषेधसाधक माना है। इसी-लिये प्रमाणसंग्रह (पृ० १०४-५) में सद्भावसाधक ९ उपलब्धियों और अभावसाधक ६ अनुपलब्धियोंको लिखकर निषेधसाधक ३ उपलब्धियोंके भी उदाहरण दिये गये हैं।

---

(१) "नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्ति"—प्र० वा० स्वयं० १।६६।

(२) सिद्धिवि० ६।१६।

(३) सिद्धिवि० ६।१५।

माणिक्यनन्दी आचार्यने[1] विधिसाधक ६ उपलब्धियाँ, प्रतिषेध-साधक ६ उपलब्धियाँ, प्रतिषेधसाधक ७ अनुपलब्धियाँ और विधिसाधक ३ अनुपलब्धियाँ इस तरह हेतुके २२ भेद किए हैं।

वादिदेवसूरिने[2] विधिसाधक तीन अनुपलब्धियोंके स्थानमें पाँच अनुपलब्धियाँ तथा निषेधसाधक ६ अनुपलब्धियोंकी जगह ७ अनुपलब्धियाँ बताई हैं।

आ० विद्यानन्दने[3] अभूत भूतादि तीन प्रकारोंमें 'अभूत अभूतका' यह एक प्रकार और बढ़ाकर सभी विधि और निषेधसाधक उपलब्धि और अनुपलब्धियोंका इन्हींमें अन्तर्भाव किया है।

बौद्ध[4] दृश्यानुपलब्धिसे ही अभावकी सिद्धि मानते हैं। दृश्यसे उनका तात्पर्य ऐसी वस्तुसे है जो वस्तु सूक्ष्म अन्तरित और दूरवर्ती न हो तथा जो वस्तु प्रत्यक्षका विषय हो सकती हो। ऐसी वस्तु उपलब्धिके समस्त कारण मिलने पर भी यदि उपलब्ध न हो तो समझना चाहिए कि उसका अभाव है। सूक्ष्म आदि विप्रकृष्ट पदार्थोंमें हमलोगोंके प्रत्यक्ष आदिकी निवृत्ति होनेपर भी उनका अभाव नहीं होता। प्रमाणकी प्रवृत्तिसे प्रमेयका सद्भाव तो साधा जा सकता है पर प्रमाणकी निवृत्तिसे प्रमेयका अभाव नहीं किया जा सकता। अतः विप्रकृष्ट विषयोंकी अनुपलब्धि संशयहेतु होनेसे अभावसाधक नहीं हो सकती।[5] वस्तुके दृश्यत्वका सीधा अर्थ यह है कि—उसके उपलम्भ करनेवाले समस्त कारणोंकी समग्रता हो और वस्तुमें एक विशेष स्वभाव हो। घट और भूतल एकज्ञानके विषय थे। जितने और जिन कारणोंसे भूतल दिखाई देता था उतने ही उन्हीं कारणोंसे ही घड़ा भी। अतः जब अकेला भूतल दिखाई दे रहा है तब यह तो मानना ही होगा कि वहाँ भूतलके उपलम्भके सभी कारण उपस्थित हैं। यदि घड़ा वहाँ होता तो वह भी भूतलकी तरह दिखाई देता। तात्पर्य यह कि एकज्ञानसंसर्गी पदार्थान्तरकी उपलब्धि इस बातका पक्का प्रमाण है कि वहाँ उपलम्भकी समस्त सामग्री मौजूद है। घटमें उसी सामग्रीके द्वारा प्रत्यक्ष होनेका स्वभाव भी है; क्योंकि यदि वहाँ उसी समय घड़ा लाया जाय तो वह उस सामग्रीसे अवश्य दिख जायगा। पिशाच आदि या परमाणु आदि पदार्थोंमें यह स्वभावविशेष नहीं है। अतः सामग्रीकी पूर्णता रहनेपर भी उनका प्रत्यक्ष नहीं होता। पिशाचादिमें सामग्रीकी पूर्णताका प्रमाण भी नहीं दिया जा सकता; क्योंकि उनका एकज्ञानसंसर्गी कोई पदार्थ उपलब्ध नहीं होता। इस तरह बौद्ध दृश्यानुपलब्धिको अभावसाधक और अदृश्यानुपलब्धिको संशयहेतु मानते हैं।

अकलङ्कदेवने इसकी समीक्षा करते हुए लिखा है कि दृश्यत्वका अर्थ केवल प्रत्यक्षविषयत्व ही नहीं है किन्तु उसका व्यापक अर्थ करना चाहिये प्रमाणविषयत्व। जो वस्तु जिस प्रमाणका विषय होती है वह वस्तु यदि उसी प्रमाणसे उपलब्ध न हो तो ही उसका अभाव मानना चाहिए। उपलब्धि या उपलम्भका अर्थ प्रमाणसामान्य ही है। मृत शरीरमें स्वभावसे अतीन्द्रिय भी चैतन्यका अभाव हमलोग श्वासोच्छ्वास उष्णता और वचनव्यापार आदिका अभाव देखकर ही करते हैं। यहाँ चैतन्यमें प्रत्यक्षविषयत्वरूप दृश्यत्व तो है नहीं; क्योंकि परचैतन्य कभी भी हमारे प्रत्यक्षका विषय नहीं होता। जिन वचनव्यापार उष्णता आकारविशेष या श्वासोच्छ्वास आदिको देखकर हम परशरीरमें उसका सद्भाव साधते हैं, उन्हींका अभाव देखकर चैतन्यका अभाव करना न्यायप्राप्त कहा जाना चाहिए।

यदि[6] अदृश्यानुपलब्धि एकान्ततः संशयहेतु मानी जाय तो मृत शरीरमें चैतन्यकी निवृत्तिका सन्देह सदा बना रहेगा। ऐसी दशामें दाहसंस्कार करनेवालोंको हिंसाका पातक लगना चाहिए। बहुतसे अप्रत्यक्ष रोगादिका भी कार्याभाव देखकर अभाव मान लेना सदाका व्यवहार है। यदि अदृश्यानुपलम्भसे संशय ही हो तो 'मैं पिशाच नहीं हूँ' यह निश्चय स्वयंको ही नहीं हो पायेगा।[7] यदि वर्तमान पदार्थमें किसी भी

(१) परीक्षामुख ३।६०–८४। (२) प्र० नयतत्त्वा० ३।७४–। (३) प्रमाणप० पृ० ७२–७४।
(४) न्यायवि० २।२।२८–३०, ४६। (५) वही २।४८–४९
(६) "अदृश्यानुपलम्भाद्भावासिद्धिरित्ययुक्तं परचैतन्यनिवृत्तावारेकापत्तेः, संस्कर्तृणां पातकित्वप्रसङ्गात्, बहुतमप्रत्यक्षस्यापि रोगादेर्विनिवृत्तिनिर्णयात्।"—अष्टश०, अष्टसह० पृ० ५२। सिद्धिवि० ६।३५।
(७) सिद्धिवि० ६।३६। कषी० श्लो० १५।

प्रमाणसे अदृश्य पदार्थोंका अभाव स्वीकार न किया जाय तो दहीमें भी अदृश्य बुद्धशरीरके सद्भावकी शंका बनी रह सकती है। ऐसी दशामें बौद्धभिक्षुकी दहीके खानेमें निःशंक प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए। किन्तु बौद्धभिक्षुको भी दही खानेपर यह पक्का निश्चय होता है कि मैंने दही ही खाया है बुद्धका शरीर नहीं खाया। किन्तु आपके विचारसे उसे यह तो निश्चय हो सकता है कि 'मैंने दही खाया है काँजी नहीं खाई,' क्योंकि वह दृश्य काँजीका अभाव जान सकता है पर यह निश्चय नहीं हो सकता कि-'मैंने बुद्ध शरीर नहीं खाया' क्योंकि बुद्धशरीरके अदृश्य होनेके कारण उसका अभाव करना इनके लिये कठिन है, अदृश्यानुपलब्धिको तो संशयहेतु माना है।

इसी तरह 'चित्र निरंश संवित्तिको यदि सर्वथा अदृश्य माना जाय, क्योंकि वह प्रत्यक्षका विषय तो होती ही नहीं; तो उसमें जब 'सत्त्व' हेतु ही सिद्ध न हो सकेगा तब क्षणिकत्वकी सिद्धि कैसे की जायगी? अतः 'जिस प्रकार दर्शनाभावके कारणोंकी असम्भवतामें दृश्यका अभाव अनुपलब्धिसे किया जाता है उसी तरह अनुमानाभावके कारणोंकी असम्भवतामें अनुमेय परचित्तादिका अभाव भी अनुपलब्धिसे किया जा सकता है, अन्यथा मृत-शरीरमें चैतन्याभावका निश्चय करना असम्भव हो जायगा और इस तरह अदृश्यकी आशंकासे समस्त व्यवहार उच्छिन्न हो जायँगे। जिस वस्तुको हम जिस प्रमाणसे जानते हैं उस प्रमाणके कारणोंकी समग्रता होनेपर भी यदि वह वस्तु उपलब्ध न हो तो उसका भी अभाव मान लेना चाहिए।

हेत्वाभास-

जो हेतुके लक्षणसे रहित होकर भी हेतुकी तरह प्रतिभासित होते हैं वे हेत्वाभास हैं। वस्तुतः इन्हें साधनके दोष होनेसे साधनाभास कहना चाहिए; क्योंकि निर्दुष्ट साधनमें इन दोषोंकी संभावना नहीं होती। साधन और हेतुमें वाच्यवाचकका भेद है। साधनके वचनको हेतु कहते हैं, अतः उपचारसे साधनके दोषोंको हेतुका दोष मानकर हेत्वाभास संज्ञा दे दी गई है।

नैयायिक हेतुके पाँच रूप मानते हैं अतः वे क्रमशः एक एक रूपके अभावमें असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, कालात्ययापदिष्ट और प्रकरणसम ये पाँच हेत्वाभास स्वीकार करते हैं।

बौद्धने हेतुको त्रिरूप माना है। अतः उसके मतसे पक्षधर्मत्वके अभावमें असिद्ध सपक्षसत्त्वके अभावमें विरुद्ध और विपक्षव्यावृत्तिके अभावमें अनैकान्तिक ये तीन हेत्वाभास होते हैं।

कणादसूत्र (३।१।१५) में असिद्ध विरुद्ध और सन्दिग्ध इन तीन हेत्वाभासोंका कथन होनेपर भी प्रशस्तपादभाष्यमें अनध्यवसित नामके चौथे हेत्वाभासको भी गिनाया है।

जैन दार्शनिकोंमें आ० [1]सिद्धसेनने असिद्ध विरुद्ध और अनैकान्तिक ये तीन हेत्वाभास गिनाये हैं। अकलङ्कदेवने अन्यथानुपपन्नत्वको ही जब हेतुका एकमात्र नियामक रूप माना हैं तब स्वभावतः इनके मतसे अन्यथानुपपन्नत्वके अभावमें एक ही हेत्वाभास हो सकता है। वे स्वयं लिखते हैं[2] कि वस्तुतः एक 'असिद्ध' ही हेत्वाभास है। चूँकि अन्यथानुपपत्तिका अभाव अनेक प्रकारसे होता है, अतः विरुद्ध असिद्ध सन्दिग्ध और अकिञ्चित्करके भेदसे चार हेत्वाभास भी हो सकते हैं। एक स्थलमें तो उन्होंने विरुद्ध आदिको अकिञ्चित्करका ही विस्तार कहा है।[3] इस तरह इनके मतसे हेत्वाभासोंकी संख्याका कोई आग्रह नहीं है फिर भी उन्होंने जिन चार हेत्वाभासोंका निर्देश किया है, उनके लक्षण इस प्रकार हैं—

---

(१) "दध्यादौ न प्रवर्तेत बौद्धः तद्भुक्तये जनः।..."—सिद्धिवि० स्वo ६।३७। देखो पृ० ६६।

(२) सिद्धिवि० ६।३८।

(३) "यथैव दर्शनाभावकारणासंभवे दृश्याभावोऽनुपलब्धेः सिध्यति तथैव अनुमाभावकारणासंभवे अनुमेयस्य परचित्तादेः भवत्यभावसिद्धिः; अन्यथा निश्चेतनपरशरीरप्रतिपत्तेरनुपपत्तेः।"—सिद्धिवि० स्वo ६।३५। (४) न्यायावतार श्लो० २३।

(५) "अन्यथासम्भवाभावभेदात् स बहुधा मतः।
विरुद्धासिद्धसन्दिग्धैरकिञ्चित्करविस्तरैः॥"—न्यायवि० २।१९५।

(६) "अकिञ्चित्कारकान् सर्वान् तान् वयं संगिरामहे।"—न्यायवि० २।३७०।

१. असिद्ध–"**सर्वथाऽत्ययात्**"[1]। पक्षमें सर्वथा न पाये जानेवाला, अथवा जिसका साध्यके साथ सर्वथा अविनाभाव न हो। न्यायसार (पृ० ८) आदिमें विशेष्यासिद्ध विशेषणासिद्ध आश्रयासिद्ध आश्रयैकदेशासिद्ध व्यर्थविशेष्यासिद्ध व्यर्थविशेषणासिद्ध व्यधिकरणासिद्ध और भागासिद्ध इन आठ भेदोंका वर्णन है। इनमें आदिके छह भेद तो उन-उन रूपसे सत्ताके अविद्यमान होनेके कारण स्वरूपासिद्धमें ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। भागासिद्धमें यदि वह साध्यसे अविनाभावी है तो पक्षके जितने भागमें पाया जायगा उतनेमें ही साध्यकी सत्ता सिद्ध करेगा। जैसे–'शब्द अनित्य है क्योंकि वह प्रयत्नका अविनाभावी है' यह अविनाभावी होनेसे सत्ता हेतु है। वह जितने शब्दोंमें पाया जायगा उतनेमें अनित्यत्व सिद्ध कर देगा।

व्यधिकरणासिद्ध भी असिद्ध हेत्वाभासमें नहीं गिनाया जाना चाहिये; क्योंकि–'एक मुहूर्त बाद रोहिणीका उदय होगा क्योंकि इस समय कृत्तिकाका उदय है', 'ऊपर मेघवृष्टि हुई है, नीचे नदीपूर देखा जाता है' इत्यादि हेतु भिन्नाधिकरण होकरके भी अविनाभावके कारण सच्चे हेतु हैं। गम्यगमक भावका आधार अविनाभाव है, न कि भिन्न अधिकरणता या अभिन्नाधिकरणता। 'अविद्यमानसत्ताक'का अर्थ–'पक्षमें सत्ताका न पाया जाना' नहीं है, किन्तु साध्य दृष्टान्त या दोनोंके साथ जिसकी अविनाभावनी सत्ता न पाई जाय, उसे अविद्यमानसत्ताक कहते हैं–यह है।

इसी तरह सन्दिग्धविशेष्यासिद्ध आदि का सन्दिग्धासिद्धमें ही अन्तर्भाव कर लेना चाहिये। ये असिद्ध कुछ अन्यतरा-सिद्ध और कुछ उभयासिद्ध भी होते हैं। वादी जब तक प्रमाणके द्वारा अपने हेतुको प्रतिवादीके लिए सिद्ध नहीं कर देता, तबतक वह अन्यतरासिद्ध कहा जा सकता है।

२. विरुद्ध–"**अन्यथाभावात्**" (प्रमाणसं० श्लो० ४८) साध्याभावमें पाया जानेवाला। जैसे–'सब क्षणिक हैं, सत् होनेसे' यहाँ सत्त्व हेतु सर्वथा क्षणिकत्वके विपक्ष कथञ्चित् क्षणिकत्वमें पाया जाता है।

'न्यायसार' (पृ० ८) में विद्यमान सपक्षवाले चार विरुद्ध तथा अविद्यमान सपक्षवाले चार विरुद्ध इस तरह जिन आठ विरुद्धोंका वर्णन है, वे सब विपक्षमें अविनाभाव पाये जानेके कारण ही विरुद्ध हैं। हेतुका सपक्षमें होना कोई आवश्यक नहीं है। अतः सपक्षसत्त्वके अभावको विरुद्धताका नियामक नहीं माना जा सकता, किन्तु विपक्षके साथ उसके अविनाभावका निश्चित होना ही विरुद्धताका आधार है।

दिङ्नाग आचार्यने विरुद्धाव्यभिचारी नामका भी एक हेत्वाभास माना है। परस्पर विरोधी दो हेतुओंका एक धर्मीमें प्रयोग होनेपर प्रथम हेतु विरुद्धाव्यभिचारी हो जाता है। यह संशयहेतु होने से हेत्वाभास है।[2] धर्मकीर्तिने इसे हेत्वाभास नहीं माना है। वे लिखते हैं कि जिस हेतुका त्रैरूप्य प्रमाणसे प्रसिद्ध है, उसके विरोधी हेतुका अवसर ही नहीं है। अतः यह आगमाश्रित हेतुके विषयमें ही संभव हो सकता है। चूँकि शास्त्र अतीन्द्रिय पदार्थोंका प्रतिपादन करता है, अतः एक ही वस्तु परस्पर विरोधी रूपमें वर्णित हो सकती है। अकलंकदेवने इस हेत्वाभासका विरुद्धमें अन्तर्भाव किया है। जो हेतु विरुद्धका अव्यभिचारी-विपक्षमें भी रहनेवाला है, उसे विरुद्ध हेत्वाभासकी ही सीमा में आना चाहिए।

३. अनैकान्तिक "**व्यभिचारी विपक्षेऽपि**" (प्रमाण सं० श्लो० ४९) विपक्षमें भी पाया जानेवाला। यह दो प्रकारका है–एक निश्चितानैकान्तिक और दूसरा सन्दिग्धानैकान्तिक।

न्यायसार (पृ० १०) आदिमें जिन पक्षत्रयव्यापक, सपक्षविपक्षैकदेशवृत्ति आदि आठ भेदोंका वर्णन है, वे सब इसीमें अन्तर्भूत हैं। अकलंकदेवने इस हेत्वाभासके लिए संदिग्ध शब्दका प्रयोग किया है।

४. अकिञ्चित्कर[3]–सिद्ध साध्यमें या प्रत्यक्षादिबाधित साध्यमें प्रयुक्त होनेवाला हेतु अकिञ्चित्कर है। अन्यथानुपपत्तिसे रहित जितने त्रिलक्षण हेतु हैं, वे सब अकिञ्चित्कर हैं।

---

(१) प्रमाणसं० श्लो० ४८।

(२) "ननु च आचार्येण विरुद्धाव्यभिचार्यपि संशयहेतुरुक्तः, स इह नोक्तः, अनुमानविषयेऽसंभवात्" –न्यायवि० ३।११२, ११३।

(३) "सिद्धेऽकिञ्चित्करोऽखिलः।"–प्रमाणसं० श्लो० ४९। "सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः।"–परीक्षामुख ६।३५।

अकिंचित्कर हेत्वाभासका निर्देश जैन दार्शनिकोंमें सर्वप्रथम अकलङ्कदेवने किया है, परन्तु उनका अभिप्राय इसे स्वतन्त्र हेत्वाभास माननेके विषयमें सुदृढ़ नहीं मालूम होता। वे एक जगह लिखते हैं[1] कि सामान्यसे एक असिद्ध हेत्वाभास है। वही विरुद्ध, असिद्ध और संन्दिग्धके भेदसे अनेक प्रकारका होता है। ये विरुद्धादि अकिञ्चित्करके विस्तार हैं। फिर लिखते हैं[2] कि अन्यथानुपपत्तिरहित जितने त्रिलक्षण हैं, उन्हें अकिञ्चित्कर कहना चाहिये। इससे मालूम होता है कि वे सामान्यसे हेत्वाभासोंकी अकिञ्चित्कर या असिद्ध संज्ञा रखते हैं। इसके स्वतन्त्र हेत्वाभास माननेका उनका प्रबल आग्रह नहीं है। यही कारण है कि आचार्य माणिक्यनन्दीने अकिञ्चित्कर हेत्वाभासके लक्षण और भेद कर चुकने पर भी लिखा है कि इस अकिञ्चित्कर हेत्वाभासका विचार हेत्वाभासके लक्षणकालमें ही करना चाहिये। शास्त्रार्थके समय तो इसका कार्य पक्षदोषसे ही किया जा सकता है।

आचार्य विद्यानन्दने भी सामान्य रूपसे एक हेत्वाभास कहकर असिद्ध विरुद्ध और अनैकान्तिकको उसीका रूपान्तर माना है। उनने भी अकिञ्चित्कर हेत्वाभासके ऊपर भार नहीं दिया है। वादिदेवसूरि आदि भी हेत्वाभासके असिद्ध आदि तीन भेद ही मानते हैं।

कथा विचार–

परार्थानुमानके प्रसंगमें कथाका अपना विशेष स्थान है। पक्ष और प्रतिपक्ष ग्रहणकर वादी और प्रतिवादीमें जो वचन व्यवहार स्वमतके स्थापन पर्यन्त चलता है उसे कथा कहते हैं। न्याय परम्परामें कथाके तीन भेद माने गये हैं–१ वाद २ जल्प और ३ वितण्डा। तत्त्वजिज्ञासुओंकी कथा या वीतराग कथाको वाद कहा जाता है। जय पराजयके इच्छुक विजिगीषुओंकी कथा जल्प और वितण्डा है। दोनों कथाओंमें पक्ष और प्रतिपक्षका परिग्रह आवश्यक है। वादमें[4] स्वपक्षसाधन और परपक्षदूषण प्रमाण और तर्कके द्वारा किये जाते हैं। इसमें सिद्धान्तसे अविरुद्ध पञ्चावयव वाक्यका प्रयोग अनिवार्य होनेसे न्यून, अधिक, अपसिद्धान्त और पाँच हेत्वाभास इन आठ निग्रहस्थानोंका प्रयोग उचित माना गया है। अन्य छल जाति आदिका प्रयोग इस वाद कथामें वर्जित है। इसका उद्देश्य तत्त्वनिर्णय करना है। जल्प[5] और वितण्डामें छल जाति और निग्रहस्थान जैसे असत् उपायोंका अवलम्बन लेना भी न्याय्य माना गया है। इनका उद्देश्य तत्त्वसंरक्षण करना है और तत्त्वकी संरक्षा किसी भी उपायसे करनेमें इन्हें आपत्ति नहीं है। न्यायसूत्र (४।२।५०) में स्पष्ट लिखा है कि जिस तरह अंकुरकी रक्षाके लिए काँटोंकी बारी लगाई जाती है, उसी तरह तत्त्वसंरक्षणके लिए जल्प और वितण्डामें काँटेके समान छल जाति आदि असत् उपायोंका अवलम्बन लेना भी अनुचित नहीं है। जनता[6] मूढ़ और गतानुगतिक होती है। वह दुष्टवादीके द्वारा ठगी जाकर कुमार्गमें न चली जाय इस मार्गसंरक्षणके उद्देश्यसे कारुणिक मुनिने छल आदि जैसे असत् उपायोंका भी उपदेश दिया है। वितण्डा कथामें वादी अपने पक्षके स्थापनकी चिन्ता न करके केवल प्रतिवादीके पक्षमें दूषण ही दूषण देकर उसका मुँह बन्द कर देता है, जबकि जल्प कथामें परपक्षखण्डनके साथ ही साथ स्वपक्ष स्थापन भी आवश्यक होता है। इस तरह स्वमत संरक्षणके उद्देश्यसे एक बार छल जाति जैसे असत् उपायोंके अवलम्बनकी छूट होनेपर तत्त्व निर्णय गौण हो गया है; और शास्त्रार्थके लिए ऐसी नवीन भाषाकी सृष्टि की गई जिसके शब्दजालमें प्रतिवादी इतना उलझ जाय कि वह अपना पक्ष सिद्ध ही न कर सके। इसी भूमिकापर केवल व्याप्ति और हेत्वाभास आदि अनुमानके अवयवोंपर सारे नव्य न्यायकी सृष्टि हुई। जिसका भीतरी उद्देश्य तत्त्वनिर्णयकी अपेक्षा तत्त्वसंरक्षण ही विशेष मालूम होता है। चरकके

(१) देखो–पृ० ११९ टि० ५। (२) पृ० ११९ टि० ६।
(३) "लक्षण एवासौ दोषः व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात्"–परीक्षामुख ६।३९।
(४) न्यायसू० १।२।१। (५) न्यायसू० १।२।२–३।
(६) "गतानुगतिको लोकः कुमार्गं तत्प्रतारितः।
मागादिति छलादीनि प्राह कारुणिको मुनिः॥"–न्यायम० प्रमा० पृ० ११।

विमान स्थानमें संघायसंभाषा और विग्रह सम्भाषा ये दो भेद उक्त वाद और जल्प वितण्डाके अर्थमें ही आये हैं। यद्यपि नैयायिकने छल आदिको असद् उत्तर माना है और साधारण अवस्थामें उसका निषेध किया है, परन्तु किसी भी प्रयोजनसे जब एकबार छल आदि घुस गये तो फिर जय पराजयके क्षेत्रमें उन्हींका राज्य हो गया।

बौद्ध परम्पराके प्राचीन उपायहृदय और तर्कशास्त्र आदिमें छलादिके प्रयोगका समर्थन देखा जाता है किन्तु आचार्य धर्मकीर्तिने इसे सत्य और अहिंसाकी दृष्टि से उचित न समझकर अपने वादन्याय ग्रन्थ (पृ० ७१) में उनका प्रयोग सर्वथा अमान्य और अन्याय्य ठहराया है। इसका भी कारण यह है कि बौद्ध परम्परामें धर्मरक्षाके साथ संघरक्षाका भी प्रमुख स्थान है। उनके त्रिशरणमें[1] बुद्ध और धर्मकी शरण जानेके साथ ही साथ संघकी शरणमें भी जानेकी प्रतिज्ञा की जाती है। जब कि जैन परम्परामें संघशरणका कोई स्थान नहीं है। इनके चतुःशरण[2]में अर्हन्त, सिद्ध, साधु और धर्मकी शरणको ही प्राप्त होना बताया है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि संघ रक्षा और संघ प्रभावनाके उद्देश्यसे भी छलादि असद् उपायोंका अवलम्बन करना जो प्राचीन बौद्ध तर्क ग्रंथोंमें घुस गया है, उसमें सत्य और अहिंसाकी धर्मदृष्टि गौण तो अवश्य हो गई है। धर्म कीर्तिने इस असंगतिको समझा, और हर हालतमें छल जाति आदि असत् प्रयोगोंको वर्जनीय ही बताया है।

जैन तार्किक पहलेसे ही सत्य और अहिंसारूप धर्मकी रक्षाके लिए प्राणोंकी बाजी लगानेको सदा प्रस्तुत रहे हैं। उनके संयम और त्यागकी परम्परा साध्यकी तरह साधनोंकी पवित्रतापर भी प्रथमसे ही भार देती आयी है। यही कारण है कि जैन दर्शनके प्राचीन ग्रन्थोंमें कहीं पर भी किसी भी रूपमें छलादिके प्रयोगका आपवादिक समर्थन भी नहीं देखा जाता। इसके एक ही अपवाद हैं, अठारहवीं सदीके आचार्य यशोविजय। जिन्होंने वाद द्वात्रिंशतिकामें[3] प्राचीन बौद्ध तार्किकोंकी तरह शासनप्रभावनाके मोहमें पड़कर अमुक देशादिमें आपवादिक छलादिके प्रयोगको भी उचित मान लिया है।

अकलङ्कदेवने सत्य और अहिंसाकी दृष्टिसे छलादिरूप असत् उत्तरोंके प्रयोगको सर्वथा अन्याय्य और परिवर्जनीय माना[4] है। अतः उनकी दृष्टिसे वाद और जल्पमें कोई भेद नहीं रह जाता। इसलिये वे संक्षेपमें समर्थवचनको वाद[5] कहकर भी कहीं वादके स्थानमें जल्प[6] शब्दका भी प्रयोग कर देते हैं। उन्होंने बताया है कि वादी और प्रतिवादियोंके मध्यस्थोंके समक्ष स्वपक्षसाधन और परपक्षदूषण रूप वचनको वाद कहते हैं। वितण्डा[7] वादाभास है, इसमें वादी अपना पक्षस्थापन नहीं करके मात्र खण्डन ही खण्डन करता है। यह सर्वथा त्याज्य है। न्यायदीपिकामें (पृष्ठ ७९) तत्त्वनिर्णयके विशुद्ध प्रयोजनसे जय पराजयकी भावनासे रहित गुरु शिष्य या वीतरागी विद्वानोंमें तत्त्वनिर्णयतक चलनेवाले वचनव्यवहारको वीतराग कथा कहा है और वादी और प्रतिवादीमें स्वमत-स्थापनके लिये जयपराजयपर्यन्त चलनेवाले वचनव्यवहारको विजिगीषु कथा कहा है।

वीतराग कथा सभापति और सभ्योंके अभावमें भी चलती है, जबकि विजिगीषु कथामें वादी प्रतिवादी के साथ सभ्य और सभापतिका होना भी आवश्यक है। सभापतिके बिना जय और पराजयका निर्णय कौन

---

(१) "बुद्धं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि, संघं सरणं गच्छामि।"

(२) "चत्तारि सरणं पव्वज्जामि, अरिहंते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धे सरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि"—चत्तारि दण्डक।

(३) "अयमेव विधेयस्तत्त्वज्ञेन तपस्विना।
देशाद्यपेक्षयाऽन्योपि विज्ञाय गुरुलाघवम्॥"—द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशतिका यशो० ८।६।

(४) देखो सिद्धिविनिश्चय जल्पसिद्धि परि० ५।

(५) "समर्थवचनं वादः।"—प्रमाणसं० श्लो० ५१।

(६) "समर्थवचनं जल्पं चतुरङ्गं विदुर्बुधाः।
पक्षनिर्णयपर्यन्तं फलं मार्गप्रभावना॥"—सिद्धिवि० ५।२।

(७) "तदाभासो वितण्डादिरनुपेताभ्यधिक्षते:"—न्यायवि० २।३८४।

देना और उभयपक्षवेदी सभ्योंके बिना स्वमतोन्मत्त वादी और प्रतिवादियोंको सभापतिके अनुशासनमें रखने का कार्य कौन करेगा ? अतः वाद चतुरंग होता है।

जयपराजय व्यवस्था–

नैयायिकोंने जब जल्प और वितण्डामें छल जाति और निग्रहस्थानका प्रयोग स्वीकार कर लिया तब उन्हींके आधारपर जय-पराजयकी व्यवस्था बनी। उन्होंने प्रतिज्ञाहानि आदि बाईस निग्रहस्थान माने हैं। सामान्यसे 'विप्रतिपत्ति–विरुद्ध या असम्बद्ध कहना और अप्रतिपत्ति–पक्ष स्थापन नहीं करना, प्रतिवादीके द्वारा स्थापितका प्रतिषेध नहीं करना तथा प्रतिषिद्ध स्वपक्षका उद्धार नहीं करना ये दो ही निग्रह स्थान[1]–'पराजय स्थान' होते हैं। इन्हींके विशेष भेद प्रतिज्ञाहानि आदि बाईस[2] हैं, जिनमें बताया है कि यदि कोई वादी अपनी प्रतिज्ञाकी हानि कर दे, दूसरा हेतु बोल दे, असम्बद्ध पद वाक्य या वर्ण बोले, इस तरह बोले जिससे तीन बार कहनेपर भी प्रतिवादी और परिषद् न समझ सके, हेतु दृष्टान्त आदिका क्रमभंग हो जाय, अवयव न्यून या अधिक कहे जायँ, पुनरुक्ति हो, प्रतिवादी वादीके द्वारा कहे गये पक्षका अनुवाद न सके, उत्तर न दे सके, दूषणको अर्धस्वीकार करके खण्डन करे, निग्रहयोग्यके लिए निग्रहस्थानका उद्भावन न कर सके, जो निग्रहयोग्य नहीं हैं उसे निग्रहस्थान बतावे, सिद्धान्तविरुद्ध बोले, हेत्वाभासोंका प्रयोग करे तो निग्रहस्थान अर्थात् पराजय होगा। ये शास्त्रार्थके कानून हैं, जिनका थोड़ा-सा भी भंग होनेपर सत्यसाधनवादीके हाथमें भी पराजय आ सकता है और दुष्ट साधनवादी इन अनुशासनके नियमोंको पालकर जयलाभ भी कर सकता है। तात्पर्य यह है कि शास्त्रार्थके नियमोंका बारीकीसे पालन करने और न करनेका प्रदर्शन ही जय-पराजयका आधार हुआ; स्वपक्ष सिद्धि या परपक्ष-दूषण जैसे मौलिक कर्त्तव्य नहीं। इसमें इस बातका ध्यान रखा गया है कि पञ्चावयववाले अनुमान प्रयोगमें कुछ न्यूनता अधिकता और क्रमभंग यदि होता है तो उसे पराजयका कारण होना चाहिए।

धर्मकीर्ति[3] आचार्यने इन छल जाति और निग्रहस्थानोंके आधारसे होनेवाली जयपराजय व्यवस्थाका खण्डन करते हुए लिखा है कि–जयपराजयकी व्यवस्थाको इस प्रकार घुटालेमें नहीं रखा जा सकता। किसी भी सच्चे साधनवादीका मात्र इसलिए निग्रह होना कि वह कुछ अधिक बोल गया या कम बोल गया या उसने अमुक कायदेका वाकायदा पालन नहीं किया, सत्य और अहिंसाकी दृष्टिसे उचित नहीं है। अतः वादी और प्रतिवादीके लिए क्रमशः असाधनांगवचन और अदोषोद्भावन ये दो ही निग्रहस्थान[4] मानने चाहिये। वादीका कर्त्तव्य है कि वह निर्दोष और पूर्ण साधन बोले, और प्रतिवादीका कार्य है कि वह यथार्थ दोषोंका उद्भावन करे। यदि वादी सच्चा साधन नहीं बोलता या जो साधनके अंग नहीं हैं ऐसे वचन कहता है यानी साधनांगका अवचन या असाधनांगका वचन करता है तो उसका असाधनांग वचन होनेसे पराजय होगा। इसी तरह प्रतिवादी यदि यथार्थ दोषोंका उद्भावन न कर सके या जो वस्तुतः दोष नहीं हैं उन्हें दोषकी जगह बोले तो दोषानुद्भावन और अदोषोद्भावन होनेसे उसका पराजय अवश्यम्भावी है।

इस तरह सामान्य लक्षण करनेपर भी धर्मकीर्ति फिर उसी घपलेमें पड़ गये हैं। उन्होंने[5] असाधनांग वचन और अदोषोद्भावनके विविध व्याख्यान करके कहा है कि–अन्वय या व्यतिरेक किसी एक दृष्टान्तसे ही साध्यकी सिद्धि जब सम्भव है तब दोनों दृष्टान्तोंका प्रयोग करना असाधनाङ्ग वचन होगा। त्रिरूप हेतुका वचन ही साधनांग है। उसका कथन न करना असाधनाङ्ग है। प्रतिज्ञा निगमन आदि साधनके

(१) "यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः।"–न्यायसू० १।२।२।

(२) "विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्"–न्यायसू० १।२।१९।

(३) न्यायसू० ५।२।१।

(४) "असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः।
निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तमिति नेष्यते॥"–वादन्याय पृ० १।

(५) देखो वादन्याय।

अंग नहीं है, उनका कथन असाधनांग है। इसी तरह उन्होंने अदोषोद्भावनके भी विविध व्याख्यान किये हैं। यानी कुछ कम बोलना या अधिक बोलना, इनकी दृष्टिमें अपराध है। यह सब लिखकर भी अन्तमें उनने सूचित किया है कि स्वपक्षसिद्धि और परपक्ष निराकरण ही जय-पराजयकी व्यवस्थाके आधार होना चाहिये।

[1]आचार्य अकलङ्कदेव असाधनांगवचन तथा अदोषोद्भावनके झगड़ेको भी पसन्द नहीं करते हैं। त्रिरूपको साधनांग माना जाय, पंचरूपको नहीं, किसको दोष माना जाय किसको नहीं, यह निर्णय स्वयं एक शास्त्रार्थका विषय हो जाता है। शास्त्रार्थ तो बौद्ध नैयायिक और जैनोंके बीच भी चलते हैं जो क्रमशः त्रिरूपवादी पंचरूपवादी और एकरूपवादी हैं, तब हर एक दूसरेकी अपेक्षा असाधनांगवादी हो जाता है। ऐसी अवस्थामें शास्त्रार्थके नियम स्वयं ही शास्त्रार्थके विषय बन जाते हैं। अतः उन्होंने बताया कि वादीका काम है कि वह अविनाभावी साधनसे स्वपक्षकी सिद्धि करे और परपक्षका निराकरण करे। प्रतिवादीका कार्य है कि वह वादीके स्थापित पक्षमें यथार्थ दूषण दे और अपने पक्षकी सिद्धि भी करे। इस तरह स्वपक्षसिद्धि और परपक्षका निराकरण ही बिना किसी लागलपेटके जय-पराजयके आधार होने चाहिये, इसीमें सत्य, अहिंसा और न्यायकी सुरक्षा है। स्वपक्षसिद्धि करनेवाला यदि कुछ अधिक भी बोल जाय तो भी कोई हानि नहीं है। 'स्वपक्षं प्रसाध्य नृत्यतोऽपि दोषाऽभावात्' अर्थात् अपने पक्षको सिद्ध करके यदि नाचता भी है तो भी कोई दोष नहीं है।

प्रतिवादी यदि सीधे [2]विरुद्ध हेत्वाभासका उद्भावन करता है तो उसे स्वतन्त्ररूपसे पक्षसिद्धि करना आवश्यक नहीं है। क्योंकि वादीके हेतुको विरुद्ध कहनेसे प्रतिवादीका पक्ष स्वतः सिद्ध हो जाता है। हाँ असिद्धादि हेत्वाभासोंके उद्भावन करनेपर प्रतिवादीको अपने पक्षकी सिद्धि करना भी अनिवार्य है। स्वपक्षसिद्धि नहीं करनेवाला शास्त्रार्थके नियमोंके अनुसार चलनेपर भी किसी भी हालतमें जयका भागी नहीं हो सकता।

इसका निष्कर्ष यह है कि नैयायिकके मतसे छल आदिका प्रयोग करके अपने पक्षकी सिद्धि किये बिना ही सच्चे साधन बोलनेवाले भी वादीको प्रतिवादी जीत सकता है। बौद्ध परम्परामें छलादिका प्रयोग वर्ज्य है फिर भी यदि वादी असाधनांगवचन और प्रतिवादी अदोषोद्भावन करता है तो उनका पराजय होता है। वादीको असाधनांग वचनसे पराजय तब होगा जब प्रतिवादी यह बता दे कि वादीने असाधनांग वचन किया है। इस असाधनांगमें जिस विषयको लेकर शास्त्रार्थ चला है, उससे असम्बद्ध बातोंका कथन नाटक आदिकी घोषणा आदि भी ले लिये गये हैं। एक स्थल ऐसा आ सकता है, जहाँ दुष्ट साधन बोलकर भी वादी पराजित नहीं होगा। जैसे वादीने दुष्ट साधनका प्रयोग किया। प्रतिवादीने यथार्थ दोषका उद्भावन न करके अन्य दोषाभासोंका उद्भावन किया, फिर वादीने प्रतिवादीके द्वारा दिये गये दोषाभासोंका परिहार कर दिया। ऐसी अवस्थामें प्रतिवादी दोषाभासका उद्भावन करनेके कारण पराजित हो जायगा। वादीको जय तो नहीं मिलेगा किन्तु वह पराजित भी नहीं माना जायगा। इसी तरह एक स्थल ऐसा है जहाँ वादी निर्दोष साधन बोलता है, प्रतिवादी अंट-संट दूषणोंको कहकर दूषणाभासका उद्भावन करता है। वादी प्रतिवादीकी दूषणाभासता नहीं बताता। ऐसी दशामें किसीकी जय या पराजय न होगी। प्रथम स्थलमें अकलङ्कदेव स्वपक्षसिद्धि और परपक्षनिराकरणमूलक जय और पराजयकी व्यवस्थाके आधारसे यह कहते हैं कि यदि प्रतिवादीको दूषणाभास कहनेके कारण पराजय मिलती है तो वादीकी भी साधनाभास कहनेके कारण पराजय होनी चाहिए; क्योंकि यहाँ वादी स्वपक्षसिद्धि नहीं कर सका है। अकलङ्कदेवके मतसे एकका स्वपक्ष सिद्ध करना ही दूसरेके पक्षकी असिद्धि है। अतः जयका मूल आधार स्वपक्षसिद्धि है और पराजयका मूल कारण पक्षका निराकृत होना है। तात्पर्य यह कि जब एकके जयमें दूसरेका पराजय

(१) "तदुक्तम्–स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः।
नासाधनाङ्गवचनं नादोषोद्भावनं द्वयोः॥"–अष्टसह० पृ० ८७। सिद्धिवि० ५।१०।

(२) अकलङ्कोऽन्यमभ्यधात्–विरुद्धं हेतुमुद्भाव्य वादिनं जयतीतरः।
आभासान्तरमुद्भाव्य पक्षसिद्धिमपेक्षते॥"–त० श्लो० ३८०। रत्नाकरावता० पृ० ११४१।

अवश्यंभावी है', ऐसा नियम है तब स्वपक्षसिद्धि और पक्षनिराकृति ही जय-पराजयके आधार माने जाने चाहिये। बौद्ध वचनाधिक्य आदिको भी दूषणोंमें शामिल करके कुछ उलझ जाते हैं।

सीधी बात है कि परस्पर दो विरोधी पक्षोंको लेकर चलनेवाले वादमें जो भी अपना पक्ष सिद्ध करेगा वह जयलाभ करेगा और अर्थात् ही दूसरेके पक्षका निराकरण होनेके कारण पराजय होगा। यदि कोई भी अपनी पक्षसिद्धि नहीं कर पाता और एक वादी या प्रतिवादी वचनाधिक्य कर जाता है तो इतने मात्रसे उसका पराजय नहीं होना चाहिये। या तो दोनों का ही पराजय हो या दोनोंको ही जयाभाव रहे। अतः स्वपक्षसिद्धि और परपक्षनिराकरण-मूलक ही जय-पराजयव्यवस्था सत्य और अहिंसाके आधारसे न्याय्य है। छोटे-मोटे वचनाधिक्य आदिके कारण न्यायतुलाको नहीं बिगड़ने देना चाहिये। वादी सच्चा साधन बोलकर अपने पक्षकी सिद्धि करनेके बाद वचनाधिक्य और नाटकादिकी घोषणा भी करे, तो भी वह जयी ही होगा। इसी तरह प्रतिवादी वादीके पक्षमें यथार्थ दूषण देकर अपने पक्षकी सिद्धि कर लेता है, तो वह भी वचनाधिक्य करनेके कारण पराजित नहीं हो सकता। इस अवस्थामें एक साथ दोनोंको जय या पराजयका प्रसंग नहीं आ सकता। एककी स्वपक्षसिद्धिमें दूसरेके पक्षका निराकरण गर्भित है ही, क्योंकि प्रतिपक्षकी असिद्धि बताये बिना स्वपक्षकी सिद्धि परिपूर्ण नहीं होती। पक्षके ज्ञान और अज्ञानसे जय-पराजय व्यवस्था माननेपर पक्ष-प्रतिपक्षका परिग्रह करना ही व्यर्थ हो जाता है; क्योंकि किसी एक ही पक्ष में वादी और प्रतिवादीके ज्ञान और अज्ञानकी जाँच की जा सकती है।

शब्दका स्वरूप—

श्रुत या आगमके निरूपणके पहिले शब्दके स्वरूपका ज्ञान कर लेना इसलिये आवश्यक है कि—श्रुत प्रमाणका सम्बन्ध शब्दसे ही है और इसीमें संकेत ग्रहण करके अर्थबोध किया जाता है।

शब्द[1] पुद्गल स्कन्धकी पर्याय है जैसे कि छाया और आतप। कंठ तालु आदि मौतिक कारणोंके अभिघातसे प्रथमशब्द वक्ताके मुखमें उत्पन्न होता है। उसीको निमित्त पाकर विश्वमें सर्वत्र व्याप्त पुद्गल स्कन्ध शब्दायमान होकर झनझना जाते हैं। जैसे किसी जलाशयमें पत्थर फेंकनेपर पहिली लहर पत्थर और जलके अभिघातसे उत्पन्न होती है और आगेकी लहरें उस प्रथम लहरसे उत्पन्न होती हैं, उसी तरह वीचीतरङ्ग न्यायसे आगेके शब्दोंकी उत्पत्ति और प्रसार होता है। आजका विज्ञान शब्दको एक शक्ति मानता है जो ईथरके माध्यमसे सर्वत्र गति करती है। जहाँ उसके ग्राहक यन्त्र (Receiver) मिल जाते हैं वहाँ वह गृहीत हो जाता है। इस प्रक्रियामें जैनोंका कोई विरोध नहीं है। उनका इतना ही कहना है कि शक्ति कभी भी निराश्रय नहीं होती, वह सदा शक्तिमान्में रहती है। अतः शक्तिका गमन न मानकर शक्तिमान् सूक्ष्म पुद्गल द्रव्योंका गमन मानना चाहिए। शब्दको पौद्गलिक माननेसे रिकार्डके पुद्गलोंमें ऐसे सूक्ष्म संस्कार उत्पन्न हो जाते हैं कि जब भी सुईकी नोकका संपर्क मिलता है उनकी शब्द पर्याय प्रकट हो जाती है। पुद्गलमें अनन्त शक्तियाँ हैं। निमित्त मिलते ही वे शक्तियाँ विकसित हो जाती हैं। कुछ पर्यायें ऐसी होती हैं जो जबतक निमित्तका सन्निधान रहता है तभी तक रहती हैं जैसे दर्पणमें होनेवाली प्रतिबिम्ब पर्याय। जब तक बिम्ब सामने रहता है तबतक उसके सन्निधानसे दर्पणके पुद्गल स्कन्ध नियतरूपसे उसके आकारकी पर्यायको धारण करते हैं जैसे ही वह बिम्ब हटा तैसे ही वह पर्याय समाप्त होकर दूसरी पर्याय आ जाती है। कुछ पर्यायें ऐसी होती हैं जो निमित्तके सन्निधानसे उत्पन्न होकर भी जबतक उसका संस्कार रहता है हीनाधिक रूपमें बनी रहती हैं। जैसे आगीके संयोगसे क्रमशः पानीमें आयी उष्णता अग्निके हटा लेनेपर भी जबतक उसका संस्कार रहता है, हीनाधिकरूपमें कायम रहती है, पीछे वह ठंडा हो जाता है। पुद्गलकी शब्द पर्याय भी जबतक अभिघातका संस्कार रहता है तबतक स्थूल या सूक्ष्म रूपमें बनी रहती है। उसका संस्कार तो रिकार्डमें बहुत कालतक रहता है और जैसे ही फिर निमित्त मिलता है वह जाग्रत होकर नया शब्द उत्पन्न कर देता है। शब्दके उपादानभूत पुद्गल स्कन्ध अनन्त हैं, अतः जिनमें जैसा स्थूल सूक्ष्म सूक्ष्मतर या

(१) "शब्दः पुद्गलपर्यायः स्कन्धः छायातपादिवत्"—सिद्धिवि० ९।२।

'वटे वटे वैश्रवणः'[1] इत्यादि अनेक पद वाक्य परम्परासे कर्त्ताके स्मरणके बिना ही चले आते हैं, पर वे प्रमाण कोटिमें शामिल नहीं हैं।

पुराणोंमें वेदको ब्रह्माके मुखसे निकला हुआ बताया है और यह भी लिखा है[1] कि प्रतिमन्वन्तरमें भिन्न-भिन्न वेदोंका विधान होता है। "यो वेदाँश्चप्रहिणोति" (श्वेता० २।१८) इत्यादि वाक्य वेदके कर्त्ताके प्रतिपादक हैं ही। जिस तरह याज्ञवल्क्य स्मृति और पुराण ऋषियोंके नामोंसे अंकित होनेके कारण पौरुषेय हैं, उसी उसी तरह[2] कण्व माध्यन्दिन तैत्तिरीय आदि वेदकी शाखाएँ भी ऋषियोंके नामसे अंकित पाई जाती हैं। अतः उन्हें अनादि या अपौरुषेय कैसे कहा जा सकता है? वेदोंमें न केवल ऋषियोंके ही नाम पाये जाते हैं किन्तु उनमें अनेक ऐतिहासिक राजाओं, नदियों और देशोंके नामों का पाया जाना इस बातका प्रमाण है कि वे उन परिस्थितियोंमें बने हैं।

बौद्ध वेदोंको अष्टक ऋषिकर्तृक कहते हैं, तो जैन उन्हें कालासुरकर्तृक बताते हैं। अतः उनके कर्तृविशेषमें विवाद हो सकता है किन्तु वे पौरुषेय हैं और उनका कोई न कोई बनानेवाला है, यह विवादकी बात नहीं है।

'वेदका अध्ययन सदा वेदाध्ययनपूर्वक ही होता है, अतः वेद अनादि है' यह दलील भी पुष्ट नहीं है; क्योंकि 'कण्व आदि ऋषियोंने काण्वादि शाखाओंकी रचना नहीं की किन्तु अपने गुरुसे पढ़कर ही उसे प्रकाशित किया' यह सिद्ध करनेवाला कोई भी प्रमाण नहीं है।

इसी तरह कालको हेतु बनाकर वर्तमानकालकी तरह अतीत और अनागत कालको वेदके कर्त्तासे शून्य कहना बहुत विचित्र तर्क है। इस तरह तो किसी भी अनिश्चितकर्तृक वस्तुको अनादि अनन्त सिद्ध किया जा सकता है। हम कह सकते हैं कि महाभारतका बनानेवाला अतीत कालमें नहीं था, क्योंकि वह काल है जैसे कि वर्तमान काल आदि।

जब वैदिक शब्द लौकिक शब्दके समान ही संकेतग्रहणके अनुसार अर्थका बोध कराते हैं। बिना उच्चारण किये पुरुषको सुनाई नहीं देते तब ऐसी कौन-सी विशेषता है जिससे कि वैदिकशब्दोंको अपौरुषेय और लौकिक शब्दोंको पौरुषेय कहा जाय! यदि कोई एक भी व्यक्ति अतीन्द्रियार्थद्रष्टा नहीं हो सकता तो वेदोंकी अतीन्द्रियार्थप्रतिपादकतामें विश्वास कैसे किया जाय!

वैदिक शब्दोंकी अमुक छन्दोंमें रचना है। वह रचना बिना किसी पुरुषप्रयत्नके अपने आप कैसे हो गई! यद्यपि मेघगर्जन आदि अनेकों शब्द पुरुषप्रयत्नके बिना प्राकृतिक संयोग-वियोगोंसे होते हैं परन्तु वे निश्चित अर्थके प्रतिपादक नहीं होते और न उनमें सुसंगत छन्दोंकी रचना और व्यवस्थितता ही देखी जाती है। अतः जो मनुष्यकी रचनाके समान ही एक विचित्र रचनामें आबद्ध हैं वे अपौरुषेय नही हो सकते।

अनादिपरम्परारूप हेतुसे वेदकी अतीन्द्रियार्थप्रतिपादकताकी सिद्धि करना उसी तरह कठिन है जिस तरह गाली-गलौज आदिकी प्रामाणिकता मानना। अन्ततः वेदके व्याख्यानके लिये भी अतीन्द्रियार्थ-दर्शी ही अन्तिम प्रमाण बन सकता है। विवादकी अवस्थामें 'यह मेरा अर्थ है यह नहीं' यह स्वयं शब्द तो बोलेंगे नहीं। यदि शब्द अर्थके मामलेमें स्वयं रोकनेवाला होता तो वेदकी व्याख्याओंमें मतभेद नहीं होना चाहिये था।

शब्द मात्रको नित्य मानकर वेदके नित्यत्वका समर्थन करना प्रतीतिविरुद्ध है; क्योंकि तालु आदिके व्यापारसे पुद्गलपर्यायरूप शब्दकी उत्पत्ति ही प्रमाणसिद्ध है, अभिव्यक्ति नहीं। संकेतके लिये शब्दको नित्य मानना भी उचित नहीं है; क्योंकि जैसे अनित्य घटादि पदार्थोंमें अमुक घड़ेके नष्ट होनेपर भी अन्य सदृश घड़ोंमें सादृश्यमूलक व्यवहार चल जाता है उसी तरह जिस शब्दमें संकेत ग्रहण किया है वह नष्ट

(१) "प्रतिमन्वन्तरं चैव श्रुतिरन्या विधीयते"—मत्स्यपु० १४५।५८।

(२) "सजन्ममरणर्षिगोत्रचरणादिनामश्रुतेः, अनेकपदसंहतिप्रतिनियमसम्दर्शनात्।
फलार्थिपुरुषप्रवृत्तिविनिवृत्तिहेत्वात्मनाम्, श्रुतेश्च मनुसूत्रवत् पुरुषकर्तृकैव श्रुतिः॥"
—पात्रकेसरिस्तोत्र श्लो० १४।

भले ही हो जाय पर उसके सदृश अन्य शब्दोंमें वाचकव्यवहारका होना अनुभवसिद्ध है। 'यह वही शब्द है जिसमें मैंने संकेत ग्रहण किया था' इस प्रकारका एकत्व प्रत्यभिज्ञान भ्रान्तिके कारण होता है क्योंकि जब हम उस सरीखे दूसरे शब्दको सुनते हैं, तो दीपशिखाकी तरह भ्रमवश एकत्वमान हो जाता है।

आजका विज्ञान शब्दतरंगोंको उसी तरह क्षणिक मानता है जिस तरह जैन बौद्धादि दर्शन। अतः अतीन्द्रिय पदार्थोंमें वेदकी अन्तिम प्रमाणता माननेके लिये यह आवश्यक है कि उसका आद्य प्रतिपादक स्वयं अतीन्द्रियदर्शी हो। अतीन्द्रिय दर्शनकी असम्भवता कहकर अन्धपरम्परा चलानेसे प्रमाणताका निर्णय नहीं हो सकता। ज्ञानस्वभाववाली आत्माका सम्पूर्ण आवरणोंके हट जानेपर पूर्ण ज्ञानी बन जाना असंभव बात नहीं है। शब्द वक्ताके भावोंको ढोनेवाला एक माध्यम है जिसकी प्रमाणता और अप्रमाणता अपनी न होकर वक्ताके गुण और दोषोंपर आश्रित है। यानी गुणवान् वक्ताके द्वारा कहा गया शब्द प्रमाण होता है और दोषवाले वक्ताके द्वारा प्रतिपादित शब्द अप्रमाण। इसीलिये कोई शब्दको धन्यवाद या गाली नहीं देता किन्तु देता है उसके बोलनेवाले वक्ताको। वक्ताका अभाव मानकर 'दोष निराश्रय नहीं रहेंगे' इस युक्तिसे वेदको निर्दोष कहना तो ऐसा ही है जैसे मेघ गर्जन और बिजलीकी कड़कड़ाहटको निर्दोष बताना। वह इस विधिसे निर्दोष बन भी जाय पर मेघ गर्जन आदिकी तरह वह निरर्थक ही सिद्ध होगा, विधि और प्रतिषेध आदि प्रयोजनोंका साधन नहीं बन सकेगा।

व्याकरणादिकके अभ्याससे लौकिक शब्दोंकी तरह वैदिक पदोंके अर्थकी समस्याको हल करना इसलिए असंगत है कि जब शब्दोंके अनेक अर्थ होते हैं तब अनिष्ट अर्थका परिहार करके इष्ट अर्थका नियमन करना कैसे सम्भव होगा? प्रकरण आदि भी अनेक हो सकते हैं, अतः धर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थोंके साक्षात् कर्त्ताके बिना धार्मिक नियम उपनियमोंमें वेदकी निर्बाधता सिद्ध नहीं हो सकती और जब एक बार अतीन्द्रियदर्शीको स्वीकार कर लिया तब वेद को अपौरुषेय मानना निरर्थक ही है। कोई भी पद और वाक्य या श्लोक आदि की छन्दरचना पुरुषकी इच्छा और बुद्धिके बिना सम्भव नहीं है। ध्वनि निकल सकती है पर भाषा मानवकी अपनी देन है, उसमें उसके प्रयत्न विवक्षा और ज्ञान सभी कारण होते हैं।[1]

शब्दकी अर्थवाचकता

बौद्ध शब्दका वाच्य अर्थको नहीं मानते। उनका कहना है कि शब्द अर्थके प्रतिपादक नहीं हो सकते; क्योंकि जो शब्द अर्थकी मौजूदगीमें उनका कथन करते हैं वे ही अतीत अनागत रूपसे अविद्यमान पदार्थोंमें भी प्रयुक्त होते हैं। अतः उनका अर्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, अन्यथा कोई भी शब्द निरर्थक नहीं हो सकेगा। स्वलक्षण अनिर्देश्य है। अर्थमें शब्द नहीं है और न अर्थ शब्दात्मक ही है जिससे कि अर्थके प्रतिभासित होनेपर शब्दका बोध या शब्दके प्रतिभासित होनेपर अर्थका बोध अवश्य हो। शब्द वासना और संकेतकी इच्छाके अनुसार अन्यथा भी संकेतित किये जाते हैं। इसलिए उनका अर्थसे कोई अविनाभाव नहीं है। वे केवल बुद्धिप्रतिबिम्बित अन्यापोहके वाचक होते हैं। यदि[2] शब्दोंका अर्थसे वास्तविक सम्बन्ध होता तो एक ही वस्तुमें परस्परविरोधी विभिन्न शब्दोंका और उन शब्दोंके आधारसे रचे हुए विभिन्न दर्शनोंकी सृष्टि न हुई होती। अग्नि ठंडी है या गरम इसका निर्णय जैसे अग्नि स्वयं अपने स्वरूपसे करा देती है। उसी तरह कौन शब्द सत्य है कौन असत्य इसका निर्णय भी पदार्थको अपने स्वरूपसे ही करा देना चाहिये था, पर विवाद आज तक मौजूद है। अतः गौ आदि शब्दोंको सुनकर हमें एक सामान्यका बोध होता है।

---

(१) देखो–सिद्धिवि० पृ० ५१२–१९।

(२) "अतीताजातयोर्वापि न च स्यादनृतार्थता।
वाचः कस्याश्चिदित्येषा बौद्धार्थविषया मता॥"–प्रमाणवा० ३।२०७।

(३) "परमार्थैकतानत्वे शब्दानामनिबन्धना।
न स्यात्प्रवृत्तिरर्थेषु समयान्तरभेदिषु॥"–प्रमाणवा० ३।२०६।

वह सामान्य वास्तविक नहीं है, विभिन्न गौ व्यक्तियोंमें पाई जानेवाली अगोव्यावृत्ति या अगोपोहके द्वारा गौ गौ गौ इस सामान्य व्यवहारकी सृष्टि होती है। यह सामान्य उन्हीं व्यक्तियोंको प्रतिभासित होता है जिनने अपनी बुद्धिमें इस प्रकारका अभेदभान कर लिया है। अनेक गायोंमें अनुस्यूत एक नित्य और निरंश गोत्व असत् है, क्योंकि विभिन्न देशवर्ती व्यक्तियोंमें एक साथ एक गोत्वका पाया जाना अनुभवविरुद्ध तो है ही साथ साथ व्यक्तिके अंतरालमें उसकी उपलब्धि न होनेसे बाधित भी है। जिस प्रकार छात्रमण्डल छात्रव्यक्तियोंको छोड़कर अपना कोई पृथक् अस्तित्व नहीं रखता, वह एक प्रकारकी भावना है जो सम्बन्धित व्यक्तियोंकी बुद्धितक ही सीमित है, उसी तरह गोत्व मनुष्यत्वादि सामान्य भी काल्पनिक हैं, वास्तवसत् वस्तु नहीं। सभी गायें गौके कारणोंसे उत्पन्न हुई हैं और गौके कार्योंको करती हैं, उनमें अगोकारणव्यावृत्ति और अगोकार्यव्यावृत्ति अर्थात् अतत्कार्यकारणव्यावृत्तिसे सामान्य व्यवहार होने लगता है। परमार्थसत् गो वस्तु क्षणिक है, अतः उसमें संकेतग्रहण नहीं किया जा सकता और जिस गोव्यक्तिमें संकेत ग्रहण किया जाता है वह गौ व्यक्ति जब द्वितीय क्षणमें नष्ट हो जाती है तब वह संकेत व्यर्थ हो जाता है; क्योंकि अगले क्षणमें जिन गौव्यक्तियों और शब्दोंसे व्यवहार करना है उन व्यक्तियोंमें तो संकेत ही ग्रहण नहीं किया है, वे तो असंकेतित ही हैं। अतः शब्द वक्ताकी विवक्षाको सूचित करता हुआ बुद्धिकल्पित अन्यव्यावृत्ति या अन्यापोहका ही वाचक होता है अर्थका नहीं।

इन्द्रियग्राह्य पदार्थ भिन्न होता है और शब्दगोचर अर्थ भिन्न। शब्दसे अन्धा भी अर्थबोध कर सकता है पर वह अर्थको प्रत्यक्ष नहीं जान सकता। दाह शब्दके द्वारा जिस दाह अर्थका बोध होता है और अग्निको छूकर जिस दाहकी प्रतीति होती है, वे दोनों दाह जुदे-जुदे हैं इसे समझानेकी आवश्यकता नहीं है। अतः शब्द केवल कल्पितसामान्यका वाचक है।

यदि शब्द अर्थका वाचक होता तो शब्दबुद्धिका प्रतिभास इन्द्रियबुद्धिकी तरह विशद होना चाहिए था। अर्थव्यक्तियाँ अनन्त और क्षणिक हैं, इसलिए जब उनका ग्रहण ही सम्भव नहीं है तब पहले तो संकेत[1] ही नहीं हो सकता, कदाचित् गृहीत हो भी जाय तो व्यवहारकाल तक उसकी अनुवृत्ति नहीं होती, अतः उससे अर्थबोध होना असम्भव है। कोई भी प्रत्यक्ष ऐसा नहीं है, जो शब्द और अर्थ दोनोंको विषय करता हो। अतः संकेत होना ही कठिन है। स्मरण निर्विषय और गृहीतग्राही होनेसे प्रमाण ही नहीं है।

सामान्य विशेषात्मक अर्थ वाच्य है—किन्तु बौद्धकी यह मान्यता उचित नहीं है[2]। पदार्थमें कुछ धर्म सदृश होते हैं और कुछ विसदृश। इन सदृश धर्मोंको ही सामान्य कहते हैं। यह अनेकानुगत न होकर व्यक्तिनिष्ठ है। यदि सादृश्यको वस्तुगत धर्म न माना जाय तो अगोनिवृत्ति 'अमुक गौ व्यक्तियोंमें ही पायी जाती है, अश्वादि व्यक्तियोंमें नहीं' यह नियम कैसे किया जा सकेगा? जिस तरह भाव-स्वास्तित्व वस्तुका धर्म है, उसी तरह अभाव परनास्तित्व भी वस्तुका ही धर्म है। उसे तुच्छ या निःस्वभाव कहकर उड़ाया नहीं जा सकता। सादृश्यका बोध और व्यवहार हम चाहे अगोनिवृत्ति आदि निषेधमुखसे करें या सास्नादिमत्त्व आदि समानधर्मरूप गोत्व आदिको देखकर करें पर इससे उसके परमार्थसत् वस्तुत्वमें कोई बाधा नहीं आती। जिस तरह प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका विषय सामान्यविशेषात्मक पदार्थ होता है, उसी तरह शब्दसंकेत भी सामान्यविशेषात्मक पदार्थमें ही किया जाता है। केवल सामान्यमें यदि संकेत ग्रहण किया जाय तो उससे विशेष व्यक्तियोंमें प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। अनन्त विशेष व्यक्तियाँ तत्-तत् रूपमें हमलोगोंके ज्ञानका जब विषय ही नहीं बन सकतीं तब उनमें संकेतग्रहणकी बात तो अत्यन्त असम्भव है। सदृशधर्मोंकी अपेक्षा शब्दका अर्थमें संकेत ग्रहण किया जाता है। जिस शब्दव्यक्ति और अर्थव्यक्तिमें संकेत ग्रहण किया जाता है भले ही वे व्यवहारकाल तक न जायँ पर तत्सदृश दूसरे शब्दसे तत्सदृश दूसरे अर्थकी प्रतीति होनेमें क्या बाधा है? एक घटशब्दका एक घट अर्थमें संकेत ग्रहण करनेपर भी तत्सदृश यावत् घट

(१) "तत्र स्वलक्षणं तावच्छब्दैः प्रतिपाद्यते।
सङ्केतव्यवहारासकालव्याप्तिविरोधतः॥"—तत्त्वसं० पृ० २०७।

(२) देखो—सिद्धिवि० टी० पृ० ३२०-३०; ४४९-५२; ६३३-४६। न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ५५७।

शब्दोंकी प्रवृत्ति होती ही है। संकेत ग्रहणके बाद शब्दार्थका स्मरण करके व्यवहार किया जाता है। जिस प्रकार प्रत्यक्षबुद्धि अतीत अर्थको जानकर भी प्रमाण है, उसी तरह स्मृति भी प्रमाण ही है। न केवल प्रमाण ही किन्तु सविषयक भी है। जब अविसंवादप्रयुक्त प्रमाणता स्मृतिमें है तब शब्द सुनकर तद्वाच्य अर्थका स्मरण करके तथा अर्थको देखकर तद्वाचक शब्दका स्मरण करके व्यवहार अच्छी तरह चलता है।

एक सामान्य-विशेषात्मक अर्थको विषय करनेपर भी इन्द्रियज्ञान स्पष्ट और शब्दज्ञान अस्पष्ट होता है जैसे कि एक ही वृक्षको विषय करनेवाले दूरवर्ती और समीपवर्ती पुरुषोंके ज्ञान अस्पष्ट और स्पष्ट होते हैं। [1]स्पष्टता और अस्पष्टता विषयभेदके कारण नहीं आती किन्तु आवरणके क्षयोपशमसे आती है। फिर शब्दसे होनेवाले अर्थका बोध मानस है और इन्द्रियसे होनेवाला पदार्थका ज्ञान ऐन्द्रियक। जिस तरह अविनाभाव सम्बन्धसे अर्थका बोध करानेवाला अनुमान अस्पष्ट होकर भी अविसंवादी होनेसे प्रमाण है, उसी तरह वाच्य-वाचक सम्बन्धके बलपर अर्थबोध करानेवाला शब्दज्ञान भी अविसंवादी होनेसे प्रमाण ही होना चाहिये। हाँ जिस शब्दमें विसंवाद या संशयादि पाये जाँय वह अनुमानाभास और प्रत्यक्षाभासकी तरह शब्दाभास हो सकता है। पर इतने मात्रसे सभी शब्दज्ञानोंको अप्रमाणकोटिमें नहीं डाला जा सकता। कुछ [2]शब्दोंको अर्थ व्यभिचारी देखकर सभी शब्दोंको अप्रमाण नहीं ठहराया जा सकता।

यदि शब्द बाह्यार्थमें प्रमाण न हो तो क्षणिकत्व आदिके प्रतिपादक शब्द भी प्रमाण नहीं हो सकेंगे। और तब बौद्ध स्वयं अदृष्ट नदी देश पर्वतादिका अविसंवादी ज्ञान शब्दोंसे कैसे कर सकेंगे[3]? यदि[4] हेतुवाद रूप (परार्थानुमान) शब्दके द्वारा अर्थका निश्चय न हो तो साधन और साधनाभासकी व्यवस्था कैसे होगी? इसी तरह आप्तके वचनके द्वारा यदि अर्थबोध न हो तो आप्त और अनाप्तका भेद कैसे सिद्ध होगा? यदि पुरुषोंके[5] अभिप्रायोंमें विचित्रता होनेके कारण सभी शब्द अर्थव्यभिचारी करार किये जाँय तो सुगतके सर्व-शास्तृत्वमें कैसे विश्वास किया जा सकेगा? यदि अर्थव्यभिचार होनेके कारण शब्द अर्थमें प्रमाण नहीं है तो अन्य शब्दकी विवक्षामें अन्य अर्थका प्रयोग देखा जानेसे विवक्षाव्यभिचार भी होता है, तो उसे विवक्षामें भी प्रमाण कैसे कहा जा सकता है? जिस तरह सुविवेचित व्याप्य और कार्य अपने व्यापक और कारणका उल्लंघन नहीं करते उसी तरह सुविवेचित शब्द भी अर्थ का व्यभिचारी नहीं हो सकता। फिर शब्दका विवक्षाके साथ कोई अविनाभाव भी नहीं है; क्योंकि [6]शब्द वर्ण या पद कहीं अवांछित अर्थको भी कहते हैं और कहीं वांछितको भी नहीं कहते।

यदि शब्द विवक्षामात्रके वाचक हों तो शब्दोंमें सत्यत्व और मिथ्यात्वकी व्यवस्था न हो सकेगी। क्योंकि दोनों ही प्रकारके शब्द अपनी-अपनी विवक्षाका अनुमान तो कराते ही हैं। शब्द में सत्य और असत्य व्यवस्थाका मूल आधार अर्थप्राप्ति और अप्राप्ति ही बन सकता है। जिस शब्दका अर्थ प्राप्त हो वह सत्य और जिसका अर्थ प्राप्त न हो वह मिथ्या होता है। जिन शब्दोंका बाह्य अर्थ प्राप्त नहीं होता उन्हें ही हम विसंवादी कहकर मिथ्या ठहराते हैं। प्रत्येक दर्शनकार अपने द्वारा प्रतिपादित शब्दोंका वस्तु-सम्बन्ध ही तो बतानेका प्रयास करता है और वह उसकी काल्पनिकताका परिहार भी जोरोंसे करता है। अविसंवादका आधार अर्थप्राप्तिको छोड़कर दूसरा कोई बन ही नहीं सकता।

*

(१) देखो–सिद्धिवि० ९।२९। न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ५६५।

(२) सिद्धिवि० वि० ५।५। लघी० श्लोक २७।

(३) लघी० श्लोक २६।

(४) सिद्धिवि० ५।५। "आप्तोक्तेर्हेतुवादाच्च बहिरर्थाविनिश्चये।
सत्येतरव्यवस्था का साधनेतरता कुतः॥"–लघी० का० २८।

(५) सिद्धिवि० ७।४। लघी० श्लो० २९।

(६) "वाक्यानामविशेषेण वक्त्रभिप्रेतवाचिनाम्।
सत्यानृतव्यवस्था स्यात्तत्त्वमिथ्यादृशोनात्॥"–सिद्धिवि० ९।२८। लघी० श्लो० ६४,६५।

२ प्रमेयमीमांसा

जैन दर्शन वास्तवबहुत्ववादी है। वह अनन्त आत्माएँ, अनन्त पुद्गल परमाणु, एक धर्म, एक अधर्म, एक आकाश और असंख्य कालाणु द्रव्य मानता है। यह विश्व जिसे वह 'लोक' कहता है इन्हीं द्रव्योंका समुदाय है। ये छह द्रव्य जहाँ पाये जाँय वह लोक है। वह अनादि अनन्त है किसीने उसे बनाया नहीं है, वह अकृत्रिम है। जैनी द्रव्य-व्यवस्थाका मूल सिद्धान्त यह है–

"भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।
गुणपज्जएसु भावो उप्पायवयं पकुव्वंति॥" –पंचा० गा० १५।

अर्थात् किसी भाव यानी सत्का विनाश नहीं होता और अभाव अर्थात् असत्का उत्पाद नहीं होता। सभी पदार्थ अपने गुण और पर्यायोंमें उपजते और विनशते रहते हैं। लोकमें जितने सत् हैं वे त्रैकालिक सत् हैं। उनकी संख्यामें कभी भी हेर-फेर नहीं होता। न कोई नया सत् कभी उत्पन्न हुआ था न होता है और न होगा। इसी तरह किसी विद्यमान सत्का न कभी नाश हुआ था होता है या होगा। समस्त सत् गिने हुए हैं। प्रत्येक सत् अपनेमें परिपूर्ण स्वतन्त्र और मौलिक है।

'सत्'का लक्षण[2] है उत्पाद व्यय और ध्रौव्यसे युक्त होना। प्रत्येक सत् प्रतिक्षण अपनी वर्तमान पर्यायको छोड़कर नवीन पर्यायको धारण करता हुआ वर्तमानको भूत तथा भविष्यत्को वर्तमान बनाता हुआ आगे चला जा रहा है। चेतन हो या अचेतन प्रत्येक सत् इस परिणामचक्रपर चढ़ा हुआ है। यह उसका निज स्वभाव है कि वह प्रतिसमय पूर्वको छोड़कर अपूर्वको ग्रहण करे। यह पर्यायपरम्परा अनादि कालसे चल रही है। कभी भी यह न रुकी थी और न रुकेगी। इस पर्यायधाराका अपनी धारामें अनन्त कालतक बहते जाना, न तो कभी रुकना और न सजातीय या विजातीय किसी द्रव्यकी धारामें विलीन होना या मिलना यही उसका ध्रौव्य है। अनन्त प्रयत्न करनेपर भी विश्वके रंगमंचसे किसी एक परमाणुका समूल विनाश नहीं किया जा सकता और न किसी एक द्रव्यका अस्तित्व दूसरेमें विलीन ही किया जा सकता है। यह जो प्रत्येक द्रव्यकी 'तद्द्रव्यता' है वही ध्रौव्य है। जिसके कारण प्रतिक्षण क्रमशः अनन्त परिणमन करनेपर भी उस द्रव्यका एक भी गुण धर्म या प्रदेश छीजेगा नहीं, कम नहीं होगा और न उसमें ऐसा कोई गुण धर्म या प्रदेश नया बढ़ेगा ही जिसकी शक्ति उसमें न हो। प्रत्येक द्रव्य अपनी उपादानभूत शक्तियोंके अनुसार प्राप्त सामग्रीके निमित्तसे अविराम गतिसे परिणमन करता रहता है। यह चक्र अनन्त कालतक विविध रूपोंमें चालू है। यह एक स्थूल नियम है कि–प्रत्येक द्रव्य अपने परिणमनमें यानी अपनी अगली पर्यायमें उपादान होता है, वह स्वयं अतीतका उपादेय बन कर वर्तमानमें आता है और भविष्यत्के लिये उपादान बन जाता है। जिस प्रकार आधुनिक भौतिकवादियोंने पदार्थको सतत गतिशील माना है और उसमें दो विरोधी धर्मोंका समागम मानकर उसे अविराम गतिमय कहा है ठीक वही बात जैनदर्शनके उत्पादव्ययध्रौव्यसे ध्वनित होती है। पदार्थमें उत्पाद और व्यय इन दो विरोधी शक्तियोंका समागम है, जिसके कारण पदार्थ निरन्तर उत्पाद और व्ययके चक्रपर घूम रहा है। उत्पाद शक्ति जैसे ही नूतन पर्यायको उत्पन्न करती है तो व्यय शक्ति उसी समय पूर्वका नाश कर देती है। वैसे पूर्वके विनाश और उत्तरके उत्पादमें क्षणभेद नहीं है, दोनोंका कारण एक ही है और वह है उत्पादविनाशस्वभाव। इस अनिवार्य परिवर्तनके बावजूद भी कभी द्रव्यका अत्यन्त विनाश नहीं होता। जो द्रव्यधारा अनादि कालसे बहती चली आई है वह अनन्त कालतक बराबर बहती जायगी कहीं और कभी उसका विराम नहीं होगा। इसी तरह वह धारा कभी भी दूसरी द्रव्यधारामें विलीन नहीं होगी। किसी एक भी धाराका अस्तित्व समाप्त नहीं होगा इसी असांकर्य और अनन्त अविच्छिन्नत्वका नियामक ध्रौव्य होता है।

---

(१) तुलना–"नासतो विद्यते भावः नाभावो विद्यते सतः।"–गीता २।१६।

(२) "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"–त० सू० ५।३०। सिद्धिवि० ३।१९।

ध्रौव्य और सन्तान—यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है कि जैन जिस तरह प्रतिक्षण पर्यायोंका उत्पाद और व्यय मानते हैं बौद्ध भी उसी तरह पदार्थोंको क्षणपरिवर्तनशील कहकर क्षणिक मानते हैं। जिस प्रकार जैन ध्रौव्य मानते हैं उसी प्रकार बौद्ध सन्तान मानते हैं, तब दोनोंकी पदार्थव्यवस्थामें क्या मौलिक अन्तर है ? यह सही है कि जैनका ध्रौव्य द्रव्यका कोई ऐसा अपरिवर्तिष्णु अंश नहीं है जो पर्यायोंके बदलनेपर भी बदलता न हो। यदि द्रव्य ऐसे दो अंशोंका समुदाय माना जाय जिनमें एक अंश परिवर्तिष्णु हो और एक अंश अपरिवर्तनशील, तो ऐसी वस्तुमें नित्यपक्षभावी और अनित्यपक्षभावी दोनों ही दोष आयेंगे। द्रव्यका अपनी पर्यायोंसे कथञ्चित्तादात्म्य माननेपर तो पर्यायोंके परिवर्तित होनेपर कोई ऐसा अपरिवर्तित अंश द्रव्यमें बच ही नहीं सकता, अन्यथा उस अपरिवर्तनशील अंशसे तादात्म्य रखनेके कारण शेष अंश भी अपरिवर्तनशील ही हो जायँगे और इस तरह द्रव्य कूटस्थनित्य हो जायगा। अतः या तो वस्तु सर्वथा परिवर्तनशील मानी जाय यानी चेतन वस्तु भी अचेतन या अचेतन भी चेतन रूपसे परिणमन करनेवाली या फिर सदा कूटस्थनित्य सर्वदा अपरिवर्तनशील। पर ये दोनों मत वस्तुस्थितिके विपरीत हैं। सर्वथा नित्य वस्तुमें कोई अर्थक्रिया न होनेसे समस्त लोकव्यवहार शिक्षा-दीक्षा और संस्कार आदिके प्रयत्न निष्फल हो जाँयगे क्योंकि उनका प्रभाव द्रव्यमें तो आ ही नहीं सकेगा। और यदि सर्वथा परिशर्तनशील वस्तु मानी जाय तो पूर्वका उत्तरके साथ कोई वास्तविक सम्बन्ध न होनेसे उच्छेदवादका प्रसङ्ग आयगा। इसमें भी करेगा कोई अन्य तथा भोगेगा कोई अन्य। इस तरह कृतनाश और अकृताभ्यागम दोष आते हैं। इन दोनों एकान्तोंसे बचनेका जो मार्ग है उसे ही हम ध्रौव्य या द्रव्य कहते हैं। जो न बिलकुल अपरिवर्तनशील है और न इतना विलक्षण परिवर्तन करनेवाला ही जिससे एक अचेतन या चेतन अपनी तद्द्रव्यत्वकी सीमाको लाँघकर दूसरा चेतन या अचेतन बन जाय। सीधे शब्दोंमें उसकी यही परिभाषा हो सकती है कि—किसी विवक्षित एक द्रव्यके प्रतिक्षण उत्पाद और व्यय करनेपर भी जिसके कारण उसका दूसरे सजातीय या विजातीय द्रव्यरूपसे परिणमन नहीं होता उस स्वरूपास्तित्वका ही नाम द्रव्य ध्रौव्य या गुण है। बौद्धके द्वारा सन्तान भी इसी प्रयोजनसे माना गया है कि नियत पूर्वक्षण नियत उत्तरक्षणके साथ ही कार्यकारणभाव रखे क्षणान्तरसे नहीं। तात्पर्य यह कि—इस सन्तानके कारण ही एक चेतनक्षण अपनी धाराके ही उत्तर चेतनक्षणका कारण होता है विजातीय अचेतनक्षण और सजातीय चेतनान्तरक्षणका नहीं। वे स्वयं कहते हैं[1]—

"यस्मिन्नेव तु सन्ताने आहिता कर्मवासना।
फलं तत्रैव सन्धत्ते कार्पासे रक्तता यथा॥"

अर्थात् जिस सन्तानमें कर्मवासना है फल भी उसी सन्तानमें होता है, जैसे जिस कपासके बीजको लाखके रंगसे सींचा जाता है उसीसे उत्पन्न कपासमें लालिमा आती है।

इस तरह तात्त्विक दृष्टिसे सन्तान और द्रव्यके प्रयोजन उपयोग या कार्यमें कोई अनन्तर नहीं है। अन्तर है उसके स्वरूपमें।

बौद्ध जिस 'सन्तान'से प्रतिनियत कार्यकारणभाव बैठानेका गुरुतर कार्य कराते हैं उसी सन्तानको पंक्ति और सेनाकी तरह 'मृषा' भी कहते हैं[2]। जैसे दस मनुष्योंकी एक लाइनमें तथा सैनिक घोड़े आदिके समुदायमें पंक्ति और सेना नामका कोई एक अनुस्यूत पदार्थ नहीं है फिर भी उनमें पंक्ति और सेना व्यवहार हो जाता है। उसी तरह पूर्व और उत्तरक्षणमें कार्यकारणभावकी नियामक 'सन्तान' भी मृषा याने असत्य है, केवल व्यवहारके लिये कल्पित है। किन्तु ध्रौव्य या द्रव्यकी स्थिति इस प्रकारकी सन्तानसे सर्वथा भिन्न है। वह क्षणकी तरह सत्य है। जिस प्रकार 'पंक्ति' की सत्ता व्यावहारिक या सांकेतिक है उस प्रकार द्रव्य या ध्रौव्यकी सत्ता मात्र व्यावहारिक या सांकेतिक नहीं है किन्तु वह परमार्थसत् है। 'तब वह है क्या?' इस प्रश्नका स्पष्ट उत्तर यह है कि जिस स्वरूपास्तित्वके कारण क्रमिक पर्यायें निश्चित तद्द्रव्यकी धारामें

(१) तत्त्वसं० पं० पृ० १८२ में उद्धृत प्राचीन श्लोक।
(२) "सन्तानः समुदायश्च पङ्क्तिसेनादिवन्मृषा।"—बोधिच० पृ० ३३४।

असंकरभावसे अनन्त कालतक परिवर्तित होकर चली जा रही हैं वही पर्यायोंसे कथंचित्तादात्म्यको प्राप्त स्वरूपास्तित्व ध्रौव्य या द्रव्य कहलाता है। पंक्तिके अन्तर्गत कोई भी पुरुष उस पंक्तिसे पृथक् होकर दूसरी पंक्तिमें शामिल हो सकता है पर कोई भी पर्याय अपने द्रव्यसे चाहनेपर भी पृथक् नहीं हो सकती और न द्रव्यान्तरमें विलीन ही हो सकती है। उसकी कार्यकारणभावके अनुसार जैसी क्रमिक स्थिति है उससे वह इधर-उधर नहीं जा सकती। यही तद्द्रव्यत्वका नियामक स्वरूप ध्रौव्य या द्रव्य पदसे लक्षित होता है। बौद्धाभिमत सन्तानका खोखलापन तो तब समझमें आता है जब वे निर्वाणमें चित्तसन्ततिका समूलोच्छेद मान लेते हैं। प्रदीपनिर्वाणकी तरह चित्तनिर्वाण यदि माना जाता है तो चित्त एक अनादिकालीन उस धाराके समान रहा जो अन्तमें कहीं जाकर विलीन हो जाती है, उसका अपना मौलिकत्व सार्वकालिक न होकर अस्थायी ही सिद्ध होता है। किन्तु इस तरह किसी स्वतन्त्र अर्थका सर्वथा उच्छेद स्वीकार करना युक्ति और अनुभवके विरुद्ध तो है ही पदार्थव्यवस्थाके प्रारम्भिक नियमके प्रतिकूल भी है। अतः जैनाभिमत ध्रौव्य पंक्ति और सेनाकी तरह बुद्धिकल्पित सांकेतिक या व्यावहारिक न होकर तद्द्रव्यत्व रूप परमार्थ सत् है। इस तरह समस्त द्रव्य उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक हैं, कोई भी इसका अपवाद नहीं है। ध्रौव्यको द्रव्य और उत्पाद और व्ययको पर्याय कहते हैं अतः उत्पादव्यय ध्रौव्यात्मकका अर्थ होता है द्रव्य-पर्यायात्मक तत्त्व। अकलङ्कदेवने प्रमेयके निरूपणमें द्रव्य और पर्याय विशेषणके साथ सामान्य और विशेष शब्दका भी प्रयोग[1] किया है। अर्थात् द्रव्यपर्यायात्मक और सामान्यविशेषात्मक तत्त्व प्रमाणका गोचर होता है।

सामान्यविशेषात्मक अर्थ–

जैन दृष्टिसे पदार्थ अनन्तधर्मात्मक है। उसमें कुछ धर्म सामान्यात्मक हैं और कुछ विशेषात्मक। प्रत्येक पदार्थमें दो प्रकारके अस्तित्व हैं–एक स्वरूपास्तित्व और दूसरा सादृश्यास्तित्व। एक द्रव्यको सजातीय या विजातीय किसी भी द्रव्यसे असङ्कीर्ण रखनेवाला स्वरूपास्तित्व है। इसके कारण एक द्रव्यकी पर्यायें दूसरे सजातीय या विजातीय द्रव्यसे असंकीर्ण रहकर पृथक् अस्तित्व रखती हैं। यह स्वरूपास्तित्व जहाँ विवक्षित द्रव्यकी इतरद्रव्योंसे व्यावृत्ति करता है वहाँ वह अपनी कालक्रमसे होनेवाली पर्यायोंमें अनुगत भी रहता है। सारांश यह कि स्वरूपास्तित्वसे अपनी पर्यायोंमें तो अनुगत प्रत्यय होता है तथा इतरद्रव्यों और उनकी पर्यायोंमें व्यावृत्तप्रत्यय। इस स्वरूपास्तित्वको ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं। इसे ही द्रव्य कहते हैं, क्योंकि यह अपनी क्रमिक पर्यायोंमें द्रवित होता है अर्थात् क्रमशः प्राप्त होता है।

दूसरा सादृश्यास्तित्व है जो विभिन्नसत्ताक द्रव्योंमें सादृश्यमूलक अनुगत व्यवहार कराता है। जैसे कि स्वतन्त्र पृथक् सत्ता रखनेवाली अनेक गायोंमें 'गौ गौ' यह अनुगत व्यवहार करानेवाला गोत्व। इसे तिर्यक् सामान्य कहते है। यह सादृश्यरूप है और प्रत्येक व्यक्तिमें परिसमाप्त है। काली गायकी नीली गायसे जो सास्नादिमत्त्व आदि रूपसे समानता है वह दोनोंमें परिसमाप्त है अर्थात् कालीगायका सादृश्य नीली गायमें रहता है और नीली गायका सादृश्य काली गायमें। दोनों या अनेक गायों में मोतियोंमें सूतकी तरह पिरोया हुआ कोई एकगोत्व नहीं है। संक्षेपमें सार यह है कि–एक द्रव्यकी दो पर्यायोंमें अनुगत व्यवहार करानेवाला स्वरूपास्तित्व होता है। जिसे ऊर्ध्वतासामान्य द्रव्य या ध्रौव्य कहते हैं। विभिन्न अनेक द्रव्योंमें अनुगत व्यवहार करानेवाला सादृश्यास्तित्व होता है। इसे तिर्यक् सामान्य कहते हैं।

इसी तरह विशेष भी दो प्रकार के हैं–एक पर्याय और दूसरा व्यतिरेक। एक द्रव्यकी दो पर्यायोंमें विलक्षण या व्यावृत्त प्रत्यय पर्यायनामक विशेषसे होता है तथा विभिन्न दो द्रव्योंमें व्यावृत्तप्रत्यय व्यतिरेक विशेषसे होता है। तात्पर्य यह कि एक द्रव्यकी पर्यायोंमें व्यावृत्तप्रत्यय 'पर्याय' विशेषसे और अनुगत प्रत्यय 'ऊर्ध्वता' सामान्यसे होता है जब कि विभिन्न द्रव्योंमें अनुगत प्रत्यय 'तिर्यक्सामान्यसे' और व्यावृत्त प्रत्यय 'व्यतिरेक' विशेषसे होता है। इस तरह प्रत्येक पदार्थ सामान्यविशेषात्मकके साथ-ही-साथ द्रव्यपर्यायात्मक भी होता है। 'द्रव्य' कहनेसे ऊर्ध्वता सामान्य और 'पर्याय' कहनेसे 'पर्याय' विशेष के गृहीत हो जानेसे

(१) सिद्धिवि० वि० ३।२३। "द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्मार्थगोचरम्"–न्यायवि० १।३।

सामान्यविशेषात्मकताका ही निरूपण होता है फिर भी 'सामान्यविशेषात्मक' विशेषणको पृथक् कहनेका प्रयोजन यही है कि पदार्थमें तिर्यक् यानी सादृश्य सामान्य और व्यतिरेक विशेष भी है जो उसकी सामान्य-विशेषात्मकताको परिपूर्ण करते हैं। अतः साधारणतया सामान्यविशेषात्मक कहनेसे तिर्यक्सामान्यात्मक और व्यतिरेकविशेषात्मक पदार्थका ग्रहण होता है और द्रव्यपर्यायात्मक कहनेसे ऊर्ध्वतासामान्य और पर्यायविशेषात्मक वस्तुका बोध होता है।

यद्यपि सामान्यविशेषात्मक कहनेसे द्रव्यपर्यायात्मकत्वका बोध हो जाता है फिर भी 'द्रव्यपर्यायात्मक' विशेषणसे यह सूचित होता है कि कोई भी पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मकता यानी उत्पादव्यय-ध्रौव्यात्मकता या परिणामीस्वभावके बाहर नहीं है। पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक न होकर भी सामान्यविशेषात्मक हो सकता है जैसे कि नैयायिक द्वारा स्वीकृत पृथिव्यादिके अणु। अतः समस्त पदार्थोंमें निरपवाद परिणामिरूपता सूचित करनेके लिये द्रव्यपर्यायात्मक विशेषण पृथक् दिया गया है। सामान्यविशेषात्मक विशेषण पदार्थके धर्मोंको विषय करता है जब कि द्रव्यपर्यायात्मक विशेषण पदार्थके परिणमनका निर्देश करता है। इस तरह सामान्यविशेषात्मक और द्रव्यपर्यायात्मक पदार्थ प्रमाणका प्रमेय होता है।

प्रमेयके भेद—

जैन परम्परामें प्रमेय अर्थात् द्रव्योंके मूलतः दो भेद हैं एक चेतन और दूसरा अचेतन। चैतनद्रव्य आत्मा या जीव है और अचेतन पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और कालके भेदसे पाँच प्रकारके हैं।

१ **पुद्गल**—रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवाले परमाणु पुद्गल द्रव्य हैं। ये अनन्त हैं। इनमें मूलतः पृथिवी, जल, अग्नि और वायु आदि भेद नहीं है। ये भेद तो जब अनेक पुद्गल परमाणु मिलकर स्कन्ध बनते हैं तब होते हैं। पुद्गल परमाणु जब स्कन्ध बनते हैं तब उनका रासायनिक बन्ध हो जाता है। उस समय उस स्कन्धमें जितने पुद्गल परमाणु सम्बद्ध हैं सबका लगभग एक जैसा परिणमन हो जाता है। और उसी औसत परिणमनके अनुसार स्कन्धमें रूपविशेष और रसविशेष आदिका व्यवहार होता है। जब किसी एक आम आदि स्कन्धमें सड़ाँद पैदा होती है तो इसका अर्थ है कि उस हिस्सेके परमाणु अब एक स्कन्ध अवस्थामें नहीं रहना चाहते, और वे धीरे-धीरे स्कन्धकी सत्ता समाप्त कर देते हैं। यह समस्त जगत् इन्हीं पुद्गल परमाणुओंके विविध परिणमनोंका खेल है। प्रतिसमय उनका कोई न कोई परिणमन करनेका निज स्वभाव है, अतः जब जैसी सामग्री मिलती है उसके अनुसार उनके विचित्र और अचिन्त्य परिणमन होते रहते हैं। पुद्गलका अर्थ है पूरण और गलन होना। यानी जिसमें कुछ आता रहे और जाता रहे।

धर्म द्रव्य—एक लोकव्यापी अमूर्त द्रव्य जो गमनशील जीव और पुद्गलोंकी गतिमें सहायक होता है। यह यद्यपि गतिका प्रेरक नहीं होता पर इसके बिना गति नहीं हो सकती।

अधर्म द्रव्य—लोकव्यापी अमूर्त द्रव्य जो स्थितिशील जीव और पुद्गलोंकी स्थितिमें सहायक होता है। यह भी प्रेरक नहीं होता पर इसके बिना स्थिति नहीं हो सकती। इन दो द्रव्योंके माननेका प्रयोजन यह है कि अनन्त आकाशमें इस लोक-विश्वका अमुक आकार या सीमा तभी बन सकती है जब उस सीमाके आगे जीव और पुद्गल न पाये जाँय। इन द्रव्योंके अभावके कारण लोककी सीमाके आगे जीवादि द्रव्य नहीं पाये जाते। यानी लोक और अलोकका विभाग इन द्रव्योंके कारण होता है। इन पाँच अजीव या अचेतन द्रव्योंके अतिरिक्त अनन्त जीव-द्रव्य हैं।

आकाश द्रव्य—अनन्त अमूर्त एक द्रव्य है जिसमें समस्त द्रव्योंका अवगाह होता है। इसके दो विभाग अन्य द्रव्योंके अवस्थानकी अपेक्षा हो जाते हैं। जहाँतक अन्य द्रव्य पाये जाते हैं वह लोकाकाश है, जहाँ केवल आकाश ही आकाश है वह अलोकाकाश है।

काल द्रव्य—लोकाकाशव्यापी असंख्य कालाणु द्रव्य हैं, जो स्वयं तो परिवर्तन करते ही हैं साथ ही अन्य द्रव्योंके परिवर्तनमें निमित्त भी होते हैं। घड़ी, घण्टा, दिन आदि काल-व्यवहार इन्हींके निमित्तसे होता है।

जीवका स्वरूप–

भारतीय दर्शन ही क्या विश्वके दर्शनोंमें 'आत्मा' एक समस्या रही है। चार्वाकको छोड़कर शेष सभी दर्शनोंने जड़तत्त्वसे पृथक् आत्मतत्त्व स्वीकार किया है जो परलोकगामी होता है तथा बन्धनमुक्त हो जाता है, भले ही उसे चित्तप्रवाह कहा हो या अन्य कोई संज्ञा दी हो। चार्वाक चैतन्यशक्ति तो मानता है पर उसका उद्गम पृथिवी जल आदि भूतचतुष्टयके विशिष्ट रासायनिक मिश्रणसे स्वीकार करता है।[1] उसके मतसे पृथिवी जल अग्नि और वायुये चार ही मूल तत्त्व हैं। इनके समुदायसे शरीर इन्द्रियाँ आदि उत्पन्न होती हैं और उनसे[2] चैतन्य अभिव्यक्त या उत्पन्न होता है। शरीरके नष्ट होते ही उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। इसके मतसे किसी परलोकगामी जीवकी सत्ता नहीं है।

वैदिक परम्परामें अन्न[3] प्राण[4] इन्द्रिय[5] मन[6] प्रज्ञा[7] प्रज्ञान[8] विज्ञान[9] और आनन्द[10] रूपमें आत्माका वर्णन मिलता है। फिर उसका चेतन "ब्रह्मके रूपमें भी निरूपण है। बृहदारण्यक उपनिषद् (४।४।२०) आदिमें इसका अजर अमृत अव्यय अज शाश्वतके रूपमें विस्तृत वर्णन आता है। इस तरह सामान्यतया उपनिषद् धारामें आत्माको स्वतन्त्र तत्त्व माननेका विचार बहुत प्राचीनकालसे चालू था। बुद्ध स्वयं अनात्मवादी थे। किन्तु उन्होंने अपने 'अनात्मवाद'में उपनिषत्के नित्य शाश्वत आत्माका निषेध किया है न कि आत्माके अस्तित्वका ही। वे आत्माको जिस प्रकार नित्य या शाश्वत नहीं मानना चाहते थे उसी प्रकार चार्वाकोंकी तरह उच्छिन्न भी नहीं मानना चाहते थे। उन्हें जिस प्रकार शाश्वतवादमें खतरा दिखाई देता था उसी तरह उच्छेदवादमें भी। इसलिये उन्होंने आत्माके स्वरूपको पहिले तो 'अव्याकृत' ही रखा। यदि किसीने कहलवानेका प्रयत्न भी किया तो उन्होंने इतना ही कहा कि न वह शाश्वत है और न उच्छिन्न। दो 'न' के सहारे उन्होंने आत्माको 'अशाश्वत अनुच्छिन्न' रूपसे व्यक्त किया है। बुद्ध जन्म-मरण परलोक बन्धन और निर्वाण आदि सभी मानते थे पर इनका आधार स्थायी तत्त्व नहीं मानना चाहते थे। उन्हें जिस प्रकार शाश्वत-आत्मवादमें आत्माके निर्विकारी या अपरिणामी रहनेसे ब्रह्मचर्य दीक्षा आदि उपायोंसे आत्मसंशोधन या निर्वाण असम्भव दिखता था उसी तरह चार्वाकके उच्छेदवादमें भी ब्रह्मचर्य आदिकी निरर्थकता साफ-साफ दिखाई देती थी। इसीलिये वे अपने भिक्षुओंको इन दोनों अन्तोंसे बचनेकी सलाह देते थे। उनका कहना था कि चित्त प्रवाह प्रतिक्षण परिवर्तित होता हुआ बहता चला आ रहा है, पूर्वसे उत्तर उत्पन्न होता जाता है। पूर्व नष्ट होता है तो उसी उपादानसे उत्तर उत्पन्न हो जाता है। जो भी संस्कार पूर्वमें प्राप्त थे वे उत्तरमें परिवर्तित होनेपर भी आते हैं। अतः ब्रह्मचर्य दीक्षा आदिसे यदि चित्तको अभिसंस्कृत किया जाता है तो उससे आगे उत्पन्न होनेवाला चित्त क्रमशः निरास्रव बन सकता है। इसमें ब्रह्मचर्य दीक्षा आदिकी निर्वेद वैराग्य निरोध और निर्वाण आदिके लिए सार्थकता है।

उपनिषद्वादी आत्माको नित्य मानकर उसे रागादिद्वन्द्वोंसे रहित वीतराग बनाना चाहते थे तो बुद्ध उसे क्षण परिवर्तित मानकर भी वीतराग बनाना चाहते थे। दोनोंका लक्ष्य एक था, पर विचार या दृष्टिकोण जुदे-जुदे थे। जैन परम्परामें जीवका स्वरूप इस प्रकार बताया है–

"जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई[12] ॥"

---

(१) "पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञाः।"–तत्त्वोप० पृ० १।
(२) "तेभ्यश्चैन्यम्"–तत्त्वसं० प० पृ० ५२० में उद्धृत।
(३) तैत्ति० २।१।२। (४) छान्दोग्य० ४।३।३।
(५) बृहदा० १।५।२१। (६) तैत्ति० २।३।
(७) कौषीतकी ३।२। (८) ऐतरेय ३।२।
(९) तैत्ति० २।४। (१०) तैत्ति० २।५। (११) तैत्ति० २।६।
(१२) द्रव्यसं० गा० २।

जीव उपयोगरूप है, अमूर्त है कर्त्ता और भोक्ता है, स्वदेहपरिमाण है, संसारी है और सिद्ध हो जाता है। वह स्वभावसे ऊर्ध्वगमनशील है।

यह बताया जा चुका है कि चैतन्य ही जीवका स्वरूप है, वही चैतन्य ज्ञान और दर्शन अवस्थाओंमें परिणत होता है। न्यायवैशेषिक आत्मासे ज्ञानको भिन्न मानकर उसमें ज्ञानादिका समवाय मानते हैं जबकि जैन चैतन्यको स्वरूपभूत गुण।

जीवको अमूर्त सभी जीववादी मानते हैं। पर जैन-परम्परा संसारी अवस्थामें सदा कर्मपुद्गलोंसे बन्धन रहनेके कारण उसे व्यवहारदृष्टिसे मूर्त मान लेती है। सांख्यका आत्मा सदा कूटस्थ नित्य है। नैयायिकके आत्मा तक किसी परिणमनकी पहुँच नहीं है, वह गुणोंतक ही सीमित है और गुण पृथक् पदार्थ हैं। बौद्धके यहाँ परिणमन है पर परिणमनोंका आधार कोई नहीं है जब कि जैन परिणमन भी मानता है और उसका आधार भी। इसलिये संसारी अवस्थामें जब कि उसका वैभाविक-विकारी परिणमन होता है, आत्माको कथञ्चित् मूर्त भी माना गया है। उसे स्वयं कर्ता और भोक्ता भी माना है। सांख्यके मतमें कर्तृत्व प्रकृतिमें है और भोक्तृत्व आत्मामें है। यह भोक्तृत्व भी ऊपरी है। वह इतना ही है कि बुद्धिरूपी उभयदर्शी दर्पणमें चैतन्य भी प्रतिफलित होता है और विषय भी। दोनोंका बुद्धि-दर्पणमें एक साथ प्रतिफलित हो जाना ही भोग है। तात्पर्य यह कि सब कुछ परिणमन होता है प्रकृतिमें किन्तु पुरुषमें भोक्तृत्व मान लिया जाता है। बौद्धने कर्तृत्व और भोक्तृत्व एक ही चित्तधारामें घटाया है। जैनका आत्मा तो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणमन करनेके कारण कर्तृत्व और भोक्तृत्व पर्यायसे स्वयं परिणत होता है। बँधता भी वही है और मुक्त भी वही होता है। अनादिकालसे वह मूर्त कर्मपुद्गलोंसे बद्ध ही चला आ रहा है। इसीलिये अनादि कालसे ही वह कथंचित् मूर्त है और कर्मानुसार प्राप्त छोटे-बड़े शरीरके अनुसार संकोच और विकास करके उस शरीरके प्रमाण आकारवाला होता है। चूँकि स्वभावतः वह अमूर्त-द्रव्य है, पुद्गलसे जुदा है, और वासनाओंके कारण संसार अवस्थामें विकृत हो रहा है अतः सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र आदि प्रयत्नोंसे धीरे-धीरे शुद्ध होकर कर्म-बन्धनसे मुक्त सिद्ध हो जाता है, उस समय उसका आकार अन्तिम शरीर जैसा ही रह जाता है। कारण यह बताया गया है कि जीवके प्रदेशोंमें संकोच और विकास दोनों ही कर्म-सम्बन्धसे होते थे। जब कर्म-बन्धन छूट गया तब जीवके प्रदेशोंके फैलनेका भी कारण नहीं रह जाता, अतः वे अन्तिम शरीरसे कुछ न्यून आकारवाले रह जाते हैं।

आत्माके आकारके सम्बन्धमें उपनिषदोंमें अनेक मत हैं—उसे अणुपरिमाण[1], चावल[2] या जवके दानोंके बराबर, अंगुष्ठप्रमाण[3] और बिलस्तप्रमाण[4] आदि रूपसे माना है। आत्माको देहपरिमाण माननेके विचार भी उपनिषदोंमें पाये जाते हैं[5]। किन्तु अन्ततः उपनिषदोंका झुकाव उसे सर्वगत माननेकी ओर है। चार्वाकका देहको ही आत्मा मानने और जैनका देहपरिमाण आत्मा माननेमें मूलभूत भेद यही है कि जैन आत्माको स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं जब कि चार्वाकके यहाँ उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

व्यापक आत्मवादियोंके मतसे मुक्त अवस्थामें आत्मा जहाँ-का-तहाँ जैसा-का-तैसा बना रहता है। व्यापक होनेके कारण उसका प्रकृति और मनसे संयोग भी बना रहता है। अन्तर इतना ही हो जाता है कि जो प्रकृति संसार अवस्थामें उसके प्रति प्रवृत्ताधिकार थी वह निवृत्ताधिकार हो जाती है। जो मन अपने संयोगसे संसारदशामें पुरुषमें बुद्धि सुख-दुःख आदि उत्पन्न करता था वह मोक्ष अवस्थामें उसके प्रति नपुंसक हो जाता है। तात्पर्य यह हुआ कि मुक्ति प्रकृति या मनकी हुई। आत्माने तो अपने नित्य सर्वगत स्वभावको न पहिले छोड़ा था और न अब नया प्राप्त ही किया है, वह तो जैसा-का-तैसा है।

बुद्धने निर्वाण अवस्थामें चित्तका क्या होता है इस विषयमें मौन रखा है, उसे अव्याकृत कहा है। किन्तु प्रदीप निर्वाणकी तरह आत्मनिर्वाणकी कल्पना यानी चित्तके सर्वथा उच्छिन्न होनेकी बात पदार्थ-

(१) मैत्र्यु० ६।३८। (२) बृहदा० ५।६।१।
(३) कठोप० २।२।१२। (४) छान्दो० ५।१८।१।
(५) तैत्ति० १।२। कौषतकी ४।२०।

स्थितिके मूल दार्शनिक सिद्धान्तके विरुद्ध है। यह तो चार्वाक जैसा ही हुआ। जिस प्रकार चार्वाक चित्त या जीवका उच्छेद शरीरके साथ ही स्वीकार करता है उसी प्रकार बौद्धोंने भी उसका संसारके साथ उच्छेद मान लिया है। अन्तर यह अवश्य है कि चार्वाक उसका प्रारम्भ गर्भसे मानता है तो ये उसका 'प्रारम्भ' न मानकर उसे अनादि मानते हैं। पर आत्मा या चित्त न चार्वाकके मतमें मौलिक तत्त्व हुआ और न प्रदीप-निर्वाणवादी बौद्धों के यहाँ। मैं पहिले लिख आया हूँ कि बौद्धोंमें जब दार्शनिक वाद-विवादका युग आया और चारों ओरसे उनपर इस उच्छेदवादके दूषणोंकी बौछार पड़ने लगी तो शान्तरक्षित और तत्पूर्ववर्ती कुछ आचार्योंने मुक्तिमें भी शुद्धचित्तकी सत्ता स्वीकार करनेके मतका प्रतिपादन किया। तत्त्वसंग्रह पंजिका (पृ० १०४) में आ० कमलशील यह प्राचीन श्लोक उद्धृत करते हैं—

"चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशवासितम्।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते॥"

अर्थात् जो चित्त रागादिक्लेशसे वासित होकर संसार कहलाता है वही जब रागादिक्लेशोंसे रहित हो जाता है तो भवान्त कहा जाता है। इतना ही नहीं शान्तरक्षित तो अत्यन्त स्पष्ट शब्दोंमें लिखते हैं[1] कि—

"मुक्तिर्निर्मलता धियः"—अर्थात् बुद्धिकी निर्मलता ही मुक्ति है। इस चित्तशुद्धिरूप मुक्तिका प्रतिपादन करनेपर ही उनकी दार्शनिक वाद-विवादमें रक्षा हो सकी है।

देहसे भिन्न आत्माकी सत्ता सिद्ध करनेके लिए 'अहम्' प्रत्यय ही सबसे बड़ा प्रमाण है, जो 'अहं सुखी, अहं दुःखी' आदिके रूपमें प्रत्येक प्राणीके अनुभवमें आता है। मनुष्योंके अपने-अपने जन्मान्तरीय संस्कार होते हैं, जिनके अनुसार वह इस जन्ममें अपना विकास करता है। जन्मान्तरके स्मरणकी अनेकों घटनाएँ सुनी गयी हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि इस वर्तमान शरीरको छोड़कर आत्मा नये शरीरको धारण करता है। यह ठीक है कि इस कर्म-परतन्त्र आत्माकी स्थिति बहुत कुछ शरीर और शरीरके अवयवों के अधीन हो रही है, किसी रोगसे मस्तिष्कके विकृत हो जानेपर समस्त अर्जित ज्ञान विस्मृतिके गर्भमें चला जाता है, रक्तचापकी कमीबेसी होनेपर उसका हृदयकी गति और मनोभावोंके ऊपर गहरा प्रभाव पड़ता है। आधुनिक भूतवादियोंने भी (Thyroid and Pituitary) थाइराइड और पिचुयेटरी ग्रन्थियोंसे उत्पन्न होनेवाले (Hormone) नामक द्रव्यके कम हो जानेपर ज्ञानादिगुणोंमें कमी आ जाती है, यह सिद्ध किया है। किन्तु यह सब देहपरिमाणवाले स्वतन्त्र आत्मतत्त्वके माननेपर ही सम्भव हो सकता है। क्योंकि संसारीदशामें आत्मा इतना परतन्त्र है, कि उसके अपने निजी गुणोंका विकास भी इन्द्रियादिके सहारेके बिना नहीं हो पाता। ये भौतिक द्रव्य उसके गुणविकासमें उसी तरह सहारा देते हैं, जैसे कि झरोखेसे देखनेवाले पुरुषको देखनेमें झरोखा सहारा देता है। कहीं-कहीं[2] जैन ग्रन्थोंमें जीवके स्वरूपका वर्णन करते समय 'पुद्गल' विशेषण भी दिया है, यह एक नई बात है। वस्तुतः वहाँ उसका तात्पर्य इतना ही है कि जीवका वर्तमान विकास और जीवन जिन आहार, शरीर, इन्द्रिय, भाषा, मन और श्वासोच्छ्वासके सहारे होता है, वे सब पौद्गलिक हैं। इस तरह निमित्तकी दृष्टिसे उसमें पुद्गल विशेषण दिया गया है, स्वरूपकी दृष्टिसे नहीं। आत्मवादके प्रसङ्गमें जैन-दर्शनका उसे शरीररूप न मानकर पृथक् तत्त्व स्वीकार करके शरीरपरिमाण मानना अपनी अनोखी सूझ है, और इससे भौतिकवादियोंके द्वारा दिये जानेवाले आक्षेपोंका निराकरण हो जाता है।

इच्छा, संकल्पशक्ति और भावनाएँ केवल भौतिक मस्तिष्ककी उपज नहीं कही जा सकतीं, क्योंकि किसी भी भौतिक यन्त्रमें स्वयं चलने, टूटनेपर अपने आपको सुधारने और अपने सजातीयको उत्पन्न करनेकी क्षमता नहीं देखी जाती। अवस्थाके अनुसार बढ़ना, घावका अपने आप भर जाना, जीर्ण हो जाना इत्यादि ऐसे धर्म हैं, जिनका समाधान केवल भौतिकतासे नहीं हो सकता। हजारों प्रकारके छोटे-बड़े यन्त्रोंका आविष्कार, जगत्के विभिन्न कार्य-कारणभावोंका स्थिर करना, गणितके आधारपर ज्योतिर्विद्याका विकास

(१) तत्त्वसं० पृ० १८४।

(२) "जीवो कत्ता य वत्ता य पाणी भोत्ता य पोग्गलो।"—अंगप० २।८६।

मनोरम कल्पनाओंसे साहित्याकाशको रंग-विरंगा करना आदि एक स्वयं समर्थ, स्वयं चैतन्यशाली द्रव्यका ही कार्य है। प्रश्न उसके व्यापक, अणु-परिमाण या मध्यम-परिमाणका हमारे सामने है। अनुभवसिद्ध कार्य-कारणभाव हमें उसे संकोच और विस्तारस्वभाववाला द्रव्य माननेको प्रेरित करता है। किसी असंयुक्त अखण्ड द्रव्यके गुणोंका विकास नियत प्रदेशोंमें नहीं हो सकता।

जैन देखने और सूँघनेकी शक्ति केवल उन-उन आत्मप्रदेशोंमें नहीं मानते, अपितु सम्पूर्ण आत्मामें मानते हैं। आत्मा अपने पूर्ण शरीरमें सक्रिय रहता है। अतः वह उन-उन चक्षु, नाक आदि उपकरणोंके झरोखोंसे रूप और गन्ध आदिका परिज्ञान करता है। अपनी वासनाओं और कर्मसंस्कारोंके कारण ही उसकी अनन्त शक्ति इस प्रकार छिन्न-विच्छिन्न रूपसे प्रकट होती है। अतः प्रतीति, अनुभव और युक्ति हमें सहज ही इस नतीजेपर पहुँचा देती है कि आत्मा केवल भूतचतुष्टयरूप नहीं है, किन्तु उनसे भिन्न, पर उनके सहारे अपनी शक्तिको विकसित करनेवाला स्वतन्त्र, अखण्ड और अमूर्तिक पदार्थ है। इसकी आनन्द और सौन्दर्यानुभूति स्वयं इसके स्वतन्त्र अस्तित्वके खासे प्रमाण हैं। राग और द्वेषका होना तथा उनके कारण हिंसा आदिके आरम्भमें जुट जाना, भौतिक यन्त्रका काम नहीं हो सकता। कोई भी यन्त्र अपने आप चले, स्वयं बिगड़ जाय और बिगड़नेपर अपनी मरम्मत स्वयं करले, स्वयं प्रेरणा ले और समझ-बूझकर चले यह असम्भव है। चैतन्य इन्द्रियोंका धर्म भी नहीं हो सकता; क्योंकि इन्द्रियोंके बने रहनेपर भी चैतन्य नष्ट हो जाता है। चैतन्य यदि प्रत्येक इन्द्रियका धर्म माना जाता है तो एक इन्द्रियके द्वारा जाने गये पदार्थका इन्द्रियान्तरसे अनुसन्धान नहीं होना चाहिए। पर इमली या आमकी फाँकको देखते ही जीभमें पानी आ जाता है। अतः ज्ञात होता है कि आँख और जीभ आदि इन्द्रियोंका प्रयोक्ता कोई सूत्र-संचालक अवश्य है। जिस प्रकार शरीर अचेतन है उसी तरह इन्द्रिय भी अचेतन हैं। अतः अचेतनसे चैतन्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि हो तो उसके रूप रस गन्ध और स्पर्श आदिका अन्वय चैतन्यमें उसी तरह होना चाहिए जैसे कि मिट्टीके रूपादिका अन्वय मिट्टीसे उत्पन्न घड़ेमें होता है। जीवको पृथक् सिद्ध करनेकी युक्तियोंका संग्रह इस प्रकार है—

"तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टेः भवस्मृतेः।
भूतान्वयनात् सिद्धः प्रकृतिज्ञः सनातन॥"[1]

अर्थात् तत्काल उत्पन्न हुए बालककी स्तनपानकी चेष्टासे, भूत राक्षस आदिके सद्भावसे, परलोकके स्मरणसे और भौतिक रूपादि गुणोंका चैतन्यमें अन्वय न होनेसे एक अनादि अनन्त आत्मा पृथक् द्रव्य सिद्ध होता है, जो सबका ज्ञाता है।

सिद्धिवि० (२।२५) में आत्माको पृथक् सिद्ध करनेके लिये धर्मकीर्तिकी सन्तानान्तरसिद्धिवाली युक्ति भी दी है कि—जब हम अपनी देहमें वचन व्यापार आदि चेष्टाओंकी बुद्धिपूर्वक उत्पत्ति देखते हैं और उन्हीं चेष्टाओंको दूसरोंके शरीरमें देखते हैं तब यह सहजमें कल्पना होती है कि उनमें भी बुद्धि है।

यह आत्मा स्वयं अपने कर्मोंका कर्ता और भोक्ता होता है। इसे पुण्य और पापको भोगनेके लिये स्वर्ग और नरक भेजनेवाले किसी प्रभु की सत्ता जैनपरम्परा नहीं मानती। प्राकृतिक नियमोंके अनुसार समस्त सृष्टिचक्र स्वयं चालित है।

इस प्रकार जैन-परम्परामें छह द्रव्य मौलिक माने गये हैं। सभी निरपवाद रूपसे द्रव्यपर्यायात्मक और सामान्यविशेषात्मक हैं।

* *

३ नयमीमांसा

अधिगमके उपायोंमें प्रमाणके साथ नयका भी निर्देश किया गया है। प्रमाण वस्तुके पूर्णरूपको ग्रहण करता है और नय प्रमाणके द्वारा गृहीत वस्तुके एक अंशको जानता है। ज्ञाताका वह अभिप्राय-

(१) प्रमेयरत्नमाला ४।८ में उद्धृत।

विशेष 'नय है जो प्रमाणके द्वारा जानी गयी वस्तुके एक देशको स्पर्श करता है। वस्तु अनन्तधर्मवाली है। प्रमाणज्ञान उसे समग्रभावसे ग्रहण करता है, उसमें अंशविभाजन करनेकी ओर उसका लक्ष्य नहीं होता। जैसे 'यह घड़ा है' इस ज्ञानमें प्रमाण घड़ेको अखंडभावसे उसके रूप रस गन्ध स्पर्श आदि अनन्त गुणधर्मोंका विभाग न करके पूर्णरूपमें जानता है जब कि नय उसका विभाजन करके 'रूपवान् घटः' 'रसवान् घटः' आदि रूपमें उसे अपने-अपने अभिप्रायके अनुसार जानता है। एक बात ध्यानमें रखनेकी है कि प्रमाण और नय ज्ञानकी ही वृत्तियाँ हैं, ज्ञानात्मक पर्यायें हैं। जब ज्ञाताकी सकलग्रहणकी दृष्टि होती है तब उसका ज्ञान प्रमाण होता है और जब उसी प्रमाणसे गृहीत वस्तुको खंडशः ग्रहण करनेका अभिप्राय होता है तब वह अंशग्राही अभिप्राय नय कहलाता है। प्रमाणज्ञान नयकी उत्पत्तिके लिये भूमि तैयार करता है।

यद्यपि छद्मस्थोंके सभी ज्ञान वस्तुके पूर्णरूपको नहीं जान पाते फिर भी जितनेको वह जानते हैं उनमें भी उनकी यदि समग्रग्रहणकी दृष्टि है तो वे सकलग्राही ज्ञान प्रमाण हैं और अंशग्राही विकलज्ञान नय। 'रूपवान् घटः' यह ज्ञान भी यदि रूपमुखेन समस्त घटका ज्ञान अखंडभावसे करता है तो प्रमाणकी ही सीमामें पहुँचता है और घटके रूप रस आदिका विभाजनकर यदि घड़ेके रूपको मुख्यतया जानता है तो वह नय कहलाता है। प्रमाणके जाननेका क्रम एक देशके द्वारा भी समग्रकी तरफ है जब कि नय समग्र वस्तुको विभाजितकर उसके अंशविशेषकी ओर झुकता है। प्रमाण चक्षुके द्वारा रूपको देखकर भी उस द्वारसे पूरे घड़ेको आत्मसात् करता है और नय उस घड़ेके खण्डकर उसके रूप आदि अंशोंको जाननेकी ओर झुकता है। इसीलिये प्रमाणको सकलादेशी और नयको विकलादेशी कहा है। प्रमाणके द्वारा जानी गई वस्तुको शब्दकी तरंगोंसे अभिव्यक्त करनेके लिए जो ज्ञानकी तरंग होती है वह नय है।

नय प्रमाणका एक देश है–

'नय प्रमाण है या अप्रमाण?' इस प्रश्नका समाधान 'हाँ और ना' में नहीं किया जा सकता? जैसे कि घड़ेमें भरे हुए समुद्रके जलको न तो समुद्र कह सकते हैं और न असमुद्र ही। नय[1] प्रमाणसे उत्पन्न होता है अतः प्रमाणात्मक होकर भी अंशग्राही होनेके कारण पूर्ण प्रमाण नहीं कहा जा सकता और अप्रमाण तो वह हो ही नहीं सकता। अतः जैसे घड़ेका जल समुद्रैकदेश है उसी तरह नय भी प्रमाणैकदेश[2] है अप्रमाण नहीं। नयके द्वारा ग्रहण की जानेवाली वस्तु भी न तो पूर्ण वस्तु कही जा सकती है और न अवस्तु किन्तु वस्त्वेकदेश ही वह हो सकती है। तात्पर्य यह कि प्रमाणसागरका वह अंश नय है जिसे ज्ञाताने अपने अभिप्रायके पात्रमें भर लिया है। उसका उत्पत्तिस्थान समुद्र ही है, पर उसमें वह विशालता और समग्रता नहीं है जिससे उसमें सब समा जाता है। लोग जैसे अपने छोटे-बड़े पात्रके अनुसार ही जल ग्रहण करते हैं उसी तरह प्रमाणकी रंगशालामें नय अनेक रूपों और वेशोंमें अपना नाटक रचता है।

सुनय दुर्नय–यद्यपि अनेकान्तात्मक वस्तुके एक-एक अंश अर्थात् धर्मोंको विषय करनेवाले अभिप्रायविशेष प्रमाणकी सन्तान हैं पर इनमें यदि सुमेल, परस्परप्रीति और अपेक्षा है तो ही ये सुनय हैं अन्यथा दुर्नय। नय अनेकान्तात्मक वस्तुके अमुक अंशको मुख्यभावसे ग्रहण करके भी अन्य अंशोंका निराकरण नहीं करता, किन्तु उनके प्रति तटस्थभाव रखता है। पिताकी जायदादमें जैसे सभी सन्तानोंका समान हक होता है और सपूत वही कहा जाता है जो अपने अन्य भाइयोंके हकको ईमानदारीसे स्वीकार करता है, उनके हड़पनेकी कुचेष्टा नहीं करता किन्तु सद्भाव ही उत्पन्न करता है, उसी तरह अनन्तधर्मा वस्तुमें सभी नयोंका समान अधिकार है और सुनय वही कहा जायगा जो अपने अंशको मुख्यरूपसे ग्रहण करके भी अन्यके

---

(१) "ज्ञातृणामभिसन्धयः खलु नयाः"–सिद्धिवि० १०।१। "नयो ज्ञातुरभिप्रायः"–लघी० श्लो० ५२। (२) सिद्धिवि० १०।३।

(३) "नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते यतः।
नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते॥" –स० श्लो० १।६। नयविचरण श्लो० ६।

अंशोंको गौण करे पर उनका निराकरण न करे, उनकी अपेक्षा करे और उनके अस्तित्वको स्वीकार करे। जो दूसरेका निराकरण करता है और अपना ही अधिकार जमाता है वह कपूतकी तरह दुर्नय कहलाता है।

प्रमाणमें पूर्ण वस्तु समाती है नय एक अंशको मुख्यरूपसे ग्रहण करके भी अन्य अंशोंको गौण करता है, उनकी अपेक्षा रखता है और तिरस्कार तो कभी नहीं करता; किन्तु दुर्नय अन्यनिरपेक्ष होकर अन्यका निराकरण करता है। प्रमाण[1] तत् और अतत् सभीको जानता है, नयसे तत्की प्रतिपत्ति होती है पर दुर्नय अन्यका निराकरण करता है। प्रमाण[2] 'सत्'को ग्रहण करता है, नय 'स्यात्सत्' इसतरह सापेक्ष रूपसे जानता है जबकि दुर्नय 'सदेव' ऐसा अवधारणकर अन्यका तिरस्कार करता है। सापेक्षता ही नयका प्राण है। आचार्य सिद्धसेनने अपने सन्मतिसूत्र (१।२१-२५) में कहा है कि–

"तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा।
अण्णोण्णणिस्सिया उण हवंति सम्मत्तसब्भावा॥"–सन्मति० १।२२।

अर्थात् वे सभी नय मिथ्यादृष्टि हैं जो अपने ही पक्षका आग्रह करते हैं–परका निषेध करते हैं। किन्तु जब वे ही परस्पर सापेक्ष और अन्योन्याश्रित होते हैं तब सम्यक्त्वके सद्भावक होते हैं अर्थात् सम्यग्दृष्टि होते हैं। जैसे अनेक प्रकारके गुणवाली वैडूर्य आदि मणियाँ महामूल्यवाली होकर भी यदि एक सूत्रमें पिरोई हुई न हों, परस्पर घटक न हों तो 'रत्नावली' संज्ञा नहीं पा सकतीं उसी तरह अपने नियत वादोंका आग्रह रखनेवाले परस्परनिरपेक्ष नय सम्यक्त्वको नहीं पा सकते, भले ही वे अपने-अपने पक्षके लिये कितने ही महत्त्वके क्यों न हों। जिस प्रकार वे ही मणियाँ एक सूतमें पिरोई जाकर 'रत्नावली-हार' बन जाती हैं उसी तरह सभी नय परस्पर सापेक्ष होकर सम्यक्पनेको प्राप्त हो जाते हैं।

"जे वयणिज्जवियप्पा संजुज्जंतेसु होंति एएसु।
सा ससमयपण्णवणा तित्थयरासायणा अण्णा॥"–सम्मति० १।५३।

जो वचनविकल्परूपी नय परस्पर सम्बद्ध होकर स्वविषयका प्रतिपादन करते हैं, वह उनकी स्वसमय प्रज्ञापना है तथा अन्य निरपेक्षवृत्ति तीर्थंकर की आसादना है।

आचार्य कुन्दकुन्द इसी तत्त्वको बड़ी मार्मिक रीतिसे समझाते हैं–

"दोण्ह वि णयाण भणियं जाणइ णवरं तु समयपडिबद्धो।
णदु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो॥"–समयसार गाथा १४३।

स्वसमयी व्यक्ति दोनों नयोंके वक्तव्यको जानते तो हैं पर अन्य नयका तिरस्कार करके किसी एक नयपक्षको ग्रहण नहीं करते। वे एक नयको द्वितीयसापेक्ष रूपसे ही ग्रहण करते हैं।

वस्तु जब अनन्त धर्मात्मक है तब स्वभावतः एक एक धर्मके ग्रहण करनेवाले अभिप्राय भी अनन्त ही होंगे, भले ही उनके वाचक पृथक्-पृथक् शब्द न मिलें पर जितने शब्द हैं उनके वाच्य धर्मोंके जाननेवाले उतने अभिप्राय तो अवश्य होते हैं। यानी अभिप्रायोंकी संख्याकी अपेक्षा हम नयोंकी सीमा न बाँध सकें पर यह तो सुनिश्चितरूपसे कह ही सकते हैं कि जितने शब्द हैं उतने तो नय अवश्य हो सकते हैं; क्योंकि कोई भी वचन अभिप्रायके बिना हो ही नहीं सकता। ऐसे अनेक अभिप्राय सम्भव हैं जिनके वाचक शब्द न मिलें पर ऐसा एक भी शब्द नहीं हो सकता जो बिना अभिप्रायके प्रयुक्त होता हो। अतः सामान्यतया जितने शब्द हैं उतने नय[4] हैं।

---

(१) "निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्।" –आप्तमी० श्लो० १०८। सिद्धिवि० १०।४, २७।

(२) "धर्मान्तरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाणनयदुर्णयानां प्रकारान्तरासंभवाच्च। प्रमाणात्तद्-तत्स्वभावप्रतिपत्तेः तत्प्रतिपत्तेः तदन्यनिराकृतेश्च।"–अष्टश०, अष्टसह० पृ० २९०।

(३) "सदेव सदस्यात् सदिति त्रिधार्थो मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः।"–अन्ययोगव्य० श्लो० २८।

(४) "जावइया वयणपहा तावइया होंति णयवाया"–सन्मति० ३।४७।

यह विधान यह मानकर किया जाता है कि प्रत्येक शब्द वस्तुके किसी न किसी धर्मका वाचक होता है। इसीलिऐ तत्त्वार्थभाष्य (१।३५) में 'ये नय क्या एक वस्तुके विषयमें परस्पर विरोधी तन्त्रोंके मतवाद हैं या जैनाचार्योंके ही परस्पर मतभेद हैं?' इस प्रश्नका समाधान करते हुए स्पष्ट लिखा है कि 'न तो ये तन्त्रान्तरीय मतवाद हैं और न आचार्योंके पारस्परिक मतभेद हैं किन्तु ज्ञेय अर्थके नाना अध्यवसाय हैं।' एक ही वस्तुको अपेक्षाभेदसे या अनेक दृष्टिकोणोंसे ग्रहण करनेवाले विकल्प हैं। ये हवाई कल्पनाएँ नहीं हैं और न शेखचिल्लीके विचार ही हैं किन्तु अर्थको नानाप्रकारसे जाननेवाले अभिप्रायविशेष हैं।

ये निर्विषय न होकर ज्ञान शब्द या अर्थ किसी-न-किसीको विषय अवश्य करते हैं। इसका विवेक करना ज्ञाताका कार्य है। जैसे एक ही लोक सत्‌की अपेक्षा एक, जीव और अजीवके भेदसे दो, द्रव्य गुण और पर्यायके भेदसे तीन, चार प्रकारके दर्शनका विषय होने चार, पाँच अस्तिकायोंकी अपेक्षा पाँच और छह द्रव्योंकी अपेक्षा छह प्रकारका कहा जा सकता है। ये अपेक्षाभेदसे होनेवाले विकल्प हैं मात्र मतभेद या विवाद नहीं हैं उसी तरह नयवाद भी अपेक्षाभेदसे होनेवाले वस्तुके विभिन्न अध्यवसाय-यानी निर्णय हैं।

[1]दो नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—इस तरह सामान्यतया अभिप्रायोंकी अनन्तता होनेपर भी इन्हें दो विभागोंमें बाँटा जा सकता है एक अभेदको ग्रहण करनेवाले और दूसरे भेदको ग्रहण करनेवाले। वस्तुमें स्वरूपतः अभेद है, वह अखण्ड है और अपनेमें एक मौलिक है। उसे अनेक गुण पर्याय और धर्मोंके द्वारा अनेकरूपमें ग्रहण किया जाता है। अभेदग्राहिणी दृष्टि द्रव्यदृष्टि कही जाती है और भेदग्राहिणी दृष्टि पर्यायदृष्टि। द्रव्यको मुख्यरूपसे ग्रहण करनेवाला नय द्रव्यार्थिक द्रव्यास्तिक या अव्युच्छित्ति नय कहलाता है और पर्यायको ग्रहण करनेवाला नय पर्यायार्थिक पर्यायास्तिक या व्युच्छित्तिनय है। अभेद अर्थात् सामान्य और भेद यानी विशेष। वस्तुओंमें अभेद और भेदकी कल्पनाके दो प्रकार हैं। पहिला तो एक अखण्ड मौलिक द्रव्यमें अपनी द्रव्यशक्तिके कारण विवक्षित अभेद द्रव्य या ऊर्ध्वता सामान्यरूप है। यह अपनी कालक्रमसे होनेवाली क्रमिक पर्यायोंमें ऊपरसे नीचे तक व्याप्त रहनेके कारण ऊर्ध्वता सामान्य कहलाता है। यह जिस प्रकार अपनी क्रमिक पर्यायोंको व्याप्त करता है उसी तरह अपने सहभावी गुण और धर्मोंको भी व्याप्त करता है। दूसरी अभेद कल्पना विभिन्नसत्ताक अनेक द्रव्योंमें संग्रहकी दृष्टिसे की जाती है। यह कल्पना शब्दव्यवहारके निर्वाहके लिए सादृश्यकी अपेक्षासे की जाती है। अनेक स्वतन्त्रसत्ताक मनुष्यों में सादृश्यमूलक मनुष्यत्व जातिकी अपेक्षा मनुष्यत्व सामान्यकी कल्पना तिर्यक् सामान्य कहलाती है। यह अनेक द्रव्योंमें तिरछी चलती है। एक द्रव्यकी पर्यायोंमें होनेवाली भेदकल्पना पर्यायविशेष कहलाती है तथा विभिन्न द्रव्योंमें प्रतीत भेद व्यतिरेकविशेष कहा जाता है। इस प्रकार दोनों प्रकारके अभेदोंको विषय करनेवाली द्रव्य दृष्टि है और भेदोंको विषय करनेवाली पर्यायदृष्टि है।

परमार्थ और व्यवहार—परमार्थतः प्रत्येक द्रव्यगत अभेदको ग्रहण करनेवाली ही दृष्टि द्रव्यार्थिक और प्रत्येक द्रव्यगत पर्यायभेदको जाननेवाली ही दृष्टि पर्यायार्थिक होती है। चूँकि अनेक द्रव्यगत अभेद औपचारिक और व्यावहारिक है अतः इनमें सादृश्यमूलक अभेद भी व्यावहारिक ही है पारमार्थिक नहीं। अनेक द्रव्योंका भेद पारमार्थिक ही है। 'मनुष्यत्व' मात्र सादृश्यमूलक कल्पना है। कोई एक ऐसा मनुष्यत्व नामका पदार्थ नहीं है जो अनेक मनुष्य द्रव्योंमें मोतियोंमें सूतकी तरह पिरोया गया हो। सादृश्य भी अनेकनिष्ठ धर्म नहीं है किन्तु प्रत्येक व्यक्तियोंमें रहता है। उसका व्यवहार अवश्य परसापेक्ष है, किन्तु स्वरूप तो प्रत्येकनिष्ठ ही है। अतः किन्हीं भी सजातीय या विजातीय अनेक द्रव्योंका अभेदमूलक संग्रह केवल व्यावहारिक है पारमार्थिक नहीं। अनन्त पुद्गल परमाणु द्रव्योंको पुद्गलत्वेन एक कहना व्यवहारके लिये है। दो पृथक् परमाणुओंकी सत्ता कभी भी एक नहीं हो सकती। एक द्रव्यगत ऊर्ध्वता सामान्यको छोड़कर जितनी भी अभेद कल्पनाएँ अवान्तर या महासामान्यके नामसे की जाती है वे सब व्यावहारिक हैं। उनका वस्तुस्थितिसे इतना ही सम्बन्ध है कि वे शब्दोंके द्वारा उन-उन पृथक् वस्तुओंका संग्रह कर रही हैं। जिस

(१) सिद्धिवि० १०।४।

प्रकार अनेक द्रव्यगत अभेद व्यावहारिक है उसी तरह एक द्रव्यमें पर्यायभेद वास्तविक होकर भी गुणभेद और धर्मभेद उस अखंड अनिर्वचनीय वस्तुको समझने समझाने और कहने के लिये किये जाते हैं। जिस प्रकार हम पृथक्सिद्ध द्रव्यों का विश्लेषण कर उन्हें अलग स्वतंत्र भावसे गिना सकते हैं उस तरह एक द्रव्यके गुण और धर्मोंको नहीं। अतः परमार्थ द्रव्यार्थिकनय एकद्रव्यगत अभेदको विषय करता है, और परमार्थ पर्यायार्थिक एकद्रव्यकी क्रमिक पर्यायोंको। व्यवहारद्रव्यार्थिक अनेक द्रव्यगत कल्पित अभेदको जानता है और परमार्थ पर्यायार्थिक दो द्रव्योंके परस्पर भेदको जानता है। व्यवहार पर्यायार्थिककी मर्यादा एक द्रव्यगत गुणभेद और धर्मभेद तक है।

द्रव्यास्तिक और द्रव्यार्थिक–तत्त्वार्थ वार्तिक (१।३३) में द्रव्यार्थिकके स्थानमें आनेवाला द्रव्यास्तिक और पर्यायार्थिकके स्थानमें आनेवाला पर्यायास्तिक शब्द इसी सूक्ष्म भेदको सूचित करता है। द्रव्यास्तिकका तात्पर्य है कि जो एकद्रव्यके परमार्थ अस्तित्वको विषय करे और तन्मूलक ही अभेदका प्रख्यापन करे। पर्यायास्तिक एक द्रव्यकी वास्तविक क्रमिक पर्यायोंके अस्तित्वको मानकर उन्हींके आधारसे भेद व्यवहार कराता है। इस दृष्टिसे अनेक द्रव्यगत परमार्थभेदको पर्यायार्थिक विषय करके भी उनके भेदको किसी द्रव्यकी पर्याय नहीं मानता। यहाँ पर्याय शब्दका प्रयोग व्यवहारार्थ है। तात्पर्य यह कि–एक द्रव्यगत अभेदको द्रव्यास्तिक और परमार्थ द्रव्यार्थिक, एकद्रव्यगत पर्यायभेदको पर्यायास्तिक और परमार्थ पर्यायार्थिक, अनेक द्रव्यों के सादृश्यमूलक अभेदको व्यवहार द्रव्यार्थिक तथा अनेकद्रव्यगत भेदको परमार्थ पर्यायार्थिक जानता है। अनेक द्रव्यगत भेदको हम 'पर्याय' शब्दसे व्यवहारके लिये ही कहते हैं। इस तरह भेदाभेदात्मक या अनन्त धर्मात्मक ज्ञेयमें ज्ञाताके अभिप्रायानुसार भेद या अभेदको मुख्य और इतरको गौण करके द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंकी प्रवृत्ति होती है। कहाँ कौनसा भेद या अभेद विवक्षित है यह समझना वक्ता और श्रोताकी कुशलतापर निर्भर करता है। तीर्थंकरोंके द्वारा उपदिष्ट समस्त अर्थका संग्रह इन्हीं दो नयोंमें हो जाता है। उनका कथन या तो अभेदप्रधान होता है या भेदप्रधान।

तीन और सात नय–जब हम प्रत्येक पदार्थको अर्थ शब्द और ज्ञानके आकारोंमें बाँटते हैं तो इनके ग्राहक ज्ञान भी स्वभावतः तीन श्रेणियोंमें बँट जाते हैं–ज्ञाननय अर्थनय और शब्दनय। कुछ व्यवहार केवल ज्ञानाश्रयी होते हैं, उनमें अर्थके तथाभूत होनेकी चिन्ता नहीं होती, वे केवल संकल्पसे चलते हैं जैसे आज महावीरजयंती है। अर्थके आधारसे चलनेवाले व्यवहारमें एक ओर नित्य एक और व्यापी रूपसे चरम अभेदकी कल्पना की जा सकती है तो दूसरी ओर क्षणिकत्व परमाणुत्व और निरंशत्वकी दृष्टिसे अन्तिम भेदकी कल्पना। तीसरी कल्पना इन दोनों चरम कोटियोंके मध्य की है। पहिली कोटिमें सर्वथा अभेद-एकत्व स्वीकार करनेवाले औपनिषद् अद्वैतवादी हैं तो दूसरी ओर वस्तुकी सूक्ष्मतम वर्तमान क्षणवर्ती अर्थपर्यायके ऊपर दृष्टि रखनेवाले क्षणिक निरंश परमाणुवादी बौद्ध हैं। तीसरी कोटिमें पदार्थको नानारूपसे व्यवहारमें लानेवाले नैयायिक वैशेषिक आदि हैं। तीसरे प्रकारके व्यक्ति हैं भाषाशास्त्री। ये एक ही अर्थ में विभिन्न शब्दोंके प्रयोगको मानते हैं। परन्तु शब्दनय, शब्दभेदसे अर्थभेदको अनिवार्य समझता है। इन सभी प्रकारके व्यवहारोंके समन्वयके लिए जैन परम्पराने 'नय' पद्धति स्वीकार की है। नय का अर्थ है–अभिप्राय, दृष्टि, विवक्षा या अपेक्षा है।

ज्ञाननय अर्थनय और शब्दनय–इनमें ज्ञानाश्रित व्यवहार का संकल्पमात्रग्राही नैगमनयमें समावेश होता है। अर्थाश्रित अभेद व्यवहारका जो "**आत्मैवेदं सर्वम्**", "**एकस्मिन् वा विज्ञाते सर्वं विज्ञातम्**" आदि उपनिषद् वाक्यों से प्रकट होता है, संग्रह नयमें अन्तर्भाव किया गया है, इससे आगे तथा एक परमाणुकी वर्तमानकालीन एक अर्थपर्यायसे पहिले होने वाले यावत् मध्यवर्ती भेदोंको जिनमें न्यायवैशेषिकादि दर्शन शामिल हैं, व्यवहार नयमें शामिल किया गया है। अर्थकी आखिरी देशकोटि परमाणुरूपता तथा कालकोटि क्षणिकता को ग्रहण करनेवाली बौद्धदृष्टि ऋजुसूत्र नयमें स्थान पाती है। यहाँ तक अर्थको सामने रखकर भेदाभेद कल्पित हुए हैं। अब शब्दशास्त्रियोंका नम्बर आता है। काल कारक संख्या तथा धातुके साथ लगने वाले भिन्न-भिन्न उपसर्ग आदिके साथ प्रयुक्त होने वाले शब्दोंके

वाच्य अर्थ भिन्न-भिन्न हैं इस कालकारकादिवाचक शब्दभेदसे अर्थभेद ग्रहणकरनेवाली दृष्टिका शब्दनयमें समावेश होता है। एक ही साधनमें निष्पन्न तथा एक कालवाचक भी अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं, इन पर्यायवाची शब्दोंसे भी अर्थभेद माननेवाली दृष्टि समभिरूढमें स्थान पाती है। एवम्भूतनय कहता है कि जिस समय जो अर्थ जिस क्रियामें परिणत हो उसी समय उसमें तत्क्रियासे निष्पन्न शब्दका प्रयोग होना चाहिये। इसकी दृष्टि से सभी शब्द क्रियासे निष्पन्न हैं। गुणवाचक शुक्ल शब्द शुचिभवन रूप क्रिया से, जातिवाचक अश्वशब्द आशुगमन रूप क्रियासे, क्रियावाचक 'चलति' शब्द चलने रूप क्रियासे और नामवाचक यदृच्छा शब्द देवदत्त आदि भी 'देवने इसको दिया' आदि क्रियाओंसे निष्पन्न होते हैं। इस तरह ज्ञान अर्थ और शब्दाश्रयी यावद् व्यवहारोंका समन्वय इन नयोंमें किया गया है।

मूलनय सात—नयोंके मूलभेद सात हैं—नैगम संग्रह व्यवहार ऋजुसूत्र शब्द समभिरूढ़ और एवंभूत। आचार्य सिद्धसेन (सन्मति० १।४।५) अभेदग्राही नैगमका संग्रहमें तथा भेदग्राही नैगमका व्यवहार नयमें अन्तर्भाव करके नयोंके छह भेद ही मानते हैं। तत्त्वार्थभाष्य (१।३४, ३५) में नयोंके मूल भेद पाँच मानकर शब्दनयके तीन भेद करके नयोंके सात भेद गिनाये हैं। नैगमनयके देशपरिक्षेपी और सर्वपरिक्षेपी भेद भी तत्त्वार्थभाष्य (१।३४,३५) में पाये जाते हैं। षट्खंडागममें नैगमादि शब्दान्त पाँच भेद नयोंके गिनाये हैं, पर कषायपाहुडमें मूल पाँच भेद गिनाकर शब्दनयके तीन भेद कर दिये हैं और नैगमनयके संग्रहिक और असंग्रहिक दो भेद भी किये हैं। इस तरह सात नय मानना प्रायः सर्वसम्मत है।

नैगमनय—संकल्पमात्रको ग्रहण करनेवाला नैगमनय[1] होता है। जैसे कोई पुरुष दरवाजा बनानेके लिये लकड़ी लाने जा रहा है। पूँछनेपर वह कहता है कि दरवाजा लेने जा रहा हूँ। तो यहाँ दरवाजेके संकल्पमें ही दरवाजा व्यवहार किया गया है। संकल्प सत्में भी होता है और असत्में भी। इसी नैगमनयकी मर्यादामें अनेकों औपचारिक व्यवहार आते हैं। 'आज महावीर जयन्ती है' इत्यादि व्यवहार इसी नयकी दृष्टिसे किये जाते हैं। निगम गाँवको कहते हैं, अतः गाँवोंमें जिस प्रकारके ग्रामीण व्यवहार चलते हैं वे सब इसी नयकी दृष्टिसे होते हैं।

अकलंकदेवने[2] धर्म और धर्मी दोनोंको गौण मुख्य भावसे ग्रहण करना नैगमनयका कार्य बताया है। जैसे 'जीव' कहनेसे ज्ञानादि गुण गौण होकर द्रव्य ही मुख्य विवक्षित होता है और 'ज्ञानवान् जीव' कहनेसे ज्ञानगुण मुख्य हो जाता है और जीवद्रव्य गौण। यह न केवल धर्मको ही ग्रहण करता है और न केवल धर्मीको ही। विवक्षानुसार दोनों ही इसके विषय होते हैं। भेद और अभेद दोनों ही इसके कार्यक्षेत्रमें आते हैं। दो धर्मोंमें[3] दो धर्मियोंमें तथा धर्म और धर्मीमें एक को प्रधान तथा अन्यको गौण करके ग्रहण करना नैगमनयका ही कार्य है, जबकि संग्रहनय केवल अभेदको विषय करता है और व्यवहार नय मात्र भेदको। यह किसी एकपर नियत नहीं रहता अतः (नैकं गमः[4]) इसे नैगम कहते हैं। कार्यकारण आधार आधेय आदिकी दृष्टिसे होनेवाले सभी प्रकारके उपचारोंको भी यही विषय करता है।

नैगमाभास—अवयव अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान् सामान्य और सामान्यवान् आदिमें सर्वथा भेद मानना नैगमाभास[5] है; क्योंकि गुणीसे पृथक् गुण अपनी सत्ता नहीं रखता और न गुणोंकी उपेक्षा करके गुणी ही अपना अस्तित्व रख सकता है। अतः इनमें कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्ध मानना ही उचित है। इसी तरह अवयव-अवयवी, क्रिया-क्रियावान् तथा सामान्य-विशेषमें भी कथञ्चित्तादात्म्य ही सम्बन्ध है। यदि गुण आदि गुणी आदिसे सर्वथा भिन्न स्वतन्त्र पदार्थ हों तो उनमें नियत सम्बन्ध न होनेके कारण गुण-गुणी भाव आदि नहीं बन सकेंगे। कथञ्चित्तादात्म्यका अर्थ है कि गुण आदि गुणी आदि रूप ही हैं, उनसे भिन्न नहीं हैं। जो स्वयं ज्ञानरूप नहीं हैं वह ज्ञानके समवायसे भी कैसे 'ज्ञ' बन सकता है! अतः वैशेषिकका गुण आदिका गुणी आदिसे निरपेक्ष सर्वथा भेद मानना नैगमाभास[6] है।

(१) "अनभिनिर्वृत्तार्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः"—सर्वार्थसि० १।३३।
(२) लघी० स्व० श्लो० ३९। (३) त० श्लो० पृ० २६९।
(४) धवला टी० सत्प्ररू०। (५) लघी० स्व० श्लो० ३९। (६) सिद्धिवि० १०।११।

[1]सांख्यका ज्ञान सुख आदिको आत्मासे भिन्न मानना नैगमाभास है। सांख्यका कहना है कि त्रिगुणात्मक प्रकृतिके ही सुख और ज्ञानादिक धर्म हैं, वे उसीमें आविर्भूत और तिरोहित होते रहते हैं। इसी प्रकृतिके संसर्गसे पुरुषमें ज्ञानादिकी प्रतीति होती है। प्रकृति इस ज्ञान सुखादिरूप व्यक्त-कार्यकी दृष्टिसे दृश्य है तथा अपने कारणरूप-अव्यक्त स्वरूपसे अदृश्य है। पुरुष चेतन अपरिणामी कूटस्थ नित्य है। चैतन्य बुद्धिसे भिन्न है, अतः बुद्धि-चेतनपुरुषका धर्म नहीं है। इस तरह सांख्यका ज्ञान और आत्मामें सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है; क्योंकि चैतन्य और ज्ञानमें कोई भेद नहीं है। बुद्धि उपलब्धि चैतन्य और ज्ञान आदि सभी पर्यायवाची हैं। सुख और ज्ञानादिको सर्वथा अनित्य और पुरुषको सर्वथा नित्य मानना भी उचित नहीं है; क्योंकि कूटस्थ नित्य पुरुषमें प्रकृतिसंसर्गसे भी बन्ध मोक्ष और भोग आदि नहीं बन सकते। अतः पुरुषको परिणामी नित्य ही मानना होगा तभी उसमें बन्धमोक्षादि व्यवहार घट सकते हैं। तात्पर्य यह कि अभेद-निरपेक्ष सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है।

संग्रह-संग्रहाभास—अनेक पर्यायोंको एक द्रव्यरूपसे या अनेक द्रव्योंको सादृश्य-मूलक एकत्व-रूपसे अभेदग्राही [2]संग्रह नय होता है। इसकी दृष्टिमें विधि ही मुख्य है। द्रव्यको छोड़कर पर्याय हैं ही नहीं। यह दो प्रकारका होता है—एक परसंग्रह और दूसरा अपरसंग्रह। परसंग्रहमें सत् रूपसे समस्त पदार्थोंका संग्रह किया जाता है तथा अपरसंग्रहमें एक द्रव्यरूपसे समस्त पर्यायोंका, द्रव्यरूपसे समस्त द्रव्योंका, गुणरूपसे समस्त गुणोंका, गोत्वरूपसे समस्त गायोंका तथा मनुष्यत्वरूपसे समस्त मनुष्योंका इत्यादि संग्रह किया जाता है। यह अपरसंग्रह तबतक चलता है जबतक भेदमूलक व्यवहार अपनी चरमकोटि तक नहीं पहुँच जाता अर्थात् जब व्यवहारनय भेद करते-करते ऋजुसूत्र नयकी विषयभूत एक वर्तमानकालीन क्षणवर्ती अर्थपर्यायतक पहुँचता है यानी संग्रह करनेके लिये दो रह ही नहीं जाते तब अपरसंग्रहकी मर्यादा समाप्त हो जाती है। यद्यपि परसंग्रहके बाद और ऋजुसूत्र नयसे पहिले अपरसंग्रह और व्यवहार नयका सामान्य क्षेत्र है पर दृष्टिमें भेद है। जब अपरसंग्रहमें सादृश्यमूलक या द्रव्यमूलक अभेददृष्टि मुख्य है और इसीलिये वह एकत्व लाकर संग्रह करता है तब व्यवहारनयमें भेदकी ही प्रधानता है, वह पर्याय-पर्यायीमें भी भेद ही डालता है। परसंग्रहनयकी दृष्टिमें सद्रूपसे सभी पदार्थ एक हैं, उनमें किसी प्रकारका भेद नहीं है। जीव-अजीव आदि सभी सद्रूपसे अभिन्न हैं। जिस प्रकार एक चित्रज्ञान अपने अनेक नीलादि आकारोंमें व्याप्त है उसी तरह सत्त्व सभी पदार्थों-में व्याप्त है, जीव-अजीव आदि सभी उसके भेद हैं। कोई भी ज्ञान सन्मात्रतत्त्वको जाने बिना भेदोंको नहीं जान सकता। कोई भी भेद सन्मात्रसे बाहर अर्थात् असत् नहीं है। प्रत्यक्ष चाहे चेतन-सुखादिमें प्रवृत्ति करे या बाह्य अचेतन नीलादि पदार्थोंको जाने, वह सद्रूपसे अभेदांशको विषय करता ही है। इतना ध्यान रखनेकी बात है कि—एकद्रव्यमूलक पर्यायोंके संग्रहके सिवाय अन्य सभी प्रकारके संग्रह सादृश्यमूलक एकत्वका आरोप करके ही होते हैं और वे केवल संक्षिप्त शब्दव्यवहारकी सुविधाके लिये हैं। दो स्वतन्त्र द्रव्योंमें चाहे वे सजातीय हों या विजातीय वास्तविक एकत्व आ ही नहीं सकता। संग्रहनयकी इस अभेद दृष्टिसे सीधी टक्कर लेनेवाली बौद्धकी भेददृष्टि है, जिसमें अभेदको कल्पनात्मक कहकर उसका वस्तुमें कोई स्थान ही नहीं रहने दिया है। इस आत्यन्तिक भेददृष्टिके कारण ही बौद्ध अभेददृष्टिके विषयभूत अवयवी और स्थूल आदि पदार्थोंकी सत्ता ही नहीं मानते। नित्यांश कालिक अभेदके आधारपर स्थिर है; क्योंकि जब वही एक द्रव्य त्रिकालानुयायी हो तभी वह नित्य कहा जा सकता है। अवयवी और स्थूलता दैशिक अभेदके आधारसे माने जाते हैं। जब एक वस्तु अनेक अवयवोंमें कथञ्चित्तादात्म्यरूपसे व्याप्ति रखे तभी वह अवयवी व्यपदेश पा सकती है। स्थूलतामें भी अनेकप्रदेशव्यापित्वरूप दैशिक अभेददृष्टि ही अपेक्षणीय होती है।

इस [3]नयकी दृष्टिसे कह सकते हैं विश्व सन्मात्ररूप है, एक है, अद्वैत है क्योंकि सद्रूपसे चेतन और अचेतनमें कोई भेद नहीं है। अद्वयब्रह्मवाद संग्रहाभास[4] है क्योंकि इसमें भेदका "नेह नानास्ति किञ्चन"

(१) सिद्धिवि० १०।१०।
(२) सिद्धिवि० १०।१३। "शुद्धं द्रव्यमभिप्रैति संग्रहस्तदभेदतः।"—लघी० श्लो० ३२।
(३) "सर्वमेकं सदविशेषात्"—तत्त्वार्थभा० १।३५। (४) सिद्धिवि० १०।१७,१८।

[कठोप० ४।११] कहकर सर्वथा निराकरण कर दिया है। संग्रहनयमें अभेद मुख्य होनेपर भी भेदका निराकरण नहीं किया जाता, वह गौण हो जाता है, उसके अस्तित्वसे इनकार नहीं किया जा सकता। अद्वयब्रह्मवादमें कारक और क्रियाओंके प्रत्यक्षसिद्ध भेदका निराकरण हो जाता है। कर्मद्वैत फलद्वैत लोकद्वैत और विद्या-अविद्याद्वैत आदि सभीका लोप इस नयमें प्राप्त होता है। अतः सांग्रहिक व्यवहारके लिये भले ही परसंग्रह नय जगतके समस्त पदार्थोंको 'सत्' कह ले पर इससे प्रत्येक द्रव्यके मौलिक अस्तित्वका लोप नहीं हो सकता। विज्ञानकी प्रयोगशाला प्रत्येक अणुका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करती है। अतः संग्रह नयकी उपयोगिता अभेदव्यवहारके लिये है, वस्तुस्थितिका लोप करनेके लिये नहीं।

शब्दाद्वैत भी संग्रहाभास हैं। वह इसलिये कि इसमें भेदका और द्रव्योंके उस मौलिक अस्तित्वका निराकरण कर दिया जाता है जो अस्तित्व प्रमाणसे प्रसिद्ध है।

व्यवहार-व्यवहाराभास—संग्रहनयके द्वारा संगृहीत अर्थमें विधिपूर्वक अविसंवादी और वस्तुस्थिति-मूलक भेद करनेवाला व्यवहारनय[1] है। यह व्यवहारनय लोकप्रसिद्ध व्यवहारका अविरोधी होता है। लोक-व्यवहारविरुद्ध, विसंवादिनी और वस्तुस्थितिकी उपेक्षा करनेवाली भेदकल्पना व्यवहाराभास है। लोकव्यवहार अर्थ शब्द और ज्ञान-तीनोंसे चलता है। जीवव्यवहार जीवअर्थ जीवविषयक ज्ञान और जीवशब्द तीनोंसे सधता है। वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्यवाली है, द्रव्य गुणपर्यायवाला है, जीव चैतन्यरूप है इत्यादि भेदक वाक्य प्रमाणाविरोधी हैं तथा लोकव्यवहारमें अविसंवादी होनेसे प्रमाण हैं। ये वस्तुगत अभेदका निराकरण न करनेके कारण पूर्वापराविरोधी होनेसे मुख्यव्यवहारके विषय हैं। सौत्रान्तिकका जड़ या चेतन सभी पदार्थोंको सर्वथा क्षणिक निरंश परमाणुरूप मानना, योगाचारका क्षणिक अविभाग विज्ञानाद्वैत मानना, माध्यमिकका निरालम्बनज्ञान या सर्वशून्यता स्वीकार करना प्रमाणविरोधी और लोकव्यवहारमें विसंवादक होनेसे व्यवहाराभास हैं। जो भेद वस्तुके अपने निजी मौलिक एकत्वकी अपेक्षा रखता है वह व्यवहार है और अभेदका सर्वथा निराकरण करनेवाला व्यवहाराभास है। दो स्वतन्त्र द्रव्योंमें वास्तविक भेद है, उनमें सादृश्यके कारण अभेद आरोपित होता है जब कि एक द्रव्यगत गुण और धर्मोंमें वास्तविक अभेद है, उनमें भेद उस अखण्ड वस्तुका विश्लेषण कर समझनेके लिये कल्पित होता है। इस मूल वस्तुस्थितिको लाँघकर भेदकल्पना या अभेदकल्पना करना तदाभास होती है पारमार्थिक नहीं। विश्वके अनन्त द्रव्योंका अपना व्यक्तित्व मौलिक भेदपर ही टिका हुआ है। एक द्रव्यके गुणादिका भेद वस्तुतः मिथ्या कहा जा सकता है और उसे अविद्याकल्पित कहकर प्रत्येक द्रव्यके अद्वैत तक पहुँच सकते हैं, पर अनन्त अद्वैतोंमें तो क्या, दो अद्वैतोंमें भी अभेदकी कल्पना उसी तरह औपचारिक है जैसे सेना वन प्रान्त या देश आदिकी कल्पना। वैशेषिककी प्रतीतिविरुद्ध द्रव्यादिभेदकल्पना भी व्यवहाराभासमें आ सकती है।

ऋजुसूत्र-तदाभास—व्यवहारनय तक भेद और अभेदकी कल्पना मुख्यतया अनेक द्रव्योंको सामने रखकर चलती है। किन्तु एक द्रव्यमें भी कालक्रमसे पर्यायभेद होता है और वर्तमान क्षणका अतीत और अनागतसे सम्बन्ध नहीं है यह विचार ऋजुसूत्र नय प्रस्तुत करता है। यह नय[2] वर्तमानक्षणवर्ती अर्थपर्यायको ही विषय करता है। अतीत चूँकि विनष्ट है और अनागत अनुत्पन्न है, अतः उसमें पर्यायव्यवहार ही नहीं हो सकता। इसकी दृष्टिसे नित्य कोई वस्तु नहीं है और स्थूल भी वास्तविक नहीं है। सरल सूतकी तरह यह नय[3] केवल वर्तमान पर्यायको स्पर्श करता है।

---

(१) "संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः"—सर्वार्थसि० १।३३।

(२) "कल्पनारोपितद्रव्यपर्यायप्रविभागभाक्।
प्रमाणबाधितोऽन्यस्तु तदाभासोऽवसीयताम्॥"—त० श्लो० पृ० २७१।

(३) "पच्चुप्पन्नग्गाही उज्जुसुओ णयविही मुणेयव्वो।"—अनुयोग० द्वा० ४। अकलङ्कग्रन्थत्रय टि० पृ० १४६।

(४) "सूत्रपातवद् ऋजुसूत्रः"—राजवा० १।३३।

यह नय पच्यमान वस्तुको भी अंशतः पक्व कहता है। क्रियमाणको भी अंशतः कृत, भुज्यमानको अंशतः भुक्त और बध्यमानको भी अंशतः बद्ध कहना इसकी सूक्ष्मदृष्टिमें शामिल है।

इस नयकी दृष्टिसे कुम्भकार व्यवहार नहीं हो सकता; क्योंकि जबतक कुम्हार शिविक छत्रक आदि पर्यायोंको कर रहा है तबतक तो कुम्हार कहा नहीं जा सकता, और जब कुम्भ पर्यायका समय आता है तब वह स्वयं अपने उपादानसे निष्पन्न हो जाती है।

जिस समय जो आकर बैठा है वह यह नहीं कह सकता कि 'अभी ही आ रहा हूँ'। इस नयकी दृष्टिमें ग्रामनिवास गृहनिवास आदि व्यवहार नहीं हो सकते क्योंकि हर व्यक्ति स्वात्मस्थित होता है।

'कौआ काला है' यह नहीं हो सकता; क्योंकि कौआ कौआ है और काला काला। यदि काला, कौआ हो; तो समस्त भौंरा आदि काले पदार्थ कौआ हो जायँगे। यदि कौआ, काला हो; तो सफेद कौआ नहीं हो सकेगा। फिर कौआ तो रक्त, मांस, पित्त, हड्डी और चमड़ा आदि मिलकर पचरंगी वस्तु होती है, अतः उसे केवल काला ही कैसे कह सकते हैं।

इस नयकी दृष्टिमें पलालका दाह नहीं हो सकता; क्योंकि आगीका सुलगाना धौंकना और जलाना आदि असंख्य समयकी क्रियाएँ वर्तमान क्षणमें नहीं हो सकतीं। जिस समय दाह है उस समय पलाल नहीं और जिस समय पलाल है उस समय दाह नहीं, तब पलालदाह कैसा ! 'जो पलाल है वह जलता है' यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि बहुत-सा पलाल बिना जला हुआ पड़ा है।

इस नयकी सूक्ष्म विश्लेषक दृष्टिमें पान-भोजन आदि अनेकसमयसाध्य कोई भी क्रियाएँ नहीं बन सकतीं; क्योंकि एक क्षणमें क्रिया होती नहीं और वर्तमानका अतीत अनागतसे कोई सम्बन्ध इसे स्वीकार नहीं है। जिस द्रव्यरूपी माध्यमसे पूर्वापर पर्यायोंमें सम्बन्ध जुटता है उस माध्यमका अस्तित्व ही इसे स्वीकार्य नहीं है।

इस नयको लोकव्यवहारके विरोधकी कोई चिन्ता नहीं है। लोकव्यवहार तो यथायोग्य नैगम आदि नयोंसे चलेगा ही। इतना सब क्षण-पर्यायकी दृष्टिसे विश्लेषण करनेपर भी यह नय द्रव्यका लोप नहीं करता। वह पर्यायकी मुख्यता भले ही कर ले फिर भी उसकी दृष्टिमें द्रव्यका अस्तित्व गौणरूपमें विद्यमान रहता ही है।

बौद्धका सर्वथा क्षणिकवाद ऋजुसूत्रनयाभास[1] है क्योंकि उसमें द्रव्यका विलोप हो जाता है। जब निर्वाण अवस्थामें चित्तसन्तति दीपककी तरह बुझ जाती है, अस्तित्वशून्य हो जाती है तब द्रव्यका लोप स्पष्ट ही है।

क्षणिक पक्षका समन्वय ऋजुसूत्र नय तभी कर सकता है जब उसमें द्रव्यका पारमार्थिक अस्तित्व विद्यमान रहे, भले ही वह गौण हो; क्योंकि व्यवहार और स्वरूपभूत अर्थक्रियाके लिये उसकी नितान्त आवश्यकता है।

शब्दनय और तदाभास—काल कारक लिंग तथा संख्याके भेदसे शब्दभेद होनेपर भिन्न-भिन्न अर्थोंको ग्रहण करनेवाला शब्दनय[2] है। शब्दनयके अभिप्रायमें अतीत अनागत और वर्तमानकालीन क्रियाओंके साथ प्रयुक्त होनेवाला एक ही देवदत्त भिन्न हो जाता है। 'करोति क्रियते' आदि भिन्न साधनोंमें प्रयुक्त देवदत्त भी भिन्न है। 'देवदत्त देवदत्ता' इस लिंगभेदमें प्रयुक्त होनेवाला देवदत्त भी एक नहीं है। एकवचन द्विवचन और बहुवचनमें होनेवाला देवदत्त भी भिन्न-भिन्न है। इसकी दृष्टिमें भिन्नकालीन भिन्न-कारकनिष्पन्न भिन्नलिंगक भिन्नसंख्यक शब्द एक अर्थके वाचक नहीं हो सकते। शब्दभेदसे अर्थभेद होना ही चाहिये। शब्दनय उन वैयाकरणोंके तरीकेको अन्याय्य समझता है जो शब्दभेद मानकर भी अर्थभेद नहीं मानना चाहते। अर्थात् जो एकान्तनित्य आदिरूप पदार्थ मानते हैं उसमें पर्याय-भेद स्वीकार नहीं

(१) सिद्धिवि० १०।२५।

(२) "कालकारकलिङ्गादिभेदाच्छब्दोऽर्थभेदकृत्"—लघी० श्लो० ४४। सिद्धिवि० ११।३१। अकलंक-ग्रन्थत्रय टि० पृ० १४६।

करते। उनके मतमें कालकारकादि का भेद होनेपर भी अर्थ एकरूप बना रहता है; तब यह नय कहता है कि तुम्हारी यह मान्यता उचित नहीं है। एक ही देवदत्त कैसे विभिन्नलिंगक भिन्नसंख्याक भिन्नकालीन शब्दोंका वाच्य हो सकेगा ? अतः उसमें भिन्न शब्दोंकी वाच्य भूत पर्याय भिन्न-भिन्न स्वीकार करनी ही चाहिये अन्यथा लिंगव्यभिचार साधनव्यभिचार कालव्यभिचार आदि बने रहेंगे। व्यभिचारका यहाँ अर्थ है शब्दभेद होनेपर अर्थभेद नहीं मानना यानी एक ही अर्थका विभिन्न शब्दोंसे अनुचित सम्बन्ध रखना। अनुचित इसलिये कि हर शब्दकी वाचकशक्ति जुदा-जुदा होती है। यदि तदनुकूल पदार्थमें वाच्यशक्ति नहीं मानी जाती है तो अनौचित्य तो स्पष्ट ही है, उनका मेल कैसे बैठ सकता है ?

काल स्वयं परिणमन करनेवाले वर्तनाशील पदार्थोंके परिणमनमें साधारण निमित्त होता है। इसके भूत भविष्यत् और वर्तमान ये तीन भेद हैं। केवल द्रव्य केवल शक्ति तथा अनपेक्ष द्रव्य और शक्तिको कारक नहीं कहते; किन्तु शक्तिविशिष्ट द्रव्यको कारक कहते हैं। लिंग चिह्नको कहते हैं। जो गर्भधारण करे वह स्त्री, जो पुत्रादिकी उत्पादक सामर्थ्य रखे वह पुरुष और जिसमें दोनों ही सामर्थ्य न हों वह नपुंसक कहलाता है। कालादिके ये लक्षण अनेकान्तात्मक अर्थमें ही बन सकते हैं। एक ही वस्तु विभिन्न सामग्रीके मिलनेपर षट्कारकी रूपसे परिणति कर सकती है। कालादिके भेदसे एक ही द्रव्यकी नाना पर्यायें हो सकती हैं। सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य वस्तुमें ऐसे परिणमनकी संभावना नहीं है; क्योंकि सर्वथा नित्यमें उत्पाद और व्यय तथा सर्वथा क्षणिकमें स्थैर्य नहीं है। इस तरह कारक व्यवस्था न होनेसे विभिन्न कारकोंमें निष्पन्न षट्कारकी, स्त्रीलिंगादि लिंग और वचनभेद आदिकी व्यवस्था एकान्त पक्षमें संभव नहीं है।

यह शब्दनय वैयाकरणोंको शब्दार्थकी सिद्धिका दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है और बताता है कि सिद्धि अनेकान्तसे हो सकती है। जबतक वस्तुको अनेकान्तात्मक नहीं मानोगे तबतक एक ही वर्तमान पर्यायमें विभिन्नलिंगक विभिन्नसंख्याक शब्दोंका प्रयोग नहीं कर सकोगे, अन्यथा व्यभिचार दोष होगा। अतः उस एक पर्यायमें भी धर्मभेद मानना ही होगा। जो वैयाकरण ऐसा नहीं मानते उनका शब्दभेद होनेपर भी अर्थभेद न मानना शब्दनयाभास है। उनके मतमें उपसर्गभेद, उत्तमपुरुषकी जगह मध्यमपुरुष आदि पुरुषभेद, भावि और वर्तमानका एक व्यक्तिसे सम्बन्ध आदि समस्त व्याकरणकी प्रक्रियाएँ निराधार और निर्विषयक हो जाँयगी। इसीलिये जैनेन्द्र व्याकरणके रचयिता आचार्यवर्य पूज्यपादने अपने जैनेन्द्र व्याकरणका प्रारंभ **"सिद्धिरनेकान्तात्"** सूत्रसे और आचार्य हेमचन्द्रने हैमशब्दानुशासनका प्रारंभ **"सिद्धिः स्याद्वादात्"** सूत्रसे किया है। अतः अन्य वैयाकरणोंका प्रचलित क्रम शब्दनयाभास है।

समभिरूढ–तदाभास–[1]एककालवाचक एकलिंगक तथा एकसंख्याक भी अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं। समभिरूढ नय उन प्रत्येक पर्यायवाची शब्दोंका अर्थभेद मानता है। इस नयके अभिप्रायसे एकलिंगवाले इन्द्र शक्र और पुरन्दर इन तीन शब्दोंमें प्रवृत्तिनिमित्तकी भिन्नता होनेसे भिन्नार्थवाचकता है। शक्र शब्द शासन क्रियाकी अपेक्षासे, इन्द्र शब्द इन्दन-ऐश्वर्य क्रियाकी अपेक्षा से और पुरन्दर शब्द पूर्दारण क्रियाकी अपेक्षासे प्रवृत्त हुआ है। अतः तीनों शब्द विभिन्न अवस्थाओंके वाचक हैं। शब्दनयमें एकलिंगवाले पर्यायवाची शब्दोंमें अर्थभेद नहीं था पर समभिरूढ नयं प्रवृत्तिनिमित्तोंकी विभिन्नता होनेसे पर्यायवाची शब्दोंमें भी भेद मानता है। यह नय उन कोशकारोंको दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है जिनने एक ही राजा या पृथ्वीके अनेक नाम–पर्यायवाची शब्द तो प्रस्तुत कर दिये थे पर उस पदार्थमें उन पर्याय शब्दोंकी वाच्यशक्ति जुदा-जुदा स्वीकार नहीं की थी। जिस प्रकार एक अर्थ अनेक शब्दोंका वाच्य नहीं हो सकता उसी प्रकार एक शब्द अनेक अर्थोंका वाचक भी नहीं हो सकता। एक गोशब्दके ग्यारह अर्थ नहीं हो सकते; उस शब्दमें ग्यारह प्रकारकी वाचकशक्ति मानना ही होगी अन्यथा यदि वह जिस शक्तिसे पृथ्वीका वाचक है उसी शक्तिसे गायका भी वाचक हो तो एकशक्तिक शब्दसे वाच्य होनेके कारण पृथिवी और गाय दोनों एक हो जायँगे। अतः शब्दमें वाच्यभेदके हिसाबसे वाचकशक्तियोंकी तरह पदार्थमें भी वाचकभेदकी अपेक्षा वाच्यशक्तियाँ माननी चाहिये। प्रत्येक शब्दका व्युत्पत्तिनिमित्त और प्रवृत्तिनिमित्त जुदे-जुदे होते हैं, उनके

(१) "अभिरूढस्तु पर्यायैः"–लघी० श्लो० ४। सिद्धिवि० ११।३१। अकलङ्क ग्र० टि० पृ०१४७।

अनुसार वाच्यभूत अर्थमें पर्यायभेद या शक्तिभेद मानना ही चाहिये। यदि एकरूप ही पदार्थ हो तो उसमें विभिन्न क्रियाओंसे निष्पन्न शब्दोंका प्रयोग ही नहीं हो सकेगा। इस तरह समभिरूढनय पर्यायवाची शब्दोंकी अपेक्षासे भी अर्थभेद स्वीकार करता है।

पर्यायवाची शब्दभेद मानकर भी अर्थभेद नहीं मानना समभिरूढनयाभास है। जो मत पदार्थको एकान्तरूप मानकर भी अनेक शब्दोंका प्रयोग करते हैं उनकी यह मान्यता तदाभास है।

एवम्भूत-तदाभास–[1]एवम्भूत नय पदार्थ जिस समय जिस क्रियामें परिणत हो उस समय उसी क्रियासे निष्पन्न शब्दकी प्रवृत्ति स्वीकार करता है। जिस समय शासन कर रहा हो उसी समय उसे शक्र कहें इन्दनक्रियाके समय नहीं। जिस समय घटनक्रिया हो रही हो उसी समय उसे घट कहना अन्य समयमें नहीं। समभिरूढनय उस समय क्रिया हो या न हो पर शक्तिकी अपेक्षा अन्य शब्दोंका प्रयोग भी स्वीकार कर लेता था परन्तु एवम्भूतनय ऐसा नहीं करता। क्रियाक्षणमें ही कारक कहा जाय अन्य क्षणमें नहीं। पूजा करते समय ही पुजारी कहा जाय अन्य समयमें नहीं और पूजा करते समय अन्य शब्द भी नहीं कहा जाय। इस तरह समभिरूढ नयके द्वारा वर्तमान पर्यायमें शक्तिभेद मानकर जो अनेक पर्याय शब्दोंके प्रयोगकी स्वीकृति थी वह इसकी दृष्टिमें नहीं है। यह तो क्रियाका धनी है। वर्तमानमें शक्तिकी अभिव्यक्ति देखता है। तक्रियाकालमें अन्य शब्दका प्रयोग करना या उस शब्दका प्रयोग नहीं करना एवम्भूताभास है। इस नयको व्यवहारकी कोई चिन्ता नहीं है। हाँ कभी-कभी इससे व्यवहारकी अनेक गुत्थियाँ सुलझ जाती हैं। जैसे न्यायाधीश जब न्यायकी कुर्सीपर बैठता है तभी न्यायाधीश है, अन्यकालमें भी यदि उसके सिरपर न्यायाधीशत्व सवार हो तो गृहस्थी चलना कठिन हो जाय। अतः व्यवहारको जो सर्वनयसाध्य कहा है वह ठीक ही कहा है।

अर्थनय शब्दनय–इन सात नयोंमें ऋजुसूत्र पर्यन्त चार नय अर्थग्राही होनेसे [2]अर्थनय हैं। यद्यपि नैगमनय संकल्पग्राही होनेसे अर्थकी सीमासे बाहर हो जाता था पर नैगमका विषय भेद और अभेद दोनोंको ही मानकर उसे अर्थग्राही कहा गया है। शब्द आदि तीन नय पदविद्या अर्थात् व्याकरणशास्त्र-शब्दशास्त्रकी सीमा और भूमिकाका वर्णन करते हैं अतः ये शब्दनय हैं।

द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक विभाग–नैगम संग्रह और व्यवहार तीन द्रव्यार्थिकनय हैं और ऋजुसूत्रादि चार नय पर्यायार्थिक हैं। प्रथमके तीन नयोंमें द्रव्यपर दृष्टि रहती है जब कि शेष चार नयोंमें वर्तमानकालीन पर्यायपर ही विचार चालू होता है। यद्यपि व्यवहारनयमें भेद प्रधान है और भेदको भी कहीं-कहीं पर्याय कहा है परन्तु व्यवहारनय एकद्रव्यगत ऊर्ध्वता सामान्यमें कालिक पर्यायोंका अन्तिम भेद नहीं करता। उसका क्षेत्र अनेक द्रव्योंमें भेद करनेका मुख्यरूपसे है। वह एक द्रव्यकी पर्यायोंमें भेद करके भी अन्तिम क्षणवर्ती पर्यायतक नहीं पहुँच पाता अतः इसे शुद्ध पर्यायार्थिकमें शामिल नहीं किया है। जैसे कि नैगमनय कभी पर्यायको और कभी द्रव्यको विषय करनेके कारण उभयावलम्बी होनेसे द्रव्यार्थिकमें ही अन्तर्भूत है उसी तरह व्यवहारनय भी भेदप्रधान होनेपर भी चूँकि द्रव्यको भी विषय करता है अतः वह भी द्रव्यार्थिककी ही सीमामें है। ऋजुसूत्रादि चार नय तो स्पष्ट ही एक समयवर्ती पर्यायको सामने रखकर विचार चलाते हैं अतः पर्यायार्थिक हैं। आ० जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण ऋजुसूत्रको भी द्रव्यार्थिक मानते हैं। (विशेषा० गा० ७५,७७, २२६२)

निश्चय और व्यवहार–अध्यात्मशास्त्रमें नयोंके निश्चय और व्यवहार ये दो भेद प्रसिद्ध हैं। निश्चयनयको भूतार्थ और व्यवहारनयको अभूतार्थ भी [3]वहीं बताया है। जिस प्रकार अद्वैतवादमें पारमार्थिक और व्यावहारिक दो रूपमें, शून्यवाद या विज्ञानवादमें परमार्थ और सांवृत दो रूपमें या उपनिषदोंमें सूक्ष्म और स्थूल दो रूपोंमें तत्त्वके वर्णनकी पद्धति देखी जाती है उसी तरह अध्यात्ममें भी निश्चय और व्यवहार इन दो प्रकारोंको अपनाया है। अन्तर इतना ही है कि जैन अध्यात्मका निश्चयनय वास्तविक स्थितिको

(१) "एवम्भूतनयः क्रियार्थवचनः"–सिद्धिवि० ११।३१। अकलङ्क ग्र० टि० पृ० १४७।

(२) "····अर्थाश्रयाः। चत्वारोऽत्र च नैगमप्रभृतयः शेषास्त्रयं शब्दतः॥"–सिद्धिवि० १०।१। लघी० श्लो० ७२।

(३) समयसार गा० ११।

उपादानके आधारसे पकड़ता है वह अन्य पदार्थोंके अस्तित्वका निषेध नहीं करता जब कि वेदान्त या विज्ञानाद्वैतका परमार्थ अन्य पदार्थोंके अस्तित्वको ही समाप्त कर देता है। बुद्धकी धर्मदेशनाको भी परमार्थसत्य और लोकसंवृतिसत्य इस दो रूपसे[1] घटानेका प्रयत्न हुआ है।

निश्चयनय परनिरपेक्ष स्वस्वभावका वर्णन करता है। जिन पर्यायोंमें पर निमित्त पड़ जाता है उन्हें वह स्वकीय नहीं कहता। परजन्य पर्यायोंको पर मानता है। जैसे जीवके रागादिभावोंमें यद्यपि आत्मा स्वयं उपादान होता है, वही राग-रूपसे परिणति करता है, परन्तु चूँकि ये भाव कर्मनिमित्तक हैं अतः इन्हें वह अपने आत्माके नहीं मानता। अन्य आत्माएँ और जगत्के समस्त अजीवोंको तो वह अपना मान ही नहीं सकता। जिन आत्मविकासके स्थानोंमें परका थोड़ा भी निमित्त होता है उन्हें भी वह 'पर' के खातेमें ही डाल देता है। इसीलिए समयसारमें जब आत्मा के वर्ण रस स्पर्श आदि प्रसिद्ध पररूपोंका निषेध किया है तो उसी श्लोकमें गुणस्थान आदि स्वधर्मोंका भी परनिमित्तक होनेसे निषेध कर दिया है[2]। दूसरे शब्दोंमें निश्चयनय अपने मूललक्ष्य या आदर्शका खालिस वर्णन करता है जिससे साधकको भ्रम न हो और वह भटक न जाय। इसलिए आत्माका नैश्चयिक वर्णन करते समय शुद्ध ज्ञायक रूप ही आत्माका स्वरूप प्रकाशित किया गया है। बन्ध और रागादिको भी उसी एक 'पर' कोटिमें डाल दिया है जिसमें पुद्गल आदि प्रकट परपदार्थ पड़े हुए हैं। परसापेक्ष पर्यायोंको ग्रहण करनेवाला व्यवहार नय होता है। पर द्रव्य तो स्वतन्त्र हैं अतः उन्हें अपना कहनेका प्रश्न ही नहीं उठता।

पंचाध्यायीका नय विभाग—पंचाध्यायीकार[3] अभेदग्राहीको द्रव्यार्थिक और निश्चय नय कहते हैं तथा किसी भी प्रकारके भेदको ग्रहण करनेवाले नयको पर्यायार्थिक और व्यवहारनय कहते हैं। इनके मतसे[4] निश्चयनयके शुद्ध और अशुद्ध भेद करना ही गलत है। ये वस्तुके सद्भूत भेदको व्यवहारनयका ही विषय मानते हैं। अखंड वस्तुमें किसी भी प्रकारका द्रव्य क्षेत्र काल और भाव आदिकी दृष्टिसे होनेवाला भेद पर्यायार्थिक या व्यवहारनयका विषय होता है। इनकी दृष्टिमें समयसारगत परनिमित्तक—व्यवहार ही नहीं किन्तु स्वगत भेदभी व्यवहारनयकी सीमामें ही होता है। व्यवहारनयके दो भेद हैं एक सद्भूत व्यवहारनय और दूसरा असद्भूत व्यवहारनय। वस्तुमें अपने गुणोंकी दृष्टिसे भेद करना सद्भूत व्यवहार है। अन्य द्रव्यके गुणोंकी बलपूर्वक अन्यत्र योजना करना असद्भूत व्यवहार है जैसे वर्णादिवाले मूर्त पुद्गल कर्मद्रव्यके संयोगसे होनेवाले क्रोधादिमूर्त भावोंको जीवके कहना। यहाँ क्रोधादिमें जो पुद्गलद्रव्यके मूर्तत्वका आरोप किया गया है—वह असद्भूत है और गुणगुणीका जो भेद विवक्षित है वह व्यवहार है। सद्भूत और असद्भूत व्यवहार दोनों ही उपचरित और अनुपचरितके भेदसे दो दो प्रकारके होते हैं। 'ज्ञान जीव का है' यह अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय है। 'अर्थविकल्पात्मक ज्ञान प्रमाण है और वही जीवका गुण है' यह उपचरित सद्भूत व्यवहारनय है। इसमें ज्ञानमें अर्थविकल्पात्मकता उपचरित है और गुण-गुणीका भेद व्यवहार है।

अनगार धर्मामृत (अध्याय १ श्लो० १०४···) आदिमें 'केवल ज्ञान जीवका है' यह अनुपचरित सद्भूत व्यवहारका उदाहरण दिया है। उसमें यह दृष्टि है कि शुद्धगुणका कथन अनुपचरित तथा अशुद्धगुणका कथन उपचरित है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय 'अबुद्धिपूर्वक होनेवाले क्रोधादि भावोंको जीवका कहता है और उपचरित सद्भूत व्यवहारनय उदयमें आये हुए अर्थात् प्रकट अनुभवमें आनेवाले क्रोधादि भावोंको जीवके कहता है। पहिलेमें वैभाविकी शक्तिका आत्मासे अभेद माना है। अनगार धर्मामृतमें 'शरीर मेरा है' यह अनुपचरित असद्भूत व्यवहार है तथा 'देश मेरा है' यह उपचरित असद्भूत

(१) "द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः॥"—माध्यमिककारिका आर्यसत्यपरीक्षा श्लो० ८।

(२) "जेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स पज्जाया॥५५॥"—समयसार।

(३) पंचाध्यायी १।६५९–६१।

(४) पंचाध्यायी १।५२५···।

व्यवहारनयका उदाहरण माना गया है। पंचाध्यायीकार किसी दूसरे द्रव्यके गुणको दूसरे द्रव्यमें आरोप करना नयाभास मानते हैं जैसे वर्णादिको जीवके कहना, शरीरको जीवका कहना, मूर्तकर्म द्रव्योंका कर्त्ता भोक्ता जीवको मानना, धनधान्य स्त्री आदिका भोक्ता और कर्त्ता जीवको मानना, ज्ञान और ज्ञेयमें बोध्यबोधक सम्बन्ध होनेसे ज्ञानको ज्ञेयगत मानना आदि। ये सब नयाभास हैं।

समयसारकी दृष्टि-

समयसारमें तो एक शुद्धद्रव्यको निश्चयनयका विषय मानकर बाकी परनिमित्तक स्वभाव या परभाव सभीको व्यवहारके गड्ढेमें डालकर उन्हें हेय अत एव अभूतार्थ कह दिया है। यहाँ एक बात ध्यानमें रखनेकी है कि नैगमादिनयोंका विवेचन वस्तुस्वरूपकी मीमांसा करनेकी दृष्टिसे है जबकि समयसारगत नयोंका वर्णन अध्यात्म भावनाको परिपुष्ट कर हेय और उपादेयके विचारसे मोक्षमार्गमें लगानेके लक्ष्यसे है।

निश्चय और व्यवहारके विचारमें सबसे बड़ा खतरा है-निश्चयको भूतार्थ और व्यवहारको अभूतार्थ कहनेकी दृष्टिको न समझकर निश्चयकी तरफ झुक जाने और व्यवहारकी उपेक्षा करने का। दूसरा खतरा है किसी परिभाषाको निश्चयसे और किसीको व्यवहारसे लगाकर घोलघाल करनेका। आ० अमृतचन्द्रने इन्हीं खतरोंसे सावधान करनेके लिये एक प्राचीन गाथा उद्धृत[1] की है-

"जइ जिणमयं पवज्जह तो मा ववहारणिच्छए मुयह।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं॥"

अर्थात् यदि जिनमतको प्राप्त हो रहे हो तो व्यवहार और निश्चयमें मोहको प्राप्त नहीं होना, किसी एकको छोड़ मत बैठना। व्यवहारके बिना तीर्थका उच्छेद हो जायगा और निश्चयके बिना तत्त्वका उच्छेद होगा।

कुछ विशेष अध्यात्मप्रेमी जैनशासनकी सर्वनयसंतुलनपद्धतिको ध्यानमें न रखकर कुछ इसी प्रकारका घोलघाल कर रहे हैं। वे एक परिभाषा एक नयकी तथा दूसरी परिभाषा दूसरे नयकी लेकर ऐसा मार्ग बना रहे हैं जो न तो तत्त्वके निश्चयमें सहायक होता है और न तीर्थकी रक्षाका साधन ही सिद्ध हो रहा है। उदाहरणार्थ-निमित्त और उपादानकी व्याख्याको ही ले लें।

निश्चयनयकी दृष्टिसे एकद्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं करता। जो जिस रूपसे परिणत होता है वह उसका कर्ता होता है। इसकी दृष्टिसे कुम्हार घड़ेका कर्ता नहीं होता किन्तु मृत्पिण्ड ही वस्तुतः घटका कर्ता है; क्योंकि वही घटरूपसे परिणत होता है। इसकी दृष्टिमें निमित्तका कोई महत्त्वका स्थान नहीं है क्योंकि यह नय पराश्रित व्यवहार को स्वीकार ही नहीं करता। व्यवहारनय परसापेक्षता पर भी ध्यान रखता है। वह कुम्हारको घटका कर्ता इस लिये कहता है कि उसके व्यापार से मृत्पिण्ड में से वह आकार निकला है। घटमें मिट्टी ही उपादान है इसको व्यवहारनय मानता है। किन्तु 'कुम्भकार' व्यवहार वह 'मृत्पिण्ड'में नहीं करके कुम्हारमें करता है। 'घट' नामक कार्यकी उत्पत्ति मृत्पिण्ड और कुम्भकार दोनों के सन्निधानसे हुई यह प्रत्यक्षसिद्ध घटना है। किन्तु दोनों नयोंके देखनेके दृष्टिकोण जुदे-जुदे हैं। अब अध्यात्मी व्यक्ति कर्तृत्वकी परिभाषा तो निश्चयनयकी पकड़ते हैं और कहते हैं कि हरएक कार्य अपने उपादानसे उत्पन्न होता है, अन्य द्रव्य अन्य द्रव्यमें कुछ नहीं कर सकता। जिस समय जो योग्यता होगी उस समय वह कार्य अपनी योग्यतासे हो जायगा। और इस प्रतिसमयकी योग्यताकी सिद्धिके लिये सर्वज्ञताकी व्यावहारिक परिभाषाकी शरण लेते हैं। यह सही है कि समन्तभद्र आदि आचार्योंने और इसके पहिले भी भूतबलि आचार्यने इसी व्यावहारिक सर्वज्ञताका प्रतिपादन किया है और स्वयं कुन्दकुन्दने भी प्रवचनसारमें व्यावहारिक सर्वज्ञताका वर्णन किया है किन्तु यदि हम समन्तभद्र आदिकी व्यावहारिक सर्वज्ञताकी परिभाषा लेते हैं तो कार्योत्पत्तिकी प्रक्रिया भी उन्हींके द्वारा प्रतिपादित बाह्य और अन्तरंग उभयविध कारणोंसे माननी चाहिए। और यदि हम कार्योत्पत्तिकी प्रक्रिया कुन्दकुन्दकी नैश्चयिक दृष्टिसे लेते हैं तो सर्वज्ञताकी परिभाषा

(१) समयप्रा० आत्म० गा० १४।

भी नैश्चयिक ही माननी चाहिए। एक परिभाषा व्यवहारकी लेना और एक परिभाषा निश्चयकी पकड़कर घोलघाल करनेसे वस्तुका विपर्यास ही होता है।

इसी तरह व्यावहारिक सर्वज्ञतासे नियतिवादको फलित करके उसे निश्चयनयका विषय बनाकर पुरुषार्थको रेढ़ मारना तीर्थोच्छेदकी ही कक्षामें आता है। तीर्थ प्रवर्तनका फल यह है कि—व्यक्ति उसका आश्रय लेकर असत्से सत्, अशुभसे शुभ, अशुद्धसे शुद्ध और तमसे प्रकाशकी ओर जावें। परन्तु इस नियतिवादमें जब अपने अगले क्षणमें परिवर्तन करनेकी शक्यता ही नहीं है तब किसलिये तीर्थ-धर्मका आश्रय लिया जाय? दीक्षा-शिक्षा और संस्कारका आखिर प्रयोजन ही क्या रह जाता है? इस तरह जिनवरके दुरासद नयचक्रको नहीं समझकर और समग्र जैनशासनकी सर्वनयमयताके परिपूर्ण स्वरूपका ध्यान नहीं करके कहींकी ईंट और कहींका रोड़ा लेनेमें न वस्तुतत्त्वकी रक्षा है और न तीर्थकी प्रभावना ही।

आ० कुन्दकुन्दकी अध्यात्मभावना—आ० कुन्दकुन्दने अपने समयप्राभृतमें अध्यात्म-भावनाका वर्णन किया है। उनका कहना है कि आत्मसंशोधन और शुद्धात्मकी प्राप्ति के लिये हमें इस प्रकारकी भावना करनी चाहिए कि—निश्चयनय भूतार्थ है और व्यवहारनय अभूतार्थ है। जिस गाथा[1] में उन्होंने व्यवहारको अभूतार्थ और निश्चयको भूतार्थकी बात कही है उसके पहिलेकी दो गाथाओंमें वे आत्मभावना करनेकी बात कहते हैं[2]। इतना ही नहीं वे निश्चयनयसे व्यवहारका निषेध करके निर्वाणकी प्राप्तिके लिये निश्चयनयमें लीन होनेका उपदेश करते हैं—

"एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण।
णिच्छयणयसल्लीणा मुणिणो पावंति णिव्वाणं॥"
—समयप्रा० गा० २९६।

अर्थात्—इस तरह निश्चयनयकी दृष्टिसे व्यवहारनयका प्रतिषेध समझना चाहिये। निश्चयनयमें लीन मुनिजन निर्वाण पाते हैं।

इसी तरह उन्होंने और भी मोक्षमार्गी साधकको जीवनदर्शन की तथा आत्मसंशोधनकी प्रक्रिया और भावनाएँ बताई हैं। जिनसे चित्तको भावित कर साधक शान्तिलाभ कर सकता है। परन्तु भावनासे वस्तुस्वरूपका निरूपण नहीं होता। वही कुन्दकुन्द जब वस्तुस्वरूपका निरूपण करने बैठते हैं तो प्रवचनसार और पंचास्तिकायका समस्त तत्त्ववर्णन उभयनयसमन्वित अनेकान्त दृष्टिसे होता है।

भावनाको तत्त्वज्ञानका रूप देनेसे जो विपर्यास और खतरा होता है तथा उसके जो कुपरिणाम होते हैं वे किसी भी दर्शनके इतिहासके विद्यार्थीसे छिपे नहीं हैं। बुद्धने स्त्री आदिसे विरक्तिके लिए उसमें क्षणिक परमाणुपुञ्ज स्वप्नोपम मायोपम शून्य आदिकी भावना करनेका उपदेश दिया था। पीछे उन एक एक भावनाओं को तत्त्वज्ञानका रूप देनेसे क्षणिकवाद, परमाणुपुञ्जवाद, शून्यवाद आदि वादोंकी सृष्टि हो गई और पीछे तो उन्हें दर्शनका रूप ही मिल गया। जैन परम्परामें भी मुमुक्षुओंको अनित्य अशरण अशुचि आदि भावना से चित्तको भावित करनेका उपदेश दिया गया है। इन्हें अनुप्रेक्षा संज्ञा भी इसीलिए दी गई है कि इनका बार-बार चिन्तन किया जाय। अनित्य भावना में वही विचार तो हैं जो बुद्धने कहे थे कि—जगत् क्षणभंगुर है अशुचि है स्वप्नवत् है माया है मिथ्या है आदि। इसी तरह स्त्रीसे विरक्तिके लिए उसमें 'नागिन सर्पिणी करककी खान और विषवेल' आदिकी भावना करते हैं, पर इससे वह नागिन या सर्पिणी तो नहीं बन जाती

(१) "ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो॥"—समयप्रा० गा० १२।

(२) "णाणम्हि भावणा खलु कादव्वा दंसणे चरित्ते य।
ते पुण तिण्णिवि आदा तम्हा कुण भावणं आदे॥
जो आदभावणमिणं णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण॥"—समयप्रा० गा० ११।१२।

या नागिन और सर्पिणी तो नहीं है। जैसे इस भावनाको तत्त्वज्ञानका रूप देकर वस्तुविपर्यास नहीं किया जाता उसी तरह कुन्दकुन्दकी आध्यात्म भावना को हमें भावनाके रूपमें ही देखना चाहिये तत्त्वज्ञानके रूपमें नहीं। उनके तत्त्वज्ञानका ठोस निरूपण यदि प्रवचनसार और पंचास्तिकाय आदिमें देखनेको मिलता है तो आत्मशोधनकी प्रक्रिया समयसारमें।

निश्चय और व्यवहार नयोंका वर्णन वस्तुतत्त्वके स्वरूप निरूपणसे उतना सम्बन्ध नहीं रखता जितना हेयोपादेय-विवेचनसे। 'स्त्री किन-किन निमित्त और उपादानोंसे उत्पन्न हुई है' यह वर्णन अध्यात्म भावनाओंमें नहीं मिलता किन्तु 'स्त्रीको हम किस रूपमें देखें' जिससे विषयविरक्ति हो, यह प्रक्रिया उसमें बताई जाती है। अतः यह विवेक करनेकी पूरी-पूरी आवश्यकता है कि कहाँ वस्तुतत्त्वका निरूपण है और कहाँ भावनात्मक वर्णन है। मुझे यह स्पष्ट करनेमें कोई सङ्कोच नहीं है कि कभी-कभी असत्य भावनाओंसे भी सत्यकी प्राप्तिका मार्ग अपनाया जाता है जैसे कि स्त्रीको नागिन और सर्पिणी समझकर उससे विरक्ति करानेका। अन्ततः भावना, भावना है, उसका लक्ष्य वैज्ञानिक वस्तुतत्त्वके निरूपणका नहीं है, किन्तु है अपने लक्ष्यकी प्राप्तिका; जब कि तत्त्वज्ञानके निरूपणकी दिशा वस्तुतत्त्वके विश्लेषणपूर्वक वर्णनकी होती है। उसे अमुक लक्ष्य बने या बिगड़े यह चिन्ता नहीं होती। अतः हमें आचार्योंकी विभिन्न नयदृष्टियोंका यथावत् परिज्ञान करके तथा एक आचार्यकी भी विभिन्न प्रकरणोंमें क्या विवक्षा है यह सम्यक् प्रतीति करके ही :सर्वनयसमूहसाध्य अनेकान्त तीर्थकी व्याख्यामें प्रवृत्त होना चाहिए। एक नय यदि नयान्तरके अभिप्रायका तिरस्कार या निराकरण करता है तो वह सुनय नहीं रहता दुर्णय बनकर अनेकान्तका विघातक हो जाता है। भूतबलि पुष्पदन्त उमास्वामी समन्तभद्र और अकलङ्कदेव आदि आचार्योंने जो जैन-दर्शनका बुनियादी पायेदार निर्बाध तथा सुदृढ़भूमिक निरूपण किया है वह यों ही 'व्यवहार' कहकर नहीं उड़ाया जा सकता। कोई भी धर्म अपने 'तत्त्वज्ञान' और 'दर्शन'के बिना केवल नैतिक नियमोंके सिवाय और क्या रह जाता है? ईसाईधर्म और इस्लामधर्म अपने 'दर्शन'के बिना आज परीक्षाप्रधानी मानवको अपनी ओर नहीं खींच पाते। जैन-दर्शनने प्रमेयको अनेकान्तरूपता, उसके दर्शनको 'अनेकान्त दर्शन' और उसके कथनकी पद्धतिको 'स्याद्वाद भाषा'का जो रूप देकर आजतक भी 'जीवित दर्शन'का नाम पाया है उसे 'व्यवहार'के गड्ढेमें फेंकनेसे तीर्थ और शासनकी सेवा नहीं होगी। जैन-दर्शन तो वस्तु-व्यवस्थाके मूलमें ही लिखता है कि—

"स्वपरात्मोपादानापोहनव्यवस्थाप्यत्वं हि वस्तुनो वस्तुत्वम्।"

अर्थात् स्वोपादान यानी स्वास्तित्वके साथ ही साथ परकी अपेक्षा नास्तित्व भी वस्तुके लिये आवश्यक है। यह अस्ति और नास्ति अनेकान्तदर्शनका क ख है, जिसकी उपेक्षा वस्तुस्वरूपकी विघातक होगी।

जैन दर्शनने 'वस्तु क्या है, यह जो पर्यायोंका उत्पाद और व्यय है उसमें निमित्त उपादानकी क्या स्थिति है' इत्यादि समस्त कार्यकारणभाव, उनके जाननेकी क्या पद्धति हो सकती है इस समस्त ज्ञापकतत्त्वका पूरा-पूरा निरूपण किया है। इस कारणतत्त्व और ज्ञापकतत्त्वमें भावनाका स्थान नहीं है। इसमें तो कठोर परीक्षा और वस्तुस्थितिके विश्लेषणकी पद्धतिका प्रामुख्य है। अतः जहाँ वस्तुतत्त्वका निरूपण हो वहाँ दर्शनकी प्रक्रियासे उसका विवेचन कीजिए और उत्पन्न तथा ज्ञापित वस्तुमें किस प्रकारकी भावना या चिन्तनसे हम रागद्वेषसे परे वीतरागताकी ओर जा सकते इस अध्यात्म भावनाको समयसारसे परखिए। भावना और दर्शनका अपना अपना निश्चित क्षेत्र है उसे एक दूसरेसे न मिलाइए।

स्याद्वाद—

वास्तवबहुत्ववादी जैनदर्शनने सामान्यरूपसे यावत् सत्को परिणामी-नित्य माना है। प्रत्येक सत् अनन्तधर्मात्मक है। उसका पूर्णरूप वचनोंके अगोचर है। कोई ऐसा शब्द नहीं है जो वस्तुके पूरे रूपको स्पर्श कर सकता हो। 'सत्' शब्द भी वस्तुके एक 'अस्तित्व' धर्म को कहता है, शेष नास्तित्व आदि धर्मोंको नहीं। वस्तुस्थिति ऐसी होनेपर भी उसको समझने समझानेका प्रयत्न मानवने किया ही है

(१) स० भा० १।६।

और आगे भी उसे करना ही होगा। अतः उस विराट्को जानने और दूसरोंको समझानेमें बड़ी सावधानी रखनेकी आवश्यकता है। हमारे जाननेका तरीका ऐसा हो जिससे हम उस अनन्तधर्मा अखण्ड वस्तुके अधिकसे अधिक समीप पहुँच सकें, उसका विपर्यास तो हरगिज न करें। हमारी दूसरोंको समझानेकी—शब्द प्रयोग करनेकी प्रणाली ऐसी हो जो उस तत्त्वका सही-सही प्रतिनिधित्व कर सके, उसके स्वरूपकी ओर संकेत कर सके, भ्रम तो उत्पन्न करे ही नहीं। इन दोनों आवश्यकताओंने अनेकान्तदृष्टि और स्याद्वादको जन्म दिया। अनेकान्त दृष्टि (नयदृष्टि) विराट वस्तुको जाननेका वह प्रकार है जिसमें विवक्षित धर्मको जानकर भी अन्य धर्मोंका निषेध नहीं किया जाता, उन्हें गौण या अविवक्षित कर दिया जाता है और इस तरह हर हालतमें पूरी वस्तुका मुख्यगौण भावसे स्पर्श हो जाता है। उसका कोई भी अंश कभी भी नहीं छूट पाता। जिस समय जो धर्म विवक्षित होता है वह उसी समय मुख्य या अर्पित बन जाता है और शेष धर्म गौण या अनर्पित रह जाते हैं। इस तरह जब मनुष्यकी दृष्टि अनेकान्त तत्त्वका स्पर्श करनेवाली बन जाती है तब उसके समझानेका ढंग भी निराला ही हो जाता है। वह सोचता है कि हमें उस शैलीसे वचन प्रयोग करना चाहिये जिससे वस्तुतत्त्वका यथार्थ प्रतिपादन हो। उस शैली या भाषाके निर्दोष प्रकार की आवश्यकताने 'स्याद्वाद' का आविष्कार किया है।

'स्याद्वाद' भाषाकी वह निर्दोष प्रणाली है जो वस्तुतत्त्वका सम्यक् प्रतिपादन करती है। इसमें लगा हुआ 'स्यात्' शब्द प्रत्येक वाक्यके सापेक्ष होनेकी सूचना देता है। 'स्यात् अस्ति' वाक्यमें 'अस्ति' पद वस्तुके अस्तित्व धर्मका मुख्यरूपसे प्रतिपादन करता है और 'स्यात्' शब्द उसमें रहनेवाले नास्ति आदि शेष अनन्त धर्मोंका सद्भाव बताता है कि 'वस्तु अस्तिमात्र ही नहीं है' उसमें गौणरूपसे नास्ति आदि धर्म भी विद्यमान हैं। मनुष्य अहंकारका पुतला है। अहंकारकी सहस्र नहीं अनन्त जिह्वाएँ हैं। यह विषधर थोड़ी भी असावधानी होनेपर डस लेता है। अतः जिस प्रकार दृष्टि में अहंकारका विष न आने देनेके लिए अनेकान्त दृष्टि-संजीवनीका रहना आवश्यक है उसी तरह भाषामें अवधारण या अहंकारका विष निर्मूल करनेके लिए स्याद्वाद-अमृत अपेक्षणीय होता है। अनेकान्तवाद इसी स्याद्वादका पर्यायवाची है अर्थात् ऐसा वाद अनेकान्तवाद कहलाता है जिसमें वस्तुके अनन्त धर्मात्मक स्वरूपका प्रतिपादन मुख्य-गौणभावसे होता है। यद्यपि ये दोनों पर्यायवाची हैं फिर भी 'स्याद्वाद' ही निर्दुष्ट भाषा शैलीका प्रतीक बन गया है। अनेकान्तदृष्टि तो ज्ञानरूप है, अतः वचनरूप 'स्याद्वाद' से उसका भेद स्पष्ट है। इस अनेकान्तके बिना लोकव्यवहार नहीं चल सकता। पग-पगपर इसके बिना विसंवादकी सम्भावना है। अतः इस त्रिभुवनके एक गुरु अनेकान्तवादको नमस्कार करते हुए आचार्य सिद्धसेनने ठीक ही लिखा है—

"जेण विणा लोगस्स ववहारो सव्वथा ण णिव्वयइ।
तस्य भुवणेकगुरुणो णमोऽणेगंतवायस्स॥"
—सन्मति० ३।६८।

स्याद्वादकी व्युत्पत्ति—'स्याद्वाद' स्यात् और वाद इन दो पदोंसे बना है। वादका अर्थ है कथन या प्रतिपादन। 'स्यात्' विधिलिङ्से बना हुआ तिङन्तप्रतिरूपक निपात है। वह अपनेमें एक महान् उद्देश्य और वाचक शक्तिको छिपाये हुए हैं। स्यात्के विधिलिङ्में विधि विचार आदि अनेक अर्थ होते हैं। उनमें 'अनेकान्त' अर्थ यहाँ विवक्षित है। हिन्दीमें यह 'शायद' अर्थमें प्रचलित-सा हो गया है, परन्तु हमें उसकी उस निर्दोष परम्पराका अनुगमन करना चाहिए जिसके कारण यह शब्द 'सत्यात्मा' अर्थात् सत्यका प्रतीक बना है। 'स्यात्' शब्द 'कथञ्चित्' के अर्थमें विशेषरूपसे उपयुक्त बैठता है। कथञ्चित् अर्थात् 'किसी सुनिश्चित अपेक्षा से' वस्तु अमुक धर्मवाली है। न तो यह 'शायद' न 'सम्भावना' और न 'कदाचित्' का प्रतिपादक है किन्तु 'सुनिश्चित दृष्टिकोण' का वाचक है। शब्दका स्वभाव है कि वह अवधारणात्मक होता है, इसलिए अन्यके प्रतिषेध करनेमें वह निरंकुश रहता है। इस अन्यके प्रतिषेधपर अंकुश लगानेका कार्य 'स्यात्' करता है। वह कहता है कि 'रूपवान् घटः' वाक्य घड़ेके रूपका प्रतिपादन भले ही करे पर वह 'रूपवान् ही है' यह अवधारण करके घड़ेमें रहनेवाले रस गन्ध आदिका प्रतिषेध नहीं कर सकता। वह

अपने स्वार्थको मुख्य रूपसे कहे यहाँ तक कोई हानि नहीं, पर यदि वह इससे आगे बढ़कर 'अपने ही स्वार्थ' को सब कुछ मानकर शेषका निषेध करता है तो उसका ऐसा करना अन्याय है और वस्तुस्थितिका विपर्यास करना है। 'स्यात्' शब्द इसी अन्यायको रोकता है और न्याय्य वचनपद्धतिकी सूचना देता है। वह प्रत्येक वाक्यके साथ अन्तर्गर्भ रहता है और गुप्त भावसे प्रत्येक वाक्यको मुख्यगौणभावसे अनेकान्त अर्थका प्रतिपादक बनाता है।

'स्यात्' निपात है। निपात द्योतक भी होते हैं और वाचक भी। यद्यपि स्यात् शब्द अनेकान्त सामान्यका वाचक होता है फिर भी अस्ति आदि विशेष धर्मोंका प्रतिपादन करनेके लिये 'अस्ति' आदि धर्म-वाचक शब्दोंका प्रयोग करना ही पड़ता है। तात्पर्य यह है कि 'स्यात् अस्ति' वाक्य में 'अस्ति' पद अस्तित्व धर्मका वाचक है तो 'स्यात्' शब्द 'अनेकान्त' का। वह उस समय अस्ति से भिन्न अन्य अशेष धर्मोंका प्रतिनिधित्व करता है। जब 'स्यात्' अनेकान्तका द्योतन करता है तो 'अस्ति' आदि पदोंके प्रयोगसे जिन अस्तित्व आदि धर्मोंका प्रतिपादन किया जा रहा है वे 'अनेकान्त' रूप हैं यह द्योतन 'स्यात्' शब्द करता है। यदि यह पद न हो तो 'सर्वथा अस्तित्व' रूप एकान्तकी शंका हो जाती है। यद्यपि स्यात् और कथंचित्का अनेकान्तात्मक अर्थ इन शब्दोंके प्रयोग न करने पर भी कुशल वक्ता समझ लेता है परन्तु वक्ता को यदि अनेकान्त वस्तुका दर्शन नहीं हैं तो वह एकान्तके जालमें भटक सकता है अतः उसे आलोक स्तम्भके समान इस 'स्यात्' ज्योतिकी नितान्त आवश्यकता है।

स्याद्वाद सुनयका निरूपण करनेवाली विशिष्ट भाषा पद्धति है। 'स्यात्' शब्द यह सुनिश्चित रूप से बताता है कि वस्तु केवल इसी धर्म वाली ही नहीं है, उसमें इसके अतिरिक्त धर्म भी विद्यमान हैं। उसके अविवक्षित गुणधर्मोंके अस्तित्वकी रक्षा 'स्यात्' शब्द करता है। 'रूपवान् घटः'में 'स्यात्' शब्द 'रूपवान्'के साथ नहीं जुटता, क्योंकि रूपके अस्तित्वकी सूचना तो 'रूपवान्' शब्द स्वयं ही दे रहा है, किन्तु अन्य अविवक्षित शेष धर्मोंके साथ उसका अन्वय है, वह 'रूपवान्'को पूरे घड़े पर अधिकार जमानेसे रोकता है और साफ कह देता है कि घड़ा बहुत बड़ा है, उसमें अनन्त धर्म हैं। रूप भी उनमेंसे एक है। रूपकी विवक्षा होनेसे अभी रूप हमारी दृष्टिमें मुख्य है और वही शब्दके द्वारा वाच्य बन रहा है पर रसकी विवक्षा होनेपर वह गौण राशिमें शामिल हो जायगा और रस प्रधान बन जायगा। इस तरह समस्त शब्द गौणमुख्य-भावसे अनेकान्त अर्थके प्रतिपादक हैं। इसी सत्यका उद्घाटन स्यात् शब्द सदा करता रहता है।

'स्यात्' शब्द एक सजग प्रहरी है, जो उच्चरित धर्मको इधर-उधर नहीं जाने देता। वह अविवक्षित धर्मोंके अधिकारका संरक्षक है। इसलिये जो लोग स्यात्का रूपवान्के साथ अन्वय करके और उसका शायद संभावना और कदाचित् अर्थ करके घड़ेमें रूपकी स्थितिको भी संदिग्ध बनाना चाहते हैं वे वस्तुतः प्रगाढ़ भ्रममें हैं। इसी तरह 'स्यादस्ति घटः' वाक्यमें 'अस्ति' यह अस्तित्व अंश घटमें सुनिश्चित रूपसे विद्यमान है। 'स्यात्' शब्द उस अस्तित्वकी स्थिति कमजोर नहीं बनाता। किन्तु उसकी वास्तविक आंशिक स्थितिकी सूचना देकर अन्य नास्ति आदि धर्मोंके गौणसद्भावका प्रतिनिधित्व करता है। उसे डर है कि कहीं अस्ति नामका धर्म, जिसे शब्दसे उच्चरित होनेके कारण प्रमुखता मिली है, पूरी वस्तुको ही न हड़प जाय, अपने अन्य नास्ति आदि सहयोगियोंके स्थानको समाप्त न कर दे। इसलिये वह प्रतिवाक्यमें चेतावनी देता रहता है कि हे भाई अस्ति, तुम वस्तुके एक अंश हो, तुम अपने अन्य नास्ति आदि भाइयोंके हकको हड़पनेकी कुचेष्टा नहीं करना। इस भयका कारण है कि प्राचीनकाल से 'नित्य ही है', 'अनित्य ही है' आदि हड़पू प्रकृतिके अंशवाक्योंने वस्तु पर पूर्ण अधिकार जमाकर अनधिकार चेष्टा की है और जगतमें अनेक तरहसे वितण्डा और संघर्ष उत्पन्न किये हैं। इसके फलस्वरूप पदार्थके साथ तो अन्याय हुआ ही है पर इस वाद-प्रतिवादने अनेक कुमतवादोंकी सृष्टि करके अहंकार हिंसा संघर्ष अनुदारता और असहिष्णुता आदिसे विश्वको अशान्त और संघर्षपूर्ण हिंसा-ज्वालामें पटक दिया है। स्यात् शब्द वाक्यके उस जहरको निकाल देता है जिससे अहंकारका सर्जन होता है।

'स्यात्' शब्द एक ओर एक निश्चित अपेक्षासे जहाँ अस्तित्वकी स्थिति सुदृढ़ और सहेतुक बनाता

है वहाँ उसकी उस सर्वहरा प्रवृत्तिको भी नष्ट करता है जिससे वह पूरी वस्तुका मालिक बनना चाहता है। वह न्यायधीशकी तरह तुरन्त कह देता है कि–हे अस्ति, तुम अपनी अधिकार सीमाको समझो। स्वद्रव्य क्षेत्र काल और भावकी दृष्टिसे जिस प्रकार तुम घटमें रहते हो उसी तरह परद्रव्य क्षेत्रादिकी अपेक्षा नास्ति नामका तुम्हारा सगा भाई भी उसी घटमें रहता है, घटका परिवार बहुत बड़ा है। अभी तुम्हारा नाम लेकर पुकारा गया है, इसका इतना ही अर्थ है कि इस समय तुमसे काम है, तुम्हारा प्रयोजन है, तुम्हारी मुख्यता है, तुम्हारी विवक्षा है; पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि तुम अपने समानाधिकारी भाइयोंके सद्भावको ही उखाड़कर फेंकनेका दुष्प्रयास करो। वास्तविक बात तो यह है कि–यदि परकी अपेक्षा 'नास्ति' धर्म न हो तो जिस घड़ेमें तुम रहते हो वह घड़ा 'घड़ा' ही न रह जायगा किन्तु कपड़ा आदि परपदार्थरूप हो जायगा। अतः तुम्हें अपनी स्थितिके लिये भी यह आवश्यक है कि तुम अन्य धर्मोंकी वास्तविक स्थितिको समझो। तुम उनकी हिंसा न कर सको इसके लिये अहिंसाका प्रतीक 'स्यात्' शब्द तुमसे पहिले ही वाक्यमें लगा दिया जाता है। भाई अस्ति, यह तुम्हारा दोष नहीं है। तुम तो बराबर अपने नास्ति आदि भाइयोंके साथ हिलमिलकर अनन्तधर्मा वस्तु में रहते हो, सब धर्मभाई अपने-अपने स्वरूपके सापेक्ष भावसे वस्तुमें रह रहे हैं, पर इन फूट डालनेवाले वस्तुद्रष्टाओंको क्या कहा जाय ? ये अपनी एकांगी दृष्टिसे तुममें फूट डालना चाहते हैं और प्रत्येक धर्मको प्रलोभन देकर वस्तुका पूरा अधिकार देना चाहते हैं और चाहते हैं कि तुममें भी अहंकारपूर्ण स्थिति उत्पन्न होकर आपसमें भेदभाव एवं हिंसाकी सृष्टि हो। बस 'स्यात्' शब्द एक अञ्जन-शलाका है जो उनकी दृष्टिको विकृत नहीं होने देता। वह उसे निर्मल और पूर्णदर्शी बनाता है। इस अविवक्षित संरक्षक, दृष्टि विषापहारी, सचेतक प्रहरी, अहिंसा और सत्यके प्रतीक, जीवन्त न्यायरूप, शब्दको सुधामय करनेवाले तथा सुनिश्चित अपेक्षाके द्योतक 'स्यात्' शब्दके स्वरूपके साथ हमारे दार्शनिकोंने न्याय तो किया ही नहीं किन्तु उसके स्वरूपका शायद, सम्भव, कदाचित् जैसे भ्रष्ट पर्यायोंसे विकृत करनेका अशोभन प्रयत्न अवश्य किया है और आजतक किया जा रहा है।

सबसे थोथा तर्क तो यह दिया जाता है कि 'घड़ा जब अस्ति है, तो नास्ति कैसे हो सकता है ! घड़ा जब एक है तो अनेक कैसे हो सकता है ?' यह तो प्रत्यक्षविरोध है; पर विचार तो करो–घड़ा आखिर घड़ा ही तो है, कपड़ा तो नहीं है, कुरसी तो नहीं है टेबिल तो नहीं है। तात्पर्य यह कि वह घटभिन्न अनन्त पदार्थोंरूप नहीं है। तो यह कहनेमें आपको क्यों संकोच होता है कि घड़ा अपने स्वरूपसे अस्ति है और स्वभिन्न पररूपोंसे नास्ति है। इस घड़ेमें अनन्त पररूपोंकी अपेक्षा 'नास्तित्व' है, अन्यथा दुनियाँमें कोई शक्ति ऐसी नहीं जो घड़ेको कपड़ा आदि होनेसे रोक सके। यह नास्तित्व धर्म ही घड़ेको घड़ेके रूपमें कायम रखता है। इसी 'नास्ति' धर्मकी सूचना 'अस्ति' के प्रयोगकालमें 'स्यात्' शब्द देता है। इसी तरह घड़ा समग्रभावसे एक होकर भी अपने रूप रस गंध स्पर्श छोटा बड़ा हलका भारी आदि अनन्त गुण धर्मोंकी दृष्टिसे अनेक रूपोंमें दिखाई देता है या नहीं ? यह आप स्वयं बतावें। यदि अनेक रूपमें दिखाई देता है तो आपको वह मानने और कहनेमें क्यों कष्ट होता है कि घड़ा द्रव्यरूपसे एक होकर भी अपने गुण धर्म शक्ति आदिकी दृष्टिसे अनेक है। जब प्रत्यक्षसे वस्तुमें अनेक विरोधी धर्मोंका स्पष्ट प्रतिभास हो रहा है, वस्तु स्वयं अनन्त विरोधी धर्मोंका अविरोधी क्रीड़ास्थल है तब हमें क्यों संशय और विरोध उत्पन्न करना चाहिए। हमें उसके स्वरूपको विकृतरूपमें देखनेकी दुर्दृष्टि तो नहीं करनी चाहिए। हम उस महान् 'स्यात्' शब्दको, जो वस्तुके इस पूर्णरूपकी झाँकी सापेक्षभावसे बताता है, विरोध संशय जैसी गालियोंसे दुरदुराते हैं, किमाश्चर्यमतः परम् ! यहाँ धर्मकीर्तिका यह श्लोकांश ध्यानमें आ जाता है कि–

"यदीयं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्रके वयम्"–प्रमाण वा० ३।२१०।

अर्थात् यदि यह चित्र-रूपता–अनेकधर्मता वस्तुको स्वयं रुच रही है, उसके बिना उसका अस्तित्व ही संभव नहीं है तो हम बीचमें काजी बननेवाले कौन हैं ? जगत्का एक-एक कण इस अनन्तधर्मताका आकर है। हमें तो सिर्फ अपनी दृष्टिको ही निर्मल और विशाल बनानेकी आवश्यकता है। वस्तुमें विरोध नहीं है, विरोध तो हमारी दृष्टियोंमें है। और इस दृष्टिविरोधकी अमृत (गुरुवेल) स्यात् शब्द है, जो

रोगीको तत्काल कटु तो अवश्य लगती है पर इसके बिना यह दृष्टिविषमज्वर उतर भी नहीं सकता।

वस्तुकी अनन्तधर्मात्मकता—वस्तु अनेकान्तरूप है यह बात थोड़ा गंभीर विचार करते ही अनुभवमें आ जाती है, और यह भी प्रतिभासित होने लगता है कि हमारे क्षुद्रज्ञानने कितनी उछल कूँद मचा रखी है तथा वस्तुके विराट् स्वरूपके साथ खिलवाड़ कर रखी है। पदार्थ भावरूप भी है और अभाव रूप भी है। यदि सर्वथा भावरूप माना जाय यानी द्रव्यकी पर्यायको भी भावरूप स्वीकार किया जाय तो प्रागभाव प्रध्वंसाभाव अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव इन चार अभावोंका लोप हो जानेसे पर्यायें भी अनादि अनन्त और सर्वसंकररूप हो जायगी तथा एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप होकर प्रतिनियत द्रव्यव्यवस्थाको समाप्त कर देगा।

सदसदात्मकत्व—प्रत्येक द्रव्यका अपना असाधारण स्वरूप होता है। उसका निजी क्षेत्र काल और भाव होता है जिनमें उसकी सत्ता सीमित रहती है। सूक्ष्मविचार करनेपर क्षेत्र काल और भाव अन्ततः द्रव्यकी असाधारण स्थितिरूप ही फलित होते हैं। यह द्रव्य क्षेत्र काल और भावका चतुष्टय स्वरूपचतुष्टय कहलाता है। प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूपचतुष्टयमे सत् होता है पररूपचतुष्टयसे असत्। यदि स्वरूपचतुष्टयकी तरह पररूपचतुष्टय से भी सत् मान लिया जाय तो स्व और परमें कोई भेद नहीं रहकर सबको सर्वात्मकताका प्रसंग प्राप्त होता है। यदि पररूपकी तरह स्वरूपसे भी असत् हो जाय तो निःस्वरूप होनेसे अभावात्मकताका प्रसंग होता है। अतः लोककी प्रतीतिसिद्ध व्यवस्थाके लिये प्रत्येक पदार्थको स्वरूपसे सत् और पररूपसे असत् मानना ही चाहिये। द्रव्य एक अखंड मौलिक तत्त्व है। पुद्गल द्रव्योंमें ही परमाणुओंके परस्पर संयोगसे छोटे-बड़े अनेक स्कन्ध तैयार होते हैं। ये स्कन्ध संयुक्तपर्यायरूप हैं। अनेक द्रव्योंके संयोगसे ही घट पट आदि स्थूल पदार्थोंकी सृष्टि होती है। ये संयुक्त स्थूलपर्यायें भी अपने द्रव्य अपने क्षेत्र अपने काल और अपने असाधारण निजधर्मकी दृष्टिसे 'सत्' हैं और परद्रव्य परक्षेत्र परकाल और परभावकी दृष्टिसे असत् हैं। इस तरह कोई भी पदार्थ इस सदासदात्मकताका अपवाद नहीं हो सकता।

एकानेकात्मक तत्त्व—हम पहिले लिख चुके हैं कि दो द्रव्य व्यवहारके लिये ही एक कहे जा सकते हैं वस्तुतः दो पृथक् स्वतन्त्र सिद्ध द्रव्य एकसत्ताक नहीं हो सकते। पुद्गल द्रव्यके अनेक अणु जब स्कन्ध अवस्थाको प्राप्त होते हैं तब उनका रासायनिक मिश्रण होता है जिससे वे अमुककालतक एकसत्ताक जैसे हो जाते हैं। ऐसी दशामें हमें प्रत्येक द्रव्यका विचार करते समय द्रव्य दृष्टिसे उसे एक मानना होगा और गुण तथा पर्यायोंकी दृष्टि से अनेक। एक ही मनुष्यजीव अपनी बाल युवा और वृद्ध आदि अवस्थाओंकी दृष्टिसे अनेक अनुभव में आता है। द्रव्य गुण और पर्यायोंसे, संज्ञा संख्या लक्षण प्रयोजन आदिकी अपेक्षा भिन्न होकर भी चूँकि द्रव्यसे पृथक् गुण और पर्यायोंकी सत्ता नहीं पाई जाती या प्रयत्न करके भी हम द्रव्यसे गुणपर्यायोंका विवेचन—पृथक्करण नहीं कर सकते अतः अभिन्न है। सत् सामान्यकी दृष्टिसे समस्त द्रव्योंको एक कहा जा सकता है और अपने-अपने व्यक्तित्वकी दृष्टिसे पृथक् अर्थात् अनेक। इस तरह समग्र विश्व अनेक होकर भी व्यवहारार्थ संग्रहनयकी दृष्टिसे एक कहा जाता है। एक द्रव्य अपने गुण और पर्यायोंकी दृष्टिसे अनेकात्मक है। एक ही आत्मा सुख-दुःख ज्ञान आदि अनेकरूपसे अनुभवमें आता है। द्रव्यका लक्षण अन्वयरूप है जब कि पर्याय व्यतिरेकरूप होती हैं। द्रव्यकी एक संख्या है और पर्यायोंकी अनेक। द्रव्यका प्रयोजन अन्वयज्ञान है और पर्यायका प्रयोजन व्यतिरेकज्ञान। पर्यायें प्रतिक्षण नष्ट होती हैं और द्रव्य अनादि-अनन्त होता है। एक होकर भी द्रव्यकी अनेकरूपता जब प्रतीतिसिद्ध है तब उसमें विरोध संशय आदि दूषणोंका कोई अवकाश नहीं है।

नित्यानित्यात्मक—यदि द्रव्यको सर्वथा नित्य माना जाता है तो उसमें किसी भी प्रकारके परिणमनकी सम्भावना नहीं होनेसे कोई अर्थक्रिया नहीं हो सकेगी और अर्थक्रियाशून्य होनेसे पुण्य-पाप बन्धमोक्ष और लेन-देन आदिकी समस्त व्यवस्थाएँ नष्ट हो जाँयगी। यदि पदार्थ एक जैसा कूटस्थनित्य रहता है तो जगतके प्रतिक्षणके परिवर्तन असम्भव हो जायँगे। यदि पदार्थको सर्वथा विनाशी माना जाता है तो पूर्वपर्यायका उत्तरपर्यायके साथ कोई वास्तविक सम्बन्ध न होनेके कारण लेनदेन बन्धमोक्ष स्मरण और प्रत्यभिज्ञान

आदि व्यवहार विच्छिन्न हो जायँगे। जो करेगा उसके भोगनेका क्रम ही नहीं रहेगा। नित्यपक्षमें कर्तृत्व नहीं बनता तो अनित्य पक्षमें करनेवाला अन्य और भोगनेवाला अन्य होता है। उपादान-उपादेयभावमूलक कार्यकारणभाव भी इस पक्षमें नहीं बन सकेगा। अतः समस्त लोकव्यवहार लोक-परलोक तथा कार्यकारणभाव आदिकी सुव्यवस्थाके लिये पदार्थोंमें परिवर्तनके साथ-ही-साथ उसकी मौलिकता और अनादि अनन्तरूप द्रव्यत्वका आधारभूत ध्रुवत्व भी स्वीकार करना ही चाहिये।

इसके माने बिना द्रव्यका मौलिकत्व सुरक्षित नहीं रह सकता। अतः प्रत्येक द्रव्य अपनी अनादि अनन्त धारामें प्रतिक्षण सदृश-विसदृश अल्पसदृश अर्धसदृश आदि अनेकरूप परिणमन करता हुआ भी कभी समाप्त नहीं होता, उसका समूल उच्छेद या विनाश नहीं होता। आत्माको मोक्ष हो जानेपर भी उसकी समाप्ति नहीं होती किन्तु वह अपने शुद्धतम स्वरूपमें स्थिर हो जाता है। उस समय उसमें वैभाविक परिणमन नहीं होकर द्रव्यगत उत्पाद व्यय स्वभावके कारण स्वभावमूलक सदृश परिणमन सदा होता रहता है। कभी भी यह परिणमनचक्र रुकता नहीं है और न कभी कोई भी द्रव्य समाप्त ही हो सकता है। अतः प्रत्येक द्रव्य नित्यानित्यात्मक है।

हम स्वयं अपनी बाल युवा वृद्ध आदि अवस्थाओंमें बदल रहे हैं फिर भी हमारा एक ऐसा अस्तित्व तो है ही जो इन सब परिवर्तनोंमें हमारी एकरूपता रखता है। वस्तुस्थिति जब इस तरह परिणामीनित्यकी है तब यह शंका 'जो नित्य है वह अनित्य कैसा?' निर्मूल है। क्योंकि परिवर्तनोंके आधारभूत पदार्थकी सन्तानपरम्परा उसके अनाद्यनन्त सत्त्वके बिना बन नहीं सकती। यही उसकी नित्यता है जो अनन्त परिवर्तनोंके बावजूद भी वह समाप्त नहीं होता और अपने अतीतके संस्कारोंको लेता छोड़ता वर्तमान तक आता है और अपने भविष्यके एक-एक क्षणको वर्तमान बनाता हुआ उन्हें अतीतके गह्वरमें ढकेलता जाता है, पर कभी स्वयं रुकता नहीं है। किसी ऐसे कालकी कल्पना नहीं जा सकती जो स्वयं अन्तिम हो, जिसके बाद दूसरा काल नहीं आनेवाला हो। कालकी तरह समस्त जगत्के अणु-परमाणु चेतन आदिमेंसे कोई एक या सभी कभी निर्मूल समाप्त हो जाँयगे ऐसी कल्पना ही नहीं होती। यह कोई बुद्धिकी सीमाके परेकी बात नहीं है। बुद्धि अमुक क्षणमें अमुक पदार्थका अमुक अवस्था होगी इस प्रकार परिवर्तनका विशेष रूप न भी जान सके पर इतना तो उसे स्पष्ट भान होता है कि पदार्थका भविष्यके प्रत्येक क्षणमें कोई-न-कोई परिवर्तन अवश्य होगा। जब द्रव्य अपनेमें मौलिक है तब उसकी समाप्ति यानी समूल नाशका प्रश्न ही नहीं है। अतः पदार्थमात्र चाहे वह चेतन हो या अचेतन परिणामी-नित्य है। वह प्रतिक्षण त्रिलक्षण है। हर समय एक पर्याय उसकी होगी। वह अतीत पर्यायका नाश कर जिस प्रकार स्वयं अस्तित्वमें आई है उसी तरह उत्तर पर्यायको उत्पन्न कर स्वयं नष्ट हो जायगी। अतीतका व्यय वर्तमानका उत्पाद और दोनोंमें द्रव्यगत ध्रुवता है ही।

वह त्रयात्मकता वस्तुकी जान है। इसीको स्वामी समन्तभद्र तथा भट्ट कुमारिलने लौकिक दृष्टान्तसे इस प्रकार समझाया है कि—सोनेके कलशको मिटाकर मुकुट बनाया गया तो कलशार्थीको शोक हुआ मुकुटाभिलाषीको हर्ष और सुवर्णार्थीको माध्यस्थ्य भाव रहा। कलशार्थीको शोक कलशनाशके कारण हुआ मुकुटाभिलाषीको हर्ष मुकुटके उत्पादके कारण और सुवर्णार्थीकी तटस्थता दोनों दशाओंमें सुवर्णके बने

---

(१) "घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥"—आप्तमी० श्लो० ५९।
"वर्धमानकभङ्गे च रुचकः क्रियते यदा।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः।
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्॥
न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम्।
स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्यनित्यता॥"—मी० श्लो० पृ० ६१९।

रहनेके कारण हुई। अतः वस्तु उत्पादादित्रयात्मक हैं[1]। दूधको जमाकर दही बनाया गया तो जिस व्यक्ति-को दूध खानेका व्रत है वह दहीको नहीं खायगा पर जिसे दही खानेका व्रत है वह दहीको तो खा लेगा पर दूधको नहीं खायगा। और जिसे गोरसके त्यागका व्रत है वह न दूध खायगा और न दही; क्योंकि दोनों ही अवस्थाओंमें गोरसत्व है ही। इससे ज्ञात होता है कि गोरसकी ही दूध और दही दोनों पर्यायें थीं।

पातञ्जल[1] महाभाष्यमें भी पदार्थके त्रयात्मकत्वका समर्थन शब्दार्थ मीमांसाके प्रकरणमें मिलता है। आकृति नष्ट होनेपर भी पदार्थकी सत्ता बनी रहती है। एक ही क्षणमें वस्तुके त्रयात्मक कहनेका स्पष्ट अर्थ यह है कि पूर्वका विनाश और उत्तरका उत्पाद दो चीजें नहीं हैं किन्तु एक कारणसे उत्पन्न होनेके कारण पूर्व विनाश ही उत्तरोत्पाद है। जो उत्पन्न होता है वही नष्ट होता है और वही ध्रुव है। सुननेमें तो ऐसा लगता है कि जो उत्पन्न होता है और नष्ट होता है वह ध्रुव कैसे हो सकता है? यह तो प्रकट विरोध है। परन्तु वस्तुस्थितिका थोड़ी स्थिरतासे विचार करनेपर यह कुछ भी अटपटा नहीं है। इसके माने बिना तत्त्वके स्वरूपका निर्वाह ही नहीं हो सकता।

भेदाभेदात्मक तत्त्व–गुण और गुणीमें, सामान्य और सामान्यवान्में, अवयव और अवयवीमें, कारण और कार्यमें सर्वथा भेद माननेसे गुण-गुणी भाव आदि नहीं बन सकते। सर्वथा अभेद माननेपर गुण-गुणी व्यवहार नहीं हो सकता। गुण यदि गुणीसे सर्वथा भिन्न है तो अमुक गुणका अमुक गुणीसे ही सम्बन्ध कैसे नियत किया जा सकता है? अवयवी यदि अवयवोंसे सर्वथा भिन्न है तो एक अवयवी अपने अवयवोंमें सर्वात्मना रहेगा या एकदेश से? यदि पूर्णरूपसे; तो जितने अवयव हैं उतने ही अवयवी मानने होंगे। यदि एकदेशसे; तो जितने अवयव हैं उतने प्रदेश उस अवयवीके स्वीकार करने होंगे। इस तरह अनेक दूषण सर्वथा भेद और अभेद पक्षमें आते हैं अतः तत्त्वको पूर्वोक्त प्रकारसे कथञ्चित् भेदाभेदात्मक मानना चाहिये। जो द्रव्य है वही अभेद है और जो गुण और पर्याय हैं वही भेद है। दो पृथक्सिद्ध द्रव्योंमें जिस प्रकार अभेद काल्पनिक है उसी तरह एक द्रव्यका अपने गुण और पर्यायोंसे भेद मानना भी सिर्फ समझने और समझानेके लिए है। गुण और पर्यायको छोड़कर द्रव्यका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है जो इनमें रहता हो।

इसी तरह अन्यानन्यात्मक, पृथक्त्वापृथक्त्वात्मक तत्त्वकी भी व्याख्या कर लेनी चाहिये।

[1]धर्म धर्मीभावका व्यवहार भले ही आपेक्षिक हो पर स्वरूप तो स्वतः सिद्ध ही है। जैसे एक ही व्यक्ति विभिन्न अपेक्षाओंसे कर्ता कर्म करण आदि कारकरूपसे व्यवहारमें आता है पर उस व्यक्तिका स्वरूप स्वतःसिद्ध ही हुआ करता है, उसी तरह अनन्तधर्मा प्रत्येक पदार्थमें अनन्त धर्म स्वरूप सिद्ध होकर भी परकी अपेक्षासे व्यवहारमें आते हैं। निष्कर्ष इतना ही है कि प्रत्येक अखंड तत्त्व या द्रव्यको व्यवहारमें उतारनेके लिये उसका अनेक धर्मोंके आकारके रूपमें वर्णन किया जाता है; धर्मोंकी उस द्रव्यको छोड़कर स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। दूसरे शब्दोंमें अनन्त-गुणपर्याय और धर्मोंको छोड़कर द्रव्यका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। कोई ऐसा समय नहीं आ सकता जब गुणपर्यायशून्य द्रव्य पृथक् मिल सके या द्रव्यसे भिन्न गुण और पर्यायें दिखाई जा सकें।

---

(१) "पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम्॥"–आप्तमी० श्लो० ६०।

(२) "द्रव्यं हि नित्यमाकृतिरनित्या···सुवर्णं कयाचिदाकृत्या युक्तं पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते, पुनरावृत्तः सुवर्णपिण्डः, पुनरपरया आकृत्या युक्तः खदिराङ्गारसदृशो कुण्डले भवतः, आकृतिरन्या अन्या च भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव, आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते।"–पात० महाभा० १।१।१। योगभा० ४।१३।

(३) आप्तमी० श्लो० ७३–७५।

इस तरह स्याद्वाद इस अनेकरूप अर्थको निर्दोष पद्धतिसे वचनव्यवहारमें उतारता है और प्रत्येक वाक्यकी सापेक्षता और आंशिक स्थितिका बोध कराता है।

इस स्याद्वादके स्वरूपको ठीक ठीक न समझकर 'शंकराचार्य गुणमति स्थिरमति धर्मकीर्ति प्रज्ञाकर अर्चट शान्तरक्षित कर्णकगोमि जयराशि व्योमशिव भास्कराचार्य विज्ञानभिक्षु श्रीकण्ठ रामानुजाचार्य वल्लभाचार्य और निम्बार्काचार्य आदिके द्वारा तथा इन प्राचीन आचार्योंका अनुसरणकर आधुनिक लेखकोंके द्वारा की गई स्याद्वादसमालोचनाकी प्रत्यालोचना जैनदर्शन (पृ० ५६०–५१३) में देखना चाहिए। वहीं स्याद्वादमें दिये जानेवाले संशयादि दोषोंका परिहार भी किया गया है।

*

४ निक्षेप मीमांसा[1]

अनन्तधर्मात्मक पदार्थको व्यवहारमें लानेके लिये किये जानेवाले प्रयत्नोंमें निक्षेपका भी स्थान है। जगत्में व्यवहार तीन प्रकारसे चलते हैं। कुछ व्यवहार ज्ञानाश्रयी कुछ शब्दाश्रयी और कुछ अर्थाश्रयी होते हैं। अनन्तधर्मा वस्तुको संव्यवहारके लिये उक्त तीन प्रकारके व्यवहारोंमें बाँटना निक्षेप है। निक्षेपका शाब्दिक अर्थ है रखना। यानी वस्तुके विवक्षित अंशको समझनेके लिये उसकी शाब्दिक आर्थिक सांकल्पिक आरोपित भूत भविष्यत् वर्तमान आदि अवस्थाओंको सामने रखकर प्रस्तुतकी ओर दृष्टि देना निक्षेपका लक्ष्य है। प्राचीनकालसे ही जैन परम्परामें पदार्थके वर्णनकी एक विशेष पद्धति रही है। सूत्रोंमें कोई एक शब्द आया कि उसको नाम स्थापना द्रव्य भाव काल और क्षेत्र आदिकी दृष्टिसे अनेकधा विश्लेषण करके सामने रखा जाता है। फिर समझाया जाता है कि इनमें अमुक अर्थ विवक्षित है। जैसे 'घोड़ेको लाओ' इस वाक्यमें 'घोड़े' का निक्षेप करके बताया जायगा कि जिसका 'घोड़ा' नाम रख दिया जाता है वह नाम घोड़ा है। जिस तदाकार खिलौनेको 'घोड़ा' कहते हैं वह सद्भावस्थापना घोड़ा है, जिस अतदाकार शतरंजके मोहरेको घोड़ा कहते हैं वह असद्भावस्थापना घोड़ा है। जो जीव मरकर आगे घोड़ा होगा वह द्रव्यघोड़ा है। जो आज वस्तुतः घोड़ा है वह भाव घोड़ा है। इनमें स्थूलरूपसे नामघोड़ा शब्दात्मक व्यवहारके लिये आधार होता है तो स्थापना घोड़ा ज्ञानात्मक व्यवहारके लिये और द्रव्य और भावघोड़ा अर्थाश्रयी व्यवहारके लिये आधार बनते हैं। यदि कोई बालक घोड़ेके लिये रोता है तो वहाँ खिलौना घोड़ा लाया जाता है और शतरंजके समय वह मुहराघोड़ा ही पकड़ा जाता है। सवारीके समय भावघोड़ा ही उपयुक्त होता है और किसी सांकेतिक व्यवहारके लिये नामघोड़ेकी उपयोगिता होती है। तात्पर्य यह कि पदार्थके विवक्षित अंशको सटीक पकड़नेके लिए उसके संभाव्य सभी विकल्पोंको सामने रखा जाता है, फिर कहा जाता है कि इनमें 'अमुक अंश' विवक्षित है। धवला टीका[2]में निक्षेपविषयक यह प्राचीन गाथा उद्धृत है जो किंचित् पाठभेदके साथ अनुयोगद्वार सूत्र में भी उपलब्ध है–

"जत्थ बहुं जाणिज्जा अवरिमिदं तत्थ णिक्खिवे णियमा।
जत्थ बहुयं ण जाणदि चउट्ठयं णिक्खिवे तत्थ॥"

अर्थात् जहाँ जितना बहुत जाने वहाँ उतने ही प्रकारसे पदार्थोंका विश्लेषण या निक्षेप करना चाहिये। जहाँ अधिक न जाने वहाँ कमसे कम चार प्रकारसे पदार्थोंका निक्षेप करना चाहिए। यही कारण है कि–मूलाचार[3]में 'सामायिक' के तथा त्रिलोकप्रज्ञप्ति[4]में 'मङ्गल' के नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल और भावके भेदसे छह निक्षेप किये गये हैं। आवश्यक निर्युक्ति[5]में इन छह निक्षेपोंमें 'वचन' को और जोड़कर सात

(१) जयधवला भाग १ प्रस्ता० पृ० १००–।
(२) प्रथम पु० पृ० ३०।
(३) षडावश्यकाधिकार गा० १७। (४) गा० १।१८। (५) गा० १३९

प्रकारके निक्षेप बताये हैं। यद्यपि निक्षेपोंके संभाव्य भेद अनेक हो सकते है और कुछ ग्रन्थकारोंने किये भी हैं परन्तु कमसे कम नाम स्थापना द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपोंको माननेमें सर्वसम्मति है। पदार्थोंका इस प्रकारका निक्षेप प्राचीनकालमें अत्यन्त आवश्यक माना जाता था। आ० यतिवृषभ[1] लिखते हैं कि– जो प्रमाण नय और निक्षेपसे पदार्थकी ठीक समीक्षा नहीं करता उसे युक्त भी अयुक्त और अयुक्त भी युक्त प्रतिभासित होता है। धवला[2]में तो और स्पष्ट लिखा है कि निक्षेपके बिना किया जानेवाला निरूपण वक्ता और श्रोता दोनोंको कुमार्गमें ले जा सकता है।

आ० पूज्यपाद[3]ने निक्षेपका प्रयोजन बताते हुए लिखा है कि **"स किमर्थः अप्रकृतनिराकरणाय प्रकृतनिरूपणाय च"** अर्थात् अप्रकृतके निराकरणके लिये और प्रकृतका निरूपण करनेके लिये निक्षेपकी सार्थकता है। धवला (पु० १) में निक्षेपका प्रयोजन बतानेवाली यह प्राचीनगाथा उद्धृत है–

"उत्तं हि–अवगयणिवारणट्ठं पयदस्स परूवणाणिमित्तं च।
संसयविणासणट्ठं तच्चत्थवधारणट्ठं च॥"

अप्रकृतके निराकरण प्रकृतके प्ररूपण संशयके विनाश और तत्त्वार्थके निश्चयके लिये निक्षेपकी सार्थकता है। वहीं इसका विशेष विवरण करते हुए लिखा है कि यदि श्रोता अव्युत्पन्न है और पर्यायार्थिक दृष्टिवाला है तो अप्रकृतके निराकरणके लिये तथा यदि द्रव्यार्थिक दृष्टिवाला है तो प्रकृतके निरूपणके लिये निक्षेप करना चाहिए। श्रोताको यदि पूर्ण विद्वान् या एकदेशज्ञानी होकर भी तत्त्वमें सन्देह है तो सन्देह निवारणके लिये, यदि तत्त्वमें विपर्यास है तो तत्त्वार्थके निश्चयके लिये निक्षेपकी आवश्यकता है।

अकलङ्कदेवने[4] निक्षेपोंका विवेचन करते हुए लिखा है कि–

"नयानुगतनिक्षेपैरुपायैर्भेदवेदने।
विरचय्यार्थवाक्प्रत्ययात्मभेदान् श्रुतार्पितान्॥"

अर्थात् निक्षेप पदार्थोंके विश्लेषणके उपायभूत हैं। उन्हें नयों द्वारा ठीक-ठीक समझकर अर्थात्मक ज्ञानात्मके और शब्दात्मक भेदोंकी रचना करनी चाहिए। इस वर्णनसे इतना स्पष्ट हो जाता है कि अकलङ्कदेव विशेष रूपसे समन्तभद्रके[5] द्वारा प्रतिपादित बुद्धि शब्द और अर्थ रूपसे पदार्थके विश्लेषणकी ओर ध्यान दिला रहे हैं; क्योंकि तीनों प्रकारके अर्थोंमें ज्ञान एक जैसा ही होता है।

सिद्धिविनिश्चय (१२।१) में निक्षेपको अनन्त प्रकारका बतलाकर भी उसके चार मुख्य भेद वही कहे हैं जो तत्त्वार्थसूत्र (१।५) में निर्दिष्ट हैं। वे हैं नाम-स्थापना द्रव्य और भाव।

द्रव्य जाति गुण क्रिया और परिभाषा ये शब्दप्रवृत्तिके निमित्त होते हैं। इनमेंसे किसी निमित्तकी अपेक्षा न करके इच्छानुसार वस्तुकी जो चाहे संज्ञा रखना नाम निक्षेप है। यह अनेक प्रकारका है। यथा व्यस्त जीवविषयक नाम–जैसे यह देवदत्त है। समस्त जीव विषयक नाम–जैसे ये सब गर्ग आदि हैं। एक जीव विषयक नाम–जैसे आदिनाथ। अनेक जीवविषयक नाम–जैसे यह डित्थ यह डवित्थ यह जिनदत्त आदि। व्यस्त अजीव विषयक नाम-जैसे व्याकरणमें समासकी 'स' संज्ञा। समस्त अजीवविषयक नाम– जैसे व्याकरणमें भू आदि धातुओंकी 'धु' संज्ञा। एक अजीव विषयक नाम–जैसे आकाश काल आदि संज्ञाएँ। अनेक अजीव विषयक नाम–जैसे व्याकरणमें शतृ और शानच् प्रत्ययोंकी 'सत्' यह संज्ञा। जाति गुण आदिके निमित्तसे किया जानेवाला शब्दव्यवहार नाम निक्षेपकी मर्यादामें नहीं आता[6]। अनन्तवीर्या-

(१) त्रिलोक प्र० १।८२। (२) पुस्तक १ पृ० ११।
(३) सर्वार्थसि० १।५।
(४) लघी० स्ववृ० श्लो० ७४।
(५) "बुद्धिशब्दार्थसंज्ञाताः तिस्रो भुवनादिवाचकाः।"–आप्तमी० श्लो० ८५।
(६) त० श्लो० पृ० १११।

आर्ष[1]के मतसे वह स्थापना निक्षेपमें अन्तर्भूत है। जिस वस्तुकी जो संज्ञा रखी जाती है नाम निक्षेपमें वह वस्तु उसी संज्ञाकी वाच्य होती है उसके पर्यायवाची अन्य शब्दोंकी नहीं। जैसे 'गजराज'[2] संज्ञावाले व्यक्तिको 'करि स्वामी' या 'हस्तिनाथ' नहीं कहा जा सकता। पुस्तक[3] पत्र चित्र आदिमें लिखा गया लिप्यात्मक नाम भी नाम निक्षेप है।

जिसका 'नाग' रखा जा चुका है उसकी उसीके आकारवाली मूर्ति या चित्रमें स्थापना करना तदाकार या सद्भाव स्थापना है। यह स्थापना लकड़ीमें बनाये गये, कपड़ेमें काढ़े गये, चित्रमें लिखे गये और पत्थरमें उकेरे गये तदाकारमें 'यह वही है' इस साक्ष्यमूलक अभेद बुद्धिकी प्रयोजक होती है। भिन्न आकार वाली वस्तुमें उसकी स्थापना अतदाकार या असद्भावस्थापना है जैसे शतरंजकी गोटोंमें हाथी घोड़े आदिकी स्थापना।

नाम और स्थापना दोनों यद्यपि सांकेतिक हैं पर उनमें इतना अन्तर[4] अवश्य है कि नाममें नामवाले द्रव्यका आरोप नहीं होता जब कि स्थापनामें स्थाप्य द्रव्यका आरोप किया जाता है। नामवाले पदार्थकी स्थापना अवश्य करनी चाहिए यह नियम नहीं है जब कि जिसकी स्थापनाकी जाती है उसका स्थापनाके पूर्व नाम अवश्य रख लिया जाता है। नाम निक्षेपमें आदर और अनुग्रह नहीं देखा जाता जब कि स्थापनामें आदर और अनुग्रह आदि अवश्य होते हैं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अनुग्रहार्थी स्थापनादेवका आदर या स्तवन करते हैं उस प्रकार 'देव' नामक व्यक्तिका नहीं। अनुयोगद्वार-सूत्र (११) और बृहत्कल्पभाष्य[5]में नाम और स्थापनामें यह अन्तर बताया है कि स्थापना इत्वरा और अनित्वरा अर्थात् सार्वकालिकी और नियतकालिकी दोनों प्रकारकी होती है जब कि नाम निक्षेप नियमसे यावत्कथित अर्थात् जबतक द्रव्य रहता है तबतक रहनेवाला सार्वकालिक होता है। विशेषावश्यक भाष्य (गा० २५) में नामको प्रायः सार्वकालिक कहा है। उसके टीकाकार कोट्याचार्यने देवकुरु सुमेरु आदि अनादि पदार्थोंके नामोंकी अपेक्षा उसे सार्वकालिक बताया है।

भविष्यत् पर्यायकी योग्यता या अतीत पर्यायके निमित्तसे होनेवाले व्यवहारका आधार द्रव्यनिक्षेप होता है जैसे जिसका राज्य चला गया है उसे वर्तमानमें राजा कहना या युवराजको अभी ही राजा कहना। इस निक्षेपमें राजविषयक शास्त्रको जाननेवाला किन्तु उसमें उपयोग नहीं लगानेवाला व्यक्ति, ज्ञायकके भूत भावी और वर्तमान शरीर तथा कर्मनोकर्म आदि शामिल हैं। भविष्यत्में तद्विषयक शास्त्रको जो व्यक्ति जानेगा वह भी इसी द्रव्यनिक्षेपकी परिधिमें आता है।

वर्तमान पर्यायविशिष्ट द्रव्यमें तत्पर्यायमूलक व्यवहारका आधार भावनिक्षेप होता है। इसमें तद्विषयक शास्त्रका जाननेवाला उपयुक्त आत्मा तथा तत्पर्यायसे परिणत पदार्थ ये दोनों शामिल हैं। बृहत्कल्पभाष्यकी पीठिकामें बताया है कि द्रव्य और भाव निक्षेपमें भी पूज्यापूज्यबुद्धिकी दृष्टिसे अन्तर है। जिस प्रकार 'भाव-जिनेन्द्र' भक्तोंके लिये पूज्य और स्तुत्य होते हैं उस प्रकार द्रव्यजिनेन्द्र नहीं।

विशेषावश्यकभाष्य (गा० ५३-५५) में नामादिनिक्षेपोंका परस्पर भेद बताते हुए लिखा है कि—जिस प्रकार स्थापना इन्द्रमें सहस्रनेत्र आदि आकार, सद्भूत इन्द्रका अभिप्राय, 'यह इन्द्र है' यह बुद्धि इन्द्रभक्तों द्वारा की जानेवाली नमस्कार आदि क्रिया, तथा इन्द्रपूजाका फल आदि सब होते हैं उस प्रकारके आकार अभिप्राय बुद्धि क्रिया और फल नामेन्द्र और द्रव्येन्द्रमें नहीं होते। जिस प्रकार द्रव्य आगे जाकर भावपरिणतिको प्राप्त हो जाता है या पहिले भावपरिणतिको प्राप्त था उस प्रकार नाम और स्थापना नहीं। द्रव्य भावका कारण है तथा भाव द्रव्यकी पर्याय है उस तरह नाम और स्थापना नहीं। जिस प्रकार भाव तत्पर्यायपरिणत या तदर्थोपयुक्त होता है उस प्रकार द्रव्य नहीं। इस प्रकार इन चारोंमें भेद है।

(१) सिद्धिवि० टी० पृ० ७४०।
(२) विशेषा० गा० २५। (३) जैनतर्क भा० पृ० २५।
(४) धवला पु० ५ पृ० १८५। (५) पीठिका गा० १३।

निक्षेपोंमें नययोजना–

कौन निक्षेप किस नयसे अनुगत होता है इसका विचार अनेक प्रकारसे देखा जाता है–आ० सिद्धसेन[1] और पूज्यपाद[2] सामान्यरूपसे द्रव्यार्थिकनयोंके विषय नाम स्थापना और द्रव्य इन तीन निक्षेपोंको तथा पर्यायार्थिकनयोंका विषय केवल भावनिक्षेपको कहते हैं। अकलङ्कदेव[3]का भी यही अभिप्राय है। इतनी विशेषता है कि सिद्धसेन संग्रह और व्यवहारको द्रव्यार्थिकनय कहते हैं; क्योंकि इनके मतसे नैगमका संग्रह और व्यवहारमें अन्तर्भाव हो जाता है। पूज्यपाद नैगमनयको स्वतन्त्र मानते हैं अतः इनके मतसे तीनों द्रव्यार्थिक नय हैं। दोनोंके मतसे ऋजुसूत्र आदि चारों नय पर्यायार्थिक हैं। अतः ये केवल भाव निक्षेपको विषय करते हैं।

आ० पुष्पदन्त भूतबलिने षट्खंडागम[4] आदिमें तथा आ० यतिवृषभ[5]ने कषायपाहुडके चूर्णिसूत्रोंमें इसका कुछ विशेष विवेचन किया है। वे नैगम संग्रह और व्यवहार इन तीनों नयोंमें चारों ही निक्षेपों को स्वीकार करते हैं। भावनिक्षेपके विषयमें आ० वीरसेन[6]ने लिखा है कि कालान्तरस्थायी व्यञ्जनपर्यायकी अपेक्षासे जो कि अपनी अनेक अर्थपर्यायोंमें व्याप्त होनेके कारण 'द्रव्य' व्यपदेश पा सकती है, भावनिक्षेप बन जाता है। अथवा द्रव्यार्थिकनय भी गौण रूपसे पर्यायको विषय करते हैं। अतः उनका विषय भाव-निक्षेप हो सकता है।

ऋजुसूत्र नय स्थापनाके सिवा अन्य तीन निक्षेपोंका विषय करता है। चूँकि स्थापना[7] सादृश्यमूलक अभेद बुद्धिसे होती है और ऋजुसूत्रनय सादृश्यको विषय नहीं करता, अतः इसकी दृष्टिमें स्थापना निक्षेप नहीं बनता। कालान्तरस्थायी व्यञ्जन पर्यायको वर्तमान रूपसे ग्रहण करनेवाले अशुद्ध ऋजुसूत्रनयमें द्रव्य-निक्षेप भी सिद्ध हो जाता है। इसी तरह वाचक शब्दकी प्रतीतिके समय उसके वाच्यभूत अर्थकी उपलब्धि होनेसे ऋजुसूत्रनय नामनिक्षेपका भी स्वामी हो जाता है।

तीनों शब्दनय नाम और भाव इन दो निक्षेपोंको विषय करते हैं। इन शब्दनयोंका विषय लिङ्गादि भेदसे भिन्न वर्तमान पर्याय हैं, अतः इनमें अभेदाश्रयी द्रव्यनिक्षेप नहीं बन सकता।

जिनभद्रगणि[8] ऋजुसूत्रनयको द्रव्यार्थिक मानकर द्रव्यार्थिकनयमें चारों निक्षेप घटा लेते हैं। वे ऋजु-सूत्रनयमें स्थापना निक्षेप सिद्ध करते समय लिखते हैं कि ऋजुसूत्रनय निराकार द्रव्यको भावमें हेतु होनेके कारण जब विषय कर लेता है तब वह साकार स्थापना को विषय क्यों नहीं करेगा? क्योंकि मूर्तिमें स्थापित इन्द्रके आकारसे भी इन्द्रविषयक भाव उत्पन्न होता है। अथवा ऋजुसूत्रनय नामनिक्षेपको स्वीकार करता है यह निर्विवाद है। नाम निक्षेप या तो इन्द्रादि संज्ञारूप होता है या इन्द्रार्थसे शून्य वाच्यार्थ रूप। अतः जब दोनों ही प्रकारके नाम भावके कारण होनेसे ऋजुसूत्रनयके विषय हो सकते हैं तो इन्द्राकार स्थापनाको भी भावमें हेतु होनेके करण ऋजुसूत्रनयका विषय होना चाहिए। 'इन्द्र शब्दका इन्द्र भावके साथ तो केवल वाच्यावाचक-सम्बन्ध ही संभव है जो कि एक दूरवर्ती सम्बन्ध है किन्तु अपने आकारके साथ इन्द्रार्थ-का तो एक प्रकारसे तादात्म्यसम्बन्धसा हो सकता है जो कि वाच्यवाचकसम्बन्धसे अधिक सन्निकट है। अतः नाम को विषय करनेवाला ऋजुसूत्र स्थापनाको भी विषय कर सकता है। विशेषावश्यक भाष्यमें ऋजु-सूत्रनयमें द्रव्यनिक्षेप सिद्ध करनेके लिये अनुयोगद्वारसूत्र (१४) का प्रमाण देकर लिखा है कि–ऋजुसूत्रनय वर्तमानग्राही होनेमें एक अनुपयुक्त देवदत्त आदिको आगमद्रव्यनिक्षेप मानता है। वह उसमें अतीतादि

(१) सन्मति० १।६। (२) सर्वार्थसि० १।६।
(३) सिद्धिवि० १२।३।
(४) प्रकृति अनुयोगद्वार पृ० ८६२। (५) कसायपा० चू० जयध० पृ० २५९-६४।
(६) धवला पु० १ पृ० १४। जयध० पु० १ पृ० २६०। (७) जयध० पृ० २६३।
(८) विशेषा० भा० गा० २८४७–५३।
(९) जैनतर्कभा० पृ० २८।

कालभेद नहीं करता और न उसमें परकी अपेक्षा पृथक्त्व ही मानता है। इस तरह जिनभद्रगणिके मतसे ऋजुसूत्रनयमें चारों ही निक्षेप संभव हैं। ये शब्दादि तीन नयोंमें मात्र भावनिक्षेप ही मानते हैं। और उन्होंने इसका हेतु दिया है इन नयोंका विशुद्ध होना। विशेषावश्यक भाष्य[1] में एक मत यह भी है कि ऋजुसूत्रनय नाम और भाव इन दो निक्षेपोंको ही विषय करता है। एक मत यह भी है कि संग्रह और व्यवहार स्थापना निक्षेपको विषय नहीं करते। इस मतके उत्थापकका कथन है कि—स्थापना चूँकि सांकेतिक है अतः वह नाममें ही अन्तर्भूत है। इसका प्रतिवाद करते हुए उन्होंने लिखा है कि जब नैगमनय स्थापना निक्षेपको स्वीकार करता है और संग्रहिक नैगम संग्रहनयरूप है और असंग्रहिक नैगम व्यवहार नयरूप है तो नैगमके विभक्तरूप संग्रह और व्यवहारमें स्थापना निक्षेप भी विषय हो ही जाता है। इस तरह विवक्षाभेदसे निक्षेपोंमें नय योजनाका उपर्युक्त रूप रहा है।

इस तरह प्रमाण प्रमेय नय और निक्षेपके सम्बन्धमें संक्षेपमें कुछ खास मुद्दोंकी बातोंपर प्रकाश डालकर यह प्रस्तावना समाप्त की जाती है।

संस्कृत महाविद्यालय,
हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी
२६।३।५८

—महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य
एम. ए.

(१) गा० २८७७–५३।

सिद्धिविनिश्चयटीका–प्रथमभागस्य

विषयानुक्रमः

पृ०

१ प्रत्यक्षसिद्धिः

टीकाकर्तुः मङ्गलम् १

मूलग्रन्थकृतः ग्रन्थकरणप्रतिज्ञा १

मङ्गलश्लोकाः १

श्रीवर्धमानपदस्य व्याख्या २–३

सिद्धिः प्रमाणस्य फलम् ४

नयादीनां श्रुतभेदत्वम् ४

सम्बन्धाभिधेयादिकथनम् ५

आदौ अभिधेयादिकथनप्रयोजनम् ५

शास्त्रार्थसंग्रहवाक्यमेतत् ६

सिद्धिः प्रमाणम् ६

प्रमाणस्य स्वरूपम् ६

अचेतनत्वान्न सन्निकर्षादि प्रमाणम् ७

न तैजसं चक्षुः ८

न निर्विकल्पकं प्रमाणम् ९

अविसंवादिनी बुद्धिः प्रमाणम् ११

प्रमाणस्य फलं स्वार्थविनिश्चयः १२

अहम्प्रत्ययस्य नीलाद्यर्थग्राहकत्वम् १३

बहिरर्थसिद्धिः १६

बाध्यबाधकभावसिद्धिः १६–१७

न अलौकिकोऽर्थः आलम्बनम् १७

स्वप्नप्रत्ययवत् न जाग्रत्प्रत्ययस्य निरालम्बनता १८

न स्वप्नजाग्रत्प्रत्ययोः सालम्बनत्वसन्देहः १९

नापि सदसत्त्वविकल्पातीतता १९

प्रमाणादेव प्रमेयव्यवसायः २०

अभ्यासे दर्शनं प्रमाणमनभ्यासे अनुमानमिति प्रज्ञाकरमतस्य समालोचनम् २२

सविकल्पस्य प्रमाणता २३

तत्त्वसिद्धेः निर्णयात्मकत्वम् २३

अनिर्णीतार्थनिर्णीतेरेव अनधिगतार्थाधिगन्तृता २४

व्यवसायात्मनो दृष्टेरेव संस्कारस्मृत्यादिः न निर्विकल्पिकायाः २६

दृष्टेः संस्कारः सजातीये स्मृतिः, इत्यन्यटीकाकृतो व्याख्यानम् २७

पृ०

दृष्टेः न केवलं स्मृतिः अपि तु प्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानादयोऽपि जायन्ते २७

सुखतत्साधनयोः हेतुफलभावप्रतीतिः आत्मना भवति २७

यथा पूर्वोत्तरक्षणाभ्यां मध्यक्षणस्य व्याप्तता प्रतीयते तथैव सुखतत्साधनयोः हेतुफलभावप्रतीतिः २८

निर्विकल्पस्यैव सविकल्पकपरिणतिः २९

प्राप्यानवधारणेऽपि यथा दृश्यस्य ततो विवेकावधारणं तथैव कार्यानवधारणेऽपि कारणतावधारणं भविष्यति २९

यथा वा चित्रज्ञाने नीलाकारः पीततामनवधारयन्नपि बोधरूपतामात्मसात्करोति तथैव कारणतावधारणं भविष्यति २९

दर्शनपाटवाभ्यासप्रकरणादिभ्यो न नीलादावेव संस्कारः, क्षणिकत्वेऽपि तत्प्रसङ्गात् ३०

यदि निर्विकल्पकदृष्टेः संस्कारस्मृत्यादिकं भवति तदा क्षणिकत्वादावपि निश्चयः स्यात् ३१

सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भात् क्षणिकत्वानवधारणमयुक्तम् ; सादृश्यासंभवात् ३२

न वैलक्षण्यानवधारणात्मकं सादृश्यम् ३२

'प्रदीपात् कज्जलवत् निर्विकल्पकादपि दर्शनात् स्मृत्यादिकम्' इति मतस्यालोचना ३३

निरंशादनुभवादिव निरंशादेव अर्थात् कुतो न सदृशस्मृतिः ३४

वासनापेक्षादपि दर्शनान्न स्मृतिः ३५

व्यवसायात्मनः सविकल्पस्यापि वैशद्यम् ३५

'युगपद्वृत्तेः लघुवृत्तेर्वा निर्विकल्पगतस्य वैशद्यस्य सविकल्पे आरोपः' इति मतस्य समालोचनम् ३६

शब्दस्मृतिविकल्पवत् अर्थस्मृतिविकल्पस्यापि न अभिधानापेक्षा यतोऽनवस्थादयः ३६-३७

न शब्दस्मृतौ अभिलापसंसर्गयोग्यत्वात् सविकल्पत्वम् ३८

	पृ०
प्रत्यक्षे स्थिरस्थूलस्वलक्षणस्यैव अवभासः	३८
प्रत्यक्षस्य सविकल्पत्वं वैशद्यं च	३८
बहिरन्तर्वा क्षणिकस्वलक्षणस्य अप्रतिभासनात्	३८
न च क्षणिकैकान्ते स्वसदृसत्समये अर्थक्रियासंभवः	३८
न च तीरादर्शिशकुनिन्यायेन क्रमयौगपद्याभ्यां क्षणिकत्वे अर्थक्रियासंभवः	३८
यत् सत् तत्सर्वमनेकान्तात्मकम्	३९
न च प्रत्यक्षेण निर्विकल्पकप्रत्यक्षसिद्धिः	३९
आत्यन्तरं वस्तु सर्वेषां प्रत्यक्षसिद्धम्	३९
क्रमानेकान्तप्रदर्शनम्	३९
अक्रमानेकान्तनिदर्शनम्	३९
एकः स्थवीयान् आकारः प्रत्यक्षे प्रतिभासते	४०
नच विकल्पात् प्रवृत्तस्य अर्थक्रियायां विसंवादः	४१
न प्रत्यक्षे कल्पनाविरहसिद्धिः	४३
न निर्विकल्पकात् सविकल्पकोत्पत्तिः	४३
नानावयवरूपाद्यात्मनः अवयविनः प्रतिभासनम्	४४
अवयविनश्चलाचलात्मकत्वम्	४५
विभागअविभागनिराकरणम्	४६
नापि संयोगजः संयोगः	४६
उत्पादव्ययध्रौव्यात्मनो द्रव्यस्य प्रतिभासः	४७
चित्ररूपस्य एकस्य प्रतिभासः	४८
शबलैकरूपवत् चलाचलसंयुक्तासंयुक्ताद्यवयविनः प्रतिभासनम्	४८
तथा दृश्यादृश्यात्मकस्यापि अवयविनः प्रसिद्धिः	४८
आवृतानावृतात्मनोऽपि अवयविनः प्रतिभासः	४९
नष्टाऽनष्टात्मकस्यापि अवयविनः प्रसिद्धिः	५०
नास्ति विभागजो विभागः	५१
एकस्या एव क्रियायाः द्रव्यानारम्भक-तदारम्भकसंयोगविरोधिविभागजनकता	५१
अवयवविनाशेऽपि नावयविनो नाशः	५२
न अवयवविनाशे शेषावयवेभ्योऽन्यस्य अवयविनो द्रव्यस्य समुत्पादः	५२
तदेवेदं शरीरमित्यादिप्रतीतेः स्थिरावयविनः प्रतिभासः	५२
संयोगनाशात् अवयविनाशप्रक्रिया असङ्गता	५३
नापि कर्म संयोगविरोधि	५४
स्कन्धादपि स्कन्धोत्पत्तिः	५५
मृत्पिण्डस्य शिवकाकारपरिणामवत् तन्तूनामेव पटपरिणतिः	५५
न च रूपादीनां घटादेर्भेदः	५६
न च निर्गुणद्रव्यात् रूपादिगुणोत्पत्तिः	५६
नापि केवलं गुणादयः एव इन्द्रियैर्गृह्यन्ते न तत्तादात्म्यापन्नं द्रव्यम्	५६
अन्तः चित्राकारस्य चित्तस्येव बहिः शबलद्रव्यस्य प्रतिभासः	५७
न मायामरीचिप्रतिभासवदसत्त्वम्	५७
नापि संवृतिसत्यापेक्षया बहिरर्थोपदेशः	५७
न हि क्षणिकैकान्ते क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रिया	५८
न जाग्रद्विज्ञानं स्वसत्त्वशून्ये काले प्रबोधोत्पादकम्	५९
अनेकान्त एव अर्थक्रिया	६०
निरंशसंवेदने धीः एका न स्यात्	६१
निरंशसंवेदननिरासः	६२
न जातिभेदाः संवृतेः भवन्ति	६३
संशयज्ञानवत् एकस्य वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वम्	६४
लौकिकी शास्त्रीया च भ्रान्तिः	६४
एकस्य ज्ञानस्य विभ्रमेतरस्वभावता निर्विकल्पेरात्मता च अनेकान्तनान्तरीयका	६५
बहिरन्तर्मुखविकल्पेतरविभ्रमेतरप्रमाणेतरत्वादिस्वभावभेदेऽपि संवेदनैक्यवत् हर्षाद्यनेकाकार आत्मा नानारूपाद्यात्मको वा अवयवी स्वीकर्तव्यः	६५
अन्तश्चित्रैकज्ञानवत् एकस्य अवयविनः सिद्धिः	६७
अविभागबुद्ध्यात्मनः अविद्यावशात् मानमेयफलादिरूपेण प्रतिभास इति मतस्य आलोचना	६८
प्रतिभासाद्वैतस्य समालोचनम्	६९
यथा सन्निरसन्निश्च भागैः बुद्ध्यात्मा एकः तथा क्रमवद्भिः पर्यायैः द्रव्यमेकम्	६९
निर्विकल्पकप्रत्यक्षनिरासः	७०
द्विचन्द्रादिभ्रान्तिर्मानसी स्यात् यथा अविभागबुद्धौ कल्पनारचितग्राह्यग्राहकादिभ्रान्तिः	७०
'त्रिविधं कल्पनाज्ञानं प्रत्यक्षाभम्' इति दिग्नागमतस्य खण्डनम्	७२
स्वलक्षण-सामान्यलक्षणयोः लक्षणसमालोचना	७३

	पृ०
विभ्रमैकान्तवादनिरासः	७३
सर्वप्रत्ययानां निरालम्बनत्वप्रत्यालोचनम्	७४
स्वलक्षणमपि परिणामि, अतः अनेकान्तसिद्धिः	७५
सामान्यलक्षणमपि वस्तु, अतो भवत्येव अनेकान्तसिद्धिः	७६
स्वसंवेदनप्रत्यक्षस्य निर्विकल्पकत्वनिरासः	७७
विशदज्ञानस्य प्रत्यक्षता	७८
अविसंवादिज्ञानस्य प्रमाणता	७८
स्वार्थव्यवसाय एव अविसंवादः न तु अबाध्यमानत्वादि	७९
न च घटादीनां स्वसंवेदनात्मकत्वम्	८०
नानुमानात् समारोपव्यवच्छेदकरणम्	८२
स्वत एव अविशदं ज्ञानं न तु विशेषावयवाग्रहणकृतमवैशद्यम्	८३
व्याप्तिज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वनिरासः	८४
इन्द्रियार्थसन्निकर्षजज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वनिरासः	८५
'इन्द्रियवृत्तिः प्रत्यक्षम्' इति सांख्यमतनिराकरणम्	८५
ज्ञातव्यभिचारस्य मिथ्याज्ञानमनुमानात्मकं भवतीति प्रज्ञाकरमतनिरसनम्	८७
संवेदनस्य निरंशत्वनिराकरणम्	८७
पुरुषाद्वैतवादिसमालोचनम्	८८
स्वलक्षणस्यापि शब्दवाच्यत्वम्, अतः नास्ति प्रत्यक्षस्य कल्पनापोढता	९०
'पश्यन्नयमशब्दमर्थं पश्यति' इति मतस्य खण्डनम्	९०
स्वभावनैरात्म्यादिकं ब्रुवन् सौगतः अनात्मज्ञः	९२
न यथादर्शनमेव मानमेयफलस्थितिः किन्तु यथातत्त्वम्	९३
बाह्यार्थदेशनादयः सौत्रान्तिकादिदर्शनभेदश्च व्यवहारत इति मतस्य आलोचना	९४
न शब्दविकल्पातीतं तत्त्वम्	९५
नाप्येकानेकविकल्पशून्यं तत्त्वम्	९५
'सिद्धिः स्वनिश्चयः' इति समर्थनमुखेन स्वसंवेदिनो ज्ञानस्यैव प्रामाण्यव्यवस्थापनम्	९६
प्रमातृप्रमेयाभ्यामर्थान्तरं प्रमाणमिति नैयायिकोक्तेः खण्डनम्	९७
ज्ञानस्य स्वसंवेदित्वसमर्थनम्	९८
ज्ञानस्य परोक्षत्वनिरासः	९८
ज्ञानस्य अनुमानगम्यत्वनिराकरणम्	९९
सांख्याभिमत-अचेतनज्ञानवादस्य प्रत्यालोचनम्	९९
ज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वनिराकरणम्	९९
सौगताभिमतनिर्विकल्पकस्वसंवेदननिरसनम्	१००
न अनुपलब्धेः स्वापादौ चित्तचैतसिकानामभावः	१०१
स्वापादौ ज्ञानाभाववादिनो नैयायिकस्य निराकरणम्	१०२
सर्वं ज्ञानं स्वरूपव्यवसायात्मकम्	१०४
चेतनत्वेऽपि न सौगताभिमतं निर्विकल्पकं प्रमाणम्	१०५
सुखादितत्साधनयोः हेतुफलभावप्रतीतिः प्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानादिभिः	१०६
न निर्विकल्पकदर्शनात् पुरुषप्रवृत्तिः	१०७
न निर्विकल्पकं प्रमाणम् अविसंवादविरहात्	१०८
व्यवसायात्मकस्यैव अविसंवादित्वम्	१०८
न विकल्पजननात् निर्विकल्पस्य प्रामाण्यसंभावना	१०९
न निर्विकल्पकं नीलादावपि अविसंवादि	११०
'विकल्पस्य मानसत्वाद्वैशद्यविरहतया प्रत्यक्षत्वाभावः' इत्यपि न युक्तम्	११२
व्यवसायात्मको विकल्प एव प्रत्यक्षं प्रमाणम्	११२
विकल्पस्य मानसत्वे द्विचन्द्रादिभ्रान्तेरपि मानसत्वप्रसक्तिः	११२
प्रतिसंख्याऽनिरोध्यत्वान्न विकल्पस्य मानसत्वम्	११३
इन्द्रिय-मानसे उपयोगद्वयं समं भवत्येव	११३
अर्थसन्निध्यपेक्षणादपि न विकल्पस्य मानसत्वम्	११३
अर्थग्रहणे अर्थान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं ज्ञानस्य इष्यत एव	११४
नापि विकल्पो भ्रान्तः अवस्तुविषयको वा	११४
सिद्धेः निर्णयात्मकत्वात्	११४
व्यवसायात्मकाद्विज्ञानात् स्मृतिप्रत्यभिज्ञानादिमुखेन प्रवृत्तिक्रमप्रदर्शनम्	११५
मतिः बहुबहुविधक्षिप्रादयनेकार्थविषयिणी	११५
शब्दयोजनामन्तरेणापि मत्यादयो भवन्ति	११५
अभ्यासात् अग्न्यादीनां दाहादिकारणता प्रतीयते	११५

पृ०

मत्यादीनां निरुक्तिः ११७
मत्यादीनां क्रमभावेऽपि कथञ्चित्ता-
दात्म्यम् ११७
मत्यादयः शब्दयोजनामन्तरेणापि भवन्ति ११७
न सारूप्यं प्रमाणम् ११८

इति प्रत्यक्षसिद्धिः प्रथमः प्रस्तावः

---

२ सविकल्पसिद्धिः ११९

प्रत्यक्षस्य सविकल्पकत्वसिद्धिः १२०
मतिस्मृतिप्रत्यभिज्ञानादयः शब्दयोजनात् प्राक्
मतिज्ञानम्, शब्दसंयोजितं च श्रुतम् १२०
एक एवात्मा अवग्रहादिरूपेण परिणमति १२१
न सुखदुःखमोहादीनां सन्तानभेदः १२२
चित्रज्ञानवदभिन्नयोगक्षेमत्वादेकसन्तानत्वम् १२३
अवग्रहेहावायधारणानां लक्षणानि १२३
न ईहा मानसं ज्ञानम् १२३
अवग्रहनिरूपणम् १२४
ईहायाः स्वरूपविचारः १२६
बौद्धाभिमतमानसप्रत्यक्षनिरासः १२८
शान्तभद्रोक्तमानसप्रत्यक्षनिराकरणम् १२९
प्रज्ञाकरोक्तमानसप्रत्यक्षसमालोचनम् १२९
मनोविकल्पा अपि सामग्रीं प्राप्य विशदा
भवन्ति १३२
अवायविचारः १३३
निर्विकल्पेन्द्रियप्रत्यक्षमपि सामान्यविषयकं
भवति १३४
अवग्रहात् न केवलमीहा किन्तु विशेषविषयौ
संशयविपर्ययौ भवतः १३७
न सामान्यविशेषात्मकतत्त्वप्रतीतिः संशयः १३८
यदि निर्विकल्पाद् विकल्पज्ञानं जायते तदा
निराकारज्ञानात् कथन्न जायेत १३९
न निर्विकल्पात् स्मृतिः १४१
यदि निर्विकल्पात् स्मृतिः तदा सन्निकर्षादपि
स्यात् १४२
अतः अवग्रहादिमतिरेव स्मृत्यादिहेतुः १४२
प्रत्यक्षे अनेकान्तात्मकवस्तुन एव प्रतिभासः १४३
अवग्रहादीनां कथञ्चित्तादात्म्यम् १४५
अवायनिरूपणम् १४७
न निर्विकल्पाद् विकल्पोत्पत्तिः १४७

पृ०

अवग्रहादीनां पूर्वपूर्वस्य प्रमाणत्वम् उत्त-
रोत्तरस्य फलरूपता १४९
अनेकान्ते एव प्रमाणफलव्यवस्था १५०
न सौगतमते प्रमाणफलव्यवस्था १५४
न व्यवहारमाश्रित्य प्रमाणलक्षणम् १५५
विज्ञप्तिमात्रेऽपि न प्रमाणादिव्यवस्था १५७
विज्ञप्तिमात्रतानिरासः १५८
यथा बुद्धेर्वितथप्रतिभासनात् अर्थस्याभावो तथा
विज्ञप्तिस्वरूपस्याप्यभावः १५९
अनेकान्तात्मकचिद्रूपवत् प्रत्यक्षपरोक्षैकात्मनो
बहिरर्थस्य सिद्धिः १६१
न नीलादीनां ज्ञानरूपता १६२
न जाग्रत्स्तम्भादि वासनाकार्यत्वात् ज्ञानरूपम् १६३
अनेकान्तरूपश्चिद्रूपः अवग्रहाद्याकारेण
क्रमशः परिणमति १६३
विभ्रमैकान्ते सन्तानान्तरप्रतिपत्तिरपि न
संभाव्या १६४
न स्वप्नदशायां व्याहारादिनिर्भासिज्ञानस्य साक्षा-
त्करीषांप्रभवत्वनियमः १६५
वैशेषिकाभिमतसविकल्पकनिरासः १६८
न द्रव्यादिषु अनुवृत्तिज्ञानं भिन्नसामान्य-
निबन्धनम् १६९
समवायनिराकरणम् १७१
गुणपर्यायात्मकं द्रव्यमेव प्रत्यक्षम् १७३
न विभिन्नसामान्यसमवायौ द्रव्यादिषु अनुगत-
ज्ञानहेतू १७३

इति सविकल्पसिद्धिः द्वितीयः प्रस्तावः

---

३ प्रमाणान्तरसिद्धिः

स्मृतिः अविसंवादिनी १७४
गृहीतग्राहित्वेऽपि प्रयोजनविशेष-सद्भावात्
स्मृतेरविसंवादित्वम् १७५
न प्रत्यक्षे अर्थाकारानुकरणात् प्रामाण्यमपि तु
अविसंवादात् १७६
गृहीतग्राहित्वात् स्मृतेरप्रामाण्ये अनुमानस्या-
प्यप्रामाण्यप्रसङ्गः १७६
सामान्यविषया व्याप्तिः विशिष्टानुमितिः
इति अर्चटमतस्य आलोचना १७८
मीमांसकस्य स्मृतिः सप्तमं प्रमाणं स्यात् १७८

पृ०

सौगतस्य उपमानं प्रमाणान्तरमिति प्रदर्शनम् १७९
उपमानस्य पृथक् प्रामाण्ये 'एकविषाणी खड्गः' इत्यादेरपि पृथक्प्रामाण्यप्रसङ्गः १७९
संख्यादिप्रतिपत्तिश्च पृथक् प्रमाणान्तरं स्यात् १८०
नामादियोजनाज्ञानमपि पृथक् प्रमाणं स्यात् १८०
अतः सर्वेषामुपमानप्रभृतीनां प्रत्यभिज्ञानेऽन्तर्भावः १८०
अर्थापत्तिनिरूपणम् १८२
अभावस्य पृथक् प्रामाण्यनिरासः १८३
अर्थापत्तेरनुमानान्तर्भावः १८४
उपमानादीनां यथासंभवं प्रत्यभिज्ञानेऽन्तर्भावः १८४
व्याप्तिग्राही तर्कः प्र माणम् १८७
व्याप्तिग्रहणे न प्रत्यक्षानुमानयोः सामर्थ्यम् १८७
न व्याप्तिज्ञानं योगिज्ञानम् १८९
अतो न सौगतमते सत्त्वस्य क्षणिकत्वेन व्याप्तिप्रतिपत्तिः १९०
क्षणिके नार्थक्रिया १९२
अक्षणिकेऽपि अर्थक्रिया संभवति १९३
यथैकं प्रदीपादि स्वभावभेदभिन्नं तैलदाहादिकार्यं करोति तथा नित्यं कालभेदभिन्नं कुर्यात् १९४
निरुध्यमानं कारणं निरुद्धमिति शान्तभद्रमतस्य निरासः १९७
न क्षणिकेतरैकान्तौ परस्परमतिशयाते १९८
योगाचारमतेऽपि नार्थक्रियासंभवना २००
उत्पादादित्रयात्मकं वस्तु २०२
न विनाशस्य निर्हेतुकत्वम् २०२
विनाशहेतोरकिञ्चित्करत्वे उत्पादहेतोरपि अकिञ्चित्करत्वं स्यात् २०३
प्रागभावविचारः २०४
जीवच्छरीरे प्राणादिवत् सत्त्वादिरपि निरन्वयात्त हेतुः २०६
उत्पादस्थिती प्रत्यपि अनपेक्षणात् तयोः निर्हेतुकत्वप्रसङ्गः २०८
अतः पदार्थाः स्वभावत एव उत्पादादित्रयात्मकाः २०८
अनादिनिधनं द्रव्यं क्रमात् हेतुफलरूपेण परिणमति २१०

पृ०

न ब्रह्मवादिनः स्वतः परिणतिः २११
द्रव्यात् गुणपर्यायाः कथञ्चिद् भिन्नाभिन्नाः २१२
न गुणाः पर्याया वा द्रव्याद् भिन्नाः २१३
चित्क्षणवत् बाह्याणोरपि न वृत्तिविकल्पादिना दूषणम् २१४
परमाणवः एव स्कन्धाकारेण परिणमन्ति २१५
परमाणूनां सिद्धिः २१६
उपमानस्य प्रत्यभिज्ञानेऽन्तर्भावोपसंहारः २१७
अभावांशस्यापि भावांशवत् प्रत्यक्षता २१८
अर्थापत्तिरनुमानेऽन्तर्भूता २१९

इति प्रमाणान्तरसिद्धिः तृतीय प्रस्तावः

---

४ जीवसिद्धिः

प्रत्यभिज्ञानेन जीवसिद्धिप्रतिज्ञा २२५
'तत्' 'इदम्' इति स्मरणप्रत्यक्षव्यतिरेकेण अस्ति प्रत्यभिज्ञानं पृथक् प्रमाणम् २२६
चित्रज्ञानवत् अस्त्येकं प्रत्यभिज्ञानम् २२६
तर्कः प्रत्यभिज्ञानस्य फलम् २२७
चक्षुःसन्निकर्षविचारः २२८
न चक्षुषो रश्मिविनिर्गमः २२८
न तैजसं चक्षुः अत्यासन्नाप्रकाशकत्वात्, शाखाचन्द्रमसोर्युगपद्ग्रहणात् न प्राप्यकारि चक्षुः २३०
आवरणोदयात् मिथ्याज्ञानम् २३१
नास्ति आवरणं तदाधारस्य आत्मनोऽभावात् इति सौत्रान्तिकः २३१
नित्यस्यात्मनो नास्ति आवरणमिति वैशेषिकः २३२
स्वभावतः एव विपरीतार्थग्राही नावरणात् इति विभ्रमैकान्तवादी २३२
न अनुमानं मिथ्या २३३
दोषहेतोः मूर्तेन आवरणेन अमूर्तस्यात्मनः सम्बन्धः २३५
आवरणेन आत्मस्वरूपखण्डनं स्वीक्रियत एव २३५
स्वयमेव चेतन आत्मा २३६
ज्ञाता आत्मा आवरणाभावे अशेषमर्थं जानाति २३७
'षड्भिः प्रमाणैः अशेषार्थं विजानाति' इति मीमांसकस्य पूर्वपक्षः २३८
जैनानाम् आवरणक्षयक्षयोपशमानुसारं स्वप्रकाशज्ञानोद्भूतिः २३८

	पृ०
क्षणिकैकान्ते कार्यकारणभावः वास्यवासकभावः सन्ततिर्वा न संभवन्ति	२१६
न ज्ञानान्तरेण पूर्वापरभावमात्रात् एकसन्तानत्वनियमः	२४०
न चित्तानां वास्यवासकभावः	२४१
अन्वयिन आत्मनः प्रतिभासनम्	२४३
परिणामिनी बुद्धिः	२४४
स्वसंवेदनाध्यक्षसिद्ध आत्मा	२४५
न प्रतिक्षणविनाशी आत्मा	२४३
निर्हेतुकविनाशदूषणम्	२४६
विनाशविनाशेऽपि न भावस्य प्रादुर्भावः	२४७
न प्रागभावविनाशः घटोपलब्धिप्रतिबन्धकः	२४८
न भावाच्चिन्नोऽभिन्नो वा विनाशः	२४९
भावस्वभाव एव विनाशः	२५०
विनाशवदुत्पादस्यापि निर्हेतुकत्वप्रसङ्गः	२५०
गुणपर्यायस्वभावं द्रव्यम्	२५३
मूर्तामूर्तयोरपि चेतन-कर्मणोः सम्बन्धः	२५४
बन्धं प्रत्येकत्वेऽपि लक्षणतो नानात्वम्	२५४
शुभाशुभैः मनोवाक्कायकर्मभिः शुभाशुभबन्धो जीवस्य	२५५
चिरमृतानां पित्रादीनां न पुत्रादिकर्मभिः बन्धः	२५७
न हिंसाद्यनुष्ठानं धर्मसाधनम्	२५८
नापि मन्त्रसहितं हिंसाद्यनुष्ठानं धर्मसाधनम्	२५८
मीमांसकसौगतसांख्यादीनां धर्मविषयकमभिमतम्	२६०
पुण्यपापबन्ध आत्मन एव	२६१
न प्रतिभासाद्वैतं तत्त्वम्	२६१
न बुद्धिः स्वयं प्रकाशते	२६२
नीलादीनामपि बुद्ध्या प्रतिभासः	२६३
न निरालम्बनाः सर्वे प्रत्ययाः	२६४
स्वप्नप्रत्ययवत् न जाग्रद्दृष्टस्तम्भादिकं मिथ्या	२६४
बहिरर्थवत् कार्यकारणभावोऽपि पारमार्थिकः	२६६
पुण्यपापबन्धो जीवानां रागादिभिर्ध्यात्वादिविकारेभ्यः	२६७
क्रोधादिकषायेभ्यो हीनस्थानगतिषु जन्म	२६७
मूषिकालर्कविषविकारवत् यथाबन्धं सुखदुःखादिफलविकल्पः	२६७
कर्मफलप्रकारः	२६८
कालादिलब्धीभेदात् कर्मणां फलभेदः	२६९
मिथ्यात्वमकृतिक्षयोपशमात् मिथ्यादर्शनम्	२७०
ज्ञानावरणप्रकृत्युदयात् सत्यज्ञानादि	२७०
तत्त्वार्थाश्रद्धानं मिथ्यादर्शनम्	२७०
नास्तिक्यं द्वेधा—प्रज्ञासत् प्रज्ञप्तिसच्च	२७१
प्रतिभासाद्वैतनिरासः	२७३
शून्यवादखण्डनम्	२७६
तत्त्वोपप्लववादनिराकरणम्	२७७
भूतचैतन्यवादसमीक्षा	२८१
नापि भूतपरिणामः चैतन्यम्	२८२
एकमेव पुद्गलद्रव्यं पृथिव्यादिव्यपदेशभाक्	२८५
दृष्टचित्तस्य पूर्वभवान्त्यचित्तेन सहोपादानोपादेयभावः	२८६
पूर्वजन्मसिद्धिः	२८८
न जलबुद्बुदवत् जीवाः	२९१
नापि मदशक्तिवत् विज्ञानम्	२९१
नापि नैयायिकाभिमतो नित्यैकरूप आत्मा	२९३
न अविकारिण्यात्मनि प्रयत्नादिगुणसमवायात् कर्तृत्वादिः	२९३
सांख्याभिमतस्य आत्मनोऽकर्तृत्वस्य अविकारित्वस्य भोक्तृत्वस्य च निरासः	२९४
न प्रधानविकाराः सुखदुःखमोहादयः	२९५
न अन्त्यक्षणवत् अकर्तृत्वेऽपि आत्मनो वस्तुत्वम्	२९६
न कूटस्थनित्ये क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रिया	२९७
न अर्थक्रियासामर्थ्यात् वस्तुत्वम्	२९८
सांख्याभिमतप्रधानस्य स्वरूपनिरासः	३००
सांख्याभिमततत्त्वसमीक्षा	३०१
ज्ञानादयः चेतनस्यैव वृत्तयः	३०३
न अपरिणामिनी चिच्छक्तिः	३०४
न ज्ञानादिकमचेतनस्य प्रधानस्य वृत्तिः	३०४
अमूर्तोऽपि जीवः मूर्तैः कर्मभिर्बध्यते	३०७
बन्धकारणं रागादयो दोषाः	३०७
जातिर्न व्यक्तिभ्यो भिन्ना	३०८
न गुणाः कर्माणि वा द्रव्येभ्यो भिन्नानि	३०९

इति जीवसिद्धिः चतुर्थ प्रस्तावः

---

५ जल्पसिद्धिः

वादन्यायप्रस्तावः	३१०
जल्पस्य लक्षणम्	३११
जल्पस्य चतुरङ्गत्वम्	३१२

	पृ०
जल्पस्य फलं मार्गप्रभावना	३१३
न तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणं जल्पस्य फलम्	३१४
छललक्षणम्	३१५
छलादीनामसदुत्तरत्वम्	३१६
त्रिविधं छलम्	३१७
जातिलक्षणम्	३१८
न वक्त्रभिप्रायसूचकाः शब्दाः	३२०
शब्दविकल्पयोः वस्तुविषयत्वम्	३२१
सम्यक्वाक्यविकल्पाः तत्त्वगोचराः	३२२
विवक्षाप्रभवाद्वाक्यात् कथं तत्त्वव्यवस्थितिः	३२४
बुद्धिवत् शब्दा अपि परमार्थविषयाः	३२७
यतस्तत्त्वप्रतिपत्तिः स शब्दः परमार्थः	३३०
न तत्त्वप्रत्यायनाद् वादी प्रतिवादिनं जयति	३३१
न प्रतिवाद्यपि भूतदोषमुद्भाव्य जयति	३३१
असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं वा न निग्रहस्थानम्	३३४
जयपराजयव्यवस्था	३३७
असाधनाङ्गवचनं न निग्रहस्थानम्	३३८
उपनयवचनं प्रतिज्ञया समानम्	३३८
न सामर्थ्यापरिज्ञानं दोषः	३३९
सत्यहेतोरनन्तरम् उत्पत्तिमत्त्वस्य कृतकत्वस्य वा वचनं दोषः स्यात्	३३९
यद्यधिकवचनं निग्रहाय तदा यत्तदिति सर्वनामकथनं त्वप्रत्ययप्रयुक्तवाक्यकथनं वा निग्रहाय स्यात्	३४४
शब्दत्वादिः दृष्टान्तशून्यत्वाच्च निग्रहाय	३४५
अन्तर्व्याप्त्या विना न सकलव्याप्तिः श्रेयसी	३४७
न आधिक्यदोषोद्भावनमात्रात् परमार्थवादिनः पराजयः	३४९
यदि हेतुमुक्त्वा समर्थनं क्रियते तदा पक्षप्रयोगः स्वीकर्त्तव्यः	३५२
न प्रतिज्ञादिवचनात् समीचीनसाधनवादी निग्रहार्हः	३५५
पूर्ववच्छेषवदादिअनुमानप्रकाराः	३५७
अन्यथानुपपन्नत्वमेकं प्रधानं लक्षणम्	३५९
पूर्ववत् कारणवत् इत्याद्यालोचनम्	३६०
तर्केण हेतोरन्यथानुपपन्नत्वं निश्चीयते	३६१
शब्दविकल्पयोः तत्त्वविषयत्वम्	३६२
प्रत्यक्षेतरयोः अर्थविषयत्वे समानेऽपि प्रतिभासभेदः	३६७
जल्पप्रयोजनम्	३६९

इति जल्पसिद्धिः पञ्चमः

शुद्धि-वृद्धिपत्रम्

हिन्दी प्रस्तावना

पृ०	प०	अशुद्धम्	शुद्धम्
१४	३१	७५१	७५३
१५	१६	ई० १९	ई० ६१९
१६	२६	(ई० ९६०-११६५)	(ई० ९८०-१०६५)
२०	३३	विजयेन्द्र	राजेन्द्र
२१	३०	विशामल	विशालामल
२१	३५	नयचक्र०	नयचक्र० लि० पृ०३७१ क०, ३७९ ख०
७९	८	१०१८	१११८
८५	३	—न्वयति-	—न्वयन्यति-
		मूल ग्रन्थ	
१९	५	प्रवृत्यर्थं	प्रवृत्यर्थं
२१	२	प्रपाद-	प्रमाद-
२१	१०	१।५	१।४
२३	२०	१।४	१।७
२५	९	अनिर्णीति-	अनिर्णीतार्थनिर्णीति-
२७	१८	१।२८	१।२७
३१	८	चिन्त्ययि-	चिन्तयि-
३८	३२	न्यायवि०	न्यायवि०
४४	८	२।२२५	२।१२५
४७	८	३।२१	३।१९
६६	२	न्यायवि० ३।१	न्यायवि० टी० २।२
९२	१४	स्वयमवु-	स्वयमवबु-
९८	२७	शावर-	शाबर-
१०५	२	परहृतं	परिहृतं
१११	१९	व्यवसाययितुं	व्यवसाययितुं
११५	२२	विनिश्चत्य	विनिश्चित्य
११९	११	-दृष्टे-	-दृष्टे-
१४३	२०	वर्णं	वर्ण-
१५८	२४	-शार्थं	-शार्थं
१६०	६	वल्ब्या-	वल्ब्या-
१९७	८	,,	,,
२०४	१९	,,	,,
२७६	७	,,	,,

पृ०	प०	अशुद्धम्	शुद्धम्
२९४	२०	बन्ध्या-	बन्ध्या-
३०८	१४	,,	,,
४१२	४	,,	,,
१९४	४	सटित्वा	सटित्वा (शीर्त्वा)
१९५	२२	विशेषोप-	विशेषोप-
२२३	४	पुष्णा-	पुष्णा-
,,	१७	-ष्यामा-	-ष्यमा-
२४४	२६	सीत्वा	सत्वा
२४५	२०, २४	,,	,,
२५०	२	वंचकाः	वन्चकाः
२५५	१२	[न्याम० पृ० ७४]	[ ]
२६०	१४	छग-	छाग-
२६८	१७	-देशेसम-	-देशेऽसम-
२७२	८	-ति न च	-ति अन्यथा अनवस्था- प्रसङ्गात् नच
२७८	१४	वावेदनं	वा [सं] वेदनं
२८०	२७	कार्यकारण-	कार्यकरण-
,,	१९	ष्यव-	ष्यव-
३१०	२	५ वादसिद्धिः	५ जल्पसिद्धिः
३१२	३	श्लो० १७	श्लो० २१
३१५	३२	न्यायकालि०	न्यायकलि०
३१८	२३	१।१।३५	१।१।३४
३२४	५	–प्रभावं	–प्रभवं
३६३	९	–गीयते	–मीयते
३६४	१५	(हेत्)	(हेत)
३७१	२८	–त्वं..." सन्मति टी० पृ० ५६०	–त्वं..."–तत्त्व सं० प० पृ० ४०५-६ । "तदुक्तं जैनैः" –सन्मति० टी० पृ० ५६९
४०९	१०	–वर्तमा–	–वर्तमा–
४११	२०	[३५]	[३७]
५५५	२२	तदीप	तदपि
५६९	२२	सावयवत्वम्	सावयवत्वम्
५७४	२०	ग्राह्यतहे[तु]	ग्राह्यहेत (तु)-
६१४	१८	-ष्यवयवरूप-	-ष्यवयविरूप-
६३२	१९	निर्रंकुश-	निरङ्कुश-
६३१	३०	–निबध्य–	–निबन्ध–
६३९	१५	–वच्छेन	–वच्छेदेन
६५४	८	[४।१]	[७।१]
६६३	२४	नरयैधि–	–नयैरधि–

पृ०	प०
६६३	२०
६८६	७
६८७	९
६९१	५
६९८	२६
७०३	६
७७७	१३
७८०	१३
,,	२०
,,	३६
७८६	१८
७८७	१७
८०८	२७

शुद्धिपत्रम्

अशुद्धम्	अशुद्धम्
[म्त] वे-	[न्त] रभे-
-तत्व-	-तत्व(-
-सत्व-	-तत्व-
नयास्ति-	नयाः स्ति-
-न्तर्विद्वितेत	-न्तर्विद्विवर्तेत
(अभि)	(आभि)
१६२-१६	१६३।२६
द्वेएव	द्वे एव [प्र० समु० पृ० १।२]
प्रमाण्यं	प्रामाण्यं
जैनेतु	जैनेन्द्र
४०७।२५	४०७।२५
१८१।१६	१८३।१६
सीरज	सीरीज

सिद्धिविनिश्चयटीकायाः

प्रथमो भागः

"श्रीमद्भट्टाकलङ्कस्य पातु पुण्या सरस्वती ।
अनेकान्तमरुन्मार्गे चन्द्रलेखायितं यया ॥"

—शुभचन्द्रः

श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवविरचित-सिद्धिविनिश्चयस्य

रविभद्रपादोपजीवि-अनन्तवीर्याचार्यविनिर्मिता

सि द्धि वि नि श्च य टी का

आलोकाख्यटिप्पणसहिता

[१ प्रत्यक्षसिद्धिः]

॥ ॐ नमोऽर्हते ॥

अ क ल ङ्कं जिनं भक्त्या गुरुं देवीं सर[स्व]तीम् ।
नत्वा टीकां प्रवक्ष्यामि शुद्धां सि द्धि वि नि श्च ये ॥१॥
अ क ल ङ्क वचः काले कलौ न कलयापि यत् ।
नृपु लभ्यं क्वचिल्लब्ध्वा तत्रैवास्तु मतिर्मम ॥२॥
दे व स्याऽ नं न्त वी र्यो ऽपि पदं व्यक्तं तु सर्वतः । ५
न जानीते ऽक ल ङ्क स्य चित्रमेतत् परं भुवि ॥३॥
अ क ल ङ्क वचोऽम्भोधेः सूक्तरत्नानि यद्यपि ।
गृह्यन्ते बहुभिः सैर(स्वैरं) सद्रत्नाकर एव सः ॥४॥
सर्वधर्म[स्य]नैरात्म्यं कथयन्नपि सर्वथा ।
धै र्मे की र्तिः पदं गच्छेदाकल[ङ्कं] कथं ननु ॥५॥ १०

शास्त्रस्यादौ तदविघ्नप्रसिद्धिप्रथनादिकं फलमभिसमीक्ष्य **'सर्वज्ञम्'** इत्यादि मङ्गलमाह[१]—

[सर्वज्ञं सर्वतत्त्वार्थस्याद्वादन्यायदेशिनम् ।
श्रीवर्धमानमभ्यर्च्य वक्ष्ये सि द्धि वि नि श्च य म् ॥१॥]

अस्यायमर्थः—**सर्वज्ञम्** सर्ववेदिनम्, **अभ्यर्च्य** अर्चित्वा । नन्वेवं 'प्रतिभासाद्वैतादन्यस्याभावात्[२] तदेव सर्वम्, तज्जानातीति सर्वज्ञः स्वरूपज्ञः, तमभ्यर्च्य इति प्राप्तम्' इति चेत्; १५
अत्राह—**'श्रीवर्धमानम्'** इति । **श्रीः** अशेषतत्त्वार्थज्ञानादिसम्पद् इह गृह्यते, सा पूर्वापूर्वपर्याय-(पूर्वपर्याय)परित्यागाऽजहद्वृत्त्युत्तरपर्यायोपादानेन **वर्धमाना** उपरमविरहेण प्रवर्त्तमाना यस्य स

अकलङ्कं नमस्कृत्य तुलनार्थावबोधकम् ।
आलोकाख्यमहं वक्ष्ये महेन्द्रटिप्पणं सुधीः ॥१॥

(१) लेशेन । (२) अनन्तशक्तियुक्तोऽपि, पक्षे ग्रन्थकारः । (३) वाक्यम् । (४) स्पष्टम् । (५) बौद्धाचार्यः । (६) अकलङ्कदेवः । (७) प्रतिभासाद्वैतवादी प्रज्ञाकरः प्राह । (८) प्रतिभासाद्वैतमेव । "परमार्थतः तदद्वैतावबोधादेव प्रमाणं भगवानपि न सर्वार्थपरिज्ञानतः । सर्वार्थपरिज्ञानं तु लोकव्यवहारेण सांवृतमेव । तथा चोक्तम्— अद्वयं ज्ञानमुत्तमम् ।" —प्र० वार्तिकाल० २।७ । (९) तुलना— "पूर्वाकारपरित्यागाऽजहद्वृत्तोत्तराकारान्वयप्रत्ययविषयस्योपादानत्वप्रतीतेः ।" —अष्टस० पृ० ६५ । "परापरस्वभावपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणोऽर्थः"—प्रमाणसं० पृ० १२३ ।

तथोक्तस्तम् इति । कामचारेण विशेषणविशेष्यभाव इति श्रीशब्दस्य विशेषणाभिधायित्वम् [1]अन्यस्य विशेषा(ष्या)भिधायित्वम्, वर्धमानाक्षरनि(मि)त्यादिवत्, इतरथा वर्धमानशब्दस्य पूर्वनिपातः श्रीशब्दस्य परनिपातः स्यात् । एवं वा सविशेषणस्य पूर्वनिपातात् । नन्वेवंविशेषणेऽपि न यथोक्तदोषनिवृत्तिः । नहि स्वपक्षविशेषणमात्रात् परपक्षो निवर्तते अतिप्रङ्गात् अपि तु न्यायात्, ततः
५ [१ख] स एव उच्यतामिति चेत्; अत्राह–'**सर्वतत्त्वार्थस्याद्वादन्यायदेशिनम्**' इति । **सर्वे तत्त्वार्थाः** जीवादयः तेषां **स्याद्वादः** अनेकान्तः, [2]विषयिशब्दस्य विषये[3] उपचारात्, तस्य **न्यायो** ग्राहकं प्रत्यक्षादिप्रमाणम्, तद्दिस(श)ति कथयति इत्येवं शीलं **तद्देशिनम्** इति । एतदुक्तं भवति–तदुपदेशे [4]मांसचक्षुषः के अन्ये इति भगवानेच(व)तदुपदेष्टा जातः, तदुपदेशाच्च केवलं वयं व्याधूताज्ञानतमः स(तमसः) स्वं परं च तद्वर्त्मनि वर्तयितुं समर्थाः । तथाहि–
१० दृश्यप्राप्ययोरिव विचारा[त्] [5]दृश्यमात्रेऽपि विज्ञप्तिरूपे मैत्योद्व(द्)धिस्तम्भादिभागानां नैकत्वमित्यतमः(त्यन्त्याः) परमाणव एवा वशिष्यन्ते, तत्र चैकपरमाणुवेदनेन [6]अन्येषामनुपलम्भेन सन्तानान्तरवदसत्त्वात् [7]तस्य च स्वात्मनेति[8] कस्य क्षणिकत्वदर्शनम् ? येनोच्यते–*"**यद्यथावभासते**" [9]इत्यादि ? *"**यदवभासते तज्ज्ञानम्**" [10]इत्यादि च । कस्य वा प्रतिभासाद्वैतता येनेदमप्युच्यते–*"**यद्यद्वैतेन तोषोऽस्ति मुक्त एवाऽसि सर्वथा।**"[प्र०वार्तिकाल० २।३७]
१५ [11]इत्यादि ?

यदि पुनः एकानेकविकल्पशून्यं तदिष्यते[12]; तर्हि प्रतिभासाऽसून्य (भासोऽशून्य)मेवेष्य-

---

(१) वर्धमानशब्दस्य । (२) विषयी स्याद्वादो वाचकत्वात् विषयश्च अनेकान्तः तद्वाच्यत्वात् । (३) अनेकान्ते । (४) चर्मलोचनाः । (५) निर्विकल्पकदर्शनविषयभूते । (६) बुद्ध्या । उदधिश्च स्तम्भादयश्च तेषां भागानाम् । तुलना–"अथ नानात्वे बुद्धीनां प्रतिपरमाणु तावत्यो बुद्धय इति परमाणुग्रहणप्रसङ्गोऽनेकप्रतिपत्त्यप्रसङ्गश्च परस्परमप्रतिपत्तेरभावात् (?) च खलु स्वसंविदितानां नानात्वप्रतिपत्तिः सन्तानान्तरस्यापि प्रतिभासप्रसङ्गात्·····" –प्र० वार्तिकाल० ३।११ । "नन्वेवं नीलवेदनस्यापि प्रतिपरमाणु भेदात् नीलाणुसंवेदनैः परस्परं भिन्नैः भवितव्यं···" –अष्टस० पृ० ७७ । "तथाहि नीले प्रवृत्तं ज्ञानं पीतादौ न प्रवर्तते इति पीतादेः सन्तानान्तरवदभावः । पीतादौ च प्रवृत्तं तन्नीले न प्रवर्तते इत्यस्याप्यभावस्तद्वत् । नीलकुवलयसूक्ष्मांशे च प्रवृत्तिमज्ज्ञानं नेतरांशनिरीक्षणे क्षममिति तंदशानामप्यभावः संविदितांशस्य चावशिष्टस्य स्वयमनंशस्याप्रतिभासनात् सर्वाभावः ।"–प्रमेयक० पृ० ९७ । (७) परमाणूनाम् । (८) एकपरमाणोः । (८) निरंशस्य प्रतिभासाभावात् स्वयमभावः । (१०) "यद् यथा भासते ज्ञानं तत्तथैवानुभूयते ।"–प्र० वा० ३।२२२ । तुलना–"तथा यद् यथावभासते तत् तथैव सत् इत्यभ्युपगन्तव्यं यथा नीलकुवलयं नीलतयावभासमानं तेनैव रूपेण सत्, क्षणपरिगतेनैव रूपेण अवभासन्ते च सर्वे भावाः इत्यनुमानतोऽपि ।" (पूर्वपक्षे)–न्यायकुमु० पृ० ३७८ । (११) तुलना–"तथाहि–यदवभासते तज्ज्ञानमेव यथा सुखादि, अवभासन्ते च भावा इति ।" (पूर्वपक्षे)–न्यायकुमु० पृ० ११७ । प्रमेयक०पृ० ८३। युक्त्यनु० टी०पृ० ४५ (१२) "न परलोको नेहलोको न परलोकाधनं (–साधनं–पाठान्तरम्) न सन्देहो न महाभूतपरिणतिरित्यादि विज्ञप्तिमात्रकमेव । अथापि व्यवहारादेतत्; एवं परलोकोऽपीति । यद्यद्वैतेन तोषोऽस्ति मुक्त एवासि सर्वथा । वर्तते व्यवहारश्चेत् परलोकोऽपि चिन्त्यताम् ॥३९८॥"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ५७ । (१३) "भावा येन निरूप्यन्ते तद्रूपं नास्ति तत्त्वतः । यस्मादेकमनेकञ्च रूपं तेषां न विद्यते ॥"–प्र० वा० ३।४६० । "यदेकानेकस्वभावं न भवति न तत्परमार्थसत् यथा व्योमकमलम् एकानेकस्वभावं च न भवति विज्ञानम् ।"–तर्कभा० मो० पृ० ३८ ।

ताम्। नहि परमाण्वाकारैस्तच्छून्यं चित्राद्वैतमाभाति अतीताऽनागतपर्यायैरेकात्मवत्। ग्राहकाभाव उभयत्राद्य (त्र। अथ) नीलाद्याकारैस्तदिष्यते[1]; तर्हि मेचकमणिदर्शनसमये नीलाद्याकाराणां परस्परमदर्शने सन्तानान्तराणामिव अभावः। दर्शने ऐक्यम्। निराकारवादोऽन्यथा भवेत्। [२क] तेषां[2] तथा[s]दर्शनेऽपि सत्त्वे न परलोकादिनिषेधैकान्त इति कथमुक्तं(कथमुक्तं)—

*"तेन[3] स्वरूपवदन्यददृष्टमिति तदेव सर्वमिति तज्ज्ञानम् सर्वज्ञः" इति। ५

स्यान्मतम्—न्यायोन्यं (नान्योऽन्यं) तदाकाराणां दर्शनं नाप्यदर्शनमिति; तदपि न सूक्तं (क्तं) स्वरूपेऽपि तथा प्रसङ्गात्। तस्य दर्शनान्नेति चेत्; अन्यविविक्तदर्शने उक्तो दोषः। अथ तेन[4] अन्यस्य अदर्शनम्; कथं तद् अन्यविविक्ततामात्मनोऽवैति? कथं प्रकृतिपुरुषादीनामदर्शने नीलादेस्तद्विविक्तताप्रतीतिः, कथं वा सुखादेः आत्मशून्यताविप्तिः, यतो नैरात्म्यदर्शनम्? [6]तेषां दर्शने सुस्थितमद्वैतम्! अदर्शनादेव [7]तदभाव इति चेत्; किमिदं तददर्शनम्? दर्शननिवृत्तिरिति[8]; कथमप्रतीता सा[9] अस्ति प्रकृत्यादिवत्? नीलादिदर्शनं तददर्शनमिति चेत्; कथमन्यदर्शनम् अन्यादर्शनं विरोधात्? अन्यविविक्तरूपत्वान्चेत्; प्रकृत्यादीनामदर्शने केयं [12]तद्विविक्तताऽस्य[13]? अन्यथा वी(पी)तादीनामदर्शनेऽपि नीलस्य [14]तद्विविक्तताप्रतीतिरिति कथन्न प्रकृतो दोषः? ननु च अनीलव्यावृत्तिर्नीलम्, अनीलाभावे कथं तद्व्यावृत्तिः, एवं पीतादौ वक्तव्यमिति चेत्? तर्हि अस्वसंवेदनव्यावृत्तिः स्वसंवेदनं तस्याऽस्वसंवेदनस्याभावे [15]तदपि माभूत्। स्वरूपमेतदिति चेत्; नीलादिकमपि तथैवास्तु। तन्न नीलाद्याकारैस्तच्चित्रमिति। भवतु वा, तथापि मेचके नीलादीनामिव नीलमात्रेऽपि तद्विभागः(ग)चिन्तायां तदवस्थो [16]दोषः। ननु[17] यत एव चित्रैकज्ञानवन्नीलमात्रमपि न घटते [२ख] तत एव तदपि[18] परमार्थतो माभूत् मरीचिकातोयवत् *"मायामरीचिप्रतिभासवदसत्त्वेऽप्यदोषः" [प्र० वार्तिकाल० ३।२११] इति वचनादिति चेत्; आस्तां तावदेतत्। अथ नीलमात्रं स्वभागैरेकमिष्यते; तथा मेचकमपि नीलादिभिरेकमिष्यताम्। इष्यत एव *"चित्रप्रतिभासाप्येकैव बुद्धिर्ग्राह्यचित्रविलक्षणत्वात्" [प्र० वार्तिकाल० ३।२२०] इत्यादि[19] वचनादिति चेत्; तथा सति न केवलं दृश्यप्राप्ययोः अपि तु [20]संसारेतरावस्थयोरविच्छेदेन कथञ्चित्तादात्म्यं सिद्धमिति साधूक्तम्—**'श्रीवर्धमानम्'** इति। एवमन्येऽप्येकान्ताः प्रहन्तव्याः। निरूपयिष्यते चैतत् यथास्थानम्।

इदमपरं व्याख्यानम्—**श्रियो**पलक्षितं **वर्धमानं** पश्चिमतीर्थकरम् **अभ्यर्च्य**। कथम्भूतम्? **सर्वज्ञम्** साक्षात्कृताशेषपदार्थकं(र्थम)। [21]ननु स एव कुतः सिद्धः *"[22]स तु

(१) तच्छून्यमिष्यते। (२) नीलाद्याकाराणाम्। ३ व्यवहारेण। ४ परलोकादयपि। (५) स्वरूपस्य। (६) स्वरूपेण। (७) सांख्याभिमत। (८) अन्येषां प्रकृतिपुरुषादीनाम्। (९) तेषां प्रकृतिपुरुषादीनामभावः। (१०) चेत्;। (११) दर्शननिवृत्तिः। (१२) प्रकृत्यादिविविक्तता। (१३) नीलादेः। (१४) पीतादिविविक्तता। (१५) स्वसंवेदनमपि। (१६) अभावप्रसङ्गः। (१७) प्रज्ञाकरगुप्तः प्राह। (१८) नीलमात्रमपि। (१९) "शक्यविवेचनं चित्रमनेकमशक्यविवेचनाश्च बुद्धेर्नीलादयः···"—प्र० वार्तिकाल०। (२०) संसारमुक्तावस्थाव्यापी एक आत्मा सिद्ध इत्यर्थः। (२१) मीमांसकः प्राह। (२२) "नरः कोऽप्यस्ति सर्वज्ञः स तु सर्वज्ञ इत्यपि। साधनं यत्प्रयुज्येत प्रतिज्ञामात्रमेव तत्॥" श्लोकोऽयं कुमारिलनाम्ना तत्त्वसंग्रहे (पृ० ८४१) किञ्चित् पाठभेदेन वर्तते। द्रष्टव्यम्—न्यायावता० वा० वृ० पृ० ५५।

सर्वज्ञ इत्यपि" [तत्त्वसं० श्लो० ३२३०] धर्मसत्तासिद्धेर्धर्मिप्रतिपत्तिनान्तरीयकत्वादिति चेत्; अत्राह–**सर्वतत्त्वार्थस्याद्वादन्यायदेशिनम्** इति। **'सर्वतत्त्वार्थदेशिनम्'** इति वचनात् तत्सत्त्वमुक्तमिति गम्यते, वचनस्य वक्तृसत्त्वाऽव्यभिचारात्। न वेदेनैं व्यभिचारः; पक्षीकरणादिति। निरूपयिष्यते [चै] तत्। **'स्याद्वादन्यायदेशिनम्'** इत्यभिधानात् तत्सर्वज्ञत्वमिति चें। तमभ्यर्च्य। किमिति ? अत्राह–**वक्ष्ये सि द्धि वि नि श्च य म्। सिद्धिः** प्रमाणम्।

ननु सिद्धिः [प्रमाणस्य फलम्] ***"प्रमाणस्य फलं साक्षात् सिद्धिः"** [सिद्धिवि० १।३] इति वक्ष्यमाणत्वादत्रैव (दन्यैवें) तत्कथं सा[8] प्रमाणमिति चेत् ? एतदुत्तरत्र निरूपयिष्यते। **विशब्दः** अतिशयप्रकर्षद्वैविध्यनाना[३क]त्वेषु वर्तमानो गृह्यते। तत्र अतिशये तावत् अन्यस्यापि जीवादितत्त्वस्य **निश्चयं वक्ष्ये** सिद्धेस्तु सातिशयं वक्ष्ये। कोऽस्या[अ]तिशयः सकलप्रमेयव्यवस्थाहेतुत्वम्, यद्वक्ष्यते–***"सिद्धं यन्न परापेक्ष्यम्"** [सिद्धिवि० १।२४] इत्यादि। तथा प्रकर्षे; तस्याः प्रकृष्टं निश्चयं विनिश्चयं वक्ष्ये। कोऽस्यैं प्रकर्षः ? सौगतादिकल्पिततन्निश्चयादाधिक्यम्। तथा द्वैविध्ये; द्विविधं निश्चयं तस्या वक्ष्ये प्रत्यक्षपरोक्षभेदेन 'किञ्चित् स्वतः किञ्चित् परतः प्रमाणम्' इत्यनेन वा भेदेन, स्वपरविषयद्वैविध्येन, व्यवहिताव्यवहितफलद्वैविध्येन वा। तथैव नानात्वे; नाना निश्चयं वक्ष्ये स्वैरूपसंख्याविषयफलविप्रतिपत्तिनिरासनानात्वेन।

ननु च नयादीनामपि विनिश्चयोऽत्रैं प्रतिपादयिष्यते तत्कथमुच्यते 'सिद्धेः प्रमाणस्य' इति चेत्; न; तेषां श्रुतभेदेन [10]तत्रैवान्तर्भावात्। तदुक्तम्[12]–***"उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ प्रमाणनयभेदतः।"** [लघी०श्लो० ६२] न च प्रमाणस्य उपयोगोऽप्रमाणम्; विरोधात्, ***"प्रमाणनयैरधिगमः"** [त० सू० १।६] इत्यस्य व्याघाताच्च। प्रमाणैरधिगमवत्(मः) तर्हि वक्तव्यमिति चेत्; न; विकलादेशस्यापि[13] [14]तद्भेदत्वप्रतिपादनार्थं तथावचनमित्यदोषः। ततः प्रमेयनिर्णयहेतुत्वात् प्रमाणनयानां प्रमाणत्वे समानेऽपि सकलादेशात् नय(ये)निवार्यमाण(णे) प्रमाणशब्दः [15]तत्रैव प्रवर्तते उत्कलितपुंस्केषु विशेषेषु गोशब्दवत्। यद्वक्ष्यते–

***"स्यात्प्रमाणात्मकत्वेऽपि प्रमाणप्रभवो नयः।**
विचारो [३ख] निर्णयोपायः परीक्ष्येत्यवगम्यताम्॥"
[सिद्धिवि० प्रस्ता० १०] इति।

---

(१) धर्मः सर्वज्ञत्वम्। (२) सर्वज्ञत्वाधारस्य आत्मनः सत्त्वम्। (३) अपौरुषेयेण। (४) प्रतिपादितम्। (५) भिन्नैव। (६) सिद्धिः। (७) निश्चयस्य। (८) तुलना–"प्रामाण्यं तु स्वतःसिद्धमभ्यासात् परतोऽन्यथा।"–प्रमाणप० पृ० ६३। परीक्षामु० १।१३। (९) तुलना–"चतुर्विधा चात्र विप्रतिपत्तिः संख्यालक्षणगोचरफलविषया।"–न्यायवि० १।२। प्रमाणसमु० टी० पृ० ४। (१०) ग्रन्थे। (११) प्रमाण एव। (१२) "उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसंज्ञितौ। स्याद्वादः सकलादेशो नयो विकलसंकथा॥ अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः···प्रमाणं स्याद्वादः।"– लघी० स्व० श्लो० ६२। (१३) नयस्य। (१४) प्रमाणभेदत्व। (१५) सकलादेशे एव।

प्रमाणाच्च नयस्य भेदैकान्ते प्र मा ण सं ग्र हा दौ[1] *"प्रमाणे इति संग्रहः" [प्रमाण-सं० श्लो० २] इत्यभिधाय पुनर्णयादिप्रणयनमयुक्तं [2]तेनासंग्रहात्। ततो यथा अन्यत्र प्रमाणात् नयादिपरिग्रहः तथा अत्रापि, इति सर्वं सुस्थम्।

ननु 'सिद्धिः अधिगतिः प्रमाणफलम्, तस्या विनिश्चयं निर्णयात्मकत्वं वक्ष्ये' इति व्याख्याने को दोषः येनेदं [3]नाश्रितमिति चेत्? सर्वार्थासंग्रहः। एवं हि फलविप्रतिपत्तिनिरास ५
एव संगृहीतो न सर्वान् प्रतिवादिनः प्रति स्वरूपादिविप्रतिपत्तिनिरासः, ततः पूर्वमेव व्याख्यानम्[4]।

अथ किमर्थमिदमुच्यते–'**वक्ष्ये सिद्धिविनिश्चयम्**' इति? सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनप्रतिपादनार्थम्। तथाहि–**सिद्धि**पदेन शास्त्रस्य अभिधेयम् 'प्रमाणम्' उक्तम् [5]निरभिधेयाऽशक्याननुष्ठेयाशङ्कानिवारणार्थम्। '**विनिश्चयम्**' इत्यनेन प्रयोजनम्, निष्प्रयोजनत्वारेकाप्रतिषेधार्थम्। शास्त्रस्य अभिधेयेन वाच्यवाचकलक्षणः प्रयोजनेन च सह साध्यसाधनलक्षणः १०
सम्बन्धोऽपि अर्थतोऽनेनोक्तो वेदितव्यः। तथावदसदादिमादि(तथा च दशदाडिमादि)वाक्यैसमताचोद्यं निरस्तम्। ननु शास्त्रवद् अभिधेयस्यापि प्रयोजनं पृथगेव वक्तव्यम् काकदन्तवदप्रयोजनाशङ्कानिषेधार्थं यथा अन्यत्रोक्तम्–*"**प्रमाणाधीनत्वात् प्रमेयव्यवस्थायाः तदुत्पादनार्थमिदमुच्यते**" इति चेत्; न;सिद्धिशब्देनैव तदप्युक्तम्। यस्मादयं [४क]प्रमाणा(ण)फलवाचिनं सिद्धिशब्दमुपचारात् प्रवर्तयति तस्मादुक्तमेव फलम्, मुख्याद्दते उपचारा[भावा]दिति। १५

किमर्थमादौ अभिधेयादिकमुच्यते इति चेत्? श्रोतृप्रवृत्त्यर्थम्[6]। *"[11]कृषीवलादिवत्

---

(१) आदिपदेन लघीयस्त्रयन्यायविनिश्चयौ ग्राह्यौ। तथाहि–"प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः। परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाणे इति संग्रहः॥"–लघी० श्लो० ३। न्यायवि० श्लो० ४६९। (२) प्रमाणेन। (३) प्रमाणसंग्रहादौ। (४) कैश्चित्कृतं व्याख्यानम्। (५) युक्तम्। (६) "सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोता श्रोतुं प्रवर्तते। शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः॥ यावत्प्रयोजनेनास्य सम्बन्धो नाभिधीयते। असम्बद्धप्रलापित्वात् भवेत्तावदसङ्गतिः॥ तस्माद् व्याख्याङ्गमिच्छद्भिः सहेतुः सप्रयोजनः। शास्त्रावतारसम्बन्धो वाच्यो नान्योऽस्ति निष्फलः॥" –मी० श्लो० प्रतिज्ञासू० श्लो० १७,२०,२५। सम्बन्धाद्यनुबन्धचतुष्टयस्य व्यस्तसमस्तरूपेण चर्चा निम्नलिखितग्रन्थेषु द्रष्टव्या–माध्यमिकवृ० पृ० ३। हेतुबि० टी० पृ० १। न्यायवि० टी० पृ० ५। बोधिचर्या० पं० पृ० ५। वादन्यायटी० पृ० १। तत्त्वसं० पं० पृ० २। सम्बन्धवा० पृ० ७। मा० गौडपा० शा० भा० पृ० ४। न्यायवा० ता० पृ० ४। न्यायम० पृ० ६। त०|श्लो० पृ० ३। न्यायकुमु० पृ० २०। प्रमेयक० पृ० २। सन्मति० टी० पृ० २६९। शास्त्रदी० पृ० ४। स्या० रत्ना० पृ० १४। जैनतर्कवा० पृ० ११। रत्नाकरावo पृ० ५। (७) "अनुक्तेषु तु प्रतिपत्तृभिः निष्प्रयोजनमभिधेयं संभाव्येतास्य प्रकरणस्य काकदन्तपरीक्षाया इव। अशक्यानुष्ठानं वा ज्वरहरतक्षकचूडारत्नालङ्कारोपदेशवत्, अनभिमतं वा प्रयोजनं मातृविवाहक्रमोपदेशवत्।"–न्यायवि० टी० पृ० १४। (८) "तस्मात् प्रयोजनरहितं वाक्यं तदर्थो वा न तत् प्रेक्षावता आरभ्यते कर्तुं प्रतिपादयितुं वा, तद्यथा दशदाडिमादिवाक्यम्।"–हेतुबि० टी० पृ० २। (९) तुलना–"प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि"–सांख्यका० ४। "उक्तं च प्रमाणाधीनो हि प्रमेयाधिगमः"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३४०। (१०) "तस्मात् श्रोतृजनप्रवृत्त्यर्थः प्रयोजनादिवाक्योपन्यासः इति स्थितम्।" –तत्त्वसं० प० पृ० ६। "तच्च श्रोतृजनप्रवृत्त्यर्थमिति केचित्" –हेतुबि० टी० पृ० १। "तच्च श्रोतृप्रवृत्त्यर्थमिति कश्चित्" न्यायावता० वा० वृ० पृ० १। (११) "संशयेनापि प्रवृत्तिदर्शनात् यथा कृषीवलादीनाम्"–तत्त्वसं० प० पृ० ६।

अर्थसन्देहात् प्रेक्षापूर्वकारिणोऽपि तद्वाक्यात् प्रवर्त्तन्ते" इत्येके[1]। *"सन्देहात् प्रवृत्तौ किमन्यत्रापि प्रमाणान्वेषणेन" इति प्र ज्ञा क र गु प्तः[2]। *"तद्वाक्याद् अभिधेयादौ श्रद्धाकुतूहलोत्पादः, ततः प्रवृत्तिः" इति केचित् स्वयूथ्याः[3]। तान् प्रति अपरे प्राहुः—यदि न तद्वचनं प्रमाणम्; कथं ततः श्रद्धाद्युत्पादेऽपि प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः ? इतरथा यतः कुतश्चित् स्यात्। प्रमाणं चेत्; न तत् प्रत्यक्षम्, वचनत्वात्। नाप्यनुमानम्; वचनस्य अर्थाप्रतिबन्धात्। अत एव नाऽऽगमोऽपि। तत्र ततः प्रवृत्तिरिति; तत्र (तन्न;) प्रत्यक्षवत् शब्दस्यापि प्रमाणत्वोपपत्तेर्वक्ष्यमाणत्वाददोषः।

अथवा, शास्त्रार्थस्य संग्रहवाक्यमेतत्, अस्मान्निबन्धनंस्थानादत्वा (स्थानादर्थान्) आदाय व्याख्यायन्त इति।

तत्र स्वरूपनिश्चयं प्रमाणस्य तावत् दर्शयन्नाह—'**सिद्धिश्चेत्**' इत्यादि।

[सिद्धिश्चेदुपलब्धिमात्रमविसंवादैकहेतोर्विना,
निर्णीतेः क्षणिकादिसिद्धिरनुमा न स्यात् स्वयं सर्वथा।
निर्णीतिर्यदि निर्विकल्पमखिलं न स्यात् प्रमाणं स्वतः,
तस्याश्चेज्जननात् प्रमाणमत एवास्तु स्वतो निर्णयः ॥२॥]

सिद्धिः प्रमाणं तत्र फलोपचारात्, कथञ्चित्तादात्म्यनिबन्धनस्व(श्व)प्रमाणफलयोरुपचारः। तयोस्तर्हि कथञ्चित्तन्वित् (कथञ्चित्तदिति) कदाचित् प्रमाणेन फलं कदाचित् फलेन वा प्रमाणं वायदिश्यते (चापदिश्यते) यथा मृद्घटयोः तथातत्त्वे[4] मृदियं घटः घट(घटो) वा मृदिति। किमर्थः सं इति चेत् ? अन्यमतएवप्रति(मतप्रति)षेधार्थः। अन्येषां हि दर्शनं 'फलात्

---

(१) धर्मोत्तरादयः। "अश्रुते प्रकरणे कथितान्यपि न निश्चीयन्ते। उक्तेषु त्वप्रमाणकेष्वप्यभिधेयादिषु संशय उत्पद्यते। संशयाच्च प्रवर्तन्ते। अर्थसंशयोऽपि हि प्रवृत्यङ्गं प्रेक्षावताम्।"—न्यायवि० टी० पृ० २। "आदिवाक्यादेव श्रोतुः शास्त्रप्रयोजनपरिज्ञानमर्थसंशयाच्च श्रवणे प्रवृत्तिः।" —न्यायम० पृ० ६। (२) "उपेयार्थितया सर्वः प्रवर्तनानिवर्तने। करोति पुरुषस्तस्य सन्देहश्चेत् कथं प्रमा॥"·····तत उपायनिश्चये सति कृषीवलादिवत् प्रामाणिकाः प्रवर्त्तन्ताम्।"—प्र० वार्तिकाल० पृ० २६। (३) तुलना—"श्रद्धाकुतूहलोत्पादनार्थं तदित्येके; तदप्यनेनैव निरस्तम्; तस्य प्रमाणत्वाप्रमाणत्वपक्षयोस्तदुत्पादकत्वाऽयोगात्।" —त० श्लो० पृ० ४। (४) तुलना—"यद्य श्रोतुः प्रवृत्यङ्गं श्रद्धाद्युत्पादनं बुधैः। व्यावर्णितमसन्दिग्धमादिवाक्यप्रयोजनम्॥ तदप्यासोक्तिताश्रेस्यात् वाक्यमेतद् वृथा भवेत्। आप्ताज्ञयैव श्रद्धादेः संभवादादिवाक्यवत्॥ अन्यथा ह्यादिवाक्येऽपि श्रद्धाद्युत्पत्तिकारणम्। वाक्यान्तरं प्रतीक्ष्यं स्यादनवस्थानदुःखदम्॥ अनाप्तवचनत्वेऽस्य बालोन्मत्तादिवाक्यवत्। श्रद्धाकुतूहलोत्पत्तिरतः संभाव्यते कथम्॥"—न्यायवि० वि० प्र० पृ० ५५। (५) तुलना—"स चायं शास्त्रार्थसंग्रहोऽनूद्यते नापूर्वो विधीयते इति।" —न्यायभा० ४।२।१। "अत एव शास्त्रार्थप्रतिज्ञाप्रतिपादनपरः आदिवाक्योपन्यासः इत्याद्यपि प्रतिक्षिप्तम्"—सन्मति० टी० पृ० १७१। स्या० रत्ना० पृ० १९। (६) "अस्मात् खलु अर्था आदाय आदाय व्याक्रियन्ते।"—हेतुवि० टीकालो० पृ० २४३। (७) कथञ्चित्तादात्म्ये। (८) उपचारः। (९) नैयायिकादीनाम्। "अक्षस्य अक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम्। वृत्तिस्तु सन्निकर्षो ज्ञानं वा। यदा सन्निकर्षः तदा ज्ञानं प्रमितिः, यदा ज्ञानं तदा हानोपादानबुद्धयः फलम्।"—न्यायभा० १।१।३। "इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य करणभावाज्ञाऽकरणा प्रमाणोत्पत्तिः।" —न्यायवा० पृ० ६।

स्वपरग्रहणलक्षणाद् अन्यदेव अचेतनं सन्निकर्षादि प्रमाणम्' इति, तन्निषेधार्थः। तथाहि—नैं प्रमाणं सन्निकर्षादि अचेतनत्वात् घटादिवत्। न प्रदी[४स्व]पादिना व्यभिचारः; तस्यापि पक्षीकरणात्। अर्थं अव्यपदेश्याव्यभिचारिव्यवसायात्मकघटादिज्ञानहेतुत्वात् प्रमाणं प्रदीपादिः; तन्न युक्तम्; प्रामाण्यवत् प्रदीपादीनां तत (तज्) ज्ञानहेतुत्वस्यापि परं प्रत्यसिद्धेः। नैं घटादिज्ञानस्य हेतुः प्रदीपादिः, तत्परिच्छेद्यत्वात्, यद् यस्य परिच्छेद्यं न तत् तस्य जनकं यथा ईश्वरज्ञानस्य परिच्छेद्यः सदसद्वर्गो न तज्जनकः, घटज्ञानपरिच्छेद्यश्च प्रदीपादिः,घटेन सहैवैकस्मिन् विज्ञाने तस्यं प्रतिभासनात्। अथ ईश्वरज्ञानं चेन्नैं विषयेण जन्यते, अन्यथा तेनैं तत्परिच्छेदायोगात्; न तर्हि तत्सहभाविनां तेनैं ग्रहणम् अकारणत्वात्", तथा च *"सर्वः सदसद्वर्गः कस्यचिद् एकप्रत्यक्षविषयः अनेकत्वाद् अङ्गुलिसमूहवत्" इति व्याहन्यते। 'अजनकानामपि तेषां तेनैं ग्रहणं नान्येषाम्' इति किंकृतो विभागः? ननु च प्रदीपादेर्घटज्ञानं प्रत्यकारणत्वे तदभावेऽपि तत् स्यादिति चेत्; दृष्टत्वाददोषः। दृष्टं खलु केषाञ्चिद्भ्राति(त्प्राणिवि)शेषाणाम् अञ्जनादिसंस्कृतलोचनानां वा तदभावेऽपि रूपज्ञानम्। न च यदभावेऽपि यद् भवति तत्तस्य कार्यम् अतिप्रसङ्गात्। निराकरिष्यते च चक्षुषः तैजसत्वम्। यदि च प्रदीपाद्यभावे न रूपज्ञानम्; कथं तर्हि तमःपटलावलोकनम्? ज्ञानानुत्पत्तिरेव तमो [ना]न्यदिति चेत्; आस्तां तावदेतत्।

स्यान्मतम्—यदा दीपाद्यभावेऽपि रूपज्ञानं तदा अस्य अन्यत् कारणमस्तु, यदा तु दीपादिभावे तदा तदेव, अन्यथा सत्यस्वप्ने चक्षुषोऽभावेऽपि तज्ज्ञानं, द्रष्टमिति सर्वदा तद[५क] कारणम् अतीन्द्रिय(इति, *"इन्द्रियं)मनसी तत्कारणम्" [लघी०स्व०श्लो० ५४] *"अतीन्द्रियप्रत्यक्षम्" [लघी० स्व०श्लो० ६१] इति च विरुध्यते इति; तदपि न सारम्; यदि खलु घटादिना सह दृश्यमानोऽपि दीपादिः तज्ज्ञानस्य हेतुः,तर्हि घटादिरपि प्रदीपादिज्ञानहेतुरिति

(१) "सन्निकर्षादेरज्ञानस्य प्रामाण्यमनुपपन्नमर्थान्तरवत्"—लघी० स्व० १।३। "ज्ञानं प्रमाणं नाज्ञानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षादि।"—प्र० वा० मनोरथ० पृ० ३। (२) "तस्मात् कर्तृकर्मव्यतिरिक्तमव्यभिचारादिविशेषणकार्थप्रमाजनकं कारकं करणमुच्यते, तदेव च तृतीयया व्यपदिशन्ति दीपेन पश्यामि चक्षुषा निरीक्षे लिङ्गेन बुध्ये शब्देन जानामि मनसा निश्चिनोमि इति।"—न्यायम० पृ० १४। (३) जैनं प्रति। (४) "आलोकोऽपि न कारणं परिच्छेद्यत्वादर्थवत्।"—लघी० स्व० श्लो० ५५। परीक्षामु० २।६। प्रमाणमी० १।१।२५। (५) प्रदीपितोऽयं घट इत्याकारकविज्ञाने। (६) प्रदीपस्य। (७) 'चेन्न' इति पदं व्यर्थमत्र। (८) ईश्वरज्ञानेन। (९) विषयपरिच्छेदायोगात्। (१०) ईश्वरज्ञानेन। (११) समसमयवर्तिनां कार्यकारणभावाऽभावात्। (१२) तुलना—सदसद्वर्गः कस्यचिदेकज्ञानालम्बनोऽनेकत्वात् पञ्चाङ्गुलवत् इत्यत्र·····"—प्रमेयक० पृ० १४२। सन्मति० टी० पृ० ४७७। (१३) सहभाविनामपि। (१४) ईश्वरज्ञानेन। (१५) खरविषाणादीनाम्। (१६) प्रदीपाभावेऽपि। (१७) मार्जारादीनाम्। (१८) प्रदीपाद्यभावेऽपि। (१९) "नहि तमः चक्षुर्ज्ञानप्रतिषेधकं तमोविज्ञानाभावमात्रात्।"—लघी० स्व० श्लो० ५६। (२०) "तमसो निष्पर्यनभिव्यक्तेः। रूपवत्त्वेन हि तमो द्रव्यं स्यात्, तच्चानेकद्रव्यारब्धं सच्चाक्षुषं भवेत्। न च द्रव्याणि सन्ति, सन्ति चेद्विद्याप्यारभेरन् अन्धानामिव नीलिमाभिमानः नभस एवेत्युक्तम्।" —प्रक० प० पृ० १४३। तत्त्वरह० पृ० २१। "आलोकज्ञानाभावस्तम इति प्रभाकराः परिभावयन्ति।" प्रज्ञा० सेतु० पृ० ४२। न्यायकुमु० पृ० ६६३। (२१) रूपज्ञानम्। (२२) चक्षुः। (२३) "ततः सुभाषितम्—इन्द्रियमनसी कारणं विज्ञानस्य अर्थो विषयः।"—लघी० स्व० श्लो० ५४। (२४) "अतीन्द्रियप्रत्यक्षं पुनः व्यवसायात्मकं स्फुटमवितथमतीन्द्रियमव्यवधानं लोकोत्तरमात्मार्थविषयम्।"—लघी०स्व०श्लो० ६१।

चक्षुरिव रूपप्रकाशनात् तैजसः स्यात् । प्रत्यक्षादिबाधनमन्यत्रापि । यदि पुनः केवलोऽपि प्रदीपादिः समुपलभ्यते इति न घटादिः तज्ज्ञानहेतुः; प्रदीपादिरपि घटादिज्ञानस्य हेतुर्न स्यात् तस्यापि[२] केवलस्य उपलम्भ(म्भात्) इत्युक्तम् । यथैव च केषाञ्चित् प्रदीपाद्यालोकमन्तरेण न घटादिरूपज्ञानं तथा केषाञ्चिन्नक्तञ्चराणाम् अन्धकारमन्तरेणापि न तज्ज्ञानमिति तदपि[३] तद्धेतुरिति
५ *"तैजसं चक्षुः रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात् प्रदीपवत्।" [प्र०व्यो०पृ० २५६]
इत्यस्य अनेन व्यभिचारः । अथ [न] अन्धकारः तद्धेतुः ; आलोकोऽपि न भवेदिति 'प्रदीपवत्' इत्यस्य निदर्शनस्य साधनशून्यता । तन्न प्रदीपादिना व्यभिचारः । ननु न वेदनत्वेन[४] प्रामाण्यं व्याप्तं येन तदभावे न भवेत् , अपि तु यथार्थज्ञान[जन]कत्वेन । तच्च प्रदीपादिपरिहारेण सन्निकर्षादावस्तीति स प्रमाणमस्तु इति चेत् ; न; सन्निकर्षस्य ज्ञानं प्रति हेतुत्वस्य निषेत्स्य-
१० मानत्वात् । केवलमिन्द्रियमवशिष्यते । तदपि न प्रमाणम् ; तद्धेतुत्वेऽपि[६] विचेतनत्वात्[७] घटादिवदिति चर्चितं प्र मा ण सं प्र ह भा ष्ये । ततः 'प्रमाणे फलोपचारः ततो भिन्नप्रमाणनिषेधव्य(धार्थः)' इति सूक्तम् ।

ततः **सिद्धिः** प्रमाणम् । **चेत्** यदि । किं तत् ? इत्याह–**उपलब्धि**[५ख]**मात्रम्** इति । उपलभ्यते अनया वस्तुतत्त्वमिति उपलब्धिः अर्थादुत्पन्ना तदाकारा च बुद्धिः सैव तन्मात्रम् । कथं तत्प्रमाणमिति ? अत्राह–**अविसंवादैकहेतोः** इत्यादि। अविसंवादः अर्थतथाभावः
१५ तस्य एकः प्रधानभूतः एकसंख्यायुक्तो वा हेतुः कारणं या **निर्णीतिः** यथार्थो विकल्पः तस्या **विना** तामन्तरेण । एतदुक्तं भवति–तदकिञ्चित्करं संशयकरं विपर्ययकरं यथार्थनिर्णयकरं चेति चत्वारः पक्षाः । तत्र उत्तरपक्षे **'तस्याश्चेज्जननात्'** इत्यादिदूषणमभिधास्यते इति । अन्यत्र पक्षत्रये **यदि प्रमाणमिति**। तत्र दूषणमाह–**क्षणिकादिसिद्धिः** इत्यादि । क्षणिक इति भावप्रधा-
२० नो निर्देशः । ततः क्षणिकत्वम् आदिर्यस्य ज्ञानत्वादेः साधनादभिन्नस्य तत्तथोक्तम्, तस्य सिद्धिः प्रमाणम् **अनुमा** अनुमानं **न स्यात्** तत्साधकं न भवेत्, प्रत्यक्षमेव स्यात् नीलादिवत्तस्यापि[९] तत एव प्रतीतेः सर्वथा सारूप्यात् । कस्य ? इत्यत्राह–**स्वयम्** आत्मनो बौद्धस्य । [१०]तत्र समारोपव्यवच्छेदकरणात् स्यादिति चेत् ; अत्राह–**[सर्वथा]** सर्वेण क्षणिकादिसाधनप्रकारेण वा अन्येनापि समारोपव्यवच्छेदप्रकारेणापि **'न स्यात्'** इति सम्बन्धः । कुतः ? [११]तदव्यवच्छेद-
२५ कत्वात् । तथाहि–न समारोपव्यवच्छेदकृद् अनुमानम् अविकल्पकत्वात् प्रत्यक्षवत् । अविकल्पकत्वं च *[१२]"सर्वचित्तचैत्तानाम् आत्मसंवेद [नं] प्रत्यक्षमविकल्पकम्" [न्यायवि० १।१०]

(१) प्रदीपादिज्ञानहेतुः । (२) घटस्यापि । (३) तमोऽपि । (४) "तच्च तैजसं रूपादिषु मध्ये नियमेन रूपव्यञ्जकत्वात् । यद्यत् रूपादिषु मध्ये नियमेन रूपव्यञ्जकं तत्तैजसं यथा प्रदीपम् , तथा च रूपादिषु मध्ये नियमेन रूपव्यञ्जकं चक्षुः तस्मात्तैजसमिति ।"–प्रश० व्यो० पृ० २५६ । "तैजसत्वं तु तस्य रूपादिषु मध्ये नियमेन रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् प्रदीपवत् ।" –प्रश० कन्द० पृ० ४० । प्रश० किरणा० पृ० ७३ । वैशे० उप० पृ० १२८ । (५) ज्ञानत्वेन । (६) तेषामिन्द्रियाणां ज्ञानहेतुत्वेऽपि । (७) विगतचेतनत्वात्, अचेतनत्वादित्यर्थः । (८) क्षणिकत्वस्यापि । (९) प्रत्यक्षादेव । (१०) नीलादौ । (११) समारोपाऽव्यवच्छेदकत्वात् । (१२) "चित्तमर्थमात्रग्राहि, चैत्ता विशेषावस्थाग्राहिणः सुखादयः·····नास्ति सा काचित् चित्तावस्था यस्यामात्मनः संवेदनं प्रत्यक्षं न स्यात् ।"–न्यायवि० टी० पृ० ६४ ।

इत्यभिधानात् । अथैतन्नेष्यते [६क] तर्हि तद्वत् सर्वचेतसाम् आत्मसंवेदनं सविकल्पकं भवेत् । तत्र दूषणं वक्ष्यते–**'निर्णीतिर्यदि'** इत्यादि ।

ननु च अभ्यासदशायां भाविनि प्रवर्तकं प्रत्यक्षमविकल्पकमपि समारोपव्यवच्छेदकम्, अतोऽनैकान्तिको हेतुरिति चेत् ; न; तदा नीलादौ स्वयमेव तदभावात्[1] । क्षणक्षयादौ तु सोऽस्त्येव कथमन्यथा प्रत्यक्षमविसंवादि तदा स्यादिति यत्किञ्चिदेतत् । ५

ननु भवतु स्वरूपे तन्निर्विकल्पकम् अर्थे तु विकल्पकम्, अतो भावा(भागा)सिद्धो हेतुरिति चेत् ; किं पुनस्तस्य तात्त्विकं रूपद्वयमस्ति ? तथा चेत् ; तद्वत् क्रमेणापि एकस्य रूपद्वयसंभवात् न क्षणिकज्ञानं(ने) नीत्वा(ला)दिज्ञानवत् समारोप[2] इति कथं तद्व्यवच्छेदकरणात् तत्प्रमाणम् ? अथ कल्पितं तत्र[3] तस्य सविकल्पकं रूपम् ; सुस्थितं तर्हि भागासिद्धत्वम्, कृतकत्वस्याप्येवं भागासिद्धत्वप्रसङ्गात्, वेदे कल्पनया अकृतकत्वस्य भावात् शब्दमात्रस्य अनित्यत्वसाधने । कथं वा तैत् कल्पितं समारोपं व्यवच्छिन्द्यात् ? नहि माणवके अग्नित्वं कल्पितं शीतं व्यवच्छिनत्ति । तद्व्यवच्छेदोऽपि तादृश एवेति चेत् ; ततः तत्प्रमाणत्वमपि तादृशं प्रसक्तमिति कुतः परस्य तत्त्वव्यवस्था ? प्रतिभासाद्वैतस्य तत एव [सिद्धिरिति] चेत्; तिष्ठतु तावदेतत् । ततोऽनुमानगतसविकल्पकस्वभावात् तद्व्यवच्छेदम् इत्यता (इच्छता) स तात्त्विकोऽभ्युपगन्तव्य इति स एव दोषः समारोपाभावलक्षणः । वक्ष्यते च– *"प्रतिभासैक्यनियमे" [सिद्धिवि० १।११] इत्यादि । १०

भवतु वा अनुमानं कीदृशमपि [६ख] तथापि नातः समारोपनाशः; [4]तस्याऽहेतुत्वोपगमात् । अथ अनुमानसन्निधानात् पूर्वसमारोपक्षणस्य उत्तरसमारोपोत्पादने असमर्थस्य भावात् पूर्वस्य स्वयमेव [5]तत्क्षणस्य नाशाद् [6]उत्तरस्य कारणाभावेन अनुत्पादात् एवमुच्यते–'अनुमानेन समारोपो नाशितः' इति प्रदीपेनेव तमः; तर्हि कुतश्चिद्देशसन्निधानात् यथार्थसु(शु)क्त्यादिविकल्पे सति पूर्वपूर्वरजतादिसमारोपक्षणानाम उत्तरोत्तरतत्क्षणोत्पादने असमर्थानामुदयात् तथा सं[7] प्रमाणं किन्न स्यात् यतो द्वे एव प्रमाणे स्याताम् ? तदुक्तम्– १५ २०

*"समारोपव्यवच्छेदान्नान्वस्त्यधिगतेरपि ।
तत्पृष्ठभाविनो युक्ता विकल्पस्य प्रमाणता ॥" इति ।

तत्र समारोपव्यवच्छेदादनुमानं प्रमाणम् । दर्शनानिर्णीतार्थनिर्णयात् स्यादिति चेत् ; २५

अत्राह–**निर्णीतिर्यदि** इत्यादि । अस्यायमर्थः–अनुमान(नात्) दर्शनानिर्णीतक्षणिकादिनिर्णीतेर्यतस्ततो **यदि** चेत् क्षणिकादिसिद्धिरिति सम्बन्धः । अत्र दूषणमाह–**निर्विकल्पम्** इत्यादि । **निर्विकल्पम्** अविकल्पकं दर्शनम[8]खिलं च[9]तुर्विधमपि **न स्यात्** न भवेत् प्रमाणम् **स्वतो** बौद्धस्य । अत्रायमभिप्रायः–यथा दत्तेना(दर्शनेना)निर्णीतस्य क्षणिकादिनि(र्नि)र्णयात्

(१) समारोपव्यवच्छेदाभावात् (२) अभ्यासावस्था । (३) अनुमानम् । (४) आत्मादेः । (५) नित्यत्वादिसमारोपः । (६)अर्थरूपे अनुमानस्य । (७) अनुमानम् । (८)बौद्धस्य । (९) समारोपव्यवच्छेदम् । (१०) नाशस्य निर्हेतुकत्वस्वीकरात् । (११) समारोपक्षणस्य । (१२) समारोपस्य । (१३) शुक्त्यादिविकल्पः । (१४) इन्द्रियमानसस्वसंवेदनयोगिप्रत्यक्षलक्षणम् ।

तत्र अनुमानं प्रमाणं न दर्शनं तथा तेनानिर्णीतस्य नीलादेर्निर्णयात्तत्र विकल्प एव तत्पृष्ठभावी प्रमाणं स्यात् न दर्शनमिति सौगताभाम् उपलब्धिमात्रं चेत् प्रमाणम् क्षणिकाद्यनुमानं न स्यात् अर्थनिर्णीति[:] निर्विकल्पमखिलं न भवे[७क]दितीतः सरदतः(सर इतः) पाश इति प्राप्तम् ।

ननु *"यैत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्यं प्रमाणता" इति नीलादिक्षणिकादिविकल्पानुमान-
५ जननात् प्रमाणमविकल्पकमिति धं मों त्त र- प्रं ज्ञा क र गु प्रौ; तत्राह–**तस्याश्चेत्** इत्यादि । तस्याः विकल्पानुमानयोर्निर्णीतेश्चेत् यदि **जननात्** प्रमाणम् 'अविकल्पकम्' इति सम्बन्धः । **अत एव** यत एव निर्णीतिजननादविकल्पमपि प्रमाणं न स्वतः **अतोऽस्मादेव** कारणाद् **अस्तु** भवतु **स्वत** आत्मनैव **निर्णयो** विकल्पः अनुमानार्थ्यः, यद्बलाद् दर्शनस्य प्रमाणता वरं तस्यैव सास्तु इति भावः ।

१० अथवा [10]अनभ्यासे दृश्यरूपलिङ्गक्षम(जम)नुमानं प्राप्ये रूपादौ[11] अभ्यासे निर्विकल्प-कमध्यक्षम्, न चान्या दशाऽस्ति यस्यां विकल्पः प्रमाणं स्यात्, स एव चेष्यते जैनैः, तत्कथ-मुच्यते–*"वक्ष्ये सिद्धिविनिश्चयम्" [सिद्धिवि० १।१] अस्यामाशङ्कायामाह–**सिद्धिश्चेद्** इत्यादि । अस्यायमर्थः–**सिद्धिः** प्रमाणं **चेत्** यदि **उपलब्धिमात्रं** पूर्वापराकारशून्यं मध्यदर्शनमात्रम् उपलब्धिमात्रम् । अत्र दूषणमाह–**क्षणिकादिसिद्धिः** इत्यादि । क्षणिकग्रहणं
१५ साधनादभिन्नसाध्यलक्षणम्, आदिशब्देन अग्न्यादीनां परिग्रहः, तेषां **सिद्धिः** प्रमाणम् **अनुमा-नं (न)स्यात्**–नोत्पद्येत **स्वयम्** आत्मनैव गृहीतग्राहित्वेन । एतदुक्तं भवति–*"**यथा दृश्य-प्राप्ययोर्भेदः तथा दृश्यस्य दर्शनस्य च प्रत्ययवयं भेदात् न कस्यचिद्दर्शनम्**" इत्युक्तं प्र मा ण सं प्र ह्वा ल ङ्का रे । तथा पक्षाद्यभावान्नानुमानमिति नाभ्यास्यो(सो) यतः तत्र[12] प्रत्यक्षं प्रमाणम्, अनुमानस्यैव अभ्यासोपगमात् । संवृत्या[13] स्यादिति चेत् [७ख] अत्राह–**सर्वथा** पर-
२० मार्थप्रकारेणेव संवृतिप्रकारेणापि न स्यात् कस्यचिदत्र(दनु)भवस्याभावे संवृतिविकल्पाभावात् [14]"तत्पूर्वकत्वादस्यं[15]। कदामानं(कदाऽनुमा न) स्यात ? इत्यत्राह–**विना निर्णीतेः** स्थूलैकसादृश्य-दर्शनं निर्णीतिः तामन्तरेण । कथंभूतायाः ? इत्यत्राह–**अविसंवादैकहेतोः** इति । पक्ष-हेतुदृष्टान्तानां याथात्म्येन प्रतिपत्तिरविसंवादः, तस्य एकहेतोः पक्षादिप्रतिपत्तेर्विकल्पात्मकत्वा-दिति भावः । भवतु दृश्यस्य सभेदस्य ग्रहणात् तत्र सविकल्पकं दर्शनं प्रमाणं न पूर्वापरको-

---

(१) दर्शनेन । (२) नीलादौ । (३) यस्मिन् नीलाद्यंशे । (४) विकल्पबुद्धिम् । (५) निर्विकल्पस्य । उद्धृतोऽयम्—प्रमेयक० पृ० ३५ । सन्मति० टी० पृ० ५१२ । न्यायवि० वि० प्र० पृ० ५२३ । शास्त्रवा० टी० पृ० १५१ । (६) "तस्मादध्यवसायं कुर्वदेव प्रत्यक्षं प्रमाणं भवति ।"—न्यायवि० टी० १।२१ । (७) "प्रत्यक्षं सन्निहितरूपादिमात्रग्राहि विकल्पान्तरेणैकत्वाध्यवसाये सति प्रवर्तकम्"—प्र० वार्तिकाल० पृ० २१६ । तुलना—"अविकल्पमपि ज्ञानं विकल्पोत्पत्तिशक्तिमत् । निःशेषव्यवहाराङ्गं तद्द्वारेण भवत्यतः ॥"—तत्त्वसं० श्लो० १३०६ । (८) प्रमाणम् । (९) विकल्पस्यैव । (१०) "यत्र भाविगतिस्तत्रानुमानं मानमिष्यते । वर्तमानेऽतिमात्रेण वृत्तावध्यक्षमानता ॥"—प्र० वार्तिकाल० पृ० २१८ । (११) प्रमाणम् । (१२) अभ्यासे । (१३) कल्पनया । "प्रमाणमन्तरेण प्रतीत्यभिमानमात्रं संवृतिः"—प्र० वार्तिकाल० ३।५ । "असद्रूपदार्थाध्यवसायात्मना हि संवृतिः तत्त्वसंवरणात् ।"—प्र० वार्तिकाल० पृ० २०३ । (१४) अनुभवपूर्वक-त्वात् । (१५) संवृतिविकल्पस्य ।

त्योरिति चेत्; अत्राह–**'निर्णीतिर्यदि'** इत्यादि मध्यक्षणस्य सभेदस्य ग्रहणात् तत्र निर्णीतिः सविकल्पकं दर्शनं यदि प्रमाणम्; अत्र दूषणम्–**अविकल्पमखिलम्** अभ्यासजमपि न केवलमन्यत् **स्याद्** भवेत् **अप्रमाणं स्वतो** बौद्धस्य अक्रमेणैव (णेव) क्रमेणापि सभेदभावं-भवाद् (अभेदसंभवात्) इति भावः। ननु च स्वरूपे पररूपे वा अक्रमेण क्रमेण[वा]स्वलक्षणदर्शनमविकल्पकम्, तत्पृष्ठभाविनी तु विकल्पबुद्धिः अनुमानादिव्यवहारमारव (रव)यति, तद्बशात् तत् प्रमाणमिति चेत्; अत्राह–**तस्याश्चेद्** इत्यादि। गतार्थमेतत्।

अथचेत्कमिदम् (अथवेत्थमिदम्) अवतार्य एवं व्याख्येयम्–अप्रमाणव्यवच्छेदत्वं प्रमाणलक्षणमुच्यते। न च व्यवच्छेद्यमप्रमाणमस्ति। द्विचन्द्रादिदर्शनमस्तीति चेत्; कुतस्तदप्रमाणम्? बाध्यमानत्वात्; न; सर्वथा तदयोगादिति, जाग्रद्दर्शनवद् द्विचन्द्रादिदर्शनमपि प्रमाणं (प्रमाणं) न वा किञ्चिदिति व्यवच्छेद्याभावात् **'वक्ष्ये सिद्धिविनिश्चयम्'** इत्यन-[८क] र्थकमिति चेत्; अत्राह–**सिद्धिश्चेद्** इत्यादि। **सिद्धिः** प्रमाणं **चेद्** यदि **उपलब्धिमात्रम्** बुद्धिसामान्यम्। कथं तत् प्रमाणम्? इत्याह–**अविसंवादैकहेतोः** इत्यादि। गतार्थमेतदपि। इदमत्र तात्पर्यम्–'अविसंवादिनी बुद्धिः प्रमाणं नान्या' इति विभागमनपेक्ष्य तन्मात्रं यदि प्रमाणमिति; अत्र दूषणमाह–**क्षणिकादिसिद्धिः** इत्यादि। क्षणिक आदिर्यस्य पराभ्युपगततत्त्वस्य तत्तथोक्तम् तस्य सिद्धिः तत्सम्बन्धनीयं प्रमाणमनुमानं (मौं न) स्यात्। अयमभिप्रायः–यदि ज्ञानमात्रं प्रमाणं तर्हि नीलादाविव स्थूलादावपि प्रत्यभिज्ञानादि प्रमाणमिति तेन बाधितविषयत्वात् शब्दादौ क्षणिकाद्यनुमा न प्रमाणम्। न च एकत्र परस्य अनेकप्रमाणम् अर्थवत्, अनभ्युपगमात्। अथ बाध्यमानत्वान्न स्थूलादिज्ञानं प्रमाणम्; तर्हि अबाधितं ज्ञानं प्रमाणयितव्यम्, न सर्वम्। तथा चेत्; अत्राह–**'निर्णीतिर्यदि'** इत्यादि। अबाधिता प्रतीतिः **अविसंवादैकहेतुः निर्णीतिर्यदि** प्रमाणम् **निर्विकल्पं** विकल्पात् निर्णीतिभेदान्निष्क्रान्त (न्तं) संवेदनमात्रम् **अखिलं** निरवशेषं **न स्यात् प्रमाणं स्वतो** बौद्धस्य किन्तु संवेदनविशेषः स्यादिति प्रतिज्ञाहानिः तस्य।

अत्राह वैशेषिकादिः–न निर्णीतिः, अपि तु तद्धेतुत्वात् सन्निकर्षादिः प्रमाणमिति चेत्; अत्राह उत्तरम्–**तस्या** निर्णीतेश्चेत् **जननाद् अन्यत्** प्रमाणम् **अत एव** अस्तु **स्वतः** स्वयमेव **निर्णयः**–यस्य हि भावात् परनिरपेक्षा सिद्धिः तदेव प्रमाणं युक्तम्। निर्णीतिभावाच्च तथा तत्सिद्धिः, तदभावे अन्यभावेऽपि तदभावात्, अन्यथा[८ख]चक्षुषो रूपवद् रसादिसिद्धिरपि, संयुक्तसमवेतसम्बन्धस्याविशेषादिति मन्यते।

यदि वा, य एवमाह प्रमाभङ्गवादी प्रज्ञाकरगुप्तः (प्तः)–*"न प्रतिभासाद्वैतात् परं तत्त्व-

---

(१) निर्विकल्पकम्। (२) बाध्यमानत्वायोगात्। (३) बुद्धिमात्रम्। (४)अनुमा–अनुमानं प्रमाणं न स्यादित्यर्थः। (५) बौद्धस्य। (६) एकस्मिन् प्रमेये अनेकप्रमाणानां प्रवृत्त्यनभ्युपगमात्। (७) प्रमाणम्। (८) प्रमाणम्। (९) निर्णीतिजनकत्वात्। "उपलब्धिहेतुश्च प्रमाणम्"–न्यायभा० २।१।११। (१०) सन्निकर्षादि। (११)परनिरपेक्षा। (१२) निर्णीत्यभावे। (१३) सन्निकर्षादिसद्भावेऽपि। (१४) सिद्ध्यभावात्। (१५) स्यादिति सम्बन्धः। (१६) चक्षुःसंयुक्ते घटे रसस्यापि समवायात्।

मस्ति, इति न तत्र किञ्चित् प्रमाणम्, तदद्वैतस्य च स्वसंवेदनाध्यक्षसिद्धत्वात् न तत्र विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिर्वा यत्तन्निरासार्थं प्रमाणलक्षणप्रणयनम्। अतो व्यर्थमेतद्यक्ष(त्-अध्यक्ष")इत्यादि; तत्राह–**सिद्धिश्चेत्**। इदमत्र चिन्त्यते–सर्वविकल्पातीतप्रतिभासो वा तत्र प्रमाणं स्यात्, 'घटमहं वेद्मि' इत्यादि प्रतिभासो वा ? तत्र प्रथमपक्षं दूषयन्नाह–**सिद्धिः प्रमाणं चेत्** यद्येकानेकत्वादिभेदशून्यं प्रतिभासमात्रम् **उपलब्धिमात्रम्** उपलम्भनम् उपलब्धिः, सैव तन्मात्रम्। यदुक्तम्–*"प्रतिभासः प्रतिभास एवेति कथं तत्प्रमाणम् ?" इति; अत्राह–'घटमहं वेद्मि' इत्यादि प्रतीतिः **निर्णीतिः** तस्या **विना** तामन्तरेण तदभावः। कथम्भूतायाः ? **अविसंवादैकहेतोः** अविप्रतिपत्तेरेकस्य हेतोः। भवत्वेवं को दोष इति चेत्; अत्राह–**क्षणिकादिसिद्धिः** क्षणिक आदिर्यस्य सारूप्यसन्तानान्तरादेः तस्य सिद्धिः प्रमाणं पराभ्युपगताऽनुमा **न स्यात् स्वयं** सौगतस्य तद्वत् पुरुषोपलब्धिर(ब्धेर)निवारणेन तया बाधनादिति मन्यते। संवृत्या सा प्रमाणमिति चेत्; अत्राह–**सर्वथा** परमार्थप्रकारेणेव संवृतिप्रकारेणापि न स्यात्, तद्वत् नित्येश्वराद्यनुमानमपि प्रमाणं स्यादिति निरूपयिष्यते। निर्णीतिरेव तर्हि प्रमाणमिति चेत्; अत्राह–**निर्णीतिः** स्वपरव्यवसायात्मिका बुद्धिः [५क] यदि प्रमाणम् **निर्विकल्पम्**–'अहमिति ज्ञानं ग्राहकं ग्राह्यो घटादिः तद्व्यवसायः फलम्' इति विकल्पो भेदः तस्मान्निष्क्रान्तम् अद्वयवेदनं **न स्यात् प्रमाणं स्वतः** स्वरूपेण। ततो यदुक्तम्–*"**प्रमाणमविसंवादिज्ञानम् इत्यादि व्यवहारेण प्रमाणलक्षणमुक्तम्, अज्ञातार्थप्रकाशो वेति परमार्थेन, प्रमाणान्तरेण अज्ञातस्य अद्वयप्रतिभासार्थस्य आत्मवेदनस्य एवमभिधानात्।**" इति; तन्निरस्तम्। शेषं पूर्ववत् व्याख्येयम्। ननु च यदि नीलादिः अर्थतद्विभ (अर्थः न) तद्व्यतिरेकेण तद्ग्राहकमस्ति अनुपलम्भात्, शरीरसुखादेः प्रमेयत्वेन तदग्राहकत्वमिति कथं निर्णीतिः प्रमाणमिति चेत्; न; आ-
२० स्तोत्तरस्य अनन्तरं च [व]क्ष्यमाणत्वात्।

का पुनरियं सिद्धिः प्रमाणात्मनि या उपचारात् प्रवर्तत इति चेत्; अत्राह–**'प्रमाणस्य'** इत्यादि।

[प्रमाणस्य फलं साक्षात् सिद्धिः स्वार्थविनिश्चयः।
प्रतिपत्तुरपेक्ष्यं यत् प्रमाणं न तु पूर्वकम् ॥३॥

२५ स्ववृत्तिः–**यथास्वं प्रमेयस्य व्यवसायो यतस्तदेव स्वतः प्रमाणम्। ज्ञानं प्रमाणम् अन्यतः**

---

(१) "परमार्थश्चाद्वैतरूपता,तत्प्रकाशनमेव प्रमाणम्। तथा च प्रत्ययादिस्वरूपस्य स्वतो गतिरिति" –प्र० वार्तिकाल० २।५। पृ० ३०। "विचार्यमाणं सकलं विशीर्यते नाद्वैतादपरं तत्त्वमस्ति।"–प्र० वार्तिकाल० २।६। पृ० ३१। (२) प्रतिभासाद्वैतस्य। (३) प्रतिभासाद्वैते। (४) अनुमा–अनुमानं न स्यात्। (५) निःशैकब्रह्मरूपपुरुषोपलब्ध्या। (६) क्षणिकादिसिद्धिः। (७) "अज्ञातार्थप्रकाशो वा–अथवेदं प्रमाणलक्षणम्, प्रकाश्यतेऽनेनेति प्रकाशः, अज्ञातस्यार्थस्य प्रकाशकं ज्ञानं प्रमाणम्। अथवा अर्थशब्देन परमार्थ उच्यते। अज्ञातार्थप्रकाश इति परमार्थप्रकाश इत्यर्थः। परमार्थश्चाद्वैतरूपता, तत्प्रकाशनमेव प्रमाणम्। तथा च प्रत्ययादिस्वरूपस्य स्वतो गतिरिति, उक्तञ्च प्रामाण्यं व्यवहारेणेति। तत्र पारमार्थिकप्रमाणलक्षणमेतत्, पूर्वं तु सांव्यवहारिकस्य।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३०। (८) नीलादिग्राहकम्। (९) दृश्योत्तरस्य। (१०) तुलना–"अत एवोक्तम्–प्रमाणस्य साक्षात्फलं सिद्धिः स्वार्थविनिश्चयः।"–प्रमाणनि० पृ० २।

प्रवृत्तौ अविसंवादनियमायोगात्। तद्धेतुत्वं पुनः सन्निकर्षादिवन्न दर्शनस्य। अभ्रान्तत्वेऽपि सर्वथा निर्णयवशात् प्रामाण्यसिद्धेः कथञ्चित् तदात्मकत्वं तत्त्वबुद्धेरभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा तदफलमसाधनमसतो न विशेष्येत। अकिञ्चित्करसंशयविपर्ययव्यवच्छेदेन निर्णयात्मकत्वं नान्यथा। अनधिगतार्थाधिगन्तृ विज्ञानं प्रमाणमित्यपि केवलमनिर्णीतार्थनिर्णीतिरभिधीयते, अन्यथा अतिप्रसङ्गात्। अधिगतमात्रस्य विसंवादकस्य साधनान्तरापेक्ष्यगोचरस्य साधकतमत्वानुपपत्तेः। तदनधिगतस्वलक्षणाधिगतावपि दृष्टे प्रमाणान्तराप्रवृत्तिप्रसङ्गात्। समानभूतसमारोपव्यवच्छेदे संवृत्यनुमानयोर्न कश्चिद्विशेषः। साक्षादनुभवादुत्पत्तिः महानपराधः। प्रतिपत्तुरुत्तरं प्रमाणं तत्साधनभावात् न तु पूर्वकम्, अनुमानेऽप्येवं प्रसङ्गात्।]

प्रमाणस्य करणविशेषस्य यत् **फलं साक्षाद्** अव्यवहितं न व्यवहितं हानादिबुद्धिलक्षणम्। तत् किम्? इत्यत्राह–**सिद्धिः** इति। सिद्धिशब्दवाच्यम्। ननु [1]तत्र आचार्याणां विप्रतिपत्तिदर्शनात् किं तत्फलमिति पृष्ट इव तदर्शयन्नाह–**स्वार्थविनिश्चयः** इति। स्वं च विज्ञानस्वरूपम् अर्थश्च घटादिः, यदि वा, स्वोऽर्थः स्वग्रहणयोग्यो भावः तयोः तस्य वा विनिश्चयोऽकिञ्चित्करत्वादिव्यवच्छेदेन तद्ग्रहणम्। द्वितीयव्याख्यानेन घटाद्यर्थाग्राहिणीनां सुखादिवित्तीनामपि स्वरूपार्थनिश्चायकत्वेन प्रमाणत्वमुक्तं वेदितव्यम्। ननु न नीलादिव्यतिरेकेण अपरमस्ति[3] यस्य स्वार्थविनिश्चयः फलं स्यात्। नीलादिरेवेति चेत्; [४ख] न; तँस्य स्वनिश्चऽयेपि अर्थनिश्चयाभावात् ततोऽन्यस्य अर्थस्याभावात् 'स्वार्थविनिश्चयः' इत्यनुपपन्नम्। 'अथ द्वितीयं व्याख्यानमाश्रित्य एतद्युक्तमित्युच्यते; न; तत्र विज्ञप्तिवादो भ[व]तोऽनिष्टं स्यात्, नीलादेः स्वग्राहकत्वेन ज्ञानतापत्तेः। शरीरसुखादि [5]ततः परम्, [6]तस्य स्वरूपवत् नीलादावपि प्रवृत्तेरयमदोष इति चेत्; न; शरीरस्य नीलादिवत् प्रमेयत्वात्, सुखादेश्च नीलादिग्राहकत्वानभ्युपगमात् न [7]स्वार्थेत्यादि युक्तमिति चेत्; न; अहमहमिकया प्रतीयमानायाः संवित्तेः [8]ततोऽन्यस्याः अयत्माये (अभावे) नीलादौ कः समाश्वासः सुखादौ वा? यत [9]इदं स्यात्– *"नीलादि ज्ञानं प्रतिभासमानत्वात् सुखादिवत्" इति। नन्वस्तु अहम्प्रत्ययः[10]; स तु 'स्थूलोऽहं कृशोऽहम्' इति शरीरसामानाधिकरण्येन प्रतीतेर्न शरीराद् भिद्यते अपि तु तदेव,[11] [12]तस्य च नीलाद्यग्राहकत्वमुक्तमिति चेत्; न; चार्वाकमतचर्वणे चर्वणमस्य भविष्यति इति किमत्रैवोत्सुकिमन (त्सुक्येन)? भवत्वयं [13]ततो भिन्नः; तथापि कथं नीलादेर्ग्राहक इति चेत्; कथं स्वरूपस्य? [14]तत्र [15]तस्य प्रतिभासाच्चेत्; नीलादेरप्यर्तं[16] एव ग्राहकोऽस्तु, तथा च लौकिकी प्रतीतिः–'नीलमहं वेद्मि पीतमहं वेद्मि' इति। ततो यदुक्तम्–*"यदि समानकालस्य

(१) फले। (२) आदिपदेन संशयविपर्ययौ ग्राह्यौ। (३) ग्राहकम्। (४) नीलादेः। (५) नीलादेः। (६) शरीरसुखादेः। (७) स्वार्थविनिश्चय इति। (८) नीलादेर्भिन्नाया इति। (९) "यथा च न सुखादि व्यतिरेकेणापरं विज्ञानं तथा नीलादिव्यतिरेकेणापि" –प्र० वार्तिकाल० ३।३८७। (१०) नीलादेः परः। (११) शरीरस्वरूपमेव। (१२) शरीरस्य च। (१३) शरीरादेः। (१४) अहम्प्रत्यये। (१५) स्वरूपस्य। (१६) प्रतिभासादेव।

नीलादेः ग्राहकः ; नीलादिः [1]तस्य स्यात् अविशेषात्" [2]इति; तन्निरस्तम् । यदि हि समानकालत्वादेकस्य धर्मः सर्वस्य स्यात् ; तर्हि चित्रे नीलाकारवत् नीलता पीताद्याकारेऽपि स्यात् पीताद्या[१०क]कारता वा नीले, ततः कथं चित्रं नाम, यतः *"चित्रं चित्रमेव" इति भवेत् ? प्रत्यक्षबाधा अन्यत्रापि । न खलु यथा ग्राहकता अहम्प्रत्यये प्रत्यक्षतः प्रतीयते तथा तं (तत्र)[3] प्रतीयते । यथा वा नीलादेर्ग्राह्यता[4] तथा तं प्रति तत्प्रत्ययस्य सा[5] इति, अन्यथाऽविवादात् सौगतमेव सकलमिति शास्त्रप्रणयनमनर्थकम् ।

स्यान्मतम्—न नीलादितत्प्रत्ययाभ्याम् अन्या ग्राह्यता ग्राहकता च प्रतीयते; नन्वेवं तयोः स्वरूपग्रहणमपि दुर्लभम्, अत्रापि न तत्स्वरूपादन्या ग्राह्यता ग्राहकता वा, न च तदभावे तद्ग्रहणम् । यदि पुनः स्वप्रकाशरूपत्वात् स्वग्रहणम्; तर्हि अहम्प्रत्ययस्य परप्रकाशनरूपत्वात् परग्रहणमस्तु, नीलादेश्च परप्रकाश्यरूपत्वात् परेण ग्रहणम् । न वै जैनेन स्वभावभूतयोग्यतायाः अन्या ग्राह्यता ग्राहकता वा अभ्युपगम्यते । तदुक्तम्—

*"स्वहेतुजनितोऽप्यर्थः स्वयं ग्राह्यो यथा मतः ।
तथा ज्ञानं स्वहेतूत्थं स्वयं तद्ग्राहकं मतम् ॥" [लघी० श्लो० ५९]

एतेनेदमपि प्रत्यक्षं (प्रत्युक्तं) यदुक्तं परेण—*"यदि नीलादेः स्वभावभूतगृहीतिकरणात् संप्रत्ययो ग्राहकः; तर्हि तेन[6] स[7] एव जनितः स्यात् इति [8]तस्य [ज्ञानता] ज्ञानकार्यत्वात् उत्तरज्ञानवत् । अथ [9]अर्थान्तरगृहीतिकरणाव(द)र्थस्य न किञ्चित् कृतमिति न तेन[10] ग्रहणम् । गृहीत्या पुनर्गृहीतिकरणे अनवस्थानम् ।" इति[11]। कथम् ? स्वरूपग्रहेऽप्यस्य समत्वात् । तथाहि—स्वरूपस्य गृहीतिकरणाद् विज्ञानं चेद् ग्राहकम् ; [12]तत्तस्य जनकं स्यात् न ग्राहकम्, न चैतद् युक्तम्, स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । ततो भिन्नायः [13]तस्याः करणा-[१०ख]ददोषश्चेत्; स्वरूपस्य न किञ्चित् कृतमिति कथं तेन ग्रहणम् ? तया पुनर्गृहीतिकरणे अनवस्थानम् । साक्षात् स्वरूपग्रहणम् अर्थेऽपि । ननु [14]स्वग्रहणशक्त्या अर्थग्रहणे [15]तयोरैक्यम् । अन्यया चेत्; एकस्य शक्तिद्वयम्, तदपि अन्येन तद्द्वयेन वेद्यते इत्यनवस्था स्यादिति चेत्; इदमपि वक्ष्यमाणेन चित्रैकज्ञानेन सुपरिहारमिति तिष्ठतु तावत् ।

ननु यदुक्तम्—नीलादेर्ग्रहणे अहम्प्रत्ययस्य योग्यताऽस्ति न [16]तस्य तत्प्रत्ययग्रहणे इति;

---

(१) अहम्प्रत्ययस्य ग्राहकः । (२) तुलना—"समकालश्चेत्तर्हि यथा ज्ञानमर्थस्य ग्राहकम् एवमर्थोऽपि ज्ञानस्य ग्राहकः स्यात् । समसमयभावित्वाविशेषात् । (पूर्वपक्षः)—स्या० रत्ना० पृ० १६२ । प्रमेयक० पृ० ८५ । (३) नीलादौ । (४) प्रतीयते । (५) अहम्प्रत्ययस्य । (६) ग्राह्यता । (७) नीलादितत्प्रत्यययोः । (८) ग्राह्यग्राहकतयोरभावे । (९) परस्य ग्रहणम्, अर्थात् परग्राहकत्वमस्तु । (१०) संप्रत्ययेन । (११) नीलादिरेव जनितः, यतो हि तस्य स्वभावभूता गृहीतिस्तेन जन्यते । (१२) नीलादेः । (१३) भिन्नगृहीत्युत्पादने च । (१४) संप्रत्ययेन । (१५) तुलना—"अथ गृहीतिकरणादर्थस्य ज्ञानं ग्राहकम्, ननु सा अर्थादर्थान्तरम् अनर्थान्तरं वा तेन क्रियते ? अर्थान्तरत्वे अर्थस्य न किञ्चित्कृतमिति कथं तेनास्य ग्रहणम् ? तस्येपमिति सम्बन्धासिद्धिश्च । तथाप्यस्य गृहीत्यन्तरकरणेऽनवस्था । अनर्थान्तरत्वे तु तत्करणे अर्थ एव तेन क्रियते इत्यस्य ज्ञानता ज्ञानकार्यत्वात् उत्तरज्ञानवत् ।"—प्रमेयक० पृ० ८५ । (१६) विज्ञानं स्वरूपस्य । (१७) गृहीतेः । (१८) स्वार्थग्रहणात्मकज्ञानपक्षे । (१९) स्वार्थयोः । (२०) नीलादेः ।

तत्रेदं चिन्त्यते–अर्थग्रहणकार्यदर्शनात् तत्र योग्यतास्ति इति गम्यते, न तस्याः तद्ग्रहणम्, कार्यानुमेयत्वात्तस्याः । अथ तत एव सा गम्यते इति मतिः ; तर्हि ततो योग्यतासिद्धिः अतश्च तत्सिद्धिरिति अन्योन्यसंश्रय इति चेत्; उच्यते–*"यथा सुतीक्ष्णोऽपि असिः नात्मानं छिनत्ति तथा ज्ञानं न [स्वं] परिच्छिनत्ति स्वात्मन्यर्थक्रियाविरोधात्" इत्यत्र यदुक्तम् *"ज्ञानम् आत्मानं परिच्छिनत्ति तथाशक्तिः (क्तेः) नासिः छिनत्ति विपर्ययात्" इति; तत्राप्यस्य समत्वात् । तद्यथा स्वग्रहणात् तच्छक्तिसिद्धिः कार्यानुमेयत्वात्तस्याः न पुनः ततस्तद्ग्रहणसिद्धिः । स्वग्रहणसिद्धेः तत्सिद्धिरिति चेत् ; अन्योन्यसंश्रयः – शक्तिसिद्धेस्तद्ग्रहणसिद्धिः तस्याः तच्छक्तिसिद्धिरिति । अथ स्वग्रहणं प्रत्यक्षतः सिद्धम् , 'तत् कुतः' इति चोद्ये 'स्वशक्तितः' इत्युत्तरमुच्यते न पुनः तस्याः तत्सिद्धिः; तदेतदन्यत्र समं न चेति (वेति) चिन्त्यम् । भवतु स्वरूपवत् नीलादेरपि तेन ग्रहणं को दोष इति चेत् ? अयम्–*"यदवभासते [११क] तज्ज्ञानं यथा सुखादि अवभासते च नीलादिः" इत्यत्र स्वस्य स्वेनैव अवभासस्य सुखादौ ज्ञानत्वेन व्याप्ततया दृष्टस्य नीलादावदर्शनाद् असिद्धो हेतुः स्यादिति, इतरथा स्वसंवेदनात्मकत्वेन तस्य ज्ञानान्तरत्वात् सर्वज्ञज्ञानवत् वादिप्रतिवादिभ्यामविषयीकरणात् तौ प्रति आश्रयासिद्धता स्यात् । अथान्तरस्यापि ज्ञानस्य मतः (सतः) तस्यै[9] ताभ्यां ग्रहणं नार्थस्य सतः इति किंकृतो विभागः ? अथ चित्रैकज्ञानमतमवलम्ब्य अहम्प्रत्यय[स्य] नीलाद्याकारैकत्वमिष्यते यदि; तर्हि स्वभावादिभिन्नोऽप्यहम्प्रत्ययः कदाचिद् योग्यतया नीलादिना एकत्वमुपयाति तयैव[12] तद्ग्राहकत्वमुपयाति तयैव तद्ग्राहकः स्यात् । तदनभ्युपगमे पुनरिदं भवेत् श्रोत्रियो[13] 'न चाण्डल्या दर्शनमिच्छामि स्पर्शं त्विच्छामि' इति ।

(१) प्रत्यये । (२) योग्यतायाः । (३) तेन अर्थग्रहणेन ग्रहणम् । (४) अर्थग्रहणादेव । (५) तुलना–"ननु नीलं कथमात्मरूपं प्रकाशयति ? न हि प्रकाश्या घटादयः प्रदीपादिना स्वप्रकाशकाः, आत्मनि क्रिया विरुद्ध्यते । न हि सैवासिधारा तथैव छिद्यते । अत्र परिहारः–प्रकाशमानत्वादात्मवत् स्वरूपस्य प्रकाशकः । यथा प्रकाशोऽभिमतस्तथा धीरात्मवेदिनी॥३२०॥ अवेद्यवेदकाकारा···स्वात्मनि क्रियाविरोध इति कुतः प्रमाणादवगतम् ? न हि दृष्टान्तमात्रादर्थस्य प्रसिद्धिः । समीहितस्य विपर्ययेऽपि दृष्टान्तस्य प्रदीपस्य संभवात् । यदि घटः प्रदीपेन बाह्यात्मना प्रकाश्यते, प्रदीपोऽपि तथाभूतेनापरेणेति न पर्यनुयोगः···वस्तुस्वभाव एष इति का वात्र क्षतिः ? अथ स्वात्मनि क्रियाविरोध इति; उच्यते–यदा स्वरूपन्तत्तस्य तदा कैव विरोधिता । स्वरूपेण विरोधे हि सर्वमेव प्रलीयते ॥ न हि स्वेनैव रूपेण कस्यचिद्विरोधः । तथा चेद्य किञ्चिद्वेत् स्वेन रूपेणेति सकलमस्तंगतं भवेत् । छेदस्तु पुनर्विशिष्टोत्पादनं न च तेनैव तस्योत्पादनम् । अयमेवार्थः स्वात्मनि क्रियाविरोध इति । स्वप्रकाशरूपं तु तस्य स्वरूपं न तेनैव विरुध्यते···"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३५३–५४ । "अत्र केचिदाहुः न चित्तचैत्तानां स्वसंवेदनं घटते स्वात्मनि क्रारित्वविरोधात्। न हि सुशिक्षितोऽपि बटुः स्वस्कन्धमारोढुं शक्नोति । न हि तीक्ष्णाऽप्यसिधारा आत्मानं छिनत्ति । न हि सुप्रज्वलितोऽपि वह्निस्कन्ध आत्मानं दहति तथा चित्तचैत्तमपि कथमात्मानं प्रत्येतु ?···अत्रोच्यते न कर्मकर्तृभावेन वेद्यवेदकत्वं ज्ञाने वर्ण्यते । किं तर्हि ? व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावेन । यथा प्रदीप आत्मानमात्मना प्रकाशते तथा ज्ञानमपि जडपदार्थविलक्षणं स्वहेतोरेव प्रकाशस्वभावमुपजायमानं स्वसंवेदनं व्यवस्थाप्यते ।"–तर्कभा० मो० पृ० ९–१० । (६) स्वग्रहणशक्तेः । (७) स्वशक्तेः । (८) अहम्प्रत्ययेन । (९) नीलादेः । (१०) नीलादेः । (११) वादिप्रतिवादिभ्याम् । (१२) 'तयैव तद्ग्राहकत्वमुपयाति' इति निरर्थकं भाति । (१३) वदति यदहम् ।

स्यान्मतम्—तत्प्रत्ययेन नीलादभिन्नस्य ग्रहणेऽपि कथम् अर्थता गम्यते ? प्रतिभासादिति चेत्; स्वप्नादिदृष्टा[नामपि] स्यादिति तज्ज्ञानमपि प्रमाणमेव । [तथा] च किं प्रमाणलक्षणप्रणयनेन व्यवच्छेद्याभावात् । दुष्टकारणजनितदर्शनविषयत्वान्नेति चेत्; दर्शनं तत्त्वेति कुतः ? अर्थ (अनर्थ) विषयत्वात्; अन्योऽन्यसंश्रयः—सिद्धे हि तथादर्शने तद्विषयस्य अनर्थत्वम्, अतः तथा दर्शनमिति । बाधितप्रत्ययगोचरत्वान्ने[3]त्यपि नोत्तं (त्तरम्;) तस्य हि बाधनं नोदयकाले स्वरूपापहारः; तदा तत्प्रतीतेः । अन्यदा तु नश्वरत्वेन स्वयमेव नास्ति केन तद्बाधनम् ? दैवरक्ता[4] हि किंशुकाः, न तत्र नः प्रयासः । नापि विषयापहारः; तस्यापि [११ख] दर्शनात् । न च विषयापहारः प्रमाणधर्मः अपि तु नराधिपस्य । अथ न विषयस्यापहारो बाधनम्, अपि तु तस्य सतः प्रतिभासज्ञापनम्[5]; तदपि न सुन्दरम्; यतो यद्यसौ असन्; कथं प्रतिभासः खरशृङ्गवत् ? अथ प्रतिभासः; कथमसन् ? जाग्रद्दृष्टो घटादिरपि तथैव स्यात् । 'धिङ् मिथ्यैतद् वितर्कितं नायं घटादिः किन्त्वन्यदेतत्' इति प्रत्ययानुत्पत्तेर्नेति[6] चेत्; ननु मरीचिकायां जलदर्पिनो (जलार्थिनोऽपि) झटिति मरणे देशान्तरगमने वा[न]स प्रत्ययो जायते इति तज्जलं सत्यं स्यात् । सत्यपि च अर्थविशेषे कचित् स प्रत्ययो दृष्टः । अयमपि प्रत्ययो यद्यसदर्थः; कथमन्यस्य असदर्थतां ज्ञापयति, अतिप्रसङ्गात् । सदर्थश्चेत्; पूर्ववत् प्रसङ्गोऽनवस्था च । किञ्च, अयं प्रत्ययः पूर्वप्रत्ययसमानविषयश्चेत्; न तस्य कथञ्चिदपि बाधकः, अन्यथा सर्वेषाम् एकार्थज्ञानानामन्योन्यं बाध्यबाधकभावे (वो) भवेत् । भिन्नविषयश्चेत्; सुतरां न तस्य बाधकः, इतरथा घटज्ञानं पटज्ञानस्य बाधकमस्तु । नेति प्रत्ययानुत्पत्तेर्नेति चेत्; स एव प्रत्ययः कुतो न जायते ? एकाधिकरणत्वाभावात्[7]; रजतशुक्तिकाप्रत्ययोः कथमेकाधिकरणत्वम्, प्रमाणाभावात् ? पूर्वोत्तरप्रत्ययाभ्यां [8]तेदप्रतीतेः इति क्षणभङ्गे चर्चितमेतत् । तन्न बाध्यमानज्ञानगोचरत्वात् स्वप्नदृष्टनीलाद्यनर्थत्वम् । विसंवादिदर्शनगोचरत्वादिति चेत्; न दृष्टार्थप्राप्तिः अविसंवादः, सा स्वप्नेऽपि दृश्यते । अथ असौ[13] अर्थ एव न भवति अनर्थक्रियाकारित्वात्; अर्थक्रियापि तत्र दृश्यते [१२क] जलादिकार्यस्य स्नानादेर्दर्शनात् । अथ जाग्रतात् दर्शनात्[14] सा अर्थक्रियैव न भवति; तर्हि [15]अन्यापि न स्यात् सुप्तेनाऽदर्शनात् । किञ्च, यदि अर्थक्रिया असती; कथम् अतोऽन्यस्य सत्त्वम् ? सती

---

(१) "बोधमात्रसंगमो हि स्वप्नेतरप्रत्ययसंभवी समान एव सर्वत्र"—प्र० वार्तिकाल० पृ० ४ । (२) स्वप्नदृष्टार्थज्ञानमपि । (३) न स्वप्नदृष्टार्थज्ञानं प्रमाणम् । (४) स्वप्नदृष्टार्थज्ञानस्य । "न तावज्ज्ञानान्तरेणाभावः स्वप्नज्ञानस्यान्यस्य वा केनचित् क्रियते, तत्काले तस्य स्वयमेव नाशात् । न चाक्षिनिमीलनानष्टे ज्ञाने बाध्यता प्रतीयते ।"—प्र० वार्तिकाल० पृ० ४ । (५) "दैवरक्ता हि किंशुका केन रज्यन्ते नाम" —प्रमेयक० पृ० ७५ । "दैवरक्ता हि किंशुकाः क एनानधुना रञ्जयति ।"—प्र० वार्तिकाल० पृ० ३७४ । "दैवरक्ता हि किंशुकस्तवकावतंसकाः ।"—प्र० वार्तिकाल० पृ० ५८४ । (६) "अन्येन नहि ज्ञानेन तस्य विषयापहारोऽसत्ताज्ञापनलक्षणो बाधः । न च स्वविषये प्रवृत्तमन्यविषयापहारं रचयितुमलम्, स्वविषय-(ज्ञान) स्वविषयस्य रूपसाधनं हि ज्ञानानां धर्मः । परविषयापहरणं तु नराधिपधर्मः ।"—प्र० वार्तिकाल० पृ० ३५९ । (७) स्वप्नदृष्टस्य । (८) प्रतिभासमात्रमेतत् इति ज्ञापनम् । (९) असन् स्यात् । (१०) न घटादिरसन् किन्तु सत्यः । (११) चेत् । (१२) पूर्वेण उत्तरस्य उत्तरेण च पूर्वस्याज्ञानात् नैकाधिकरणत्वप्रतीतिरिति भावः । (१३) स्वप्नदृष्टः । (१४) जाग्रतेन सा अर्थक्रिया न क्रियते अतः सा अर्थक्रियैव न भवति । (१५) जाग्रद्दृष्टार्थक्रियापि अर्थक्रिया न स्यात् ।

स्वतश्चेत् ; भावोऽपि तथैव सन्निति किं तदपेक्षणेन ? अन्यतश्चेत् ; अनवस्था स्यात् । ततो यत्किञ्चिदेतदिति चेत् ; अत्र प्रतिविधीयते—

जाग्रद्दशावत् ; स्वप्नेऽपि बहिरर्थोऽस्तु, किं वा स्वप्नदशावत् अन्यदापि समान् दुभय तु सदेहः (स मा भूत्, भवतु सन्देहः), सर्वविकल्पातीतता वा यथा स्यादिति जाग्रत्-स्वप्नदशयोः अविशेषचोदनेयम् ? तत्र प्रथमपक्षे स्वप्नदशायामपि बहिरर्थसिद्धेः [1]तज्ज्ञानमपि प्रमाणमिति [2]तल्लक्षणप्रणयनमयुक्तं व्यवच्छेद्याभावादिति । [अस्मिन्] मते को दोषः? नापरः प्रमाणप्रमेयाऽनिषेधात् । परस्य मते को दोषः ? सकलस्वमतविलोपात् विज्ञप्तिमात्रादेः असिद्धेः । किञ्च, स्वप्नादिज्ञानवद् ईश्वराद्यनुमानादिकमपि स्वप्रतिभासिनाऽर्थेन अर्थवदिति [3]तन्निषेधवचनं प्र ज्ञा क र स्य गुप्तविगोपकम् । अथ दुष्टलिङ्गादिकारणजनितत्वात् [4]तन्निर्विषयम् ; पश्यत अस्य वाच्यं ध्यं (वान्ध्यम्) स्वयमेव स्वस्वप्नादिज्ञाने दुष्टकारणारब्धत्वं निराकृत्य [5]अत्र अभ्युपगच्छतः । १०

एतेन इदमपि प्रत्युक्तम् तौन (यदुक्तं तेन) * **"न तदनुमानाद्यर्थवत् स्वपरिच्छिन्नादन्यस्य प्रापकत्वात्"** इति ; स्वप्नादावपि तथा प्रसङ्गात् । तन्न प्र ज्ञा क र स्य किञ्चिद् अनर्थज्ञानम् । तदुक्तम्—

* **"बहिरङ्गार्थतैकान्ते प्रमाणाभासनिह्नवात् ।**
सर्वेषामर्थसिद्धिः [१२ख] स्यात् विरुद्धार्थाभिधायिनाम् ॥" १५
[आप्तमी० श्लो० ८१] इति ।

अपसिद्धान्तश्चास्य निग्रहस्थानं स्यात् । अथ मदीयोऽयं सिद्धान्त इति न दोषः ; न ; अस्य मीमांसकसिद्धान्तस्य हि 'सर्वं सालम्बनं ज्ञानम्' इति मतम् । अयं तु विशेषः—'कचिल्लौकिकः कचिदलौकिकोऽर्थ आलम्बनम्' इत्येके । सर्वत्र लौकिको आलोवा (अलौकिको वा) कस्मान्नेति चेत् ? अथ [6]परस्य मरीचिकाजलम् अन्यजलवत् कस्मान्न स्नानादिकृत् ? स्वकारणात् तथोत्पत्तेरिति चेत् ; किं पुनरस्य कारणम् ? अदृढवासनेति चेत् ; सर्वत्र एकरूपा वासना अन्यद्वा कुतो न ? तथाऽप्रतीतेरिति चेत् ; अत एव तर्हि न सर्वो लौकिकोऽलौकिको वाऽर्थः[7] । अथ जाग्रत्क्रियासमत्वात् स्वप्नार्थक्रिया लौकिकी, तत्कार्यर्थोऽपि तथाविधं एवेति मतिः ; तर्हि * **"यत् सत् तत्सर्वं क्षणिकं यथा घटः, संश्च शब्दः"** [हेतुबि० पृ० ५५] इति क्षणिकत्वप्रतिपत्त्यर्थक्रियासमत्वात् नित्येश्वरादिप्रतिपत्तिरप्यर्थक्रिया इति तत्कारणकलापोऽप्यर्थः स्यात् । यदि पुनः [10]इयमर्थक्रिया न भवति ; स्वप्नेऽपि न स्यात् । तथा जाग्रद्दशाभाविन्यपि न स्यादिति चेत् ; क्षणिकादिसिद्धिरपि न स्यादिति सर्वाऽविशेषचोदना ।

स्वप्ने [11]विपरीतख्यातिः अन्यदेशादिस्थस्य अन्यदेशादितया प्रतिभासनात् इत्यपरे[12] । सर्वत्र सैव कुतो नेति चेत् ? न ; तथाऽप्रतीतेः । नहि यथा लोके आदित्योऽन्यदेशोऽपि प्रातः पर्वत-

---

(१) स्वप्नज्ञानमपि । (२) प्रमाणलक्षण । (३) ईश्वराद्यनुमाननिषेधवचनम् । द्रष्टव्यम्—प्र० वार्तिकाल० पृ० ३२ । (४) ईश्वराद्यनुमानम् । (५) ईश्वराद्यनुमाने । (६) बौद्धस्य । (७) आलम्बनम् । (८) लौकिक एव । (९) ईश्वरादिः । (१०) नित्येश्वरादिप्रतिपत्तिः । (११) तुलना—"अस्तु तर्हि विपरीतख्यातिः पूर्वकालमेव दृश्यते तत्कालतया···"—प्र० वार्तिकाल० पृ० १९५ । (१२) जैनादयः । "विपरीतख्यातिस्तस्मादाश्रयणीया मतिमद्भिः ।"—न्यायम० पृ० १७३ । न्यायकुमु० पृ० ६६ ।

सैंह्लग्नतयेव प्रतिभा[१३क]तीति प्रतिपद्यते, तथा पर्वतोऽप्यन्यदेशस्तद्देशतया[1] प्रतिभातीति प्रतिपद्यते (पद्येत) इति । यदि पुनरयं निर्बन्धः सर्वत्र सैवास्तु इति ; तर्हि यथा अनुमानस्य अस्पष्टः सामान्याकारो बाह्ये स्वलक्षण[2] आरोपात् प्रतिभाति, अन्यथा [3]ततः तत्र[4] प्रवृत्तिर्न स्यात्, तथा सर्वत्र ज्ञाने स्वसंवेदनरूपता अन्यस्य तत्र आरोपिता प्रतिभाति [5]अन्यत्र अरोपिता प्रतिभाति अन्यत्रापि अन्यस्य इत्यनवस्था । असत्त्वख्याति (असत्ख्याति) रित्यन्ये ; तदनन्तरं निरूपयिष्यते । तन्न प्रथमपक्षः ।

[6]द्वितीयेऽपि स्वप्ने बहिरर्थाभावमुपलभ्य [7]अन्यत्र तद्भावसाधने इदमनुमानमाश्रितं स्यात्– *"निरालम्बनाः सर्वप्रत्ययाः प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवत्" [प्र०वार्तिकाल० ३।३३१] इति । तत्रेदं चिन्त्यते–प्रत्ययत्वं यदि साकल्येन स्वसाध्येन व्याप्तं न ; कथमतः साध्यसिद्धिः अतिप्रसङ्गात् ? व्याप्तं चेत् ; कथमप्रतीतं तत्तथा[8] ? तत्प्रतीतिश्चेत् निरालम्बना ; स एव दोषः, [9]अन्यथा अनयैव हेतोर्व्यभिचारः । एतेन अनुमानमपि चिन्तितम् । अथ नानुमानं सर्वप्रत्ययलंबनत्व (प्रत्ययानालम्बनत्व) विषयत्वात् प्रमाणम् अपि तु समारोपव्यवच्छेदात् ; भवेदेवं यदि अन्यतः प्रमाणात् [10]तत् प्रतिपन्नं स्यात्, न चैवमिति निरूपयिष्यते । अपि च, यथा सौगतः [11]स्वप्न[नि]दर्शनेन [12]न सर्वत्र बहिरर्थाभावं साधयति तथा [13]अन्योऽपि यदि ग्राह्याकारनिदर्शनेन संवेदनाभावं साधयेत् कथं संवेदनमात्रसिद्धिः यतस्तत्र सौगतस्य आस्था स्यात् ?

अथ तदपि तथास्तु ; तथाहि–[14]यद्विसदर्शन [१३ख] दशावसेयं न तत् परमार्थसत् यथा कामलिना उपलब्धमिन्दुद्वयम्, विसदर्शनावसेयं च संवित्त्यादीति । अत्रापि परमार्थसत्त्वादन्यत्, तदभावमात्रं वा साध्येत ? तत्र द्वितीयविकल्पस्य प्रथमचतुर्थष्यवि (र्थवि) कल्पे चर्चा भविष्यति । प्रथमविकल्पे तु पूर्ववद् दोषः । [15]न च सर्वविभ्रमे विभ्रमसिद्धिः अतिप्रसङ्गात् ।

ननु [न] परमार्थतः कस्यचित् केनचिद् व्याप्तिरिष्यते, नापि कुतश्चित् किञ्चित् साध्यते, अपि तु यथा व्यवहारेण बहिरर्थवादिना [16]एकत्र अग्नेर्धूमदर्शनात् सर्वत्र सर्वदा [17]तत एव स नान्यतः, धूमदर्शनाच्च अग्निरनुमीयते तथा प्रकृतमन्येन अनुश्रीयत इति चेन ; उक्तमत्र *"सर्वेषामर्थसिद्धिः" [आप्तमी० श्लो० ८१] स्यादिति । शक्यं हि [18]तैरपि वक्तुम्–'नास्माभिः केनचित् कस्यचित् व्याप्तिः साध्यते, किन्तु घटादौ बुद्धिमत्कारणत्वादिना कार्यत्वादेः सहभावदर्शनात्, [19]अन्यत्र तदर्शनात् साध्यमनुमीयते ।' तथा च *"पक्षधर्मः" [हेतुवि०श्लो० १] [20]इत्यादि लिङ्गलक्षणमवाच्यम् निवर्त्याभावात् । अथ तथा पारमार्थिकी साध्यसिद्धिर्न स्यादिति मतिः ; सा अन्य-

---

(१) आदित्यदेशतया । (२) अनुमानात् । (३) स्वलक्षणे । (४) 'अन्यत्र आरोपिता प्रतिभाति' वाक्यमेतच्चिरर्थकम् । (५) स्वप्नदशावत् जाग्रद्दशायामपि अर्थो नास्तीत्यस्मिन् विकल्पे । (६) जाग्रदवस्थायाम् । (७) साकल्येन स्वसाध्यव्याप्तं प्रतिपन्नमिति भावः । (८) सालम्बनत्वे । (९) अनुमानम् । (१०) स्वप्नदृष्टान्तेन । (११) 'न' इति निरर्थकम् । (१२) जैनादिः । (१३) यद् विसंवादिदर्शनविषयम् । (१४) "विभ्रमे विभ्रमे तेषां विभ्रमोऽपि न सिद्ध्यति ।"–न्यायवि० १।५४ । (१५) महानसादौ । (१६) अग्नेरेव धूमः । (१७) नैयायिकादिभिरपि । "विवादास्पदं बोधाधारकारणं कार्यत्वात्, यद्यत् कार्यं तत्तद् बोधाधारकारणं यथा घटादि···"–प्रज्ञा० व्यो० पृ० ३२२ । (१८) तनुकरणभुवनादिषु । (१९) "पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुस्त्रिधैव सः । अविनाभावनियमाद्धेत्वाभासास्ततोऽपरे ॥"–हेतुवि०श्लो०१ । प्र०वा०३।१

त्रापि समाना । यदि तत्र सा न पारमार्थिकी ; किं तर्हि पारमार्थिकम् ? [सं]वेदनाद्वैतं चेत् ; न ; द्वयप्रतिभासप्रतिपादनात् । तन्नायमपि पक्षो युक्तः ।

तृतीयविकल्पे नैकान्तेन अर्थनिषेधः, पाक्षिकस्य तद्भावस्य अनिषेधात् । नहि 'स्थाणुर्वाऽयं पुरुषो वा' इति सन्देहे [१४क] 'पुरुषो न भवति' इति निश्चयोऽस्ति, विरोधात् । ननु भवत्येवम् ; तथापि किं तेन[1] अप्रवृत्तिहेतुना ? प्रवृत्त्यर्थं हि बहिरर्थं इष्यते इति चेत् ; कथं भवतः संवित्तिमात्रे प्रवृत्तिः ? बहिरर्थसन्देहे[2] तत्रापि सन्देहात् । कथं वा अर्थे सन्देहः ? तत्प्रतिभासस्य[3] तदभावेऽपि स्वप्नादौ दर्शनादिति चेत् ; एवं [4][तदा] [5]तदभाव एव युक्तो न सन्देहः, कथमन्यथा किञ्चित् प्रत्यक्षं स्वसंवेदनं निर्विकल्पस्वोप (ल्पञ्चोप) लभ्य सर्वत्र तथैव स्यात् ? अत्रापि सन्देह एव युक्तः । कुतो वा स्वप्ने बहिरर्थाभावसिद्धिः ? स्वयमनभ्युपगमात् , बाध्यबाधकभावनिषेधविरोधात् । पराभ्युपगमादिति चेत् ; न ; अतिप्रसङ्गात् । यथैव हि परेण[6] तत्र [7]तस्य असत्त्वमभ्युपगतं तथा क्षणिकत्वप्रकारादेरपि[8] इति सर्वत्र क्षणिकत्वादावपि सन्देहः स्यात् । अथ स्वप्नेऽपि सन्देहः ; स कुतो जातः ? तददर्शनादिति चेत् ; कथमदर्शनम् ? दर्शने अतिप्रसङ्गात् । तस्य तद्व्यभिचाराच्चेत् ; किं पुनरिदमुभयत्र दृष्टं येनैवम् ? तथा चेत् ; नैकान्तेन अर्थाभावः, तन्नायमपि विकल्पो युक्तः ।

चतुर्थविकल्पेऽपि यथा बहिः सदसत्त्वविकल्पातीतता तथा वेदनेऽपि स्वपरवेदनविकल्पातीतता स्यादिति न किञ्चित् स्यात् । अथ परनिरपेक्षस्वसंवेदनस्य वेदनस्य प्रतीतेर्नायं दोषः ; कथमदोषः, यतः स्वसंवेदनेऽपि सदसत्त्वविकल्पाती [१४ख]तायाम् अर्थवन्न [9]तत्सिद्धिः, इतरथा अर्थानिषेध (धः) । किञ्च, अन्यस्मिन् पक्षे *"**प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम् इत्यादि व्यवहारेण अज्ञातार्थप्रकाशो वा इति परमार्थेन प्रमाणलक्षणम्**" [प्र० वार्तिकाल०] इति[10] विहन्यते, उभयत्राविशेषात् । तदयम्[11] अन्तर्बहिरविशेषं ब्रुवन्नेव स्वसंवेदनाद्वैतं वदतीति कथं स्वस्थः ? अथ स्वसंवेदने (नं) परमार्थसदिष्यते बहिरर्थपरिहारेण ; तर्हि [12]अन्येनापि स्वप्नदृष्टपरिहारेण [13]अन्यदा दृष्टः तथा सन्निष्यतामिति स्थितम्–'अर्थविनिश्चयः प्रमाणस्य फलम्' इति । स्वनिश्चयः पुनः *"**अङ्गीकृतात्मसंवित्तेः**" [सिद्धिवि० १।१५] इत्यादौ *"**सिद्धं यन्न परापेक्षम्**" [सिद्धिवि० १।२४] इत्यादौ च निरूपयिष्यते ।

भवत्वेवं ततः किं स्यादिति चेत् ? अत्राह–**प्रतिपत्तुः** इत्यादि । स्वं च अर्थं च प्रतिपद्यते विषयीकरोतीति प्रतिपत्ता पुरुषः तस्य **अपेक्ष्यं** तेन अपेक्ष्यते स्वपरप्रतिपत्तौ **यत् ज्ञानं तदेव प्रमाणम् । ननु (नतु)** नैव **पूर्वकं** तत्कारणं निर्विकल्पकदर्शनं सन्निकर्षादि वा, पूर्वशब्दस्य कारणवाचित्वात् । नहि अन्यतः तत्फलनिष्पत्तौ अन्यत् प्रमाणम् , अतिप्रसङ्गात् । [14]ननु सुखादि-

---

(१) बहिरर्थेन । (२) संवित्तिमात्रेऽपि । (३) अर्थाभावेऽपि । (४) स्वप्नसमये । (५) अर्थाभावः । (६) स्वप्ने । (७) बहिरर्थस्य । (८) असत्त्वमभ्युपगतम् । (९) संवेदनसिद्धिः । (१०) द्रष्टव्यम् पृ०१२ टि०७। (११) संवेदनाद्वैतवादी । (१२) जैनादिनापि । (१३) जाग्रदवस्थायाम् । (१४) प्रतिभासाद्वैतवादी प्रज्ञाकरः प्राह । तुलना–"तस्मात् सुखादिनीलादिव्यतिरिक्तमपरमिह जगति संवेदनं नास्तीति सुखादिवत् स्वसंवेदनं नीलादिकमपि इति युक्त एष निर्णयः ।"–प्र० वार्तिकाल० ३।५०८ ।

नीलादिज्ञानव्यक्तिव्यतिरेकेण नापरः प्रतिपत्ता अस्ति, तत् कथमुच्यते 'प्रतिपत्तुः' इति चेत् ? न ; जीवसिद्धिप्रकरणे अस्य उत्तरनिरूपणं भविष्यति किमौत्सुक्येन ?

का[रिका]याः पूर्वार्धस्य सुगमत्वात् [१५क] उत्तरार्धस्य सयुक्तिकमर्थं दर्शयन्नाह—**'यथास्वम्'** इत्यादि। अस्यायमर्थः—**प्रमेयस्य** घटादेः **व्यवसायो** विनिश्चयः नाधिगतिमात्रम् दृष्टे प्रमाणान्तरावृत्तिप्रसङ्गात्। **यतो** यदाश्रित्य यस्माद्वा 'भवति' इत्यध्याहारः **तदेव** नान्यत् प्रमाणम्। ***"पक्षधर्मतानिश्चयः क्वचित् प्रत्यक्षतः"** इत्यत्र यदुक्तं धर्मोत्तरेण— ***"यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्यं प्रमाणता"** इति तद् व्येति, एतद् एवकारेण दर्शयन्ति। न हि प्रमेयव्यवसायः तदाश्रित्य ततो वा भवति इति, यद्वक्ष्यते अत्रैव— ***"अभेदात् सदृशस्मृत्याम्"** [सिद्धिवि० १।७] इत्यादि। भवतु वा निर्विकल्पदर्शनात् तद्व्यवसायः, तथापि तन्न प्रमाणमिति दर्शयन्नाह—**स्वतः** इति। [**स्वतः**] स्वात्मनो न परम्परया विकल्पजननात्, उक्तदोषात् ***'तस्याश्चेद्'** [सिद्धिवि० १।२] इत्यादिकाद् वक्ष्यमाणकाच्च ***"अनुमानेऽप्येवं प्रसङ्गात्"** इत्यस्मात्। एतेन सन्निकर्षादिरपि चिन्तितः। यदि तर्हि स्वतो यतः प्रमेयव्यवसायः तत् प्रमाणम्, परोक्ष-ज्ञानानुर(नान्तर)प्रत्यक्ष-प्रधानपरिणामज्ञानतः [न] स्वतः सदेव प्रमाणं स्यात् ; इत्यत्राह—**'यथास्वम्'** इति। स्वशब्दोऽयं ज्ञानात्मवाचक इति, तस्य अनतिक्रमेण **यथास्वं** स्वव्यवसायेन सह तद्व्यवसायो यत इत्यर्थः।

अन्ये तु अन्यता(थाऽ)वतार्य एतद् व्याचक्षते—यदि तद्व्यवसायो यतो भवति तदेव प्रमाणम् सर्व[ज्ञ]ज्ञानमेव प्रमाणं स्यादिति; अत्राह—**यथास्वम्** [१५ख] इति। यद्यस्य ज्ञानस्य स्वग्रहणयोग्यं तस्य अनतिक्रमेण इति। तत्र प्रमातुं शक्यं योग्यं **स्वग्राह्यम्** इत्यनेन गतेः। ननु मा भूत् तज्ज्ञानं प्रमाणम्, रस्यात् (सरस्यां) तारानिकरमिव चैतन्यस्वभावे पुंसि प्रमेयस्य अवभासनात् स एव प्रमाणमिति चेत्; अत्राह—**ज्ञानम्** इति। ***"मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्"** [त० सू० १।९] **तत्प्रमाणम्** न पुमान् तस्य प्रमातृत्वात् नित्य[त्व]प्रतिषेधाच्च। ननु तद्व्यवसायफलं न ज्ञानं प्रमाणम् अपि तु स्वकारणार्थाकारमिति चेत्; न; जलाद्यारोपहेतोर्मरीचिकादिदर्शनस्यापि प्रमाणतापत्तेः, ततोऽपि सम्यग्ज्ञानपूर्विका सकलपुरुषार्थसिद्धिः स्यादिति मरीचिकाद्यर्थिनो···दिप्रसर्पणादिति गानुसरणमयुक्तं स्यात् (?) न चैवं तदनुसरणमयुक्तम् स्यात्। न चैवं तदनुसरणदर्शनात्। अथ जलादिज्ञानमेव नापरं तत्समानकालभावि पूर्वकालभावि वा मरीचिकादिदर्शनम्; किं

(१) सन्निकर्षादि। (२) तुलना—"पक्षधर्मश्च यथास्वं प्रमाणेन निश्चितः"—प्र० वा० स्व० पृ०१८। "तत्र पक्षधर्मस्य साध्यधर्मिणि प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा प्रसिद्धिः"—हेतुवि० पृ० ५३। (३) यस्मिन् नीलांशे। (४) सविकल्पबुद्धिम्। (५) निर्विकल्पस्य। (६) निर्विकल्पदर्शनात्। (७) ग्रन्थे। (८) प्रमेयनिश्चयः। (९) परोक्षज्ञानवादिनो मीमांसकाः, ज्ञानान्तरप्रत्यक्षज्ञानवादिनो नैयायिकाः, प्रधानपरिणामज्ञानवादिनः सांख्याः। (१०) टीकाकाराः। (११) स्वपरव्यवसायः। (१२) पुरुष एव। (१३) तद्व्यवसायः प्रमेयनिश्चयः फलं यस्य तत्। (१४) स्वकारणभूतस्य अर्थस्य आकारधारकं यज्ज्ञानं तत्प्रमाणमित्यर्थः। (१५) मरीचिकादर्शनादपि। (१६) तुलना—"सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिरिति···"—न्यायवि० १।१। (१७) 'न चैवं तदनुसरणमयुक्तं स्यात्' इति व्यर्थमत्र पुनर्लिखितम्।

पुनरिदं प्रमादभाषितम्–*"नो चेद् भ्रान्तिनिमित्तेन" [प्र० वा० ३।४३] इत्यादि । तथा नीलादिविकल्पात् त्रत्राक् (न प्राक्) नापि सह निरंशदर्शनमिति इदमपि प्रपादप्रभाषितम्–*"मनसोर्युगपद्वृत्तेः" [प्र०वा० २।१३३] इत्यादि । भवतु तद्धेतुस (स्त)दर्शनम्, न तु तत्प्रमाणम् अप्रवृत्तिहेतुत्वात्, अन्यत् प्रमाणं विपर्यायादिति चेत्; अत्राह–**अन्यत** इत्यादि । स्वार्थविनिश्चयफलाद् यदन्यत् परस्तं ततो (परस्ततो) या **प्रवृत्तिसत्यां** (स्तस्यां)[१६क] विषयभूतायां **योऽविसंवादोऽविप्रतिपत्तिः तस्य नियमेन** अवश्यंभावेन **अयोगात्** । न हि लौकिकाः 'प्रतिपरमाणुभिन्ननिरंशदर्शनाद् वयं प्रवृत्ताः प्रवर्त्तामहे प्रवर्तिष्यामहे' इति प्रतिपद्यन्ते । अभ्यासावस्थायामपि स्थूलस्यैकस्य तद्ग्रहणावयवव्यापिनो जलादेर्दर्शनात् । ननु तत्फलादपि[3] न दृश्यमाने प्रवृत्तिः; अनुभूयमानत्वात्, नापि भाविनि अप्रतिभासनादिति चेत्; न; पशूनामपि तृणादौ प्रवृत्तिदर्शनात् । निरूपयिष्यते चैतत् *"व्यवसायात्मनो दृष्टेः" [सिद्धिवि० १।५] इत्यादौ । भवतु श (वा) दर्शनात् प्रवृत्तिः तथापि तन्न प्र[माण]म; अन्यथा मरीचिकाजलज्ञानमपि स्यात् । अविसंवादि प्रमाणमिति चेत्; अत्राह–**अन्यत** इत्यादि । **अन्यतोऽविकल्पदर्शनात् प्रवृत्तौ** सत्यां **योऽविसंवादः** दृष्टार्थप्राप्तिः **तस्य नियमेन अयोगो** निरंशक्षणिकपरमाणुदर्शनात् स्थूलैकस्थिरप्राप्तेः । ननु व्यवसायफलादपि प्रवृत्तौ न दृष्टस्य प्राप्तिरस्ति तत्काले तदत्ययादिति चेत्; न; चित्रैकज्ञानवत् दृश्यप्राप्ययोः कथञ्चिदेकत्वस्याविरोधादिति । करिष्यते अत्र···स्नः (प्रश्नः) *"पश्यन् स्वलक्षणान्येकम्" [सिद्धिवि० १।१०] इत्यादौ ।

ननु माभूत् क्षणिकनिरंशत्वादौ तदविसंवादः, दृश्य-प्राप्ययोः एकत्वारोप्य(पा)न्नीलादौ स्यादिति चेत; अत्राह–**अन्यत** इत्यादि । **अन्यत** इति व्याख्यातार्थम्, **प्रवृत्तौ** इति चैं, अनन्तरम् **अविसंवादस्य यो नियमः** [१६ख] सर्वत्र दर्शनगोचरे भावः तस्याऽयोगात् नीलादौ योगो न पूर्वापरक्षणविवेके । व्यवहारिणं प्रति तत्रापि तदविसंवादेन अभ्यासे प्रत्यक्षं भाविनि प्रमाणं भवेत्, अन्यथा प्रतिपन्नव्यभिचारस्य शङ्खे पीतज्ञानं प्राप्ये संस्थाने प्रमाणमिति व्यर्थकमिदमनुमानं नाम–*"एवं प्रतिभासो यः"[प्र०वार्तिकाल० पृ० ५] इत्यादि । भवतु तत्रैवः(यत्रैव) तद्योगः तत्रैव प्र[मा]णं स्यात् नान्यत्र इत्येकस्य प्रमाणेतरभावः । व्यवहारतः सोऽप्यस्तु इति चेत्; किं पुनरिदं व्यवहारादन्यत्र चिन्तितम्–*"प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्" [प्र०वा०२।१२३] इत्यादि । तथा चेत्; "चातुर्विध्यकथनमयुक्तम् परमार्थ[तः] तदसंभवात् । अतोऽयुक्तमेतत्–

(१) "नो चेद् भ्रान्तिनिमित्तेन संयोज्येत गुणान्तरम् । शुक्तौ वा रजताकारः रूपसाधर्म्यदर्शनात् ॥"–प्र० वा० ३।४३ । (२) "मनसोर्युगपद्वृत्तेः सविकल्पाविकल्पयोः । विमूढो लघुवृत्तेर्वा तयोरैक्यं व्यवस्यति ॥"–प्र० वा० २।१३३ । (३) स्वार्थविनिश्चयफलादपि । (४) प्रवृत्तिकाले । (५) क्षणिकत्वेन तद्विनाशात् । (६) निर्विकल्पकदर्शनस्य अविसंवादः । (७) व्याख्यातार्थम् । (८) "पीतशङ्खादिविज्ञानं तु न प्रमाणमेव तथार्थक्रियावासेरभावात् । संस्थानमात्रार्थक्रियाप्रसिद्धावन्यदेव ज्ञानं प्रमाणमनुमानं तथाहि प्रतिभास एवम्भूतो यः स न संस्थानवर्जितः । एवमन्यत्र दृष्टत्वादनुमानं तथा च तत् ॥ येन कदाचिद् व्यभिचार उपलब्धः स यथाभिप्रेते विसंवादाद् विसंवादात एव । यस्तु व्यभिचारसंवेदी स विचार्य प्रवर्तते संस्थानमात्रं तावत् प्राप्यते परत्र सन्देहो विपर्ययो वा । ततोऽनुमानं संस्थाने संशयः परत्रेति प्रत्ययद्वयमेतत् प्रमाणमप्रमाणं च ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ५ । (९) अविसंवादसद्भावः । (१०) "प्रत्यक्षेणैव सिद्ध्यति । प्रत्यात्मवेद्यः सर्वेषां विकल्पो नामसंश्रयः ॥" इति दोषः । (११) "तच्चतुर्विधम्"–न्यायवि० १।७ । इन्द्रियमानसस्वसंवेदनयोगिप्रत्यक्षभेदात् ।

*"न ह्याभ्यामर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानोऽर्थक्रियायां विसंवाद्यते" इति । *"अभ्यासे भाविनि प्रवर्त्तकत्वात् प्रत्यक्षं प्रमाणम्" इति च । ननु मा भूत् दर्शनं साक्षात् प्रवर्तकम् अविसंवादकं वा, तथापि तथाविधविकल्पजननात् तदपि तथाविधमिति चेत्; अत्राह—तद्धेतुत्वम् इत्यादि । ननु च *"तस्याश्चेत् जननात्" [सिद्धिवि० १।२] इत्यादिना *"प्रमेयव्यवसायः स्वतो यतः तदेव ज्ञानम्" [सिद्धिवि० १।४] इत्यन्तेन अयमर्थ उक्तः, तत् किमनेनेति चेत्; न; [समा]ध्यन्तरप्रतिपादनार्थत्वाददामः (ददोषः) । तथाहि—तस्य यथोक्तस्य विकल्पस्य हेतुः कारणम् तस्य भावः तत्त्वं दर्शनस्य यन्नत (यत्तत्) सन्निकर्ष आदिर्यस्य इन्द्रियादेः तस्येव तद्वत् । एतदुक्तं भवति—यथा चक्षुःश्रोत्रमनसाम् [१७क] अँप्राप्यकारित्वात् तज्ज्ञानं प्रति सन्निकर्षस्य सत्यस्वप्रज्ञानं प्रति इन्द्रियस्य अकारणत्वात् न तत्र सन्निकर्षादेर्मानतां अपि तु ज्ञानस्यैव तथा 'यत् सत् तत्सर्वं क्षणिकम्' इति व्याप्तिज्ञानं प्रति न दर्शनस्य कारणता तत्र तदभावात् न तत्र तत् प्रमाणम् अपि तु विकल्प एव । अथ दर्शनमस्ति; तर्हि ततः सर्वस्य दर्शनात् सर्वस्य सर्वदर्शित्वमनुपायसिद्धम्, कथमन्यथा तस्य क्षणिकत्वेन व्याप्तिप्रतिपत्तिः—*"द्विष्ठसम्बन्धप्रतिपत्तिः" [प्र० वार्तिकाल० २।१] इत्यादि वचनात् । प्रादेशिकी न च व्याप्तिः । अथेयमपि नेष्यते; कथमनुमानं यतो द्वे प्रमाणे स्याताम् ? व्यवहारेण तदङ्गीकरणात् अशे(अदो)-षश्चेत्; तर्हि व्यवहारेण उपगतेर्यथा प्राप्ये भाविनि प्रमाणमुपगतं तथा तत्र अभ्युपगन्तव्यं तदर्था मार्गभावना व्यर्था, तद्भावनाया अनुमानरूपायाः तस्य प्रागपि भावात् । संवृतिविकल्पश्चेत्; सिद्धं सन्निकर्षादिवत् तस्य तं प्रत्यव्यापिहेतुत्वम् । ततो यथा सन्निकर्षादिपरिहारेण सर्वत्र दर्शना(न)मेव अतः प्रमाणं तथा अत एव दर्शनपरिहारेण विकल्प एव प्रमाणम् ।

अथवा यदुक्तं प्र ज्ञा क र े ण—*"भाविनि प्रवर्त्तकत्वात् साक्षाद् अभ्यासे दर्शनं प्रमाणम् अनभ्यासे तत्रानुमानजननात्" इति; तत्राह—तद्धेतुत्वं पुनः इत्यादि । तस्य अनुमानविकल्पस्य हेतोर्दर्शनस्य भावः तत्त्वं 'पुनः' इति उभयत्र पक्षान्तरसमुच्चये सन्निकर्षादेरिव तद्वदिति । यथैव हि इन्द्रियार्थसन्निकर्षादिः [१७ख] अनुमानस्य न हेतुः तथा दर्शनमपि । यदि पुनरचेतनत्वात् नेन्द्रियादि तद्धेतुः ; कथं दर्शनस्य चेतनत्वम् ? स्वतः प्रतिभासनाच्चेत् ; न ; शरीरसुखादिनीलादिव्यतिरेकेण परेण तत्प्रतिभासानभ्युपगमात्, शरीरादिप्रतिभासस्य विकल्पकत्वमिति निरूपयिष्यते इति परस्य पाशारज्जू । अथ अन्यस्य अभ्युपगमाच्चे-

(१) प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् । उद्धृतमिदम्—तत्त्वोप०पृ० २९ । सन्मति०टी०पृ० ४६८ । न्यायवि० वि० प्र० पृ० २५६, ५३२ । (२) तुलना—"यत्रात्यन्ताभ्यासादविकल्पतोऽपि प्रवर्तनं तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणम् ।"—प्र० वार्तिकाल० पृ०२१८ । (३) अविसंवादिप्रवर्तकविकल्पोत्पादकत्वात् । (४) प्रत्यक्षमपि । (५) इति प्रारभ्य । (६) इति पर्यन्तेन । (७) सन्निकर्षं विनापि ज्ञानोत्पादकत्वात् । "अप्राप्यान्यक्षिमनःश्रोत्राणि"—अभिध० को० १।४३ । (८) प्रमाणता । (९) व्याप्तिविषये । (१०) निर्विकल्पदर्शनस्याभावात् सर्वविषयत्वाद् व्याप्तेः (११) निर्विकल्पदर्शनम् । (१२) सर्वोपसंहारवति व्याप्तिविषये । (१३) सर्वस्य । (१४) "नैकरूपप्रवेदनात् । द्वयस्वरूपग्रहणे सति सम्बन्धवेदनम् ॥" इति शेषः । (१५) क्षणिकत्वादौ । (१६) नैरात्म्यमार्ग । (१७) तुलना—"यत्र भाविगतिस्तत्रानुमानं मानमिष्यते । वर्तमानेऽतिमात्रेण वृत्तावध्यक्षमानता ॥"—प्र० वार्तिकाल० पृ० २१८ । (१८) बौद्धेन । द्रष्टव्यम्—पृ० १९ टि० १४ । (१९) जैनस्य । (२०) दर्शनस्येति शेषः ।

तनत्वम् ; मुखादेः अचेतनत्वं तथा स्यात् सांख्येन तदभ्युपगमात् । तन्न दर्शनं सन्निकर्षादिवत् अनुमानविकल्पकारणमिति स्थितम् ।

तत्तु (१ननु) अभ्रान्तत्वात् सर्वत्र दर्शनमेव प्रमाणं न विकल्पो विपर्ययादिति चेत् ; अत्राह– अभ्रान्तत्वेऽपि इत्यादि । अस्यायमर्थः–तद्दर्शनं स्थूलस्तम्भाद्याकारेण अभ्रान्तं चेत् ; *"दूरस्थितविरलकेशेषु स्थूलप्रतिभासेन व्यभिचारात् न तथा प्रतिभासाद् अवयविसिद्धिः" ५ ३इत्यस्य *"सर्वमालम्बने भ्रान्तम्" [प्र०वार्तिकाल० ३।१९६] इत्यस्य च व्याघातः । कल्पनापोढत्वं च दुर्लभं ३तस्य सवि[कल्प]कत्वात् । अथ तेन४ भ्रान्तम् ; अन्यस्य अभ्रान्तस्य अभावाद् ५अभ्रान्तमिति अनर्थकत्वान्न वाक्यम् । अथ व्यवहारेण ६तदुक्तम् ; विषयस्तस्य वक्तव्यः ? जायत्संभादिः (जाग्रत्तम्भादिः) इति चेत् ; उक्तमत्र–कल्पनापोढत्वं ७दुर्लभमिति परस्य निकटे (विकट) सङ्कटप्रवेशः इति **स न लभते** तत्त्वविवेचनविकटाटवीम् । ८यदि तु तन्न १० तस्य तत्राभ्रान्तत्वं नाम । अभ्युपगम्य उच्यते **अभ्रान्तत्वेऽपि**, 'अन्यतः' इत्यनेन [१८क] लब्ध'तो'परिणामेन सम्बन्धाद् 'अन्यस्य' इति गम्यते । कथं तत्का (तथा) इत्याह–**सर्वथा** इति । नीलादिप्रकारेणेव पूर्वोत्तरक्षणविवेकादिप्रकारेणापि **सर्वथा** । तस्मिन् सति किम् ? इत्याह –**निर्णयवशात् प्रामाण्यसिद्धेः** अन्यस्य प्रमाणत्वस्थितेः कारणात् **तत्त्वा(तदा)त्मकत्वं** निर्णयात्मकत्वं **तत्त्वसिद्धेः** अभ्रान्तबुद्धेः प्रमाणस्य **अभ्युपगन्तव्यम्** । कथं प्रामाण्यसिद्धिः ? इत्य- १५ त्राह– **कथञ्चित्** इति । **कथञ्चित्** नीलादिप्रकारेण न प्रतिक्षणपरिणामादिप्रकारेण, तत्र व्यवहारिणो दर्शनव्यवहाराभावात् । न हि (हि) स यस्यन् (पश्यन्) 'प्रतिक्षणपरिणामादिकं पश्यामि' इति मन्यते, ९तंदनुमानवैक(फ)ल्यप्राप्तेः, तद्व्यवहारसमारोपयोर्विरोधात् न १०तद्व्यवच्छेदकरणात् तदर्थवत् । अथ व्यवहारमुल्लङ्घ्य तेनापि प्रकारेण तत्सिद्धिरिष्यते गतमिदम्–*"प्रामाण्यं व्यवहारेण" [प्र० वा० १।४] इत्यादि । न च परमार्थप्रतिभासाद्वैते क्षणभङ्गादिसंभवः; २० सर्वविकल्पातीतत्वेन ११तंदभ्युपगमात् । ततो यथा व्यवहारेण क्षणभङ्गाद(द्य)भ्युपगमः तथा १२तेनैव तत्र दर्शनम(नं) प्रमाणयितव्यमिति साधूक्तम्–**कथञ्चिदिति** । नन्वयमर्थः 'अन्यतः' इत्यादेः तृतीयव्याख्यानेन दर्शितः तत् किमनेनेति चेत् ; न ; पूर्वं *"प्रमाणमविसंवादि" [प्र० वा० १।१] इत्यस्यापेक्षया, इदानीं *"कल्पनापोढमभ्रान्तम्" [न्यायवि० १।४] इत्यस्यापेक्षया इत्यदोषः । उभयमप्येतत् निर्णये नान्यत्र इति मन्यते । २५

ननु यदि तत्त्वसिद्धिः (द्धेः) १३तंदात्मकत्वं न स्यात् को दोष इति चेत् ? अत्राह–**अभ्यसे**

---

(१) बौद्धः । (२) "यथैव केशा दूरीयसि देशेऽसंसक्ता अपि घनसन्निवेशावभासिनः परमाणवोऽपि तथेति न विरोधः ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० २९६, २८७ । "परस्परविविक्ताणु प्रथमप्रतिभासनम् । विकल्पकात्तु विज्ञानात् घनाकारावभासिता ॥"–प्र०वार्तिकाल० पृ०३३६ । (३) दर्शनस्य । (४) आलम्बनेन । (५) प्रत्यक्षलक्षणे अभ्रान्तमिति पदम् । (६) अभ्रान्तमिति पदमुक्तम् । (७) जाग्रत्तम्भादिविषयत्वे हि तस्य विकल्पकत्वं स्यादिति भावः । (८) 'यदि तु' इत्यधिकं भाति । (९) 'ता' इति षष्ठीविभक्तेः संज्ञा । (१०) क्षणिकत्वानुमान । (११) समारोपव्यवच्छेद । (१२) प्रतिभासाद्वैतस्वीकारात् । "ननु सर्वप्रत्ययप्रलय एवायं प्रवर्तते मात्र प्रतीतेरुदयः ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० २९३ । (१३) व्यवहारेणैव । (१४) निर्णयात्मकत्वम् ।

(अन्यथे) त्यादि। तत्त्वसिद्धे र्निर्णयात्मकत्वप्रकाराद् अन्येन अविकल्पकत्वप्रकारेण **अन्यथा तद्-फलम् 'अन्यतः'** इत्येतदनुवर्त्तमानं वान्त(१वान्त)मिह संपद्यते । तदन्यदफलम् अविद्यमान-प्रयोजनं क्वचिदनुपयोगात्। अत एव **असाधनमप्रमाणम्** । एतदपि कुतः ? इत्यत्राह–**असतः** खरविषाणादे र्न **विशेष्येत** न भिद्येत 'यतोऽन्यथा' इत्यनेन सम्बन्धः ।

५ ननु निर्णयात्मकत्वं नाम स्वार्थग्रहणात्मकत्वमिति चेत्, तदसंभाव्यमिति चेत् ; अत्राह–**अकिञ्चित्कर** इत्यादि । न किञ्चित् करोतीति अकिञ्चित्करम् स्वापादिदर्शनं *"**सिद्धं यन्न परा-पेक्ष्यम्**" [सिद्धिवि० १।२४] इत्यादि कारिकावृत्तौ प्रतिपादयिष्यमाणं **संशयः** स्थाणुर्वा पुरुषो वेति ज्ञानम्, **विपर्ययः** स्थाणौ पुरुष इति [२]तत्र वा स्थाणुरिति वेदनं तौ करोतीति इति[३] **तत्करम्**, पुनर्द्वन्द्वः तयोः **व्यवच्छेदेन** निरासेन **निर्णयात्मकत्वम् नान्यथा** ।

१० ननु तद्व्यवच्छेदो नीलाद्यपेक्षायाम् अविकल्पदर्शनेऽप्यस्तीति चेत् ; अत्राह–**अन्यथा** इत्यादि । येन प्रकारेण नीलादौ [४]तद्व्यवच्छेद इति भावः, ततः [५]**तदात्मकत्वं तत्त्वसिद्धेः अभ्युपगन्तव्यम्** इति स्थितम् ।

ननु च *"**अज्ञातार्थप्रकाशो वा प्रमाणम्**" [प्र०वा० १।५] इति वचनात् अगृहीत-ग्रहणाद् दर्शनमेव प्रमाणं न विकल्पो [६]विपर्ययादिति चेत् ; अत्राह–**अनधिगत** इत्यादि। प्रमा-१५ णान्तरेण अप्रकाशि[१९क]तोऽनधिगतः स चासौ **अर्थश्च** तस्य **अधिगन्तृ** परिच्छेदकं यद् **विज्ञानं** तत् **प्रमाणम् इत्यपि** एवमपि न केवलं पूर्वप्रकारेण **केवलम्** अन्यानपेक्षा **अनिर्णीता-र्थस्य निर्णीतिः अभिधीयते** । अस्यानभ्युपगमे दूषणमाह–**अन्यथा** इत्यादि । उक्तप्रकाराद् अन्यप्रकारेण **अन्यथा** अनधिगतार्थाधिगन्तृ दर्शनमेव प्रमाणमित्यभिधीयते न निर्णयज्ञानमिति मन्यते । **अतिप्रसङ्गात्** नीलादाविव क्षणभङ्गादावपि दर्शनस्यैव प्रमाणत्वात् [७]तदनुमानमनर्थकं २० स्यादिति **अतिप्रसङ्गात् अनिर्णीतार्थनिर्णीतिः अभिधीयत** इति पदघटना ।

नन्वयमर्थः **'दृष्टे प्रमाणान्तरावृत्तिप्रसङ्गात् (ङ्गात्)'** इत्येतेन प्रतिपादयिष्यते तत्किमनेन ? तस्माद् अन्यथा व्याख्यायते–स्थिरस्थूलस्वगुणावयवात्मकघटादिनिर्णीतिरेव अनधिगतार्थाधिगन्त्री प्रतीयते । तद् यदि ततोऽन्यद् अनधिगतार्थाधिगन्तृ प्रमाणं कल्प्यते तर्हि तस्मादप्य-न्यत् तथाविधं तस्मादप्यन्यत् इत्यनवस्था **अतिप्रसङ्गः** तस्माद् **अनिर्णीतार्थनिर्णीतिः अभि-**२५ **धीयते** ।

यत्पुनरुक्तम्– **'तत्प्रमाणम्'** इति । तत्र प्रमीयते अनेन तत् प्रमाणम्, करणकारकम्, तच्च स्वार्थपरिच्छित्तिक्रियां प्रति साधकतममेव युक्तम् । न चेत्कं दर्शयन्नाह–(न चेत् कदर्थय-न्नाह–) **अधिगतमात्रस्य** इत्यादि । **स्वकारणार्थाकारदर्शनमात्रस्य** । कथंभूतस्य ? इत्याह– **विसंवादकस्य** निरंशानेकक्षणिकपरमाणुदर्शने [१९ख] स्थूलैकस्थिरघटादिप्रापकत्वेन विप्रलम्भ-

(१) 'वा' इति प्रथमाविभक्तेः संज्ञा। वान्तं प्रथमान्तमित्यर्थः। 'अन्यतः' इति पञ्चम्यन्तं पदं 'अन्यत्' इति प्रथमान्तरूपेणात्र सम्बद्ध्यते इति भावः। (२) पुरुषे। (३) इतिपदं द्विर्लिखितमत्र। (४) संशयादिव्यवच्छेदः। (५) निर्णयात्मकत्वम्। (६) गृहीतग्राहित्वात्। (७) "अत एवानधिगतविषयं प्रमाणम्"–न्यायवि० टी० पृ० १९। (८) सर्वं क्षणिकमित्यनुमानम्।

कस्य साधकतमत्वाऽनुपपत्तेः कारणात् तन्निर्णीतिरभिधीयते । 'विसंवादकस्य' इत्येतद्विशेषणमपि हेतुर्द्रष्टव्यः । ततोऽयमर्थो भवति—अधिगतिमात्रं स्वार्थप्रतिपत्तिं प्रति न साधकतमं विसंवादकत्वात् इन्दुद्वयदर्शनवदिति न प्रमाणम् । अतः सैवाभिधीयते । पुनरपि हेत्वन्तरमाह— 'साधनान्तरेत्यादि । अधिगतिमात्रसाधनाद् अन्यत् नीलादौ [1]विकल्पज्ञानं क्षणिकादाद(दाव)नुमानं[2] तदन्तरं तत्त्व (तत्) अपेक्ष्यते [य]स्य गोचरस्य विषय[स्य] । क्वचित् *"साधनान्तरापेक्ष्य(क्ष)गोचरस्य" इति पाठस्तु(स्त)त्रापि साधनान्तरमपेक्ष्यत इति तदपेक्षो गोचरो यस्य तस्य साधकतमत्वाऽनुपपत्तेः तन्निर्णीतिः अभिधीयते । अत्रापि पूर्ववत् साधनेत्यादि विशेषणमपि हेतुर्द्रष्टव्यः । तद्यथा—अधिगतमात्रं तत्त्वप्रतिपत्तौ न साधकतमं साधनान्तरापेक्षा(क्ष्य)गोचरत्वात् सन्निकर्षादिवत् । ततः सूक्तम्—अनिर्णीतिरभिधीयते इति ।

ननु निर्णीतेरनधिगतसामान्यार्थाधिगमेऽपि अनधिगतस्वलक्षणाधिगमाभावात [3]अनधिगमाभावात् अनधिगतार्थाधिगन्तृ प्रमाणम् इत्यनेन [4]साऽभिधीयते । तत्र अर्थशब्देन स्वलक्षणाभिधानात् [5]ततो दर्शनमेव अभिधीयत इति चेत् ; अत्राह—तद् इत्यादि । तेन अधिगतिमात्रेण अनधिगतस्य ज्ञानान्तरेण अविषयीकृतस्य स्वलक्षणस्य अर्थक्रियासम[२०क]र्थार्थरूपस्य अधिगतावपि परिच्छित्तावपि । अपिशब्दोऽभ्युपगमसूचकः । न खलु अन्येन अधिगतम् अन्यद्वा स्वलक्षणमधिगच्छद् दर्शनं प्रतीयते । तस्यां किं प्राप्तम् ? इत्यत्राह—दृष्टे दर्शनेन विषयीकृते नीलादाविव क्षणभङ्गे प्रमाणान्तरस्य अनुमानस्य गृहीतग्राहित्वभयाद् अप्रवृत्तिप्रसङ्गात् कारणात्तन्निर्णीतिः अभिधीयते । एवं हि अनिश्चितनीलक्षीणकत्वयोर्निश्चयाद् विकल्पानुमानयोः अपूर्वार्थता लभ्यते इति भावः । ननु मा भूद् अनिश्चितक्षणभङ्गनिश्चयात् प्रमाणान्तरं [6]तत्र वृत्तिमत्, अपि तु क्षणिके अक्षणिकज्ञानसमारोपव्यवच्छेदकरणात् स्यादिति चेत् ; अत्राह—समान इत्यादि । समाने सदृशे अत्र भूते दर्शनेन दृष्टे यः समारोपः विपर्ययज्ञानविशेषः तस्य व्यवच्छेदे निरासे [7]संवृत्यनुमानयोः दर्शनोत्तरविकल्पानुमानयोः न कश्चिद् विशेषः भेदः । अनुमानं चेत्[8] ; संवृतिरपि प्रमाणं स्यादित्यर्थः ।

ननु यथा क्षणिके अक्षणिकत्वसमारोपो नैवं नीले अनीलत्वसमारोपो यत्तद्व्यवच्छेदाय 'समान' इत्याद्युच्यते इति चेत् ; अयमत्राभिप्रायः—यथा पूर्वापरक्षणयोः तद्व्यावृत्ताया(तद्व्याप्त)समारोपव्यवच्छेदादनुमानमर्थवत् तथा मध्यक्षणे स्थूलैकरूपे *"सञ्चितालम्बनाः पञ्च विज्ञानकायाः" [9]इत्यनेन परमाणुदर्शनारोपव्यवच्छेदात् संवृतिरपि अर्थवती स्यादिति । मरीचिकायां तोयसमारोपव्यवच्छेदाद्वा [10]तयोः[२०ख]विशेषं दर्शयन्नाह परः— साक्षात् इत्यादि । साक्षाद् अव्यवधानेन अनुभवाद् दर्शनाद् उत्पत्तिः नार्थात्संवृतेः इति अनुभवानुकृत् (वानुकृत)प्रवृत्तिविषयानुकरणात् न तस्या भिन्नो व्यापार इति मन्यते ।

(१) नीलमिदमित्याकारं विकल्पज्ञानम् । (२) सर्वं क्षणिकं सत्त्वादित्यादि । (३) 'अनधिगमाभावात्' इति निरर्थकं भाति । (४) तन्निर्णीतिः । (५) 'अनधिगतार्थाधिगन्तृ' पदेन । (६) क्षणिके । (७) संवृतिर्विकल्पः । (८) प्रमाणम् । (९) तस्मिन् व्याप्तः यः एकत्वारोपलक्षणः समारोपः । (१०) "सञ्चितालम्बनाः पञ्च विज्ञानकायाः इति सिद्धान्तः ।"—प्र०वा०मनो० २।१९४ । (११) संवृत्यनुमानयोः ।

अत्रोत्तरमाह–**महानपराधः**। उपहासपदमेतत्, अल्पीयसोऽप्यपराधस्य अभावेऽपि अभिधानात्। ततः तदुत्पत्तौ नितरामर्थविषयत्वसिद्धेः अनुमितेरिव अर्थप्रतिबन्धाद् एकविषयत्वञ्च न विरोधि सर्वज्ञेतरज्ञानवत् सन्तानविरोधिसर्वज्ञेतरज्ञानवत्। सन्तानभेदोऽत्रापि व्यवहारश्च। **प्रतिपत्तुः** इत्याद्युपसंहरन्नाह–**प्रतिपत्तुः** इत्यादि। **उत्तरं** विकल्पज्ञानं **प्रमाणं तस्य** उत्तरस्य **साधनभावात्** हेतुत्वात्, **ननु नैव पूर्वकं** सन्निकर्षदर्शनादि प्रमाणमिति। कुत एतत्? इत्यत्राह–**अनुमानेऽपि** इत्यादि। न केवलं विकल्पे किन्तु **अनुमानेऽपि एवम्** उक्तवत् **प्रसङ्गात्** तत्रापि साधनाभास्येव ज्ञानं तत्कारणं प्राप्ये प्रमाणं स्यात् नानुमानम्। प्रमेयाविषयीकरणम् अन्यत्रापि इति भावः।

यदुक्तं प्रज्ञाकरेण–*"**अभ्यासे दर्शनमविकल्पकम् अन्यदा अनुमानं प्रवर्त्तकत्वात् प्रमाणम्। निर्णीतेः पुनः क्वचिदप्यनुपयोगात् पक्षान्तरासंभवादप्रमाणता।**" इति।

तत्र अनभ्यासे सति अभ्यास इति अनभ्यासे निर्णीतेः उपयोगं दर्शयन्नाह–**व्यवसायात्मन** इत्यादि।

[व्यवसायात्मनो दृष्टेः संस्कारः स्मृतिरेव वा।
दृष्टे दृष्टसजातीये नान्यथा क्षणिकादिवत् ॥४॥

दर्शनाभ्यासपाटवप्रकरणादेः दृष्टसजातीयसंस्कारस्मृतिप्रबोधे स्वभावव्यवसायमन्तरेण क्षणभङ्गादावपि लिङ्गानुसरणमनुपपन्नं तदविशेषान्नीलादिवत्।]

अस्यायमर्थः–सुखसाधनस्य सुखस(स्य) च पूर्वं या **दृष्टिः** तस्याः **संस्कारः** स्मृतिबीजम् आत्मपरिणामो 'जायते' इत्यध्याहारः। [२०क] स्मृतिर्वा स्मरणं च दृष्टेर्जायते इति। ननु दृष्टिः (ष्टेः) संस्कारः, ततः स्मृतिर्न दृष्टिः(ष्टेः) इति चे[त्;न;] उत्तरदृष्टेः संस्कारसहकारिणः तदुक्तवाददोषः। नन्वेकोऽयं दृष्टिशब्दः कथममुमर्थं प्रतिपादयति? आवृत्त्याभिसम्बन्धाद् एकस्या दृष्टेः उभयत्र व्यापाराद् भेदावगतिः। क पुनः स्मृतिः तद्धेतुश्च दृष्टिः प्रवर्तत इति चेत्? अत्राह–**दृष्ट** इति। संस्कारहेतुदृष्ट्या विषयीकृतो दृष्टोऽर्थ उच्यते। तत्र उत्तरा दृष्टिः तत्कार्यभूता स्मृतिः प्रवर्तते, कथमन्यथा 'अयं मया दृष्टः' इति प्रतीतिः? अनेन पूर्वोत्तरदर्शनसंस्कारस्मृतीनाम् एकविषयत्वं दर्शयति। तथा **दृष्टसजातीये** दृष्टश्चासौ उत्तरव्यक्त्यपेक्षया सजातीयश्च तत्र **संस्कारः**। स कुतः? इत्यत्राह–**दृष्टेः** इति। यत्र संस्कारः। तद्दर्शनात् तत्रैव च स्मृतिः। सापि कुतः? इत्यत्राह–**दृष्टेः** इति। सा क? इत्यत्राह–**सजातीये** दृष्टेन पूर्वदर्शनविषयेण

(१) 'सन्तानविरोधिसर्वज्ञेतरज्ञानवत्' इति द्विरुक्तं भाति, निरर्थकञ्च। (२) "हेयोपादेयविषये प्रवर्तकं हि प्रमाणमुच्यते। तत्र च प्रवर्तने धीरेव प्रधानम्। यद्यपि नाम भाव्यर्थो न प्रतिपन्नस्तथापि तत्र प्रवर्तनात् प्रमाणं यथानुमानस्याप्रहणेऽपि (प्रामाण्यं) न ह्यनुमाने वस्तुस्वरूपस्वीकार इति प्रतिपादयिष्यते। न च चक्षुरादिकात् प्रवर्तते ज्ञानमन्तरेण, विकल्पमन्तरेणापि बुद्ध्या अभ्यासात् प्रवर्तते। ततो हेयोपादेयविषये धीरेव पूर्विका प्रवर्तनात् प्रमाणं न विकल्पादयः। यत्र तु नाभ्यासस्तत्र अनुमानमेव [न] प्रत्यभिज्ञानादयोऽतो नातिप्रसङ्गः।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० १२, २१८। (३) उद्धृतोऽयम्–प्रमाणप० पृ० ५४। "व्यवसायात्मनो दृष्टेः संस्कारः" इत्यंशः न्यायवि० वि० प्र० पृ० ४९३, ५२१। (४) दर्शनात्। (५) साक्षात् स्मृतिरुत्पद्यते। (६) दृष्टिशब्दस्य।

सजातीये सदृशे उत्तरस्मिन्व्यक्तिविशेषे । एतदुक्तं भवति—एकदा जलव्यक्तिं स्नानादिहेतुमुपलब्धवतः तत्राहितसंस्कारस्य पुनः तत्सदृशव्यक्तिदर्शनात् तत्समाने दृष्टे **स्मृतिः** इति । अनेन पूर्वोत्तरदर्शनसंस्कारस्मृतीनां सदृशविषयत्वं कथयति ।

अन्ये[1] तु *"**दृष्टे संस्कारः दृष्टजातीये स्मृतिः**" इति व्याचक्षते । तेनायमर्थो लभ्यते न वेति चिन्त्यम् । ५

किञ्च, यदि दृष्टे संस्कारः, स्मृत्यापि तत्रैव भवितव्यम् *"**अनुभूते स्मृतिः**" इति[2] वचनात् । नहि पूर्वसमुद्रदर्शनाहितसंस्कारस्य तत्सदृशे पश्चिमसमुद्रे स्मृतिर्युक्ता । कथंभूतायाः [२१ख] दृष्टेः ? इत्यत्राह—**व्यवसायात्मनो** निर्णयात्मिकाया एव । कुत एतत् ? इत्यत्राह—**नान्यथा** अन्येन निर्विकल्पकप्रकारेण या दृष्टिः तस्याः[3] न संस्कारः स्मृतिर्वा । केव ? इत्यत्राह—**क्षणिकादिवत्**[4] । आदिशब्देन निरंशत्वादिपरिग्रहः, तत्रैव तद्वदिति । ननु च तस्याः संस्कारः स्मृतिरेव १०
इति वक्तव्यम्, किं **वा**[5]शब्देन, तमन्तरेण समुच्चयगतेः ? न; अनुक्तसमुच्चयार्थत्वाददोषः । अनुक्तं हि अनेन प्रत्यभिज्ञोहानुमानादिकं समुच्चीयते । ततोऽयमर्थो लभ्यते—पूर्वसुखसाधनदर्शनाहितसंस्कारस्य पुनस्तस्य तत्समानस्य वा दर्शनाद् दृष्टे स्मृतिः, तत्तस्तदेवेदं तेन सदृशमिति वा प्रत्यभिज्ञानम्, ततोऽपि 'पूर्ववद् एतत् सुखसाधनसमर्थम्' इति तर्कः, अस्मादपि 'अनुमेये प्रवर्तमानस्य सुखप्राप्तिर्भविष्यति' इत्यनुमानम्, ततः प्रवृत्तिः अर्थप्राप्तिरिति । वक्ष्यते च— १५

*"अक्षज्ञानैरनुस्मृत्य प्रत्यभिज्ञाय चिन्तयन् ।
आभिमुख्येन तद्भेदान् विनिश्चित्य प्रवर्तते ॥" [सिद्धिवि० १।२८] इति ।

ननु च यदुक्तं सुखस्य तत्साधनस्य च दृष्टेः संस्कार इति; तत्रेदं चिन्त्यते—'इदं सुखसाधनम्' 'अस्माद् इदं सुखम्' इति कुतः[6] प्रतीयते ? न तावत् तत्साधनदर्शनात्; तत्काले सुखानुद(नुत्पादात्, अ) नुत्पन्नं च निं(न) तेन गृह्यते । नापि सुखदर्शनात्; अस्यापि समये तत्साधनात्ययात् । नापि तत्समुदायेन; क्रमभाविनोः[10] तदभावात् । पूर्वोत्तरकालभाविदर्शनमेकं विप्रतिषिद्धम्, सर्ववस्तुनः क्षणिकत्वात् । अथ 'अस्माद् इदमु[२२क]त्पद्यते' इति आत्मा प्रतिपद्यते; सोऽपि यदि सत्तामात्रेण,···तव्य इति [सुप्तमूर्च्छितादिष्वपि] प्रसङ्गः । अथ दर्शनपर्यायात्; पूर्ववत् प्रसङ्गः । तन्न सुखतत्कारणयोः दर्शनात्[11] तद्भावसिद्धिः । नाप्यनुमानात्; तस्य[12] तत्पूर्वकत्वेन तदभावे अभावात् । एतेन पूर्वदर्शनादेः उत्तरोत्तरसंस्कारादिजन्मप्रतिपत्तिः निरस्तेति । २५

अत्र प्रतिविधीयते—सुखसाधनदर्शनस्य तद्ग्रहणाभिमुख्यमजहत्[13] एव सुखग्रहणपरिणामोपपत्तेः[14] अप्रतिषेधः । वक्ष्यते चैतदत्रैव द्वितीयप्रस्तावे—*"**पूर्वपूर्वस्य स्वविषयग्रहणानुबन्धमजहत एव उत्तरोत्तरं प्रति साधकतमत्वात् स्मार्तज्ञानवत्**[15] ।" [सिद्धिवि० २।१५] इति ।

---

(१) व्याख्यातारः । (२) । दृष्ट एवार्थे । (३) "अनुभूते हि स्मृतिः"—हेतुवि० टीकालो० पृ०२६९ । "तदित्याकाराऽनुभूतार्थविषया स्मृतिः"—प्रमाणप० पृ० ६९ । "अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः"—योगसू० १।११ । (४) दृष्टेः । (५) वा शब्दस्य । (६) पुंसः । (७) स्मृतेरनन्तरम् । (८) प्रमाणात् । (९) सुखसाधनविनाशात् । (१०) समुदायासंभवात् । (११) प्रत्यक्षप्रमाणात् । (१२) प्रत्यक्षपूर्वकत्वेन । (१३) आत्मनः । (१४) अयुक्तः प्रतिषेधः ।

न चेदमप्रातीतिकम्, 'अस्माद्भावात् मे सुखभावः' इति प्रतीतेः। तदपलापे स्तम्भादिदर्शनमपि दुर्निरीक्षं प्रसजतीति प्रतिपादयिष्यते। 'युगपदेकमनेकाकारं व्याप्नोति जानातीति वा, न क्रमेण'[1] इति परमगहनमेतत्! ततः सिद्धा सुखतत्साधनयोर्हेतुफलभावप्रतीतिः। एतेन दर्शनादिसंस्कारादीनामपि सौ चिन्तिता।

५ यत्पुनरुक्तम्—पूर्वोत्तरदर्शनसंस्कारस्मृतीनाम् एकविषयत्वं कुतः प्रतीयते इति? तदप्येतेन[2] नोत्सृष्टम्[3]।

ननु भवत्वेवम्, तथापि प्रवृत्तिकाले सुखाप्रतिपत्तौ कथं तत्र दृश्यमानस्य[4] हेतुता प्रतीयेत यतस्तव (स्तत्र) प्रवृत्तिः स्यात्, प्रतिपत्तौ वा न प्रवृत्तिः तदैव सुखप्राप्तेः। §अथ प्रवृत्त्युत्तरकालं सुखप्रतिपत्तिः तर्हि तत्साधनप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिः तस्याश्च सुखवत् प्रवृत्तिः स्यात् [२२ख] प्रतिपत्तौ

१० वा न प्रवृत्तिः तदैव सुखप्राप्तेः§ अथ प्रवृत्त्युत्तरकालं सुखप्रतिपत्तिः; तर्हि तत्साधनप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिः, तस्याश्च सुखप्रतिपत्त्या तत्साधनप्रतिपत्तिः इत्यन्योन्यसमाश्रयः। अथ सुखसाधनस्य[5] पूर्वस्य तत्सदृशस्य वा पुनर्दर्शनादेवं भवति 'इदं सुखसाधनं तत्त्वात् पूर्वसदृशत्वात् पूर्ववत्' इति[6] ततः प्रवृत्तिः। नन्विदमनुमानम्, तच्चेत् सुखं न प्रत्येति, कथं [11]तत् प्रति कस्यचित्[12] कारणतामवैति? कार्यं(र्यै)प्रतिपत्तिनान्तरीयकत्वात् कारणताप्रतिपत्तेः। प्रत्येति चेत्; उक्तमत्र प्रवृत्तिर्न स्या-

१५ दिति[13]। यदि पुनर्न सिद्धतया अपि तु साध्यतया[14] तत् प्रत्येति; तर्हि साध्यतया असतः, तस्य च प्रतीतिरित्यतिसाहसम्, इति कस्यचित् सुखसाधनस्याप्रतिपत्तेर्न तत्र[15] [प्र]वृत्तिः। सुख इति चेत्; न; तस्य दर्शनेतरविकल्पद्वये पूर्ववत् प्रसङ्गः। तन्न कुतश्चित् प्रवृत्तिरिति किं 'व्यवसात्मनः' इत्यादिना इति चेत्; अत्रोच्यते—दृश्यदर्शनेन पूर्वोत्तरक्षणयोरदर्शने [16]ताभ्यां तस्य[17] कुतस्तत्रवृत्तौ[18] प्रतिपत्तिः यतः प्रत्यक्षसिद्धा क्षणिकता स्यादिति नेदं सुभाषितम्— *"यद् यथावभासते तत्तथैव

२० परमार्थसद्व्यवहारावतारि यथा नीलं नीलतया भासमानं तथैव तद्व्यवहारावतारि, [अव]भासन्ते च भावाः क्षणिकतया।" इति[19]। अथ [20]दृश्यदर्शनेन [21]तयोर्दर्शनम्; [22]दृश्यसमकालता तथैव पराभ्युपगमात्। [23]तयोरपि पुनः अन्याभ्यां पूर्वोत्तरक्षणाभ्यां [24]क्रम्य(त्रुट्य)त्ताप्रतिपत्तौ अन्ययोरपि तेन[25] दर्शनं पुनः तयोरपि [२३क] ततोऽन्याभ्यां क्रम्य(त्रुट्य)त्ताप्रतिपत्तौ दर्शनं तेन तयोरित्येककालता सकलसन्तानक्षणानामिति नित्यताप्रतिपत्तिवत् क्षणिकताप्रतिपत्तावपि युगपत्

२५ जन्ममरणाबधिदशाप्रतिपत्तिरिति तदैव जातो मृतश्च स्यात्। अथ दृश्यस्य दर्शनेन यथास्वकालं तयोर्दर्शनम्[26]; सुखस्यापि तथैव [27]दर्शनमिति न दृश्ये तत्साधने प्रवृत्तिविरोधः।

---

(१) चित्रज्ञानम्। (२) क्रमेण एकः आत्मा नानापर्यायान् न व्याप्नोति न वा जानाति इति कथनं परमाश्चर्यकरम्। (३) कारणकार्यभावप्रतिपत्तिः। (४) पूर्वोत्तरपर्यायव्यापिना आत्मना तत्प्रतिपत्तिसंभवादिति भावः। (५) सुखे। (६)जलाद्यर्थस्य। (७) §एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठः पुनरुक्तो भाति। (८) प्रवृत्तेश्च। (९) जलादेः। (१०) प्रतीतिः। (११) सुखं प्रति। (१२) जलाद्यर्थस्य। (१३) तथैव सुखप्राप्तेः। (१४) निष्पाद्यतया। (१५) सुखसाधने। (१६) पूर्वोत्तराभ्याम्। (१७) मध्यक्षणस्य। (१८) रहिततामप्रतिपत्तिः, उत्तृदिर हिंसायामिति रौधादिधातोः निष्पन्नमिदं गणकार्यस्यानित्यत्वात्। (१९) द्रष्टव्यम्—पृ० २ टि० १०। (२०) मध्यक्षणप्रत्यक्षेण। (२१) पूर्वोत्तरक्षणयोः प्रत्यक्षम्। (२२) तर्हि पूर्वोत्तरयोः वर्तमानक्षणापत्तिः। (२३) पूर्वोत्तरयोरपि। (२४) क्रुद्यत्ता क्षणिकता, रहितता वा। (२५) मध्यक्षणदर्शनेन। (२६) पूर्वस्य पूर्वस्मिन् क्षणे उत्तरस्य च उत्तरक्षणे। (२७) भविष्यति निष्पाद्यत्वेन।

स्यान्मतम्–पूर्वोत्तरक्षणाभ्यां मध्यक्षणस्य क्रथ(त्रुट्य)त्ता स्वभावभूता, ततः [1]तयोरदर्शनेऽपि [2]तदर्शनादेव प्रतीयते ; तर्हि [3]तस्य सुखहेतुता तथा[4] किन्न प्रतीयते सुखादर्शनेऽपि ? नहि सापि [5]ततो भिन्ना । नन्वेवं सर्वस्यापि भावदर्शनादेव [6]तत्प्रतीतेः सुखार्थिनो दुःखसाधने प्रवृत्तिः सुखहेतोर्वा निवृत्तिः भ्रान्त्या न स्यादिति चेत् ; न ; क्रथ(त्रुट्य)त्ताप्रतिपत्तावपि समानमिति तँदनुमान[मन]र्थकम् । समारोपकल्पनम् अन्यत्रापि । तथा सति कथं सुख[सा] धने प्रवृत्तिरिति चेत् ? क्रथ(त्रुट्य)त्तायां कथम् ? समारोपव्यवच्छेदात् ; प्रकृते समः समाधिः । यथैव च घटादौ सत्त्वादेः क्षणिकत्वेन व्याप्तिदर्शनादन्यत्र तत्तः क्रथ(त्रुट्य)त्तां अनुमीयते तथा आकारविशेषस्य पूर्व (पूर्व) सुखहेतुत्वेन व्याप्ततया दृष्टस्य पुनः क्वचिद् दर्शनात् सुखहेतुता अनुमीयताम् । ननु उक्तमत्र अनुमानेन सुखाप्रतिपत्तौ कथं तद्धेतुताप्रतिपत्तिः ? प्रतिपत्तौ न प्रवृत्तिरिति चेत् ; इदमप्युक्तम्–तेन पूर्वोत्तरक्षणाविषयीकरणे कथं तत्सम्बन्धिनी क्रथ(त्रुट्य)त्ता मध्यक्षणस्य प्रतीयते यतः समारोपो निवर्तेत । [7]तद्विषयीकरणे च एकक्षणभाविता सन्तानस्य [२३ख] इति ।

एतेन एतदपि निरस्तं यदुक्तं परेण–*"यद्यपि दृश्यस्य सुखादर्शनेऽपि [8]तद्धेतुता प्रतीयते तवा(था)पि निश्चेतुं न शक्यते" इति ; कथम् ? क्रथ(त्रुट्य)त्तायामपि समानत्वात् । भवतु वा तदनिश्चयः तथापि को दोषः ? [9]तँदर्शनं प्रवृत्तिहेतुर्न स्यादिति । कथं क्रथ(त्रुट्य)त्तादर्शनमनिश्चितम् अनुमानहेतुः, येन *"यद् यथावभासते" इत्यादि सूक्तम् ? [10]ऐतदनिश्चितम् अनुमानस्य कारणं न [11]पूर्वं प्रवृत्तेरिति महती प्रेक्षाकारिता ! यदि च, कार्यानवधारणक्षणे अस्य कारणतानवधारणम्; तर्हि कथं प्राप्यानवधारणे दृश्यस्य ततो विवेकावधारणम्, येनात्र पक्षत्रयमुत्थापितम्–*"दृश्यप्राप्ययोः एकत्वाध्यवसायिनं प्रति प्राप्ये प्रत्यक्षं प्रमाणम् , अन्यं प्रति तदाभासम् , अवधारितविवेकं प्रति अनुमानम्" इति ? व्यवहारेण तदुत्थापितमिति चेत् ; तेनैवँ[12] कार्यानवधारणेऽपि कारणतावधारणमिति कारणे प्रवृत्तिसंभवादलं भाविनि प्रवृत्त्या, एकान्ते तदर्थेन कारणत्वोपवर्णनेन वा, व्यवहारविपर्ययात् । परमार्थेऽपि चित्रैकज्ञानाद्वैतरूपं नीलाकारः पीताद्याकारान् अनात्मसात्कुर्वन्नपश्यन् वा यथा तत्साधारणीं बोधरूपतामात्मसात्करोति पश्यति वा तथा कार्यानवधारणेऽपि कारणतावधारणं कारणदर्शनेन । सर्वविकल्पातीतेऽपि तस्मिन्[13] इदमेव वक्तव्यम्; तथाहि–कारणत्वादिविकल्पानां प्रतिपत्तौ [२४क] कस्यचित् तद्विविक्तताविप्तिः । नहि अप्रतिपन्नमशकस्य 'नेह मशकाः सन्ति' इति निर्णीतिरस्ति । [14]तँथा चेत् ; सुस्थितं तदद्वैतम् ! अप्रतिपत्तौ चेत् ; [15]प्रँकृतमनुषङ्गि । ततो यथा कस्यचित् तद्विविक्तस्य दर्शनात् तद्भाव [ख्य]-

---

* (१) पूर्वोत्तरयोः । (२) मध्यदर्शनादेव । (३) जलादिसाधनस्य । (४) साधनस्वभावभूता, अतः साधनज्ञानादेव प्रतीयताम् । (५) साधनात् । (६) सुखसाधनत्वप्रतीतेः । (७) क्षणिकतानुमानम् । (८) शब्दादौ । (९) क्षणिकता । (१०) मध्यक्षणदर्शनेन पूर्वोत्तरयोः विषयीकरणे च । (११) सुखहेतुता । (१२) साधनदर्शनम् । (१३) भुक्त्यत्तादर्शनम् । (१४) जलादिसाधनदर्शनम् । (१५) व्यवहारेणैव । (१६) अद्वैते । (१७) कारणत्वादिविकल्पप्रतिपत्तिश्चेत् । (१८) यथा कारणत्वादिविकल्पानामप्रतिपत्तावपि तद्विविक्तताप्रतिपत्तिस्तथा कार्यानवधारणेऽपि कारणतावधारणं स्यात् ।

व्यवहारः तथा आकारविशेषदर्शनात् हेतुताव्यवहारोऽपि साध्यते इति सूक्तं **व्यवसायात्मन** इत्यादि ।

ननु यदुक्तम्–'**नान्यथा क्षणिकादिवत्**' इति; तत्र यदि नाम निर्विकल्पदृष्टेः क्षणिकादौ संस्कारादिर्न जायते, तथापि नीलादौ जायते दृष्टत्वात् । न च दृष्टमन्यथा कर्तुं शक्यम् । न च 'दर्शनम्' इत्येव सर्वत्र स्वगोचरे संस्कारादिहेतुः; अन्यथा व्यवसायात्मकमपि[1] तथा इति गृहीतग्रहदृढकादिविस्मरणादि न भवेत् । अथ तत्[2] दर्शनपाटवादिकमपेक्षते; प्रकृतमपि तथैव अपेक्षते इति तदभावान्न क्षणिकादौ संस्कारादिः, अन्यत्र तु अस्ति विपर्ययादिति चेत्[3]; अत्रोत्तरमाह–**दर्शनेत्यादि**। प्रतिपत्तिगौरव (वं) **दर्शनपाटवमिति**। [4]तच्च संस्कारादिकार्ये सामर्थ्यम्, **मुहुर्मुहुः** चेतसि परिमलनम् **अभ्यासः**, तौ आदी यस्य **प्रकरणादेः** स तथोक्तः तस्मात् **दृष्टसजातीय-संस्कारस्मृतिप्रबोधे दृष्टः** पूर्वदर्शनगोचरः स चासौ **सजातीयश्च** सदृशः उत्तरविशेषेण, उपलक्षणमेतत्, ततः तेनैकोऽपि दृष्ट इत्युच्यते, तत्र **संस्कारश्च स्मृतिश्च** तयोः **प्रबोधे** उत्पादे अभ्युपगम्यमाने । किमन्तरेण ? इत्यत्राह–**स्वभावव्यवसायमन्तरेण** दर्शनस्य स्वरूपभूतनिर्णयमन्तरेण **संस्कारस्मृति**[२४ख]वचनमप्युपलक्षणमिति प्रत्यभिज्ञानादिपरिग्रहः । तत्र किं स्यात् ? इत्यत्राह–**क्षणभङ्गादावपि** आदिशब्देन स्वर्गप्रापणसामर्थ्यादिपरिग्रहः, न केवलं नीलादौ इति अपिशब्दार्थः, **लिङ्गानुसरणं** हेत्वाश्रयणम् **उक्तमनुपपन्नं** प्रत्यक्षत एव तत्सिद्धेरिति मन्यते । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**तदविशेषात्** तस्य दन(दर्शन)पाटवादेः अविशेषात् क्षणभङ्गादावपि । निदर्शनमाह–**नीलादिवत्** **तत्रैव** (तत्रेव[5]) तद्वदिति। नहि दर्शनं स्वविषये [6]पाटवेतरात्मकं तदप्रसंगात् (अतिप्रसङ्गात्) । अभ्यासोऽपि मुहुर्मुहुः क्षणिकदर्शनस्य तद्विकल्पस्य वा वृत्तिः सौगतानां विद्यते, तथा अर्थित्वादयोऽपि । न च [7]तत्र [8]तत्प्रबोधः । तन्न [9]तत्कार्यम् । प्रयोगश्चात्र–यस्मिन्नविकलेऽपि यन्न भवति तन्न तत्कार्यम्, यथा अविकलेऽपि चक्रादौ अभवन् पटो न तत्कार्यः, अविकलेऽपि च दर्शनपाटवाभ्यासादौ न भवति क्षणिकादौ संस्कारादि[:]इति । विपर्ययप्रयोगः–यस्मिन्नविकले यद् भवति तत् तस्य कार्यम्, यथा अविकले चक्रादौ भवन् घटः तस्य कार्यः, भवति च निर्णयेऽविकले संस्कारादिः इति । ननु 'दर्शनपाटवादेः' इत्यस्तु [10]किमभ्यासग्रहणमिति

---

(१) ज्ञानम् । (२) संस्कारादिहेतुः स्यात् । (३) ग्रहदृढकं प्रकरणम् । (४) व्यवसायात्मकं ज्ञानम् । (५) निर्विकल्पकदर्शनम् । (६) पाटवादिकमपेक्षते । (७) नीलादौ । (८) पाटवाभ्यासादिसद्भावात् । (९) तुलना–"येषां तु पुनरभ्यासपाटवादयो निश्चयस्य हेतवः सन्ति ते महामतिशकटयः···"–प्र० वार्तिकाल० पृ० २४० । "यथा दृष्टस्याकारोऽभ्यासपाटवादिप्रत्ययान्तरसापेक्षो विशेषस्तस्य ग्रहणात् । न हि दृष्टमित्येव विकल्पेन गृह्यते ; दर्शनाऽविशेषात् सर्वाकारेषु विकल्पोदयप्रसङ्गात्, अपि तु कश्चिदेव अभ्यासादिप्रत्ययापेक्ष इत्याकारग्रहणेनाचष्टे ।"–हेतुबि० टी० पृ० २६ । "यथानुभवमभ्यासपाटवादिप्रत्ययान्तरसहकारिणां विकल्पानामुदयात् ।"–हेतुबि० टी० पृ० २२ । "अथ मतम् अभ्यासप्रकरणबुद्धिपाटवार्थित्वेभ्यो निर्विकल्पकादपि दर्शनाज्जीलादौ संस्कारः स्मरणं चोत्पद्यते न पुनः क्षणिकादौ तदभावात् ।"–प्रमाणप० पृ० ५४ । प्रमेयक० पृ० ३३ । स्या० र० पृ० ८४ । (१०) पाटवञ्च । "पाटवं तीक्ष्णता बुद्धेः इति, प्रकरणात् आदिशब्दात् प्रत्यासत्तितारतम्यादेर्ग्रहणम्"–हेतुबि० टीकालो० पृ० २७१ । (११)नीलादौ इव । (१२) नीलादौ पाटवम् क्षणिकादौ च अपाटवमिति । (१३) क्षणिकादौ । (१४) संस्कारस्मृतिप्रबोधः । (१५) अभ्यासपाटवादिकार्यम् । (१६) किमर्थम् ।

चेत् ; उभयत्र आदिशब्दसम्बन्धार्थम्–दर्शनपाटवादेः अभ्यासादेः इति । तेन एकत्र आदिशब्देन दर्शनप्रतिबन्धकस्य गुणान्तरारोपस्य *"नो चेद् भ्रान्तिनिमित्तेन" [प्र० वा० ३।४३] इत्यादिना प्रतिपादितस्य [२५क] वैकल्यं गृह्यते । यद्वक्ष्यते अत्रैव–*"दर्शनपाटवाद्यविशेषेऽपि" इत्यादि । परत्र आदिशब्देन अर्थित्वादिपरिग्रहः । यदि वा, सर्वत्र अभ्यासस्य प्राधान्यप्रदर्शनार्थम् अभ्यासग्रहणम् । यदुक्तं परेण–*"अभ्यासे प्रत्यक्षम् अनभ्यासे अनुमानं प्रमाणम्" इति । तत्र क्षणभङ्गादाविव नीलादावपि अभ्यासविरहे कुतः संस्कारादिः यतोऽनुमानम् ? एवं तर्हि 'दृष्टसजातीयसंस्कारादिप्रबोधे' इति वक्तव्यं नार्थः स्मृतिग्रहणेनेति चेत् ; तत् क्रियते उत्तरार्थम् । तत्र हि स्मृतिरेव प्रधानतया चिन्त्ययिष्यते *"अभेदात् सदृशस्मृत्याम्" [सिद्धिवि० १।६] इत्यादौ । अनेन व्यतिरेकमुखेन कारिकार्थो विवृतः ।

इममेवार्थं समर्थयमा[नः] प्राह–**आधत्ताम्** इत्यादि ।

[आधत्तां क्षणिकैकान्तस्वार्थसंवित् पटीयसी ।
सदाभ्यासात्स्मृतिं सापि दृष्टसंकलनादिकम् ॥ ५ ॥

सदृशापरोत्पत्तिविप्रलम्भाभावधारयतीत्यसमञ्जसम् ; सर्वथा सादृश्यासंभवात् । वैलक्षण्यानवधारणे अतिप्रसङ्गः । तद्विकल्पकारणव्यतिरेक इत्यपि तादृगेव । स्वार्थदृष्टिस्मृत्योः स्वभावव्यवसायाभावे कुतः संकलनाज्ञानं यतः सङ्के तस्मृत्यादयः ? निर्विकल्पकदृष्टावपि सजातीयाध्यवसायादिः सुप्तप्रबुद्धवच्चेत् ; न; अर्थदर्शनभावेऽपि तदनुषङ्गात् ।]

ननु अयमर्थोऽनन्तरकारिकावृत्तावुक्तः । न च पुनस्तस्यैवाभिधाने स एव समर्थितो नाम अतिप्रसङ्गात् किन्तु अन्यस्माद्धेतोः[६], सैं चात्र नोक्तः, तस्मात् 'उक्तार्थोऽनन्तरश्लोकोऽयम्' इत्य न र्न्तं वी र्यः । अस्यायमर्थः–**आधत्तमादव्यक्ता (आधत्तां) क्षणिकैकानु(न्त) स्वार्थसंविद्** इति । क्षणिक इति भावप्रधानो निर्देशः, ततः क्षणिकत्वम् एकः असहायः अन्तो धर्मो ययोः स्वार्थयोः तयोः संविन् दृष्टिः । कथम्भूता ? इत्यत्राह–**पटीयसी** पटुतरा । कदा ? इत्यत्राह–**सदा** सर्वकालम् । कुतः ? **अभ्यासात्** । किम् ? इत्यत्राह–**स्मृतिविकल्पम्** । स्मृतिः किं कुर्यात् ? इत्यत्राह–**सापि** स्मृतिरपि **दृष्टसंकलनादिकम्** दृष्टस्य पूर्वदर्शनेन विषयीकृतस्य उत्तरपर्यायेण सह एकत्वेन सादृश्येन वा समीचीनं कलनं निर्णयनं येन तत् [२५ख] संकलनं प्रत्यभिज्ञानम्, आदिशब्देन तर्कादिकं गृह्यते तद् **आधत्ताम्** इति ।

यदुक्तम्[७]–'क्षणभङ्गादावपि लिङ्गानुसरणमयुक्तं तदविशेषात्' इति; तत्राह–**परादर्शन (सदृशापरोत्पत्तिदर्शन)** इत्यादि । विवृतार्थमेतत् । सदृशस्य पूर्वेण समानजातीयस्य **अपरस्य** क्षणस्य **या उत्पत्तिः** उत्पत्तिविषयं दर्शनम् उत्पत्तिः विषयिणि[१०] [११]विषयशब्दोपचारात् । न खलु तदुत्पत्तिरेव विप्रलम्भहेतुः[१२], सर्वदा प्रसङ्गात् । तया विप्रलम्भः [१३]गुणान्तरारोपः तस्मान्नावधारयति

(१) दर्शनपाटवे । (२) क्षणिकत्वादौ नित्यत्वाद्यारोपस्य । (३) "संयोज्येत गुणान्तरम् । शुक्तौ वा रजताकारः रूपसाधर्म्यदर्शनात् ॥" इति शेषः । (४) अभ्यासे । (५) द्रष्टव्यम्–पृ० २२ टि०१७ । (६) समर्थितेन भाव्यम् । (७) हेतुः । (८) अनन्तवीर्योऽयं प्रकृतटीकाकारात् रविभद्रपादोपजीविनोऽनन्तवीर्याद् भिन्न एव भाति । (९) पृ० ३० प० १४ । (१०) उत्पत्तिविषयके दर्शने । (११) उत्पत्ति । (१२) किन्तु उत्पत्तिविषयकं दर्शनम् । (१३) स्थिरस्थूलादिभ्रमः ।

न निश्चिनोति 'क्षणभङ्गादिकम्' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः। तत्र संस्कारादिमान (न्त) भवति जनः इत्यर्थः। तस्य उत्तरमाह—इत्यसमञ्जसम् इत्यादि। इत्येवं परमतम् असमञ्जसम् अयुक्तम्। कुत एतत्? इत्याह—सर्वथा सर्वप्रकारेण सादृश्यासंभवात्, पूर्वोत्तरक्षणयोः सारूप्यसंभवनाया अपि विरहात्। तथाहि—पूर्वपूर्वनित्यसमारोपक्षणाद् उत्तरोत्तरसमारोपक्षणो यदि सर्वात्मना सदृशो जायते तेन तर्हि पूर्वतत्क्षणवत्[2] उत्तरस्यापि उत्तरतत्क्षणोत्पादनस्य सामर्थ्यम्, एवमुत्तरोत्तरस्येति आसंसारं न क्षणोपरमः। नहि अनुनानेन[3] पूर्वस्मिन् समर्थे उत्तरं कार्यं निवारयितुं शक्यते, तस्मिन् सति अवश्यंभावात्। नापि तत्सामर्थ्यम्[4]; सतो निवारणायोगात्।

*"तस्य शक्तिरशक्तिर्वा या स्वभावेन संस्थिता।
निरंशत्वाटधिकिसास्य (नित्यत्वादचिकित्स्यस्य) कर्त्तां क्षपयितुं क्षमः॥"

[प्र०वा०२।२२]

एवं सर्वभावेषु वाच्यम्। तथा [२६क] सति चरमक्षणाभावः स्यादिति चेत्; अयमपरोऽस्य दोषोऽस्तु। तत्र पूर्वोत्तरतत्समारोपक्षणयोः तत्त्वे[6] नैव उत्तरकार्यजननसामर्थ्येनापि सादृश्यम्। अपि च, यथा पूर्वस्य उत्तरं प्रति कारणत्वम्, एवं चेत्[7] [8]तस्यापि [9]तत्प्रति कारणत्वम्; युक्तं सर्वात्मना सादृश्यम्। न चैवम्, आत्मनि अर्थक्रियाविरोधात्। अथ पूर्वस्मात् तत्समारोपक्षणात् क्षणक्षयानुमानसहायाद् [10]अपरोऽपरजनने[11] असमर्थोऽसमर्थतरोऽसमर्थतमो जायते; तर्हि [न] [12]तत्समारोपत्वेन सादृश्यम् उक्तप्रकारेण। अन्यथा छतिति (भवति) निरंशवादहानिः। एवं सर्वत्र योज्यम्। ततः सूक्तम्—सर्वथा इत्यादि। एतदुक्तं भवति निरंशैकान्ते सदृशापरोत्पत्त्यभावेन विप्रलम्भाभावात् [13]तदवधारणं स्यादिति।

ननु मा भूत् पूर्वापरयोः समानधर्मान्वयः सादृश्यं वैलक्षण्यानवधारणं तु स्यादिति चेत्; अत्राह—वैलक्षण्य इत्यादि। वैलक्षण्यं पूर्वोत्तरयोः वैसदृश्यं तस्य अनवधारणे अतिप्रसङ्गः। तथाहि—तदनवधारणं प्रसज्यप्रतिषेधरूपम्, पर्युदासरूपं वा स्यात्? प्रथमपक्षे [14]तदवधारणाभावमात्रमनवधारणं कथं सादृश्यं विप्रलम्भहेतुर्वा? अन्यथा खरशृङ्गादिकमपि स्यात्। द्वितीयेऽपि किं तद् वैलक्षण्यावधा-

(१) "सदृशापरोत्पत्तिविप्रलब्धो वा, सदृशे हि तदेवेदमिति बुद्धिर्यमजे। ···अत्रापि सदृशापरोत्पत्तिविप्रलब्धो लूनपुनर्जातकेशनखादिवत्···"—प्र० वार्तिकाल० २।२०९। "तस्मात् सदृशापरभावनिबन्धनं पूर्वार्धं केशकदलीस्तम्बादिष्विव आकारसाम्यतामात्रापहृतहृदयानां भ्रान्त एव तत्रावध्यवसायो मन्तव्यः···" (पृ० ८१) 'सदृशापरभावग्रहकृतश्च अवान्तरदर्शनानामेकत्वविभ्रमो लूनपुनर्जातेष्विव नखकेशादिष्विति किन्नेष्यते। (पृ० १२०) 'सदृशापरभावनिबन्धनं चैकतया प्रत्यभिज्ञानं लूनपुनर्जातेष्विव केशनखादिषु इत्यत्र विरोधाभावादिति।"—हेतुबि० टी० पृ० १३६। "तुल्येत्यादिना भदन्तशुभगुप्तस्य परिहारमाशङ्क्ते—तुल्यापरक्षणोत्पादाद्यथा नित्यत्वविभ्रमः। अविच्छिन्नसजातीयग्रहे चेत्स्थूलविभ्रमः॥"—तत्त्वसं० श्लो० १९७२। (२) समारोपक्षणवत्। (३) कारणभूतसमारोपक्षणे। (४) समारोपान्तरक्षणम्। (५) निवारयितुं शक्यते। (६) सामर्थ्यनिवारणाभावे। (७) बौद्धस्य। (८) पूर्वक्षणवर्तित्व-उत्तरक्षणवर्तित्वरूपभिन्नस्वभावत्वे। (९) यदि। (१०) उत्तरस्यापि। (११) पूर्वं प्रति। (१२) द्वितीयः समारोपक्षणः। (१३) तृतीयसमारोपक्षणजनने। (१४) तयोः पूर्वोत्तरयोः समानसमारोपत्वेनापि सादृश्यं नास्ति इत्यर्थः। (१५) क्षणिकत्वावधारणं प्रत्यक्षत एव स्यात्। (१६) वैलक्षण्यावधारणाभावमात्रम्।

रणाद् अन्यत् यत् तद[न]वधारणशब्दवाच्यं स्यात् ? स्वलक्षणमिति चेत् ; घटकपालादौ प्रसङ्गः, तथा च ततो विप्रलम्भात् न तत्र संस्कारस्मृतिप्रबोधः । अथ एकत्वावधारणं तदनवधारणम् ; तर्हि 'सदृश्याद् विप्रलम्भः' [२६ख] इति किमुक्तं स्यात् 'एकत्वावधारणाद् एकत्वावधारणं विप्रलम्भः' इति । न च तदेव तस्यैव कारणम् ; विरोधात् । तदपि च एकत्वावधारणं कुतो भवति ? सदृशापरदर्शनादिति चेत् ; न; सर्वथा सादृश्यासंभवात् अतिप्रसङ्गः, अनवस्था च । ५

किञ्च, 'क्षणभङ्गादावपि लिङ्गानुसरणमयुक्तम्' इति वदता तदनवधारणमेव चोदितम् ; तत्र तदनवधारणमुत्तरं (णं सुतरां) साध्यसममिति न सादृश्यमिदमपि युक्तम् ।

पुनरप्याह परैः[3]— तद् इत्यादि । तस्य वैलक्षण्यस्य विकल्पो निश्चयः तस्य कारणं तस्य व्यतिरेकोऽभावः सादृश्यम् । अत्रोत्तरमाह—इत्यपि इत्यादि । न केवलं पूर्वं किन्तु एतदपि तादृगेव पूर्वसमानमेव, दर्शनपाटवाभ्यासादेः तत्कारणभावात् सर्वथा तद्विकल्पकारणव्यति- १० रेकासंभवादिति मन्यते । यद्यस्मात् सादृश्यान्नावधारयति तदपि तादृगेव इति ।

एवम् अविकल्पस्य प्रतिबन्ध-वैकल्यविकलस्यापि दर्शनस्य क्षणभङ्गादौ संस्काराग्रहेतुत्व-वत् नीलादावपि तदभिधाय इदानीं प्रकारान्तरेणापि तदभिधातुकामः प्राह—स्वार्थ इत्यादि । स्वं च अर्थश्च तयोः दृष्टिश्च स्मृतिश्च तयोः स्वभावस्य स्वरूपस्य स्वभाव एव वा व्यवसायः तस्य अभावे । ननु भवतु दृष्टेस्तदभावः नतु स्मृतेः, तस्याः व्यवसायस्वभावत्वादिति चेत् ; न; तस्याः १५ अपि स्वभावे व्यवसायाभावे अर्थेऽपि सं दुर्घटः एवमध्यं च (मर्थं च) फक्किकाया आदौ स्वभाव-ग्रहणम् , अन्यथा [२७क] व्यवसायेत्याद्युच्येत । अर्थे तत्र तस्या व्यवसाय इष्यते; दृष्टेरपि तथैव स्यात् । 'दृष्टिस्मृत्योः' इति सहवचनं च तयोः तुल्यधर्मतामतिपादनार्थम्। इतश्च परस्यं निर्वि-कल्पिका स्मृतिः [4]तथाविधानुभवकार्यत्वात् उत्तरानुभवक्षणवत् । तस्मिन् सति किं जातमिति चेत् ? अत्राह—कुतः इत्यादि। कुतो न कुतश्चित् संकलनाज्ञानम् 'तदेवेदं तेन सदृशम्' इति वा प्रत्य- २० भिज्ञानं व्यवतिष्ठते, अत्रापि उक्तन्यायस्य संभवात् । कथम्भूतं तत् ? इत्यत्राह—यत इत्यादि। यतो यस्मात् संकलनाज्ञानात् सङ्केतस्मृत्यादयः आदिशब्देन अभिलापयोजनादिपरिग्रहः, कार-णाभावात् तदभावः स्यादिति मन्यते । एतदुक्तं भवति—पूर्वं सङ्केतविषयस्यार्थस्य दर्शनम्, पुनः तस्य तज्जातीयस्य च दर्शनात् [5]तस्य स्मृतिः, ततोऽपि 'तदेवेदं तेन सदृशम्' इति वा संकलनम् , ततोऽपि सङ्केतस्मृतिः, तस्याः पुरोवर्तिनि शब्दयोजनम् , अतोऽपि 'घटोऽयं पटोऽयम्' इति विकल्पं ज्ञानम्, २५ तत् सर्वं न स्यादिति । ननु च यथा मेघात् जलं प्रदीपात् कज्जलं विजातीयाद् भवति, तथा सर्वत्र अविकल्पाद्दर्शनात् व्यवहारेण स्वरूपे अविकल्पकम् [13]अन्यत्र [14]विपरीतं स्मृत्यादिकं स्यात् । एतदेवाह—निर्विकल्प इत्यादिना। विकल्पाभिष्क्रान्ता सा चासौ दृष्टिश्च तस्यामपि सत्यां सजा-तीयाव्यव(याध्यव)सायादिः आदिशब्देन संकलनादिपरिग्रहः । अत्र निदर्शनमाह—सुप्तप्रबु-

(१) पूर्वोत्तरक्षणयोः। (२) वैलक्षण्यानवधारणमपि । (३) बौद्धः। (४) कारणान्तराणां विकलता । (५) संस्काराग्रहेतुत्वमभिधाय । (६) स्वभावव्यवसायाभावः । (७) स्मृतेरपि । (८) स्वभावे सर्वं ज्ञानं निर्विकल्पकमिति तत्सिद्धान्तात् । (९) व्यवसायः। (९) स्मृतेः। (१०) बौद्धस्य। (११) निर्विकल्पानुभव । (१२) पूर्वदृष्टस्य । (१३) अर्थरूपे । (१४) निश्चयात्मकम् ।

द्धवत् इति । पूर्वं सुप्तः पश्चात् प्रबुद्धः सन्तानः स इव तद्वत् । [२७ख] एतदुक्तं भवति—यथा सुप्तपश्चात्तः (सुप्तस्य पश्चात्) प्रबुद्धावस्था तथा प्रकृतमपि इति । अत्रेदं विचार्यते—कोऽयं सुप्तो नाम ? स्वप्नदर्शी निद्राक्रान्त इति चेत् ; न तस्य प्रकृतसमत्वा (त्वम्) । दर्शीति चेत् ; तस्य यदि निर्विकल्पं दर्शनम्, अतोऽपि प्रबुद्धः तथाविधदर्शनवान् ; न [1]प्रकृतस्य तद्भवति । स्मृत्यादिमान्[2] ; साध्यसमता । न च परेण तस्य दर्शनमिष्यते अचेतनत्वोपगमात् । अथ चेतनारहितं सुप्तमित्युच्यते, न तस्मात् प्रबुद्धः, जाग्रद्दशातः तदभ्युपगमात् । कथं परसम्बन्धिनिदर्शनमेतत् प्रदर्शितमिति चेत् ? न; अन्यथा व्याख्यानात्—सुप्त इव सुप्तः स्वलक्षणासाक्षात्करणात् सुगतस्मानुमानदर्शः (सुगतस्य अनुमानदशा) विशेषः प्रबुद्ध इव प्रबुद्धः सर्वदृश्यवस्थाभेदः, ततो न दोषः, परेणापि अनुमानात् सुगतत्वोपगमात् । चेच्छब्दः पराभिप्रायसूचकः । अस्योत्तरमाह—**नार्थ** इत्यादि । नेति पूर्वपक्षनिषेधे । **अर्थदर्शनभावेऽपि** न केवलं [तदभावे] **तदनुषङ्गात्** सजातीयाव्य(याध्य)वसायाद्यनुषङ्गात् । कुत एतत् ? इत्यत्राह—**अभेदात्** इत्यादि ।

[अभेदात् सदृशस्मृत्यामर्थाकल्पधियां न किम् ।
संस्कारा विनियम्येरन् यथास्वं सन्निकर्षिभिः ॥६॥

वस्तुस्वभावोऽयं यत् संस्कारः स्मृतिबीजमादधीत । ततः सहकारिकारणवशात् स्मृतिबीजप्रबोधः स्यात् । तत्र इन्द्रियार्थसन्निकर्षापेक्षिणः तत्प्रबोधस्य अविकल्पकल्पनायां पूर्वं पश्चाच्च दर्शनमनर्थकम् ।]

क्रमेण यौगपद्येन च सादृश्यैकत्वयोः विकल्पबुद्धिः **सदृशस्मृतिः** परमतापेक्षया उच्यते । परस्य हि मतम्—परमाणव एकार्थक्रियाकारिणः अतत्सन्तानपरावृत्ताः स्वसमानाः परम्परया तस्या हेतवः, **तस्यां** कर्त्तव्यायाम् **अभेदाद्** अविशेषात् । केषाम् ? इत्यत्राह—**अर्थाकल्पधियाम्** । अर्थाश्च अकल्पधियश्च तासाम् इति । एतदुक्तं भवति— यथा [२८क] अनुभवात् निरंशात् सदृशस्मृतिसंभवः तथा अर्थादेव तथाविधात् [10]सोऽस्तु इति । न चेदमत्र चोद्यम्—[11]अर्थदर्शनपूर्विका स्मृतिः सा कथं [12]तदभावे भवेत् ? अन्यथा सर्वत्र तदनुषङ्ग इति । कथम् ? यदि हि दर्शनगोचरे स्वलक्षणे जायते स्मृतिः तदा [13]तत्पूर्विकेति स्यात्, न चैवं सामा-

---

(१) सुप्तस्य । (२) चेत् । (३) सुप्तस्य । (४) जाग्रद्दशाभाविचेतसः प्रबोधचेतस उत्पत्तिस्वीकारात् । "गाढसुप्तस्य विज्ञानं प्रबोधे पूर्ववेदनात् । जायते व्यवधानेन कालेनेति विनिश्चितम् ॥"—प्र० वार्तिकाल० पृ० ६८ । (५) बौद्धमतप्रसिद्धमुदाहरणम् । (६) सुगतत्वप्राप्तिप्राक्कालभाविनी श्रुतमयी चिन्तामयी च भावना अत्र क्रमशः परार्थानुमान-स्वार्थानुमानरूपा प्राह्या । (७) "न भावनामात्रत एव योगी भवति, अपि तु श्रुतमयेन ज्ञानेन अर्थान् गृहीत्वा युक्तिचिन्तामयेन व्यवस्थाप्य भावयतां तन्निष्पत्तौ यदवितथविषयं तदेव प्रमाणं तच्चुक्ता योगिनः ।"—प्र० वार्तिकाल० ३।२८५ । "यादृशो योगिनां भावनाक्रमो विनिश्चिये श्रुतमयेत्यादिनाऽभिहितः···"—न्यायवि० ध० पृ० ६८ । "वृत्तस्थः श्रुतचिन्तावान् भावनायां प्रयुज्यते । त्रिधः श्रुतादिप्रभवा नामोभयार्थगोचराः ॥···श्रुतमयी प्रज्ञा हि आप्तप्रमाणजो निश्चयः, चिन्तामयी प्रज्ञा युक्तिनिश्चयानजो निश्चयः···"—अभिध० को० ६।५ । (८) उद्धृतोऽयम्—न्यायवि० वि० प्र० पृ० ५२० । (९) निरंशात् । (१०) सदृशस्मृतिसंभवोऽस्तु । (११) "पूर्वानुभवाभ्यासान्वयव्यतिरेकानुविधायिनी स्मृतिः"—प्र० वार्तिकाल० पृ० ६१० । (१२) दर्शनाभावे । (१३) अर्थपूर्विका ।

न्यविषयत्वात्, नैवं तस्याः एवमर्थं च **'सदृशस्मृत्याम्'** इत्युक्तम् । तथापि तत्पूर्विका चेत्; नीलस्मृतिः पीतदर्शनपूर्विका स्यात् ।

अत्राह परैः—'नार्थदर्शनादेवं केवलादुपादानात् सजातीयस्मृतिर्येनाऽयं दोषः, अपि तु पूर्व-सदृशस्मृत्याहितवासनातः उत्तरतत्स्मृतिजन्म, दर्शनं तु तद्वासनाप्रबोधहेतुत्वात् तद्धेतुः[3] इत्युच्यते, अत एव सदृशाकारः तत्र न विरुद्ध्यते' इति; तं [प्र]त्याह—**न किम्** इत्यादि । **संस्काराः** ५ पूर्वपूर्वविकल्पाहितवासना **विनियम्येरन्** उत्तरोत्तरनियतार्थसदृशस्मृतिजनने नियताः क्रियेरन्, **किं न** अपि तु विनियम्येरन्नेव, प्रतिषेधद्वयेन प्रकृतार्थगतेः । कैः ? इत्यत्राह—**यथास्वम्** इत्यादि । **सन्निकर्षः** योग्यदेशावस्थानम् न संयोगादिः[5] तस्य निषेत्स्यमानत्वात्, सन्निकर्षो विद्यते येषाम् अर्थेन्द्रियाणां ते **सन्निकर्षिणः** तैः इति । यो यस्य संस्कारस्य प्रबोधनपटुः सन्निकर्षी तस्य अनतिक्रमेण यथास्वम् इति । तत्र क्वचिदर्थे दर्शनस्यैं उपयोग इति मन्यते । १०

पूर्वस्य कारिकाद्वयस्य व्याख्यानम्[२८ख]कृत्वा सुगमत्वात्, उत्तरस्य अक्षरद्वयाधिकस्य व्याख्यानं कुर्वन्नाह—**वस्तुस्वभावोऽयम्** इत्यादि । वस्तुनः पदार्थस्य स्वभावोऽयं स्वरूपमिदं यद्यस्मात्तश्च (तत्त्व)भावाद् व्यवसायो विकल्पः **स्मृतिबीजम्** स्मरणनिमित्तं संस्कारम् **आदधीत** *"व्यवसायात्मनो दृष्टेः" [सिद्धिवि० १।४] इत्यादौ चिन्तितमेतत् । तत्र युक्तमेतत्—*"वस्तुस्वभावोऽयं यदनुभवः पटीयान् स्मृतिबीजमादधीत ।" इति । ततः किं स्यादिति १५ चेत् ? अत्राह—**ततः** तस्मात् **स्मृतिबीजप्रबोध (धः)** प्रकृष्टः संशयादिरहितो बोधः सदृशस्मृतिः **स्याद्** भवेत् । किं तत एव उतान्यतोऽपि ? इत्यत्राह—**सह[कारि]कारणवशात्** इति । तेन स्मृतिबीजेन सह करोति सदृशस्मृति[मिति]**सहकारि** तच्च **तत्कारणं** च इन्द्रियार्थादि तस्य **वशात्** । अनेन परप्रसिद्ध्या सदृशस्मृतेः प्रत्यक्षत्वे निमित्तं दर्शयति । प्रकृतमुपसंहरन्नाह—**तत्र** इत्यादि । **तत्र** तस्मिन् संभवे सति कस्य **तत्प्रबोधस्य** सदृशस्मृतिप्रबोधस्य । कथंभूतस्य ? २० **इन्द्रियार्थसन्निकर्षापेक्षिणः** इन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षमपेक्षते इत्येवंशीलस्य, किम् ? **अविकल्पकल्पनायां** पूर्वं पश्चाच्च **दर्शनमनर्थकम्** इति ।

ननु भवत्वेवं तथापि सदृशस्मृतेर्न वैशद्यम्, तदुक्तम्—

*"न विकल्पानुविद्धस्य स्पष्टार्थप्रतिभासिता ।
स्वप्नेऽपि स्मर्यते स्मार्त्तं न च तत्तादृगर्थदृग् ॥" [प्र०वा० २।२८३] इति । २५

[२९क] विशदं च ज्ञानं भवतामध्यक्षमिति चेत्; अत्राह—**वैशद्यम्** इत्यादि ।

[वैशद्यमत एव स्यात् व्यवसायात्मनः स्मृतेः ।
असंस्कारप्रमोषे हि संज्ञानं नापि पश्यताम् ॥७॥

व्यवसायात्मनः संस्कारप्रबोधस्य कारणसामग्र्या स्वतो वैशद्यमनुभवतः को विरोधः ?] ३०

(१) बौद्धः । (२) निर्विकल्पात् । (३) स्मृतिहेतुः । (४) स्मृतौ । (५) आदिपदेन संयुक्तसमवाय-संयुक्तसमवेतसमवाय-समवाय-समवेतसमवाय-विशेषणविशेष्यभावा ग्राह्याः । (६) सन्निकर्षः । (७) निर्विकल्पस्य । (८) सविकल्पस्य ।

वैशद्यं स्पष्टत्वम् **अत एव** इन्द्रियार्थसन्निकर्षापेक्षित्वादेव **स्यात्** भवेत् । **कस्य ? व्यवसायात्मनः स्मृतेः** इति । ननु संस्काराद् वासनाऽपरनाम्नः तत्स्मृतेः संभवे निर्विषया सा[2] भवेत्, वैशद्येऽपि कामाद्युपप्लुतज्ञानवदिति चेत् ; अत्राह–**असंस्कार** इत्यादि । न संस्कारस्य प्रमोषः **असंस्कारप्रमोषः** संस्कारसद्भावः तस्मिन् **हि स्फुटम्** 'अत एव' इत्येतदत्रापि सम्बन्धनीयम् **[सं] ज्ञानं समीचीनं** संशयादिरहितम् ज्ञानम् । एतदुक्तं भवति–संस्कारमात्रभावि निर्विषयम्, न [3]चेदं तथा, अर्थादेरपि कारणस्य प्रतिपादनात् । दृश्यते हि तथाविधं समीचीनं स्वभ्यस्ते क्षणभङ्गादिवत् जलादौ । ननु न वैशद्यं व्यवसायात्मनः स्मृतेः किन्तु दर्शनस्य तत्राध्यारोपात् न[4] तस्या[5] इति व्यपदिशति । तदुक्तम्–

*"मनसोर्युगपद्वृत्तेः सविकल्पाऽविकल्पयोः ।
विभूढो लघुवृत्तेर्वा तयोरैक्यं व्यवस्यति ॥" [प्र० वा० २।१३३]

इति चेत् ; अत्राह–**नापि पश्यताम्** इति । **'अत एव'** इत्येतदत्रापि अनुवर्तनीयम् । ततोऽयमर्थो भवति–यत एव इन्द्रियार्थसन्निकर्षापेक्षी तत्प्रबोधः किमविकल्पकल्पनया ? अत एव यस्य तां **(पश्यतां)** स्वलक्षणं विषयीकुर्वतां दर्शनानां **नापि** नैवम् अवैशद्यमिति । इदमत्र तात्पर्यम्–यथा जपाकुसुमेषु रक्तत्वं तथा यदि दर्शनेषु वैशद्यं विनिश्चितं स्यात् तदा अन्यत्र तदध्यारोपात् प्रतिभातीति [२९ख] शक्यं वक्तुं नान्यथा अतिप्रसङ्गादिति ।

कारिकार्थं विवृण्वन्नाह–व्यवसायात्मन इत्यादि । [व्यवसायात्मनः] निर्णयस्वभावस्य **संस्कारप्रबोधस्य** संस्कारस्य वासनापराभिधानस्य यः प्रकृष्टः समीचीनो बोधः चेतनापरिणामः तस्य अक्षार्थसन्निकर्षापेक्षया **स्वतो** न याचितकमण्डनन्यायेन दर्शनानां सम्बन्धि **वैशद्यम् अनुभवतः** स्वीकुर्वतः **को विरोधः** न कश्चित् । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**कारणसामग्र्या** इत्यादि । सुगमम् । [9]परापेक्षया इदमुक्तम् । [10]भावतः पुनः आवारणविगमाद् ([12]आवरणविगमाद्) वैशद्यमिति ।

ननु[13] स्वार्थयोश्चेत् प्रत्यक्षं सविकल्पकं स्वाभिधानसंसृष्टयोरेव ग्राहकं स्यात्, तदभिधानयोरपि स्वाभिधानसंसृष्टयोः इत्येवं युगपदनेकाभिधानप्रतीतिप्रसङ्गः अनुभवविरुद्धः । प्रयोगश्चात्र–[यत्] सविकल्पकं ज्ञानं तदभिधानसंसृष्टार्थग्राहकं यथा नीलमिदमिति ज्ञानम्, सविकल्पकं च प्रत्यक्षमिति चेत् ; अयुक्तमेतत् ; अनैकान्तिकत्वात् हेतोरिति दर्शयन्नाह–**सदृशा** इत्यादि ।

[सदृशस्वार्थाभिलापादितस्मृतिर्नाप्यभिलापिनी ।
तावतैवाविकल्पत्वे तुच्छा धीः स्याद्विकल्पिका ॥८॥

किञ्चित्केनचिद्विशिष्टं गृह्यमाणं विशेषणविशेष्यतत्सम्बन्धादिग्रहणमन्तरेण न भवितुमर्हति । ततः प्रत्यक्षसदृशार्थाभिधानस्मृतिरनभिलापिनी अभिलापादिविषया सिद्धा ।

(१) सदृशस्मृतेः । (२) स्मृतिः । (३) स्मरणादिकम् । (४) स्मृतौ । (५) 'न' इति निरर्थकमत्र । (६) स्मृतेः । (७) संस्कारप्रबोधः । (८) विकल्पे । (९) निर्विकल्पारोपात् । (१०) बौद्धापेक्षया । (११) परमार्थतस्तु । (१२) ज्ञानावरणक्षय-क्षयोपशमाभ्यामेव ज्ञाने वैशद्यं भवति । (१३) बौद्धः ।

तदन्याभिलापापेक्षणे अनवस्थाप्रसङ्गात् । अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा प्रतीतिः कल्पनेति विशेषणाददोषश्चेत् स्वार्थसन्निकर्षनिर्भासविशेषवैकल्यव्यतिरेकेण न तद्विशेषणार्थमुत्प्रेक्षामहे । ततः किम् ?]

सदृशः सन्निहितेन समानः सङ्केतसमयभावी स्वश्च अर्थश्च तस्य अभिलापः अभिधानम् आदिर्यस्य विशेषणविशेष्यसम्बन्धलोकस्थित्यादेः स तथोक्तः तस्य, नापि नैव अभिलापिनी शब्दवती, परपक्षनिक्षिप्तदोषप्रसङ्गः न्यायस्य समानत्वात् । अत एव अर्थाभिलापग्रहणं युगपद् [३०क] अर्थाभिलापः अभिलाप (अर्थाभिलाप) प्रतिभासप्रतिपादनार्थम् । अनवस्था च स्मर्यमाणाभिलापेऽपि स्मृतस्य तस्य[1] योजनात्, तत्रापि स्मृतस्येति । ततः अनैकान्तिको हेतुः । नाऽनैकान्तिकः तस्या[2] अविकल्पकत्वात् *"अभिलापवती प्रतीतिः कल्पना[3] । ततोऽन्या अविकल्पिका ।" इत्यपरः । तस्य उत्तरमाह—तावतैव इत्यादि । तावतैव अनभिलापित्वमात्रेणैव अविकल्पकत्वे अङ्गीक्रियमाणे 'तत्स्मृतेः' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । नुल्या (?) तुच्छा नीरूपा धीः बुद्धिः स्याद् भवेत् विकल्पिका कल्पनैव न स्यादित्यर्थः । एतदुक्तं भवति—यदा तदभिलापस्मृतिः अविकल्पिका तदा कल्पनापोढत्वात् प्रत्यक्षैव स्यात्—*"कल्पनापोढं प्रत्यक्षम्[4]" [प्र०समु०पृ०८] इति वचनात् । स्वलक्षणविषयत्वाच्च[5] । स्वलक्षणगोचरमध्यक्षम्[6], ततो न तद्विषयस्य अभिधानस्य दृष्टे योजनमिति 'नीलमिदम्' इत्यादि विकल्पाभावः इति प्रत्यक्षलक्षणे कल्पनापोढपदमनर्थकं व्यवच्छेद्याभावात्[7] । माभूदयं दोषः इति तत्स्मृतिः[8] अनभिलापिन्यपि सविकल्पिका अभ्युपगन्तव्येति स एव दोषः ।

एतेनेदमपि निरस्तं यदुक्तं परेण[9]—*"न सोऽस्ति प्रत्ययः[10]" [वाक्यप० १।१२४] इत्यादि ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—किञ्चिद् इत्यादि । किञ्चिद् देवदत्तादिकं केनचित् दण्डादिना विशिष्टं गृह्यमाणं विशेषणं दण्डादि विशेष्यं देवदत्तादि तयोः सम्बन्धः संयोगादिः आदिशब्देन लोकव्यवस्थादिपरिग्रहः तेषां ग्रहणं सङ्केतकाले प्रतिपत्तिः तदन्तरेण न भवितुमर्हति [३०ख] किन्तु तस्मिन् सति भवति । तदुक्तं परेण—

*"विशेषणं विशेष्यं च सम्बन्धं लौकिकीं स्थितिम् ।
गृहीत्वा संकलय्यैतत् तथा प्रत्येति नान्यथा ॥" [प्र०वा० २।१४५] इति ।

ततः किं जातम् ? इत्यत्राह—तत इत्यादि । यत एवं ततः तस्मात् प्रत्यक्षः पुरोवर्ती तेन सदृशोऽर्थः सङ्केतकालदृष्टः तस्य अभिधानस्य वाचकस्य स्मृतिः अनभिलापिनी

(१) अभिलापस्य । (२) अभिलापस्मृतेः अविकल्पकत्वेन शब्दशून्यत्वात्, अतो नापरशब्दापेक्षा । (३) "विशेषणादिसम्बन्धवस्तुप्रतिभासा प्रतीतिः कल्पना"—प्र०वार्तिकाल०पृ० २४५ । "वाच्यवाचकाकारसंसर्गवती प्रतीतिः कल्पना ।"—प्र०वा० मनो० १।१२५ । "अभिलापिनी प्रतीतिः कल्पना"—तत्त्वसं०इष्टो० १२१४ । (४) व्यर्थमेतत् । (५) "प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्"—न्यायप्र० पृ० ७ । (६) प्रत्यक्षा स्यात् । (७) "तस्य विषयः स्वलक्षणम्"—न्यायवि० १।१२ । (८) व्यवच्छेद्यस्य विकल्पस्य अभावात् । (९) अभिलापस्मृतिः । (१०) शब्दरहिता अपि । (११) शब्दाद्वैतवादिना । (१२) "...लोके यः शब्दानुगमादृते । अनुविद्धमिवाभाति सर्वं शब्दे प्रतिष्ठितम् ॥" इति शेषः ।

अभिलापसंसर्गरहिता **अभिलापादिविषया सिद्धा**। तदनभ्युपगमे दोषमाह—**तद्** इत्यादि। **तस्य** स्मर्यमाणस्य अभिलापस्य योऽन्योऽभिलापः तस्य **अपेक्षणे** अङ्गीक्रियमाणे **अनवस्थाप्रसङ्गाद्** अनभिलापिनी सिद्धेति। एतदुक्तं भवति—यदि अभिलापवती प्रतीतिः कल्पना तर्हि तद्विपरीता अकल्पना इति **स्वल्पा धीः स्याद् विकल्पिका** इति।

५ एतत् परिहरन्नाह परः—'**अभिलाप**' इत्यादि। अभिलप्यते येन यो वा असौ **अभिलापः** शब्दसामान्यम् अर्थसामान्यं च, तेन[2] अर्थस्य तस्य[3] वा शब्देन **संसर्गो** योजनम् **तस्मै योग्यः प्रतिभासो** यस्याः सा तथोक्ता **प्रतीतिः** संवित्तिः कल्पना **इत्येवं विशेषणात्** कारणाद् **अदोषः 'स्वल्पा धीः स्यात् विकल्पिका'** इत्यस्य दोषस्य अभावः। प्रत्यक्षसदृशाभिलापस्मृतेरपि कल्पनात्मकत्वादिति। **इत्येवं चेत्** शब्दः पराभिप्रायसूचकः। अत्राह आचार्यः—

१० **स्वार्थ** इत्यादि। स्वं च अर्थश्च स्वस्य वा अर्थः तस्य वा **सन्निकर्ष** इन्द्रियेण सम्बन्धः तेन **जनितः** स चासौ [३१क] **निर्भासविशेषश्च** निरंशपरमाणुनिर्भासः तस्य **वैकल्यम्** अभावः, पर्युदासापेक्षया स्थूलैकप्रतिभास एव तद्वैकल्यं **तदव्यतिरेकेण** तदपहाय **न तद्विशेषणार्थं** विशेषणाभिधानाभिधेयम् उत्प्रेक्षामहे इति किन्तु तदेव पश्यामः। **ततः किम्** ततः तस्मात् तद्विशेषणार्थात् **किं** दूषणमित्यपरः।

१५ अत्र आचार्यः प्राह—**पश्यन्** इत्यादि।

[पश्यन् स्वलक्षणान्येकं स्थूलमक्षणिकं स्फुटम्।
यदव्यवस्यति वैशद्यं तद्विद्धि सदृशस्मृतेः ॥९॥

स्वलक्षणानि स्वयमभिमतक्षणक्षयपरमाणुलक्षणानि पश्यतोऽपि केवलमेको हि ज्ञानसन्निवेशी स्थवीयानाकारः परिस्फुटमवभासते। यदि तुभ्यं रोचते। प्रकृतसदृश-

२० स्मृतेरिव अव्यापृताक्षबुद्धावप्रतिभासनात्। शब्दैश्च सदृशाकारमशब्दं स्मरत्येव। तस्याश्च प्रामाण्यं युक्तम्। न हि तयाऽर्थं परिच्छिद्य अर्थक्रियायां विसंवाद्यते। अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वाभावादयुक्तम्, इत्यत्रोक्तम्। तत्समुच्चयलक्षणे प्रमाणे अन्यतरस्यापि प्रामाण्यासंभवात्। तदशाब्दमविसंवादकं सदृशस्मरणमस्ति संहृतसकलविकल्पावस्थायां तथैव प्रतिभासनात्। तदर्थदर्शनमुपनिपत्य स्वतः स्मृतिं जनयत् नानात्मनान्तरीयकमाकारं पुर-

२५ स्कर्तुं युक्तं तदर्थवत्। तद्दर्शनं नासाधारणैकान्तगोचरं व्यापृताक्षस्य कदाचित् क्वचित्तथैवाप्रतीतेः। नहि बहिरन्तर्वा जातुचिदसहायमाकारं पश्यामो यथा व्यावर्ण्यते तथैवानिर्णयात्। नानावयवरूपाद्यात्मन एकस्य परिणामिनो घटादेः बहिः संप्रतीतेः अन्तः चित्तैकाकारस्य एकस्य चित्रस्येव। न च तद्विपरीतार्थप्रकाशकं किञ्चिज्ज्ञानमस्ति यत् प्रकृतं भ्रान्तं स्यात्। न हि तदेकान्ते स्वसदसत्समये अर्थक्रियासंभवः। तथा सति

३० कथमक्षणिकत्वे क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात् तीरादर्शिशकुनिन्यायेन ततः सत्त्वं

(१) बौद्धः। "अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा प्रतीतिः कल्पना।"—न्यायवि० १।५। (२) शब्दसामान्येन। (३) अर्थसामान्यस्य। (४) उद्धृतोऽयम्—न्यायवि० वि० प्र० पृ० ९८।

निवर्तमानं क्षणिकत्वे अवतिष्ठते इति सतः साकल्येन क्षणभङ्गसिद्धिः ? तत्रैव ताभ्यां तद्विरोधात् । ततो यत् सत् तत्सर्वमनेकान्तात्मकम् । तदेकान्तस्यासत्त्वम् उपलब्धिलक्षणप्राप्तावनुपलभ्यमानत्वात् । अन्यथाऽप्रमेयत्वम् ।]

परस्परविलक्षणानि निरंशक्षणानि **स्वलक्षणानि**[1] **पश्यन्** सौगतः अन्यो वा जिनः (जनः) अनेन *"**सञ्चितालम्बनाः पञ्च विज्ञानकायाः**" इति परस्य सिद्धान्तो दर्शितः ।[2] किमर्थमिति चेत् ?

*"**प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिध्यति ।**
प्रत्यात्मवेद्यः सर्वेषां विकल्पो नामसंश्रयः ॥" [प्र० वा० २।१२३]

इत्यस्य '**एकम्**' इत्यादिना वक्ष्यमाणेन प्रत्यक्षेण बाधाप्रदर्शनार्थम् ; तथाहि–

प्रत्यक्षं[3] कल्पनापोढं प्रत्यक्षेण निराकृतम् ।
प्रत्यात्मवेद्यं सर्वेषां जात्यन्तरमिह स्फुटम् ॥

तद्यथा–**स्थूलं** महत्त्वोपेतं घटादिकं **व्यवस्यति**[4] निश्चिनोति सौगतो जनो वा न सूक्ष्मं परमाणुरूपम् **एकं** युगपदनेकावयवगुणसाधारणम् । अनेन अक्रमानेकान्तो दर्शितः । **अक्षणिकं** पूर्वापरकोटिसंघटितशरीरं मृत्पिण्डादिषु कथञ्चिन्मृदेकत्वदर्शनात् । अनेन क्रमाऽनेकान्तः[5] । ननु व्यवस्यति तथाभूतं तत्तु कल्पनामिति(मति)कल्पितत्वात् अपरिस्फुटमिति चेत् ; अत्राह–**स्फुटम्**[6] इति । **स्फुटं** विशदमिति । ततो निराकृतमेतत् यदुक्तं[7]–प्रज्ञाकरेण *"**अस्थूलाऽनेकापेक्षया तत् स्थूलमेकम् इति न पारमार्थिकम् । न हि वस्तुस्वभावाः परापेक्षया भवन्ति अतिप्रसङ्गात् ।**" [३१ख] इति । कथम् ? स्फुटत्वाभावप्रसङ्गात् । तथैव तत्, न परापेक्षमेतत्, स्वयं स्थूलस्यैव बिल्वकपित्थादेः सर्षपापेक्षया स्थूलताव्यवहारः । न हि तथाऽपरिणतम् अन्यापेक्षया तद् भवति अतिप्रसङ्गात् । **यत्** यस्मात् **वैशद्यं विद्धि** जानीहि **सदृशास्मृतेः**[8] व्यवसायात्मनो दृष्टेः सम्बन्धीति ।

ननु यदि *"**प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्**" [प्र० वा० २।१२३] इत्यादेर्निषेधार्थम् '**एकम्**' इत्यादि वचनम् ; तर्हि '**एकं स्थूलम्**' इत्यनेन '**अक्षणिकम्**' इत्यनेन वा तन्निराक्रियत इत्युभयवचनमनर्थकमिति चेत् ; न; क्रमाऽक्रमानेकान्तयोः समानबलताप्रतिपादनार्थत्वात् तद्वचनस्य । तथाहि–यथैव प्रज्ञाकरस्य मध्यक्षणदर्शनं पूर्वोत्तरक्षणौ द्रष्टुमसमर्थमिति न तयोः[10] तेन[11]

(१) "यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदः तत् स्वलक्षणम् । तदेव परमार्थसत् ।"–न्यायवि० १।१३, १४ । (२) रूपवेदनाविज्ञानादयः । "पञ्चसञ्चयस्यालम्बात्"–प्रमाणसमु० श्लो० १७ । (३) तुलना–"प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षादिनिराकृतम् ।"–न्यायवि० १।१५४ । (४) कथञ्चित् नित्यानित्यात्मकम् । (५) युगपदनेकद्रव्यव्यापकस्कन्धविषयकः स्थूलत्वग्राहकः । (६) दर्शितः । क्रमशः परापरपर्यायव्याप्येकद्रव्यविषयकः स्थिरत्वग्राहकः । (७) "परमार्थसन्तोऽवयवाः संवृतिसञ्चयवीति···"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ५५५ । पृ० १८७ । (८) सत्तां स्वीकुर्वन्ति । (९) तथा परिणतमेव तत् भवति न परापेक्षया तथाऽपरिणतं तद् भवितुमर्हति, व्यवहार एव हि परापेक्षया भवति न स्वरूपम् । (१०) पूर्वोत्तरयोः । (११) मध्यक्षणेन ।

एकत्वं हेतुफलभावमन्यं वा सम्बन्धं प्रत्येतुमर्हति *"द्विष्ठसंबन्धसंविदिः[1]" [प्र० वार्तिकाल० २।१] इत्यादि वचनात्, नापि सत्त्वम् [2]अद्वैतोपगमात्। तथा मध्यक्षणस्य पूर्वसूक्ष्मनिरंशैकांशग्रहणे मग्नं न तद्[3] इतरभावत्वाक्षिप्तुं (भावान् वीक्षितुं) क्षमते इति तेषामपि सैव वार्त्ता स्यात्[4]। न च तदंशज्ञान(नं) सामान्यवत्[5] इति सर्वशून्यताप्रसङ्गः। स मा भूदिति [6]स्तम्भज्ञानमेकमभ्युपगन्तव्यम्, तच्च मध्यभागे प्रवर्तमानं तद्ग्रहणानुबन्धमजहदेव ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्भागेषु यथा प्रवर्तते तथा मृत्पिण्डे प्रवर्तमानं तद्ग्रहणानुबन्धमजहदेव क्रमेण शिविका[३२क]दीनि अवस्थतीति सिद्धम्—**अक्षणिकं स्फुटं व्यवस्थति** इति। शेषं परस्य दुश्चेष्टितं ग्रहन्तव्यं दिशाऽनया।

पूर्वकारिकायां **सदृशेत्यादिना** परकीयस्य हेतोः[7] अनैकान्तिकत्वं दर्शितम्, '**तावतैव**' इत्यादिना *"**कल्पनापोढम्**" [प्र० वा० २।१२३] इति लक्षणस्य व्यवच्छेद्याभावः, अनेन श्लोकेन [10]तदसंभवः इति विभागः।

कारिकां विवृण्वन्नाह—**स्वलक्षणानि** इत्यादि। **स्वलक्षणानि** कथम्भूतानि? **[स्व]यम्** आत्मना सौगतेन न जैनेन नैयायिकादिना वा **अभिमतः** अङ्गीकृतो यः **क्षणे क्षणे क्षयः**[11] नासौ निरन्वयो न परिणामलक्षणः षट्कोणस्थानलक्षणो वा, तेन उपलक्षिता ये **परमाणवः** ते **लक्षणं** स्वरूपं येषां तानि तथोक्तानि। तानि किम्? इत्यत्राह—**पश्यतोऽपि** वीक्ष्यमाणस्यापि सौगतस्य न केवलमपश्यतः **केवलम् एको हि ज्ञानसन्निवेशः(शी) स्थवीयान् आकारः परिस्फुटमवभासत** इति। ननु [11]तथाविधानि स्वलक्षणानि पश्यतः तथाविध आकारोऽवभासते इति विरुद्धमेतत्। नहि नीलं पश्यतः पीतं तथाऽवभासते इति वचन[म]विरुद्ध[म्] इति चेत्; न; अर्थापरिज्ञानात्। अयं हि अस्यार्थः—*"**सञ्चितालम्बनाः पञ्च विज्ञानकायाः**" इति [12]परस्य राद्धान्तः। तत्र च यावन्तः परमाणवो न तावन्त्येव तदाकारानुकारीणि ज्ञानानि, [13]सन्तानान्तरवद् भेदात् समूहादिप्रतीतिविलोपात्, एकं तेषां ज्ञानं ग्राहकमभ्युपगन्तव्यम्। तच्च [14]अन्योऽन्यविविक्तानेकपरमाण्वर्पिताकारानुकरणाद् [३२ख] एव (एक) मुक्यते, एकः अनेकपरमाण्वर्पितभिन्नाकारसाधारणः। हि इति यस्मादर्थे, यस्मादेवं '**तदविसंवादकं सदृशस्मरणमस्ति**' इत्यनेन सम्बन्धः। अत्रापि '**तत्**' इत्येतत् तस्मादर्थे द्रष्टव्यः। कथम्भूतोऽसौ? इत्यत्राह—**ज्ञानसन्निवेशो (शी)** भेदविवक्षया परमाणुभिरर्पिता ज्ञानस्य आकारा **ज्ञानानि सम्यक्** कथञ्चित्तादात्म्येन **निवेष्टुं शीलः सन्निवेशी**। पुनरपि कथम्भूतः? इत्यत्राह—**स्थवीयान्** स्थूलतरः। ननु कारिकायाम् '**स्थूलं व्यवस्थति**' इति वचनात् नातिसायिकस्य (नातिशायिकस्य[15]) श्रुतिः वृत्तौ तु [16]सास्ति तत्कथं

(१) "नैकरूपप्रवेदनात्। द्वयोः स्वरूपग्रहणे सति सम्बन्धवेदनम्।" इति शेषः। (२) प्रत्येतुमर्हति। "विचार्यमाणं सकलं विशीर्यते नाद्वैतादपरं तत्त्वमस्ति।"—प्र० वार्तिकाल० पृ० ३१। (३) दर्शनम्। (४) पूर्वोत्तरादि। (५) असत्त्वं स्वादित्यर्थः। (६) इतरनिरपेक्षं सत् स्वरूपं लभते, इति असित्वविहीनमित्यर्थः। अथवा सामान्यवत्—सामान्यम् असित्वं तद्वत् असित्ववशाकि इत्यर्थः। (७) स्थूलस्कन्धज्ञानम्। (८) स्तम्भज्ञानमेकम्। (९) अभिधानसंसृष्टार्थग्राहकत्वे साध्ये सविकल्पकत्वादिति हेतोः। (१०) क्षणिकस्वलक्षणग्राहकनिर्विकल्पप्रत्यक्षासंभवः। (११) क्षणक्षयपरमाणुलक्षणानि। (१२) बौद्धस्य। द्रष्टव्यम्—पृ०३९ टि०२। (१३) विभिन्नपुरुषज्ञानवत्। (१४) परस्परविभिन्न। (१५) अतिशयवाचिनः प्रत्ययस्य। (१६) अतिशयेन स्थूल इति स्थवीयान् इत्यत्र अतिशयार्थस्य श्रुतिः वृत्तौ वर्तते।

वृत्तिकारिकयोः साङ्गत्यमिति चेत् ? अयमभिप्रायः—सौगतापेक्षया मध्यक्षणः स्थूलः एकस्यानेकभावव्याप्तेः, स एव जैनापेक्षया अतिशयेन स्थूलः सावयवः पूर्वोत्तरक्षणव्याप्तेः। ततः प्रकृत्य आदौ 'स्थूलम्' इति व्याख्यातम्। तेन (एतेन) 'अक्षणिकम्' इति व्याख्यानं (व्याख्यातम्)। [1]तेनाक्षणिकमिति। कोऽसौ ? इत्यत्राह—कृतोः (आकारः) वस्तुस्वभावः। कथमवभासते ? इत्यत्राह—परिस्फुटम् इति, क्रियाविशेषणमेतत्। ननु यदि मम[2] स्वलक्षणानि क्षणिकपरमाणुलक्षणानि पश्यतः तथाविध आकारोऽवभासते कथं तथा न जानानि (तथा नाभ्यनुजानाति[3]) ? कथमन्यथा 'यत् सत् तत्सर्वमनेकान्तात्मकम्' इति वक्ष्यमाणकमनुमानमर्थवत् ? [4]इतरा(रस्य) क्षणक्षयेऽपि पक्षे तदनुमानमनर्थकं न स्यादिति चेत्; अत्राह—जाना(ज्ञाना)सौष्ठवप्रदर्शनार्थः यदि तुभ्यं सौगताय रोचते दिण्डिक (डिण्डिकै)रागं [३३क] परित्यज्य यदि तत्र रुचिं कुरुषे स्वयमेव। न चैवम्, तस्मात् रुचिकरणार्थमनुमानमिति मन्यते। ननु ज्ञानसन्निवेशी स्थवीयानाकारोऽवभासते, किन्तु तज्ज्ञानस्य अनक्षजत्वात्, [5]अक्षजं ज्ञानं स्वार्थपरिस्फुटम्, [6]अभिधानजनतिस्वर्गादि-[7]विकल्पप्रतिभासाऽविशेषाच्च न परिस्फुटमवभासत इति चेत्; अत्राह—प्रकृत इत्यादि। प्रकृता प्रमाणस्य उत्पादेः (दे) अधिकृता या सदृशस्मृतिः तस्यातिवा (तस्या इव) अव्यापृताक्षस्य अर्थग्रहणं प्रति अव्यापृताभ्येक्षणियस्य (अव्यापृतानि अक्षाणि यस्य तस्य) या बुद्धिः विकल्पिका तस्याम् अप्रतिभासनात् 'एकस्य ज्ञानसन्निवेशिनः स्थवीयसत्स्वाकारस्य (स्थवीयसः आकारस्य)' इति [8]तापरिणामेन सम्बन्धः। एतदुक्तं भवति—यथा प्रकृतसदृशस्मृतौ [9]तदाकारस्य प्रतिभासनं तथा यद्यव्यापृतेन्द्रियविकल्पबुद्धौ[10] स्यात् युक्तमेतत्, न चैवम्, [11]एकत्र स्फुटतया अन्यत्र[12] विपर्ययेण प्रतिभासनात्। शब्दैश्च कारणभूतैर्बुद्धावप्रतिभासनात्। च शब्दो भिन्नप्रक्रमः। ततः किं जातम् ? इत्यत्राह—सदृशाकारम् इत्यादि। सदृशः साधारणः युगपत्प्रक्रमभाविभागे स्वाकारो (भागेषु आकारो) यस्य तम् अशब्दं शब्दरहितमर्थं (रहितमर्थ) स्मरत्येव निश्चिनोत्येव।

[13]ननु भवतु प्रकृतसदृशस्मृतौ तथाविधाकारस्य [14]तथाभासनम् तथापि [15]सा प्रमाणं माभूद् दूरस्थितविरलकेशादौ तथाविधाकाराभावेऽपि तदवभासदर्शनादिति चेत्; इत्यत्राह—तस्याश्च इत्यादि। तस्या एव प्रकृतसदृशस्मृतेरेव प्रामाण्यं [३३ख] युक्तम् उपपन्नम्। न हिः यस्मात् तथा प्रकृतसदृशस्मृत्या अर्थं सदृशाकारं वस्तु परिच्छिद्य प्रवर्तमानः अर्थस्य क्रियायां प्राप्तौ विसंवाद्यते दूरस्थितविरलकेशादिषु स्थूलैकाकारवद् विप्रलम्भं नार्हति। भवतु अविसंवादिनीयं[16] तथापि नास्याः[17] प्रामाण्यं दर्शनदृष्टविषयत्वात्[18]। एतदेवाह—अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वाभावाद्

(१) 'तेनाक्षणिकमिति' द्विर्लिखितम्। (२) बौद्धस्य। (३) परः। (४) जैनो नाभ्यनुजानाति अतएव। (५) इतरस्य बौद्धस्य। 'कथमन्यथा' इति अत्रापि बौद्धस्यम्। (६) क्षणक्षयानुमानम्। (७) "डिण्डिकरागम्—परेणोक्ते तस्योपरि मयाऽवश्यमयुक्ततया निष्फलमभिधातीयम् इत्यस्यानाभिनिवेशम्"—हेतुबि० टी० पृ० ७१। (८) विकल्पज्ञानस्य। (९) इन्द्रियजं निर्विकल्पज्ञानम्। (१०) शब्दजनित। (११) विकल्पप्रतिभासतुल्यत्वात्। (१२) 'ता' इति षष्ठीविभक्तेः संज्ञा जैनेन्द्रव्याकरणे। (१३) एकस्थूलाकारस्य। (१४) इन्द्रियव्यापारशून्यस्य पुंसः दासनाऽन्यविकल्पज्ञाने। (१५) इन्द्रियजन्यविकल्पबुद्धौ। (१६) ज्ञानसंवेदनाज्ञाने। (१७) बौद्धः। (१८) स्फुटं प्रतिभासनम्। (१९) स्मृतिः। (२०) स्मृतिः। (२१) स्मृतेः। (२२) अनुभूतविषयत्वात् स्मृतेः।

अयुक्तमिति, दर्शनेन अनधिगतोऽपरिच्छिन्नो योऽर्थः तस्य अधिगन्तृत्वाद् (त्वाभावात्) अयुक्तं प्रामाण्यमिति; अत्रोत्तरमाह–**अत्रोक्तम्** इति । **अत्र** पूर्वपक्षे **उक्तम्** उत्तरम् *"अनधिगत" [सिद्धिवि० पृ० २४] इत्यादि ।

*"**प्रमाणमविसंवादिज्ञानम्**" [प्र०वा० १।३] इत्यादि *"**अन्यतः प्रवृत्तौ अविसंवादनियमाऽयोगात्**" [सिद्धिवि० वृ० १।३] इत्यनेन *"**अज्ञातार्थं**" [प्र० वा० १।७] [1]इत्यादि च *"**अनधिगतार्थाधिगन्तृ प्रमाणमित्यपि**" [सिद्धिवि०वृ० १।३] इत्यादिना च प्रत्येकपक्षे निराकृत्य § [2]समुत्तरम् अनधिगतेत्यादि प्रमाणमविसंवादिज्ञानमित्यादि अन्यतः प्रवृत्तावविसंवादनियमायोगात् § समुदायपक्षे निराकुर्वन्नाह–**तत्समुच्चय** इत्यादि । तयोः *"**प्रमाणमविसंवादिज्ञानम्**" [प्र०वा० १।३] *"**अज्ञातार्थप्रकाशो वा**" [प्र०वा० १।७] इत्येतयोः **समुच्चयः** समुदायः स एव **लक्षणं** प्रमाणस्य यस्य तस्मिन् प्रमाणे अङ्गीक्रियमाणे[3] प्रत्यक्षानुमानयोर्मध्ये **अन्यतरस्य** प्रत्यक्षस्य अनुमानस्य वा **अपि**शब्दाद् द्वयोरपि [३४क] **प्रामाण्यासंभवात्, 'तस्याश्च प्रामाण्यं युक्तम्'** इति सम्बन्धः । तथाहि–परस्यैं प्रत्यक्षे अज्ञातार्थप्रकाशोऽस्ति न तु अविसंवादः, तत्रं स्वार्थयोः विप्रतिपत्तिविषयत्वात् । अनुमाने अविसंवादोऽस्ति न पुनः अज्ञातार्थप्रकाशः, व्याप्तिग्राहकज्ञानगृहीतगोचरत्वात् । वक्ष्यते चैतत्–*"**साकल्येनादितो व्याप्तिः**" [सिद्धिवि० ३।३] इत्यादिना ।

प्रकृतमुपसंहरन्नाह–'**तद्**' इत्यादि । यत एवं **तत्** तस्मात् **अशाब्दम्** शब्दानाम् इदं शाब्दं तत्कार्यमिति यावत् ,न शाब्दम् अक्षजमित्यर्थः । **अविसंवादकं** स्वयम् अध्यवसितार्थप्रापकं **सदृशस्मरणं** युगपत् क्रमभाविभागसाधारणाकारज्ञानं परप्रसिद्धया 'सदृशस्मरणम्' उच्यते **अस्ति** विद्यते । ननु चेदं नाक्षजं किन्तु मानसं संहृतसकलविकल्पावस्थायाम् अक्षजस्य अन्यथा दर्शनादिति चेत् ; अत्राह–**संहृत** इत्यादि । **संहृताः सकला विकल्पा** यस्याम् **अवस्थायां** तस्यामपि न केवलम् अन्यस्यां [6]**तथैव** उक्तप्रकारेणैव **प्रतिभासनात्** स्वार्थयोः इति । ननु यदि सा अवस्था; कथं तथैव प्रतिभासनम् ? तच्चेत् ; न साऽवस्था, तथाप्रतिभासस्य विकल्पात्मकत्वादिति चेत् ; सत्यम् , तथापि ततोऽन्यस्य विकल्पस्य अभावात् **'संहृत'** इत्यादि वचनम् । अथवा परापेक्षया इदमभिधानमित्यदोषः । परेण हि याऽसौ तदवस्था उपवर्णिता *"**संहृत्य सर्वतश्चिन्ताम्**" [प्र० वा० २।१२४] [10]इत्यादिना, तस्यामपि तथैव प्रतिभासनादिति । अनेन सैव नास्ति इत्युच्यते । ततो निराकृतमेतत् [३४ख] यदुक्तं परेण–*"**यद् उपलब्धिलक्षणप्राप्तं यत्र नोपलभ्यते तत् तत्र नास्ति यथा प्रदेशविशेषे घटः, उपलब्धिलक्षणप्राप्ताश्च कल्पनाः संहृताशेषविकल्पावस्थायां दर्शने नोपलभ्यन्ते**" इति । कथम् ? प्रत्यक्षबाधितत्वात् पक्षस्य ।

---

(१) "अज्ञातार्थप्रकाशो वा"–प्र०वा० । (२) §एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठो द्विर्लिखितः । (३) "तस्मादनधिगतार्थविषयं प्रमाणमित्यपि अनधिगते स्वलक्षणे इति विशेषणीयम् ।"–हेतुवि० पृ० ५३ । "तत्राप्यविसंवादग्रहणात् ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३० । "तस्मादुभयमपि परस्परसापेक्षमेव लक्षणं बोद्धव्यम् ।"–प्र० वा० मनो० १।८ । (४) बौद्धस्य । (५) निर्विकल्पप्रत्यक्षे । (६) परिस्फुटरूपेण । (७) विद्यते । (८) स्थिरस्थूलादिरूपेण । (९) बौद्ध । (१०) "स्तिमितेनान्तरात्मना । स्थितोऽपि चक्षुषा रूपमीक्षते साऽक्षजा मतिः ।" इति शेषः ।

तथैव प्रतिभासनं हि कल्पनात्मकमात्मानं प्रतिपदम् आत्मनि [1]विपरीतकल्पनां प्रतिहन्तीति संहृताशेषविकल्पावस्थायां दर्शनस्य कल्पनाविरहसिद्धौ यत् साधनमुक्तं परेण[2]–*"या कल्पना यस्मिन् काले विद्यते सा तत्कालसम्बन्धिनी पुनः स्मर्यते, यथा गोदर्शनकालसम्बन्धिनी अश्वकल्पना, न च संहृताशेषविकल्पावस्थाभाविनी पुनः स्मर्यते सा।" इति। तदुक्तम्–

*"पुनर्विकल्पयन् किञ्चिद् आसीन्मे कल्पनेदृशी। ५
इति वेत्ति न पूर्वोक्तावस्थायाम् इन्द्रियाद् गतौ ॥" [प्र०वा०२।१२५] इति।

तत्रोत्तरमाह–तदर्थदर्शनम् इत्यादि। दर्शनम् अविकल्पार्थदर्शनं कर्तृ उपनिपत्य उपढौक्य स्वकार्यजन्मन्यव्यवहितं भूत्वा न पुनः सङ्केतस्मृतिजननेन[3]। अन्यथा इदं दूषणं स्यात्–

*"यः प्रागजनको बुद्धेः उपयोगाऽविशेषतः।
स पश्चादपि तेन स्यादर्थापायेऽपि नेत्रधीः ॥" १०

अस्यायमर्थः–यः अविकल्पो बोधः प्राक् स्वसत्तासमये अजनको बुद्धेः सदृशस्मृतेः स उपयोगाविशेषतः व्यापाराविशेषतः स पश्चादपि [३५क] सङ्केतस्मृत्युत्तरकालमपि ते सौगतस्य न स्यात् जनकः। ततः किं स्यात्? इत्यत्राह–अर्थस्य अविकल्पबोधलक्षणस्य अपायेऽपि अभावेऽपि नेत्रधीः अक्षजविकल्पबुद्धिः। ततो न युक्तमेतत्–*"यत्रैव जनयेदेनाम्" इत्यादि। ततः सूक्तम्–उपनिपत्य इति। स्वतः आत्मनैव न वासनाप्रबोधद्वारेण*"संस्कारा विनियम्येरन्" १५ [सिद्धिवि०१।६] इति दोषात् स्मृतिं स्मरणम् जनयद् उत्पादयत् नानात्मनान्तरीयकम् आत्मनि तदर्थदर्शनस्वरूपे अविद्यमानमाकारं सामान्यरूपं न पुरस्कर्तुं स्मृतेः अग्रे दर्शयितुं युक्तम् उपपन्नम्। अत्र निदर्शनमाह–तदर्थवत्। तस्य दर्शनस्य अर्थो निरंशस्वलक्षणं तदर्थः स इव तद्वदिति। यथा तदर्थ उपनिपत्य स्वतो दर्शयन् नानात्मनान्तरीयकमाकारं पुरस्कर्तुं युक्तः तथा दर्शनमपि इति। अन्यथा अर्थादेव सामान्यावभासिनो [4]ज्ञानस्य उदयाद् इदमयुक्तं स्यात्–*"तद्धि २० अर्थसामर्थ्यम् (?)" इत्यादि।

यत् पुनरत्रोक्तं प्र ज्ञा क र गु प्ते न–*"नेदं स्वतन्त्रं साधनम् अपि तु प्रसङ्गसाधनम्। तथाहि–बहिरर्थग्राहकं चेद् दर्शनं परेणेष्यते तस्मादुत्पन्नं तदाकारानुकारि च अभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा तदयोगादिति निरंशाऽर्थानुकारित्वात् निर्विकल्पकं सिद्धम्।" इति; तदनेन अपास्तम्; यत्र हि व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयकः[5] प्रदर्श्यते [३५ख] २५

---

(१) निर्विकल्पकरूपाम्। (२) बौद्धेन। (३) अन्यथा भवितुमर्हति। (४) उद्धृतोऽयम्–तत्त्वो०प० पृ० ४०। न्यायम० पृ० ८६। न्यायवा० ता० पृ० १३६। अष्टस० पृ० १२२। सन्मति० टी० पृ० ५२५। (५) अर्थशब्देन अर्थविषयकं निर्विकल्पकज्ञानं ग्राह्यम्। (६) 'तत्रैवास्य प्रमाणता' इति शेषः। द्रष्टव्यम्–पृ० १० टि० ३। (७) यद्यविद्यमानमाकारमुपदर्शयेत्। (८) विकल्पस्य (९)"तदुक्तम्–तद्ध्यर्थसामर्थ्येनोत्पद्यमानं तद्रूपमेवानुकुर्यात्"–हेतुवि० टी० पृ० १९५। "तथाहि–अर्थस्य सामर्थ्येन समुन्नयात् इत्याह–तद्धि अर्थस्य सामर्थ्येनोत्पद्यमानं तद्रूपमेवानुकुर्यात्।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० २७८। (१०) न अन्तरा भवतीति नान्तरीयकम् अविनाभावीत्यर्थः।

तत्प्रसङ्गसाधनम्[1]। न चेह तदस्ति आकारान्तरानुकारित्वस्याप्यविरोधात्। अर्थसिद्धिर्न स्यादिति चेत्; तथैव अविकल्पसिद्धिरपि। न चैवं नीलादिविकल्पस्य गृहीतग्राहित्वम्, इति न युक्तम् *"अज्ञातार्थं" [प्र०वा० १।७] इत्यादि। यदा चैवं व्यवहारी वदति यथा मम ज्ञानमदनुत्पन्नः अतदाकारानुकारी वा अर्थः तस्य[2] कारणम्, तथा अर्थादनुत्पन्नम् अतदाकारं ज्ञानं तस्य[3] ग्राहकम्; तदापि कथं प्रसङ्गसाधनम्? ततः स्थितम्–तदर्थवत् इति। तथा च यथा दर्शनं तदर्थाज्जायमानम् अविकल्पकम्, तथा तद्दर्शनादुत्पद्यमानं स्मरणमपि[4] इति विकल्पवार्तापि गता, इति न युक्तमेतत्–*"पुनर्विकल्पयन् किञ्चिद् आसीन्मे कल्पनेदृशी। इति वेत्ति" [प्र० वा० २।२२५] इति। न चा (न वा) स्मृतौ संहृताशेषविकल्पावस्थाप्यस्ति, कल्पनापि तदा तथैव अन्यथा भवेत्। अथ सामान्यावभासि स्मरणमिष्यते; दर्शनमपि तथैष्यतामिति कथं तद्वस्थाभाविनी कल्पना न स्मर्यते इति भावः।

उपसंहरन्नाह–तद्दर्शनम् इत्यादि। यत एवं तत् तस्मात् दर्शनं प्रत्यक्षं न असाधारणैकान्तगोचरम् असाधारण एकः असहायः अन्तो धर्मो गोचरो यस्य तत् तथोक्तम् न। कुत एतत्? इत्याह–व्यापृताक्षस्य इत्यादि। व्यापृतानि ज्ञानजनने प्रणिहितानि अक्षाणि इन्द्रियाणि यस्य तस्य कदाचित् संहृताशेषविकल्पावस्थायाम् अन्यदशायां वा क्वचित् बहिरन्तर्वा तथैव [३६क] असाधारणगोचरप्रकारेणैव अप्रतीतेः'दर्शनस्य' इति पदघटना। एतदेव भावयन्नाह–न हि इत्यादि। हिः यस्मात् न बहिरन्तर्वा जातुचित् कदाचित् असहायं प्रत्यनीकधर्मरहितम् आकारं वस्तुस्वरूपं पश्यामः यथा येन प्रकारेण व्यावर्ण्यते कथ्यते 'परैः' इत्यध्याहारः। कुत एतत्? इत्यत्राह–तथैवाऽनिर्णयात् [तथैव] वर्णितप्रकारेण अनिर्णयात् अनिश्चयात्। निर्णीतं च गृहीतमुच्यते इति मन्यते। एतदपि कुतः? इत्यत्राह–नानावयवरूपाद्यात्मनः इत्यादि। घट आदिर्यस्य शरीरादेः स घटादिः तस्य। कथम्भूतस्य? अर्थस्य न ज्ञानस्य। कुत एतत्? बहिः ज्ञानादन्यत्र देशे संप्रतीतेः निर्णयात् एकस्य न परमाणुसंचयरूपस्य 'असहायमाकारं नहि पश्यामः' इति सम्बन्धः।

एवमपि च अवयवगुणेभ्यो भिन्नस्य तस्य संप्रतीतेः नैयायिकादिमतसिद्धिरिति चेत्; अत्राह–नानावयवरूपाद्यात्मन इति। नाना अवयवाश्च रूपाद्यश्च आत्मानो यस्य स तथोक्तः, ते चलाश्च अचलाश्च आवृताश्च अनावृताश्च रक्ताश्च तद्विपरीताश्च नष्टा[इत्वा]ऽनष्टाश्च अवयवाः नानावयवाः, तदात्मनः इति वचनात् चलैः पाण्यादिभिः चलः विपरीतैः अचलः स इत्युक्तं भवति। कथमेकस्तथेति चेत्? 'तथासंप्रतीतेः' इति ब्रूमः। नहि 'पाण्याद्यवयवचलने सं न चलति' इत्यत्रापि तथासंप्रतीतेरन्यत् शरणमस्ति। "इयमेव प्रतीतिः, नेतरेति चेत्; न; [३६ख]

---

(१) "प्रसङ्गसाधनं परस्येष्टया अनिष्टापादनात्।...साध्यसाधनयोर्व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ व्याप्यास्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयकः व्यापकाभावो वा व्याप्याभावाविनाभावी इत्येतत्प्रदर्शनफलम्।"–प्रमेयक० पृ० ५४४। प्रज्ञा० कन्द० पृ०४३। (२) ज्ञानाकारानुकारी। (३) ज्ञानस्य। (४) अर्थस्य। (५) अविकल्पकं स्यात्। (६) संहृताशेषविकल्पावस्था। (७) बौद्धैः। (८) अवयविनो द्रव्यस्य वा। (९) अवयवी। (१०) अवयवचलनेऽपि अवयवी न चलतीत्याकारिका।

एकदेशचलनेऽपि लोके 'शरीरं चलति' इति व्यवहारदर्शनात्, तथाहि— यदा 'मित्रमयं मृत उत जीवति' इति कश्चित् सन्देहः, तदा 'जीवति अयं हस्तचलनेऽपि शरीरं चलयति (चलति) यतः' इति व्यवहारदर्शनात्। अवयवक्रियायाः अवयविनि उपचारात् तथाव्यवहारः, अश्वक्रियायाः पुरुषे उपचारात् 'पुरुषो याति' इति व्यवहारवदिति चेत्; तर्हि न अवयवेऽपि परमार्थतः क्रिया स्यात्, तत्रापि परक्रियोपचारात् तथा व्यवहारात्। अस्खलत्प्रत्ययः उभयत्र समानः। एकस्य चलेतररूपत्वमयुक्तं विरोधादिति चेत्; न; स्वरूपेण विरोधासिद्धेः। नहि यद् यस्य स्वरूपं तत् तेन विरुध्यते, सर्वभावेषु तथात्वापत्तेः। तत्स्वरूपं च तथाप्रतीतेः।

योऽप्याह परैः—*"पाण्यवयवे चलति न शरीरं चलति। कुतः? कारणविशेषात् क्रियाविशेषसिद्धेः। यः खलु अवयवस्य अङ्गुल्यादेः अल्पस्य क्रियाहेतुः प्रयत्नः नासौ महतः शरीरस्य क्रियाहेतुः, न वै यावान् संयोगः तृणमपसारयति तावान् काष्ठमिति। नच अङ्गुल्यवयवे चलति शरीरं चलति इति प्रत्ययोऽस्ति।" इति; सोऽप्यनेन निरस्तः; न खलु अङ्गुल्यवयवे चलति तत्समवेतमपरमचलं स्वरूपं पश्यामः, तत्र नाट्याकारप्रतीतिविरहात्। तथापि तत्कल्पने अचलावयवेषु चलमवयविरूपं कल्पनीयं स्यात्। प्रत्यक्षविरोधः अन्यत्रापि [३७क] न दण्डवारितः।

यत्पुनरुक्तं तैर्नैर्व—*"यदि अवयवसं(सत्)कर्मसमानकालम् अवयविनि कर्म स्याद् अपि तर्हि अङ्गुल्यवयवे चलति शरीरं चलतीति प्रत्ययः स्यात्। किं कारणम्? असति देशव्यवधाने उपलभ्याधारसमवेतस्य कर्मणः प्रत्यक्षत्वात्, न चैवम् अङ्गुल्यवयवे चलति चलति शरीरमिति प्रत्ययः।" इति; तदपि न युक्तम्; उक्तोत्तरत्वात्, 'हस्तचलनेऽपि शरीरं चलयति (चलति) इति व्यवहारदर्शनात्' इति। किञ्च, अवयवात्मकत्वे अवयविनः अवयवस्य पाण्यादेः आकाशादिभ्यो विभागे नियमेन विभागः, तैर्वा संयोगे संयोगः सिद्धो भवति न भेदे। न हि हस्तस्य कुतश्चिद् विभागे केनचिद्वा संयोगे चलतः अचलस्य सं युक्तः। अथ विभागज[10]-

(१) अवयवेऽपि। (२) अवयवक्रियायाम् अक्षाश्रितप्रत्ययः प्रमाणमिति चेत्। (३) वैशेषिकः। तुलना—"अवयविसद्भावे तु बाधकं प्रमाणमस्ति। तथाहि—पाणौ कम्पमाने तदाश्रितं शरीरं न कम्पते, पादे वा कम्पमाने तद्गतं शरीरं न कम्पते इत्येकस्य विरुद्धधर्मतापसङ्गः; तदसङ्गतम्; पाणौ कम्पमाने शरीरकम्पस्याप्रत्यूहभावनियमाभावात्। यदा पाणिमात्रं चालयितुं कारणं भवति तदा तन्मात्रं चलति न शरीरं कारणाभावात्। यदा तु शरीरस्यापि चलनकारणं भवेत् तदा शरीरं चलत्येव नास्त्यचलनमस्तीति कुतो विरोधः?"—प्रश० कन्द० पृ० ४१-४२। (४) शरीरे। (५) शरीरं चलति इत्याकारप्रतीत्यभावप्रसङ्गात्। (६) वैशेषिकेण। (७) क्रियाशीलस्य। (८) शरीरस्य। (९) संयोगः विभागो वा। (१०) "विभागजस्तु द्विविधः कारणविभागात् कारणाकारणविभागाच्च। कारणविभागाच्चावत् कार्याश्रिते कारणे कर्मोत्पन्नं यदा तस्य अवयवान्तरात् विभागं करोति न तदा आकाशादिदेशात्, यदा तु आकाशादिदेशाद्विभागं करोति न तदा अवयवान्तरादिति स्थितिः। अतः अवयवकर्मणो अवयवान्तरादेव विभागमारभते। ततो विभागाच्च द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशः, तस्मिन् विनष्टे कारणाभावात् कार्यस्यापि द्रव्यस्य विनाशः। तदा कारणयोर्वर्तमानो विभागः कार्यविनाशविशिष्टं कालं स्वतन्त्रं वा अवयवमपेक्ष्य सक्रियस्यैवावयवस्य कार्यसंयुक्तादाकाशादिदेशाद् विभागमारभते न निष्क्रियस्य, कारणाभावादुत्तरसंयोगानुत्पत्तावनुपभोग्यत्वप्रसङ्गः। न तु तदवयवकर्म आकाशादिदेशाद् विभागं करोति तदारम्भकाकाशत्वात्। प्रदेशान्तरसंयोगं तु करोत्येव

विभागोपपत्तौ संयोगजसंयोगोपपत्तेः अयमदोषः। कुत एतत्? कारणेन वियोगिना [1]संयोगिना वा कार्यमवश्यं वियुज्यते संयुज्यते वा यथा तन्त्वादिसंयोगिना तुर्यादिना पटादिरिति चेत्; स्यादेतदेवं यदि कार्यकारणयोः कथञ्चिदैक्यं स्यात्, इतरथा कुम्भकारकारणेनापि वियोगिना संयोगिना वा केनचित् सर्वं घटादि तत्कार्यं वियुज्येत संयुज्येत वा। 'समवायिकारणेन' इति विशेषणादयमदोषः, कथमदाः (मदोषः?) कार्यकारणभेदैकान्ते समवायीतरकारणविभागकारणाभावात्। समवायः तत्कारणमिति [३७ख] चेत्; न; तस्य निषेधस्यमान (त्यमान) त्वात् *"प्रत्यक्षं सविकल्पकं(ल्पं) च" [सिद्धिवि० २।२६] इत्यादिना। अनिषेधेऽपि यथा विवक्षितयोः कार्यकारणयोः[5] अन्तराले समवायः; तथा घटादिकुम्भकारयोरपि। अथ सम्बन्धाऽविशेषेऽपि कुतश्चित् प्रत्यासत्तेः[6] किञ्चित् कस्यचित् समवायि केनचित् [संयुज्यमानेन] वियुज्यमानेन [वा] संयुज्यते वियुज्यते वा किञ्चित्; तर्हि तस्यौ एव कस्यचित् केनचित् तादात्म्यसिद्धेः किं समवायेन विभागजविभागेन संयोगजसंयोगेन च? पाण्यादेश्च कुतश्चित् केनचिद् विभागात् संयोगाद्वा न परं शरीरस्य विभाग (गं) संयोग (गं) वा पश्यामः। तथापि तत्कल्पने एकमेव न किञ्चित् स्यात्। अथ पाणिशरीरयोरपि भेदः; कुतः? विभागभेदात्[7]; अन्योऽन्यसंश्रयः—पाणिशरीरयोः भेदसिद्धेः विभागभेदसिद्धिः, अस्याश्च प्रकृतसिद्धिरिति। नापि पाण्याकाशयोः परिणामविशेषव्यतिरेकेण परस्तयोर्विभागोऽस्ति यः शरीराकाशविभागकारणं स्यात्, अन्यथा कारणविभागात् कार्यविभागात्, कार्यविभागस्य [9]तदन्तरं तयोरेकताभयात् स्यात्, तत्रापि [9]तदन्तरमित्यनवस्था। स्वरूपमेव ततस्तस्य विभक्तमिति चेत्; अन्यत्रापि तदस्तु। किञ्च, यदि आकाशादिना संयुक्ते प्रतीयमाने एव शरीरे ततः पाण्यादिविभागप्रतीतिः स्यात्, युक्तमेतत्—*"पाण्याकाशविभागात् शरीराकाश-[३८क] विभागः ततः शरीराकाशसंयोगनिवृत्तिः।" इति। न चैवम्, तथा क्रमानुपलक्षणात्, पाण्याकाशविभागकाल एव शरीराकाशविभागदर्शनात्। नहि कश्चित् [11]खादिना संयुक्त एव शरीरे मम [12]ततः पाण्यादिकं विभक्तमिति मन्यते। उत्पलपत्रशतवेधवद् आशुवृत्तेः तदनुपलक्षणमिति चेत्; भवेदेवं यदि तत्पत्राणां स्वरूपदेशभेदवत् तद्विभागानां स्वरूपकालभेदः कुतश्चित् सिद्धः स्यात्, न चैवम्, प्रतीतिबाधनात्।

यत्पुनरुक्तं परेण—*"पाण्याकाशयोर्विभागात् तत्संयोगविनाशः" इति; तन्न सुन्दरम्; संयोगे सति विभागानुत्पादात् तद्विरोधिनि। यथैव हि संयोगविरोधिनि विभागे समुत्पन्ने संयोगो नश्यति तथा विभागविरोधिनि संयोगे स्थिते विभागो नोत्पद्यते। न हि शीतविरोधिनि

अकृतसंयोगस्य कर्मणः कालात्ययाभावात्। कारणाकारणविभागादपि कथम्? यदा हस्ते कर्मोत्पन्नमवयवान्तराद् विभागमकुर्वद् आकाशादिदेशेभ्यो विभागानारभ्य प्रदेशान्तरे संयोगानारभते तदा ते कारणाकारणविभागाः कर्म यां दिशं प्रति कार्यारम्भाभिमुखं तामपेक्ष्य कार्याकार्यविभागानारभन्ते, तदनन्तरं कारणाकारणसंयोगाच्च कार्याकार्यसंयोगाविति।"—प्रश० भा० पृ० ६७-६८।

(१) "कारणसंयोगिना द्रव्यकारणेन कार्यमवश्यं संयुज्यते इति न्यायः"—प्रश० भा० पृ० ४८५। "कारणसंयोगिना कार्यं संयुज्यते"—प्रश० कन्द० पृ० १४९। (२) "पटसंयुक्ततुरीवत्"—प्रश० कन्द० पृ० १४९। (३) निमित्तभूतेनापि। (४) तन्तुपटयोः। (५) प्रत्यासत्तेः। (६) भिन्नम्। (७) तुलना—"एकदेशाश्रयत्वे तु यदेकस्माद् विभागकृत्। तदेवान्यत इत्यस्ति न विभागो विभागजः॥"—न्यायम० पृ० १२३। (८) चेत्। (९) अवस्थाविशेष। (१०) विभागान्तरम्। (११) आकाशादिना। (१२) खादेः।

पावके स्थिते शीतोत्पादादिः । संयोगे विनष्टे तदुत्पाद इति चेत्; कुतस्तर्हि तद्विनाशः ? विभागादिति चेत्; अन्योन्यसंश्रयः—सति संयोगविनाशे विभागोत्पादः, तस्माच्च तद्विनाश इति । अथ दृश्यत एव संयोगे सत्येव विभागोत्पादः, 'न दृष्टेऽनुपपन्नं नाम' इति चेत्; न; तथाप्रतीतिविरहात् । संयोगविनाशात्मकविभागप्रतीतेश्च 'संयोगविनाशः, विभागः' इति नास्ति भेदः नार्थे । विभागाभावे कुतस्तन्नाशः[3] इति चेत् ? तन्नाशाभावे कुतो विभागः ? स्वकारणात् कर्मणः इति चेत्; तासोऽपि (नाशोऽपि) 'स्वकारणात्' इति ब्रुमो द्रव्यादेरिति [३८स्व] यद्वक्ष्यते—

*"अनादिनिधनं द्रव्यम् उत्पित्सु [स्थास्नु] नश्वरम् ।
[स्व] तोऽन्यतो विवर्तेत क्रमाद्धेतुफलात्मना ॥" [सिद्धिवि० ३।२१] इति।

न च अन्योन्यापसरद्[4]वस्तुव्यतिरेकेण परं कर्म, यद् विभागस्य अन्यस्य वा कारणं स्यात्, इतरथा उत्क्षेपणादिक्ष(क्रि)योत्पत्तावपि यदि द्रव्यं स्वभावतो न चलति न तर्हि तस्य कुतश्चिद् विभागः संयोगो वा देशान्तरादिना, अविशेषेण सर्वस्य प्रसङ्गात् । अथ यस्यैव तदिति मतिः; कस्य ? समवायसम्बन्धः आकाशादेरपि । तैत्सम्बन्धस्य तत्राप्यविशेषात् । एष यः चलयति (चलति) इति प्रतीयते तस्य तदिति; न; स्वयमचलति[5] तत्प्रतीत्ययोगात् भ्रान्तताप्रसङ्गात् । स्वयं चलति चेत्; तर्हि द्रव्यस्वरूपविशेष एव क्रिया न परा, इति न युक्तमेतत्—*"एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेषु[7] कारणमनपेक्षमिति कर्मलक्षणम् ।" [वैशे०सू० १।१।१७] इति [11]विफलम् *"[12]कार्यविरोधि कर्म" [वैशे०सू० १।१।१४] इति च । एतेन आकाशशरीरयोर्विभागात् [13]तत्संयोगविनाशो व्याख्यातः ।

यत् पुनरेतत्—*"उत्तराकाशपाणिसंयोगात् शरीराकाशसंयोगः ।" इति; तदपि न प्रातीतिकम्; नहि 'पूर्वं शरीररहितस्य पाणेः आकाशेन संयोगः, पश्चात् शरीरस्य' इति प्रतीतिरस्ति । आशुवृत्त्या यौगपद्यविभ्रमोऽपि निरस्तः । अपि च, यदि गगनादिभ्यो वियुज्यमाने पाणौ शरीरं वियुज्यते, तैः संयुज्यमाने तस्मिन् तत् संयुज्यते वा ; तर्हि तेभ्योऽवियुज्यमानेषु [३९क] पादादिषु तदैव [14]तन्न वियुज्यते इति युगपत् [15]तत् संयुक्तमन्यथा च स्यात् ।

स्यान्मतम्—सर्वात्मना तद् वियुक्तमेव, किन्तु आकाशादिभिः संयुज्यमानेषु पादादिषु आशु [16]तत्संयोग इति तत्संयुक्तप्रतिपत्त्यविच्छेद इति; तन्न निरूपिताभिधानम्; अन्यथाप्यविरोधात् । न हि एकं चलावयवापेक्षया चलम् अन्यथा अचलम्, तथा विभक्त-संयुक्तावयवापेक्षया संयुक्तं विभक्तं च विरुद्धम्, सचलैकरूपवत् । अथ एतदपि नेष्यते; कथं तर्हि *"गुणाश्च गुणान्तरम्" [वैशे० सू० १।१।१०] इत्यत्र सूत्रे अन्तरशब्दस्य उक्तं प्रयोजनमिदं शोभते—*"कार्यकारणगुणयोः क्वचित् जात्यन्तरत्वज्ञापनार्थत्वाददोषः । कथम् ? यथा शुक्लाशुक्लैः तन्तुभिरारब्धस्य पटस्य रूपं कारणरूपेभ्यो जात्यन्तरमिति । का पुनः तत्र रूपे जातिः ?

(१) संयोगविनाशः । (२) विभागाच्च । (३) संयोगनाशः । (४) क्रियातः । (५) गमनशील । (६) संयोगस्य । (७) व्यापित्वात् समवायस्य । (८) कर्म । (९) चलनक्रियारहिते । (१०) "संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति"—वैशे० सू० । "संयोगविभागेष्वनपेक्षं कारणमिति"—नयचक्रवृ० पृ० ३० । (११) विफलमिति निरर्थकम् । (१२) "कार्यं विरोधि यस्येति बहुव्रीहिः"—वैशे० उप० पृ० २१ । (१३) शरीराकाशसंयोग । (१४) शरीरम् । (१५) शरीरम् । (१६) शरीरसंयोगः ।

चित्रत्वमिति ब्रूमः । विशेषानवधारणात्, यस्मा सौरूप (यश्चासौ रूप)विशेषः शुक्लत्वादिः सोऽस्मात् नावधार्यते इति । न चेदमरूपं द्रव्यम् उप(अनुप)लब्धिप्रसङ्गात्[1] वायुवत् । उपलभ्यमानत्वाच्च तन्तुवत् रूपाधिकरणम् ।" इति ।

एतेन यदुक्तम्–

५ *"चित्रं तदेकमिति चेत्, इदं चित्रतरं महत् ।" [प्र० वा० २।२००] इति;

एतदपि प्रत्याख्यातम् ; चित्रशब्दस्य अनेकार्थविषयत्वानभ्युपगमात् । क तर्हि वर्तते[3] इति चेत् ? एकस्मिन् शबले रूपे वर्तते इति । तथा च प्रतिभासः–शबलो गौः शबलः खलु अश्व इति । कथम् ? यदि हि शुक्लाशुक्लैः तन्तुभिर्जनिते पटे नीलादीनि रूपाणि [३९ख] भिन्नानि बहूनि वर्तन्ते; अपि तर्हि *"कर्माणि बहूनि युगपदेकस्मिन् द्रव्ये ण (न) वर्तन्ते[4], १० सजातीयत्वे समानेन्द्रियग्राह्यत्वे एकद्रव्यत्वे च सति अविभुद्रव्यवृत्तित्वात् रूपवत् ।" इत्यत्र निदर्शनस्य साध्यविकलता । अथैकम् ; नीलादयः क वर्तन्ते ? द्रव्ये चेत्; प्रकृतो दोषः । तद्रूपं इति चेत् ; केन सम्बन्धेन ? संयोगेनेति चेत् ; तद्रूपनीलाद्योः द्रव्यत्वम्[5] । समवायेनेति चेत् ; तद्रूपस्य द्रव्यत्वं नीलादिसमवायिकारणत्वात्[6] । विशेषणीभावेनेति चेत् ; रूपादयोऽपि द्रव्ये तेनैव[7] वर्तन्त इति समवायाभावः । नीलादीनां द्रव्यादिषु अनन्तर्भावात् पदार्थान्तरत्वम् । १५ तादात्म्येन चेत् ; सिद्धं 'शबलैकरूपवत्'[8] इति । ततः स्थितम्–चलाचलसंयुक्तासंयुक्तत्वप्रतिपादनार्थम् 'एकस्य नानावयवात्मनः' इति वचनम्, दृशोः (दृश्यैः) अवयवैः अदृशोश्च (अदृश्यैश्च) दृश्येतरात्मकत्वप्रतिपादनार्थं च ।

नन्वेवम्[9] एकतन्त्ववयवग्रहणेऽपि पटो गृह्येत, न चैवम् , [10]भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षसहायस्य अवयवीन्द्रियसन्निकर्षस्य अवयव्युपलम्भकत्वादिति चेत् ; स्यादेतदेवं यदि अवयव- २० अवयविनोभे (नोभें) दैकान्तः, स तु नेतीति निरूपितम् । एवं च न अवयवेन्द्रियसन्निकर्षोऽन्यः, अन्योऽवयवीन्द्रियसन्निकर्षः, येनोच्यते–'भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षसहायस्य अवयवीन्द्रियसन्निकर्षस्य [४०क] अवयव्युपलम्भकत्वात्' इति ; साहाय्यस्य भेदनिबन्धनत्वात् । यदि च, अवयविन इन्द्रियसन्निकर्षोऽस्ति; कुतस्तत्र[11] ज्ञानं नोत्पद्यते ? कथमन्यथा समन्धकारादौ अवयविज्ञानम्, नहि तत्र भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षोऽस्ति सालोकादिप्रदेशवत्, इतरथा तज्ज्ञानेऽस्पष्टता-

---

(१) रूपसमवायस्य चाक्षुषत्वस्याहेतुत्वात् । (२) अनेकरूपविषयत्वास्वीकारात् । (३) चित्रशब्दः । (४) तुलना–"एकदा एकस्मिन् द्रव्ये एकमेव कर्म वर्तते, एकं कर्म एकत्रैव द्रव्ये वर्तते ।"–प्रश० कन्द० पृ० २९० । "अविभुनि द्रव्ये समानेन्द्रियग्राह्याणां विशेषगुणानामसमवायादिति व्याहन्यते"–प्रश० व्यो० पृ० २२० । (५) चित्रं रूपम् । (६) ऊष्मानुमाने निदर्शनस्य साध्यविकलता । (७) चित्ररूपे । (८) द्रव्ययोरेव संयोगात् । (९) चित्ररूपस्य । (१०) द्रव्यस्यैव समवायिकारणत्वात् । (११) विशेषणीभावेनैव वर्तमानम् । (१२) चित्रैकरूपवदिति दृष्टान्तः । (१३) अवयवावयव-अवयविस्वीकारे । (१४) "भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षानुगृहीतेन अवयवीन्द्रियसन्निकर्षेण ग्रहणात् ।"–प्रश० व्यो० पृ० ४६ । "इदं तस्य वृत्तं नेषामिन्द्रियसन्निकर्षाद् ग्रहणमवयवानां तैः सह गृह्यते नेषामवयवानां अवयवावादग्रहणं तैः सह न गृह्यते ।"–न्यायभा० २।१।३२। (१५) अवयविनि ।

व्यवहारो न स्यात् । अवयवाऽग्रहणकृतः सं इति परस्य दर्शनम् । अथेन्द्रियसन्निकर्षोऽपि तस्य नेष्यते; एकावयवस्यापि न स्यादिति तस्यापि न ग्रहणम् । ततोऽयुक्तमेतत्—*"एकतन्तुवीरण-संयोगात् पटकटसंयोगः" इति; तद्ग्रहणोपायाभावात् । अथ तेशे (अथ ने) ष्यते तत्सन्निकर्षः; पटस्यापि स्यात् *"कारणसंयोगिना कार्यमवश्यं संयुज्यते" [प्रश० भा० पृ० ६४] इति वचनात्, अन्यथा वीरणेनापि न स्यात् । किंच, एकतन्त्ववयवेन्द्रियसन्निकर्षोऽपि यदि तद्भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षसहाय एव तन्तूपलम्भकः; तर्हि तदवयवेन्द्रियसन्निकर्षोऽपि तद्भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षसहाय एव तदवयवोपलम्भकः, एवं यावत्परमाणवः । न च तेषामिन्द्रियसन्निकर्ष इति सर्वाग्रहणम् । यदि च एकावयवेन्द्रियसन्निकर्षात् तत्र ज्ञानं न स्यात्; तर्हि जलमग्नकरिणः कर्करमात्रदर्शनात् 'करी तिष्ठत्यत्र' इति प्रतीतिर्न स्यात्, इष्यते च परेण । ततः साधूक्तम्—'दृश्यावयवैः दृश्यात्मनः विपरीतैः विपरीतात्मनः' इत्यस्य प्रदर्शनार्थम् 'नानावयवात्मनः' [४०ख] इति वचनमिति, तथा आवृतैः आवृतात्मनः विपरीतैर्विपरीतात्मन इत्यस्य च ।

[9]"नन्वेकस्या[ऽऽवृता]नावृतत्वानुपपत्तेः अयुक्तमेतत् । न खलु एकस्मिन्नवयवे पाण्यादौ आवरणे सत्यपि शरीरस्य आवरणमस्ति महत्त्वात् । न हि यावान् आवारकद्रव्यसंयोगः अवयवमावृणोति तावान् अवयविनं [10]तस्य महत्त्वात्तु पुनरन्य एकावारकद्रव्यसंयोगविशेष आवृणोति यथा प्रतिशरादिसंयोगविशेषः कुड्यमिति । अवयवावारकं तु द्रव्यम् अवयविना संयुक्तं नाऽऽवृणोति अमहत्त्वात् संयोगविशेषाभावाच्च, यथा कौपीनप्रच्छादकमल्पं [12]वासः यथा वा परिधानवास[13] इति । समग्रावयव्युपलब्धिप्रसङ्ग इति चेत्; [14]"समग्राऽसमग्र' इतिशब्दयोः भेदविषयत्वात्, अवयविनस्तु अभिन्नत्वात् । न खलु अवयवी समग्रो नाप्यसमग्रः, तस्य एकत्वात् । अपि भवान् गृह्यमाणस्य अवयविनः किमगृहीतं मन्यते येनायमकृत्स्नो गृह्यत इत्याचष्टे ? आवृतोऽवयवो न गृह्यत इति चेत्; न गृह्यतां नाम, अवयवी तु गृह्यते [15]"ततोऽन्यत्वात्। इयांस्तु विशेषः[16]—येषामव-

(१) समन्धकारादौ अस्पष्टताव्यवहारः (२) अवयविनः । (३) एकावयवस्यापि । (४) एकावयवेन्द्रियसन्निकर्षः । (५) एकावयवोपलम्भकः । (६) यावन्तः परमाणुरूपा अवयवाः सन्ति तावतां सन्निकर्षः आवश्यकः । (७) अवयविनि । (८) शुण्डा । (९) "एकं चलं चलैर्नान्यैः नष्टं नष्टैर्न चापरैः । आवृतैरावृतं रूपं रक्तं रक्तैर्विलोक्यते ॥"—प्रमाणमं० पृ० १०२ । न्यायवि० २।२७१ । (१०) "न तावदेकस्यावयविनो ग्रहणाग्रहणे ; अवयवावरणेऽपि तस्य कतिपयावयवावस्थानस्य ग्रहणादेव । न च बहुवयवावस्थानस्य ग्रहणे इव तादृशस्थौल्यानवभासादनवभासोऽवयविन इति साम्प्रतम् ; परिमाणभेदो हि स्थौल्यमवयविधर्मः । न च तस्य तादृशस्यानवभासे अवयवी अनवभासितो भवति, तस्य ततोऽन्यत्वात्, तस्मादिन्द्रियसन्निकर्षमात्रादवयविनो ग्रहणम् । इन्द्रियेणार्थस्य इन्द्रियावयवैरर्थस्य इन्द्रियेणार्थावयवानाम् इन्द्रियावयवैरर्थावयवानां सन्निकर्षात् परिमाणभेदग्रहणमिति सामग्रीभेदादवयवितत्परिमाणभेदयोर्ग्रहणाग्रहणे उपपद्येते ।"—न्यायवा० ता० पृ० ३८४ । "एकावयवावरणे अवयव्यावरणस्याभावात् । स ह्येकोऽनेकेषु अनावृतेतरकतिपयावयवग्रहणेन गृह्यते तस्य सर्वग्राभिन्नत्वात् ।"—प्रश० कन्द० पृ० ४२ । (११) अवयविनः । (१२) अल्पस्य आवारकम् । (१३) अधिकस्यावारकं विशेषसंयोगासङ्गावात् । (१४) "एकस्मिन् भेदाभावात् भेदशब्दप्रयोगानुपपत्तेरप्रश्नः ॥११॥ कृत्स्नमिति अनेकस्याशेषाभिधानम्, एकदेश इति नानात्वे कस्यचिदभिधानम्, तावेमौ कृत्स्नैकदेशशब्दौ भेदविषयौ नैकस्मिन्नवयविनि उपपद्येते भेदाभावादिति ।"—न्यायभा० ४।२।११ । (१५) अवयवात् । (१६) "यत्तु बहुतरावयवग्रहणवत् स्थूलप्रतीतिर्न भवति तद् भूयोऽवयवप्रचयग्रहणस्य परिमाणप्रकर्षप्रतीतिहेतोरभावात् । यत्र तु भूयसामवयवाना-

यवानाम् इन्द्रियसन्निकर्षः तैः[1] सहोपलभ्यते, येषां पुनः आवृतत्वान्नेन्द्रियसन्निकर्षः तैः सह नोपलभ्यत इति चेत्; उच्यते—शबलैकरूपवद् आवृताऽनावृतैकावयव्युपपत्तेर्नाऽयुक्तमेतत्।

[४१क] यत्पुनरुक्तम्—'नहि यावा[नावा]रकसंयोगोऽवयवमावृणोति तावान् अवयविनम्' इति; तदपि न सूक्तम्; *"**कारणसंयोगिना हि कार्यमवश्यं संयुज्यते**" [प्रश०भा०पृ० ६४] इति वचनाद्वयववद् अवयविनोऽप्यावारकसंयोगोऽस्ति। तस्य[2] चोत्पत्तौ अवयवी[3] समवायिकारणमिति सर्वात्मना[4] तत्कारणं चेत्; तन् सर्वत्र तत्संयोगप्रतिपत्तिरिति कथन्न तावानेव तत्संयोगः तदावारको न स्यात् येनोच्यते—'अवयविनं पुनः अन्य एव आवारकद्रव्यसंयोगविशेष आवृणोति' इति। अथ न सर्वात्मना किन्तु एकदेशेन; सांशत्वमवयविनः[5]। ननु चोक्तम्—समग्राऽसमग्रशब्दयोर्भेदविषयत्वाद् अवयविनस्तु अभिन्नत्वात् तदनुपपत्तिरिति; सत्यमुक्तम्, किन्तु 'तदभिन्नत्वात्' इति वदता तस्य[6] एकं स्वरूपमङ्गीकृतम्। तेनैव चेत् संयोगसमवायिकारणम्; तत्र संयोगः समवेतः प्रतिभातीति न तद्रहितं तद्रूपमस्ति इति नोक्तदोषपरिहारः।

यच्चान्यदुक्तम्—'अपि च भवान् गृह्यमाणस्य अवयविनः' इत्यादि; तत्राप्युच्यते—अवयविस्वरूपं न गृह्यते नावयवस्वरूपम्। एवं कथञ्चिद्वयवाऽवयविनोस्तादात्म्यात्, अन्यथा आवारकजलादिमध्ये दृश्यभागस्य अवयविनः स्तम्भादेः सन्देहो न स्यात्—'किमस्ति किं वा नेति, कियान् वा समस्ति ?' इति।

यच्चान्यत्—'इयांस्तु विशेषः' इत्यादि; तदप्येतेन निराकृतम्; यथैव हि आवृतावयवा इन्द्रियैरसन्निकृष्टा नोपलभ्यन्ते तत्सहितश्च अवयवी[7], तथा आवारकसंयुक्तः केवलोऽपि[8][9][४१ख] नोपलभ्यते। ततः स्थितम्—'आवृतावयवापेक्षया आवृतात्मनोऽन्यापेक्षया अन्यथाभूतस्य' इत्यस्य प्रतिपादनार्थम् '**नानावयवात्मनः**' इति वचनम्। तथा 'नष्टैः नष्टात्मनोऽनष्टैरनष्टात्मनः' इत्यस्य च प्रतिपादनार्थम्[10]।

ननु च नष्टा अवयवाः त एव ये निष्क्रियावयवेभ्योऽन्ये देशान्तरादिसंयोगिनो विच्छिन्नाः यथा पादादिभ्यो हस्तादयः, नच तेषु शरीरावयवी विद्यते प्राक्तनः पादादिषु येनोच्यते—'अविनष्टावयवापेक्षया अविनष्टः' इति, अन्यथा निष्क्रियावयवेभ्य इव आकाशादिभ्यः चित्रपाण्यादिविभागो न भवेत्। तदुक्तम्—*"**द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेषु अकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्**" [वैशे० १।१।१६] इत्यत्र सूत्रे कैश्चित् *"**तथा कारणयोः वंशदलयोः विभागो विभागमभिनिर्वर्तयिष्यन् वंशविनाशमपेक्षते। कस्मात् ? अविनष्टे वंशे अस्वातन्त्र्यात्। स्वतन्त्रावयववृत्तिर्विभागो विभागमारभते न कार्यबद्धावयववृत्तिः, एतच्च यथा सुबद्धं भवति तथा अग्रे वक्ष्यामः इति, तदुच्यते—कारणयोर्वंशदलयोः विभागात् सक्ते-(क्रि) यस्य अवयवस्य वंशदलस्य आकाशादिभ्यो विभागः**" इति चेत्; स्यान्मतं संयोगौ

मावरणम् अल्पतरावयवग्रहणं च तत्रावयविनो न ग्रहणम्, यथा जलनिमग्नस्य शिरोमात्रदर्शनात्।" —प्रश० कन्द० पृ० ४२।

(१) अवयवैः। (२) संयोगस्य। (३) अवयवी। (४) सांशत्वानुपपत्तिः। (५) अवयविनः। (६) स्वरूपेण। (७) एकस्वरूपे अवयविनि। (८) संयोगरहितम्। (९) आवृतावयवविशिष्टश्च। (१०) उपलभ्यते। (११) अवयवी। (१२) नानावयवात्मनः इति वचनम्।

(गात्) सक्रियस्य अवयवस्य वंशदलस्य आकाशादिभ्यो विभागः स क्रियाज इति न [1]द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागारम्भकस्य कर्मणः[2]। [यानि] द्रव्यानारम्भकसंयोगविरोधि-[४२क] [3]विभागारम्भकाणि कर्माणि न तानि द्रव्याना(द्रव्यार)रम्भकसंयोगविरोधिनं [4]विभागमारभन्ते यथा नृत्यतः अवयवकर्माणि, तथेहापि छेदनभेदनतक्षणकर्मणामपि आकाशादिभ्यो विभागजनकत्वे द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागारम्भकत्वं न स्यात्। अस्ति च, तस्मादिदमुच्यते—छेदनपाटनतक्षणकर्माणि स्वाश्रयस्य[5] आकाशादिभ्यो न विभागमारभन्ते द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागजनकत्वात्; [6]यानि पुनः स्वाश्रयस्य आकाशादिभ्यो विभागमारभन्ते न तानि द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिनं विभागमारभन्ते यथा नृत्यतः अवयवकर्माणि इति। [7]उभयसंयोगित्वाद् उभाभ्यां वियुज्यते इति चेत्; स्यान्मतं यथाऽयं सक्रियोऽवयवः अवयवान्तरेण संयुज्यते तथा आकाशादिभिरपि, तस्माद् यथा अवयवान्तरेण संयुक्तत्वात् तेन वियुज्यते तथा आकाशादिभिरपि संयुक्तत्वात् तेभ्योऽपि वियुज्यते इति; न; अनेकान्तात्। नायमेकान्तः-हस्तावयवे उत्पन्नं कर्म [8]स्वाश्रयस्य सर्वसंयोगिभ्यो विभागमारभत इति, किं तर्हि कुतश्चिदेव इदम्, दृष्टत्वात्। दृष्टं खलु अङ्गुलिकर्म अङ्गुलिद्रव्यस्य आकाशादिभ्यो विभागमारभते न अवयवान्तराद् द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिनं विभागमारभत इति तथेद[मपि] पाटनाद्यवयवकर्म अवयवान्तराद् द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिनं विभागमारभते नाकाशादिभ्यः इति तस्माद् [४२ख] 'उभाभ्यां वियुज्यते' इति अयुक्तमुक्तमिति। कुतः पुनरयं विशेष इति चेत्? कारणविशेषात्।

स्यान्मतम्—हस्ताद्यवयववृत्तित्वाऽविशेषेऽपि सति कानिचित् [9]कर्माणि स्वाश्रयस्य आकाशादिभ्यो विभागमारभन्ते [10]कानिचित् पुनः अवयवान्तराद् द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिनं विभागमारभन्त इति किंकृतोऽयं विभागः इति? कारणविशेषात् क्रियाकारणविशेषादयं विशेषः। तदुक्तम्—*"[11]नोदनविशेषात् [11]उदसनविशेषः।" [वैशे०सू०५।१।१०] इति। *"तत्र कार्यावि**ष्टे कारणे कर्म उत्पन्नं अवयवान्तराद् विभागमारभते, विभागाद् द्रव्यारम्भकसंयोगनिवृत्तिः, ततः कार्यद्रव्यं निवर्तते, तस्मिन् निवृत्ते कारणयोर्वर्तमानो विभागः सक्रियावयवस्य आकाशादिभ्यो विभागमारभते"** [प्रश०भा० पृ० ६८] इति[12]। को हेतु रिति चेत्? स्यान्मतं 'कार्यद्रव्यनिवृत्तौ कारणयोर्वर्तमानाद् विभागात् सक्रियावयवस्य आकाशादिभ्यो विभाग उपजायते न पुनः पूर्वम्' इत्यत्र को हेतुरिति? कार्यद्रव्यविनाशसहचरितत्वं हेतुः; यदि सति कार्यद्रव्ये सक्रियावयवस्य आकाशादिभ्यो विभाग उपजायेत, नैवं तर्हि तस्य कार्यद्रव्यविनाशसहचरितत्वं [13]न स्याद् अङ्गुल्याकाशविभागवदिति चेत्; अत्र प्रतिविधीयते—

यत्तावदुक्तम्—'कारणयोर्वंशदलयोर्विभागो विभागमभिनिर्वर्तयिष्यन् वंशविनाशमपेक्षते'

---

*(१) द्रव्योत्पादक। (२) सकाशात् भवति। (३) आकाशादिदेशविभाग। (४) अवयवविभागम्। (५) द्रव्यस्य। (६) तुलना—"कर्मोत्पन्नं यदा तस्यावयवस्य अवयवान्तराद् द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशकं विभागं करोति न तदा द्रव्यविरुद्धाद् आकाशादिदेशाद्विभागं करोति। यदा चाकाशादिदेशात्; न तदा अवयवान्तरादिति स्थितिनियमः।"—प्रश० कन्द० पृ० १५५। (७) आकाशादिदेश—अवयवान्तर-एतदुभयसंयोगित्वात्। (८) हस्तस्य। (९) हलनचलनादिरूपाणि। (१०) उत्पाटनादिरूपाणि। (११) दूरोत्क्षेपण। (१२) द्रष्टव्यम्—पृ ४५ टि० १०। (१३) 'न' इति निरर्थकमत्र।

इत्यादि ; [४३क] तत्र अङ्गुल्यवयवे छेदक्रियातः अवयवान्तराद्विभागात् संयोगविनाशे सति यदि अवयविनः शरीरस्य विनाशः तर्हि तदवयवछेदनकर्मादिमात्रत एव शरीरस्य नाशे [1]तद्गुणानां नाशात् तदवयव्युपलम्भविकलतदारम्भकपादाद्यवयवानामेव उपलम्भः स्यात् । न चैवम् , [2]तच्छेदनात् प्राक् पश्चात् तत्समकालं च 'तदेवेदं शरीरम्' इति प्रतीतेः । [3]इतरथा छिन्नाङ्गुलिरपि 'स एवायं मदीयः पुत्रः' इत्यादि व्यवहारविलोपप्रसङ्गः । ननु च एकावयवसंयोगविनाशे पूर्वद्रव्यनिवृत्तौ पुनः अवस्थितसंयोगेभ्योऽवयवेभ्यो अन्यद्रव्यमुपजायते अतोऽयमदोष इति चेत् ; [4]कोशपानैरेव केवलमर्थोऽयं प्रत्येयः, न प्रतीतेः, सर्वदैकत्वप्रतीत्युपलम्भात् । भ्रान्तेयमेकत्वप्रतीतिरिति[5] चेत् ; न ; बाधकाभावात् । अथ पूर्वद्रव्यविनाशे द्रव्यान्तरोत्पत्तिरेव बाधिकेति चेत् ; सा कुतः सिद्धा ? तत्प्रतीतेर्विभ्रमाच्चेत् ; अन्योन्यसंश्रयः—सिद्धायां द्रव्यान्तरोत्पत्तौ तत्प्रतीतेर्विभ्रमः, तत्साच्च तत्सिद्धिरिति । यदि च, सर्वदा शरीरस्य एकत्वे प्रतीयमाने एकावयवसंयोगविनाशे पूर्वद्रव्यनिवृत्तौ पुनः अवस्थितसंयोगेभ्योऽवयवेभ्योऽन्यद्रव्यमुपजायते इतीष्यते ; तर्हि सह क्रमेण च वरं परमाणव एव अभ्युपगताः[6], तथा च अवयव्यादिसाधनप्रयासाद् भवन्तो मुच्येरन् । स्थूलैकप्रतीत्या बाधनमन्यत्रापि ।

किंच, [४३ख] 'अङ्गुल्यवयवे चलति आवृते शरीरं न चलति नाप्यावियते तथा प्रतीतेः' इत्यभ्युपगम्य एकावयवसंयोगविनाशे अवयविनाशः सर्वथाऽभ्युपगच्छन् कथं सुस्थः ? तथाप्रतीतेः समानत्वात् । अपि च, यदि नाम एकावयवसंयोगविनाशः किमायातं येन [7]ततो भिन्नस्य अवयविनो विनाशः अतिप्रसङ्गात् ? न ह्यवश्यं कारणनाशाद् उत्पन्नं कार्यं नश्यति अत्र (अन्यत्र) परिणामिकारणविनाशः (शात्) । न च संयोगः परिणामिकारणं परस्य[8] अन्यथाऽभ्युपगमात्[9] । असमवायिकारणविनाशादपि तन्नाशः[10] तथाप्रतीतेरिति चेत् ; न, एकावयवसंयोगविनाशेऽपि कार्यद्रव्यस्य कथञ्चिदवस्थानस्य प्रतीतेः ।

एतेन भेदनादिभ्यः एकावयवस्य अवयवान्तराद् विभागेन संयोगनाशात् पूर्वावयविविनाशः प्रत्याख्यातः ; नहि कर्णैकावयवस्य भेदने शरीरस्य तन्त्वेकावयवस्य पाटने पटस्य वंशस्य स्वरल्पत्तकु(स्वल्पत्वक्)तक्षणे विनाशः प्रतीयते । ननु कार्यद्रव्याऽविनाशकवंशक्रिया-[याः अ]वयवस्य आकाशादिभ्यो विभागः अस्वातन्त्र्यात् । स्वतन्त्रावयववृत्तिर्हि विभागः सक्रियावयवस्य आकाशादिभ्यो विभागभारमते । कस्मादिति चेत् ? कार्यद्रव्यविनाशसहचरितस्य आकाशादिभ्यो विभागस्य तदवयवे दर्शनादिति चेत् ; तस्य तर्हि अवयवान्तराद्विभागः कार्यद्रव्ये अविनष्टे किं प्रतीयते ? अप्रतीते एकोऽस्ति नापर इति किं [४४क] कृतो विभागः ?

स्यान्मतम्—अवयवात्तद्विभागः[11] कार्यनाशान्यथानुपपत्त्या अनुमीयमानः पूर्वमप्यस्ति नाकाशादिभ्य इति ; न ; तदवयवान्तरादिव आकाशादिभ्योऽपि तदविभागे कार्य(र्या)विनाशात् । ननु यदि पूर्वं (र्वं) [12]तदन्तराच्च तद्विभागः; कथमाकाशादिभ्यः ? कारणाभावे कार्यानुत्प-

(१) अवयविभूतशरीरगुणानाम् । (२) अवयवछेदनात् । (३) यदि शरीरविनाशः स्यात् तदा । (४) मद्यं पीत्वैव अयं विश्वासयोग्यः यत् तत्र अन्यत् शरीरमुत्पन्नमिति । (५) तदेवेदं शरीरमिति । (६) परमाणुष्वेव शरीरादिप्रतीतिर्भविष्यति । (७) अवयवात् । (८) वैशेषिकस्य । (९) संयोगस्यासमवायिकारणत्वस्वीकारात् । (१०) कार्यनाशः । (११) द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागः । (१२) अवयवान्तरात् ।

तेरिति चेत्; स्यादेतदेवं यदि अवयवकर्मणः तदन्तरादिव आकाशादिभ्यः तद्विभागो न स्यात्। एकस्मात् कर्मणः कथमनेको विभाग इति चेत्? कथम् आकाशकालदिगात्मादिभ्यो युगपत् [1]तस्य बहवो विभागाः तैर्वा संयोगाः, येनेदम् *"संयोगविभागानां[2] कर्म" [वैशे०सू० १।१।२०] इत्यत्र बहुवचनस्य प्रयोजनमुक्तं शोभेत। एकावयववृत्तिकर्मणः अवयवाभ्यां द्वौ विभागौ अवयवेभ्यः बहवो विभागाः, न च आकाशादिभ्यः इति स्वरुचिविरचितमेतत्। ५

[3]स्यान्मतम्—छेदनादिकर्म सक्रियावयवस्य आकाशादिभ्यो विभागं नारभते द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागजनकत्वात्। यत् पुनः तदवयवस्य आकाशादिभ्यो विभागमारभते न तद् द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिनं विभागमारभते यथा नृत्यतोऽवयवकर्म इति; नायं हेतुः; असिद्धत्वात्, संयोगविनाशस्यैव विभागत्वादिति चिन्तितमेतत्। 'न च छेदनादेः [4]परं प्रति द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागजनकत्वं सर्वथा सिद्धम् अवयविनाशप्रसङ्गात्' इति चेत्। यदि च १०
[४४ख] नृत्यतोऽवयवकर्म सक्रियावयवस्य आकाशादिभ्यो विभागहेतुः, अवयवान्तरविभागहेतुर्न दृष्टः इति छेदादिरपि तद्वत् तदहेतुः[5] प्रकल्प्यते; तर्हि कारणयोर्वंशदलयोर्वर्तमानो विभागो निष्क्रियावयवस्य आकाशादिविभागहेतुर्न दृष्टः इति सक्रियस्यापि तथैव कल्प्यताम् अविशेषात्। प्रमाणबाधनं प्रकृतेऽपि।

किंच, *"संयोगविभागानां कर्म कारणं सामान्यम्" [वैशे०सू० १।१।२०] इति १५
वचनात् नृत्यतोऽवयवकर्माणि हस्ताद्यवयवानाम् अन्योऽन्यतो विभागं किन्नारभन्ते? एवं सति[6] ततः संयोगविनाशात् नृत्यतोऽवयविनो विनाशः स्यादिति चेत्; न; *"एकावयवसंयोगविनाशे पूर्वद्रव्यनिवृत्तौ पुनः अवस्थितसंयोगेभ्योऽवयवेभ्यः अन्यद्रव्यमुपजायते" इत्यभिधानात् पुनः प्रवृत्तिकर्मविशेषेभ्यः संयोगविशेषतोऽन्यद् द्रव्यं[7] स्यात्। [8]अविच्छिन्नप्रतिपत्तिश्च आशुवृत्तेरिति। एवं सति किं लब्धमिति चेत्? *"छेदनादिकर्म सक्रिया- २०
वयवस्य आकाशादिभ्यो विभागं नारभते द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागजनकत्वात्। यत् पुनः तस्य[9] [11]ततो विभागमारभते न तत् [12]तज्जनकं यथा नृत्यतोऽवयवकर्म।" इति प्लवते, वैधर्म्यदृष्टान्तविलोपात्। ततो यथा सक्रियावयवस्य अवयवान्तरात् क्रियातो विभागः

(१) अवयवस्य। (२) "संयोगविभागवेगानां कर्म सामान्यम् ॥२०॥ कारणमित्यनुषक्तः। यत्र द्रव्ये कर्मोत्पन्नं तेन समं यावद्द्रव्यं संयुक्तमासीत् तावत् संख्याकान् विभागान् जनयित्वा तावतः संयोगानपि पुनरन्यत्र जनयति···"—वैशे० उप० १।१।२०। (३) "कार्येणाविष्टं व्याप्तमारब्धकार्यमिति यावत् तस्मिन् कारणे कर्मोत्पन्नं न कारणमात्रे यदा अवयवान्तराद्विभागं द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिनं करोति न तदा आकाशादिदेशात्, यदा त्वाकाशादिदेशाच्च तदा अवयवान्तराद्विशिष्टं विभागमिति स्थितिः विभागजविभागचिन्तायाः प्रतिज्ञातः।"—प्रश० व्यो० पृ० ४९९। न्यायवा० ता० टी० पृ० २५०। "आकाशविभागकर्तृत्वं कर्मणो द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागानारम्भकत्वेन व्याप्तम्। द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागानारम्भकत्वविरुद्धं च द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागोत्पादकत्वम्। अतो यत्रेदमुपलभ्यते तत्र द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागानुत्पादकत्वे निवर्तमाने तद्व्याप्तम् आकाशविभागकर्तृत्वमपि निवर्तते यथा वह्निव्याप्तौ धूमव्यावृत्तिः।"—प्रश० कन्द० पृ० १५६। (४) जैनं प्रति। (५) चिन्तितम्। (६) अवयवान्तरविभागहेतुः। (७) परस्परविभागे। (८) उत्पन्नं भवेत्। (९) स एवायमिति एकत्वप्रतिपत्तिश्च। (१०) सक्रियावयवस्य। (११) आकाशादेः। (१२) द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागजनकम्।

तथा तत्त्वाद् [४५क] आकाशादिभ्यः । नच अनैकान्तिकोयं हेतुः ; तथाहि–[1]अङ्गुल्याकाशविभागाद् हस्ताकाशविभागो भवति न तु क्रियाजः (तः) इति । अनेकान्त इति चेत् ; उक्तमत्र अङ्गुलिचलने हस्तस्यापि कथञ्चित् चलनम्, आकाशादिभ्यः तद्विभागे हस्तस्यापि तदैव विभागः, अन्यथा[2] पृथक्सिद्धिः स्यादिति । ननु च यद्ययं सक्रियस्य अवयवस्य गगनादिभ्यो विभागः क्रियाजः स्यात् ; तदपि तर्हि क्रियानन्तरमुत्पद्येत, आद्यावयवविभागवत् , न चोत्पन्नः । तदुक्तम्–*"कुरुन्दारकोऽसि केन तदत्सरभ्रंसात् (तदवसरभ्रंशात्) ।" इति । कर्मणा यस्मिन्नवसरे विभागः कर्त्तव्यम् (व्यः) सोऽस्य नष्ट इति चेत् ; न सत्यमेतत् ; विभागेऽप्य[स्य] समानत्वात्। शक्यं हि वक्तुं यद्ययं विभागात् स्यात् विभागः[3] तदनन्तरमुत्पद्येत , न चैवम् , क्षि[अवयव]विभागात् संयोगविनाशः तस्माच्च द्रव्यविनाशः पुनर्विभागः इत्यङ्गीकरणात् । कर्मानन्तरम् अवयवान्तराकाशादिभ्यश्च विभागः ; इतरथा न कुतश्चित् तदनन्तरं भवेत् । तन्न कर्णाद्येकावयवच्छेदनादिभ्यः सर्वात्मना [4]पूर्वदृष्टविनाशो युक्तः ।

यत्पुनरुक्तम्–*"अवयवेषु कर्माणि ततो विभागः तेभ्यः संयोगविनाशः ततो द्रव्यविनाशः" [प्रश० भा० पृ० ४६] [5]इति ; तदपि न परीक्षाक्षमम् ; अवयवेभ्यो भिन्नानां कर्मणामुत्पत्तावपि तैस्वरूपचलनाऽभावाद् [6]अतिप्रसङ्गात् । न तेषां[7] ततोऽपि[8] विभागभावः, भावेऽपि [9]तत एव न ततः तत्संयोगविनाशः । यद्यप्ययं[10] भवेत् तथापि संयोगाद् [४५ख] भिन्न इति संयोगस्य तदवस्थस्य अवस्थानानु (नान्न) कार्यस्य नासौ (नाशो) नाम ।

एतेन संयोगविरोधित्वं कर्मणः प्रत्याख्यातम् । यद् येन नाश्यते तत् तस्य विरोधि, न च संयोगेन नाश्यते कर्म । [12]ततो नाशभावेऽपि कर्मणो न किञ्चित् जायते । नचेयं प्रणालिका [13]परस्य प्रतीतिगोचरचारिणी–पूर्वम् एषु (पूर्वमवयवेषु) कर्म, ततो विभागः, तस्मात् संयोगविनाशः, ततोऽपि द्रव्यविनाशः, एतस्माच्च तदाश्रितरूपादिनाशः ; किन्तु दण्डादिपातानन्तरं घटादिनाश एव [14]तद्गोचरचारी । ततः स्थितम्–'नष्टावयवैर्नष्टः अन्यैः अनष्टोऽवयवी' इत्यस्य ज्ञापनार्थं 'नानावयवात्मनः' इति वचनम् ।

एतेनेदमपि प्रत्युक्तम् यदुक्तं–*"द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते" [वैशे०सू० १।१।१०] इति ; *"द्रव्यं च तदन्तरं च कारणद्रव्येभ्योऽन्यत् कार्यद्रव्यम्" इति ; कथम् ? एकान्तेन तेभ्यः[15] तदन्यत्वनिषेधात्। कथञ्चित् पक्षे समवायवैयर्थ्यात् ।

यत् पुनरेतत्–*"द्रव्ये च द्रव्याणि च तदन्तरमारभन्ते" ते; नवैकस्य ततोः (ततः) संयोगः, अनेकवृत्तित्वाद् अस्य[16] । तदवयवानां संयोग इति चेत् ; न तेन तन्तुद्रव्यमुत्पादितम् ।

---

(१) "यथा अङ्गुल्याकाशादिविभागात् हस्ताकाशविभागः···"–प्रश० व्यो० पृ० ५०९ । (२) अङ्गुलिहस्तयोः । (३) विभागानन्तरमेव । (४) पूर्वदृष्टशरीरविनाशः । (५) "कर्माण्युत्पद्यन्ते, तेभ्यो विभागाः, विभागेभ्यः संयोगविनाशाः, संयोगविनाशेभ्यश्च कार्यद्रव्यं विनश्यति ।"–प्रश० भा० ४६ । (६) अवयवस्वरूप । (७) भिन्नद्रव्यक्रियातः अन्यत्र चलनस्वीकारे । (८) अवयवानाम् । (९) कर्मणोऽपि । (१०) भिन्नत्वादेव । (११) विनाशः । (१२) संयोगात् । (१३) वैशेषिकस्य । (१४) प्रतीतिगोचरचारी । (१५) कारणद्रव्येभ्यः कार्यद्रव्यस्य भिन्नत्वनिषेधात् । (१६) संयोगस्य ।

न च येष्वेकं द्रव्यं यदैव अवयवेषु समवेतं तदैव तेषु अपरं समवैति इति चेत् ; न ; स्कन्धादपि स्कन्धोत्पत्तेः अप्रतिषेधात्, मृत्पिण्डादेः शिवकाद्युत्पत्तिदर्शनात्। नहि शिवकाद्युत्पत्तेः पूर्वं तदारम्भकाः क्रियासंयोगभाजो भागाः प्रतीताः।

स्यादेतत्–'शिवकादयः [४६क] संयुक्तावयवारब्धाः कार्यद्रव्यत्वात् पटादिवत्' इति; तन्न ; [1]एकत्र तथाभावदर्शनात् सर्वत्र तद्भावकल्पने '[लोह] लेख्यं वज्रं पार्थिवत्वात् काष्ठवत्' [2]इत्याद्यपि स्यात्। प्रत्यक्षबाधनान्नेति चेत् ; किं पुनः शिवकादीनाम् आरम्भका अवयवाः ततः प्राक् प्रत्यक्षतः सिद्धा येन तद्बाधनं न भवेत्। किंच, तन्तवः कथं पटस्य जनकाः ? तद्भावे भावाद् अभावेऽभावादिति चेत् ; अत एव मृत्पिण्डोऽपि शिवकादिकारणमस्तु। ननु मृत्पिण्डविनाशे शिवकभावः, अन्यथा [3]तत्कालेऽपि [4]तद्दर्शनं भवेत् पटकाले तन्तुदर्शनवदिति चेत् ; न ; मृत्पिण्डस्य शिवकार(काकारपरि)णामात्। न च तन्तवोऽपि [5]प्राक्तनस्वभावपरिकरिततनवः पटे दृश्यन्ते तदापि अपरापरपटोत्पत्तिप्रसङ्गात्। तदुक्तं न्या य वि नि श्च ये–

*"कारणस्याऽक्षये तेषां कार्यस्योपरमः कथम् ?" [न्यायवि० १।१०३] इति।

[6]नानुपरतः, पटेन प्रतिबद्धास्तन्तवः पटान्तरं नारभन्ते। तदुक्तं परेण–*"तन्तवः पटमारभ्य पटेन प्रतिबन्धात् पटान्तरं नारभन्ते" इति ; तत्रेदं चिन्त्यते ; पटेन कारणस्य स्वरूपापहारः, शक्त्यपहारः, व्यापारापहारः, कार्यद्रव्योत्पत्तिनिषेधो वा तैंदन्तरजनने प्रतिबन्धः स्यात् ? तत्र नाद्यः पक्षः ; [7]कार्यकालेऽपि [8]कारणसत्त्वोपगमात्। नापि द्वितीयः; नित्यस्य [9]तदयोगात्। तदुक्तं कैश्चित्–

*"तस्य शक्तिरशक्तिर्वा या स्वभावेन संस्थिता।
नित्यत्वादचिकित्स्यस्य कस्तां क्षपयितुं क्षमः ॥" [प्र० वा० २।२२] इति।

[10]अत एव तृतीयोऽपि न युक्तः; शक्तैकस्वभावस्य [४६ख] सतः अवश्यं कार्यजन्मनि व्यापारात्। चतुर्थः पुनः अत्यन्तमसंभवी; [11]प्रति शक्तेन कारणेन क्रियमाणायाः कार्योत्पत्तेर्निषेधाऽयोगात्। ततः पटकालेऽपि समवायि-असमवायि-निमित्तानां तन्तु-संयोगेश्वरादीनां सद्भावात् पटान्तरोत्पत्तिः स्यात्। अन्यथेदमयुक्तम्–*"निवृत्ते तत्पटे अवस्थितसंयोगात् पटान्तरमारभन्ते।" इति। न च अकिञ्चित्करस्य[12] म (सत्ताऽ) पेक्षणीयेति।

एतेनेदमपि निरस्तं यदुक्तं परेण–*"तथा पटोऽपि रूपादीनारभ्य रूपादिवत्त्वाद् रूपान्तरं नारभते। एवं कर्म(न) कर्मकारणं मुसलादिप्रतिबन्धात् [14]तदन्तरं नारभते" इत्यादि। कथम् ? सति समर्थे कारणे केनचित् प्रतिबन्धाऽयोगात्। तस्पक्ष (ततस्त्यक्त) पूर्वस्वभावाः तन्तवः पटे अभ्युपगन्तव्या इति परिणामसिद्धिः। तथा च एकमपि द्रव्यं [15]तदन्तरारम्भकमिति

(१) पटादौ। (२) "क्वचिन्न नियमो दृष्ट्या पार्थिवाल्लोहलेख्यवत् ॥ –बहुषु पार्थिवेषु काष्ठपाषाणादिषु लोहलेख्यत्वदर्शनेऽपि पार्थिव एव वज्रे अलोहलेख्यत्वदर्शनेऽपि पार्थिव एव···"–प्र० वा० मनो० ४।२४०। (३) शिवककालेऽपि। (४) मृत्पिण्डदर्शनम्। (५) पूर्वपर्यायविशिष्टाः। (६) किन्तु उपरक्त एव। (७) पटान्तरजनने। (८)पटकालेऽपि। (९) तन्तुसरक्तस्वीकारात्। (१०) शक्त्यपहाराभावात् अन्यथा अनित्यत्वापत्तिः। (११) नित्यत्वादेव। (१२) 'प्रति' इति निरर्थकं भाति। (१३) संयोगस्य। (१४) कर्मान्तरम्। (१५) द्रव्यान्तरारम्भकम्।

सिद्धम् । 'द्रव्याणि द्रव्यान्तराणि आरभन्ते' इत्येवं वक्तव्यम् , तेन ['द्रव्यान्तरं] द्रव्यान्तरे द्रव्यान्तराणि यथासंभवं द्रव्याणि आरभन्ते' इति लभ्यते । यथैव हि अनेकं द्रव्यम् एकं द्रव्यमारभमाणं दृश्यते तथा एकमपि द्रव्यम् एकं द्रव्यं[1]म् द्वे बहूनि द्रव्याणि आरभमाणमुपलभ्यते, यथैको घटो द्वे बहूनि वा कपालद्रव्याणि । ननु तेषां विभाग एव केवलं जायते न तानि, पूर्वमेव तद्भावात् । एवं घटोऽपि मृत्पिण्डावस्थायां कल्प्यताम् । [2]उपम्ला(मा)र्थक्रिया-[४७क]व्यपदेशादिविरहः अन्यत्रापि । ततः साधूक्तम्–**'नानावयवात्मनो घटादेः बहिः संप्रतीतेः'** इति, तथा **'नानारूपादिस्वभावस्य'** ।

अथ रूपादेः तंतो भेदात् कथं तदात्मन इति युक्तमिति ? तन्न; प्रतीतिविरोधात् । अपि च गुणगुणिनोर्भेदैकान्ते नियमेन घटादेर्देशान्तरप्राप्तौ रूपादेः तत्प्राप्तिर्न स्यात् । न चात्र विभागजो विभागः संयोगजो वा संयोगः; *"द्रव्याश्रयी अगुणवान् गुणः" [वैशे० सू० १।१।१६] इति [11]वचनात् । कृतोत्तरश्चायं पक्षः[12] । न च रूपादेः स्वयं देशान्तरप्राप्तिनिमित्ता क्रिया समस्ति; द्रव्यत्वप्राप्तेः,*"क्रियावद् गुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्" [वैशे०सू० १।१।१५] इति वचनात् । ततो घटादेः रूपाद्यात्मकत्वमभ्युपगन्तव्यम् । [13]एवमिति चेत्; तर्हि रूपाद्यात्मनामेव कारणद्रव्यान्तरारम्भो न रूपादिनिरपेक्षणाम्, नापि रूपादिरहितः[14] तदारम्भः । [15]ततो य एव द्रव्याणां द्रव्यान्तरारम्भः स एव गुणानां गुणान्तरारम्भः इति न युक्तमेतत्[16]–*"गुणाश्च गुणान्तरम्" [वैशे० सू० १।१।१०] इति ।

यत्पुनरेतदुक्तं परेण–*"घटरूपाद्युत्पत्तौ घटः समवायिकारणं कपालगता रूपादयोऽसमवायिकारणम् ।" इति; तदप्येतेन निरस्तम्; नहि रूपाद्युत्पत्तेः पूर्वं घटो रूपादिरहितः कुतश्चिन् मानात् प्रसिद्धो यः समवायिकारणं स्यात् ,तदभावात् कपालरूपादेः असमवायिकारणत्वञ्चानुपपन्नम् । ततः स्थितमेतत्–**'नानारूपाद्यात्मनः'** इति ।

पुनरपि कथंभूतस्य ? [४७ख] **परिणामिनः** नवपुराणादिविवर्ताः परिणामाः तद्वत इति । चिन्तयिष्यते चैतत् । ननु नानावयवव्यतिरेकेण नापरः तदात्मा घटादिः संप्रतीयते, नापि रूपादिव्यतिरेकेण; तद्ग्रहणोपायाऽभावात् । तथाहि–चक्षुषा रूपं श्रोत्रेण शब्दः घ्राणेन गन्धः रसनेन रसः स्पर्शनेन स्पर्शः संप्रतीयते तथाप्रतीतेः, न च अपरं [17]गुणिरूपं [18]तत्र प्रतिभासनमवधार्यते, न चेन्द्रियान्तरं तद्ग्राहकमस्ति; तत् कस्य[19] एवं 'तदात्मनो घटादेः संप्रतीतेः' इत्युच्यतामिति चेत् ? अत्राह–**'अन्तः चित्रैकाकारस्य वा (स्येव)'** इत्यादि । **चित्तस्य** ज्ञानस्य **एकस्य**[अ]-

---

(१) कर्तृ । परापेक्षयदेमुक्तम् । (२) कपालानाम् । (३) कपालानि । (४) मृत्पिण्डावस्थायाम् घटस्य उपमा–उपमानम्, अर्थक्रिया–जलाहरणादि, व्यपदेशः घट इति संज्ञा, आदि पदेनलक्षणगुणादयो न दृश्यन्ते अतः तत्काले घटसत्त्वं नास्ति । (५) घटावस्थायां कपालस्वीकारेऽपि अर्थक्रियाव्यापदेशादयो न सन्तीति भावः । (६) घटादेः । (७) रूपाद्यात्मनः । (८) देशान्तरप्राप्तिः । (९) रूपादौ । (१०) सम्भवति । (११) "द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्"–वैशे० सू० । (१२) गुणगुणिनोर्भेदैकान्तलक्षणः । (१३) घटरूपाद्योः परस्परं तादात्म्यं । (१४) घटाद्यारम्भः । (१५) पृथगारम्भाभावात् । (१६) "द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम्"–वैशे० सू० । (१७) गुणिस्वरूपम् । (१८) प्रत्यक्षे । (१९) कमाश्रित्य ।

साधारणस्य नीलाद्याकारस्य । अत एव आह–चित्रस्य शबलस्य संशयादिज्ञानस्य अर्थाऽनर्थविषयतया शबलस्य, इव शब्दो यथार्थः–यथा चित्तस्य ईदृशस्य अन्तः, तथा उक्तप्रकारस्य घटादेः संप्रतीतेः इति । अन्ये 'चित्रस्यैव' इति पठन्ति, तेषां कारिकोपात्तोऽयमर्थो भवति न वेति चिन्त्यमेतत् । अस्माकं तु एव (इव) शब्दपठनान्न दोषः । *"प्रतिभासैक(क्य) नियम" [सिद्धिवि० १।१०] इत्यादिना समर्थयिष्यमाणो दृष्टान्तोऽत्र स्तवितो (सूचितः) *"न सूचितस्य पात्रस्य प्रवेशो निर्गमो (निर्गमो) वा" इति न्यायात् । नन्वस्ति तादृशस्य बहिरन्तर्वा प्रतिभासः, स तु भ्रान्तः । तदुक्तं प्र ज्ञा क रे ण–*"मायामरीचिप्रभृतिप्रतिभासवदसत्त्वेऽप्यदोषः ।" [प्र० वार्तिकाल० ३।२११] इति चेत्; अत्राह–नचेत्यादि । न च नैव तस्माद् उक्तादर्थात् यः विपरीतार्थः तस्य प्रकाशकं किञ्चित् प्रत्यक्षमनुमानं वा ज्ञानमस्ति यस्माज्ज्ञानात् प्रकृतमर्थतत्त्वं भ्रान्तं स्यात् । प्रतिभासमानविपरीतार्थज्ञानेन हि बाधितं 'भ्रान्तम्' इति व्यवह्रियते यथा एकचन्द्रज्ञानेन चन्द्रद्वयमिति मन्यते । ननु यत एव तद्विपरीतार्थप्रकाशकं न किञ्चित् ज्ञानमस्ति अत एव प्रकृतमर्थतत्त्वं न भ्रान्तम्' इत्यपरैः, तेन एवंवदता विभ्रमेतरविवेक एव निरस्तः स्यात् न क्रमाऽक्रमाऽनेकान्तः । तथा च क्षणभङ्गादिसाधने प्रत्यक्षमनवसरम् । तदभ्युपगमे प्रकृतमर्थतत्त्वं भ्रान्तमभ्युपगन्तव्यम्, तच्च तद्विपरीतार्थप्रकाशके ज्ञाने सति, इति कथं न बाधकभावः ? न च तदस्ति । कथमिति चेत् ? अत्राह–नहि इत्यादि । हिः यस्मात् तदेकान्ते स चासौ एकान्तश्च तदेकान्तः तस्मिन् निरंशक्षणिकपरमाणुलक्षणस्वलक्षणैकान्ते स्वसदसत्समये स्व आत्मीयः स्वस्य वा सौगतस्य सत्समयः परमार्थसमयः असत्समयोऽपरमार्थसमयः व्यवहारसमय इति यावत् । तदुक्तम्–

*"द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना ।
लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः ॥" [माध्यमिक० का० २४।८] इति ।

तत्र अस्य सौगतकल्पितज्ञानाद्वये वस्तुनः क्रिया [४८ख] अनुभवः तस्याः संभवो न इति । तथाहि–तस्य सत्समयो यथा पूर्वोत्तरक्षणाभ्यां मध्यक्षणस्य विवेकैकान्तः, तथा मध्यक्षणेऽपि स्तम्भादिसर्वभागानाम् अन्योऽन्यतं इति [10]परमार्थसञ्चयमात्रं तत्त्वमिति; तत्र एकपरमाणुपर्यवसितं दर्शनं न परमाण्वन्तराणि ईक्षितुं क्षमते; एकस्य अनेकार्थविषयत्वाऽयोगात्, मध्यक्षणदर्शनस्य पूर्वापरक्षणविषयत्वायोगवत् समदोषत्वात् । तथा च परलोकप्रख्याति (परलोकं प्रत्याख्याति[11]) । एकपरमाणुपर्यवसितं च दर्शनं पुरुषाद्वैतमाकर्षतीति निरूपयिष्यते । तत्र स्वसत्समये अर्थक्रियासंभवः । नाप्यसत्समये; तत्र दृश्यप्राप्ययोरेकत्वे [12]प्रत्यक्षप्रामाण्योपगमात् । भवतु तद-

(१) 'यथा' इत्यस्मिन् अर्थे प्रयुक्तः । (२) व्याख्याकाराः । (३) घटादेः । (४) क्षणक्षयादिलक्षणम् । (५) बौद्धः । (६) इदं भ्रान्तम् इदमभ्रान्तमिति विवेको भेदः । (७) क्षणभङ्गादिसाधने प्रत्यक्षस्यानुपयोगस्वीकारे । (८) भ्रान्तत्वञ्च । (९) विवेकैकान्तः भेद इति यावत् । (१०) परमार्थानाम् स्वलक्षणपरमाणूनां सञ्चयमात्रमेव तत्त्वम् । (११) परलोको हि इहजन्मान्यचित्तस्य परजन्मान्यचित्तेन सदृश्यप्रतिपत्तिगम्यः । सैव च न संभवति इति तत्प्रख्याख्यानमेव जातमिति भावः । (१२) 'प्रत्यक्षविषयभूतो ह्यर्थः प्रत्यक्षमुत्पाद्य क्षणिकत्वात् विनश्यति । अतः यत् दृश्यं भवति प्रत्यक्षस्य न तत् प्राप्यते इति अन्यद् दृष्टं प्राप्तव्यान्यदिति किसंबन्धि प्रत्यक्षं स्यात्' इत्याशङ्क्याह समाहितम्–यत् दृश्य-प्राप्यक्षणयोः एकत्वमा-

संभव इति चेत्; अत्राह—**तथा सति** इत्यादि । **तथा** तेन स्वसदृसत्समये इत्यनेन प्रकारेण **तदेकान्ते अर्थक्रियासुसंभवे** (यावा असंभवे) **सति कथं नैव अक्षणिकत्वे** वस्तुनः कालत्रयानुयायित्वे **क्रमयौगपद्याभ्यां** क्रमेण यौगपद्येन वा **अर्थस्य** क्षणिकत्वलक्षणस्य **क्रिया** अनुभवः **तस्याः विरोधात्** । तथाहि—एकदा उपलब्धस्य पुनः पुनः उपलम्भे क्रमेणार्थक्रिया । न च पूर्वोपलम्भेन पुनः पुनः तस्यैव उपलम्भ इति प्रतीयते, तत्काले उत्तरदर्शनानां तद्दृश्यस्य च अभावेन दर्शनाभावात् । नापि 'उत्तरदर्शनेसावेन (र्शनेन) पूर्वोपलब्धं प्रतीयते' इति प्रतीयते; तत्कालेऽपि पूर्वदर्शनदृश्यरूप[४९क] योरभावात् । न तत्समुदायेन; क्रमभाविनोः[3] तदसंभवात् । उभयकालवर्ति तज्ज्ञानमेकं न युक्तम्; उक्तदोषात् । पूर्वेण उत्तरेण वा दर्शनेन परस्य पूर्वस्य वा ग्रहणे सर्वग्रहणमविशेषादिति, तस्याः विरोधः । तथा साक्षादशेषपूर्वापरस्वभावानुभवो यौगपद्येन अर्थक्रिया । तत्र चानाद्यनन्तस्वभावस्य एकक्षणे प्रतिभासनात्[4] तदेव क्षणिकत्वमिति तस्या विरोधः [त] स्मात् **सतोऽनुभूयमानस्य साकल्येन क्षणभङ्गसिद्धिः** । कुत एतत् ? इत्यत्राह—**तत्रैव** इत्यादि । **तत्रैव** तस्मिन्नेव तदेकान्ते न अक्षणिकत्वे इति एवकारार्थः, तत्र [9]तदविरोधस्य तृतीयपरिच्छेदे प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् । **ताभ्यां क्रमयौगपद्याभ्यां तद्विरोधात्** अर्थक्रियाविरोधात् । तथाहि—न तावत् निरंशक्षणिकपरमाणुलक्षणस्वलक्षणार्थस्य क्रमेण क्रिया अनुभवः; अक्षणिकत्वप्रसङ्गात्, [10]तस्य [12]तल्लक्षणत्वात् । नापि यौगपद्येन; [13]योगिदर्शनप्रभृतितदनुभवकार्याणाम् एकपरमाण्वाकारदर्शनदेशकालस्वभावसाङ्कर्येण तद्वदसिद्धेः, [14]अन्यथा युगपदशेषदेशानां दर्शनेऽपि न कालसाङ्कर्यं भवेत् । [15]ननु न यथोक्तपरमाणुलक्षणं स्वलक्षणमिष्यते, नापि युगपदनेकानुभवकारि येनायं दोषः स्यात्, अपि तु यथा[व]भासम्, *"यद् यथावभासते तत् तथैव परमार्थसत्" इत्यादि वचनादिति चेत्; अत्राह—**ततो यत्सत्** इत्यादि । न [४९ख] यथोक्तपरमाणुरूपं तत्त्वम्, अपि तु 'यथाप्रतिभासम्' इति योऽयं परस्य अभ्युपगमः **तस्मात् यत् सत्** उपलम्भगोचरचारि *"उपलम्भः सत्ता" [प्र०वार्तिकाल० ३।५४] इति वचनात्, **तत् सर्वम् अनेकान्तात्मकं** गत्यन्तराभावात् तस्य ।

अथवा, यदुक्तम्—'न च तद्विपरीतार्थप्रकाशकम्' इत्यादि; तत्र उक्तनीत्या प्रत्यक्षं यद्यपि नास्ति तथापि 'यत् सत् तत्सर्वं क्षणिकं यथा घटः तथा च विवादाधिकरणम्' इत्यनुमानं स्यादिति चेत्; अत्राह—**नहि** इत्यादि । **नहि तदेकान्ते** क्षणिकैकान्ते **स्वसदृसत्समये** 'सदसद्' इति

रोप्य यद् दृष्टं तदेव प्राप्तमिति एकत्राध्यवसायकृतस्तत्र अविसंवादः । अतः प्रत्यक्षप्रामाण्यसमर्थनाय स्वात्मकालीनार्थक्रिया कथञ्चिदभ्युपगतैव सौगतेन इति भावः ।

(१) पूर्वोपलम्भकाले । (२) उत्तरदर्शनकालेऽपि । (३) पूर्वोत्तरयोः । (४) अर्थक्रियायाः । (५) यौगपद्यपक्षे । (६) उत्तरक्षणे च कर्तुं योग्यस्याभावात् अर्थक्रियाया अभाव एव । (७) अर्थक्रियायाः । (८) क्षणिकैकान्ते । (९) नित्यपक्षे । (१०) अर्थक्रियाविरोधाभावस्य । (११) अक्षणिकत्वस्य । (१२) एकस्यानेकक्षणव्यापित्वरूपक्रमेण अर्थक्रियाकारित्वादिति भावः । (१३) योगिदर्शने ते सर्वे पूर्वोत्तरकालवर्त्तिनः परमाणवः प्रतिभान्ति अतः विषयकारणतादिना सर्वेषां तदनुभवरूपकार्याणाम् वर्तमानपरमाणुकार्यभूतानुभवेन सह एकदेशता एककालता च स्यात्, एतच्च साङ्कर्यमसिद्धम् । (१४) एवं न स्यात्तदा नित्यपक्षेऽपि यौगपद्येन अर्थक्रियाप्रसाधने कालसाङ्कर्यापत्तिः कथं दीयते ? (१५) प्रतिभासाद्वैतवादी प्राह ।

भावप्रधानो निर्देशः । ततोऽयमर्थः—स्वसत्त्वसमये स्वाऽसत्त्वसमये च अर्थस्य कार्यस्य क्रिया करणं तस्याः संभवः ऐकत्र अनाद्यनन्तसन्तानस्य ऐकक्षणपर्यवसानम्, अन्यत्र कारणाभावेन कार्यानुदय इति मन्यते ।

ननु च जाग्रद्विज्ञानादिकं स्वसत्त्वशून्येऽपि समये प्रबोधादिकार्यं जनयति तत्कथमुच्यते स्वाऽसत्समये अर्थक्रियाऽसंभव इति चेत् ; न; पूर्वं तस्मिन्[6] समर्थे अजातं पुनस्तदभावे[7] जायमानं स्वयमेव कथं तत्कार्यम् ? तेन जन्यमानत्वादिति चेत् ; कथमसत् तत् तस्य जनकं खरविषाणवत् ? स्वोत्पत्तिकाले सदिति चेत् ; तदैवं तत्कार्यमस्तु तज्जननशक्तेः तदैव भावात् । अथ ईदृशी तच्छक्तिः यतः कालान्तरे कार्यं तथैव दर्शनात्, यथा दृश्यते तथैव [10]तदिति चेत् ; न; नित्यादपि पूर्वं समर्थात् [11]पुनः कार्यं न विरुध्येत[12] । अथ नित्यात् तथा कार्यं [५०क] जायमानं न दृश्यते; नित्यादर्शनात् । क्षणिकादर्शनात् ततोऽपि न दृश्यते । नहि जाग्रद्विज्ञानस्य अन्यस्य वा क्षणिकत्वं प्रमाणनिश्चितम् । ततः सूक्तम्—नहीत्यादि । भवत्वेवं को दोष इति चेत ? अत्राह—**तथा सति** इत्यादि । **तथा सति** तत्र अर्थक्रियाऽसम्भवे सति **कथम्** *"[13]**अक्षणिकत्वे क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्** [14]**तीरादर्शिशकुनिन्यायेन** [15]**ततः सत्त्वं निवर्तमानं क्षणिकत्वे अवतिष्ठते ।**" इति न्यायात् **सतोऽर्थक्रियाकारिणः साकल्येन क्षणभङ्गसिद्धिः** ? **नैव** । कुत एतत् ? इति चेत् ? अत्राह—**तत्रैव** इत्यादि । **तत्रैव** तदेकान्त एव **ताभ्यां** क्रमयौगपद्याभ्यां **तद्विरोधात्** अर्थक्रियाविरोधात् । ननु च जाग्रद्विज्ञानं क्षणिकमपि [16]सहोच्छ्वासादि—शरीराकारादिविशेषकार्यमुपजनयति, क्रमेण च उच्छ्वासप्रबोधादि, तत्कथमुच्यते **'तत्रैव'** इत्यादि इति चेत् ; न; उक्तमत्र तत्क्षणिकत्वाऽनिश्चयात् । अपि च, क्षणिकादक्रमेण[17] कार्यसंभवे *"**नाक्रमात् क्रमिणो भावाः**"

(१) तुलना—"सत्येव कारणे यदि कार्यम् ; त्रैलोक्यमेकक्षणवर्ति स्यात्, कारणक्षणकाल एव सर्वस्य उत्तरोत्तरक्षणसन्तानस्य भावात्, ततः सन्तानाभावात् पक्षान्तरासंभवाच्च ।···यदि पुनरसत्येव कारणे कार्यम् ; तदा कारणक्षणात् पूर्वं पश्चाच्च अनादिरनन्तश्च कालः कार्यसहितः स्यात् कारणाभावाविशेषात् ।" —अष्टश०, अष्टस० पृ० १८७ । (२) सत्समयपक्षे । (३) द्वितीयः क्षणः स्वसत्समये अर्थात् द्वितीयक्षणे एव तृतीयमुत्पादयति अतः तृतीयस्य द्वितीयक्षणे स्थितिः । एवं द्वितीयस्य स्वकारण-प्रथमक्षणकाले इति उत्तरोत्तरकार्याणां प्रथमक्षणे एव स्थित्यापत्तिः । (४) 'असत्समये' इति पक्षे । (५) व्यवहितकारणवादी प्रज्ञाकरः प्राह । "अविद्यमानस्य करणमिति कोऽर्थः ? तदनन्तरभाविनी तस्य सत्ता । तदेतदानन्तर्यमुभयापेक्षयापि समानम् । न चानन्तर्यमेव तत्त्वे निबन्धनं व्यवहितस्यापि कारणत्वात् । तथाहि—गावयुसस्य विज्ञानं प्रबोधे पूर्ववेदनात् । जायते व्यवधानेन कालेनेति विनिश्चितम् ॥ ···तस्मादन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं निबन्धनम् । कार्यकारणभावस्य तन्नाविन्यपि विद्यते ॥"—प्र० वार्तिकाल० पृ० ६८ । (६) जाग्रद्विज्ञाने । (७) जाग्रद्विज्ञानाभावे । (८) जाग्रद्विज्ञानम् । (९) जाग्रद्विज्ञानकाल एव । (१०) अभ्युपगन्तव्यमिति । (११) पश्चात् यथाकालम् । (१२) तथैव तच्छक्तिसंभवात् । (१३) "यत् सत् तत् क्षणिकमेव अक्षणिकत्वे अर्थक्रियाविरोधात् तल्लक्षणवस्तुत्वं हीयते ।"—हेतुबि० पृ० ५४ । "यदि न सर्वं सत् कृतकं वा प्रतिक्षणविनाशि स्यात्, अक्षणिकस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाऽयोगात् अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणमतो निवृत्तमित्यसदेव स्यात् ।"—वादन्या० पृ० ६–८ । (१४) "यथा किल वहनारूढैः वाणिग्भिः शकुनिर्मुच्यते अपि नाम तीरं द्रक्ष्यतीति । स यदा सर्वतः पर्यटंस्तीरं नासादयति तदा वहनमेवागच्छतीति तद्वदेतदपि द्रष्टव्यम्"—हेतुबि० टी० पृ० १९३ । (१५) नित्यात् । (१६) सह युगपत् । (१७) युगपत् ।

[प्र० वा० १।४५] इत्यादि विरुध्येत ततो यत्किञ्चिदेतत् ।

उपसंहारमाह–तत इत्यादि । यत एवं स्वलक्षणानि स्वयमभिमतक्षणक्षयपरमाणुलक्षणानि पश्यतोऽपि एको हि ज्ञानसन्निवेशी स्थवीयान् आकारः परिस्फुटमवभासते तदेकान्ते स्वसदृसत्समये अर्थक्रियाऽसंभवश्च ततः तस्मात् 'यत् सत् तत् सर्वम् अनेकान्तात्मकम्' इति । साध्यान्तरमाह– तदेकान्तस्य [५०ख] इत्यादिना । 'ततः' इत्यनुवर्तते तत उक्तान्न्यायात् तदेकान्तस्य क्षणिकैकान्तस्य असत्त्वम् अविद्यमानत्वम् । कदा ? इत्यत्राह–उपलब्धिलक्षणप्राप्तौ प्रत्ययान्तरसाकल्यं स्वभावविशेषश्च उपलब्धेः लक्षणं तत्प्राप्तौ । एवं मन्यते–तदेकान्तोऽसन् उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वे सति अनुपलभ्यमानत्वात् । ननु यदि तदेकान्तः कचित् कदाचित् उपलम्भगोचरः कथमेकान्तेन तदभावः अतिप्रसङ्गात् ? एकान्तेन च तदभाव इति इष्यते । अथ कचित् कदाचित् स तथा नेष्यते; तर्हि असिद्धो हेतुः, विशेषेणाऽसिद्धेरिति चेत्; न; अन्यथा अभिप्रायात् । नेदं साधनं स्वतन्त्रसाधनाभिप्रायेण प्रयुक्तम्; अपि तु प्रसङ्गसाधनाभिप्रायेण । तथा हि–तदेकान्तो दृश्यश्चेदिष्यते, तर्हि दृश्यस्य सतोऽनुपलम्भात् असत्त्वम् । अदृश्यश्चेत्; अप्रमेयत्वं प्रमाणाऽविषयत्वेन व्यवहारानुपयोगित्वात् । एतेन 'आश्रयासिद्धिचोदनमप्ययुक्तम्' इत्युक्तम् । एतदेव दर्शयन्नाह–अन्यथा अप्रमेयत्वम् इति । प्रसङ्गसाधने हि पँक्षद्वयोत्थापनं नान्यत्र युक्तम् 'उपलब्धिलक्षणप्राप्तौ' इति वचनाच्च प्रसङ्गसाधनम्, अदृश्यादर्शनस्यापि स्वयं गमकत्वोपगमात् ।

ननु यदुक्तम्–'अन्तः चित्रकारस्येव एकस्य चित्तस्य' इति; तदयुक्तम्; तस्यापि तथाऽनभ्युपगमात् । तदुक्तम्–

*"किं स्यात् सा चित्रतैकस्यां न स्यात्तस्यां मतावपि ।
यदीदं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम् ॥" [प्र० वा० २।२१०]

[५१क] इति चेत्; तत्रेदं चिन्त्यते–सौत्रान्तिकस्य योगाचारस्य माध्यमिकस्य वा मतमपेक्ष्य इदमुच्येत ? प्रथमपक्षे दूषणमाह–प्रतिभासैक्यनियम इत्यादि ।

---

(१) यथैव अक्रम-नित्यकारणात् क्रमेण कार्योत्पत्तिर्विरुद्धा तथैव–क्रमिकारणात् अक्रमेण कार्योत्पत्तिरपि विरुद्धैवेति भावः । (२) "उपलब्धिलक्षणप्राप्तिः उपलम्भप्रत्ययान्तरसाकल्यं स्वभावविशेषश्च । उपलम्भप्रत्ययान्तरसाकल्यमिति ज्ञानस्य घटोऽपि जनकः अन्ये च चक्षुरादयः, घटाद् दृश्यादन्ये हेतवः प्रत्ययान्तराणि तेषां साकल्यं सन्निधिः ।···यः स्वभावः सत्सु अन्येषूपलम्भप्रत्ययेषु सन् प्रत्यक्ष एव भवति स स्वभावविशेषः ।" –न्यायवि० २।१४-१५ । (३) क्षणिकैकान्तः । (४) उपलम्भगोचरः । (५) 'उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वे सति' इत्यसिद्धेः । (६) क्षणिकैकान्तः । (७) 'सत्-असत्' इति । (८) चित्रज्ञानस्यापि । (९) एकं सत् अनेकाकाररूपतया । (१०)"ननु यदि सा चित्रता बुद्धावेकस्यां स्यात्, तया च चित्रमेकं द्रव्यं व्यवस्थाप्येत तदा किं दूषणं स्यात् ? आह–न स्यात्तस्यां मतावपि, न केवलं द्रव्ये तस्यां मतावपि एकस्यां न स्याच्चित्रता । कथम् ? अनेकपुरुषप्रतीतिवत् । कथं तर्हि प्रतीतिरित्याह–यदीदं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्–यदीदम् अताद्रूप्येऽपि तादूप्यप्रथनम् अर्थानां भासमानानां नीलादीनां स्वयम्–अपरप्रेरणया रोचते तत्र तथाप्रतिभासे के वयमसहमानाः अपि निषेद्धुम् । अवस्तु च प्रतिभासते चेति व्यक्तमाकूतम्'–प्र० वा० मनो० ।

[प्रतिभासैक्यनियमे धीर्नैकं स्यादेकाभिलापिनीम् ।
प्रतिभासप्रतीतिं [वा] दधत्येवान्यथात्मनः ॥ १० ॥

यद्ययमेकान्तः अन्तर्बहिर्वा विरुद्धधर्माध्यासे नैकत्वं स्यादिति कथं बहिरर्थविभ्रमचेतसां स्वसंवेदनम् ? कस्यचित् प्रमाणतदाभासस्वभावसाङ्कर्ये चित्तस्य कथं प्रतिभासभेदादिनैकत्वं निराक्रियेत ? सविकल्पकनिर्विकल्पयोः कथञ्चिदेकत्वे सुखदुःखवीरपि तथैव कथन्न भवेत् ? तदयमेकान्तमवलम्ब्य बहिरन्तर्मुखनिर्भासविभ्रमेतरविकल्पेतरचेतःस्वभावमनेकान्तनान्तरीयकं प्रतिपद्यमानः तद्द्वेषी तत्कारी चेति उपेक्षामर्हति ।]

अत्र द्वौ प्रतिभासशब्दौ तत्र आद्यः संवेदनवाची अन्यो विषयाकारवाची । ततोऽयमर्थः संपद्यते—**प्रतिभासस्य** संवेदनस्य **ऐक्यनियमे** निरंशत्वनियमे अङ्गीक्रियमाणे **धीः** बुद्धिः **एकैव न स्यात्** किन्तु अनेका स्यात् । किं कुर्वती ? **दधती** । किम् ? **प्रतिभासप्रतीतिं** विषयाकारग्रहीतिम् । कथंभूताम् ? **अभिलापिनीम्** अभिधानवतीम् । कथम् ? **अन्यथा** अन्येन प्रकारेण । कुतोऽन्यथा ? **आत्मनः** स्वरूपप्रतीतेः सकाशात् **अन्यथा** अभिलापिनीम् । एतदुक्तं भवति—आत्मनः प्रतीतिम्*"सर्वचित्तचैत्तानाम् आत्मसंवेदनं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम्" [न्यायवि० १।१०] इति अ[न]भिलापिनीं प्रतिभासप्रतीतिं [1]तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभाद्याहितविभ्रमाम् इत्यभिलापिनीं बिभ्राणा धीः एकैव न स्याद् अनेकैव स्यादिति । तथाहि—बहिरर्थविभ्रमचेतसाम् अन्यैव स्वसंवेदनात् [2] केशोण्डुकादिप्रतीतिः एकस्या भ्रान्तेतराकारद्वैयाऽयोगात्। न च सा ज्ञानरूपा (साऽज्ञातरूपा) अस्ति; अतिप्रसङ्गात् । तच्चेतःस्वसंवेदनेन तज्ज्ञाने नास्य विभ्रमः तदाकारानुकरणात् , नीलाकारानुकरणे नीलतावत्। तदाकारस्य ततो भेदे स एव दोषः अनवस्था च । अतदाकारानुकरणे न तेन तज्ज्ञानम् , इतरथा निराकारदर्शनम् [५१ख] । तस्याः स्वसंवेदनाभ्युपगमे एकस्य रूपद्वयभयात् स्वसंवेदनात् पुनरपि तत्प्रतीतिरन्याऽभ्युपगन्तव्या । 'न च साऽज्ञातरूपाऽस्ति' इति चोद्ये तस्मिन्नेव उत्तरे स एव दोषः अनवस्था च । तदेवं केशोण्डुकादिप्रतीतेः अनुपलम्भेन असत्त्वात् तन्निवृत्त्यर्थम् अभ्रान्तग्रहणं प्रत्यक्षलक्षणे कृतमनर्थकम् । व्यवहारेण तत्कारणाददोष इति चेत्; तर्हि तेनैव *"सर्वचित्त" [न्यायवि० १।१०] इत्याद्यभिधानाद् [4]एकस्य रूपद्वयप्राप्तिः । भवतु इति चेत्; तथा क्रमेणापि एकस्य सौ इति तेन क्षणभङ्गसाधनमनवसरम् । न चैतदिष्यते [5]परेण इति साधूक्तम्—**प्रतिभासैक्यनियम** इत्यादि । इदं च व्याख्यानं शास्त्रकारस्याप्यभिमतं न ममैव, वृत्तौ **'यद्ययमेकान्त'** इत्यादेर्वक्ष्यमाणत्वात् ।

(१) "तिमिरमक्षणोर्विप्लवः, इन्द्रियगतमिदं विभ्रमकारणम् । आशुभ्रमणम् अलातादेः । मन्दं हि भ्राम्यमाणे अलातादौ न चक्रभ्रान्तिरुत्पद्यते,तदर्थम् आशुग्रहणेन विशेष्यते भ्रमणम् । एतच्च विषयगतं विभ्रमकारणम् । नावा गमनं नौयानम् । गच्छन्त्यां नावि स्थितस्य गच्छद्वृक्षादिभ्रान्तिरुत्पद्यते इति यानग्रहणम् । एतच्च बाह्याश्रयस्थितं विभ्रमकारणम् । संक्षोभो वातपित्तश्लेष्मणाम् । वातादिषु हि क्षोभं गतेषु ज्वलितस्तम्भादिभ्रान्तिरुत्पद्यते । एतच्च अध्यात्मगतं विभ्रमकारणम् ।"—न्यायवि० टी० १।६ । (२) निराकारे नभसि केशाकारा उण्डुकाकारा च प्रतीतिः । (३) अर्थरूपे भ्रान्तं स्वरूपे च अभ्रान्तमिति द्वावाकारौ । (४) 'कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्' (न्यायवि० १।४) इत्यत्र । (५) केशोण्डुकादिज्ञानस्य । (६) रूपद्वयप्राप्तिः । (७) बौद्धेन । (८) टीकाकारस्य ।

इदमपरं व्याख्यानम्–**प्रतिभासैक्यनियमे** धीर्विकल्पिका[1] बुद्धिः, 'धीः' इति सामान्यवचनात् कथमियं लभ्यते इति चेत् ? अनन्तरवक्ष्यमाणगच्छाद् (माणस्याच्छब्दाद्) अन्यस्याः तदसंभवात् । सा **एकैव न स्यात्**, 'स्यात्' इत्यनेन वा अनागतेन सम्बन्धात् । किं कुर्वती ? **दधती** । किम् ? **प्रतिभासप्रतीतिं** विषयाकारसंविप्तिम् । कथम्भूताम् ? **अभिलापिनीम्** अभिलापसंसर्गयोग्याम् *"**अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना ।**" [न्यायवि० १।५] इति वचनात् । पुनरपि किं दधती ? **आत्मनः** । किंस्वरूपस्य ? **अन्यथा** अनभिलापिनीं प्रतीतिम् । तथा चोक्तम्–[५२क]

*"**अशक्यसमयो ह्यात्मा सुखादीनामनन्यभाक् ।**
तेन तेषां स्वसंविप्तिः नाभिलापानुषङ्गिनी(णी) ॥" [प्र०वा०२।२४९] इति[2] ।

एतदुक्तं भवति–यथा आवृतात् अनावृतं चलाद् अचलं रक्ताद् अरक्तं कृतकाद् अकृतकं रूपमेकान्तेन अन्यत्[3] तथा अनभिलापिन्याः स्वप्रतीतेः अभिलापिनी प्रतिभासप्रतीतिरपि अन्या इति । न च सा अनुपलब्धा अस्ति; अतिप्रसङ्गात् । स्वत एव तदुपलब्धौ तस्याः स्वसंवेदनमविकल्पकम्, अन्यथा प्रकृतमपि न भवेत् । एवं चेत् स एव दोषः– ततः सा भिन्ना इति । पुनरपि स्वत एव तदुपलब्धौ प्रकृतो दोषः । अनुपलब्धौ अनवस्था च । प्रकृतसंवेदनेन तदुपलब्धौ तस्य तदात्मकत्वे तस्य सविकल्पकत्वं तस्या वा निर्विकल्पकत्वम् । अतदात्मकत्वे तत उत्पन्नेन तदाकारानुकारिणा वा तेन तदुपलब्धौ तस्य सविकल्पकत्वम् । किंच, विकल्पस्य बुद्धिस्वसंवेदनात् तस्याः पूर्वत्वं पुनरपि तस्याः स्वसंवेदनोपगमे समानश्चर्चः, अनवस्था । तदनुपगमे वा अर्थाऽविशेषात् न सा बुद्धेः आकारः स्यात् । तदेवं प्रतीतेः अनुपलम्भेन असत्त्वात् न कल्पना नाम *"**अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा प्रतीतिः कल्पना**" [न्यायवि० १।५] इत्यस्य लक्षणस्याऽभावात्, इति तन्निवृत्त्यर्थं कल्पनापोढपदञ्च अनर्थकम् ।

एतेन *"**नहि इमाः कल्पना अप्रतिसंविदिता एव उदयन्ते व्ययन्ते च यतः सत्योऽपि अनुपलक्षिताः स्युः ।**" इति [५२ख]

*"**सर्वे भावाः स्वभावेन स्वस्वभावव्यवस्थितेः ।**
स्वभावपरभावाभ्यां यस्माद् व्यावृत्तिभागिनः ॥
ततो यतो यतोऽर्थानां व्यावृत्तिस्तन्निबन्धनाः ।
जातिभेदाः प्रकल्प्यन्ते तद्विशेषावगाहिनः ॥
ततो यो येन धर्मेण विशेषः संप्रतीयते ।
न स शक्यः ततोऽन्येन तेन भिन्ना व्यवस्थितिः ॥" [प्र०वा०३।३९-४१]

---

(१) विकल्पिका । (२) "…रागादीनामनन्यभाक् । तेषामतः स्वसंविप्तिर्नाभिलप्यानुषङ्गिणी ॥" –प्र० वा० ।"…नीलादीनामनन्यभाक् तेषामतश्च संविप्ति…"–तत्त्वसं० पृ० ३७८ । प्रकृतपाठः– विधिवि० टी० पृ० १९० । शा० भा० भामती २।२।२४ ।"…नामादीनामनन्यभाक् । तेषामतो न चाभ्यत्वं कथञ्चिदुपपद्यते ।"–सम्मति० टी० पृ० १८५ । "…तथा मतो न चाभ्यत्वं कथञ्चिदुपपद्यते ।"–तत्त्वसं० प० पृ० २९० । (३) भिन्नम् । (४) अभिलापिन्याः प्रतीतेः ।

इत्यादिकं च प्रकरणं निरस्तम् । कथम् ? कल्पनानामभावे तासामुदयव्ययौ लक्षणं 'व्यावृत्ति-निबन्धना जातिभेदाः प्रकल्प्यन्ते' इति च श्रद्धामात्रमतो (त्रतोऽ) पि दुर्लभमिति नानित्यत्व-सत्त्वयोः साध्यसाधनभावः, अभेदात् । संवृतेः अयं स्यादिति चेत् ; ननु संवृतिः[२] विकल्पबुद्धि-रेव 'सा च नास्ति, तत एव चायम्' अति (इति) विरुद्धमेतत् । स्वप्नवद् भ्रान्तेरिति चेत् ; न; तत्रापि यदीयं[५] निर्विकल्पिका; न ततो[६] युक्तः । अन्यथा अन्यदापि तत एवेति व्याह- ५
तमेतत्–*"सर्वं एवायम्" [आ० दिग्नागः] इत्यादि । विकल्पिका चेत् ; स एव दोषः–'सैव नास्ति तत एव चायम्' इति विरुद्धमेतत् । ततोऽस्य दोषस्य परिहारार्थं बहिरर्थेतरयोः चित्रेतरा-त्मकं सविकल्पेतरात्मकं वा एकं ज्ञानं सौत्रान्तिकेनापि अभ्युपगन्तव्यमिति कुतोऽस्य क्वचिन्निरं-शैकान्तसिद्धिः इत्यभिप्रायः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–यद्ययम् इत्यादि । यदि च अयम् अनन्तरमुच्यमानः एकान्तोऽ- १०
वश्यंभावः अन्तः चेतसि बहिर्घटादौ, वा इति समुच्चयो (ये), विरुद्धधर्माध्यासे [५३क] सति नैकत्वं स्याद् भवेत् । इति शब्दः पूर्वपक्षसमाप्तौ । अत्र दूषणमाह–कथम् इत्यादि । बहिरर्थे शुक्लशङ्खादौ विभ्रमः पीतादिप्रतीतिलक्षणः येषां चेतसां विज्ञानानां तानि तथोक्तानि तेषां कथं स्वसंवेदनं प्रत्यक्षम् ? नैव स्यादिति चिन्तितमेतत् । [१०]एतेन पर्वतादित्यादेः संलग्नतादौ विभ्रम-चेतसां कथं पर्वतादिग्रहणं प्रत्यक्षमिति द्रष्टव्यम् । 'कस्यचित्' इत्यादिना परमतमाशङ्कते–कस्य- १५
चित्–तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभाद्याहितविभ्रमस्य प्रमाणतदाभासस्वभावसाङ्कर्ये प्रमाणं यः स्वभावः स्वसंवेदनलक्षणः तदाभासो द्विचन्द्रादिग्रहणरूपो यः स्वभावः तयोः साङ्कर्ये कथञ्चित्तादा-त्म्ये चित्तस्य ज्ञानस्य अङ्गीक्रियमाणे दूषणमाह–कथम् इत्यादि । कथं न कथञ्चित् । केन ? इत्याह–प्रतिभासभेद आदिर्यस्य विरुद्धधर्माध्यासकारणदेशकालार्थक्रियादिभेदस्य स तथोक्तः तेन एकत्वं निराक्रियेत ? 'चित्तस्य' इत्येतदत्रापि योज्यं मध्ये करणात्, चित्तस्य आत्मन इत्यर्थः । २०

एतेन एतदपि निरस्तं यदुक्तं वैशेषिकादिना–*"अयम् इति ऊर्ध्वतासामान्यविशिष्टस्य धर्मिणोऽवधारणम् निर्णयः, स्थाणुर्वा पुरुषो वा इति विशेषानवधारणं संशयः[११] [न] एक-एव प्रत्ययः एकस्य अवधारणाऽनवधारणात्मकत्वानुपपत्तिः" इति चेत् ; दृष्टत्वादप्रतिषेधः ।

(१) साध्यसाधनभावः । (२) "प्रमाणमन्तरेण प्रतीत्यभिमानमात्रं संवृतिः । (पृ० १८१) संवृतिर्नाम विकल्पविज्ञानम् अधिमुक्तिमाह अनादिवासनातः (पृ० १८५) संवृत्यास्तीति भ्रान्तजनापेक्षया अस्तीति (पृ० ३७७)"–प्र० वार्तिकाल० । (३) संवृतिः । (४) साध्यसाधनभावः । (५) भ्रान्तिः । (६) भ्रान्तेः । (७) जाग्रद्दशायामपि । (८) भ्रान्तेरेव । (९) "तथा च अनुमानानुमेयव्यवहारोऽयं सर्वो हि बुद्धिपरिकल्पितः बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिभेदेनेत्युक्तम्–आचार्यदिग्नागेनाप्येतदुक्तमित्याह तथा चेत्यादि'–प्र०वा० स्व०, टी०पृ०२४ । (१०) 'पर्वतशिखरे आदित्यः समुदेति' इत्यादौ । (११) "तत्र संशयस्तावद्-स्तुस्वरूपानवधारणात्मकः प्रत्ययः । अनवधारणात्मकश्च प्रत्ययइत्येतिव्याहन्यते ; न व्याघातः स्वरूपाव-धारणात् । स्वरूपमस्य अवधार्यते अस्ति मे संशयज्ञानमिति वस्तुस्वरूपं तु तानेन परिच्छिद्यते ।"–न्यायवा० पृ० १२ । "अयं हि सामान्यविशिष्टधर्म्युपलम्भेन धर्मविशेषानुपलम्भविरुद्धोभयविशेषस्मरण-सहकारिण्य जन्यमान इति सामान्यविशिष्टं धर्मिणमवधारयन् स्थाणुर्वा पुरुषो वेति विशेषमनवधारयन् अनवधारणात्मकः प्रत्ययश्च स्यात् । दृष्टं हि यत्र विलक्षणसामग्री तत्र कार्यमपि विलक्षणमेव यथा प्रत्य-भिज्ञानम् ।"–प्रश० कन्द० पृ० १७६ ।

दृष्टमिदम् [५३ख] एकं ज्ञानं सामान्यविशिष्टवस्तुनः अवधारणात्मकं सत् विशेषानवधारणात्मकमिति । अनेन विपर्ययोऽपि व्याख्यातः । [१]सोऽपि हि सामान्यविशिष्टस्य वस्तुनोऽवधारणात्मकः सन् विशेषे विपर्ययः यथा 'स्थाणौ पुरुषः' इति प्रत्यय इति । कथम् ? यदि संशयविपर्ययेतरस्वभावभेकं ज्ञानमिष्यते; तर्हि सामान्यविशेषात्मकं तथैव सर्वं स्यात्, अन्यथा अयमिति स्थाणुरिति पुरुष इति च प्रत्ययाः परस्परपरिहारस्थिततनवे[२] इति न संशयादिव्यवस्था ।

व्याख्याता एकेनार्थेन कारिका, द्वितीयेनेदानीं व्याख्यायते—सविकल्पनिर्विकल्पयोः चेतःस्वभावयोः इति मन्यते । कस्य ? चित्तस्य इत्यनुवर्तते । तयोः कथञ्चिदेकत्वे अङ्गीक्रियमाणे । तत्र दूषणमाह—सुखदुःखयोरपि तथैव तेनैव प्रकारेण कथं न भवेद् भवेदेव कथञ्चिदेकत्वमिति । कुत एतत् ? प्रतिभास इत्यादि । चर्चितमेतत् । यदुक्तं ध र्मो त्त रा दि ना—*"कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्" [न्यायवि० १।४] इत्यत्र *"लौकिकी भ्रान्तिः [३]केशोण्डुकादिप्रतीतिरूपा, [४]कल्पना च जात्यादिविशिष्टग्रहणात्मिका ।" तदनेन चर्चितम्, 'कस्यचित् चित्तस्य' इति वचनात् । स हि कस्यचित् चित्तस्य भवति न पूर्वस्य, अन्यथा कल्पनारहितस्य भ्रान्तस्य वा (चा) संभवात् लक्षणमसंभवि स्यात् प्रत्यक्षस्य । यच्चोक्तं तेनैव—*"शास्त्रीया च सकलालम्बनप्रतीतिः 'सर्वमालम्बने भ्रान्तम्' इति राद्धान्तात् ग्राह्यग्राहकाकारप्रतीतं [५४क] सर्वं ज्ञानं कल्पना" इति[५] च । कथमिदमवगम्यते अविशेषेण अभिधानात् ? *"सा हि सर्वविज्ञानसाधारणी, तस्या ग्रहणे न किञ्चिद्विज्ञानं कल्पनापोढमभ्रान्तं वा लभ्येत" इत्यभिधानात् । तन्निराकुर्वन्नाह—तदयम् इत्यादि । तद् इत्ययं निपातः 'सः' इत्यस्यार्थे वर्तते । ततोऽयमर्थः—सोऽयं ध र्मो त्त रा दिः एकान्तं क्षणिकनिरंशपरमाणुतत्त्वमात्रम् अवलम्ब्य । किम् ? इत्यत्राह—बहिः इत्यादि । बहिश्च अन्तश्च मुखं निर्भासो यस्य विभ्रमेतरविकल्पेतरचेतःस्वभावस्य

(१) विपर्ययोऽपि । (२) स्वतन्त्रस्वरूपाः । (३) "केशोण्डुकादिविज्ञाननिवृत्त्यर्थमिदं कृतम् ।"—तत्त्वसं० श्लो० १३१२ । "तैमिरिकाणामिव केशोण्डुकाद्याभासं विनाप्यर्थसत्त्वादिति ।"—मध्यान्तवि० पृ० १५ । "केशोण्डुकं यथा मिथ्या गृह्यन्ते तैमिरैर्जनैः ।"—लङ्कावतार० पृ० २७४ । "केशोण्डुका नाम पक्षिणः ये केशमूलान्युत्पाटयन्ति ।"—शिक्षासमु० पृ० ७० । "यथा चिरकालीनाध्ययनादिखिन्नस्य अस्थितस्य नीललोहितादिगुणविशिष्टः केशोण्डुकाख्यः कश्चिन्नयनाग्रे परिस्फुटति । अथवा करसंमृदितलोचनरश्मिषु येयं केशपिण्डावस्था स केशोण्डुकः ।" —शास्त्रदी० युक्ति० पृ० ९९ । (४) "अथ कल्पना च कीदृशी चेदाह—नामजात्यादियोजना । यदृच्छाशब्देषु नाम्ना विशिष्टोऽर्थ उच्यते डित्थ इति । जातिशब्देन जात्या गौरयमिति । गुणशब्देन गुणेन शुक्ल इति । क्रियाशब्देषु क्रियया पाचक इति । द्रव्यशब्देषु द्रव्येण दण्डी विषाणी इति ।"—प्रमाणसमु० टी० पृ० १२ । न्यायप्र० वृ० पृ० ३५ । "जात्यादिसंसृष्टं तु मनोज्ञानं कल्पना इत्यन्ये कथयन्ति ।"—न्यायवि० टी० टि० पृ० २१ । "पूर्वापरमनुसन्धाय शब्दसंयुक्ताकारा प्रतीतिरन्तर्जल्पाकारा वा कल्पना ।"—तर्कभा० मो० पृ० ७ । (५) "सर्वमालम्बने भ्रमः ।··· परमार्थतस्तु सकलमालम्बने भ्रान्तमेव"—प्र० वार्तिकाल० पृ० २८० । उद्धृतोऽयम्— सन्मति- टी० पृ० ५१२ । न्यायवि० वि० प्र० पृ० ३२०, ४६७ । (६) "योगाचारमतेन च तथागतज्ञानमद्वयं मुक्त्वा सर्वं ज्ञानं ग्राह्यग्राहकत्वेन विकल्पितं कल्पना ।"—न्यायवि० टी० टि० पृ० २१ । "तस्मादनादिवासनाभूतानुमानपरम्पराप्रवृत्तमनुमानमाश्रित्य बहिरर्थकल्पनायां ग्राह्यग्राहकसंवेदनकल्पनाप्रवृत्तेः ग्राह्यादिकल्पना, परमार्थतः संवेदनमेवाविभागमिति स्थितम् ।"—प्र० वार्तिकाल० पृ० ३९४ । (७) कल्पना ।

स तथोक्तः । एतदुक्तं भवति–बहिर्मुखो विभ्रमः चेतः *"सर्वमालम्बने भ्रान्तम्" [प्र०वार्तिकाल० ३।१९६] इति वचनात्, अन्तर्मुख इतरोऽविभ्रमः चेतःस्वभावः, तथा बहिर्मुखो विकल्पः तत्स्वभावः *"ग्राह्य" [प्र० वा० ३।५३०] इत्याद्यभिधानात् अन्तर्मुख इतरोऽविकल्पः *"सर्वचित्ते" [न्यायवि० १।१०] इत्याद्युक्तेः । तं कथम्भूतम् ? इत्यत्राह–अनेकान्तनान्तरीयकं प्रतिपद्यमानः तद् दुष्यते (द्विषतीति) अनेकान्तद्वेषी तत्कारी च अनेकान्तकारी च इति हेतोः उपेक्षाम् अवज्ञाम् अर्हति । ५

ननु नाऽसौ तद्द्वेषी तत्कारी च, सर्वदा बुद्धेः (बुद्धेः) एकस्याः चित्रायाः अभिन्नयोगक्षेमत्वेनोपगमात्, एकान्तस्य तु बहिः । तदुक्तं ध र्म की र्त्ति ना–

*"नीलादिश्चित्रविज्ञाने ज्ञानोपाधिरनन्यभाक् ।
अशक्यदर्शनस्तं हि पतत्यर्थे विवेचयन् ॥ १०
यद्यथा भासते ज्ञानं तत्तथैवानुभूयते ।
इति नामैकभावः स्यात् चित्राकारस्य चेतसि ॥" [प्र०वा० २।२२०-२१]

प्र ज्ञा क र गु प्ते ना प्युक्तम्–[५४ख] *"चित्रकाराप्येकैव बुद्धिः बाह्यचित्रविलक्षणत्वात् । शक्यविवेचनं हि बाह्यं चित्रम्, अशक्यविवेचनास्तु बुद्धेः नीलादय आकाराः [प्र० वार्तिकाल० ३।२२०] इति चेत्; अत्राह–अन्तर्बहिर्मुखाभादि इत्यादि । १५

[अन्तर्बहिर्मुखाभादि नाक्रमं संवेदिनम् ।
भिनत्ति चेत्क्रमाधीनं भिन्द्यादेव सुखादिकम् ॥११॥

बहिरन्तर्मुखविभ्रमेतरविकल्पाविकल्पप्रमाणेतरत्वादि परस्पर[विभिन्नं] संविदं न भिनत्ति चेत् अवयविनं कथमाक्षिपेत् [हर्षादयो वा कथमात्मानं] यतो नैरात्म्यसिद्धिः ? एकत्राभिन्नविषयेऽपि अभिलापसंसर्गयोग्यायोग्यप्रतिभासयोः संप्लवप्रवर्तनं कथन्नेच्छेत् ? २० वस्तुनः स्वभावभेदस्य वस्त्वभेदकत्वात् ।]

अन्तर्बहिश्च मुखं यस्या सा भा ग्राह्यग्राहकप्रतिभास **आदि**र्यस्य प्रमाणेतरत्वादेः तत् तथोक्तं तत् कर्तृ, **संविदं न भिनत्ति**, तत्सद्भावेऽपि एकैव संविदिति यावत् । **चेद्** यदि । कथंभूतम् ? **अक्रमम्** संविदा सह उत्पत्तिविनाशानुभवाऽननुभववत् । अनेन अभिन्नयोगक्षेमत्वं दर्शितम् । अत्र दूषणं तदयमुपेक्षामर्हति । इदमत्र तात्पर्यम्–यदि अन्तर्बहिर्मुखाभादि अक्रमत्वात् संविदं न भिनत्ति तर्हि एकक्षणभाव्यशेषज्ञानजातमपि[४] न भिनत्ति २५

---

(१) "रूपादेश्चेतसश्चैवमविशुद्धधियं प्रति । ग्राह्यलक्षणचिन्तेयमचिन्त्या योगिनां गतिः ॥"–प्र० वा० ३।५३० । "अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः । ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥"–प्र० वा० ३।३५४ । (२) "सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षम्"–न्यायवि० १।१० । (३) "अलब्धधर्मानुवृत्तिर्योगः, लब्धधर्मानुवृत्तिः क्षेमः ।"–प्र० वा० स्व० टी० १। २४ । "प्रतिक्षणं विषयपरिच्छेदलक्षणो योगः तदर्थक्रियानुष्ठानलक्षणश्च क्षेमः परिपालनरूपः ।"–हेतुवि० टी० पृ० ३७ । (४) परस्परं संविदं न भिनत्ति ।

इति एकज्ञानमशेषम् एकदा जगत्, पुनरपि तथा पुनरपि तथैवेति एकसन्तानमात्रमपि, इति *"परस्मै परार्थानुमानम्" [न्यायवि० ३।१] इत्ययुक्तम्; परस्य अभावात्।

एतेन नानाविज्ञानसन्तानवादी योगाचारोऽपि चिन्तितो द्रष्टव्य इति।

स्यान्मतम्—नाक्रमत्वाद् अन्तर्बहिर्मुखाभादिना संविद् ऐक्यमनुभवति येनायं दोषः स्यात्, अपि तु कथञ्चित्तादात्म्येनावभासनादिति; अत्रोत्तरमाह—**न क्रमाधीनं भिन्द्यादेव सुखादिकं** क्रमायत्तं सुखम् आदिर्यस्य दुःखादेः तत् तथोक्तम्, तन्न भिन्द्यादेव संविदम्, क्रमभावि-सुखाद्यात्मिका एका संवित् स्यात् तथाभासादिति मन्यते। तथा च परस्य क्षणप्रत्यभिज्ञा-[५५क] भङ्गसाधन[मन]वसरम्।

कारिकां विवृण्वन्नाह—**बहिरित्यादि**। **बहिश्च अन्तश्च मुखं** येषां तानि च तानि **विभ्रमेतरविकल्पाविकल्पप्रमाणेतरत्वानि** च तथोक्तानि आदिर्यस्य ग्राह्यादिनीलाद्याकारनिकुरुम्बस्य तत्तथोक्तम्। कथंभूतं तत्? इत्याह—**परस्पर** इत्यादि। तत् किं कुर्यात्? इत्याह—**संविदं बुद्धिं न भिनत्ति चेद् यदि**। एतदुक्तं भवति—**बहिर्मुखो विभ्रमः** *"सर्वमालम्बने भ्रान्तम्" [प्र० वार्तिकाल० ३।१९६] इति वचनात्, **अन्तर्मुख इतरोऽविभ्रमः** *"सर्वचित्त" [न्यायवि० १।१०] इत्याद्युक्तेः। एतेन **विकल्पाऽविकल्पौ** व्याख्यातौ। **प्रमाणेतरत्वे** पुनः बहिर्मुखे शब्दक्षणिकत्वाद्यपेक्षयौ चन्द्रद्वित्वाद्यपेक्षयौ च, अन्तर्मुखे च सचेतनस्वर्गप्रापणादिसामर्थ्यापेक्षया। तदेतद् विभ्रमादिकं ग्राह्यादिकं च एकसंविदात्मकमिति। ननु च विभ्रमेतरावेव प्रमाणेतरत्वे तत्किमर्थम् इत्यदोषः [?]। अत्रोत्तरम्—**हर्षेत्यादि** सुगमम्। अत्र अयम [भिप्रायः ?] भिनत्ति [?] इति; तदनेन निरस्तम्; एकात्महर्षादौ साम्यात्। भवत्वेवम्; तथापि को दोष इति चेत्? न कश्चित्, केवलम् *"**यद् यथावभासते तत्तथैव परमार्थसद्व्यवहारावतारि यथा नीलं नीलतया अवभासमानं तथैव तद्व्यवहारावतारि, प्रतिभासन्ते च क्षणिकतया सर्वे भावाः**" इत्यत्र पक्षस्य प्रत्यक्षबाधनं हेतोश्च आश्रयासिद्धिः, **यतो नैरात्म्यसिद्धिः** नैव नैरात्म्यसिद्धिः अपि तु सात्मसिद्धिरिति।

अनेन *"**सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वात्**" [५५ख] [न्यायवि० ३।९७] इत्यत्र यदुक्तं परेण—*"**प्राणादिसत्त्वस्य (मत्त्वस्य) क्वचित् सात्मके दर्शनात् तदभावेऽपि भावाशङ्काऽनिवृत्तेः अनैकान्तिकत्वम्, विज्ञानसन्तान एव भावाद् विरुद्धत्वं च**" इति[1]; तन्निरस्तमिति दर्शयति। कथम्? यदि उक्तन्यायेन तत्र दृष्टमपि[2] न दृष्टम् अन्यत्र[3] दृष्टं वोच्यते; तर्हि अग्निमति धूमवत्त्वं दृष्टम् [4]तत्रादृष्टम् अन्यत्र दृष्टं वा कल्प्यताम्।

---

(१) पुनः द्वितीयादिक्षणभाविज्ञानजातमपि परस्परं संविदं न भिनत्ति इति एकसन्तानमात्रमा-पतितमिति भावः। (२) प्रतिपाद्यभूतस्य सन्तानान्तरस्य। (३) प्रमाणत्वम्। (४) अप्रमाणत्वम्। (५) सत्सचेतनत्वाद्यपेक्षया प्रमाणत्वम्, स्वर्गप्रापणशक्त्याद्यपेक्षया अप्रमाणत्वम् इति ग्राह्यम्। (६) द्रष्टव्यम्—पृ० २ टि० १०। (७) "नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरम् अप्राणादिमत्त्वप्रसङ्गात्"—न्यायवा० पृ० १२३। (८) "साध्येतरयोरतो निश्चयाभावात् ॥१०८॥...नच सात्मकानात्मकाभ्यां परः प्रकारः संभवति। ततः प्राणादिमत्त्वाद् धर्मिणि जीवच्छरीरे संशय आत्मभावाभावयोरित्यनैकान्तिकः प्राणादिरिति।"—न्यायवि० टी० पृ० २२२। (९) सात्मके। (१०) प्राणादिमत्त्वम्। (११) विज्ञानसन्ताने। (१२) अग्निमति।

यत्पुनरुक्तम्–

*"यः पश्यत्यात्मानं तस्यात्मनि भवति साश्वतः (शाश्वतः स्नेहः)।
स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषं तिरस्कुरुते ॥" [प्र० वा० १।२१९] इत्यादि;

तदप्यनेन निरस्तम्; यदि हि क्रमाऽक्रमानेकान्तचित्तात्मनि[1] दृष्टे अवश्यं स्नेहादिः संसारस्य[2]; न कदाचित् सौगतस्य मुक्तिः सर्वदा तस्यैवं[3] दर्शनात्[4]। ननु अक्रमेणेव क्रमेणापि चित्तमेकं चित्रमस्तु न बाह्यमिति चेत्; अत्राह–अवयविनम् इत्यादि। कथमाक्षिपेत् निराकुर्यात्। ननु चैकत्र अवयवे गुणे वा प्रवृत्तभिन्द्रियं नाऽवयवान्तरं गुणान्तरं वेक्षितुं क्षमते, कथमतः तत्साधारणरूपस्य[5] ग्रहणम्, न च तदात्मकम् अन्यथा वा तदुपलभ्यते इति चेत्; अत्राह–एकत्र इत्यादि। एकत्र अभिन्ने विषयेऽपि ग्राह्येऽपि न केवलं चित्ते विषयिणि संप्लवप्रवर्तनं कथं नेच्छेत्? इच्छेदेव सौगतादिः। कयोः? इत्याह–अभिलापसंसर्गयोग्यम् अनेकविशेषसाधारणं सामान्यं तद्योग्यो विशेषः तयोः प्रतिभासौ तयोः, इति चित्तवद् विषयेऽपि सामान्यविशेष- [५६क] प्रतिभासा दित्यभिप्रायः। तथा लौकिकी प्रतीतिः 'यमहं पश्यामि तमेवं स्पृशामि, यमहमद्राक्षं तमेव स्पृशामि' इति च।

अथवा, 'अभिलापसंसर्गयोग्यायोग्ययोः प्रतिभासयोः' इति व्याख्येयम्। तदुक्तं न्या य वि नि श्च ये–

*"आत्मनाऽनेकरूपेण" [न्यायवि० १।९] इत्यादि[6]।

एवं तर्हि अभिलापसंसर्गयोग्यस्वभावाक्रान्तम् अन्यत्[7] तद्विपरीतस्वभावाक्रान्तञ्च अन्यद्वस्तु स्याद्[8] अन्यथा क्वचिदपि तद्भेदो[9] न स्यादिति चेत्; अत्राह–वस्तुन इत्यादि। अत्रैवं मन्यते–द्वौ भेदौ वस्तुनः स्वभावभूतौ यथा ज्ञानस्य[10] विभ्रमेतरत्वादिः, अन्यश्च यथा ज्ञानान्तरस्य, स एव तत्र वस्तुनः स्वभावः स्वरूप(पे)यो भेदः तस्य वस्तुनः अभेदकत्वात् कथमाक्षिपेत् इति? तन्न सौत्रान्तिकमते *"किं स्यात्" [प्र० वा० २।२१०][11] इत्यादि युक्तम्।

यत्पुनरेतद् योगाचारस्य मतम्–

*"अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥" [प्र० वा० २।३५४] इति;

तत्रापि तन्न युक्तमिति दर्शयन्नाह– भागीव इत्यादि।

[भागीव भाति चेत्किन्नासत्क्रमः क्रमवानिव।
लक्ष्यतेऽभागबुद्ध्यात्मा बहिरन्तर्मुखादिभिः ॥१२॥]

---

(१) कथञ्चित् नित्यानित्यात्मकचित्तसन्तानरूपे आत्मनि। (२) कारणं स्यात्तदा। (३) चित्तात्मन एव। (४) सर्वज्ञत्वात् सुगतस्य। (५) युगपदिव। (६) नानावयवात्मनोऽनेकगुणात्मकस्य च अवयविनः। (७) पदार्थम्। (८) "···बहिरर्थस्य तादृशः। विचित्रं ग्रहणं व्यक्तं विशेषणविशेष्यभाक्॥" इति शेषः। (९) भिन्नम्। (१०) विरुद्धधर्माध्यासेऽपि भेदाभावे। (११) वस्तुभेदः। (१२)बाह्ये विभ्रमरूपस्यापि स्वरूपेऽविभ्रमात्मनः। (१३) "किं स्यात् सा चित्रतैकस्यां न स्यात्तस्यां मतावपि। यदीदं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्॥"–प्र० वा० २।२१०।

अत्र 'स्वयम् अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा भागीव भाति' इत्येकं दर्शनम्, 'तदनन्तरभाविनी विकल्पिका बुद्धिः तमन्यथाप्रतिभासमपि सभागमिव व्यवस्यति' इत्यपरम्। तत्र प्रथमं दर्शयित्वा तावद् दूषयति—**न** विद्यते **भागो** यस्य स चासौ **बुद्ध्यात्मा** च बुद्धिरेव। स किम् ? इत्याह— **भाति**। क इव ? **भागीव**। कैः ? इत्याह—**बहिरन्तर्मुखादिभिः** आदिशब्देन संवित्ति-परिग्रहः। तदुक्तं [५६ख] परेण *"ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवान्" [प्र० वा० २।३५४] इति चेद् यदि; दूषणम्—**अक्रमः** सुखादिक्रमरहितः **अविभाग (अभाग) बुद्ध्यात्मा किन्न क्रमवान् इव** सुखादिक्रमवानिव **भाति** इति संबुद्धौ (सम्बन्धः)। ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवत् सुखादिभेदोऽपि न तात्त्विक इति तत्संवेदनस्य प्रत्यक्षत्वदर्शनवर्णनमनर्थकम्। ननु यद्यसौ[२] क्रमवान् प्रतिभाति क इवार्थः ? न हि नीलं नीलतया प्रतिभासमानं नीलमिव युक्तम्। अथ तथा न प्रतिभाति, तथापि क इवार्थः ? न खलु नीलमपीततयाऽवभासमानं पीतमिव भवितुमर्हतीति चेत्; तर्हि यदि ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवत् प्रतिभाति क इवार्थः ? अन्यथापि क इवार्थ इति समानम्।

किञ्च, यदि अविभागः प्रमाणतः स कदाचित् प्रतिपन्नः स्यात्; तदा अन्यदा सविभागदर्शनात् सविभाग इव इति युक्तो व्यवहारः, अञ्जलस्य[३] मरीचिकाचक्रस्य[४] कदाचिद्दर्शनात् तत्र जलमिव इति व्यवहारवत्। न चैवमिति निरूपयिष्यते अनन्तरमेव **'स्वयमद्वयस्य द्वयनिर्भासप्रतीतेः'** इत्यनेन। तथा च निराकृतमेतत्—

*"अविभागोऽपि" [प्र० वा० २।३५४] इत्यादि।

*"मन्त्राद्युपप्लुताक्षाणां यथा मृच्छकलादयः।
अन्यथैवाऽवभासन्ते तद्वदपरहिता अपि॥
तथैवाऽदर्शनात्तेषामनुपप्लुतचक्षुषाम्।
दूरे यथा वा मरुषु महामाल्यादि (महानल्पोऽपि) दृश्यते॥
यथादर्शनमेवेयं मानमेयफलस्थितिः। [५७ क]
क्रियतेऽविद्यमानापि ग्राह्यग्राहकसंविदाम्॥" [प्र०वा०२।३५५-५७] इति [च];

कथम् ? दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः असाम्यात्। न हि यथा अनुपप्लुतचक्षुषां मृच्छकलादिदर्शनमन्यथा तथा बुद्ध्यात्मदर्शनमिति[५]। न च दृष्टान्तमात्रादभिमतार्थः सिद्धिमुपगच्छति, अन्यथा सर्वं सर्वस्य सिध्येत् तदविशेषात्। एतेनैतदपि निरस्तम्—

*"अन्यथैकस्य भावस्य नानारूपावभासिनः।
सत्यं कथं स्युराकाराः तदेकत्वस्य हानितः॥" [प्र०वा० २।३५८] इति;

दृश्यमानस्य नानारूपावभासतः सत्यताविरहात्[६], परमार्थस्य[७] च दर्शनविरहान्न किञ्चित्

---

(१) सुखादिसंवेदनस्य। (२) अविभागबुद्ध्यात्मा। (३) जलरहितस्य। (४) मरीचिकाचक्रे। (५) सुवर्णादिरूपेण। (६) सुवर्णादिरूपात् भिन्नतया मृच्छकलादित्वेनैव। (७) अविभागरूपेण न कदाचिदपि भवतीति भावः। (८) दर्शनविषयीभूतस्य संवेदनस्य। (९) असत्यत्वात्। (१०) अद्वयस्य अविभागिनः।

स्यात्, इति *"यथादर्शनमेवेयं मानमेयफलस्थितिः" आहो 'यथातत्त्वम्' इति कुतो निश्चयः ?

स्यान्मतम्—न क्रमभाविसुखादिव्यतिरिक्तेभावा (क्तोऽभाग) बुद्ध्यात्मा अनुभूयते, केवलं क्रमजन्मसुखादिवेदनात्, कथं सँ क्रमवानिव भाति इत्युच्यते ? अन्यथा खरविषाणं तथा भाति इँति; ग्राह्याकारव्यतिरिक्तोऽपि नाऽनुभूयते 'नीलादिकमहं वेद्मि' इति सर्वदा प्रतीतेः इति समानम् । तँदाकारकल्पने सन्तानान्तरवत् प्रसङ्गः[४] । यँत्पुनरेतत्प्रसङ्गः ।

यत्पुनरेतत्—प्र ज्ञा क र गु प्त स्य प्र ति भा सा द्वै त सि द्धि प्र क र णे चोद्यम्—*"यद्यसौ[६] क्रमवानवभासमानोऽपि क्रमवानिव भातीत्युच्यते तर्हि असन् सन्निव अचेतनश्चेतन इव भातीति किन्नोच्यते ?" इति; तदपि प्रकृते भवति न वेति चिन्त्यम् । तत्र प्रथमं दर्शनम् ।

द्वितीयं दूषयति दर्शयित्वा—**भागीव भाति बुद्ध्यात्मा बहिरन्तर्मुखादिभिः लक्ष्यते** [५७ख] निरंशदर्शनपृष्ठभाविविकल्पेन निश्चीयते चेद् यदि । अत्र दूषणम्—**अक्रमः किन्न क्रमवानिव लक्ष्यते** तेनैव विकल्पेनाव्य (नाध्य) वसीयते इति ? न्यायस्य समानत्वात् सर्वत्र ।

किञ्च, विकल्पोऽपि तथा तं व्यवसन् (स्यन्) ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवान् भवति न वेति चक्षुषी निमील्य उन्मील्य वा चिन्तय तावत् । यदि सँ कुतश्चित् तँथा भवति; तद्वश्चि (तद्वत् स) एव बुद्ध्यात्मा तत एव तथा भवतु इति किं विकल्पकल्पनया ? तत्रापि पुनस्तथा कल्पने अनवस्था । न च परस्य विकल्पो नाम इत्युक्तम् । तत्र द्वितीयमपि दर्शनं श्रेयः ।

कारिकायाः सुगमत्वाद् व्याख्यानमकृत्वा 'यद्यप्यभागबुद्ध्यात्मा भागीव क्रमवानिव वा भाति लक्ष्यते वा तथापि सौगतस्य पुरुषाद्वैतवादिनो वा मतं सिध्येत् न जैनस्य । [न] हि तँथाभासनात् स तँथैव भवति, न खलु जलमिव मरीचिकाचक्रं[१०] जलमेव भवति' इति चोद्यं मनसि निधाय दूषयन्नाह—**[तत्र] सद्भिः** इत्यादि ।

[तत्र सद्भिरसद्भिश्च एकत्वं कस्यचिद्यदि ।
तथैव किन्नानेकान्तः क्रमवद्भिरक्रमात्मनः ॥१३॥]

इदमत्र तात्पर्यम्—**'भागीव'** इति वचनात् तत्र बुद्ध्यात्मनि भासमाना अपि ग्राह्यादयो भागा न परमार्थसन्तः, असन्तोऽपि न बुद्ध्यात्मनो भिन्ना एव । *"चित्तेर्विषयनिर्भास" [सिद्धिवि०] इत्यादि वक्ष्यमाणदोषात् । ततः ते ततः कथञ्चिदभिन्ना अभ्युपगन्तव्या इति ।

नन्वेवमपि **'असद्भिः'** इति वक्तव्यम् न्याय्यत्वात् किं **'सद्भिः'** इत्यनेन विपर्ययादिति चेत् ; सत्यम् ; तथापि *"यद् यथावभासते [५८क] तत्तथैव परमार्थसदव्यवहारावतारि

(१) अविभागबुद्ध्यात्मा । (२) चेत् । (३) ग्राह्याकारकल्पने । (४) ग्राह्याकारः ग्राहकाकारः संविदाकारश्च भिन्नसन्तानः स्यात् । (५) 'यत्पुनरेतत्प्रसङ्गः' इति द्विर्लिखितम् । (६) विकल्पः । (७) ग्राह्यग्राहकादिभेदवान् । (८) भागीव क्रमवानिव वा । (९) भागी क्रमवान् वा । (१०) भासमानम् ।

यथा नीलं नीलतयावभासमानं तथैव तद्व्यवहारावतारि, अवभासन्ते च क्षणिकतया सर्वे भावाः" इत्यभिधाय यदि ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभागवत्तया भासमानोऽपि बुद्ध्यात्मा तथैव परमार्थसन्न भवेत्; तेनैवै हेतोर्व्यभिचारः स्यात्, तस्मात् 'तथैवै परमार्थसन्' इति प्र ज्ञा क र स्य प्रदर्शनार्थम् **'सद्भिः'** इति वचनं व्याख्यातम् [इति] तात्पर्यार्थः ।

५ शब्दार्थो व्याख्यायते—**सद्भिः** विद्यमानैः सच्चेतनादिवद् **असद्भिः** अविद्यमानैः मरीचिकातोयादिवत् [चेति] समुच्चये । कैः ? इत्याह—**बहिरित्यादि** । **आदि**शब्दः संवित्तिग्रहणार्थः । तैः किम् ? इत्याह **यदि** इत्यादि । **कस्यचित्** इति सामान्यवचनं पूर्वस्य विकल्पस्य च बुद्ध्यात्मनः संग्रहार्थम्, **एकत्वं** सिध्येत् । अत्र दूषणम् **तथैव** इत्यादि । **[तथैव]** तेनैव प्रकारेण सुखदुःखादिभिः क्रमवद्भिः **सद्भिः असद्भिर्वा किंन्न अक्रमात्मनः**
१० सिद्धिः स्याद् एकत्वस्य इति मन्यते । ततः किं सिद्धम् ? इत्याह—**अनेकान्त** इत्यादि । उभयथापि सद्भिर्वा एकत्वप्रकारेण असद्भिरपि एकत्वे एकस्य विभ्रमेतरत्वसिद्धिः नैरात्म्यसिद्धेरभावः ।

एवं परस्य अनिष्टसिद्धिं प्रदर्श्य अधुना अत्रैव पूर्वपक्षे इष्टाभावं कथयन्नाह—**प्रत्यक्षम्** इत्यादि ।

१५ **[प्रत्यक्षमविभागं चेच्चित्तं भागीव किं बहिः ।**
नान्तस्तदेव प्रत्यक्षं कल्पनापोढमञ्जसा ॥१४॥

कल्पनापोढस्याभ्रान्तस्यापि विकल्पभ्रान्तिसंभवे प्रत्यक्षतदाभासयोः किं कारणमाश्रित्य भेदं लक्षयेदिति प्रत्यक्षस्य लक्षणान्तरं शक्यं वक्तुम्, चन्द्रमेकं पश्यतोऽपि द्विचन्द्रभ्रान्तिः मानसी स्वयमविभागबुद्धौ कल्पनारचितग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदसंवेदन-
२० वत् । बहिरप्यनुमानादिनिर्णयज्ञानं सविकल्पकमिव कुतश्चित् प्रतिभाति । तत्र प्रत्यक्षपरोक्षविषयव्यवस्था, प्रमाणेतरव्यवस्थाऽभावे तत्त्वेतरव्यवस्थाऽयोगात् ।]

अविभागं भागीव सिवानिव (भागवानिव) **भाति चेत्** यदि **चित्तं** ज्ञानम् । अत्र दूषणमाह—**अन्तः** स्वरूपे **तदेव** चित्तं **प्रत्यक्षं कल्पनापोढं** [५८ख] कल्पनापोढस्वात् तदपि अभ्रान्तत्वात् यत् परेणोक्तं **'न लक्ष्यते'** इति पूर्वकारिकाक्रियापदेन सम्बन्धः ।
२५ **अञ्जसा** परमार्थेन [न] केवलम् इच्छयैव लक्ष्यत इत्यर्थः । निरंशस्य सांशतया अवभासंते (सने) विभ्रमस्य सदाकारसाधारणतया च कल्पनायाः व कल्पनाया स्वभावादसिद्धो हेतुः इत्यभिप्रायः ।

ननु च प्रथमं दर्शनम् अविभागमेव आत्मानं पश्यति तदनन्तरभाविविकल्पस्तु तत्सभागमिव व्यवस्यति ततोऽयमदोष इति चेत्; अत्राह—**किं बहिरि** [ति] **'न'** इत्येतदत्रापि सम्बन्ध-

---

(१) द्रष्टव्यम्—पृ० २ टि० १० । (२) बुद्ध्यात्मनैव । (३) ग्राह्यग्राहकादिभेदवत्त्वेन । (४) बौद्धस्य । "प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्"—प्र०समु० इलो० (५)"कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्"—न्यायवि० १।४। (६) 'व कल्पनाया' इति पुनरुक्तम् । (७) निर्विकल्पम् । (८) स्वरूपम् ।

नीयं मध्ये करणात् । ततोऽयमर्थः **बहिः** चन्द्रादौ चित्तं सर्वं (सर्वं) **किञ्च प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्** अभ्रान्तं लक्ष्यते किन्तु लक्ष्यत एव ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**प्रत्यक्ष** इत्यादि । **प्रत्यक्षं च तदाभासं च** तयोः । **किम् न किञ्चिद् वत (बाह्य) कारणं निमित्तम् आश्रित्य भेदं लक्षयेत्** ? आकस्मिकं लक्षयेद् इत्यर्थः । कदा ? इत्यत्राह–**कल्पना** इत्यादि । **कल्पनापोढस्य अभ्रान्तस्यापि 'चित्तम्'** इत्यनुवर्तमानं जात 'तौ' परिणामम् इह सम्बध्यते 'चित्तस्य' इति । **अपि**शब्दः परा-भ्युपगमसूचकः । **विकल्पभ्रान्तिसंभवे** एकस्य सदसदाकारसाधारणस्य भावात् **विकल्पस्य** निरंशस्य सांशतया अवभासभावाद् **भ्रान्तेश्च संभवे** सति । एतदुक्तं भवति–प्रत्यक्षत्वस्य कल्पनापोढाऽभ्रान्तत्वे व्यापके, ते च स्वविरुद्धकल्पना-भ्रान्तिव्याप्त [५९क] सर्वज्ञानेभ्यो व्यावर्तमाने स्वव्याप्यं प्रत्यक्षत्वमादाय निवर्त्तेते इति न प्रत्यक्षं नाम, तदभावे न तदाभासं तदपेक्षत्वादस्य, **इति** तर्हि कल्पनापोढ (ढाऽ) भ्रान्तत्वाऽभावेऽपि **प्रत्यक्षस्य लक्षणान्तरस्मात् (न्तरमस्मात्)** शक्यं वक्तुं प्रतिपादयितुम् । किम् ? इत्याह–**चन्द्रम्** इत्यादि । चन्द्रग्रहणम् एकग्रहणं वा उपलक्षणं तेन संख (शङ्ख) करितुरगादिशुक्लतद्देशादिग्रहणं तं **पश्यतोऽपि** चक्षुर्ज्ञानेन साक्षात्कुर्वतोऽपि न केवलम् अपश्यतः । किम् ? इत्याह–**द्विचन्द्रभ्रान्तिः** इति । अत्रापि **द्विचन्द्र**-ग्रहणम् उपलक्षणनिमिति (क्षणमिति) स्वापादौ देशादिग्रहणं तस्य **भ्रान्तिः** अन्यथाग्रहणम्, **सा च मानसी** इति द्रष्टव्या । तं पश्यतोऽन्यस्याऽसंभवात् । कस्य इव ? इत्यत्राह–**स्वयम्** इत्यादि । **स्वयम्** आत्मनः **अविभागा** निरंशा **या बुद्धिः** तस्यां **कल्पनारचिता [ग्राह्य] ग्राहकसंवित्ति-भेदाः** तेषां **संवेदनस्य इव तद्वत्** इति । एतदुक्तं भवति–यथा अविभागबुद्धिं पश्यतोऽपि ग्राह्य-ग्राहकसंवित्तिभेदसंवेदनं भ्रान्तिः मानसी तथा प्रकृताऽपि इति । तस्मात् **प्रत्यक्षे**त्यादि स्थितम् । पूर्वं 'प्रत्यक्षाभावात् तदाभासभेदं न लक्षयेत्' इत्युक्तम्, इदानीं 'तदाभासाऽभावात् प्रत्यक्षमिदं न लक्षयेत्' इत्युच्यते । ततो निराकृतमेतत्–

*"[१]त्रिविधं कल्पनाज्ञानम् आश्रयोपप्लवोद्भवम् ।
अविकल्पकमेकं च प्रत्यक्षाभं चतुर्विधम् ॥" [प्र० वा० २।२८८] इति ।

कथम् ? प्रत्यक्षाभस्य विकल्पस्य कस्यचिदभावात् । ननु द्विचन्द्रभ्रान्तिः मानसी चेत्; किमिदानीमिन्द्रियज्ञानम् ? यद् [५९ख] इन्द्रियस्य भावाऽभावाभ्यां भावाऽभाववत् तत्तस्येति चेत्; द्विचन्द्रादिज्ञानम् अत एव तस्य अस्तु । तस्य विकारे यद् विकारवत् तत्तस्येति चेत्; एतदपि अनेन नोत्सृष्टम् । तदुक्तम्–

---

[१] 'ता' इति षष्ठी । (२) प्रत्यक्षाभावे । (३) प्रत्यक्षाभासम् । (४) इन्द्रियप्रत्यक्षेण विषयी-कुर्वतः । (५) इन्द्रियभ्रान्तेः । (६) "त्रिविधं कल्पनाज्ञानं प्रत्यक्षाभं मरीचिकायां जलाध्यवसायि भ्रान्ति-ज्ञानम् संवृतौ विसंवादिध्यवसायसांवृतज्ञानम् पूर्वदृष्टैकत्वकल्पनाप्रवृत्तं लिङ्गानुमेयादिज्ञानम् । अविकल्प-कं चैकम् प्रत्यक्षाभम् । कीदृशम् ? आश्रयस्य इन्द्रियस्य उपप्लवः तिमिराद्युपघातः तस्माद् भवो यस्य तत्तथा । एवञ्च चतुर्विधञ्च प्रत्यक्षाभासम् ।"–प्र० वा० मनो० । (७) तुलना–"यदि तावत् मानसमेतत् द्विचन्द्रादिज्ञानमिन्द्रियभावाभावानुरोधि न स्यात् ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३३६ । (८) इन्द्रियस्य ।

*"किञ्चेन्द्रियं य [द] क्षाणां भावाभावानुरोधि चेत् ।
तत्तुल्यं विक्रियावच्चेत् सा चेयं न किमिष्यते ॥" [प्र० वा० २।२९६]

किञ्च, द्विचन्द्रादिभ्रान्तिर्मानसी चेत्; तर्हि सर्पादिभ्रान्तिवत् इन्द्रियविकृतावपि निवर्तेत, अक्षविप्लवे निवृत्तेऽपि वा न निवर्तेत । एतदप्युक्तम्–

*"सर्पादिभ्रान्तिवच्चास्याः स्वादक्षविकृतावपि ।
निवृत्तिर्न निवर्तेत निवृत्तेऽप्यक्षविप्लवे ॥" [प्र० वा० २।२९७]

अपि च, सर्पादिभ्रान्तिवद् एतस्याः शब्दैः तद्वाचकैः अन्यसन्ताने समर्पणं पूर्वदृष्टद्विचन्द्रादिस्मरणापेक्षणम् अपरिस्फुटप्रतिभासनञ्च स्यात् । तथा चोक्तम्–

*"कदाचिदन्यसन्ताने तथैवार्प्येत वाचकैः ।
दृष्टस्मृतिमपेक्षेत न भासेत परिस्फुटम् ॥" [प्र० वा० २।२९८]

इति चेत्; तन्न; अस्य प्रकृतेऽपि समानत्वात् । तथाहि–ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदसंवेदनं भ्रान्तिश्चेत् मानसी; किम् इदानीमिन्द्रियज्ञानम् ? इन्द्रियभावा[भावा]नुरोधि चेत्; तत्तुल्यमितरत्रापि । एवं शेषमपि वक्तव्यम् । तथापि इयं मानसी; तथा द्विचन्द्रादिभ्रान्तिरपि स्यादिति मन्यते ।

एतेन एतदपि निरस्तं यदुक्तं परेण–*"निरालम्बनाः सर्वे प्रत्ययाः प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवत्" [प्र० वार्तिकाल० ३।३३१] इति; कथम् ? वादिनं प्रति दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्। अथ प्रतिवादिनं प्रति न तस्य [६०क] तद्विकलतेत्यदोषः; तर्हि प्रतिवादिनोऽनुसरणे न अविभागबुद्ध्यात्मसंवेदनसिद्धिः ।

एवम् *"अविकल्पकमेकं च प्रत्यक्षम् (क्षाभं)" [प्र० वा० २।२८८] इत्येतत् निराकृत्य *"त्रिविधं कल्पनाज्ञानं प्रत्यक्षाभम्" [प्र० वा० २।२८८] इत्येतत् निराकुर्वन्नाह–बहिः इत्यादि । अन्तः परेण अनुमानादेः अविकल्पकत्वमिष्यते इति बहिर्ग्रहणम्, तत्रापि कल्पनापोढम् । किं तत् ? इत्याह–अनुमानादिनिर्णयज्ञानम् इति । आदिशब्देन भ्रान्तिसंवृति स(सज्)ज्ञानादिपरिग्रहः । प्रत्यक्षवत् यदि अनुमानादि अविकल्पकम्; [१०]तद्गृहीतेऽपि समारोपः स्यादिति तन्निरासार्थं निर्णयज्ञानं सविकल्पकमिव मानसविकल्प इव कुतश्चिद् विकल्पवशात् प्रतिभाति इति निराकृतमेतत्–*"भ्रान्ति [:] संवृतिसं(सज्)-

(१) "किञ्चैन्द्रियं-यदक्षाणां···सैवेयं किञ्चिधिष्यते । ···"तिमिरज्ञानं भ्रममनिच्छतोऽपि किं कीदृशमैन्द्रियज्ञानमिष्यते ? यदक्षाणां भावाभावयोरनुरोधि स्वभावाभावाभ्यामनुवर्तकं तदैन्द्रियमिति चेत्; तत इन्द्रियभावाभावानुरोधित्वं तैमिरिकज्ञानस्यापि तुल्यम् । न हि इन्द्रियव्यापारमन्तरेण तैमिरिकज्ञानमुत्पद्यते । इन्द्रियविकारेण विक्रियावज्ज्ञानमैन्द्रियं चेत् ; द्विचन्द्रादिज्ञानानां तिमिरादीन्द्रियविकारेण विक्रिया । सैवेयम् अभूतार्थोपदर्शनात्मिका भ्रान्तत्वनिमित्तमुक्ताऽस्माभिः किं निधिध्यते ?"–प्र० वा० मनो० (२) यथा रजौ सर्पादिभ्रान्तिः मानसी इन्द्रियविकारे सत्यपि मानसविमर्शात् निवर्तते । (३) द्विचन्द्रादिभ्रान्तेः । (४) इन्द्रियस्य अकारणत्वात् स्पष्टप्रतिभासो न स्यात् । (५) ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदसंवेदनरूपा भ्रान्तिः । (६) "अत एव सर्वे प्रत्यया अनालम्बनाः प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवदिति प्रमाणस्य परिशुद्धिः"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३५९ । (७) स्वरूपे । (८) बौद्धेन । (९) बहिरपि । (१०) अनुमानगृहीतेऽपि ।

ज्ञानम्" [प्र०समु०१।८] इत्यादि । तथाव्यवहाराभावः अन्यत्रापि समानः ।

"[1]द्विविधो हि अर्थः प्रत्यक्षः परोक्षश्च, तत्र यो ज्ञानप्रतिभासं स्वान्वयव्यतिरेकावनुकारयति स प्रत्यक्षोऽर्थः अन्यः परोक्षः" इत्येतदिदानीं दूषयन्नाह—तत्र इत्यादि । तत् तस्मात् उक्तन्यायात् न प्रत्यक्षव्यवस्था कल्पनापोढस्याऽभ्रान्तस्य विकल्पभ्रान्तिसंभवे न प्रत्यक्षार्थो लक्षणाभावादिति मन्यते । नापि परोक्षविषयव्यवस्था तैमिरिकं प्रति परोक्षत्वेन अभिमतस्य एकचन्द्रादेः आनुमानिकं च प्रति पावकादेः स्वप्रत्यक्षत्वादिति भावः । ततो निराकृतमेतत्—"प्रमाणं द्विविधं मेयद्वैविध्यात्" [प्र० वा० २।१] इति; हेतोरसिद्धत्वात्[3] । अत्रैव धर्मिणोऽसिद्धिं दर्शयन्नाह—प्रमाणेत्यादि । [६०ख] प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्[4] इतरद् अप्रमाणम् तयोर्व्यवस्थाने (स्थाऽभावे), एतदपि कुतः ? इत्यत्राह—तत्त्वेतर इत्यादि । तत्त्वं परमार्थाद्वयं ज्ञानम् इतरः अपरमार्थो द्विचन्द्रादिः तयोर्व्यवस्थाऽयोगात् उक्तन्यायेन तन्नि [षेधात्] ।

[तत्र] योगाचारमतेऽपि *"किं स्यात्" [प्र०वा०२।२१०] इत्यादि युक्तम् । केवलं *"मायामरीचिप्रभृतिप्रतिभासवदसत्त्वेऽप्यदोषः" [प्र० वार्तिकाल० ३।२११] इत्येतत् *"तदेतन्नूनमायातम्" [प्र० वा० २।२०९] इत्यादि च माध्यमिकस्य दर्शनमवशिष्यते, तत्रापि तन्न युक्तमिति दर्शयन्नाह—आत्मसंवेदनम् इत्यादि ।

[आत्मसंवेदनं भ्रान्तेरभ्रान्तं भाति भेदिवत् ।
प्रत्यक्षं तैमिरं चान्द्रं किन्नानेकान्तविद्विषाम् ॥१५॥

न हि भ्रान्तेः स्वसंवेदनं भ्रान्तं युक्तम्, तदप्रत्यक्षत्वे विषयवत्स्वभावासिद्धिप्रसङ्गात् । नापि तत् सर्वथा अभ्रान्तमेव स्वयमद्वयस्यापि द्वयनिर्भासप्रतीतेः । यदि पुनः इदं प्रत्यक्षमेव तिमिराभ्युपहतचक्षुषां किन्न स्यात् ? तद्···।]

भ्रान्तेः अन्तर्बहिर्विभ्रमस्य यदात्मनः स्वरूपस्य संवेदनं ग्रहणं तदभावे अर्थवत् तदसिद्धेरिति मन्यते । तत् अभ्रान्तम् अवितथम्, काकाः[6] व्याख्येयमेतत् । यदीति वा अध्याहार्यम्, अन्यथा भ्रान्तेरसिद्धिः । अत्र दूषणमाह—भाति भेदिवत् । भाति चकास्ति तत्संवेदनं भेदी चित्रपतङ्गादिः तेन समानं तद्वत् । एतदुक्तं भवति—यथा चित्रपतङ्गादिः एकानेकरूपतया भाति तथा तत्संवेदनमपि विभ्रमेतरैकानेकरूपतया इति । केषां तदित्थम् ? इत्यत्राह—अनेकान्तविद्विषाम् विभ्रमैकान्तवादिनाम् । अत्रैव दोषान्तरमाह—प्रत्यक्षम् इत्यादि । चन्द्रस्य इदं चान्द्रविषयं चान्द्रम् । किं सर्वम् ? न, तैमिरं तिमिरग्रहणं भ्रान्ति-

(१) "भ्रान्तिः संवृतिसज्ज्ञानमनुमानानुमानिकम् । स्मरणं चाभिलाषश्चेत्यक्षाभासं सतैमिरम्॥८॥ मरीचिकादिषु जलादिकल्पनाद् भ्रमज्ञानं प्रत्यक्षाभासम् । संवृतिसत्यं हि स्वस्मिन् अर्थान्तरमारोप्य तत्स्वरूपकल्पनात् प्रत्यक्षाभासम् । अनुमानं तत्फलं च पूर्वानुभवकल्पनात् न प्रत्यक्षम् ।"—प्र०समु० वृ० १।८ । (२) "न प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां मेयस्यान्यस्य संभवः ।"—प्र०वा०२।६३ । "यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदः तत् स्वलक्षणम् । अन्यत् सामान्यलक्षणम् ।"—न्यायवि० १।१२, १७ । (३) सामान्यविशेषात्मन एकस्यैव प्रमेयत्वात् । (४) "प्रमाणमविसंवादिज्ञानम् ।"—प्र० वा० २।१ । (५) "इदं वस्तुबलायातं यद्वदन्ति विपश्चितः । यथा यथार्थामिन्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा ॥"—प्र० वा० । (६) 'काकु' इति प्रश्नपदवी ।

कारणोपलक्षणम्, तस्माद् आगतम् द्विचन्द्रादिज्ञानमिति यावत् । तत् किम् ? इत्याह–**प्रत्यक्षं भेदिवत् भाति** च कथञ्चित् प्रत्यक्षमित्यर्थः । केषाम् ? [६१क] **अनेकान्तविद्विषाम्** एव । तथा च यदुक्तं तैरेव–*"**यदवभासते न तत् सत् यथा द्विचन्द्रादि, अवभासते च ज्ञानघटादि**" इति; तन्निरस्तम्; सर्वथा विभ्रमस्य [2]दृष्टान्तेऽपि न सिद्धिरिति भावः ।

*"[3]**एकानेकत्वाद्यशेषविकल्पशून्यं स्वसंवेदनमात्रनिष्ठं तत्त्वम्**" इत्यपरः माध्यमिकः । तं प्रति आह–**आत्मसंवेदनम्** इत्यादि । **भ्रान्तेर्**नीलादिबुद्धे स्मार्थं (स्वयमर्थः) *"**निरालम्बनाः स्वरूपालम्बनाः प्रत्ययाः**" [प्र० वार्तिकाल० पृ० ३६५] इत्यभिधानात् **आत्मसंवेदनं** स्वरूपमहणम् **अभ्रान्तम्** विभ्रमाकारशून्यम् अन्यथा सकलविकल्पशून्यताऽसिद्धेरिति मन्यते । अत्र दूषणम् **भ्रान्ति (भाति)** तदात्मसंवेदनं प्रतिभासते **भेदिना** चित्रपतङ्गादिना समानमिति । एतदुक्तं भवति–सर्वविकल्पातीतत्वेन निरंशस्य ग्राह्याकारैः सांशस्य इव भासनात् कथं तदभ्रान्तम् यतः प्रकृतमर्थतत्त्वं सिध्येत् ? तथापि प्रत्यक्षत्वे दूषणमाह–**प्रत्यक्षं** तदात्मसंवेदनम् **तैमिरं चान्द्रं** द्विचन्द्रादिविषयं ज्ञानम् **किन्न** प्रत्यक्षम् अपि तु प्रत्यक्षमेव । केषाम् ? इत्यत्राह–**स्याद्वादविद्विषां (अनेकान्तविद्विषाम्)** सर्वविकल्पातीतैकान्तवादिनाम् । तथा च *"**यद् विशददर्शनावभासि न तत् परमार्थसत् यथा द्विचन्द्रादि, तदवभासि च जाग्रत्स्तम्भादि ।**" इत्यत्र वैादिनो दृष्टान्ते साध्यहीनता इत्यभिप्रायः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**नहि** इत्यादि । **भ्रान्तेः** बहिरन्तर्विभ्रमैकान्तस्य **स्वस्य** स्वरूपस्य **संवेदनं** ग्रहणं **नहि भ्रान्तम्** शक्यं युक्तमुपपन्नम् किन्तु अभ्रान्तमेव युक्तम् इति [६१ख] अनेकान्तसिद्धिः । अस्यानभ्युपगमे दूषणमाह–**तद्** इत्यादि । **तस्य** भ्रान्तिस्वसंवेदनस्य **अप्रत्यक्षत्वे** भ्रान्तत्वे इत्यर्थः **विषयवत्** घटादिवत् **स्वभावासिद्धिप्रसङ्गात्** भ्रान्तिस्वरूपासिद्धिप्रसङ्गात् । तदुक्तं न्या य वि नि श्च ये–

*"**विभ्रमे विभ्रमे तेषां विभ्रमोऽपि न सिध्यति**" [न्यायवि० १।५४] इति ।

द्वितीयमर्थं कथयन्नाह–**नापि** इत्यादि । पक्षान्तरसूचकः **अपि**शब्दः **सर्वथा** सर्वात्मना **तत्** भ्रान्तेः आत्मसंवेदनम् **अभ्रान्तमेव** । **नापि** न केवलं सर्वथा **न भ्रान्तमेव** । कुत एतत् ? इत्याह–**स्वयम्** इत्यादि । **स्वयम्** आत्मना सौगतोपगमाद् **अद्वयस्यापि तकं** (स्वसं)वेदनस्यापि सर्वविकल्पातीतस्य **द्वयनिर्भासप्रतीतेः** संवेदनग्राह्याकारैः एकानेकाकारप्रतीतेः । ननु च यदि नीलादिशरीरसुखादि ग्राह्यम् न तँतोऽपरं [ग्राहकं] ग्रहणं वा प्रतीयते । अथ तद् ग्राहकम्; नापरं

---

(१) आशुभ्रमणनौयानसंक्षोभादिकारणानामुपलक्षणम् । (२) द्विचन्द्रादौ ।। (३) "भावा येन निरूप्यन्ते तद्रूपं नास्ति तत्त्वतः । यस्मादेकमनेकं च रूपं तेषां न विद्यते ॥"–प्र० वा० ३।४६० । (४) "ततो निरालम्बनाः सर्व एव प्रत्ययाः स्वप्नप्रत्ययवदिति कोऽर्थः ? स्वरूपालम्बनाः ।" (पृ०३६५) "निरालम्बनसद्दृश्य स्वांशालम्बाभिधेयता ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३७२ । (५) माध्यमिकस्य । (६) "स्वरूपे सर्वमभ्रान्तं पररूपे विपर्ययः ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३७२ । (७) नीलादिसुखादितः । तुलना– "तस्माच्च नीलादिभ्यतिरेकेण बोधो बुद्धिरिति निरूप्यते । नीलाच्च व्यतिरेकेण विषयिज्ञानमीक्षते । ज्ञानपृष्ठेन भेदस्तु कल्पनाशिल्पिनिर्मितः ॥"–प्र० वार्तिकाल०पृ० ४०६ । "नहि सितासितादिभ्यतिरेकेण ग्राहकादिता प्रतिभासमानोपलभ्यते ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३७२ ।

ग्राह्यं ग्रहणं वा इति तद्युक्तं 'स्वयम्' इत्यादि इति चेत्; तत्र 'अहं नीलादिकं वेद्मि' इति प्रतीतेरपलापे सर्वापलापप्रसङ्गात् ।

एतेन एतदपि निरस्तं तदुक्तं परेण–*"यस्मिन्नित्तमस्ति अयं ग्राह्याकारः अयं ग्राहकाकारः अयं संवेदनाकार इति व्यवस्था, तस्य चेद् भेदः तर्हि तेषामपि भेद एव इति नैकं तदात्मकं युक्तम् , अन्यथा न तद्व्यवस्था।" इति; कथम् ? एवं प्रतिभागं विचारणे सर्वस्य ५ परमाणुगमने न सन्तानान्तरसिद्धिः सकलशून्यतामात्रम् अत्राणं वा। अत एव एकानेकरूप-[६२क] विकल्पशून्यप्रतिभासमात्रमपि न युक्तम् । ततः प्रतिभासमात्रमभ्युपगच्छता 'नीलमहं वेद्मि' इत्येकं ज्ञानमभ्युपगन्तव्यमिति सूक्तम्–'स्वयम्' इत्यादि । तथापि तदभ्रान्तमभ्युपगच्छतो दूषणमाह–यदि पुनः इत्यादि । इदम् अद्वयं द्वयनिर्भासवत् संवेदनं यदि पुनः प्रत्यक्षमेव संविदपि नाप्रत्यक्षम् इति एवकारार्थः। तिमिराभ्युपहतचक्षुषां किम् स्यात्? स्यादेव संवेदनं प्रत्यक्षमेव १० चन्द्रादिविषयम् । कुत एतत् ? इत्यत्राह–तद् इत्यादि । सुगमम् । पूर्वव्याख्यानेऽपि एतदेव योज्यम् । अयं तु विशेषः तत्र कथञ्चिद् इति । तन्न माध्यमिकदर्शनेऽपि *"किं स्यात्" [प्र०वा० २।२१०] इत्याद्युपपन्नम् ।

उक्तमर्थमुपसंहृत्य दर्शयन्नाह–स्वार्थस्वलक्षणम् इत्यादि ।

[स्वार्थस्वलक्षणं ज्ञानं लक्षयेत् परिणामि च । १५
अन्तर्बहिश्च तत्केदं प्रत्यक्षं कृतलक्षणम् ॥१६॥

अन्तः स्वलक्षणस्य परमार्थतो द्वयनिर्भासप्रतीतेः बहिरेकस्य स्थवीयसः प्रतिभासनात् । तदेकं स्थवीयांसं परिणामिनमाकारं सकललोकसाक्षिकमभ्रान्तं सन्दर्शयन्ती बुद्धिः अनेकान्तसिद्धिः स्वयमेकान्तं निराकरोतीति किमभिन्तया ?]

स्वस्वलक्षणमर्थस्वलक्षणं च स्वं स्वग्रहणयोग्यं वा अर्थस्वलक्षणं कर्मतापन्नं ज्ञानं २० कर्तृ परिणामि च उक्तन्यायेन लक्षयेत् निश्चिनुयात् पराभ्यु [पगत] परिणामं च इत्युक्तम् । क ? इत्यत्राह–अन्तर्बहिश्च इति । अन्तः स्वस्वलक्षणम् बहिः अर्थस्वलक्षणम् । ततः किं जातम् ? इत्यत्राह–तत् केदम् इत्यादि । यत एवं तत् तस्मात् क्व [क]चित् बहिरन्तर्वा इदं सौगतेन उच्यमानम् किम् ? प्रत्यक्षम् । कथंभूतम् ? कृतलक्षणं*"कल्पनापोढमभ्रान्तम्" [न्यायवि० १।४] इति कृतं लक्षणं यस्य तत् तथोक्तम्, क्वचिदपि इति । यदि वा, २५ प्रत्यक्षं दर्शनग्राह्यं वस्तु कृतलक्षणं निश्चितस्वरूपं क्व इति व्याख्येयम् ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–अन्तः इत्यादि । [६२ख] अन्तःस्वलक्षणस्य-ज्ञानस्वलक्षणस्य द्वयनिर्भासप्रतीतेः एकानेकाकारप्रतीतेः । किम् ? परमार्थतो न विपर्यासात् अन्यथाभूतस्य अन्यथाग्रहणात् । बहिः एकस्य इत्यनेन *"सञ्चितालम्बनाः पञ्च विज्ञानकायाः" इति

---

(१) ग्राह्याकारात्मकम् । (२) "...सा चित्रतैकस्यां न स्यात्तस्यां मतावपि । यदीदं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम् ।"–प्र० वा० ।

परस्यं मतं न युक्तमिति दर्शयति । 'स्थवीयसः' इत्यनेन 'निरंशपरमाणुमात्रं तत्त्वम्' इति निराचष्टे[2] 'प्रतिभासनात्' इत्यतः तस्य विकल्पविषयत्वम्[3] । ततः किम् ? इत्याह—**तदेकम्** इत्यादि। **तस्य** अन्तर्बहिःस्वलक्षणस्य **एकम्** अनेकरूपसाधारणं **स्थवीयांसम्** अत एव **परिणामिनम्** विवक्षितेतरपर्यायवन्तम् **आकारं** लक्षणं **सकललोकसाक्षिकम्** अभ्रान्तं **सन्दर्शयन्ती बुद्धिः** **अनेकान्तसिद्धिः** [अनेकान्ता सिद्धिः] निर्णीतिः यस्या सा तथोक्ता स्वयं वा तस्य सिद्धिः । सा किं करोति ? इत्याह—**स्वयम्** इत्यादि । **स्वयम्** आत्मनैव न परेण **एकान्तं निराकरोति**, अनेकान्तसिद्धेः एकान्तनिषेधात्मकत्वादिति मन्यते । **इति** हेतोः **किं नः** अस्माकम् **चिन्तया** एकान्तनिषेधार्थपरीक्षयेति ?

ननु कथमेकान्तं सौ[4] निराकरोति एकान्तविषयानुमानेन बाधितत्वादिति चेत् ? अत्राह—**ज्ञानम्** इत्यादि ।

[ज्ञानं स्वार्थबलोद्भूतं स्वलक्षणविलक्षणम् ।
सामान्यलक्षणं सिद्धिरनेकान्तात्तथेक्षणात् ॥१७॥

यथा अन्तर्बहिर्वा परपरिकल्पितलक्षणं स्वलक्षणं प्रत्यक्षलक्षणं न पुष्णाति तथैव सामान्यम् । क्वचित्···द्रव्य·····।]

ज्ञानं स्वग्राह्यस्य **अर्थस्य** न लिङ्गादेः **बलेन उद्भूतम्** उत्पन्नम् 'अध्यक्षम्' इति यावत् । यथा **स्वलक्षणविलक्षणं** निरंशक्षणिकपरमाणुग्रहणपराङ्मुखं तथा **सामान्यलक्षणं** सामान्यं लक्ष्यते यस्य [६३क] येन वा तत्तथोक्तं ज्ञानम् 'अनुमानम्' इति यावत् **'स्वलक्षणविलक्षणम्'** इति सम्बन्धः । तथा च कुतः तेन तद्बुद्धेर्वा इति भावः । यथातथाशब्दावन्तरेणापि प्रतिवस्तूपमालङ्काराश्रयाणादयमर्थो लभ्यते । कुतस्तर्हि तत्त्वसिद्धिः ? इत्यत्राह—**सिद्धिः** तत्त्वस्य आत्मलाभः निर्णीतिर्वा **अनेकान्तात्** अनेकान्तमाश्रित्य तेन हेतुना वा । कुतः ? **तथेक्षणात्** अनेकान्तप्रकारेण सर्वस्य दर्शनादिति ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—**यथा** इत्यादि । **यथा** येन प्रकारेण **अन्तर्बहिर्वा स्वलक्षणं** कर्मतापन्नं **प्रत्यक्षलक्षणम्** अध्यक्षप्रमाणं कर्तृ **न पुष्णाति** न गृह्णाति । कथंभूतं तत् ? इत्याह—**परपरिकल्पितं** सौगतकल्पितं **तथैव सामान्यं** "विषयिणि विषयशब्दोपचारात् अनुमानं तत् (तन्न) **पुष्णाति** इति । **'परपरिकल्पितम्'** इत्येतदत्रापि योज्यम् । कुत एतत् ? इत्यत्राह—**द्रव्य** इत्यादि सुगमम् । तत्त्वं न पुष्णातीति ।

अथवा, अन्यथा कारिकेयमवतार्यते—यदि सौगतकल्पितमविकल्पकं दर्शनं न क्वचिदस्ति तर्हि इदमस्तु[5]—

***"अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् ।**
बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम् ॥" [मी० श्लो०प्रत्यक्ष० श्लो० ११२]

(१) बौद्धस्य । द्रष्टव्यम्—पृ० २५ टि० १० । (२) निराकरोति । (३) निराचष्टे इति सम्बन्धः । (४) बुद्धिः अनेकान्तसिद्धिः (५) सामान्यविषयके अनुमाने । (६) सामान्य । (७) मीमांसकाभिमतम् ।

इति चेत्; अत्राह—**ज्ञानम्** इत्यादि । अत्रापि प्रतिवस्तूपमालङ्काराश्रयणात् यथा **ज्ञानं स्वार्थस्य** निरंशक्षणिकपरमाणुरूपस्य **बलेन उद्भूतम्** अविकल्पं दर्शनम् **स्वलक्षणविलक्षणं** स्वग्राह्यपराङ्मुखं तथा **सामान्यलक्षणं** सामान्यविषयं [६३ख] **स्वलक्षणविलक्षणं** स्वविषयग्रहणपराङ्मुखम् । उभयत्र 'लक्ष्यत इति लक्षणम्' इति व्युत्पत्तेरयमर्थः । कुत एतत्? इत्याह—**सिद्धिः** निर्णीतिः स्वलक्षणस्य सामान्यस्य **अनेकान्तात्** अनेकान्तमाश्रित्य **तथेक्षणात्** तथा वा (तथैव) दर्शनात् ।

यथा इत्यादिना कारिकार्थमाह—**यथा अन्तर्बहिर्वा स्वलक्षणं परपरिकल्पितं** सौगतकल्पितं न प्रमाणसिद्धं कर्तृ **प्रत्यक्षलक्षणं** *"कल्पनापोढमभ्रान्तम्" [न्यायबि० १।४] इत्यध्यक्षस्वरूपं कर्मतापन्नं **न पुष्णाति** तत्र स्वरूपासमर्पकत्वात्, तथैव परपरिकल्पितं **सामान्यं** तत्र पुष्णाति इति । कुत एतत्? इत्यत्राह—**क्वचित्** इत्यादि । एतदपि कुतः? इत्यत्राह—**द्रव्य** इत्यादि ।

इतश्च सामान्यलक्षणमनुमानादि परस्य स्वलक्षणविलक्षणमिति दर्शयन्नाह—**'अङ्गीकृता'** इत्यादि ।

[अङ्गीकृतात्मसंवित्तेरविकल्पोपवर्णनम् ।
अनुमाद्यात्माऽविकल्पेनार्थस्याविकल्पनात् ॥१८॥

स्वानुभवमन्तरेण बुद्धेर्न स्वार्थानुभवः । यथा ज्ञानसत्तामात्रेण अर्थानुभवे न सर्वस्य सर्वदर्शित्वं संभवति तथैव अनिश्चितस्वानुभवसत्तामात्रेणापि अर्थनिश्चये तन्निश्चय इति सर्वस्य सर्वनिश्चय इति 'यः स्वभावो निश्चयेन न निश्चीयते स कथं तद्विषयः स्यात् बहिरर्थवत्' यतः प्रत्यक्षमविकल्पकं भवेत्? परतः संवेदने वा अनवस्थादेः ।]

अङ्गीकृता नैयायिकादिनिरासेन अभ्युपगता सौगतेन **आत्मसंवित्तिः** सर्वचित्तचैत्तानां स्वरूपगृहीतिः तस्या **अविकल्पोपवर्णनं**[1] निर्विकल्पत्वादि, **अनुमानादिः (मादिः)** तस्यात्मा स्वरूपं तस्य **अविकल्पो** निर्विकल्पकत्वं तेन **अर्थस्य** क्षणक्षयादेः **अविकल्पनाद्** अनिश्चयात् अविषयीकरणात् ।*"तत्र यः स्वभावो निश्चयेन निश्चीयते स कथं तेषां विषयः स्यात् ।" इत्यभिधानात् इति कथं तैः अनेकान्तसिद्धेः बुद्धेः बाधनमिति भावः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—**स्वानुभव** इत्यादि । **स्वानुभवं** स्वरूपग्रहणमन्तरेण **बुद्धे द्वनिस्या (र्न स्वा)र्थस्य** [६४क] घटादेः **अनुभवो** ग्रहणं **यथा** येन **ज्ञानसत्तामात्रेण अर्थानुभवे** सन्तानान्तरज्ञानसत्तामात्रापेक्षयादि (यापि) तदनुभवे **सर्वस्य सर्वदर्शित्वम्** इति प्रकारेण **न संभवति तथैव** तेनैव **अनिश्चितस्वानुभवसत्तामात्रेण अर्थनिश्चये** सन्तानान्तरज्ञानतन्मात्रेणापि **तन्निश्चय इति सर्वस्य सर्वनिश्चय** इति प्रकारेण स्वनिश्चयमन्तरेण स्वार्थनिश्चयो न तु संभवति इति सम्बन्धः । तथा च अनुमानम्—यत्र यस्य यदनिश्चितस्वरूपं ज्ञानं तत्र तस्य तदपेक्षया न परमार्थतो निश्चितव्यवहारः यथा घटादौ देवदत्तस्य यज्ञदत्तज्ञानापेक्षया न तथा तद्व्यवहारः, अनिश्चितस्वरूपं च सौगतस्य सर्वत्र सर्वविकल्पज्ञानमिति । अथ स्वविकल्पस्य विषयीकरणम् अन्यस्य

(१) "सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षम् ।"—न्यायबि० १।१०। (२) आत्मान्तर। (३) अर्थनिश्चयः।

विपर्ययः ततोऽयमदोष इति चेत्; अत्राह—यः स्वभावः इत्यादि । यः स्वभावो यत्स्वरूपं निश्चयैर्न निश्चीयते स स्वभावः कथं नैव तेषां निश्चयानां विषयः स्याद् भवेत् । अत्र दृष्टान्तमाह—बहिरर्थ इव तद्वत् इति । तथा च प्रयोगः—न स्वरूपं निश्चयानां विषयः तैः[1] तदनिश्चयात् बहिरर्थवत् । अस्य[2] तद्विषयत्वे स्वलक्षणगोचरत्वं तेषामनिष्टं [स्यात्] । स्यान्मतम्—स्वरूपस्य दर्शनं बहिरर्थस्य ततो विशेष इति; न; अनिश्चितस्य क्षणिकत्ववद् दर्शनमिति कुतः ? सिद्धं फलं दर्शयन्नाह—यत इत्यादि । यतः तस्य तद्विषयत्वात् प्रत्यक्षमविकल्पं सर्वचित्तचैत्तानाम् आत्मसंवेदनं [६४ख] भवेत् । यत इति वा आक्षेपे, नैव भवेत् । अथ निश्चयानां स्वभावः निश्चयान्तरैर्निश्चीयत इत्यदोषः; तत्राप्याह—परतः इत्यादि । परतः अनुभवान्तरात् निश्चयान्तराच्च संवेदने निश्चये वा निश्चयानाम् अनवस्थादेः आदिशब्देन अविशेष्यविशेषणस्याविशेषः सौगतवैशेषिकयोरिति । ततो यथा वैशेषिकस्य अनुभवाभावेन प्रत्यक्षादेरभावात् *"प्रत्यक्षानुमानागमबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तो हेतुः कालात्ययापदिष्टः" इत्ययुक्तम्, तथा सौगतस्य *"अनिराकृतः" [न्यायवि० ३।४०] इत्यपि[3], कस्यचित् निराकरणाभावादिति भावः ।

ननु सौगतस्य अन्यस्य वा एकान्तवादिनो [न] कचित् प्रत्यक्षं कृतलक्षणम्, तद्वा स्वलक्षणं सामान्यलक्षणं वा न पुष्णाति । कथम्भूतं तर्हि तत्[4] कीदृशं वा स्वलक्षणं सामान्यलक्षणं वा पुष्णाति इति चेत् ? अत्राह—प्रत्यक्षम् इत्यादि ।

[प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं प्रसन्नाक्षेतरादिषु ।
यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता ॥१९॥

प्रत्यनीकधर्मसाधारणसंवित्स्वप्रमितेः असाकल्यसंभवे विषयस्वलक्षणेऽपि किम् भवेत् इति किमाश्रित्य तत्राप्रमाणत्वम् ? प्रसन्नाक्षबुद्धेः सर्वथा संवादिनियमायोगात् किम् प्रमाणमपि । दृष्टे प्रमाणान्तरावृत्तेः । उपप्लुताक्षाणामपि विनैव लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धप्रतिपत्त्या अर्थे परिच्छिद्य प्रवृत्तावविसंवाददर्शनात् । तावता च प्रामाण्यसिद्धेः ।]

अत्रायमर्थः—यदा केनचित् चक्षुरादिसामग्र्यनुपचरितं[5] प्रत्यक्षं प्रमाणमिष्यते तदा तत्र प्रसन्नसाधनसामर्थ्यात् ज्ञानत्वमापाद्यते, तथाविधप्रत्यक्षप्रमाणस्य ज्ञानत्वेन व्याप्तेः । किमर्थमिति चेत् ? तदनभ्युपगच्छतः प्रसन्नविपर्ययात्, तज्ज्ञानं प्रत्यक्षं प्रमाणं यथा स्यादिति । यदा तु केनचिद् अविशदं व्याप्त्यादिज्ञानं प्रत्यक्षमिष्यते तदा ज्ञानं विशदं प्रत्यक्षमिति साध्यते वक्ष्यमाणप्रमाणान्तरसद्भावाऽन्यथानुपपत्तेः । 'ज्ञानम्' इति एकवचनं जात्यपेक्षया सर्वविशद-[६५क] ज्ञानपरिग्रहार्थम् । कुत एतत् ? इत्यत्राह—प्रसन्नाक्षेतरादिषु प्रसन्नाक्षाः पुरुषा इतरे अप्रसन्नाक्षाः, आदिशब्देन आसन्न-आसन्नतरादिपुरुषपरिग्रहः, तेन यथा येन प्रकारेण यत्र

(१) निश्चयैः । (२) निश्चयस्य । (३) स्वरूपविषयत्वे । (४) "प्रत्यक्षागमविरुद्धः कालात्ययापदिष्टः"—न्यायकलि० पृ० १५ । न्यायकुमु० पृ० ३२० टि० ७ । (५) न युक्तम् । "स्वरूपेणैव स्वयमिष्टोऽनिराकृतः पक्षः"—न्यायवि० । (६) प्रत्यक्षं वा । (७) प्रत्यक्षम् । (८) तुलना—"यद्यथैवाविसंवादि प्रमाणं तत्तथा मतम् ।"—लघी० श्लो० २२ । उद्धृतमिदम्—त० श्लो० पृ० १७० । अष्टस० पृ० १६३ । सन्मति० टी० पृ० ५९५ । (९) अनुपचरित ।

विषये विशदं तथा तेन प्रकारेण तत्र विषये 'प्रत्यक्षम्' इति सम्बन्धः, इतरत्र तदेव परो(परो)-क्षमित्यभिप्रायः । न केवलं प्रत्यक्षम् अपि तु **यथा** येन प्रकारेण **यत्र** प्रसज्ञाक्षेतरादिषु ज्ञानेषु मध्ये यस्मिन् ज्ञाने **अविसंवादो** वर्णनं (अवञ्चनम्) **तथा** तेन प्रकारेण **तत्र** ज्ञाने **प्रमाणता** । अनेन एतत् कथयति—सर्वं संसारिज्ञानं स्वगोचरे विशदमविशदं प्रमाणमन्यथा च इत्यनेकान्तः, तथा तत्साध्यमपि तदेव पुष्णाति इति । अथ कोऽयमविसंवादो नाम? स्वार्थव्यवसायः[५] *"**नातः परोऽविसंवादः**" इति वचनादिति चेत्; स्वप्नादौ[६] प्रसङ्गात् । तत्रापि हि स्वार्थव्यवसायलक्षणस्य अविसंवादस्य भावात् विज्ञानं प्रमाणमिति प्रमाणेतरप्रविभागविलोपः ।

स्यान्मतम्—न तत्र स्वार्थौ[८]; बाध्यमानत्वात्, अतो न तद्व्यवसायलक्षणोऽविसंवाद इति । ननु किमिदं बाध्यमानत्वम् ? तद् यदि प्रतिभासकाले ज्ञानान्तरेण बाधकेन स्वरूपापहारः असत्त्वज्ञापनं वा; तर्हि अश्रद्धेयम् । नहि ज्ञानस्य इतरस्य वा स्वरूपमपहर्तुं शक्यम्, प्रतिभासमानस्य अप्रतिभासप्रसङ्गात् । नापि असत्त्वज्ञापनम्; जाग्रत्तस्तम्भादौ[९] प्रसङ्गात् । यदि पुनस्तत्र 'मिथ्या वितर्कितमेतत्' इति प्रत्ययाऽभावान्नायं दोष इति मतिः, सापि न युक्ता [६५ख] असत्येऽपि कदाचिद्भावात् सत्येऽप्यभावात् । प्रत्ययस्यापि सदर्थत्वे समानो दोषः; अनवस्था च । अथ कालान्तरे; तदा असतः सर्वथा कोऽपहारः अन्यद्वा । तन्न स्वार्थव्यवसायोऽविसंवादः । उपलब्धस्य पुनःपुनरुपलब्धिः फलेन वाऽभिसम्बन्धः सैं इति चेत्; न; तस्यै[१०] क्षणिकत्वान्नाशेन तदसंभवात्, स्वप्ने भावाच्च । ततो न क्वचिद् अविसंवाद इति ।

अत्र प्रतिविधीयते—एवं हि सर्वप्रतिभासाऽविशेषे [११]प्रमाणेतरप्रविभागाऽभावाद् अर्थवत् कुतः स्वसंवेदनमात्रसिद्धिः, यतः प्रतिभासाद्वैतमन्यद्वा स्यात्? प्रतिभासात्सिद्धौ[११]; बहिरर्थसिद्धिः । [१२]अत एव अत्र स्वप्नेऽपि तत्सिद्धेर्हि विभ्रमेतरवियोगः[१३], [१४]अपरत्र बहिरर्थसिद्धेः असौगतं जगत् स्यात् । प्रतिभासविशेषः अन्यत्रापि न वार्यते । ननु बुद्धेः स्वसंवेदनमस्तु प्रतिभासनात् नान्तर्बहिरर्थो विपर्ययात् घटादीनामपि स्वसंवेदनात्मकत्वादिति चेत्; तर्हि *"**यद् ग्राह्यतया ज्ञानरूपेषु प्रतिभाति तदसत् तैमिरिककेशादिवत्, [१५]तत्र प्रतिभाति च तथा जाग्रद्घटादिकम्**" इत्यत्र वादिनोऽसिद्धो हेतुः । [१६]प्रतिवादिनः सिद्ध इति चेत्; न; [१७]प्रमाणतः तत्सिद्धौ द्वयोरपि सिद्धः,

---

(१) स्वप्नादावपि । (२) स्वप्नादौ । (३) वस्तुतः स्वार्थौ । (४) स्वार्थव्यवसाय । (५) तुलना—"कोऽयं बाधो नाम—परेण विषयाभावज्ञापनं स पर्यीप्यते । स्वार्थे प्रवृत्तिमज्ञानमभावं ज्ञापयेत् कथम् ॥ न तावज्ज्ञानान्तरेणाभावः स्वप्नज्ञानस्यान्यस्य वा केनचित् क्रियते तत्काले तस्य स्वयमेव नाशात् । नाक्षिनिमीलनाक्षेपे ज्ञाने बाध्यता प्रतीयते । अन्येन न हि ज्ञानेन तस्य विषयापहारोऽसत्ताज्ञापनलक्षणो बाधः··· विज्ञातीयविदुःपत्तिर्यदि बाधकमुच्यते । घटज्ञाने पटज्ञानं बाधकं किन्न युक्तिमत्···तस्माद् यथा जाग्रत्प्रत्ययः स्वप्नप्रत्ययस्य बाधकः तथा विपर्ययोऽपि केवलग्रहणादिति न्याय एषः ।"—प्र० वार्तिकाल० पृ० ४-७ । (६) जाग्रत्तस्तम्भादौ । (७) अविसंवादः । (८) प्रथमज्ञानस्य । (९) पुनः पुनरुपलब्धस्य फलेन वाभिसम्बन्धस्याभावात् ।(१०)"व्यवहारमात्रमेवेदं स्वप्नास्वप्नभेदो नाम तथा प्रमाणाप्रमाणभेद इति हि वक्ष्यते ।"—प्र० वार्तिकाल० पृ० ५ । (११) स्वसंवेदनमात्रसिद्धौ । (१२) प्रतिभासमात्रादेव । (१३) विभ्रमेतरविभागाभावः । (१४) जाग्रदवस्थायाम् । (१५) ज्ञाने । (१६) जैनादिकस्य । (१७) तुलना—"यदि प्रमाणतः सिद्धं नानात्मसिद्धं नाम, परस्येव आत्मनोऽपि वादिनः सिद्धत्वात्, प्रमाणसिद्धस्य सर्वेषामविप्रतिपत्ति-

प्रमाणस्य क्वचित् पक्षपातेतरयोः अयोगात्। अभ्युपगमात्[1] तत्सिद्धौ न ततः कस्यचित् साध्यसिद्धिः अतिप्रसङ्गात्, इतरथा सौगतप्रसिद्धेन उत्पादविनाशात्मत्वेन घटवत् सुखादौ अचेतनत्वं साधयन्[3] सांख्यः ध र्मे की र्त्ति ना किमिति प्रतिक्षिप्तः[4] ? [६६ क] प्रसङ्गसाधनत्वाददोषः, तथाहि—जाग्रद्घटादीनां ग्राह्यत्वेन अवभासनं चेदङ्गीक्रियते बहिरर्थवादिना, तर्हि तेषां[5] तैमिरिकोपलब्ध-
५ केशादिवदसत्त्वमभ्युपगन्तव्यम्, इतरथा न कस्यचिदित्येकान्त इति चेत्; न; अस्य प्रसङ्गसाधनलक्षणाऽभावात्। यत्र हि व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयकः[6] प्रदर्श्यते तत् प्रसङ्गसाधनम्। न चैतदत्रास्ति। स्वसंवेदनैकान्ते वादिप्रतिवादिनोः[7] स्वप्नादावपि स्तम्भादीनां ग्राह्यत्वेन प्रतिभासाऽसिद्धेः कस्याऽसत्त्वेन व्याप्तिः यदभ्युपगम इतराभ्युपगमनान्तरीयकः प्रदर्श्येत ? परस्य[8] सिद्धं सर्वमेतदिति चेत्; उक्तमत्र 'प्रमाणतस्तत्सिद्धौ उभयोः[9] सिद्धम्, इतरथा[10] परस्यापि न सिद्धम्'
१० इति। यदा च कश्चिद् गुडं विषं मारणात्मकं वा अभ्युपगम्य पुनर्मोहात् शर्करादिकमपि 'विषम्' इत्यवगच्छति, स किं विदुषैवं वक्तव्यः—यदि '[11]तत् विषम्' इत्यभ्युपगच्छति तर्हि तन्न खाद येन म्रियसे, उक्तो[12] भक्षयित्वा किं म्रियते वा ? ततः सिद्धं हेतुमभ्युपगच्छता अभ्युपगन्तव्य एव बहिरर्थप्रतिभासः इत्ययुक्तं विपर्ययादिति[13]।

अपि च, घटादीनां कुतः स्वसंवेदनात्मकत्वम् ? *"यदवभासते तज्ज्ञानं यथा सुखादि,
१५ अवभासन्ते च घटादयः, जडस्य प्रतिभासाऽयोगात्" [14]इत्यनुमानादिति चेत्; उच्यते—जडस्य प्रतिभासाऽयोगः[15] तत्र प्रतिभासाभावः। तत्र [16]यदयं जडं कञ्चित् विपक्षं न प्रतिपद्यते; कथं तत्र[17] साधनाभावमवैति ? नहि अप्रतिपन्नभूतलस्य 'अत्र [६६ख] भूतले घटो नास्ति' इति निश्चयो भवति, अन्यथा *"क्वचिद् देशविशेषे प्रतिपत्तृप्रत्यक्षे" इति[18] च वाचा (वचो) न जाघटीति। यथा च जडेऽप्रतिपन्नेऽपि तत्र [19]प्रकृतसाधनाभावनिश्चयः तथा सर्वज्ञे अनुपलब्धेऽपि
२० तत्र वक्तृत्वादिसाधना(न)भावः कथन्न निश्चीयते ? यत इदमनुमानम्[20]—सुगतः सर्वज्ञः परमवीतरागो वा न भवति वक्तृत्वात् रथ्यापुरुषवत्' इति। अथवा, यद्यपि जडं किञ्चिन्नोपलभ्यते तत्र तथापि साधनाभावनिश्चयः [21]तदभावादिति। कुत एतत् ? अनुपलम्भादिति चेत्; किं

विषयत्वात्···यत् प्रमाणमन्तरेण सिद्धं तत् परस्यापि न सिद्धम्।"—अष्टश०, अष्टस० पृ० ३६-३७।

(१) परस्य अभ्युपगमात्। (२) हेतुसिद्धौ। (३) 'सुखादयोऽचेतनाः उत्पत्तिमत्त्वात् घटादिवत्' इत्यादिना। (४) "कश्चिद् बहिःस्थितानेव सुखादीनप्रचेतनान्। ग्राह्यानाह न तस्यापि सकृणुक्तो ह्यग्रहः॥"—प्र०वा०२।२६८ इत्यादिना। "अचेतनाः सुखादयः इति साध्ये उत्पत्तिमत्त्वमनित्यत्वं वा सांख्यस्य स्वयं वादिनोऽसिद्धम्।"—न्यायवि० ३।६०। प्र० वार्तिकाल० पृ० ४७०। (५) घटादीनाम्। (६) अन्तरा विना भवतीति अन्तरीयकः विनाभावी, न अन्तरीयकः नान्तरीयकः अविनाभावीत्यर्थः। (७) प्रतिवादिनः। (८) वादिप्रतिवादिनोः। (९) प्रमाणतः सिद्ध्यभावे। (१०) प्रतिवादिनोऽपि। (११) शर्करादिकम्। (१२) एवं कथितो वा। (१३) 'न बहिरर्थो विपर्ययात्' इति। (१४) "यदेव दृश्यते तदेवाभ्युपगम्यते। तथाहि प्रतिभासात्तद्गतमेव नीलमवभासते नापरं ततः प्रतिभासव्यतिरेकेण न प्रमाणम् ततो नाभ्युपगमः।"—प्र० वार्तिकाल० पृ० ३८९। (१५) जडे। (१६) प्रतिभासाद्वैतवादी। (१७) जडे। (१८) "तत्रानुपलब्धिर्यथा न प्रदेशविशेषे क्वचिद् घटः = क्वचिदिति प्रतिपत्तृप्रत्यक्षे क्वचिदेव प्रदेशे इति"—न्यायवि०, टी०२।१३। (१९) 'प्रतिभासमानत्वात्' इति। (२०) मीमांसकोक्तं न भवेत्। (२१) जडाभावात्।

पुनः सर्वज्ञोपलम्भोऽस्ति ? [1]सोऽयम् 'अनुपलम्भमात्रात् सर्वज्ञाभावमनिच्छन् [2]तत एव जडाभावमिच्छति' इति स्वेच्छावृत्तिः, सर्वज्ञवत् जडस्यापि केनचिदुपलम्भाऽविरोधात् । ततो ध र्म की र्त्ति ना यदुक्तम् [तदयुक्तम्]

*"यस्याऽदर्शनमात्रेण व्यतिरेकः प्रसाध्यते ।
तस्य संशयहेतुत्वात् [3]शेषवत्तदुदाहृतम् ॥" [प्र० वा० ३।१३] इति । ५

तदभ्युपगच्छता अदृष्टे जडे न साधनाभावोऽभ्युपगन्तव्यः । प्र ज्ञा क र गु प्त स्तु *" तत्कार्ये कारणे वाऽप्रतिपन्ने न कारणकार्यभावनिश्चयः परचैतन्ये वाऽविषयीकृते न तस्य स्वदृष्टे वृत्तिः निश्चीयते" इति वदन् जडेऽदृष्टेऽपि हेत्वभावं प्रत्येति इति कथमनुन्मत्तः ? ननु तस्मिन्नप्रतिपन्नेऽपि 'स्वतो वा परतो वा जडस्य प्रतिभासः स्यात्' इत्यादिविचारात् साधनाऽभावः प्रतीयते इति चेत् ; उच्यते—यद्ययं न प्रमाणम् , कथमतः क्वचित् कस्यचित् विधिप्रतिपेधयोः सिद्धिः अतिप्रसङ्गात् ? प्रमाण[६७क]त्वेऽपि न प्रत्यक्षम् ; परामर्शात्मकत्वाद् विचारस्य, तद्विपरीतत्वाच्च अध्यक्षस्य । भवतु वा तथापि न तत् स्वयमविषयीकृते विपक्षे साधनाभावमवैति तथाविधे अन्यथा परलोकादौ तत्सन्तानाभावमवैति इति यदुक्तं ध र्म की र्त्ति ना वि नि श्च ये *"तदेव तत्र नास्ति, तत एव तदभावसिद्धिः इत्ययुक्तम्" इति ब्रुवते । नाप्यनुमानम् ; अलिङ्गजत्वात् । अपि च, *"यावान् कश्चित् प्रतिषेधः स सर्वोऽनुपलब्धेः, अप्रतिषिद्धोपलम्भस्याभावासिद्धेः" इति वचनात् , तत्र तदभावः अनुपलम्भात् प्रत्येयः । एवं चेत्तर्हि यद्ययं विकारः (चारः) अनुमानात्मकः स्वभावानुपलम्भजनित इष्यते; युक्तं प्रतिभासस्य पक्षयोर्घटादिसुखाद्योः उपलब्धस्य ततः क्वचिज्जडे विपक्षे अभावसाधनम् , किन्तु जडस्य [5]निषेध्यविविक्तस्य प्रतिपत्तिरभ्युपगन्तव्या [6]तस्या एव [7]तदनुपलम्भात्मकत्वात् घटविविक्तभूतलप्रतिपत्तेः घटानुपलम्भात्मकत्ववत् । न च सेष्यते परेण । अथ च स्वभावविरुद्धहेतुः ज(तुज)नितः ; तर्हि कः तद्विरुद्धो हेतुः ? जडत्वमिति चेत् ; तदप्रतिपत्तौ कस्य तेन विरोधः प्रतीयताम् ? अन्यथा अदृश्यात्मनामेव तेषां तद्विरुद्धानां च सिद्धिः असिद्धिर्वा वेदितव्या *"[12]अन्येषां विरोधकार्यकारणभावाभावासिद्धेः" [न्यायवि० २।४७] इत्यस्य विरोधः ।

'ननु च सुखादौ प्रतिभासो ज्ञानत्वेन व्याप्तः प्रतिपन्नः, ज्ञानत्वविरुद्धं च जाड्यम् , ततोऽस्मान्निवर्त्तमानं ज्ञानत्वं स्वव्याप्यं प्रतिभासमादाय निवर्तत इति व्यापकानु[६७ख]पलब्धिजनितोऽयम्' इत्यपि वार्त्तम् ; अतिप्रसङ्गो हि एवं स्यात् । शक्यं हि वक्तुं क्वचिद् रथ्यापुरुषे वक्तृत्वादेः असर्वज्ञत्वं व्यापकं प्रतिपन्नं सर्वज्ञत्वेन विरुद्धम् , अतः [13]तन्निवर्तमानं स्वव्याप्यं

(१) बौद्धः । "सर्वज्ञो वक्ता नोपलभ्यते, इत्येवम्प्रकारस्यानुपलम्भस्य अदृश्यात्मविषयत्वेन सन्देहहेतुत्वात् ।"—न्यायवि० ३।७०। (२) अनुपलम्भमात्रात् न तु दृश्यानुपलम्भात् । (३) "सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वं शेषवदुच्यते प्रतिबन्धाभावादित्यर्थः ।"—प्र० मनोरथ० । (४) जडे । (५) विचारः । (६) निर्विकल्पकत्वेन अविचारकत्वात् । (७) अविषयीकृते । (८) "यावान् कश्चित् प्रतिषेधः स सर्वोऽनुपलब्धेः"—प्र० वार्तिकाल० पृ०५२०, ६३८ । (९) निषेध्यः प्रतिभासः । (१०) प्रतिभासविविक्तजडप्रतिपत्तेरेव । (११) प्रतिभासानुपलम्भात्मकत्वादिति भावः । (१२) अदृश्यात्मनामेव । (१३) असर्वज्ञत्वम् ।

वक्तृत्वादिकमादाय निवर्तत इति वक्तुरसर्वज्ञत्वसिद्धिरिति । ततो यथा न वक्तृत्वादेः असर्वज्ञत्वेन व्याप्तिः तथा न ज्ञानत्वेन प्रतिभासस्य । अथ जडेन विरोधादस्य तेन व्याप्तिः; तर्हि अन्योऽन्यसंश्रयः—सिद्धे हि जडेन अस्य विरोधे तेन व्याप्तिः, अस्यां च सिद्धायां तेन विरोधः सिध्यति इति । ततो वक्तृत्वादिवत् शेषवानयं हेतुरिति स्थितम् । अथ प्रतिपद्यते किञ्चित् जडम् ; तेनैव 'प्रतिभासात्' इत्यस्य हेतोर्व्यभिचारः । मा वा भूदयं दोषः, तथापि अतो हेतोर्जायमानमनुमानं स्वतोऽर्थान्तरं साध्यं न चेद् विषयीकरोति; कथं तत्र प्रमाणम् अतिप्रसङ्गात् ? *"भ्रान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमा" [4]इति चेत्; नन्वत्र हेतुसाध्ययोः तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धः हेत्वनुमानयोः कार्यकारणलक्षणः, अन्यस्यासंभवात् । ततः किम् ? यथैव योग्यतया हेतुः अनुमानं स्वसमानकालमन्यथाभूतं वा जनयति तथैव ज्ञानम् अर्थं तथाविधं यदि गृह्णाति को विरोधः सर्वस्य समत्वात् ? अथात्र कश्चित् कार्यकारणभावलक्षणः अन्यो वा सम्बन्धो नेष्यते; तर्हि—

*"लिङ्गलिङ्गिधियोरेवं पारम्पर्येण वस्तुनि ।
प्रतिबन्धात् तदाभासशून्ययोरप्यवञ्चनम् ॥" [प्र० वा० २।८२] इति प्लवते ।

व्यवहारेण तदभिधानाददोष इति चेत् ; कोऽयं व्यवहारो नाम ? सम्बन्धा-[६८क]भावेऽपि तद्विकल्प इति चेत् ; कथं तदृशितात् सम्बन्धात् अनुमानं प्रेक्षकारिणः कुर्वन्तु ? कृताद्वा भावतः साध्यमनुमिन्वन्तु ? सर्वतः ईश्वराद्यनुमानात् सर्वस्य स्वार्थसिद्धिप्रसङ्गात् तत्कल्पनायाः सर्वत्राऽविशेषात् । यथैव च सोगतेन व्यवहारनिमित्तमन्याद्यनुमानं स्वमतसिद्धये वन्ध्याकुलमिव (निष्फलमेव) कक्षीक्रियते तथैव ईश्वरादिवादिनापि सौगतानुमानम् । तन्न साध्यसम्बन्धात् तदनुमानं प्रमाणम् ।

एतेन 'समारोपव्यवच्छेदकरणात् तत्तत्र प्रमाणम्' [10]इति निरस्तम् ; स्वसमानासमानकालसमारोपव्यवच्छेदकरणवद् विज्ञानस्य अर्थग्रहणं न विरुध्येत ।

यत्पुनरुक्तं परेण—*"अनुमानं सहकारिकारणं प्राण (प्राप्य) पूर्वः समारोपक्षणः स्वकार्यं [11]तत्क्षणम् [12]उत्तरतत्क्षणजनने अक्षमं जनयति।" इति; तदप्येतेन दूषितम् ; कार्यकारणभाववद् ग्राह्यग्राहकभावसिद्धेः । संवृत्या ततस्तत्तथेति चेत् ; [13]तत एव जडस्यापि प्रतिभासा (स) भावात् प्रत्यक्षतः पक्षबाधा किन्न स्यात् ? परमार्थतः तद्व्यवच्छेदकरणमपि दुर्लभम् । संवृतिसिद्धेन [14]तत्करणेन अनुमानं प्रमाणं न [15]तया सिद्धेन घटादिनाऽज्ञ (जाड्य) ग्राहिप्रत्यक्षेण पक्षबाधनमिति

(१) प्रतिभासस्य । (२) ज्ञानत्वेन । (३) सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिक इत्यर्थः । (४) "भ्रान्तिरपि च वस्तुसम्बन्धेन प्रमाणमेव"—प्र० वार्तिकाल० ३।१७५ । "तदाह न्यायवादी—भ्रान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमा ।"—न्यायवि० धर्मो० पृ०७८ । उद्धृतमिदम्—"भ्रान्तिरपि अर्थसम्बन्धतः प्रमा"—तत्त्वोप०पृ०३० । सन्मति० टी० पृ० ४८१ । "अतस्मिंस्तद्ग्रहो भ्रान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमा"—बृह० बृह० पृ० ४१ । (५) भिन्नकालं वा । (६) सम्बन्धकल्पना । (७) व्यवहारदर्शितात् । (८) परमार्थतः । (९) व्यवहारात् सम्बन्धकल्पनायाः । (१०) "प्रत्यक्षानन्तरोद्भूतसमारोपनिवारणात् । इष्टं तु लैङ्गिकं ज्ञानं प्रमाणम्···"—तत्त्वसं० श्लो० १३०२ । (११) समारोपक्षणम् । (१२) तृतीयसमारोपक्षण । (१३) संवृत्या एव । (१४) समारोपव्यवच्छेदकरणेन । (१५) संवृत्या सिद्धेन ।

किं कृतो विभागः ? अथ अनुमानेन अस्य प्रत्यक्षस्य बाधनात् नानेन पक्षबाधनम् ; अनेनाप्यनुमानस्य बाधनात् न तेन तद्व्यवच्छेदकरणमिति समानम्। ततो घटादिज्ञानत्वे अनुमानमिच्छता प्रमाणं तद्विषयमभ्युपगन्तव्यम्। तत्त्वतो[1] भिन्नं भावतोऽनुभवति न [६८ख] ज्ञानान्तरं जैडमर्थमिति स्वेच्छाविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम्।

ततो निराकृतमेतत्–*"यदि भिन्नकालो ज्ञानेन अर्थोऽवगम्यते; अँविशेषाद् एकस्य तथाविधाशेषार्थावगमप्रसङ्गः। अथ समकालः; सम्बन्धाभावात् किं केनावगम्यते? नीलादिना वा ज्ञानमवगम्येतँ। गृहीतिकरणाद् विज्ञानं तस्य ग्राहकमिति चेत् ; न; अस्यांः तँतोऽभेदे ज्ञानं नीलादिः त[ज्ज्ञ]न्यत्वाद् उत्तरज्ञानवत्। भेदे ज्ञानं नीलादिः गृहीति च (श्च) परस्पराऽसम्बद्धं त्रितयमिति किं केन गृह्यते ? पुनस्तयापि तँदन्तरकरणे अनवस्था।" इत्यादि। कथम्? प्रकृतेऽपि समत्वात्। यदि पुनस्तदनुमानं प्रमाणं नेष्यते; कुतः प्रकृततत्त्वसिद्धिः ? 'प्रत्यक्षात्' इत्यपि नोत्तरम् ; तँतो विवादस्यानिवृत्तेः। ननु यथा सुखादयोऽविद्यमानावे(नवे)दकाः[7] प्रतिभासमानाः प्रत्यक्षसिद्धस्वसंवेदना उच्यन्ते तथा घटादय इति चेत्; यद्येवं लभ्येत, कृतं स्यात्, तत्तु न लभ्यम्, 'घटमहं वेद्मि, पटमहं वेद्मि' इति अहमहमिकया प्रतीयमानप्रत्ययवेद्यतया सर्वदा तेषाम्[9] अकरासवात् (अवभासनात्)। न च तथावभासनादन्यत् स्वसंवेदनेऽपि शरणमस्ति। [10]परदुर्णयः प्रागेव चिन्तितः। तदेवं स्वसंवेदनवत् ग्राह्याकारस्यापि प्रतिभासभावात् स्वप्नेतरग्राह्याकारयोरिव तयोः समानः सर्वथा धर्मभावोऽस्तु। तथापि स्वसंवेदनस्यैव परमार्थत्वे जाग्रद्ग्राह्याकार एव परमार्थः तथा स्यादिति स्वार्थव्यवसायोऽविसंवादः नातिव्यापकः। [६९क] *"दृष्टस्य पुनः प्राप्तिरविसंवादः।" इत्यत्र यदुक्तम्–*"क्षणिकत्वेन नाशात् न तस्य तत्प्राप्तिः" इति; तत् *"प्रतिभासैक्यनियमे" [सिद्धिवि० १।१०] इत्यादिना निरस्तम्।

यच्चाप्युक्तम्–दृष्टस्य प्राप्तिः स्वप्नेऽप्यस्तीति [12]तत्रापि दर्शनं प्रमाणं स्यादिति; तत् ग्राह्यप्रतिभासेऽपि समम्। ततः सूक्तम्–**'यथा यत्राविसंवादः तथा तत्र प्रमाणता'** इति।

'विशदम्' इति प्रत्यक्षविशेषणमयुक्तं निवर्त्यांभावात्। सामान्येऽनुमानादि दूरपादपादौ अवयविज्ञानमपि विशदं स्वविषयग्रहणलक्षणत्वात्[13], वै(अवै)शद्यव्यवहारः पुनः विशेषावयवाग्रहणकृतः' इत्येके। ध्यामलिताकारस्य नीलाद्याकारवत् बुद्ध्याकारत्वेन वस्तुत्वात् न [14]तदपेक्षया किञ्चिद् विज्ञानमविशदम्, बाह्यं तु न तस्य विषयः इति न तत्र तदविशदमन्यथा वा। एतेन अर्थाकारत्वमस्य चिन्तितम्; अनर्थाकारत्वे न तत्र ज्ञानं प्रमाणं विसंवादकत्वात् अतः 'अविसंवादः' इत्येवास्तु इत्यपरे।

अत्रोच्यते–विशेषावयवाग्रहणाद् गृहीतेऽप्यस्पष्टताव्यवहारः इत्ययुक्तम् ; न खलु [15]अन्य-

(१) स्वस्मात्। (२) अनुभवति। (३) भिन्नकालत्वाविशेषात्। (४) इत्यतिप्रसङ्गः। (५) गृहीतेः। (६) नीलादेः। (७) गृहीत्यन्तरकरणे। (८) प्रत्यक्षात्। (९) न विद्यते भिन्नो वेदको येषां ते, स्वसंविदिता इति यावत्। (१०)घटादीनाम्। (११) परस्य दुर्णयः दुरभिप्रायः। (१२) स्वग्रहणार्थेऽपि। (१३) वैशद्यस्य। (१४) ध्यामलिताकारापेक्षया। (१५) विशेषावयवस्य।

स्याग्रहणे अन्यत्र तद्व्यवहारः, इतरथा घटाग्रहणे गृहीते पटे तद्व्यवहारः[1] स्यात् । जातितद्वतोः अवयवावयविनोश्च भेदैकान्ते सम्बन्धाभावात् । ततो मण्याद्यन्तरितसूत्रादिवत् स्वत एवाविशदं ज्ञानमित्युन्नेयम् ।।

यत्पुनरेतत्–'ध्यामलिताकारस्य' इत्यादि; तत्र न सारम्; सारूप्याऽभावात् । तत्प्रतिभायाः प्रत्यक्षबाधनात् । अहमहमिकया अर्थग्राहिणो ज्ञानस्य निराकारस्य [६९ख] स्वसंवेदनाध्यक्षसिद्धत्वात्, न चासौ आकारः तत्र प्रतिभासाद् बहिर्युक्तः, तत एव अनुगताकारोऽपि स्यादित्यसौगतमशेषम् । एवमपि यथा चन्द्रादिद्वित्वादावसति[3] विशदं ज्ञानं तथा तदाकारेऽपि इति न किञ्चिदविशदं नामेति चेत्; तत् न चन्द्रादौ द्वित्वादिवद् धर्मिणापि विसदगत्र नु धर्मिण्यष्य (धर्मिण्यविशदम् अत्र तु धर्मिण्यप्य) विशदम् । न चैतावता न कस्यचिद् ग्रहणम्; अनुमानात् तत्त्वसिद्धिप्रसङ्गात्, तथा च कुतो हेतुफलभावाद्यभावसिद्धिर्यतः प्रतिभासाद्वैतम् ? अनुपलम्भादिति चेत्; किमेयं तत्प्रतिबद्धः[4] क्वचित् प्रतिपन्नो येनैवं स्यात् ? तथा चेत्; कथमनुमानं प्रमाणं नेष्टं स्यात् ? 'तदिच्छति, तत्त्वविषयं न' इति विरुद्धम् । ततोऽविशदानुमाननिवृत्त्यर्थं **विशद**ग्रहणम् । तथा 'यावान् कश्चिद् धूमवान् प्रदेशः स सर्वोऽप्यग्निवान्' इत्यादि व्याप्तिज्ञाननिवृत्त्यर्थं च । नहि तद् विशदम्, अनुमानप्रतिभासाविशिष्टप्रतिभासत्वात । तथापि तथा तदभ्युपगमे न किञ्चिदविशदं भवेत् ।

एतेन अकस्माद् धूमदर्शनाद् अग्निरत्रे वि (त्रेति) ज्ञानं[5] चिन्तितम् ।

मनोऽक्षार्थसन्निकर्षजत्वादविशदमपि व्याप्तिज्ञानं प्रत्यक्षं (?) प्रत्यक्षम् इत्येके[6] । कुतः पुनः तत्तज्ज्ञानं ज्ञानम् (तज्ज्ञानं प्रत्यक्षम् ? प्रत्यक्षं तज्ज्ञानम्) इन्द्रियार्थसन्निकर्षजं (ज) ज्ञानत्वात् चक्षुरादिजनितरूपादिज्ञानवदिति चेत्; न; अनुमानादिज्ञानेन[10] व्यभिचारात् । अस्यापि पक्षीकरणे कुतः अध्यक्षाद् भेदः ? *"प्रत्यक्षाऽनुमानोपमानशब्दाः प्रमाणम्" [न्यायसू० १।१।३] इति यतः [७०क] [11]संख्या व्यवतिष्ठेत । अथ इन्द्रियस्य अर्थेन साक्षात्सम्बन्धमन्तरेण भावात्[12] [13]ततोऽस्य भेदः; तथा व्याप्तिज्ञानस्यापि स्यात् । नहि तदपि तस्य अतीतानागतवर्त्तमानार्थेन [14]तथा सम्बन्धात् जायते, विरोधात् । सम्बन्धसम्बन्धः[15] [16]अन्यत्रापि न वार्यते । लिङ्गादिहेतुत्वाद् भेदे दृष्टसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानं प्रमाणान्तरं स्यात्, दूरादिज्ञानं च सर्वस्मादध्यक्षर्त[17] इति निरूपयिष्यते। ततो वैशद्यादेव ततोऽस्य भेद इति सूक्तम्–**'विशदमेव ज्ञानं प्रत्यक्षम्'** इति ।

मा वा भूदस्य तन्निवर्त्त्यम्, तथापि*"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्" [न्यायसू० १।१।४] [18]इत्यादेः परकीयस्य प्रतिषेधार्थम् अध्यक्षस्य **'विशदम्'** इति विशेषणम् । [19]तल्लक्षणे हि

(१) गृहीते । (२) अस्पष्टताव्यवहारः । (३) अविद्यमाने । (४) अनुपलम्भः । (५) अभावाविनाभावीति । (६) व्याप्तिज्ञानम् । (७) अविशदमपि प्रत्यक्षमिति प्रज्ञाकरमतम्–"एतच्चानुमानज्ञानं क्वचिद् प्रत्यक्षं क्वचित्तु प्रत्यक्षमेव अकस्माद् धूमादग्निप्रतिपत्तौ । नहि पूर्वानुभूतकल्पनास्ति ।"–प्र० वार्तिकाल० ३।२८८। (८) 'प्रत्यज्ञानं' इति द्विलिखितम् । (९) नैयायिकाः । सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्त्या धूमत्वेन अखिलधूमानाम् अग्नित्वेन च निखिलाग्नीनामलौकिकार्थसन्निकर्षेण ज्ञानसम्भवात् । (१०)तदपि परम्परया इन्द्रियार्थसन्निकर्षजम् । (११) प्रमाणसंख्या । (१२) अनुमानस्य । (१३)प्रत्यक्षात् । (१४) साक्षात् । (१५) परम्परासम्बन्धः । (१६) अनुमानेऽपि । (१७) पृथक् प्रमाणं स्यादिति भावः । (१८) अव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षमिति शेषः । (१९) सन्निकर्षात्मकप्रत्यक्षलक्षणे ।

सुखादिसंवेदनमप्यक्षं न भवेत् तल्लक्षणविरहात्। अप 'तदपि' इन्द्रियार्थसन्निकर्षजं तत्त्वात् चक्षुरादिजनितरूपादिज्ञानवत्' इत्युच्यते ; तन्न ; तथाप्रतीतिविरोधात्। न खलु 'पूर्वमुत्पन्नैः सुखादिभिः इन्द्रियस्य सन्निकर्षे [2]तत्संवेदनमुपजायते' इति प्रतीतिरस्ति, यूनः कान्तासमागमे संवेदनस्य आह्लादनाकारात्मनः [3]तथानुभवात्, [4]स्वसंवेदनाध्यक्षबाधितः परपक्षः। हेतुश्च सुखादिसंवेदनवेदनेन व्यभिचारी। तस्यापि पक्षीकरणे 'अनवस्थादिप्रसङ्गः' इति प्रतिपादयिष्यते। कथम्? ५

*"[1]सिद्धं यन्न परापेक्षम्" [सिद्धिवि० १।२३] इत्यादिना। एतेन सत्यस्वप्रज्ञानं व्याख्यातम्।

*"[5]सदसद्वर्गः कस्यचिदेकज्ञानालम्बनम् अनेकत्वात् पञ्चाङ्गुलवत्" इत्यादिना अनुमितम-[6]ध्यक्षं [7]परलक्षणेन कथमनुगृहीतम्? इन्द्रियार्थ[ज०स्व]सन्निकर्षजत्वादिति चेत्; कथमशेषं सदसद्वर्गं युगपद् विषयीकरोति? न खलु मनसः अन्यस्य चे(वे)न्द्रियस्य युगपत् सर्वार्थसन्निकर्षोऽस्ति विप्रतिषेधात्। सम्बन्धः [8](सम्बन्धसम्बन्धः) प्राणभृन्मात्रस्य, ततः तस्यापि तज्ज्ञानं १०
भवेत्। विशिष्टादि(ट)ष्टसहकारिनियमकल्पनावि (पि) पापीयसी; [9]भेदैकान्ते [10]समवायाऽविशेषतः अदृष्टस्यापि नियमाऽसिद्धेः। तन्न इन्द्रियार्थसन्निकर्षजं [11]तज्ज्ञानमिति कथन्न प्रकृतो दोषः? 'चक्षुर्जनितं रूपज्ञानं च इन्द्रियार्थसन्निकर्षमन्तरेण भावात्' इति प्रतिपादयिष्यते *"पश्यत्येव हि सान्तरम्" [सिद्धिवि० ४।१] इत्यादिना।

यत्पुनरेतत्—*"संप्रयोग" [मी०द० १।१।४] [12]इत्यादि ; तदप्येतेन नोत्तृष्टम्। १५

इन्द्रियवृत्तिः प्रत्यक्षम् इति [13]सांख्यः ; सोऽप्यनेन कृतोत्तरो द्रष्टव्यः; स्वसंवेदनादौ तदसंभवात्। किञ्च, तैमिरिके[14] तद्वृत्तिर्यदि प्रत्यक्षम् ; तदाभासविलोपः। यथार्थज्ञानहेतुरिति चेत्; न ; तथाविशेषणाभावात्। अचेतनं प्रत्यक्षमन्यद्वा प्रमाणं न इति चर्चितम्। ततः साधूक्तम्—'प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानम्' इति। ननु च—

*"एकस्यार्थस्वभावस्य प्रत्यक्षस्य सतः स्वयम्।
कोऽन्यो न दृष्टो भागः स्याद् यः प्रमाणैः परीक्ष्यते॥" [प्र० वा० ३।४२] २०

---

(१) सुखादिसंवेदनमपि। (२) सुखादिसंवेदनम्। (३) स्वसंविदितस्य। (४) अतः। (५) सद्वर्गः द्रव्यगुणकर्माणि सत्तासम्बन्धित्वात्। असद्वर्गशब्देन सामान्यविशेषसमवायाः ग्राह्याः। (६) सर्वज्ञप्रत्यक्षम्। (७) नैयायिकोक्तसन्निकर्षजरूपप्रत्यक्षलक्षणेन। (८) आत्मा सर्वार्थैः संयुक्तः, आत्मसंयुक्तं मनः इन्द्रियाणि च अतः परम्परासम्बन्धः सर्वार्थैः स्यात्। (९) अदृष्टात्मनोः सर्वथा भेदे। (१०) समवायस्य च व्यापकत्वात् सर्वात्मभिः तत्सम्बन्धहेतुः स्यादिति भावः। (११) सर्वज्ञज्ञानम्। (१२) "सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्।"—मी० द० १।१।४। (१३) "इन्द्रियप्रणालिकया बाह्यवस्तूपरागात् सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षम्"—योगद० व्यासभा० पृ० २७। "विषयैश्चित्तसंयोगात् बुद्धीन्द्रियप्रणालिकात्। प्रत्यक्षं साम्प्रतं ज्ञानं विशेषस्यावधारकम्॥२३॥"—योगकारिका। (१४) तुलना—"श्रोत्रादिवृत्तिः भ्रान्तोऽपि न हि नाम न विद्यते। न च ज्ञानं विना वृत्तिः श्रोत्रादेरुपपद्यते॥"—प्र० वार्तिकाल० पृ० १४०। "श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षं यदि तैमिरिकादिषु। प्रसङ्गः किमतद्वृत्तिस्तद्विकारानुकारिणी॥"—न्यायवि० १। १६५। प्र०समु० पृ० ६४। तत्त्वोप० पृ० ६१। न्यायवा० पृ० ४३। न्यायवा० ता० टी० पृ० १५५। २३३। न्यायम० पृ० १००। त० श्लो० पृ० १८७। नयचक्र बृ० पृ० १०७। षड्द० बृह० पृ० ४१। प्रमेयक० पृ० १९। प्रमाणमी० पृ० २४।

इति न्यायात् प्रमितस्याऽप्रमिताम(तभाग)स्याभावात् कथमुच्यते–**'यथा यत्राऽविसंवादः तथा तत्र प्रमाणता'** इति चेत् ; अत्राह–**प्रत्यनीक** इत्यादि । **प्रत्यनीका** अन्योन्यं विरुद्धा ये **धर्मा** विभ्रमेतर-विकल्पेतर-संशयेतर-ग्राह्यग्राहकसंवित्त्यादयः [७१क] ते **का** (तेष्वेका) साधारणी या **संवित्** तस्याः **स्वप्रमितेः** स्वपरिच्छित्तेः **असाकल्यसंभवे** खण्डशः संभवे अङ्गीक्रियमाणे । एतदुक्तं भवति–विरुद्धधर्माध्यासभयाद् एकस्य प्रमितेतररूपद्वयं नेष्यते, स च तदध्यासः अन्यथापि जात इति परं तस्याः स्वप्रमितेः असाकल्यसंभवोऽभ्युपेयः तस्मिन् वा इति । किम् इत्याह–**विषयस्वलक्षणेऽपि** । द्विविधो विषयः सामान्यं स्वलक्षणं च । तस्मात् सामान्ये कल्पिते तदभावेऽपि न सौगतस्य दोष इति स्वलक्षणग्रहणं तत्रापि, न केवलम् उक्तसंविदः **किम्न भवेत् इति किम्** निमित्तमाश्रित्य नाना (तत्र) विसंवाद (दात् अ)**प्रमाणत्वम्** तिमिरादिज्ञानस्य (नञ्) कथञ्चित् चन्द्रत्वादिना संवादात् किम्न प्रमाणमिति, न केवलमप्रमाणमेव । यदि च कथञ्चिद् विसंवादात् तदप्रमाणमेव; तर्हि परस्य न किञ्चित् प्रमाणं स्यादिति दर्शयन्नाह–**प्रसन्न** इत्यादि । **प्रसन्नानि** निर्दोषाणि करणभूतानि **अक्षाणि** यस्याः **बुद्धेः** तस्या अपि न केवलं तिमिरबुद्धेः **सर्वथा** सर्वेण नीलादिना इव क्षणक्षयादिप्रकारेण **संवादिनियमाऽयोगात्** कारणात् **किम्न** कथञ्चित् संवादात् **प्रमाणमपि** भवेदिति । कुतस्तन्नियमाऽयोग इति चेत् ? अत्राह–**दृष्टे प्रमाणान्तरावृत्तेः** । दृष्टे दर्शनेन विषयीकृते शब्दादौ धर्मिणि **प्रमाणान्तरस्य** क्षणक्षयाद्यनुमानस्य **आ** समन्तात् **वृत्तेः** तन्नियमाऽयोगः ततः 'तद्' इति पदघटनात् । इदमत्र तात्पर्यम्–यदि दर्शनं शब्दत्वादिवत् [७१ख] नाशादावपि संवादकम्, तर्हि तदनुमानं संवृतिवदप्रमाणम् । अथ विसंवादकम्; तत्रास्तु प्रकृतवद् अप्रमाणमेवेति धर्माद्यसिद्धेः कुतः प्रमाणान्तरवृत्तिः ? अस्ति च, ततः प्रकृतमिति ।

अत्राह–प्र ज्ञा क र गु प्तः–*"**यत एव दृष्टे प्रमाणान्तरवृत्तिः अत एव शब्दादिवत् क्षणक्षयादेरपि दर्शनम्, अन्यथा दर्शनस्य क्षणिकत्वानुमानेन तस्य वा दर्शनेन बाधनं स्यात्** ।" इति; तस्य विप्लुताक्षः शुक्लं शङ्खं पीतं पश्यन् प्रतिपन्नव्यभिचारो यदैवं करोति 'शुक्लोऽयं शङ्खत्वात् पूर्वदृष्टशङ्खवत्' इति, तदा तद्दर्शनं शङ्खत्ववत् शुक्लतामपि पश्येत् । शक्यं हि वक्तुं यत एव विप्लुताक्षदर्शने दृष्टे प्रमाणान्तरं शुक्लताविषयं प्रवर्तते तत एव तत् शुक्लतामवैति, अन्यथा तद्दर्शनेन प्रमाणान्तरस्य अनेन वा तस्य बाधनं भवेत् । न चैवम् । न हिमालो (हिमालयो) डाकिन्या भक्ष्यते । अथ पीततामात्रे तस्याने[न] बाधनमिष्यते; न; सर्वात्मना धर्माद्यसिद्धिप्रसङ्गात्, तथा प्रकृतेऽपि इष्यतामिति साधूक्तम्–**प्रसन्ने**त्यादि ।

यत्पुनराह स एव–'अप्रतिपन्नव्यभिचारः तैमिरिकः तज्ज्ञानात् प्रवर्तमानो विसंवाद्यते'

---

(१) विरुद्धधर्माध्यासः । (२) "यदाह–नहि स्वसामान्यलक्षणाभ्यामपरं प्रमेयमस्ति । स्वलक्षणविषयं प्रत्यक्षं सामान्यलक्षणविषयमनुमानमिति ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ०१६९ । "स्वसामान्यलक्षणाभ्यां भिन्नलक्षणं प्रमेयान्तरं नास्ति ।"–प्र०समु०पृ०पृ०४ । (३) अविसंवादाभावेऽपि । (४) तिमिरादिजन्यद्विचन्द्रादिज्ञानम् । (५) विकल्पज्ञानवत् गृहीतग्राहित्वादप्रमाणं स्यात् । (६) "येन न कदाचिद् व्यभिचार उपलब्धः स यथाभिप्रेते विसंवादात् विसंवाद्यत एव । वस्तु व्यभिचारसंवेदी स विचार्य प्रवर्तते । संस्थानमात्रं तावत् प्राप्यते, परत्र संदेहो विपर्ययो वा ततोऽनुमानं संस्थाने···"–प्र० वार्तिकाल० २।१ ।

इति न कथञ्चिदपि तत्प्रत्यक्षम्, प्रतिपन्नव्यभिचारस्तु 'प्रतिभासोऽयम् अभिमतसंस्थानवान् पूर्वदृष्टैवंप्रतिभासवत्' इति पर्यालोच्य प्रवर्त्तते इत्यनुमानमेव तत्राविसंवादकम्। तदुक्तम्—

*"ममैवं प्रतिभासो यः न स संस्थानवर्जितः।
एवमन्यत्र [७२क] दृष्टत्वात् अनुमानं तथा सति॥" [प्र० वार्तिकाल० पृ०५] इति।

तत्रोत्तरम्—उपप्लुताक्षाणामपि इत्यादि। उपप्लुताक्षाणां न केवलं विपरीतानां[1] विनैव लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धप्रतिपत्त्या लिङ्गं प्रतिभासविशेषः लिङ्गि संस्थानवत्त्वम् तयोः सम्बन्धः तादात्म्यं तेषां प्रतिपत्तिः तामन्तरेण अर्थं परिच्छिद्य प्रवृत्तौ सत्याम् अविसंवाददर्शनात्। न खलु विप्लुताक्षः (क्षाः) सर्वे सर्वदा *"ममैवम्" इत्याद्यनुतिष्ठन्तः समुपलभ्यन्ते। तथापि तदभ्युपगमे तिमिरज्ञानाऽनुमानयोः विभ्रमं प्रति अविशेषाद् अनुमानप्रतिभासेऽपि *"ममैवं प्रतिभासः" इत्यादि कल्पनायाम् अनवस्थाप्रसङ्गे नानुमान (नम्[2]।) व्यवहारिजनानुरोधादनुमानमविसंवादकमिच्छन्[3] तत एव तिमिरज्ञानं कथञ्चित्तथा[4] नेच्छतीति स्वेच्छावृत्तिः। भवतु तदप्यविसंवादकं प्रमाणं तु न इति चेत्; अत्राह—तावता च अविसंवाददर्शनादेव प्रामाण्यसिद्धेः कारणात् कथञ्चित् प्रमाणमपि भवेत् इति स्थितम्—'यथा यत्र' इत्यादि। शेषं सुगमत्वादव्याख्यातम्।

एवं तावत् *"चित्रप्रतिभासाप्येकैव बुद्धिः बाह्यचित्रविलक्षणत्वात्" [प्र० वार्तिकाल० ३।२२०] इति वचनात् चित्रमेकं ज्ञानमभ्युपगच्छतः संविदः स्वप्रमितेरसाकल्यसंभव उक्तः। इदानीम् *"अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा" [प्र० वा० २।३५४] इत्यादि वचनात्[5] तदनभ्युपगच्छतस्तं दर्शयन्नाह—[वित्तेः इत्यादि]

[वित्तेः विषयनिर्भासविवेकानुपलम्भतः।
विज्ञातायाः क्वचित्सिद्धो विरुद्धाकारसंभवः॥२०॥

बहिरन्तर्मुखनिर्भासादिविरुद्धधर्माभ्युपगमे तस्या विषयनिर्भासविवेकपरमार्थप्रतीतावपि कथञ्चिदनेकान्तसिद्धिः। दूरदूरतरादिव्यापृतचक्षुषां च वस्तुसत्तामात्राविसंवादात् तद्भेदाप्रतित्तौ च तत्प्रमितिसाधनं समञ्जसम्। यतो यावदपि उपलम्भमन्तरेण प्रमाणान्तरावृत्तेरसंव्यवहारप्रसङ्गात्। यत्पुनरन्यत्—*"आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन" [बृहदा० ४।३।१४] इति; तत्रापि समानोऽयं प्रसङ्गः। केवलं समयान्तरप्रवेशः।]

वित्तेः बुद्धेः। कथंभूतायाः? विज्ञातायाः स्वसंवेदनाध्यक्षगृहीताया अन्यथा तद्व्यवसिद्धेः सम्बन्धी [७२ ख] विषयो ग्राह्यो घटादिः तस्य स एव वा निर्भास आकारः तस्य विवेको बुद्धेः सकाशाद् अन्यत्वं तस्याऽनुपलम्भो यः तस्मात् ततः क्वचित् तैमिरिकोपलब्धे चन्द्रादौ सिद्धो निश्चितो विरुद्धस्य दृश्यचन्द्रत्वाद्याकारापेक्षया प्रत्यनीकस्य अदृश्यैकत्वादेः आकारस्य संभवः। अत्रायमभिप्रायः—यद्ययं स्थवीयान् घटाद्याकारस्य न्नितरो (रः सन् इतरो) वा वित्तेः आत्मभूतः; तर्हि चित्रैका सा[6] भवेत्, तत्र चोक्तो दोषः। अथासन्नमा-

(१) प्रसन्नेन्द्रियाणाम्। (२) प्रमाणं स्यात्। (३) व्यवहारिजनानुरोधादेव। (४) अविसंवादकम्। (५) चित्रज्ञानमस्वीकुर्वतः। (६) स्वसंवेदनाभावे। (७) संवित्तिः।

स्वभूतः (अथ असन्नात्मभूतः) ततः सीयथा (सा यथा) स्वनो भेदमवैति कुतस्तदाकारा भ्रान्तिः यतः *"यदवभासते [तत्] ज्ञानम् यथा सुखादि, अवभासते च स्तम्भादिनीलादिकम्" इत्यत्र आश्रयासिद्धिर्न स्यात् । नहि पीततारहिते शुक्लेशङ्खे प्रतिभासमाने पीतताविभ्रमो युक्तः । अथ तं नावैति; सिद्धः स्वप्रमितेरसाकल्यसंभवः इति ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**बहिरन्तर्मुख** इत्यादि । अत्र **आदि**शब्देन संवेदनविकल्पेतरादिपरिग्रहः, स एव **निर्भास** आकारः स एव च **विरुद्धो धर्मः** तस्य **अनभ्युपगमेऽपि** न केवलमभ्युपगमे **तस्याः** वित्तेः **विषयनिर्भासस्य** घटाद्याकारस्य संबन्धी यः **विवेकः** स एव **परमार्थः** तस्याः (तस्य) **प्रतीतावपि कथञ्चित्** संवेदनादिरूपेण संवेदनात् **अनेकान्तसिद्धिः** । एवंतावद् दृश्येतरवित्तिनिदर्शनेन सौगतप्रसिद्धेन विषयस्वलक्षणे प्रमितेरसाकल्यसंभव उक्तः । इदानीं तं [७३क] प्रति लोकप्रसिद्धेन दृश्येतरबाह्यनिदर्शनेन स उच्यते **दूरेत्यादिना** । अत्र **आदि**शब्देन [दूरतर]दूरतमपरिग्रहः, तत्र **व्यापृतचक्षुषां** पुसां **वस्तुनो** वृक्षादेः **सत्त्वेव तन्मात्रं** तस्य **अविसंवादात्** कारणात् **तस्या** असाकल्यप्रमितेः **साधनं समञ्जसं** युक्तम् । कस्मिन् सत्यपि ? इत्याह–**तस्य** वस्तुसत्तामात्रस्य ये **भेदा** विशेषा वृक्षादयः तेषाम् **अप्रतिपत्तावपि** न केवलं प्रतिपत्तौ । **च** शब्दः अपिशब्दार्थः । एवदुक्तं भवति–यथा दूरदूरतरादौ प्रत्यक्षेण विशेषाग्रहणेऽपि तत्सत्तामात्रग्रहणं तथा प्रकृतेऽपि दृश्येतरत्वं स्यादिति । **'यतः'** इत्यादिना एतदेव भावयति–**यतः** यस्माद् **यावदपि** यत्परिमाणस्य पूर्वमुपलम्भो मयोक्तः तत्परिमाणस्य यथा भवति नाधिकस्य, तथा परेणापि उच्यते यदा तदा यावत् तावदपि यथा भवति तथा **उपलम्भः तमन्तरेण प्रमाणान्तरस्य** अनुमानस्य **अवृत्तेः** अप्रवृत्तेः हेतोः **असंव्यवहारप्रसङ्गात्** कारणात् **तत्प्रमितिसाधनं 'समञ्जसम्'** इति सम्बन्धः । एतदुक्तं भवति–दूरदूरतरादौ यथा तद्भेदाऽप्रतीतिः तथा चेद् वस्तुसत्तामात्रस्याप्यप्रतीतिः तर्हि तत्र व्यापृतचक्षुषामन्धतैव स्यात् । न खलु सामान्यविशेषावन्तरेण तत्त्वमस्ति यत् तत्रावभासेत । तथा च विशेषमात्रमिदं सत्तामात्रं [७३ख] केनचिद् विशेषेण तद्वत्त्वात्[3] पूर्वदृष्टतन्मात्रवद् इति तदवृत्तिः, तस्या (तस्यां) च तत्र तदप्रवृत्तिः, न चैवम्, प्रवृत्तिदर्शनात् । ननु भेदवत् तन्मात्रस्यापि न तत्र प्रतीतिः, अभेदाद्यात् (दाध्यवसायात्) प्रतीतिः सा भ्रान्ता, तत एव प्रमाणान्तरवृत्तिः *"ममैवं प्रतिभासो यः"[प्र०वार्तिकाल० २।१] इत्यादि इति चेत्; उक्तमत्र–तत्र व्यापृतचक्षुषां वस्तुसत्तामात्राविसंवाददर्शनात् । तथापि तद्विभ्रमे न किञ्चिदभ्रान्तं स्यात् ।

अथवा, सौगतं प्रति दृश्येतरबुद्धिदृष्टान्तसद्भावादस्तु स्वप्रमितेर्विषयस्वलक्षणे असाकल्यसंभवो नैयायिकं प्रति विपर्ययादिति चेत् ; अत्राह–दूरेत्यादि । तत्र **'व्यापृतचक्षुषाम्'** इत्यनेन वस्तुसत्तामात्रविषयं प्रत्यक्षं दर्शयति, **वस्तु** द्रव्यादि तस्य **सत्तामात्राविसंवादात् तत्प्रमितिसाधनम्** असाकल्यप्रमितिसाधनं **समञ्जसं** युक्तम् । कस्मिन् सत्यपि ? इत्यत्राह–**तद्भेदाप्रतिपत्तौ च** तस्य तन्मात्रस्य भेदो द्रव्याद्याधारापेक्ष्याधे (रमपेक्ष्य आधे) यत्वविशेषः तत्प्रति-

(१) सत्त्वेन चेतनत्वेन वेत्यादिरूपेण । (२) दूरदूरतरादौ । (३) विशेषवत्त्वात् । (४) सत्तामात्रस्यापि ।

पत्तावपि । नहि आधाराऽग्रहणे तदपेक्षमाधेयत्वम् आत्मभूतमपि प्रत्येतुं शक्यम् । ननु तद्भेदवत् तन्मात्रस्याप्यग्रहीतिरिति चेत् ; अत्राह—यत इत्यादि । सामान्यप्रत्यक्षत्वे उभयविशेषाणां तद्विपरीतविशेषाणां वा स्मृतौ संशयादिः, तद्व्यवच्छेदार्थं च प्रमाणान्तरं प्रवर्त्तते । तन्मात्राऽप्रत्यक्षे तु दुर्लभमेतत् [७४क] ततोऽसंव्यवहारप्रसङ्गात् तत्प्रमितिसाधनं समञ्जसम् इति।

किञ्च, अयं 'स्थाणुः पुरुषो वा ? पुरुष एव' इति वा संशयादिज्ञानम् एकधर्मिणि अर्थविषयम् अन्यत्र विपरीतमभ्युपगच्छन् दृश्येतररूपमेकमियोग(कं नाभ्युपगच्छति इति) कथं न स्वर (स्वैर)चेष्टितः ?

साम्प्रतं सौगतादिदोषं पुरुषाद्वैतमतेऽपि समानमित्यस्य प्रदर्शनार्थं तदेव दर्शयति यत्पुनः इत्यादिना । यन्मतं पुनः सौगतादिमताद् अन्यत् । किम् तदागमं (तत् ? आरामं) चेतनादिभेदादोयं (भेदमारामं) तस्य पुरुषादेः पश्यन्ति द्रष्टारः न तं पुरुषादिमद्वैतरूपं कश्चन तेषां तद्दृष्टॄणां कश्चित् पश्यति । इति शब्दः आद्यर्थः । तेन—

*"गुणानां[६] परमं रूपं[७] न दृष्टिपथमृच्छति ।
यत्तु दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायैव सुतुच्छकम् ॥"

*"[८]नित्यः सन्मात्रदेहः विविधकृतिरिह द्रव्यमेकः पदार्थः,
यत्तत्कुक्षिं प्रविष्टा जलमहीं(ह्यग्नि)वायवः प्राणिनश्च ।
एको देशोऽस्य तिर्यक्सुरनरनरकेष्वस्ति सांसारिकत्वम् ,
देशोऽन्यः तस्य नित्यः शिवसुखमतुलं प्रास्तु तेसौ(सोऽद्विरूपः ॥"

इत्यादेर्ग्रहणम् । तत्रापि यत् तन्मतं 'यत्' इत्यनेन निर्दिष्टं तत्र इत्यनेन परामृश्यते । न केवलं सौगतादिमते अपि तु तत्रापि सर्वोऽप्युक्तदोषः अ क ल ङ्क दे व स्य प्रत्यक्षतया मनसि प्रतिभातीति तम् 'अयम्' इत्यनेन निर्दिशति । समानः साधारण[:] प्रसङ्गो दोषः । तथाहि— यदुक्तं सौगतं प्रति *"नहि बहिरन्तर्वा जातुचिद[७४ख]साहायमाकारं पश्यामः यथा व्यावर्ण्यते तथैवाऽनिर्णयात् ।" [सिद्धिवि० १।१०] इत्यादि, त[द]त्रापि समानम् ।

यत्पुनरेतत् *"एकान्तस्य उपलब्धिलक्षणप्राप्तौ असत्त्वम् अन्यथा स्यादप्रमेयत्वम्" [सिद्धिवि० १।९] इति तदपि, तथा *"प्रतिभासैक्यनियमे" [सिद्धिवि० १।१०] इत्यादि चेत् [[१०]च] *"तस्याराममम्" [बृहदा० ४।३।१४] इति वचनात् [११]तदारामयोः कथञ्चिदेकत्वे विभ्रमेतरविकल्पेतरादीनाम् आकाराणां तेन एकत्वाभ्युपगमस्य अवश्यम्भावात् । अथ *"एक एव हि

(१) विशेषवत् । (२)"सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशयः"—वैशे०सू० २।२।१७। (३) नैयायिकादिः । (४) प्रकारार्थः । (५) सांख्यानां मतमिदम् । कारिकेयं भिन्नभिन्नेषु ग्रन्थेषु समुपलभ्यते—"तथा च शास्त्रानुशासनम्—गुणानां···"—योगभा० ४।१३ । "दृष्टितन्त्रशासनस्यानुशिष्टिः—गुणानां ···"—योगभा० तत्त्ववै० ४।१३ । "भगवान् वार्षगण्यः—गुणानां···"—शा० भा० भामती पृ० ३५२ । नयचक्रवृ० पृ० ६३ । तत्त्वोप० पृ० ८० । "गुणानां सुमहद्रूपम् ···"—प्र० वार्तिकाल० ४।१२ । कषी० स्व०पृ० १४ । अष्टस०पृ० १४४ । (६) सत्त्वरजस्तमसाम् । (७) उत्कृष्टं रूपं प्रधानम् । (८) विकाररूपं महदादि । (९) अद्वैतवादी । (१०) दूषणम् । (११) ब्रह्मतद्विवर्तयोः ।

भूतात्मा"[ब्र०वि० ११] इत्यादेः[1] *"यथा विशुद्धमाकाशम्"[बृहदा०भा०वा० ३।५।४३] इत्यादेश्च श्रुतेः अविभागोऽपि ब्रह्मा भागीव लक्ष्यत इत्युच्यते ; तर्हि *"सङ्घि[रसदूमि]र्वा" [सिद्धिवि० १।१३] इत्यादि समानम् । शक्यं हि वक्तुम्—यदि सङ्घिः असङ्घिर्वा चेतनेतराद्याकारैः कस्यचिद् ब्रह्मणः एकत्वं तथैव बहिरन्तर्मुखादिभिः[3] तत् किम कस्यचिद् बुद्ध्यात्मनः सिध्येत् । यदि पुनः विशेतरयोः एकत्वविरोधात् तस्माद् आगमो (आरामो) भिन्न इष्यते; तर्हि तदप्रत्यक्षत्वे इदं समानम्—*"तदप्रत्यक्षत्वे विषयवत् स्वभावासिद्धिप्रसङ्गात्" [सिद्धिवि० १।१५] इत्यादि । तथा च तदाग(रा)मयोरप्रतिभासनात् सकलशून्यता इति ।

स्यान्मतम्—[4]आरामस्य स्वतो दर्शनम् ; स्वसंवेदनग्राह्याकारवत् प्रसङ्गः । यदा तु आराम-विविक्तमात्मानमसौ पश्यति ; तदा विभ्रमाभावः । नेति चेत् ; आयातमिदं समानम्—**चित्तेः** इत्यादि । तदेवं समाने प्रसङ्गे बुद्धिब्रह्मात्मनोः त्यागाभ्युपगमाविशेषेण इति मन्यते । ननु किमु [७५क] ते समानः, यावता [5]बुद्ध्यभ्युपगमे [6]क्षणयस्तत्तनान्तर (क्षणक्षयसन्तानान्तर) साधने महान् प्रयासः न पुनः ब्रह्मोपगमे तत्र तदभावाऽभ्युपगमादिति चेत्; अत्राह—**केवलम्** इत्यादि । सुगमम् । अयमत्राभिप्रायः—तत्प्रतिभासतया बुद्धिमेकाम् अनभ्युपगच्छतोऽपि **समयान्तरप्रवेशः** परस्य इति ।

एवं *'**ततः किम्**' इत्यादिना ग्रन्थेन जातिगुणक्रियात्मिकाम् अध्यक्षे कल्पनां प्रसाध्य, साम्प्रतं यदुक्तं परेण[7]—*"न ह्यर्थे शब्दाः सन्ति तदात्मानो वा येन तस्मिन् प्रतिभासमाने तेऽपि प्रतिभासेरन्" इत्यत्र *"यद् यत्र नास्ति तस्मिन् अवभासमाने तन्नाऽवभासते यथा रूपे रसः, नास्ति च अर्थे शब्दः" इति ; तत्र पराभ्युपगमेन हेतोः व्यभिचारं दर्शय-न्नाह—**स्थूलम्** इत्यादि ।

[**स्थूलमेकासदाकारं परमाणुषु पश्यताम् ।**
स्वलक्षणेषु पुनस्तेषु शब्दः किन्नावभासते ॥२१॥

शब्दवत् दृश्यमानस्वलक्षणानां तदनात्मतायां कथं तत्र स्थवीयानाकारोऽन्वयी अवभासते रसादिवत् ? यतोऽयं शब्दयोजनारहितमर्थं पश्येत् ।]

स्थूलं महत्त्वोपेतं **एकम्** अनेकावयवगुणसाधारणम् आकारम् पराभ्युपगमेन **असन्तम्** अविद्यमानं **स्वलक्षणेषु** । कथंभूतेषु ? **परमाणुषु पश्यतां** सौगतानाम् । **पुनः** इति पक्षान्तरसूचकः, तेषां **तेषु शब्दः किन्नावभासते** अवभासत एव असत्त्वा-ऽविशेषात् । तथा च *"पश्यन्नयम् अशब्दमर्थस्य पश्यति" इति दुर्लभम् ।

ननु च मरीचिकादौ यथा जलाद्याकार एव असंप्र(असन्प्र)तिभाति ननुरागा (नतुरगा)-

---

(१) "एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥"—त्रि० ता०५।१२ । (२) "…तिमिरोपप्लुतो जनः । संकीर्णमिव मात्राभिश्चित्राभिरभिमन्यते॥ तथेदममलं ब्रह्म निर्विकारमविद्यया कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं प्रपश्यति॥"—बृहदा० भा० वा० ३।५।४३, ४४ । (३) एकत्वम् । (४) पर्यायस्य । (५) सौगताभिमत । (६) क्षणक्षयश्च सन्तानान्तरं च, तयोः साधने क्रियमाणे । (७) बौद्धेन । (८) उद्धृतमिदम्—न्यायप्र० वृ० पृ० ३५। अष्टस० पृ० ११८ । न्यायवि० वि० प्र० पृ० १३२।

कारः तथा तेषु[1] स्थूलाकार एव प्रतिभाति न शब्दाकारः, प्रतिनियतत्वाद् भ्रान्तीनाम् । तथा दर्शनादिति चेत्; नैतदस्ति; यतः न खलु 'तेषु कदाचित् कचिदसतः स्थूलाकारस्य प्रतिभासदर्शनात् सर्वत्र सर्वदा तेनैव प्रतिभासितव्यम्, तथा शब्दाकारस्य तथा प्रति[७५ख]भासदर्शनात् तेन न प्रतिभासितव्यम्' इति निश्चयोऽस्ति, कस्यचिद्[2] उपलशकलविशेषे कदाचिदसतो रजताकारस्य प्रतिभासदर्शनेऽपि तत्रैव पर्यायेण[3] कनकोपयोगिनोऽसतः कनकाकारस्य प्रतिभासदर्शनात्, [4] तेषु शब्दाकारोऽपि प्रत्यभात् प्रतिभात्यत्र प्रतिभास्यति इति शङ्का न निवर्तत इति *"तद्धि अर्थसामर्थ्यादुपजायमानम् अर्थस्यैव आकारम् अनुकरोति न शब्दादेः" इति[5] प्राकृतमेतत् ।

अन्ये तु मन्यन्ते–'चक्षुरादिना रूपादिपरमाणुषु नेन्द्रियान्तरविषयस्यार्थ(स्य) सतोऽपि ग्रहणम्, अदर्शनात् । न वै विभ्रमदशायामपि चक्षुषि गन्धः प्रतिभाति इन्द्रियान्तरवैफल्यं वधिराभावश्च स्यात्' इति; तन्न युक्तम्; असर्वदर्शिनोऽदर्शनमात्रेण तथानिश्चयाऽयोगात्, अन्यथा तत एव सर्वरसादीनाम् एकाध्यक्षेण[6] ग्रहणासिद्धेरसर्वज्ञं[7] जगत् स्यात् । मनोक(ऽक्ष)विषयस्य स्थूलस्य अनेकावयवगुणसाधारणत्वेन सामान्यस्य एकस्याकारस्य अक्षान्तरे चक्षुरादिकेऽपि प्रतिभासाभ्युपगमात् परेण अनेकान्तः चेत (चेत्;) नेन्द्रियान्तरवैफल्यं निरस्तम्; अन्यथा समान्यस्य चक्षुरादिना ग्रहणे अनुमानवैयर्थ्यमापद्येत[8] तस्य सामान्यविषयत्वात् *"अन्यत् सामान्यं सोऽनुमानविषयः" [न्यायवि० १।१६, १७] इति वचनात् ।

यत्पुनरुक्तम्–'वधिराऽभावः स्यात्' इति; तदपि न दोषाय; [13]कस्यचित् तत्प्रतिभासोपगमात्, तस्यावाधिर्येऽपि न सर्वस्य तत् [७६क] [14]सोऽपि वा वधिरोऽस्तु श्रवणेन शब्दाऽग्रहणात् । ननु प्रतिभातु शब्दोऽपि तेषु, नैतावता शब्दकल्पना अध्यक्षे, असता तेन[15] तदयोगादिति चेत्; तर्हि अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासात् कल्पना क्वचिज्[16] ज्ञाने न स्यात्, [17]सोऽपि तत्र अन्यत्र वा न परमार्थसन् । अथवा, यथा परमाणुरूपतायां स्थूलाकारोऽसन् न स्वरूपेण बाधकाभावात् तथा शब्दोऽपि इत्यदोषः ।

यत्पुनरुक्तं परेण–

*"अर्थोपयोगेऽपि पुनः स्मार्त्तं शब्दानुयोजनम् ।
[18]अक्षधीर्यद्यपेक्षेत सोऽर्थो व्यवहितो भवेत्[19] ॥" [20]इति;

तदप्यनेन दूषितम्; स्थूलाकारवत् तेषु[21] शब्दाकारस्यापि अस्मृतस्य अवभासाविरोधात् ।

---

(१) परमाणुषु स्वलक्षणेषु । (२) पुरुषस्य । (३) क्रमशः । (४) कनकार्थिनः कस्यचित् । (५) स्वलक्षणेषु । (६) "तदुक्तम्–तद्ध्यर्थसामर्थ्येनोपजायमानं तद्रूपमेवानुकुर्यात् ।" –हेतुवि० टी० पृ० १९५ । प्र० वार्तिकाल०पृ० २७८ । (७) असङ्गतमेतत्, प्राकृतमेतत् ग्राम्यार्थे प्रयुज्यते, असंस्कृतमित्यर्थः । (८) गन्धादेः । (९) अदर्शनमात्रादेव । (१०) अतीन्द्रियेण । (११) सर्वज्ञशून्यम् । (१२) अनुमानस्य । (१३) सर्वज्ञस्य । (१४) सर्वज्ञोऽपि । (१५) शब्देन । (१६) बालकस्य अभ्युत्पन्नसङ्केतस्य । (१७) अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासोऽपि । (१८) निर्विकल्पकप्रत्यक्षम् । (१९) स्मार्तेन शब्दानुयोजनेन, तथा च साक्षात् स्वलक्षणरूपादर्थात् इन्द्रियज्ञानं न स्यात् । (२०) उद्धृतोऽयम्–तत्त्वोप० पृ०५० । अष्टस०पृ० १२२ । न्यायवा० ता० टी० पृ० ११६ । न्यायम० प्र० पृ० ८६ । सम्मति० टी० पृ० ५२५ । (२१) स्वलक्षणेषु तद्ग्राहिषु इन्द्रियप्रत्यक्षेषु वा ।

शब्दवत् इत्यादिना कारिकां विवृणोति—**शब्दस्य इव दृश्यमानानि** प्रत्यक्षीक्रियमाणानि **यानि स्वलक्षणानि** परमाणुलक्षणानि [तेषाम्] **तदनालता (नात्मता) याम्**[1] अतत्स्वभावतायाम् अक्षीक्रियमाणायाम् आकारस्य स्थवीयसः स **कथं तत्र आकारः स्थवीयान् अन्वयी अवभासते, नैव** । अत्र निदर्शनमाह—**रसादिकमिव** । यथा रसादिकं परस्परमनात्मतायां तत्र परस्परात्मनि नावभासते तथा प्रकृतमपि इति, तस्य[2] आकारस्य प्रतिभाससंभवे स्वलक्षणेषु शब्दः किन्नावभासते ? **यतः** यस्माद् अनवभासाद् **अयं** सौगतो लोको वा **शब्दयोजनारहितमर्थं पश्येत्** । **'यतः'** इति वा आक्षेपे, नैव पश्येत् । तदेवं व्यवसायात्मके ज्ञाने प्रमाणे सति सुस्थितमेतत्—**'प्रमाणस्य फलं साक्षात्'** इत्यादि[3] ।

अत्रापरः प्राह—स्वार्थयोरभावाद् [७६ख] भ्रान्तत्वाद्वा कस्य का सिद्धिः यतः तस्याः कस्यचित् प्रमाणस्य भावात् तत्सूक्तं स्यात् इति; [4]तं प्रत्याह—**ब्रुवन्** इत्यादि ।

[ब्रुवन् प्रत्यक्षमभ्रान्तं बहिरन्तरसंभवम् ।
अनुमानबलादध्यक्षमनात्मज्ञस्तथागतः ॥२२॥

स्वभावनैरात्म्यं सर्वथा सर्वभावानां **ब्रुवन्** प्रत्यक्षमभ्रान्तं लक्षयन् कथमनुन्मत्तः ? **कुतश्च यथादर्शनमेव मानमेयफलस्थितिः न पुनः यथातत्त्वमिति स्वयमबुद्ध्येत बोधयति** वा प्रमाणादेरभावात् । *"यथा यथार्थाः चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा" इति मिथ्याज्ञानान्न प्रतिपत्तुमर्हति समयान्तरवत् । कथञ्चिद्याथात्म्यप्रतिपत्तिमन्तरेण यथादर्शनमेवं क्षणिकभ्रान्तैकान्तचित्तसन्तानान्तराणि स्वभावनैरात्म्यं वेत्यादि ब्रुवतः शौद्धोदनेस्तावदयं प्रज्ञापराधः कथमिति सविस्मयं सकरुणं नश्चेतः[5] । सन्त्यस्यापि अनुवक्तार इति कपन्यदनात्मज्ञतायाः । यथादर्शनं चित्तं बहिर्मुखाकारं परमार्थैकसंवेदनं स्वयमभ्युपयतः परमात्मसिद्धिरेव किन्न भवेत् ? तत्त्वमक्रमं सकलविकल्पातीतं यथादर्शनं मिथ्याव्यवस्थामवतरति, तत्त्वमिथ्यास्वभावयोरेकत्वमभ्युपगन्तव्यम् । तस्मिंश्च सामान्यविशेषात्मकत्वं बहिरन्तश्च परिणामि किन्न लक्ष्यते ? सर्वथा अनेकान्तसिद्धेरनिवारणात् ।]

बहिरन्तरसंभवम् । कथम्भूतम् ? **प्रत्यक्षं** प्रमाणप्रमितं स्वयं तत्प्रतीतौ तथागतस्य प्रत्यक्षैकप्रमाणात्मकत्वेन प्रमाणान्तराभावात् इति मन्यते । कुत एतदिति चेत् ? अत्राह—**अभ्रान्तं** विभ्रमरहितं यतः, तथाविधस्यैव प्रत्यक्षत्वात्, इतरथा मरीचिकाजलवत् कथं प्रत्यक्षं तत् ? किं कुर्वन् ? इत्याह—**ब्रुवन्** विनेयसत्त्वान् प्रति कथयन् । कुतः ? **अनुमानबलात्** त्रिरूपलिङ्गसामर्थ्यात् । वचनमात्रात् तेषां तत्प्रतिपत्त्ययोगात्, प्रमाणान्तरं वा स्यादिति भावः । अत्रापि **'अभ्रान्तम्'** इति क्रियाविशेषणत्वेन सम्बन्धनीयम्, अभ्रान्तं यथा कुर्वन् (ब्रुवन्) इति ।

---

(१) स्थूलात्मकताभावे । (२) स्थवीयसः । (३) सिद्धिवि० १।३ । (४) अभाववादिनं विभ्रमवादिनं वा । (५) प्र० वा० २।३५७ । (६) तुलना—"तत्र शौद्धोदनेरेव कथं प्रज्ञापराधिनी बभूवेति वयं तावद् बहुविस्मयमास्महे ॥ तत्राप्यापि जडाः सत्कारतमसो नापरं परम् ।"—न्यायवि० १।५२, ५३ । अष्टस०, अष्टस० पृ० ११६ । "आचार्यस्तस्यैव तावदिदमीदृशं प्रज्ञास्खलितं कथं बुद्धमिति सविस्मयानुकम्पं मनश्चेतः । तदपरेऽप्यनुवदन्तीति निर्दयाक्रान्तभुवनं चित्रव्यापकं तमः ।"—वादन्या०टी० पृ० ५१ ।

कोऽसौ ? इत्याह–**तथागतः** सुगतः। कथम्भूतः? इत्याह–**अनात्मज्ञः** आत्मानं स्वस्वरूपम् उन्मत्तवत् न जानाति इत्यनात्मज्ञः। कथम् ? **अध्यक्षम्** स्पष्टं यथा भवति। तथाहि–यदि सर्वाभावः; न तर्हि प्रत्यक्षमपि, इति कुतस्तस्य तत्प्रतिपत्तिः यतः तं परं प्रति ब्रूयात्। अथ प्रत्यक्षमस्ति; न सर्वथाऽभावः। अस्यापि ततो व्यतिरेके[2] तद्रूपताव्यतिरेके सम्बन्धाऽसिद्धेः, न तस्य ग्रहणम्। तदुत्पत्तिसारूप्यकल्पने; न सर्वशून्यता इति। तथा, परप्रतिपादनोपायलिङ्गवचनभावा- ५
भावयोः [3]अनिवृत्तः प्रसङ्गः। यदि च ज्ञानं भ्रान्तम्; कथं प्रत्यक्षम् ? तैतः तस्य सिद्धिर्वा विषयवत्। एवं वचनादावपि वक्तव्यम्।

स्वभाव इत्यादिना [७७क] कारिकार्धमाह–**स्वभावनैरात्म्यं** रूपरहितत्वम् **सर्वथा** पररूपादिना इव स्वरूपादिनापि **सर्वभावानां** चेतनेतरवस्तूनां **ब्रुवन्** विनेयसत्त्वान् प्रति कथयन् **प्रत्यक्षं** तद्विषयम् [6]आत्मनि विशदं ज्ञानम् **अभ्रान्तं** विभ्रमरहितम् [7]**लक्षयन्** कथमनुन्मत्तः ? १०
सुगतः अन्यो वा उन्मत्त एव। यत्पुनरुक्तं परेण–

*"यथादर्शनमेवेयं [8]मानमेयव्यवस्थितिः।
क्रियतेऽविद्यमानापि ग्राह्यग्राहकसंविदाम्॥" [प्र० वा० २।३५७] इति;

तत्राह–**कुतश्च** इत्यादि। **कुतः** न कुतश्चित्। **च** शब्दः पूर्वसमुच्चयार्थः। **यथा-दर्शनमेव**–यथाप्रतिभासमेव **मानमेयफलव्यवस्थितिः न पुनः यथातत्त्वम्** न तु परमार्थाऽनतिक्रमेण इत्येवम् **स्वयम्** आत्मना **अवबुद्ध्येत** पाद्यं (प्रतिपाद्यं) **बोधयति** वा। कुत एतत् ? इत्यत्राह–**प्रमाणादेरभावात्** स्वावबोधे अध्यक्षस्य परावबोधे अनुमानस्य प्रमाणस्य आदिशब्देन वचनस्य अभावात्। भावे वा स्ववचनविरोध इति मन्यते।

ननु च न प्रमाणबलात् स्वभावनैरात्म्यं *"यथादर्शनमेव" इत्यादि वा कश्चित् प्रतिपद्यते प्रतिपादयति वा येनायं दोषः स्यात्; अपि तु विचारात्। तदुक्तम्– २०

*"तदेतन्नूनमायातं यद्वदन्ति विपश्चितः।
यथा यथार्थाश्चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा॥" [प्र०वा० २।२०९]

इति चेत्; अत्राह–**'यथा यथा'** इत्यादि। **यथा यथा** येन अवयवावयविबाह्येतरस्त्यैतरादिप्रकारेण **[चिन्त्यन्ते]** विचार्यन्ते **अर्था** भावा **तथा तथा विशीर्यन्ते** शून्या भवन्ति **इत्येवं मिथ्याज्ञानात् न** [७७ख] **प्रतिपत्तुमर्हति**, विचारस्यास्य [10]प्रत्यक्षानुमानत्वेन प्रमाणत्वाभा- २५
वात् मिथ्याज्ञानत्वमिति भावः। ननु च सर्वस्य तत्त्वव्यवस्थापने अयं विचार एव परं शरणं परमार्थतः प्रमाणादेरभावादिति चेत्; अत्राह–**समयान्तरवत्** इति। समयान्तराणि नित्यादिदर्शनानि तथैव (तथेव) तद्वत् इति। यथा अयं सुगतोऽन्यो वा तेष्वपि [11]मिथ्याज्ञानात् न किञ्चित् प्रतिपत्तुमर्हति तथा स्वसमयेऽपि इति दृष्टान्तार्थः।

---

(१) बहिरन्तरर्थाभावस्य प्रतिपत्तिः। (२) भेदे। (३) लिङ्गवचनयोः भावः सद्भावश्चेत्; न सर्वशून्यता। अभावश्चेत्; कथं ताभ्याम् परस्य प्रतिपत्तिरिति भावः। (४) प्रत्यक्षात्। (५) सर्वाभावस्य। (६) स्वस्वरूपे। (७) "कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्" [न्यायवि० १।४] इत्यादिना लक्षयन्। (८) "मानमेयफलस्थितिः"–प्र० वा०। (९) 'इदं वस्तुबलायातम्'–प्र० वा०। (१०) प्रत्यक्षत्वेन अनुमानत्वेन वा प्रमाणत्वाभावे मिथ्याज्ञानत्वमेव आपद्येत। (११) मतान्तरेषु।

अधुना 'यथादर्शनमेव' इत्याद्युक्त्वा भावतः सौत्रान्तिकादिसमयभेदेन क्षणक्षयादिकं वदतः सुगतस्य प्रज्ञापराधं दर्शयन्नाह—कथञ्चिद् इत्यादि । कथञ्चित् केनापि प्रत्यक्षप्रकारेण अनुमानप्रकारेण वा याथात्म्यप्रतिपत्तिर्या तामन्तरेण यथादर्शनमेव इत्यादि वचनं ब्रुवतः कथयतः । कानि ? क्षणिकभ्रान्तैकान्तचित्तसन्तानान्तराणि । क्षणिकग्रहणं सौत्रान्तिकमतत-
५ स्वोपलक्षणार्थम्, तेन सर्वसंसारेतरवर्त्मवित्तिः गृह्यते । भ्रान्तैकान्तवचनम् *"यद् विशददर्श-नपथावतारि न तत् परमार्थसत् यथा तैमिरिकोपलब्धं केशादि" इत्यस्य माध्यमिकविज्ञेषस्य मतसंग्रहार्थम् 'चित्तं च तत्सन्तानान्तराणि' इति कथनं योगाचारस्य[1], तेषां द्वन्द्वः तानि इति। न केवलं तान्येव किन्तु स्वभावनैरात्म्यं वा सकलशून्यत्वं वा ब्रुवतः । कस्य किं जातम् ? इत्यत्राह—शौद्धोदनेः इत्यादि । शौद्धोदनेः[2] [७८क] सुगतस्यैव नान्यस्य तावदयं प्रज्ञापराधः
१० कथं केन प्रकारेण 'जातः' इत्यध्याहारः इति हेतोः सविस्मयं साश्चर्यं सकरुणं सदयं नः अस्माकं चेतः । *"विधूतकल्पनाजाल" [प्र० वा० १।१][3] इत्यादि विशेषणस्य कारणमन्तरेणैव स जात इत्यभिप्रायः । साम्प्रतं तदनुसारिणां तदपराधं दर्शयन्नाह—सन्ति इत्यादि । सन्ति अस्यापि प्रज्ञापराधवतोऽपि अनु पश्चात् वक्तारः तदुक्तं समर्थयितारः इति किम् अन्यद् अनात्मज्ञतायाः सैव इति ।

१५ ननु च ग्राह्याकारं स्वप्नेतरसाधारणम् अविचारितरमणीयमुद्दिश्य *"यथादर्शनमेव" [प्र० वा० २।३५७] इत्याद्युक्तम् । तथाह—प्र ज्ञा क र गु प्तः *"प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम् इत्यादि प्रमाणलक्षणं व्यवहारेण" [प्र० वार्तिकाल० २।५] एतदेवाह—यथादर्शनम् इत्यादि । यथादर्शनं प्रमाणादिरूपेण अविचारितरमणीयम् । किं तत् ? इत्यत्राह—चित्तं ज्ञानम् । कथं-भूतम् ? बहिर्मुखाकारं तेन रूपेण तत्तथेति मन्यते । स्वरूपसंवेदनं तूद्दिश्य परमार्थत एव
२० प्रमाणादिरूपम् । तथा चाह स एवं *"अज्ञातार्थप्रकाशो वा इत्येतल्लक्षणं परमार्थेन प्रमा-णान्तरेण अज्ञातस्य संवेदनाद्वैतस्य प्रकाशनात्" [प्र० वार्तिकाल० २।५] एतदप्याह—परमार्थ इत्यादिना । परमार्थो वस्तुभूतम् एकम् अखण्डम् संवेदनं स्वसंवेदनाकारो यस्य तत् तथोक्तम् 'चित्तम्' इति सम्बन्धः । ततः 'प्रमाणादेरभावात्' इत्यसिद्धमिति भावः परस्य । अत्रोत्तरमाह—स्वयम् इत्यादि । स्वयम् इत्यादिना अभ्युपयतः [७८ख] अभ्युपगच्छतः तथा-
२५ विधं चित्तं सौगतस्य परमात्मसिद्धिरेव परमस्य अनेकान्तरूपस्य आत्मनो जीवस्य उक्तन्यायेन सिद्धिरेव न सन्देहादि किन्न भवेत् स्यादेव । 'परमार्थसिद्धिरेव' इति वा पाठो द्रष्टव्यः । अत्रा-यमर्थः—यथा प्रतिभासाविशेषेऽपि संवेदनबहिर्मुखाकारयोः परमार्थतः सत्येतरव्यवस्था तथा तद-विशेषेऽपि स्वप्नेतरबहिर्मुखाकारयोरपीति निर्णीतप्रायमेतत् ।

स्यान्मतम्, सौत्रान्तिकादिदर्शनभेदः संवेदनग्राह्याकारयोः सत्येतरभेदश्च व्यवहारेण न
३० परमार्थतः तथागतेनोक्तः ततोऽयमदोषः । तथा चोक्तम्—

(१) मतसंग्रहार्थम् । (२) शुद्धोदनस्य अपत्यं शौद्धोदनिः तस्य शुद्धस्येत्यर्थः । (३) "विधूतकल्प-नाजालमम्लीरोदारमूर्तये । नमः समन्तभद्राय समन्तस्फुरणत्विषे॥" इत्यत्र । (४) प्रज्ञाकरगुप्तः "तत्र पारमार्थिकप्रमाणलक्षणमेतत् पूर्वं तु सांव्यवहारिकस्य"—प्र० वार्तिकाल० ।

*"द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना ।
लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः ॥" [माध्य० का० पृ० ४०२] इति।

यदि वा, पूर्वपक्षार्थं तत्तेनोक्तम्, पुनः प्रतिषेधविधानात् । तदुक्तम्–

*"सर्वमस्तीति वक्तव्यमादौ तत्त्वगवेषिणा ।
पश्चादवगतार्थस्य भावग्राहो निवर्त्तते ॥" इति । ५

शब्दविकल्पातीतं तु तत्त्वमिति । तदेवाह–तत्त्वम् इत्यादिना । तत्त्वं सविदः परमार्थस्वरूपम् अक्रमम् कालादिक्रमरहितम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? इत्यत्राह–सकलविकल्पातीतम् । नित्याऽनित्य-सत्याऽसत्य-स्वपर-ग्राह्यग्राहकसंवेदन-एकानेकादिभावादयः सकलविकल्पाः तान् अतीतम् । कथं तत्तथेति चेत् ? अत्राह–यथा इत्यादि । दर्शनस्य प्रतिभासस्य अनतिक्रमेण यथादर्शनम् । अत्र दूषणं दर्शयन्नाह–[७५क] मिथ्या इत्यादि । मिथ्याव्यवस्थाम् असत्यामवस्थितिम् अव- १०
तरति । कथमिति चेत् ? उच्यते–अक्रमत्वं सकलविकल्पातीतत्वं यदि तस्य भावतोऽस्ति; कथं सकलविकल्पातीतम् ? तँयोरेव विकल्पत्वात् । अथ नास्ति; तथापि कथं तदतीतम् ? तँदतीतत्वनिषेधे सकलविकल्पप्रसक्तेः, अभावनिषेधस्य विध्यात्मकत्वात् । अथवा, यदुक्तं [न] तन्नित्यं तथोपलम्भवैधुर्यात् । एकं हि कालत्रयानुयायि नित्यम्, तस्य कुतश्चिदनुपलम्भ इति तत्र तदक्षा (भा)वोऽपि । यथैव हि मध्यक्षणे क्षीणकुक्षि प्रत्यक्षं न पूर्वोत्तरक्षणौ ईक्षितुं क्षमते तथा नीला- १५
वलोकनान्नीलं न शुक्लादिकमाम् (मात्राम्), एवं नीलमात्रांशेष्वपि तावच्चिन्त्यम् यावत् मध्यक्षणवत् प्रतिपरमाणुनियतसंविदां सिद्धिः, तत्र च एकपरमाणुवेदनेनान्यासामु(सामनु)पलम्भेन सन्तानान्तरसमतौ, तद्वेदनमपि विवादगोचरचारीति किन्नाम तत्त्वं यद् अक्रमं सकलविकल्पातीतं भवेत् । एवम् अनित्यं तन्न भवति इत्यत्रापि चिन्त्यम् । यथा खलु पूर्वोत्तरक्षणयोरदर्शने न सत्त्वं नापि [६]ताभ्यां विवेको मध्यक्षणस्य क्षणिकत्वं प्रत्येतुं शक्यं तथा नीलादितदंशानां सत्त्वं २०
विवेको वा प्रत्येतुं कथं शक्यो यतः सकलविकल्पातीतं तत्त्वं भवेत् ।

एतेन [७]एकानेकविकल्पशून्यत्वं परीक्षितम्, न्यायस्य समत्वात् । तथापि तत्त्वकल्पने तत् मिथ्या[व्य]वस्थामवतरति इति हेतोः संवेदनलक्षणो यः तत्त्वस्वभावः स्थिरस्थूलादि [७५ख] ग्राह्याकारलक्षणश्च मिथ्यास्वभावः तयोरेकत्वम् अभ्युपगन्तव्यम् । तस्मिंश्च तत्त्वमिथ्यास्वभावैकत्वे अभ्युपगम्यमाने सामान्यविशेषात्मकम् । क ? बहिरन्तश्च । कथम् ? यथादर्शनं दर्शनाऽ- २५
नतिक्रमेण । कथम्भूतम् ? परिणामि तत् किमलक्ष्यते ? लक्ष्यत एव तत्त्वमिति । ननु घटाद्याकार एव (रमेव) संवेदनं न तस्मात् तदन्यद् ग्राह्याकारो वा तत्कथं तत्त्वमिथ्यास्वभावैकत्वमिति चेत् ?

(१) ग्राह्यार्थोऽस्तीति ग्राहः अभिनिवेशः । उद्धृतोऽयम्–न्यायवि० वि० द्वि० पृ० १७ । (२) तुलना– "यन्नाद्यस्वपरभावसत्यासत्यशाश्वतोच्छेदनित्यानित्यसुखदुःखशुच्यशुच्यात्मानात्मशून्याशून्यलक्ष्यालक्ष्यैकत्वान्यत्वोत्पादनिरोधादयो विशेषाः तस्य न संभवन्ति ।"–बोधिच० प० पृ० ३१६ । (३) अक्रमत्वसकलविकल्पातीतयोः । (४) सकलविकल्पातीतत्व । (५) सन्तानान्तरवदभाव इत्यर्थः । (६) पूर्वोत्तराभ्याम् । (७) "निःस्वभावा अमी भावाः तत्त्वतः स्वपरोदिताः । एकानेकस्वभावेन वियोगात् प्रतिबिम्बवत् ॥"–बोधिच० प० पृ० ३४८ ।

अत्राह–सर्वथा इत्यादि। सर्वथा सर्वेण तत्त्वमिथ्यात्वभावैकत्वेन घटाद्याकारस्य संवेदनेन अन्येन च उक्तेन प्रकारेण अनेकान्तसिद्धेरनिवारणात् कारणसामान्य इत्यादि लक्ष्यते इति।

एवं तावत् सिद्धिः अर्थनिश्चयः साक्षात् प्रमाणस्य फलं प्रसाध्य, अधुना सिद्धिः स्वनिनिश्चयः [1]तथा तत्फलं समर्थयमानः प्राह–सिद्धम् इत्यादि।

[सिद्धं यन्न परापेक्षं सिद्धौ स्वपररूपयोः।
तत्प्रमाणं ततो नान्यदविकल्पमचेतनम् [2] ॥२३॥

प्रमातृप्रमितिप्रमेयप्रमाणानां साकल्येन प्रमेयत्वं सदृशं रूपम्, तत्रैतावान् विशेषः स्वतः सिद्धं प्रमाणम्। सिद्धिः अविप्रतिपत्तिः, अव्युत्पत्तिसंशयविपर्यासलक्षणाज्ञाननिवृत्तिः प्रमितिः। तद्यतः सम्पद्यते तत्प्रमाणम्। तत्पुनः यावतोः स्वभावपरभावयोः साधनमन्यानपेक्षं प्रमात्मत्वात् न पुनः स्वसंविन्मात्रं निर्णयरहितम् अतिप्रसङ्गात्। सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षं हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थमिच्छतां स्वापप्रबोधयोः को विशेषः संभाव्यते यतः स्वापादौ सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिर्न भवेत्। न हि स्वापादौ चित्तचैतसिकानामभावं प्रतिपद्यमानान् प्रमाणमस्ति। न च तेषां तदा आत्मसंवेदनं मुक्त्वा सतां लक्षणान्तरमस्ति यतः प्रत्यक्षलक्षणं ततो निवर्तेत। स्वापादिस्वसंवेदनस्य जाग्रच्चित्तचैतसिकक्षणक्षयादिस्वसंवेदनस्य च कञ्चिद् विशेषं संप्रेक्षामहे यतस्तदनुपलक्षितमास्ते। साक्षात् संप्रतिपत्तिभावाविशेषात्। तथा च स्वार्थविषयं प्रमाणमिति जाग्रद्विज्ञानक्षणक्षयादिस्वभावसंवित्तेः प्रत्यक्षात्मनोऽपि यद्यप्रमाणत्वं न तर्हि संवित्तेः प्रत्यक्षता। यदि पुनः संवित्तिस्तथैव सत्यपि प्रत्यक्षं न स्यात् प्रमाणं वा प्रमाणलक्षणं ततोऽन्यथैव व्यवस्थापनीयं यदतिव्यापकं न भवेत्। तथा च सर्वं स्वभावे परभावे वा कथञ्चिदेव प्रमाणं न सर्वथा। चक्षुरादिज्ञानस्यापि सर्वथा परतः प्रामाण्ये कुतस्ततोऽर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानस्य पुनरविसंवादः? क्षणक्षयादौ विसंवादेऽपि नीलादौ प्रमाणत्वे मृगतृष्णादिज्ञानस्यापि सलिलादिविसंवादिनः कथञ्चित्प्रमाणत्वं परीक्षायाः प्रतिष्ठापयितुं युक्तम्, अन्यथा तद्दर्शिनः सुप्तत्वाविशेषप्रसङ्गात्। यथैव हि परतः प्रामाण्यैकान्ते अनवस्थानादप्रतिपत्तिः तथैव सर्वज्ञानानां स्वतः स्वभावानिश्चयैकान्ते। ततः सर्वज्ञानानां स्वरूपव्यवसायात्मकत्वं चित्तचैतसिकानां निर्विकल्पप्रत्यक्षलक्षणं निराकरोत्येव। स्वसंवेदनमन्तरेण अर्थग्रहणानुपपत्तिवत् स्वरूपव्यवसायमन्तरेण विषयव्यवसायानुपपत्तिश्चोक्ता। तन्नायमेकान्तः संवित्तिः सती संवित्स्वभावापि सती स्वरूपं वेदयत्येव वेदयति भ्रान्तेरभावप्रसङ्गात्, व्यवसायात्मकत्वाद्वा स्वरूपं सर्वथा व्यवस्यति। तथा च स्वार्थानुभवेतरस्वभावलक्षणं स्वपररूपव्यवसायेतरस्वभावं वा विभ्राणं विज्ञानं तदन्तरेण न कथञ्चिदुपपनीपद्येत। तन्नाविकल्पदर्शनं प्रमाणं स्वयमनुभूतस्वभावस्यापि सर्वथा अननुभूतकल्पत्वात् चेतनत्वेऽपि सुषुप्तादिवत्। स्वविषयीकृते वस्तुनि तदन्तरापेक्षित्वात्

(१) साक्षात्। (२) उद्धृतोऽयम्–न्यायवि० वि० प्र० पृ० ९८।

तदपेक्षणीयस्यैव प्रामाण्यम्, तत्कारणत्वेऽपि सन्निकर्षादिवत् मुख्यतः प्रमाणतानुपपत्तेः। उपचारतः सन्निकर्षादेः व्यपदेशाविघातात्। यतः प्रभृति प्रेक्षापूर्विका पुरुषप्रवृत्तिः तस्य मुख्यतः प्रमाणत्वोपपत्तिः। स्वेक्षितेऽन्यानपेक्षस्य अविसंवादैकभवनस्य विकल्पविषयस्य च तत्त्वतः, यतोऽयमस्खलद्वृत्तिः हिताहितप्राप्तिपरिहारयोः सङ्करव्यतिकरव्यतिरेकेण प्रवर्तेत। अतस्तद्द्वेषी तत्कारी चेत्युपेक्षामर्हति।] ५

सिद्धं निश्चितं यत् तत् प्रमाणं न पुनः मीमांसक-सांख्यकल्पितं परोक्षं ज्ञानमिति मन्यते। क प्रमाणम्? इत्यत्राह–सिद्धौ निर्णीतौ कर्त्तव्यायाम् नाऽधिगतिमात्रे, क्षणक्षयाद्यनुमानवैफल्यप्रसङ्गादिति भावः। ननु निश्चयान्तरेण निश्चितं निर्विकल्पकं वा सविकल्पकं वा स्वसंवेदनं तत् प्रमाणम्, अतः सिद्धसाधनमिति चेत्; अत्राह–न परापेक्षम् इति। तद्धिसिद्धौ यत् परापेक्षं न भवति अपि तु स्वतः सिद्धमिति। ततः तस्माद् उक्तादन्यत् न प्रमाणम्। किं तत्? १० इत्यत्राह–[८०क] अविकल्पमचेतनम् च स्वसंवेदनशून्यं घटादिप्रख्यं यद् विज्ञानम् इति।

कारिकां विवृण्वन्नाह– 'प्रमातृप्रमिति' इत्यादि। प्रमाता चेतनः परिणामी वक्ष्यमाणो जीवः प्रमितिः स्वार्थविनिश्चयः अज्ञाननिवृत्तिः साक्षात् प्रमाणस्य फलं प्रमेयं घटादिवस्तु तेषां साकल्येन अनवयवेन प्रमेयत्वं प्रमाणविषयत्वं सदृशं रूपं साधारणः स्वभावः प्रमाणस्य च निर्णयज्ञानस्य च अन्यथा तत्सत्ताऽसिद्धिरिति भावः। एवं तर्हि सर्वेषां प्रमेयत्वात् प्रमेयपदेनैव १५ वचनात् किमर्थं प्रमात्रादीनां पृथगुपादानमिति चेत्? प्रमेयशब्दस्य घटादावेव प्रवृत्त्यर्थम्। ततोऽयमर्थो लभ्यते–प्रमात्रादीनां प्रमातृत्वादिवत् प्रमेयत्वमप्यस्ति, प्रमेयस्य तु तदेवं इति यदुक्तं परेण–*"प्रदीपादयः प्रमेया अपि ज्ञानहेतुत्वात् प्रमाणमपि" इति; तन्निरस्तम्। प्रमीयते संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते वस्तुतत्त्वं येन तत्प्रमाणम्। न च प्रदीपादिना तथा किञ्चित् मीयते, ज्ञानकल्पनावैफल्यप्रसङ्गात्। तद्धेतुत्वेन तत्प्रमाणत्वे घटादिरपिस्वं (रप्येवं) प्रमाणं भवेत् तद्- २० विशेषात् *"अर्थवत् अर्थसहकारिव्यवसायात्मकाऽव्यपदेश्याऽव्यभिचारिज्ञानजनने प्रमाणम्" इति वचनात्। *"प्रमेयादर्थान्तरं प्रमाणम्" इत्यपि वचनात् नायं दोष इति चेत्; तर्हि तत एव प्रमात्रादीनां प्रमातृत्वादि दुर्लभम्। तथापि तेषां तत्त्वे [८०ख] प्रमेयस्य प्रमाणत्वमनिवार्यम्। एवमर्थं च 'तेषां प्रमेयत्वं सदृशं रूपम्' इत्युक्तम्। ततो यथा घटादीनां ज्ञानहेतुत्वेऽपि न प्रमाणत्वं तथा प्रदीपादेरपि किन्तु प्रमेयत्वमेव इति तथा तदुपादानमिति। २५

स्यादेतत्–'सिद्धं परानपेक्षं प्रमाणम्' इति प्रस्तुते किमर्थमप्रस्तुतं प्रमेयत्वं तेषु प्रस्तूयत इति चेत्? उच्यते–*"प्रमातृप्रमेयाभ्यामर्थान्तरं प्रमाणम्" इत्यभिधानात् प्रमाणवत् प्रमातृप्रमितिभ्यामपि ततो भिन्नाभ्यां भवितव्यम्। न चैवम्, अनुपलम्भेन तदसत्त्वादिति न सूक्ष्मे-

(१) क्षणक्षयस्य अधिगतिस्तु निर्विकल्पकप्रत्यक्षादेव जाता अतः तदेव तत्र प्रमाणमिति नानुमानस्य आवश्यकतेति भावः। (२) प्रमेयत्वमेव। (३) "प्रदीपप्रकाशो घटाद्युपलब्धिसाधनत्वाङ्गत्वात् प्रमाणम्"–न्यायवा० २।१।१९। (४) ज्ञानहेतुत्वेन। (५) तद्धेतुत्वाविशेषात्। (६) प्रमात्रादित्वे। (७) "साधकतमं प्रमाणं न तु प्रमातृप्रमेये"–न्यायवा० पृ० ६। "प्रमातृप्रमेयव्यवच्छेदार्थं फलाद्देदज्ञापनार्थञ्च साधनग्रहणम्।"–न्यायसा० पृ० २। "करणव्युत्पत्तेश्च कर्तृकर्मविलक्षणमेतद् वेदितव्यम्।" –न्यायकलि० पृ० १।

तत्–*"चतुष्टयेवंविधासु तत्त्वं परिसमाप्यते यदुत प्रमाता प्रमितिः प्रमेयं प्रमाणमिति" [न्यायभा० पृ० १]। अथ प्रमेयमपि तच्चतुष्टयं तथेष्यते; *"प्रमातृप्रमेयाभ्यामर्थान्तरं प्रमाणम्" इत्यस्य व्याघातः, इत्यस्य प्रतिपादनार्थं प्रस्तूयते । अथवा यदुक्तम्[1]–*"ज्ञानं स्वतोऽर्थान्तरेणैव ज्ञानेन वेद्यते प्रमेयत्वात् घटादिवत्" इति; तत्र यथा घटादिकं प्रमेयत्वे सति भिन्नेनैव ज्ञानेन वेद्यमानं दृष्टं तथा प्रमात्रा[थ]पि । ततो घटादिनिदर्शनेन यद्वत् प्रमेयत्वात् तज्ज्ञानं तेंदन्तरेणैव विषयीक्रियते इति साध्यते तद्वत् तत एव प्रमातापि तेंदन्तरेणैव विषयीक्रियते इति साध्यताम विशेषात् , तदन्तरमपि तदन्तरेणैवेत्यनवस्थानान्न कस्यचित् प्रमातुः प्रतिपत्तिः इत्यभावः । अथ तदविशेषे [८१क] प्रमाता स्वयमेव आत्मानं प्रमिणोति; तर्हि 'ज्ञानं ज्ञानान्तरेणैव ज्ञायते प्रमेयत्वात्' इत्यस्य तेनैवं व्यभिचार इत्यस्य कथनार्थं तत् प्रस्तूयते ।

एवमपि 'प्रमातृप्रमितिप्रमेयप्रमाणानां साकल्येन प्रमेयत्वं सदृशं रूपम्' इति वक्तव्ये किमर्थम् 'प्रमाणस्य च' इति प्रथग् वचनमिति चेत्? स्वतः सिद्धत्वेन प्रमेयादस्यं प्राधान्यख्यापनार्थम् । एतदेव दर्शयन्नाह–तत्रैतावान् इत्यादि । तत्र तेषु प्रमात्रादिषु मध्ये प्रमाणस्य विशेषः भेदः एतावान् अधिकः स्वतः सिद्धं प्रमाणम् । ननु प्रमातापि स्वतःसिद्ध इति चेत् ; सत्यम्; अतएव नैवमवधारणीयम् 'प्रमाणमेव' इति, किन्तु 'स्वतःसिद्धमेव' इति । सिद्धं निर्णीतम् अधिगतमिति । ततो निरस्तमेतत्–*"परोक्षा हि नो बुद्धिः प्रत्यक्षोऽर्थः, स हि बहिर्देशसम्बद्धः प्रत्यक्षमनुभूयते, ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति" [शाबरभा० १।१।५] इति । कथम्? येन हि साक्षात् प्रमेयं परिच्छिद्यते तत्प्रमाणम् , न च परोक्षबुद्ध्या तैंथा किञ्चित् परिच्छिद्यते, इंतरथा सन्तानान्तरबुद्ध्यापि परिच्छिद्यते (द्येत) इति सर्वदर्शित्वम्। आत्मबुद्ध्या इति नोत्तरम् ; परोक्षायां तैंथा निश्चयविरहात् । न खलु आत्मनि ज्ञानमस्ति परत्र च (वा) इति श्रोत्रियस्यैं निश्चयोऽस्ति ।

स्यान्मतम्–मर्मं [9]अर्थापरोक्षताजननात् 'मयि' इति निश्चय इति; तदपि न सुन्दरम् ; यतः अर्थापरोक्षता [10]तज्जनितापि केन प्रतीयते? न तावदर्थेन; अचेनत्वादस्य [८१ख] अर्थान्तरवत् । नापि बुद्ध्या; तस्याः परोक्षत्वात् , अतिप्रसङ्गात् । अत एव नात्मनापि । तत्र अर्थापरोक्षता उत्पन्ना प्रत्येतुं शक्या । किंच, 'मम [12]सा' इत्यपि कुतः? मदीयबुद्धिजन्यत्वादिति चेत् ; अन्योन्यसंश्रयः–सिद्धे हि [13]तस्या मदीयबुद्धिजन्यत्वे 'मम सा' इति निश्चीयते, तन्निश्चये च तन्मदीयबुद्धिजन्यत्वनिश्चयः इति । 'मम सा' इति निश्चयेऽपि न मदीयबुद्धिजन्यत्वनिश्चयः, अन्यसम्बन्धिकारणजन्यानामपि[14] 'मम' इति निश्चयदर्शनात् अन्यव्यानात् ([15]अन्यध्यानात्) मम विषापहारादिवत् इति । तत्र *"प्रत्यक्षोऽर्थः" [शाबरभा० १।१।५] इत्यादि सूक्तम् ।

---

(१) "विवादाध्यासिताः प्रत्यक्षत्वान्तरेणैव वेद्याः प्रत्ययत्वात् । · एवं प्रमेयत्वगुणत्वसत्त्वादयोऽपि प्रत्ययान्तरवेद्यत्वहेतवः प्रयोक्तव्याः ।"–विधिवि० न्यायकणि० पृ० २६७ । "ज्ञानान्तरसंवेद्यं संवेदनं वेद्यत्वात् घटादिवत्"–प्रश० व्यो० पृ० ५२९ । (२) ज्ञानान्तरेणैव । (३) प्रमात्रन्तरेणैव । (४) प्रमात्रा । (५) प्रमाणस्य । (६) साक्षात् । (७) परम्परया, अथवा परोक्षरूपेण । (८) इयम् आत्मबुद्धिरिति । (९) मीमांसकस्य । (१०) अर्थविषयकप्रत्यक्षताजननात् । (११) ज्ञानजनितापि । (१२) अर्थापरोक्षता । (१३) अर्थपरोक्षतायाः । (१४) पुत्रादीनाम् । (१५) अन्येन मन्त्रप्रयोगे कृते यथा अन्यस्य विषापहारो भवति, तत्रापि 'मम' इति प्रत्ययो भवतीत्यर्थः ।

एतेन *"ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति" [शाबरभा० १।१।५] इति निरस्तम् ; अर्थज्ञातत्वस्य हेतोरसिद्धेः । अपि च, तज्ज्ञातत्वं क बुद्धौ प्रतिबद्धं प्रतिपन्नं येन तत्तस्तदनुमानम् ? अथ अर्थप्रत्यक्षता कादाचित्कत्वात् कस्यचित् कार्यम् ; कारणस्य ततः 'त[द्] बुद्धिः' इति नाम क्रियते इति; क्रियताम्, यदि चक्षुरादिव्यतिरिक्तं तत्कारणं व्यवस्थापयितुं शक्येत । इदं तु युक्तम्– चक्षुरादिव्यापारानन्तरं तद्भावात् तदेव तत्कारणम्, चक्रादिव्यापारानन्तरं यथा घटस्य भावात् चक्रादि कारणम् । चक्षुरादेरेव तन्नाम इति चेत् ; किं पुनरेतद्बालभाषितम्–*"सत्सम्प्रयोगे यद् बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम्" [मी०द० १।१।४] इति ? तन्न अर्थप्रत्यक्षताया बुद्धेरनुमानम्, उक्तन्यायेन परबुद्धेरपि तत्कारणत्वेस्त्व (णत्वं स्व) बुद्धेश्च । किं च तदनुमानम् ? अर्थापत्तिबुद्धिरेव । तस्या स्व (श्च) परोक्षत्वे तदेव [८२क] चोद्यमनवस्था च । तन्न श्रोत्रियमतं सूक्तम् ।

एतेन *"इन्द्रियाणि अर्थमालोचयन्ति अहङ्कारोऽभिमन्यते मनः संकल्पयति बुद्धिरध्यवस्यति पुरुषश्चेतयते ॥" इति चिन्तितम् । पुरुषस्य परोक्षत्वे न तस्य बुद्धिः अन्यद्वा, प्रयुक्तन्यायस्य समानत्वात् ।

तर्हि ज्ञानान्तरग्राह्यत्वात् सिद्धं तदिति चेत् ; अत्राह–स्वत इति । अत्रायमभिप्रायः–यथा खलु मीमांसकस्य परोक्षज्ञानग्राह्योऽर्थो न सिद्धो भवतीति ज्ञानान्तरं कल्पितं तथा परोक्षज्ञानग्राह्यं ज्ञानमपि न सिध्यतीति तत्रापि तदन्तरं कल्पनीयम्, अन्यथा द्वितीयमपि ज्ञानं न कल्पनीयं भवेत्, तथा च अनवस्था[ना]त् *"स्वज्ञानं तदन्तरेणैव गृह्यते प्रमेयत्वात् घटादिवत्" इत्यत्र धर्मिहेतुदृष्टान्तासिद्धिः । अथ तज्ज्ञानं स्वतःसिद्धमिष्यते; तर्हि धर्म्यादिग्राहकप्रमाणबाधितत्वात् कालात्ययापदिष्टो हेतुः स्यात् ।

यत्पुनरुक्तं परेण–*"ज्ञाने ज्ञानान्तरेण वेद्ये मम घटादिदृष्टान्तोऽस्ति न स्ववेद्ये जैनस्य" इति; तन्न; अस्यैं दृष्टान्त एव नास्ति, भवतः पुनः सकलानुमानसामग्र्यभावः । किञ्च, भवतोऽपि नीलं 'नीलम्' इत्यत्र न कश्चिद् दृष्टान्तः । 'प्रत्यक्षसिद्धेः (द्धे) किं तेनं" इत्यपि" समानम् । यथा खलु नीले नीलतया न लोकस्य विवादः तथा अहमहमिकया प्रतीयमाने ज्ञाने स्वसंवेदनेऽपि । यदि पुनरयं निर्बन्धः–अनुमानमन्तरेण न तत्सिद्धिः, "तदपि न दृष्टान्तमन्तरेण इति; सोऽपि न, सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादि[८२ख]मत्त्वात्' इत्यादिवत् 'अर्थज्ञानं स्वग्रहणात्मकम् अर्थग्रहणात्मकत्वात्, यत् पुनः स्वग्रहणात्मकं न भवति तद् अर्थग्रहणात्मकमपि न भवति यथा अर्थान्तरम्' इत्येतावतैव प्रयोजनपरिसमाप्तेः । तत्सूक्तम्–'स्वतःसिद्धम्' इति ।

नन्वेवमपि कारिकायां वृत्तौ च 'दृष्ट'वचनं स्पष्टार्थं कर्तव्यं न 'सिद्ध'वचनमिति चेत् ; तन्न;

---

(१) 'ज्ञातत्वाद्' इति हेतोः । (२) अर्थप्रत्यक्षताकारणम् । (३) चक्षुरादेव । (४) सांख्यमतम् । "एवं बुद्ध्यहङ्कारमनश्चक्षुर्वा क्रमशो वृत्तिर्दृष्टा–चक्षू रूपं पश्यति मनः सङ्कल्पयति अहङ्कारोऽभिमानयति बुद्धिरध्यवस्यति ।"–सांख्यका० माठर० का० ३० । (५) न व्यवस्थापयितुं शक्यते । (६) द्रष्टव्यम्–पृ० ९८ टि० १ । (७) जैनस्य तु केवलम् । (८) मीमांसकस्य । (९) मीमांसकमेव । (१०) दृष्टान्तेन । (११) ज्ञानस्य स्वसंवेद्यत्वे । (१२) अनुमानमपि ।

[1]निर्विकल्पस्वसंवेदनदृष्टमपि 'दृष्टम्' इत्याशङ्का न निवर्त्तेत, न च तत्[2] प्रमाणम्। ज्ञापकं हि प्रमाणमिष्यते, न च तदेवम्, अन्यथा [3]दान-हिंसाविरतिचेतसां स्वर्गप्रापणसामर्थ्यं स्वर्गादिफलज्ञापकं भवेत्, न चैवमिति प्रतिपादयिष्यते। विषयदर्शनवादिना सिद्धवचने पुनः क्रियमाणे सिद्धं 'निर्णीतम्' इति गम्यते, सिद्धः पक्षो निर्णीतः इति प्रसिद्धिदर्शनात्। ततः साधूक्तम्–'स्वतः सिद्धं प्रमाणम्' इति।

कुत एतदिति चेत्? अत्राह–**सिद्धिः** इत्यादि। **सिद्धिः** तत्त्वनिर्णीतिः। अस्याः पर्यायमाह–**अविप्रतिपत्तिः अव्युत्पत्तिसंशयविपर्यासलक्षणाज्ञाननिवृत्तिः**। अनेकाधि (अनेन *"**अधिगतिः**) **तत्फलम्**" इति[4] वचनात् तँन्मात्र (त्रं) सिद्धिः इत्यादि शङ्का (शङ्कां) निवर्त्तयति। तथा अग्र (अत्र) **सिद्धिः**, सा किम्? इत्यत्राह–**प्रमितिः** प्रमाणफलम्। एतेन सर्वेण **'सिद्धौ'** इत्येतद् व्याख्यातम्। सा **यतः** यस्माभिष्ठात् **सम्पद्यते** समाप्तिं प्रतिपद्यते **तत् वस्तु प्रमाणम्**। अत्र 'सिद्धसाधनम्' इत्यपरे। तान् प्रत्युत्तरमाह–**तत्पुनः** इत्यादि। ततः तन्निष्ठात **'पुनः'** इति भावनायाम् **स्वभावपरभावयोर्यावतोः** [८३क] यत्परिमाणयोः अनेन 'छद्मस्थज्ञानम् अंशेन प्रमाणम्' इत्युक्तं भवति। तयोः किम्? **साधनं** साधकम् **यावतो**रिति वचनात् तावतोः 'प्रमाणम्' इति गम्यते *"**यत्तदोर्नित्यः सम्बन्धः**" इति न्यायात्। तत् किम्? इत्याह–**अन्यानपेक्षम्** इति। व्याख्यातमेतत्। कुत एतत्? इत्यत्राह–**प्रमाण(त्म)त्वात्**। **प्रमा** प्रमाणं तद् **आत्मा** स्वभावो यस्य तस्य भावात् **तत्त्वात्**। एतदुक्तं भवति–प्रमाणं करणम्, तच्च साधकतमम्, न च सिद्धिफलं प्रत्यन्यापेक्षं तद्युक्तमिति[8]।

ननु मा भूत् नैयायिकादिकल्पितम् अन्यापेक्षं ज्ञानं प्रमाणं सौगतविकल्पितं तँद्विपरीतं स्यादिति चेत्; अत्राह– **न पुनः** इत्यादि। **स्वसंवित्तेः** एतन्मात्रं **निर्णयरहितं** स्वसंवेदनं **तत् न पुनः** नैव स्वभावपरभावयोः प्रमाणम् इति। कुत एतत्? इत्यत्राह–**अतिप्रसङ्गात्** इति। स्वाप[म]दगर्भाण्डमूर्च्छितस्ववेदनमपि प्रमाणं भवेदविशेषात्। ननु किमुच्यते 'अविशेषात्' इति, यावता विशेषोऽस्ति इति चेत्; अत्राह–**सर्वचित्तचैत्तानाम्** इत्यादि। सर्वाणि जाग्रत्सुप्तमूर्च्छितादिसम्बन्धीनि यानि चित्तानि नीलादिज्ञानानि चैत्तानि सुखादिविकल्पवेदनानि तेषाम् **आत्मनः** स्वरूपस्य **संवेदनं प्रत्यक्षं** कल्पनापोढाऽभ्रान्तत्वाभ्यां प्रमाणम्। कथम्भूतम्? इत्याह–**हित** इत्यादि। *"**सम्यग्ज्ञानपूर्विका सकलपुरुषार्थसिद्धिः**" [न्यायवि० १।१] इति वचनात् **हितं** स्वर्गादि, **अहितं** विषादि तयोः याथासंख्येन **प्राप्तिश्च परिहारश्च** [८३ख] तयोः **समर्थम्, इच्छतां** सौगतानां **स्वापो** सुस्वप्नदर्शिन्यवस्था, **प्रबोधः** तस्मात् उत्थितचित्तदशा

(१) बौद्धाभिमत। (२) निर्विकल्पकम्। (३) दानचित्ते अहिंसकचित्ते च स्वर्गप्रापणसामर्थ्यमस्ति। बौद्धमते च वस्तु निरंशं विद्यते। अतः 'तस्माद् दृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुणः।' इति न्यायाद् दानादिचित्तग्राहिणा निर्विकल्पेन तत्सामर्थ्यमपि गृहीतम्, तथा च दानादिग्राहिचित्तादेव स्वर्गादिफलज्ञप्तिः स्यादिति दोषः। (४) "किं पुनरस्य प्रमाणस्य फलम्? प्रमेयाधिगतिः।"–प्र० वार्तिकाल० ३।३०१। (५) अधिगतिमात्रमेव सिद्धिरिति। (६) अन्यापेक्षित्वे प्रकृष्टसाधकत्वानुपपत्तेः। (७) अन्यानपेक्षं निर्विकल्पकम्। (८) "सर्वपुरुषार्थसिद्धिः"–न्यायवि०। (९) "हिताहितप्राप्तिपरिहारार्थी सर्वः (पृ० २८) सम्यग्ज्ञानपूर्वकत्वं च हिताहितप्राप्तिपरिहारयोरुक्तम्।"–हेतुवि० टी० पृ० ४०।

तयोः अधिकरणयोः को विशेषः न कश्चिद्भेदस्तस्य संभाव्यते, साक्षात्सम्प्रतिपत्तेरभावाऽविशेषादिति मन्यते । [यतः] यस्मात् विशेषात् स्वापादौ आदिशब्देन मदादिपरिग्रहः सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिर्न भवेत् । 'यतः' इति वा आक्षेपे, स्यादेव इति । एतेन परस्य जाग्रत्-सुप्त-सुषुप्त-मृतावस्थाचतुष्टयाभावं दर्शयति ।

स्यान्मतम्—स्वापादौ तेषामनुपलम्भेन असत्त्वात् कथमयं दोषः ? इत्यत्राह—नहि इत्यादि । ५ हि यस्मात् न स्वपादौ चित्तचैतसिकानाम् अभावं प्रतिपद्यमानान् प्रति यद् दर्शयति तत् प्रमाणमस्ति यावान् कश्चित् प्रतिषेधः स सर्वोऽनुपलब्धिः (ब्धेः), सा च प्रबोधेऽपि अस्ति । अत एवोक्तम्—'स्वापप्रबोधयोः को विशेषः संभाव्येत' इति । न च अनैकान्तिकाद् हेतोः साध्यसिद्धिः अतिप्रसङ्गादिति मन्यते ।

किञ्च, तदनुपलब्धिः स्वसम्बन्धिनी, परसम्बन्धिनी वा स्यात् ? स्वसम्बन्धिनी चेत्; १० सा उपलब्धिनिवृत्तिरूपा यदि; कथमतैंस्तदभावसिद्धिः[3] ? इतरथापि तन्नि[वृत्ति]स्तदभावज्ञापिका स्यात् । ज्ञाता च सौ तज्ज्ञापिका ज्ञापकत्वात् धूमवत् । तज्ज्ञानेऽपि यदि तदन्तरात्; अनवस्था । उपलब्ध्यन्तरस्वभावा चेत्; तत्रै तैंदन्तरभावे कथं चित्तचैतसिकानामभावः ? तदभावोऽपि यदि तुच्छः; सैंमयान्तर[८४क] गमनम् । स्वापादिशरीरादिस्वभावत्वे; तैंदप्रतिपत्तौ न तैंदभावनिश्चयः । न खलु भूतलाग्रहणे तत्र घटाभावग्रहणमस्ति । यदि पुनः जाग्रत्प्रबोधज्ञानं १५ तदनुपलब्धिः; एवमपि न तत्र तदभावसिद्धिः, अन्यथा इहलोकप्रत्यक्षात् परलोकाभावः सिध्येत्। तन्न स्वसम्बन्धिनी । परसम्बन्धिनी चेत्; सापि तदा अदृश्यानां तेषां कथमभावमवैति इति, [10]सन्तानान्तरासिद्धिप्रसङ्गात् । अथ अवस्थाचतु[11]ष्टयान्यथानुपपत्तिः [12]तत्र तदभावसिद्धिः; तत्रेदं चिन्त्यते—यथा परपरिकल्पितस्य आत्मनोऽसिद्धौ न तेन आत्मजीवच्छरीरं सात्मकं सिध्यति इति, तथा निर्विकल्पकचित्तचैतसिकानाममावः । तदभावो(वा)सिद्धौ न [13]तदपेक्षे जाग्रत्सुप्त- २० दशे सिध्यतः, तथा तन्निवृत्त्यपेक्षे मृतसुषुप्तदशे अपि । तर्वादौ चैतन्यासिद्धौ विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणमरणासिद्धिवत् चतुष्टयमसिद्धम् । व्यवहारिणः सिद्धं चेत्; यदि प्रमाणतः; प्रकृतो दोषः । एवमेव; इत्यपि वार्त्तम् ; वृक्षादौ मरणमपि [14]तथा सिद्धमस्तु ।

यत्पुनरेतत्—एवं विचारणे प्रतिभासाद्वैतमवशिष्यते इति; तत्रापि *"चित्रप्रतिभासाप्येकैव बुद्धिः" [प्र० वार्तिकाल० ३।२२०] इत्यादि वचनात् चित्रैकज्ञानरूपेण यदि तेन २५ परितोषः; क्रमभाविसुखदुःखाद्यात्मनापि परितोषः क्रियताम् । अथ एकानेकविकल्पशून्येन ; तत्रापि सकलप्रतिभासशून्येन क्रियताम् इति चर्चितम् । ततः स्थितम्—नहि इत्यादि ।

सन्तु [८४ख] तर्हि [15]तत्रापि तानि इति चेत्; अत्राह—न च इत्यादि । न च नैव तेषां चित्तचैतसिकानां तदा स्वापादिदशायाम् आत्मसंवेदनं मुक्त्वा सतां विद्यमानानां लक्षणान्तरमस्ति

(१) चित्तचैतसिकानाम् । (२) ज्ञाननिवृत्तिरूपायाः । (३) सिद्धेर्ज्ञानधर्मत्वात् । (४) उपलब्धिनिवृत्तिः । (५) स्वापादौ । (६) चित्तचैतसिकान्तरसन्ताने । (७) नैयायिकमतप्रवेशः । (८) स्वापादिकालीनशरीराद्यप्रतिपत्तौ । (९) चित्तचैतसिकाभावनिर्णयः । (१०) अदृश्यानुपलम्भादप्यभावश्चेत् तदा । (११) जाग्रत्सुप्तसुषुप्तमृत । (१२) स्वापादौ । (१३) चित्तचैतसिकसन्तानापेक्षे । (१४) एवमेव, यद्वा तद्वा । (१५) स्वापादौ ।

स्वसंवेदनलक्षणत्वाज् ज्ञानस्येति मन्यते। यतो लक्षणान्तरात् प्रत्यक्षलक्षणं ततस्तेभ्यो निवर्तेत। ननु भवतोऽपि न तदा तभा(तैङ्गा)वोऽस्ति; आत्मनोऽपि निवृत्तिप्रसङ्गात्। सतां च तेषां स्वपरावभासित्वं मुक्त्वा न लक्षणान्तरमस्ति ततः समानो दोषः इति चेत्; अत्राह—स्वापादि इत्यादि। स्वापादौ स्वस्यैव संवेदनं स्वापादिस्वसंवेदनम् तस्य जाग्रत्चित्तचैतसिकानां यः क्षणक्षयादिस्वभावः, आदिशब्देन निरंशत्वस्वर्गादिप्रापणसामर्थ्यादिपरिग्रहः तस्य यत् स्वसंवेदनं ग्रहणं तस्य च तद (न) कश्चिद् विशेषमन्तरं संप्रेक्षामहे, यतः तत् क्षणक्षयादिस्वभावसंवेदनम् अनुपलक्षितम् आस्ते तथा स्वापादिस्वसंवेदनमपि इति भावः। कुत एतदिति चेत्? अत्राह—साक्षात् इत्यादि। साक्षात् प्रत्यक्षतः या संप्रतिपत्तिः निर्णीतिः तस्या [४]उभयत्र यो भावः तस्य अविशेषाद् अन्यथा क्षणक्षयादिभावानुमानमनर्थकम्। लिङ्गात् संप्रतिपत्तिः उभयत्र, एकत्र सत्त्वादेः अन्यत्र व्यापारव्याहारात् इत्यभिप्रायः।

यदि पुनर्मतम्—पावकात् दृष्टोऽपि धूमः यथा पुनः धूमादेव दृश्यते, तथा चित्तात् दृष्टोऽपि [व्यापारादिः पुनः] व्यापारादेरेव दृक्ष्यत इति कथं तँतस्तत्र स्वसंवेदनसिद्धिरिति? तत्रोच्यते [८५क] *"अन्यधियो गतेः" इत्यनर्थकं भवेत्, तद्गत्युपायविरहात्। शक्यं हि वक्तुम्—पावकवत् निवृत्तेऽपि जन्मान्तरचेतसि इहजन्मनि सर्वदेहान्तरेषु व्यापारादेरेव व्यापारादिरिति न तँदर्थं ज्ञानप्रणयनम्। कथं चैवंवादिनो जलाद्याकारविशेषदर्शनात् भाविन्यामर्थक्रियायां तदर्थिनो नियमेन प्रवृत्तिः? कदाचित् तस्याः दृष्टोऽपि तदाकारविशेषः पुनस्तत्तं एव सँ इत्याशङ्काऽनिवृत्तेः। तथा रूपादे[१] रसो दृष्टोऽपि रसादेर्वे[२] स भवेत् [इति] कथमिदमनुमानम्—*"एकसामग्र्यधीनत्वं[३]" [प्र० वा० ३।१८] इत्यादि।

एतेन स्वभावविरुद्धोपलब्ध्यादिकं चिन्तितम्, न्यायस्य समानत्वात्। एवं प्रत्यक्षमपि चिन्त्यम्। तदपि प्रथमनीलार्थात् तदाकारं पुनः तर्तं[४] एव आसंसारमिति [५]"अभ्रान्तग्रहणमनर्थकम्। व्यवहारी तथा न मन्यते; किं पुनरसौ स्वापादौ चैतन्याभावं मन्यते? तथा चेत्; मृतवत् [६]तत्रापि दाहादिसाहसमाचरेत्।

एतेन नैयायिकादिरपि [७]तत्राऽभावं कल्पयन् निरस्तः। कुतो वा प्रतिबोधे आत्ममनःसंयोगात् (गादिः)? आस्तां तावदेतत्। जाग्रद्विज्ञानात्; इदमपि आस्ताम् इति यत्किंचिदेकंतत् (यत्किञ्चिदेतत्। न) केवलं तद्विशेषासंप्रेक्षणे स्वापादौ स्वसंवेदनमनुपलक्षितं सिध्यति अपि तु इदं दूषणान्तरं दर्शयन्नाह—तथा च इत्यादि। तथा तेन तद्विशेषासंप्रेक्षणप्रकारेण वा च शब्दः

---

(१) स्वापादौ। (२) चित्तचैतसिकसद्भावः। (३) यदि स्वापादौ ज्ञानं न स्यात्तदा आत्मनोऽभावः स्यात्। (४) बौद्धाभिमते चित्तचैतसिकसद्भावे, जैनाभिमते आत्मनि च। (५) व्यापारादेः। (६) स्वापादौ। (७) "प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः। प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित्॥" कारिकेयं 'तदुक्तं धर्मकीर्तिना' इति कृत्वा प्रमाणपरीक्षायां (पृ० ६५) वर्तते। तर्कभा० मो० पृ० ४। (८) परसन्तानसमुद्धारार्थम्। (९) आकारादेव। (१०) आकारः। (११) सहकारिकारणात्। (१२) केवलात् उपादानभूतात् रसादेव। (१३) "···रूपादे रसतो गतिः। हेतुधर्मानुमानेन धूमेन्धनविकारवत्" इति शेषः। (१४) नीलाकारादेव। (१५) प्रत्यक्षलक्षणे। (१६) स्वापादौ। (१७) स्वापादौ ज्ञानाभाववत्।

अवधारणे तत्रैव इति । स्वं वा (च) अर्थश्च तावेव विषयौ गोचरौ तयोः प्रमाणम् इत्यभिन्नं [८५ख] जाग्रद्दशायां सौगतस्य यद् विज्ञानं तस्य यः क्षणक्षयादिस्वभावः तस्य वा संविप्तिः, अगमकत्वात् सापेक्षस्यापि वृत्तेः देवदत्तस्य गुरुभार्यावद् इति । यदि वा, तस्य क्षणक्षयादेर्भाहिणी स्वभावभूता संविप्तिः इति ग्राह्यम् , तस्याः प्रत्यक्षात्मनोऽपि विसभावा (निर्विकल्पाया) अपि क्षणक्षयाद्यनुमानाप्रमाणताभयात् यद्यप्रमाणत्वम् 'इष्यते' इत्यध्याहारः । न तर्हि संविप्तेः संवित्स्वरूपस्य प्रत्यक्षता कल्पनापोढाभ्रान्तता प्रमाणम् ।

ननु तस्याः प्रत्यक्षता नास्ति । ततः कथं सा प्रमाणमिति चेत् ? अत्राह—यदि इत्यादि । यदि, पुनः इति वितर्के, संविप्तिः तथैव स्वसंवेदनप्रकारेणैव सत्यपि विद्यमानोऽपि (नापि) प्रत्यक्षं न स्यात् कल्पनापोढाऽभ्रान्तस्वभावा न भवेत् प्रमाणं वा संवादिनी वा न स्यात् , प्रमाणलक्षणं ततः *"सर्वचित्तचैतसिकानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षं प्रमाणम्" [न्यायवि० १।१४] इत्येवंरूपाद् अन्यथैव व्यवस्थापनीयम् । कथंभूतम् ? इत्यत्राह—यत् प्रमाणलक्षणम् अतिव्यापकं न भवेत् स्वापादिसंवेदने यन्नास्ति इत्यर्थः ।

ननु उक्तमेव—*"यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्यं प्रमाणता ।" *"प्रवर्त्तकं प्रमाणम्" [प्र० वार्तिकाल० पृ० १५१, २२] इति च वचनं स्वापादौ क्षणक्षयादौ वा तदस्ति इति चेत् ; अत्राह—तथा च इत्यादि । तथा च परपरिकल्पितप्रकारेण च सर्वं प्रत्यक्षादि प्रमाणं स्वभावे स्वस्वरूपे परभावे [८६क] पररूपे वा कथञ्चिदेव सच्चेतनादिनीलादिरूपेणैव न क्षणक्षयादिरूपेण प्रमाणम् । अत आह—न सर्वथा इति सिद्धम् । येन अभ्यासदशायां भाविनि प्रवर्त्तकत्वात् प्रत्यक्षं प्रमाणमिष्टम् , तस्यापि तद्रूपादावेव प्रमाणं न हेयप्राप्यविवेके स्वयं विषयीकृतेऽपि, तयोरेकत्वाध्यवसायोऽन्यथा न स्यात् विरोधात् । सतोऽविषयीकरणे *"एकस्यार्थस्वभावस्य" [प्र० वा० ३।४२] इत्यादि विरुध्यते ।

अत्रैव दूषणान्तरमाह—चक्षुरादि इत्यादि । न केवलं सर्वचित्तचैतसिकानामात्मसंवेदनस्य, अपि तु चक्षुरादिज्ञानस्यापि आदिशब्देन श्रोत्रादिज्ञानपरिग्रहः सर्वथा क्षणक्षयादाविव नीलादावपि परतः विकल्पात् प्रामाण्ये अङ्गीक्रियमाणे कुतः न कुतश्चित् ततः चक्षुरादिज्ञानात् अर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानस्य पुनः पश्चाद् अविसंवादः । कुत एतत् ? प्रवर्त्तनस्यैवाऽसंभवात् 'ततः' इत्यनेन सम्बन्धः । परत एव प्रवर्त्तनसंभवादिति मन्यते । पुनरत्रैव दूषणान्तरमाह—क्षणक्षयादि इत्यादि । क्षणक्षयादौ आदिशब्देन परिमण्डलादौ विसंवादेऽपि 'चक्षुरादिज्ञानस्य' इति सम्बन्धः । नीलादौ प्रमाणत्वे अङ्गीक्रियमाणे मृगतृष्णादिज्ञानस्यापि न केवलम् अन्यस्य । कथम्भूतस्य ? सलिलादिविसंवादिनः शुक्लादिस्वभावाऽविसंवादात् कथञ्चित् न सर्वात्मना प्रमाणत्वं परीक्षायाः युक्तेः सकाशात् प्रतिष्ठापयितुं [८६ख] युक्तम् ।

स्यान्मतम्—मृगतृष्णादिज्ञानमविकल्पकमभ्रान्तं न तत्सलिलादिविषयं कथं तस्य तत्र विसंवादः, अन्यथा नीलज्ञानं पीते विसंवादि भवेत् । यच्च सलिलादिज्ञानं संभ (नं न) तन्मृग-

(१) असमर्थत्वात् समासाभाव इति चेन्न; सापेक्षस्यापि समासदर्शनात् इति भावः । (२) संविप्तेः । (३) सविकल्पां बुद्धिम् (४) निर्विकल्पस्य । (५) "···प्रत्यक्षस्य सतः स्वयं । कोऽन्यो न भागो दृष्टः स्याद्यः प्रमाणैः परीक्ष्यते ॥" इति शेषः । (६) मृगतृष्णिकाज्ञानस्य । (७) सलिलादौ ।

तृष्णादिज्ञानं तोयादिविभ्रमस्य मानसत्वोपगमादिति; न; तत्र ज्ञानद्वयानुपलक्षणात्। तथापि तत्कल्पनेऽप्युक्तम्। शक्यं हि वक्तुम्–चन्द्रमेकं पश्यतोऽपि द्विचन्द्रभ्रान्तिरिति इत्यादि। ननु मृगतृष्णाज्ञानेन शुक्लादिस्वभावाग्रहणात् कथं तत्र तदविसंवादो यतः कथञ्चित् प्रमाणं स्यादिति चेत्? अत्राह–अन्यथा इत्यादि। अन्यथा उक्ताभावप्रकारेण तद्दर्शिनो मृगतृष्णादिसलिल-
५ दर्शिनः पुरुषस्य सुप्तत्वाऽविशेषप्रसङ्गात् कथञ्चित् तस्य प्रामाण्यं प्रतिष्ठापयितुं युक्तम्। दृश्यमानस्यापि शुक्लादिस्वभावस्य अदर्शनकल्पने सलिलादिप्रतिभासे कः समाश्वास इति? दृष्टान्तद्वयस्य किं प्रयोजनमिति चेत्? उच्यते–यदा एकस्मिन्नपि विज्ञाने तस्मिन् सलिलादिप्रतिभासं परोऽभ्युपगच्छति न शुक्लादिप्रतिभासं तदा उक्तन्यायेन सलिलादिप्रतिभासस्यापि निह्नवात् सुप्तेन अस्वप्नदर्शिनोऽविशेषप्रसङ्गात् इत्युच्यते। यदा पुनः शुक्लादिस्वभावविषयमविकल्पं दर्शनं
१० विशदं सलिलादिगोचरं पुनः सविकल्पमपि विशदं मानसं ज्ञानमभ्युपगच्छति, तदा निर्विकल्पकस्य सतोऽप्य[८७क]नुपलक्षणाद् अस्पष्टसलिलादिज्ञानस्या[स]त्त्वेऽपि भावात् अन्येनाऽविशेषप्रसङ्गाद् इत्यभिधीयते। अथ स्वसंवेदनाध्यक्षनिर्णयविचारप्रस्तावे न उपयोगः चक्षुरादिज्ञानस्य येन तदत्र विचार्यते इति, स्वरूपे स्वसंवेदनाध्यक्षं कथञ्चिदेव न सर्वथा इत्यत्र निदर्शनार्थम्। अत एवोक्तम्–स्वभावे वा परभावे वा इत्यर्थः।

१५ साम्प्रतं ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानैकान्ते यद् दूषणं सौगतस्य प्रसिद्धं तदेव– *"यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता" इत्यत्रापि प्रदर्श्य स्वतः स्वरूपव्यवसायात्मकं सर्वं ज्ञानं प्रसाधयन्नाह–यथैव हि इत्यादि। [यथैव] येनैव हि प्रकारेण परतः ज्ञानान्तरात् प्रामाण्यम् आद्यस्य ज्ञानस्य स्वार्थव्यवसायः *"प्रामाण्यं चेतसां स्वार्थव्यवसायः" इति वचनात् इति एवम् एकान्ते यौगकल्पिते अनवस्थानात् ज्ञानान्तरेऽपि तदन्तरापेक्षणात् अप्रतिपत्तिः 'स्वार्थयोः' इत्य-
२० ध्याहारः। तथैव तेनैव प्रकारेण सर्वज्ञानानां सविकल्पकनिर्विकल्पकचेतसां स्वतः आत्मना स्वभावाऽनिश्चयैकान्ते स्वभावस्य स्वरूपस्य अनिश्चयैकान्ते अक्रीक्रियमाणे अनवस्थानाद् अनवस्थितेः अप्रतिपत्तिः स्वार्थयोरेव (र ब)गन्तव्या। एतदुक्तं भवति–यथा आद्यं दर्शनं स्वभावे व्यवसायसामर्थ्यविधुरमुत्पन्नमपि अनुत्पन्नकल्पमिति *"यत्रैव जनयेदेनाम्" इत्याद्युक्तम्, तथा तत्स्वभावे समुत्पन्नापि विकल्पबुद्धिः स्वतः स्वव्यवसायसामार्थ्य[८८क]विधुरा
२५ इति उत्पन्नाप्यनुत्पन्नकल्पा इति तत्स्वभावव्यवसायेऽपि तदन्तरान्वेषणं तत्रापि तदन्तरान्वेषणमित्यनवस्था। ततः तस्माद् अनन्तराद् दोषात् सर्वज्ञानानां स्वरूपव्यवसायात्मकत्वं 'अवगन्तव्या' इत्यनेन जातनपुंसकलिङ्गपरिणामेन सम्बन्धात्। तत् किं करोति? इत्यत्राह–निर्विकल्पेयदिनिदि (ल्पेत्यादि) निर्विकल्पं च तत् प्रत्यक्षलक्षणं च तत् कर्मतापन्नं निराकरोत्येव। केषां सम्बन्धि? इत्यत्राह–चित्तचैतसिकानाम् इति।

३० स्यान्मतम्–स्वरूपव्यवसायात्मकत्वाऽभावे किमनुपपन्नं यदर्थं तत् साध्यते? इत्यत्र उत्तरमाह–स्वसंवेदनम् इत्यादि। स्वस्य आत्मनः संवेदनं ग्रहणम् तदन्तरेण अर्थग्रहणानुप-

---

(१) सुप्तेन। (२) अनवस्थाप्यम्। (३) निर्विकल्परूपे। (४) विकल्पबुद्ध्यन्तर।

पत्तिवत् स्वरूपव्यवसायम् आत्मनिर्णयमन्तरेण विषयस्य स्वार्थलक्षणस्य व्यवसायानुपपत्तिश्च उक्ता। अनेन *"अङ्गीकृतात्मसंवित्तेः" [सिद्धिवि० १।१८] इत्यादिना परकृतं चोद्यं कृतमिति दर्शयति।

उक्तमर्थमुपसंहरन्नाह—तन्नायम् इत्यादि। यत एवं 'स्वपरविषयप्रमाणाभिमतविज्ञानस्य' इत्यादि 'सुप्तत्वाविशेषप्रसङ्गात्' इत्यन्तं च व्यवस्थितं तस्मात् नायम् एकान्तो यः संवित्तिः बुद्धिः सर्वा निरवशेषा सर्वज्ञशन्तिवद(सन्ततिवद)न्यापि स्वरूपम् आत्मानं वेदयत्ये[व] वेदयति तस्य किञ्चिन्न वेदयति इत्येवकारार्थः। कथम्भूता ? इत्यत्राह—संवित्स्वभावापि सती इति। यदुक्तं ध र्मो त्त रे ण—*"द्विविधा भ्रान्तिः—लौकिकी द्विचन्द्रादिग्रहणात्मिका। शास्त्रीया च ग्राहकसंवित्तिभेदलक्षणात्मिका च" तस्या अभावप्रसङ्गात्। तथाहि—सञ्चेतनादिस्वरूपवत् तद्विभ्रमविवेकमपि यद्यात्मनः सौ वेदयति कुतः तद् भ्रान्तिः ? इतरथा नीलज्ञानस्य पीते सा भवेत्। एतेन लौकिकी भ्रान्तिर्निरस्ता; तस्या ग्राह्याकाराभावे अभावात्, तन्निबन्धनत्वात्।

अत्रापरः प्राह—भ्रान्तरेभावो न दोषाय सौगतस्य तदभ्युपगमादिति ; तन्न; यथाप्रतिभासं तत्त्वोपगमे जैनदर्शनप्रसङ्गात्। तथा च सति भवतः किं सिद्धम् ? इत्यत्राह—व्यवसाय इत्यादि। 'तन्नाऽयमेकान्तः' इत्येतदत्रापि अनुवर्त्तते। ततोऽयमर्थ—यतः परकीया संवित्तिः एवंविधा तत् तस्माद् व्यवसायात्मक [त्वात्] इति हेतोरेव वा संवित्तिः स्वरूपं विषयरूपत्वात् सर्वथा व्यवस्यति इत्ययं नैकान्तः 'भ्रान्तेरभावप्रसङ्गात्' इति सम्बन्धः। यथैव हि वैशेषिकस्य संवित्तिः व्यवसायात्मिका 'अयम्' इत्येवं परामृश्यमानं धर्मिणं व्यवस्यति तथैव यदि तस्य स्थाणुत्वपुरुषत्वयोः अन्यतरविवेकं स्वभावभूतम्, अन्यथा स्वभावाव्यवस्थाप्रसङ्गात्, व्यवस्यति; कुतः संशयादिव्यवस्था अतिप्रसङ्गात् ? एवं सर्वस्य एकान्तवादिनः आत्मनैकवाक्यतां समर्थितामुपसंहरन्नाह— तथा च तेन प्रकारेण च सर्वैक[८८ख]वाक्यभावे स्वं च अर्थश्च स्वो वा अर्थः तयोः तस्य वा अनुभवाश्च (वश्च) इतरश्चाऽननुभवः तावेव स्वभावौ लक्षणं स्वरूपं विभ्राणं दधानम्। किं तत् ? विज्ञानम्। एतत् सौगतमुद्दिश्य उक्तम्, स्वपररूपव्यवसायेतरस्वभावं वा स्वपररूपयोः व्यवसायो निर्णयः इतरोऽनिर्णयः तावेव स्वभावः स्वरूपं तं वा विभ्राणम्। एतत् वैशेषिकमुद्दिश्य कथितम्। तद् अनेकान्तमन्तरेण कथं न कथञ्चिद् उपपनीपद्येत।

उपसंहारमाह—तद् इत्यादिना। यत एवं तत् तस्मात् अविकल्पदर्शनं न विद्यते विकल्पः स्वपररूपव्यवसायो यस्य सौगतादिकल्पितदर्शनस्य तत् तथोक्तम्, न स्वपरभावयोः प्रत्यक्षं सत् प्रमाणम्। कुत एतत् ? इत्यत्राह—स्वयम् इत्यादि। स्वयम् आत्मना अनुभूतो गृहीतो यः स्वभावः स्वरूपम् स्वो वा भावो ग्राह्यः पदार्थात्मा, तस्यापि न केवलमन्यस्य सर्वथा क्षणिकादिप्रकारेणेव नीलादिप्रकारेणापि। यदि वा, विकल्पानुभवान्तराभावापेक्षाभावप्रकारेणेव तदपेक्षाप्रकारेणापि अननुभूतकल्पत्वात्।

---

(१) इति प्रारभ्य। (२) एतत्पर्यन्तम्। (३) भ्रान्तिः। (४) ग्राह्याकारनिबन्धनत्वात्। (५) चेत्।

ननु मा भूत् नैयायिकादिदर्शनं प्रत्यक्षं सत् प्रमाणं स्वग्रहणसामर्थ्यवैधुर्येण घटादिवदचेतनत्वात्' न सौगतदर्शनं तत्सामर्थ्यभावेन चेतनत्वादिति [चेत्; अत्राह—] **चेतनत्वेऽपि** इत्यादि। **अपि[:]** संभावनायाम्, भावतः तत्र चेतनत्वासिद्धेः, तस्मिन्नपि। **'स्वयमनुभूतस्यापि सर्वथा** [८९क] **'अननुभूतकल्पत्वात्'** इति सम्बन्धः। अत्र निदर्शनमाह—**सुषुप्तादिवत्** इति। चिन्तितमेतत्। ननु भावत एव तत्र चेतनत्वे कुतः कारणादुच्यते—**'चेतनत्वेऽपि'** इत्येतदिति चेत्; अत्राह—**स्वविषयीकृत** इत्यादि। **स्वेन** आत्मना **विषयीकृते** अनुभूते **वस्तुनि** क्षणिकादिनीलादिरूपे परकल्पिताद् दर्शनप्रमाणात् अनुमानं विकल्पश्च **तदन्तरं तदपेक्षित्वात्** कारणात् **'चेतनत्वेऽपि'** इत्युच्यते इति। ननु प्रमितिसाधकं प्रमाणम्, सौ च नीलादौ दर्शनादेव जातेति तत्र विकल्पः प्रमाणमेव न भवति[1] किमुच्यते **'तदन्तरम्'** इति चेत्; अत्राह—**तद्** इत्यादि। **तदपेक्षणीयस्यैव** क्षणिकत्वादौ अनुमानस्यैव नीलादौ विकल्पस्यैव **प्रमाणं (प्रामाण्यं)** प्रमितिं प्रति साधकतमत्वोपपत्तेः। तस्यैव 'प्रामाण्यम्' इति मन्यते। अथ प्रमितिं प्रति साधकतमस्य विकल्पस्य हेतुत्वाद् दर्शनमपि तां[2] प्रति साधकतममुच्यते। तदुक्तम् अ र्च ट ने न—*"**पक्षधर्मतानिश्चयः प्रत्यक्षाज्जायते इति पक्षधर्मतानिश्चयः प्रत्यक्षत इत्युच्यते**" इति[3]। तत्रोत्तरमाह—**तत्कारणत्वेऽपि** इत्यादि। *"**अभेदात् सदृशस्मृत्याम्**" [सिद्धिवि० १।६] इत्यादिवचनात् दर्शनस्य विकल्पकारणत्वं नास्ति, अत एव **'तत्कारणत्वेऽपि'** इति, **अपिशब्दः** संभावनायाम्। **सन्निकर्षादेरिव तद्वत् मुख्यतः प्रमाणतानुपपत्तेः** [न] अविकल्पदर्शनं प्रमाणम्। उपचारतः तदुपपत्तिः स्यादिति चेत्; अत्राह—**उपचारत** इत्यादि। उपचारात् **सन्निकर्षादेः** [८९ख] **'प्रमाणम्'** इति प्रकारेण **व्यपदेशाऽविघातात्**।

ननु व्यवहारे अन्यत् प्रत्यक्षं प्रमाणं नास्ति, अविकल्पदर्शनस्यैव मुख्यतः प्रमाणतोपपत्तिः इति; अत्राह—**यतः** इत्यादि। **प्रभृतिशब्दोऽयम्** आद्यर्थो रिसंज्ञिसंज्ञः (घिसंज्ञः)। ततोऽयमर्थः—**यतः [प्रभृति]** यस्मात् आदितः विज्ञानात् **पुरुषस्य प्रवृत्तिः तस्य** व्यवसायात्मनः विज्ञानस्य **मुख्यतः प्रमाणत्वोपपत्तिः** नाऽविकल्पदर्शनं प्रमाणम् इति **प्रभृतिशब्देन** एतद्दर्शयति—पूर्वमकस्मात् सुखहेतोर्वा दर्शने ततः सुखाद्यनुभवने च [न] पुरुष एवमवगच्छति इदं मे सुखसाधनं दुःखसाधनं वा।

यत्पुनरत्रेदं चोद्यम्—सुखादिसाधनदर्शनकाले न सुखादिवेदनम्, तत्काले च न तत्साधनवेदनम्, तत् कुतः सुखादिसाधनयोः हेतुफलभावप्रतीतिरिति? तत् *"**प्रतिभासैक्यनियमे**" [सिद्धिवि० १।१०] इत्यादिना निरस्तम्। ततः[4] **तदवगमात्** तस्य संस्कारः, पुनः कालान्तरे तस्य तज्जातीयस्य वा दर्शनात् संस्कारप्रबोधे तत्र स्मृतिः, ततः 'तदेवेदं तत्सदृशम्' इति वा प्रत्यभिज्ञा, अतोऽपि 'यदित्थं तद् इयता कालेन सामग्रीविशेषेण वा इत्थंभूतकार्यकारि'इति चिन्ता

---

(१) अस्वसंवेदित्वादित्यर्थः। (२) स्वसंवेदित्वेन। (३) निर्विकल्पके। (४) प्रमितिः। (५) गृहीतग्राहित्वादित्यर्थः। (६) प्रत्यक्षपृष्ठभाविनो 'नीलमिदम्' इति विकल्पस्यैव। (७) प्रमितिम्। (८) "पक्षधर्मस्य साध्यधर्मिणि प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा प्रसिद्धिः निश्चय इति"—हेतुवि०, टी० पृ० ३९। (९) सुखादिवेदनकाले च। (१०) अनुभवात्।

तर्कः, ततोऽपि 'इत्थं चेदं तस्मात् पूर्ववत् विवक्षितकार्यकारि' इत्यनुमानम्, अतः 'पुरुषस्य प्रवृत्तिः' इति । वक्ष्यते चैतदत्रैव–*"अक्षज्ञानैरनुस्मृ[त्य"] [सिद्धिवि० १।२७] [इ]त्यादिना ।

यत्पुनरेतत्–'प्रवृत्तेः फलभावेन असत्त्वान्न कस्यचित् कुतश्चित् प्रवृत्तिः' इति; तद् युगपदिव च क्रमेणापि चित्रैकज्ञान[९०क]संभवेन प्रत्यक्षबाधितमिति । ननु मृगतृष्णादिजलज्ञानादपि पुरुषप्रवृत्तिरस्तीति तस्यापि मुख्यतः प्रमाणत्वोपपत्तिः स्यादिति चेत् ; अत्राह–प्रेक्षापूर्विका इति । प्रकृष्टा संशयादिरहिते [क्षा] दर्शनं पूर्वं कारणं यस्याः सा तथोक्ता सम्यग्ज्ञानपूर्विका इति यावत् , विभ्रमसर्वविकल्पातीतत्वाद्येकान्तनिषेधात् ।

ननु निर्विकल्पकदर्शनादेव तथा पुरुषप्रवृत्तिः, अतः तस्यैव मुख्यतः प्रमाणतोपपत्तिः । तदुक्तम्–

*"तद्दृष्टावेव दृष्टेषु संवित्सामर्थ्यभाविनः ।
स्मरणादभिलाषेण व्यवहारः प्रवर्त्तते ॥" [प्र० वार्तिकाल० पृ० २४]

इति चेत् ; अत्राह–स्वेक्षित इत्यादि । स्वेक्षिते स्वानुभूते वस्तुनि अन्यानपेक्षस्य व्यवसायात्मनो विज्ञानस्य, अत एव स्मरणादिः नान्यत इति मन्यते । उक्तं चैतदत्रैव–*"व्यवसायात्मनो दृष्टेः" [सिद्धिवि० १।४] इत्यादिना ।

स्यान्मतम्–भवतु व्यवसायात्मनो विज्ञानाद् आदितः प्रेक्षापूर्विका पुरुषप्रवृत्तिः तथापि न तस्यैं मुख्यतः प्रमाणतोपपत्तिः अवस्तुसामान्यविषयत्वेन विसंवादकत्वात् । तदुक्तम्–*"विकल्पोऽवस्तुनिर्भासो विसंवादादुपप्लवः ।" इति चेत् ; अत्राह–अविसंवाद इत्यादि । अविसंवादस्य एकम् अन्यनिरपेक्षं भवनं यस्मात् तस्य विकल्पविषयस्य च तत्त्वतो वस्तुत्वादिति भावः । एतदर्थमेवेदं स्वेक्षित इत्यादि ।

अत्र चोद्यते–व्यवसायात्मनो नातीते पुरुषप्रवृत्तिः तस्य अनुभूतत्वात् , न वर्तमाने [अनुभूयमानत्वात्] । नहि सुखादौ अनुभूयमाने कश्चित् प्रवर्त्तते "प्रवृत्तेरनवस्थाप्रसङ्गात् । नापि भाविनि; प्रत्यक्षतः तदप्रतिपत्तेः न [९०ख] कचित् पुरुषप्रवृत्तिरिति । तत्रोत्तरम्–यतोऽयम् इत्यादि । अयं चोद्यकारः प्र ज्ञा क र गु प्तः अन्यो वा प्रवर्त्तेत तथा विचारं कुर्वन्नपि न तिष्ठेत् । कथम्भूतः ? अस्खलद्वृत्तिः । एतदुक्तं भवति– यद्ययं प्रेक्षाकारी नियमेन प्रवृत्तिविषयं नास्ति इति पश्येत् न तत्र नित्यवद् अस्खलद्वृत्तिः प्रवर्त्तेत, न चैवं § सुपरीक्षक विचारं कुर्वन्नपि न तिष्ठेत् कथंभूतः अस्खलद्वृत्तिः । एतदुक्तं भवति § सुपरीक्षकस्यापि जलादौ प्रवृत्तिदर्शनात् अतः तत्कारी तद्द्वेषी चेति उपेक्षामर्हति इति । क्व प्रवर्त्तेत इति चेत् ? अत्राह–हित इत्यादि । निमित्तयोः द्विवचनमेतत् , तेन हितस्य ओदनादेः प्राप्तौ प्राप्तिनिमित्तम् अहितस्य विषादेः परिहारे परिहारनिमित्तम् । न चैतद्योद्यम्–सुखदुखयोरप्रतिपत्तौ न तैत्कारि हितमहितं वा ज्ञातुं शक्यत इति; तथा अनुमानाऽप्रतिपत्तौ न लिङ्गस्य तद्धेतुत्वं प्रतीयते इति न तदर्थी तत्रापि प्रवर्त्तेत तोनुदयात् [अतोऽ

(१) प्रेक्षापूर्विका । (२) व्यवसायात्मकज्ञानादेव । (३) व्यवसायस्य । (४) उद्धृतोऽयम्–प्रमेय० कन्द० पृ० १९० । प्रमेयक० पृ० ३१ । सन्मति० टी० पृ० ५०० । न्यायवि० वि० प्र० पृ० ३१४ । स्या० रत्ना० पृ० ३२ । धर्मसं० पृ० १३४ । (५) प्रवृत्तिरपि अनुभूयमाना, अतस्तत्रापि प्रवृत्तिर्भवेदिति प्रवृत्त्यनवस्था । (६) § एतदन्तर्गतः पाठो द्विर्लिखितः । (७) सुखकारि । (८) अनुमानार्थी । (९) लिङ्गे ।

नुमानानुदयात्] कुतः स्वयं तत्त्वमवबुध्येत परं वा बोधयेत् ? स्वसंवेदनाध्यक्षस्य अनंशस्य विवादगोचरापन्नत्वात्। तदयं भाव्यनुमानम् अप्रतियन्नपि लिङ्गस्य तद्धेतुतामवैति न पुनः तथाविधं सुखादिकम् अप्रतिपन्नौदनादेः (अप्रतियन् ओदनादेः) तद्धेतुतामि[च्छती]ति स्वेच्छावृत्तिः। कथं प्रवर्त्तते इति चेत् ? अत्राह—सङ्कर इत्यादि। [९१क] यस्य प्राप्तिः तस्य परिहारः यस्य परिहारः तस्य प्राप्तिः इति सङ्करः, प्राप्तिविषये परिहारः परिहारविषये च प्राप्तिरेव व्यतिकरः, तयोः व्यतिरेकेण अभावेन यतो यस्मात् ततः 'यतः प्रभृति' इत्यादि सुस्थम्।

अत्र अपरः सौगतः प्राह—*"यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता" इति ध र्मोत्त र स्य मतमेतत्। तच्च ययैव युक्त्या अस्माभिर्निरस्तं तयैव जैनैः इति सिद्धोपस्थायित्वं तेषाम्[३], दर्शनं तु विकल्पनिरपेक्षं प्रमाणम्। यद्यप्रमाणं विकल्पः कथं दर्शनेन अपेक्ष(क्ष्य)ते ? प्रमाणत्वे[४] प्रमाणसंख्याव्याघात इति। तत्रोत्तरमाह—**विषदर्शनवद्** इत्यादि।

[विषदर्शनवदज्ञस्य दर्शनमविकल्पकम्।
न स्यात्प्रमाणं सर्वमविसंवादहानितः ॥२४॥

विषमालोक्य तत्र अज्ञ इव प्रमाणयति न पुनः व्यवसायात्मकं प्रमाणमविसंवादकमिति लक्षयति चेति विपरीतलक्षणप्रज्ञो देवानांप्रियः। सर्वमेव दर्शनमविकल्पकं कथं प्रत्यक्षं विसंवादकं अज्ञस्य विषदर्शनमिव। व्यवसायात्मकस्यैवाविसंवादकत्वोपपत्तेः। तदितरस्याव्यवसायात्मकत्वेन विसंवादात्। ननु अविकल्पकं सुखादिनीलादिनिर्भासिज्ञानमविसंवादकम्; न च तदविसंवादकम् अपि तु विकल्पकमेव व्यवसायात्मकत्वात्। तदविसंवादिनः प्रत्यक्षस्य निर्विकल्पकत्वे क्षणक्षयादिवत् साधनान्तरमपेक्षते अनिश्चयादिति। कल्पनापोढमभ्रान्तमपि दर्शनं विसंवादयत्येव यथादर्शनं निर्णयायोगात्। विशेषाकारेण अर्थानामनवभासनात् सामान्याकारेण च व्यवसायानिर्णयात्। यथाप्रतिपन्नमिप्रायं प्रमाणलक्षणमविसंवादकत्वं प्रमाणान्तराबाधितविषयमयुक्तं स्वमतव्याघातात्। तस्मान्नायमविकल्पोऽनुभवः स्वलक्षणग्राही यथार्थनिर्भासं व्यवसाययितुं समर्थोऽविसंवादको नाम। न चाविकल्पितेन स्वभावेन स्वलक्षणव्यवस्थापनं युक्तपद्धैतवदिति भेदाभावात्। विकल्पानां भेदैकान्तेऽपि निःस्वभावतोपपत्तेः।]

अज्ञानस्य (अज्ञस्य) विषे अव्युत्पत्तिसंशय विपर्यासोपेतस्य संबन्धि यत् **विषदर्शनं** स्वानुभूते वस्तुनि संशयविपर्ययकारि अकिञ्चित्करं वा तदिव **विषदर्शनवत्** इति, **सर्वं** चतुर्विधमपि, यदि वा **सर्वम्** अनभ्यासजमिव अभ्यासजमपि **दर्शनं न प्रमाणं स्यात्** भवेत्। कथम्भूतम् ? **अविकल्पकम्** *"अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा प्रतीतिः कल्पना" [न्यायवि० १।५] तदात्मकं न भवति निरंशार्थविषयमित्यर्थः। अत्रायमभिप्रायः—यदि विकल्पनिरपेक्षं स्वतन्त्रं दर्शनं प्रमाणम्; हन्त तर्हि विषाऽज्ञस्य विषदर्शनं तथाविधमनिवारितमिति तदपि प्रमाणं स्यात्। तथा च सति सन्देहादेः न कस्यचिद् विषे प्रवृत्तिः इति।

(१) अनुमानकारणताम्। (२) बौद्धविशेषैः। (३) जैनानाम्। (४) विकल्पस्य। (५) कल्पनारहितम्।

यत्पुनः—*"यत्रैव जनयेदेनाम् अनुमानबुद्धिं तत्रैवास्य प्रमाणता" इति व्याख्यानम्; तदप्येतेन निराकृतम्; भाविमरणसंबन्धिविषाकारविशेषलिङ्गदर्शनस्य सजातीय[९१ख]-स्मरणस्य च अनुमानहेतोः अत्रापि कदाचिद् भावात् अनुमानजननादपि प्रमाणं स्यात्। न चैवम्, अतो विषदर्शनवदज्ञस्य सर्व[मवि]कल्पकदर्शनमप्रमाणमिति। ननु कल्पनात्मकमपि विषस्य अन्यस्य च अभ्यासदशायां दर्शनं प्रमाणं दृश्यते, ततः सर्वं दर्शनमप्रमाणमिति वदतो दृष्टा-धनमिति चेत्; अत्राह—**अविसंवादहानितः** इति। अभ्यासदशायां प्रतिपरमाणुनियतं दर्शनं प्रमाणम् इति यः **अविसंवादः** अविप्रतिपत्तिः तस्य **हानितः** सर्वं दर्शनं न प्रमाणमिति। यदि वा, दृष्टस्य परमाणुमात्रस्य अप्राप्तेः तद्धानितः इति व्याख्येयम्।

विषदर्शनं सोपहासं व्यतिरेकमुखेन विवृण्वन्नाह—**विषम्** इत्यादि। **विषम् आलोक्य** दर्शनविषयीकृत्य **तत्र प्रमाणयति** प्रमाणमाचष्टे। किम्? इत्यत्राह—**अज्ञ इव** इति। अज्ञो व्याख्यातः स इव अव्युत्पन्नः अव्युत्पत्तिसंशयविपर्यासः(र्यस्तः) सौगत इत्यभिप्रायः। तत्र चोक्तं दूषणम्। किं पुनर्न प्रमाणयति? इत्यत्राह—**न पुनः** इत्यादि। **व्यवसायात्मकं प्रमाणं** प्रमाणयति **न पुनः**। कथम्भूतं तत्? इत्यत्र (त्राह—) **'अविसंवादकम्'** इति। *"प्रमाणमविसंवादिज्ञानम्" [प्र०वा० १।३] **इति** एवं **लक्षयति च** अवधारयति च इति हेतोः **विपरीतलक्षणप्रज्ञो देवानां-प्रियः**। यत् प्रमाणं तदविसंवादकं न भवति, [९२क] यच्च अविसंवादकं तत् प्रमाणं न वेत्ति इति मन्यते। मा भूत् तर्हि विषदर्शनं प्रमाणं व्यवसायात्मकं वा ज्ञानमविसंवादकमपि तुदकमपि (?) तु दर्शनमिति चेत्; अत्राह—**सर्वमेव** इत्यादि। अनेन शेषमन्वयमुखेन व्याचष्टे—**सर्वमेव** निरव-शेषमेव **दर्शनम्**। कथम्भूतम्? **अविकल्पकम्** अज्ञस्य संबन्धि। केन प्रकारेण? **कथं प्रत्यक्षं** प्रमाणं न [कथं] चित्। पुनरपि कथम्भूतम्? इत्यत्राह—**विसंवादकं** 'विसंवादकत्वात्' इति गम्यते यथा 'सद् अनित्यम्' इत्युक्ते सत्त्वादिति। कस्य किमिव तत्तथाविधम्? इत्यत्राह— **अज्ञस्य विषदर्शनमिव** इति। तथा च प्रयोगः—सर्वमेव अविकल्पं दर्शनं न प्रमाणं विसंवाद-कत्वाद् अज्ञस्य विषदर्शनवत् इति यदुक्तं परेण—*"**विवादगोचरमविकल्पं दर्शनं प्रत्यक्षं प्रमाणम् अविसंवादकत्वात्**" इति; तत्र हेतोर्विरुद्धतां दर्शयन्नाह—**व्यवसायात्मकस्यैव** इत्यादि। **व्यवसायात्मकस्यैव** नान्यस्य इति एवकारार्थः। निगदितं विना **अविसंवादकत्वोपपत्तेः**।

ननु यदुक्तं **'सर्वमेव'** इत्यादि; तत्र असिद्धो हेतुः; तथाविधदर्शनस्यैव अविसंवादभावा-दिति चेत्; अत्राह—**तद्** इत्यादि। **तस्य** व्यवसायात्मनो विज्ञानस्य **य इतरः** अन्यः **तस्य विसंवादात्**। केन कृत्वा? इत्यत्राह—**अव्यवसायात्मकत्वेन** अवस्तुनिरंशैकान्तगोचरत्वेन।

ननु 'अव्यवसायात्मकं दर्शनं विसंवादकम् अव्यवसायात्मकत्वेन' [९२ख] इत्युच्यमाने 'अनित्यः शब्दः शब्दत्वात्' इत्यादिवत् प्रतिज्ञातार्थैकदेशाऽसिद्धो हेतुरिति चेत्; आस्तां तावदेतत्, उत्तरत्र अस्य विचारयिष्यमाणत्वात्।

(१) अज्ञस्य विषदर्शनेऽपि। (२) अविसंवादहानितः। (३) 'तु दकमपि' इति पुनर्किंचित् निरर्थकञ्च।

स्यान्मतम्—अविकल्पं दर्शनं यद्यपि क्षणक्षयादौ विसंवादकं[1] तथापि नीलादिसुखादौ संवादकमिति भागाऽसिद्धो हेतुरिति । एतदेव परः[2] दर्शयन्नाह—ननु इत्यादि । ननु इति वितर्के । अविकल्पं च सुखादिनीलादिनिर्भासिज्ञानम् अविसंवादकम् । तत्रोत्तरमाह—न च इत्यादि । न च नैव तत् सुखादिनीलादिनिर्भासिज्ञानम् अविसंसादकं निर्विकल्पकम् । किं तर्हि तत् ? इत्याह—अपि तु विकल्पकमेव इति । कुत एतत् ? इत्याह—व्यवसायात्मकत्वात् । वस्तुसत्सामान्यविशेषात्मकार्थनिर्णयात्मकत्वात् । न चान्यस्य[3] अविसंवादकत्वधर्मः अन्यस्य इति परिकल्प्य भागासिद्धता हेतोः परिकल्पयितुं शक्या, अन्यथा क्वचित् शब्दादौ सामान्यादिप्रसिद्धम्[4] असत्त्वादिकं परिकल्प्य तथा तदपि भागाऽसिद्धम् उद्भावनीयं भवेत् । तद् विकल्पकमिति कुतोऽवगम्यते इति चेत् ? अत्राह—तद् इति । तस्य सुखादिनीलादिनिर्भासस्य अविसंवादिनः प्रत्यक्षस्य निर्विकल्पकत्वे अङ्गीक्रियमाणे क्षणक्षयादिनिर्भासवत् साधनान्तरमपेक्षते 'प्रत्यक्षम्' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । कुत एतत् ? इत्यत्राह— [अ]निश्चयादिवत् (दिति) सुखादि-[९३क] स्वभावस्य प्रत्यक्षेण अनिश्चयादिति । न च तदपेक्षते ततो वि[कल्प]कमेवेति ।

ननु यदि नाम साधनान्तरमपेक्षते अविकल्पकं दर्शनं नैतावता विसंवादकं साधनान्तरानुग्रहेण सुतरामविसंवादकत्वसिद्धेः आगमवत् । कल्पनापोढाऽभ्रान्तदर्शनमिति चेत् ; अत्राह—कल्पनापोढम् इत्यादि । कल्पनापोढमभ्रान्तमपि । अपिशब्दः संभावनार्थ उभयत्र सम्बन्धनीयः । दर्शनेऽपि *"तथा च सति स्वार्थं" [सिद्धिवि० १।२३] इत्यादिना कल्पनायाः *"अन्तःस्वलक्षणस्य द्वयनिर्भासप्रतीतेः" [सिद्धिवि०] इत्यादिना च विभ्रमस्य व्यवस्थापितत्वात् दर्शनं विसंवादयत्येव । कुत एतत् ? इत्यत्राह—यथा [दर्शनमिति] दर्शनाऽनतिक्रमेण यथादर्शनम् निर्णयस्य अयोगात् । यदि यथादर्शनं निर्णयः स्यात् तर्हि तदनुग्रहात् तदविसंवादकं नितरां भवेदिति युक्तम् , न चैवमस्ति इति मन्यते । नचैतन्निर्विकल्पकमविसंवादकम् इति । अत्रैव युक्त्यन्तरमाह—विशेष इत्यादि । विशेषाकारेण सजातीयेतरविलक्षणाकारेण चक्षुरादिबुद्धीन् (बुद्धौ) अर्थानां सुखादिनीलादीनाम् अनवभासनात् कारणात् न चैतत् निर्विकल्पकमविसंवादकम् इति संबन्धः अपि तु विकल्पकमेव इत्यत्रापि तदाह—सामान्य इत्यादि । सामान्याकारेण, च शब्दः विशेषाकारेण इत्यस्य समुच्चयार्थः, व्यवसायाऽनिर्णयात् चक्षुरादिबुद्धौ अर्थानाम् अपि तु 'विकल्पकमेव' इति पदघटना [९३ख] ।

ननु 'अविकल्पकं च सुखादिनीलादिनिर्भासिज्ञानम् अविसंवादकम्' इत्यस्य साधिकां परस्य युक्तिं प्रदर्श्य दूषयन्नाह— यथाप्रतिपन्नाभिप्रायम् इत्यादि । प्रमाणस्य लक्षणम् अविसंवादकत्वम् *"प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्" [प्र०वा० १।२] इति वचनात् । कथंभूतं तत् ? इत्यत्राह—यथाप्रतिपन्नाभिप्रायम् दृश्यप्राप्ययोर्नैकत्वम्, अन्यथा दृश्यमेव प्राप्यमेव वा स्यात् । तथापि तयोरेकत्वाध्यवसायाद् 'यदेव दृष्टं तदेव प्राप्तम्' इति प्रतिपतॄणाम् अभिप्रायः तस्य

(१) क्षणिकांशे समारोपव्यवच्छेदाभावात् । (२) बौद्धः । (३) विकल्पस्य । (४) निर्विकल्पकदर्शनस्य । (५) साधनान्तरापेक्षणमात्रेण । (६) दर्शनम् । (७) चेतनेतराणाम् । (८) "केवलं दृश्यविकल्प्ययोरैक्यीकरणमात्रेण व्यवहारमात्रमेतत् ।"—प्र० वार्तिकाल० पृ० ३९८ ।

अनतिक्रमेण यथाप्रतिपन्नाभिप्रायम् न पारमार्थिकम् इत्यभिप्रायः । अथवा, मरीचिकाजलवत् सत्याभिमतमपि जलं न परमार्थसत्, तथापि अत्र वासनादार्ढ्येन चिरं प्रतिभासानुगमेन 'सत्यमेतत् जलम् अर्थक्रियाकारित्वात् नेतरद् विपर्ययात्' इति तेषामभिप्रायः, तस्य अनतिक्रमेण यथाप्रतिपन्नाभिप्रायम् । यदि वा, जाग्रद्दशावत् स्वप्नदशानामपि (दशायामपि) दृष्टस्य प्राप्तिः अविसंवादोऽस्ति इति तज्ज्ञानमपि प्रमाणं प्रसक्तम्, तथापि न तया जातपरितोषा जन्तवो जायन्ते इति न सा अर्थप्राप्तिः, जाग्रद्दशायां तु विपर्ययाद् भवति इति तेषामभिप्रायः तस्य अनतिक्रमेण यथाप्रतिपन्नाभिप्रायम् इति । नन्वेवमपि विकल्पकमविसंवादकं प्राप्तम्, तत्रैवास्य सद्भावादिति चेत् अत्राह—प्रमाणान्तराबाधितविषयम् इति । प्रमाणान्तरेण [९४क] अबाधितो विषयो यस्य तत् तथोक्तम् प्रमाणलक्षणम् इति । तत् पुनः अविकल्प एव संभवि न विकल्पे, सामान्यादेः प्रमाणान्तरेण बाधनादिति; तत्र दूषणमाह—अयुक्तम् इति । एतदपि प्रत्यक्षलक्षणमयुक्तम् । कुत एतत् ? इत्यत्राह—स्वमतव्याघातात् । 'अन्तर्बहिश्च सर्वं क्षणिकं निरंशम्' इति बौद्धस्य स्वम् आत्मीयं मतं तस्य व्याघातात् । न हि क्षणिका निरंशाः परमाणवो दृष्टाः प्राप्ता वेति प्रतिपत्तृणामभिप्रायोऽस्ति, यतः तस्यैं अनतिक्रमेण तल्लक्षणं युक्तं भवेत् । यदि च यथाप्रतिपन्नाभिप्रायं न पारमार्थिकं तल्लक्षणं कुतः *"क्षणिकाः सर्वसंस्काराः" [६]इत्यादिकस्य *"नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति" [७]इत्यादिकस्य च परमार्थतः सिद्धिः समयान्तरवत् ? प्रतिभासाद्वैतस्य निषिद्धत्वात् निषेत्स्यमानत्वाच्च अनन्तरमेव । प्रमाणान्तराबाधितविषयत्वं च प्रमाणमविकल्पदर्शनमेवेति च चिन्तितम् ।

उपसंहारमाह—तस्मात् नायम् अविकल्पोऽनुभवः । कथंभूतः ? स्वलक्षणग्राही यथार्थनिर्भासम् अर्थनिर्भासाऽनतिक्रमेण व्यवसाययितुं व्यवसायं कर्तुं न समर्थः अविसंवादको नाम किन्तु विसंवादक एव । ननु न व्यवसायकरणाद् अविसंवादकः अपि तु स्वलक्षणग्रहणात् । व्यवसायोऽपि [८]तद्ग्रहणात् नाऽपरः, जात्यादिप्रतिभासस्य इन्द्रियज्ञाने निषेधादिति चेत्; अत्राह—न च इत्यादि । न च नैव अविकल्पितेन अनिश्चितेन [९४ख] स्वभावेन स्वरूपेण स्वलक्षणस्य व्यवस्थापनं युक्तम् उपपन्नम् । अत्र दृष्टान्तमाह—अद्वैतवत् इति । पुरुषाद्वैतम् इह अद्वैतं

(१) "यत्र वासनादार्ढ्यं स जाग्रत्प्रत्ययः । (पृ०७२) झटित्येव स्वप्नदृष्टं नश्यति । वासनादार्ढ्यमेतत् न त्वर्थं एव साधयितुं शक्यः ।"—प्र० वार्तिकाल० पृ० ३६० । (२) स्वप्नज्ञानमपि । (३) स्वप्ने दृष्टप्राप्त्या । (४) अभिप्रायस्य । (५) प्रत्यक्षलक्षणम् । (६) "तत्रेदमुक्तं भगवता—"क्षणिकाः सर्वसंस्काराः स्थिराणां कुतः क्रिया । भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते ॥"—तत्त्वसं० प०पृ० ११ । बोधिच० प० पृ० ३७६ । तन्त्रवा० पृ० १२० । "क्षणिकाः सर्वसंस्काराः विज्ञानमात्रमेवेदं भो जिनपुत्राः यदिदं त्रैधातुकम्"—सम्मति० टी० पृ० ७३१ । (७) "नान्योऽनुभाव्यस्तेनास्ति तस्या नानुभवोऽपरः । तस्यापि तुल्यचोद्यत्वात् स्वयं सैव प्रकाशते ॥—प्र० वा० २।३२७ ।" "बुद्ध्यास्ति···ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं···" इति पाठभेदेन उद्धृतोऽयम्—प्रज्ञ० व्यो० पृ० ५२५ । न्यायम० पृ० ५४० । त० श्लो० पृ० १२१ । आप्तप० पृ० ४७ । अष्टस० पृ० ११० । मी० श्लो० टी० पृ० २७५ । शास्त्रदी० पृ० १९५ । प्रमेयक० पृ० ९० । न्यायकु० पृ० ११३ । न्यायवि० वि० प्र० पृ० २५१ । सन्मति० टी० पृ० ४८३ । स्या० रत्ना० पृ० १५० । स्या० म० पृ० ११९ । सर्वद० सं० पृ० ३१ । शास्त्रवा० टी० पृ० १७४ । (८) नवान्तरवत् । (९) भवतु सिद्धिः, प्रतिभासाद्वैतोपगमादित्युक्ते प्राह । (१०) स्वलक्षणग्रहणात् ।

गृह्यते न प्रतिभासाद्वैतं तत्र बौद्धस्य विवादाभावात्, तस्य इव तद्वदिति । ननु अद्वैत-स्वलक्षणयोः अप्रतिभासेतरकृतो विशेषोऽस्ति अतः 'अद्वैतवत्' इत्ययुक्तमिति चेत्; अत्राह–भेदाऽभावात् इति। भेदस्य विशेषस्य अभावात् स्वलक्षणस्यापि अप्रतिभासनादिति मन्यते । ततः सूक्तम्–'अद्वैतवत्' इति । अथ मतम्–तदद्वैतं यदि सुखादिनीलादिप्रतिभासात्मकं तर्हि साकारे सौगतदर्शने पुरुष इति नाम कृतं भवेत्, अन्यथा अचेतनं नावभासते इत्यसत्, सुखादिनीलादिसत्त्वे च न तदद्वैतम्, तदसत्त्वे प्रकृतेऽपि तदस्तु इति; तत्रोत्तरमाह–विकल्पानाम् इत्यादि । विकल्पानां सुखादिनीलादिभेदानां भेदैकान्तेऽपि निरंशस्वलक्षणैकान्तेऽपि न केवलम् अद्वैते निःस्वभावतोपपत्तेः असत्त्वोपपत्तेः, अन्यथाप्रतिभासस्य तत्रापि भावादिति भावः, अन्यथा अनेकान्तसिद्धिः इत्युक्तम् ।

इदमपरं व्याख्यानम्–निरंशस्वलक्षणदर्शनानन्तरभाविनां विकल्पानां यथा स्थूलादिदूरादिभेदा विषयाः तथा निःकलपुरुषदर्शनानन्तरभाविनां तेषां सुखादिनीलादिभेदा विषयाः, तेषां च विकल्पानां भेदैकान्तेऽपि निःस्वभावतोपपत्तेः । स्वः [९५क] आत्मीयः सौगतकल्पितो भावः पदार्थः तस्मान्निष्क्रान्तानां भावः तत्र तस्या उपपत्तेः भेदाऽभावादिति सम्बन्धः । ततः सूक्तम्–'अविसंवादकज्ञानं विकल्पकमेव' इति ।

भवत्वेवं तथापि न तत् प्रत्यक्षम्; मानसत्वेन वैशद्यविरहात्, तथा चोक्तम्–

*"न विकल्पानुविद्धस्य स्पष्टार्थप्रतिभासिता ।
स्वप्नेऽपि स्मर्यते स्पष्टं न च तत् तादृगर्थदृग् ॥" [प्र०वा० २।२८३]

इति चेत्; अत्राह–न चैतद् इत्यादि ।

[न चैतद् व्यवसायात्मप्रत्यक्षं मानसं मतम् ।
प्रतिसंख्याऽनिरोध्यत्वादर्थसन्निध्यपेक्षणात् ॥२५॥

न हीदं स्वार्थव्यवसायात्मकं मानसं प्रत्यक्षम्, गवि सन्निहिते मानसीं गोबुद्धिं विनिवर्त्य तदा अश्वकल्पनायामपि गोरेव विनिश्चयात् । स पुनः निश्चयः विकल्पान्तरवदर्थसन्निधिं नापेक्षेत । तस्मादिदं स्पष्टं व्यवसायात्मकं ज्ञानं स्वार्थसन्निधानान्वयव्यतिरेकानुविधायि प्रतिसंख्यानिरोध्यविसंवादकं प्रमाणं युक्तम् ।]

एतत् सुखादिनीलादिनिर्भासिज्ञानम् । कथंभूतम् ? व्यवसायात्म निर्णयात्मकं मानसं मनोनिमित्तम् न च नैव मतम् । कुत एतत् ? इत्यत्राह–प्रत्यक्ष (क्षम्) इति । प्रत्यक्षं विशदम्–इन्द्रियाश्रितं वा यत इदं तन्न मानसमिति । तदाश्रितं च अक्षान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् अन्वादा (अन्धादा)वभावात् । तथापि मानसत्वे अस्यैं द्विचन्द्रदिज्ञानस्यापि मानसत्वमिति व्याहतमेतत्–

*"किञ्चेन्द्रियं यदक्षाणां भावाभावानुरोधि चेत् ।
तत्तुल्यम्[5] ।" [प्र० वा० २।२९६] इति ।

(१) पुरुषाद्वैतम् । (२) विकल्पकम् । (३) मानसो हि विकल्पो रागादिरूपः प्रतिसंख्यानेन प्रतिपक्षतत्त्वज्ञानेन निवर्त्यते । (४) विकल्पस्य । (५) "विकियावच्चेत् सैवेयं किञ्चिदिष्यते" इति शेषः ।

अत्रैव युक्त्यन्तरमाह–**प्रतिसंख्या** इत्यादि। प्रतिसंख्यया प्रतिविकल्पेन **अनिरोध्यत्वाद्** अनिराक्रियमाणत्वात्। तथा च प्रयोगः–एतद् विवादगोचरापन्नं ज्ञानं न मानसम्, प्रतिसंख्याऽनिरोध्यत्वात्, यत् पुनर्मानसं न तत् प्रतिसंख्याऽनिरोध्यं यथा गवि सन्निहिते 'गौरयम्' इति मानसो विकल्पः। पुनरपि तदन्तरमाह–**अर्थ** इत्यादि। **अर्थस्य** घटादेः **सन्निधिः** योग्यदेशाद्यवस्थानं **तदपेक्षणात्।** ५

कारिकां विवृण्वन्नाह–**नहीदम्** इत्यादि। **इदं** विवादा[९५ख]स्पदीभूतं ज्ञानम्। कथंभूतम्? **स्वार्थव्यवसायात्मकम्**। तत्किम्? **मानसम्** इति युक्तम्। **नहि** न खलु। कुत एतत्? **प्रत्यक्षं** विशदम् अक्षाश्रितं वा यतः। इतश्च न मानसम्; इत्याह–**गवि** इत्यादि। **गवि** पशुविशेषे। कथंभूते? **सन्निहिते**। **गोबुद्धिम्** गौरयं महान् शुक्लः दीर्घः अन्यथा वा इत्यादि परामर्शात्मिकां **मानसीं विनिवित्य (विनिवर्त्य) तदा** तद्विवर्त्तनकाले **गोरेव विनिश्चयात्।** १०

कस्यां सत्याम्? इत्याह–**अश्वकल्पनायामपि** न केवलं तदकल्पनायाम्। एतदुक्तं भवति–यद्ययं स्थिरस्थूलसाधारणाकारे गोनिश्चयः प्रकृतगोबुद्धिवत् मानसः; तर्हि तद्वद् अश्वकल्पनायां विनिवर्तेत। न चैवम्, तन्न मानसः। **'विनिश्चयात्'** इत्यनेन एतदर्शयति। [२]तत्कल्पनाकाले गोदर्शनं यदि अविकल्पकम्; तर्हि क्षणक्षयदर्शनवत् [३]तद्व्यवहारो न भवेत् [४]तद्विकल्पानुत्पत्तेः, युगपद् विकल्पद्वयानभ्युपगमात्। तस्मात् निश्चयात्मकमिति। एवकारेण पुनः एतत् कथयति– १५ दर्शनमात्रात् तथा गोव्यवहारे क्षणक्षयादिव्यवहारोऽपि भवेद् विशेषाभावात्। न चैवमिति।

ननु यदा गोविनिश्चयो न तदा अश्वविकल्पना, जैनस्य युगपद् उपयोगद्वयाऽनुत्पत्तेरिति चेत्; मानसं समुपयोगद्वयं युगपन्नेष्यते न इन्द्रियमानसे[५], कथमन्यथा न्या य वि नि श्च ये–

*"सहभुवो गुणाः" [६]इत्यस्य–

*"सुखमाह्लादनाकारं विज्ञानं मेयबोधकम्। [९६क]। २०

शक्तिः क्रियानुमेया स्यात् गुनः कान्तासमागमे॥" [७]इति निदर्शनं स्यात्?

एतेन 'अक्षणिकज्ञानलक्षणसमारोपव्यवच्छेदात् क्षणिकानुमानं प्रमाणम्' इति निरस्तम्; अक्षणिकज्ञानस्य समारोपत्वाऽसिद्धेः, अश्वकल्पनायामपि तन्निवृत्त्यसिद्धेः इति। युक्त्यन्तरमाह– **स पुनः** इत्यादि। **सः** अनन्तरोक्तः **पुनः** इति युक्त्यन्तरसूचकः, **निश्चयः** गोव्यवसायः **विकल्पान्तरवद्** ईश्वरादिविकल्पवत् **यदि मानसः** स्यात् तथा (तदा) **अर्थस्य सन्निधिं** योग्यदेशाद्यवस्थितिं **न अपेक्षेत**। अपेक्षते च, तन्न मानसमिति। अनेन **'अर्थसन्निध्यपेक्षणात्'** इत्येतत् व्यतिरेकमुखेन व्याख्यातम्। उपसंहारार्थमाह–**तस्मात्** इत्यादि। यत एवं **तस्माद् इदम्** अनन्तरोक्तम् **स्पष्टं** विशदं **व्यवसायात्मकं ज्ञानम्**। कथंभूतम्? **स्वार्थसन्निधानान्वयव्यतिरे-** २५

(१) "अधुनाद्यालम्बना रागादिप्रतिपक्षभूता प्रज्ञा प्रतिसंख्यानम्"–तत्त्वस० प० पृ० ५४७। "तेन प्रज्ञाविशेषेण प्राप्यो निरोधः इति प्रतिसंख्यानिरोधः।"–स्फुटार्था०पृ०१६। (२) अश्वकल्पनाकाले। (३) गोव्यवहारो। (४) गोविकल्पानुत्पत्तेः। (५) एकमिन्द्रियजन्यमपरं च मानसमिति।(६) "गुणपर्यायवद्द्रव्यं ते सहक्रमवृत्तयः।"–न्यायवि० १।१११ (७) "यथोक्तं स्याद्वादमहार्णवे–सुखमाह्लादनाकारम्..."–न्यायवि० वि० प्र० पृ० ४२८। अष्टस० पृ० ७८। न्यायकु० पृ० १२९। सम्मति० टी० पृ० ४७८। स्या० रत्ना० पृ० १७८। प्र० रत्नमा० ४।८।

कानुविधायि प्रतिसंख्याऽनिरोध्यविसंवादकं प्रत्यक्षं प्रमाणं युक्तम्। अथ [1]तस्य स्वार्थसन्निधानान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं चेत्; अर्थकार्यता, इति ल घी य ख्र ये [2]तत्प्रतिषेधो विरुध्यते इति; तन्न; नोत्पत्तौ [3]तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वम्, अपि तु व्यापारो (रे), अर्थे सद्ग्रहणे व्याप्रियते नान्यथा इति आचार्याभिप्रायात्। कुत एतदवगम्यत इति चेत्? स्वग्रहणात्। नहि किञ्चित् स्वोत्पत्तौ स्वान्वयव्यतिरेकानुविधायि, विप्रतिषेधात्। ततः सर्वं सुस्थम्

स्यान्मतम्—माभूत्तन्मनसमपि त्वेन्द्रियं तयेन्द्रियं (त्तन्मानसमपि त्वैन्द्रियं तथापि) भ्रान्तमस्तु। न च [९६ख] इन्द्रियविभ्रमाः प्रतिसंख्यानेन निवर्त्यन्ते 'चन्द्रमेकम्' इति भावयतोऽपि द्विचन्द्रप्रतिभासानिवृत्तेरिति। तत्रोत्तरमाह—**तच्चेद्** इत्यादि।

[तच्चेदवस्तुविषयमप्रमाणं यतोऽन्यतः।
निर्णयात्मकत्वात्सिद्धेः अर्थसिद्धेरसंभवात् ॥२६॥

दर्शनसिद्धिप्रतिज्ञायां विप्रतिपत्तिविषयस्य साधनान्तरप्रतीक्षस्य सिद्धेरनुपपत्तेः। अधिगतिरित्यपि निर्णीतिरेव। तथा च अनिश्चितार्थनिश्चयेन अविसंवादकं ज्ञानं स्पष्टप्रतिभासमन्यद्वा प्रमाणं नापरम्। ततो व्यवसाय एव अविसंवादनियमोऽधिगमश्च निश्चेतव्यः तत्रैव तद्भावात्, तद्वशादेव तत्प्रतिष्ठानात्।]

तद् अनन्तरोक्तं **चेत्** यदि **अप्रमाणम्**। कुत एतत्? **अवस्तुविषयं यतः**। सामान्यविशेषात्मकतत्त्वम् अवस्तु विषयो यस्य तत् तथोक्तम्। किं तर्हि प्रमाणम्? न किञ्चिद् इत्यर्थः। 'अविकल्पकं दर्शनम्' इति चेत्; अत्राह—**अन्यतः** इत्यादि। **अन्यतः** मिथ्यैकान्तवादिकल्पितात् **प्रमाणाद् अर्थसिद्धिः (द्धेः)** अत्यन्तम् **असंभवात्**। ननु सिद्धिः अधिगतिमात्रं ततोऽपि संभवति इति चेत्; अत्राह—**सिद्धेः निर्णयात्मकत्वात्**।

अस्याऽनभ्युपगमे दूषणमाह—**दर्शन** इत्यादि। **दर्शनम्** अर्थसाक्षात्करणं निरंशादर्थात् तदाकारात्मलाभ इति यावत्, तदेव **सिद्धिः** इति या सौगतस्य **प्रतिज्ञा** तस्यां च क्रियमाणायां **सिद्धेः** ज्ञप्तेः **अनुपपत्तेः** दर्शनस्य, सिद्धेः निर्णयात्मकत्वम् इति। कथंभूतस्य? **विप्रतिपत्तिविषयस्य**। पुनरपि कथंभूतस्य? **साधनान्तरप्रतीक्षस्य** साधनान्तरे प्रतीक्षा यस्य इति। अनेन दर्शनाऽभावात् [न] तत्सिद्धिः इत्युक्तं भवति।

यत्पुनरेतत्—*"**अधिगतिस्तत्फलम्**" इति[6]; तद् अर्थतो निराकृतम्, शब्दतो निराकुर्वन्नाह—**अधिगतिः इत्यपि** न केवलमन्या अपि तु अधिगतिरित्यपि या सिद्धिः परस्यैं सापि **निर्णीतिरेव**। निर्णीतिपर्यायः अधिगतिशब्दः इति मन्यते। ततः किं जातम्? इत्याह—**तथा च** इत्यादि। **तथा च** तेन च प्रकारेण **अनिश्चितस्य अर्थस्य यो निश्चयः** न दर्शनमात्रम्, तेन **अविसंवादकं ज्ञानं स्पष्टप्रतिभासम् अन्यद्वाऽस्पष्टप्रतिभासं प्रमाणं नापरम्** इति युक्तं पश्यामः।

---

(१) प्रत्यक्षस्य। (२) ज्ञानस्य अर्थकार्यतानिषेधः। "अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थइत्येतत्कारणं विदुः। संशयादिविदुत्पादः कौतस्कुत इतीष्यताम् ॥५४" इत्यादिना क्रियमाणः। (३) अर्थान्वयव्यतिरेकानुविधानम्। (४) तत्त्वज्ञानेन। (५) अविकल्पादपि। (६) "स्वसंवित्तिः फलं चात्र"—प्र० समु० १।१०। "फलं स्ववित्"—प्र० वा० २।३१६। "विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते। स्ववित्तिर्वा···"—तत्त्वसं० श्लो० १२७४। (७) बौद्धस्य।

उपसंहारार्थमाह—तत इत्यादि । यत एवं ततो व्यवसाय एव निर्णये एव अविसंवाद-नियमः अधिगमः स्वार्थमहणं च निश्चेतव्यः । कुत एतत् ? इत्यत्राह—तत्रैव व्यवसाय एव अन्तयोः (तयोः) अविसंवादनियम-अधिगमयोः भावात् । एतदपि कुतः ? इत्यत्राह—तद्वशादेव व्यवसायादेव तत्प्रतिष्ठानात् तयोः प्रतिष्ठानात् ।

एवं व्यवसायात्मकमविसंवादिज्ञानं प्रमाणं व्यवस्थाप्य साम्प्रतं ततः प्रवृत्तिक्रमं दर्शयति ५ अनागतमर्थं च सूत्रयति—'**अक्षज्ञानैः**' इत्यादिना ।

[अक्षज्ञानैरनुस्मृत्य प्रत्यभिज्ञाय चिन्तयन् ।
आभिमुख्येन तद्भेदान् विनिश्चित्य प्रवर्तते' ॥२७॥

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रमनांसि इन्द्रियाणि । तैः स्वविषयग्रहणम् अवग्रहाद्यात्मिका मतिः बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतरप्रकाराणाम् । अत एवानेकान्तसिद्धिः । १०
नहि संवित्तेः बहुबहुविधप्रभृत्याकृतयः स्वयमसंविदिता एवोदयन्ते व्ययन्ते वा यतः सत्योऽप्यनुपलक्षिताः स्युः कल्पनावत् तथेतराकृतयः । स्वलक्षणसामान्यलक्षणैकान्ते पुनः संवेदनाकृतीः न पश्यामः तथैवापश्यन्तः कथमात्मानमेव विप्रलभामहे । तदेवं परमार्थतः सिद्धिः अनेकान्तात् । मन्यते [मननं वा इति मतिः, स्मरणं स्मृतिः, संज्ञानं संज्ञा, चिन्तनं चिन्ता, अभिनिबोधनमभिनिबोध इति] तथामनन्ति त च्चा र्थ सू त्र का राः— १५
*"मतिः स्मृतिः संज्ञाचिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्" [त० सू० १।१३] इति । मतिस्मृत्यादयः शब्दयोजनामन्तरेण न भवन्तीत्येकान्तो न यतस्तत्रान्वर्थाभ्येरन् । तदेकान्ते पुनः न क्वचित् स्युः तन्नामस्मृतेरयोगात् अनवस्थानादेः]

अतो निबन्धनस्थानाद् वाक्यान्तराणि उपपूवन्ते—'**अक्षज्ञानैः तद्भेदान् विनिश्चित्य प्रवर्तते**' इत्येकं वाक्यम्, '**अनुस्मृत्य तद्भेदान् प्रवर्तते**' इति द्वितीयम्, **प्रत्यभिज्ञाय** २०
तद्भेदान् प्रवर्तते' इति तृतीयम्, '**चिन्तयन्** वितर्कयन् **तद्भेदान् प्रवर्तते**' इति चतुर्थम्, **आभिमुख्येन तद्भेदान् विनिश्चित्य प्रवर्तते**' इति पञ्चमम्, **चिन्तयन्नाभिमुख्येन तद्भेदान्विनिश्चित्य प्रवर्तते**' इति षष्ठं समुदितम् । तत्र **अक्षाणि** चक्षुरादीनि इन्द्रियाणि तेषां कार्यभूतैः **ज्ञानैः तद्भेदान्** हिताहितार्थविशेषान् **विनिश्चित्य प्रवर्तते** पुरुषः ।
अयं च प्रवृत्तिक्रमः अभ्यासदशायां द्रष्टव्यः । नहि तस्यां प्रवर्त्तमानो नियमेन सजातीयानुस्मरणा- २५
दिकमपेक्षते जनः तथाऽप्रतीतेः [९७ख] अमुमेवार्थमाश्रित्य *"अभ्यासे भाविनि प्रवर्त्तकत्वात् प्रत्यक्षं प्रमाणम्" इति[२] । तत्सर्वं युक्तम्, इदं तु अयुक्तम् प्र ज्ञा क र गु रु मे नोक्तम्—'भाविनि' इति ; दाहादिकारणे पावकादौ लोकस्य प्रवृत्तिदर्शनात् । दाहाद्यदर्शने कथं 'तत् तत्कारणम्' इति प्रतीयते इति चेत् ? अभ्यासात् किन्न जायते ? स्वयं च [3]व्यवहारमाश्रित्य

(१) उद्धृतोऽयम्—त० श्लो० पृ० १८९ । न्यायवि० वि० द्वि० पृ० ४१ । (२) "वर्तमानेऽतिमात्रेण वृत्तावप्यक्षमानता । यत्रात्यन्ताभ्यासादविकल्पयतोऽपि प्रवर्तनं तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणम्"—प्र० वार्तिकाल० पृ० २१८ । (३) "तस्माद् व्यवहारमात्रप्रसिद्धानुमानाश्रयेण प्रसिद्धं सम्बन्धमाश्रित्य तदेतदर्थक्रियासाधनमिति दर्शनेन स्तूपश्यादिसाधनस्य प्रतिपत्तौ प्रवर्तते । पश्चाद्भ्यासानुमानमन्तरेणापि प्रतिभासमात्रादेव वृत्तिरिति प्रत्यक्षमपि प्रवर्तकत्वात् प्रमाणम् । अत उच्यते प्रामाण्यं व्यवहारेणेति ।"—प्र० वार्तिकाल० पृ० २५ ।

ततोऽप्रतिपन्नमपि प्रत्यक्षेण भावि प्रतिपन्नमिच्छन् तमेव[1] आश्रित्य वर्त्तमानं तत्कारणं प्रत्यक्षमिच्छन्तं न सहते इति प्राकृतबुद्धिः ।

अथवा, यदुक्तम्–'**गवि सन्निहिते गोबुद्धिं विनिवर्त्त्य तदा अश्वकल्पनायामपि गोरेव विनिश्चियात्**' इति; तत्र प्रवृत्तौ [2]इदं वाक्यम्, तत्र अनुस्मृत्यादेर्विरोधात्। '**अनुस्मृत्य तद्भेदान् प्रवर्तते**'[3] पूर्वव्यवस्थापितनिक्षेपादिषु प्रवृत्त्यर्थम् । '**प्रत्यभिज्ञाय तद्भेदान् तु प्रवर्तते**' इत्येतत् पुनः 'तदेवेदं तेन सदृशम्' इति वा अनुसन्धानमात्रेण प्रवृत्तौ । '**चिन्तयन् तद्भेदान् प्रवर्तते**' इतीदम् अदृश्यमेरुमकार(मकराकर)वाडवाग्निविवेकविनिश्चयेन देशाद्यन्तरवृत्तौ । '**आभिमुख्येन तद्भेदान् विनिश्चित्य प्रवर्तते**' इत्येतत् 'अकस्माद् धूमदर्शनात् पावकोऽत्र इति प्रवृत्तौ । '**चिन्तयन् आभिमुख्येन तद्भेदान् विनिश्चित्य प्रवर्तते**' [इत्ये]तत् 'अनित्यः शब्दः श्रावणत्वात्' इत्याद्यनुमानात् प्रवृत्तौ । समुदितं तु वाक्यम् 'वह्निरत्र, धूमात्, यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः यथा महानसादौ, धूमश्चात्र' इत्येवमाद्यनुमानात् प्रवृत्तौ। तत्र अक्षज्ञानैः [९८क] पूर्वमनयोः सम्बन्धे गृहीते सति पुनस्तैरेव क्वचित् धूमे विषयीकृते पूर्वसंस्कारप्रबोधः, ततः स्मृतिः, तस्याः प्रत्यभिज्ञा, पुनः तर्कः, अतोऽनुमानं [ततः] प्रवृत्तिरिति ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**स्पर्शन** इत्यादि । **स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रमनांसि** । किम्? **इन्द्रियाणि** । मनः सर्वज्ञसिद्धौ निरूपयिष्यते । **तैः** स्पर्शनादिभिः का(क)रणभूतैः **स्वविषयाणां** स्पर्शादीनां **ग्रहणं** तद्ग्राहकं यज्ज्ञायते **ज्ञानम्** । तत् किं नाम ? इत्यत्राह–**मितिः** इति । (**मतिरिति**) । किमात्मिका सा ? इत्यत्राह–**अवग्रह** इत्यादि । [4]**अवग्रहादयो** वक्ष्यमाणकाः **तदात्मिका** इति । केषां सा ? इत्यत्राह–**बहु**[5] इत्यादि । **बहु** च युगपत् समानजातीयानां बहूनां ग्रहणम्, **बहुविधं** च भिन्नजातीयानाम्, **क्षिप्रं** च झटिति, **अनिःसृतं** च आलोकाद्यनपेम (पेक्षम्) **अनुक्तं** च पानकादौ गुडादिरसविशेषस्य अकथितं च। **ध्रुवं** च दृढतया कालान्तरस्मरणकारणम् तेषाम् । कथंभूतानाम् ? **सेतरप्रकाराणाम्** सह इतरप्रकारैः अबह्वादिभिः वर्तमानानाम् । तथा च सति किं सिद्धम् ? इत्यत्राह–**अत एव** इत्यादि । यत एव तैः स्वविषयाणां ग्रहणमेवंविधम्, अत एव **अनेकान्तसिद्धिः** ।

ननु आगमादेव केवलात् सर्वमेतत् सिद्धं नान्यतः अनुपलक्षणात्, ततो भवत आगमिकत्वमिति चेत्; अत्राह–**नहि** इत्यादि । **नहि संवित्तेः** इन्द्रियमतेः सम्बन्धिन्यः **बहुबहुविधप्रभृत्याकृतयः स्वयम्** आत्मना **असंविदिता एव** अज्ञाता एव **उदयन्त** उत्पद्यन्ते [९८ख] **व्ययन्ते** विनश्यन्ति **वा** यतो यस्माद् असंविदितोदयव्ययात् **सत्योऽपि अनुपलक्षिताः स्युः** । अत्र [6]परप्रसिद्धं दृष्टान्तमाह **कल्पनावत्** इति । यथा *"**नहि इमाः कल्पनाः**" [7]इत्यादि वचनात्

---

(१) व्यवहारमेव । (२) 'अक्षज्ञानैः तद्भेदान् विनिश्चित्य प्रवर्तते' इति । (३) इति वाक्यं तु । (४) "अवग्रहेहावायधारणाः ।"–त० सू० १।१५ । (५) "बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ।"–त० सू० १।१६ (६) आगमानुसारित्वम् । (७) सौगतप्रसिद्धम् । (८) "तदाह–न चेमाः कल्पना अप्रतिसंविदिता एवोदयन्ते व्ययन्ते चेति ।" प्र० वा० स्व० टी० पृ० १२७ ।

ईश्वरादिकल्पना नाऽनुपलक्षिताः उदयन्ते व्ययन्ते च तथा प्रकृता अपि इति । **तथा** तेनैव प्रकारेण **इतराकृतयः** अबह्वाद्याकृतयः न सत्योऽपि अनुपलक्षिता उदयन्ते व्ययन्ते वा इति । तर्हि तथैव स्वलक्षणसंवेदनाकृतयः सामान्यसंवेदनाकृतय एव वा स्वयं स्वसंविदिता एव उदयन्ते व्ययन्ते चेति चेत् ; अत्राह–**स्वलक्षण** इत्यादि । **स्वलक्षणं च सामान्यलक्षणं च ते एव एकान्तौ तयोः संवेदनाकृतीः पुनः न पश्यामः** । चर्चितं चैतत् । तथापि ताः सत्यः कल्पनाः(न्ता)मिति चेत् ; अत्राह–**तथैव** इत्यादि । **तथैव** परपरिकल्पितप्रकारेणैव **अपश्यत्तत (श्यन्तः) कथं कल्पनया** स्वलक्षणसामान्यलक्षणैकान्ते संवेदनाकृतिकल्पनया **आत्मानमेव विप्रलभामहे** वञ्चयामः ।

उपसंहारमाह–**तदेवम्** इत्यादिना । **तत्त गोत् (तत् तस्मात्) एवम्** उक्तप्रकारेण **परमार्थतः सिद्धिः** सर्वभावानां निष्पत्तिः प्रतिपत्तिर्वा **अनेकान्तादू** अनेकान्तमाश्रित्य ।

मत्यादीनां निरु[क्ति] दर्शयन्नाह–**मन्यते** इत्यादि[1] । सुगमम् । त त्त्वा र्थ सू त्र का रे-ण सहात्मनः ए[क]वाक्यतां दर्शयन्नाह–**तथा** इत्यादि । **तथा** उक्तप्रकारेण **आमनन्ति** त त्त्वा र्थ सू त्र का राः । कथम् ? [९९क] इत्याह–*"**मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्**" [त० सू० १।१३] इत्येवम् । सर्वसूत्राणां सोपस्कारत्वात् अत्र 'प्रवर्त्तकः' इत्यध्याहार्यम् । **इति** शब्दः स्वसूत्रे वाक्यान्तरसमाप्त्यर्थः । ततोऽयमर्थो जायते–'मतिः प्रवर्तिका इति, स्मृतिः प्रवर्तिका इति, संज्ञा प्रवर्तिका इति, चिन्ता प्रवर्तिका इति, अभिनिबोधः प्रवर्तकः, चिन्ताभिनिबोधः प्रवर्तकः, मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोधः प्रवर्तकः इति च ।

ननु च एतन्मत्यादिकमन्योन्यं भिन्नमभिन्नं वा ? उभयथापि **'स्वलक्षण'** इत्यादि विरुध्यते इति चेत् ; अत्राह–**अनर्थान्तरम्** इति । ईषदर्थे नत (नञ्) प्रवर्तते । ईषत् कथञ्चिद् अर्थान्तरम् **अनर्थान्तरमिति** । उक्तं [च] ल घी य स्त्र ये–*"**प्रमाणफलयोः क्रमभावेऽपि तादात्म्यं प्रत्येयम्**" [लघी० स्व० श्लो० ६] इति । अथवा, यदा(द)वग्रहविषयीकृतम् ईहा प्रत्येति, ईहितम् अवायोऽवैति, अवायानुभूतं धारणा, एवम् उत्तरत्रापि योज्यम् , तदेवमाह **अनर्थान्तरम्** इति, कथञ्चिदभिन्नविषय(यं) मत्यादिकम् इत्यर्थः । अन्त्यवाक्यापेक्षया **'अनर्थान्तरम्–अभिन्नप्रवृत्तिप्रयोजनम्'** इति वा व्याख्येयम् ।

ननु मत्यादिकं सर्वम् अभिधानपुरस्सरमेव स्वार्थं प्रत्येति इति शब्दश्रुत एवान्तर्भावोऽस्य, तथा च तच्चिन्तने एवास्य चिन्ता भविष्यति इति पृथगिह चिन्तनमनर्थकमिति चेत् ; अत्राह–**'शब्दयोजनम्'** इत्यादि । **मतिस्मृत्यादयः शब्दयोजनमन्तरेण ते न भवन्ति** किन्तु तद्योजने सति भवन्ति इत्येवम् **एकान्तो न, यत एकान्तात्** [९९ख] **तत्र अन्तर्भाव्येरन्** इत्यर्थः । **यत** इति वा आक्षेपे, नैव संकीर्येरन् । विपक्षे बाधकमाह–**तदेकान्त** इत्यादि । स चासौ एकान्तश्च तस्मिन् अङ्गीक्रियमाणे **पुनः न क्वचिद् बहिरन्तर्वा स्युः मतिस्मृत्यादयः** । कुत एतत् ?

(१) "मननं मतिः स्मरणं स्मृतिः संज्ञानं संज्ञा चिन्तनं चिन्ता आभिमुख्येन नियतं बोधनमभिनिबोध इति"–त० भा० १।१३।५ ।

इत्यत्राह–**तन्नाम** इत्यादि । यस्य नाम्ना योजनात् मृतिस्मृत्यादयः तत् **तन्नाम** इत्युच्यते, तस्य **स्मृतेरयोगात्** । एतदुक्तं भवति–न यत्र यत्र स्वार्थः तत्र तत्र तन्नाम, यतः तद्योजनात् नियमेन मतिस्मृत्यादयः स्युः अपि तु सङ्केतस्य योजनात्, तत्स्मृतेरेव च अयोगात् प्रकृतमिति । कुत एतत्? इत्यत्राह–**अनवस्थानादेः** अनवस्था [नम्]आदिर्यस्य अन्योन्यसंश्रयस्य स तथोक्तः तस्मात्। तथाहि– प्रथमा नामस्मृतिः तद्विषयाभिधानस्मृतेः, सापि तद्विषयनामस्मृतेः इत्यनवस्था । सन्निहिते च वस्तुनि मत्यादिना निर्णीते नामविशेषे स्मृतिः, तस्याश्च सत्यादिः (मत्यादिः) इत्यन्योऽन्यसमाश्रयः । अत एव अप्रतिपत्तिः प्रतिपत्तेरभावः, अन्धमूकं जगत् स्यादिति मन्यते । चर्चितं चैतत्–"सदृशार्थाभिलापादिस्मृतिः" [सिद्धिवि० १।८] इत्यादिना ।

एवं तावत् **'प्रमाणस्य फलं साक्षात् सिद्धिः स्वार्थ[वि] निश्चयः'** [सिद्धिवि० १।३] इत्यस्य समर्थनद्वारेण *"अधिगतिः तत्फलम्" इत्येतन्निरस्तम् । इदानीम् *"सारूप्यं प्रमाणम्" [न्यायवि० १।२०] इत्येतत् प्रकारान्तरेण दूषयन्नाह–**'प्रत्यक्षाः'** इत्यादि ।

[प्रत्यक्षाः परमाणवो बहिरिमे स्थूलैकचित्राकृतेः,
संवित्तेर्विषया इति प्रलपता स्याद्वादविद्वेषिणा ।
बुद्धेनालमलं बहिरन्तर्वाऽश्लीलमेवाकुलम् ,
तन्नैरात्म्यमपीतरेण न विवेकात्मा न सा युज्यते ॥२८॥]

विषयो द्विविधो बौद्धस्य प्रत्यक्षः अनुमेयश्च । तत्र **प्रत्यक्षः (क्षाः)** सन्तो **विषया** गोचराः । के ? इत्याह–**परमाणवः** । क ? **बहिरिति** । के पुनस्ते ? इत्याह–[१००क] **इमे** परिदृश्यमानघटादिव्यपदेशभाजः । कस्याः ? इत्यत्राह–**संवित्तेः** । कथम्भूतायाः ? इत्याह–**स्थूलैकचित्राकृतेः** स्थूला एका चित्रा शबला आकृतिः आकारो यस्याः सा तथोक्तः (क्ता) तस्याः *"सञ्चितालम्बनाः पञ्च विज्ञानकायाः" इति[3] राद्धान्तात् । **प्रलपता अलम्** । केन ? **बुद्धेन इतर (इतरेण)** केन ? दि ग्ना गा दि ना । कथं **प्रलपता** ? **अश्लीलमेव** असम्बद्धमेव यथा भवति **आकुलं** च । **अपि**शब्दः भिन्नप्रक्रमः अत्र द्रष्टव्यः च शब्दार्थः । कथंभूतेन ? इत्यत्राह–**स्याद्वादविद्वेषिणा** । एतदुक्तं भवति–यथा नीलाकृतेः संवित्तेः नीलं प्रत्यक्षं न पीतादि, सारूप्यकल्पनावैफल्यभयात् तथा **स्थूलैकचित्राकृतेः**[4] तस्याः प्रत्यक्षो विषयोऽपि तथाविध एव कल्पनीयो न परमाणवः इति ।

यत्पुनरत्रोक्तं प्र भा क र गु रे न–*"तथाविधायाः तथाविधविषयसिद्धिः दूरस्थितविरलकेशेषु अतदात्मसु तथाविधायाः तस्याः दर्शनात् ।"[5] इति ; तत्र न तर्हि परमाणवः तस्याः प्रत्यक्षः (क्षाः) सन्तो विषयाः किन्तु अनुमेयाः, इतरथा दूरस्थितविरलकेशा अपि अनेक-

(१) वाचकेन शब्देन । (२) "न प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां मेयस्यान्यस्य संभवः ।"–प्र० वा० २।६३ । (३) "पञ्चसञ्चयस्यालम्बनात्"–प्र० समु० १।१७। (४) संवित्तेः । (५) स्थूलैकचित्राकार एव । (६) "यथैव केशा दवीयसि देशे असंसक्ता अपि घनसन्निवेशावभासिनः परमाणवोऽपि तथेति न विरोधः।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० २९६, पृ०९४ ।

संवित्तेर्विषयाः तथा इति न भ्रान्तं नाम किञ्चित्, यन्निरासार्थम् [1]अभ्रान्तग्रहणं क्रियमाणमर्थवत् स्यात्। अथ तत्केशानां विरलनाननुकरणेऽपि कृष्णतामात्रानुकरणवत् परमाणूनामन्योन्यविवेकाननुकरणेऽपि नीलतामात्रानुकरणात् ते[2] प्रत्यक्षा इति; तर्हि एकस्य गृहीतेतररूपतया अनेकान्तसिद्धिः ऐति (इति) [१००ख] **स्याद्वादविद्वेषिणा अलम् अलम्** इति। न तत्त्वतः तस्याः ते[3] प्रत्यक्षं [क्षाः] किन्तु व्यवहारेणेति चेत्; उक्तमत्र नीलाकारसंवित्तेः नीलवत् तस्या अपि स्थूलैकचित्रार्थप्रत्यक्षताप्रसङ्गादिति। ५

किंच, संवित्तिवद् एकस्य स्थूलैकचित्राकारोऽपि न विरुध्यते इति, एवमर्थं च **'स्थूलैकचित्राकृतेः'** इति वचनम्। तर्हि प्रतिपरमाणुभेदात् संवित्तिरपि तथाविधा मा भूत्। तदुक्तम्—

*"किं स्यात् सा चित्रतैकस्यां न स्यात्तस्यां मतावपि"

[प्र० वा० २।२१०] इत्यादि। १०

इति चेत्; अत्राह—**न सापि** इत्यादि। **न** केवलं बहिरर्थोऽपितु **साऽपि** संवित्तिरपि **विवेकात्मा न न युज्यते** युज्येतैव, प्रतिषेधद्वयेन प्रकृतार्थगतेः, इतरथा उक्तन्यायेन सकलशून्यता स्यादिति मन्यते। सैवास्तु इति चेत्; अत्राह—**तन्नैरात्म्यम्** इत्यादि। यत एवं तस्मात् **नैरात्म्यं** सकलशून्यत्वं **बहिरन्तर्वा इति** एवं **'प्रलपता'** इत्यादिना सम्बन्धः। स्याद्वादमन्तरेण तदप्रतिपत्तेरिति भावः। छ ॥ १५

इति श्री र वि भ द्र पादोपजीवि-अ न न्त वी र्य विरचितायां सि द्धि
वि नि श्च य टी का यां प्रत्यक्षसिद्धिः प्रथमः प्रस्तावः। छ ॥

---

(१) प्रत्यक्षलक्षणे। (२) परमाणवः। (३) परमाणवः।

[द्वितीयः प्रस्तावः]

[२ सविकल्पसिद्धिः]

*"अक्षज्ञानैः" [सिद्धिवि० १।२७] इत्यादिना उक्तमर्थम् इतरग्रन्थेन समर्थयितुकामः तदादौ संग्रहवृत्तत्रयं **'स्वार्थ'** इत्यादिकमाह–

[स्वार्थावग्रहनीतभेदविषयाकाङ्क्षात्मिकेयं मतिः ,
भेदावायमुपेत्य निर्णयमयं संस्कारतां यात्यपि ।
स्मृत्या प्रत्यभिज्ञावतोऽविषयाद्धेतोरशाब्दानुमा ,
कल्प्या आभिनिबोधिकी श्रुतमतः स्यात् शब्दसंयोजितम् ॥१॥]

अस्याऽयमर्थः–**स्वं** च **अर्थश्च** तयोः ग्राहकोऽवग्रहः **स्वार्थोऽवग्रहः** स्वार्थावग्रहश्च नि पूर्वाद् इणः क्तिं[1] शति (क्ते सति) भवति, अन्यस्याऽप्रकृतत्वात् , प्रत्यासत्तेश्च अवग्रहेण **नीतम्** [१०१क] अवगतम् इति गम्यते । तत्र [2]भेदव[च]नसान्निध्यात् द्विविधं सामान्यम् इति च, तस्य **भेदो** विशेषो **विषयः** यस्या **आकाङ्क्षाया** ईहायाः सा तथोक्ता, ता-
१० **वात्मानौ** स्वभावौ यस्याः सा तदात्मिकेयं **मतिः** । किं करोति ? इत्यत्राह–**संस्कारतां याति** धारणात्मिका भवति । किं कृत्वा ? इत्यत्राह–**भेदावायमुपेत्य** उपढौक्य **निर्णयमयं** तदात्मिका भूता इत्यर्थः । **अतः** अस्याः मतेः **परम्** अन्यद् अस्पष्टज्ञानं **श्रुतम्** *"श्रुतमस्पष्टतर्कणम्" [त० श्लो० पृ० २३७][3] इति वचनात् । तत्कथं जायते ? इत्यत्राह–**स्मृत (त्या)** इत्यादि । **'अतः'** इत्येतद् अनेनापि सम्बध्यते–ततो मतेः **स्मृतिः**, तया **स्मृत्या** कारण-
१५ भूतया **प्रत्यभिज्ञान(व)ता** 'तदेवेदं तेन सदृशम्' इति वा प्रत्यभिज्ञावता पुरुषेण **ऊह-विषयाद् हेतोः** लिङ्गाद् **अनुमा कल्प्या** । कथम्भूता ? **अशाब्दा (अशाब्दी)** स्वार्थानुमा इत्यर्थः । अस्या नामान्तरमाह–**आभिनिबोधिकी** इति । अभि समन्ताद् अर्थस्य सामान्यरूपेणेव विशेषरूपेणापि निश्चितो बोधो ग्रहणम् तत्र नियुक्ता न पुनः सामान्यापोहमात्रग्रहणे इति मन्यते । अथवा, पूर्वज्ञानापेक्षया कथञ्चिदति(भि)नवस्य अपूर्वस्यार्थस्य ग्रहणम् अभि-
२० निबोधः तत्र नियुक्ता *"मतिपूर्वं श्रुतम्" [त० सू० १।२०] इति वचनात् । मतेः स्मृतिः, ततः प्रत्यभिज्ञा, अत ऊहः, अस्माद् अशाब्दानुमा श्रुतम् इत्युक्तं भवति । **अपि**शब्दो भिन्नप्रक्रमः **'श्रुतमतः'** इत्यस्याऽनन्तरं द्रष्टव्यः । अतोऽपि परं **शाब्दयोजितं** ज्ञानं श्रुतम् इति ।

स्यान्मतम्– दर्शनम्[5], अतश्च भेदनिश्चयं इति किं [१०१ख] तदन्तराले आकाङ्क्षया इति ? तत्रोत्तरमाह–**'वैशद्यम्'** इत्यादि ।

---

(१) भूतकालार्थे क्ते प्रत्यये सति । (२) षष्ठ्या विग्रहे सति इत्यर्थः । (३) उद्धृतमिदम्–न्यायवि० वि० टि० पृ० १८७, ३६० । "श्रुतमविस्पष्टतर्कणम्"–न्यायकुमु० पृ० ४०४ । (४) यथा बौद्धानाम् अनुमानं सामान्यविषयं न तथा । (५) "श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम्"–त०सू० । (६) बौद्धः प्राह । (७) निर्विकल्पकम् । (८) विकल्पः ।

[वैशद्यं यदि भेदनिश्चयकरमेकान्ततो भावतः,
सर्वस्मात्परतः करोतु विपरीतारोपविच्छेदनम् ।
संकल्पाहितवासनापरिणतेः सर्वत्र चित्रेहनम् ,
प्रत्यक्षं न ततोऽनन्वयधियां का वासनानां कथा ॥२॥]

वैशद्यं स्वलक्षणसाक्षात्करणं **यदि भेदनिश्चयकरम्** अवायं करोतीति चेत् ; दृष्टेद- ५
(र्द)र्शनस्य संबन्धि तद्वैशद्यम् **एकान्ततोऽवश्यं भावतः सर्वस्मात्** सजी [सजातीयाद्विजा-
तीया]याच्च **परतः** अन्यस्याद् वस्तुनः सकाशात् **करोतु** । किम् ? **विपरीतारोपविच्छेदनं**
विपरीतस्य गुणान्तरस्य आरोपवित् समारोपज्ञानं तस्याः छेदनं विनाशः तदविशेषात् । तथा च
आकाङ्क्षावत् सर्वं समारोपव्यवच्छेदकारित्वेनाभिमतमनुमानमनर्थकमिति मन्यते । नायं दोषः,
सर्वत्र दर्शनपाटवादेरभावात्[3] इति परस्य आकूतं कृतोत्तरमिति मत्वा तत्पक्षान्तरमाशङ्क्य ते १०
संकल्प इत्यादि । कल्पनं कल्पः व्यवसायः, समीचीनः कल्पः यथावस्थितभेदनिश्चयः तस्मा-
याहिता व्यवस्थापिता, तेन वा, **वासना** तस्याः **परि[णतिः]** स्वकार्योत्पादनसामर्थ्यपरि-
पाकः सा **चित्रा** शबला दृष्टार्थवैशद्याविशेषेऽपि कंचिदेव अंशे भेदनिश्चयहेतुः सा न सर्वत्र ।
तदुक्तम्[4]—

*"परिव्राट्कांकस्तुना (कामुकशुना) मेकस्यां प्रमदातनौ । १५
क्रमणं (कुणपं) कामिनी भक्ष्या इति सा (तिस्रो) विकल्पनाः ॥"

इति चेत् ; अत्राह—**ईहनम्** इत्यादि । **ईहनम्** ईहा, प्रत्यक्षस्य ततः तत्परिणतेः
चित्रताया सकाशाद् अस्तु प्रत्यक्षम् ईहात्मकं भवतु । एतदुक्तं भवति—न उपादानज्ञानाद्
अन्या वासना, तत्परिणतेः चित्रत्वेन ज्ञानपरिणतिरेव चित्रा इत्युक्तं भवति । न च अवग्रह-
[१०२क] ज्ञानादन्यत् पूर्वम् अवायज्ञानात् प्रतीयते ततः सा अवगृहीतविशेषाकाङ्क्षापरि- २०
णतिस्वभावा अस्तु इति । न च परस्य वासना इति दर्शयन्नाह—**अनन्वय** इत्यादि । अन्व-
यात् निष्क्रान्तधियां सौगतानाम् [**का** न] काचिद् **वासनानां कथा** इति निरूपयिष्यते
*"**कार्यकारणता नास्ति**" [सिद्धिवि० ४।३] इत्यादिना ।

ननु पूर्वपर्यायप्रवृत्तमध्यक्षं नोत्तरपर्याये वृत्तिमत्, नापि उत्तरपर्यायविषयं पूर्वपर्यायवी-
त्वं(क्षण)क्षमम्, अत एव नानुमानमपि[5], तत्कुतोऽवग्रहाद्यात्मकत्वं [6]कस्यचित् प्रतीयते ? न चै- २५
कस्य अनेकात्मकत्वम् विरोधादिति चेत् ; अत्राह—**प्रत्यक्षम्** इत्यादि ।

[प्रत्यक्षं क्षणिकं विचित्रविषयाकारैकसंवेदनम् ,
तत्त्वं चेत् सुखदुःखमोहविविधाकारैकसाधारणः ।
जीवो योगक्षेमभेदभृच्चेत् सन्तानभेदः कुतः ,
चित्तानां क्षणभङ्गिनां सहभुवां सहभूतिसंवेदनात् ॥३॥] ३०

(१) एकत्वादेः । (२) सर्वं क्षणिकं सत्त्वादित्यादिकम् । (३) न विकल्पोत्पत्तिः, अतः समारोपव्य-
वच्छेदाय अनुमानं सफलमिति । (४) नीलादौ, न क्षणिकत्वादौ । (५) उद्धृतोऽयम्—सर्वद० सं० पृ०
३० । (६) वासनापरिपाकस्य । (७) पूर्वोत्तरपर्यायग्राहकम् । (८) आत्मनः ।

विचित्रो नानाप्रकारो **विषयो** नीलादिः, तदाकार इव **आकारो** यस्य **एकस्य** अभिन्न-**संवेदनस्य** तत् तथोक्तम्, यस्यापि यौगस्य निराकारं[1] तं प्रति विचित्रविषयाकारेषु एकसंवेदनम् इति व्याख्येयम्। कथंभूतम्? **क्षणिकम्**। तथा च यौगस्य[2] प्रयोगः[3]—क्षणिका बुद्धिः अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति विभुद्रव्यैर्विशेषगुणत्वात् शब्दवत् इति। पुनरपि कथंभूतम्? इत्याह—**प्रत्यक्षम्** इति। स्वसंवेदनाध्यक्षविषयीकृतं ज्ञानान्तरविषयीकृतं वा भवतु। तत् किम्? इत्याह—**तत्त्वं चेदिति। तत्त्वं** परमार्थसत् **चेद्** यदि। तद् अन्यथा अङ्गीकुर्वतः सौगतस्य न किञ्चित् सिध्येदिति मन्यमान एवं पृच्छति, यौगस्यापि प्रतिविषयं विज्ञानभेदमभ्युपगच्छतः *"सदसद्वर्गः कस्यचिद् एकज्ञानालम्बनम् अनेकत्वात् पञ्चाङ्गुलवत्" इत्यत्र साध्यदृष्टान्तविरोधः इति च। तथेति वदतो दूषणमाह—**सुख** इत्यादि। **सुखदुःखमोहग्रहणम्** उपलक्षणम्, तेन सर्वातीतानागतवर्त्तमानपर्याया गृह्यन्ते, ते च ते **विविधाकाराश्च** तेष्वेकः **साधारणः** तदेकः स चासौ **जीवश्च**। यदि वा, सुखदुःखमोहा विविधाकाराः स्वभावभूता धर्मा यस्य स तथोक्तः, स चासौ एकजीवश्च **न किं तत्त्वम्**? अपि तु तत्त्वमेव। यथैव हि युगपत् संवेदनं चित्रमात्मानं प्रत्यक्षयति, नापि तेन विरुध्यते; तथैव क्रमेण जीवः[4] तथा प्रत्यक्षयति[5] तेन वा न विरुध्यत इति भावः।

ननु सौगतं साकारज्ञानवादिनं प्रति अतत्त्वे तदनिष्टं न यौगं निराकारज्ञानवादिनं प्रति। [6]स हि निराकारेण एकज्ञानेन अनेकमर्थं विषयीकरोतीति चेत्; न; एकेन स्वभावेन तद्विषयीकरणे कुतः अर्थभेदः? [7]इतरथा एकस्वभावात् कारणात् कार्यभेदः स्यात्। न चैवमिति निरूपयिष्यते ईश्वरनिराकारणे।

ननु एकस्मिन् सन्ताने सुखे उत्पद्यमाने अनुभूयमाने वा न दुःखमोहादय उत्पद्यन्ते अनुभूयन्ते वा, विनश्यति,[8] ततो भिन्नयोगक्षेमत्वात् रामार्जुनादिवत्[9] तेषां भेद एव इति सौगतः; एतदेव दर्शयन्नाह—**योग** इत्यादि। **योगः** उत्पादः **क्षेमो**विनाशः संवेदनं वा, तयोः **भेदाऽभेदेनानु (भेदभृत् न तु)** प्रकृते सुखादौ इति **चेत्**; अत्रोत्तरमाह—**सन्तान** इत्यादि। इदमत्र तात्पर्यम्—[१०२ख] एकसन्तानव्यपदेशभाजां भेदे साध्ये सुखादीनां भिन्नयोगक्षेमत्वात्, यत् अन्यद्—भिन्नं चित्रं ज्ञानं तद् विपक्षः, तस्य च हेतुविपर्ययेण [अ]भिन्नयोगक्षेमेन [10]अनवयवेन व्याप्तौ, ततो[11] निवर्तमानो भिन्नयोगक्षेमलक्षणो हेतुः तद्भेदं साधयेत् नान्यथा, हेतुविपर्ययस्यापि साध्यविपर्ययेण व्याप्तौ चित्रमेकं क्षणिकं ज्ञानं प्रसिध्यति अभिन्नयोगक्षेमत्वेन। तथा च सति **सन्तानानां भेदो** नानात्वं **कुतः**? न कुतश्चिन्मानात्। केषाम्? **चित्तानाम्**। कथंभूतानाम्? **क्षणभङ्गिनाम्**। पुनरपि कथंभूतानाम्? **सहभुवाम्** इति। अनेन पदद्वयेन अभिन्नोत्पत्तिविनाशौ तेषां कथितौ। पुनरपि तद्विशेषणमाह—**भूतैः असंवेदना**

(१) ज्ञानम्। (२) नैयायिकस्य। (३) तुलना—"अनित्यः शब्दः गुणत्वे सति अस्मदादीन्द्रियविषयत्वात् बुद्धिवत्।"—न्यायवा० पृ० २९९। (४) विभुद्रव्यमत्र आत्मा। (५) चित्रविचित्ररूपेण। (६) अनेकाकारेण। (७) यौगः। (८) एकस्वभावेन विषयीकरणेऽपि अर्थभेदश्चेत्। (९) सुखे विनश्यति सति वा न दुःखमोहादयो विनश्यन्ति। (१०) सुखदुःखमोहादीनाम्। (११) साकल्येन। (१२) विपक्षभूतात् चित्रज्ञानात्।

[सहभूतिसंवेदनात्] इति । अत्रायमर्थः—**सहभूतेः** कारणात् **सहैव संवेदनात्** । अनेनापि सहोत्पत्ति-संवेदने कथिते ततोऽभिन्नयोगक्षेमत्वात्तेषाम्[1] विवक्षितचित्रैकज्ञानवदेकत्वमिति । एतेन [2]अशक्यविवेचनमपि चिन्तितम् ।

अत्र अपरः प्रतिभासाद्वैतवादी आह—सन्तानाभावात् कस्य केन अभेदः चोद्यते इति चेत् ? [3]तन्निषेधकप्रमाणाऽभावात् । अनुपलब्धिः प्रमाणमिति चेत् ; न; सुखदुःखयोः अन्योऽन्यमप्रवेदनादभावः, अन्यथा अनैकान्तिको हेतुः । सर्वाऽनुपलब्धिरसिद्धा । विचारयिष्यते चैतत् सर्वज्ञसिद्धौ । सतामपि सन्तानानामभिन्नयोगक्षेमत्वादभेदः इति न तैः व्यभिचारः पक्षीकरणादिति केचित ; तदपि न युक्तम् ; [१०३ख] व्यभिचारविषयस्य पक्षीकरणादव्यभिचारे न कश्चिद्धेतुः व्यभिचारी स्यात् । [4]स्वयं च पक्षीकृतैः तर्कादिभिः (तर्वादिभिः) कार्यत्वादेः व्यभिचारमुद्भावयन्[5] तथा निगदतीति यत्किञ्चिदेतत् । ततो यथा चित्रैकप्रतिभासादक्रमेण चित्रमेकं ज्ञानम्, तथा क्रमेणापि[6] इति स्थितं **स्वार्थं** इत्यादि ।

संग्रहवृत्तादर्थमुद्धृत्य विवृण्वन्नाह—

[अक्षधीरवगृह्णात्यभेदेन स्वार्थमादितः ।
विशेषेणेहयाऽवैति धारयत्यन्यथाऽस्मृतेः ॥४॥

प्रत्यक्षं स्वार्थं सामान्येनावगृह्णातु पुनरादातुं विशेषेण तदाकारेण अवैति यथा अवायस्तेन संस्कारमाधत्ते । अभिमतस्वलक्षणानां कथञ्चिदसाधारणत्वेऽपि सदृशात्मनैव प्रतिभासनात् । अक्षबुद्धौ स्वावयवस्वभावं स्थवीयांसमेकमाकारं प्रतिभासमानं पूर्वापरान्वयि परिस्फुटमस्खलद्वृत्ति संपश्यामः । अन्यथा परिस्फुटं नावभासेत । प्रतिसंख्यानेन [अप्रत्याख्येयत्वाच्च] परस्परविलक्षणानां स्वलक्षणानां स्पष्टनिर्भासान्वयैकस्वभावाभावे अक्षज्ञानं सविकल्पं सिद्धम् , अन्यथा पररूपं स्वरूपेण तदेव कथं संवृणुयात् ? यतो बहिः सदृशात्मना स्फुटमवभासेत । अथायं परमार्थसद् (सन्) असाधारणानां कथमेकान्तेन संभवः तत्प्रत्यक्षविरोधात् । यदि कुतश्चित् प्रत्यासत्तेः बहिरिव अन्तःपरमाणवः संचितास्तथा प्रत्यवभासेरन्निति; परस्परमसंप्लवात् सन्तानान्तरवत् स्थूलैकान्वयाकारप्रतीतिर्न स्यात् । तद्विभ्रमे बहिरन्तश्च किञ्चित् कुतश्चिदप्रसिद्धम् इदन्तया नेदन्तया च तत्त्वं व्यवस्थापयतीति सुव्यवस्थितं तत्त्वम् ! नचैतन्मन्तव्यम्—अवगृहीतसामान्यस्य विशेषाकाङ्क्षणं मानसमिति; तदिष्यत एव, तदभावे अक्षज्ञानस्य नियमेन अवगृहीतसदृशाकारस्मृतेरयोगात् । न हि सन्निहितविषयबलोद्भूतं तदाकारस्वभावनियतमसाधारणैकान्तात्मविषयं नियमेन अभिमतसजातीयस्मरणकारणं युक्तम् , समयानभिज्ञस्येव कार्यस्मृति-

(१) सुखादीनाम् । (२) "चित्राभासापि बुद्धिरेकैव बाह्यचित्रविलक्षणत्वात् । शक्यविवेचनं चित्रमनेकमशक्यविवेचनाश्च बुद्धेर्नीलादयः ।"—प्र० वार्तिकाल० ३।२२० । (३) सन्ताननिषेधक । (४) बौद्धः । (५) 'उर्वीपर्वततरुतन्वादिकं बुद्धिमद्धेतुकं कार्यत्वात्' इति ईश्वरानुमाने पक्षीकृतैः तर्वादिभिः व्यभिचार उद्भाव्यते यत्—ते कार्याः न च बुद्धिमद्धेतुकाः । द्रष्टव्यम्—प्र०वा० १।१४—१७ । (६) एको जीवः पूर्वोत्तरपर्यायौ व्याप्नोतीति भावः ।

सामर्थ्यम् । यदि पुनरन्तर्वासनाप्रबोधविचित्रता, तर्हि ततः स्वयमवगृहीतसमानाकारार्थविशेषाकाङ्क्षालक्षणं परिस्फुटं प्रत्यक्षं किमनुमन्यत एव सन्निहितार्थोपयोगात् यतः निर्विकल्पैकान्तसिद्धिः। तद् युक्तं चक्षुरादिज्ञानमपि सत्त्वद्रव्यत्वसंस्थानवर्णादिसामान्यविशेषान् व्यापकव्याप्यस्वभावं प्रतिपद्यमानं स्वयमीहितं व्यापकग्रहणपूर्वकं प्रायः परिच्छिनत्ति । न वै चक्षुरादिज्ञानम् ईहा, अपि तु तत्समनन्तरजन्मना तदर्थानन्तरग्राहिणा मानसप्रत्यक्षेण जनितो विकल्पः । ततः स्मृतिरीहेति चेत् ; किं पुनः मानसप्रत्यक्षविकल्पनया लब्धम् ?]

अक्षधीः इन्द्रियबुद्धिः आदौ **आदितः स्वार्थम्** स्वम् अर्थश्च **अभेदेन** सामान्याकारेण **अवगृह्णाति विशेषेण** विशेषाकारेण **अवैति** निश्चिनोति **'स्वार्थम्'** इति सम्बन्धः । केन कृत्वा ? इत्यत्राह–**विशेषेणेहया [ईहा]** आकाङ्क्षया तया । किं पुनः सा करोति ? **धारयति** स्वार्थसंस्कारमाधत्ते । कुत एतत् ? **अन्यथा** धारणाऽभावप्रकारेण **अस्मृतेः** स्मृतेरभावात् । यदि वा, सामान्याऽवग्रहाभावप्रकारेण अन्यथा [2]स्मृतेरभेदेन स्मृतेरभावप्रसङ्गात् । नहि स्वलक्षणात् भवान् (णानुभवात्) सामान्ये स्मृतिर्युक्त (क्ता) अन्यथा नीलानुभवात् पीते सौ भवेत् । अथ स्यात्–विशेषाग्रहणे कथं सामान्याऽवग्रहः ? [3]व्याप्याप्रतीतौ व्यापकाप्रतिपत्तेरिति ; तन्न ; चित्रैकज्ञाने नीलाकारेण पीताद्याकाराननुकरणेऽपि तद्व्यापकज्ञानमात्रानुकरणवददोषः ।

कारिकां व्याचष्टे **प्रत्यक्षम्** इत्यादिना । **प्रत्यक्षं स्वम् अर्थोंचा (अर्थं च) अवगृह्णातु** । केन प्रकारेण ? **सामान्येन** । किं कुर्वत् पुनः तत् किं करोति ? इत्यत्राह–**पुनः** इत्यादि । **पुनः पश्चाद् विशेषेण तदाकारेण** [१०४क] स्वार्थमादानुग्रैव (दातुमेव) विशेषाकारेणैव **अवैति** निश्चिनोति । पुनरपि किं करोति ? इत्यत्राह–**यथा** इत्यादि । **यथा** येन प्रकारेण **अवायः** स्वार्थयोः **तेन**[4] **संस्कारमाधत्ते** । कुत एतत् सामान्येन अवगृह्णादिति चेत् ? अत्राह–**अभिमत** इत्यादि । **अभिमतानि** बौद्धैः अङ्गीकृतानि **स्वलक्षणानि** निरंशपरमाणुलक्षणानि तेषां **कथञ्चित्** केनापि देशादिभेदप्रकारेण **असाधारणत्वेऽपि** विलक्षणत्वेऽपि **सदृशात्मनैव** नीलादिकसमानस्वभावेन न असाधारणस्वभावेन इति **एव**कारार्थः, **प्रतिभासनात्** प्रकृतमिति । नवै परमाणुविवेकात्तत्प्रतिभासोऽपि अनेकप्रतीतिविरहप्रसङ्गात् । एतत्तु अभ्युपगम्य उक्तं न परमार्थतः इदमस्ति, इत्याह–**'स्वावयवस्वभावम्'** इत्यादि । **स्वावयवान् (वानां न)** द्रव्यान्तरावयवान् (वानाम्) ततो निराकृतमेतत्–*"सर्वस्योभयरूपत्वे"[5] [प्र०वा० ३।१८१] इत्यादि, **स्वभावः** स्वरूपं यस्य स तथोक्तः । अनेन *"द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते" [वैशे० सू० १।१।१०] इत्येकान्तनिरासः, **तमाकारं संपश्यामः** । कथंभूतम् ? **स्थवीयांसम्** इति । एतत्तु विशेषणमपि साधनत्वेन प्रत्येयम्–यतः स्थवीयांसम् ततः स्वावयवस्वभावमिति । न खलु निरव-

(१) यादृशोऽनुभवस्तादृशी स्मृतिरित्यभेदः । (२) स्मृतिः । (३) व्याप्तुं योग्यस्य विशेषस्य अप्रतिपत्तौ । (४) विशेषाकारेण । (५) अनेन धर्मकीर्तिना सर्वद्रव्याणां सर्वात्मकत्वं कल्पयित्वा 'चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति' इति दूषणं दत्तम्, तन्निराकृतम् ।

यव-अवयविकल्पनैकान्ते परमाणुवत् परस्परमवयविनां महत्त्वादिभेदोऽस्ति यतः स्थूलस्थूलतरादिव्यवहारः [1]तत्र घटेत । तदारम्भकावयवबहुत्वाद्यपेक्षः सर्वोऽयं व्यवहार इति चेत् ; अत्राह—**एकम्** इति । **एकं स्थवीयांसम्** । एतदुक्तं भवति—योऽसौ स्थवीयान् आकारः स एकः प्रतीयते, अवयवबहुत्वाद्यपेक्षे तु [2]तद्व्यवहारे तत्र [१०४ख] स इति प्रतीयते न तु स्थवीयान् इति, स्थवीयस्त्वस्यावयवेषूपि (वेष्वपि) परस्यासंभवात् । किं कुर्वन्तम् ? इत्याह—**प्रतिभासमानम्** । क ? **अक्षबुद्धौ** चक्षुरादिज्ञाने। यौगस्य 'अवयव-अवयविभेदैकान्तप्रतिज्ञा प्रत्यक्षबाधिता' इत्यनेन दर्शयति । ५

अत्राह परः[3]—सत्यम् तथाविधमाकारं भवन्तः संपश्यन्ति, तत्तु क्षणिकम् अन्यथा दर्शनाऽशक्तेः, इत्यत्राह—**पूर्वापर** इत्यादि। **पूर्वापरौ परिणामा वन्धेतु (वन्धेतुं)** शीलं प्रतिभासमानम् **अक्षबुद्धौ संपश्यामः** इति । शेषमत्र निरूपयिष्यते । अनेन *"**यद् यथाऽवभासते तत् तथैव परमार्थसद् व्यवहारमवतरति**" [4]इत्यादिप्रयोगे हेतोरसिद्धतां दर्शयति । ननु दूरस्थितविरलकेशादिषु इव [5]तमाकारमेकमसन्तं भवन्तः संपश्यन्ति इति चेत् ; अत्राह—**अस्खलद्वृत्ति** यथा भवति तथा तं पश्यामो बाधकाऽभावादिति मन्यते । नाक्षबुद्धौ किन्तु विकल्पबुद्धौ प्रतिभासमानं संपश्याम इति निगदन्तं प्रत्याह—**परिस्फुटम्** इत्यादि । **अन्यथा** अक्षबुद्धौ प्रतिभासनाभावप्रकारेण **परिस्फुटं** यथा भवति तथा **नावभासेत** । दूषणान्तरमाह—**प्रतिसंख्यानेन** इत्यादि । *"**नचैतद् व्यवसायात्म**" [सिद्धिवि० १।२५] इत्यादिना व्याख्यातमेतत् । एवं प्रतिभासबलेन अक्षज्ञाने सामान्याकारेण स्वार्थप्रतिभासं व्यवस्थापितमपि पादप्रसारिकया अनिच्छन्तं प्रति दूषणान्तरमाह—**स्वलक्षणानाम्** इत्यादि । **स्वलक्षणानां** बहिः निरंशक्षणिक[१०५क]परमाणूनाम् । कथंभूतानाम् ? **परस्परविलक्षणानाम् स्पष्टनिर्भासान्वयैकस्वभावाऽभावे** स्पष्टो निर्भासो यस्य स चासौ अन्वयैकस्वभावश्च तस्य अभावे अङ्गीक्रियमाणे दूषणम् **अक्ष** इत्यादि । अयमत्राभिप्रायः—तत्स्वभावः प्रतिभासमानोऽपि तैमिरिककेशादिवद् यद्य [क्ष]संवित्तेर्विषय इत्यादि ; तत्र उत्तरम्—अथ सन्नपि न बहिः तर्हि गत्यन्तराभावात् ज्ञानस्य स इति **अक्षज्ञानं सविकल्पं** सभेदं **सिद्धम् अन्यथा** सविकल्पकत्वाभावप्रकारेण **पररूपं** बहिःस्वलक्षणरूपं **स्वरूपेण** स्पष्टनिर्भासान्वयैकस्वभावेन **तदेव** अक्षज्ञानमेव **कथं [6]संवृणुयात्** ? नैव । **यतः** संवरणात् **सदृशात्मना** समानस्वभावेन **अवभासेत परिस्फुटं** विशदं यथा भवति **बहिः** तदेवेति । [7]अन्ये तु **'स्पष्टनिर्भासान्वयैकस्वभावे'** इति पठन्ति ; तेषाम् **'कथमन्यथा'** इत्यादि विरोधः । नहि तेन तदेव संव्रियते अन्यथा पटः स्वात्मना संव्रियेत । भवतु तर्हि अक्षज्ञानवद् बहिरपि तत्स्वभावः न्यायबलायातस्य परिहर्तुमशक्यत्वादिति चेत् ; अत्राह—**अथायम्** इत्यादि । **अथायम्** अनन्तरनिर्दिष्ट आकारः **परमार्थेन सद् (सन्)** विद्यमानो अन्तरिव बहिरपि इति भावः । **असाधार-** १० १५ २० २५

---

(१) अवयविनि । (२) स्थूलस्थूलतरादिव्यवहारे । (३) बौद्धः । (४) द्रष्टव्यम्—पृ० २ टि० १० । (५) स्थवीयांसम् । (६) अत्रायं पूर्वपक्षः—"पररूपं स्वरूपेण यथा संव्रियते धिया । एकार्थप्रतिभासिन्या भावानाश्रित्य भेदिनः ॥" (७) 'अन्ये तु' इति पदेन अस्य व्याख्यान्तरं सूचयति टीकाकारः ।

णानां परस्परविलक्षणानां 'स्वलक्षणानाम्' इत्यनुवर्तते । कथम् एकान्तेन अवश्यंभावेन संभवः । कुत एतत् ? इत्यत्राह–तद् इत्यादि । तेषां प्रत्यक्षेण विरोधात् । तर्हि बहिरन्तश्च परमाणव एव अविनिर्भागवृत्त्युत्पत्त्या संचिताः प्रतिभान्ति [१०५ख] तदुक्तम्–

*"तदेतन्नूनमायातं यद्वदन्ति विपश्चितः ।
यथा यथाऽर्थाश्चिन्त्यन्ते विविच्यन्ते तथा तथा ॥" [प्र० वा० २।२०९]

इति चेत्; एतदेव आशङ्क्य दूषयन्नाह–कुतश्चिद् इत्यादि । कुतश्चित् कस्याश्चिद् अविनिर्भागवृत्त्युत्पत्तिलक्षणायाः प्रत्यासत्तेः बहिः परमाणव इव तद्वत् । यदि पुनः अन्तः परमाणवः संचिताः पुञ्जीभूताः तथा स्पष्टनिर्भासान्वयैकस्वभावप्रकारेण प्रत्यवभासेरन् इति परमताशङ्का[२] । तत्र दूषणं परस्परम् इत्यादि । परस्परम् अन्योन्यम् असंप्लवात्, एकस्य ज्ञानपरमाणोः तदन्तरेषु तेषां वा तत्र स्वभावस्य व्यापारस्य वा यः संप्लवो गमनं तस्य अभावात् । अत्र परप्रसिद्धं दृष्टान्तमाह–सन्तानान्तरवत् इति । सन्तानान्तराणामिव तद्वद् इति । एतदुक्तं भवति–यथा [३]तेषां नान्यः(न्य)स्वभावसंकीर्णता नापि विषयीकरणं संप्लवः तथा अन्तःपरमाणूनामिति । ततः किं जातम् ? इत्याह–स्थूलैक इत्यादि । स्थूलैकस्य अद्वयोपलक्षिताकारस्य प्रतीतिः स (सा) स्थूलैकान्वयाकारप्रतीतिः सा न स्यात् । 'सन्तानान्तरवद्' इति निदर्शनं मध्ये करणादनेनापि सम्बन्धनीयम् । ततो यथा त्रैलोक्यसन्तानान्तरगृहीतार्थापेक्षया न तत्प्रतीतिः तथा दार्ष्टान्तिकप्रतीतिरपि न स्यात् । यस्तु अनुपलम्भात्[४] सन्तानान्तराभावात् निदर्शनमसिद्धमिति मन्यते, स कथम् एकज्ञानपरमाणुना वेद्यमानम् अन्यदभ्युपगच्छेत् यतः चित्राद्वैतं भवेत् ।

एतेन सकल[१०६क] विकल्पातीतं तत्त्वं चिन्तितम्; नीलप्रतिभा[सम्] उपलभ्यमानं सुखादिप्रतिभासं सन्तमभ्युपगच्छन् सन्तानान्तरनिषेधं निगदति यत्किञ्चिदेतत् ।

अत्राह परः[५]–अस्तीयं प्रतीतिर्भ्रान्ता इति, तदुक्तं प्र ज्ञा क र गु रु ने न–*"मायामरीचिप्रभृतिप्रतिभासवदसच्चेऽपि अदोषः" [प्र० वार्तिकाल० ३।२११] इति; तत्रोत्तरमाह–तद्विभ्रम इत्यादि । तस्याः तत्प्रतीतेः विभ्रमे अङ्गीक्रियमाणे । क ? बहिरन्तश्च । किं जातम् ? इत्यत्राह–किञ्चित् सुखादिकं नीलादिकं च तत् कुतश्चित् प्रत्यक्षादनुमानाद्वा अप्रसिद्धम् अनिर्णीतम् । केन प्रकारेण ? इदंतया क्षणिकज्ञानानन्यवेद्यविभ्रमसर्वविकल्पातीततया नेदंतया न तद्विपरीतरूपतया चेति तद् इत्थंभूतं तत्त्वं व्यवस्थापयति सौगतः इत्येवं सुव्यवस्थितं तत्त्वम् इत्युपहसनमेतत्, विभ्रमात् कस्यचित् असिद्धे र [ति] प्रसङ्गात् इति मन्यते । ततः 'प्रत्यक्षम्' इत्यादि सुस्थम् ।

इदानीम् ईहाज्ञाने विप्रतिपत्तिं निराकुर्वन्नाह– ननु तस्मिन्[६] सति तत् मानसमन्यद्वेति विचारः प्रवर्तते, धर्मविचारस्य धर्मिसत्तानिबन्धनत्वात् । अतः तत्सत्तैव सध्येति चेत्; नैतदस्ति;

---

(१) "इदं वस्तुबलायातं यद्वदन्ति विपश्चितः । यथा यथार्थाश्चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा ॥" –प्र०वा०। (२) बौद्धमत । (३) सन्तानान्तराणाम् । (४) अनुपलम्भाद्धेतोः सन्तानान्तरस्य अभावं कृत्वा । (५) विज्ञानवादी । (६) ईहाज्ञानस्य विद्यमानत्वे सत्येव ।

तत्सत्त्वस्य स्वसंवेदनाध्यक्षसिद्धत्वात्। सिद्धे हि सामान्ये धर्मिणि तद्विशेषानादातुमीहमानस्य प्रतीतेः, तद्योग्योपायोपादानात्, निरीहस्य तदयोगादिति मन्यते। एवमर्थं चेदमुक्तमत्रैव *"नहि संवित्तः बहुबहुविधप्रभृत्याकृतयः" [सिद्धिवि० १।२७] इत्यादि। न च नैव एतन्मन्तव्यम् अवगृहीतस्य [१०६ख] अवग्रहेण विषयीकृतस्य सामान्यस्य विशेषाकाङ्क्षणं मानसं मनोनिमित्तम्, न इन्द्रियनिमित्तम् इति मानसं तद् इष्यत एव किन्तु तदेव न भवति इति एवकारार्थः। 'तदाकाङ्क्षणं मानसम्' इत्युक्ते अवग्रहज्ञानमपि तत्परिणामि तद् इत्युक्तं भवति, यथा 'मार्दो घटः' इत्युक्ते मृत्पिण्डोऽपि तदुपादानं मार्द इत्युक्तं भवति। यद्यपि चैतत् *"न चैतद्व्यवसाय" [सिद्धिवि० १।२५] इत्यादिना निरस्तं तथापि प्रकारान्तरेण निराकरणार्थमित्यदोषः। कुत कुतत्? इत्यत्राह तदभाव इत्यादि। तस्य अवग्रहपरिणामेहाज्ञानस्य अभावे तदभावे। कस्य? अक्षज्ञानस्य निरंशस्वलक्षणविषये अक्षज्ञाने अभ्युपगम्यमान इत्यर्थः, नियमेन अवश्यंभावेन अवगृहीतः अवग्रहेण विषयीकृतः पूर्वं यः सदृशाकारः अथवा इदानीम् अवगृहीतेन सदृशाकारः पूर्वं दृष्टः तस्य स्मृतेरयोगात् 'न चैतन्मन्तव्यम्' इति। एतदपि कुतः? इत्यत्राह—न हि इत्यादि। 'हिः' इति यस्मादर्थे, यस्मात् न सन्निहितो यो विषयः तस्य बलेन उद्भूतम् उत्पन्नमपि अक्षज्ञानम् [इति] विभक्तिपरिणामेन संबन्धः। पुनरपि कथंभूतम्? इत्यत्राह—तद् इत्यादि। तस्य सन्निहितविषयस्य आकारम् अनुकरोति इत्येवंशीलो यः स्वभावः स्वरूपं तत्र नियतम् स्वप्नेऽपि स्वरूपाद् अन्यन्न पश्यति इत्यर्थः। पुनरपि तद्विशेषणं दर्शयन्नाह—असाधारण इत्यादि। सर्वतो [१०७क] विलक्षणोऽसाधारणः एकः असहायः अन्तः धर्मो यस्य [आत्मनः स्व] भावस्य स विषयो यस्य तत्, कं (किम्?) नियमेन अभिमतसजातीयस्मरणकारणं युक्तं पूर्वेण परः परेण वा पूर्वः क्षणः सजातीय इति स्मरणम् अभिमतसजातीयस्मरणम् तस्य कारणं युक्तम्। नहि असाधारणैकान्तात्मविषयानुभवात् तथाविधं बहिःस्मरणं युक्तं नीलानुभवात् पीतस्मरणवत्। तथा च सामान्यादिव्यवहारः परस्य दुर्घट इति मन्यते। समयेत्यादिना दृष्टान्ते तदेव समर्थयते—अयमुदात्तः अयमन्यः इत्यादिकः सङ्केतः समयः तदनभिज्ञस्य गोपालादेरिव शास्त्रव्याख्याकरणादि-स्वरादिभेदः 'कार्यम्' उच्यते तत्र स्मृतिसामर्थ्यमयुक्तम्। एतदुक्तं भवति—यथा उदात्तादिसमयाग्रहणे न तत्र गोपालादेः स्मृतिः तथा सदृशाकाराऽग्रहणेऽपि न तत्र स्मृतिरिति। एतेन 'अभेदेन अन्यथाऽस्मृतेः—स्मृतेरभावात्' इत्येतद् व्याख्यातम्।

ननु नाक्षज्ञानम् असाधारणैकान्तविषयम् 'तत्स्मृतिकारणम्' इति सम्बन्धः। एतदुक्तं भवति—यथा नीलानुभवाज्जायमाना वासना नीले स्मृतिकारणं न पीते तथा तदक्षज्ञानवासनापि असाधारणविषयस्मृतिकारणं न [४]तत् स्मृतिकारणमिति।

इदमपरं व्याख्यानम्—यत एव अक्षज्ञानमुक्तप्रकारं तत एव न केवलं तत्स्मृतिः, अपि तु वासनापि न भवेत् नोत्पद्येत तत इति न (नाऽ)साधारणैकान्त[१०७ख]विषया अक्ष-

(१) ईहाज्ञानस्य परिणामिकारणभूतम्। (२) मानसम्। (३) भिन्नं बाह्यं वस्तु। (४) अक्षज्ञानम्।

ज्ञानवासना तत्कारणम् अपि तु पूर्वसजातीयस्मृतिवासना । अयं तु विशेषः—तदक्षज्ञानप्रबोधिता सती तत्कारणम्, तत्प्रबोधश्च नीलादावेव न क्षणक्षयादौ इति चेत् ; अत्राह—**यदि पुनः** इत्यादि । अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिकल्पनाहितवासना **अन्तर्वासना** तस्याः **प्रबोधः** दर्शनादुत्तरसजातीयस्मरणजननपरिणतिः तस्य **विचित्रता**-नीलादावेव न क्षणक्षयादौ तत्प्रबोध इति, यदि पुनः 'इष्यते' इत्यध्याहारः; **तर्हि ततः** तद्विचित्रतायाः **प्रत्यक्षं किमाऽनुमन्यते ?** अनुमन्यत एव । कथंभूतम् ? इत्यत्राह—**स्वयम्** आत्मना **अवगृहीतः** विषयीकृतो यः **समानाकारोऽर्थः** तस्य **विशेषा** ये तेषु **आकाङ्क्षणं** तद्ग्रहणाभिमुख्यं **लक्षणं** स्वरूपं यस्य तत् तथोक्तम् । पुनरपि कथंभूतम् ? इत्यत्राह—**परिस्फुटम्** विशदम् । कुतः ? **सन्निहितार्थोपयोगात्** सन्निहितेऽर्थे व्यापारात् । एतदुक्तं भवति—'तत्कल्पना ततः किं स्यात्' इत्यादिना 'प्रत्यक्षं प्रमाणम्' इत्युक्तम्, तदाहितवासनाऽपरसजातीयविकल्प एव तत्प्रबोधविचित्रता कस्यचिदेव विशेषस्य निर्णयाकाङ्क्षा इति । **यतो** यस्माद् अननुमनना (अनुमननात्) **निर्विकल्पैकान्तसिद्धिः** इति । **'यतः'** इति वा आक्षेपे, नैव तत्सिद्धिरिति । **'न चैतन्मन्तव्यम्'** इत्यादिना **'वैशद्यम्'** इत्यादि वृत्तमपि व्याख्यातम् ।

उपसंहारार्थमाह—**तद्** इत्यादि । यत [१०८क] एवं **तत्** तस्मात् **युक्तम्** उपपन्नम् । किं तत् ? इत्याह—**चक्षुरादिज्ञानमपि** न केवलं मानसं **क्रमेण परिच्छिनत्ति** जानाति इति । कान् ? इत्याह—**सत्त्वद्रव्यत्वसंस्थानवर्णादिसामान्यविशेषान्** । यदा पूर्वः पूर्वः सामान्यम् तदा उत्तरे विशेषा इति तद्विशेषान् इत्युच्यते । कथं परिच्छिनत्ति ? इत्याह—**व्यापक** इत्यादि । **[व्यापकेन]** व्याप्यः **स्वभावो** यस्य विशेषस्य स तथोक्तः तं **प्रतिपद्यमानं** निश्चिन्वत् । कथंभूतम् ? **स्वयम्** आत्मनेहितम् । कथमीहितम् ? इत्याह—**व्यापकग्रहणपूर्वकं** यथा भवति । किं सर्वदा एवं परिच्छिनत्ति इति चेत् ? अत्राह—**प्रायः** बाहुल्येन, कदाचित् नैवम् इति प्रतिपादयिष्यते *"**वर्णसंस्थानसामान्यम्**" [सिद्धिवि० २।७] इत्यादिना ।

यत्पुनरत्रोक्तम्—*"**यदि चक्षुरादिज्ञानं स्वयमक्रमरूपं कथं तत्क्रमेण परिच्छिनत्ति विरोधात् ? अथ क्रमरूपं तर्हि स्वक्रममपि [२]परेण परिच्छिनत्ति तमपि परेण स्वक्रमेण इत्यनवस्थितिः ।**" तदेतत् *"**पूर्वपूर्वस्य स्वग्रहणानुबन्धमजहतः एव उत्तरोत्तरं प्रति साधकतमत्वात्**" [सिद्धिवि० २।१५] इत्यत्र विचारयिष्यते अत्रैव प्रस्तावे ।

अत्राह परः[३]—**'नवै चक्षुरादिज्ञानम्'** इत्यादि । **नवै** नैव **चक्षुरादिज्ञानं** चक्षुरादीनां कार्यं यज्ज्ञानम् **तत् ईहा अपितु** किन्तु **तत्समनन्तरजन्मना** तस्मात् चक्षुरादिज्ञानात् समनन्तरात् उपादानात् जन्म यस्य तत् तथोक्तं तेन । केन ? **मानसप्रत्यक्षेण** । कथंभूतेन ? **तदर्थानन्तरग्राहिणा** तस्य चक्षुरादिज्ञानस्य योऽर्थः तस्य अनन्तरः तज्ज्ञान[१०८ख] सहकार्यर्थक्षणः तद्ग्राहिणा । तदुक्तम्—*"**इन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणा जनितं मानसं प्रत्यक्षम् ।**" [न्यायवि० १।९] इति । **जनितो विकल्प**

(१) द्वितीयः श्लोकः । (२) क्रमेण । (३) बौद्धः ।

इहेति (ईहा इति) पद घटना । ततः तस्मात् कारणात् स्मृतिः न प्रत्यक्षम् ईहा इति अनुभवकार्यस्य तद्विषयस्य ज्ञानस्य गत्यन्तराऽभावात् इति भावः, इति एवं चेत् ; अत्र पृच्छति आचार्यः—**किं पुनः मानसप्रत्यक्षविकल्पकल्पनया लब्धम्** ? मानसं प्रत्यक्षमेव विकल्पो भेदः तस्य कल्पनया किं प्राप्तं सौगतेन ? तत्प्रत्यक्षं चक्षुरादिव्यापारकाले अन्यदा वा न प्रतिभाति केवलं कल्पनाशिल्पिकल्पितम् इत्येतत् **कल्पनया** इति । ५

अत्राह शा न्त भ द्रः[1]—*"**तत्कल्पनया बहिरर्थे मानसं स्मरणं लब्धम्, न हि तत् चक्षुरादि ज्ञायुक्तं (दिजं युक्तम्) भिन्नसन्तानत्वात्, अन्यथा देवदत्तानुभूते यज्ञदत्तस्य स्मरणं भवेत्, मानसात् तत्प्रत्यक्षात् तत्स्मरणं न विरुध्यते ।**" एतदाशङ्क्य दूषयन्नाह—**प्रत्यक्षाद्** इत्यादि ।

[प्रत्यक्षान्मानसादृते बहिर्नाक्षधियः स्मृतिः । १०
सत्त्वान्तरवच्चेत्तत् समनन्तरमस्य किम् ॥५॥

मनोऽक्षज्ञानानां सन्ताननानात्वेऽपि यतोऽन्यसत्त्वव्यवस्था परस्परं समनन्तरप्रत्ययता च, तत एवेन्द्रियार्थे मनसः स्मृतिः स्यात् । तदलमन्तर्गडुना बहिर्मानसप्रत्यक्षेण ?]

प्रत्यक्षात् , कथंभूतात् ? **मानसादृते** तदन्तरेण **बहिः स्मृतिर्न**, कुतः सकाशात् ? १५
अक्षधियः चक्षुरादिज्ञानात् । दृष्टान्तमाह—**सत्त्वान्तरवद्** इति । सत्त्वान्तरं सन्तानान्तरं तस्माद (तद्वत) इति । यथा देवदत्तान्न यज्ञदत्ते स्मृतिः तथा प्रकृतधियः **चेद्** यदि मतम् । अत्र दूषणम्—**तत्समनन्तरमस्य किम्** इति । इदमत्र तात्पर्यम्—इन्द्रियमानसप्रत्यक्षयोः अभिन्नः, भिन्नो वा सन्तानः स्यात् ? अभिन्नश्चेत् ; **तत्** मानसं प्रत्यक्षं **समनन्तरम्** उपादानम् **अस्य** [१०९क] स्मृतिकार्यस्य **किम्** ? नैव । एतदुक्तं भवति—यथैव इन्द्रियज्ञानात् सन्ता- २०
नान्तरात् न मानसं स्मरणम्, तथैव तदभिन्नसन्तानान्न मानसप्रत्यक्षादपि इति । यो हि जात्यश्वो न गर्दभात्, सः [2]तत्पुत्रादपि न भवति । भिन्नश्चेत्; **तद्** अक्षज्ञानं **समनन्तरम्** उपादानम् **अस्य** मानसाध्यक्षस्य **किम्** ? नैव, स्मृतिवत् तदपि [3]ततो न भवति ।

यत्पुनरुक्तं प्र ज्ञा क र े ण—*"**न स्मृतिलिङ्गतः [4]तदध्यक्षस्य व्यवस्था किम् (किन्तु) प्रतीतितः, निश्चयात्मकात् नीलादिप्रतीतेः तदध्यक्षरूपत्वात् ।**" इति[5]; तदप्येतेन निरस्तम् ; २५

---

(१) "शान्तभद्रस्त्वाह—यद्यपि प्रत्यक्षतः तस्माद् भेदो न लक्ष्यते कार्यतो लक्ष्यत एव । कार्यं हि नीलादिविकल्परूपं स्मरणापरव्यपदेशं न कारणमन्तरेण कादाचित्कत्वात् । न चाक्षज्ञानमेव तस्य कारणं सन्तानभेदात् प्रसिद्धसन्तानान्तरतज्ज्ञानवत् । ततोऽन्यदेवाक्षज्ञानात्तत्कारणं तदेव च मानसं प्रत्यक्षमिति ।" —न्यायवि० वि०प्र० पृ० ५२६ । "इह शान्तभद्रेण सौत्रान्तिकानां मतं दर्शयता पूर्वं चक्षू रूपे चक्षुर्विज्ञानं ततस्तेनेन्द्रियविज्ञानेन सहजक्षणसहकारिणा तृतीयस्मिन् क्षणे मानसमध्यक्षं जन्यते इति व्याख्यातम्···इह पूर्वैः चक्षुरादिविज्ञानेनानुभूतत्वाच्च विकल्पाभाव इति चाशङ्क्याभिहितम्—देवदत्तेनापि दृष्टे यज्ञदत्तस्यापि विकल्पप्रसङ्गः···"—न्यायवि० भ० पृ० ६१-६२ । (२) गर्दभपुत्रादपि । (३) इन्द्रियाध्यक्षात् । (४) मानसप्रत्यक्षस्य । (५) "इदमित्यादि यज्ज्ञानमभ्यासाद् पुरतः स्थिते । साक्षात्करणतस्तत्तु प्रत्यक्षं मानसं मतम् ॥"—प्र० वार्तिकाल० पृ० ३०५ ।

इन्द्रियज्ञानस्य तदुपादानस्य तद्वत् निर्णयात्मकत्वे तत एव सकलार्थसिद्धेः, तस्यैव प्रतीतेः **तदिन्द्रियज्ञानं समनन्तरमस्य किम्** ? अनिर्णयात्मकत्वे **तदनिर्णयात्मकम् इन्द्रियज्ञानं समनन्तरम् अस्य** निर्णयात्मनो मानसाध्यक्षस्य **किम्** ? अक्षार्थयोगादेव तसंभवादात् (तत्संभवात् । *"**अभेदात्**) **सदृशस्मृत्याम्**" [सिद्धिवि० १।६] इत्यादौ चर्चितमेतत् ।

५ किंच, यदि [2]तत् क्षणिकनिरंशपरमाणुविषयं न तत्र प्रमाणान्तरवृत्तिः, निर्णीते समारोपाऽभावात् । *"**निश्चयारोपमनसोर्बाध्यबाधकभावतः**" [प्र० वा० १।५०] इति वचनात् । यदि च तत् मध्यक्षणस्य पूर्वापरक्षणापेक्षं कार्यकारणत्वमात्मभूतं न निश्चिनोति; सर्वाऽग्रहणम्, अन्यथा गृहीतेतररूपमेकं स्यात् । निश्चिनोति पूर्वापरयोरग्रहणेऽपि इति चेत् ; तर्हि—आकुलभाषितमेतत्—

१० *"**द्विष्ठसम्बन्धसंवित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात् ।**

द्वयस्वरूपग्रहणे सति सम्बन्धवेदनम् ॥" [प्र० वार्तिकाल० १।२] इति । तथा *"**पूर्वापरावस्थानिर्णयेऽपि स्वयमवस्थात्**[3] (त्र)**निर्णयाद्वा(द्व्या)प्याप्रतिपत्तिः**" इति च । अथ [4]तद्ग्रहणे ; तर्हि तयोरपि कार्यकारणभावनिर्णयः अपरतद्ग्रहणे, इति पूर्वापरकोट्योस्मा(रना)द्यन्तयोर्विषयीकरणमवश्यंभावि, तथा तस्य परतः सर्वस्माद् विवेकनिश्चये १५ सर्वं वक्तव्यम् ।

ततो यदुक्तं परेण[5]—*"**मध्यक्षणदर्शनेना(नेनाऽना)गतक्षणदर्शने [6]तद्वत्तत्त्वात् सर्वाऽतीतानागतक्षणदर्शनम्**" इति ; तन्निरस्तम् ; अन्यत्रापि समानत्वात् । अथ क्वचित् कार्यकारणभाव एव नेष्यते ; नैवम् ; इन्द्रियज्ञानाऽभावात् [7]तत्प्रभवं मानसाध्यक्षं न स्यात् । व्यवहारेण तदस्तित्वे तत्रैव तदवस्थो दोषः । शेषमत्र प्र मा ण सं प्र ह भा ष्या त् प्रत्येयम् ।

२० *व्यतिरेकमुखेन कारिकां विवृण्वन्नाह*—**मनोऽक्ष** इत्यादि । **मनोऽक्षज्ञानानां** मानसेन्द्रियप्रत्यक्षाणां **सन्ताननानात्वेऽपि** न केवलं तदनानात्वे **यतो** यस्याः **प्रत्यासत्तेः अनन्यसत्त्वव्यवस्था** एकप्राणिव्यवस्था **परस्परम्** अन्योन्यं मनोऽक्षसंविदां **समनन्तरप्रत्ययता च** उपादानकारणता च । ननु अक्षसंविद एव मनःसंविदां समनन्तरकारणं न पुनः [10]एताः तासाम् ; तत्कथमुच्यते—**'परस्परम्'** इत्यादि इति चेत् ; नैवं शक्यं वक्तुम् , यथैव हि पावकादेव धूमो न तस्मा२५ त् पावको जायमानः प्रतीयते इति पावक एव [धूमस्य कारणं न] धूमः [११०क] पावकस्य इति निश्चयः, तथैव यदि इन्द्रियज्ञानादेव मानसं प्रत्यक्षं न तस्मादिन्द्रियज्ञानं जायमानं प्रतीयते युक्तमेतत्— इन्द्रियज्ञानमेव [11]तत्कारणं न [12]तत्तस्येति । यावता कल्पनया इन्द्रियज्ञानं तत्कारणं [13]तयैव च [14]तदपि कस्यचिदिन्द्रियज्ञानस्य कारणमस्तु, [15]तस्याः सर्वत्र निरङ्कुशत्वात् ।

---

(१) नीलादिप्रतीतिवत् । (२) अक्षज्ञानम् । (३) स्वस्वरूपात्मकम् । (४) अवस्थातुरनिर्णयात् । (५) पूर्वापरयोः ग्रहणे । (६) तुलना—"यदि कालकलाव्यापिवस्तुग्रहणमक्षतः । सर्वकालकलालम्बे ग्रहः स्यान्मरणावधेः ॥"—प्र० वार्तिकाल० पृ० ५९२ । (७) मध्यक्षणवत् वर्तमानत्वात् । (८) इन्द्रियज्ञानस्य इन्द्रियेभ्यः अनुत्पादात् । (९) इन्द्रियज्ञानजन्यम् । (१०) मनःसंविदः । (११) मानसज्ञानकारणम् । (१२) मानसम् । (१३) कल्पनयैव । (१४) मानसमपि । (१५) कल्पनायाः ।

ततो यथा इन्द्रियज्ञानजनितं ज्ञानं मानसं प्रत्यक्षं तथा तज्जनितं प्रत्यक्षान्तरं स्यादित्यभिप्रायः । तत एव तस्या एव प्रत्यासत्तेः **इन्द्रियार्थे** चक्षुरादिविषये **मनसः** मनोऽध्यक्षात् **स्मृतिः** ईहा स्यात् भवेत् नान्यतः कारणादिति भावः । ततः किं जैनेन प्राप्तम् ? इत्याह–**तद्** इत्यादि । **तत्** तस्माद् उक्तन्यायाद् **अलं** पर्याप्तं **बहिर्मानसप्रत्यक्षेण** कल्पितेन । कथंभूतेन ? **अन्तर्गडुना** स्मृत्यक्षज्ञानयोः [1]घाटाललाटयोरिव अन्तराल(ले)गडुलव[द्] वर्तमानेन अकिञ्चित्करेण ? इन्द्रियज्ञानादेव प्रकृतार्थसिद्धेरिति भावः । ५

एतदेव दर्शयन्नाह–**विकल्प** इत्यादि ।

[विकल्पवासनास्पष्टप्रबोधोऽक्षार्थसन्निधेः ।
व्यापकव्याप्यसामान्यविशेषार्थात्मगोचरः ॥६॥

वितर्कानुगततद्व्यापकसामान्यग्रहणपूर्वकं व्याप्यविशेषावायज्ञानं मनोऽक्षविकल्पानां समानम् । तत्र इन्द्रियार्थसन्निकर्षः समयनियमेन अन्तर्वासनाप्रबोधं यथार्हं स्पष्टयतीति तेषां तत्समानम् । ततस्तेषामर्थप्रतिभासः अनुपलक्षणेऽपि भिद्येत न पुनरीहा निराक्रियेत लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धस्मृतिवितर्कवत् तदन्यथानुपपत्तेः अतर्कस्मृतेः व्याप्तिः न सिध्येत् अप्रतिपत्तेः ।] १०

अवग्रहादीनाम् उत्तरोत्तरं ज्ञानं **विकल्पः** तेन आहिता **वासना** तद्वासना तस्याः **स्पष्टो** १५ किन्वाद (विशदः) **प्रबोधः** उन्मीलनम् । स कुतः ? इत्याह–**अक्षार्थसन्निधेः** इन्द्रियार्थसंप्रयोगात् न मानसप्रत्यक्षादेरिति मन्यते । कथंभूतः ? इत्यत्राह–**व्यापक** इत्यादि । **व्यापकं** च **व्याप्यश्च** तौ च तौ **सामान्य** [११०ख] **विशेषौ** च व्यापकं सामान्यम् व्याप्यो विशेषः तत्स्वभावौ **अर्थात्मानौ गोचरौ** यस्य स तथोक्तः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**'वितर्क'** इत्यादि । वितर्कणं [**वितर्कः**] विशेषाकाङ्क्षणवितर्कपरि- २० णामम् **अनु** पश्चाद् **गतम्** तच्च **तद् व्यापकसामान्यग्रहणं** च तत् पूर्वं कारणं परम्परया यस्य तत्तथोक्तम् [किं त] दित्याह–**व्याप्यविशेषावायज्ञानम्** । तत्कथंभूतम् ? इत्यत्राह–**मनोऽक्षविकल्पानां समानम्** इति । **मनोविकल्पानाम् अक्षविकल्पानाम्** इन्द्रियज्ञानानां **समानं** सदृशमिति ।

ननु प्रत्यक्षप्रस्तावे किमर्थमप्रस्तुतानां मनोविकल्पानामुपादानमिति चेत् ? दृष्टान्तार्थम् । यथा मनोविकल्पानां वितर्कोऽनुगतव्यापकसामान्यग्रहणपूर्वं व्याप्यविशेषावायज्ञानं तथा अक्षविक- २५ ल्पानामिति । न चासिद्धो दृष्टान्तः; पूर्वं मनसा सामान्यव्यवसायः, तदनन्तरं तद्विशेषाकाङ्क्षणम्, अतश्च 'पुरुषः स्थाणुः' इति वा विशेषावायज्ञानम्, सौगतस्यापि प्रसिद्धमेतदिति । ननु यदि नाम मनोविकल्पानां वितर्कानुगतव्यापकसामान्यग्रहणपूर्वं व्याप्यविशेषावायज्ञानं किमायातं येन अक्षविकल्पानां तत् स्यात् ? न हि एकस्य धर्मो नियमेन अन्यस्यापि, अन्यथा [2]ऐकैस्य कटु-

---

(१) मानसाध्यक्षजनितम् । (२) "घाटामस्तकान्तराळवर्तिमांसपिण्डापरनाम गडुरिव गडुः निष्फलत्वात् ।"–हेतु० टीकाको० पृ० २९५ । प्र० वा० स्व० टी० पृ० २१७ । (३) धत्तूरकस्य ।

किमा गुडस्य स्यादिति चेत्; अत्राह–तत्र इत्यादि । तत्र दृष्टान्तेतररूपे तद्विकल्पानां सहनिर्देशः [१११क] इन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षः योग्यदेशादिसन्निधिः समयस्य अवग्रहादिकालस्य नियमेन अव्यभिचारेण अन्तर्वासनाप्रबोधम् अन्तर्वासना मनोविकल्पवासना तस्याः प्रबोधम् उन्मीलनं स्पष्टयति विशदं करोति इति हेतोः तेषां तत्समानम् इति । एतदुक्तं भवति–मनो-
५ विकल्पा एव न तत्सन्निकर्षात् स्पष्टीभवन्ति ततः दृष्टान्तेतरभावो न विरुध्यते इति ।

ननु मानसा विकल्पाः स्पष्टाकारविधुराः, तत् कुतः स्पष्टीभवन्ति इति चेत् ? अत्राह–यथार्हम् इत्यादि । यथार्हम् यथायोग्यं सामग्रीभेदं प्राप्य स्पष्टयति इति । उपसंहरन्नाह–ततः तस्मात् अर्थप्रतिभासा (सः) तेषां विकल्पानां स्पष्टेतररूपतया भिद्येत न पुनः ईहा निराक्रियेत अनुपलक्षणेऽपि न केवलम् उपलक्षणे च । निदर्शनमाह–'लिङ्ग' इत्यादि । लिङ्गलिङ्गिनोः
१० सम्बन्धः अविनाभावः तस्य या स्मृतिः तद्रूपो यो वितर्कः तस्येव तदनुपलक्षणम् । एतदुक्तं भवति–यथा गृहीतव्याप्तिकस्य पुंसो धूमदर्शनानन्तरं धूमकेतुप्रतिपत्तौ अन्तराले विद्यमानस्यापि सम्बन्धवितर्कस्य अनुपलक्षणम्, तथा ईहायामपि इति । तथा च विपक्षेऽपि 'अनुपलक्ष्यमाणत्वात्' इत्यस्य साधनस्य सद्भावात् ईहा ततो न निराक्रियेत इति भावः इति [२]केचिदाचक्षते । तेषां धूमदर्शना[न]न्तरं पावकप्रतिपत्तौ अनुपलक्षितसम्बन्धस्मृतिसद्भावे [3]भूणेऽपि [१११ख]
१५ [य]दकस्माद् धूमदर्शनाद् अग्निरत्र इति ज्ञानं तदे वे नँ बौद्धं प्रति *"प्रमाणान्तरम्" इत्युक्तं कथन्न विरुध्येत ? यदा अनुपलक्ष्यमाणात् (णत्वात्) तत्स्मृतिं नेच्छति तदा तदुक्तं नान्यदेति चेत्; तदापि परप्रसिद्धस्य प्रकृतहेतुव्यभिचारविषयस्य अभावात् परस्य तत् प्रमाणान्तरं स्यात्, भवेत् (भवतः) पुनः ईहा हीयते इति समानाऽनिष्टापत्तिः । तस्मादन्यथा व्याख्यायते–लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धस्मृतिः परप्रसिद्ध्या ऊह एव उच्यते, तस्या वितर्कः विशेषाकाङ्क्षा तेन तुल्यं वर्त्तत
२० इति तद्वत् । एतदुक्तं भवति–यथा मीमांसकेन लिङ्गिलिङ्गिसामान्यसम्बन्धस्मृतिमिच्छता अनुपलक्ष्यमाणेऽपि तद्वितर्कना (तर्को न) सौगतेन निषिध्यते अपि तु इष्यते [एव] तथा प्रकृता ईहाऽपि इति । कुत इति चेत् ? अत्राह–तद् इत्यादि । तस्याः तत्सम्बन्धस्मृतेः अन्यथा तद्वितर्काभावप्रकारेण अनुपपत्तेः । एतदपि कुतः ? इत्यत्राह–अतर्कित इत्यादि । न विद्यते तर्कितं विशेषाकाङ्क्षणं यस्याः सा चासौ स्मृतिश्च तस्याः सकाशात् व्याप्तिः अनवयवेन लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धो
२५ न सिध्येत् । कुत इति चेत् ? अत्राह–अप्रतिपत्तेः । अतर्कस्मृतेः व्याप्तेः अप्रतिग्रहणात् । नहि धूमस्य सामा(धूमसामा)न्यस्य अग्निसामान्येन व्याप्तिग्रहणे सा गृहीता नाम । लिङ्गलिङ्गिसामान्यस्यैव प्रतीतितो विशेषे अप्रवृत्तिप्रसङ्गादिति निरूपयिष्यते । एतत् 'वितर्कानुगत' इत्यादावपि [११२क] निदर्शनं द्रष्टव्यम् ।

ननु व्याप्याऽप्रतिपत्तौ न व्यापकप्रतिपत्तिरिति कथमुच्यते–'वितर्कानुगत' इत्यादि ।
३० अथ व्याप्यप्रतिपत्तौ व्यापकप्रतिपत्तिः; तर्हि व्यापकसामान्यवत् व्याप्यविशेषस्यापि अवग्रहेणावग्रहणात् किम् ईहादिना ? संशयाद्यभावः तस्मात् इति चेत्; अत्राह–वर्ण इत्यादि ।

---

(१) अग्नि । (२) व्याख्याकाराः । (३) गर्भस्थेऽपि । (४) भट्टाकलङ्कदेवेन । (५) ईहादेः ।

[वर्णसंस्थानादिसामान्यं दूरस्थस्यावगृह्यते ।
तद्विशेषेहयाऽवायो तदभावेऽपि जातुचित् ॥७॥

यथैव हि व्यक्तिव्यतिरेकसामान्यदर्शिनस्तदनुपलक्षणमयुक्तं तद्दर्शनबलाद् भिन्नेषु द्रव्यादिषु अभिन्नप्रत्ययोत्पत्तेः, तथैव स्वलक्षणदर्शिनस्तदनुपलक्षणं तद्दर्शनबलात्तदन्यव्यवच्छेदविकल्पोत्पत्तेः । तदनुभवेहितव्यपोहमात्मसात्कुर्वन् कथमनुपलक्षको नाम ? स्वलक्षणदर्शिनः स्वलक्षणोपलक्षणविकल्पमन्तरेणापि तदन्यापोहकल्पनायां जातिदर्शिनोऽपि तदुपलक्षणविकल्पमन्तरेणापि कुतश्चित् भिन्नेषु समवायिषु प्रत्ययः कथं विरुध्येत ? कारणशक्तेरचिन्त्यत्वात् इतरत्रापि एतदेवोत्तरं विशेषाभावात् ।]

वर्णश्च शुक्लादिः **संस्थानं** च ऊर्ध्वादिः **आदि**शब्देन कर्मादिपरिग्रहः, तेषां **सामान्यं** सदृशः परिणामः **दूरस्थस्य** भावस्य **अवगृह्यते** अवग्रहेण विषयीक्रियते । तथाहि–दूरस्थवलाकादिविशेषणशुक्लरूपाग्रहणेऽपि तद्रूपसामान्यग्रहणम् पुरुषादिविशेषण-ऊर्ध्वाद्यदर्शनं दूरे, तथा कर्मण्यपि योज्यम् । तन्न युक्तम्–'व्याप्याप्रतीतौ व्यापकाप्रतीतिः' इति । कथं तदवगृह्यते ? इत्याह–**तद्विशेषेहया** इति । तस्य सामान्यस्य विशेषाः तेषु ईहा आकाङ्क्षा तया सह । तर्हि तदीहातो नियमेन विशेषावायभावात् संशयाद्यभाव इति चेत् ; अत्राह–**अवाय** इत्यादि । अवाय एव तस्या (तस्य) वा कारणभूता शक्तिः **तस्याः अभावेऽपि** न केवलं भावे **जातुचित्** कदाचित् न सर्वदा ।

ननु दूरस्थस्य न तत्सामान्यमवगृह्यते किन्तु स्वलक्षणमेव, केवलम् अतद्धेतुफलव्यपोहसामान्यनिश्चयोत्पत्तेः तत्सामान्यमवगृह्यत इति व्यवहारी मन्यते इति परैः, तन्निराकरणद्वारेण कारिकार्थं समर्थयमान आह–[११२ख] यथैव हि इत्यादि । **यथैव हि** येनैव हि प्रकारेण **व्यक्तिभ्यो व्यतिरेको** भेदो यस्य तच्च **तत्सामान्यं च** तद्द्रष्टुं शीलस्य वैशेषिकादेः **तद्दर्शिनः तस्य** सामान्यस्य **अनुपलक्षणम्** अनिश्चयनम् **अयुक्तम्** अनुपपन्नम्, किन्तु उपलक्षणमेव युक्तम् । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**तद्दर्शन** इत्यादि । तस्य सामान्यस्य दर्शनं तस्य **बलं** सामर्थ्यं तस्मात् **भिन्नेषु** देशादिभेदवत्सु । केषु ? इत्यत्राह–**द्रव्यादिषु** । द्रव्यमादिः येषां गुणादीनां ते तथोक्ताः तेषु, **अभिन्नः प्रत्ययग्रहणमुपलक्षणं** तेन अभिधानोत्पत्तिः इत्यपि गृह्यते । एतदुक्तं भवति–विशेषाः (ष्याः) द्रव्यादयः विशेषणं सत्तादिसामान्यम्, न च तदनुपलक्षितं तेषु विशिष्टप्रत्ययहेतुः इतरथा दण्डानुपलक्षणेऽपि कचिद् 'दण्डी' इति प्रत्ययः स्यात् । न चैवम्, *"नाऽगृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः" इति वचनात् इति, **तथैव** तेनैव प्रकारेण **स्वलक्षणदर्शिनः** स्वलक्षणं पश्यति इत्येवंशीलस्य सौगतस्य **तदनुपलक्षणम्** स्वलक्षणानुपलक्षणम् **'अयुक्तम्'** इति सम्बन्धः । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**तद्दर्शन** इत्यादि । **तस्य** स्वलक्षणस्य यत् **दर्शनं तद्बलात् तदन्यव्यवच्छेदविकल्पोत्पत्तेः** तस्य विवक्षितखण्डादिस्वलक्षणस्य अन्ये विजातीयाः कर्कादयः तेषां तेभ्यो वा

(१) अतत्कारणकार्यव्यावृत्तिरूपस्य सामान्यस्य निश्चयः संजायते । (२) बौद्धः । (३) सत्तासामान्यं विशेषणम् ।

व्यवच्छेदो व्यावृत्तिः तस्य विकल्पो निश्चयः तस्य उत्पत्तेः । ननु यदि नाम [1]तद्बलात् तद्विकल्पोत्पत्तिः [११३क] तथापि न स्वलक्षणोपलक्षणं नियमाभावादिति चेत् ; अत्राह—**तद्** इत्यादि । **तस्य** स्वलक्षणस्य **अनुभवो** दर्शनम् **तेन ईहित** आकाङ्क्षितो यो **व्यपोहो** विजातीयव्यावृत्तिः, अथवा व्यपोहविषयत्वाद् विकल्पो व्यपोहः, तम् **आत्मसात्कुर्वन्** सौगतः **कथम् अनुपलक्षको नाम** अनिश्चायको नाम किन्तु उपलक्षक एव । न खलु देवदत्तस्यानुपलक्षणे तस्य यज्ञदत्ताद् व्यपोहः सिद्धः शक्यः प्रत्येतुम्, तत्प्रतीतौ न तदुपलक्षणम् । अत्रायमभिप्रायः—यदाऽयं सौगतः अनुभूतस्वलक्षणस्य उपलक्षको भवति तदा दूरस्थस्य वर्णसंस्था[ना]दिसामान्यस्य विकल्पतोऽपि ग्रहणाभावात् तद्ग्रहणनिबन्धनः किमियं बलाका अहोस्वित् पताका, बलाकायां पताकाकैरेति (ताकैवेति), तथा 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा, पुरुषे स्थाणुरेव' इति संशयः विपर्ययो वा न भवेत् । न चैवम्, ततो दूरस्थस्य [2]तत्सामान्यं प्रथममवगृह्यते इति ।

अधुना परपक्षान्तरमाशङ्क्य दूषयन्नाह—**स्वलक्षण** इत्यादि । **स्वलक्षणदर्शिनः** तथागतस्य **स्वलक्षणस्य उपलक्षणं** निश्चयनं येन यस्मिन् वा स तथोक्तः स चासौ **विकल्पः तमन्तरेणापि तस्य** विवक्षितस्वलक्षणस्य **अन्यो** विजातीयः तस्य **अपोहो** व्यावृत्तिः [3]तद्विषयो विकल्पः तथा[4] उच्यते तस्य **कल्पनायां** क्रियमाणायां **जातिदर्शिनोऽपि** [११३ख] वैशेषिकादेः **तदुपलक्षणविकल्पमन्तरेणापि** सामान्योपलक्षणनिश्चयमन्तरेणापि **कुतश्चित्** कस्याश्चिद् योग्यतायाः **समवायिषु** गोत्वादिसामान्यसम्बन्धवत्सु नान्येषु, कथम्भूतेषु ? **भिन्ने[षु] प्रत्ययः कथं विरुध्येत** । कथमनुपलक्षितं सामान्यं तत्प्रत्ययहेतुरिति चेत् ? अत्राह—**कारण** इत्यादि । तत्प्रत्ययस्य **कारणं** सामान्यं **तच्छक्तेः अचिन्त्यत्वात्** । ननु दृष्टे वस्तुनि चोद्ये **'कारणशक्तेरचिन्त्यत्वात्'** इत्येतदुत्तरं नान्यत्र अतिप्रसङ्गात् । तदुक्तम्—

*"यत्किञ्चिदात्माभिमतं दिवाय (विधाय)" [प्र० वार्तिकाल० पृ० ३५] इत्यादि[5] ।

न च सामान्यं क्वचिद् दृष्टमिति चेत् ; अत्राह—**इतरत्रापि** इति । न केवलं जातिवादिपक्षे अपि तु **इतरत्रापि** स्वलक्षणवादिपक्षेऽपि **'कारणशक्तेरचिन्त्यत्वात्'** इत्येतदेवोत्तरमिति मन्यते । अथ मतं स्वसामान्यलक्षणयोः दर्शनादर्शनकृतविशेषसद्भावात् कथमविशेषचोदनमिति चेत् ? अत्राह—**विशेषाऽभावात्** इति ? जातिवत् स्वलक्षणस्यापि दर्शनाऽभावात्, भवतो द्वयोरपि सत्त्वमसत्त्वं वा इति मन्यते । तन्न दर्शनजन्मना विकल्पेनैव सामान्यं गृह्यत इति युक्तम् ।

भवतु वा, तथापि स्वमतसिद्धिं दर्शयन्नाह— **असतः** इत्यादि ।

[असतः सद् व्यवच्छिन्द्यात् यथाऽनक्षविकल्पधीः ।
तथा स्पष्टाक्षधीः स्वार्थसन्निधेरनुमन्यताम् ॥८॥

दूरस्थस्य अर्थदर्शनं यदि असतः स्वविषयमपोहन्तीं किमप्यस्तीति विकल्पबुद्धिं जनयेत् तथा दूरस्थदृष्टिरपि पुनः अशेषवस्तुस्वभावानुपलम्भेऽपि सन्मात्रग्राहिणी संभा-

(१) दर्शनबलात् । (२) वर्णसंस्थानादिसामान्यम् । (३) अपोहविषयः । (४) 'अपोह' इत्युच्यते । (५)"निरुत्तरः तत्र कृतः परेण । वस्तुस्वभावैरिह वाच्यमित्थं तथोत्तरे स्याद् विजयी समस्तः॥"—इति श्लोकः ।

व्येत । न वै केवलमासन्नार्थदर्शी समविषमाकारदर्शनविशेषानेव नोपलक्षयति, [किं तर्हि] सत्तादिविकल्पविशेषानपि क्रमस्योपलक्षयितुमशक्तेः । *"पश्यन्नयमसाधारणमेव पश्यति" इति प्रतिज्ञाय कोशपानं विधेयम् । उपहतेन्द्रियैः चन्द्रादेर्दर्शनेऽपि तद्विशेषानुपलम्भेः । तत्र चन्द्राद्यदर्शनं कल्पयन् न केवलं रूपादिस्वलक्षणान्येव दृष्टे तत्प्रतिभासवैकल्यान्नोपलभते अपि तु स्वयमन्तःस्वलक्षणं च यथाश्रुतमप्रतिभासानात् । स्वभावनैरात्म्यकल्पनामाविशन् आत्मानमहीकयति । साध्य [अप्रसिद्धेः] । ततो बहिरन्तश्च कृतम् ! तस्मादयं किञ्चित् केनचित् सदृशपरिणामविशिष्टं पश्येत् , तद्विशिष्टं प्रतीहमानो नावश्यं विशेषमवैति स्मरन्निव ।]

असन्त (असतः) इत्युपलक्षणम् । तेन सर्वस्माद् अनभिमताद् इति गृह्यते, **सद्** इति उपलक्षणम् सर्वस्याऽभिमतस्य । **सद्विधा य (सद् व्यवच्छिन्द्यात् व्य)**वच्छिन्नं विषयीकुर्यात् । **यथा** येन योग्यताप्रकारेण [११४क] **अनक्षविकल्पधीः** मानसी विकल्पबुद्धिरिति । अनक्षविशेषणं स्वमतापेक्षया न सौगतापेक्षया, [1]तस्य हि सर्वा विकल्पधीः [2]अनक्षैव इति तद्विशेषणमनर्थकम् , **तथा** तेन प्रकारेण **स्पष्टाक्षधीः** प्रत्यक्षबुद्धिः **असतः सद् व्यवच्छिन्द्यात्** इति सम्बन्धः । कुतः ? इत्यत्राह–**स्वार्थसन्निधेः** । स्वग्रहणयोग्योऽर्थः स्वार्थः तस्य सन्निधेः योग्यदेशाद्यवस्थितेः । इति शब्दोऽत्र द्रष्टव्यः, इत्येवम् **अनुमन्यताम्** अभ्युपगम्यताम् ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–'दूर' इत्यादि । दूरस्थस्य पुरुषस्य यदर्थदर्शनं कर्तृ यदि विकल्पबुद्धिं जनयेत् । किं कुर्वाणाम् ? **अपोहन्तीम्** । किम् ? इत्याह–**स्वविषयम्** । कुतः ? **असतः** *खरविषाणादेः केवलात् नान्यतो न सतो व्यपोहन्ती [म्]* । केन प्रकारेण ? इत्यत्राह–**किमपि अस्ति इति** एवं **तथा** तेन प्रकारेण **दूरस्थदृष्टिरपि** न केवलम् अनक्षविकल्पधीः **संभाव्येत** । कथंभूता ? **सन्मात्रग्राहिणी** । **पुनः** इति वितर्के । कस्मिन् सति ? इत्यत्राह–**अशेषवस्तुस्वभावाऽनुपलम्भेऽपि** न केवलं तदुपलम्भे । अथ मतम्–अनर्थविषयत्वाद् अनक्षविकल्पधीः तथा युक्ता नेन्द्रियबुद्धिः [3]विपर्ययादिति चेत् ; न; तस्या अपि वस्तुविषयत्वस्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् । वक्ष्यति च–*"**सम्यग्विचारिता वाक्यविकल्पास्तत्त्वगोचराः** ।" [सिद्धिवि० ५।४] इति । ततः स्थितम्–'**वर्णसंस्थानादिसामान्यम्**' [4]इत्यादि ।

ननु दूरार्थदर्शने [११४ख] अवग्रहाद्यभावो मा भूत् तदुपलक्षणात्, आसन्नार्थदर्शने तत् स्याद् विपर्ययादिति चेत् ; अत्राह–**नवै केवलम्** इत्यादि । **वै** शब्दः शिरःकंप्य(कम्पे), **न केवलमासन्नमर्थं पश्यति** इत्येवं शी [लः] **समश्च विषमश्च** तौ च तौ **आकारौ** च सदृशेतरपरिणामाकारौ तयोर्दर्शनम् ग्रहणं तस्य **विशेषा** अवग्रहादयः **तानेव नोपलक्षयति, किं तर्हि ? सत्तादिविकल्पविशेषानपि** सत्ता आदिर्येषां शब्दत्वादीनां तेषां विकल्पा व्यवसायाः

(१) सौगतस्य । (२) न इन्द्रियजन्या, अपि तु मानसी निर्विकल्पजन्या वा । (३) अर्थसामर्थ्यसमुद्भूतत्वादर्थज्ञान्यैव सा । (४) विकल्पबुद्धेरपि । (५) पृ० १३३ प० १ ।

त एव विशेषाः तानपि नोपलक्षयति । एतदुक्तं भवति—यथा कचित् सत्त्वज्ञेयत्वादिविकल्पान् क्रमभाविन उपलभ्य पुनः आसन्नार्थदर्शी युगपद् व्यवसायेऽपि क्रमेणैव तत्प्रवृत्तिरिति व्यवस्थापयति युगपदनेकव्यावृत्तिविकल्पाऽसंभवात् तथा दूरे समविषमाकारदर्शनविशेषान् क्रमेण जायमानानुपलभ्य आसन्नेऽपि तथा तान् व्यवस्थापयति, दृष्टेन अदृष्टसिद्धेरनिवारणादिति । अथ मतम्—आसन्नार्थदर्शी यदि तद्दर्शनविशेषान् पश्यति किमिति तथैवै नावधारयति इति ? तत्राह—**क्रमस्य उपलक्षयितुमशक्तेः** इति । आसन्नार्थदर्शिनो ये तद्दर्शनविशेषाः तेषाम् सत्तादिविकल्पवत् क्रमस्य उपलक्षयितुमशक्तेः इति ।

स्यान्मतम्— आसन्नार्थदर्शी क्षणिकनिरंशपरमाणुस्वलक्षणमेव पश्यति इति [११५क] तद्दर्शनविशेषान् असत्त्वान्नोपलक्षयति न सत एव तत्कथमुच्यते—'**सम**' इति ? अत्राह—**पश्यन्नयम्** इत्यादि । **पश्यन्नयं** सौगतो लोको वा **असाधारणमेव** नान्यत् **पश्यति इत्येतत् प्रतिज्ञाय कोशपानं विधेयम्** अन्यतः तत्प्रतिपत्तेरसंभवादिति भावः । ततः '**सम**' इत्यादि सूत्रम् ।

सांप्रतं परोऽभ्युपगतभ्रान्तेन्द्रियज्ञानबलेन सामान्यग्रहणं व्यवस्थापयन्नाह—**उपहतेन्द्रियैः** इत्यादि । उपहतानि कामलादिना दूषितानि इन्द्रियाणि येषां तैः **चन्द्रादेः** आदिशब्देन वर्तुलत्वादे-**र्दर्शनेऽपि** न केवलम् अदर्शने, तथा **तत्र** उपहतेन्द्रियेषु **आद्यं** (**चन्द्राद्यदर्शनं**) चन्द्रादिदर्शनाभावं **कल्पयन्** सौगतादिः, कुतः कल्पयन् ? इत्यत्राह—**तद्** इत्यादि । **तस्य** चन्द्रदेर्विशेषः एकत्वादि[:] **तस्य अनुपलब्धिः** (**ब्धेः**।) तँदनुपलब्धौ चन्द्राद्यदर्शनम् , एकस्य गृहीतेतररूपद्वयाऽयोगादिति मन्यते । किं करोति ? इत्यत्राह—**न केवलम्** इत्यादि । **न केवलं रूपादिस्वलक्षणान्येव** निरंशक्षणिकरूपादिपरमाणूनेव **नोपलभते, कुत एतत् ? दृष्टे[:]** । रूपादिदर्शनस्य **तत्प्रतिभासवैकल्यात्** परपरिकल्पितस्वलक्षणप्रतिभासविरहात्, 'उपहतेन्द्रियैरिव अनुपहतैरपि बहिरर्थाऽदर्शनम्' इति मन्यते । माभूत् तँस्य दर्शनं तथापि विज्ञानवादिनो न किञ्चित् तस्यतीति (नश्यतीति) चेत्; अत्राह—**अपि तु** इत्यादि । **अपि तु** किन्तु **स्वयम्** आत्मना **अन्तःस्वलक्षणं** च ज्ञान-[११५ख] स्वलक्षणमपि नोपलभते इति । कुत एतत ? इत्यत्राह—**यथा** इत्यादि । **यथाश्रुतं** यथाभ्युपगम [म् अ]**प्रतिभासनाद्** '**अन्तः स्वलक्षणस्य**' इति सम्बन्धः । तर्हि बहिरिव अँन्यत्रापि विचारसाम्यात् शकलशून्यता अस्तु इति चेत् ; अत्राह—**स्वभाव** इत्यादि । ज्ञानज्ञे-ययोः **स्वभावस्य** स्वरूपस्य **नैरात्म्यं** नीरूपत्वं तस्य **कल्पनाम् आविशन्** सौगतः **आत्मानम् अहीकयति** । कुत एतत् ? इत्यत्राह—**साध्य** इत्यादि। **ततो बहिरन्तश्च कृतम्** ! अप्रतिभासेऽपि यथा सामान्यावभासनं तथा तद्विशेषानुपलम्भेऽपि चन्द्रादिदर्शनम् उपहतेन्द्रियैरिति कथन्न दृष्टिः सन्मात्रग्राहिणी संभाव्यत इति मन्यते । उपसंहारार्थमाह—'**तस्मात्**' इत्यादि । यत एवं **तस्मात् अयं** व्यवहारी **किञ्चित्** पुरुषादिकं **केनचित्** स्थाण्वादिना सह यः सदृशपरिणामः तेन **विशिष्टं पश्येत्, तद्विशिष्टं** तत्परिणामभेदं **तत्प्रति ईहमानोऽपि नाऽवश्यं विशेषमवैति** न विशेषोऽ-

(१) क्रमेणैव । (२) क्रमेणैव । (३) समविषमाकारदर्शनविशेषान् । (४) मद्यपानादिना । (५) बौद्धाभिमत । (६) एकत्वादिविशेषानुपलब्धौ । (७) बहिरर्थस्य । (८) अन्तरपि ।

वैचीभवति । निदर्शनमाह–**स्मरन्नेव (रश्मिव)** इति । यथा कथञ्चित् स्मरन् केनचित् सदृश-परिणामेन तद्विशेषं प्रतीहमानोऽपि नावश्यं तद्विशेषं स्मरति तथा प्रकृतमपि इति ।

यदि नावश्यं विशेषमवैति किं तर्हि तत् स्यात् ? इत्यत्राह–**समदृष्टेः** इत्यादि ।

[समदृष्टेर्विशेषेहारेका स्वार्थाविनिश्चये ।
अतस्मिंस्तद्ग्रहो भ्रान्तिरपि स्पष्टावभासिनी ॥९॥ ५

व्यापकं स्वभावं पश्यन् विशेषं प्रति पुनस्तदन्तरमीहमानो व्यवहारी नावश्यमवैति सामग्रीवैकल्यसंभवात् । तत्त्वेतरस्वभावा प्रतिपत्तिः संशीतिरनवस्थैव । अन्यथाप्रति-पत्तिः पुनर्विसंवादः । तत्त्वप्रतिपत्तिरवायः । सर्वज्ञेदमीहाविनाभावि । सामान्यप्रत्यक्षात् विशेषाप्रत्यक्षात् विशेषस्मृतेः सन्देहोपपत्तेः ।]

समदृष्टेः अवग्रहाद् विशेषाकाङ्क्षा **विशेषेहा**, तस्याः किम् ? इत्याह–**आरेकेति** । १०
'विशेषेहा' इत्येतज्जात 'का'[1] विभक्ति [११६क] परिणाममिह संबध्यते । ततः तस्याः **आरेका** संशीतिः । किं सर्वदा सा ततो भवति । 'न' इत्याह–**स्वार्थाविनिश्चये** । स्वशब्देन ईहा गृह्यते, स्वस्य अर्थः तदाकाङ्क्षितो विशेषः तस्याऽविनिश्चये सति आरेका न विनिश्चये, कदाचित् ततः तद्विनिश्चयोऽपि जायत इत्यभिप्रायः । न केवलं तत आरेकैव किन्तु विपर्ययोऽपि इति दर्शय-न्नाह–**अतस्मिंस्तद्ग्रहो भ्रान्तिरपि** इति । भ्रान्तिरपि विपर्ययोऽपि न केवलम् आरेकाऽ- १५
वायावेव ततो जायेते इति । तत्स्वरूपं दर्शयितुमाह–**अतस्मिंस्तद्ग्रहः** [स्थाणौ] पुरुषादिग्रहः अबाह्ये बाह्यग्रहवत् । न च तद्ग्रहोऽसिद्धः; प्रतिभासनात् । यथैव च एकेन ज्ञानेन अन्योऽ-न्यभिन्ननीलाद्याकाराणां व्याप्तिः तथा स्वतो भिन्नानां गृहीतिरिति निवेदितम् । निवेदयिष्यतैतद-विभ्रमे (ष्यते चैतत्–*"अविभ्रमेऽ)सौगतं जगत्" [इत्यादिना] । सर्वविकल्पातीतत्वे स एव २०
दोषः कथञ्चित् कुतश्चिदप्रतिपत्तेः । ततो बहिर्भ्रान्तिरभ्युपगन्तव्येति सर्वं सुस्थम् । कथम्भूता सा ? इत्यत्राह–**स्पष्टावभासिनी** इति विशदा इति । अनेन *"**सदृशदर्शनप्रभवा सर्वापि भ्रान्तिः मानसी**" इति[3] मतं निरस्तम् ; तस्याः स्पष्टावभासित्वाऽयोगात् । प्रतीयते च तैंत्प्रभ-वाऽपि मरीचिकादौ जलादिभ्रान्तिः तैंथावभासिनी ।

कारिकां विवृणोति–**व्यापक** इत्यादि । [**व्यापकस्वभावं**] नाऽव्यापकस्वभावं सादृश्यै-कत्वपरिणामस्वभावं **पश्यन्** **विशेषं** तद्विदं **प्रति पुनः तदन्तरमीहमानो** व्यवहारी **नावश्यं** २५
[११६ख] नियमेन **अवैति** निश्चिनोति 'विशेषम्' इति सम्बन्धः । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**सामग्री** इत्यादि । विशेषे अवायस्य या सामग्री देशसन्निधानादिलक्षणा तस्या **विकल्प (वैक-ल्य) संभवात्** । संशयादीनां स्वरूपं प्रदर्श्य ईहात उत्पत्तिं दर्शयन्नाह– **तत्त्व (त्वे)** इत्यादि । **प्रतिपत्तिः संशीतिः** । कथंभूता ? **तत्त्वेतरस्वभावा अनवस्थैव** । **'व्यापकस्वभावम्'** इति वचनात् व्याप्योऽपि स्वभावः, आक्षिप्तस्तस्यं तैंन्नान्तरीयकत्वात् । स चानेकः ततः सूत्यत ३०

---

(१) अवायात्मकनिश्चयविषयो भवति । (२) 'का' इति पञ्चमीविभक्तेः संज्ञा । (३) तुलना– "मानसं तदपीत्येके तेषां ग्रन्थो विरुध्यते । नीलेहिचन्द्रादिधियां हेतुरक्षाण्यपीत्ययम् ॥"–प्र०वा० ३।२९५ । (४) सादृश्यप्रभवापि । (५) स्पष्टा । (६) व्याप्यस्य । (७) व्यापकं विना अभवनात् ।

(सूच्यते) व्यापकस्वभावे दृश्यमाने तत्त्वस्वभावो विवक्षितव्याप्यस्वभावः इतरश्च [स्व]भावोऽविवक्षितव्याप्यस्वभावः तयोर्न विद्यते अवस्था अवस्थितिर्यस्या सा तथोक्ता उभयत्र दोलायमाना इत्यर्थः ।

'सामान्यविशेषात्मकतत्त्वप्रतीतिरपि संशीतिः' इत्येके;[1] तन्निरासार्थं एवकारः, तस्याः[2] तत्त्वेतरस्वभावावस्थारूपत्वात् । **अन्यथा** अन्येन तत्त्वस्वभावे इतरस्वभावप्रकारेण, इतरस्वभावे तत्त्वस्वभावप्रकारेण **प्रतिपत्तिः पुनः विसंवादो** विपर्ययः । **तत्त्वप्रतिपत्तिः अवायः** विवक्षितव्याप्यस्वभावनिर्णयोऽवायः । **सर्वं** निरवशेषं **च इदं** संशीत्यादिकम् **ईहाऽविनाभावि** ।

ननु यदि नाम सामदृष्टिः[3] किमायातं येन अंतो विशेषेषु ईहातश्च आरेका स्यात् । नहि अन्यत्र दृष्टेः अन्यत्र सा युक्ता, अन्यथा घटदृष्टेः पटे भवेत् । किंच, सामान्यदृष्टौ विशेषो[4] [११७क] यद्युपलब्धिलक्षणप्राप्तिः (प्तः) सन्नोपलभ्यते तर्हि तदभाव[5] एव न तत्र ईहा आरेका वा । अथ अन्यथा [अ] दृश्यानुपलब्धेरेव संशीतिः इति किं **'समदृष्टेः'** इत्यनेन ? न हि स्वर्गादौ तदृदृष्टेः संशीतिः इति चेत्; अत्राह—**सामान्य** इत्यादि । **'व्यापकस्वभावं पश्यन्'** इत्यनुवृत्तेः येषां विशेषाणाम् ईहा आरेका च तेषां व्यापकस्वभावं **सामान्यम्** इह गृह्यते तस्य **प्रत्यक्षा** [द्] दर्शनात् ।

अनेन 'न ह्यन्यस्य दर्शने अन्यस्य सा युक्ता, अन्यथा घटदर्शने पटे सा भवेत्' इति; तन्निरस्तम् । न खलु यथा तत्सामान्यं विवक्षितविशेषस्वभावं तथा पटः (घटः) पटस्वभाव इति । **ईहमानस्य** तद्व्याप्यविशेषान् आदातुं चेष्टमानस्य । अनेन यदुक्तम्—*"**सामान्याऽदृष्टौ विशेषाणां दृश्यात्मनामदृष्टौ अभावः स्यात्** ।" इति; तन्निरस्तम्; तदा आचार्येण तद्दृश्यात्मतानभ्युपगमात्, अन्यथा **'ईहमानस्य'** इति न ब्रूयात् । को हि नाम दृश्यं पश्यन्नेव आदातुमीहते ।

यत्पुनरुक्तम्—*[6]"**एवं सति अदृश्यानुपलब्धिरेव (ब्धेरेव) संशयात् किं सामान्यप्रत्यक्षात्**" इत्यनेन इति; तदप्येतेन निरस्तम्; तत्त्वेतरस्वभावव्यापकभवे (भाव) दर्शनादेव अनैकान्तिकहेतुदर्शनादि (द्, इतः) च तत्र नियमेन सन्देहो युक्तो न अदृश्यदर्शनादेव । अन्यथा अदृश्यपरचैतन्यादेः अनुपलम्भादभावासिद्धेर्मृतादिव्यवहारोच्छेदः स्यात् इति ।

यच्चोक्तम्[10]—*"**सामान्यप्रत्यक्षमन्तरेणापि क्वचित् संशयः**" इति तदपि न [११७ख] सूक्तम्; तत्रापि शब्दादन्यतो वा सामान्याप्रतिपत्तौ [11]तदभावात् [12]समवाया (समया) दर्शिनः शास्त्रार्थसन्देहः अन्यथा[13]। 'सामान्यप्रत्यक्षात्' इत्येतस्य उपलक्षणार्थत्वात् । एवमर्थं च *"**वित-**

(१) बौद्धादयः । (२) सामान्यविशेषात्मकतत्त्वप्रतीतेः । (३) सामान्यदर्शनम् । (४) समदृष्टेः । (५) विशेषस्य अभाव एव । (६) उपलब्धिलक्षणप्राप्तो न भवति । (७) समदृष्टेः । (८) व्यापकभूतं सामान्यम् । (९) तुलना—"अन्यथा उपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलम्भादभावो नानुपलब्धिमात्रात् । तथाप्यनुपलब्धेरेव संशयः व्यर्थमेतत् सामान्यप्रत्यक्षादिति ।"—प्र० वार्तिकाल० पृ० १८ । (१०) तुलना—"दृश्यते काम्बुकुब्जादिषु सामान्यप्रत्यक्षतामन्तरेणापि प्रथमतरमेव स्मरणात् संशयः ।"—प्र० वार्तिकाल० पृ० १८ । (११) संशयाभावात् । (१२) सङ्केताग्राहिणो यथा शास्त्रार्थसन्देहो न भवति । अपि तु तस्य अप्रतिपत्तिरेव । (१३) स्यादिति सम्बन्धः ।

र्कानुगत" [सिद्धिवि० २।६] इत्याद्युक्तम्। आचार्यविप्रतिपत्त्यादेः समयोऽनेन चिन्तितः। **विशेषाऽप्रत्यक्षात्** तस्य सामान्यस्य ये **विशेषाः** तेषाम् [**अप्रत्यक्षात्**] अदर्शनात्, इदमप्युपलक्षणम् तेंदग्रहणस्य। **विशेषस्मृतेः** विशेषयोः स्मरणात् **सन्देहोपपत्तेः**[2] कारणात् **'सर्वं चेदम् ईहाविनाभावि'** इति सम्बन्धः। तदुपलक्षणम्, तेन विपरीतविशेषस्मृतेर्भ्रान्त्युपपत्तेः इत्यादि ग्राह्यम्। ५

ननु यदीयं भ्रान्तिः तत्स्मरणपूर्विका, न तर्हि स्पष्टावभासिनी अनुमानवत्, अतोऽयुक्तमुक्तम्—**'भ्रान्तिरपि स्पष्टावभासिनी'** इति चेत्; न; जलादिभ्रान्त्या व्यभिचारात्। नैयायिकस्य प्रत्यभिज्ञानेनै; कथमन्यथा तेंदध्यक्षमिति।

ननु संशयादिः स्मृतिविशेषः, स च अविकल्पानुभवात् वस्तुस्वभावत इति किं तत्र ईहयेति? एतदेवाह—**निर्विकल्प** इत्यादिना। १०

[निर्विकल्पदृष्टेरेव स्मृतौ वस्तुस्वभावतः।
निराकारावबोधेन सजातीयस्मृतिर्न किम् ॥१०॥

तद्दृष्टावेव दृष्टेषु व्यवहारप्रवृत्तौ संवित्तिबलात् सजातीयस्मृत्यभिलाषादेरिति किं ग्राह्याकारकल्पनया? केवलमवबोधमात्रं भावस्वभावतो प्रकृतस्मृतिहेतुः प्रतीयेत। कल्पयित्वापि विषयाकारं स विशेषो मृग्यः येन प्रतिविषयं भिद्येत अन्यथा अतिप्रसङ्गात्। १५ तेनैव संवेदनं प्रतिनियतार्थवेदनं स्यात्। यत उत्पन्नं ज्ञानं यज्जातीयस्मृतिहेतुतया व्यवहारयति तत्तस्य नेतरस्येति कुतोऽतिप्रसङ्गः, सदर्थाकारस्य स्वयमनुपलक्षितस्य स्मृतौ अभावानतिशायनात्। विप्लवे साकारदर्शनात् तदन्यत्र कल्पनायामतिप्रसङ्गात्। तावतैव सर्वव्यवहारप्रसिद्धेस्तथैवास्तु इति चेत्; स्वयमभिप्रेतभ्रान्तिमात्रासिद्धेः सर्वथाऽसम्बद्धप्रलापमात्रम्, अविद्यात एव विद्यासिद्धेरनिवारणात् अनिष्टानुषङ्गात्। भ्रान्तिमात्रात् परमा- २० र्थतोऽसिद्धस्वभावात् प्रतीतिविपर्यासेन भावान् इदन्तया नेदन्तया वा व्यवस्थापयितुकामः सौगतः एकान्तेन अविकल्प एवेत्यलमतिप्रसङ्गेन।]

निर्विकल्पदृष्टेः अविकल्पानुभवाद् **वस्तुस्वभावतः** भावस्वाभाव्यादेव नान्यतः इति **एव**कारार्थः। सजातीय**स्मृतौ** सामान्यविषयविकल्पबुद्धौ अङ्गीक्रियमाणायाम् दूषणमिदमिति दर्शयन्नाह—**निराकार** इत्यादि। **निराकारावबोधेन** अर्थसारूप्यरहितदर्शनेन २५ हेतुत्व(तुना) **किन्न सजातीयस्मृतिः** सर्वोऽपि [११८क] सामान्यविकल्पो 'जायते' इत्यध्याहार्यम्, जायत एव। कुतः? **वस्तुस्वभावतः** भावशक्तेरिति, येन कारणेन ग्राह्याकारोऽर्थाकारोऽत्रावबोधे कल्प्यते। ततो न युक्तमेतत्—

---

(१) विशेषाग्रहणस्य। (२) "नहि विशेषस्मृतिव्यतिरेकेणापरः संशयः, उभयांशावलम्बिस्मृतिरूपत्वादस्य।"—प्र० वार्तिकाल० पृ० १८। (३) व्यभिचारः, तर्हि स्मरणपूर्वकमपि प्रत्यक्षं स्पष्टावभासि च। (४) प्रत्यभिज्ञानम्।

*"स्मृतिश्चेद्दर्शनं ज्ञानं तस्याश्चानुभवाद् भवः ।
स चार्थाकाररहितः सेदानीं तद्वती कथम् ॥" [प्र० वा० २।३७४] इति ।

यथैव हि निराकारादनुभवात् कथं सा तद्वती आकारवती[1]; तथा सामान्याकाररहितात्ततः तदाकारवती कथमिति समानम् । एवमर्थं च 'सजातीयस्मृतिः' इत्युक्तम् । 'वस्तुस्वभावतः' इत्यपि नोत्तरम्; अन्यथा निराकारावबोधात् तैत एव तद्वती[2] इति यत्किञ्चिदेतत् ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–तैद्दृष्टावेव इत्यादि । निर्विकल्पिका दृष्टिः तद्दृष्टिः तस्यां सत्यां पुनः ये दृष्टाः तेषु व्यवहारः[र]प्रवृत्तौ अङ्गीक्रियमाणायाम् । कुतः ? इत्यत्राह–संविदि इत्यादि । संवित्तेर्बलं सामर्थ्यम् तस्माद् या सजातीयस्मृतिः तस्या अभिलाष आदिशब्देन द्वेषपरिग्रहः तस्मात् इति किं दर्शनस्य ग्राह्याकारकल्पनया सारूप्यकल्पनया केवलं ग्राह्याकार-शून्यमवबोधमात्रं भावस्वभावतो वस्तुशक्तेः प्रकृतस्मृतिहेतुः सजातीयस्मरणकारणं प्रतीयेत । शेषमत्र चर्चितम् । तत्र साकारस्मृतेर्दर्शनं साकारं सिध्यति इति मन्यते ।

ननु मा भूत् साकारस्मृतेर्दर्शनस्य साकारतासिद्धिः, तस्यां[3] अन्यथा सिद्धिः, प्रतिकर्मव्यवस्थायाः तत्[4] स्यात् इति । तदुक्तम्–[११८ख]

*"अर्थेन घटयत्येनां[5] नहि मुक्त्वार्थरूपताम् ।
तस्मात् प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता[6] ॥" [प्र०वा०२।३०५] इति ।चेत्;

अत्राह–कल्पयित्वापि इत्यादि । न केवलम् अकल्पयित्वा किन्तु कल्पयित्वापि विषयाकारं दर्शनस्य विषयसारूप्यं विशेषः अतिशयः मृग्यः सः अवबोधो येन विशेषेण प्रतिविषयं भिद्येत, अन्यथा अन्येन तद्विशेषान्वेषणाभावप्रकारेण अतिप्रसङ्गात् । तदाकारात् प्रतिकर्मव्यवस्थायाम् 'किञ्चिन्नीलज्ञानं सकलस्य नीलस्य, सदाकारं वा ज्ञानं सर्वं[7]: स्यात्' इति अतिप्रसङ्गः, तस्माद् विशेषो मृग्यः इति प्रतिकर्मव्यवस्थापि "अन्यथा सिद्धेति भावः । ननु भवतोऽपि अवबोधस्य निराकारस्य सर्वत्राविशेषादतिप्रसङ्गः समान इति चेत्; अत्राह–तेनैव इत्यादि । तेनैव योग्यताविशेषेणैव संवेदनं समीचीनं प्रतिनियतार्थवेदनं ग्रहणं स्यात् इति 'कुतोऽतिप्रसङ्गः' इति गत्वा सम्बन्धः । तेनैव च विशिष्टस्मृतिनिमित्तं स्यादिति कुतोऽतिप्रसङ्गः ।

---

(१) इति दूषणं दीयते । (२) दर्शनात् । (३) वस्तुस्वभावादेव । (४) आकारवती स्यात् । (५) तुलना–"तद्दृष्टावेव दृष्टेषु संवित्सामर्थ्यभाविनः । स्मरणाद् व्यवहारश्चेदनुमानं तथा सति ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० २४ । "येन वार्तिककार एवमाह–तद्दृष्टावेव दृष्टेषु संवित्सामर्थ्यभाविनः । स्वव्यापारस्वकारणास्मरणादित्यादि"–न्यायवि० टी०टि०पृ० ३१ । "आह च–तद्दृष्टावेव··· स्मरणादभिलाषेण व्यवहारः प्रवर्तते"–सन्मति० टी० पृ० ४९८ । "पुनरुक्तं दृष्टेषु संवित्सामर्थ्यभाविनं स्मरणादित्यादि"–प्र० वा० स्व० टी० पृ० ६ । (६) साकारतायाः । (७) दर्शनं साकारं । (८) निर्विकल्पिकामर्थबुद्धिम् । (९) "साधनं मेयरूपता ।"–प्र० वा० । "तस्मादर्थाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता ।"–तत्त्वोप० पृ० ५३ । प्रकृतपाठः–न्यायकु० पृ० १६७ । प्रमेयक० पृ० १०७ । प्रज्ञा० कन्द० पृ० १२६ । न्यायवि० वि० प्र० पृ० २४० । सन्मति० टी० पृ० ३१२ । स्या० रत्ना० पृ० १३६ । प्रमेयरत्नमा० २।९ । स्या० म० पृ० १३७ । प्रमाणमी०पृ०३३ । सर्वद०पृ० ३६ । (१०) सर्वस्य सतः आकारमनुकुर्यादिति भावः । (११) बौद्धवत् ।

सांप्रतं नैयायिको भूत्वा सूरिः अतिप्रसङ्गं परिहरन्नाह–यत इत्यादि । यतः यस्मात् स्थूलत्वादिधर्मोपेतादर्थाद् उत्पन्नं ज्ञानं तस्यार्थस्य तत् न इतरस्य अजनकस्यार्थस्य इति हेतोः कुतोऽतिप्रसङ्गः इतरथा अनग्नेः धूमः स्यात् । अतज्जन्यत्वम् अन्यत्रापि ।

स्यान्मतम्–'यत उत्पन्नं तस्य तत्' इत्युच्यमाने इन्द्रियादेः स्यादिति; तत्राह– [११९क] यज्जातीय इत्यादि। यत्समानः यज्जातीयः तस्य स्मृतिहेतुतया व्यवहारयति– व्यवहारे प्रवृत्तं जनं करोति तस्य तत् नेतरस्य इति कुतोऽतिप्रसङ्गः ? न चेन्द्रियादिः सजातीयस्मृतिहेतुतया व्यवहारयति इति ।

ननु पदार्थान्तरं (यदर्थाकारं) ज्ञानं स्वयमनुभवात्मकं भवति तदा तेन अर्थो ज्ञातो भवति, तत्र च तत्स्मृतिहेतुर्नान्यथा, न चैतत् नैयायिकस्येति चेत् ; अत्राह–तथ्ये (सदर्थे)त्यादि। सति (सन्) प्रतिनियतो नीलादिः अर्थः तस्य आकार इव आकारो यस्य ज्ञानस्य तत् तथोक्तं तस्य अनुपलक्षितस्य अनिश्चितस्य स्वयम् आत्मना अभावेन शशशृङ्गादिनाऽनतिशायनात् । क ? स्मृतौ। तस्यां क्रियमाणायाम् अतिशयाभावात् यत उ[त्पन्नम् इ] त्यादि सम्बन्धः । एतदुक्तं भवति–यदि निर्विकल्पकं दर्शनं तदतिशयरहितमपि स्मृतिकारणं नैयायिककल्पितं चिन्न (तन्न) स्यात् इति; तर्हि विप्लवे अर्थाभावेऽपि तदाकारदर्शनात् ससाकारो (न स आकारो) ज्ञानस्य प्रतिभासमानस्य गत्यन्तराभावात् । तदुक्तम्–

*"अनर्थाकारशङ्का स्यादप्यर्थवति चेतसि ।" [प्र० वा० २।३७१] इति चेत् ;

अत्राह–विप्लवे इत्यादि । विप्लवे विभ्रमदशायां यत् साकारदर्शनम् अविकल्पकं ज्ञानमेवमर्थं च दर्शनग्रहणम्, अन्यथा ज्ञानग्रहणं न्याय्यम् तस्मात् तेन हेतुना तद्वा आश्रित्य, 'तद्' इत्ययं निपातः 'तस्य' इत्यस्यार्थे द्रष्टव्यः । तस्य ग्राह्याकारस्य अन्यत्र जाग्रदशाज्ञाने कल्पनायां [११९ख] क्रियमाणायाम् अतिप्रसङ्गात् । यतः कुतश्चिदसिद्धात् निदर्शनात्[2] यस्य कस्यचिदर्थस्य सिद्धिप्रसङ्गादिति 'नैवं (तेनैव) संवेदनम्' इत्यादिना सम्बन्धः । विप्लवेऽपि साकारदर्शनमसिद्धम् निराकारेण दर्शनेन तत्र कुतश्चिद् भ्रान्तेः घटादेरसत एव बहिरिव ग्रहणात् इत्यभिप्रायः। तदुक्तं न्या य वि नि श्च ये–*"न चैतद् बहिरेव, किं तर्हि बहिर्बहिरिव प्रतिभासते । कुत एतत् ? भ्रान्ते [:], तदन्यत्र समानम्" इति ।

अत्राह परैः[3]–तावतैव इत्यादि । तावतैव असतः प्रतिभासनमात्रेणैव सर्वस्य प्रमाणेतरादिरूपस्य व्यवहारस्य मिथ्याविकल्परचितस्य *"प्रामाण्यं व्यवहारेण" [प्र०वा० १।७] इत्यादि वचनात् प्रसिद्धेः कारणात् तथैवास्तु तेनैव निराकारेण ज्ञानेन असदेव घटादिकं गृह्यते इति प्रकारेणैव अस्तु 'सर्वम्' इत्यध्याहारः इति एवं चेत् ; अत्राह आचार्यः–स्वयम् इत्यादि । स्वयम् आत्मना यदभिप्रेतम् अङ्गीकृतं भ्रान्तिमात्रं सौगतेन तस्य असिद्धेः तदप्रतिपत्तेः कारणात् । किम् ? इत्याह–सर्वथा इत्यादि । सर्वथा सर्वेण प्रकारेण असम्बन्ध(द्ध)स्य असम्बद्धं वा प्रलापमात्रम् इति एवं निर्णीतमेतत् प्रथमप्रस्तावे ।

(१) अर्थाकार । (२) दृष्टान्तात् । (३) बौद्धः ।

तदभिप्रेतसिद्धौ दूषणमाह–**ब्रह्म** इत्यादि । इदमत्र तात्पर्यम्–यथा विभ्रमादेवं विभ्रमसिद्धिः तथा वा (चाऽ)**विद्यात एव** प्रत्यक्षादिलक्षणाया **विद्याया** ब्रह्मणो या **सिद्धिः** तस्या **अनिवारणाद्** [१२०क] **असंबद्धप्रलापमात्रम्** इति । ननु भवतु तत्सिद्धिः, तथापि घटादिवत् प्रतिभासमानस्य तस्य विभ्रमसिद्धेः सिद्धं नः[1] समीहितमिति चेत्; अत्राह–**अनिष्टानुषङ्गात्** । ५ सौगतस्य इष्टम्–अनेकं क्षणिकं सर्वथा भ्रान्तं ज्ञानम्, अनिष्टम्–एकमक्षणिकं व्यापकमभ्रान्तं ब्रह्मतत्त्वम्, अस्य अनुषङ्गात् 'तन्मात्रम्' इति सम्बन्धः । यथा खलु भ्रान्तिः भ्रान्तेः प्रतीयमानापि न भ्रान्तिः तथा ब्रह्मतत्त्वमपि इति मन्यते ।

तर्हि भ्रन्तिरपि न कुतश्चित् प्रतीयते इति चेत्; अत्राह–**भ्रान्तिमात्रात्** इत्यादि । भ्रान्तिरेव तस्मात् । कथंभूतात् ? **परमार्थतः** तत्त्वतोऽसिद्धस्वभावात् अनिश्चितरूपात् **प्रतीति-** १० **विपर्यासेन** स्वप्नादिदशा[विप]र्यासेन 'स्वप्नादिदशायां भ्रान्तं ज्ञानं न जाग्रद्दशायाम्' इति येयं प्रतीतिः लौकिकी प्रसिद्धिः तस्याः स्वप्नादिवद् अन्यदा विभ्रान्तं ज्ञानम् अन्यदेव वा स्वप्नादावपि अभ्रान्तम् इति यो विपर्ययः तेन **भावान्** नवेतररूपानर्थानैवत्तया (चेतनेतररूपानर्थानेव **इदन्तया**) स्वाभिमतस्वभावतया **नेदन्तया** न पराभिमतस्वभावतया वा शब्दः पूर्वसमुच्चयार्थः **व्यवस्थापयितुकामः सौगतः एका[न्ते]न** अवश्यंभावेन **अविकल्प एव** परामर्शशून्य १५ ए[व] । यदि वा ईषदसिद्धोन्मेषोऽयम् **इत्येवम् अलं** पर्याप्तम् **अतिप्रसङ्गेन** । ततो **'निराकारावबोधेन'** इत्यादि स्थितम् ।

निर्विकल्पदर्शनात् सजातीयस्मृतौ न [१२०ख] केवलमनुभवस्य ग्राह्याकारवैकल्यम् अपि तु तस्यापि इति दर्शयन्नाह–**सर्वतः** इत्यादि ।

[सर्वतः सर्वेण सर्वं विलक्षणमलक्षयन् ।
२० **बोधात्मा चेत्स्मृतेर्हेतुः सन्निकर्षस्तथा न किम् ॥११॥**

वस्तुस्वभावत एव समनन्तरप्रत्ययोऽवग्रहादिमतिः स्वयम् इन्द्रियार्थसन्निकर्षविशिष्टः स्मृत्यादिव्यवहारहेतुः, सामग्रीविशेषात् वासनाप्रबोधवैशद्यसंभवात् स्वप्नादिवत् । तदयं स्पष्टावितथस्वग्राह्यविशेषान्वयप्रतिभासवासनाप्रबोधश्च साक्षात् दर्शननिमित्तो भवन् अनेकान्ततत्त्वं प्रतिष्ठापयति ।]

२५ **सर्वतः** सजातीयाद् विजातीयाच्च **सर्वेण** नीलादिप्रकारेण इव सदादिप्रकारेणापि **सर्वं** स्वविषयाभिमतमशेषं **विलक्षणं** व्यावृत्तरूपम् **अलक्षयन्** अनिश्चिन्वन् । कोऽसौ ? **बोधात्मा** निर्विकल्पो बोधः **स्मृतेः** स्मरणस्य **हेतुः चेद्** यदि **सन्निकर्षः** इन्द्रियार्थसंप्रयोगः **तथा** तेन वस्तुस्वभावप्रकारेण **न किं** स्मृतिहेतुः ? स्यादेव । तथा च अनुभववैकल्यं (फल्यं) तथा तदलक्षयः (श्रयतो) नास्य[2] ततः चेतनत्वकृतो विशेष इति मन्यते ।

३० कारिकायाः सुगमत्वाद् व्याख्यानमकृत्वा प्रकृतमर्थमुपसंहरन्नाह–**वस्तुस्वभावत एव** न सारूप्यादेः इति एवकारार्थः, **समनन्तरप्रत्ययः**–समः ज्ञानत्वेन अनन्तरः उपादानत्वेन

(१) ब्रह्मसिद्धिः । (२) विभ्रमवादिनाम् । (३) सन्निकर्षात् ।

प्रत्ययः **अवग्रहादिमतिः** बोधः, कथम्भूतः ? इत्यत्राह–**स्वयम्** इत्यादि । **स्वयम्** आत्मना न सांख्यस्य इव पारम्पर्येण **इन्द्रियार्थसन्निकर्षविशिष्टः** स्वव्यापारे नोत्पत्तौ इति चिन्तितम् । ततः तेंदविशिष्टो (ष्ट) मानसाध्यक्षप्रत्ययपरित्यागः **स्मृत्यादिव्यवहारहेतुः** स्मृतिः आदिर्यस्य प्रत्यभिज्ञानादेः स एव तेन वा व्यवहारस्य हेतुः ।

स्यान्मतम्–अवग्रहादिप्रत्ययः सामान्यविशेषात्मवस्तुविषयत्वेन सविकल्पक इति वैशद्य- ५
विरहात् कथं तद्विशिष्टे इति ? तत्राह–**सामग्री** इत्यादि । सामग्र-था [१२१क] इन्द्रियार्थसन्निकर्षादिलक्षणायाः **विशेषात्** हेतोः **वासनाप्रबोधवैशद्यसंभवात्** तद्विशिष्ट इति सम्बन्धः । अत्र दृष्टान्तमाह–**स्वप्नादिवत्** इति । आदिशब्देन कामशोकादिविप्लवपरिग्रहः । स्यादेतत्–'वासनानिमित्तत्वेन प्रत्ययस्य स्वप्नादिवद् भ्रान्तता स्यात्' इति; तत्राह–**तदयम्** इत्यादि । **तत्** तस्मात् इन्द्रियार्थसन्निकर्षादिसामग्रीविशेषाद् **अयम्** अवग्रहादिप्रत्ययाभिधानः **अवितथोऽभ्रान्तः स्पष्टो** १०
विशदः स्वस्य ग्राह्यो (ह्यौ) विशेषान्वयौ भेदाभेदौ तयोः **प्रतिभासः** यस्मिन् स चासौ **वासनाप्रबोधश्च** पुनः अस्य **अवितथ** इत्यादिना यसँः । एतदुक्तं भवति– यद्यपि अर्थप्रत्ययो वासनातो जायते तथापि न भ्रान्तः सामग्रीविशेषादुत्पत्तेः स्वप्नादौ असंभविन इति । ननु पूर्वदर्शनाहितवासनाप्रबोधः परदर्शनात्ँ नेन्द्रियार्थसन्निकर्षादिति चेत्; अत्राह–**साक्षात्** इत्यादि । **साक्षाद्** अव्यवधानेन **दर्शननिमित्तो** भवतु (नु) तत्प्रबोधः **अनेकान्ततत्त्वं प्रतिष्ठापयति** १५
अनेकान्तदर्शनाद् अपरस्य दर्शनस्य तँन्निमित्तस्य अभावादिति भावः ।

एतदेव दर्शयन्नाह–**न पश्यामः** इत्यादि ।

[**न पश्यामः क्वचित् किञ्चित् सामान्यं वा स्वलक्षणम् ।**
जात्यन्तरं तु पश्यामः ततोऽनेकान्तहेतवः ॥१२॥

यथोक्तं स्वलक्षणं सामान्यलक्षणं वा न क्वचित् कदाचित् पश्यामः प्रत्यक्षे वर्णसंस्था- २०
दिविचित्रमन्वयिनमुपलक्षयामः। स्वपरप्रतिबोधं प्रत्यक्षं कथञ्चिदप्रमाणयन् प्रमाणान्तरं कथमवतिष्ठेत ? स्वतः सिद्धस्य कस्यचिदन्यथानुपपत्तिवितर्कात् परोक्षार्थप्रतिपत्तिरनुमानं न पुनरनुपपन्नम् । प्रत्यक्षस्य आत्मनि परत्र वा कथञ्चित् परमार्थसिद्धौ कथं तन्मिथ्यैकान्तं अन्यानपेक्ष्यं साधयेत् यतोऽयं यथादर्शनमेव मानमेयफलस्थितिः क्रियते न पुनर्यथातत्त्वमिति ब्रूयात् । यथेहितं प्रमाणातीतं परमात्मतत्त्वमन्यथा वा कथयतः परस्यापि न २५
वक्त्रं वक्रीभवति यतः स्वलक्षणान्येव यथालक्षणं सिध्येयुः ।]

न पश्यामः क्वचिद् बहिरन्तर्वा **किञ्चित्** परमपरं वा व्यक्तिभ्यो भिन्नं तद्रहितं वा **सामान्यं** वाशब्दो भिन्नप्रक्रमः **'स्वलक्षणम्'** इत्यस्य अनन्तरं द्रष्टव्यः। ततः स्वलक्षणं [१२१ख] वा न पश्यामः । **किञ्चित्** कल्पितं परमार्थरूपं वा । इवार्थो वा, सामान्यमिव स्वलक्षणं न पश्यामः । यथान्यासं भिन्नप्रक्रमो वा । किं तर्हि पश्यथ ? इत्यत्राह– **जात्य-** ३०

(१) इन्द्रियार्थसन्निकर्षरहित । (२) इन्द्रियार्थसन्निकर्षविशिष्टः । (३) कर्मधारयसमासः । (४) भवति । (५) दर्शनं निमित्तं यस्य । (६) वासनाप्रबोधकारणभूतस्य ।

नन्तरं तु अनेकान्तं पुनः पश्यामः। अनेन तदेकान्ताभावसाधने विरुद्धोपलब्धिं दर्शयति। न केवलमध्यक्ष(ध्यक्ष)मेव नैकान्त(अनेकान्तं पश्यतीति)जातं परितोषम्, अपि तु सर्वलिङ्गमपि इति दर्शयन्नाह–तत इत्यादि। ततः तस्मात्त्यायद् [तस्मान्न्यायात्] अनेकान्तस्य हेतवः 'सर्वेऽपि सम्बन्धिनः' इति वाक्यशेषः।

कारिकार्थं प्रकटयन्नाह–'यथोक्तम्' इत्यादि। यथा येन प्रकारेण सौगतेन स्वलक्षणं नैयायिकादिना सामान्यलक्षणं च उक्तं कदाचिद् व्यवहारदशायां परमार्थदशायां वा क्वचित् न पश्यामः? कुत एतत्? इत्यत्राह–प्रत्यक्ष इत्यादि। एतदपि कुतः? इत्यत्राह–वर्ण इत्यादि। वर्णो नीलादिः संस्थानं वर्तुलत्वादि आदिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते तेन [एकत्र] रसादेः अन्यत्र नव-पुराणादिभेदस्य परिग्रहः तेन विचित्रं शबलम्। कथंभूतम्? अन्वयिनम् उपलक्षयामो यत इति। वनादिवत्[1] प्रत्ययवत् भ्रान्तं तदुपलक्षणमिति चेत्; अत्राह–स्वपर इत्यादि। स्वपरयोः प्रतिबोधः ग्रहणं येन यस्मिन् वा तत्तथोक्तम्। किं तद्? इत्याह प्रत्यक्षम्। कथञ्चित् केनापि प्रत्यक्षप्रकारेण अनुमानप्रकारेण वा अप्रमाणयन् अप्रमाणं कुर्वन् कथयन् वा [१२२क] प्रमाणान्तरम् अस्मात् प्रत्यक्षप्रमाणात् अन्यद् अविकल्पदर्शनम् अनुमानं च तदन्तरं कथं नैव अवतिष्ठेत प्रतिष्ठापयेत् सौगतः। *"श्रदः प्रतिष्ठायाम्" इति दधिधिः। ननु उक्तन्यायात् यद्यपि दर्शनं नावतिष्ठेत अनुमानं सविकल्पकमातिष्ठेत इति चेत्; अत्राह–स्वत इत्यादि। स्वतो न साधानान्तरात् कस्यचित् कार्यस्य इतरस्य वा लिङ्गस्य सिद्धस्य निश्चितस्य यः अन्यथानुपपत्तिवितर्कः तस्मात् परोक्षार्थप्रतिपत्तिः अनुमानं त (न) पुनः अनुमानमनुपपन्नम् प्रत्यक्षस्य आत्मनि स्वस्वरूपे परत्र वा धर्मादौ कथञ्चित् सदादिरूपेण न क्षणभङ्गप्रकारेण परमार्थमि(सिद्धौ) क्रियमाणायाम् अन्यानपेक्ष्याम(क्ष्यम् अपेक्षाम)न्तरेण, चर्चितमेतत्– * "सिद्धं यन्न परापेक्ष्यम्" [सिद्धिवि० १।२३] इत्यादिना। कथं नैव तन्मिथ्यैकान्तं प्रत्यक्षविभ्रमैकान्तं साधयेत्? नहि स्वयमनुपपन्नम् अन्यद् व्यवस्थापयति अतिप्रसङ्गात् यतः तत्साधनादयं सौगतः–

*"यथादर्शनमेव (मेवेयं) मानमेयफलस्थितिः।
क्रियते[2] [प्र० वा० २।३५७]

न पुनर्यथातत्त्वमा (त्त्वं) क्रियते इति एवं ब्रूयात् इति। ननु[3] व्यवहारिणापि (णोऽपि) न [4]भावतोऽनुमानमस्ति। यदि पुनः अविचारितरमणीयं तेन व्यवहारप्रसिद्ध्यर्थं तदाश्रीयते तर्हि मयापि तथैवेति न दोष इति चेत्; अत्राह–यथेहितम् इत्यादि। ईहितस्य स्वेच्छाविषयीकृतस्य अनतिक्रमेण यथेहितम् प्रमाणातीतम् अप्रमाणम् परमार्थतत्त्वं अज्ञातत्त्वम् अन्यथा वा [१२२ ख]प्रधानादिप्रकारेण वा कथयतो वचनमात्रेण प्रतिपादयतः परस्यापि

(१) 'वत्' इति निरर्थकं भाति, वनादिप्रत्ययो यथा भ्रान्तः केवलं समूहालम्बनः वृक्षादिव्यतिरेकेण वनस्य स्वतन्त्रस्याभावात्। (२) "अविचलमानापि ग्राह्यग्राहकसंविदाम्" इति शेषः। (३) ननु इति वितर्के। (४) परमार्थतः। (५) अनुमानं स्वीक्रियते।

पुरुषाद्यद्वैतवादिनोऽपि । न केवलं सौगतस्य **न वक्त्रं वक्रीभवति** । एतदुक्तं भवति—यथा-[s]प्रमाणकं विभ्रममात्रं परप्रसिद्धादप्रमाणात् अनुमानात् सौगतस्य सिध्यति परमार्थतः तथा परस्यापि व्यवहारिप्रसिद्धवचनादेः पुरुषाद्यद्वैतादि सिध्यति । न खलु व्यवहारी वचनेनापि विना जीवितुं क्षणमते (क्षमते) इति निवेदयिष्यते । यतो वक्त्रस्य वक्रीभावात् **स्वलक्षणान्येव** नान्यत् **यथालक्षणं सिध्येयुः** । 'यतः' इति वा आक्षेपे नैव सिध्येयुरिति । ५

एतेन 'भ्रान्तेतरविवेकैकान्तं कथं साधयेत्' इति प्रत्येयम् । 'प्रतिभासात्' इति चेत् ; अत्राह—**यथेहितम्** इत्यादि । अत्रायमभिप्रायः—यथा विभ्रमेतराकारशून्यं स्वसंवेदनमात्रं प्रतिभासात् सिध्यति तथा प्रमाणातीतमन्यथा वा सप्रमाणं वा पुरुषादितत्त्वं सिध्यति । शेषं पूर्ववत् । तदनन्तरोक्तं स्वपरप्रतिबोधं प्रत्यक्षं प्रमाणयितव्यम् ।

तच्चरित्रैक (तच्चित्रैक) ज्ञानप्रसादाद् अवग्रहाद्यात्मकमेकं प्रसाध्य अधुना अन्यथा साध- १०
यन्नाह—**फलानुमेय** इत्यादि ।

[फलानुमेयशक्त्यात्म भेदेहात्मना च किम् ।
स्वार्थसंवित्प्रत्यक्षं नैकं सह क्रमेण वा ॥१३॥

स्वार्थलक्षणप्रत्यक्षं स्वलक्षणं स्वफलानुमेयसामर्थ्यात्मकं यद्येकं स्यात् सन्निहितार्थसामान्यविशेषावग्रहेहार्थात्मकमेकं कथन्न भवेत् ? यतो विशेषदर्शनादेव तद्विपरीत- १५
तत्त्वारोपव्यवच्छेदस्मृतिः कल्प्येत । परस्परविरोधस्वभावैकत्वसिद्धौ सहक्रमाभ्यां विचित्रविवर्तपरमार्थैकस्वभावभावप्रतिपत्तेरप्रतिषेधात् । तदेतद्···कथञ्चित्तादात्म्यादवग्रहादीनाम् । शक्तिशक्तिमतोर्भेदे सम्बन्धासिद्धेः, अभेदैकान्ते व्यक्तिव्यक्त्या व्यक्तिः परोक्षैव शक्तिवत् प्रसज्येत । संवृतेरपराधोऽयम् यदिमां संवृणोति पारिमण्डल्यादिवदिति शक्तेः संवृतिरियं शक्तिमसंवृण्वन्ती तदनेकान्तत्वं प्रसाधयति । तदयं समारोपः प्रत्यक्षे क्षणिक- २०
पारिमण्डल्यादौ भवन् एकान्तकल्पनामस्तं गमयति । प्रत्यक्षस्य नीलादिसमारोपविवेकस्यैव व्यवसायात्मकत्वात् । दृष्टे···स्वलक्षण···]

स्वशब्देन एकान्तवादी गृह्यते तस्यायेर्थाया (तस्मै **अर्था** याः) **स्वसंविदः** तासां सम्बन्धि यत **प्रत्यक्षं** प्रत्यक्षपरिच्छेद्यम् । [कथं] भूतम् ? इत्याह—**फल** इत्यादि । **फलेन अनुमेया** [१२३क१] **शक्तिः आत्मा** स्वभावो यस्य तत्तथोक्तं **सह वा** युगपदिव २५
तत्प्रत्यक्षं क्रमेणैकं किं न स्यादेव । केन ? इत्यत्राह—**भेदेहात्मना** । **भेदस्य** विशेषस्य **ईहा** तद्ग्राह्योऽर्थपर्यायः तथोच्यते ज्ञानपर्यायविशेषश्च, सैव **आत्मा** स्वभावः तेन, **च** शब्दाद् अवग्रहावायाद्यात्मना किन्न स्यात् इत्यर्थः प्रतिपाद्यः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—**स्वार्थ** इत्यादि । स्वशब्दः पूर्ववद् व्याख्येयः । तस्य **अर्थ**रेव (एव) **लक्षणम्** अर्थस्वरूपं यत् **प्रत्यक्षं स्वलक्षणं** स्वस्वरूपं यत् प्रत्यक्षं प्रत्यक्षप्रमाणप्रमितं तत् ३०
स्वफलानुमेयसामर्थ्यात्मकं स्वम् आत्मीयं यत् फलं तेन अनुमेयं यत् सामर्थ्यम् तदात्मकम् ।

(१) ब्रह्मवादिनः सांख्यस्य वा । (२) 'ईहा' इत्युच्यते ।

आत्मशब्देन सामर्थ्यस्य तद्वतो भेदैकान्तं निरस्यति, तत्र तदयोगात्। न खलु ततो भिन्नं सामर्थ्यं युक्तम्, भावस्य तन्निष्ठत्वाद् अन्यथा सर्वं सर्वस्य तत् स्यात्, समवायस्य निषेधात् सर्वत्राऽविशेषाच्च। अथ तदविशेषेऽपि किञ्चित् (क्वचित्) कस्यचित् सामर्थ्यम्। कुत एतत्? चित्रत्वाद् भावशक्तीनमिति चेत्; किं पुनः तद्वतः तस्य च अन्याः पृथग्भूताः शक्तयः सन्ति येनैवम्? [तथा चेत्] स एव दोषः अनवस्था वा। अपृथग्भूताश्चेत्; तथा आद्यं सामर्थ्यमिति साधूक्तम्—तदात्मकमिति।

ननु 'फलानुमेयसामर्थ्यात्मकम्' इत्येवास्तु किं स्वशब्देन लोकवत्तरेणापि (वत्तदन्तरेणापि) तदर्थगतेः। न खलु लोको धूमादग्निं प्रतिपद्यमानमेवं वदति 'पावकोऽत्र स्वधूमात्' इति चेत्; उच्यते—[१२३ख १] अन्यमतनिषेधार्थत्वाददोषः। 'अनेकशक्त्यात्मकस्य भावस्य अनेकं फलं तस्माद् एकशक्त्यात्मकर्भवानुमानम्' इत्यन्येषां दर्शनम्; तन्निषेधार्थं स्ववचनमिति। यदि एकं स्यात् भवेत्। अत्रोत्तरम्—सन्निहित इत्यादि। सन्निहितोऽर्थो घटादिः तस्य सामान्यविशेषौ तावेवाग्रहेहयोरर्थौ तदात्मकमेकं कथञ्च भवेत्? स्यादेव। उपलक्षणमेतत्, अवायाद्यात्मकमपि भवेत्। यतः तदभवनात् विशेषदर्शनादेव दर्शनम् आश्रित्यैव कल्प्येत। किम्? इत्याह—तद् इत्यादि। तेषु विशेषेषु विपरीतस्यैव [त]त्त्वस्य आरोपः तस्य व्यवच्छेदस्मृतिः क्षणिकत्वानुमा नैव कल्प्येत, यत इत्यस्य आक्षेपार्थत्वात्, तद्विपरीतज्ञानस्य समारोपत्वासिद्धेरिति भावः। कुत एतत्? इत्यत्राह—परस्पर इत्यादि। परस्परम् अन्योन्यं विरोधो ययोः प्रत्यक्षानुमेययोः स्वभावयोः एकत्वस्य तादात्म्यस्य सिद्धौ सहक्रमाभ्यां विचित्रविवर्तपरमार्थैकस्वभावभावप्रतिपत्तेरप्रतिषेधात्। ततो निराकृतमेतत्—

*"नो चेद् भ्रान्तिनिमित्तेन"[1] [प्र० वा० ३।४३] इत्यादि।

उपसंहारार्थमाह—तदेतद् इत्यादि। सुगमम्। कुत एतत्? इत्यत्राह—कथञ्चित्तादात्म्याद् एकत्वाद् अवग्रहादीनाम्। ननु शक्ति-शक्तिमतोर्भेदैकान्तनिषेधे अभेद एव इति न[2] पक्षान्तरसंभव इति न युक्तं 'फलानुमेय' इत्यादि इति चेत्; अत्राह—शक्तिशक्तिमतोः भेदे नैयायिकोपगते या [१२३क २] सम्बन्धासिद्धिः तस्याः सकाशात् यः सौगतेन तयोः अभेदैकान्तोऽभ्युपगतः तस्मिन् सति व्यक्तिः (क्तेः) चेतनस्य इतरस्य वा व्यक्त्या बुद्ध्या विषयीक्रियमाणे स्वभावे व्यक्तिः परोक्षैव अदृश्यैव शक्तिवत् प्रसज्येत। तथा च सर्वभावव्यवहारविलोप इति मन्यते। तथा प्रत्यक्षैव शक्तिः व्यक्तिवत् प्रसज्येत। ततः *"हेतुना यः"[13]

(१) सामर्थ्यवतो द्रव्यात्। (२) भेदैकान्ते सामर्थ्य-सामर्थ्यवद्भावाऽयोगात्। (३) सामर्थ्यस्वरूपत्वात्। (४) भेदेऽपि 'तस्येति' स्वीकारे। (५) नित्यत्वात् व्यापकत्वादेकत्वाच्च सर्वं प्रति समानः समवाय इति भावः। (६) भेदाविशेषेऽपि। (७) इष्यताम्। (८) स्वशब्दं विनापि। (९) भवस्य शिवस्यानुमानम्। (१०) नैयायिकानां दर्शनम्। (११) "संयोज्येत गुणान्तरम्। शुक्तौ वा रजताकारो रूपसाधर्म्यदर्शनात्॥" इति शेषः। (१२) भेदाभेदवाद। (१३) "कार्योपादोऽनुमीयते। अर्थान्तरानपेक्षत्वात् स स्वभावोऽनुवर्णितः॥" इति शेषः।

समग्रेण" [प्र०वा० ३।६] इत्यादि । *"द्विष्ठसम्बन्धसंवित्तिः" [प्र० वार्तिकाल० १।१] इत्यादि च प्रुक्तते ।

अत्र परमतमाशङ्कते–शक्तेः प्रत्यक्षत्वेऽपि संवृतेः विपरीतकल्पनायाम् (याः) अयमपराधो दोषः यद् यस्माद् इमां शक्तिं संवृणोति पारिमण्डल्यादिवत् । अत्र आदिशब्देन क्षणिकत्वादिपरिग्रहः इति एवं चेत् ; अत्राह–शक्तेः इत्यादि । शक्तिः (क्तेः) संवृतिः संवरणम् इयं परेण उच्यमाना । किं करोति ? इत्याह–तस्य अनन्तरस्य अनेकान्तत्वं प्रसाधयति । किं कुर्वती ? इत्याह–शक्तिमसंवृण्वन्ती । तदेवं निश्चितेतरत्वेन गृहीतेतरं रूपं स्यात् इत्यर्थः । दृष्टान्तं दूषयन्नाह–पारिमण्डल्ये [त्या] दि । परोपहसनपरमेतत् । उपसंहारार्थमाह–तद् इत्यादि । यत एवं तत् तस्मात् अयं समारोपः विपरीतारोपः प्रत्यक्षे दर्शनगोचरे क्षणिकपारिमण्डल्यादौ भवन् नीलाभावन्ते (भवन् न नीलादावित्ये) कान्तकल्पनाम् अस्तंगमयति, अनेकान्तसिद्धेरिति मन्यते ।

ननु स्यादयंदोषो यदि समारोपविवेकव[त्] निश्चितं गृहीतमन्पदृश्यन्नलैवम् (गृहीतं पश्येत् न चैवम्) अन्यथाप्यदोषात् इति चेत् ; अत्राह–प्रत्यक्षस्य इत्यादि । [१२३ख२] प्रत्यक्षस्य नीलादौ न क्षणिकत्वादौ समारोपस्य अनीलाद्यारोपस्य विवेको यस्मिन् येन वा तस्यैव नान्यस्य व्यवसायात्मकत्वाद् व्यवसितस्यैव प्रत्यक्षत्वात् इत्यहिप्रपात्ताम् (इत्यतिप्रसङ्गात् ताम्) 'अस्तंगमयति' इति स्तम्बन्धः ।

ननु प्रत्यक्षाद् [२]व्यवसायोद्भवः, तत्र कथं तत्तदात्मकमिति चेत् ; अत्राह–दृष्टेः इत्यादि । चिन्तितमेतत् प्रथमप्रस्तावे । इतरश्च (श्व) न दृष्टेरविकल्पिकायाः विकल्प इति दर्शयन्नाह–स्वलक्षण इत्यादि । एतदपि तत्रैव निरूपितम् ।

एवमवग्रहमीहां च व्यवस्थाप्य अवायं व्यवस्थापयन्नाह– तत्स्वार्थ इत्यादि ।

[तत्स्वार्थोऽवाय एवायमन्यापोहः कथंचन ।
अविकल्पकदृष्टेः स्यान्न विकल्पमनो यतः ॥१४॥

न ह्यन्यतः स्वार्थमव्यवच्छिन्दत् प्रत्यक्षं परिच्छिनत्ति, नापि कथञ्चिदपरिच्छिन्ददेव व्यवच्छिनत्ति सर्वथा अर्थस्वभावासिद्धिप्रसङ्गात् । निर्विकल्पेन गृहीतस्यागृहीतकल्पतया विकल्पबुद्धे र्निर्विषयत्वाच्च । न च [ततो विकल्पसंभवः] ततो वर्णसंस्थानादिविकल्पोऽपि मा भूत । कथमेवं न सुप्तायितम् , कथञ्चात्यन्तमसदृशात्मकं पूर्वापरपरामर्शशून्यमलक्ष्यं निममेन सदृशविकल्पं वन्ध्यासुतदर्शनमिव योजयेत् ? यतो विकल्पानां कुतश्चिद्विसंवादः सम्बन्धासिद्धेः । तन्नासाधारणैकान्ते प्रमाणप्रमेयफलव्यवस्था साधारणैकान्तवत् ।]

तद् इति निपातः स इत्यस्य अर्थे द्रष्टव्यः । स एव उपगतोऽयं निरूप्यमाणः । एवकारो भिन्नप्रक्रमः अन्यापोह इत्यस्याऽनन्तरं द्रष्टव्यः, ततोऽन्यो विजातीयः अपोह्यते स्वविषयाद् भिन्नो व्यवस्थाप्यते येन व्यवसायेन सोऽन्यापोह एव स्वार्थोऽवायो जैनाभिमतः ।

(१) "नैकरूपप्रवेनात् । द्वयोः स्वरूपग्रहणे सति सम्बन्धवेदनम् ॥" इति शेषः । (२) व्यवसायो विकल्पः संजायते, न तु स्वयं तन्निश्चयात्मकम् ।

यदि वा, यथान्यासमेव एवकारोऽस्तु तदवाय एव अन्यापोहो नान्य इत्यर्थः । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**कथंचन** इत्यादि । **कथंचन** केनापि स्वयम् उपादानत्वप्रकारेण विकल्पवासना-प्रबोधप्रकारेण वा । **अविकल्पकदृष्टेः** अविकल्पदर्शनात् **स्यात्** भवेत् **न विकल्पमनो यतः** । एतदुक्तं भवति–यदि तदवाय एव अन्यापोहः अयमेव वा तदवायो न भवेत् किन्तु अन्य एव दर्शनजनितो मानसो विकल्पः; तर्हि तदभाव एव स्यात् इति । तथाहि–यदि तद्दृष्टिः [१२४ क] कदाचिद् उपलम्भगोचरचारिणी युक्तमेतत्–**'यतो विकल्पमनः'** इति, नान्यथा अतिप्रसङ्गात् । न चैवमिति चिन्तितम् ।

व्यतिरेकमुखेन कारिकां व्याख्यातुमाह–**नहि** इत्यादि । **हि** इति यस्मादर्थे । यस्मात् **नान्यतोऽविवक्षितात् स्वार्थं** स्वम् अर्थश्च (ञ्च) **अव्यवच्छिन्दत्** ततो भिन्नमविषयीकुर्वत् **प्रत्यक्षं परिच्छिनत्ति** विषयीकरोति स्वार्थं नाम किन्तु व्यवच्छिन्ददेव । अनेन स्वार्थावाय एव अन्यापोह इति व्याख्यातम् । **नापि स्वार्थं कथञ्चित्** सच्चेतननीलादिप्रकारेण **अपरिच्छिन्ददेव [व्यवच्छिनत्ति]** अनेन अन्यापोह एव तदवाय इति दर्शितम् । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**सर्वथा** इत्यादि । सर्वेण अन्यतो व्यवच्छिन्दता तत्परिच्छिनत्य (नत्तीत्य)नेन कथञ्चित् पन (परि)-च्छिन्दत् व्यवच्छिनत्ति नाम इत्यनेन वा प्रकारेण **अर्थस्वभावाऽसिद्धिप्रसङ्गात्** । **नहि** इत्यादि । एतदपि कुतः ? इत्याह–**निर्विकल्प** इत्यादि । अन्यव्यवच्छेदविकल्पात् निष्क्रान्तेन **गृहीत[स्य अगृहीत] कल्पनया** हेतुभूतया **विकल्पबुद्धेः** अन्यव्यवच्छेदविकल्पस्य **निर्विषयत्वाच्च** । स्वार्थव्यवसायजननात् [नि]र्विकल्पकमेव अर्थस्वभावग्राहकमिति चेत्; अत्राह–**नच** इत्यादि **[नच ततो विकल्पसंभवः]**

ननु माभूत् क्षणिकादिविषयत्ततस्तत्रन्नीलादिविषयं तस्यात् (विषयात्ततः सः नीला-दिविषयात्तु स्यात्) इति चेत् ; अत्राह–**ततो वर्ण** इत्यादि । **ततो** निर्विकल्पकदर्शनात् न केवलं क्षणिकत्वादिविकल्पः किन्तु **वर्णसंस्थानादिविकल्पोऽपि मा भूत्** , एकस्यं स्वविषये तज्जनकेतररूपासंभवादिति भावः । [१२४ख] इदमपरं व्याख्यानम्–**ततो** मानसतज्ज्ञान-योगाद् **वर्णेन** लिङ्गेन **संस्थानादिविकल्पः** तदनुमानमपि **मा भूत्** , दर्शनमात्रविषयीकृतस्य लिङ्गस्य तदकारणत्वात् । अत्रापि पूर्वो दृष्टान्तः संबंधते (सम्बध्यते) । तन्न युक्तम्–

*"ममैवं प्रतिभासो यः न स संस्थानवर्जितः ।" [प्र०वार्तिकाल २।१] इत्यादि ।

ततः किं जातम् ? इत्याह–**कथम्** इत्यादि । **एवम्** अनन्तरप्रकारेण सति दोषे **कथं न सुप्तायितम्** ? अत्रैव दूषणान्तरमाह–**कथम्** इत्यादि । **कथं च अत्यन्तं** सर्वात्मना **असदृशात्मकं** विलक्षणं कारणविषयस्वभावादिना **'वि(निर्वि)कल्पदर्शनम्'** इति विभक्तिपरिणामेन

(१) स्वार्थावायः । (२) निर्विकल्पकदृष्टिः । (३) स्वार्थावायः । (४) निर्विकल्पेन । (५) विकल्पस्य अवस्तुभूतसामान्यविषयत्वात् । (६) निर्विकल्पात् । (७) निर्विकल्पात् । (८) विकल्पः । (९) निर्विकल्पात् । (१०) निर्विकल्पस्य । (११) नीले विकल्पजनकत्वं क्षणिकांशे तदजनकत्वमिति रूपद्वया-सम्भवादिति भावः । (१२) अनुमानहेतुत्वाभावात् । (१३) "एवमन्यत्र दृष्टत्वात् अनुमानं तथा सति।" इति क्वेपः ।

सम्बन्धः सदृशविकल्पं नियमेन अवश्यंभावेन योजयेत् अन्यथा नीलज्ञानं पीतविकल्पं योजयेत् अविशेषात्[1]। कथम्भूतं तत् ? इत्याह–पूर्वापरपरामर्शशून्यं पूर्वः कारणक्षणः अपरः कार्यक्षणः तयोः परामर्शो विषयीकरणम् तेन शून्यम्। एतदुक्तं भवति–यदा तद्दर्शनं पूर्वापरयोर्न प्रवर्त्तते तदा तद्गतं सादृश्यं न विषयीकरोति तत्कथं तत्र स्मृतिहेतुः ? अननुभूते तैदयोगात्[2]। इतरथा वर्त्तमाने वृत्तिमदिन्द्रियं तत्र दर्शनकारणं स्यात् इति न युक्तमेतत्– ५

*"वर्त्तमाने सदाक्षाणां वृत्तिर्नातीतभाविनि।
तदाश्रितं कथं ज्ञानं वर्तेतातीतभाविनि॥" [प्र०वार्तिकाल३।१२६] इति।

अथ पूर्वस्मरणसहायमपरदर्शनं तद्विकल्पेन योजयेत्, एवमपि [१२५क] पूर्वमात्रस्मृतिः स्यात् नापरसदृशे[3] सादृश्याऽननुभवात्। तथापि तत्कल्पने परिमलस्मरणसहायं चक्षुः गन्धे ज्ञानमुपजनयेत्। अविषयत्वमुभयत्र समानम्। यदि पुनः पूर्वापरदर्शनाभ्यां तैदभेदेन व्यवस्थितं १० सादृश्यं प्रतिपन्नमेव केवलं पूर्वस्मरणसहायादुत्तरदर्शनात् तत्र विकल्पः[4] स्यादिति चेत्; तर्हि तद्दर्शनाभ्यां[5] तदभेदेन व्यवस्थितमेकत्वं प्रतिपन्नमेव केवलं पूर्वस्मरणसहायादपरदर्शनात् तत्र एकत्वज्ञानं स्यात्। न चैवं परेण[6] इष्यते। तन्न परस्य[7] सदृशविकल्पं तद् योजयेदिति स्थितम्। पुनरपि कथंभूतम् ? इत्याह–अलक्ष्यमिति। निरंशपरमाणुरूपतया सन्तानान्तरवदभावेन सन्देहेन वा अनध्यवशेयंयमने (अलक्ष्यमनध्यवसेयं नियमेन) बन्ध्यासुतदर्शनमिव तत्र कथं १५ योजयेदिति दर्शयति। यतो योजनाद् विकल्पानाम् अयगविनामन्यथा (अयं गौरित्यादि) व्यवसायिनां कुतश्चित् परम्परया स्वलक्षणादुत्पत्तेः अविसंवादः। कुत इति चेत् ? अत्राह–सम्बन्धाऽसिद्धेः इति। एतदुक्तं भवति–यदि [8]परस्य स्वलक्षणात्[9] तैदर्शनाद्वा विकल्पानामुत्पत्तिः स्यात् तदा तत्र सम्बन्धसिद्धेः अविसंवादः स्यात्। न चैवमिति। उपसंहारार्थमाह–तन्न इत्यादि। यत एवं तत् तस्मात् न असाधारणैकान्ते प्रमाणप्रमेयफलव्यवस्था। दृष्टान्तमाह– २० साधारणैकान्तवत् इति।

*"प्रमाणस्य फलं साक्षात् सिद्धिः [१२५ख] स्वार्थविनिश्चयः।" [सिद्धिवि० १।३] इत्यनेन प्रमाणस्य अक्रमरूपं फलं प्रतिपाद्य अधुना स्वपक्षे क्रमरूपं दर्शयन्नाह–व्यापक इत्यादि।

[व्यापकावग्रहव्याप्तसमीहावायधारणाः। २५
पौर्वापर्येण सम्प्राप्तप्रमाणफललक्षणाः॥१५॥

पश्यन्नयमसाधारणमेव पश्यति दर्शनात् इति परमसमञ्जसं स्थूलाकारस्य तत्र प्रतिभासात्, तद्व्यतिरेकेण स्वलक्षणानि परिस्फुटं तत्र प्रतिभासन्त इति रचितं शिलाप्लवं कः

(१) भिन्नत्वाविशेषात्। (२) पूर्वापरगतम्। (३) स्मरणाभावात्। (४) अतीतानागतादौ। (५) "बोध्यदेशस्थितेऽक्षाणां वृत्तिर्नातीतभाविनि। तदाश्रितं च विज्ञानं न कालान्तरभाविनि॥"–प्र० वार्तिकाल० । उद्धृतोऽयम्–न्यायवि० वि० प्र० पृ० १४२। (६) पूर्वापरसदृशविकल्पेन। (७) स्मृतिः स्यात्। (८) पूर्वापरतादात्म्येन। (९) सदृशोऽयमिति विकल्पः। (१०) पूर्वापरतादात्म्ये। (११) बौद्धेन। (१२) बौद्धस्य। (१३) बौद्धस्य। (१४) स्वलक्षणदर्शनाद्वा।

श्रद्धीत ? नहि सञ्चिताः परमाणवः पारिमण्डल्यं क्षणिकत्वं वा जहति यतोऽन्यथा प्रतिभासेरन् । तदेतत्सामान्यं व्यापकमवगृह्य विशेषं प्रतीहमानं तथाऽवयत् धारयति इति युक्ता प्रमाणफलव्यवस्थितिः । अत्रैव तद्व्यवस्थितिसम्बन्धः । पूर्वपूर्वस्य स्वविषयग्रहणानुबन्धमजहत एव उत्तरोत्तरं प्रति साधकतमत्वात् स्मार्तज्ञानवत् । यथादर्शनमेव सर्वत्र मानादिव्यवस्था न यथातत्त्वमित्येकान्ते कुतस्तत्त्वप्रतिपत्तिः ? प्रमाणान्तरस्याप्यसिद्धेः । प्रत्यक्षस्वभावत्वात् सर्वथाऽसिद्धेः]

व्यापकं सामान्यं तस्य **अवग्रहश्च व्याप्तो** विशेषः तस्य **समीहा अवायो धारणाश्च** । ताः कथंभूताः ? इत्याह–**संप्राप्त** इत्यादि । **संप्राप्तम् प्रमाणफलयोर्लक्षणं** यकाभिः ताः तथोक्ताः । कथम् ? इत्याह–**पौर्वापर्येण** ।

ननु स्वलक्षणमात्रस्य सर्वत्र दर्शनात् अयुक्तमेतद्–**व्यापके**त्यादि इति चेत् ; अत्राह–**पश्यन्नयम्** इत्यादि । **पश्यन्नयं** सौगतः जनो वा [1]**असाधारणमेव** न साधारणं **पश्यति** । कुत एतत् ? **दर्शनात्** असाधारणस्य अवलोकनात् इत्येवं **परमसमञ्जसम्** । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**स्थूलाकारस्य** इत्यादि । नास्त्येव तत्र[2] तस्य[3] प्रतिभासः स्वलक्षणप्रतिभासादिति चेत् ; अत्राह–**तद्व्यतिरेकेण** इत्यादि । **तद्व्यतिरेकेण** यथोक्तस्थूलाकारव्यतिरेकेण **स्वलक्षणानि परिस्फुटं** यथा भवन्ति तथा **तत्र** अक्षबुद्धौ **प्रतिभासन्ते इत्येवं रचितं शिलाप्लवं कः श्रद्धधीत ?** यथोक्ताकारस्य तत्र[4] प्रतिभासेऽपि [5]एतेषां प्रतिभासकल्पने काष्ठप्लवे शिलाप्लवकल्पना स्यादिति मन्यते । अथ [6]तान्येव सञ्चितानि तथावभासन्ते ; तत्राह–**नहि** [१२६ क] इत्यादि । **हिः** यस्मात् **न परमाणवः** चेतनेतराणवः **संता (सञ्चिताः)** सन्तः **पारिमण्डल्यम्** असर्वगतनिरंशत्वं **जहति क्षणिकत्वं वा** सांशाऽक्षणिकत्वप्रसङ्गादिति मन्यते । **यतः** तत्त्यागाद् **अन्यथा** अन्येन परिमण्डलक्षणिकत्वप्रकारादिनेन (राद् भिन्नेन) सांशाऽक्षणिकत्वप्रकारेण **प्रतिभासेरन्** । **यत** इति वा आक्षेपे, नैव प्रतिभासेरन् । तथापि तथावभासने न किञ्चिद्विज्ञानमभ्रान्तं स्यादिति भावः ।

उपसंहर्तुमाह–**तदेतद्** इत्यादि । यत एवं **तत्** तस्मात् **एतत्** प्रतीयमानं प्रत्यक्षम् **अवगृह्य** । **किम्** ? इत्याह–**सामान्यं** द्विविधमपि[7], कथम्भूतम् ? **व्यापकं** स्वसकलविशेषस्वभावम्, अन्यस्य व्यापकत्वाभावात् । किं कुर्वत् किं करोति ? इत्यत्राह–**विशेषं** तद्व्याप्यभेदं **प्रति ईहमानं तथा** ईहितविशेषप्रकारेण **अवयत्** निश्चिन्वत् **धारयति** धारणीभवति इति एवं **युक्तं (क्ता) प्रमाणफलव्यवस्थितिः** ।

अत्राह–[8]**नैयायिकादिः**–*"**विशेषणस्य सामान्यस्य व्यापकस्य यदा ज्ञानं प्रमाणं**

---

(१) स्वलक्षणम् । "आद्यमसाधारणविषयमेव"–हेतुबि०, टी० पृ० २५ । (२) दर्शने । (३) स्थूलाकारस्य । (४) दर्शने । (५) स्वलक्षणानाम् । (६) परमाणुस्वलक्षणानि । (७) तिर्यगूर्ध्वताभेदम् । (८) "यदा सन्निकर्षः तदा ज्ञानं प्रमितिः, यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्···"–न्यायभा० १।१।३ । "तत्र सामान्यविशेषेषु स्वरूपालोचनमात्रं प्रत्यक्षं प्रमाणम्···प्रमितिः द्रव्यादिविषयं ज्ञानम्···अथवा सर्वेषु पदार्थेषु चतुष्टयसन्निकर्षादवितथमव्यपदेश्यं यज्ज्ञानमुत्पद्यते तत्प्रत्यक्षं प्रमाणं···प्रमितिः गुणदोषमाध्यस्थ्यदर्शनमिति ।"–प्रश० भा० पृ० १८७ । "यदा निर्विकल्पकं सामान्यविशेषज्ञानं प्रमाणं तदा

तदा विशेषस्य विशेष्यस्य ज्ञानं फलम्, [1]अस्य च प्रमाणत्वे संस्कारः फलम्" इत्यभिधानात् मदीय एव मते तद्व्यवस्थितिः; तत्राह—अत्रैव इति । परीक्ष्यमाणे अस्मिन्नेव अनेकान्ते तत्त्वे [१२६ख] तद्व्यवस्थिति[रिति] सम्बन्धः, अन्यत्र सामान्यादिव्यवस्थाऽभावादिति भावः ।

ननु च [2]मध्यक्षणेक्षणक्षीणम् अध्यक्षं न पूर्वोत्तरक्षणौ ईक्षितुं क्षमते । नापि पूर्वापरपर्यालोकनं मध्यक्षणमालोचते, [3]खण्डे वृत्तिमत् न मुण्डादौ वर्तते तत्कृतः [4]तदाधारस्य सामान्यस्य तस्य तद्व्यापकस्येति चेत् ? अत्राह—पूर्वपूर्वस्य । पूर्वपूर्वं यद्विज्ञानं तस्य तस्य उत्तरमुत्तरं च प्रतीतिः यज्ज्ञानं तत्प्रति साधकतमत्वात् अव्यवधानेन जनकत्वात् पूर्वपूर्वस्य उत्तरोत्तरज्ञानपरिणामादिति भावः । कथम्भूतस्य ? स्वविषयग्रहणानुबन्धमजहत एव स्वविषयं गृह्णदेव विषयान्तरग्रहणाकारेण परिणमते । ततः तदेतदि [त्यादि]ना सम्बन्धः । अत्र दृष्टान्तमाह—स्मार्त्तज्ञानवत् इति । स्मृतिरेव स्मार्त्तं ज्ञानं तस्य इव तद्वत् इति । एतच्च [5]परस्य सुप्रसिद्धम्, अन्यथा कथं काल्पनिकमपि सामान्यादिव्यवहारमारचयेत् ।

ननु सर्वत्र तद्व्यवस्था यथादर्शनमेव न परमार्थत इति चेत् ; अत्राह—यथा इत्यादि । सर्वत्र अन्तर्बहिश्च महि (यदि) वा इतरमतवत् जैनमतेऽपि यथादर्शनमेव मानादिव्यवस्था न यथातत्त्वम् इत्येवम् एकान्ते अङ्गीक्रियमाणे कुतो न कुतश्चित् तत्त्वस्य *"यथादर्शनमेव" [प्र०वा०२।३५७] इँत्यादि [१२७क] स्वरूपस्य क्षणक्षयादिस्वरूपस्य वा प्रतिपत्तिः ? एतदुक्तं भवति—यदि तत्र यथादर्शनमेव तद्व्यवस्था बहिरर्थवन्न तत्सिद्धिः । अथ यथातत्त्वम् ; तदेकान्तप्रतिज्ञाहानिः इति । ननु मा भूत् प्रत्यक्षतः तत्प्रतिपत्तिः विचारात् स्यादिति चेत् ; अत्राह—प्रमाणान्तरस्यापि इत्यादि । इदमत्र तात्पर्यम्—यावान् कश्चिद्विचारः स सर्वोऽपि यदि अप्रमाणम् ; न ततो बहिरर्थवत् प्रकृततत्त्वसिद्धिः । अथ प्रमाणम्, न प्रत्यक्षम् ; विचारात्मकत्वात् [कल्पनापोढत्वाद] भ्रान्तत्वाच्च प्रत्यक्षस्य । अनुमानं चेत् ; तर्हि प्रमाणान्तरस्यापि अनुमानस्याप्यसिद्धिः (द्वेः) कुतः तत्त्वप्रतिपत्तिः ? कुतः तदसिद्धिः ? इत्यत्राह—प्रत्यक्षस्वभावत्वात् इति । प्रत्यक्षस्य अविकल्पस्य स्वभावः क्षणिकनिरंशपरमाणुरूपता इव स्वभावो यस्य [तस्य] भावात् तत्त्वात् । एतदुक्तं भवति—यथा अविकल्पदर्शनं न लक्ष्यं तथा अनुमान-

---

द्रव्यादिविषयं विशिष्टं ज्ञानं प्रमितिरित्यर्थः । यदा निर्विकल्पकं सामान्यविशेषज्ञानमपि प्रमारूपमर्थप्रतीतिरूपत्वात् तदा तदुत्पत्तावविभक्तमालोचनमात्रं प्रत्यक्षं···विशेष्यज्ञानं विशेषणज्ञानस्य फलं विशेषणज्ञानं न ज्ञानान्तरफलं···यदा निर्विकल्पकं सामान्यविशेषज्ञानं फलं तदा इन्द्रियार्थसन्निकर्षः प्रमाणम्, यदा विशेष्यज्ञानं फलं तदा सामान्यविशेषालोचनं प्रमाणमित्युक्तं तावत्···सम्प्रति हानादिबुद्धीनां फलत्वे विशेष्यज्ञानं प्रमाणमित्याह···"—प्रश० कन्द० पृ० १९९ । "प्रमाणफलते बुद्ध्योर्विशेषणविशेष्ययोः । यदा तदापि पूर्वोक्ता भिन्नार्थत्वनिराकिया॥ विशेषणे तु बोद्धव्ये यदालोचनमात्रकम् । प्रसूते निश्चयं पश्चात्तस्य प्रामाण्यकल्पना ॥ निश्चयं तु फलं तत्र नासावालोचितो यदा । तदा नैव प्रमाणत्वं स्यादर्थानवधारणात् ॥ हानादिबुद्धिफलता प्रमाणं चेद् विशेष्यधीः । उपकारादिसंस्मृत्या व्यवायश्चेदियं फलम् ॥"—मी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० ७०-७३ ।

(१) विशेष्यज्ञानस्य । (२) मध्यक्षणावलोकनमात्रपर्यवसितम् । (३) गोविशेषे । (४) व्यक्तिनिष्ठस्य । (५) बौद्धस्य । (६) व्यवहारतः । (७) "यथानुदर्शनं चेयं मानमेयफलस्थितिः। क्रियतेऽविद्यमानापि ग्राह्यग्राहकसंविदाम् ॥"—प्र०वा० इति मतस्य । (८) "कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्" (न्यायवि०१।४) इति प्रत्यक्षलक्षणत्वात् ।

मपि । चिन्तितं चैतत्–*"अङ्गीकृतात्मसंवित्तेः" [सिद्धिवि० १।१८] इत्यादिना । न च तस्य रूपद्वयं येन कथञ्चिल्लक्ष्यं स्यात्, एकान्तहानिप्रसङ्गात् । एतदप्युक्तम्*"प्रसिमास्ये(सै)क" [सिद्धिवि० १।१०] इत्यादिना । अथवा **प्रत्यक्षस्य** स्वपरभावयोः विभ्रमः **स्वभावः** सर्वविकल्पातीतता वा स इव स्वभावो यस्य तस्य भावात् **तत्त्वात्** इति । ततो यथा प्रत्यक्षान्न स्वपरयोः सिद्धिः तथा अनुमानादपि इति । यथा वा, न विभ्रमादि[१२७ख]व्यवस्था तथा अध्यक्षानुमानव्यवस्थापीति भावः । व्यवहारेण तत्सिद्धिरिति चेत् ; अत्राह–**सर्वथा** इति । सर्वेण परमार्थप्रकारेणेव व्यवहारप्रकारेणापि **सर्वथा सिद्धिः** [असिद्धेः] इति विकल्पाभावे अत्यन्तव्यवहारापहारात् मिथ्यैकान्ते तदग्रहादिति ।

एवं परस्य प्रतीत्यभावेन प्रमाणान्तराऽसिद्धिरुक्ता, साम्प्रतं कारणाभावेन सा उच्यते इति दर्शयितुमाह– **निबोध** इत्यादि ।

[निबोधः सर्वतोऽन्यस्य विलक्षणमलक्षयन् ।
अनीहः सदृशस्मृत्या हेतुरित्यविकल्पना ॥१६॥

स्वविषयविशेषनिर्भासं प्रत्यक्षमात्मानं कथञ्चिन्न लक्षयतीति विरुद्धम्, यथासमयं प्रतिपत्तेः । प्रतिपत्तौ वा प्रमाणान्तरावृत्तिप्रसङ्गात् । विशेषं लक्षयतो निराकाङ्क्षत्वात् कथञ्चिदप्रयतमानस्य कुतः स्मृतिर्यतः समारोपव्यवच्छेदविकल्पः । समा···। तल्लक्षितसमारोपे अतिप्रसङ्गात् किमकिञ्चित्करादिदर्शनवत् । यदि पुनः अनुभूतं सर्वथा न लक्षयेत् कुतः समारोपव्यवच्छेदप्रयत्नः सुषुप्तवत् । विशेषं पश्यतो लक्षयतो वा समानाकारस्मृतिरयुक्तैव तयोरसम्बन्धात् । अतिप्रसङ्गो ह्येवं स्यात् । अनर्थिका चेयम् अर्थक्रियासमर्थस्वलक्षणदृष्टिर्ग्राहकं यतः विकल्पबुद्धेरतद्विषयत्वात् । तत्त्वदर्शिनस्तद्विपरीतस्मृत्युत्पादनप्रयत्नानुपपत्तेः तद्दर्शनबलोत्पत्तेः तत्त्वे प्रवर्तनाच्च नानर्थिका अनुमानवदिति चेत् ; तस्यास्तर्हि प्रामाण्यं युक्तं तदभावे संवादायोगात् । प्रमाण···। तदयं विशेषदर्शनात् सामान्यस्मृतिव्यवहारं प्रवर्तयन्नविकल्प एव ।]

निबोधो बोधो **हेतुः** कारणम् **[अन्यस्य]** प्रमाणान्तरस्य **इति अविकल्पना** बोम्मय(बोन्मत्त)स्य कल्पना । किं कुर्वन् ? **अलक्षयन्** अनिश्चिन्वन्, **सर्वतः** सजातीयाद् अन्यतोऽर्थान्तराद् **विलक्षणं** व्यावृत्तं परकल्पितं वस्तु धर्म्मादे (धर्म्यादेः) सिद्धेः, अनिश्चितस्य अस्य अनुमानहेतुत्वे स्वापादौ प्रसङ्ग इति चोक्तम्, तदुत्तरकालभाविविकल्पापेक्ष (क्षः) तद्धेतुः इति चेत्; अत्राह–**सदृशस्मृत्या** इति । **सदृशस्मृत्या** सदृशविकल्पेन कारणेन सँ तस्य हेतुः **इत्यपि अविकल्पना** विकल्पप्रमाणान्तरतापत्तेः । यद्वक्ष्यति अत्रैव वृत्तौ' 'तस्याः तर्हि' इत्यादि । सँ तर्हि तल्लक्षयन् तस्य हेतुरिति चेत् ; अत्राह–**अनीहः** इत्यादि । **अनीहः** सत्त्वादिवत् क्षणिकत्वादिरूपेणापि लक्षिते वस्तुनि अलक्षिता सा सम्भवाति (वति तन्नि)राकाङ्क्षः तँस्य हेतुः

(१) प्रमाणान्तरासिद्धिः । (२) धर्म्मादिज्ञानस्य । (३) निबोधः । (४) टीकायाम् । (५) निबोधः । (६) ईहा । (७) निबोधस्य ।

[१२८क] **इत्यपि [वि] कल्पना** निश्चिते प्रमाणान्तरवैफल्यादिति मन्यते। विलक्षणे लक्षिते च सदृशस्मृतेरभावात् तया हेतुः इति **अविकल्पना** इति।

ननु स्यादयं दोषो यदि तत्सर्वथा न सर्वं लक्षयेत्। लक्षयति इति चेत्; अत्राह–**स्वविषय** इत्यादि। **स्वो** बोधात्मा **विषयोऽर्थः**, यदि स्वावेव (तावेव) **विशेषौ** भेदौ सर्वतो व्यावृत्तत्वात्, **तयोर्निर्भासः** तदाकारता स विद्यते यस्य तत्तथोक्तं ज्ञानम्। कथंभूतम्? **प्रत्यक्षम्** अविकल्प- ५
दर्शनम् **आत्मानं** स्वस्वरूपम्, उपलक्षणमेतत्–तेन विषयस्वरूपं च, **कथञ्चित्** सत्त्वादिरूपेण **न क्षपति (लक्षयति)** इत्येवं विरुद्धम् एकस्य लक्षितेतरस्वभावे अनेकान्तप्रसङ्गादिति मन्यते। सर्वथा तर्हि लक्षयति इति चेत्; अत्राह–**यथासमयम्** इत्यादि। **समयस्य** सौगतकल्पितं तस्य (ल्पितस्य) अनतिक्रमेण **यथासमयं प्रतिपत्तेः** तत्त्वस्य, लक्षयतीति विरुद्धम्। तत्प्रतिपत्त्यङ्गीकरणे दूषणमाह–**प्रतिपत्तौ वा प्रमाणान्तरावृत्तिप्रसङ्गात्** विरुद्धम्। कुत एतत्? इत्यत्राह– १०
विशेषं लक्षयतो निराकाङ्क्षत्वात्। तथापि तद्वृत्तिः स्यादिति चेत्; अत्राह–**कथञ्चित्** इत्यादि। नीलादिप्रकारेणेव क्षणिकत्वादिप्रकारेणापि **अप्रयतमानस्य** वस्तु साधयितुमनीहमानस्य **कुतः** कारणात् **स्मृतिर्दृष्टान्तस्मरणं यतः** स्मृतेः **समारोपव्यवच्छेद** [१२८ख] **विकल्पः** [1]तद्व्यवच्छेदकमनुमानम्। कुत एतत्? इत्याह–**समे**त्यादि। तथापि तत्संभवे दूषणमाह–**तद्** इत्यादि। **तेन** प्रत्यक्षेण **लक्षितस्य समारोपे** अङ्गीक्रियमाणे **अतिप्रसङ्गात्** अनुमानलक्षित- १५
स्यापि स्यात्। भवतु को दोषः इति चेत्; अत्राह–**किम्** [**अकिञ्चित्कर**] इत्यादि। तस्य **अकिञ्चित्करादिकादि(रादि)दर्शनवत्** व्यवहारानुपयोगित्वादिति मन्यते। तर्हि सर्वथा न [ल]क्षयतीति चेत्; अत्राह–**यदि पुनः** इत्यादि। **अनुभूतं** [अनुभव]विषयीकृतं **सर्वथा** क्षणिकत्वादिना इव नीलत्वादिनापि **यदि न लक्षयेत्**, 'प्रत्यक्षम्' इति सम्बन्धः। **कुतः समारोपव्यवच्छेदप्रयत्नः** समारोपव्यवच्छेदोऽनुमानं तत्र प्रयत्नः कुतः? **सुषुप्तस्य इव तद्वत्** इति। २०

स्यान्मतम्–उत्तरविकल्पजननात् प्रत्यक्षं [2]तल्लक्षयति इत्युच्यते ततोऽयमदोषः इति; तत्राह–**विशेषम्** इत्यादि। **विशेषणं** (षं) **पश्यतो** दर्शनस्य लोकस्य वा **समानाकारस्मृतिरयुक्तैव**। कथंभूतस्य? **लक्षयतो वा** [3]विशेषमिति लक्षणोकृतविकारेऽपि (लक्षणीकृतविचारेऽपि) पुनः 'लक्षयतः' इति वचनं दोषान्तरप्रतिपादनार्थम्। कुतः [4]सा न युक्ता? इत्याह–**तयोः** विशेषदर्शनसमानाकारस्मृत्योः **असम्बन्धात्** तादात्म्यतदुत्पत्तिसम्बन्धविरहात्। २५

अथ मतम्–मा भूद् विसदृशयोः तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धः, पावकधूमयोरिव [5]तदुत्पत्ति- [१२९क] लक्षणः स्यादिति चेत्; अत्राह–**अतिप्रसङ्गो हि एवं स्यात्** नीलानुभवस्य[6] पीतस्मृतिः स्यात् विसदृशत्वाविशेषात्।

ततः तदुत्पत्तिमभ्युपगम्य दूषणान्तरमाह–**अनर्थिका चेयम्** इत्यादि। **अनर्थिका** निष्प्रयोजनिका। **च** इति पूर्वदूषणसमुच्चये, **इयं** समानाकारस्मृतिः। कुतः? इत्याह–**अर्थक्रिया** इत्यादि। ३०

---

(१) समारोपव्यवच्छेदकम्। (२) अनुभूतम्। (३) यद्यपि विशेषरूपेण लक्षणीकृत एव विचारः प्रवर्तते। (४) सदृशस्मृतिः। (५) कार्यकारणभावात्मकः। (६) नीलानुभवतः पुरुषस्य।

अर्थक्रियासमर्थस्य स्वलक्षणस्य दृष्टिर्दर्शनम् ग्राहकं यतः । [1]**तद्वत्** तत्स्मृतिरपि[2] तद्ग्राहिका इति चेत्; अत्राह–**विकल्पबुद्धेः अतद्विषयत्वात्** अर्थक्रियासमर्थाऽविषयत्वात्[3] कारणात् **अनर्थिका** इति । भवतु अतद्विषया तथापि [4]**तत्सत्तयैव नः** प्रयोजनमिति चेत्; अत्राह–**तत्त्व** इत्यादि । **तत्त्वदर्शिनः** सौगतस्य अन्यस्य वा अर्थक्रियार्थिनः **तस्य** तत्त्वस्य या **विपरीता** ५ **समानाकारस्मृतिः** तस्या **उत्पादने** यः **प्रयत्नः** तस्य **अनुपपत्तेः** 'अनर्थिका' इति । नहि नीलदर्शिनः [5]तत्क्रियार्थिनः पीतस्मृतिकरणे प्रयत्न उपपद्यते ।

अत्र परमतमाशङ्क्यते **तद्** इत्यादि दूषयितुम् । **तस्य** तत्त्वस्य **दर्शनं** तस्य **बलं** सामर्थ्यं तेन **उत्पत्तेः** तत्रत्वे (**तत्त्वे**) **प्रवर्तनात्व** (च) **न अनर्थिका**[6] **अनुमानवत्** इति चेत्; अत्राह–**तस्याः** समानाकारस्मृतेः **तर्हि प्रामाण्यं युक्तम्** उपपन्नम्, न दृष्टेः प्रामाण्यं युक्तम् इति । १० कुतः ? इत्याह–**तद्** इत्यादि । **तदभावे** तत्स्मृत्यभावे **संवादायोगात्** धर्मा(धर्म्या)श्रयविप्रतिपत्तेरयोगात् । कुतः ? इत्याह–[१२५ख] **प्रमाण** इत्यादि । व्याख्यातमेतत् प्रथमप्रस्तावे । **विशेषम्** इत्याद्युपसंहरन्नाह–**तद्** इत्यादि । यत एवं **तत्** तस्मात् **अयं** सौगतः **विशेषदर्शनात् सामान्यस्मृतिव्यवहारं प्रवर्त्तयन् अविकल्प एव** परामर्शशून्य एव । **तन्नास्यं** प्रमाणान्तरस्य सिद्धिरिति कुतः तत्त्वप्रतिपत्तिरिति स्थितम् ।

१५ भवतु तर्हि यथातत्त्वमेव मानादिव्यवस्था, सा च सौगतमत एव; इत्यत्राह–

[विकल्पेऽनर्थनिर्भासे विसंवाद्यविकल्पके ।
प्रत्यक्षं किं तदाभासं प्रमाणान्तरमेव वा ॥१७॥

विकल्पबुद्धेः न केवलमवस्तुनिर्भासः किन्तु विसंवादोऽपि सामान्यप्रतिपत्तेः विशेषदर्शनात् । अनयाऽर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानोऽर्थक्रियायां विसंवाद्यते । पुनरनुमानात् २० क्षणभङ्गादिषु व्यवहर्तृभिप्रायवशात् प्रामाण्याप्रामाण्यव्यवस्थायां विकल्पाविकल्पयोः प्रमाणेतरव्यवस्था प्रसज्यते । वस्तुतः पुनः विकल्पबुद्धेः विसंवादोऽपि तथैवाविकल्पबुद्धेः । कथमर्थनिर्भास इति चेत्; स्थूलस्यैकस्य प्रतिभासनात् वस्तुनो तद्विपरीतलक्षणत्वात् । तत एव विसंवादोऽपि विकल्पवत् ।]

विकल्पे अनुमाने अन्यस्मिन् वा **अनर्थनिर्भासे** वस्तुसामान्याकारे **विसंवादिनि** २५ विगताऽविप्रतिपत्तिप्रपञ्चे यदि[वा]व्यभिचारिणि सत्यविकल्पके क्षणिकनिरंशैकपरमाणुनिष्ठे दर्शने **प्रत्यक्षं किं न** किञ्चिद् विकल्पज्ञानम् अन्यद्वा, यदि वा स्वसंवेदनम् अन्यद्वा, यत इदं सूक्तं स्यात्–*"कल्पनापोढं ज्ञानं प्रत्यक्षम्" [प्रमाणसमु०पृ०८] इति, **तदाभासं किम्** ? न किञ्चित्, प्रत्यक्षापेक्ष्यस्यार्थं तदभावे[7] अभावादिति तद्व्यवच्छेदार्थमभ्रान्तग्रहणमयुक्तम्[8] । पश्य हि (यस्मात् हि) बहिरिव अन्तः परमाणुमात्रं तत्त्वं न तस्य द्विचन्द्रादिदर्शनमपि । प्रत्यक्ष-

(१) दर्शनवत् । (२) विशेषस्मृतिरपि । (३) अर्थक्रियाकारिस्वलक्षणाविषयत्वात् । (४) विकल्पबुद्धिसन्नावेनैव । (५) नीलार्थक्रियाभिलाषिणः । (६) समानाकारस्मृतिः । (७) सौगतस्य । (८) प्रत्यक्षाभासस्य । (९) प्रत्यक्षाभावे । (१०) 'कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्' इति प्रत्यक्षलक्षणे । (११) बौद्धस्य ।

प्रमाणाद् यद् अनुमानं तदन्तरम् तदेव वा किं यत इदं शोभेत–*"त्रिरूपात् लिङ्गाद्" [न्यायवि०२।३] इत्यादि। 'तदाभासम्' इत्येतत् मध्ये करणादत्रापि सम्बध्यते। प्रमाणान्तराभासं वा किम्? तत्र (तत्र) सूत्रम्–*"हेत्वाभासाः ततोऽपरे" [हेतुवि० श्लो०१] इत्यादि। पक्षादितदाभासयोः [१३०क] साध्यज्ञानस्य वा असिद्धेरिति मन्यते।

कारिकार्थं दर्शयितुमाह–विकल्प इत्यादि। विकल्पबुद्धेः लिङ्गविषयात्मा (यायाः) न केवलमवस्तुनिर्भासः। किं तर्हि? किन्तु विसंवादोऽपि वचनमपि (वञ्चनमपि)। ततो निराकृतमेतत्–

*"लिङ्गलिङ्गिधियोरेवं पारम्पर्येण वस्तुनि।
प्रतिबन्धात्[२] तदाभासशून्ययोरप्यवञ्चनम्॥" [प्र०वा०२।८२] इति।

कुत एतत्? इत्यत्राह–विशेष इत्यादि। सामान्यस्य प्रतिपत्तिः यस्यां सा तथोक्ता तस्या विकल्पबुद्धेः प्रवृत्तेन विशेषाणां दर्शनात् शङ्खे पीतप्रतिपत्तेः प्रवृत्तेन शुक्लदर्शनादिव। ननु विशेषेषु तद्विसंवादेऽपि न तत्साध्यायां स इति चेत्; अत्राह–अर्थम् इत्यादि। अर्थं पावकादिकं परिच्छिद्य अनया विकल्पबुद्ध्या प्रवर्तमानः जनोऽर्थक्रियायां दाहादिलक्षणायां विसंवाद्यते 'विशेषदर्शनात् सामान्यप्रतिपत्तेः' इत्येतदत्रापि सम्बध्यते। एतदुक्तं भवति–यथाविधमर्थं परिच्छिद्य प्रवर्त्तते जनः तथाविधार्थसाध्याऽर्थक्रियाप्राप्तौ तत्र तदविसंवादो नान्यथा, इतरथा पीतज्ञानात् प्रवर्त्तमानस्य शुक्लशङ्खार्थक्रियाप्राप्तौ तत्र ज्ञानमविसंवादि स्यादिति। अनुमानविकल्पबुद्ध्या न विसंवाद्यते इति चेत्; अत्राह–पुनः इत्यादि–पुनः लिङ्गबुद्ध्यनन्तरम् अनुमानादर्थं परिच्छिद्य प्रवर्त्तमानो विसंवाद्यते, क? क्षणभङ्गादिषु [१३०ख] विशेषदर्शनात् सामान्यप्रतिपत्तेः।

ननु *"व्याख्यातारः खल्वेवं विवेचयन्ति न व्यवहर्त्तारः। ते हि दृश्यविकल्प्यावर्थौ एकीकृत्य यथेष्टं प्रवर्त्तन्ते, तदभिप्रायवशात् तदवञ्चनमुक्तम्" [प्र०वा०स्व० १।७२] इति चेत्; अत्राह–व्यवहर्त्रभिप्राय इत्यादि। व्यवहर्तृणाम् व्यवहारिणाम् 'यदेव अस्माभिः लिङ्गबुद्धेः लिङ्गिबुद्धेर्वा प्रतिपन्नम् तदेव प्राप्यते' इति योऽभिप्रायः तद्वशात् क्षणिकविकल्पानां प्रामाण्यव्यवस्थायां नित्यादिविकल्पानां वाऽप्रमाण(ऽप्रामाण्य)व्यवस्थायां क्रियमाणायां विकल्पा[विकल्प]योः प्रमाणेतरव्यवस्था प्रसज्येत। दर्शनोत्तरकालभावी नीलादिनिश्चयः इह विकल्प इत्युच्यते नाऽनुमानम्, अत्र परस्य विवादाऽभावात्, तस्य प्रमाणत्वव्यवस्था–'यदेव तेन परिच्छिन्नं तदेव प्राप्यते' इति, तदभिप्रायवशाद् अविकल्पस्य अप्रमाणत्वव्यवस्था प्रसज्येत अनेन अर्थं परिच्छिद्य प्रवर्त्तमाना वयं तत्प्राप्तिनत्तइतितन्नेतितत्तद (न तत्प्राप्तिमन्त इति तद)-भिप्रायः। अन्यथा *"मनसोर्युगपद्वृत्तेः" [प्र० वा० २।१२३] इत्यादि अनर्थकं स्यात्।

---

(१) "तत्र स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गाद् यदनुमेये ज्ञानम्"–न्यायवि०। (२) सम्बन्धात्। (३) लिङ्गाभास-लिङ्ग्याभासरहितयोः अर्थात् सम्यक्लिङ्गलिङ्गिनोः अवञ्चनम् अविसंवादः। (४) पीते। (५) बौद्धस्य। (६) व्यवहर्त्रभिप्रायवशात्। (७) "सविकल्पाविकल्पयोः। विमूढो लघुवृत्तेर्वा तयोरैक्यं व्यवस्यति॥" इति शेषः।

एतेन दर्शनदृष्टविषयत्वमपि विकल्पस्य निरस्तम् ; तथा तदभिप्रायाभावात् । वस्तुविकल्पस्य तद्ग्रहणस्येति चेत् ; अत्राह–वस्तुतः परमार्थतः । पुनः इति पक्षान्तरद्योतने, विकल्पबुद्धेः अनुमानविकल्पबुद्धेरपि अन्यस्याः स्वयं [१३१क] परेण तत्त्वोपगमात् विसंवादोऽपि वक्तुं न केवलमवस्तुनिर्भास एव । तथा च इतरविकल्पवद् अनुमानविकल्पोऽपि प्रमाणं न भवेदिति मन्यते । अस्तु तर्हि सर्वो विकल्पबुद्धिरप्रमाणं विसंवादात् अवस्तुनिर्भासाच्च, अविकल्पबुद्धिस्तु प्रमाणं विपर्ययादिति चेत् ; अत्राह–तथैव इत्यादि । अविकल्पबुद्धेः बौद्धेन स्वलक्षणविषयत्वोपगमात् कथं (कथं) तदवस्तुविषयत्वमिति मन्वानः परः पृच्छति 'कथमनर्थनिर्भासः' इति ? अत्रोत्तरमाह–स्थूलस्यैकस्य [प्रतिभासनात्] इत्यादि । इदमेव वस्तुलक्षणमिति चेत् ; अत्राह–वस्तुनः इत्यादि । वस्तुनः अर्थक्रियाकारिणो भावस्य तस्माद् उक्तात्लक्षणाद् विपरीतम् अन्यथाभूतम् अद्वयरूपं लक्षणं पश्य (यस्य) तस्य भावात् तत्त्वात् । पैरप्रसिद्ध्या इदमुक्तम्, तत एव अवस्तुनिर्भासादेव विसंवादोऽपि न केवलम् अवस्तुनिर्भास एव 'अविकल्पबुद्धेः' इति सम्बन्धः । तथा च * "प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्" [प्र० वा० १।३] इत्यादि परस्य असंभवि प्रमाणलक्षणमिति प्राप्तम् ।

ननु व्यवहारमाश्रित्य *"प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्" इत्युक्तम् *"व्यवहारेण" [प्र०वा०१।७] इत्यादि वचनात् । न च जनाः तदवस्तुनिर्भासेऽपि संवादभाजः प्रतीयन्ते, तदवस्तुनिर्भास एव वस्त्वध्यारोपेण प्रवृत्तौ तत्परितोषदर्शनात्, तत्परितोषश्च अविसंवाद इति सौगतं मतम् , तत् कस्येव तस्या विसंवाद इति चेत् ; अत्राह–[१३१ख] विकल्पवद् इति । दर्शनोत्तरकालभाविनो विकल्पस्य इव तद्वदिति । एतदुक्तं भवति–यथा विकल्पस्य अवस्तुसामान्यनिर्भासिनो विसंवादः ततः प्रवृत्तौ जातपरितोषेऽपि व्यवहारिणि तथा अविकल्पबुद्धेरपि । इतरथा तद्वत् विकल्पस्यापि प्रामाण्यसिद्धिः (द्धेः) प्रमाणसंख्यानियमः स्वलक्षणैकान्तश्च निरवसरः स्यात् ।

एतेनेदमपि निरस्तं यदुक्तम् अ र्च टे न–*"व्यवहर्त्रभिप्रायवशाद् विकल्पस्य गृहीतग्रहणात् प्रामाण्यमुक्तं, न भावतः, तत्र तदभावात्, परमार्थतः पुनः अवस्तुनिर्भासात्" इति ; कथम् ? अविकल्पबुद्धेरपि अस्य समानत्वात् ।

अधुना योगाचारस्य मतं दूषयितुं दर्शयति–यथा इत्यादि ।

[यथाकथञ्चित्तस्यार्थरूपं मुक्त्वाऽवभासिनः ।
सत्यं कथं स्युराकारा निर्भासा यतो बहिः ॥१८॥

(१) दर्शनदृष्टविषयत्वव्यवस्था । (२) विसंवादत्वस्वीकारात् । (३) अविसंवादात्, स्वलक्षणवस्तुविषयत्वाच्च । (४) बौद्धाभिप्रायेण । (५) "प्रामाण्यं व्यवहारेण ।"–प्र० वा० । (६) अविकल्पबुद्धेः । (७) प्रत्यक्षानुमानरूपप्रमाणद्वयसंख्या । (८) विकल्पे । (९) तुलना–"यद्यपि तेनानधिगतं सामान्यमधिगम्यत इति वर्ण्यते तथापि तदर्थक्रियासाधनं न भवतीति तदधिगन्ता तैमिरिकादिज्ञानप्रख्यो विधिविकल्पो न प्रमाणम्···जातेस्तु अर्थक्रियासाधनत्वाभावादनधिगतायां अधिगमेऽपि केशादिज्ञानस्येव न प्रामाण्यम् ।" –हेतुबि० टी० पृ० २७ ।

इति; विज्ञप्तिमात्रेऽपि समानं सर्वमेव च ।
मुक्त्वा स्वतत्त्वं तस्य अन्यथा प्रतिभासनात् ॥१९॥]

यथाकथञ्चित् येन केनचित् सामान्यादिप्रकारेण विकल्पस्य अविकल्पस्य वा **अवभासिनः** । किं कृत्वा ? **मुक्त्वा** । किम् ? **अर्थरूपम्** । कथंभूतम् ? **सत्यम्** अवितथम् निरंशं तस्यैव सत्यत्वात् । तस्य किम् ? इत्याह–**कथम्** इत्यादि । **'सत्यम्'** इत्येतदत्रापि योज्यं लब्धलिङ्गविभक्तिपरिणामम् । ततोऽयमर्थः–**सत्याः** अवितथाः **कथम्** ? कथञ्चित् **सु (स्युः)** भवेयुः **आकाराः निर्भासा यतः** सत्याकारेभ्यो **बहिः** । **इति** शब्दः पूर्वपक्षसमाप्त्यर्थः ।

तत्र उत्तरमाह–**विज्ञप्ति** इत्यादि । बहिरर्थशून्या **विज्ञप्तिरेव तन्मात्रं तत्रापि** न केवलं बहिरर्थे **सर्वं** निरवशेषम् अनन्तरं बहिरर्थदूषणं **समानम्** ततो [१३२क] बहिरर्थवत् माध्यस्थ्यबद्धपरिकरेण प्रामाणिकजनेन [1]तदपि परिहरणीयमिति मन्यते । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**स्वतत्त्वम्** इत्यादि । अत्रायमभिप्रायः–*"चित्रं तदेकमिति चित्रतरं [2]ततः ।"[प्र०वा०२।२००] इति वदता तन्मात्रमपि[3] चित्रमेकं नाभ्युपगन्तव्यं किन्तु निरंशमेकम्, तथा च *"चित्रप्रतिभासापि एकैव बुद्धिः" [प्र० वार्तिकाल० ३।२२०] इत्यादि[4] स्ववचनविरुद्धम् । तच्च न नीलादिसुखादिशरीरव्यतिरिक्तम्, परस्य अनभ्युपगमात्, अन्यथा *"न नीलादिसुखादिशरीरव्यतिरिक्तं जडार्थग्राहकमस्ति" इति प्र ज्ञा क र गु प्तस्य [5]वचनं न सुभाषितं स्यात् । अप्रतिभासनाच्च, अन्य [था] ब्रह्मप्रतिभासोऽपि कथं निराक्रियेत ? ततो नीलादिसुखादिशरीरस्वभावं तदित्यभ्युपगन्तव्यम् । **तस्य च स्वतत्त्वम्** आत्मस्वभाव (वं) क्षणिकनिरंशपरमाणुपरिमाणं **मुक्त्वा** विहाय **अन्यथैव** स्थिरस्थूलसाधारणात्मना **प्रतिभासनात्** । उक्तं च अत्रैव–*"पश्यन् स्वलक्षणान्येकं स्थूलम्" [सिद्धिवि० १।१०] इत्यादि । इतरथा यदुक्तं प्र ज्ञा क रे ण–*"तदेतन्नूनमायातम्" [प्र०वा० २।२१०] [6]इत्यादिना परमाणुप्रतिभासं व्यवस्थापयतो (ता) 'अतिसूक्ष्मेक्षिकया विचारयतोऽपि स्थूलैकप्रतिभासो नेति (नाति)वर्त्तते' इत्याशङ्क्य *"मायामरीचिप्रभृतिप्रतिभासवद् असत्त्वेऽप्यदोषः"[प्र०वार्तिकाल०३।२११] इति[7] तदनवसरं स्यात्, स्वतत्त्वावभासे तदयोगात् ।

यत्पुनरुक्तं तेनैव–*"यदवभासते तज्ज्ञानं यथा सुखादि, अवभासते च नीला-

---

(१) विज्ञप्तिमात्रमपि । (२) "चित्रं तदेकमिति चेदिदं चित्रतरं ततः । ···चित्रं नीलपीताद्यात्मकं तत् पतङ्गादिकमेकमिति चेत् ; इदम् 'चित्रमेकम्' यदुच्यते तत् ततः चित्रपतङ्गादपि चित्रतरम् आश्रयंतरम् । चित्रमिति नानारूपाणि तदेव पुनरेकमुच्यत इत्युपहसति ।"–प्र० वा० मनोरथ० । (३) विज्ञप्तिमात्रमपि । (४) प्रज्ञाकरोक्तम् । (५) "नीलादिसुखादिकमन्तरेणापरस्य ज्ञानाकारस्यानुपलक्षणात्" (पृ० ३४५) "यथा च न सुखादिव्यतिरेकेणापरं विज्ञानं तथा नीलादिव्यतिरेकेणापि।" (पृ० ४०९, ४५४) । "नीलाद्यतिरेकेण विषयिज्ञानमीक्ष्यते" (पृ० ४०६) "न हि सितासितादिव्यतिरेकेणापरा ग्राहकादिता प्रतिभासमानोपलभ्यते ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३७८ । (६) "इदं वस्तुबलायातं यद् वदन्ति विपश्चितः । यथा यथार्थांश्चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा ॥"–प्र० वा० । (७) उत्तरं प्रदत्तं तदनवसरं स्यात् ।

दिकम्" इति; तदनेन [१३२ख] निरस्तम्; निरंशपरमाणुस्वभावस्य नीलादेः साध्यधर्मित्वे सुखादेश्च दृष्टान्तत्वे साध्यधर्मिप्रभृति सर्वमसिद्धम् अप्रतिभासनात्। चित्रैकरूपस्य तत्त्वे[1] सर्वं सिद्धं विपर्ययात्[2], इदं त्वसिद्धम्–'तज्ज्ञानम्' इति, तत्र[3] तदसंभवाद् अनभ्युपगमात्, [4]परस्य चित्रैकज्ञानसिद्धेः। तम (तद्)न्यत्र निरंशे वस्तुनि ज्ञानत्वं साध्यो धर्मो वर्त्तते अन्यत्र साध्यधर्मी दृष्टान्तधर्मी च यत्र साध्यधर्मो वर्त्तते इति न किञ्चिदेतत्।

ननु च नीलादेर्यद्यपि स्थूलादिरूपेण स्वतत्त्वं मुक्त्वा अवभासनं तथापि न स्वसंवेदनरूपतया, अतः तया तस्य सत्यसत्य (सत्यताऽसत्यता) वा न प्रकृतरूपेणेति चेत्; अत्राह–**यथाकथञ्चित्** इत्यादि।

[यथाकथञ्चित्तस्यात्मरूपं मुक्त्वावभासिनः।
स्यादन्तः सत्याकारो ज्ञानस्य बहिर्न किम् ॥२०॥]

तस्य नीलादिसुखादिमात्रस्य। कथम्भूतस्य? **अवभासिनः** प्रतिभासवतः तच्छीलस्य वा। किं कृत्वा? **आत्मरूपं मुक्त्वा** अद्वयस्वभावं विहाय। कथमवभासिनः? **यथाकथञ्चिद्** येन केनचित् स्थूलादिग्राह्यादिप्रकारेण, **सत्याकारो (रः)** चित्स्वसंवेदनरूपतया न स्थूलादिरूपतया **स्यात्** भवेत्। कस्य? **ज्ञानस्य**। क्षान्तः (क? **अन्तः**) स्वरूपे तथा सन्ति (सति) विभ्रमेतररूपतया चित्रमेकं ज्ञानं स्यादिति मन्यते। भवत्वेवं को दोष इति चेत्; अत्राह–**बहिः** बाह्यं वस्तुनः किं स्यादेव सत्याकारं विभ्रमे(मै)कम्। अथवा **तस्य ज्ञानस्य सत्याकारः** [१३३क] **कथञ्चिन्नीलादिरूपतया** न स्थूलादिरूपतया न किञ्चित् स्यादेव। क? **बहिः**। तथा च सौत्रान्तिको विजयते न योगाचारः, तस्य क[थ]ञ्चित् जाग्रद्दशासम्बन्धितया न स्वप्नाद्यवस्थासम्बन्धितया। ततो [5]निराकृततो निराकृतमेतत्–*"**निरालम्बनाः सर्वे प्रत्ययाः प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवत्।**" [प्र० वार्त्तिकाल० ३।३३१] *"**विवादगोचरापन्नो ग्राह्याकारोऽसत्यः तथा स्वप्नदृष्टतदाकारवत्**" इति[6]। कथम्? ज्ञानस्य स्थूलाद्याकारवत् प्रतिभासनात् स्वसंवेदनाकारस्यापि सत्यताविरहप्रसङ्गात् बहिरर्थवत् न तदाकारसिद्धिः स्यादिति।

कारिकायाः सुगमत्वाद् व्याख्यानमकृत्वा [7]क र्ण क मतप्रवेशार्थं पूर्वोक्तमुपसंहरन्नाह–**यथा** इत्यादि।

---

(१) साध्यधर्मित्वे दृष्टान्तत्वे च। (२) प्रतिभासनात्। (३) निरंशज्ञानात्मके तद्व्यवहाराभावादिति भावः। (४) प्रज्ञाकरस्य। (५) 'निराकृततो' इति पदं पुनरुक्तम्। (६)"न नीलाद्यतिरेकेण ग्राह्यरूपमपरं क्वचित्। नीलादिता च विभ्रान्तविज्ञानेऽप्यवभासनात्॥ पुरः स्फुटावभासित्वं भ्रान्तेर्वा न किमीक्ष्यते। तस्माच्च किंचिद् ग्राह्यत्वं यद् भ्रान्तादतिरिच्यते॥" (पृ० १७७)। "नीलादयो हि स्वप्नप्रतिभासवदसत्याः" (पृ० १८५) "ग्राह्यता प्रतिभासादन्या नास्ति" (पृ० १९६। २९५)। "तस्मादनादितथाभूतानुभानपरम्पराप्रवृत्तमनुभानमाश्रित्य बहिरर्थकल्पनायां ग्राह्यग्राहकसंवेदनकल्पनाप्रवृत्तेः ग्राह्यादिकल्पना। परमार्थतः संवेदनमेवाविभागमिति स्थितम्" (पृ० ३९८) "ग्राह्यग्राहकभावो हि नैवास्ति परमार्थतः। अपरप्रत्ययं रूपमतद्व्यावृत्तितस्तथा॥"–प्र० वार्तिकाल० पृ०४२७। (७) कर्णकगोमिनामा प्रमाणवार्तिकस्ववृत्तिटीकाकारो बौद्धाचार्यः।

[यथार्थरूपं बुद्धेर्वितथप्रतिभासनात् ।
अविशेषात्स्वरूपं च न सिध्यति ततस्तथा ॥२१॥

स्वरूपमन्तरेण विभ्रमप्रतिभासासंभवादसमानम्, विषयाभावेऽपि बहुलं तथोपलब्धेः ।]

यथा येन प्रकारेण **बुद्धेर्वितथप्रतिभासनात्** हेतुना ततः तद्वा आश्रित्य सौत्रान्तिकस्य **अर्थरूपम्** अर्थस्य अचेतनस्य घटादे रूपम् अनेकक्षणिकनिरंशपरमाणुलक्षणं **न सिध्यति तथा** योगाचारस्यापि **स्वरूपं च ततो** बुद्धेर्न सिध्यति । कुत एतत् ? इत्यत्राह–[**अविशेषात्**] विशेषाभावात् वस्तुस्वभावपरिहारेण प्रतिभासस्य उभयत्र समत्वात् । यथा वा तेन[1] बहिः स्थूलैकाकारो नेष्यते तथा योगाचारेणापि अन्तः । अथवा, **यथा बुद्धेर्वितथप्रतिभासनात्** स्वप्नादिदशायाम् **अर्थरूपं न सिध्यति** अविशेषेण नैयायिकादेः तथा **स्वरूपं च** स्वसंवेदनं च **बुद्धेर्न** [१३३ख] सिध्यति अविशेषेण योगाचारस्य । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**अविशेषात्** विशेषाभावात् अर्थज्ञानपक्षयोः, एकत्र[3] स्वप्नादिः अन्यत्र ग्राह्याकारो दृष्टान्त इति मन्यते ।

क ल्ल क स्तु आह–**स्वरूपमन्तरेण** इत्यादि । बुद्धेः यत्स्वरूपमात्रा (मात्रं) साक्षात्करणलक्षणं तदन्तरेण **विभ्रमस्य** भ्रान्ताकारस्य यः **प्रतिभासः** तस्य **असंभवात्**, स्वतः तस्य प्रतिभासे विभ्रमाऽयोगादिति मन्यते । **असमानं** स्वपरपक्षयोः अविशेषोऽसिद्ध इति । तथा प्रयोगः– अस्ति बुद्धेः स्वरूपं विभ्रमप्रतिभासाऽन्यथानुपपत्तेः । उक्तं च–*"**अप्रत्यक्षोपलम्भस्य**[4] **नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति**" इति । नन्वेवम् अर्थरूपमन्तरेणापि "तत्प्रतिभासासंभवात् ततस्तत्सिद्धिः[6] कस्मान्नेति चेत् ; अत्राह–**विषय** इत्यादि । [**विषयस्य**] घटादेरभावेऽपि न केवलं भावे **बहुलं तथा** विषयग्राहकत्वेन **उपलब्धेर्बुद्धेः** सर्वत्र सर्वदा तथा सेति मन्यते । '**असमानम्**' इत्येवं चेत् ; अत्र दूषणमाह–**अन्यथा** इत्यादि ।

["अन्यथानुपपन्नत्वमसिद्धस्य न सिध्यति ।
चित्सामान्यविदा युक्तं स्वार्थसामान्यमीक्षितुम् ॥२२॥

कथञ्चिदसिद्धात्मनो बुद्धेः कथमसाधारणं रूपमनुमीयते ? यतः संभाव्यं स्यात् । स्वतस्तच्चिद्रूपसिद्धौ संभावितासाधारणात्मनः साकल्येन यत् सत्तत्सर्वं सामान्यविशेषात्मकमिति व्याप्तिसिद्धौ कथं द्रव्यस्य परमार्थस्यापि बहिरर्थस्य प्रत्यक्षप्रतिपत्तिरपह्नूयेत ?

(१) "यथास्वं प्रत्ययापेक्षादविद्योपप्लुतात्मनाम् । विज्ञप्तिर्वितथाकारा जायते तिमिरादिवत् ॥"–प्र० वा० ३।२१८ । (२) सौत्रान्तिकेन । (३) अर्थपक्षे । (४) अप्रत्यक्षश्चासौ उपलम्भश्च तस्य अस्वसंविदितज्ञानस्य इत्यर्थः । तुलना–"अप्रसिद्धोपलम्भस्य नार्थवित्तिः प्रसिध्यति ।"–तत्त्वसं० श्लो० २०७४ । उद्धृतोऽयम्–न्यायवि० वि०प्र० पृ०८१ । प्रमेयक० पृ० २९ । सन्मति० टी० पृ० ८१ । (५) ज्ञानप्रतिभास । (६) अर्थसिद्धिः । (७) तुलना–अन्यथानुपपन्नत्वमसिद्धस्य न सिध्यति ।"–न्यायवि० १।१२ । प्रमाणनि० पृ० १२ । प्रमेयरत्नमा० ३।१५ ।

न हि अगृहीतवस्तुसामान्यं चिद्रूपमात्रं प्रत्यक्षं कर्तुमवगाहते यतस्तेन चेतनैकान्त-सिद्धिर्विशिष्येत ।]

इदमत्र तात्पर्यम्–कथञ्चिद् बुद्धेः प्रत्यक्षत्वे **'यथाकथञ्चिद्'** इत्यादि दूषणमुक्तम् इति सर्वथा [1]तदप्रत्यक्षत्वमङ्गीकर्त्तव्यम् , तस्मिंश्च सति न विभ्रमप्रतिभाससंभवः, परेणापि तथाभ्युपगमात् । तथा च **अन्यथा** अन्येन बुद्धिस्वरूपाभावप्रकारेण **अनुपपन्नत्वम् असिद्धस्य** अनिश्चितस्य विभ्रमप्रतिभासस्य न **सिध्यति** । नहि असिद्धस्य वन्ध्यासुतस्य तदभाव [१३४क]-प्रकारेण 'अनुपपन्नम्' इति वक्तुं शक्यम् । अनेन अन्यथानुपपन्नत्वं हेतुलक्षणं तद्वत्त्वे सिद्धमिति दर्शयति । तर्हि सचेतनादिरूपेण प्रत्यक्षा बुद्धिः नापरेणेति[2] चेत् ; अत्राह–**चित्सामान्य** इत्यादि । नन्वेतत् **'बहिर्न किम्'** इत्यनेन दूषणमुक्तम् , तत् किमर्थं पुनरुच्यते इति चेत् ; न ; तेन बुद्धेर्विभ्रमाकारस्य कथञ्चिदभेदे इदमुक्तम् , अनेन 'एकान्तेन भेदे' इति विभागात् । **चिदेव** तस्या वा **सामान्यम्** तस्य **विदा** वेदनेन बुद्धिस्वभावभूतविभ्रमाकारविवेकग्रहण-विमुखचिन्मात्रग्रहणेन इत्यर्थः । **युक्तम्** उपपन्नं **स्व**ग्रहणयोग्यो योऽर्थः तस्य **सामान्यम् ईक्षितुम्** । अनेन *"बुद्धेः कथञ्चित् प्रत्यक्षत्वम्" *"एकस्यार्थस्वभावस्य" [प्र०वा० ३।४२] [3]इत्यादि च वदतः[4] पूर्वापरविरोधो दर्शितः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**कथञ्चिद्** इत्यादि । **कथञ्चिद्** विभ्रमाकारविवेका[दि]प्रकारेणापि **असिद्धात्मनः** सर्वथा अगृहीतरूपाया **बुद्धेः कथम् असाधारणम्** अचेतनादिव विभ्रमादपि व्यावृत्तं यदद्वयं स्वसं(सं)वेदनरूपं तद्विभ्रमप्रतिभासान्यथानुपपत्त्या **अनुमीयेत** न कथञ्चित् । हेतोरेव(रेवाऽ) सिद्धवा(त्वा)दिति मन्यते । **यतोऽनुमीयमानत्वात् संभाव्यं स्यात् 'असाधारणं रूपम्'** इति सम्बन्धः । स्यान्मतम्–तस्याः[5] सच्चेतना[दि] रूपं स्वतः सिद्धम् ; इत्याह–**स्वतः** इत्यादि । **स्वतो** नान्यतः **तस्याः चिदेव रूपं** तस्य **सिद्धौ** अङ्गीक्रियमाणायां **'बुद्धेः'** इति सम्बन्धः । कथम्भूतायाः ? इत्यत्राह–**संभावित** इत्यादि । **संभावितः** अनुमेयः **असाधारणः** [१३४ख] **आत्मा** यस्याः सा तथोक्ता तस्याः (तस्याः) किम् ? इत्यत्राह–**साकल्येन** इत्यादि । **साकल्येन** बहिरन्तश्च **यत् सत् तत्सर्वं सामान्यविशेषात्मकम्** इत्येवं **व्याप्तिसिद्धौ कथं** प्रत्यक्षेण प्रत्यक्षाः (क्षा) वा प्रतिपत्तिः **प्रत्यक्षप्रतिपत्तिः अपह्नूयेत** ? नैव । कस्य ? इत्याह–**बहिरर्थस्यापि** न केवलं ज्ञानस्यैव । कथंभूतस्य ? इत्याह–**संभावित** इत्यादि । पुनरपि कथंभूतस्य ? इत्याह–**द्रव्येत्यादि परमार्थस्य** इति पर्यन्तम् । ननु यदि नाम न बुद्धिः प्रत्यक्षसंभावितात्मा, बहिरर्थस्य किमायातं, येन सोऽपि[6] तथा स्यादिति चेत् ; अत्राह–**न हि अगृहीत** इत्यादि । **न हि प्रत्यक्षं कर्तुं(र्तुम)वगाहते** विषयीकरोति । किम् ? इत्याह–**चिद्रूपमात्रम् चित्स्वसंवेदनलक्षण (णं) रूपं** यस्य भावस्य स तथोक्तः स एव तन्मात्रं कर्म[7] ज्ञानसामान्यमिति यावत् । कथंभूतम् ? इत्याह–**अगृहीतवस्तुसामान्यम्** अगृहीतं बाह्यवा-

(१) बुद्धेरप्रत्यक्षत्वम् (२) विशेषाकारेण । (३) "प्रत्यक्षस्य सतः स्वयम् । कोऽन्यो न दृष्टो भागः स्याद्यः प्रमाणैः परीक्ष्यते ।" इति शेषः । (४) बौद्धस्य । (५) बुद्धेः । (६) बहिरर्थोऽपि । (७) विषयभूतम् ।

(वाच्यवस्तु) **सामान्यं** येन तत्तथोक्तम्। गृहीतवस्तुसामान्यमेव तत्[1] [2]**तदवगाहते** इति भावः। अनेन प्रत्यक्षसिद्धम् उभयत्र सामान्यं दर्शयति। **यतस्तेन** तन्मात्रावगाहनात् **चेत-नैकान्तसिद्धिर्विशेष्येत** भिद्येत अर्थसिद्धेः। यतः इति वा आक्षेपे, [सं]भावितेत्यादि। एतदुक्तं भवति—यथा व्यापकस्य चिद्रूपमात्रस्य अनुपलब्धौ तद्व्याप्यस्य संभावितासाधारणरूपस्य विभ्रमाकारविवेकलक्षणस्य अनुपलब्धिः तथा [१३५क] प्रकृतमपि इति यदुक्तं[3] प्रभाकरेण— ५
*"अतीतानागतावस्थानामग्रहणेऽपि तदवस्थाता[4] गृह्यते"[5] इत्यत्र *"कथं व्याप्याऽप्रति-पत्तौ तद्व्यापकप्रतिपत्तिः" [प्र० वार्तिकाल० १।४४] इति; तदनेन निरस्तम्; विभ्रमा-कारविवेकाप्रतिपत्तावपि तद्व्यापकचिद्रूपमात्रप्रतिपत्तिवद् विशेषाऽग्रहणेऽपि तद्व्यापकसामा-न्यप्रतिपत्तिसंभवात्। ननु बहि [:] व्यापकोपलब्धावपि विशेषाणां[6] यद्यदर्शनं कथं '[7]तस्य ते' इति प्रतिपत्तिः? पुनस्तत्र[8] दर्शनादिति चेत्; पुनस्तत्र दर्शनं कुतः सिद्धम्? न तावत् पूर्व- १०
प्रत्यक्षात्; तस्य पश्चाद्भावात् [9]तत्राऽप्रवृत्तेः। नापि उत्तरप्रत्यक्षात्; अस्य पूर्वमभावात् व्यापकेऽप्रवृत्तेः। न च तत्समुदायात्; क्रमभाविनोः तदसंभवात्। उभयकालभावि च तदेकं क्रमभाविचक्षुरादिव्यापारचर्चितं न चारु चर्चनमर्हति। [10]तद्ग्रहणोपायासंभवाच्च [11]आत्मसत्ता-मात्रस्याऽविशेषात्, न ततः तत्सिद्धम् प्रत्यक्षपर्यायस्य कृतोत्तरत्वात्।

एतेन अनुमानमपि चिन्तितम्; तत्र [12]तदभावेऽस्याभावादिति[13] चेत्; अत्राह—**'चिद्रूप-** १५
पम्' इत्यादि।

[चिद्रूपं सर्वतोऽभिन्नं पश्यतः परमार्थतः।
तद्विशेषो यथा वेद्यस्तथा बहिरुपेयताम् ॥२३॥

कुतश्चिदपि स्वयमव्यावृत्तं सामान्यं पश्यन्नेव आत्मा गृहीतुं प्रयतमानः अचेतन-व्यवच्छिन्नं चैतन्यं द्रव्यं क्रमेण गृह्णीयात्। ततः प्रत्यक्ष आत्मा स्वयमविप्रतिषिद्धः २०
यथासामर्थ्यमन्तर्गृह्णाति तथा च बहिरित्यवगन्तव्यम्। प्रत्यक्षपरोक्षैकात्मनः प्रमेयस्य बहिः प्रतिषेद्धुमशक्यत्वात्। कथञ्चिदप्रत्यक्षत्वे कुतो वस्तु संभावयेत् लिङ्गादेरसिद्धेः गाढनिद्राक्रान्तवत्।]

चितो बुद्धेः रूपं स्वभावः। कथम्भूतम्? **अभिन्नम्** अव्यावृत्तम्। कुतः? **सर्वतः** सजातीयाद् विजातीयाच्च सत्सामान्यं तस्यैव [14]तथाविधत्वादिति मन्यते। **पश्यतः** २५
विकल्पदर्शनेन विषयीकुर्वतः सौगतस्य **तद्विशेषः** तस्य चित्सम्बन्धिनः तत्सामान्यस्य विशेषः चैतन्यादिलक्षणः वृत्तौ वक्ष्यमाणो भेदः **यथा** येन प्रकारेण **वेद्यो** ग्राह्यः **'परमार्थतः'** इति

(१) प्रत्यक्षम्। (२) चिद्रूपमात्रम्। (३) "अथावस्थानामग्रहणे न (पि) पूर्वापरव्याप्तिप्रतीतिः; अवस्थाऽग्रहणेऽवस्थातृप्रतीतिः कथं भवेत्। व्याप्याप्रतीतावन्यस्य व्यापकत्वाप्रतीतितः॥"—प्र० वार्तिकाल०। (४) आत्मा। (५) इति शङ्कायामुक्तम्। (६) व्याप्यभूतानाम्। (७) व्यापकस्य सामान्यस्य ते विशेषा इति। (८) व्याप्ये। (९) व्याप्ये। (१०) उभयकालभाविनः एकस्य ग्राहकप्रमाणाभावात्। (११) क्रमभाव्युभयव्यापिनः एकस्य सिद्धौ तथाभूतस्यात्मनोऽपि सिद्धिः स्यादिति भावः। (१२) प्रत्यक्षाभावे। (१३) अनुमानस्याप्यभावादिति। (१४) सर्वतोऽव्यावृत्तत्वात्।

तन्मध्येकरणात् उभयत्र सम्बन्धनीयम् । [१३४ ख] **तथा** तेन प्रकारेण **बहिः** बहिर्भवे(र्थः) **ज्ञेयतां** सत्सामान्यं पश्यतोऽर्थस्य तथा विशेषो वेद्यः निदर्शनम् अनन्तरनीत्या प्रसाधितं न पुनः प्रसाध्यते ।

कुतश्चिद् इत्यादिना कारिकार्थमाह—**कुतश्चिदपि** न केवलम् एकस्मात् **स्वयम्** आत्मना **अव्यावृत्तं**, किम् ? **सामान्यं पश्यन्नेव** । किं कुर्यात् ? इत्याह—**गृह्णीयात्** । किम् ? **चैतन्यम्** कर्म तद्विशेषम् । कथम्भूतं तत् ? इत्यादि (इत्याह) **अचेतनव्यवच्छिन्नम्** । कोऽसौ गृह्णीयात् ? इत्याह—**आत्मा** जीवः । पुनरपि किं कुर्वन् ? इत्याह—**प्रयतमानः** । किं कर्तुम् ? इत्याह—**गृहीतुं 'चैतन्यम्'** इति सम्बन्धः । पुनरपि कथंभूतम् ? इत्याह—**द्रव्य** इत्यादि । कथम् ? **क्रमेण** । **ततः** तस्मादूर्ध्वं, कथंभूतः ? इत्याह—**प्रत्यक्ष** इत्यादि । दृश्यस्वभाव इत्यर्थः । ननु आत्मनो निषेधात् कथमेतदिति चेत् ; अत्राह—**स्वयम्** इत्यादि । **स्वयम्** आत्मना **अविप्रतिषिद्धो**ऽनिराकृतः प्रथमप्रस्तावेऽत्र च चिन्तितमेतत् । तर्हि तस्याविशेषात् सर्वं सर्वदा सर्वत्र गृह्णीयादिति चेत् ; अत्राह—**यथा** इत्यादि । **सामर्थ्यस्य** अनतिक्रमेण गृह्णाति । एतत् प्रकृते योजयन्नाह—**यथा** इत्यादि । **यथा** येना(न) व्यापकग्रहणपूर्वव्याप्यग्रहणप्रकारेण, यदि वा **यथा** शक्तिग्रहणप्रकारेण **अन्तर्गृह्णाति तथा** च तेनैव प्रकारेण [**बहिः**] गृह्णाति इत्येवम् अवगन्तव्यम् । तथा च यदुक्तं प्र ज्ञा क रे ण—*"**यदवभासते तज्ज्ञानं यथा सुखादि, अवभासते** च **नीलादिकम्, जडस्य प्रतिभासाऽयोगात्**" इति; तदनेन [१३६क] निरस्तम्; ज्ञानवज्जडस्यापि [प्रति]भासाविधातात् । अयं तु विशेषः—ज्ञानस्य स्वतः इतरस्य परतः इति । न च तदपह्नवो युक्तः, 'स्तम्भादिकमहं वेद्मि' इति प्रत्ययात् [२]तत्प्रतीतेः, अन्यथा नीलादौ कः समाश्वासः ? 'कथं सौ तस्य ग्राहकः' इत्यपि न चोद्यम् ; 'स्वरूपस्य कथं ग्राहकः' इत्यपि चोद्यप्रसङ्गात् । स्वरूपवत् पररूपस्यापि ग्राहकः प्रतीयते इति न विशेषः । शेषं पुनरत्र परस्यं भाषितम्—कार्यकारणभावम् अनुमान-समारोप-व्यवच्छेद्य-व्यवच्छेदकभावं चित्रैकज्ञानाद्वैतम् अन्यद्वा विज्ञप्तिमात्रेऽपि निराकरोति इति निरूपयिष्यते ।

यत्पुनरेतत्—*"**नीलादि ज्ञानं चक्षुरादिव्यापारानन्तरम् उप[लभ्य]मानत्वात् तद्ग्राहकाभिमतज्ञानवत्**" इति; तत्र 'तन्न नीलं तद्व्यापारानन्तरम् उपलभ्यमानत्वात् शङ्खवत्' इत्यस्यापि प्रसङ्गाः । प्रमाणबाधनमुभयत्र ।

किञ्च, चक्षुरादेर्बहिरर्थत्वे दर्शनाभावेन न [९]तद्व्यापारानन्तरं [१०]तदुपलम्भ इति हेतोरसिद्धिः दृष्टान्तस्य च साधनविकलता, [११]अन्यस्य चक्षुरादेर्लिङ्गस्य वा व्यापारानन्तरं तदुपलम्भाभावे वा प्रकृतहेतोर्व्यभिचारः, [१२]ज्ञानत्वे तद्व्यापारानन्तरं नीलाद्युपलम्भेऽपि न परस्य[१३] [१४]तज्ज्ञा-

(१) आत्मनो नित्यस्य । (२) परतः । (३) प्रतिभासः । (४) जडस्य । (५) बौद्धस्य । (६) अनुमानेन समारोपस्य व्यवच्छेदः क्रियते इति तयोः व्यवच्छेद्यव्यवच्छेदकभावः । (७) तुलना—"नीलाद्यतिरेकेण विषयि ज्ञानमीक्ष्यते । ज्ञानपृष्ठेन भेदस्तु कल्पनाशिल्पिनिर्मितः ॥"—प्र० वार्तिकाल० पृ० ४०६ । (८) 'नीलं न नीलम्' इत्यप्यनुमानं स्यादित्यापादयति । (९) चक्षुरादि । (१०) नीलाद्युपलम्भः । (११) भिन्नरूपेण । (१२) चक्षुरादीनां ज्ञानत्वे । (१३) द्वितीयस्य । (१४) तद्ग्राहकाभिमतस्य ज्ञानस्य ।

नस्य उपलम्भ इति दृष्टान्ताऽसिद्धिः । अथ अर्थवादिनः [1]तत् सिद्ध[मि]ति न दोषः ; तद् यदि प्रमाणतः सिद्धम् ; सौगतस्यापि सिद्धम्, प्रमाणस्य कचित् पक्षपाताभावात् । तथा च *"न नीलादेः परं ग्राहकम्" इत्यस्य व्याघातः । यदि पुनः अप्रमाणतः; तर्हि न निदर्शनम् ; [१३६ ख] अप्रमाणसिद्धस्य तदयोगात् हेतुवत्, [2]इतरथा [3]चाक्षुषत्वादिकमपि हेतुः स्यादिति यत्किञ्चिदेतत् । ५

यत्पुनरेतत्—*"जाग्रत्स्तम्भादि ज्ञानम् वासनाकार्यत्वात् कामशोकाद्युपप्लुतदृष्ट-कामिन्यादिवत्" इति ; तदपि न सारम् ; यतः तस्य "परं प्रति [4]तत्कार्यत्वासिद्धेः । ततः सूक्तम्—'यथा अन्तः' इत्यादि । एवमपि [न] बहिरर्थस्य सामान्यविशेषात्मकस्य प्रतिभासनं तस्य वा संभवो निषेधादिति चेत् ; अत्राह—प्रत्यक्ष इत्यादि । प्रत्यक्षो यः सामान्यरूपः स्वभावभेदः वस्तुन आत्मभूतो विशेषः संभाव्यः, यश्च (श्च) परोक्षा (क्षो) असाधारणलक्षणः १० स्वभावभेदः तयोः एकः साधारण आत्मा स्वभावो यस्य स तथोक्तः तस्य । कस्य ? प्रमेयस्य बहिर्भावस्य प्रतिषेद्धुं निराकर्तुमशक्यत्वात् अन्यथा तथा चित्तेरपि निषेधः स्यादिति मन्यते । तर्हि बहिरन्तर्वा असाधारणरूपेणेव साधारणेनापि रूपेण अप्रत्यक्षताऽस्त्विति चेत् ; अत्राह—कथञ्चिद् इति । अप्रत्यक्षत्वे वस्तुनः प्रत्यक्षत्वाभावे कुतो लिङ्गादेर्न कुतश्चित् संभावयेद् वस्तु अनुमानेन विषयीकुर्यात् ? लिङ्गादेरसिद्धेः कथञ्चिदसाधारणवद् गाढनिद्राक्रान्त इव तद्वदिति । १५

प्रस्तावार्थोपसंहारकारिकां 'सदूरूपम्' इत्यादिकामाह—

[सदूरूपं सर्वतो वित्तेः तद्विविक्तं विवेचयेत् ।
चिदात्मा परिणामात्मा पुनः कालादिभेदकृत् ॥२४॥

सर्वं चेतनेतरसामान्येन वस्तुसत्त्वं पश्यन्नेव अचेतनं चेतनाद् व्यवच्छिन्दन् परिच्छिनत्ति जनः । पुनस्तमेव अन्यतोऽचेतनाद् व्यवच्छिन्दन् तद्वर्णसंस्थानादिविशेषान् २० क्रमशः कालादिभेदेन परिच्छिनत्ति नान्यथा । अन्तरङ्गस्य प्रतिपत्तावयमेव क्रमः—स्वपरचैतन्यसामान्यमचेतनाद्विविक्तं परिच्छिद्य पुनः परस्माद् व्यवच्छिद्य क्रमेण विशेषान् परिच्छिनत्ति निष्कल [स्वभावानवधारणात् ।]

अत्रायमर्थः—**चिदात्मा विवेचयेत्** गृह्णीयाद् दर्शनस्वभावः । किम् ? इत्यत्राह—**सत्** सत्तासामान्यं [१३७क] २५

*"[5]जं सामान्यग्रहणं दर्शनमिति (सामण्णं गहणं दंसणमिदि) भण्णये समये ।" [गो०जी०गा० ४८१] इत्यभिधानात् [6]तद् वैशेषिकादिकल्पितं गृह्णीयात् ; इत्यत्राह—

---

(१) *ग्राहकाभिमतं ज्ञानम् ।* (२) *अप्रमाणसिद्धस्य दृष्टान्तत्वे ।* (३) 'अनित्यः शब्दः चाक्षुषत्वात्' । (४) तुलना—"वासनाबलभावित्वे बोधतैव प्रसज्यते । वासना स्मृत्यभिज्ञानकारणत्वेन कल्पिता ॥"—प्र० वार्तिकाल० पृ० ३१९ । (५) जैनं प्रति । (६) वासनाकार्यत्वासिद्धेः । (७) "जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं । अविसेसदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णए समए ॥"—गो० जी० । उद्धृतेयं गाथा धवलाटीकायाः सत्प्ररूपणायाम् । "जं सामण्णग्गहणं दंसणमेयं विसेसियं णाणं ।"—सन्मति०२।१ । (८) *सामान्यम् ।*

रूपं स्वभावम् । कस्य ? इत्यत्राह–**वित्तेर्बुद्धेः** आत्मन इत्यर्थः । **पुनः** पश्चात् **तद्विविक्तं** विभिन्नम् । कुतः ? अन्यस्मात् विजातीयादचेतनात् अवग्रहरूपः सन् विवेचयेत्, पुनः **सर्वतो** विविक्तं सजातीयाद् विजातीयाच्च आकाङ्क्षादि**परिणामात्मा** पुनश्च **कालादिभेदकृत्** कालादिभिः भेद्यस्य (भेदो यस्य) तत्तथोक्तम् **'रूपम्'** इति सम्बन्धः, कालादिविशिष्टं तद् विवेचयेत् ।

इयम् अपरापरयोजातिका (अपरा योजनिका[1]) **सत्सत्** इति यद्रूपं सर्वभावानां साधारणं तद् **विवेचयेत्**, पुनः पुद्गलेतरस्वभावं ([2]पुद्गलेतरस्वभावं) तद् विवेचयेत् । कथम्भूतम् ? **सर्वस्या (सर्वतः** सर्वस्मात्) **विविक्त (क्तं) वित्तेः** सकाशात् अन्यस्माद् वित्तेः अर्थान्तरात् पुद्गलान्तरादिति यावत् **सर्वतो** निरवशेषात् । पुनरपि **कालादिना भेदं** कुर्वाणा **(णं) विवेचयेत्** इति ।

कारिकां विवरीतुमाह–सर्वं(र्वं) इत्यादि । **सर्वं चेतर(चेतनेतर)सामान्येन** तत्साधारणत्वेन **वस्तुनः सत्त्वं पश्यन्नेव अचेतनं** पुद्गलं **परिच्छिनत्ति जनः** आत्मा वा । किं कुर्वन् ? इत्याह–**व्यवच्छिन्दन्** पुद्गलम् इति । कुतः ? **चेतनात्**, पुनरपि **तमेव अन्यतः अचेतनाद्** अर्थान्तरतः पुद्गलान्तरात् **व्यवच्छिन्दन् तस्य** पुद्गलस्य **वर्णसंस्थानादिविशेषान् क्रमशः परिच्छिनत्ति** । कथम् ? **कालादिभेदेन** आदिशब्देन क्षेत्रादिपरिग्रहः **नान्यथा** [१३७ख] नाऽपरेण प्रकारेण । ननु प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा कालस्याऽग्रहे कथं [3]तद्भेदेन परिच्छिनत्तीति चेत्; न सदेतत् ; व्यवहारकालस्य[4] प्रत्पर (प्रत्यक्षत्वात् पर) मार्थकालस्य[5] [6]तर्कविषयत्वात् ।

द्वितीयां कारिकायोजनिकां दर्शयन्नाह–**अन्तरङ्ग** इत्यादि । **अन्तरङ्गस्य** चैतन्यस्य **प्रतिपत्तौ अयमेव नान्यः क्रमः** । तमेव दर्शयन्नाह–**स्वपर** इत्यादि । **'सर्वं चेतनेतरसामान्येन वस्तुसत्त्वं पश्यन्नेव'** इत्यनुवर्त्तते । ततोऽयमर्थः–[7]**तत्सामान्येन** [8]**तत्पश्यन्नेव स्वपरचैतन्यसामान्यम् अचेतनाद्विविक्तं परिच्छिद्य पुनः परस्माद्** आत्मान्तराद् **आत्मानं व्यवच्छिद्य क्रमेण विशेषान्** अवग्रहादीन् **स्वभावान् परिच्छिनत्ति** इति । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**निःकल** इत्यादि । सुगमम् ।

तद्विभ्रमैकान्ते बहिरर्थप्रतिपत्तिवत् सन्तानान्तरप्रतिपत्तिरपि सौगतस्य दुर्लभेति दर्शयन्नाह कारिकाम्–**'बुद्धिपूर्वाम्'** इत्यादिकाम् ।

[बुद्धिपूर्वां क्रियां दृष्ट्वा स्वदेहेऽन्यत्र तद्ग्रहात् ।
ज्ञायते बुद्धिरन्यत्र अभ्रान्तैः पुरुषैः क्वचित्[9] ॥२५॥

---

(१) व्याख्या । (२) तत् सत् द्विविधं पुद्गलात्मकम् पुद्गलभिन्नजीवादिरूपं च इत्यादिरूपेण । (३) कालादिभेदेन । (४) पलघटीमुहूर्तादिरूपस्य । (५) कालाणुरूपस्य । (६) अनुमान । (७) चेतनेतरसामान्येन । (८) वस्तुसत्त्वम् । (९) "उक्तं च–बुद्धिपूर्वां···मन्यते बुद्धिसद्भावः सा न येषु न तेषु धीः ॥" –त० वा० १ । २६ । धर्मकीर्तिकृतसन्तानान्तरसिद्धौ प्रथमश्लोकोऽपि इदृश एव । पूर्वार्धः–न्यायवि० वि० प्र० पृ० ३०३ ।

स्वयं व्यापारव्याहारनिर्भासविज्ञानस्यैव साक्षात् चिकीर्षाविवक्षाप्रभवनियमः संभाव्येत इति कल्पने प्रमाणाभावात् । बुद्धिपूर्वा क्रियैव व्यापारव्याहारात्मिका परोक्षबुद्धेर्हेतुरिति स्वल्पमुक्तम्, आकारविशेषस्यापि हेतोरविप्रतिषेधात् । सुषुप्तादौ तयोरभावेऽपि कथमयं स्वभावविप्रकर्षिणाम् इन्द्रियायुर्निरोधमनुपलब्धेर्विजानीयात् ? यतः स्थावरेषु तन्निरोधलक्षणस्य मरणस्य असंभवमाचक्षीत । यदि पुनरायुर्निरोधमेव मरणं किं स्याद्यतस्तद् विज्ञानादिनिरोधेन विशिष्यते ? न जाने अहमपि ईदृशम् । तदयं स्ववेदनमद्वयं परिच्छिन्नव्यवधानमलक्षयन् परचित्तमत्यन्तपरोक्षं कुतश्चित् परिच्छिनत्ति व्यवच्छिनत्तीति च निष्प्रमाणिकैवास्य प्रवृत्तिः ।]

बुद्धिः पूर्वं कारणं यस्याः ताम् । काम् ? क्रियाम् । किम् ? दृष्ट्वा । क ? स्वदेहे । अन्यत्र परदेहे तद्ग्रहात् बुद्धिपूर्वक्रियाग्रहात् 'ज्ञायते बुद्धिरन्यत्र' इति पदघटना । कैः ? अभ्रान्तैः पुरुषैः क्वचित् तमात्रे (तन्मात्रे) बुद्धिसामान्ये न विभ्रमैः न नानाविभ्रमैर्ज्ञायते (?) तल्लिङ्गस्य वाहारादेरर्थवदसितिभासवहारादि (व्याहारादेरर्थवदसत्त्वात्, व्याहारादि) प्रतिभासस्यापि निरालम्बनत्वादिति मन्यते ।

स्यान्मतम्—जाग्रद्दशायां [१३८क] व्यापा(हा)रादिनिर्भासः साक्षात् चिकीर्षादेः, अन्यत्र पारम्पर्येण ततोऽयमदोष इति; तत्रोत्तरमाह—स्वयम् इत्यादि । स्वयम् आत्मना व्यापारः कायस्य चेष्टा व्याहारो वचनस्व (वचनं च) तयोर्निर्भासो यस्मिन् विज्ञाने तत् तथोक्तं तस्यैव चिकीर्षाविवक्षाप्रभवनियमः सम्भाव्येत । कथम् ? इत्याह—साक्षात् इत्येवं कल्पने प्रमाणाभावात् ।

यस्तु प्र ज्ञा क रः स्वप्नान्तिकशरीरवादी स्वप्नदशायामपि व्याहारादिनिर्भासज्ञानस्यापि साक्षात् चिकीर्षादिप्रभवनियममभ्युपगच्छति; तत्र तस्य बहिर्निर्भासज्ञानस्यापि साक्षात् बहिरर्थतत्त्वप्रभवनियमसिद्धेर्विज्ञप्तिमात्रवादो निरालम्बः स्यात् ।

यत्पुनरुक्तं तेनैव—*"सन्तानान्तरस्यानभ्युपगमात् तदसिद्धिर्न दोषाय" इति; तदपि न सत्यम्; यतो योगाँचारं प्रत्यस्य दोषस्याभिधानात् प्रतिभासाद्वैतवादिनं प्रति विपर्ययात्—तस्य हि नित्यवत् (तन्नियमवत्) स्वप्रतिभासस्यापि विचार्यमाणस्य घटनायोगात् सर्वाऽभाव एव दोषः इति किं तद्दूषणाभिधानेनेति ।

सांप्रतं सन्तानान्तरहेतोः परप्रयुक्तस्य भागाऽसिद्धता(तां) दर्शयन्नाह—बुद्धिपूर्वा इत्यादि । बुद्धिपूर्वा बुद्धिः (द्धेः) कार्यभूता क्रियैव, कथम्भूता ? व्यापारव्याहारात्मिका परोक्षबुद्धेः देहान्तरबुद्धेः हेतुः लिङ्गम् इत्येवं स्वल्पमुक्तम् पक्षीकृते सर्वत्रास्या[अ]संभव इति भावः । अथ मंडादौतवः (अथ तर्वादौ नँ,) स च [१३८ख] अचेतनत्वाद् विपक्ष एव न पक्ष

(१) वचनादेः । (२)सुषुप्त्यनन्तरं प्रबोधावस्थायाम् । (३) "स्वप्नान्तिकशरीरसम्चारदर्शनात्···" —प्र० वार्तिकाल० २।५४, पृ० ७२ । "यथा स्वप्नान्तिकः कायश्चासलक्षनधावनैः । आत्र देहविकाराय तथा जन्मान्तरेष्वपि ॥"—प्र० वार्तिकाल० २।३७ । (४) अनेकविज्ञानसन्तानवादिनं प्रति । (५) सन्तानान्तरासिद्धिप्रसङ्गरूपेण । (६) व्यापारव्याहारात्मिका क्रिया ।

इति; तत्रोत्तरमाह–[आ]कारविशेषस्यापि इत्यादि । न केवलं तैंत्क्रिया[या]एव, कस्यचित् लोकप्रसिद्धस्य अनुमेयबुद्धिसहचरस्य धर्मान्तरधर्मस्यादिः (धर्म्यन्तरधर्मस्यापि) सम्बन्धिनः चैतन्यस्य हेतोः लिङ्गस्य अविप्रतिषेधात् । एतदुक्तं भवति–तैंत्र चैतन्याभावे स विपक्षः स्यात् । न चैवम्, तद्व्यवस्थापकप्रमाणान्तरभावादिति ।

किंच, तैंत्क्रियातः परदेहे चैतन्यरहितं (चैतन्ये तद्रहितं) तद्विपक्षः, नु वा(चा)स्य तत्र चैतन्याभावमाहकमस्तीति दर्शयन्नाह–सुषुप्तादौ इत्यादि । स्वभावविप्रकर्षिणां 'पक्षसपक्षाभ्याम् अन्यस्य' इति वक्तव्ये 'इन्द्रियायु'प्र(र्म)हणम् उत्तरदूषणदित्सया, कथं केन प्रकारेण न केनचिद् अयं सौगतः निरोधम् अभावं विजानीयात् यतः कश्चिद् विपक्षः स्यात् । कुतो न विजानीयात् ? इत्यत्राह–अनुपलब्धि(ब्धेः) इत्यादि । ननु तत्कार्यस्य व्याहारादेरदर्शनात् निरोधं विजानीयादिति चेत् ; अत्राह–सुषुप्तादौ । आदिशब्देन मूर्च्छितादिपरिग्रहः तयोर्व्यापारव्याहारयोरभावेऽपि ।

ननु तस्याः क्रियायाः अभावेऽपि 'तदभावेऽपि' इति वक्तव्ये किमर्थम्–'तयोः' इति वचनम् ? असन्देहार्थम्, इतरथा आकारविशेषस्य अभावेऽपि 'तदभावेऽपि' इत्यपि मतिः स्याभावात् (स्यात् । भवान्) कथं तेषां तं 'विजानीयात्' इति सम्बन्धः । एवं मन्यते [१३९क] प्रतिबद्धसामर्थ्यस्य कार्याऽभावादभावावगतिः, न चैवं चैतन्यमिति ।

प्र भा क र स्त्वाह–*"तत्रापि चैतन्यस्याभावे (वः) अन्यथा अवस्थाचतुष्टयाभावः" इति ; न स युक्तकारी ; प्रबोधाऽभावप्रसङ्गात्, विनष्टात् कारणात् कार्यानुत्पत्तेरिति निवेदयिष्यते अत्रैव अनन्तरप्रस्तावे । तेषां निरोधमजानतो[4] यदपरं प्राप्तं तदर्शयन्नाह–यतः इत्यादि । यतो यस्मात् निरोधविज्ञानात् स्थावरेषु[5] तर्वादिषु तन्निरोधलक्षणस्य असंभवं मरणस्य आचक्षीत । यत इति वा आक्षेपे नैव आचक्षीत ।

अत्र पार्श्ववर्त्ती कश्चिदाह–यदि पुनः इत्यादि । यदि पुनः आयुर्निरोधमेव मरणम्; किं स्यात् किं दूषणं भवेत् यतो दूषणात् तन्मरणं विज्ञानादिनिरोधेन आदिशब्देन इन्द्रियनिरोधेन विशिष्यते इति ? अत्र आचार्यो दूषणमपश्यन् आह–न इत्यादि । न जानेऽहमपि न केवलम् अन्यो न जानाति ईदृशं परेण यादृशमुक्तम् ।

उपसंहारमाह–तद् इत्यादिना । यत एवं तत् तस्माद् अयं सौगतः स्ववेदनमद्वयम् अलक्षयन् । कथंभूतम् ? इत्याह–'परिच्छिन्न' इत्यादि, स्वतादात्म्यव्यवस्थितमित्यर्थः । यदि वा परिच्छिन्नं प्रमाणेनानवगतम् (नावगतम्) स्वपरग्रहणे व्यवधानहेतुत्वाद् व्यवधानम् आवरणकारणं कर्म यस्येति व्याख्येयम्, स्वसंवेदनैका[न्तो]पगमादिति मन्यते । स किं करोति ? इत्याह–पर इत्यादि । परचित्तम् । कथंभूतम् ? [१३९ख] अत्यन्तपरोक्षं कुतश्चिद्

(१) बुद्धिपूर्वायाः क्रियाया एव । (२) तर्वादौ । (३) बुद्धिपूर्वक्रियातः । (४) बौद्धस्य । (५) "विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणस्य मरणस्यानेनाभ्युपगमात्, तस्य च तरुष्वसंभवात् ।"–न्यायवि० ३।५९ । "विज्ञानादिनिरोधो हि मरणं बौद्धबोधतः । असिद्धं तस्य तरुषु विज्ञानं तन्मतिस्तथा ॥"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ४६ ।

व्यापारादेः बुद्धिपूर्वकात् परिच्छिनत्ति स्वयं विषयीकरोति व्यवच्छिनत्ति च कुतश्चिद् वृक्षादेः व्याहारादितत्कार्याभावाद्वा इत्येवं निःप्रमाणिकैव अस्य बौद्धस्य प्रवृत्तिः 'सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वात्' इत्यस्मादन्य (दस्य) न्यायस्यामेदादिति मन्यते ।

ननु यदुक्तम्–'कथञ्चिदसिद्धात्मनो बुद्धेः' इत्यादि; तदयुक्तम् ; सच्चेतनादिरूपेणापि तस्याः प्रत्यक्षत्वादिति चेत् ; अत्राह–स्वतश्च (इचेत्) इत्यादि । ५

[स्वतइचेत्सर्वथा सिद्धिः बुद्धेः किं तत्र हेतुना ।
स्वतइचेत्सर्वथाऽसिद्धिः बुद्धेः किं तत्र हेतुना ? ॥२६॥

यथैव ह्यवितर्कयतः समारोपव्यवच्छेदः न सविकल्पप्रत्यक्षमन्तरेण संभवति तथैव प्रत्यक्षविकल्पे च पुनः समारोपव्यवच्छेदस्मृतिः न कञ्चिदर्थं पुष्णाति स्वतः समारोपानुत्पादात् , कृतस्य करणाभावात् , अन्यथा कृतस्य स्वतः सिद्धौ प्रमाणान्तरानर्थक्यासंभवौ प्रतिपत्तव्यौ । निर्लोठितं चैतदिति] १०

स्वतः परनिरपेक्षा सिद्धिः ज्ञप्तिः चेद् यदि बुद्धेः सर्वथा सदादिरूपेणेव रूपान्तरेणापि किं न किञ्चित् तत्र बुद्धौ हेतुना लिङ्गेन नीलाद्याकारेणेव सर्वाकारैः तस्याः प्रत्यक्षसिद्धत्वादिति भावः । तथा च *"यदवभासते तज्ज्ञानं यथा सुखादि । यद् यथाऽवभासते तत्तथैव परमार्थसद् व्यवहारावतारि यथा नीलं नीलतयाऽवभासमानं तथैव तदवतारि, [अव] भासन्ते च क्षणिकतया सर्वे भावाः" इत्यादि[1] प्र ज्ञा क र स्य[2] विज्ञानैकान्तवादिनो न कञ्चिदर्थं पुष्णाति [3]समारोपव्यवच्छेदस्य निराकरिष्यमाणत्वादनन्तरम् । 'स्वतइचेत् सर्वथाऽसिद्धिः बुद्धेः किं तत्र हेतुना' धर्माद्यसिद्धौ हेतोरप्रवृत्तिरिति भावः । १५

सौत्रान्तिकं प्रति प्रतिपादितं दूषणं समानं योगाचारस्यापीति मन्वान आचार्यः तदेव दृष्टान्तीकृत्य 'तथैव' इत्यादिना कारिकां विवृणोति । यथैव हि [१४०क] येनैव हि प्रकारेण सौत्रान्तिकस्य न संभवति । किम् ? इत्याह–समारोपव्यवच्छेदः, समारोपव्यवच्छेदहेतुत्वाद् अनुमानं तद्व्यवच्छेदं[4] इत्युच्यते । किमन्तरेण ? सविकल्पप्रत्यक्षमन्तरेण निर्विकल्पप्रत्यक्षाद् इत्यभिप्रायः । किं कुर्वतः ? [अ]वितर्कयतः धर्मादिकम् (धर्म्यादिकम्)[5] निश्चिन्वतः, न च अनिश्चितं तदनुमानाय प्रभवति, शेषमत्र चिन्तितम् । यद्वक्ष्यते–'निर्लोपि(निर्लोठि)तं चैतद्' इति । तर्हि सविकल्पकप्रत्यक्षेमति स भवति (प्रत्यक्षेऽपि न संभवति;) इत्याह–प्रत्यक्ष इत्यादि । प्रत्यक्षस्य विकल्पे वा (च) भेदे च व्यवसायमकेव (यात्मके च) प्रत्यक्षे मतिः (सति) पुनः समारोपव्यवच्छेदस्मृतिः क्षणिकाद्यनुमानं न कञ्चिदर्थं पुष्णाति क्षणिकत्वादेः प्रत्यक्षतो निर्णयादिति भावः । समारोपव्यवच्छेदं करोतीति चेत् ; अत्राह–स्वतः इत्यादि । स्वयं समारोपानुत्पादात्, निश्चये तदयोगात्, *"निश्चयारोपमनसोः बाध्यबाधकभावतः" २०

(१) द्र० २ टि० १० । (२) अनुमानम् । (३) 'समारोपव्यवच्छेदं करोति' इत्याशङ्कायामाह–। (४) समारोपव्यवच्छेद इत्युच्यते कार्ये कारणोपचारात् । (५) धर्म्यादिकम् । (१) निश्चयचित्तस्य आरोपचित्तस्य च परस्परं बाध्यबाधकभावात् ।

[प्र०वा० १।५०] इति वचनात् 'न कञ्चिदर्थं पुष्णाति' इति मन्यते । तथापि तत्करणे दूषणमाह—कृतस्य करणाऽभावात् इति । अन्यथा अनेन (अन्येन प्रकारेण) कृतस्य बुद्धेः स्वतः सिद्धौ निर्णीतौ प्रमाणान्तरस्य अनुमानस्य आनर्थक्यम्, [1]असिद्धा च (द्धौ अ) संभवः तदानर्थक्याऽसंभवौ प्रतिपत्तव्यौ । निर्लोठितं चैतदिति ।

एवं सौगतस्य अविकल्पकमध्यक्षं निराकृत्य वैशेषिकस्य सविकल्पकं [2]तन्निराकर्तुमाह—**प्रत्यक्षम्** इत्यादि ।

[प्रत्यक्षं सविकल्पं चेत् सामान्यसमवायिनाम् ।
अनुस्यूतिधियो न स्युरेकस्यात्र विनिश्चयात् ॥२७॥

न हि भिन्नेषु द्रव्यादिष्वनुवृत्तिज्ञानं युक्तं सदृशप्रतीतिर्वा । तदेकसम्बन्धप्रतीतिरेव किञ्च युज्यते भ्रान्तेरभावात् । न चैकवस्तुसम्बन्धमन्तरेण भिन्नेषु द्रव्यादिषु समानप्रत्ययो न भवति सामान्यानां स्वतः सत्त्वज्ञेयत्वादिप्रतीतेरभावप्रसङ्गात् । केषाञ्चित् स्वतः सत्त्वं नेतरेषामित्यस्यापि निष्प्रमाणिका प्रवृत्तिः, अन्यथा सामान्यसमवायानवस्थानुषङ्गात् सामान्यतद्वतोस्तादात्म्यं युक्तम् । समवायस्य समवायान्तराभावेऽपि वृत्तौ किं पुनरितरेषां तथैव वृत्तिर्न स्यात् । न च इह विषाणादिषु गौः शाखादिषु वृक्षः इति प्रतीतिः स्यात् । सामान्यसमवाययोर्व्यापित्वेऽपि क्वचिदेव समीहितप्रत्ययहेतुत्वं नान्यत्रेति वैचित्र्यसंभवे द्रव्यमेव चित्रं भवितुमर्हति । निरंशनिष्क्रियात्मनः सामान्यस्य समवायस्य च स्वविशेषव्यापित्वं कथं स्वस्थः प्रस्थापयेत् द्रव्याद्याधारभेदात् स्वरूपहानेः । तदेतत् प्रत्यक्षं द्रव्यपर्यायात्मकं युक्तम् ।]

प्रत्यक्षं सविकल्पकं (ल्पं) [3]व्यवसायात्मकं **चेद्** यदि । केषाम् ? [१४०ख] इत्याह—**सामान्य** इत्यादि । **सामान्येन समवायिनां** समवायवतां द्रव्यगुणकर्मणाम्, यदि वा, सामान्यानां समवायिनां च द्रव्य-गुण-कर्म-अन्त्यविशेषाणां समवायसम्बन्धवताम्, सामर्थ्यात् समवायस्यापि तैंद् इत्युक्तं भवति—*"नाऽगृहीतविशेषाणां (विशेषणा) विशेष्ये बुद्धिः" ईति वचनात् । समवायाप्रत्यक्षत्वे 'समवायिनां तैंत' इति वक्तुशक्तेः । अत्र दूषणमाह—**अनुस्यूति** इत्यादि । सत्तासामान्येन द्रव्यगुणकर्मणाम्, तैश्च तस्यैं, द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वसामान्येन द्रव्यादीनां प्रत्येकम्, तैः[4] तस्यं च, द्रव्येण गुणकर्मणाम्, तैः[5] तस्यं, अवयविनां (अवयविना अवयवानाम्)[6], तै र्वा तस्यं[7] कथञ्चित्तादात्म्येन व्याप्तयः **अनुस्यूयतः (तयः)** तासां **धियो** गृहीतयो **न स्युः**, **अत्र** अस्मिन् प्रत्यक्षे सविकल्पे सति अङ्गीक्रियमाणे वा । कुत एतत् ? इत्यत्राह—**एकस्य विनिश्चयात्** इति । एकस्य इत्यत्र वीप्सा द्रष्टव्या । ततोऽयमर्थः—

---

(१) स्वतः असिद्धौ अनुमानस्य असंभव इति भावः । (२) प्रत्यक्षम् । (३) द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादिना । (४) प्रत्यक्षम् (५) तुलना—"विशिष्टबुद्धिरिष्टेह नाऽज्ञातविशेषणा ।"—मी० श्लो० अपोह० श्लो० ८८ । (६) प्रत्यक्षम् । (७) सत्तासामान्यस्य । (८) द्रव्यादिभिः । (९) द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वसामान्यस्य । (१०) गुणकर्मभिः । (११) द्रव्यस्य । (१२) अवयवैर्वा । (१३) अवयविनः ।

एकस्य एकस्य असहायस्य असहायस्य स्वतन्त्रस्य वा सामान्यस्य द्रव्यस्य [गुणस्य] कर्मणोऽन्यस्य वा **विनिश्चयात्**। सन्निव (सन्ति च) तेः। ततः तदभावप्राप्तेः परस्य प्रमाणविरोध इति मन्यते। अत्रैवार्थे **'नहि'** इत्यादि वृत्तिर्भविष्यति। अथवा, सामान्यानां सत्त्वादीनां या **अनुस्यूतिधियः** 'इदं सामान्यम्, इदं सामान्यम्' इति बुद्धयः, बहुवचनात् तथाभिधानानि च यानि ताः तानि च **न स्युः** इति। कुत एतत्? इत्यत्राह–**एकस्य** इत्यादि। एकस्य **एकस्य** [१४१क] अपरसामान्यसहायरहितस्य सत्त्वादिसामान्यस्य **विनिश्चयात्**। अत्रापि **'न चैकवस्तुसम्बन्धम्'** इत्यादि व्याख्यातम्। समवायिनां च या **अनुस्यूतिधियः** ताश्च **न स्युः**, बहुवचनं पूर्ववद् व्याख्येयम्। कुत एतत्? इत्यत्राह–**एकस्य** इत्यादि। एकस्य असहायस्य द्रव्यस्य गुणस्य कर्मणः समवायस्य अन्यस्य [च] **विनिश्चयात्**। अत्र व्याख्यानम्–**'समवायस्य'** इत्यादि। **समवायस्य वा** स्वतन्त्रस्य समवायसम्बन्धरहितस्य **विनिश्चयात्**। अत्र व्याख्यानं **'न चेह'** इत्यादि।

नहि इत्यादिना कारिकार्थमाह–**नहि भिन्नेषु**। केषु? इत्याह **द्रव्य** इत्यादि। तेषु किम्? इत्यादि(त्याह–) **अनुवृत्तिज्ञानं** 'सद् द्रव्यं सन् गुणः सत् कर्म' इत्याद्यनुगमज्ञानं **युक्तम्** उपपन्नम् **सदृशप्रतीतिर्वा** 'अनेन अयं समानः' इति बुद्धिर्वा नहि 'युक्ता' इति सम्बन्धः। यत् परस्यैं युक्तं तदाह–किन्तर्हि **किन्न तेषां** द्रव्यादीनाम् **एकेन** असाधारणेन सामान्यादिना **सम्बन्धः** समवायः तस्य **प्रतीतिरेव युज्यते** नान्यानुभूतानामिक (नानामुक्तानामेक)सूत्रसम्बन्धप्रतीतिवत्। यदि वा, तें च, एकं च सामान्यादि सम्बन्धश्च समवायः तेषां प्रतीतिरेव परस्परविलक्षणानां युज्यते। ननु समवायस्य अतिसूक्ष्मत्वेन अनुपलक्षणाद् भ्रान्त्या तदनुवृत्तिज्ञानमिति चेत्; अत्राह–**भ्रान्तेरभावात्** अनुवृत्तिज्ञानविभ्रमाऽयोगात् जातितद्वताम् अवयव-अवयविनां गुण-गुणिनां क्रिया-तद्वतां सम्बन्धस्य च भेदेन निर्णये विभ्रमाऽभावात्। न वै खलु घट[१४१ख]पटयोर्भिन्नयोः निर्णये[ए]कस्यैं अन्यतरानुवृत्तिप्रतीतिरिति मन्यते।

ननु यदुक्तम्–'द्रव्यादिषु भिन्नेषु अनुवृत्तिज्ञानं सामान्यनिबन्धनं न भवति' इति; तदयुक्तम्; अनुमानबाधनात् प्रतिज्ञायाः। तच्च अनुमानम्–'द्रव्यादिषु भिन्नेषु अभिन्नं ज्ञानं ततो भिन्नविशेषणनिबन्धनं तत्प्रत्ययविशिष्टप्रत्ययत्वात्[७] पुरुषे दण्डीतिप्रत्ययवत्' इति चेत्; अत्राह–**नचैक** इत्यादि। **न च नैव एकेन वस्तुना** सामान्येन यः **सम्बन्धः तमन्तरेण भिन्नेषु द्रव्यादिषु समानप्रत्ययो न भवत्येव** अपि तु भवत्येव, प्रतिषेधद्वयेन प्रकृतार्थगतेः। कुत एतत्? इत्यत्राह–**सामान्यानाम्** इत्यादि। **सामान्यानां** सत्त्वादिजातीनां **स्वतः** अन्यसम्बन्धरहितानाम् आत्मनैव **सत्त्वज्ञेयत्वादि** आदिशब्देन पदार्थत्वपरिग्रहः, तस्य **प्रतीतेरभावप्रसङ्गात्**। **'नच'** इत्यादिना गतेन सम्बन्धः। अस्ति च तत्प्रतीतिः, ततोऽनैकान्तिको हेतुरिति मन्यते।

---

(१) विशेषस्य, अवयविनो वा। (२) अनुस्यूतबुद्धयः। (३) द्रव्यत्वगुणत्वादीनि अपरसामान्यानि। (४) वैशेषिकस्य। (५) द्रव्यादयः। (६) घटस्य पटस्य वा। (७) द्रव्यगुणकर्मसु सत्सदिति प्रत्ययो विशेष्यव्यतिरिक्तानुगतनिमित्तनिबन्धनः भिन्नेषु अनुगतप्रत्ययात् कम्बलादिषु नीलद्रव्यसम्बन्धात् नीलं नीलमिति ज्ञानवत्।...एवं दण्डीति ज्ञाने दण्डो निमित्तम्..."–प्रश० व्यो० पृ० ६८७। प्रश० कन्द० पृ० ३११। (८) द्रव्यादिप्रत्ययात् विशिष्टप्रत्ययत्वात्।

एतेन 'सामान्यं सामान्यम्' इति प्रतीतिः चिन्तिता ।

ननु किमुच्यते–'तदभावप्रसङ्गात्' इति, यावता स्वत एव तेषां[2] तत्र सामर्थ्यम्, तत एव सेति चेत्; अत्राह–स्वतः इत्यादि । केषाञ्चित् सामान्य-समवाय-अन्त्यविशेषाणां सत्त्वं विद्यमानत्वम्, अन्यथा प्रधानादिवत्[3] कुतस्तद्व्यवस्था, नाऽपर(स्था, स्वतः अपर) सत्तासम्बन्धमन्तरेण अनुस्यूतिप्रत्ययहेतुत्वं नेतरेषां द्रव्यादीनाम् इत्येवम् अस्यापि वैशेषिकस्यापि न केवलं सौगतस्यैव [१४२क] निष्प्रमाणिका प्रवृत्तिः ।

अत्र कश्चिदाह–'सामान्यादौ सत्त्वज्ञेयत्वा वंसतिसभिष्यति (त्वादौ असति सा मिथ्या इति) कुतो योगिनामपि ततः प्रधानादिविपर्ययेण सामान्यादिसिद्धिः? कथं च सा तत्रोपचरिता? भिन्नसत्तादिवस्तुसम्बन्धमन्तरेण उत्पत्तेः; द्रव्यादौ सा तथा स्यात्, अत्रापि तदभावाद्[10] अप्रतीतेः। तदुक्तम्–* "न पश्यामः क्वचित् किञ्चित् सामान्यं वा" [सिद्धिवि० २।१२] इत्यादि । तत्प्रतीतेः[11] अत्र तदनुमानं च चिन्तितम्। यदि पुनस्तत्र[12] तदुपचारात्, अत्र सा भिन्नविशेषणनिमित्ता[13] अन्यथा तदयोगादिति मतिः; सापि न युक्ता; अत्र[14] उपचारात् तत्र[15] मुख्या इत्यस्यापि प्राप्तेः । न च स्वयंकल्पितात् मुख्योपचारविभागात् तत्त्वसिद्धिः; अतिप्रसङ्गादिति ।

अपरस्त्वाह–'सामान्यं सामान्यम्' इत्यनुस्यूतिप्रत्ययस्य समवायहेतुत्वात् 'स्वतः' इत्यायुक्तमिति; तन्न; इदमिहेतिप्रत्ययस्य तन्निमित्तत्वात्[16], इतरथा 'घटोऽयं घटोऽयम्' इत्यादेरपि प्रत्ययस्य तन्निमित्तत्वसिद्धेः किं सामान्येन? अपि च, 'किमिदं सामान्यं नाम' इति प्रश्ने किमुत्तरं वक्तव्यम्? 'एकम् अनेकवृत्ति तत्[17]' इति चेत्; अवयविद्रव्य-संयोग-द्वित्वादिसंख्यादौ[18] प्रसङ्गः । अनुवृत्तिविज्ञाननिमित्तमिति चेत्; समवायः सामान्यं प्रसक्तम्[19] इति न 'सामान्यं सामान्यम्' इति ज्ञानं[20] तन्निमित्तमिति साधूक्तम्–'स्वतः' इत्यादि । भवतु तर्हि सामान्यादीनामपि अन्यतः सत्त्वमनुस्यूतिप्रत्ययहेतुत्वं चेति चेत्; अत्राह–अन्यथा [१४२ख] इत्यादि । अन्येन स्वतः ततप्र(तत्प्र)त्ययहेतुत्वाभावप्रकारेण अन्यतः तद्भावप्रकारेण सामान्यानां समवायस्य च अनवस्थाऽनुषङ्गात् 'अस्यापि[21] निष्प्रमाणिका वृत्तिः' इति सम्बन्धः। तथाहि–द्रव्यादिवत् यदि सामान्यानामपि अपरसामान्यसम्बन्धात् सत्त्वं तत्प्रत्ययहेतुत्वं वा; तर्हि तत्सम्बन्धात्तस्यापि अपरसत्सम्बन्धात् तस्याप्यपरसत्सम्बन्धादित्यनवस्था । समवायस्यापि अन्यतः तत्त्वे[22]; अन्यस्य समवायस्य चान्यः समवाय इति समवायानवस्था ।

---

(१) सत्त्वज्ञेयत्वादिप्रतीतेरभावप्रसङ्गात् । (२) सामान्यादीनाम् । (३) सांख्याभिमत । (४) सत्त्वादिप्रतीतेः । (५) सामान्यादौ । (६) "भिन्नविशेषणं मुख्यं दण्ड्यादिवत्"–प्र० वार्तिकाल० १९५ । (७) इति चेत्; । (८) उपचरिता । (९) भिन्नसत्तादीनां सम्बन्धाभावात् । (१०) भिन्नस्य सामान्यस्य अप्रतीतेः । (११) द्रव्यादौ । (१२) सामान्यादौ । (१३) अत एव मुख्या । (१४) द्रव्यादौ । (१५) सामान्यादौ । (१६) समवायहेतुकरणात् । (१७) "स्वविषयसर्वगतमभिन्नात्मकमनेकवृत्ति···"–प्रश० भा० पृ० ३११ । (१८) सामान्यत्वप्रसङ्गः अनेकवृत्तित्वात् । (१९) समवायेऽपि समवायः समवायः इत्यनुवृत्तिज्ञाननिबन्धनं भवत्येव । (२०) समवायनिमित्तम् । (२१) वैशेषिकस्यापि । (२२) सत्त्वे ज्ञप्रत्ययहेतुत्वे च ।

§ अथ[1] मतम्—सामान्यसमवायानवस्था § अथ मतम्—सामान्यसमवायानामपि सत्तासम्बन्धे ; द्रव्यादिवदपरसामान्यसम्बन्धः स्यात्, न चैवमिति । अयमपि [2]परस्यैव दोषोऽस्तु न जैनस्य, तेन क्वचिदन्यतस्तत्त्वानभ्युपगमात् । कुत एतत् ? इत्यत्राह—**सामान्य** इत्यादि । [**सामान्यतद्वतोः**] जातितद्वतोः **तादात्म्यं** कथञ्चिदेकत्वं **युक्तम्** उपपन्नं यत इति ।

एवं तावद् द्रव्यादिभ्यो भिन्नं सामान्यं निराकृत्य सांप्रतं तत्सम्बन्धं निराकुर्वन्नाह— ५
समवायस्य इत्यादि । ननु सोऽपि '**समवायानवस्थानुषङ्गात्**' इत्यनेन निरस्तः ; सत्यम् ; तथापि परतो जात्यादीनां तत्त्वे निरस्ते इदानीमन्यथापि निराक्रियत इति विशेषः । अत्र [3]परस्य अनेकं दर्शनम्—'स्वत एव समवायिषु समवायो वर्त्तते' इत्येकम्[4] । [१४३क] 'विशेषणीभावसम्बन्धात्' इत्यपरम्[5] । 'न वर्त्तते' इत्यन्यत् । तदेतद् दर्शनत्रयं चेतसि व्यवस्थाप्य प्रथमे तावद् दूषणं योजयति—**समवायस्य समवायान्तराभावेऽपि** 'स्वत एव' इति यावत्, **वृत्तौ** समवा- १०
यिषु वर्त्तते (वर्तने) अङ्गीक्रियमाणे **किं पुनः इतरेषां** द्रव्यादीनां **तथैव** येनैव प्रकारेण समवायस्य तेनैव[6] **वृत्तिर्न स्यात्** ? स्यादेव । तथा च किं समवायकल्पनयेति भावः । अत्रैव दूषणान्तरमाह—**न च** इत्यादि । **न च इह विषाणादिषु गौः शाखादिषु वृक्षः इत्येवं प्रतीतिर्बुद्धिः स्याद्**[7] भवेत्, समवायस्य कार्यत्वेन 'सम्बन्धिनी' इति सम्बन्धः । एवं मन्यते 'इह विषाणादिषु गौः शाखादिषु वृक्षः' इति बुद्धेः समवायः साध्यते तत्कार्यभूतायाः, यदा तु समवायः १५
स्वत एव क्वचिद् वर्तते तह (तर्हि) 'समवायो वर्त्तते' इति बुद्धिर्न समवायनिमित्ता यथा तथा [8]प्रकृतापि इति, अनेन तद्धेतोर्व्यभिचार उक्तः । द्वितीये **समवायस्य समवायान्तराभावे अपि**शब्दाद् अन्यस्य विशेषणीभावसम्बन्धस्य भावे **वृत्तौ किं पुनः इतरेषां** द्रव्यादीनां **तथैव** समवायाद् **वृत्तिर्न स्यात्** ? स्यादेव, इति समवायतद्द्रव्यादीनामपि क्वचिद् वृत्तौ विशेषणीभावसम्बन्ध इति मन्यते । दूषणान्तरमाह—**न चेह** इत्यादि । पूर्ववद् व्याख्यानम् । अयं तु विशेषः २०
'इह समवायो वर्त्तते' इत्यस्याः प्रतीतेः यथा विशेषणीभावः कारणारथा (कारणं तथा) [9]अन्यस्या अपि इति । अथवा, विशेषणीभावः [१४३ख] सम्बन्धो यदि सम्बन्धान्तरं (न्तरेण) स्वसम्बन्धिषु वर्तते ; तह नि (तदाऽन) वस्थानात् **नचेत्यादि** दूषणम् । अथ स्वतः; समवायोऽपि [10]तथैव वर्तते इति **समवायस्य** इत्यादि तदवस्थम् । यदि पुनः, न ते समवाये तथा प्रसङ्गः इति कुतः [11]ततः 'इहेदम्' इति प्रतीतिः ? तृतीयेऽपि समवायस्य तदन्तराभावे, **अपिशब्दो** २५
भिन्नप्रक्रमः **'वृत्तौ'** इत्यस्य अनन्तरं द्रष्टव्यः । ततोऽयमर्थः—**वृत्तावपि**, अपिशब्दाच्च (वाऽ) वृत्तौ **'किं पुनः समवायेन'** इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । कुत एतत् ? अत्राह—**इतरेषां द्रव्या-**

---

(१) § एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठः पुनर्लिखितः । (२) वैशेषिकस्यैव । (३) वैशेषिकस्य । (४) "अविभागिनो वृत्त्यात्मकस्य समवायस्य नान्या वृत्तिरस्ति तस्मात् स्वात्मवृत्तिः ।"—प्रश० भा० पृ० ३१९ । (५) "समवाये अभावे च विशेषणविशेष्यभावादिति"—न्यायवा० १।१।४ "तस्माद् विना सम्बन्धान्तरं विशेषणविशेष्यभाव एचितव्य इति सिद्धम्"—न्यायवा० ता० टी० पृ० १११ (६) स्वत एव । (७) इह शाखादिषु वृक्षः इत्यादि बुद्धिरपि । (८) 'इह शाखादिषु वृक्षः' इत्यादि प्रतीतेरपि । (९) स्वत एव । (१०) समवायात् ।

दीनां तथैव वृत्तिर्न स्यात् । न खलु 'इदमनु(मत्र)वर्त्तते' इत्येतत् [1]तदसम्बन्धाद् युज्यते ; यतः कुतश्चित् तदनुषङ्गात् । 'सम्बन्धात् स्यात्' इति चेत् ; कुतः सम्बन्धः[2] समवायः, सम्बन्धासम्बन्धाद् (सम्बन्ध्यसम्बद्धत्वात्) गगनादिवत्[3] ? दूषणान्तरमाह—न चेह इत्यादि । अत्रायमर्थः—यत एव न द्रव्यादीनां क्वचिद् वृत्तिः अत एव तत्प्रतीतिरपि न स्यादिति, [4]अन्यथा ईश्वरादेरेव स्यात् । कथं वा कस्यचित् प्रत्यक्षः समवायः इन्द्रियार्थसन्निकर्षाभावात् ? सर्वथापि ([5]अन्यथापि) तत्प्रत्यक्षत्वे अलं चक्षुषोऽर्थेन सन्निकर्षसाधनेन ?

[अनेन] यदुक्तं परेण[6]—'सर्वस्य सामान्यस्य सर्वगतत्वे समवायस्य च गोत्वादिप्रत्ययसाङ्कर्यमिति *"दधि खादेति चोदितः उष्ट्रमपि धावेत्" [प्र०वा० ३।१८३] [7]इत्यत्र चोद्ये प्रत्युत्तरम्—*सम्बन्धस्यापिवि(स्यावि)शेषेऽपि न सम्बन्धिनः सः, नहि कुण्डबदरयोः संयोगो यथा कुण्डे[बदरे च]वर्त्तते' तथा [8]'बदरमपि" इति तद् दूषयन्नाह—[१४४क] सामान्य इत्यादि । इदमत्र तात्पर्यम्—सर्वसर्वगते सामान्ये इदं प्रत्युत्तरम् , व्यक्तिसर्वगते वा ? प्रथमपक्षे सामान्यसमवाययोर्व्यापित्वेऽपि क्वचिदेव द्रव्यत्वस्य पृथिव्यादिषु एव गुणत्वस्य रूपादिष्वेव कर्मत्वस्य गमनादिष्वेव समीहितप्रत्ययहेतुत्वं द्रव्यादिप्रतीतिनिमित्तत्वं नान्यत्र इत्येवं वैचित्र्यस्य तयोः[9] [10]समर्थेतरस्वभावभेदेन शबलत्वस्य संभवे अङ्गीक्रियमाणे द्रव्यमेव सामान्यविशेषात्मकं चित्रं भवितुमर्हति । एवं मन्यते [11]तयोर्व्यापित्वपक्षे नेदं प्रत्युत्तरम्—*"सम्बन्धस्याऽविशेषेऽपि तं (न) सम्बन्धिनः सः" इति ; सम्बन्धवत् सम्बन्धिनोऽपि सामान्यस्याविशेषात्, इदं तु युक्तम्—तदविशेषेस्वा (पेऽप्या)त्मभूतकार्यजननशक्तिविशेषः[12] इति । [13]तत्र च सर्वत्रानेकान्तसिद्धिः । द्वितीये पक्षे[14] स्वविशेषव्यापित्वं देशादिभिन्नानेकस्वाकारव्यापित्वं निरंशनिष्क्रियात्मनः सामान्यस्य समवायस्य च कथं केन प्रकारेण स्वस्थः पिशाचाद्यनुपहतः प्रस्थापयेत् । ननु [15]तथाविधस्यापि सर्वात्मना स्वाकारेषु (स्वाकारेषु) वृत्तेः तत्तस्य स प्रस्थापयेदिति चेत् ; अत्राह—द्रव्य इत्यादि । [द्रव्यादिषु] प्रत्याधारं तस्य भेदात् स्वरूपहानेः 'कथं प्रस्थापयेत्' इति ? यत एवं तत् तस्मात् एतत् प्रस्तुतप्रस्तावव्यवस्थाप्यमानं प्रत्यक्षं द्रव्यपर्यायात्म[क]मेव । यदि वा, एतत् विचार्यमाणं वस्तु प्रत्यक्षं तत्परिच्छेद्यं द्रव्यपर्यायात्मकमेव युक्तम् इति ।

---

(१) समवाय्यसम्बद्धात् समवायात् । (२) तुलना—"इत्ययुक्तः स सम्बन्धो न युक्तः समवायिभिः ।" आप्तमी० श्लो० ६४ । (३) नहि स्वसम्बन्धिभिः असम्बद्धः कश्चित् सम्बन्धो भवितुमर्हति । (४) वृत्यभावेऽपि तत्प्रतीतौ ईश्वरकालादेरेव सा प्रतीतिर्भवतु इति दोषः । (५) सन्निकर्षाभावेऽपि । (६) वैशेषिकेण । (७) "चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति ।" (प्र० वा०) इति बौद्धस्य प्रश्ने । (८) अविशेषः, येन दध्याख्यः सम्बन्धी उष्ट्ररूपः स्यात्। (९) उभयनिष्ठत्वात् संयोगस्य । (१०) बदराख्यं द्रव्यमुभयनिष्ठं न हि भवितुमर्हति । (११) सामान्यसमवाययोः । (१२) क्वचिदेव समीहितप्रत्ययहेतुतया सामर्थ्यमन्यत्र तु असामर्थ्यमिति स्वभावभेदेन । "यद्यपि अपरिच्छिन्नदेशानि सामान्यानि भवन्ति तथाप्युपलक्षणनियमात् कारणसामग्रीनियमाच्च स्वविषयसर्वगतानि" (पृ० ३१४) यथा कुण्डबदर्योः संयोगैकत्वे भवत्याश्रयाश्रयिभावनियमः तथा द्रव्यत्वादीनामपि समवायैकत्वेऽपि व्यङ्ग्यव्यञ्जकशक्तिभेदाद् आधाराधेयनियमः ।"—प्रश० भा० पृ० ३२७। (१३) सामान्यसमवाययोः। (१४) स्वभावभूतशक्तिभेदः । (१५) स्वभावभूतशक्तिविशेषस्वीकारे च। (१६) स्वव्यक्तिसर्वगतत्वपक्षे। (१७) निरंशस्य निष्क्रियस्यापि ।

'अन्यथानुपपन्नत्वम्' इत्यादिकम्, अन्यच्च (अन्यस्य) स्वलक्षणादर्शनम्, वैशेषिकस्यापि (स्यापि) भागिनो[2] [१४४ख] वर्त्तननिषेधं च दर्शयन्नाह–**प्रत्यक्षम्** इत्यादि ।

[प्रत्यक्षं यतो द्रव्यं गुणपर्यायात्मकं ततः ।
परोक्षमपि द्रव्यस्य सिद्धस्यानुमितेः स्वतः ॥२८॥

अन्तम् (अत्र) **अपि** शब्दो भिन्नप्रक्रमः **'प्रत्यक्षम्'** इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । **प्रत्यक्षमपि द्रव्यं** घटादि **परोक्षं** दृश्येतरात्मकं **यतः** ततो **गुणपर्यायात्मकम्** इति । कुत एतत् ? इत्याह–**स्वतः** स्वरूपेण **सिद्धस्य** निश्चितस्य **द्रव्यस्य अनुमितेः** अनुमेयत्वाद् अन्यथा सर्वो हेतुः आश्रयासिद्धः स्यात् । न चैतदिष्यते परेण ।

ननु यदि तँत्सिद्धं कथमनुमेयमिति चेत् ? अत्रा[ह–]फलोपजननशक्त्याद्यात्मना । नहि व्यक्तिवत् शक्तिरपि तस्यै प्रत्यक्षा; तँदनुमानवैफल्यप्रसङ्गात्, तथाव्यवहाराभावाच्च । यदि पुनः सौगतस्येव नैयायिकस्यापि अविकल्पं दर्शनं ततोऽयमदोषः इति; तदपि नोत्तरम्; सौगतेन सहाय(न्य)स्मै जलाञ्जलेर्दानात् । निश्चिते च न विभ्रमभाव इत्युक्तम् । तन्न शक्तिः प्रत्यक्षा । नापि शक्तिवद् व्यक्तिरपि परोक्षा; सर्वस्य आन्ध्यप्राप्तेः प्रमाणविरोधात् । एवमपि व्यक्तिशक्त्योरभेदे न तँतो गुणपर्यायात्मकं तदिति चेत्; न प्रँत्यक्षेतरैकान्तः स्यात् । भेदादिति चेत्; कथं 'द्रव्यस्य शक्तिः' इति व्यपदेशः अतिप्रसङ्गात् ? तत्र समवायात्; न; [9]अस्य निषेधात् । इहेतिप्रत्ययहेतुः समवायस्य शक्तिः यदि [10]ततो भिन्ना; कथं तस्य इति व्यपदिश्यतां समवायान्तराभावात् ? चर्चितमेतदिति यत्किञ्चिदेतत् ।

तं प्रति दूषणान्तरमाह–**सामान्यादेकान्तः (सामान्येत्यादि)** ।

[सामान्याद्यर्थसमवायादेर्विविक्तं ततो ह्यसत् ।
प्रत्येकं द्विबहुषु कार्यं स्वांशैः सर्वात्मना न तत् ॥२९॥]

[सामान्यादि] एकान्तेन **विविक्तं** भिन्नम् ? कुतः ? **अर्थसमवायादेः** [१४५क] **अर्थात्** द्रव्यादेः **समवायाद् आदि**शब्दाद् अन्त्यविशेषात् । समवायादिग्रहणं दृष्टान्तार्थम् । यथा [11]तस्य सामान्यादि **ततो** विविक्तमदृश्यम् **हि** यस्मात् तस्माद् **असत्** तथा [12]अस्यापि इति । तथा च प्रयोगः–यद् यद्रूपतया कालत्रयेऽपि न प्रतीयते न तत् तद्रूपतया सत् यथा आत्मादि पुद्गलरूपतया कालत्रयेऽपि अप्रतीयमानम्, तद्रूपतया असत्त्वेन प्रतीयते च एकान्तेन अर्थसमवायादेः विविक्तं सामान्यादि इति । अत्रैव दूषणान्तरमाह–**प्रत्येकम्** इत्यादि। सामान्यादि एकमेकं **प्रत्येकं** समवायिषु मध्ये । कथम्भूतेषु ? **द्विबहुषु** द्वयोः परमाण्वादिद्रव्ययोः **कार्यं(कार्यं)**द्रव्यादि वर्त्तत इति द्विग्रहणं **स्वांशैः** स्वैकदेशैः **सर्वात्मना** सर्वस्वभावेन **न** 'वर्त्तते' इत्युपस्कारः । चर्चितमेतत् ॥छ॥

* इति र वि भ द्र पादोपजीव्य न न्त वी र्य विरचितायां सि द्धि वि नि श्च य टी का यां सविकल्पकसिद्धिः द्वितीयः प्रस्तावः ॥छ॥

---

(१) बौद्धस्य । (२) निरंशस्य वृत्तिप्रतिषेधम् । (३) द्रव्यम् । (४) द्रव्यस्य । (५) शक्त्यनुमान । (६) व्यक्तिशक्त्यात्मकत्वात् । (७) अभेदे सति व्यक्तिः प्रत्यक्षा शक्तिः परोक्षेति द्वयात्मकता न स्यादिति भावः । (८) घटस्यापि पटः स्याद् । (९) समवायस्य । (१०) समवायात् । (११) समवायादेः । (१२) द्रव्यादेरपि ।

तृतीयः प्रस्तावः

[३. प्रमाणान्तरसिद्धिः]

एवं प्रस्तावद्वयेन सविकल्पमध्यक्षं प्रमाणं प्रसाध्य अधुना स्मरणप्रत्यभिज्ञानोहानां प्रामाण्यमविसंवादिनां व्यवस्थापयितुकामः तत्स्वरूपाविसंवादनिबन्धनं प्रस्तुतप्रस्तावद्वयार्थं स्मरन्नाह प्रस्तावादौ **सम्यग्** इत्यादि वृत्तम् ।

[सम्यक् सामान्यसंवित् व्यभिचरति न वै सत्स्वभावं परस्मात्,
चित्तं निर्णेतुमनलं स्वमपगतं सिद्धसाध्यैकरूपम् ।
संभाव्यार्थाकारविरहं तदपि विरहितं चित्रमेकं यदीयुः,
चित्राभं द्रव्यमेकं बहिरनुगमयत् तत्स्वतः पर्ययैस्तैः ॥१॥]

[1]अर्थः—सौगतानुसारेण स्मरणादिसंविद **सामान्यसंवित्** इत्युक्तम्, [2]तत्र तस्या एव सामान्यसंवित्त्वात् । सा किम् ? इत्याह—**सम्यग्** इति । **सम्यग्** अविसंवादिनी सती वा 'कांचित्' इत्यपेक्षम् । अत्र युक्तिं (क्तिं) '**व्यभिचरति**' इत्यादिकामाह—**चित्तं ज्ञानं व्यभिचरति** [१४५ख] जहाति **नवै** नैव **सत्स्वभावत(वं)** अर्थात्मनोः विद्यमानं स्वरूपम्, कंचित् प्लुतौ (स्मृतौ) लौकिकशास्त्रीयविभ्रमे यदि विभ्रमेतररूपमेकं ज्ञानं चेदित्यर्थः । तदेव **निर्णेतुं** निश्चेतुं **स्वम्** आत्मानम्, उपलक्षणमेतत् तेन परं च गृह्णते, **अनल[म]**समर्थम् । [कथं]भूतम् ? **अपगत (तं)** व्यावृत्तम् । कुतः ? **परस्माद्** अन्यस्मात् सजातीयाद् विजातीयाच्च '**अ[प]गतम्**' इति वचनात्, अन्यथा तं निर्णेतुं समर्थमिति गम्यते, यदि स्वविषये निर्णयजननेतरस्वभाववदित्यर्थः । तदेव च यदि **सिद्धसाध्यैकरूपं** सिद्धं निश्चितं सदादिसाध्यं फलानुमेयं स्वर्गादिप्रापणादिकम् एकं रूपं यस्य तत्तथोक्तं दृश्येतररूपमेकं चेदिति मन्यते । व्यवहारापेक्षया उक्तम् ।

यः पुनर्मन्यते ध र्मो त्त रः—*"**स्थवीयान् एको ग्राह्याकारो मिथ्या विचार्यमाणस्य अयोगात्, ततो व्यतिरिक्तं निरंशं संविन्मात्रं परमार्थसत् ।**" इति ; तत्राह—**संभाव्य** इत्यादि । **संभाव्यः अर्थाकारविरहः** आलोक्यः सदादिभेदो यस्य तत्तथोक्तं **चित्तमेकं यदि** इति ।

योवि (योऽपि) मन्यते प्र ज्ञा क र गुप्तः[3]—*"**न नीलादिसुखादिशरीरव्यतिरिक्तं संवेदनमस्ति अनुपलम्भात्**" [प्र०वार्तिकाल०] तदेव चित्रमेकं ज्ञानम् *"**चित्रप्रतिभाऽपि**" [प्र० वार्तिकाल० ३।२२०] [4]इत्यादि वचनात् । तं प्रत्याह—**विचित्र** इत्यादि ।

(१) कारिकार्थः । (२) सौगतमते । (३) "नीलादिसुखादिकमन्तरेणापरस्य ज्ञानाकारस्यानुपलक्षणात्"—प्र० वार्तिकाल० ३।३१३। (४) "चित्राभासापि बुद्धिरेकैव बाह्यचित्रविलक्षणत्वात् । शक्यविवेचनं चित्रमनेकमशक्यविवेचनाश्च बुद्धेर्नीलादयः।"—प्र०वार्तिकाल० ।

नीलादिर्माह्यादृश्याकारैः (नीलादिग्राह्यदृश्याकारैः) **चित्रा** सदला (शबला) **भा** प्रतीतिर्यस्य तत्तथोक्तम् , **चित्रमेकं** यदि **तदपि न विरहितम्** [१४६क] किन्तु सहितम् । कैः ? **पर्यायैः (पर्ययैः)** क्रमपरिणामैः **एकम्** अभिन्नम् उक्तन्यायेन **ईयुः** सौगताः अवगच्छेयुः **यदि** इत्यनेनैतदर्शयति । तदनवगमे सकलशून्यता स्यादिति तदवगन्तव्यमिति । ततो निराकृतमेतत् यदुक्तं परेण–*"**अनुभूते स्मरणम् इत्येतन्नानुभवेन ज्ञायते तेन[1] स्मरणाऽविषयीकरणे,[2] नानेन[3] अनुभवस्यापरिच्छेदात्** ।" इत्यादि[4] । 'तद् इदम्' इति स्मरणप्रत्यक्षे लेखक (एव तद्) व्यतिरेकेण नापरं [5]प्रत्यभिज्ञानम् , [6]तदभावे न तर्कोऽपि इति कथमुक्तम् 'प्रतिपत्त्या बाधनात्' ? किं कारयत् तत्तथा यदि ? इत्याह–**बहिः** इत्यादि । बहिः स्वतः अन्यत्र **अनुगमयतु (तू)** ज्ञापयतु (तू) । किम् ? इत्याह–**द्रव्य** इत्यादि । यथैव हि तदेकं चित्राह (चित्राभ)-मात्मानं बिभर्त्ति तथैव तथाविधं बहिर्गमयति । तथा च यदुक्तं परेण–*"**स्मरणविषयस्य क्षणिकत्वेन नाशात् प्रत्यभिज्ञागोचरस्य अभावात् [न] प्रवृत्तौ प्राप्तिर्यतः तदविसंवादः**" इति ; तदनेन निरस्तम् । ततः स्थितम्–यदि [7]तथाविधं चित्तं तर्हि **सम्यक् सामान्यसंवि [दि]** ति ।

तदेवं स्मरणादेः अविसंवादे सिद्धे यदपरं सिद्धं तद्दर्शयन्नाह–**प्रमाणम्** इत्यादि ।

[[8]प्रमाणमविसंवादात् मिथ्या तद्विपर्ययात् ।
गृहीतग्रहणान्नो चेन्न प्रयोजनभेदतः ॥२॥

प्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्यमविसंवादात् नपुनरर्थाकारानुकारितया अतिप्रसङ्गात् । स पुनरनुभूतस्मृतेर्यदि स्यात् प्रामाण्यं लक्षयति । सविकल्पेऽनधिगतार्थव्यवसायाभावादयुक्तमिति चेत् ; न; प्रयोजनविशेषात्, क्वचित् सदृशाकारभेदविशेषणामुत्तरोत्तरपर्यायविशेषसाध्यार्थक्रियावाञ्छायां तथैव प्रामाण्याविरोधात् । अन्यथा कालादिभेदेन अनधिगतार्थाधिगतेरपि प्रमाणतानभ्युपगमात् ।]

प्रमाणं स्मृतिः । कुतः ? **अविसंवादात्** । **मिथ्या** अप्रमाणं स्मृतिः इति सम्बन्धः । [कुतः ? **तद्**] **विपर्ययात्** । विसंवादात् । 'प्रत्यक्षतदाभासवत्' इति निदर्शनमत्र

---

(१) अनुभवेन । (२) अनुभूतत्वस्य परिच्छेदायोगादिति भावः । (३) स्मरणेन । (४) तुलना–"ननु अनुभूते जायमानमित्येतत् केन प्रतीयताम् ? न तावदनुभवेन तत्काले स्मृतेरेवासत्त्वात् । न चासती विषयीकर्तुं शक्या । न चाविषयीकृता तत्रोपजायते इत्यधिगतिः । न चानुभवकाले अर्थस्य अनुभूतताऽस्ति, तदा तस्यानुभूयमानत्वात् । तथा चानुभूयमाने स्मृतिरिति स्यात् । अथानुभूते स्मृतिरित्येतत् स्मृतिरेव प्रतिपद्यते; न; अनया अतीतानुभवार्थयोरविषयीकरणे तथा प्रतीत्ययोगात् ।"–प्रमेयक० पृ० ३३६ । (५) "तस्मात् स एवायमिति प्रत्यवद्वयमेतत्"–प्र० वार्तिकाल० पृ० २२। "यदतीतं न तद् ग्राह्यं यदा ग्राह्यं न तत्तथा । स्मर्यमाणेन रूपेण तदतीतं न वस्तुसत् ॥ निश्चयस्य दृढत्वाच्च प्रामाण्यमुपपत्तिमत् । प्रत्यभिज्ञानमप्येवमक्षयोगस्त्वपार्थकः ॥"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ५९३ । प्र० वा० स्ववृ० टी पृ० ७८ । (६) प्रत्यभिज्ञानाभावे । (७) बौद्धेन । "अविसंवादसद्भावात् प्रमाणं ज्ञानमिष्यते । वर्तमानेऽविसंवादो न तु पूर्वविनाशिनि ॥ न स्यादिदं तदेकत्वं किं ततोऽर्थक्रिया न सा···"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ५९३ । (८) चित्रात्मकम् । (९) तुलना–"प्रमाणमर्थसम्बन्धात् प्रत्यक्षान्वयिनी स्मृतिः।"–प्रमाणसं० श्लो० १० ।

वक्तव्यम् । ननु नाविसंवाद एव प्रमाणलक्षणं येनैवं स्यात्, अपि तु [1]अज्ञातार्थप्रकाशोऽपि । स्मृतौ तदभावात् न प्रमाणं सेति ; तदाह–[3]**गृहीतग्रहणात्** । गृहीतस्य दर्शनेन विषयीकृतस्य ग्रहणात् स्मृत्या विषयीकरणात् कारणात् **नो** न **चेत्** यदि स्मृतिः प्रमाणम् । अत्रोत्तरमाह–**न** इत्यादि । यदुक्तं परेण तन्न । कुतः ? **प्रयोजनभेदतः** । प्रमाणस्य हि प्रयोजनं फलम्–अज्ञान-
५ निवृत्तिः प्रवृत्तिश्च, तस्य भेदात्, प्रत्यक्षप्रयोजनात् स्मृतिप्रयोजनस्य विशेषात् । ततः यथैव हि प्राक् प्रवृत्तम् आत्मनोऽज्ञानम् अध्यक्षं निवर्त्तयति पुनः स्वगोचरे प्रवर्त्तयति जनं तथा स्मृतिरपि विशेषाऽभावात् ।

ननु यदुक्तम्–'स्मृतिः प्रमाणम् अविसंवादात् प्रत्यक्षवत्' इति ; तन्न सारम् ; दृष्टान्ते अर्थसारूप्यात् प्रामाण्यसिद्धेः स्मृतौ [4]तदभावादिति चेत् ; अत्राह–**प्रत्यक्षस्यापि** इत्यादि ।
१० **न केवलमन्यस्य किन्तु प्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्यम् अविसंवादात् न पुनः अर्थाकारानुकारितया** । कुत एतत् ? इत्याह–**अतिप्रसङ्गात्** । भवतु अविसंवादात् [5]तस्य तदिति चेत् ; अत्राह–**स पुनः** इत्यादि । **सः** अविसंवादः **पुनः अनुभूतस्य** अर्थस्य **स्मृतेः यदि स्याद्** भवेत् **प्रामाण्यं लक्षयति** तत्स्मृतेः इति । दूषयितुं परमतमाशङ्कते–**सविकल्प** इत्यादिना । [**सविकल्पे**] सविकल्पकप्रत्यक्षपक्षे स्मृतेः **अनधिगतार्थव्यवसायाभावाद् अयुक्तं** प्रामाण्यम् । अनेन एतदर्शयति–
१५ [6]**परः**–यथा मम अनिश्चितार्थनिश्चयात् समारोपव्यवच्छेदाद्वा अनुभूतार्थमनित्यत्वाद्यनुमानम्[7], *नैवं स्मृतिर्विपर्ययात्[8] निश्चिते तदयोगात्[9]* इति एवं चेत् ; अत्राह– **न** इत्यादि । यदुक्तं परेण तन्न । कुतः ? **प्रयोजनविशेषात्** । स च निगदितः । अत्र परेण सह एकवाक्यतामात्मनो दर्शयन्नाह–**क्वचिद्** इत्यादि । **क्वचित्** सूध्रादौ (स्तम्भादौ) **सदृशाकाराणां** [१४७क] प्रत्यक्षाणां ये **भेदा** धारावाभि(वाहि)विशेषाः तेषाम् **उत्तरोत्तरपर्यायविशेषसाध्यार्थक्रिया-**
२० **वाञ्छायां तथैव** प्रयोजनविशेषप्रकारेणैव **प्रामाण्याऽविरोधात्** प्रयोजनविशेषात् स्मृतेः प्रामाण्यं युक्तमिति । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**कालादिभेदेन** आदिशब्दात् क्षेत्रादिपरिग्रहः, **अन्यथा** अन्येन प्रयोजनविशेषाभावप्रकारेण **अनधिगतार्थाधिगतेरपि** अगृहीतार्थग्रहणादपि न केवलम् अन्यतः तद्विशेषाणां **प्रमाणताऽनभ्युपगमात्** सौगतेन यथा जलप्राप्त्येकार्थक्रियावाञ्छायाम् अवान्तरदर्शनविशेषाणाम्, इतरथा जलाध्यवसायकारणं मरीचिकादर्शनं तद्वत् प्रमाणं भवेत् ।

२५ यदि पुनरयं निर्बन्धः गृहीतग्रहणान्न स्मृतिः प्रमाणं तर्हि तत एव तद्वत्[10] सकल[मनु]-मानमपि प्रमाणं न स्यादिति दर्शयन्नाह–**साकल्येन आदितो व्याप्तिः** इत्यादि ।

[साकल्येनादितो व्याप्तिः पूर्वं चेल्लिङ्गलिङ्गिनोः ।
अनुमेयस्मृतिः सिद्धा न प्रमाणं विशेषवत् ॥३॥

---

(१) "अज्ञातार्थप्रकाशो वा"–प्र० वा० १।७। (२) अज्ञातार्थप्रकाशाभावात् । (३) "गृहीतग्रहणान्नेष्टं सांवृतं···"–प्र० वा० १।५। (४) अर्थसारूप्याभावात् । (५) प्रत्ययस्य । (६) बौद्धः । (७) प्रमाणं भवति । (८) अनिश्चितार्थनिश्चायकाभावात् (९) समारोपायोगात् कथं तद्व्यवच्छेद इति भावः । (१०) स्मृतिवत् ।

यावान् कश्चिद् धूमवान् प्रदेशः स सर्वोऽपि अग्निमानिति व्याप्तावसिद्धायाम् अनुमेयप्रतिपत्त्यनुपपत्तेः । सिद्धौ एवमनुमानं स्मृत्यन्तरान्न विशेष्येत । ततो लिङ्गलिङ्गिज्ञानयोः प्रमाणेतरव्यवस्था व्यतिकीर्येत । स्वयमनुभूताद् व्यतिरेके पुनरनवयवेन व्याप्तिसिद्धेरयोगात् । सामान्यविषया व्याप्तिः तद्विशिष्टानुमितेः इति चेत् ; पूर्वानुभूतस्मृतेरपि तथाविधविशेषानिराकरणात् यत्किञ्चिदेतत् ।] ५

साकल्येन सामस्त्येन **आदितः** आदौ सकलानुमानप्रवृत्तेः **पूर्वं सिद्धा** निश्चिता **व्याप्तिः** अविनाभावः **चेत्** । कयोः ? **लिङ्गलिङ्गिनोः** । **अनुमेयस्मृतिः** अनुमानं **न स्यात् प्रमाणं 'साकल्येन'** इत्येतदत्रापि सम्बन्धनीयम् । अत्र दृष्टान्तमाह—**विशेषवदिति** अननुमानस्मृतिवदिति ।

यावान् इत्यादिना कारिकार्थमाह—**यावान् कश्चिद् धूमवान् प्रदेशः**, उपलक्षणमेतत् १०
धानु (तेन) कालोऽपि गृह्यते स प्रदेशादिः **सर्वोऽपि** न केवलं कश्चिदेव **अग्निमान्** इत्येवं **व्याप्तौ असिद्धायां** सत्यां **अनुमेयस्य** अप्रसिद्धस्य या **प्रतिपत्तिः** तस्या **अनुपपत्तेः अनुमान (नं) स्मृत्यन्तराद्** अलिङ्गजात् स्मरणात् **न विशेष्येत** न भिद्येत । एतदुक्तं भवति—यथा अननुभूते न स्मृत्यन्तरम् [१४७ख] अतिप्रसङ्गात् तथा व्याप्यत्वेनानिश्चितात् लिङ्गात् [1]व्यापकत्वेनानिश्चितस्यानुमेयस्य प्रतिपत्तिरपि न युक्ता, अन्यथा भूमिगृहवर्धितस्य[2] अकस्माद् धूमदर्शनाद् १५
अग्निप्रतिपत्तिः स्यात् । तवैवं (न चैवम्) व्यापकत्वेनागृहीतस्य[3] ततः प्रतिपत्तिसंभावना. अनुमानस्य स्मृतिविशेषत्वात् अत एवोक्तम्—**'स्मृत्यन्तरात्'** इति, ततः तदसत्त्वेन न विशेष्येत इति मन्यते । तथा 'यावान् कश्चिद्भावः स सर्वः क्षणिक एव' इत्येवं [4]तस्यामसिद्धायां सर्वं वाच्यम् । तस्यां सिद्धायां को दोष इति चेत् ? अत्राह—**सिद्धौ** इति । **सिद्धौ** निश्चये **एवं** 'व्याप्तेः' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः, **अनुमानं स्मृत्यन्तरात् न विशेष्येत** । कुत एतत् ? २०
इत्याह—**अनुमेय** इत्यादि । [5]साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धमनुमेयम् इति, [तस्य] या **प्रतिपत्तिः** तस्याः **अनुपपत्तेः** व्याप्तिज्ञानेन [6]तस्य निश्चये तदयोगात् । तथा च *"त्रिरूपाल्लिङ्गाद् यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्" [न्यायबि० २।३] इति वचनमात्रम् ; सिद्धसाध्यविषयत्वेन तस्य प्रमाणाभाससतेति मन्यते । **अनुमान**ग्रहणमपि उपलक्षणम् , तेन उत्तरप्रदेशादिप्रत्यक्षमपि [7]ततो न विशेष्येत व्याप्तिज्ञानेन प्रदेशादेरपि ग्रहणात् , इतरथा 'स सर्वोऽपि अग्निमान्' इति प्रतिपत्तेर- २५
योगात् , व्याप्याप्रतिपत्तौ व्यापकाप्रतिपत्तिवत् आधाराप्रतिपत्तौ आधेयप्रतिपत्तिरपि नास्ति, एवमर्थं च प्रदेशग्रहणम् , अन्यथा 'यावान् कश्चिद् धूमः' इति ब्रूयात् । न च [8]भावक्षणिकत्वव्यतिरेकेण अपरं यत्त (यत् तज्) ज्ञानेनागृहीतम् उत्तराध्यक्षेण गृह्यते । तत एव न तद्व्याप्तिसिद्धिः । नाप्यनुमानमिष्यते इति [१४८क] प्र ज्ञा क र गु प्रः (प्रे न) कथं *"द्वे एव प्रमाणे" [प्र० वार्तिकाल० ३।६२] इत्युक्तम् ? व्यवहारेणेति चेत् ; तेनैवं तर्हि यथा व्याप्तिज्ञानेन गृहीते ३०

(१) साध्यत्वेन । (२) अगृहीतव्याप्तिकस्य । (३) पुरुषस्य । (४) व्याप्तौ (५) "साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धम्"—न्यायबि० २।३। (६) साध्यस्य । (७) स्मृतेः । (८) प्रदेशः । (९) 'यावान् कश्चिद् भावः स सर्वः क्षणिकः' इति प्रयोगे । (१०) व्यवहारेणैव ।

अनुमानं प्रमाणं तथा प्रत्यक्षानुभूते स्मृतेः[1] इति *"द्वे एव प्रमाणे" [प्र० वार्तिकाल०] इति मिथ्यावचः । व्यवहारे च प्रमाणमन्तरेण व्याप्तिसिद्धौ किमन्यत्रापि [2]तदन्वेषणेन इति स एव दोषो मिथ्या तद्वच[3] इति । [4]प्रतिभासाद्वैतादेश्च प्रतिषेधात् अत्रैव तेन स्थातव्यम् ।

[5]तस्य [6]ततोऽविशेषे किं जातम् ? इत्याह–तत इत्यादि । ततः तस्य ततोऽविशेषात्
५ प्रमाणेतरव्यवस्था व्यतिकीर्येत । कयोः ? इत्याह–लिङ्गलिङ्गिज्ञानयोः लिङ्गज्ञाने व्याप्तिज्ञाने प्रमाणव्यवस्था लिङ्गिज्ञाने अनुमानज्ञाने [7]इतरव्यवस्था स्यात् । विपर्ययश्चेष्यते परेण । अथ लिङ्गज्ञानविषयाद् अन्यत्र लिङ्ग (लिङ्गि)ज्ञानस्य वृत्तिरिष्यते ततोऽयमदोषः ; तत्राह–स्वयम् इत्यादि । स्वयम् आत्मना अनुभूतात् व्याप्तिज्ञानेन विषयीकृतात् व्यतिरेको (के) लिङ्गिज्ञान-विज्ञानविषयस्य भेदे अङ्गीक्रियमाणे पुनः अनवयवेन साकल्येन व्याप्तिसिद्धेरयोगात् सा[8]
१० व्यतिकीर्येत इति सम्बन्धः । [9]तदनुभूते तद्वैफल्यम् , अन्यत्र तदप्रवृत्तिः इति मन्यते ।

सामान्य इत्यादि अ च ट [10]मतं दूषयितुं शङ्कते–देशादिविशेषणरहितेन अग्निना तथा-भूतस्य धूमस्य व्याप्तिसिद्धिः सामान्यविषया व्याप्तिः इत्युच्यते, विशेषेण पक्षधर्मताबलाद् देशादिविशेषेण तद्भेदेन विशिष्टस्य तैः अनुमितेः इति चेत् ; अत्रोत्तरमाह–पूर्वानुभूत इत्यादि । पूर्वं यदनुभूतं तस्य या स्मृतिः तस्या अपि न केवलम् अनुमितेरेव [१४८ख] तथाविधस्य
१५ अनुमितौ कल्पितस्य विशेषस्य [अ] निराकरणात् कारणात् यत्किञ्चिदेतत् न किञ्चिदेतदि-त्यर्थः । तथाहि–दे[शादि वि]शेषणरहितस्य अनुभूतस्य तत्सहितस्य पुनः स्मरणे न बाधकं पश्यामः । कथं तथाननुभूतस्य तथा स्मरणम् अतिप्रसङ्गादिति चेत् ? कथं तथाविधस्य व्याप्ति-ज्ञानेनाविषयीकृतस्य अनुमितिः अतिप्रसङ्गात् इति समानात्मत्व (समानम् । [12]एकत्र) पक्षधर्म-ताग्रहणस्य [13]प्रकृते क्षयोपशमस्य बलमिति न विशेषः । दृश्यते हि केनचिद् विशेषेण रहितस्य
२० व्याख्यातुः प्रघट्टकस्य ग्रहणेऽपि पुनः स्मर्तृविशेषात् तद्विशिष्टस्य स्मरणम् । अत एव [14]तदनिरा-करणात् इत्युक्तम् ।

एतेन यदुक्तं मीमांसकेन–

*"तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम् ।
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम् ॥" [15]इति ;

२५ तन्निरस्तम् ; पूर्वानुभूतस्मरणेऽपि [16]अस्य अनुमानवद् भावात् समप्रमाणप्रसङ्गात् ।

अधुना नैयायिको भूत्वा सूरिः *"सामान्यविषया व्याप्तिः विशेषेण अनुमितिः" इति [17]वदन्तं प्रमाणान्तरमन्यदापादयितुमाह–तदेवम् इत्यादि ।

---

(१) प्राप्तत्वं स्वीकर्तव्यमिति । (२) प्रमाणस्वीकारेण । (३) 'द्वे एव प्रमाणे' इति वचनम् । (४) अस्तु प्रमाणस्यापि विलोपः अद्वैतोपगमात् इति प्रज्ञाकरगुप्तः, तत्राह–। (५) अनुमानस्य । (६) स्मृत्य-न्तरात् । (७) अप्रमाणत्वं स्यात् गृहीतग्राहित्वादिति भावः । (८) अनुमानस्य । (९) प्रमाणेतर व्यवस्था । (१०) व्याप्तिज्ञानविषयीकृते । (११) तुलना–"सामान्येनान्वये सिद्धे पक्षधर्मत्वयोगतः । विशेषनिष्ठता तस्य सम्बन्धग्रहणात्मना ॥"–प्र० वार्तिकाल० ३।४० । (१२) अनुमानस्थले । (१३) स्मृतौ । (१४) विशेषस्याविराकरणात् । (१५) प्र० वार्तिकाल० पृ० २१ । श्लोकोऽयं मीमांसकोल्लेखेन उपलभ्यते–सन्मति० टी० पृ० ३१८। प्रमेयक० पृ० ६१ । हेतुबि० टी० पृ० २८० । (१६) प्रामाण्यस्य । (१७) अर्चटम् ।

[तदेवमुपमावाक्यसंस्कारात्तत्र पश्यतः ।
तत्संज्ञासंज्ञिसंबन्धे विशेष्येदनुमानवत् ॥४॥

'गोसदृशो गवयः' इति वाक्यात् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धमवगतवतः अस्येयं संज्ञेति विशेषणप्रतिपत्तिः पुनरनुमानं नातिशेते यतः प्रमाणमनुमानं नापरम् । यदि···]

'तत्' इत्ययं निपातः तस्मिन् इत्यस्यार्थे द्रष्टव्यः । तस्मिन् परोक्षे **एवम्** उक्तप्रकारेण सति न्याये 'गौरिव गवयः' इति वाक्यम् **उपमावाक्यं** तेन आहितो यः **संस्कारः तस्मात्तत्र** *"ज्ञानजो ज्ञानहेतुश्च संस्कारः" [1] इति वचनात् । कथं तद्वाक्यात् स इति चेत् ? पारम्पर्येण ततः तस्य भावात् ततः स इत्युच्यते इत्यदोषः । तथाहि—तद्वाक्यात् प्रतिपत्तिरिति तद्विषयं ज्ञानम्, पुनः तत्सहकारिणा मनसा 'यावान् कश्चित् पदार्थः गोसदृशः स सर्वो [१४९क] गवयशब्दवाच्यः' इति सामान्येन वाच्यवाचकसम्बन्धविषयमानसमध्यक्षं जन्यते, ततः संस्कारः इति स्मृतिः स्मरणं 'जायते' इत्यध्याहारः । क ? इत्यत्राह—**तदू** इत्यादि । तौ च तौ **संज्ञासंज्ञिनौ** च गवयशब्द ग (गो) विशेषौ **तयोः सम्बन्धे** वाच्यवाचकलक्षणे । कस्य ? **पश्यतः** । किम् ? **गवयम्** । सा किम् ? इत्याह—**विशेष्येत** स्मृत्यन्तराद् भिन्नेत । किमिव ? इत्यत्राह—**अनुमानवत्** तदिव तद्वदिति । इदमत्र तात्पर्यम्—यथा सामान्यविषयायां व्याप्तौ विशेषेण अनुमानं जायमानमपूर्वार्थं तथा मानसप्रत्यक्षेण सामान्येन [संज्ञा]संज्ञिसम्बन्धे प्रतिपन्ने पुनः तस्य सर्वस्य स्मरणाद् वने गवयदर्शनाद् विशेषेण [2]तत्प्रतिपत्तिः अपूर्वार्थास्तु ।

यत्पुनरत्रोक्तम्—'सामान्यस्य विशेषनिष्ठत्वात्, तत्प्रति [पत्तौ वि]शेषप्रतिपत्तिः' इति ; तदसारम् ; अन्यत्र समत्वात् ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—'गोसदृशो गवयः' इत्यादि । **गोसदृशो गवयः इत्येवं वाक्यात्** तद्विज्ञानात्[3] सहकारिणः **संज्ञासंज्ञिसम्बन्धम् अवगतवतः** ज्ञातवतः सामान्येन पुनः कालान्तरेण गवयदर्शनाद् **अस्य** प्रतीयमानस्य **इयं गवयः** इति **संज्ञा** इत्येवं **विशेषेण प्रतिपत्तिः** व्याप्तिदर्शिनः 'सामान्येन' इति सम्बन्धः । **पुनः अनुमानं नातिशेते** । **यतः** अतिशायनात् **प्रमाणम् अनुमानं नाऽपरम्** उपमानं न प्रमाणं स्यात् । 'यतः' इति वा आक्षेपे, यतो नापरं स्यात् ? स्यादेव, उपमानं प्रमाणमभ्युपगच्छेत् ।

सौगतस्य इतरस्य वा प्रमाणान्तरं दर्शयितुं मतमाशङ्कते—यदि इत्यादिना । सुगमम् ।

अत्र दूषणमाह—'**प्रमाणान्तरम्**' इत्यादि ।

[**प्रमाणान्तरमन्यत्र तत्संज्ञाऽसंभवस्मृतिः** । ३ ।

तद्वाक्याहितसंस्कारस्य अगोषु स्वयं तन्नामासम्बन्धमर्थापत्त्या [उपगम्यते] यथा सामान्येन लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धप्रतिपत्तिः प्रमाणान्तरं तथेयमपि प्रत्यभिज्ञानं प्रमाणान्तरम्, न गवयोऽयं तादृशोपलब्धेः । अथवा, एकविषाणी खड्गः सप्तपर्णो विषमच्छद इत्याहितसंस्काराणां पुनस्तत्प्रत्यक्षदर्शिनामभिज्ञानं किन्नाम प्रमाणं स्यात् ?]

(१) "ज्ञानजो ज्ञानहेतुश्च संस्कारः"—प्र० वार्तिकाल० ३।५२७। (२) संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिः। (३) वाक्यविज्ञानात् ।

उपमानादन्यत् [१४९ ख] प्रमाणं **[प्रमाणान्तरं]** स्यात् **अन्यत्र** गवयाद् अन्येषु महिष्यादिषु गवय इति संज्ञा **तत्संज्ञा** तस्याः **असंभवस्मृतिः** ।

कारिकाखण्डं व्याचष्टे–**तद्वाक्य** इत्यादिना । गोसदृशो गवयः इति वाक्यं **तद्वाक्यं** तेन उक्तविधिना **आहितः संस्कारो** यस्य तस्य प्रतिपत्तिवतः । किं तत् ? **तन्नामासंबन्धं** गवयाभिधानसम्बन्धाभावम् । क ? इत्यत्राह–**अगो[षु]** विसदृशेषु इति । **स्वयम्** आत्मना ।

ननु 'गौरिव गवयः' इति वाक्यप्रतिपत्तिसहकारिणा मनसा भवतु गोसदृशेषु सामान्येन तत्संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिः तद्विसदृशेषु केन[1] तन्नामाऽसंबन्धप्रतिपत्तिः इति चेत् ? अत्राह–**अर्थापत्त्या** इति । यतो गोसदृशो गवयः, ततोऽर्थात् 'तद्विलक्षणो न गवयः' इतिवाक्यप्रतिपत्तिः **अर्थापत्तिः तया** स्यतेनैवतन्ते (उपगम्यते) तद्दर्शयति–**यथा सामान्येन लिङ्गलिङ्गिनोः संज्ञा-संज्ञिनोः सम्बन्धस्य प्रतिपत्तिः प्रमाणान्तरम्**[2] अनुमानादेः **तथा इयमपि** इति । किं जातम् ? इत्याह–**प्रमाणान्तरम्** उपमानादन्यत् प्रमाणम् । किं तत् ? इत्याह–**प्रत्यभिज्ञानम्** । कथंभूतम् ? इत्याह–**न गवयोऽयम्** इति । **अयं** गोविसदृशो दृश्यमानो **न गवयः** न गवयशब्दवाच्य इति । **'अयम्'** इत्यनेन सामान्यार्थापत्तेः अनुमानवदस्य विशेषं दर्शयति । तत् कुतो जायते ? इत्याह–**तादृशोपलब्धेः** इति । गोविसदृशोपलब्धेः इति प्रत्यभिज्ञानपदेन एतत् कथयति । यदि अस्य पैरो वैधर्म्योपमाने अन्तर्भावं ब्रूयात् तर्हि जैनोऽपि अस्य उपमानस्य च असादृश्येतरप्रत्यभिज्ञाने इति [१५०क] नानयोः ततः प्रमाणान्तरत्वं प्रत्यक्षादिव आगमादेरपि तद्भावादिति ।

अधुना अस्य कारिकाखण्डस्य अन्यार्थो व्याख्यायते–**अन्यत्रोक्ताद्** अ[न्य]स्मिन् विषये **तत्संज्ञासंभवस्मृतिः** तस्य अन्यस्य संज्ञा नाम तस्याः संभवस्मृतिः **प्रमाणान्तरमेव** । तस्याव्याख्याने उत्तरोऽर्थोऽकारिकार्थः स्यात् ।

एतदेव विवृण्वन्नाह–**अर्थेच (अथवा)** इत्यादि । **अथवा** इत्येतद् व्याख्यानान्तरसूचकम् । **एकविषाणी खड्गः सप्तपर्णो विषमच्छदः इत्येवम् आहितसंस्काराणां** पुरुषाणां **पुनः** पश्चात् **तत्प्रत्यक्षदर्शिनां** तत्खड्गादिकं प्रत्यक्षेण द्रष्टुं शीलानाम् **अभिज्ञानम्**–अयं स खड्गादिशब्दवाच्योऽर्थः इति प्रत्यभिज्ञानं **किंनाम प्रमाणं स्यात्** साधर्म्योपमाने वैधर्म्योपमाने वा अस्य अनन्तर्भावात् तल्लक्षणत्वादस्यान्यन्नाम कर्त्तव्यमिति मन्यते ।

अत्रैवोदाहरणान्तरमाह **तथे(स्त्र्ये)**त्यादिना ।

[स्त्र्यादिलक्षणश्रवणेन पुनस्तथादर्शिनः ।
संख्यादिप्रतिपत्तिश्च पूर्वापरनिरीक्षणात् ॥५॥

सोपानादिषु सह पृथग्वा दृष्टेषु पौर्वापर्यादिस्मृतिस्तदपेक्षैव ।]

स्त्रा(स्त्र्या)दीनाम् द्वन्द्वः, पुनः अस्य **आदि**शब्देन बहुव्रीहिः, अस्यापि **लक्षण**शब्देन षष्ठीसमासः, अस्य च **श्रवणेन**, तस्मात् **पुनः तथा** श्रवणप्रकारेण **दर्शिनः** स्त्र्यादि-

(१) प्रमाणेन । (२) तर्काख्यम् । (३) नैयायिकः

दिदर्शनवतः संमभिज्ञानं 'किंज्ञाम प्रमाणम्' इति सम्बन्धः। अपरमपि प्रमाणान्तरमस्य दर्शयन्नाह–**संख्यादि** इत्यादि। **संख्यैकत्वादिलक्षणा आदिर्येषां** कार्यकारणभावपरवाक्य-दूरासन्नादीनां ते तथोक्ताः तेषां **प्रतिपत्तिश्च** 'प्रमाणान्तरम्' इति सम्बन्धः।

'आत्मनो (आत्ममनो) ऽर्थसन्निकर्षजत्वात् मानसं प्रत्यक्षं सुखादिप्रतिपत्तिवत् सा' इत्येके। तत्राह–**पूर्वं** इत्यादि। **पूर्वश्च अपरश्च** तयोः **निरीक्षणात्** तत्प्रतिपत्तिः। अत्रायमभिप्रायः– यथा आत्ममनश्चक्षुरायर्थ[१५०ख]सन्निकर्षाज् जायमानं ज्ञानं चक्षुरादिप्रत्यक्षमुच्यते नान्यत्, तथा आत्ममनोऽर्थसन्निकर्षात् मानसम् इत्युच्यतां न प्रकृतम्। यदि पुनः तदपि ज्ञानत्वात् चक्षुरादिजनितरूपादिज्ञानवत् इन्द्रियार्थसन्निकर्षजम्; तर्हि अनुमानादिना व्यभिचारः। अस्यापि पक्षीकरणे मानसप्रत्यक्षत्वम्। तद्धेतुलिङ्गादेरप्यपेक्षणान्न दोष इति चेत्; अन्यत्र पूर्वापरनिरीक्षणस्य अपेक्षणान्न दोष इति न समानमिति।

एतद्विवृण्वन्नाह–**सोपान** इति। अत्र **आदि**शब्देन कारणादिपरिग्रहः, तेषु **सह पृथग् वा** दृष्टेषु सोपानेषु पृथगेव दृष्टेषु कारणादिषु संख्यादिप्रतिपत्तिर्भवन्ती उक्तन्यायेन प्रत्यक्षादेः अतिरिच्येत, ततः पृथक् प्रमाणं भवेत्। कथंभूता ? इत्याह–'**पौर्वा**' इत्यादि। **पूर्वापरयोर्भावः आदिर्यस्य** स्थूलेतरत्वादेः तस्य या **स्मृतिः तदपेक्षैव** नान्यथा इति एवकारार्थः। तथाहि–पूर्वदर्शनाहितसंस्कारस्य अपरदर्शने सति ततः पूर्वस्मरणे च तस्माद् 'अयमेकः तेन द्वितीयः' इत्यादि प्रतिपत्तिः, एवं कारणभावादौ योज्यम्।

अन्यदपि [८]तदर्शयन्नाह–**नाम** इत्यादि।

[नामादियोजनाज्ञानं पश्यतामुपमानवत् ।३।
पूर्वापरप्रमाणव्यक्त्यविनाभावि शब्दादियोजनाज्ञानं सर्वं प्रमाणान्तरम्।]

नाम अभिधानम् **आदिर्येषां** जातिगुणादीनां ते तथोक्ताः तेषां **योजनाज्ञानम्** केषां वत् ? (तत् ?) इत्याह–**पश्यताम्** अभिधेयाभिधानादिकम् उपलभमानानाम्। चशब्दो भिन्नप्रक्रमः '**ज्ञानम्**' इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः। तत् किम् ? इत्याह–**उपमानवद्** इति। तद्वत् प्रमाणान्तरं स्यात् इत्यर्थः।

एतद्व्याचष्टे **पूर्वं** इत्यादिना। अभिधानाभिधेयविशेषणादीनां **पूर्वापरप्रमाणव्यक्तयः** तदविनाभावि यत् **शब्दादियोजनाज्ञानं** तत् **सर्वं** निरवशेषम् [१५१क] उपमानमिव **प्रमाणान्तरम्**।

किं पुनः आपाद्यान्येतान्येव प्रमाणानि आहोस्वित् पराण्यपि सन्ति इति कश्चित् ? सन्ति इति दर्शयन्तमाह–**अर्थापत्तिः** इत्यादि।

---

(१) 'इयं सा स्त्रीशब्दवाच्या' इत्यादि ज्ञानम्। (२) "प्रत्यभिज्ञानं हि नाम आद्यप्रत्यक्षनिरीक्षे द्वितीयदर्शने प्रागाहितसंस्काराभिव्यक्तौ स्मृतिपूर्वं तृतीयं दर्शनम्।"–न्यायवा० पृ० ४००। "एवं पूर्वज्ञानविशेषितस्य स्तम्भादेर्विशेषणमतीतक्षणविषय इति मानसी प्रत्यभिज्ञा।"–न्यायम० प्रमे० पृ० ३३। (३) जायमानम्। (४) प्रत्यभिज्ञानाख्यम्। (५) संख्यादिज्ञानम्। (६) अनुमानस्यापि। (७) तस्मात्तु ज्ञानत्वादेव हेतोः मानसज्ञानवत्। (८) प्रमाणान्तरम्–प्रत्यभिज्ञानाख्यम्।

[अर्थापत्तिरियं चिन्ता मेयान्यापोहनोहनम् ॥६॥

देशकालादिनियतं पश्यतः शृण्वतो वा पुनः इदमित्थमेव नान्यथेति विधिप्रतिषेधलक्षणं विकल्पद्वयं कथञ्चन स्मार्तमेवेति संकीर्येत न वा ? संभवप्रत्ययस्वभावमवधारणपरं स्मार्तमेव ।]

५ प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थो (योऽर्थः) साध्याभावे नियमेनाभवन् यत्र अदृष्टमर्थं कल्पयेत् सा अर्थापत्तिः । तदुक्तम्–

*"प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थोऽनन्यथाभवन् ।
अदृष्टं कल्पयेदर्थं सार्थापत्तिरुदाहृता ॥" [मी०श्लो०अर्था०श्लो०१] इति ।

'अटव्यां गवयदर्शनात् नगरे गवि या स्मृतिः' इत्यनेन गृह्यते, अन्यस्याः प्रमाणान्तरत्वेन १० अविशेषेण प्रसाधितत्वात् । 'यावान् कश्चिद् धूमवान् प्रदेशः स सर्वोऽप्यग्निमान्' इत्यादि प्रतिपत्तिः **चिन्ता** । अथ [२]इयम् अदृष्टश्रुतपूर्वा इति 'किं स्वरूपा सा' इति पृष्टइव तत्स्वरूपं दर्शयितुमाह–**मेय** इत्यादि । **मेयोऽनुमेयः** अग्न्यादिः विपक्षः (पक्षः) तस्माद् **अन्यो** यो अनग्न्यादिविपक्षः तस्माद्धेतोः **अपोहनं** व्यावृत्तिः तस्य **ऊहनं** वितर्कणम् ।

अथवा, **मेयो** धूमादिहेतुः तस्य **अन्यस्माद्** अनग्न्यादेः **अपोहनम्** तन (**इत्यूहनं** १५ चिन्तन)मिति केचित्[३] ; तद्युक्तमन्यथेति वा चिन्त्यम् ; सूत्र एव तदवयवव्याख्याने प्रयोजनाभावात्, [४]वृत्त्यविशेषप्रसङ्गात् अतिप्रसङ्गाच्च । तस्माद् अन्यथा व्याख्यायते–**मेयः** प्रत्यक्षादिप्रमाणपरिच्छेद्यः स्वपररूपाभ्यां भावाऽभावात्मको घटादिः **तस्य ऊहनम्** 'दीर्घोऽयम् अन्यथा वा' इत्यादि रूपेण दर्शनानन्तरं मानसविकल्पेन चिन्तनम्, तत्रैव **अन्यस्य** पटादेः **अपोहनं** व्यावृत्तिः, तस्य 'तदिह नास्ति' इति **ऊहनं** वितर्कणम् । एतदुक्तं भवति–यथा 'तदत्र नास्ति' २० इति ऊहनदर्शनाद् अभावाख्यं प्रमाणमिष्यते तथा 'इत्थमिदम्' इत्यूहनदर्शनाद् भावाख्यमपि अपरं [५]तदिष्यताम्, भावांशवद् अभावांशस्यापि [१५१ ख] प्रत्यक्षादेरेव [६]अन्यथा ग्रहणाद् अभावाख्यमपि तन्नाभ्युपगन्तव्यमिति, तदेतत् सर्वम् **उपमानव**दिति सम्बन्धः ।

मध्यपदद्वयस्य उत्तरकारिकाद्वयेन यथाक्रमं व्याकरिष्यमाणत्वात् । आद्यन्तपदद्वयं साधिकार्थं कृत्वा व्याख्यातुमाह–**'पश्यतः'** इत्यादि । **पश्यतः** चक्षुरादिना साक्षात्कुर्वतः । किम् । २५ इत्याह **'देश'** इत्यदि । **आदि**शब्देन द्रव्यस्वभावपरिग्रहः, **तैः नियतम्** । अत्रायमभिप्रायः– यथा स्वदेशादिना सत्त्वं भावस्य प्रत्यक्षतः प्रतीयते तथा परदेशादिना असत्त्वमपि । ततो निराकृतमेतत्–

*"न तावदिन्द्रियेणैषा नास्तीत्युत्पाद्यते मतिः ।
भावांशेनैव सम्बन्धः योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि ॥"[मी०श्लो०अभाव०श्लो०१८]इति ।

३० यथैव हि तैंतो भावांशस्य प्रतीतेः तंत्र तेंद् योग्यं तथा अभावांशस्यापि इति, अत्रापि

(१) अविनाभूतः सन् । (२) चिन्ता । (३) व्याख्याकाराः । (४)टीकातः सूत्रस्य भेदो न स्यादिति भावः । (५) प्रमाणम् । (६) नास्तिरूपेण ग्रहणसंभवात् । (७) प्रत्यक्षादेः । (८) भावांशे । (९) प्रत्यक्षादि ।

तद्योग्यमस्तु अविशेषात् ।

यत्पुनरेतत्–'अभावः स्वसमानजातीयप्रमाणवेद्यः प्रमेयत्वात् भाववत्' इति; तदप्यनेन निरस्तम्; प्रत्यक्षबाधनात् प्रतिज्ञायाः । तथा शृण्वतो वा शब्दात् प्रतिपद्यमानस्य वा देश-कालादिनियतम् । अनेन पूर्वस्य हेतोः व्यभिचारं दर्शयति *"अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" [कृ० य० काठक० ६।७] इति वाक्यात् स्वभावाद् अभिमतसत्त्ववद् अनभिमतासत्त्वस्यापि प्रतीतेः, किमन्यथा तदुच्चारणेनेति ? तस्य किम् ? इत्याह–पुनः इत्यादि । पुनः दर्शनश्रवणाद् ऊर्ध्वं विकल्पद्वयं 'जायते' इत्युपस्कारः । कथंभूतम् ? इत्याह–विधिप्रतिषेधलक्षणं विधिप्रतिषेधयोः भावाभावयोः लक्षणं निश्चयनं [यस्य] यस्मिन् वा तत्-थोक्तम् । केन प्रकारेण ? इत्याह इत्थम् इत्यादि । इदं दृश्यमानं च इत्थम् अनेन स्वदेशादि-[१५२क] प्रकारेणैव नान्यथा परदेशादिप्रकारेण नैव । एवकारोऽत्रापि सम्बध्यते । च इति समुच्चये । इतिः एवमर्थे । पुनरपि कथम्भूतम् ? अवधारणपरमुक्तवत् । तत्किम् ? इत्याह–कथञ्चन इत्यादि । कथञ्चन केनापि युक्तिप्रकारेण स्मार्त्तमेव । स्मृतिशब्दः पूर्वोऽनुवर्तते 'इँत्येव वर्त्तते' इत्येवं संकीर्येत न वा ? यदि संकीर्येत; तर्हि विधिलक्षणविकल्पवत् प्रतिषेधलक्षण-विकल्पोऽपि न स्मृतेः प्रमाणान्तरं स्यात् । अथ न संकीर्यते; प्रतिषेधलक्षणविकल्पवत् विधि-लक्षणविकल्पोऽपि प्रमाणान्तरं स्यादिति मन्यते । तन्न कु मा रि लः प्रमाणषट्कवादी ।

योऽपि प्र भा क रो मन्यते–'नाऽभावः प्रमाणान्तरं प्रत्यक्षादिप्रमाणपञ्चकशेषत्वादस्य' इति तं प्रत्याह–संभव इत्यादि । अस्यायमर्थः–अनुमानार्थापत्तिव्यपदेशभाक्, च शब्दोऽत्र पूर्व-समुच्चयार्थो द्रष्टव्यः । 'विकल्पद्वयम्' इति सम्बन्धः । कथंभूतम् ? इत्याह–संभवः साध्यभावे भावः नियमेन तदभावे अभावः, दृश्यमानस्य श्रूयमाणस्य वा देशकालादिनियतस्य तयोः प्रत्ययः प्रतीतिः अन्यथानुपपत्तिग्रह इति यावत् । स एव स्व आत्मीयः कारणत्वेन भावो यस्य तत्-थोक्तम् । अनेन यथा अनुमानस्य साध्याभावासंभवनियमनिर्णयलक्षणो हेतुः कारणं तथा अर्था-पत्तेरपि इति दर्शयति । पुनरपि कथंभूतम् ? इत्याह–अवधारणपरं 'जीवादिः सत्त्वादिभ्यः परि-

(१) प्रत्यक्षादि । (२) "मेयो यद्वदभावो हि मानमप्येवमिष्यताम् । भावात्मके यथा मेये नाभावस्य प्रमाणता ॥ तथैवाभावमेयेऽपि न भावस्य प्रमाणता ।"–मी० श्लो० अभाव० श्लो० ४५-४६ । (३) प्रत्यक्षेण घटाद्यभावस्य प्रतीयमानत्वात् । (४) मैत्रा० ६।३६ । (५) अग्निहोत्रादियागप्रतिपादनवत् । (६) बौद्धादिकल्पितस्य 'खादेत् इवमांसम्' इत्याद्यनिष्टार्थस्य निवृत्तिरपि ततः प्रतीयते इति भावः । (७) 'इत्येव वर्त्तते' इति द्विलिखितम् । (८) प्रत्यभिज्ञानाख्यस्य सक्षमस्यापि प्रमाणस्य प्रसङ्गात् । (९) "अप्र-मीयमाणत्वमेव हि नास्तित्वं नापरं न चाप्रमीयमाणतैव प्रमेयं यस्मात्तदर्थासंसृष्टानुभवयुक्तैव आत्मनः तस्यार्थस्याप्रमीयमाणता । सा चावस्था आत्मनः स्वसंविदितैव, अतः प्रमेयं नावशिष्यते ।"–बृहती प०पृ० ११९-२० । "तस्माद् भावग्राहकप्रमाणाननुवृत्तिरेव अभावावगमं प्रसूते (पृ०११९) अभावस्य तु स्वरूपा-वगतिर्नास्ति इति न प्रमाणाभावादन्यः प्रमेयाभावः । प्रमाणाभावोऽपि च स्वरूपान्तरानवगमादेव न भावान्तरप्रमितेर्भिद्यते, भावान्तरप्रमितिश्च स्वयं प्रकाशरूपा न प्रमेयतामनुभवतीति प्रमेयमभावाख्यस्य प्रमाणस्य नोपपद्यते । प्रमेयासद्भावाच्च न प्रमाणान्तरमवकल्पत इति स्थितम् । (पृ० १२४) नास्तित्वञ्च प्रमाणानामनुत्पत्त्यैव गम्यते । नास्तित्वप्रतिपत्तिर्हि तां विना नास्ति कुत्रचित् ॥ योग्यप्रमाणानुत्पत्तेः कारणत्वपरिग्रहात् । अतिप्रसङ्गदोषोऽपि नावकाशमुपाहनुते ॥"–प्रक०प० पृ० १२९ । नयवि०पृ० ११२ । तन्त्ररह० पृ० १७ । प्रभाकरवि० पृ० ५७ ।

णान्येव नान्यथा' इत्यवधारणप्रधानम् । एतेन तयोः [१५२ख] स्वरूपाभेदं कथयति । तत् किम् ? इत्याह–संकीर्येत न वा संकीर्येत ? कथम् ? इत्याह–कथंचन, अनुमानप्रकारेण अर्थापत्तिप्रकारेण चैकीभवेद्वा न वा ? यदि संकीर्येत; तर्हि यथा कु मा रि ल स्य प्रमाणषट्कवार्त्ता वार्त्तैव तथा प्रकारस्य (प्र भा क र स्य) प्रमाणपञ्चककथा कृत्वैव (कथैव) । अथ न संकीर्येत; त्रिरूपलिङ्गजनितादनुमानानुमानद्वत्त (दनुमानात्) यथा साधर्म्यदृष्टान्तरहितायाः अर्थापत्तेः भेदैः तथा तस्याः पक्षधर्मत्ववर्जितायाः इति स एव दोषः तयोः प्रमाणसंख्याव्याघात इति मन्यते । नन्वनुमानं स्मरणजम्, दृष्टान्तस्मरणभावे भावात्, नैवमर्थापत्तिर्विपर्ययात् ततस्तैर्योभेद इति चेत्; अत्राह–स्मार्त्तमेव इति । स्मृतेर्जातं स्मार्त्तम् । एवकारेण एतत्कथयति–यदि अनुमानोत्थापकोऽर्थो दृष्टान्तस्मरणमन्तरेण अनुमानं नोत्थापयितुमलम्, तर्हि अर्थापत्त्युत्थापकोऽपि तथैवाऽस्तु । अथ विपक्षे सद्भावबाधकप्रमाणबलादेव अर्थोऽर्थापत्तिमुपजनयति, तथा अनुमानमपि इति निरूपयिष्यते । यदि पुनः अर्थापत्तौ दृष्टान्तस्याऽसतोऽपि स्मरणम्, अनुमाने सतोऽपि; अकिञ्चित्करस्य किं स्मरणेन इति समानः तदभावः । अथायं निर्बन्धो लिङ्गं दृष्टान्तमन्तरेण साध्याविनाभावि ज्ञातुं न शक्यते इति; तथा अर्थापत्त्युत्थापकोऽप्यर्थः, इति सूक्तम्– स्मार्त्तमेव इति ।

ननु यदुक्तं स्मृतिः उपमानवदिति न दोषाय अभ्युपगमादिति चेत्; अत्राह–गवि स्मृतिः इत्यादि ।

[गवि स्मृतिः प्रमाणं स्यात् गवयं पश्यतः कथम् ।
अन्यत्र तद्विलक्ष्येऽपि प्रयोजनवशान्न किम् ॥७॥

उपमावाक्यात् यथा क्वापि सादृश्यप्रतिपत्तिस्तथा कस्यचित् केनचिद् वैलक्षण्यप्रतिपत्तिः अर्थापत्तेः । तदुत्तरप्रत्यक्षात् पूर्वस्मृतिरविशेषेण प्रमाणमस्तु प्रयोजन[वशात्] प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्, संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिश्च उपमानार्थ इति किं परिसंख्यानेन ? कृतेन अकृतवीक्षणस्य सर्वस्यैव भवति उपमानम् । नन्वेवमुपमानानुमानयोः अभेदप्रसङ्गः, तथास्तु । उदाहरणसाधर्म्यवैधर्म्याभ्यां सह पृथग्वा स एव तत्र साधनम् । अत्रापि उपमानसाधर्म्यानुमानयोरभेदः स्याद् विशेषादर्शनादिति विपरीतलक्षणप्रज्ञो जडात्मा । ततोऽनुमानमेव, सर्वथा अविनाभावसम्बन्धप्रतिपत्तिमन्तरेण ग्रामाण्यानुपपत्तेः । प्रत्यक्षेऽपि समानः प्रसङ्गः । तथैवानुमानेऽपि । कस्यचित् कथञ्चित् स्वतः सिद्धिमन्तरेण उत्तरस्यावृत्तेः चिन्तोपमानवत् ।]

---

(१) अनुमानार्थापत्त्योः । (२) अर्थापत्तौ साधर्म्यदृष्टान्ते व्याप्तिग्रहणं नावश्यकम् । "अविनाभाविता चात्र तदैव परिगृह्यते । न प्रागवगतेत्येवं सत्यप्येषा न कारणम् ॥"–मी०श्लो० अर्था०श्लो० ३० । (३) अर्थापत्तेः । (४) अपि भेदोऽस्तु । "इति तद्रहिताऽर्थापत्तिः प्रमाणं स्यात् ।"–न्यायकुमु० पृ० ५१९ । (५) कुमारिलप्रभाकरयोः ।(६) अनुमानार्थापत्त्योः । (७) असत्त्वात् । (८) दृष्टान्ताभावः । (९) साध्याविनाभावितया ज्ञातुं न शक्यते । (१०) तुलना–"उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनम् । तद्वैधर्म्यात् प्रमाणं किं स्यात् संज्ञिप्रतिपादनम् ॥१९॥"–लघी० । न्यायावता० वा०श्लो० १४ । (११) "प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्"–न्यायसू० १।१।६ ।

'गोरलाभे गवयेन तत्कार्यं कर्त्तव्यम्' इति [१५३क] श्रुत्वा कश्चित् कञ्चिद् आटव्यं[1] पृच्छति 'कथंभूतो गवयो भवति'? स तं प्रत्याह–'गौरिव गवयः' इति। स पृष्ट्वा एवं श्रुत्वा नगरे गामुपलभ्य पुनः अटवीं पर्यटन्, यष्ट्वा (दा) तत्रै गवयमुपलभ्य गां स्मरति तदा सा **गवि** गवयसादृश्यविशिष्टे **स्मृतिः प्रमाणं** मीमांसकस्य उपमानाख्यं मानं **स्याद्** भवेत्, **गवयं पश्यतः** पुंसः। चेच्छब्दोऽत्र द्रष्टव्यः, कात्वा (काका) वा तदर्थो व्याख्यातव्यः। अत्र दूषणमाह–**'कथम्'** इत्यादि। **कथं** केन प्रकारेण **न प्रमाणम् अपि तु** प्रमाणमेव। **अन्यत्र** क्वचित् महिष्यादौ **'स्मृतिः'** इति सम्बन्धः। कथंभूते? इत्याह–**'तद्'** इत्यादि। तस्माद् गवयाद् विसदृशरूपेण लक्ष्यते इति **तद्विलक्ष्यः** तस्मिन्नपि न केवलं तत्सदृशे गवि इति। एतदुक्तं भवति–यथा सादृश्यविशिष्टे [गवि तद्विशिष्टे वा] सादृश्ये, गोग्रहणमुपलक्षणम्, स्मृतिः प्रमाणान्तरं तथा वैलक्षण्यविशिष्टे महिष्यादौ तद्विशिष्टे वा वैलक्षण्ये[3] इति। ननु गोसदृशालम्भनादि[4] यथा सदृशस्मृतेः प्रयोजनं नैवं वैलक्षण्यस्मृतेरिति चेत्; अत्राह–**प्रयोजनवशात्** इति। वैदिकवद् इतरप्रयोजनभावादिति भावः।

कारिकां विवृणोति **उपमा** इत्यादिना। 'गौरिव गवयः' इति **वाक्याद् यथा क्वापि** गवि **सादृश्यप्रतिपत्तिः तथा कस्यचित्** महिष्यादेः **केनचिद्** गवादिना **वैलक्षण्यप्रतिपत्तिः**। कुतः? **अर्थापत्तेः**, यत एवं **तत्** तस्मात् **उत्तरप्रत्यक्षात्** गवयप्रत्यक्षात् **पूर्वस्य** गवादेः **स्मृतिः प्रमाणमस्तु** अविशेषेण, सदृशस्मृतिवद् विसदृशस्मृतिरपि प्रमाणं भवतु। कुत एतत्? इत्याह–[१६३ख] **प्रयोजन** इत्यादि।

ननु यदुक्तम्–**'चिन्तोपमानवत्'** इति; तत्र साकल्येन [लिङ्ग] लिङ्गिसम्बन्धबुद्धिर्यदि चिन्ततेयस्याः (चिन्ता; तस्याः) साक्षात् परम्परया मनोऽर्थसन्निकर्षादुत्पत्तेर्मानसप्रत्यक्षत्वेन प्रमाणता इति[5] सिद्धसाधनम्। अथवा यदुक्तम्–'प्रमाणान्तरम्' इत्यादि; तदपि तादृगेवै; **वैधर्म्योपमानत्वादस्य**, शेषं मानसमध्यक्षम् इति नैयायिकादयः। तान् प्रत्याह–**प्रसिद्ध** इत्यादि। **प्रसिद्धेन** गवादिना **प्रसिद्ध** वा यत् **साधर्म्यं** तस्मात् **साध्यस्य** संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानस्य **साधनम्** प्रमातृप्रमेयाभ्यामन्यैः कारणकलापः **उपमानम्** प्रमाणम्। अस्य फलम् अर (आह-) **संज्ञा** इत्यादि। **उपमानार्थ** उपमानफलम् **इत्येवं 'च'** शब्दः पूर्वसमुच्चये **किं परिसंख्यानेन** परिगणनेन, न किञ्चित्। किं तर्हि भवतु? इत्याह–**कृतेन** इत्यादि। **कृतेन** निश्चितेन [अ]**कृतस्य** परोक्षस्य यद् **वीक्षणं** ज्ञानं तस्य **सर्वस्यैव** निरवशेषस्यैव **भवति उपमानम्**, उपमानादपरं परोक्षं प्रमाणं मा भूद् इति मन्यते। एतदुक्तं भवति–यथा विशदेन्द्रियार्थसन्निकर्षजज्ञानसाधर्म्यात्

(१) वनवासिनम्। (२) अटव्याम्। (३) प्रमाणान्तरमस्तु। (४) गोसदृशस्य गवादौ आलम्भनं क्रियते इति सदृशस्मृतेः वैदिकं प्रयोजनं विद्यते इति भावः। (५) लौकिकजनस्य गोविलक्षणमहिषादिज्ञानरूपं प्रयोजनमस्त्येवेति भावः। (६) "तस्य ग्रहणं प्रत्यक्षानुपलम्भसहायान्मानसात् प्रत्यक्षात्। धूमग्निसहचरितमिन्द्रियेणोपलभ्य अनग्नेश्च जलादेर्व्यावर्तमानमनुपलम्भेन ज्ञात्वा मनसा निश्चिनोति धूमोऽग्निं न व्यभिचरतीति।" –न्यायकलि० पृ० ३। (७) सिद्धसाधनमेव। (८) प्रमातृप्रमेयाभ्यामन्यस्य प्रमाणता भवति।

साक्षात् परम्परया तत्सन्निकर्षजं विशदमविशदं वा प्रत्यक्षमुच्यते तथा प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्य-साधनोपमानसाधर्म्यात् कृतेनाकृतज्ञानम् उपमानमस्तु अवान्तरविशेषस्य सर्वत्र भावादिति[२] ।

पर आह–**नन्वेवम्** इत्यादि । **ननु** इति अक्षमायाम् । **एवं** सति **उपमानाऽनुमानयोः अभेदप्रसङ्गः**; भेदश्च तयोर्लोके प्रसिद्ध इति मन्यते । [१५४क] **'तथास्तु'** इति वदन्तमाचार्यं प्रत्याह–**स एव तत्र** इत्यादि । **तत्र** तयोः उपमानाऽनुमानयोर्मध्ये **साधनम्** अनुमानम् । काभ्याम् ? इत्याह–**उदाहरण** इत्यादि । **उदाहरणं** निदर्शनं तेन यत् **साधर्म्यं** कृतकत्वादि समानधर्मेण सदृशत्वम् **वैधर्म्यं** तद्धर्माऽभावेन विसदृशत्वं पक्षस्य **ताभ्याम्** इति । **सह** इत्यनेन अन्वयव्यतिरेकवत् पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोऽदृष्टम् इत्यनुमानं दर्शयति **पृथग्वा** इत्यनेन केवलान्वयि पूर्ववच्छेषवद् इति केवलव्यतिरेकि पूर्ववत्सामान्यतोऽदृष्टम् इति च उपमानलक्षणमुक्तमिति नोच्यते ।

अत्र दूषणमाह आचार्यः– **अत्रापि** इत्यादिना । न केवलं पूर्वं(र्वं) व्याप्तिज्ञान[स्य] मानसाध्यक्षत्वकल्पने किं चैत्रापि (किन्त्वत्रापि) **उपमानसाधर्म्यानुमानयोरभेदः स्यात्** *"प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनम्" [न्यायसू० १।१।६] इत्यस्य *"उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनम्" [न्यायसू० १।१।३४] इत्यस्य च **विशेषाऽदर्शनात्** इति मन्यते । तथा च परैः[५] परमार्थतः तयोर्भेदं कथयति लक्षणं च समानं ब्रूते **इति विपरीतलक्षणप्रज्ञो जडात्मा इति** । सत्यं निदर्शनमात्रमेतत् तेन वैधर्म्योभयोपमानानुमानयोरभेदः स्यादिति च द्रष्टव्यम् ।

एवं स्वयम् आचार्येण नैयायिके निरस्ते सौगताः प्राहुः–**ततोऽनुमानमेव** इत्यादि । अस्यायमर्थः–यस्मात् **कृतेन अकृतवीक्षणं 'सर्वम्'** इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः ।

अत्राह परः[६]–प्रसिद्धसाधर्म्यादन्यतो वा साध्या[१५४ख]विनाभाविनः साध्यसाधनमनुमानमस्तु[७] परं तु उपमानादिकं स्यादिति चेत् ; अत्राह सौगतः–**सर्वथा** इत्यादि । सर्वेण प्रसिद्धसाधर्म्यप्रकारेण अन्येन वा **सर्वथा अविनाभावसम्बन्धप्रतिपत्तेः** विना **तमन्तरेण प्रामाण्यानुपपत्तेः** अनुमानमेव अस्तु इति सम्बन्धः । एतदुक्तं भवति–यदि प्रसिद्धसाधर्म्यस्य अन्यस्य वा अविनाभावसम्बन्धप्रतिपत्तिरस्ति ; सिद्धमस्मत्समीहितम् । अन्यथा ततो जायमानं न किञ्चित्प्रमाणम् अतिप्रसङ्गादिति । ननु यथा प्रत्यक्षस्य अविनाभावसम्बन्धप्रतिपत्तेर्विना प्रामाण्यं तथा उपमानादेः स्यादिति चेत् ; अत्राह–**प्रत्यक्षेऽपि** इत्यादि । न केवलमन्यत्र[८] अपि तु **प्रत्यक्षेऽपि समानः** सदृशः **प्रसङ्गः** प्रसक्तिः **'अविनाभाव'** इत्यादिकस्य । [९]तदपि हि वस्तुप्रतिबन्धात् तत्र प्रमाणं नान्यथा ।

अत्राह चार्वाकः–अनुमाने तर्हि अविनाभावसम्बन्धप्रतिपत्तेरभावात् प्रामाण्यं न स्यादिति; तत्राह–**तथैव** इत्यादि । **तथा** तेन प्रत्यक्षप्रकारेण **अनुमानेऽपि** न केवलम् अन्यत्र समानः प्रसङ्गः इति पदघटना । अस्ति च [१०]तत्रापि सा इति मन्यते । तदुक्तम्–

---

(१) ज्ञानम् । (२) न हि किञ्चिदवान्तरविशेषमात्रेण प्रमाणान्तरत्वं भवति । (३) "तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टं चेति" (सू० १।१।५) "त्रिविधमिति अन्वयी व्यतिरेकी अन्वयव्यतिरेकी चेति ।" न्यायवा० पृ० ४६ । (४) नैयायिकादिः । (५) नैयायिकः । (६) अविनाभावग्रहणं विना यत् ज्ञानं साहश्याद् भवति तद् भवतु उपमानमित्यभिप्रायः । (७) उपमानादावेव । (८) प्रत्यक्षमपि । (९) प्रत्यक्षेऽपि । (१०) अर्थाविनाभावप्रतिपत्तिः ।

*"अर्थस्यासंभवेऽभावात् प्रत्यक्षेऽपि प्रमाणता ।
प्रतिबद्धस्वभावस्य तद्धेतुत्वे समं द्वयम्[1] ॥" इति[2] ।

एवं स्वमतं व्यवस्थाप्य सौगताः कदाचिदेवं ब्रूयुः—अस्माकं कथं चिनो ('चिन्तो) पमानवद्' इति । तत्राह आचार्यः—**कस्यचिद्** इत्यादि । **कस्यचित्** धूमादेः **कथञ्चित्** केनापि प्रकारेण **स्वतः**[न]साधनान्तरेण ज्ञानापेक्षामन्तरेण **सिद्धिः**[१५५क]निर्णीतिः[ता]**मन्तरेण उत्तरस्य** अध्यक्षद् (वत्) अनुमानस्याऽवृत्तेः **चिन्तोपमानवत्** इति । अत्रायमभिप्रायः—अस्याः सिद्धेः सद्भावे ततः अनुमानमेव अस्तु इत्ययुक्तं प्रत्याख्या[नम्] ।

[प्रत्यक्षा]नुमानयोरन्यतरत्र तँदन्तर्भावात् न दोष इति चेत्; अत्राह—**भूता** इत्यादि ।

**[भूता भव्याः सर्वे सन्तो भावाः क्षणक्षयाः ।
इति व्याप्तौ प्रमाणं ते न प्रत्यक्षं न लैङ्गिकम् ॥८॥**

परोक्षस्य सम्बन्धात्तदविनाभाविनोऽन्यतः सिद्धिरनुमानमेवेति; अत्र सम्बन्धो नैव प्रत्यक्षो भवितुमर्हति यतोऽनुमानव्यवस्था स्यात् । न हि कस्यचित् साकल्येन व्याप्तिज्ञानं क्वचित् कदाचित् प्रत्यक्षं सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वात् । यदि तद्बलोत्पन्नं विकल्पज्ञानं न भवेत् अनुमानं च न स्यात् । अनधिगतलिङ्गलिङ्गिस्वलक्षणाध्यवसायेऽपि यदि न प्रमाणान्तरं प्रत्यक्षमपि न स्यात् । तत्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् अविकल्पित [सांवृताभ्याम्] नार्थाधिगतिर्नाम । समारोपव्यवच्छेदस्याप्यभावात् । यत् सत् तत्सर्वं क्षणिकमेवेति प्रत्यक्षसिद्धौ शब्दक्षणिकत्वमेव किमनुमेयम् ?]

भावाः सन्तः पदार्थाः **सर्वे** निरवशेषाः । के ते ? इत्याह—**भूता** इत्यादि । **क्षणि-(ण)क्षया** इत्येवं **व्याप्तौ** व्याप्तिविषये **प्रमाणं ते** सौगतस्य **न प्रत्यक्षं न लैङ्गिकम्** नानुमानम् । तँदभावाभ्युपगमान्नायं दोष इत्येके । तेषां व्याप्तेरग्रहे नानुमानं नाम, इत्ययुक्तमिदम्[3]—*"प्रत्यक्षमनुमानं चेति द्वे एव प्रमाणे ।" इति । व्यवहारेण तदभिधानाददोष इति चेत्; व्यवहारेण तत् न परमार्थतः [इति] कुतोऽवसेयम् ? विचारादिति न युक्तम्; अस्यँ अप्रमाणत्वे नाँतस्तदवसेयम् अतिप्रसङ्गात् । प्रमाणत्वमपि नाध्यक्षत्वेन [अँनभ्युपगमात्] विरोधाच्च । नानुमानत्वेन; अनभ्युपगमात् । तन्न विचारात् तदवसेयम् । प्रत्यक्षादिति; न; एवंवादिनः स्वसंवेदनप्रत्यक्षादन्यस्य असंभवात् । न च तत्[4] स्वरूपादन्यत्र वृत्तिमत् इति कुतस्ततः 'अन्यत् प्रत्यक्षम् अनुमानं च व्यवहारेण' इति प्रतिपत्तिः ? नहि नीलज्ञानं पीतादिकम् इदंतया नेदंतया वा व्यवस्थापयितुमलम्, ज्ञानान्तरकल्पनावैफल्यप्राप्तेः । अथ अन्यत् प्रत्यक्षादिकम् असत्;

---

(१) प्रत्यक्षमनुमानञ्च । (२) "अत एवाह—अर्थस्यासंभवे···"—प्र० वार्तिकाल० ३।११७ । तत्त्वसं० प० पृ० ७७५ । आप्तप० पृ० १७३ । न्यायवि० वि० प्र० पृ० २० । सन्मति० टी० पृ० ५५५ । न्यायावता० वा० वृ० पृ० ८६ । "धर्मकीर्तिरप्येतदाह" प्रमाणमी० पृ० ८ । (३) चिन्तायाः तर्कस्य अन्तर्भावात् । (४) व्याप्तिज्ञान । (५) "द्विविधं सम्यग्ज्ञानम् । प्रत्यक्षमनुमानं च"—न्यायवि० १।२,३ । प्र० वा० २।१ । "प्रत्यक्षानुमानभेदेन द्विविधमेव प्रमाणं प्रतिपत्तव्यम्"—प्र० वार्तिकाल० २।१ । (६) विचारस्य । (७) विचारात् । (८) निर्विकल्पकस्य हि प्रत्यक्षत्वमभ्युपगम्यते, विचारस्य च विकल्परूपत्वादिति भावः । (९) स्वसंवेदनप्रत्यक्षम् ।

असतश्च सत्त्वेन अन्यथा वा कल्पनं नान्यतो व्यवहारात् इति चेत् ; कुतस्तदसत्त्वसिद्धिः ? 'अनुपलम्भात्' इत्यनुत्तरम् ; स्वयमेव अतः परेण[1] अनुमानव्यवस्थानात् [१५५ख] *"प्रतिषेधाच्च कस्यचित्" इति वचनादिति[2] । अस्य व्यवहारेण प्रामाण्ये कुतः अन्तः परमार्थतोऽन्याभाव-सिद्धिः यतः स्वसंवेदनाध्यक्षाद्वैतमेव इति युक्तम् । नाप्यत एव तदभावः सिध्यति; तत्र अस्य अव्यापारात्, इतरथा सुखादीनां परस्परमनुलम्भात् सर्वाभावः स्यात् ।

एतेन [3]यदुक्तं प्र ज्ञा क रे ण–*"प्रतिभासाद्वैतादन्यस्य अभावात् कथमुच्यते भूता इत्यादि" इति ; तन्निरस्तम् । 'अस्याः' ग्रहणम् उपलक्षणम्, तेन अन्यस्यामपि, तत्र तस्य प्रमाणम् इत्यनुमानोच्छेदः ।

कारिकार्थं दर्शयितुमाह–**परोक्षस्य** इत्यादि । **परोक्षस्य** इन्द्रियविषयस्य **सम्बन्धात् तदविनाभाविनोऽन्यतः** ततोऽन्यस्मात् **सिद्धिः अनुमानमेव** न प्रमाणान्तरम् । **इति** शब्दः परपक्षसमाप्तौ । सूरिः आह–**अत्र** इत्यादि । **अत्र** परपक्षे **संबन्धो** लिङ्गलिङ्गिनोः अविनाभावो **नैव प्रत्यक्षो भवितुमर्हति यतो** यस्मात् तत्प्रत्यक्षभवनार्हत्वात् **अनुमानव्यवस्था स्यात् । यत** इति वा आक्षेपे, **नैव** स्यात् । एतदुक्तं भवति–*"उपलम्भः सत्ता" [प्र०वार्तिकाल० ३।५४] इति[4] वचनात् प्रत्यक्षभवनार्हत्वाभावेन सर्वंचस्तदभावे (सर्ववस्त्वभावे) नानुमानं कारणाभावे कार्यानुत्पत्तेरिति । एतदेव दर्शयन्नाह–**नहि** इत्यादि । **हि** यस्मात् **न कस्यचित्** सौगतस्य नैयायिकादेर्वा **साकल्येन** सामस्त्येन **व्याप्तिज्ञानं** लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धग्रहणं **प्रत्यक्षं क्वचिद्** व्यवहारे परमार्थे वा देशे **वा कदाचित्** संसारिदशायां योगिदशायां वा काले वा **भवितुमर्हति** । ततो निराकृतमेतत्–*"यस्य यावता (ती) देशमात्रा" [१५६क] [प्र०वार्तिकाल० ३।६१] इति । केनचिद् धर्मेण न तावद्वैशद्येन ; [5]तत्र तदभावात्, तथा अव्यवहारात् । तथापि तत्र तदङ्गीकरणे न किञ्चिदविशदं ज्ञानं भवेत् । नापि चक्षुराद्यक्षप्रभवत्वेन ; तत्र तदव्यापारात्, अन्यथा प्रत्यक्षसंख्यानियमव्याघातः । अभ्यासजत्वेनेति चेत् ; अत्रेदं चिन्त्यते–विकल्पमात्रं वा अभ्यासपरिकरगोचरीकृतं तत् स्यात्, अनुमानं वा ? प्रथमविकल्पे न तत्प्रमाणम्, कामाद्युपप्लुतदृष्टिवत् । द्वितीये व्याप्तिज्ञानादनुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणम् *"नाऽकारणं विषयः" [6]इत्यस्य *"प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्त्या प्रवृत्तिसामर्थ्याद् अर्थवत्

(१) असत्त्वेन वा । (२) बौद्धेन । (३) "धर्मकीर्तिरप्येतदाह–प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः । प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित् ॥"–प्र०मी० पृ० ८ । प्रमेयरत्नमा० २।१ । "तथा चोक्तं तथागतैः–प्रमाणान्तरसामान्यस्थिते···"–सर्वद० सं० पृ० १९ । (४) "तस्मात् संवेदनमेव केवलमद्वैत-मपरस्याभावादिति स्थितम् ।" (पृ० २९०) "नाद्वैतादपरं तत्त्वमस्ति"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३० । (५) "उपलम्भः सत्तेति व्यवस्था"–प्र० वार्तिकाल० । (६) व्याप्तिज्ञाने । (७) उद्धृतमिदम्–अनेकान्तजय० पृ० २०७ । धर्मसं० पृ० १७६ । बोधिचर्या० प० पृ० ३९८ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१९ । आप्तप० पृ० १६८ । प्रमेयक० पृ० ३५५, ५०२ । न्यायकुमु० पृ० ६४० । स्या० र० पृ० ७६९ । न्यायवि० वि० प्र० पृ० २९० । स्या० मं०पृ० २०६ । "अहेतुश्च विषयः कथम्"–प्र० वा० ३।४०६ । "नाहेतुर्विषयः"–प्र० वार्तिकाल० ३।४०६ । "न ह्याकारणं प्रतीतिविषयः"–हेतुवि० टी० पृ० ८० । "नानुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं नाकारणं विषयः"–न्यायकुमु० पृ० ६४० । सम्मति० टी० पृ० ५१० । प्र० मी० पृ० ३४ । षड्द० बृ० वृ० पृ० ३७ ।

प्रमाणम्" [न्यायभा० पृ० १] *"अर्थसहकारिव्यवसायादिविशेषणज्ञानकं प्रमातृप्रमेयाभ्यामर्थान्तरं प्रमाणम्" इत्यस्य च वचनात् स्वविषयकार्येण तेन भवितव्यम्, इति न स्वसमानसमयभुवो ग्रहणम् तस्य [1]तदकारणत्वात्। यच्च कारणं तदपि तद्देशादिसन्निहितमेव न सर्वं विवक्षितम्, अन्यथा स्वान्यकार्यदेशादौ तेन तत्कर्त्तव्यमिति निरूपयिष्यते अनन्तरमेव। ततः सूक्तम्–[सन्निहितेत्यादि] सन्निहितः तत्कालानन्तरकालो यो विषयः तस्य बलेन उत्पत्तेः ५ कारणात् प्रत्यक्षस्य, तज्ज्ञानं(तज्ज्ञानं) न प्रत्यक्षं भवितुमर्हतीति। हेत्वन्तरमाह–अविचारकत्वात् इति। अविकल्पकत्वाऽस्वग्रहणात्मकत्वाभ्यां सन्निहितस्यापि विषयस्य अव्यवस्थापकत्वात् [2]तन्न तद् भवितुमर्हतीति। तद्व्याप्तिज्ञानं तर्हि अनुमानं स्यादिति चेत्; अत्राह–तद्बलादू इत्यादि। न केवलं तज्ज्ञानं प्रत्यक्षं न भवितु [१५६ख]मर्हती त्कं (त्थम्) किन्त्वनुमानं च तदपि न स्यात्। यदि चेद् विकल्पज्ञानमूक(मूढ) ज्ञानं न भवेत्। कथम्भूतम्? तद्बलोत्पन्नं प्रत्यक्ष- १० सामर्थ्योत्पन्नम् *"ऊहो मतिनिबन्धनः" इति वचनात्। अस्ति तत्[3], केवलं प्रमाणं न भवति, प्रमाणमपि लिंगिक (लैङ्गिक)मेव इति चेत्; अत्राह–अनधिगत इत्यादि। अनधिगतं प्रत्यक्षादिना अविषयीकृतं लिङ्गलिङ्गिस्वलक्षणं यत् तस्याध्यवसायेऽपि न केवलम् अनध्यवसाये यदि न प्रमाणान्तरम्। तथाहि–यदि न प्रमाणं प्रत्यक्षमपि न स्यात् तस्यापि तल्लक्षणान्तराभावात्। यदि न तदन्तरं किन्तु अनुमानमेनमेव, अनुमानं न स्यात् अनवस्थानादिति मन्यते। १५

ननु माभूद् अनुमानं तथापि न सौगतस्य काचित् क्षतिः स्वयं तदभावोपगमात्। तत्त्वाभ्युपगतस्य प्रतिभासाद्वैतस्य प्रत्यक्षतः सिद्धिरिति चेत्; अत्राह–तत्प्रत्यक्ष इत्यादि। ते च ते सौगतकल्पिते परमार्थसंवृतिरूपे प्रत्यक्षम् (क्षा)नुमाने च ताभ्याम्, कथम्भूताभ्याम्? इत्याह–अविकल्पित इत्यादि। सुगमम्। नार्थाधिगतिर्नाम व्यवहारे अर्थस्य व्याप्तिलक्षणस्य परमार्थे [4]तदद्वैतलक्षणस्य अधिगतिर्न, प्रत्यक्षस्य सकलविकल्पविकलस्य परं प्रति असिद्धेः, अनुमानस्य २० च [5]सांवृतस्य तत्त्वाऽसाधकत्वादिति मन्यते।

ननु यदुक्तम्–'माऽनुमा'–अनुमानेन नार्थाधिगतिः नाम इति; तत्सिद्धसाधनम्; तेनैव तदधिगतेरनभ्युपगमात्। समारोपव्यवच्छेदकरणात् [6]तत् प्रमाणमिष्यत [१५७क] इति चेत्; अत्राह–समारोप इत्यादि। न केवलम् अर्थाधिगतेः अपि तु [7]तद्व्यवच्छेदस्याप्यभावात्। अर्थाधिगतिमन्तरेण स्वापादिवत् तद्व्यवच्छेदासंभवादिति मन्यते। २५

यस्तु मन्यते प्र ज्ञा क र गु प्तः–*"योगिज्ञानं व्याप्तिज्ञानम्" इति[8]। तं प्रत्याह–

---

(१) समसमयभाविनोः कार्यकारणभावाभावात्। (२) व्याप्तिज्ञानम्। (३) प्रत्यक्षम्। (४) व्याप्तिज्ञानम्। (५) प्रतिभासाद्वैतस्वरूपस्य। (६) जैनादिकम्। (७) विकल्परूपस्य। (८) मा अनुमा प्रमाणम् इत्यर्थः। (९) अनुमानेन। (१०) अनुमानम्। "यदा पुनरनुमानेन समारोपव्यवच्छेदः कृतो न भवतीति तदर्थमन्यत् प्रवर्तते।"–प्र० वा० स्व० पृ० १२५। "समारोपविवेकेऽस्य प्रवृत्तिरिति गम्यते।"–प्र०वा० ३।४८। (११) समारोपव्यवच्छेदस्य। (१२) तुलना–"अन्ये तु व्याप्तिग्रहणकाले प्रतिपत्तुर्योगिन इवाशेषविषयं परिज्ञानमस्तीति ब्रुवते।"–प्रज्ञा० व्यो० पृ० ५७०। "योगिप्रत्यक्षतो व्याप्तिसिद्धिरित्यपि दुर्घटम्"–त० श्लो० पृ० १७९। न्यायकु० पृ० ४१२। प्रमेयक० पृ० ३५१।

यत्सत् इत्यादि । यत् सत् अर्थक्रियाकारि तत्सर्वं क्षणिकमेव नित्यं न भवति इत्येवं प्रत्यक्षसिद्धौ शब्दक्षणिकत्वमेव किमनुमेयं किन्तु सर्वम् अनुमेयं स्यात् इति न किञ्चित् प्रत्यक्षप्रमाणप्रमेयं भवेत् । अथ सुखादि-नीलादि तत्प्रमेयमिष्यते, तथा क्षणिकत्वमपि अस्तु तदविशेषादिति न किञ्चिदनुमेयम् । न च योगिज्ञानविषयीकृते समारोप्येऽभ्यासदशाबलतः (रोपोऽनभ्यासदशा च, यतः) तद्व्यवच्छेदकरणादनुमेयं स्यात्, समारोपे वा न प्रत्यक्षतः तद्व्याप्तिसिद्धिः । न वा निश्चितलिङ्गवत् सा अनुमानकरणमिति मन्यते ।

एतेन सम्बन्धसम्बन्धजं मानसमध्यक्षं चिन्तितम् ।

एवं तावत् सामान्येन परस्य साकल्येन व्याप्तिग्रहणे(णम)संभवीति प्रतिपाद्यं (द्य) यदुक्तम् "अ र्च टे न–*"सर्वस्य क्षणिकत्वेन साकल्यव्याप्तिग्रहणं नाध्यक्षतः, अपि तु अक्षणिकात् सर्वतः सत्त्वं व्यावर्त्तमानं तीरादर्शिशकुनिन्यायेन गत्यन्तराऽभावात् क्षणिके व्यवस्थितिं कुर्वत् तेन व्याप्तमिति निश्चीयते, ततः तद्व्यावृत्तिश्च तद्व्यापिकाया अर्थक्रिया[याः] व्यावृत्तेः, अस्याश्च व्यापकयोः क्रमयौगपद्ययोः ।" इति । तत्राह–सत्ताम् इत्यादि ।

[सत्तां सर्वतोऽक्षणिकात् स्वनिवृत्तौ निवर्तयेत् ।
व्याप्यामर्थक्रियां चेत्सा क्षणिके केन सिध्यति ॥९॥

क्रमाक्रमयोः व्यापकयोरन्यतरेण क्षणिके अर्थक्रियायाः प्रत्यक्षप्रवृत्तिरेव विपक्षे बाधकप्रमाणवृत्तिः । सा पुनः क्षणक्षयानुपलक्षणात् कथं प्रत्यक्षा ? प्रत्यक्षापि कथं तत्सम्बन्धिनी । जातेः···कथंप्रत्यक्षा । क्षणिकस्यार्थक्रियासिद्धिमन्तरेण सत्ता व्यावर्तमाना कथञ्चित्क्षणिके सत्तां साधयेत् विपक्षानतिशायनात् । तदयं क्षणिके अर्थक्रियामेव कुतश्चित् साधयितुमर्हति अन्यथा विपक्षव्यावृत्त्यसिद्धेः । कारणस्य क्षणिकस्य सत्तैवार्थक्रिया प्रत्यक्षेति चेत्; तथाऽक्षणिकस्य अविशेषात्, प्रतीतिवत्त्वविशेषः इतरत्रापि । कार्योत्पत्तिः···अन्यत्रापि समानम् । कारणाच्चेत्; किं केन व्याप्तम् ? ततः स्वभावानुपलब्धिरेव विपक्षे बाधकं प्रमाणम् । सा पुनः क्षणिकोपलब्धिरसिद्धैव विप्रतिपत्तेः अन्यथा साधनवैयर्थ्यात् ।]

---

(१) प्रत्यक्षप्रमेयम् । (२) व्याप्तिः । (३) मनःसंयुक्तेन आत्मना सम्बद्धाः सर्वेऽर्थाः । (४) "नैव प्रत्यक्षतः कार्यविरहाद्वा सर्वशक्तिविरहोऽक्षणिकत्वे उच्यते किन्तु तद्व्यापकविरहात् । तथाहि–क्रमयौगपद्याभ्यां कार्यक्रिया व्याप्ता, प्रकारान्तराभावात् । ततः कार्यक्रियाशक्तिव्यापकयोस्तयोरक्षणिकत्वे विरोधान्निवृत्तेस्तद्व्याप्तायाः कार्यक्रियाशक्तेरपि निवृत्तिरिति सर्वशक्तिविरहलक्षणमसत्त्वमक्षणिकत्वे व्यापकानुपलब्धिराकर्षति विरुद्धयोरेकत्रायोगात् । ततो निवृत्तं सत्त्वं क्षणिकेष्वेवावतिष्ठमानं तदात्मतामनुभवतीति यत् सत् तत् क्षणिकमेव इत्यन्वयव्यतिरेकरूपाया व्याप्तेः सिद्धिःनिश्चयो भवति ।"–हेतुवि० टी० पृ० १४६ । (५) "यथा किल वहनारूढैर्वणिग्भिः शकुनिर्मुच्यते अपि नाम तीरं द्रक्ष्यतीति । स यदा सर्वतः पर्यटंस्तीरं नासादयति तदा वहनमेवागच्छति तद्वदेतदपि द्रष्टव्यम् । यतश्चावश्याभ्युपगमनीयोऽयं पक्षः तस्माच्च किञ्चिदनया अविद्यमानप्रतिष्ठानया दिशः प्रतिपत्त्या प्रयोजनम् ।"–हेतुवि० टी० पृ० १९३ ।

सर्वतः कूदस्थात् (कूटस्थात्) कालान्तरस्थायिनश्च यदि वा दृश्याभिमताद् [१५७ख] अन्यतश्च **अक्षणिकात् चेत् सत्तां निवर्त्तयेत्**। कथम्भूताम् ? **व्याप्यां** 'स्वव्याप्याम्' इत्यवगन्तव्यम्, यथा 'मातरि वर्त्तितव्यम्' इत्यत्र 'स्वस्याम्' इति। का ? इत्याह–**अर्थक्रिया** इति। कस्मिन् सति? इत्याह–**स्वनिवृत्तौ** इति। तत्र दूषणम् **सा** अर्थक्रिया स्वाहिमेत (स्वाभिमत) **क्षणिके** वस्तुनि। **केन** प्रमाणेन प्रकारेण वा **सिध्यति**, न केनचित्। एतदुक्तं भवति–अक्षणिके व्यापकयोः क्रमाऽक्रमयोरनुपलम्भः क्षणिकेऽपि इति तत्रापि तदभावो न वा क्वचिदिति।

कारिकां विवृण्वन्नाह– **क्रम** इत्यादि। **क्रमाक्रमयोर्मध्ये**। कथंभूतयोः ? **व्यापकयोः 'अर्थक्रिया'** इति सम्बन्धः। **अन्यतरेण** क्रमेण अक्रमेण वा **क्षणिके** निरन्वयनश्वरे वस्तुनि या **अर्थक्रिया** तस्याः **प्रत्यक्षप्रवृत्तिः** अध्यक्षोत्पत्तिरवा (रेव) **विपक्षे** अक्षणिके। यदा हि 'शब्दः क्षणिकः सत्त्वात्' साध्यते तदा अन्यैः सर्वः क्षणिकः सपक्षो भवति अक्षणिको विपक्ष इति **बाधकप्रमाणवृत्तिः 'अर्थक्रियायाः'** इति गतेन सम्बन्धः। अन्वयप्रतिपत्तिरेव व्यतिरेकप्रतिपत्तिः; कथमन्यथा *"**निश्चितान्वयवचनादेव सामर्थ्याद् व्यतिरेकगतेः तद्वचनं निग्रहस्थानम्**" उक्तं (इत्युक्तं) शोभेत ? सात्मके च क्वचित् प्राणादेरदर्शनेऽपि कुतश्चित् निरात्मकान्निवृत्तिः स्यादिति मन्यते। तथाभ्युपगच्छतो दोषमाह–**सा** इत्यादि। **सा** अर्थक्रिया। **पुनः** इति वितर्के **क्षणक्षयानुपलक्षणात् कथं** केन प्रकारेण **प्रत्यक्षा** ? तस्या अपि क्षणिकैकान्ते क्षणिकत्वेन अनुपलक्षणादिति मन्यते। [१५८क] **प्रत्यक्षाऽपि कथं तत्सम्बन्धिनी** क्षणक्षयसम्बन्धिनी सिध्येत्। दृष्टान्तम् आह–**जातेः** इत्यादिकम्। **कथं** केन प्रकारेण **प्रत्यक्षा**। सुगमम्। मा सिधत् तत्सम्बन्धिनी[६] सा[७]; को दोष इति चेत् ? अत्राह–**क्षणिकस्य** इत्यादि। **क्षणिकस्य अर्थक्रियायाः** या **सिद्धिः** निर्णीतिः **तामन्तरेण** क्षणिकात् **सत्ता** अर्थक्रिया **व्यावर्त्तमाना कथञ्चित्क्षणिके सत्ताम्** अर्थक्रियां **साधयेत्**। कुत एतत् ? इत्यत्राह–**विपक्षानतिशायनात्**। उपसंहारमाह–**तद्** इत्यादि। यत एवं **तस्माद् अयं** सौगतः **क्षणिके अर्थक्रियामेव कुतश्चित्** प्रमाणात् **साधयितुम् अर्हति, अन्यथा** तत्र तत्साधनाभावप्रकारेण **विपक्षव्यावृत्तेरसिद्धिः** (द्वेः) विप[क्षाद] क्षणिकाद् अर्थक्रियायाः या व्यावृत्तिः तस्या असिद्धेः इति। 'कं' इति योगविभागात् का-सः[९] तात्परः तपरः इति यथा। अपर आह–**कारणस्य**। कथम्भूतस्य ? **क्षणिकस्य सत्तैव** स्वरूपसत्त्वमेव **अर्थक्रिया**, तदुक्तम्[१०]–*"**भूतिर्येषां क्रिया सैव**"। कथंभूता सा ? इत्याह–**प्रत्यक्षा इति** एवं चेद् यदि। पराभिप्रायसूचकः **चेत्** शब्दः। उत्तरमाह

(१) अर्थक्रियाया अभावः। (२) प्रदीपादिः। (३) व्यतिरेकवचनम्। (४) "अन्वयव्यतिरेकवचनयोर्वा साधर्म्यवति वैधर्म्यवति च साधनप्रयोग एकस्यैवाभिधानेन सिद्धेर्भावात् द्वितीयस्यासामर्थ्यमिति तस्याप्यसाधनाङ्गस्याभिधानं निग्रहस्थानं व्यर्थाभिधानादेव।"–वादन्या० पृ० ६५। (५) अतीन्द्रियत्वात्। (६) क्षणक्षयसम्बन्धिनी। (७) अर्थक्रिया। (८) 'का' इति पञ्चमीविभक्तेः संज्ञा। (९) पञ्चमीतत्पुरुषसमासः। (१०) "क्षणिकाः सर्वसंस्काराः अस्थिराणां कुतः क्रिया ? भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते॥"–बोधिचर्या० पृ० ३७६। मध्यमकवृ० पृ० ११६ टि० १। प्र० भा० पृ० ५३१। रत्नाकरावo पृ० २९। स्या० म० श्लो० १६।

आचार्यः—तथा तेन प्रकारेण अक्षणिकस्य कारणस्य सत्तैव अर्थक्रिया प्रत्यक्षा इति न ततः साध्यो व्यावर्त्तते इति मन्यते ।

अनन्ने (नन्वे)कस्य कालत्रयानुयायित्वम् अक्षणिकसत्त्वम्, न च तत्[२] प्रत्यक्षतः प्रत्येतुं शक्यं तत्र तदसामर्थ्यात्, [१५८ख] तस्य पूर्वापरकोटिविच्छिन्नत्वं क्षणिकसत्त्वम्, तच्च ततः प्रत्येतुं शक्यं ततोऽस्याभावात् कथमुक्तमिति चेत् ? अत्राह—अविशेषात् अस्य विशेषस्याभावादिति । यथैव हि एकस्य कालत्रयानुयायिसत्त्वं द्रष्टुमशक्यं तथा बाह्यस्येतरस्य वा परमाणोः क्षणमात्रसत्त्वम्[६] । कल्पनया तु तदुभयं शक्यमिति मन्यते ।

ननु न परमाणोः पूर्वापरयत्ता (योरसत्ता) क्षणिकत्वमुच्यते, अपि तु दृश्यस्य स्थूलस्य[७], ततोऽयं विशेष इति चेत्; अत्राह—प्रतीतीत्यादि । अत्रायमभिप्रायः—अस्मिन् पक्षे यथा युगपदेकस्य स्थूलस्य एकानेकात्मकत्वं तथा क्रमेणापि इति, क्षणक्षयपक्षे प्रतीतिवा(वत्त्व)लक्षणो विशेषः अक्षणिकपक्षाद् भेदः इतरथा (त्रापि अ) क्षणिकपक्षे प्रतीत्यनुग्रहणलक्षणोऽन्य एक्षा ततान्यथा (णोऽप्यस्त्येव, ततोऽन्यथा) चिन्तितम् अन्यथा परस्य कार्यं प्रवृत्तम् ।

इतर आह—कार्योत्पत्तिः इत्यादि । अत्र दूषणम्—अन्यथापि (त्रापि) अक्षणिकेऽपि समानम् । 'तदुत्पत्तिः सा स्यात्' इति परमतमाशङ्कते—कार[णात्] इत्यादि । चेत् शब्दः परामिप्रायद्योतकः । नन्वेतद् आशङ्कितं परिहृतं च 'कारणस्य क्षणिकस्य' इत्यादिना; सत्यम्; तथापि दूषणान्तरप्रतिपादनार्थं तत्पुनः आशङ्क्यते, तदेवाह—किं तेन (केन) इत्यादि । किं सत्त्वं नानार्थं (केन नाम अर्थ) क्रियालक्षणेन व्यापकेन व्याप्तम् ? न केनचिदिति। एव (वं) मन्यते—यदा सत्तैव अर्थक्रिया; तथाऽभेदान्न तयोः कल्पितोऽपि व्याप्यव्यापकभावः । नहि तदेव ते[९] । तथा सति यद् दूषणं तदाह—तत इत्यादि । तत [१५९क] उक्तन्यायात् स्वभावस्य सत्तास्वरूपस्य अनुपलब्धिरेव उक्ता न व्यापकाऽनुपलब्धिः विपक्षे सत्ताबाधकं प्रमाणम् इति एवकारार्थः । अनेन अनुपलब्धिविशेषापरिज्ञानम् अ च ट स्य दर्शयति । सैवास्तु को दोषः इति चेत्; अत्राह—सा पुनः इत्यादि । सा परेण उच्यमाना पुनः इति वितर्के क्षणिकोपलब्धिः क्षणिकसत्ता विषये[१०] विषयिशब्दोपचारादेवमुच्यते । अथवा 'उपलभ्यते इति उपलब्धिः' इति व्युत्पत्तेः । असिद्धैव अज्ञातैव । कुत एतत् ? इत्यत्राह—विप्रतिपत्तेः विरुद्धा अक्षणिकस्य प्रतिपत्तिः विप्रतिपत्तिः तस्याः । अनेन [११]तदभावसाधने विरुद्धोपलब्धिं दर्शयति । प्रतिपत्त्यभावाद्वा विप्रतिपत्तेः । अनेन स्वभावानुपलब्धिः । अस्यानभ्युपगमे दूषणमाह—अन्यथा अन्येन विप्रतिपत्त्यभावप्रकारेण साधनस्य क्षणिकत्वानुमानस्य वैयर्थ्यात् सा असिद्धैव इति । समारोपव्यवच्छेदोऽपि प्रथमं चिन्तितः । इदमत्र तात्पर्यम्—अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तायाः सत्तायाः न तावत् स्वभावानुपलब्धिः विपक्षेऽभावसाधनं स्वयमनभ्युपगमात् । नाप्युपलब्धिलक्षणप्राप्तायाः; नित्यवत् क्षणिकेऽपि [१२]तददर्शने गत्यन्त-

(१) अक्षणिकात् । (२) कालत्रयानुयायित्वम् । (३) क्षणिकत्वम् । (४) प्रत्यक्षात् । (५) नित्यस्य । (६) अपि द्रष्टुमशक्यमिति सम्बन्धः । (७) अभावः । (८) सत्त्वमेव । (९) व्याप्यं व्यापकं च । (१०) उपलब्धिर्हि ज्ञानात्मिका विषयिणी तस्याः विषयभूतायां सत्तायामुपचारः क्रियते । (११) अक्षणिकाभाव । (१२) अर्थक्रियाऽदर्शने ।

रभावेन तदुपलब्धिलक्षणप्राप्तताऽसिद्धेरिति । तन्न प्रत्यक्षतः क्षणिकेऽर्थक्रियासिद्धिः । अत एव नानुमानतोऽपि; तत्पूर्वकत्वादस्येति मन्यते ।

ननु यदुक्तम्–'अन्यत्रापि समानम्' इति; न समानम्; अक्षणिकात् क्रमाऽक्रमाभ्यां कार्योत्पत्तेः [विरोधात्; तत्परिहरन्नाह–पूर्वमित्यादि] ।

[पूर्वं नश्वराच्छक्तात्कार्यं किन्नाविनश्वरात् । ५
कार्योत्पत्तिर्विरुध्येत न वै कारणसत्तया[2] ॥१०॥

यस्मिन् सत्येव यद्भावः तत्कार्यमितरत् कारणमिति क्षणिकत्वे न संभवत्येव सहोत्पत्तिप्रसङ्गात् कुतः सन्तानवृत्तिः ? ततः प्राक् तत्करणसामर्थ्ये अनुत्पन्नं तदभाव एव भावि तत्कार्यमिति मृत्वापि अङ्गीकर्त्तव्यम् । परपक्षे पुनः एतावानेव विशेषः कारणस्य···। न च कारणाभावेन तदुत्पत्तिर्विरुध्येत । तदेतत् कारणं कार्योत्पत्तौ तत्कालं वा तिष्ठतु मा १०
वा भूत् प्राक् तत्करणसमर्थं पश्चान्न करोत्येव । न वै पश्चात् करोति अभावात्, तत् स्वयं पश्चात् भवति, इत्यत्रापि प्रतिनियतकालमपेक्ष्यम्, [यतो] यथास्वं क्रमेण कार्यं भवति ।]

पूर्वं स्वसत्ताकाल इति यावत् [१५९ख] **शक्तात्** समर्थात् । कुतः ? **नश्वरात्** क्षणिकात् **कार्यं** 'जायते' इत्यध्याहारः । कदा ? **पश्चात्** कालान्तरे । अत्र दूषणमाह–**किन्न** १५
इत्यादि । **[किं] अविनश्वराद्** अक्षणिकात् प्राक् शक्तात् कार्यं पश्चान्न जायते ? तथोत्पादनस्वभावस्य अविशेषात् । नन्वेवं कार्यकालेऽपि कारण[सं]भव इति कुतः कार्यभावे[3] इति चेत्; अत्राह–**कार्योत्पत्तिर्विरुध्येत नवै** नैव **कारणसत्तया** किन्तु तदभावेन ।

यदुक्तं परेण–*"अन्वयव्यतिरेकनिबन्धनः कार्यकारणभावः । तत्र अन्वयः कारणभावे भावः, व्यतिरेकः तदभावे अभावः" इति तन्निराकृत्य कारिकार्थं दर्शयितुकाम आह– २०
यस्मिन् इत्यादि। **यस्मिन् सत्येव** नाऽसति **यद्भावः** तस्य (तत्) **कार्यम् इतरत्** पूर्वं **कारणम्** इत्येवं क्षणिकत्वे भावानाम् अङ्गीक्रियमाणे **न संभवत्येव** । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**सहोत्पत्ति** इत्यादि। कार्यकारणयोः युगपदुत्पत्तिप्रसङ्गात् कुतः **सन्तानवृत्तिः**[4] । एतदुक्तं भवति–यदि सत् कारणं कार्यं जनयति तर्हि स्वोत्पत्तिसमये जनयति, तदैव तस्य सत्त्वात् । तथा तत्कार्ये[5] विश्व-

(१) प्रत्यक्षपूर्वत्वादनुमानस्य । (२) उद्धृतोऽयम्–न्यायवि० वि० प्र० पृ० ४७५ । (३) कारणकार्ययोः सहभावविरोधात् । (४) "तद्भावे भावः तदभावेऽभावश्च प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनश्च कार्यकारणभावः"–हेतुबि० पृ० ५४ । "यतोऽन्वयव्यतिरेकनिबन्धनः कार्यकारणभावव्यवहारः"–हेतुबि० टी० पृ० १७० । "भावे भाविनि तद्भावः भाव एव च भाविता । प्रसिद्धे हेतुफलते प्रत्यक्षानुपलम्भतः ।"–सम्बन्धप० श्लो० १६, प्र० वार्तिकाल० भू० । प्रमेयक० पृ० ५१० । "कार्यकारणभावप्रसाधनं भावाभावप्रसाधनप्रमाणाभ्यां यथा इदमस्मिन् सति भवति सत्स्वपि तदन्येषु समर्थेषु तद्धेतुषु तदभावे न भवतीति ।" –वादन्या० पृ० १४ । "अस्मिन् सति इदं भवत्यस्योत्पादादिदमुत्पद्यते इत्येतदेव हेतुलक्षणं भगवतोक्तम्" –प्र० वार्तिकाल० पृ० ६७, ६८, २७ । "अन्वयो नाम सर्वत्र सत्येव साध्ये हेतोर्भावो व्याप्त्या । यासति साध्ये हेतोरभावो व्यतिरेकः"–हेतुबि० टी० पृ० २२४ । (५) कार्यकारणयोः । (६)कारणकाले कार्यसद्भावे । (७) समस्तमुत्तरोत्तरक्षणवृत्तिकार्यम् ।

कार्यं स्वोत्पत्तिसमय इत्येककालीनता सकलसन्तानस्य इति । ततः तस्माद् अनन्तरोक्षा[न्] प्राक् स्वोत्पत्तिसमये तत्करणसामर्थ्ये तस्य विवक्षितस्य कार्यस्य करणं निष्पादनम् तत्र सामर्थ्यं तस्मिन् सति अनुत्पन्नं कार्यं तदभाव एव कारणाभावे एव भावि तत्कारणाभाव एव भवत् तस्य विनष्टस्य कार्यम् इत्येवं मृत्त्वा सटित्वापि अङ्गीकर्त्तव्यम् । [१६०क] अयमत्राभिप्रायः— यथा प्राक् समर्थात् नश्वरात् पश्चात् जायमानं कार्यं 'तस्य' इति व्यपदिश्यते तथा अनश्वरादपि इति न तत्रेदं दूषणं[1] ध र्म की र्त्ति ना कीर्त्तितं तत्कीर्त्तिमावहति । नन्वेवं तयोः अविशेष एव दर्शितः इति चेत् ; अत्राह—परपक्ष इत्यादि । परपक्षे अक्षणिकवादिपक्षे पुनः एतावानेव अधिको विशेषः क्षणिकपक्षाद् भेदकः । कोऽसौ ? इत्याह—कारणस्य इत्यादि । नन्वेवं कार्योत्पत्तिर्न स्यात् कारणसत्तया तद्विरोधादिति चेत् ; अत्राह—न च इत्यादि । किं तर्हि कारणाभावेन तदुत्पत्तिर्विरुध्येत, अन्यथा निर्हेतुकत्वमिति मन्यते । प्रकृतोपसंहारमाह—यत एवं तत् तस्मात् एतदुपलभ्यमानं पित्रादि कारणं कार्योत्पत्तौ क्रियमाणायां तन्निमित्तं वा तिष्ठतु तत्कालं वा अवस्थितिं करोतु मा वाऽभूत् पूर्वमेव वा नीरूपतां व्रजन् प्राक् तत्करणसमर्थं पश्चान्न करोति एवं (त्येव) किन्तु प्रागेव करोति ।

ननु सौगतस्य क्षणादूर्ध्वं [न] तिष्ठन्ति भावाः तत्किमर्थमिदमुच्यते—'तिष्ठन्तु' (तिष्ठतु) इति ? दृष्टार्थं (दृष्टान्तार्थम्) । यथा 'अवतिष्ठमानं प्राच्यमर्थं[3] तदैव सकलं करोतु' इत्युच्यते तथा तद्विपरीतमपि उच्यतामविशेषात् ।

पर आह—नवै नैव पश्चात् करोति स्वयमभावात् पश्चात् इति । किं तर्हि ? तत्कार्यं पश्चाद् भवति 'स्वयम्' इत्येतद् अत्राप्यपेक्ष्यम्, इत्येतत्कारणात् प्रतिनियतकालं क्रियाविशेषणमेतत् । यथास्वं क्रमेण 'स्वयम्' इत्यनुवर्तते, कार्यं भवति इति । [१६०ख] ततो निराकृतमेतत्—*"नाऽक्रमात् क्रमिणो भावाः" [प्र० वा० १।४५] इत्यादि ।

ननु यथा नश्वरात् तत्कार्यं पश्चाज्जायमानमपि[न] सकलमेकदैव जायते तथा नित्यादपि जायते इति न युक्तम्—'प्रतिनियतकालम्' इत्यादि इति चेत्; अत्राह—यद् यद् (यदा) इत्यादि ।

[यद् यदा कार्यमुत्पित्सु तत्तदोत्पादनात्मकम् ।
कारणं कार्यभेदेन न भिन्नं क्षणिकं यथा ॥११॥

यथा क्षणिकं प्रदीपादि कारणं स्वभावनानात्वमन्तरेण स्वभावदेशादिभिन्नमनेकं क्रमभावि तैलदशाननदाहादि कार्यं करोति तथाऽक्षणिकं कालभेदभिन्नम् कार्य···। यदनन्तरं यन्नोत्पन्नं न तत्तत्कार्यम् अक्षेपकारित्वात् कारणस्येत्ययुक्तं देशव्यवधानेऽपि तथा प्रसङ्गात्। कालस्यैव···]

---

(१) "न चैवाक्षणिकस्य क्वचित् कदाचित् शक्तिरस्ति क्रमयौगपद्याभ्यां कार्यक्रियाशक्तिविरहात्···" —हेतुबि० पृ० ६३ । (२) यदि कारणाभावेन कार्योत्पत्तेर्विरोधो नास्ति तदा । (३)करोति । (४)क्रमरहितात् नित्यात् । (५) उद्धृतोऽयम्—न्यायवि० वि० प्र० पृ० ४७५ ।

यत् सजातीयं विजातीयं च यदा कार्यम् उत्पित्सु तस्य तदा यदुत्पादनं सत्ता सम्बन्धिनः करणं तदात्मकम् । किं तत् ? इत्याह–कारणम् इति । नन्वेवं कार्यभेदात् तस्य भेदः स्यात् । तदुक्तम्–*"क्रमाद्भवन्ती धीश्चेयं क्रमं तस्यापि संश्रिता" [प्र० वा० १।४५] इति चेत्; अत्राह–कार्यभेदेन [न] भिन्नं 'कारणम्' इति पदघटना । दृष्टान्तमाह–क्षणिकं यथा इति । ५

दृष्टान्तं व्याचष्टे–क्षणिकं प्रदीपादि कारणं स्वभावनानात्वमन्तरेण स्वभावदेशादिभिन्नम्, अत्र आदिशब्देन चिरन्तर(न्तन) बौद्धापेक्षया सामर्थ्यपरिग्रहः इदानीन्तनापेक्षया कालपरिग्रहः, तस्य हि वर्त्ती दाहाद् एक(वर्त्तिदाहाद्येक)स्मात् क्रमभावि § तस्य पाकोर्थादे' § कार्यं जायते अनेकं तैलदशाननदाहादिकं कार्यं यथा करोति। दृष्टान्तं व्याख्याय दार्ष्टान्तिके योजयति–तथा कालभेदभिन्नम् अनेकं कार्यं करोति इति अक्षणिकं 'स्वभावनानात्वमन्तरेण' १० इत्येतदत्रापि अनुवर्त्तनीयम् । कुत एतत् ? इत्यत्राह–कार्यं इत्यादि । इतर आह–यदनन्तरम् इत्यादि । यत् तस्य अनन्तरं यद् वस्तु नोत्पन्नम् अपि तु पश्चात् कालान्तरे न तत् तस्य कार्यम्, कुत एतत् ? अक्षेपकारित्वात् कारणस्य । अस्योत्तरमाह–इत्येवं परस्य अयुक्तम् । कुतः? इत्याह–देशव्यवधानेऽपि न [१६१क] केवलं [काल] व्यवधाने तत् तथा प्रसङ्गात् ; तथाहि– यस्य अनन्तरदेशे यन्नोत्पन्नं न तत् तस्य कार्यम् अपेक्ष्यकारित्वात् कारणस्य इति न योगिज्ञानं १५ त्रैलोक्यकार्यमिति सर्वज्ञाभावः, इतरथा सर्वार्थदेशेन तेनं भवितव्यमिति प्राप्तम् ।

अथ देशव्यवधानेऽपि जातं 'तस्य' इत्युच्यते न कालव्यवधाने; तदाह–कालस्यैव इत्यादिना । तत्रोत्तरमाह–'अप्राप्त' इत्यादि ।

[अप्राप्तकार्यकालत्वात् यथा व्यवहितमकारणम् ।
तदुत्तरं वा तत्कार्यं न च जातेस्तदत्यये ॥१२॥ २०

व्यवहितस्य कार्योत्पत्तौ व्यापृत्यविशेषात् उपयोगो न विशेष्येत, निवृत्तेः निःस्वभावत्वात् । भावस्यैव कथञ्चिद् विशेषोपपत्तेः चित्रनिर्भासक्षणिकज्ञानवत् ततोऽनेन पूर्वस्याभावे भवता अनिष्टेऽपि भवितव्यम् अभावस्य सर्वत्राविशेषात् । अन्यथा स्वत एव नियतकालं कार्यलक्षणमतिवर्तेत । अभावस्य च भेदायोगात् । नहि आनन्तर्यमभावं विशेषयति अर्थस्वभावान्वयापत्तेः ।] २५

अत्रायमभिप्रायः–ध र्मो त्त रा दी नां पूर्वमनन्तरं कारणम्, उत्तरं कार्यम्, विपरीतम् अकार्यकारणम्, तत्र यदनन्तरं तैः कारणमभ्युपगन्तव्यम्, तत् कारणं न भवति इत्यकारणम्। कुतः ? अप्राप्तः कार्यकालो येन तस्य भावाद् अप्राप्तकार्यकालत्वात्। दृष्टान्तमाह–यथा व्यवहितमिति । यथा रण्डागर्भं प्रति परिणेता कालेन व्यवहितोऽकारणम् तथा प्रकृतमपि

(१) कारणस्य । (२) § एतदन्तर्गतः पाठो व्यर्थः । (३) दशा-वर्तिका तस्याः आननदाहः मुखदाहः इत्यर्थः । (४) योगिज्ञानेन । (५) तुलना–"सत्यभवतः स्वयमेव नियमेन पश्चाद्भवतः तत्कार्यत्वं विरुद्धम्, कालान्तरेऽपि किञ्चित्स्यात्तद्भावाविशेषात् समनन्तरवत् ।"–अष्टश० अष्टस० पृ० ९० ।

इति। द्वितीयं प्रयोगमाह–**तच्च उत्तरम्** अनन्तरं वा **कार्यं** तस्य कार्यं न भवति। कुत एतत्? इत्यत्राह–**जातेरुत्पत्ते [:] तदत्यये** कारणाभिमतात्यये। अत्रापि **'यथा व्यवहितम्'** इति निदर्शनं योज्यम्। यथा भाविकालव्यवहितं विधवागर्भकार्यं विनष्टस्य परिणेतुर्न भवति तथा प्रकृतमपि इति।

५ कारिकायाः सुगमत्वाद् व्याख्यानमकृत्वा यदुक्तं परेण–*"**अप्राप्तकालत्वाविशेषेऽपि पूर्वः अनन्तरमेव कारणं न व्यवहितं विचित्रत्वाद् भावशक्तेः। नहि प्राप्तकालमपि सर्वं कारणमिति सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिको हेतुः। एतेन द्वितीयोऽपि हेतुः चिन्तितः।**" इति; एतत् परिहरन्नाह–**व्यवहितस्य** इत्यादि। **व्यवहितस्य** चिरविनष्टस्य अनन्तरनष्टस्य च कार्योत्पत्तौ [१६१ख] क्रियमाणायां **व्यावृत्तेः** निवृत्तेः **अविशेषात् उपयोगः** व्यापारो न १० **विशिष्येत**। तथा च अनन्तरवद् व्यवहितमपि कारणं स्यात् 'विचित्रत्वाद् भावशक्तेः' अत्रापि न दण्डधारितम् इति प्र ज्ञा क र गु प्र स्यै व मेतं न ध र्मो त्त रा दी ना म् इति मन्यते। कुतो न विशिष्यते? इत्याह–**निवृत्तेः निःस्वभावत्वात्**। ननु यदि निवृत्तेः निःस्वभावत्वान्न विशेषः, कस्य तर्हि विशेषः? इत्याह–**भावस्यैव** नाऽभावस्य **कथञ्चित्** केनापि समर्थेतरादि-प्रकारेण **विशेषस्य** भेदस्य **उपपत्तेः** उपयोगो न विशिष्यत इति।

१५ अत्राह कश्चित्–व्यवहितमपि किञ्चित् कारणं जाग्रज्ज्ञानादिः प्रबोधादेः, तस्य च स्वकाले भावत्वाद् विशेषोपपत्तिः इति साध्यविकलो दृष्टान्त इति तत्राह–**चित्र** इत्यादि। **चित्रो निर्भासो** यस्य तत्तथोक्तं **तच्च तत्क्षणिकज्ञानं** च तस्य इव **तद्वत्** इति। चित्रैकक्षणिकज्ञानसमानस्य भावस्य परिणामिन इत्यर्थः। एतदुक्तं भवति–यत् तद् व्यवहितस्यापि कारणत्वे जाग्रद्विज्ञानं दृष्टान्तीकृतम्, तच्च निरंशैकपरमाणुपर्यवसितस्वभावम्; तर्हि न तत् वादिनः प्रतिवादिनो २० वा प्रमाणतः सिद्धमिति कथं निदर्शनं पुरुषवत्? अथ *"**चित्रप्रतिभासापि एकैव बुद्धिः**" [प्र० वार्तिकाल० ३।२२०] इत्यादि वचनात् चित्रमेकम्; न तत् सौगतस्य दर्शनमनुसरति किन्तु जैनस्य अक्रमेण इव क्रमेणापि आत्मनो दृश्येतरस्वभावेनापि चित्रत्वप्रसाधनात्। तन्न किञ्चिदेतत्।

उपसंहारमाह–यत एवं **ततः अनेन**। केन? **उत्तरेण** कार्येण [१६२ क] कथम्भूतेन? २५ **पूर्वस्य** कारणस्य **अभावे** एव न भावे **भवता** जायमानेन। किंकर्तव्यम् (किं कर्त्तव्यम्)? इत्याह–**अनिष्टेऽपि** न केवलम् इष्टे अनन्तरकाले **भवितव्यमिति**। इति **पूर्वाभावस्य** तत्कारणस्य **सर्वत्र** काले **अविशेषात्**। न चाऽविकले कारणे कार्यानुत्पादो युक्त इति मन्यते। ननु सर्वदा तदविशेषेऽपि कार्यं प्रतिनियतकालं जायते इति चेत्; अत्राह–**अन्यथा** इत्यादि। अनिष्टकालोत्पत्त्यभावप्रकारेण **अन्यथा स्वत एव** आत्मनैव **नियतकालं** यत् स्वातन्त्र्यं निर्हेतुकत्वं सूचयत् ३० **दुस्तरं कार्यलक्षणम्** परायत्तत्वम् **अतिवर्त्तेत** भावाऽभावयोः अँनायत्तत्वात्।

(१) अभावस्य। (२) प्रज्ञाकरो हि व्यवहितकारणवादी। (३) प्रज्ञाकरः। "गाढसुप्तस्य विज्ञानं प्रबोधे पूर्ववेदनात्। जायते व्यवधानेन काक्षेनेति विनिश्चतम्॥"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ६७। (४) जाग्रद्विज्ञानम्। (५) विज्ञानाद्वैतवादिनः प्रज्ञाकरस्य। (६) जैनादेः। (७) स्वतन्त्रत्वात्।

स्यान्मतम्, पूर्वस्याभावो यद्यपि इष्टकालवद् अनिष्टेऽपि काले समस्ति तथापि अभिमताभावकाल एव भवति कार्यमिति; तत्राह–**अभावस्य च** इत्यादि । अन्यस्माद् अभावाद् भिद्यमानोऽभावः कथञ्चिद्भावः[त]स्य ततो भेदाऽयोगात् इत्यभिप्रायः । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**तर्हि(नहि)आनन्तर्यम्** इत्यादि । **न[हि]यस्माद् आनन्तर्यं** कार्योत्पत्तेः प्राग् अनन्तरम् अभावस्य भाव **आनन्तर्यभावं विशेषयति** अन्यस्मादभावाद् व्यवच्छिनत्ति, **तुच्छाभावस्य** विशेषयितुमशक्तेः । एतदपि कुतः ? इत्याह–**अर्थ** इत्यादि । **अर्थस्य** जीवादेः **स्वभावस्य अन्वयापत्तेः** । एतदुक्तं भवति–यदा पूर्वस्य कथञ्चिदुत्तराकारेण गमनम् अभावः, तदाऽसौ केनचिद् वन्ध्यासुताद्यभावच्छिद्येत[वं व्यवच्छेद्येत]नान्यदा इति । यदि वा, कार्योत्पत्तेः प्राग् अनन्तरकारणस्य भाव आनन्तर्यं तदभावं विशेषयति । नहि पूर्वमनन्तर[१६२ख] स्याभावो न सर्वस्य इति । कुतः ? इत्याह–**'अर्थ'** इत्यादि । पूर्ववद् योज्यम् ।

यदुक्तं सा(शा)न्त भद्रे ण–*"**निरुध्यमानं कारणं निरुद्धम्**" इति; तदसारम्; यतो निरुध्यमानं यदि स्वोत्पत्तिसमये; हेतुफलयोः समकालता, अन्यदा तु तदेव नास्ति इति किं निरुध्यमानं नाम ? अन्यथा **अर्थ** इत्यादि दोषः । ततः स्थितम्–यथा प्राक् समर्थे नित्ये कारणे अजातं कार्यं पश्चात् स्वयमेव नियतकालं जायमानं [न] तस्यं कार्यं तथा क्षणिकेऽपि स्वसत्ताकाले समत्वेऽनुपजातं पुनस्तथा जायमानं न तस्यं इति ।

ननु च **यद् यदा कार्यम् उत्पित्सु तत्तदोत्पादनात्मकं कारणं** नित्यं यदि क्रमवत्सहकारिकारणमपेक्ष्यते तदेव अनित्यत्वम्, तत्कृतमुपकारमात्मसात्कुर्वतो गत्यन्तराभावात् । अन्यथा किं तदपेक्षया अतिप्रसङ्गात् । तदुक्तम्–*"**अपेक्ष्येत परः कार्यम्**" [प्र०वा० ३।१८०] इत्यादि । इति चेत्; अत्राह–**हेतोः** इत्यादि ।

[हेतोरात्मा न भिद्येत स्थिरस्य सहकारिभिः ।
उत्पत्तौ च क्षणिकस्य फलानां विविधात्मनाम् ॥१३॥

सामग्रीवशात् कार्यभेदेऽपि यथाऽक्षेपकारिणां क्षणिकानां स्वभावभेदो न भवति अनाधेयाप्रहेयातिशयत्वात् तथैव कालान्तरस्थायिनां क्रमोत्पित्सुकार्याविशेषेऽपि स्वभावभेदो मा भूत् । कार्यकाल···]

हेतोः कारणस्य उपादानत्वेन अभिमतस्य । किम्भूतस्य ? **स्थिरस्य** नित्यस्य **आत्मा** स्वरूपं **न भिद्येत** । कैः ? इत्याह– **सहकारिभिः** निमित्ताऽसमवायिकारणैः । कस्मिन् सति ? इत्यत्राह–**उत्पत्तौ** सत्याम् इति । केषाम्? इत्याह–**फलानां विविधात्मनां** देशादिभिन्नस्वभावानाम् । **'सहकारिभिः'** इत्येतद् अत्रापि सम्बन्धनीयम् । अतोऽयमर्थो जायते–सहकारिभिः कृत्वा फलानां विविधात्मनामुत्पत्तौ न उपादानोपकारोत्पत्तौ हेतोः आत्मा न भिद्यत इति । यदि पुनरयं निर्बन्धः [१६३क] सहकारिण उपादानस्य उपकारं कुर्वन्त एव प्रकृतफलानि

(१) नित्यस्य । (२) क्षणिकस्य । (३) सहकारिकारणापेक्षया । (४) "यदि विद्येत किञ्चन । यदकिञ्चित्करं वस्तु किं केनचिदपेक्ष्यते ॥" इति श्लोकः ।

जनयन्ति इति । तत्रेदं चिन्त्यते– उपकारमुपादानस्य अपरमुपकारमुपकल्पयन्तः प्रकृतमुपकारं जनयन्ति, अनुपकल्पयन्तो वा ? प्रथमपक्षे–अपरोपकारकरणेऽपि तदुपादानोपकारकरणमित्यनवस्थायाम्, अपरापरोपकारकरण एव उपयुक्तशक्तीनां सहकारिणां प्रकृतकार्यजन्मनि व्यापारं (रो) [न स्यात्] । द्वितीयपक्षे–उपकारोपादानस्य उपकारमकुर्वन्त एव उपकारं कुर्वन्ति सहकारिणो न
५ कार्योपादानस्य तमकुर्वतः (न्तः) कार्यमिति किं कृतो विभागः ? अस्यैव समर्थनार्थं सौगतप्रसिद्धं दृष्टान्तमाह–**क्षणिकस्य च** इति । च शब्द इवार्थो निपातानामनेकार्थत्वात् । तदयमर्थ उक्तो भवति–यथा क्षणिकस्य उपादानकारणस्य सहकारिभिः[3] आत्मा न भिद्येत तैरेवं फलानां विविधात्मनामुत्पत्तौ तथा प्रकृतस्यापि इति । न हि तस्यापि[4] निरंशस्य स्वहेतोः उत्पन्नस्य अर्थैः किञ्चित् क्रियते भेदप्राप्तेः[5] इति ।

१० कारिकां विवृण्वन्नाह–**सामग्रीवशात्** इति । **सामग्रीवशात् कार्यभेदेऽपि** फलनानात्वेऽपि **क्षणिकानां स्वभावस्य** स्वरूपस्य **भेदो यथा न भवति** । कथम्भूतानां तेषाम् ? इत्याह–**अक्षेपकारिणाम्** इति अविलम्ब्यकारिणाम् इत्यर्थः । कुत एतत् ? इत्याह–**अनाधेय** इत्यादि । निरंशत्वेन तेषु अतिशयस्य केन [अपि आधान] प्रहाणाभावादिति मन्यते । **तथैव** तेनैव प्रकारेण **कालान्तरस्थायिनां** नित्यानां **क्रमोत्पित्सु** [१६३ख] **कार्य(र्या)विशेषेऽपि स्वभावभेदो**
१५ **मा भूत्** 'सामग्रीवशाद्' इत्येतदत्रापि सम्बन्धनीयम् । तद्वशादितीदे (द्धि देशादि) भिन्नं कार्यमेव जायते न तेषाम् अतिशयाधानप्रहाणम् इति मन्यते । कुतस्तर्हि क्रमेण कार्यमिति चेत् ? अत्राह–**कार्यकाल** इत्यादि । विचारितमेतत्– **'यद् यदा कार्यमुत्पित्सु'** इत्यादिना[6] । तथा सति क्रमभाविसहकारिवैफल्यम्, उपादानादेव क्रमकार्यनिष्पत्तेः । तत्सहकारिणः[7] तन्निष्पत्तौ उपादानं किमर्थं गृह्यते तत्राऽसमर्थत्वात् ? अन्यथा प्रागपि ततः कार्यं सहकारिणः समर्थाः जन-
२० यन्ति नोपादानम्[8] इति किं कृतो विभागः ?

तेषामेवं[9] वा तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात् न नित्यव्यापिनः सन्निधानेऽपि[10] अतिप्रसङ्गात् इति चेत्; अत्राह–**नित्यैश्च** इत्यादि ।

[नित्यैश्च जातेष्वर्थेषु अन्योऽन्यसहकारिभिः ।
तेष्वेकत्र समर्थेऽन्ये न निवर्तेरन्नकालिकैः ॥१४॥

२५ यथाकार्यकालं स्वभावतः कर्तरि स्वकारणा[त्तथोत्पन्नेषु] तत्करणसमर्थेषु पुनरागन्तुकेषु परस्पर[उपकारिषु] तत्करणसमर्थेऽन्यतमस्मिन् सति न वै अपरे निवर्तेरन् प्रत्येकं तत्करणस्वभावत्वात् क्षणिकवत् । तदेवं क्षणिकेतरैकान्तौ नान्योन्यमतिशयाते । कार्यकारणयोः सहावस्थाने दधिक्षीरादिषु सहोपलम्भेन अभेदादिप्रसङ्गः इति चेत्; संविदो विभ्रमेतरस्वभावयोः सहभावेऽपि सहोपलम्भादेरभावात् । विज्ञप्तेः···तदन्यत्रापि
३० कल्पयन् केन वार्यते ? परिणाम···। चित्र···]

(१) उपकारम् । (२) स्वरूपम् । (३) सहकारिभिरेव । (४) क्षणिकस्यापि । (५) स्वभावभेदप्राप्तेः । (६) नित्यागाम् । (७) पृ० १९४ । (८) सहकारिणः सकाशात् कार्यनिष्पत्तौ । (९) यदुपादानं प्राक् समर्थम् । (१०) समर्थमपि । (११) सहकारिणामेव । (१२) तस्य कारणत्वम् ।

चशब्दो भिन्नप्रक्रमः इवार्थः **अकालिकैः** इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः। ततोऽयमर्थः—**जातेषु** निष्पाद्येषु। **केषु ? अर्थेषु** कार्येषु सत्सु। कैः ? इत्याह—**नित्यैः** इति। किंभूतैः ? इत्याह—**अन्योऽन्यसहकारिभिः** एककार्ये परस्परसहायैः इत्यर्थः। यदि वा, क्वचित् कार्ये एकस्य उपादानत्वे अन्येषां तत्सामग्रीपतितानां सहकारित्वम्, तेषाम् उपादानत्वे तस्य सहकारित्वमित्यन्योऽन्यसहकारिणः तैः इति। किम् ? इत्याह—**अन्ये** इत्यादि। **तेषु** अर्थेषु **एकत्र** एकस्मिन् उपादाने सहकारिणि वा कारणे **समर्थे** व्याप्रियमाणे वा **अन्ये** सहकारिणः उपादानपदार्था हेतवो न **निवर्त्तेरन्** किन्तु सर्वेऽपि तान् कुर्वन्ति तत्करणैकस्वभावत्वात्। अत्र निदर्शनमाह—**अकालिकैः** इति। [१६४ क] यथा **अकालिकैः** क्षणिकैः अन्योऽन्यसहकारिभिः जन्येष्वर्थे [षु ए]कत्र अन्ये न निवर्त्तेरन् हेतवः तथा प्रकृतेऽपि[1] इति।

यथा इत्यादिना कारिकां विवृणोति। कार्यकालाऽनतिक्रमेण **यथाकार्यकालम्** कर्त्तरि कर्त्तरिमश्चित् जनके सति। कुतः ? इत्याह—**स्वभावतः** स्वस्वाभाव्यात्। केषु सत्सु ? इत्यत्राह—**तद्** इत्यादि। अत्रापि 'स्वभावतः' इत्येतद् अपेक्ष्यम्। **तत्करणसमर्थेषु** यथास्वकालम् उत्पित्सुकार्यजननशक्तेषु। किम्भूतेषु ? इत्याह—**स्वकारण** इत्यादि। पुनरपि किम्भूतेषु ? इत्याह—**पुनः** इत्यादि। पूर्वं समर्थे तस्मिन् सत्यपि **पुनः** पश्चात् **आगन्तुकेषु**। [पु]नरपि तानेव विशिनष्टि—**परस्पर** इत्यादिना। तस्मिन् सति किं जातम् ? इत्याह—'**तत्**' [इत्यादि। **तत्**] इत्यनेन विवक्षितं कार्यं परामृश्यते। **तत्करणसमर्थे अन्यतमस्मिन्** उपादानकारणे सहकारिणि वा सति **नवै नैव** [अ]**परे निवर्त्तेरन्**। कुवद् (कुत एतत् ?) इत्यत्राह—**प्रत्येकम्** इत्यादि। एकस्य एकस्य **तत्करणस्वभावत्वादिति** भावः। अत्र दृष्टान्तमाह—**क्षणिकवद्** इति। क्षणिक इव तद्वत् इति। यथा क्षणिके तत्करणसमर्थे अन्यतमस्मिन् अपरे [न] निवर्त्तेरन् तथा नित्येऽपि इति।

यत्पुनरत्रोक्तं परेण—*"**क्षणिकस्य स्वहेतोः स स्वभावः यः सहकारिकारणापेक्षः कार्यजनकः, स न नित्यस्य, तदभावात्, आकस्मिकत्वे अनियमप्रसङ्गः**" इति; तदसारम्; कार्याणां नित्यानां तदनिवारणात्। एवमर्थः नोक्तं (मर्थमत्रोक्तं) '**तथैव कालान्तरस्थायिनाम्**' इत्यादि, अन्यथा 'कूटस्थानाम्' इत्यादि ब्रूयात्। [१६४ख] कूटस्थपक्षेऽपि अयं न दोषः नित्यत्वात् तत्स्वभावस्य, अनित्यो हि स्वभावः स्वयमुत्पद्यमानोऽनियतः स्यात् इति युक्तम्। अत एवोक्तम्—'**यथाकार्यकालम्**' इत्यादि।

प्रकृतं निगमयन्नाह—**तदेवम्** इत्यादि। **तत्** तस्माद् **एवम्** उक्तप्रकारेण **क्षणिकेतरैकान्तौ** क्षणिकाऽक्षणिकैकान्तौ **नान्योऽन्यं** परस्परम् **अतिशयाते** भेदं लभेते ? क्षणिकवद् अक्षणिकेऽपि अर्थक्रियासंभवेन व्यापकानुपलब्धिः(ब्धेः), सत्त्वेन व्याप्तिसिद्धिः। अथवा, अक्षणिकवत्

(१) नित्येऽपि। (२) बौद्धेन। (३) 'सत्त्वमर्थक्रियया व्याप्तम्, सा च क्रमयौगपद्याभ्याम्, ते च नित्यान्निवर्तमाने स्वव्याप्यामर्थक्रियामादाय निवर्तेते, सा च स्वव्याप्यं सत्त्वम् इति' व्यापकानुपलब्धिबलात् सत्त्वस्य क्षणिकत्वेन व्याप्तिः साध्यते। यदा अक्षणिकेऽपि अर्थक्रिया सिद्धा तदा न सत्त्वक्षणिकत्वयोः व्याप्तिः सिद्धेति भावः। द्रष्टव्यम्—पृ० १९० टि० ४।

क्षणिकेऽपि तदसम्बन्धे न तस्यं तद्व्याप्तिसिद्धिः इति मन्यते । यत्र उपलब्धिलक्षणप्राप्तं [यत्] नोपलभ्यते तत्र तन्नास्ति यथा प्रदेशविशेषे घटः, नोपलभ्यते च तथाविधं कारणं कार्ये इति स्वभावानुपलब्धिः । तत्र तदुपलम्भे वा सर्वस्य सर्वत्रोपलम्भ इति प्राप्तम् । न चैवम्, ततः प्रदेशविशेषे घटवत् कारणे कार्यस्य तत्र च कारणस्य अनुपलब्धिः दृश्यस्य अभाव इति क्षणिकतासिद्धेः न युक्तम्–'तदेवम्' इत्यादि, इत्यभिप्रायवतो मतमाशङ्कते **कार्य** इत्यादि । **कार्यकारणयोः सहावस्थाने** अभ्युपगम्यमाने । एतदुक्तं भवति–यथा सतः कारणस्य कार्ये अवस्थानं तथा कार्यस्य कारणे इति । [ततः] किं स्यात् ? इत्याह–**दधिक्षीरादिषु सहोपलम्भेन 'कार्यकारणयोः'** इति सम्बन्धः, **अभेदादिप्रसङ्गः** । अस्यायमर्थः–यदि कार्यं दध्यादि पूर्वं कारणेन क्षीरादिना, कारणं क्षीरादि कार्येण दध्यादिना पुनः सहोपलभ्यते तदा 'अस्य इदं [१६५क] कारणम्, इदमस्य कार्यम्' इति यो भेदः तस्य अभावो **अभेदः**, यदि वा, यदा जैन-सांख्ययोः कारणे कार्यं तत्रैं कारणं तादात्म्येन वर्त्तते तदा कार्यकारणयोः **सहावस्थाने** एकत्वेन अवस्थाने सति कदाचित् क्षीरादिषु । केन किम् ? इत्याह–**सहोपलम्भेन** एकत्वोपलम्भेन **अभेदः** कार्यमेव कारणमेव वा स्यात् , **आदिशब्देन** वर्त्तमानत्वादिव्यपदेशादिपरिग्रहः, तस्य **प्रसङ्गः** । इत्येवं चेत् ; अस्य उत्तरमाह–**संविद्** इत्यादि । **संविदः** तैमिरादिज्ञानस्य यो **विभ्रमस्वभावो** द्विचन्द्राद्यपेक्षया *"तिमिराशुभ्रमण" [न्यायवि० १।६] इत्यादि वचनात् यश्च **इतरस्वभावः** स्वरूपापेक्षयाऽविभ्रमस्वभावः *"सर्वचित्तचैत्तानाम्" [न्यायवि० १।१०] इत्याद्यभिधानात् । अथवा, **संविदो** निखिलकल्पनाज्ञानस्य यो **विभ्रमः स्वभावो** *"अभिलापसंसर्ग" [न्यायवि० १।५] इत्यादिवचनात् यश्च **इतरस्वभावः** स च कथितः, तयोः **सहभावेऽपि** न केवलम् असहभावे । किम् ? इत्याह–**सहोपलम्भादेः** इत्यादि । सहोपलम्भः सहदर्शनम् आदिर्यस्य अभेदादेः तस्य **अभावात्** । न वै द्विचन्द्रादिज्ञानस्य प्रतिभाससमये एव तत्स्वभावोपलम्भोऽस्ति विप्रतिपत्त्यभावेन ततः कस्यचित् कदाचिदपि क्वचित् प्रवृत्ता[त्त्य]भावप्रसङ्गात् । न चैवम्, ततोऽपि प्रवृत्तिदर्शनाद् असत्त्वख्यात्यादिवादभेदाभावप्रसङ्गाच्च । एतत् सौत्रान्तिकं प्रति पूर्वोक्तस्य व्यभिचारप्रदर्शनार्थं व्याख्यानम् । तयोः सहभावेऽपि कथञ्चिदेकत्वम्, भावेऽपि सर्वथैकत्वोपलम्भादेरभावादचोद्यमेतत् इति व्याख्येयम् [१६५ख] ।

साम्प्रतं योगाचरं प्रति व्याख्यानं क्रियते–संविदो यो विभ्रमस्वभावो ग्राह्यग्राहकसंवेदनत्रयस्वभावः यश्च **इतरस्वभावोऽद्वयसंवित्स्वभावः** । तथा चोक्तम्–

*"अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः ।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥
मन्त्राद्युपप्लुताक्षाणां यथा मृच्छकलादयः ।
अन्यथैवावभासन्ते तद्रूपरहिता अपि ॥"
[प्र० वा० २।३५४, ५५] इत्यादि ।

(१) अर्थक्रियाया अभावे । (२) सत्त्वस्य । (३) क्षणिकत्वेन व्याप्तिसिद्धिः । (४) कार्ये । (५) 'सर्वचित्तचैत्तानाम्' इत्यादिना कल्पनाज्ञानस्यापि स्वरूपसंवेदनं अविभ्रमात्मकमेव । (६) यदि ततः प्रवृत्तिर्न स्यात्तदा ।

तयोः सहभावेऽपि युगपद्भावेऽपि कथञ्चिदेकत्वभावेऽपि वा । किम् ? इत्याह–'सहोप' इत्यादि । पूर्ववद् व्याख्यानम् । तथाहि–तस्यां विभ्रमः(म)स्वभावोपलम्भे न इतरस्वभावोपलम्भः । न हि शुक्ले शङ्खे पीततोपलम्भे शुक्लस्वभावोपलम्भः । ततो न युक्तम्–*"अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा" [प्र० वा० २।३५४] इति,

*"नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः । ५
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैवं प्रकाशते ॥" [प्र० वा० २।३२७] इति च ।

वदात्मनः (संविदात्मनः) पुरुषवत् स्वप्नेऽप्यदर्शनात् ततो भ्रान्तिमात्रे व्यवतिष्ठेत । इतरस्वभावादर्शनेऽपि गतेयं विभ्रमवार्ता इति निरभिधेयमेतत्–*"अवेद्यवेदकाकारा" [प्र०वा० २।३३०] इत्यादि । *"अविभागोऽपि" [प्र०वा० २।३५४] इत्यादि च । न खलु चन्द्रमस्यविभागेऽवभासने चन्द्रद्वयप्रतिभासकल्पननु (नं) लोकबाधनात् । प्र ज्ञा क रः (र स्य) *"पूर्व- १०
मविभागबुद्ध्यात्मनो दर्शनं पुनः तत्पृष्ठभाविना विकल्पेन[1] स ग्राह्यग्राहकसम्वित्तिभेदवानिव लक्ष्यते" इति वचनं [१६६क] नहि निर्विकल्पकेन किञ्चित् लक्ष्यते नाम, इति सः[2] ध र्म की र्तेः अभिप्रायमज्ञास्त्वैव मन्यते, तथा तदभिप्रायाऽभावात्, अन्यथा *"मन्त्राद्युपप्लुताक्षाणाम्" [प्र०वा० २।३५५] इत्यादि निदर्शनमप्रेक्षाकारितां तस्य सूचयेत् । नहि नाम सविभ्रमे अक्षविभ्रमो निदर्शनम्, ईश्वरादिविभ्रमस्य तज्जातीयस्य भावात् । न[3] चास्य द्विचन्द्रादि- १५
भ्रान्तिरपि इन्द्रियजा इति सिध्यति । शक्यं हि वक्तुम्–प्रथमम् एकेन्दुदर्शनम्, पुनस्तस्य विकल्पेन द्वित्वाध्यवसाय इति । तथा च [4]तस्या इन्द्रियजत्वं साधयतो[5] ध र्म की र्तेः [अकीर्तिः] आयाता । शेषमत्र प्रथमपरिच्छेदेऽभिहितं प्रकृतेऽपि द्रष्टव्यम् । ततो यत्किञ्चिदेतत् ।

एतेन नैयायिकादिरपि जैनं प्रति *"कार्यकारणयोः" इत्यादि वदन् निवारितो द्रष्टव्यः । तथाहि–संविदः संशयविपर्ययज्ञानस्य यः 'स्थाणुर्वा पुरुषो वाऽयम्' इति, पुरुषे स्थाणौ वा स्थाणु- २०
रिति पुरुषः इति वा विभ्रमस्वभावः, यश्च 'अयम्' इति धर्मिमात्रे [6]इतरस्वभावोऽविभ्रमस्वभावः तयोः । शेषं पूर्ववत् । भवतु अविरुद्धमेकं ज्ञानमिति चेत्; अत्राह–विज्ञप्तेः इत्यादि । तद् अनन्तरोक्तम् अन्यत्रापि अर्थेऽपि समानं कल्पयन् केन वार्यते । कुत एतत् ? इत्यत्राह– परिणाम इत्यादि । [10]सनिदर्शनमत्रैव हेतुमाह–चित्र इत्यादिना ।

यत्पुनः परेण[11] भावविनाशयोरपि (रवि)नाभावसाधने उक्तम्– २५

(१) संविदः । (२) संवित् । (३) "यथा भ्रान्तैर्निरीक्ष्यते । विभक्तकलक्षणग्राह्यग्राहकाकारविप्लवा ॥" इति शेषः । (४) "विकल्पेन अनुभवादुपजायमानेन व्यवस्थाप्यते व्यवहारतः । अनुदर्शनं दर्शनानुरूपो विकल्पः ।"–प्र० वार्तिकाल० ३।३५७ । (५) प्रज्ञाकरः । (६) धर्मकीर्तेः । द्विचन्द्रादिभ्रान्तेः । (८) "नीलद्विचन्द्रादिधियां हेतुरक्षाण्यपीत्ययम् ॥···किं वैन्द्रियं यदक्षाणां भावाभावानुरोधि चेत् । तत्तुल्यं विक्रियावच्चेत् सैवेयं किं निषिध्यते ॥"–प्र०वा० २।२९०–९६ इत्यादिना भ्रान्तेरिन्द्रियजत्वं साधयतः । (९) अविभ्रमस्वभावः । (१०) दृष्टान्तसहितम् । (११) "अहेतुत्वाद्विनाशस्य स्वभावादनुबन्धिता । न हि विनश्वरं तद्भावे हेतुमपेक्षते स्वहेतोरेव विनश्वराणां भावात् ।"–प्र० वा० स्व० पृ० ३६० । "विनाशं प्रति सर्वेषामनपेक्षतया स्थितेः ।···सर्वत्रैवानपेक्षाश्च विनाशे जन्मिनोऽखिलाः । सर्वथा नाशहेतूनां तत्राकिञ्चित्करत्वतः ॥"–तत्त्वसं० श्लो० ३५३, ३५७ ।

*"विनाशनियतो भावः तं (१)प्रत्यन्यानपेक्षणात्।
तद्धेतूनामसामर्थ्यात्" इति;

तदेतदन्यत्रापि समानमिति तत्साधनमिति दर्शयन्नाह– **'उत्पादस्थितिभङ्गानाम्'** इत्यादि।

५ **[उत्पादस्थितिभङ्गानां स्वभावादनुबन्धिता।
तद्धेतूनामसामर्थ्यादतस्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥१५॥**

यथैव हि भावस्य विनाशहेतुः स्वभावभूतस्य विनाशं न करोति कृतस्य करणाभावात्। नापि परभूतं करोति, तस्य करणेऽपि प्रागिव तदवस्थस्य तथोपलम्भादिप्रसङ्गात्। सम्बन्धासिद्धेः अस्येति व्यपदेशोऽपि मा भूत्। न च व्यतिरिक्तो घटादेर्विनाशो १० नाम। सन्नपि तादात्मानमखण्डयन् तदवस्थमेव स्थगयति यतो न दृश्येत। तदयं विनाशहेतुः तदतत्क्रियाविकलः कथमपेक्ष्यः यतः कादाचित्को विनाशः स्यात्?]

प्रागसत आत्मलाभः उत्पादः, सतः पुनरभावो [१६६ख] भङ्गः पूर्वस्य द्वितीयादिक्षणे, अवस्थानं स्थितिः इति एतेषां **स्वभावात्** स्वरूपेण हेतुभूतेन **अनुबन्धिता** अविनाभाविता। कुत एतत्? इत्यत्राह–**हे(तद्धे)तूनाम्** इत्यादि। तेषाम् उत्पादस्थितिभङ्गानां ये हेतवः तेषाम् १५ **असामर्थ्यात्**, 'उत्पादस्थितिभङ्गेषु' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः। **अतः** अस्मात् न्यायात् **तत्त्वं** जीवादिस्वरूपं **त्रयात्मकम्** उत्पादस्थितिभङ्गात्मकम्।

सदृष्टान्तं कारिकार्थं दर्शयन्नाह–**यथैव हि** इत्यादि। **यथैव** येनैव प्रकारेण, **हिः** इति वितर्के **भावस्य** घटादेर्विनाशहेतुः मुद्गरादिः **स्वभावभूत** (तं) स्वात्म (स्वात्म)भूतं 'भावस्य' इत्येतदत्रापि सम्बन्धनीयम्, **विनाशम्** अभावं **न करोति**। कुत एतत्? इत्यत्राह–**कृतस्य** २० इत्यादि। **कृतस्य** स्वकारणात् निष्पन्नस्य भावस्य **करणाभावाद्** भावस्य स्वभावभूतविनाशकरणाभाव एव कृतः स्यात्, तस्य च स्वहेतोः उत्पत्तेर्न करणमिति मन्यते। अस्वभावभूतं तर्हि करोति; इत्याह–**नापि** इत्यादि। **परभूतम्** अर्थान्तरभूतं **नापि करोति तस्य** परभूतस्य विनाशस्य **करणेऽपि** न करणे (नाकरणे) **प्रागिव तदवस्थस्य** पूर्वावस्थाऽविचलितस्य भावस्य **तथा** पूर्ववद् **उपलम्भादिप्रसङ्गात्**। **आदि**शब्देन अर्थक्रियादिप्रसङ्गात् इति गृह्यते। दूषणा-

(१) विनाशं प्रति अन्यकारणानामपेक्षा नास्तीत्यर्थः। (२) "विनाशहेत्वयोगात्। स्वभावत एव भावा नश्वराः, नैषां स्वहेतुभ्यो निष्पन्नानामन्यतो विनाशोत्पत्तिः तस्यासामर्थ्यात्। न हि विनाशहेतुर्भावस्य स्वभावमेव करोति तस्य स्वहेतुभ्यो निर्वृत्तेः। नापि भावान्तरमेव; भावस्य तदवस्थत्वात्तथोपलब्ध्यादिप्रसङ्गः। नापि भावान्तरेणावरणम्; तदवस्थे तस्मिन्नावरणायोगात्। नापि विनाशहेतुना अभावः क्रियते अभावस्य विधिनान्यतयोपगमे व्यतिरेकाव्यतिरेकविकल्पनातिक्रमात्। भावप्रतिषेधकरणे न तस्य किंचित् भवति न भवत्येव केवलमिति। एवं च कर्ता न भवतीत्यकर्तुरहेतुत्वमिति न विनाशहेतुः कश्चित्। वैयर्थ्यात्च। यदि स्वभावतो नश्वरः न किञ्चिन्नाशकारणैः, तत्स्वभावतयैव स्वयं नाशात्। यो हि यत्स्वभावः स स्वहेतोरेवोत्पद्यमानस्तादृशो भवति न पुनस्तन्नाशे हेत्वन्तरमपेक्षते।"–हेतुबि० पृ० ५६। प्र०वा०स्व० १।२७२।

न्तरं दर्शयन्नाह–**सम्बन्ध** इत्यादि । **सम्बन्धस्य** पारतन्त्र्यस्य **असिद्धेः** कारणाद् **अस्य** घटादे-**र्विनाश इत्येवं व्यपदेशोऽपि**, **अभिधानमपि** न केवलम् **अनन्तर** एव **दोष** इति **अपि**शब्दः, **मा भूत्** ।

ननु किमुच्यते [१६७क] **सम्बन्धासिद्धिः** (द्धेः) इति, यावता विशेषणीभावो भावाभा-वयोः सम्बन्धः सिद्ध इति चेत्; न; अत्र अनवस्थितेः प्रतिपादनात् । माभूत् तयोः[२] सम्बन्धो ५ व्यपदेशो वा तथापि न दोषः, सम्बन्धरहितस्य अभ्युपगमात् इत्येके; तदपि न सुन्दरम् ; साक्षात् परम्परया वा तस्य इन्द्रियेण असम्बन्धो न; अग्रहणप्रसङ्गात् । तथापि ग्रहणे रूपादेः तेनँ सम्बन्धकल्पनमनर्थकम् ।

स्यान्मतम्–अभावेन तस्य स्थगनात् तथोपलम्भाद्यभावादयुक्तस्य (क्तं 'तस्य) **करणेऽपि**' इत्यादि । तत्रोत्तरमाह–**नच** इत्यादि । **नच** नैव **व्यतिरिक्तो** घटादेः अर्थान्तरभूतो **विनाशो नाम** । १० स्फुटार्थे **नाम** शब्दः, तद्ग्राहकप्रमाणाभावेन अभावात् । दूषणान्तरमाह–**तदात्मानम्** इत्यादि । अस्यायमर्थः–सन्नपि **तदात्मानं** तस्य दृश्यस्य घटादेः आत्मानं स्वभावम् **अखण्डयन्** अविनाश-यन् **तदवस्थमेव** तदात्मानं **स्थगयति**, न च **यतः** स्थगनात् **न** दृश्येत । सता हि स्वविषयज्ञान-जननयोग्येन अवश्यं तत्कर्त्तव्यमिति मन्यते । तदात्मखण्डने स एव दोषोऽनवस्था[४] च ।

प्रकृतं निगमयन्नाह–**तदयम्** इत्यादि । यत एवं **तत्** तस्माद् **अयं** लोके प्रतीयमानो १५ **विनाशहेतुः** मुद्गरादिः । **तदतत्क्रियाविकलो** घट[स्वभावा]स्वभावविनाशकरणविकलः **कथं** नैव **अपेक्ष्यो** 'विनाशकार्ये' इत्युपचार्यतो (पस्कारः, **यतः**) अपेणात् **कादाचित्को** भावस्य **विनाशः स्यात्** । यत इति वा आक्षेपे, नैव स्यात् , नित्यः स्यात् इत्यर्थः ।

अत्रैव दूषणान्तरमाह–**विनाशो यद्यभाव[:]स्याद्** इत्यादिना ।

[विनाशो यद्यभावः स्यात् क्रियाप्रतिषेधान्न[चेत्] । २०
भावं न करोतीति केनापेक्ष्येत तत्क्वचित् ॥१६॥

ततः स्वभावनश्वरोऽर्थः सिद्धः, तथैव भावस्य उत्पादहेतुरकिञ्चित्करः कृतस्य उत्पादने प्रयोजनाभावात् । तत एवाभावस्यापि स्वतः सिद्धत्वात् । प्रागभावं भावी-कुर्वन्नुत्पादहेतुश्चेत् ; प्राग्भावमभावीकुर्वन् विनाशहेतुः किन्नानुमन्यते ? यदि पुनर्भावस्य प्रध्वंसाभावोऽपि स्वत एव अभावान्तरवत् स्वहेतोरेव अभावत्वात्, तथैव भावस्य २५ स्थितिरपि । यथा च स्वयमनुत्पित्सोः उत्पादहेतुः स्थास्नोः स्थितिहेतुरिति उत्पादस्थिति-हेतुरिति उत्पादस्थितिभङ्गान् प्रत्यनपेक्षत्वं भावस्य सिद्धं तत्स्वभावापेक्षणात्, कांश्चिद् द्रव्यक्षेत्रकालस्वभावविशेषान् परिहृत्य अन्यत्र भवन् उत्पादो विनाशो वा तदपेक्षस्तद्धे-तुश्च युज्येत प्रतीतेरविरोधात् ।]

विनाशः यद्यभावः प्रसज्यप्रतिषेधरूपा [१६७ख] भावनिवृत्तिः **यदि** तर्हि अभावं ३०

(१) पूर्ववदुपलम्भादिप्रसङ्गलक्षणः । (२) भावाभावयोः । (३) इन्द्रियेण सह । (४) आत्मखण्डनं भिन्नमभिन्नं वा क्रियते इत्यादि । (५) भिन्नाभिन्नविनाशकरणरहितः ।

मुद्गरादिः करोति इत्येवं **'भावं न करोति' इति हेतोः क्रियाप्रतिषेधात्**[1] घटादेः करणनिराकरणात् अकिञ्चित्करत्वं विनाशहेतोः, क्रियाप्रतिषेधरूपत्वात् प्रसज्यप्रतिषेधस्य इति **[तत्]** तस्मात् **केन अपेक्ष्येत** न केनचित् **क्वचित्** कार्ये इत्यर्थः ।

उपसंहरन्नाह–**तत** इत्यादि । यत एवं **ततः स्वभावतो नश्वरोऽर्थः सिद्धः** । तथा च प्रयोगः[2]–यो यं प्रति अन्यानपेक्षः स तत्स्वभावनियतः[3] यथा अन्त्या कारणसामग्री स्वकार्योत्पादनं प्रति अनपेक्षा तत्स्वभावनियता, विनाशं प्रति अन्यानपेक्षश्च भावः इति । एवं दृष्टान्तं व्याख्याय दार्ष्टान्तिकं विवृण्वन्नाह–**तथैव** इत्यादि । **तथैव** तेनैव प्रकारेण **भावस्य** घटादेः **उत्पादहेतुः अकिञ्चित्करः** । कुत एतदिति चेत् ? अत्राह–**'कृतस्य उत्पादन'** इत्यादि । इदमत्र तात्पर्यम्–यथा विनाशोऽभाव इति भाववतो भेदविचारमर्हति तथा उत्पादोऽपि तदविशेषादिति । तथाहि–यदि सत एव स्वभावभूत उत्पादः क्रियते; तर्हि स एव क्रियते इति **कृतस्य उत्पादने प्रयोजनाभावात्** हेतुस्वभाववदिति । एतेन स्वभावभूतोऽपि चिन्तितः । न खलु सतो घटस्य अर्थान्तरभूतोऽपि सैः[4] क्रियमाणः कञ्चन अर्थं पुष्णाति ।

स्यान्मतम्–अस्य विकल्पद्वयस्य निरालम्बनत्वात् नातः प्रकृतसिद्धिरिति चेत् ; अत्राह–**तत एव** इत्यादि । **तत एव** अनन्तरविकल्पभेदादेव नान्यतोऽभावस्यापि न केवलमुत्पादस्य **स्वभावतः सिद्धत्वाद् 'उत्पादहेतुः अकिञ्चित्करः'** इति सम्बन्धः । अस्य [१६८क] विकल्पद्वयस्य निरालम्बनत्वे सौगतस्य इष्टाऽसिद्धिरिति मन्यते ।

परमतमाशङ्कते–**प्रागभावम्** इत्यादिना । अथ कोऽयं प्रागभावो नाम ? उत्पत्तेः पूर्वमभाव इति चेत् ; स मृत्पिण्डादन्यः, स एव वा स्यात् ? प्रथमपक्षे नैयायिकादेः तन्मतं न सौगतस्येति तन्मतानभिज्ञानात् । न च तुच्छमभावं कश्चिद् भावीकरोति बन्ध्यासुतादेरपि तत्करणप्रसङ्गात्, भावोपादानकल्पनावैफल्यप्रसङ्गाच्च । तन्नाद्यः पक्षः । द्वितीयेऽपि पक्षे 'मृत्पिण्ड एव प्रागभावः, तं भावीकुर्वन्' इत्युक्तम्, तस्य[5] पूर्वमेव सतः तदयोगात् । अथ तं[6] घटाभावात्मकं भावीकुर्वन् इत्ययमर्थो विवक्षितः, सोऽपि न युक्तः, ततो घटस्य भिन्नस्य भावात् व्यपदेशादिभेदात् । तन्न द्वितीयोऽपि युक्तः । यदप्यत्रोत्तरम्–**'प्रागभावम्'** इत्यादि । तत्रापि चिन्त्यते–किमिदं प्राग्भावमिति ? यदि विनाशात् पूर्वकालभावी घटः प्राग(ग्)भावः तमिति; तर्हि बौद्धस्य न कश्चित् तुच्छो विनाश इति कस्य ततः प्राग् अन्यदा वा भावः ? न खलु बन्ध्यासुतात् प्राक् किञ्चिद् भवति । तत एव [10]'तम् अभावीकुर्वन्' इत्ययुक्तम्; अभावस्य ततो [11]व्यतिरेकाव्यतिरेकयोर्यथोक्तदोषात् । अथ [12]'तम् 'अभावीकुर्वन् कपालीकुर्वन्' इत्युच्यते; तदसारम्; तस्यैव कपालभावयोगात्, घटनाशे कपालभावायोगात्, ततो यत्किञ्चिदेतदिति ।

(१) "अथ क्रियानिषेधोऽयं भावं नैव करोति हि । तथाप्यहेतुता सिद्धा कर्तुर्हेतुत्वहानितः ॥" –तत्त्वसं० श्लो० ३६६ । (२) "यद्भावं प्रति यन्नैव हेत्वन्तरमपेक्षते । तत्तत्र नियतं ज्ञेयं स्वहेतुभ्यस्तथोदयात् ॥ निर्निबन्धा हि सामग्री स्वकार्योत्पादने यथा । विनाशं प्रति सर्वेऽपि निरपेक्षाश्च जन्मिनः ॥"–तत्त्वसं० श्लो० ३५४–५५ । (३) स्वकार्योत्पादनस्वभावनियता । (४) उत्पादः । (५) सन्नावकरणप्रसङ्गात् । (६) अभावादेव सर्वकार्योत्पत्तेः । (७) मृत्पिण्डस्य । (८) मृत्पिण्डम् । (९) मृत्पिण्डात् । (१०) प्रागभावम् । (११) भिन्नाभिन्नपक्षयोः । (१२) भावम् ।

अत्र प्रतिविधीयते—यथैव हि सौगतस्य प्रागभावः प्रध्वंसाभावश्च तुच्छो नास्ति तथैव करणात्, एकान्तेन भिन्नं कार्यमपि [१६८ ख] नास्ति किन्तु उपादानमेव उपादेयो भवति इति प्रतिपादितम्[1] *"विज्ञप्तेः" [सिद्धिवि० ३।१४] इत्यादिना। **ततः प्रागभावं** घटविविक्त-मृत्पिण्डाकारं द्रव्यं **भावीकुर्वन्** घटीकुर्वन् घटपर्यायोपेतं जनयन् **उत्पादहेतुः** उपादानम्, सहकारिकारण(णं) कारणकलापं[2] इति चेत्; **प्राग्भावं** घटसत्त्वम् **अभावीकुर्वन्** स्वपर्यायकपालविविक्तं कुर्वन् **विनाशहेतुः किन्नानुमन्यते** ? अयमेवाचार्यस्य अभिप्रायः। **'यदि पुनः'** इत्यादि[ना]पूर्व-पक्षान्(क्षं) **यदि पुनः (तथैव)** इत्यादिना तु अपरपक्षं दर्शयति। **यदि** इति पराभिप्रायसूचने, **पुनः** इति वितर्के, **भावस्य** घटादेः **प्रध्वंसाभावोऽपि** न केवलं प्रागभावः **स्वत एव** स्वस्मादेव नश्वरस्वभावात् नान्यतो मुद्गरादेः। अत्र निदर्शनमाह—**अभावान्तरवत्** इतरेतरात्यन्ताभाववत्, सोऽपि स्वभावः, कुतः ? इत्याह—**स्वहेतोरेव**। प्रध्वंसः कपालात्मना भावः स्वत एव अभावत्वात्[4] इतरेतराभाववत्; अत्र दूषणमाह—**तथैव** इत्यादि। **तथैव** तेनैव प्रकारेण **भावस्य**[3] **स्थितिः** परापर[क्षणेषु] अवस्थानमपि न केवलं प्रध्वंस एव **स्वत एव स्यात्** इति। शक्यं हि वक्तुं भावस्य स्थितिः स्वत एव भावधर्मत्वात् प्रध्वंसवत्। न चात्र धर्म्यसिद्धिः; पूर्वस्य उत्तरक्षणे विवेकवंद् अविवेकत्वात्[5] [स्यापि प्रसिद्धेः, त]था चोक्तं न्या य वि नि श्र ये—

*"भेदज्ञानात् प्रतीयेते प्रादुर्भावात्ययौ यदि।
अभेदज्ञानतः सिद्धा निरंशे न (स्थितिरंशेन) केनचित्॥" [न्यायवि० श्लो० ११४]

अत एव न स्वरूपासिद्धो हेतुः प्रत्यक्षादिबाधितो वा पक्षः। अनेन [१६९क] पूर्वस्य हेतोर्विरुद्धत्वमित्थं कथयति—तत्र यदुक्तं **प्राग्भावम्** इत्यादि; तदयुक्तम्; यतो नश्वरं चेत् **तमभावीकुर्वन् विनाशहेतुः किं तेन** ? स्वयमेव नाशात्। **विपरीतं चेत्**; तदशक्यम्। नहि अनश्वरं तं कश्चिद् अभावीकर्तुं समर्थ इति चेत्; अत्राह—**यथा च** इत्यादि। **यथा** इति वचनाद् अनुक्तमपि 'तथा' इति गम्यते। तथा **स्वयम्** आत्मनोऽपि **अनुत्पित्सोश्च पुनः उत्पादहेतुः 'अकिञ्चित्करः'** इति सम्बन्धः। प्रथमस्य [स्व]यम् उत्पत्तेरन्यस्य शशविषाण-वत् कारणसन्निधानेऽपि अनुत्पत्तेरिति भावः। एवं स्थितावपि दर्शयति **स्थास्नोः** इत्यादिना। **स्थितिहेतुः अकिञ्चित्कर इत्येवं सर्वं समानम्**। अनेनैव तदर्शयति—**उत्पादस्थितिभङ्गान् प्रति अनपेक्षत्वं भावस्य सिद्धं तत्स्वभावापेक्षणात् इति** तद्वि(तद्वद्वि)नाशेऽपि। **'यदि पुनः** तं प्रति नापेक्षं तत्स्वभावस्य सर्वदा सन्निधानात्' इत्युच्यते तथा प्रतीतेः; तदितरत्र समानमिति। तथा च—

*"विरुद्धाव्यभिचारी स्यात् सर्वो हेतुः परोदितः।
समत्वात् परपक्षेऽपि यद्वा स्यात् कल्पितः स्वयम्॥"

---

(१) पृ० १९८। (२) अन्यः कारणसमूहः। (३) "तथैव स्थितिं प्रत्यनपेक्षं स्थास्नु तद्धेतोरकिञ्चित्करत्वात्, तद्व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्ताकरणादित्यादि सर्वं समानम्।"—अष्टस० अष्टस० पृ० १८५-८६। (४) स्थितिरूपस्य धर्मिणोऽसिद्धिः। (५) भेदवद्। (६) अभेदस्यापि। (७) भावम्। (८) विनाशहेतुना। (९) अनश्वरस्वभावम्।

ननु च उत्पादस्य अहेतुकत्वे नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा । तदुक्तम्–

*"नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणात् ।
अपेक्षातो हि भावानां कादाचित्कत्वसंभवात् ॥" [प्र०वा० ३।३४]

इति चेत ; अत्राह–**कांश्चित् द्रव्य** इत्यादि । **कांश्चिद्** विवक्षितान् **द्रव्यक्षेत्रकाल-**
५ **स्वभाव[विशेषान्] विशेषशब्दः** प्रत्येकं द्रव्यादिभिः सम्बन्धनीयम्(नीयः), **परिहृत्य** । का (क्व)? **अन्यत्र** अभिमतकालादौ **भवन्** जायमानः **वाशब्दो** भिन्न[१६९ख] प्रक्रम इवार्थः **'उत्पाद'** इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । तत **उत्पाद इव विनाशः तदपेक्षो** अन्यद्रव्यापेक्षः **तद्धेतुः** द्रव्यादिहेतुको **युज्येत**। कुत एतत् ? इत्यत्राह–**प्रतीति(ते)रविरोधात्** । अथवा, यथानिवेशमेव वा शब्दो व्याख्येयः । विनाशवद् उत्पादोऽपि स्वत एव इति स्वभाववादिनं प्रति **'कांश्चिद्'**
१० इत्यादेः उपन्यासात् । अत्र **'च'** इति समुच्चये । शेषं पूर्ववत् ।

एवं सत्यपि दृष्टान्ते व्याप्तिग्रहणाभावात् क्षणक्षयादौ सर्वहेतूनां गमकत्वं प्रतिपाद्य संप्रति दृष्टान्ताभावात्तत्प्रतिपादयन्नाह–**जीवच्छरीर** इत्यादि ।

यदि वा, यदुक्तम् अ र्च टे न–*"**सत्त्वादेः अन्वयाभावेऽपि व्यापकानुपलब्धेः विपक्षव्यतिरेकाद् गमकत्वम्**" इति[1] ; तत्र कृतं निषेध(धम्) उपसंहरन्नाह–**जीवच्छरीर**
१५ इत्यादि ।

[जीवच्छरीरे प्राणादिर्यथाऽहेतुर्निरन्वयात् ।
तथा सर्वः सत्त्वादिरहेतुः क्षणिके क्वचित् ॥१७॥

पक्षेविपक्षाभ्यां सर्वस्य संग्रहात् **यथा जीवच्छरीरे** प्राणादिरनन्वयः **तथा** क्षणिकत्वेऽपि सत्त्वकृतकत्वादिरिति । न हि क्षणिकत्वेतराभ्यां तृतीया राशिरस्ति यत्र हेतुर्वर्तते
२० शब्देऽपि **तथाऽनिश्चयात्** । अपरापरताल्वादिचक्षुरादितैलादिव्यापारसाफल्याच्छब्दादीनामपरापरस्वभावसिद्धेः क्षणिकत्वविनिश्चयः, तत एव अनित्यतामात्रं साध्यं क्वचित् सिद्धम्, तत्रैव तद्व्यापारस्य साफल्यात् ।]

जीवच्छरीरे सात्मकत्वे साध्ये **प्राणादिः** हेतुः **यथा** येन प्रकारेण **अहेतुः** । कुतः ? इत्याह–**निरन्वयात्** साधर्म्यदृष्टान्ताभावात् । **तथा सर्वः** शुद्धाशुद्धस्वभावः[2] **सत्त्वादिः**
२५ निरन्वयादहेतुः **क्षणिके क्वचित्** कस्मिंश्चित् शब्दादौ साध्ये क्षणिकत्वे वा कचित् साध्ये । अथवा, **जीवच्छरीरे** सात्मकत्वे साध्ये **प्राणादिः** हेतुः निरन्वयाद् अन्वयाभावं प्राप्य योऽसौ उक्तः स **यथा** येन व्यतिरेकाभावप्रकारेण **सत्त्वादिरहेतुः** । शेषं पूर्ववत् ।

---

(१) "एतच्च बाधकं प्रमाणं व्यापकानुपलब्धिरूपमुत्तरत्रावसरप्राप्तं स्वयमेव वक्ष्यति । तदनया बाधकप्रमाणप्रवृत्त्या साध्यधर्मस्य वस्तुनः साधनधर्मस्वभावता सिध्यति ।"–हेतुवि० टी० पृ० ४४ । (२) "अनयोरेव द्वयो रूपयोः सन्देहे अनैकान्तिकः । यथा सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वादिति । न हि सात्मकनिरात्मकाभ्यामन्यो राशिरस्ति यत्रायं प्राणादिर्वर्तेत । आत्मनो वृत्तिव्यवच्छेदाभ्यां सर्वसंग्रहात् ।···न तत्रान्वेति । एकात्मन्यपि असिद्धेः ।"–न्यायवि० २।९६-९९, १०३–४। (३)शुद्धः सत्त्वं हेतुः । अभिन्नविशेषणविशिष्टः 'उत्पत्तिमत्त्वात्' इति, भिन्नविशेषणविशिष्टः कृतकत्वादिति । एतौ अशुद्धौ । द्रष्टव्यम्–न्यायवि० ३।९-११ ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**पक्ष** इत्यादि । जीवच्छरीरं सर्वं **पक्षः**, घटादिः **विपक्षः**, **ताभ्यां सर्वस्य** चेतनेतरजातस्य **संग्रहात् यथा जीवच्छरीर(रे)प्राणादिः अनन्वयः** साधर्म्यदृष्टान्तरहितः **तथा क्षणिकत्वे** साध्ये, **अपि**शब्दो भिन्नप्रक्रमः 'सत्त्वकृतकत्वादिः' इत्यस्य अनन्तरं द्रष्टव्यः । यदि वा, यथास्थानमेव **अपि**शब्दोऽस्तु । तत्रायमर्थः–**क्षणिकत्वे अपि**शब्दाद् अक्षणिकत्वेऽपि इति । नहि तत्रापि सपक्षोऽस्ति, अनन्वयः इत्यपेक्षा । कुतः ? इत्यत्राह–**नहि** ५
इत्यादि । [हि] यस्मात् **न व्याप्तिसाधने** सत्त्वादेः **क्षणिकेतरत्वाभ्याम्** अविनाभावसिद्धौ **तृतीया राशिरस्ति** सपक्षाभिधाना प्रतिरत्र तद्रासौ (**अस्ति यत्र** तद्राशौ) **हेतुः** सत्त्वादिः **वर्तेत** । शब्दादिः तृतीया राशिरस्ति इति चेत्; अत्राह–**शब्द** इत्यादि । **अपि**शब्दात् न केवलं विवादगोचरे वस्तुनि इति **तथा** क्षणिकत्वप्रकारेण **अनिश्चयात्** सत्त्वादेः इति । न च तथाऽनिश्चितसत्त्वं वस्तु निदर्शनम्, इतरथा साध्यमपि स्यादविशेषात् । यदा पुनः शब्द एव क्षणिक[:] १०
साध्यः तदा शब्दस्य बुद्ध्यादिभिः सह उपादानं तेनैं तेषां समानताप्रतिपादनार्थम् ।

अत्रापरः प्राह–**अपरापरताल्वादि-चक्षुरादि-तैलादिव्यापारसाफल्यात् शब्दादीनाम् अपरापरस्वभावसिद्धिः(द्धेः) क्षणिकत्वविनिश्चयः**; तदसारमिति दर्शयन्नाह–**तत एव** इत्यादि । यत एव अपरः तैद्व्यापारः अपरापरशब्दादिस्वभावमन्तरेण अनुपपन्नो वैफल्यात्, **तत एव अनित्यतामात्रं** परिणामिनित्यत्वं **साध्यं क्वचित्** सौगतस्य **तत्रैव तद्व्यापारस्य** उक्तविधिना १५
साफल्यात्। एतदुक्तं भवति–ततो न्यायात् शब्दादौ परिणामाऽनित्यत्वं सिद्धं तन्निदर्शनमुच्यते नान्यत्र सिद्धसाधनात्, तथा च दृष्टान्ताभावात्तदसाध्यमुक्तम् । [१७० ख] एतच्चोक्तमिति किमनेनेति चेत्; न; अन्यथा अभिप्रायात् । यदुक्तं प्र ज्ञा क र े ण–*"**क्षणिकत्वे साध्ये न दृष्टान्ताभावो नीलादेः सर्वस्य, तत्र यद्(द)वभासते तत्तथैव परमार्थसद्व्यवहारावतारि यथा नीलं नीलतयाऽवभासनं तथैव तदवतारि, सर्वमवभासते च क्षणिकतया ।**" इति; २०
तत्र पक्षस्य प्रत्यक्षबाधनं हेतोश्च असिद्धत्वमनेन कथ्यते । अथवा, क्षणिकत्वात् नीलादेरव्यतिरेके तैद्वत् तैस्यापि स्वभावविप्रकर्ष इति दृष्टान्तस्य साध्यसाधनोभयवैकल्यम् । तत्र तदनभ्युपगमे क हेतोः उपसंहार इति प्रदर्श्यते ।

स्यान्मतम्–सौगतस्य दानादिचेतांस्येव पुण्यपापव्यपदेशभाञ्जि, तेषां च स्वसंवेदनाध्यक्षविषयत्वात् न [स्व]भावविप्रकर्ष इति साधनविकलता दृष्टान्तस्येति; तदशिक्षिताभिधानम्; यतः २५
ततः कालान्तरे फलाऽसिद्धेः, तदन्याभ्युपगमस्य अवश्यंभावात् । अथ मतम्–स्वभावविप्रकर्षेऽपि पुण्यपापयोः सर्वैरपि वादिभिः साधनात्, साध्यविकलता दृष्टान्तस्येति; तदनुपपन्नम्; प्रक्रमाऽपरिज्ञानात् । ततः तदसाध्य···साधनात् । साध्यं तु उक्तमेव ।

साम्प्रतं हेतोर्विरुद्धत्वात् न तत् साध्यम्; इत्याह–**अनिष्टसिद्धेः** ।

---

(१) शब्देन । (२) बुद्ध्यादीनाम् । (३) तालवादिव्यापारः । (४) क्षणिकत्ववत् । (५) नीलादेरपि ।

[अनिष्टसिद्धेः पाराऽर्थ्यं यथाऽनिष्टं प्रसाधयेत्[1] ।
संहतत्वं तथा सत्त्वं शब्द[क्षणिकतान्वयि] ॥१८॥

परार्थाश्चक्षुरादयः···नहि विपक्ष एव निर्णयात् कृतकत्वस्य । *"यद् यद्भावं प्रति अन्यान्यपेक्षं तत्तद्भावनियतं यथा अन्त्या कारणसामग्री स्वकार्यजननं प्रति" इति परस्य चोदितचोद्यमेतत् । तथा चेत् ; भावः कालान्तरस्थानोत्पादं प्रत्यनपेक्षणात् तद्भावनियतः सिध्येत् नान्यथा । सतोऽर्थस्य पुनः उत्तरकालं स्थितौ किमपेक्षणीयं स्यात् यतः कादाचित्की स्थितिः स्यात्, तथा पुनरुत्पित्सोरुत्पत्तौ न किञ्चिदपेक्षणीयमिति समानम् । यदि पुनः भावः स्थास्नुरुत्पित्सुर्वा न भवेत् न कदाचिदपि तिष्ठेदुत्पद्येत वा खपुष्पवत्। नहि तन्नश्वरत्वमेव साधयतीति समञ्जसम् अन्यत्राप्यविशेषात् । तदिमेऽर्थाः स्वरसत एवोत्तरीभवन्तो यथायोगं परस्परोपकारमतिशयाधानमात्मसात्कुर्वन्ति। कस्यचित् कुतश्चिद्विनाशे परोऽन्य एव जायते । ननु निरन्वयनिवृत्तौ कस्य कारणाहिता कार्योत्पत्तिः ?]

अनिष्टस्य परिणामाऽनित्यत्वस्य **सिद्धेः** तत्रैव सर्वहेतूनां दर्शनान्न तत्साध्यमिति 'वैफल्याच्च साधनस्य' इति शेषः, यदर्थं तत्प्रयुक्तं तस्य असाधनात् अनिष्टसिद्धिं समर्थयते **पाराऽर्थ्यम्** इत्यादिना । चक्षुरादीनां संबन्धि **संहतत्वं** कर्तृ **प्रसाधयेत् यथा** येन [१७१क] तत्रैव दर्शनप्रकारेण । किम् ? इत्याह–**पाराऽर्थ्यम्** । किम्भूतम् ? **अनिष्टम्** तेषामेवैव सांख्येन संहतं तत् साधयितुम् इष्टं संहतं प्रसाधयेत् । एवं परप्रसिद्धं निदर्शनं प्रतिपाद्य दार्ष्टान्तिकं प्रतिपादयति **तथा सत्त्वं** शुद्धेतररूपम् **'अनिष्टं प्रसाधयेत्'** इति सम्बन्धः । किंभूतं सत्त्वम् ? इत्याह–**शब्द** इत्यादि ।

कारिकार्थं प्रकटयति–**पाराऽर्थाश्चक्षुरादयः** इत्यादिना । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**नहि** इत्यादि । **विपक्ष एव** परिणाम एव **निर्णयात्** कृतकत्वस्य इति । ननु यद्यपि कृतकत्वस्य[3] तत्रैव निर्णयः तथापि न तेन तद्व्याप्तिः अनुमानेन [4]तद्विपरीतव्याप्तिप्रसाधनादिति परः । तदेव दर्शयन्नाह–**यद् यद्भावम्** इत्यादि । ननु पूर्वम् **'उत्पादस्थितिभङ्गानाम्'** इत्यादिना सर्वमेतदुक्तम्, इति किमर्थं पुनरपि उच्यते इति चेत् ? सत्यमुक्तम्, किन्तु पूर्वं विनाशे अयमिव ([5]अयमेव) स्वतन्त्रो हेतुः, अधुना अनेन कृतकत्वादेः नाशित्वेन अविनाभावः साध्यत इति विभागः । यद्वा **'विपक्ष एव निर्णयात्'** इत्यस्य हेतोर्भक्तेनैव परप्रथनासिद्धतामुद्भावनेन (हेतोर्यत्तेनैव परं प्रत्यसिद्धता उद्भाविता) तां परिहरति **परस्य चोदितचोद्यमेतत्** इति निपातार्थ (निदर्शनार्थम्) । **यद्वस्तु** यस्य भावो **यद्भावः** तं प्रति **अनपेक्षं तद्वस्तु तद्भावनियतं** द्वितीयेन तच्छब्देन यदुक्तं तस्य परामर्शः । अत्र दृष्टान्तमाह–**यथा** इत्यादिकम् । **अन्त्या चासौ कारणसामग्री च** इति तत्सामग्री **स्वकार्यजननं प्रति अनपेक्षा सती तद्भावनियतैव** स्वकार्यजनन-

(१) "यथा पराऽर्थाश्चक्षुरादयः संघातत्वात् शयनासनाद्यङ्गवदिति । तदिष्टासंहतपाराऽर्थ्यविपर्ययसाधनाद् विरुद्धः ।"–न्यायवि० ३।८७, ८८ । (२) चक्षुरादीनाम् । (३) विपक्ष एव । (४) पक्ष एव । (५) पृ० २०२ । (६) तद्भावं प्रत्यन्यानपेक्षत्वादिति ।

भावनियतैव । पक्षधर्मोपसंहारमाह–तथा इत्यादि । सुगमम् । चेच्छब्दः [१७१ख] पराभिप्रायद्योतकः । अत्रोत्तरमाह–भाव इत्यादि । भाव इत्येतदुपलक्षणं तेन कृतक इत्येतदपि गृह्यते । कालान्तरस्थान (नं) च उत्पादश्च तौ प्रति अनपेक्षणात् तद्भावनियतः कालान्तरस्थानोत्पादभावनियतः सिध्येत् । अस्याऽनभ्युपगमे दूषणमाह–नान्यथा अतो हेतोर्विनश्वराभावः सिध्येत् व्यभिचारित्वात् हेतोरिति मन्यते । एतदनेन दर्शयति–यथा क्षणिकत्वे सत्त्वादिर्विरुद्धः [1]विपक्ष एव निश्चयात्, तथा अन्येन तस्य अविनाभावसाधकोऽप्यनपेक्षणादिति हेतुः [2]तत्रैव विनिश्चयाविशेषादिति ।

स्यान्मतम्–'कालान्तरस्थानोत्पादौ प्रति अनपेक्षणात्' इत्यसिद्धम्; तद्भावनियतत्वे तौ प्रति सापेक्षत्वाद् भावस्य इति । तत्रोत्तरमाह–सतोऽर्थस्य इत्यादि । सतो विद्यमानस्य अर्थक्रियाकारिणो भावस्य पुनः इति वितर्के उत्तरकालम् उत्पत्तेः स्थितौ किमपेक्षणीयं स्यात् न किञ्चिदित्यर्थः । सतोऽर्थस्य स्वभावभूताया अन्यस्या[3] वा केनचित् करणे विनाशे च दोषात्, एवमर्थं च सतोऽर्थस्य इत्युक्तम्, यतः अपेक्षणीयात् कादाचित्की स्थितिः स्यात् तथा तेनैव प्रकारेण पुनः उत्पित्सोर्भावस्य उत्पत्तौ न किञ्चिदपेक्षणीयम् यतोऽपेक्षणीयात् कादाचित्त्वो (चित्को) त्पत्तिः स्यादिति । 'यतः' इत्याद्यनुवृत्तेः । इत्येवं समानं विनाशवदत्वाप्यतदत्तप्येतदस्ति (वदन्यत्राप्येतदस्ति) इति मन्यते ।

नन्वस्य अपेक्षणीयस्याभावेऽपि स्थास्नु-उत्पित्सु-स्वभावापेक्षणात्, अस्य च सर्वदाऽसन्निधानादसिद्धो [१७२ क] हेतुः इति चेत्; अत्राह–यदि पुनः इत्यादि । भावो जीवादिः स्थास्नुः उत्पित्सु वति (र्वा न) भवेत् न कदाचिदपि तिष्ठेद् उत्पद्येत वा खपुष्पवत् इति । तिष्ठति उत्पद्यते च ततः [4]तत्स्वभाव इति । ननु तद्भावं प्रति अनपेक्षत्वं नश्वरत्वमेव साधयति प्रत्यक्षादिबाधाऽभावात् न स्थित्युत्पत्तिस्वभावं [5]विपर्ययादिति चेत्; अत्राह–नहि इत्यादि । हिः यस्मात् तद्भावं प्रति अनपेक्षत्वं नश्वरत्वमेव [6]नान्यत् साधयति इति न समञ्जसम् उपपन्नम् । कुत एतत् ? इत्यत्राह–अन्यत्रापि । [7]आपाद्यसाध्येऽपि अविशेषाद् विशेषाभावात्; तत्रापि प्रत्यक्षादिबाधाऽभावादिति मन्यते ।

उपसंहारव्याजेन परकीयस्य हेतोरसिद्धतां दर्शयन्नाह–तद् इत्यादि । यत एवं तत् तस्मात् इमे प्रत्यक्षतः प्रतीयमाना अर्था जीवादयः स्वरसत एव [स्व] भावत एव उत्तरीभवन्तः [8]पूर्वाकारपरित्यागाऽजहद्वृत्तोत्तराकारं गच्छन्तः आत्मसात्कुर्वन्ति इति युक्तम् । किम् ? इत्याह–अतिशयाधानं योग्यतास्थापनम् । कथम् ? इत्याह–यथायोगमिति उत्पादविनाशसहकारिकारणसंबन्धो योगः तस्य अनतिक्रमेण । कथंभूतम् ? इत्याह–परस्परोपकारम् इति । परस्परेण सहकारिणा उपादानस्य अनेन[9] सहकारिण उपकारो यस्मिन् येन इति

(१) कथञ्चिच्चित्ये । (२) विपक्ष एव । (३) स्थितेः । (४) उत्पत्तिस्थितिस्वभावः । (५) बाधासद्भावात् । (६) उत्पत्तिस्थितिस्वभावम् । (७)आपाद्यं यत् साध्यम् उत्पत्तिस्थितिस्वभावरूपं तस्मिन् । (८) पूर्वाकारपरित्यागः उत्तराकारस्वीकारश्च परस्परम् अजहद्वृत्तः–श्रौव्यत्वं स्वीकुर्वन्नेव संजायते इति भावः । द्रष्टव्यम्–पृ० १ टि० १ । (९) उपादानेन ।

वा विग्रहः । तदनेन उत्पादं प्रतीवपिनासं (प्रति इव विनाशं) प्रत्यपि भावस्य कृतकस्य वा[1] सापेक्षत्वाद् भावस्य विनाभावसाविनासाविनाभाव (विनाशाविनाभाव)साधने [2]तद्भावं प्रत्यनपेक्षत्वमसिद्धमित्युक्तम् [१७२ख] भवति । ननु यदुक्तम्–'**तहिये** (तदिमे) **अर्थाः स्वरसत एव उत्तरीभवन्तः**' इति ; तदयुक्तम् ; **कस्यचित् पूर्वस्य**[3] **कुतश्चिद् विनाशे परः अन्य एव** जायते इति चेत् ; अत्राह–**ननु** इत्यादि । **ननु नैव निरन्वयनिवृत्तौ** अत्यन्तमभावे **कस्य** कारणस्य कारणाकारणाहिता (**कस्य कारणाहिता**) **कार्योत्पत्तिः** अनियमप्रसङ्गादिति मन्यते ।

कथं तर्हि कार्योत्पत्तिः ? इत्यत्राह–**अनादिनिधनम्** इत्यादि ।

[अनादिनिधनं द्रव्यमुत्पित्सु स्थास्नु नश्वरम् ।
स्वतोऽन्यतो विवर्तेत क्रमाद्धेतुफलात्मना[4] **॥१९॥**

यदि सर्वं सत् उत्पादस्थित्यात्मकं सर्वदा न स्यात् सकृदपि तथा मा भूत् खरविषाणवत्, तथा तत् पूर्वोत्तरपरिणामात्मना सततं विवर्तमानं प्रतिक्षणं त्रिलक्षणं हेतुफलव्यवस्थामात्मनि विकल्पयन् परत्र कार्यकारणव्यपदेशभाग् भवतीति समञ्जसम्, प्रत्यनीकस्वभावाविनाभावात् ।]

अविद्यमाना (नम्) आदिनिधनम् **अनादिनिधनं**, [5]सादित्वे कार्यानुपादानकारणा(ण)भावे[6] सदपि सहकारिकारणम् अकिञ्चित्करम् । न चैवं शक्यं वक्तुं कदाचिदनुपादाना कार्योत्पत्तिः अन्यदा अन्यथेति ; तथाऽदर्शनात् । दर्शनानुसारेण च तत्त्वव्यवस्थानात् । कथञ्चैवं वादिनां कार्यदर्शनाद् उपादानकारणानुमानम् ? सर्वत्राऽऽशङ्काऽनिवृत्तेरिति [7]तद्व्यवहारोच्छेदः । [8]सान्तत्वे पुनः अशेषसन्ताननिवृत्तिरिति । निरूपयिष्यते चैतत् जी व सि द्धौ[9] । किन्तदित्थम्भूतम् ? इत्याह–**द्रव्यम्** इति । न चैतत् चोद्यम्–'[10]रूपादिव्यतिरेकेण किं तत्' इति ? ※"**प्रतिभासैक्यनियम**" [सिद्धिवि० १।१०] इत्यादिना प्रसाधनात् । पुनरपि कथम्भूतं तदिति आहोस्वित् [तदित्याह–**उत्पित्सु स्थास्नु नश्वरम्**] इत्यादि । तत्किं कुर्यात् ? इत्याह–**विवर्त्तेत** । केन प्रकारेण ? **हेतुफलात्मना** मृत्पिण्डघटादिस्वभावेन ।

[12]ननु च प्रधानं महदादिफलात्मना विवर्त्तते न [13]तद्धेत्वात्मना ※"**मूलप्रकृतिरविकृतिः**[14]" [सांख्यका० ३] इति वचनादिति चेत् ; न ; महदादिपरिणामजननस्वभावस्य अकादाचित्कत्वे [15]तदनुपरतिरिति कपिलोऽन्यो[16] वा मुक्तो न म कथं (वा कथं मुक्तः ?) यदि पुनः कपिलादिना [१७३ क] संसर्गाभावात्तदुपरति[17] [रिति] मतिः; सापि न युक्ता; [18]अविकले कारणे कार्यस्य

---

(१) हेतोः । (२) विनाशं प्रत्यन्यानपेक्षणादिति हेतुः असिद्धः इति भावः । (३) पर्यायस्य । (४) उत्तरांशः उद्धृतः–न्यायवि० वि० प्र० पृ० ४१४ । (५) सर्वथा नूतनस्योत्पादे । (६) उपादानकारणाभावे इत्यर्थः । (७) उपादानकारणात् । (८) कार्यकारणव्यवहाराभावः । (९) सर्वथा निरन्वयविनाशस्वीकारे । (१०) चतुर्थप्रस्तावे । (११) गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं नास्ति इति शङ्काभिप्रायः । (१२) सांख्यः प्राह । (१३) न प्रधानम् अन्यहेतुतः समुद्भूतं तस्य नित्यत्वादिति । (१४) अकार्यभूता नित्येति । (१५) महदादिकार्याणां सर्वदोत्पत्तिः । (१६) जीवात्मा । (१७) कपिलादिकं प्रति महदादिकार्योत्पादस्वाभावः । (१८) नित्ये प्रधानाख्ये कारणे ।

अवश्यंभावात् । अथ [1]तत्संसर्ग एव स [2]स्वभावो न पूर्वम् ; हन्त कथम् *"मूलप्रकृतिः[3]" ? [सांख्यका० ३] इति युक्तम् हेतुफलात्मना इति ।

एतेन वैशेषिकादिमतमपि चिन्तितम् । यदेव द्रव्यस्य हेत्वात्मता तदेव फलात्मता । अयं तु विशेषः—कदाचित् कस्यचिदभिव्यक्तिः अनभिव्यक्तित्वाद् च (क्तिश्च, आह च—) *"[सर्वं] सर्वत्र विद्यते" इति कश्चित्[4] ; तं प्रत्याह—क्रमाद् इति । क्रमम् आश्रित्य इत्यर्थः, इतरथा ५ सव्येतरगोविषाणवत् न हेतुफलव्यपदेशः[5] । व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽपि अस्य चोद्यस्याऽनिवृत्तेः ।

विवर्तते तदात्मनाँ किन्तु स्वत एवेति पुरुषाद्वैतवादिनः *"पुरुष एवेदम्" [ऋक्० १०।९०।२] इँत्यादि वचनात् । 'यद् उत्पद्यते तत् परतः, नश्वरः, स्वात्मनि क्रियाविरोधात्[6], उत्पत्तिसमये स्वमयभावाच्च[7] । तथा परत एव विन (विनाशो न) स्वतः, सर्वदा विनाशप्रसङ्गात्' इति केचित्[8]; तान् प्रति आह—स्वतः अन्यतः इति । '[वि]वर्तेत' इति सम्बन्धः । स्वतः १० तथा विवर्त्तनस्वभाववैधुर्य्ये परतोऽपि न विवर्त्तेत खरशृङ्गवत्, गगनन्चैयमर्थं (गगनवर्त्म[9], एवमर्थं) च उत्पित्सु इत्याद्युक्तम् । परतः तद्विवर्तनप्रतिषेधे प्रत्यक्षादिविरोधः ।

'द्रव्यम् उत्पित्सु' इत्यादि समर्थयते यदि इत्यादिना । यदि चेत् स (सत्) विद्यमानं सर्वं सर्वदा उत्पादात्मकं न स्यात् सकृदपि तथोत्पादात्मकत्वप्रकारेण मा भूत्, भवति च, ततो मन्यामहे सर्वदा उत्पादात्मकमिति । अनेन चरमक्षणकथा [10]क्षीणेति दर्शयति । ननु यदि १५ नाम च (न) कदाचिद् दुषात्मकं (उत्पादात्मकं) वस्तु तस्य किमायातं येन सर्वदा तत् [12]तदात्मकं स्यादिति चेत् ; न तर्हि इदानीं कदाचित् स (सन्तं) क्षणिकमुपलभ्य सर्वदा [13]तत्तथा [१७३ख] इत्यनुमानम् । शेषं चर्चितमत्र । तथा स्थित्यात्मकं सर्वदा यदि न स्यात् ; सकृदपि तथा[14] माभूत् । भवति च तदात्मकं[15] तत्प्रतीतेः प्रतिपादनात् । ततः सर्वदा तदात्मकमिति निराकृतमेतत् यदुक्तं प्र भा क रे ण—*"दध (देव) दत्तादेः उपलम्भदशायां भवत् (तु) कालान्तर- २० स्थायिता तथाप्रतीति(ते) र्नान्यदा[16] विपर्ययात्" इति; कथम् ? [18]अदृष्टस्य ज्ञानादेः [19]अभिमतस्वाभावाऽसिद्धिप्रसङ्गात् । दृष्टानुरूपतत्त्वव्यवस्थापनम् अन्यत्र[20] समानम् । 'खरविषाणवत्' इति उभयत्र निदर्शनम् । एतद् अन्यत्राऽवृत्ति (त्राप्यति) दिशन्नाह—तथा इत्यादि । पृथगस्य उपादानं दृष्टान्तार्थं परं प्रति अस्य[21] सिद्धत्वात्, नैयायिकादिकं प्रति एतत् साध्यार्थम् पूर्वं दृष्टा-

---

(१) कपिलादिसंसर्गे सत्येव । (२) कार्योत्पादनस्वभावः । (३) अविकृतिः—नित्येति कथमुच्यते ? (४) सांख्यः । "किं सांख्यमतमवलम्ब्य सर्वं सर्वत्र विद्यते ।"—प्र० वार्तिकाल० पृ० १८०। (५) समसमयभाविनोः कार्यकारणभावाभावात् । (६) हेतुफलात्मना । (७) "पुरुष एवेदं यद् भूतं यच्च भव्यम् । उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥"—ऋ० ३।१५ । (८) 'न स्वत [उत्पद्यते' इति सम्बन्धः । (९) स्वभावतः एव विनश्यतीति सम्बन्धः । इति बौद्धाः । (१०) नैयायिकादयः । (११) नैयायिकमतापेक्षया इदमुक्तम् । (१२) नहि स कश्चित् क्षणो विद्यते यस्मात् अग्रिमक्षणोत्पत्तिर्न भवति इति चरमक्षणस्य अभाव एव । (१३) उत्पादात्मकम् । (१४) 'सत् क्षणिकमेव' इत्यनुमानं स्यात् । (१५) स्यात्तु । (१६) स्थित्यात्मकम् । (१७) यदा देवदत्तो न दृश्यते तदा । (१८) यदि उपलब्धस्यैव तत्स्वभावता व्यवस्थाप्यते तदा अदृष्टस्य—अनुपलब्धस्य । (१९) अभिमतो यः प्रतिभासरूपः स्वभावः तस्य असिद्धिः स्यादिति भावः । (२०) देवदत्तादौ । (२१) खरविषाणस्य उत्पादादिस्वभावशून्यस्य ।

न्तार्थमिति विभागः । यत एवं तत् तस्मात् पूर्वोत्तरपरिणामात्मना सततं विवर्त्तमानं क्षणं [क्षणं]प्रति प्रतिक्षणं त्रीणि उत्पादस्थितिभङ्गाः लक्षणानि यस्य तत् त्रिलक्षणम् 'सत् सर्वम्' इति सम्बन्धः । तत् किं कुर्वत् किं करोति ? इत्यत्राह–हेतुफल इत्यादि । हेतुफलयोर्व्यवस्था पूर्वः पूर्वो हेतुः परं परं फलम् इति लौकिकी स्थितिः ताम् इति । तदनेन यदुक्तं केनचित्[1] *"पूर्वं कार्यम् उत्तरं कारणम्" इति; तन्निरस्तम्; *"शुचि नरशिरःकपालं प्राण्यङ्गत्वात्[2]" [न्यायप्र० पृ० २] इत्यादिवत् प्रसिद्धिबाधनादिति । यदि वा, हेतुफलमेव विशिष्टा नानाप्रकारा या अवस्था दशा ताम् इति ।*"स्वरूपमेव जन्यं जनकं च" इति[3], तदनेन निरस्तम् । कथम् ? वि[कल्पयन्] जन्यजनकताप्रतीतेः आत्मनि स्वस्वरूपेण कल्पनायाम् ततस्तद्व्यवस्थार्थाः काल्पनिकत्वं कल्पयन्[4] अविकल्पं इत्युक्तं भवति । नीलादिसुखादिविशेष [१७४क] स्यापि(वि)कल्पत्वेन प्रतिभासाद्वैतमपि तथा स्यात् । प्रत्यक्षबाधनम् इतरत्र समानम् । *"नहि पूर्वोत्तरपरिणामरहितं किञ्चित् क्वचित् प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभाति" इत्युक्तम् ।

अथवा, 'अवस्थातुः एकान्तेन अवस्था भिन्नाः इति मतम्[5] अयुक्तमिति कथितं भवति । भवति परत्र सहकारित्वेन उपकारके सन्तानान्तरे सति कार्यव्यपदेशभाग्[6], [7]उपकार्ये कारणव्यपदेशभाग् भवति इति समञ्जसम् । कुतः पुनः सत् सर्वं [8]तथाविधम् ? इत्यत्राह–प्रत्यनीक इत्यादि । उत्पादस्य प्रत्यनीकस्वभावः स्थितिः तदविनाभावाद् वस्तुस्वभावस्य उत्पादस्य ।

कुत एतदपि इति चेत् ? अत्राह–द्रव्याद् इत्यादि ।

[[9]द्रव्यात् स्वस्मादभिन्नाश्च व्यावृत्ताश्च परस्परम् ।
लक्ष्यन्ते गुणपर्याया धीविकल्पाविकल्पवत् ॥२०॥

गुणिनः कथञ्चिदभिन्नाः रूपादयः सुखादयो वा सकृत्प्रतीताः क्रमेण···तथा··· तत्सिद्धम्···। यत्पुनरेतत्–परमाणूनां संयोगे दिग्विभागेन अङ्गीक्रियमाणे षडंशतापत्तेः । निरंशत्वे परस्परानुप्रवेशान्न प्रचयभेद इति; अत्रोत्तरम् ।]

द्रव्यात् इत्यनेन गुणपर्यायैकान्तं निषेधति, अभिन्नाश्च इत्यनेन तेषां [10]तद्वतोर्भेदैकान्तम्, व्यावृत्ताश्च इत्यनेन सांख्यमतम्[11], परस्परं वा (चाऽ) भिन्ना व्यावृत्ताश्च इत्यनेनापि[12], स्वस्माद् इत्यनेन *"सर्वस्योभयरूपत्वे" [प्र०वा० ३।१८१] इत्यादिकम्[13] ।

(१) प्रज्ञाकरेण भाविकारणवादिना । "यथा च कारणस्य पूर्वं भावं विना न भवति कार्यं तथा अवश्यंभावि कारणं कार्यस्य परभावं विना नेति समानं कार्यकारणभावनिबन्धनमिति द्वयोरपि परस्परं कार्यकारणभावः ।"–प्र० वार्त्तिकाल० पृ०२८ । (२) "लोकविरुद्धो यथा शुचि नरशिरःकपालं प्राण्यङ्गत्वात् शङ्खशुक्तिवत्"–न्यायप्र०पृ०२ । परीक्षा० ६।१९। (३) यत् अद्वैतवादिनां मतम् । (४) हेतुफलव्यवस्थायाः । (५) कथयन् । (६) विवेकरहित एव । (७) कल्पनात्मकमेव । (८)नैयायिकादेः । (९) पदार्थान्तरे । (१०) उपकर्तृ पोग्ये पदार्थे तु । (११) उपकार्यम् उपकारकं च, अत एव कारणकार्यात्मकम् । (१२) "उक्तं च–···द्रव्यात् स्वस्मादभिन्नाश्च व्यावृत्ताश्च परस्परम् । उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले ॥" –न्यायकुमु० पृ० ३७० । "देवैर्निवेदितं चैतत् स्वयमन्यत्र तत्तथा । द्रव्यात् स्वस्माद्···"–न्यायवि० वि० प्र० पृ० ४१२ । (१३) द्रव्यात् । (१४) अभेदप्रतिपादकम् । (१५) सांख्यमतं निषेधति । (१६) धर्मकीर्तिकृताक्षेपं निषेधति ।

गुणाः सहभाविनो जीवस्य ज्ञानादयः, पुद्गलस्य रूपादयः, **पर्यायाः** क्रमभाविनः सुखदुःखादयः, शिवकादयश्च **लक्ष्यन्ते** प्रत्यक्षप्रमाणेन निश्चीयन्ते । अनेन प्रतीतिसिद्धत्वेन काल्पनिकत्वम्[3] ।

*"युक्त्या यन्न घटामुपैति तदहं दृष्टापि न श्रद्दधे" इति[4] वदन्तं प्रति निदर्शनमाह—**धीविकल्पाऽविकल्पवद्** इति । **धियो विकल्पाविकल्पौ इव तद्वत्** इति । यथा धियः सकाशात् विकल्पौ आकारौ भिन्नौ अभिन्नौ इव (अभिन्नाविव) लक्ष्येते तथा प्रकृतेः स्वद्रव्याद् इति निष्ठुरविचारचतुरस्यैं अनेन स्वमतत्यागं दर्शयति । नैयायिकादिकं प्रति निदर्शनं नोक्तं प्रतीतिबलेन तेनैं द्रव्यादिव्यवस्थोपगमात् । [१७४ख] अथवा, धियः सम्बन्धिनौ विकल्पौ स्वैः विभ्रमेतर-संशयेतर-दृश्येतर-ग्राह्येतर-नीलेतराकारैः भेदाभेदौ ताभ्यां तुल्यं वर्त्तत इति तद्वत् ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—**गुणिन** इत्यादि । गुणिनः सकाशात् **कथञ्चित्** तत् सर्वात्मना **अभिन्ना रूपादयः सुखादयो वा सकृद्** एकदा **प्रतीताः** परीक्षितप्रमाणप्रमिताः । किं कुर्वन्ति ? इत्याह—**क्रमेण** इत्यादि । दृष्टानुरूपत्वात् सर्वदा तत्त्वसिद्धेः इति भावः । तदनभ्युपगच्छतोऽपि हताद् (हठात्) आगच्छति इति दर्शयन्नाह—**तथा** इत्यादि । अत्रापि '**क्रमेण**' इत्यादि संयोज्य व्याख्या कर्त्तव्या । प्रकृतं निगमयन्नाह—**तत्सिद्धम्** इत्यादि ।

ननु अस्ति स्थूलस्य एकस्य नानावयवगुणपर्यायात्मनो बुद्धौ प्रतिभासनम् , स नैकोऽवयवी गुणी वा युक्तः विचारायोगात् । तदेव दर्शयन्नाह—**यत्पुनरेतद्** इत्यादि । **यत्** परेण यथोक्तप्रमेयदूषणम् 'उक्तम्' इति शेषः[5] । **पुनः** इति युक्त्यन्तरसूचने, **एतन्निवेद्यमानं** स्थूलस्य सूक्ष्मनान्तरीयकत्वात्[6] **'परमाणूनाम्'** इत्युक्तम् । "ते च संयोगापेक्षा एव तं[7]" जनयन्ति नान्यथा अतिप्रसङ्गात् इति **संयोगे** इति 'स[12] च एकदेशेन सर्वात्मना वा स्याद् गत्यन्तराभावात्' इति मनसि निधाय प्रथमपक्षे दूषणमाह—**'दिग्विभागेन'** इत्यादि । [दिशः प्राच्यादयः][13] तद्विभागेन **संयोगे** अङ्गीक्रियमाणे **षडंशतापत्तेः**[10] "तेषामेव(क) परमाणुतैव न स्यात् सांशत्वात् घटादिवत् इति मन्यते । द्वितीयपक्षे तदाह—**निरंशत्वे** परमाणूनाम् अङ्गीक्रियमाणे **परस्परानुप्रवेशात्** कारणात् **न प्रचयभेदः** स्कन्ध[१७५क]भेदः **इति** शब्दः पूर्वपक्षसमाप्तौ । तदुक्तम्—

*"तत्र दिग्भागभेदेन षडंशाः परमाणवः ।
नो चेत् पिण्डोऽणुमात्रः स्यात् न च ते बुद्धिगोचराः ॥" [न्यायवि० १।८६] इति।

एतद् दूषयन्नाह—**अत्र** इत्यादि । **अत्र** पूर्वपक्षे **उत्तरम्** 'उच्यते' इति शेषः ।

यथा[तथा]शब्दावन्तरेणापि तदध्यारोपात् प्रतिवस्तूपमालङ्कारमाश्रित्य कारिका व्याख्यायते—

---

(१) जीवस्य । (२) मृदः पुद्गलस्य । (३) निषेधति इति सम्बन्धः । (४) उद्धृतमिदम्—अष्टश०, अष्टस० पृ० २३४ । (५) गुणपर्यायाः । (६) युक्त्यैकान्तवादिनः । (७) नैयायिकादिना । (८) "षट्केन युगपद् योगात् परमाणोः षडंशता । षण्णां समानदेशत्वात् पिण्डः स्यादणुमात्रकः ॥"—विज्ञ० विंशि० श्लो० १२ । चतुःश० पृ० ४८ । तत्त्वसं० पृ० २०३ । (९) अन्तरा विना न भवतीति नान्तरीयकम् अविनाभावीत्यर्थः । (१०) परमाणवः । (११) अवयविनम् । (१२) संयोगः । (१३) दिग्विभागेन । (१४) परमाणूनाम् । यतः सर्वे षड्दिग्वर्तिभिः परमाणुभिः संयुज्यन्ते ।

[क्षणश्चित्क्षणमध्यस्थो न जहाति निरंशताम् ।
तथाणुरपि मध्यस्थः ततः प्रचयवर्धनम् ॥२१॥

विज्ञप्तिमात्रेऽपि ज्ञानस्य स्वहेतुफलमध्यवर्तिनः सांशत्वे अनन्तक्षणप्रसङ्गात् तावतैव परिसमाप्तत्वात्तदन्यकल्पनानर्थक्यम् । अनुप्रवेशे पुनः एकक्षणवर्ति निष्पर्यायं जगत् स्यात् । यदि पुनः कथञ्चिन्निरंशत्वेऽपि तथा परमाणूनामनुप्रवेशाभावात् प्रचयभेदः स्यात् । क्रम···। तथा सति–]

यथा **चित्क्षणमध्यस्थः** चिद्रूपौ कारणकार्यभूतौ यौ क्षणौ तयोर्मध्यम् अन्तरं तत्र तिष्ठति इति तत्स्थः । कोऽसौ ? इत्याह– **क्षणो** भागः पूर्वस्य कार्यभूतः उत्तरस्य कारणभूतः, सोऽपि चिद्रूप एव अन्यस्य [1]तदभावात् । स किं करोति ? इत्याह–**न जहाति** न परित्यजति। किम् ? इत्याह–**[निरंशताम्]** निरंशस्य 'सर्वात्मना एकदेशेन' इति विकल्पाऽयोगात् केवलं तत्र तिष्ठति इति न्यायात्, **तथा अणुरपि** परमाणुरपि न केवलं चित्क्षण एव **मध्यस्थो 'न जहाति निरंशताम्'** इति सम्बन्धः । ततः किं सिद्धम् ? इत्याह–**ततः प्रचयवर्धनं** तस्मान्न्यायात् कालप्रचयवत् देशप्रचयस्यापि वर्धनम्, 'स्यात्' इत्यध्याहारः ।

एतदुक्तं भवति–चित्क्षण (चित्क्षण) मध्यस्थः क्षणः पूर्वोत्तरक्षणाभ्यां सान्तरः, निरन्तरो वा ? न तावदाद्यो विकल्पः ; [2]चिरन्तनसौगतानां तथाऽभ्युपगमाभावात्, नैरन्तर्यविशिष्टानामेव क्षणानाम् उपादानोपादेयभावाभ्युपगमात्[3] । येषामपि प्र ज्ञा क र गु प्ता दी नां तथाभ्युपगमः तेषाम् असंसृष्टा[4] क्षणा एव स्वकार्यं कुर्वन्ति न [5]परमाणव इति किं कृतो विभागः ? अतिप्रसङ्गोऽत्रापि दुर्वारः । तन्न परमाणूनां कार्यारम्भे संयोगमुपकल्प्य [१७५ ख] [6]तन्निबन्धनं दोषचिन्तनं न्याय्यम् । [7]जागरणप्रबोधचेतसोः उपादानोपादेयभूतयोः व्यवधाने [8]नित्यवत् कार्यकारणभावनिषेधात् न सुस्थितं तन्मतम् । व्यवधानं च तयोः[9] नाभावेन नापि कालेन ; तदनभ्युपगमात् । अत एव न सजातीयविज्ञानैः; स्वापादिदशायां तदनभ्युपगमात् । विजातीयैः [10]व्यवधाने ; न विज्ञप्तिमात्रं स्यात् । भवतु वा तैर्व्यवधानम्, तथापि तेषामन्योन्यं तच्चेतोभ्यां च पुनरपि सान्तरत्वे तदेव चोद्यं तदेव उत्तरमित्यनवस्थाः प्रत्येकं गगनतलविसर्पिण्यो योज्याः । निरन्तरत्वे समायातो द्वितीयो विकल्पः । एवमर्थं च **'क्षणो चित्क्षणमध्यस्थः'** इति सामान्येनोक्तम् । सोऽपि न युक्तः संयोगवत् दोषात् । नैरन्तर्यम् संयोग इति शब्दभेदमात्रमुत्पश्यामो नार्थभेदम् । अन्ये तु मन्यन्ते सर्वचेतसां परस्परं न सान्तरत्वं नापि विपर्ययः[10], तत्कथं **'क्षणो चित्क्षण'** इत्यादि दोष इति; तेन (ते) तत्प्रतीतिपृथुवज्र-

(१) चितः प्रति कारणकार्यभावाभावात् । (२) प्राचीनबौद्धानाम् । (३) "अर्थान्तराभिसम्बन्धाजायन्ते ऽण्वोऽपरे । उक्तास्ते सञ्चितास्ते हि निमित्तं ज्ञानजन्मनः ॥ अणूनां स विशेषश्च नान्तरेणापरानणून् ।···"–प्र० वा० २।१९५-९६ । (४) असंसृष्टाः परमाणवः । (५) सर्वात्मना एकदेशेन वा संयोगः इति संयोगाभिसम्बन्धनम् । (६) स्वापात् प्राग्वर्ति जाग्रच्चेतः स्वापानन्तरमुत्थितस्य प्रबोधचेतः, तयोः मिथः कारणकार्यभावः स्वापावस्थायां ज्ञानाभाववादिनः प्रज्ञाकरमतेऽस्ति । (७) यथा न नित्ये कारणकार्यभावः तथाऽत्रापि । (८) जाग्रत्प्रबोधचेतसोः । (९) विज्ञानाद् व्यतिरिक्तैः अर्थैः । (१०) निरन्तरत्वं वा ।

निहतप्रज्ञामूर्त्तयः किन्नाम इदंतया नेदंतया व्यवस्थापयन्तीति यत्किञ्चिदेतत्। सकृद् विज्ञानस्यैकस्य चित्रताप्रतीतिर्न नैरन्तर्यादिप्रतीतिः इति पर[म]गहनमेतत्[1]।

अपरस्तु आह–प्रतीयमानमेव ज्ञानं [न] पूर्वं[3] नापि परमिति कथमुच्यते **'क्षणो वित्क्षणमध्यस्थः'** इति; सोऽपि न युक्तकारी, विचारायोगात्। तथाहि–नीलादिव्यतिरेकेण ब्रह्मवत्तदभावात्[4]। नीलादयश्च चित्रत्वात् नैकं युगपत् नीलादिचित्रत्वं प्रत्येति। न क्रमेण ५ सुखादिचित्रत्वमिति [१७६क] प्राकृतबुद्धिः।

'क्षणो वा क्षणमध्यस्थः' इति च पाठोऽस्ति। तत्रायमर्थः–अचेतनो नीलादिरूपः चेतनश्च तद्बुद्धिस्वभावः चेतन एव इति **क्षणो वा** क्षण इव **क्षणयोः** अचेतनयोः चेतनयोः तयोरेव वा कारणाकार्यभूतयोः **मध्यस्थो न जहाति निरंशताम् अणुरपि** इति। शेषं पूर्ववत्।

कारिकां स्पष्टयन्नाह–**विज्ञप्ति** इत्यादि। **विज्ञप्तिमात्रेऽपि** अन्तर्ज्ञेयवादिमतेऽपि न केवलं १० सौत्रान्तिकमत इति **अपि**शब्दार्थः। **ज्ञानस्य** अत्रापि अपिशब्दो लुप्तो द्रष्टव्यः, तेन अज्ञानस्यापि। कथंभूतस्य? **स्वहेतुफलमध्यवर्त्तिनः** स्वस्य स्वो वा यो हेतुः यच्च फलम्[5] तयोर्मध्ये वर्तितुं शीलमस्येति तद्वर्त्तिनः, षट्परमाणुमध्यवर्त्तिनः। परमाणोरपि च **सांशत्वे** अङ्गीक्रियमाणे **नतत्क्षण (अनन्तक्षण) प्रसङ्गात्** कारणात् **तावतैव** तस्यानन्तक्षणप्रसङ्गमात्रेणैव **परिसमाप्तत्वाद्** अनाद्यनन्तसन्तानप्रयोजनस्य इति मन्यते। **तदन्यकल्पनानर्थक्यम्** तेभ्यः अनन्तक्षणेभ्यः ये १५ अन्ये क्षणाः तेषां कल्पनानर्थक्यम्। तथाहि– तन्मध्यवर्तिनः क्षणस्य स्वांशमध्यवर्त्तित्वेऽपि तदपरांशकल्पना, पुनरपि तस्मिन् सति तदन्यकल्पनेति परं सान्तरत्वे(त्व)चिन्तने स एव प्रसङ्गश्चिन्त्यः। सहभाविनां स्वसन्तानान्तरक्षणानाम् एतत् संभवति न वेति विचारचतुरस्वधियो विचारयन्तु। यदि संभवति; किमर्थं परमाणव एव उपदर्श्यन्ते? निरंशत्वे दूषणं दर्शयन्नाह–**अनुप्रवेश** इत्यादि। **'ज्ञानस्य'** इत्यनुवर्तते। तस्य तद्वर्तिनः पूर्वत्र उत्तरत्र वा तयोर्वा २० तत्रानुप्रवेशे अङ्गीक्रियमाणे [१७६ख] **पुनः** इति पक्षान्तरसूचने। **एकक्षणवर्ति** एकक्षणमात्रं **जगत् स्यात्**। किंभूतम्? **निष्पर्यायम्** पर्यायरहितमिति। अनेन सौत्रान्तिकयोगाचारयोः सकलमतनिषेधं दर्शयति। प्र ज्ञा क र स्य तथाभ्युपगमं कुर्वतोऽपि उक्तम्–*"**युगपच्चित्रप्रतिपत्तिवत् क्रमेणापि** [6]**तत्प्रतिपत्तेरनिषेधात् प्रत्यक्षविरोधः**" इति।

'यदि पुनः' इत्यादिना परमतमाशङ्कते–**यदि पुनः कथञ्चित्** केनापि प्रकारेण **निरं-** २५ **शत्वेऽपि** '[इ]ष्यते' इत्यध्याहारः। कुतः? इत्याह–**अनुप्रवेशाभावात्** इति। तत्रोत्तरमाह– **तथा परमाणूनाम्** इत्यादि। **तथा** तेन प्रकारेण **परमाणूनां** घटारम्भकाचेतनसूक्ष्मभागानां **प्रचयभेदो** रचनाविशेषः **'स्यात्'** इति गतेन सम्बन्धः। अत्र निदर्शनम् **'क्रम'** इत्यादि।

एवं सति यत् सिद्धं तद्दर्शयन्नाह–**तथा सति** इत्यादि।

तथा सति– ३०

[अत्यन्तपरिमण्डल्यनानात्वाद्दृश्यताणवः।
तत्प्रत्यनीकमात्मानं संयोगैः विभ्रतेऽञ्जसा ॥२२॥

---

(१) उपहासपदमेतत्। (२) ब्रह्मवादी। (३) न पूर्वं कारणम्, नापि परम् कार्यम्। (४) क्षणानामभावात्। (५) परमाणोः। (६) ज्ञानस्य। (७) क्षणमध्यवर्तिनः। (८) पूर्वोत्तरयोर्वा मध्ये। (९) चित्रप्रतिपत्तेः।

परमाणवः पारिमण्डल्यं [भित्त्वा] स्थूलमेकं स्वभावं स्वयमुपगताः सदुपलक्ष्यन्ते तथापरिणामात्। न हि तथाऽपरिणतं तत् विप्रतिषेधात्।]

एवं सति पारिमण्डल्यं च निरंशत्वं [च] नानात्वं च अदृश्यता च **अत्यक्ताः पारिमण्डल्यनानात्वाऽदृश्यता** यैः ते तथोक्ताः, ते च ते **अणवश्च**। ते किं कुर्वन्ति ? इत्याह—**तद्** इत्यादि। **तत्प्रत्यनीकं** पारिमण्डल्यनानात्वादृश्यताप्रत्यनीकं सांशमेकं दृश्यम् इति यावत्। **आत्मानं** स्वभावं **विभ्रते** स्वीकुर्वन्ति। कैः ? इत्याह—**संयोगैः** नैरन्तर्यैः। **अञ्जसा** परमार्थतः। **अत्यक्तपारिमण्डल्यपदेन** घटवत् तत्परावयवानामपि सांशत्वे अनवस्था स्यादिति कल्पनं निरस्यति, **अत्यक्तनानात्वध्वनिना** अवयविनो निरंशत्वम्, **अत्यक्ताऽदृश्यतावचनेन** [१७७ख] दृष्टे प्रमाणान्तरावृत्तिम्, **'अणवः'** इत्यनेन प्रकृतिः कारणम्[३], पुरुषः कारणम्[४] इत्येतत्, **तत्प्रत्यनीकमित्यतः** 'परमाणुभ्यः परमाणव एव निरन्तरा दृश्या जायन्ते' इति, **'आत्मानम्'** इत्यनेन वैशेषिकादिमतम् **'अञ्जसा'** इत्यनेन कल्पितत्वम् इति[५]।

ननु कुतः परमाणवः सिद्धा येनैवं स्यात् ? नतावत् प्रत्यक्षतः; तत्र तत्प्रतिभासविरहात् स्वयमनभ्युपगमात्। तन्न युक्तम्—*"अत्र प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः कार्यकारणभावः"[हेतुबि० पृ० ५४] इति[६]। तत एव नानुमानतोऽपि; प्रत्यक्षाभावे तन्मूलस्य तस्य[७] अनवतारात्। नापि इन्द्रियवत्[८] कार्यव्यतिरेकतः तत्सिद्धिः; सत्सु अन्येषु कारणेषु [९]तदभावे नियतेन (नियमेन) अनुपजायमानस्य कस्यचित् कार्यस्याऽभावात्, स्थूलादेव मृत्पिण्डात्[१०] तथाविधघटोत्पत्तिदर्शनात्।

यत्पुनरेतत्[११]—'यत्स्थूलं तद् अल्पपरिमाणकारणारब्धं यथा पटः, स्थूलं च अष्टाणुकादि कार्यम्, तत् स्व[ल्प]परिमाणकारणमिति परमाणुसिद्धिः' इति; तदसारम्; यतः सूक्ष्ममपेक्ष्य स्थूलमिति भवति। न च अष्टाणुकात् परं[१३] रूपं सिद्धमस्ति यदपेक्ष्य अष्टाणुकं स्थूलं स्यात्। [१४]अत एव तत्सिद्धिरिति चेत्; अस्यापि कुतः ? ततः[१५] इति चेत्; अन्योन्यसंश्रयः—सिद्धे हि ततः परस्मिन् तद्रूपे ततः तत्स्थूलतासिद्धिः, अस्याश्च तत्सिद्धिरिति।

यच्चान्यत्—'यत् स्थूलं तद्भिद्यमानं घादि (घटादि) दृष्टम्, स्थूलं च अष्टाणुकम्, ततः तदपि भिद्यते तावद् अभिद्यमानभेदपर्यन्तमिति तत्सिद्धिः' इति; तदपि विलक्षणाभिधानम्; यतः अष्टा-

(१) अणुपरिमाणम्। "नित्यं परमाणुमनःसु, तत्तु पारिमण्डल्यम्। पारिमण्डल्यमिति तस्य नाम। तथाहि—परिमण्डलानि परमाणुमनांसि, तेषां भावः पारिमण्डल्यं तत्परिमाणमेव।"—प्रश० व्यो० पृ० ४७३। "पारिमण्डल्यमिति सर्वापकृष्टं परिमाणम्।"—प्रश०कन्द०—पृ० १३३।"पारिमण्डल्यं परमाणुपरिमाणम्।"—सप्तप० टी० पृ० ४९। मुक्ता० श्लो० १५। (२) कपालकपालिकादीनामपि। (३) सांख्यस्य। (४) ब्रह्मवादिनः। (५) 'निरस्यति' इति गतेन सम्बन्धः। (६) "प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यामन्वयव्यतिरेकयोः गतिः···"—प्र० वार्तिकाल० पृ० १८३। (७) प्रत्यक्षपूर्वकस्य। (८) अनुमानस्य। (९) यदीन्द्रियं न स्यात् तर्हि रूपादिज्ञानं न स्यादितिवत् यदि परमाणवो न स्युः तर्हि घटादिकार्यं कुतः स्यादिति। (१०) परमाण्वभावे। (११) स्थूल। (१२) "तथा कार्यादल्पपरिमाणं समवायिकारणं तस्याप्यन्यदल्पपरिमाणमित्यादि कार्यं निरतिशयपरमाणुपरिमाणैरारब्धमिति ज्ञायते।"—प्रश० व्यो० पृ० २२४। (१३) सूक्ष्मं वस्तु। (१४) अष्टाणुकात् स्थूलात्। (१५) परस्मात् सूक्ष्मात्। (१६) परमाणु।

णुकस्य भेदमतः परं न किञ्चिद् भवत्येव प्रमाणाभावात् । तन्न अणुसिद्धिः इति चेत् ; अत्र-प्रतिविधीयते–[१७७ख]

परिमाणस्य उत्कर्षातिशयात् विज्ञानंमहत्त्वपरिमाणकाष्ठासिद्धिवद् अपकर्षाविषयात् (र्षाति-शयात्) पुद्गलाल्पपरिमाणकाष्ठासिद्धिः । प्रयोगः–परिमाणस्य अपकर्षः कचित् परमकाष्ठावान् अतिशयवत्त्वात् तत्प्रकर्षवत् । न च साध्यशून्यो दृष्टान्तः, इतरथा सर्वज्ञाद्यभावः[3] प्रमाणबाधितो[4] भवेत् ।

यत्पुनरुक्तं परेण–तदपकर्षकाष्ठायां भावः किमास्ते, आहोस्वित् सर्वथा नश्यति इति न निश्चयोऽस्ति इति; तदसारम् ; सर्वथा तद्विनाशाभावात् युक्तिबाधनात् । [5]तत्प्रकर्षेऽपि दोषाच्च ।

कारिकां व्याचष्टे–**परमाणव** इत्यादिना । **परमाणवः 'समुपलक्ष्यन्ते'** इति सम्बन्धः, 'विशदावाधितरूपेण समीचीनेन **लक्ष्यन्ते**' इत्यस्य प्रदर्शनार्थम्–**सर्म**[6]; अभिधानम् । 'स्वयं स्वग्राहकज्ञानसामीप्यम् उपगता न आकारसमर्पणेन' इत्यस्य कथनार्थम् **उपस्यं**[7], 'निश्चीयन्ते न अविकल्पदर्शनेन दृश्यन्ते' इत्यस्य चं 'लक्ष्यन्ते' इत्यस्यं[8] । किं कुर्वाणाः किम् ? इत्याह–**स्थूलमेकं 'प्रत्यक्षमात्मानम्'** इत्यनुवर्त्तते । कचित् 'स्वभावम्' इति श्रूयते । पुनरपि किं कुर्वन् ? इत्याह–**पारिमण्डल्य** इत्यादि । सुगमम् । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**तथा** इत्यादि । **तथा** तेन अनन्तरप्रकारेण **परिणामात्**[9] । एतदपि कुतः ? इत्यत्राह–**नहि** इत्यादि । **हिः** यस्मात् **न तथा** तेन अनन्तरप्रकारेण **अपरिणतं तत्** तदनन्तरं वस्तु **भवति** । कुतः ? **विप्रतिषे-धात्** इति ।

प्रकृतनिगमनव्याजेन उपमानादीनां स्वाभ्युपगतज्ञाने अन्तर्भावं कुर्वन्नाह– **'तदेतद्'** इत्यादि ।

[[10]**तदेतत् उपमानादि मतिज्ञानप्रभेदलक्षणम् अवग्रहादिमतिस्मृतिसंज्ञाचिन्ताभिनि-बोधात्मकं द्रव्यपर्यायविषयं सामान्यविशेषविषयं च प्रागभिलापसंसर्गात् प्रमाणमविसंवा-दात् तद्विपरीतमपि तत्प्रभेदलक्षणम् । मिथ्याऽज्ञानम् अप्रमाणम् , यथा एकान्तविषयद-र्शनानुमानादिकमन्यद्वा ।**]

यत एवं **तत्** तस्मात् **एतद्** [१७८क] अनन्तरं निरूप्यमाणं **उपमानादि** 'ज्ञानम्' इति सम्बन्धः । तत् किम् ? इत्याह–**मतिज्ञान** इत्यादि । **मतिज्ञानस्य प्रभेदः** प्रपञ्चः स एव **लक्षणं** स्वरूपं यस्य तत्तथोक्तं मतिज्ञानविशेष इति यावत् । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**['अवग्रह' इत्यादि] अवग्रह आदिर्यस्याः** सा चासौ **मतिः** समासः, सा च **स्मृतिश्च संज्ञा च चिन्ता**

---

(१) यथा विज्ञानस्य उत्कर्षातिशयदर्शनात् पराकाष्ठासिद्धिर्भवति यथा वा परिमाणस्य अतिमहा-परिमाणरूपता च प्रसाध्यते तथैव । (२) "तथा घटादिकारणकारणेषु अल्पतरादिभावः क्वचिद्विश्रान्तः तरतमशब्दवाच्यत्वात् महापरिमाणवत् । यत्र विश्रान्तस्ते परमाणव इति ।"–प्रश० व्यो० पृ० २२४ । प्रश० कन्द० पृ० ३१ । न्यायकुमु० पृ० २१७ । स्या० रत्ना० पृ० ८७० । (३) सर्वज्ञ-महत्त्वपरिमाण-योरभावो भवेत्, यश्च प्रमाणबाधितः । (४)पदार्थस्य नाशाभावात् । (५) परिमाणप्रकर्षेऽपि इयं दुष्कल्पना भवेत् । (६) उपसर्गस्य । (७) कथनम् । (८) प्रदर्शनार्थम् । (९) कथनम् । (१०) चूर्णिप्रकरणमेतत् ।

च अभिनिबोधश्च ते आत्मानो यस्य तत्तथोक्तम्। एतच्च तत्प्रभेदविशेषणमपि साधनं द्रष्टव्यम्, ततः तज्ज्ञानं तदात्मकत्वात् मतिप्रभेदलक्षणम् इति ।

ननु उपमादीनादीनां तत्रान्तर्भावो निरूपयितुमारब्धः तत्किमर्थम् अवग्रहादिमतिस्मृतिग्रहणमिति चेत् ? सत्यम् ; तथापि प्रसिद्धसंज्ञादिज्ञानोत्पत्तिक्रमस्य उपमानादौ प्रदर्शनार्थं तद्ग्रहणमित्यदोषः । तथाहि—यथैव पूर्वपर्यायाऽवग्रहाद्याहितसंस्कारस्यै परपर्यायावग्रहात् पूर्वपर्यायस्मृतौ प्रसिद्धसंज्ञाचिन्ताऽभिनिबोधाः तथैव गवयसदृशगवाद्यवग्रहाद्याहितसंस्कारस्य पुनर्गवयाद्यवग्रहाद् गोस्मरणे सति 'तेन सदृशोऽयम्' इति ज्ञानं जायते इति संज्ञातो न भिद्यते । एतेन वैलक्षण्यसंख्यादिज्ञानं चर्चितम् ।

ननु च अवग्रहादिमतिस्मृतिप्रभवस्य ज्ञानस्य संज्ञात्मकत्वे सर्वतो व्यावृत्तस्य घटस्य अवग्रहात् संस्कारे पुनः तथाविधस्य भूतलादेरवग्रहाद् अवगृहीतघटस्मरणाद् 'इह स घटो नास्ति' इति ज्ञानं संज्ञा भवेत् , न चैवम्, सादृश्यैकत्वप्रत्यवमर्शस्यैव तत्त्वोपगमात् *"प्रत्यभिज्ञा द्विधा" [न्यायवि० २।५०] इत्यादि वचनात । तस्माद् अभावाख्यं तत् प्रमाणान्तरमिति मीमांसकः । तदुक्तम्—

*"गृहीत्वा वस्तुसद्भावं [१७८ख] स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् ।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायते अक्षानपेक्षया ॥"
[मी० श्लो० अभावप० श्लो० २७] इति चेत्;

तन्न सारम्; तस्यापि तत्त्वोपगमात्, दृष्टप्रत्यवमर्शात्मकत्वात् । *"प्रत्यभिज्ञा द्विधा" [न्यायवि० २।५०] इत्यादि तु वचनम् एकत्ववत् सादृश्ये प्रत्यभिज्ञात्वप्रतिपादनार्थं न परिगणनार्थम्, इतरथा *"मतिस्मृति—" [त० सू० १।१३] इत्यादि सूत्रम् अध्यापम् (अन्याय्यं) भवेत् ।

स्यान्मतम्, घटभूतलयोः अन्योन्यविवेकस्य तत्प्रत्यक्षाभ्यां गोगवययोः सादृश्यवत् प्रतीतौ पुनः तत्प्रत्यवमर्शः प्रत्यभिज्ञानं भवेत्, न चैवं मानसनास्तिताज्ञानादेव तत्प्रतीतेः । तथा चोक्तम्—

*"न तावदिन्द्रियेणैषा नास्तीत्युत्पाद्यते मतिः ।
भावांशेनैव सम्बन्धो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि ॥"
[मी० श्लो० अभावप० श्लो० १८] इति चेत्;

तन्न युक्तम्; भावांशवद् इतरस्यापि प्रत्यक्ष एव । प्रतियोगिनः सर्वान्यसंसृष्टस्य स्मरणे न कचित् प्रतिषेधः, अभ्युपगमबाधनात् । तदसंसृष्टस्य स्मरणं तथा पूर्वमनुभवे, अन्यथा अति-

---

(१) उपमानादिज्ञानम् । (२) अवग्रहाद्यात्मकत्वात् । (३) मतिज्ञाने । (४) पुरुषस्य । (५) उत्पद्यन्ते । (६) उपमानम् । (७) सर्वतो व्यावृत्तस्य । (८) प्रत्यभिज्ञानत्वोपगमात् । (९) सादृश्यविनिबन्धना, एकत्वविषया च । (१०) शुद्धभूतलं वस्तु । (११) यस्य अभावः क्रियते सः प्रतियोगी तम् । (१२) प्रत्यभिज्ञानत्वस्वीकारात् । (१३) घट-भूतलग्राहिप्रत्यक्षाभ्याम् । (१४) अभावप्रतीतेः । (१५) अभावस्यापि । (१६) प्रतीतेः ।

प्रसङ्गः । तत्रापि तदन्यप्रतियोगिस्मरणात् तथाप्रतिपत्तौ अनवस्था । घटविविक्तभूतलस्मरणादिति चेत् ; अन्योऽन्यसंश्रयः, ततो यत्किञ्चिदेतत् । तथा अवग्रहादिमतिस्मृतिसंज्ञाभ्यो जायमानं ज्ञानं चिन्तात्मकत्वात् तत्प्रभेदलक्षणं न योगिप्रत्यक्षम् , तस्य तद्विरोधात् ।

एतेन 'मानसं प्रत्यक्षं तत्' इति निरस्तम् । चक्षुरादिप्रत्यक्षसामग्रीतो भिन्नसामग्रीप्रभवत्वाच्च । तथापि तत्त्वे अतिप्रसङ्गः ।

तद्वत् चिन्ताप्रभवत्वाद् अर्थापत्तिरपि प्रसिद्धा [१७९क] अनुमानवत् तत्प्रभेदलक्षणम् अभिनिबोधात्मकत्वात् ।

स्यान्मतम्—एकत्वप्रत्यवमर्शः प्रत्यभिज्ञानम्, न सादृश्यादिप्रत्यवमर्शस्य तत्प्रभेदलक्षणे अन्तर्भाव इति चेत् ; अत्राह—द्रव्य इत्यादि । अस्यायमर्थः—यस्मात् तदेतद् विज्ञानं परेण उच्यमानं **द्रव्यपर्यायविषयं सामान्यविशेषविषयं च** तस्मात् यथोक्तं (तथोक्तम्) । सामान्यं हि सादृश्यमेव तद्विषयं च ज्ञानं परेणापि प्रत्यभिज्ञानमिष्यते इति मन्यते । किं सर्वं तन्न लक्षणं (तत्तल्लणम् ?) न इत्याह— **प्राग् अभिलापसंसर्गात्** इति । गवयादिशब्दयोजनात् [प्राक्] यज्जायते उपमानादिज्ञानं तत् न पुनः 'सोऽयं गवयशब्दवाच्यः' इत्यादि ज्ञानम् इति भावः । न केवलं तत् तल्लक्षणमेव किन्तु प्रमाणमपि इति दर्शयन्नाह—**प्रमाणम्** । **च** शब्दोऽत्र द्रष्टव्यः । कुतः ? **अविसंवादात्** । अन्यदपि ज्ञानं तत्प्रभेदलक्षणं दर्शयन्नाह—**तद्** इत्यादि । तस्माद् उक्ताद् उपमानादेः **विपरीतं** 'गोरिव गवयः' इत्याद्यागमाहितसंस्कारस्य 'शाखादिमान् वृक्षः क्षीराम्भःप्रविवेचनतुण्डो हंसः' इत्याद्यागमाहितसंस्कारस्य च नैयायिकाद्युपमानादिज्ञानं तदपि द्रव्यादिविषयं सत् **तत्प्रभेदलक्षणं प्रमाणं वादादिति (णमविसंवादादिति)** सम्बन्धः ।

साम्प्रतमप्रमाणं दर्शयन्नाह—**मिथ्याऽज्ञानम्** इति । **मिथ्या** 'अवग्रहादिमतिस्मृतिसंज्ञाचिन्ताभिनिबोधात्मकं ज्ञानम्' इति **अज्ञानम् अप्रमाणम्** प्रमाणं न भवति 'मत्यज्ञानत्वात्' इति द्रष्टव्यम् । अत्र निदर्शनमाह—**यथा** इत्यादि । **एकान्तस्य विषयस्य** सम्बन्धि **दर्शनाऽनुमानादिकम्** आदि [१७९ख] शब्देन आगमपरिग्रहं तद्यथेति (हः तदिवेति) । **अन्यद्वा** स्वप्नादिज्ञानं वा । अनेन लौकिकशास्त्रीयदृष्टान्तद्वयं दर्शयति ।

यदि वा, अन्यथा पूर्वपक्षयित्वा एतद् ज्ञातव्यम्, तद्यथा पूर्वप्रस्तावद्वये यदवग्रहादिधारणापर्यन्तं ज्ञानं चिन्तितम्, यच्च **'प्रमाणम् अविसंवादिस्मृतिः'** इत्यादिना स्मरणम् अस्मिन्, चतुर्थप्रस्तावे प्रत्यभिज्ञानं निरूपयिष्यमाणम्, तत्रैव लेशतः क्रमप्राप्तप्रस्तावावशेन **"भूताभव्याः"** इत्यादिना पूर्वं चिन्तितं [तर्क] ज्ञानम्, षष्ठे चिन्तयिष्यमाणम् अनुमानं च, पञ्चसु ज्ञानेषु क्व अन्तर्भाव्यतामिति ? तत्राह—**तदेतद्** इत्यादि । **तदेतत्** निरूपितं निरूपयिष्यमाणं च ।

---

(१) असंसृष्टत्वप्रतिपत्तौ । (२) घटविविक्तभूतलस्मरणाद् घटस्य भूतलासंसृष्टताप्रतिपत्तिः, घटस्य भूतलासंसृष्टताप्रतिपत्तौ च घटविविक्तभूतलस्मरणमिति । (३) मतिप्रभेदात्मकम् । (४) अभावज्ञानम् । (५) न तत् प्रत्यक्षात्मकम् । (६) मतिज्ञानप्रभेदलक्षणम् । (७) मीमांसकादिनापि । (८) मतिज्ञानम् । (९) पुनस्तु श्रुतमेव । (१०) पुंसः । (११) मतिज्ञानप्रभेदलक्षणम् । (१२) तृतीयप्रस्तावे । (१३) तृतीयप्रस्तावे । (१४) पृ० १८७ । (१५) मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानेषु ।

किम् ? **ज्ञानम्** । तत् किम् ? इत्याह–**[मति]ज्ञानप्रभेदलक्षणं** मतिज्ञानाऽन्तर्भूतमित्यर्थः । किम्भूतम् ? इत्याह–**अवग्रहादि** इत्यादि । पुनरपि कथंभूतम् ? इत्याह–**द्रव्य** इत्यादि । किं सर्वम् ? न, इत्याह–**प्राग्** इत्यादि । तत्संसर्गाद्[1] ऊर्ध्वं 'श्रुतम्' इति मन्यते ।

ननु च पूर्वम् अत्र अन्यत्र च स्मरणादि सर्वं 'श्रुतम्' इत्युक्तम्, तत्कथन्न विरोध इति चेत् ? न विरोधः, मुख्यश्रुतसाधर्म्याद् उपचारेण तथाभिधानात्[2] । तच्च प्रमाणम् । कुतः ? **अविसंवादात्** । सर्वं तर्हि तदात्मकं ज्ञानं तल्लक्षणं प्रसक्तम् ; इत्याह–**तद्विपरीतम्** इत्यादि । **तत्** तस्मात् द्रव्यादिविषयात् तदात्मकाज्ज्ञानाद् **विपरीतं** विलक्षणं 'ज्ञानम्' इत्यनुवर्त्तते **प्रत्यक्षज्ञानं** मतिज्ञानं न भवति । कुतः ? **अप्रमाणं** यतः द्रव्यादिविषयं न भवति इत्यभिप्रायः । शेषं पूर्ववत् ।

क्वचित्पुस्तके–*"**प्रमाणमेक[१८०क] मध्यक्षमगौणमपरे विदुः**" इत्यादि सकलं चू र्णि प्र क र ण मस्ति, तत् कैश्चिन्नै[3] व्याख्यातं, वद्गलं (?) पौनरुक्त्यस्य अप्रस्तुताभिधानस्य च तत्र भावात् ।

ननु यदुक्तम्–"**मतिज्ञानप्रभेदलक्षणं ज्ञानं प्रमाणम् अविसंवादकत्वात्**' इति; तदयुक्तम्; क्वचिद् अ[वि]संवादाभावात् । तथाहि–[न] दृष्टस्य पुनः प्राप्तिः अस्ति, भवतु वा सा स्वप्नेऽप्यस्ति । यदि पुनरसौ न तत्प्राप्तिः, कथम् अन्या ? विशेषाऽभावात् । अथ अर्थदर्शनम् अविसंवादो न तत्प्राप्तिः[4]; इदमपि तादृगेव, विप्लवेऽपि[5] अस्य भावात् । अथ अर्थतद्व्यवस्था विपक्षवत्; तत्प्रतीतिश्च प्रत्यक्षतः अनुमानतो वा गत्यन्तराभावात् ? परपर्यनुयोगोऽपि नातो युक्तः असम्बद्धप्रलापित्वप्रसङ्गात् । भवतु तत एव सा इति चेत् ; द्रव्यते (उच्यते)–

[ज्ञानी येनातिशेते भवभृतमितरं तत्प्रमाणं समन्तात्,
हेयोपादेयसिद्धौ न पुनरनुभवोऽभूतकल्पोऽविकल्पः ।
स्यात्प्रत्यक्षस्मृत्यभिज्ञा स्वपरविषयतर्कानुमात्मा मतिः,
चिन्ताऽचिन्त्यात्मिकेयं कलयति विषयादन्यमन्यत्र सिद्धौ॥२४॥]

ज्ञानी प्रत्यक्षादिज्ञानवान्, **येन** प्रत्यक्षादिज्ञानेन **अतिशेते** विजयते, अन्येन तदतिशायनाऽयोगात् ज्ञानेन इति लभ्यते । कमतिशेते ? इत्याह–**भवभृतम्** अविद्याविलासिनीदर्शिताऽनेकजन्मादिविभ्रमप्रपञ्चम् । कथंभूतम् ? इत्याह–**इतरम्** अज्ञानिनं विभ्रमान्ये (मात्तम् ए)कान्ततत्त्वे विपर्यासान[ध्य]वसायोपपन्नं नैयायिकादिकम् । तत् किम् ? इत्याह–**तद्** इत्यादि । स येन तम् अति [शेते] तत् 'तत्' इत्यनेन परामृश्यते, **तत्प्रमाणम्**, अन्यथा कुतस्ततः स्वेष्टसिद्धिः बहिरर्थवदिति मन्यते । किमर्थम् ? इत्यत्राह–**समन्तात्** इत्यादि । **समन्तात्** सर्वतो **हेयं** यत्तत्त्वं सत्येतरप्रविभागलक्षणं यच्च **उपादेयं** विभ्रमाद्य(द्वै)कान्तरूपं तयोः **सिद्धौ** तत्सिद्धिनिमित्तम् । एतदुक्तं भवति–यदि न किञ्चित् प्रमाणम् कुतः अभिमत[१८०ख]सिद्धिः ? तदस्ति चेत् ; साकल्येन प्रमाभङ्गविधानविरोधः इति ।

---

(१) शब्दसंसर्गात् । (२) श्रुतत्वाभिधानात् । (३) व्याख्यातृभिः । (४) अर्थप्राप्तिः । (५) मिथ्याज्ञानेऽपि । (६) प्रमाणमस्ति ।

अपरस्तु आह—न किञ्चिद् विज्ञानं प्रमाणम् नाप्यप्रमाणं सकलविकल्पातीतत्वात् तत्त्वस्य[1], तस्य च स्वसंवेदनाध्यक्षप्रमाणतः सिद्धेः, नापि प्रमाभङ्गविधानविरोधः बहिः तद्विधानात्[3] इति। तत्राह—**न पुनः** इत्यादि। **न पुनः** नैव **अनुभवः** 'प्रमाणम्' इति सम्बन्धः। क? इत्याह—**हेयोपादेयसिद्धौ** हेयं सकलविकल्पतत्त्वं उपादेयं तद्रहितं[4] संवेदनमात्रम्, तत्सिद्धौ इति। किंभूतोऽनुभवः? इत्याह—**अविकल्प** इति। न विद्यते सत्येतरादिविकल्पो भेदो यस्य स तथोक्तः। कुतः? इत्यत्राह—**अभूतकल्प** इति। अभूतम् अजातं कुतश्चित् कारणात् ब्रह्मादि तत्त्वं नित्यं तत्समानः। एतच्च[5] विशेषणमपि हेतुत्वेन द्रष्टव्यम्—अभूतकल्पत्वाद् इति। कथमभूतकल्प इति चेत्? उच्यते—यथैकस्य अनेकात्मताभयात्[6] नीलादिसुखादिभ्यो व्यतिरिच्यमानशरीरं सर्वविकल्पातीतं केनचिद् ब्रह्मतत्त्वमिष्यते[7] तथा तर्तं एव संवेदनतत्त्वं तथाविधं निरंशं क्षणिकं सौगतेन अभ्युपगन्तव्यम्, तद्वदेव। तच्च न स्वपरव्यवस्थाहेतुः इति न प्रमाणमिति।

ननु न मयैं परेणं वाऽदृष्टमेवं तदभ्युपगम्यते येनायं दोषः स्यात्, अपि तु यथाप्रतिभासमिति चेत; अत्राह—**प्रत्यक्ष** इत्यादि। **प्रत्यक्षं** अवग्रहादिधारणापर्यन्तम्, अस्यैव प्रकृतत्वात् **स्मृतिश्च अभिज्ञा** च, **स्वं** च **परश्च** स्वपरौ तौ **विषयौ** यस्य स तथोक्तः, स चासौ **तर्कश्च** स च **अनुमा** च ता **आत्मानो** यस्याः सा तथोक्ता **मतिः स्याद्** भवेत् 'प्रमाणम्' इति [१८१क] सम्बन्धः। अनेन एतत् कथयति—यदि यथाप्रतिभासं संवेदनं प्रमाणमिष्यते; तर्हि यथोक्ता मतिः प्रमाणयितव्या तस्या[10] एकत्र दर्शनादिप्राप्तिपर्यन्तव्यवहारोपयोगित्वेन प्रतिभासनात्। अथ अतिसूक्ष्मपरीक्षया व्यवतिष्ठमानं तद् ब्रह्म न किञ्चिद् व्यवस्यात् (व्यवस्येत्) परस्य गत्यन्तराभावात् इति।

ननु स्वपरशब्देन किमर्थं **तर्क** एव विशेष्यते नान्यत् प्रत्यक्षादिकम्, तदपि [11]तथाविधमेव जैनस्येति चेत्; सत्यम्; यस्तथा नेच्छति तं प्रति तस्य तथाविधप्रसाधनाय तर्को दृष्टान्तीकर्तुं तथा विशेष्यते। यथा तर्कः स्वपरविषयः [12]ततः साकल्यव्याप्तिं साध्यसाधनयोः परेण इच्छता अभ्युपगम्यते तथा प्रत्यक्षादिकमभ्युपगन्तव्यमिति निराकृतमेतत्—*"नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्याऽस्ति" [प्र० वा० ३।३२७] इत्यादि[13]। कथं तर्कस्तद्विषयः[14]? इत्यत्राह—**चिन्ता** इत्यादि। **चिन्ता** इति तर्कस्य संज्ञा [15]पूर्वाचार्यप्रसिद्धया। **चिन्ता** तर्कोऽचिन्त्यात्मिका अचिन्त्यः कथमेवं विधे(विधे)यम् इत्यविचार्यः आत्मा स्वभावो यस्याः सा तथोक्ता इयं प्रत्यनुमातृ प्रत्यक्षप्रमाणपरिच्छेद्या। कुतः **अचिन्त्यात्मिका**? इत्यत्राह—**कलयति** इत्यादि। **कलयति** अध्यवस्यति यतः। किम्? **अन्यम्** अर्थान्तरम्। कुतोऽन्यम्? इत्याह—**विषयात्** प्रत्यक्षादि-

(१) "तस्मान्न परमार्थतः किञ्चिदस्तीत्यस्तु यथा तथा संवृत्या एतावतापि प्रमाणाप्रमाणव्यवस्थितिर्न काचित् क्षतिः। अभिप्रेत एव भवत्पक्षोऽस्माकमिति न वस्तुतत्त्वमतिक्रम्य वर्तितुं शक्यम्।"—प्र० वार्तिकाल० पृ० १८६। (२) संवेदनाद्वैतस्य। (३) प्रमाणादिनिषेधकरणात्। (४) सकलविकल्पातीतम्। (५) अद्वैतवादिना। (६) एकस्य अनेकात्मकताभयात्। (७) अद्वैतवादिना। (८) सौगतेन। (९) अदृष्टम्—अप्रामाणिकम्। (१०) मतेः। (११) स्वपरविषयकमेव। (१२) तर्कात्। (१३) "तस्या नानुभवोऽपरः। ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते॥" इति शेषः। (१४) स्वपरविषयः। (१५) उमास्वाम्यादिना तत्त्वार्थसूत्रादौ निर्दिष्टा।

गोचरात् अन्यं परोक्षमित्यर्थः । क ? इत्याह–**अन्यत्र** स्वदेशाद् अन्यदेशे, उपलक्षणमेतत् तेन अन्यदा च इति गृह्यते । किमर्थं कलयति ? इत्याह–**सिद्धौ** निर्णीतौ अन्यस्य अन्यत्र सिद्धिनिमित्तमित्यर्थः । अस्याऽनभ्युपगमे साकल्येन हेतोः साध्येन व्याप्तेरसिद्धेः–*"**यद्ध्व-भासते तत् ज्ञानं यथा सुखादि**" [११८ख] इत्याद्यनुमानं प्रतिहतप्रसरं भवेत् । न च स्वांशमात्रावलम्बिना *"**जडस्य प्रतिभासायोगात्**" इत्यादिना विचारेण तत्सिद्धिः, अन्यथा नीलज्ञानात् पीतादिसिद्धिः स्यादित्यलं प्रसङ्गेन ।

अथवा, सविकल्पकप्रत्यक्षपक्षे स्मृतेर्गृहीतग्राहकत्वेऽपि '**न प्रयोजनविशेषात्**' इत्यादिना प्रामाण्यं व्यवस्थाप्य संप्रति परपक्षोक्तं तस्यै गृहीतग्राहित्वं निराकुर्वन्नाह–**ज्ञानी** इत्यादि । ज्ञानी सचेतनो **येन** स्वभावेन **अतिशेते** । किम् ? इत्याह–**इतरम्** अचेतनं घटादिकम्, येन स्वभावेन ततो भिद्यत इत्यर्थः । ननु स्वग्रहणविमुख्येन अर्थग्रहणात्मना धर्मेण तम् अतिशेते स इति, सोऽपि धर्मः प्रमाणं स्यादिति चेत्; अत्राह–**भवभृतम्** इति । **च** शब्दोऽत्र द्रष्टव्यः, भवभृतं च महेश्वरपोषकं नैयायिकादिकं **तत्** प्रमाणं स्वपरव्यवसायज्ञानं प्रमाणमित्यर्थः । किमर्थम् ? इत्याह–**समन्नाद्** इत्यादि । व्याख्यातमेतत् । अविकल्पानुभवेन मतं (स तम्) विजयते अतः स प्रमाणम्, इत्यत्राह–**न पुनः** इत्यादि । **अभूतकल्पः** अभूतोऽजातः खरविषाणादिः ईषदसिद्धः, अभूतकल्पः **अविकल्पोऽनुभवः** न प्रमाणम् नार्थपरिच्छेदकः । प्रयोगः–अविकल्पोऽनुभवः न कस्यचिद् ग्राहकः, असत्त्वात्, गगनकुसुमवत् इति । अतः कथं तद् गृहीतं किञ्चिद् विज्ञानं गृह्णीति, (गृह्णाति) नान्यथा सोऽपि अन्यगृहीतं गृह्णाति इति स्यात् तदन्यवत् । अविकल्पानुभवस्यापि नानुभवः; तदनुभवस्य अप्रमाणत्वे [१८२क] न किञ्चित् प्रमाणं भवेत् । अन्यस्य कस्यचिदनुपलम्भेन असत्त्वाद् इत्यपरः । तं प्रत्याह–**प्रत्यक्ष** इत्यादि । विवृतम्, अस्याः प्रतिभासादिति मन्यते । निर्विकल्पानुभूतविषयत्वात् स्मृतिः अप्रमाणमिति ।

अत्रैव दूषणान्तरं दर्शयन्नाह–**चिन्ता** इत्यादि । **चिन्ता** परकीया **इयं** गृहीतग्राहिज्ञानं सर्वं प्रमाणम् इत्येवं रूपा[S]**चिन्त्यात्मिका**[S]चिन्त्यस्वभावा मानत्राणरहितातायाः भर्तृत्राणहीनायाः कुलयोषित इव तद्रूपत्वात् । कुत एतत् ? इत्याह–**कलयति** इत्यादि । **अन्यत्र** अन्यस्याः **सिद्धौ** गृहीतौ, **अन्यत्र** इति वचनात् 'सूरेर्मनसि काचिद् विवक्षिता सिद्धिर्वर्त्तते इति गम्यते । **अन्यत्र** इत्यस्य संबन्धिशब्दान् (त्वात्) ततो विवक्षितसिद्धिविषयाद् **अन्यं** विषयान्तरम् एकान्तेन **कलयति** अध्यवस्यति यतः, न चैवमस्ति इति मन्यते । देशादिभेदेन एकत्रार्थे अनेकसिद्धिसंभवात्, न च सा प्रमाणं ततोऽप्रवृत्तिप्रसङ्गात् । क्षणिकत्वादर्थस्य नैवं चेत्; न; अत्र प्रमाणाभावात् । पूर्वोत्तरयोः मध्ये तस्यै च तत्रं अनुपलब्धिः प्रमाणमिति चेत्; न; अस्याः क्षणिकनिरंशपरमाणुतत्त्वैकान्ते सर्वथाऽसिद्धेः युगपत् स्वावयवात्मकघटादितत्त्वसमयेऽपि[11] नितरां तत्र प्रत्यक्षाद्यात्मिकायाः मतेः प्रमाणत्वात् ।

(१) संवेदनाद्वैतसिद्धिः । (२) पृ० १७५ । (३) स्मरणस्य । (४) अचेतनम् । (५) अचेतनम् । (६) निर्विकल्पकगृहीतम् । (७) वस्तु । (८) अकलङ्कदेवस्य । (९) मध्यस्य क्षणस्य । (१०) पूर्वोत्तरयोः । (११) जैनमतेऽपि ।

यदि वा, अन्यथा पूर्वपक्षयित्वा इदं वृत्तं व्याख्यातव्यम् । ननु प्रत्यक्षमेव एकं प्रमाणम् तत्किमर्थं तदनन्तरं स्मरणादि प्रमाणत्रयमत्र चिन्त्यते इति चेत् ; अत्राह—**ज्ञानी** इत्यादि । **ज्ञानी** परीक्षावान् स्वयं [१८२ख] चार्वाको **येन** अनुमानज्ञानेन **अतिशेते** । कम् ? इत्याह—**भवभृतम्** भवः संसारः तं बिभर्त्ति पुष्णाति समर्थयत इति भवभृत् जैनादिः तम्, इतरवत् निषेधकम् स्वशिष्यादिकम् **अतिशेते** ततो विशेषं लभते । तदनुमानज्ञानं प्रमाणं किमर्थम् ? इत्याह—**समन्तात्** इत्यादि । **समन्तात्** साकल्येन **हेयस्य** परलोकदेवताविशेषधर्माऽधर्म-प्रमाणान्तरादेः **उपादेयस्य** भूतचतुष्टयैपरचैतन्य-मुख्यप्रत्यक्षप्रमाणादेः **सिद्धौ** निर्णीतिनिमित्तम् ।

ननु प्रत्यक्षानुभवादेव तत्सिद्धिः इति सैं एव प्रमाणमिति चेत् ; अत्राह—**न पुनः** इत्यादि । **न पुनः** नैव **अनुभवः** प्रत्यक्षज्ञानं प्रमाणं **'हेयोपादेयसिद्धौ'** इत्यनुवर्त्तते । किंभूतः ? **विकल्पः निर्णयात्मा** परापेक्षया इदमुक्तम् । पुनरपि किंभूतः ? इत्याह—**भूतकल्प** इति । भूतानि पृथिव्यादीनि तत्कल्पः तत्सदृशः । एतदुक्तं भवति—यथा पृथिव्यादीनि भूतानि स्वयम् अचेतनानि न हेयोपादेयसिद्धौ प्रमाणम्, अन्यथा ज्ञानकल्पनमनर्थकं स्यात्, तथा अनुभवोऽपि तदुपादानतया स्वयमचेतनो न तत्र प्रमाणम् । न खलु अचेतनोपादानं चेतनं युक्तम्, इतरथा अचेतनात् मृत्पिण्डात् चेतनो घटः स्यात् । तथा च प्रयोगः—यदचेतनोपादानं न तत् चेतनं यथा घटादि, अचेतनतोपा(नोपा)दानं च परस्यं ज्ञानमिति । ननु तदुपादानत्वेऽपि तस्यं चिद्रू-पतया प्रतीतेः प्रत्यक्षबाधितः पक्षः इति चेत् ; मृत एव विज्ञानात् तस्य तथात्वप्रतीति गस्त्य-त्तावदेतत् (रास्तां तावदेतत) चतुर्थपरिच्छेदे [१८३क] निरूपयिष्यामाणत्वात् । यदि वा भूतानि कल्प्यन्ते व्यवस्थाप्यन्ते विषयीक्रियन्ते येन स **भूतकल्प** इति व्याख्येयम् । न च तस्यैं तत्सिद्धौ सामर्थ्यं परलोकादेः अतद्विषयत्वात् । नापि यद् यद्विषयं न भवति तत्तस्य निषे-धकं व्यवस्थापकं वा अतिप्रसङ्गात् ।

ननु भवतु अनुमानं प्रमाणम्, तथापि प्रकृते क उपयोग इति चेत् ? अत्राह—**प्रत्यक्ष** इत्यादि । व्याख्यातमेतत् । अत्रायमभिप्रायः—अनुमानं प्रमाणमिच्छता पूर्वं लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धदर्शनम्, पुनः क्वचित् प्रायो लिङ्गदर्शनम्, सम्बन्धस्मृतिः, प्रत्यभिज्ञानम्, तर्कः, पुनः अनुमानमित्यभ्युपगन्तव्यम् । अनुमानवच्च स्वविषयस्मृत्यादिकमपि प्रमाणमिति चेति ।

ननु च प्रत्यक्षेण लिङ्गलिङ्गिनोः साकल्येन सम्बन्धप्रतिपत्तौ प्रतिपत्तुः सर्वज्ञत्वम्, तेनैव अनुमानेन प्रतिपत्तौ अन्योऽन्यसंश्रयः, तदन्तरेण अनवस्था, तत्कथं सम्बन्धप्रतिपत्तिः यतोऽनुमा-नमिति चेत् ; अत्राह—**चिन्ता** इत्यादि । **चिन्ता** इत्यन्वर्थसंज्ञाकरणात् तर्कस्य मानसविकल्प-त्वोपवर्णनम्, प्रत्यक्षत्वनिषेधे तेनैं साकल्यव्याप्तिं प्रतिपद्यमानस्य जैनस्य सर्वज्ञत्वं नाऽनिष्टाय अभ्युपगमात् इति दर्शयति अनेन । तदुक्तम्—

---

(१) चार्वाकः । (२) भूतचतुष्टयात्मकं यत् परचैतन्यम् । (३)अनुभव एव । (४) भूतोपादानतया । (५) चार्वाकस्य । (६) ज्ञानस्य । (७) प्रत्ययस्य । (८) सिद्धे सम्बन्धे अनुमानोत्थानम्, तस्मिंश्च सम्बन्धसिद्धिः । (९) अनुमानान्तरेण व्याप्तिप्रतिपत्तौ । (१०) मानसविकल्पेन ।

*"अशेषविदिहि ध्य(विदिहेध्य)ते सदसदात्मसामान्यवित् ।
जिन प्रकृतमानुषोऽपि किमुत अखिलज्ञानवान् ॥"

[पात्रकेसरिस्तोत्र श्लो० १९] इति ।

'**अचिन्त्यात्मिका**' इत्यनेन च विषयोत्पत्तिसारूप्ययोः लिङ्गाश्रितत्वस्य च अभावेऽपि योग्यतया स्वविषयपरिच्छेदान्न तत्पक्षभावी दोषः । '**इयम्**' इत्यनेनापि तस्याः प्रत्यात्मं स्वसंवेदनाध्यक्षवेद्यतया निषेधने[2] प्रत्यक्षबाधनम् । [१८३ख] सा किं करोति ? इत्याह—**कलयति** साकल्येन अवधारयति । किम् ? **अन्यं** साधनं साध्यात् तस्य अन्यत्वात् । किम् ? **अर्थसिद्धौ** सिद्धिनिमित्तम् । क ? **अन्यत्र** । साधनात् **अन्यत्** साध्यं तत्र अनुमाननिमित्तमिति यावत् । कुतः ? इत्याह—**विषयात्** इति । यथा 'मातरि वर्त्तितव्यम्, पितरि शुश्रूषितव्यम्' इत्युक्ते 'स्वस्यां स्वस्मिन्' इति गम्यते तथा '**विषयात्**' इत्युक्तेऽपि 'स्वविषयाद् अन्यथानुपपन्नत्वलक्षणात्' इति गम्यते इति ।

इति र वि भ द्र पादकञ्जभ्रमर अ न न्त वी र्य विरचितायां
सि द्धि वि नि श्च य टी का यां प्रमाणान्तरसिद्धिः तृतीयः प्रस्तावः ॥छ॥

---

(१) हे जिन, यदा सामान्यमनुष्योऽपि सत्त्वसामान्येन सर्वं वस्तुजातं जानन् सर्वज्ञो भवति तदा अखिलज्ञानवान् यदि सर्वज्ञो भवेत् किमत्र चित्रम् । (२) यदि निषेधः क्रियते तदा ।

[चतुर्थः प्रस्तावः]

[४. जीवसिद्धिः]

एवं तावत् *"प्रमाणस्य साक्षात् सिद्धिः स्वार्थविनिश्चयः" [1]इत्यपेक्ष्य स्मरणं प्रमाणान्तरं सप्रपञ्चं चिन्तितम्। साम्प्रतम्–*"पूर्वं पूर्वं प्रमाणं स्यात् फलं स्यादुत्तरोत्तरम्" [लघी०श्लो० ७] [2]इत्यभिसमीक्ष्य तदेव प्रत्यक्षा(प्रत्यभिज्ञा)फलजननात् चिन्तयितुं प्रत्यभिज्ञानं च आत्मसिद्धिपुरस्सरं तर्कजननात् प्रज्ञावादौ (प्रस्तावादौ) **विज्ञातान्** इत्यादि (इत्याह)–

[विज्ञातान् विषयानशेषकरणैः स्मृत्वा मनोऽभिज्ञया ,
तर्कं तर्कितगोचरेतरविधिं नीत्वाऽभितो बुध्यते ।
श्रोत्रादिसमुपेतमेव विषयीकुर्वीत चक्षुर्न वै,
[3]पश्यत्येव हि सान्तरं पृथुतरं रश्मेः कुतो निःसृतिः ॥१॥]

मन्यते बुध्यते अर्थान इति **मनः** आत्मा। स किं करोति ? इत्याह–**बुध्यते** जानाति, न निरन्वयज्ञानसन्तानः प्रकृतिपरिणामो[4] व्यवसायः पृथिव्यादिर्वा[5] इति मन्यते। न चेदमत्र मन्तव्यम् 'सुखादिव्यतिरेकेण नात्मा अस्ति तत्कथमसौ बुध्यते' ? सुखादेः आत्मत्वेऽविप्रतिसार[6] इति कुतः ? *"प्रत्यक्षं क्षणिकं चित्रविषयाकारैकसंवेदनम्" [सिद्धिवि० २।३] इत्यादिना तद्व्यवस्थापनात्। वक्ष्यति च तत्सिद्धिम् [१८४क] अनन्तरमेव। किं बुध्यते ? इत्याह–**विषयान्** इति। द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थान् न विषयार्पितस्वाकारान्। ततो यदुक्तं केनचित्–*"येन वेद्यते तत्ततो न भिद्यते यथा तस्यैव वेदकस्य स्वरूपम्, वेद्यते च आत्मना नीलादिकम्" इति ; तदनेन निरस्तम् ; पक्षस्य प्रत्यक्षबाधनात्, वेदकस्य अहमहमिकया [7]अन्यत्र अन्यत्र च घटादेर्दर्शनात्, [8]इतरथा 'कोकिलकुलं धवलं पक्षित्वाद् बलाकावत्' इत्यपि स्यात्। अथ कथम् आत्मा [9]ततो भिन्नः अतदायत्तस्तात्वेति (त्तस्तत्त्वतोऽस्ति) ? तथादर्शनात्, कथमन्यथा अर्थस्तथाविधः [10]तज्जनकः ? योग्यता अन्यत्रापि न वार्यते। शेषमत्र चिन्तितम्।

एतेन यदुक्तं सांख्येन–*"इन्द्रियाणि अर्थमालोचयन्ति, अहङ्कारोऽभिमन्यते, मनः संकल्पयति, बुद्धिः अध्यवस्यति पुरुषश्चेतयते" इति[11] ; तन्निरस्तम् ; बुद्ध्याकारवद् विषय-

(१) पृ० १२। (२) स्वरचितलघीयस्त्रये उक्तम्। (३) तुलना–"सान्तरग्रहणं न स्याद् ग्राह्यो ज्ञानाधिकस्य च। अधिष्ठानाद्बहिर्नाक्षं न शक्तिर्विषयेक्षणे ॥२०॥ सर्वार्थसम्प्रयोगे तु सान्तराधिकयोर्ग्रहः। यो दृष्टश्चन्दरूपाभ्यां बाध्यते स निरन्तरम् ॥४१॥"–प्र० समु० १।२०, ४१। (४) सांख्यसम्मतः। (५) चार्वाकाभिमतः। (६) निर्बाधता। "पश्चात्तापोऽनुतापश्च विप्रतीसार इत्यपि"–अमरकोशः। "तत्र विदूषणसमुदाचारोऽकुशलं कर्माध्याचरति तत्र तत्रैव च विप्रतिसारबहुलो भवति।"–शिक्षासमु०पृ०१६०। न विप्रतिसारः अविप्रतिसारः, दोषरहित इत्यर्थः। (७) अन्तः। (८) बहिः। (९) प्रत्यक्षबाधितस्यापि साध्यत्वे। (१०) ज्ञानात्। (११) ज्ञानजनकः। (१२) "एवं बुद्ध्यहङ्कारमनश्चक्षुषां क्रमशो वृत्तिर्दृष्टा–चक्षू रूपं पश्यति, मनः संकल्पयति, अहङ्कारोऽभिमानयति, बुद्धिरध्यवस्यति।"–सांख्यका० माठर०३०।

स्येव (स्यैव) साक्षाद् वेदनसद्भावात् । कश्चायं नियमः—बुद्धिः तदनुर(भव)मन्तरेण दृश्यते न विषय इति । न च [1]तस्यामज्ञातायाम् [2]आदर्शवन्न(वत्) तत्प्रतिबिम्बवेदनमिति । ननु यदि सत्तामात्रेण [3]स तानु (तान्)[4] बुध्यते; तर्हि तदविशेषात् सर्वः सर्वदर्शी स्यादिति चेत्; अत्राह—**अभिज्ञया** इति प्रत्यभिज्ञानेन ।

५ स्यान्मतम्[5]—'तदेवेदम्' इति [ज्ञान]मभिज्ञा ; तत्र 'तद्' इति स्मरणोल्लेखः, 'इदम्' इति च वर्त्तमानोल्लेखः, न चापरं[6] ज्ञानमस्ति यत् प्रत्यभिज्ञाभिधानं स्यादिति; तदसारम् ; यतः प्रति-परमाणुनियतस्य वेदनस्य पूर्वमेव निषेधात् । प्रत्यक्षस्य स्मरणस्य वा उल्लेखः, खरविषाणोल्लेखः, युगपत् चित्रैकसंवेदनाभ्युपगमः, पूर्वापर[१८४ख]पर्यायग्रहणोल्लेखद्वयमुल्लिखन्तीं प्रत्यभि-ज्ञामेकां समर्थयते । सापि प्रमाणम् । तथा च प्रयोगः—येन ज्ञानेन आत्मा विषयान् बुध्यते [तत्

१० प्रमाणम्, यथा घटादिज्ञानम्, बुध्यते] च सँ प्रत्यभिज्ञानेन विषयान् इति । अथ मतं यैद्यसौ गतोः[9] तया बुध्यते, तर्हि अदृष्टपूर्वस्यापि भावस्य पूर्वापरपर्यायैकत्वं प्रथमदर्शन एव तया स बुध्येत इति; तदपि न युक्तम् ; इत्याह—**विज्ञातान्** इति । कैः ? इत्यत्राह—**अशेषकरणैः** सन्निहिते बीजपूरकादौ यानि रूपरसगन्धस्पर्शविषयाणि अशेषानि समस्तानि करणानि चक्षुरादीनि, ज्ञानानि वा [10]कार्ये कारणोपचारात्, यदि वा पूर्वं यानि वृत्तानि[11] यानि च पश्चात् प्रवर्त्तन्ते तान्यशेषकरणानि

१५ तैः इति । नन्वेवं विज्ञातविज्ञानाद् अभिज्ञा प्रमाणं न स्यादिति चेत्; अत्राह—**न किं ते (तर्कित)** इत्यादि । **न किं तम् (तर्कितम्)** ऊहितम् यद् अवग्रहादि तस्य गोचरो विषय **इतरो विधिः** स्वभावः, 'स्वकारणैर्विधीयते इति विधिः' इति व्युत्पत्तेः तं **नीत्वा 'विषयान्'** इति वर्त्तते। तथाहि—चक्षुषा बीजपूरादेः एकस्य स्थवीयसो रूपात्मकस्य ग्रहणेऽपि न सोद्गाकस्य (रसाद्या-त्मकस्य) ग्रहणम्, रसना(वे)दिनोऽपि तस्य रसाद्यात्मकस्य वेदनेऽपि न रूपात्मकस्य वेदनम्,

२० तथा पूर्वदर्शनेन पूर्वपर्यायविशिष्टस्य अवसायेऽपि नोत्तरपर्यायविशिष्टस्य अवसायः, नापि अपर-पर्यायावग्रहेण पूर्वदशाविशिष्टस्य अवग्रह इति, प्रत्यभिज्ञया तु उभयावस्थाविशिष्टो बुध्यते इति नैकान्तेन गृहीतग्राहित्वमिति भावः । ननु यदि पूर्वेण उत्तरेण वा दर्शनेन कस्यचिद् [13]एकत्वं प्रति-पन्नं [१८५क] स्यात् युक्तं प्रत्यभिज्ञया तस्यैं[14] ग्रहणं दर्शनानुसारित्वादस्याः[15] । न च पूर्वापरै-कत्वदर्शनं संभवि । [16]मा भूत्, प्रत्यभिज्ञा च तद्विषया स्यादिति चेत् ; उक्तमत्र—पूर्वदर्शनाभावेऽपि

२५ स्यात् । तदृशने सति इति चेत् ; विस्मृततदृर्शनस्यैं[17] । आशुस्मरणे सतीति चेत् ; पटदर्शनस्मरणात् घटे तदेकत्वप्रत्यभिज्ञानं भवेत् । [18]तदेकत्वादर्शनान्नेति चेत्; तत एव अन्यत्रापि मा भूद् अवि-शेषादिति चेत् ; अत्राह—**अभिननव (अभितः)** इति । **अभि** नवं पूर्वपर्यायपरिहारेण अपरं यन्ति इति अभिमतः **(अभितः)** निपातत्वादयमस्यार्थ उक्तः । पूर्वत्वं कालान्तरस्थान-

---

(१) बुद्धौ । (२) दर्पणवत् । (३) आत्मा । (४) अर्थान् । (५) "तस्मात् स एवायमिति प्रत्यय-द्वयमेतत् ।"—प्र० वार्तिकाल० पृ० २२ । (६) प्रत्यक्षस्मरणव्यतिरिक्तम् । (७) आत्मा । (८) आत्मा । (९) अवस्थाः । (१०) अभिज्ञया । (११) इन्द्रियकार्यभूते ज्ञाने । (१२) ज्ञातानि । (१३) वस्तुनः । (१४) एकत्वस्य । (१५) प्रत्यभिज्ञायाः । (१६) पूर्वापरैकत्वदर्शनसंभवो मा भूत् तथापि । (१७) पुरुषस्य स्यात् । (१८) घटगतैकत्व ।

वस्तो(तो) विषयान् **'विज्ञातान् विषयान् अशेषकरणैः'** इति सम्बन्धः । तदुक्तम्–*"पश्यन्स्वलक्षणान्येकम्" [सिद्धिवि० १।९] इत्यादि । न चायमेकान्तः अपरापरदशादर्शने तद्वात्रयं (तद्वानवश्यं) दृश्यते इति, कथमन्यथा मध्यक्षणस्य दर्शनेन पूर्वापरक्षणादर्शने ततो विवेकप्रतिपत्तिः ? शेषमत्र पूर्वमत्रापि चिन्तितम् ।

स्यादेतद् यदि **विज्ञातान् विषयान् अशेषकरणैः आत्मा अभिज्ञया बुध्यते** तर्हि सर्वान् आजन्मनः सर्वःता (सर्वास्ताः[1]) तया[2] बुध्यते (बुध्येत) इति चेत् ; अत्राह–**स्मृत्वा** इति । स्मरणेन विज्ञातान् पूर्वविषयान् कृत्योत्तर (कृत्वा उत्तर)विषयैः विज्ञानैः एकत्वेन ध्यसा (नाध्यवसाय) बुध्यते न सर्वानिति मन्यते । अनेन स्मृतेः[3] प्रत्यभिज्ञानफलत्वेन प्रामाण्यं दर्शयति ।

सांप्रतं तर्कफलत्वेन प्रत्यभिज्ञाया प्रमाणत्वमुपवर्णयन्नाह–**तर्कम्** इत्यादि । अस्यायमर्थः– अभिज्ञया करणभूतया कृत्वा **तर्कम् ऊहं नीत्वा** विषयान् तर्कग्राह्यान् तान् कृत्वेत्यर्थः । तान् विषयान् नीत्वा तं तद्ग्राहकमापाद्य [१८५ ख] इत्यर्थः । किम्भूतम् ? इत्याह–**तर्कितम्** इत्यादि । **तर्कितः** प्रत्यक्षप्रमाणेन निश्चितो गोचरः तस्मात् **इतरोऽन्यः** देशाद्यन्तरभावी भावः तत्र **विधिः** विधानम् उत्पत्तिर्यस्य स तथोक्तः तमिति । अनेन प्रत्यक्षफलत्वम् एकान्तेन निराकरोति[4] अस्य । स किं करोति ? इत्याह–**बुध्यते अभितः** समन्ताद् विषयान् 'तर्केण' इति विभक्तिपरिणामेन संबन्धः ।

ननु स्मरणादिविषयस्य तत्कालेऽभावात् कथं तेन [ग्रहणम् ?] ग्राहकसमानसमयो हि विषयः तेन गृह्यत इति युक्तम्, अन्यथा चक्षुरादिज्ञानमपि सर्वातीतादिग्राहकं स्यादिति चेत् ; अत्राह–**श्रोत्रादि** इत्यादि । इदं वाक्यं यथातथाशब्दावन्तरेणापि प्रतिवस्तूपमालङ्कारवशेन व्याहृतं यथातथाशब्दं[5] व्याख्येयम् । **श्रोत्रम् आदिः** यस्य घ्राणादेः स तथोक्तः यथा **समुपेतमेव** स्वसन्निकृष्टमेव नाऽसन्निकृष्टं **विषयीकुर्वीत** 'विषयम्' इति वचनपरिणामेन सम्बन्धः, **चक्षुः नवै** नैव समुपेतमेव विषयीकुर्वीत तँदसमुपेतमेव विषयं विषयीकुर्वन् प्रतीयत इति मन्यते । एतच्च सौगतस्य प्रसिद्धमिति न साधनमर्हति । यथा चक्षुरादिज्ञानं स्वकालविशेषणं वस्तु विषयीकुर्वीत स्मरणादिकं तु भिन्नकालविशेषणमपि इति, सर्वत्र तथाप्रतीतेरविशेषात् ।

एतेनेदमपि निरस्तं यदुक्तं प्र भा क रे ण–*"**स्मरणादिकम् अतीतादौ प्रवर्त्तमानं निर्विषयं** तँत्काले विषयाभावात्" इति[6] ; तन्निरस्तम् ; चक्षुर्ज्ञानमपि तथा निर्विषयं स्यात्, तद्देशे तद्विषयाभावात् इति । [१८६क]

ननु सौगतस्य चक्षुरिव श्रोत्रमपि न वै समुपेतमेव विषयीकुर्वीत **"चक्षुःश्रोत्रमनसाम् अप्राप्यकारित्वम्"** इति रौद्धान्तात् किमुच्यते **श्रोत्रादि** इत्यादि । तस्मादेवं वक्त[व्यं]

(१) अवस्थाः । (२) अभिज्ञया । (३) प्रत्यभिज्ञानं स्मरणस्य फलमिति भावः । (४) तर्कस्य । (५) यथातथाशब्दसहितम् । (६) चक्षुः असम्बद्धमेवार्थम् । (७) स्मरणकाले । (८) "गृह्यमाणे स्मृतिर्नास्ति ग्रहणानन्तरं हि सा । अतीतेग्रहणे तस्य रूपाभावे न सा स्मृतिः ॥ इदानीं स्मरणं जातं कथं जानाति पूर्वताम् । अविद्यमानं नीरूपं कथं तद्गूपता स्मृतेः ॥"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ६०२ । (९) "अप्राप्यकारिमनःश्रोत्राणि"–अभिध० को० १।४३ ।

घ्राणादि इति । दूरे शब्दः निकटे शब्दः इति प्रतीतिश्च (तेश्च) चक्षुरिव श्रोत्रमप्राप्यकारि इति चेत्; आस्तां तावदेतत्, आगमप्रस्तावे अस्य निरूपयिष्यमाणत्वात् ।

अत्राह वैशेषिकः[1]—श्रोत्रादिवत् बाह्येन्द्रियत्वात् चक्षुरपि संप्रयुपेतमेव विषयीकरोति, तत् किमर्थमुक्तम् **चक्षुर्न वै** इति; तं प्रत्याह—**पश्यत्येव हि** इत्यादि । **हि** यस्मादर्थः, यत् **पश्यत्येव** ईक्षत एव न [न] पश्यति इति **एव**कारार्थः, चक्षुः इत्यनुवर्त्तते । ननु मनः पश्यति न चक्षुः अन्यथा तत्परिकल्पन[मनर्थकम्] इति चेत्; न; आत्मानं विषयं पश्यन्तं चक्षुः [सह] करोति इति 'तत् पश्यति' इत्युच्यत इत्यदोषात् । किं पश्यति ? इत्याह—**सान्तरम्** । सह अन्तरेण देशेन नद्यादिना द्रव्येण काचात् (भ्र)पटलादिना वर्त्तमानं घटादिकं 'विषयम्' इति वचनपरिणामेन सम्बन्धः । एतदुक्तं भवति—चक्षुरिति यदि गोलकस्य लोकव्यवहारतः अभिधानमाश्रीयते; तर्हि तस्य देशादिव्यवहितेन घटादिना प्रत्यक्षतः ततोऽत्यन्तभिन्नेन प्रतीयमानेन सन्निकर्षसाधने प्रत्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन 'बाह्येन्द्रियत्वात्' इति कालात्ययापदिष्टो हेतुः स्यात्, यथा अश्रावणः शब्दः सत्त्वात् इति ।

तत्रैव युक्त्यन्तरमाह—**पृथुतरम्** इति । सर्षपादेः सूक्ष्मात् पृथु चक्षुः तस्मात् अतिशयेन पृथु पर्वतादिकं पृथुतरं तत् 'पश्यति' इति सम्बन्धः । [१८६ख] अत्रायमभिप्रायः—पूर्वोक्तेन विधिना देशादिना देशादिव्यवहितेन पर्वतादिना प्रमाणबाधितत्वान्न चक्षुषस्तेन सन्निकर्षोऽस्ति, तथापि पादप्रसारिकतया यदि इष्यते तर्हि यतः (यावतः) पर्वतादिप्रदेशस्य पृथुनो जलबुद्बुद-सन्निभेन चक्षुषा सम्बन्धः, तावत एव तेन ग्रहणं स्यात् न योजनादिपरिमाणस्य पृथुतरस्य । न खलु हस्तेन अन्धस्य हस्तिहस्तमात्रसन्निकर्षे संपूर्णहस्तिप्रतिपत्तिरस्ति । विद्यते च चक्षुषा प्रथुतरस्य ग्रहणम् । ततो मन्यामहे असन्निकृष्टं पश्यति चक्षुः इति ।

ननु न गोलकविशेषः चक्षुः येनायं दोषः स्यात्, अपि तु रश्मयः, तेषां च अर्थसन्निकृष्टानां तत्प्रकाशनसाधनात् । अस्मिंश्च पक्षे पृथुतरं तत् पश्यति इति न विहन्यते, मूले सूक्ष्माणां प्रदीपादिरश्मिवत् अग्रे स्थूलानां भावादिति चेत्; अत्राह—**रश्मेः** इत्यादि । रश्मिः इति जाति-व्यपेक्षयैकवचनम्, व्यक्त्यपेक्षायां तु रश्मीनां चक्षुष इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । **कुतः** ? न कुतश्चित् प्रमाणात् **निःसृतिः**प्रतिपत्तिः गत्यर्थस्य सरतेर्ज्ञानार्थत्वात् । न तावत् प्रत्यक्षतः; तत्र तदप्रतिभासनात् । अनवस्थानात् तेषामपि अपन (अपरनयन)तद्रश्मिसंबन्धेन ग्रहणात् । नापि

---

(१) "प्राप्यकारि चक्षुः इन्द्रियत्वात् घ्राणादिवत् ।"—न्यायवा० पृ० ३६ । न्यायवा० ता० टी० पृ० १२२ । "प्राप्तार्थप्रकाशकं चक्षुः व्यवहितार्थाप्रकाशकत्वात् प्रदीपवत् बाह्येन्द्रियत्वात् त्वगिन्द्रियवत् ।" —प्रश० कन्द० पृ० २३ । (२) "चक्षुःश्रोत्रे प्राप्यार्थं परिच्छिन्दाते बाह्येन्द्रियत्वात् त्वगिन्द्रियवत् ।" —न्यायवा० ता० टी० पृ० ७३ । (३) मनःकल्पना व्यर्था । (४) साध्य । (५) अल्पेन । (६) चक्षुषा । (७) शुण्डादण्ड । (८) "रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषात्तद्ग्रहणम् ।"—न्यायसू० ३।१।३२ । "तयोर्महदणोर्ग्रहणं चक्षूरश्मेरर्थस्य च सन्निकर्षविशेषाद् भवति यथा प्रदीपरश्मेरर्थस्य चेति ।"—न्यायभा० । "चक्षुर्बहिर्गतं बाह्यालोकसम्बन्धाद् विषयपरिमाणमुपपद्यते···"—प्रश० व्यो० पृ० १५९ । "पृथुग्रहणस्यापि पृथ्वप्रतया तद्वदेवोपपत्तेः ।"—प्रश० किर० पृ० ७४ । (९) चक्षु । (१०) सृ गतावित्यस्य ।

अनुमानतः ; तदभावात् । ननु इदमस्ति[1]–रश्मिवच्चक्षुः स्वरश्मि[सम्बद्धं] सर्वत्र स्वार्थं प्रकाशयति, तैजसत्वात्, प्रदीपवत् इति चेत्; कुतोऽस्य[2] तैजसत्वम् ? उष्णस्पर्शत्वात् ; न ; तद्विशेषस्य[3] तत्राऽभावात् । सोष्णतामात्रस्य घ्राणादावपि भावात् । [१८७क] भासुररूपवत्त्वात् ; किमिदं रूपस्य भासुरत्वम् ? उज्ज्वलत्वमिति चेत् ; न ; अस्य निमित्तं (निशित[4])निशितादौ भावात् । कपिशत्वे सति इति चेत् ; न ; तस्य वरनारीलोचनेषु दुग्धधवलेषु अभावात्, कनकवच्च कनक- ५
केतकीकुसुमदलेषु भावात् । एतेन [5]मार्जारादिचक्षुरपि व्याख्यातम् ।

अपरेषां दर्शनम्–'चक्षुः तैजसं रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात् प्रदीपवत्' इति[6]; तेषां सर्वे घटादयः प्रसिद्धाः पावकवत् सत्त्वात्[7] तैजसाः किन्न स्युः ? अथ उष्णभासुरस्पर्शरूपविविक्तघटादिग्राहिणा अध्यक्षेण पक्षस्य बाधनात् नैवम् ; प्रकृतेऽपि समानमेतत् ।

किंच, न तैजसं चक्षुः अत्यासन्नाऽप्रकाशकत्वात्[8], यत् पुनः तैजसं तद् अत्यासन्नस्यापि १०
प्रकाशकं यथा प्रदीपादिः इति [व्यति] रेकी हेतुः अत्र किन्न विजृम्भते ? न चायं [9]परस्य अगमकः ; अन्यथा *[10]"सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वात्" [11]इति न सुभाषितम् ।

यदि वा, तमःप्रकाशकत्वात्[12]; यत् पुनः तैजसं न तत् तमःप्रकाशकं यथा प्रदीपादि इति ग्राह्यम् । तदुक्तम्–

*"तमो निरोधि वीक्ष्यन्ते तमसा नावृतं परम् । १५
कुड्यादिकं न कुड्यादितिरोहितमेत्ककाः (तमिवेक्षकाः) ॥"

[लघी० श्लो० ५६] इति ।

प्रदीपाद्यालोकाभावेऽपि च [13]क्वचिद् रूपज्ञानस्य उदयदर्शनात् कथं तदालोकस्य नियमेन रूपप्रकाशकत्वम्, यतः साधनविकलो दृष्टान्तो न भवेत् ? तदेवं नायनरश्मीनामसिद्धेः तेषां चक्षुःशब्दवाच्यत्वेन धर्मित्वे 'बाह्येन्द्रियत्वात्' इति आश्रयस्वरूपासिद्धो हेतुरिति यत्किञ्चिदेतत् । २०

इदमपरं व्याख्यानम्–**रश्मेः** चक्षूरश्मीनां **कुतः** कारणात् **निःसृतिः** निर्गमनं स्वाधिष्ठानात् । नहि अकारणम्[१८७ख] अदृष्टं सत्तया[13] कल्पनमर्हति, अतिप्रसङ्गात् । अर्थप्रकाशनं तत्कारणम्[14] इत्येके । तथा हि–इन्द्रियम् आत्मसंबद्धमर्थं प्रकाशयद् दृष्टम् । तत्र यदि गोलकवत्

(१) तुलना–"कृष्णसारं रश्मिवत् द्रव्यत्वे सति रूपोपलब्धौ नियतस्य साधनाङ्गस्य निमित्तत्वात् । अथवा, रश्मिवच्चक्षुः द्रव्यत्वे सति नियतत्वे च सति स्फटिकादिव्यवहितार्थप्रकाशकत्वात् प्रदीपवत् ।" –न्यायवा० पृ० ३८१ । न्यायवा० ता० टी० पृ० ५२५ । (२) चक्षुषः । (३) उष्णताविशेषस्य । (४) शाणीकृततीक्ष्णशस्त्रादौ । (५) "नक्तञ्चरनयनरश्मिदर्शनाच्च । (सू०) दृश्यन्ते हि नक्तं नयनरश्मयो नक्तञ्चराणां वृषदंशप्रभृतीनाम्, तेन शेषस्यानुमानम् ।"–न्यायभा० ३।१।४३ । न्यायम० पृ० ४८० । (६) द्रष्टव्यम् पृ० ८ टि० ४ । (७) हेतोः । (८) तुलना–"अप्राप्यकारि चक्षुः स्पृष्टानवग्रहात् । यदि प्राप्यकारि स्यात् त्वगिन्द्रियवत् स्पृष्टमञ्जनं गृह्णीयात् । न च गृह्णाति ।"–त० वा० पृ० ६७ । (९) नैयायिकस्य । (१०) "नेदं जीवच्छरीरं निरात्मकम् अप्राणादिमत्त्वप्रसङ्गात् ।"–न्यायवा० पृ० ४६ । (११) न तैजसं चक्षुः । तुलना–"न तैजसं चक्षुः तमःप्रकाशकत्वात् ।"–न्यायकु० पृ० ८० । स्या० रत्ना० पृ० ३२४ । (१२) नक्तञ्चरादौ । (१३) सद्रूपेण । (१४) रश्मिकारणकम् । तुलना–"करणं वास्यादि प्राप्यकारि दृष्टं तथा चेन्द्रियाणि तस्मात् प्राप्यकारीणि ।"–न्यायवा० पृ० ३६ । "इन्द्रियाणां कारकत्वेन प्राप्यकारित्वात् ।"–न्यायम० पृ० ३७ ।

तद्रश्मीनामपि अर्थसम्बन्धो न स्यात् कुतस्तत्प्रकाशनम् ? अस्ति च । ततो मन्यामहे रश्मेः निर्गमनमिति । मनोवत् सम्बन्धसम्बन्धात् तत्प्रकाशनापत्तेः अदोषः । तथाहि—यथा मन आत्मना संयुक्तम्, सोऽपि आकाशेन, तदपि सर्वभावैः इति सम्बन्धसम्बन्धात् तदर्थप्रकाशकम् । न खलु तस्यैं तद्रश्मीना[ञ्च] स्वार्थेन संयोगः परैः अभ्युपगम्यते । तथा चक्षुः मनसा[1], तदपि आत्मना संयुक्तम्, सोऽपि[2] आकाशेन, तदपि सर्वभावैः इति सम्बन्धसम्बन्धात् § तदर्थप्रकाशकम् । न खलु तस्य तद्रश्मीनां स्वार्थेन संयोगः परैः अभ्युपगम्यते । तथा, चक्षुः मनसा तदपि आत्मना सोऽपि विषयैः संयुक्त इति सम्बन्धात् § चक्षुरपि तत्प्रकाशकमित्यलं रश्मिनिर्गमनकल्पनया । न च इन्द्रियत्वाऽविशेषेऽपि मनः तथा प्रकाश षेपिरक्षुः (यति न चक्षुः) इति न विशेषं पश्यामः । एवं शौखाचन्द्रमसोर्युगपद्ग्रहणमुपपन्नं भवति, अन्यथा क्रमेण गच्छतां रश्मीनां पूर्वं शाखया संयोग इति तस्यां एव ग्रहणं पुनः चन्द्रमसा[8] इति तस्य[10] ग्रहणमिति क्रमप्रतिपत्तिः स्यात् । न चैवम् ।

उत्पलपत्रशतवेधवत् शाखाचन्द्रमसोर्ग्रहणस्य आशुभावात् यौगपद्यप्रतिपत्तिभ्रम इत्यन्ये[11]; तन्न ; मूर्त्तस्य असर्वगतस्य सूचीद्रव्यस्य तत्पत्रैः भिन्नदेशैः क्रमेण सम्बन्धात् युक्तो युगपत्त्व-विभ्रमः नान्यत्र तद्विपरीते, इतरथा [१८८क] एवम् एकज्ञानवार्त्ता निर्मूला स्याद् वराकी ।

यदि मतम्—अन्यत्रापि[12] तथाविधस्य रश्मेर्भिन्नदेशाभ्यां शाखाचन्द्रमोभ्यां संयोगः क्रमेण इति; स्यादेतदेवं यदि सूचीद्रव्यवत् कुतश्चिद् रश्मिगमनप्रतिपत्तिः स्यात्, न सा अस्ति इत्युक्तम् । तद्विभ्रमाऽप्रतिपत्तौ अन्योऽन्यसंश्रयः । तथाहि—क्रमेण रश्मिगमनसिद्धौ[13] तद्विभ्रमसिद्धिः [तद्वि-भ्रमसिद्धौ च क्रमेण रश्मिगमनसिद्धिः] इति । ततः स्थितम्—**रश्मेः कुतो निःसृतिः** इति ।

ननु यस्य सकलज्ञेयग्रहणस्वभावं ज्ञानं तत्स्वभावश्च आत्मा कथं तस्य स[14] कस्यचिद्-व्यर्थस्य स्वयं ग्राहको यतः अक्षापेक्षस्य अर्थे क्रमग्रहः स्यात् सर्वज्ञवत् । आवरणसद्भावात् स्वयम-ग्राहक इति चेत् ; कुतः तत्सिद्धिः[15] ? न प्रत्यक्षतः; तत्र तदप्रतिभासनात् । देशादीनाम् आव-रणत्वे सर्वज्ञाभावः, [16]तेषां सर्वदा भावात् । रागादीनां सद्भावेऽपि विषयदर्शनभावान्न आवरण-त्वम्[17] । अन्यस्य अनुमानतो न प्रतिपत्तिः ; तदर्थापक([18]तदुत्थापक)लिङ्गाभावात् । अथ

(१) तुलना—"तथैव कारणत्वस्य मनसा व्यभिचारिता । मन्त्रेण भुजङ्गाद्युच्चाटकादिकरेण वा ॥८८॥" —त० श्लो० पृ० २३४ । न्यायकुमु० पृ० ८२ । स्या० रत्ना० पृ० ३३० । (२) आकाशमपि । (३) चक्षुषः । (४) संयुक्तम् । (५) आत्मापि । (६) § एतदन्तर्गतः पाठो द्विर्लिखितः । (७) तुलना—"पश्येच्चक्षु-श्चिराद् दूरे गतिमद् यदि तद्भवेत् । अत्यभ्यासे च दूरे च रूपं व्यक्तं न तत्र किम् ॥१३॥ यदि चक्षुः प्राप्यकारित्वात् विषयदेशं गच्छेत् तदा उन्मिषितमात्रेण न चन्द्रतारकादीनर्थान् गृह्णीयात् ।" —चतुःश० पृ० १८६ । "चक्षुर्हि शाखाचन्द्रमसावभिन्नकालमुपलभते···"—त० वा० पृ० ६८ । (८) शाखायाः । (९) सम्बन्धः । (१०) चन्द्रमसः । (११) "यत्पुनरेतत्-शाखाचन्द्रमसोस्तुल्यकालग्रहणमिति ; तदपि न ; अनभ्युपगमात् को हि स्वस्थात्मा शाखाचन्द्रमसोः तुल्यकालग्रहणं प्रतिपद्यते । कालभेदाग्रहणात् मिथ्याप्रत्यय एषः उत्पलदलशतव्यतिभेदवदिति ।"—न्यायवा० पृ० ३५ । न्यायवा० ता० टी० पृ० १२० । प्रश० कन्द० पृ० २३ । प्रश० व्यो० पृ० १५९ । प्रश० किर० पृ० ७४ । मुक्ता० पृ० १७८ । (१२) मूर्त्तस्य । (१३) यौगपद्यविभ्रमसिद्धिः । (१४) आत्मा । (१५) आवरणसिद्धिः । (१६) देशादीनाम् अपाघाऽसंभवात् । (१७) रागादीनाम् । (१८) अनुमानप्रयोजकहेत्वभावात् ।

सर्वविषयप्रकाशनस्वभावस्य[1] तदप्रकाशनात् तत्सिद्धिः[2]; तत्स्वभावता कुतस्तस्य[3] सिद्धा ? तदावरणापाये सर्वप्रकाशनस्वभावत्वात्; अन्योऽन्यसंश्रय—सिद्धे[4] हि सर्वप्रकाशनस्वभावे सति आवरणसिद्धिः, तत्सिद्धौ तत्क्षये तत्प्रकाशनस्वभावसिद्धिः इति चेत्; अत्राह—**मिथ्याज्ञानम्** इत्यादि ।

[मिथ्याज्ञानं विसंवादादप्रमाणं विषादिवत् ।
ज्ञातुरावरणोद्भूतेः दोषहेतोः स्वतः सतः ॥२॥

मत्यज्ञानभेदा अवग्रहादयः प्रमाणाभासा मिथ्याग्रहणात्मकाः, प्रमाणस्य अविप्रतिसारलक्षणत्वात् । स्वतः प्रमाणभूतस्य आत्मनः परतो विपर्यासोपपत्तेः मत्तमूर्च्छितादिवत् । यदि पुनः स्वत एव ज्ञाता न स्यात् कुतः परतोऽचेतनवत् । न हि तथापरिणामरहितस्य तथा परिणामः । परस्य अन्यातिशयकल्पनायामात्मनः किम्न कल्प्यते ? ज्ञस्वभावस्य अप्राप्यकारिणः प्रतिबन्धाभावे त्रिकालगोचरमशेषं द्रव्यं कथञ्चिज्जानतो न कश्चिद्विरोधः, आत्मनः स्वविषये वैशद्यमनुभवतः परोक्षप्रत्यक्षवत् । नास्माकमावरणक्षयोपशमवशात् स्वकारणशक्तेः । स्वलक्षणदर्शनाहितसन्तानविकल्पवासनाप्रकृतिः संवृतिः वस्तुमात्राध्यवसायात् व्यवहारमारचयतीति चेत्; न; क्षणिकैकान्ते अर्थक्रियाविरोधनिर्णयात् । ततः]

अस्यायमर्थः—यत् तस्मिन् **मिथ्याज्ञानम् अप्रमाणं विसंवादात्** वञ्चनात् प्रसिद्धं हि लोके [5]प्रकृत्यादिविषयं तत् धर्मि । तत्र साध्यम् आह—**आवरणोद्भूतेः** इति । जीवस्य स्वविषये प्रवृत्तिनिषेधकं [१८८ ख] ज्ञानावरणीयादि[6] कर्म आवरणं तस्य उद्भूतिः स्वकार्यकरणाभिमुख्यं तस्याः, 'भवति' इति शेषः । साध्यमेतत् । हेतुमाह—**दोषहेतोः** इति । दोषः अन्यथाग्रहणं स एव हेतुः लिङ्गं तस्मात् । दृष्टान्तमाह—**विषादिवत्** इति । विषम् आदिर्यस्य सुरादेः स तथोक्तः तस्मादिव तद्वदिति । एतदुक्तं भवति—यथा विषादेः उपजायमानं भूभ्रमणादिविषयं[7] विषाद्यावरणोद्भूतेः भवति तथा प्रकृत्यादिविषयमपि, [8]तदुद्भूतावरणोद्भूतेः इति । प्रयोगः—विवादगोचरापन्नं [मिथ्याज्ञानम् आवरणोद्भूतेर्भवति, मिथ्याज्ञानत्वात्] मिथ्याज्ञानस्य उपलक्षणार्थत्वात् [तेन] अज्ञानत्वाद् अस्पष्टत्वादिति [च] गृह्यते, विषादिजनिततथाविध(धा)ज्ञानवत्, एवमर्थं च विषादिग्रहणम्, तदुपयोगे तत्रियाननिवृत्तेः (तत्त्रितयानिवृत्तेः)[9] इति ।

अत्राह सौत्रान्तिकादिः—मिथ्याज्ञानात् प्राक् तदाधारस्य स्वविषयप्रकाशनस्वभावस्य[10] भावे कस्यचिद् आवरणकल्पना श्रेयसी; न च सोऽस्ति प्रमाणाभावात् । मिथ्याज्ञानमपि निराधारं जायते *"आदेशाः चित्रचैतसिका (अदेशाः चित्तचैतसिकाः)" इति वचनात् । ततस्तस्यापि[11] आवरणकल्पना कीदृशी ? तत्र भावान्तरादर्शनादिति पक्षस्य प्रत्यक्षबाधो दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्य-

(१) आत्मनः । (२) आवरणसिद्धिः । (३) आत्मनः । (४) सांख्याभिमत । (५) "आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ।"—त० सू० ८।४ । (६) मिथ्याज्ञानम् । (७) ज्ञानावरणोदयात् । (८) मिथ्यात्वम् अज्ञानत्वमस्पष्टत्वञ्च । (९) आत्मनः । (१०) आत्मनोऽपि ।

मिति ; तं प्रत्याह–**ज्ञातुः** इति। 'यः प्राक् शङ्खं शुक्लतया ज्ञातवान् , संप्रति जानाति पीततया, पुनर्ज्ञास्यति शुक्लतया स ज्ञाता' इत्युच्यते। स च *"**प्रत्यक्षं क्षणिकं विचित्र [१८९क]विषयाकारैकसंवेदनम्**" [सिद्धिवि० २।३] इत्यादिना लेशतः प्रदर्शितः, प्रपञ्चतः पुनरत्रैव प्रदर्शयिष्यते। तदुक्तं न्या य वि नि श्च ये–

*"**सत्यन्तमाद्वरायायां (सत्यं तमाहुराचार्याः) विद्यया विभ्रमेण यः।**
सदर्थमसदर्थं वा पसुरोस्वावलोकतः (प्रभुरेषोऽवलोकते)॥"

[न्यायवि० १।३८] इति।

वैशेषिकस्त्वाह–ज्ञानोत्पत्तेः प्राक् आत्मा विद्यते, स तु तदा ज्ञानाभावादेव विषयं सन्तमपि न विषयीकरोति नावरणादिति; *"**देवरक्ताः किंशुकाः**" इति न तत्र नः प्रयासः आवरणसाधने[3]। तत्र केवलं धर्मादिसामग्रीतः समीचीनज्ञानम्, अन्यस्याः मिथ्याज्ञानमिति विभाग इति। तत्रोत्तरमाह–**स्वतः** इति। स्वात्मरूपेण न अर्थान्तरज्ञानसम्बन्धेन '**ज्ञातुः**' इति वृत्तौ[4] प्रतिपादयिष्यते।

विभ्रमैकान्तवादी प्राह–भवतु कश्चित् स्वयं ज्ञाता, स च स्वभावत एव विपरीतार्थग्राही नावरणादिति; तत उत्तरं पठन्ति–**सतोऽवितथस्य** यथावस्थितस्वार्थग्रहणस्वभावस्य इत्यर्थः। '**स्वतः**' इत्येतदत्रापि सम्बन्धनीयम्, कथमन्यथा विभ्रमैकान्तस्यापि प्रतिपत्तिः। न हि विभ्रमादेव तत्प्रतिपत्तिर्युक्ता, अतिप्रसङ्गात्। तदुक्तं केनचित्–

*"**प्रभासु(स्व)रमिदं चित्तं प्रकृत्याऽऽगन्तवो मलाः।**"

[प्र० वा० १।२१०] इति।

परः पुनरेवं मन्यते–स्वतस्तस्य मिथ्यादर्शनात्मकत्वम् अन्यतो यथार्थदर्शनात्मकत्वमिति; स '**विषात्**' इत्यनेन निरस्तः; विषाद्युपयोगान्वयव्यतिरेकानुविधायितया दृश्यमानस्य मिथ्यादर्शनस्य अन्यतः कल्पने धूमोऽपि अग्निप्रभवो न स्यात्। स्वतश्च मिथ्यात्वेन सर्वसंविदां कुतः स्वसंवेदनपरमार्थ[१८९ख]सिद्धिः ? नहि तत्र पूर्वसंवेदनादन्यस्य व्यापारः *"**चक्षुरादेर्विषयप्रतिनियमः विषयात् तदाकारता आलोकात् स्पष्टता विज्ञानाद् विज्ञानस्य विद्रूपता।**" इति वचनात्। नापि स्वसंवेदनपरमार्थाऽसिद्धौ सौगताः सुखमासितुं कालकलालेशमपि समर्थाः, कस्यचिद् विधिनिषेधायोगात्। ततः स्थितम्–'**स्वतः सतः**' इति।

नन्वेवं चेदिदमनुमानं तर्हि '**मिथ्याज्ञानमप्रमाणम्**' इत्येवास्तु, किं '**विसंवादात्**' इत्यनेन इति चेत् ? उच्यते–'विवादास्पदीभूतं मिथ्याज्ञानम् अदृष्टावरणम्' इति साधयन्तं प्रति यदा कश्चिद् ब्रवीति 'कस्यचिन् मिथ्याज्ञानस्य अभावात् साध्यदृष्टान्तधर्मिणोरसिद्धिः' इति; तदा तं प्रति तद्धर्मिणः (णोः) साधनार्थम् '**विसंवादात्**' इत्युच्यते। यतः अभ्युपगच्छतापि प्र ज्ञा क रे ण प्रतिभासाद्वैतम् 'इदम् अतो जायते, इदमस्माद् दूरं निकटम्' इत्यादि विकल्पबुद्धीनां निर्विषयत्वाऽपरनामा विसंवादोऽभ्युपगन्तव्यः कथमन्यथा प्रतिभासाद्वैतम् ? तथा च

(१) ज्ञाता। (२) ज्ञानाभावाच्च ग्रहणमित्यत्र। (३) सति। (४) टीकायाम्। (५) ज्ञाता। (६) विभ्रमप्रतिपत्तिः। (७) ज्ञानरूपता। (८) साध्यदृष्टान्तधर्मिणोः।

'कथं धर्म्यसिद्धिः ? तथापि 'मिथ्याज्ञानं विसंवादात्' इत्यस्तु किम् अप्रमाणपदेन इति चेत् ? न; 'अनुमानेन आवरणसत्ता साध्यते भवता, तच्च मिथ्या तत्कृतः ततो भावतः[3] तत्सिद्धिः' इति वदन्तं प्रति एवमभिधानात् ।

अत्रायमभिप्रायः—अनुमानं चेत् मिथ्यात्व(ध्याप्य)पेक्ष्यते; तर्हि विसंवादादप्रमाणं स्यात्, प्रमाणं चेष्यते, तन्न मिथ्या इति । ननु स्यादेतत् (तद) प्रमाणं यदि विसंवादकं स्यात्, यावता मिथ्यात्वेऽपि मणिप्रभामणिज्ञानवत् साध्य[१९०क]प्रतिबन्धादविसंवादकमिति चेत्; ननु तन्मणिज्ञानम् अविसंवादेऽपि यदि न प्रमाणम्; कथमनुमानं[6] तल्लक्षणव्यभिचारात् ? प्रमाणं चेत्; प्रत्यक्षम्, अनुमानं वा ? अन्यत्र मण्यध्यवसायः अन्यत्र मणिप्राप्तेः नाध्यक्षम्, इतरथा मरीचिकानिचये जलाध्यवसायः कूपादौ जलप्राप्तौ अध्यक्षं[7] स्यात् । भवति जातपरितोषस्य इति चोदवदेत् (चेत्; स्यादेतत्) यदि मणिभ्रान्तिः इन्द्रियज्ञानम्, न चैवम्, रूपसाधर्म्यदर्शनापेक्षणात्, अक्षविकारमन्तरेण भावात्, वाचकैः[10] (वाचकैः) सन्तानान्तरेण समर्पणात्, प्रतिसंख्यानेन[11] बाधनात्, मानसी तु युक्ता युक्त(शुक्तौ) रजतभ्रान्तिवत् । अस्या[12] इन्द्रियजत्वे सति—

*"नो चेद् भ्रान्तिनिमित्तेन[13] संयोज्येत गुणान्तरम्[14] ।
शुक्तौ वा रजताकारः रूपसाधर्म्यदर्शनात् ॥"

[प्र० वा० ३।४३] इति विरुध्यते । १५

मनोविभ्रमं प्रति अक्षविभ्रमस्य दृष्टान्तत्वानुपपत्तेः इति । भवतु मानसी नेरतस्य (नेतरस्य) प्रमाणमिति चेत्; प्रत्यक्षाद् अन्यस्यां तदनुरोधात् प्रत्यक्षत्वे दर्शनपृष्ठभाविनो विकल्पस्य व्यवहारिणं प्रति स्मृतित्ववर्णनमयुक्तम् । न खलु व्यवहारी दर्शनाद् विकल्पमन्यमिच्छति *"मनसो-र्युगपद्वृत्तेः" [प्र० वा० २।१३३][15] इत्यादिवर्णनात् ।

अस्तु नाम तमः (अनुमानम्) तदन्यत्र मणिप्राप्तेः धूमादग्निवत्, पूर्वं च तत्प्रभाव्यवसायः स्यात्, वृक्षाध्यवसाये शिंशपाध्यवसायवत्, न चैवम्, अविचारैकमजातपरितोषं व्यवहारिणं प्रति तदप्रामाण्यवर्णनात् । एतेन कार्यलिङ्गत्वं तयोर्निरस्तम्; तदध्यवसायात् प्राग् अग्निव्यवसायवत् प्रभाध्यवसायेन भवितव्यमिति कुतस्तत्र मण्यध्यवसायः ? नहि धूमं निश्चिन्वतः [१९०ख] पावकस्य अन्यस्य वा अध्यवसायो दृष्टः । तत्र मणिव्यवसायस्य अनुमानत्वे *"मणिप्रदीपप्रभयोः" [प्र० वा० २।५७] इत्यादि[16] सुघटम् । यस्तर्हि अवधारितविशेषः एवमनुमानं करोति— प्रभावानयं गृहप्रदेशविशेषः मणिसहितप्रभाविशेषत्वात् अन्यत्रोपलब्धैवंविधतत्प्रदेशवत् । कुञ्चिकाविवरप्रभाविशेषो वायं मणिसंस्थानवान् तद्विशेषत्वात् पूर्वोपलब्धतद्विशेषवत्' इति, [तत्र]

---

(१) मिथ्याज्ञानस्य प्रसिद्धेः । (२) अनुमानात् । (३) परमार्थतः । (४) आवरण । (५) मणिप्रभामणिज्ञानम् । (६) प्रमाणम् । (७) कुञ्चिकाविवरस्थायां मणिप्रभायाम् । (८) अपवरकाभ्यन्तरे । (९) प्रमाणम् । (१०) तुलना—"कदाचिदन्यसन्ताने तथैवाप्येत वाचकैः । इष्टस्मृतिमपेक्षेत न भासेत परिस्फुटम् ॥"—प्र० वा० २।२९८ । (११) तत्त्वज्ञानेन । (१२) भ्रान्तेः । (१३) सादृश्यादिना । (१४) नित्यत्वादिलक्षणम् । (१५) "सविकल्पाविकल्पयोः । विमूढो लघुवृत्तेर्वा तयोरैक्यं व्यवस्यति ॥" इति शेषः । (*६) "मणिबुद्ध्याभिधावतोः । मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ॥" इति शेषः ।

का वार्त्ता ? अनुमानमेव तदिति ब्रूमः । अयं तु विशेषः—यद्येतत् मिथ्याज्ञानमप्रमाणं कथमन्यस्य तथाविधस्य अनुमानस्य प्रामाण्ये दृष्टान्तः स्यात् ? न खलु साध्यमेव दृष्टान्तीभवति अतिप्रसङ्गात् । ततः स्थितम्—'अनुमानं चेत् मिथ्याज्ञानम् अप्रमाणं स्यात्, अर्थादुत्पत्तौ तैमिरिकज्ञानवत्' इत्यस्य प्रदर्शनार्थम् अप्रमाणमहणमिति ।

अथवा, अन्यथा पूर्वपक्षयित्वा इदं व्याख्येयम् । तथाहि—यदुक्तम् अनन्तरप्रस्तावे[1] *"तदेतद् द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषविषयम्" इत्यादि *"प्रमाणम् अविसंवादात्" इत्यन्तम् ; तत्र तज्ज्ञानस्य वेदम (चेतन)स्वभावे आत्मनि समवायात् स[2] एव तांस्तथा बुध्यत इति नैयायिकादिः । शरीरे समवायात् शरीरं[3] न मनः इति चार्वाकाः । प्रधानम्[4] इति सांख्याः । तज्ज्ञानं स्वतः प्रमाणं न परतः इति मीमांसकाः । तदुक्तम्—

*"स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम् ।
न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते ॥"

[मी० श्लो० सू०२ श्लो० ४७] इति;

तत्राह—**मिथ्याज्ञानम्** इत्यादि । **ज्ञातुः** 'अवग्रहादिमतिस्मृति [१९१क] संज्ञाचिन्ताभिनिबोधात्मकं प्रागभिलापसंसर्गात् मतिज्ञानप्रभेदलक्षणं ज्ञानम्' इति[5] सम्बन्धः । न शरीरस्य प्रधानस्य वा ; तस्य ज्ञातृत्वायोगादिति निरूपयिष्यते अचेतनत्वात् घटादिवत् इति। कुतो ज्ञातुः ? इत्याह—**स्वतः** स्वस्वाभाव्यात्, नार्थान्तरज्ञानसम्बन्धादिति च । तज्ज्ञानं च प्रमाणमुक्तम् । कुतः ? **अविसंवादात्** । सांप्रतं वोच्यते, स्वतः सतो ज्ञातुः । ततोऽयमर्थो जायते—तज्ज्ञानं प्रमाणम् अविसंवादात्, स्वविषयीकृतस्वार्थाऽव्यभिचारात । अनेन स्वकार्ये प्रवृत्तिलक्षणे स्वग्रहणापेक्षणात् 'परतः तत्' इत्युक्तं भवति । **स्वतो** ज्ञातुः सकाशात इति का[6] विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः, 'उत्पत्तेः' इति शेषः, 'प्रमाणम्' इति घटनात् । किंभूतात् ? इत्याह—**स्वतः सतः** इति । विवृतमिदम् । अनेनापि कारणगुणतस्तदुद्भवात् परतः 'तद्' इति; मन्यते । अत्र दृष्टान्तमाह—**प्रमाणं मिथ्याज्ञानं विसंवादात् आवरणोद्भूतेश्च** यथा 'परतः' इति शेषः, आवरणाद् उद्भूतिः आवरणोद्भूतिः इणो (तस्याः) । कथंभूतात् ? **दोषहेतोः** इति । शेषम् उक्तवत् अ न न्त की र्त्ति कृ तेः स्व तः प्रा मा ण्य भ ङ्गा द् अवसेयमेतत् ।

यदि वा, **'दोषहेतोः'** इत्यादि अन्यथावतार्य अधुना व्याख्यायते—कुतो नु खलु आवरणोद्भूतिः ? यदि स्वतः ; मिथ्याज्ञानमपि तत(स्वत) एव अस्तु । परतश्चेत् ; स वक्तव्यः,न च सोऽस्ति, अप्रमाणत्वात् । नहि बीजमिव अङ्कुरम् आवरणं जनयन् कश्चिदुपलभ्यते अनुमीयते वा लिङ्गाभावात् । रागादिः उपलभ्यते ; सत्यम् ; किन्तु तदनन्तरमेव आवरणं जायमानं नोपलभ्यते अनुमीयते वा । [१९१ख] भवतु वा सकारणमावरणम्, तथापि तेन मूर्तेन अमूर्तस्य आत्मनः पांशुराशिना इव आकाशस्य न सम्बन्ध इति ; अत्राह—**दोषहेतोः** इत्यादि । दोषो

(१) सिद्धिवि० २।२४ । (२) आत्मा । (३) बुध्यते । (४) बुध्यते । (५) पृ० २१७ । (६) 'का' इति पञ्चमीविभक्तिः । (७) प्रामाण्यम् ।

रागादिः स एव हेतुः कारणं तस्मात् **आवरणोद्भूतेः** यद्वा स हेतुर्यस्याः तस्या इति । दृष्टान्त-माह–**विषादिवत्** इति । जीवोपयुक्तविषादेरिव तद्वदिति । तथाहि–मिथ्याज्ञानादनुमिता आवरणोद्भूतिः ज्ञातृरागादिपूर्विका तदुपघातहेतुत्वाद् विषादिवत् इति । जीवोपयुक्तविषादेरिव तद्वत् इति । वक्ष्यति च–*"**मनोव्यक्षायकर्मनिराश्रवैः (मनोवाक्कायकर्मभिरास्रवैः) शुभैरशुभैश्च यथास्वं पुण्यपापबन्धो जीवानाम्**" [सिद्धिवि०प्रस्ता० ४] इत्यादि । यदुक्तम्–अमूर्त्तस्य कथं मूर्त्तेन सम्बन्ध इति ? तदप्यनेन निरस्तम् ; तत्सम्बन्धहेतोर्दोषस्य अमूर्त्तेऽपि[1] भावात् । एतदपि वक्ष्यति–*"**मलैर्निसर्गाद् बध्येत**" [सिद्धिवि० प्रस्ता० ४] इत्यादिना। दोषस्य हेतोः विषयादेरिव (विषादेरिव) तद्वद् इति वा व्याख्येयम् ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**मत्यादि** (मत्यज्ञान इत्यादि) **मत्यज्ञानभेदा** मत्यज्ञानविशेषाः, उपलक्षणमेतत् तेन श्रुताज्ञानादिभेदा गृह्यन्ते । के ते ? इत्याह–**अवग्रहादयः** । आदि [शब्देन] ईहादिपरिग्रहः । एतदपि उपलक्षणम् अनुस्मरणादिभेदानाम् । ते किम् ? इत्याह– **प्रमाणाभासाः** प्रमाणं न भवन्ति इत्यर्थः । कुतः ? इत्याह–**मिथ्या** इति । **मिथ्या** अन्यथाग्रहणात्मका यतः ।

ननु अनुमानज्ञानम् अन्यथास्थितं स्वलक्षणम् अन्यथा[2] गृह्णदपि प्रमाणं ततो नेदमप्रमाणलक्षणं व्यभिचारादिति चेत् ; अत्राह–**प्रमाणस्य** इत्यादि । **प्रमाणस्यापि** (वि)प्रतिसारो यथावस्थितार्थनिर्णयो **लक्षणं** [१९२क] यस्य तस्य भावात् **तत्त्वात्** । एतदुक्तं भवति–प्रमाणत्वं यथार्थनिर्णयेन व्याप्तं सर्वप्राणभृतां सिद्धम् , मिथ्यैकान्तादिप्रवादेऽपि तद्विषयस्यैव परमार्थतो ज्ञानस्य प्रमाणत्वोपवर्णनात् परैरपि, ततो यथार्थे निवर्तमाने तदपि निवर्त्तते यथा वृक्षत्वे निवर्तमाने शिंशपात्वम् , अन्यथा सर्वस्य प्रमाणमिति न कश्चित् स्वपक्षसिद्धिविकलः स्यादिति । अनुमानं चेत् मिथ्या अप्रमाणम् । शेषमत्र चिन्तितम् , चिन्तयिष्यते चानकस्य (चानेकधा । कस्य) कथम्भूतस्य कुतो भवन्ति ? इत्याह–**स्वतः** इत्यादि । [**स्वतः**] आत्मनो जीवस्य न निराधारो नापि शरीरस्य[3] प्रधानस्य[4] वा । किंभूतस्य ? **प्रमाणभूतस्य** । यथार्थग्रहणस्वभावस्य **स्वतो** नार्थान्तरज्ञानसमवायात् । कुतो भवन्ति ? इत्याह–**परतो विपर्यासोपपत्तेः** । अत्रापि 'आत्मनः' इत्यपेक्ष्यम्, आत्मनः **परतः** मूर्त्तकर्मणः सकाशात् या विपर्यासोपपत्तिः अन्यथास्वभावापादनं तस्याः । अत्र दृष्टान्तमाह–**मत्त** इत्यादि । **मत्तमूर्च्छितस्य इव तद्वत्** इति । यथा मत्तादेः परतो विषादेः विपर्यासोपपत्तेः मिथ्याऽवग्रहादयः तथा अन्यस्यापि इति निदर्शनार्थः ।

एतेन इदमपि प्रत्युक्तं यदुक्तं परेण–*"**कर्मणा आत्मस्वरूपाऽखण्डने तदवस्थं जैनस्य सर्वस्य सर्वदर्शित्वम् , खण्डने आत्माऽमित्यत्वम् । आवरणं च प्रकाश्यप्रकाशकयोः अन्तराले वर्त्तमानं घटप्रदीपयोरिव प्रावरणम् प्रकाश्यस्यैव प्रकाशनं प्रतिबध्नाति न प्रकाशकस्य । नहि अन्तर्यवनिकया दीपस्य आत्मप्रकाशनं प्रतिहन्यते इति आत्मनः तस्मिन् सत्यपि [१९२ख] सर्वथा स्वरूपप्रकाशनं स्यात् ।**" इति ; कथञ्चित् आत्मस्वरूपखण्डनस्य

(१) जीवे । (२) सामान्यरूपेण । (३) चार्वाकाभिमतस्य । (४) सांख्याभिमतस्य । (५) आवरणे ।

अभिमतत्वात्, आत्मनः परतो विपर्यासोपपत्तिवर्णनात्, अन्यथा कोऽस्यार्थः स्यात्, कथञ्चिदनित्यत्वस्य व (च) सर्वथा अन्यत्रापि तदसंभवात्। दृश्यते हि किट्टिकालिकादिना कलुषितवपुषाम् अन्य(मण्या)दीनां स्वरूपेऽपि चित्रप्रकाशनम्—

*"मलविद्धमणेर्व्यक्तिर्यथाऽनेकप्रकारतः।
कर्मविद्धात्मनो व्यक्तिस्तथाऽनेकप्रकारतः॥"

[लघी० श्लो० ५७] इति।

'स्वतः प्रमाणभूतस्य' इत्यस्याऽनभ्युपगमे दूषणमाह—यदि इत्यादि। यदि चेत्, पुनः इति वितर्के पक्षान्तरसूचने वा, स्वत एव स्वस्वभावत एव स्वकारणादेव यो ज्ञाता यथार्थग्राही न स्यात् न भवेद् 'आत्मा' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः। तत्र को दोषः? इत्याह—परतः इत्यादि। स्वरूपात् स्वहेतोर्वा परं ज्ञानं ततः, कुतो नैव स्यात् 'ज्ञाता' इति सम्बन्धः। अत्र दृष्टान्तमाह—अचेतनवत् इति। घटादिः अचेतनः तेन तुल्यं वर्त्तते इति तद्वत् इति। प्रयोगश्च—यो ज्ञानस्वभावरहितो नासौ ज्ञाता यथा घटादिः, ज्ञानस्वभावरहितश्च परस्य आत्मा इति।

ननु किमिदमचेतनमिति? चेतना[ऽ]समवायिकारणम्; तत्समवायिकारणं तर्हि चेतनं प्रसक्तमिति आत्मापि चेतन इति कथम् अज्ञाता, चेतनस्यैव तद्व्यपदेशादित्यभ्युपगमविरोधः। न च चेतनास्वभावो न तत्समवायिकारणम्; अरूपादिस्वभावस्यापि घटादे रूपादिसमवायिकारणत्वोपपत्तेः। अथ चेतनायाः अन्यदचेतनम् [१९३क] स्यात्; न च तदस्ति, प्रमाणाऽभावादिति दृष्टान्तमात्रमशेषमिति न साध्यधर्मिसंभवः, तद्भावे वा तत एवासिद्धेः (एव सिद्धेः) किमेतेन अनुमानेन? अत एव तत्सिद्धौ अन्योऽन्यसंश्रयः—तथा हतो (हि—अतः) तस्य आत्मतत्त्वसिद्धौ अन्ये घटादयो दृष्टान्तीभवन्ति, ततश्च तत्सिद्धिः इति। यदि पुनः अचेतनत्वाविशेषेऽपि आत्मन आश्रयत्वं घटादेस्तत् 'अचेतनवत्' इति सामान्यवचनेन लभ्य[ते] इति चेत्; न; उभयथाप्यदोषात्। तथाहि—अस्तु तावच्चेतनाऽसमवायिकारणम् अचेतनं घटादि, चेतनं च तत्समवायिकारणम्, तथापि न इत्युपगममाहानिः (महानिः), चेतनापरिणामकारणस्यैव समवायिकारणत्वात् नान्यस्य, अन्यथा चक्षुरादेरपि तत्कारणत्वप्रसङ्गात्। तत्र तस्याः असमवायान्नेति चेत्; अथ कोऽयं तत्र समवायः? तस्मिन् सति आत्मलाभ इति चेत्; प्रसङ्गः पूर्ववद्भवेत्। तत्रोत्कलितं(तत्वम्;) तदेव न बुध्यामहे। तस्मिन् सति तदात्मन उद्भव इति चेत्; न किञ्चित् परिहृतम्। 'तदाधेयत्वम्' इत्यपि वार्त्तम्; भूतले कलशादेः समवायप्रसङ्गात्। अयुतसिद्धस्य इति चेत्; किमिदमयुतसिद्धस्य इति? अपृथक्सिद्धस्येति चेत्; न; [अ]पृथक्सिद्धत्वं यदि कारणादेकान्तेनाभिन्नसिद्धत्वम्; सांख्यदर्शनम्। अथ कथञ्चित्; जैनशासनम्। स्यान्मतम्—

---

(१) दृष्टान्ते मण्यादौ। (२) चेतनस्य समवायिकारणं यत्र भवति तदचेतनमित्यर्थः। (३) ज्ञातृव्यपदेशात्। (४) चेतनमस्ति। (५)चेतनसद्भावे वा। (६) धर्मित्वम्। (७) दृष्टान्तत्वम्। (८) चेतनायाः समवायिकारणं यत्र भवति तदचेतनमित्यर्थः। (९) यः स्वयं चेतनरूपेण परिणमति तस्यैव। (१०) चेतनासमवायिकारणत्वप्रसङ्गात्। (११) चक्षुरादौ। (१२) चेतनायाः। (१३) समवायाभावात्। (१४) चक्षुरादौ सति चेतनाया आत्मकाभस्य प्रतीतेः। (१५) सांख्येन कार्यकारणयोरभेदत्वस्वीकारात्।

कारणाभिन्नदेशकालप्रभवत्वम् ; आकाशादि [१]समवायिकारणं किन्न स्यात् ? नहि तद्देशादि-परिहारेण चेतनासंभवः [२]तदसर्वगतत्वप्रसङ्गात् । बुद्ध्यात्मप्रदेशस्य चक्षुरायभिन्नदेशादित्वे बुद्धेरपि तद्भवति न वेति चिन्त्यताम् । [१९३ ख] ततः चेतनैव चेतनासमवायिकारणम् , तदकारणमचेतनम् इति स्थितम् ।

यत्पुनरुक्तम्—अरूपादिस्वभावा घटादयो रूपादिसमवायिकारणमिति ; तदप्यनेन निरस्तम् ; ५ ननु घटादिवत् आत्मनोऽपि अतत्स्वभावस्य चेतनासमवायिकारणत्वे साध्यदृष्टान्तयोरविशेष इति चेत् ; आस्तां तावदेतत् , अनन्तरं निरूपणात् । भवतु वा चेतनाया अन्यदचेतनम् , तथापि न सर्वस्य दृष्टान्ताऽविशेषः, अचेतनत्वेऽपि आत्मनः साध्यधर्मित्वेन उपादानात् , 'अन्यद् अचेतनं दृष्टान्तीभवति, यथा पिण्डोऽयं सास्नादिमान् गोवत्' इत्युक्ते अन्यो गौः दृष्टान्तीभवति । न चान्यधर्मसिद्धिचोदनम् ; न्यायसिद्धे तस्मिन् परारोपितधर्मनिषेधात् । १०

इदमपरं व्याख्यानम्—यदि पुनः स्वत एव स्वनैव रूपेण ज्ञाता अर्थग्रहणपरिणामी न स्याद् आत्मा परतोऽसमवायि-निमित्तकारणात् कुतः स्यात् ? नवै नहि तथापरिणामस्वभावरहितस्य कस्यचिद् अन्यः तथापरिणामः अचेतनवत् पृथिव्यादिवत् इति, लोकायतापेक्षया घटादिवत् इति ।

ननु यदुक्तम्—'आत्मनः चेतनस्याभेदे तद्वत्[३] चक्षुरादिरपि तत्समवायिकारणं स्यात्, भेदस्य १५ समवायस्य वाऽविशेषादिति ; तन्न युक्तम् ; भेदाऽविशेषेऽपि कस्यचिदेव कस्याश्चित् प्रत्यासत्तेः कार्यं प्रति [४]तत्कारणत्वोपपत्तेः, चित्रत्वाद् भावशक्तीनामिति चेत् ; अत्राह—परस्य इत्यादि । परस्य ज्ञातुः अन्यस्य कारणस्य अतिशयस्य सामर्थ्यस्य [१९४ क] कल्पनायां 'स्वत एव' इत्यनुवर्त्तते, अन्यथा अनवस्था स्यादिति मन्यते । आत्मनः किन्न कल्पयेत् स्वत एव ग्रहणातिशयं नैयायिकः, कल्पयेदेव न्यायस्य समानत्वादिति मन्यते । २०

अथवा, अन्यथा पूर्वपक्षयित्वा इदं व्याख्येयम्—'नात्मा स्वतः परतो वा ज्ञाता तस्य ज्ञानसम्बन्धाऽभावात् , अपि तु [५]प्रधानं ज्ञातृ विपर्ययात् , ततस्तस्यैव मिथ्याज्ञानग्रहादयः परतो विपर्यासोपपत्तेः परिणामित्वात् , नात्मनो विपर्ययात् इति सांख्यः ; तं प्रत्याह—परस्य इत्यादि । परस्य आत्मनोऽन्यस्य प्रधानस्य अतिशयकल्पनायां यथार्थेतरज्ञानसामर्थ्यकल्पनायाम् आत्मनः पुरुषस्य तमतिशयं किन्न कल्प्यते, यतः सांख्यप्रधानवद् आत्मनोऽपि परिणामाऽविरोधादिति २५ मन्यते ।

ननु भवतु स्वतो ज्ञाता आत्मा सावरणश्च तथापि आवरणाभावे अक्षव्यापारसमकालमेव भावतोऽर्थं विषयीकरोतु तन्मात्र एव तत्सामर्थ्यात् । तद्यथा—*"प्रदीपः अनावरणेऽपि स्वयोग्यमेव प्रकाशयति न सर्वम्" इति प्र भा क रः ; तत्राह—'ज्ञस्वभावस्य' इत्यादि । जानाति इति ज्ञः स्वभावो यस्य ज्ञस्वभावस्य आत्मनः जानतो न कश्चिद् विरोधः । किम् ? इत्याह— ३०

---

(१) चेतनासमवायिकारणम् । (२) आकाशस्य असर्वगतत्वप्रसङ्गात् । (३) आत्मवत् । (४) समवायिकारणत्वोपपत्तेः । (५) प्रकृतिः सांख्याभिमता ।

द्रव्यम्, न गुणपर्यायौ । अनेन रूपाद्यवयवात्मन एकस्य स्थवीयसः तेन ग्रहणादिति मन्यते । वर्तमानकालविशेषणं [1]तत्तस्य जानतो न विरोध इति चेत् ; अत्राह—त्रिकालगोचरम् । त्रयः कालो गोचरो यस्य तत् तथोक्तं त्रिकालावयविरूपमित्यर्थः । एवमपि खण्डशो जानत इत्याह—अशेषं सर्वम् । केन प्रकारेण ? [१९४ख] इत्याह—कथञ्चित् । येन केनचित् प्रकारेण । तथाहि—
५ पूर्वं चक्षुरादिना नवत्वविशेषणविशिष्टस्य घटस्य ग्रहणम्, पुनः तस्यैव[2] तेन पुराणविशिष्टस्य, तदनन्तरं पूर्वपर्यायविशिष्टस्य स्मरणात्, प्रत्यभिज्ञानात् पूर्वापरपर्याययोः तां यावः (तदेकत्वस्य), तर्केण जन्मादिमरणपर्यन्तं पर्यायाणाम् एकत्वाविनाभाविनां दर्शनस्मरणाभिज्ञानजन्मना साकल्येन सामान्यतः स्वसाध्याऽविनाभावे तेषां[3] गृहीते सति, द्रव्यस्य अनन्तता अनुमानतः प्रतीयते इति ।

एके अनुमानजन्मना मानसप्रत्यक्षेत्व (णेति ; तत्) कथम् इति चिन्त्यम् । अक्ष-
१० जात्यत्वात् (अक्षातीतत्वात्) न किञ्चिदप्रत्यक्षं स्यादिति चिन्तितम् ।

कदा ? इत्याह—प्रतिबन्धाभावे । यस्य ज्ञानस्य स्वविषये प्रवर्तमानस्य यत् प्रतिबन्धकं कर्म तस्य अभावे सति । ननु ज्ञानस्वभावस्य प्रतिबन्धरहितस्यापि अभिन्नदेशकालाऽर्थग्रहणमात्मनः; अन्यथा अतिप्रसङ्ग इति चेत्; अत्राह—अप्राप्यकारिणः । प्राप्तुं ग्राहकसमानदेशकालं कर्तुं शक्यं प्राप्तं (प्राप्यं) यन्न तथा भवति तदप्राप्यं कर्तुं गृहीतुं शीलस्य अप्राप्यकारिणः, देशवत् कालभिन्न-
१५ स्यापि ग्रहणे विरोधाऽभावादिति मन्यते । [5]यस्तु मन्यते स्वरूपादन्यत्र न ज्ञानस्य प्रवृत्तिः तत्कथमुच्यते अप्राप्यकारिण इति ? स ह(प्र)ष्टव्यो भवति—कथं स्वरूपे वृत्तिः ? तत्र वर्त्तमानस्य दर्शनादिति चेत्; तदितरत्र समानम् । निरूपपितु (रूपितं) चैतत् ।

अत्राह मीमांसकः—तदशेषं जानतः षड्भिः प्रमाणैर्न कश्चिद् विरोधः' इति[6]। तं प्रत्याह—स्व इत्यादि । यथोपवर्णितस्य आत्मनः स्वविषयं सत् सर्वम् [१९५क] अन्यथा व्याप्त्यप्रतिपत्तिः[8],
२० तत्र वैशद्यमनुभवतो न कश्चिद् विरोधः 'प्रतिबन्धाभावे' इत्यनुवर्त्तते । दृष्टान्तमाह—परोक्ष इत्यादि । ननु प्रत्यक्षपरोक्षवत् इति वक्तव्यम् न्याय्यत्वादिति चेत्; न; परमतापेक्षया एवमभिधानात् । तथा हि— यदुक्तं प्र ज्ञा क रे ण—*"कथमेकत्रैं कर्मविषयोऽवगम्यन्ते यतोऽशेषं द्रव्यं कथंविज्ञा(थञ्चिज्ज्ञा)नतो न कश्चिद् विरोध इति स्यात्" इति तदुद्दिश्य परोक्षं साधारण-(णा)स्पष्टाकारविषयमानादिविकल्पज्ञानं तच्च तत्प्रत्यक्षं च स्वरूपापेक्षया तेन तुल्यं वर्त्तते इति
२५ तद्वद् इति व्याख्येयम् । यथा एकं युगपद् आकारद्वयसाधारणमवगम्यते तथा क्रमेण अनेक-वित्तिसाधारणमिति मन्यते । मीमांसकमुद्दिश्य समत्वका (समन्धका) राद्यन्तराऽविशदवृक्षादि-ज्ञानं परोक्षं तदिव । चकाराभावे वि(ऽपि) सत् प्रत्यक्षमुच्यते तस्य इव तद्वत इति व्याख्येयम् ।

पक्षे प्रमाणाबाधं दृष्टान्ते साध्यं दर्शयन्नाह सौगतः—नास्माकम् इत्यादि । नास्माकं सौगतानाम् आवरणं च ज्ञानावरणीयादिकर्म, क्षयश्च उपशमश्च अन्यस्य अप्रकृतत्वात् अश्रुतेः,

---

(१) द्रव्यम् । (२) घटस्यैव । (३) पर्यायाणाम् । (४) प्रज्ञाकरः । (५) "यदि षड्भिः प्रमाणैः स्यात् सर्वज्ञः केन वार्यते । एकेन तु प्रमाणेन सर्वज्ञो येन कल्प्यते । नूनं स चक्षुषा सर्वान् रसादीन् प्रतिपद्यते ॥"—मी० श्लो० चोदनासू० श्लो० १११–१२ । (६) व्याप्तेः त्रिकालगोचरत्वात् । (७) आत्मनि । (८) क्रमज्ञानानि । (९) परोक्षं ज्ञानम् ।

स्वावरणस्यैव क्षय उपशमश्च गृह्यते तेषां च सा (वशात्) बुद्धिः नावरणवशात् मिथ्याबुद्धिः येन 'मत्यज्ञानभेदात्' (दा) इत्यादि शोभेत । नापि तत्क्षयोपशमवशाद् यथार्थबुद्धिः यतो 'ह्रस्व-भावस्य' इत्यादि च । कुतः तर्हि सा ? इत्याह–अपि तु, किन्तु स्वकारणशक्तेः मिथ्या-बुद्धेः कारणं कदाचित् कलुषितं लोचनादि *"तिमिराशुभ्रमण" [न्यायवि० १।६] इत्यादि[1] वचनात्, यथार्थबुद्धेः तदेव विपरीतम्, तस्य शक्तिः [१९५ख] यथोक्तज्ञानजननसामर्थ्यम्[2] तस्या बुद्धिः इति सम्बन्धः ।

ननु यथा कामलाद्युपलिप्ताच्चक्षुरादेः इन्द्रियजा भ्रान्तिः तथा कर्माऽऽवरणोपलिप्तात्मनः सा मानसी विकल्पभ्रान्तिरिति; अत्राह–स्वलक्षण इत्यादि । स्वलक्षणदर्शनेन आहिते स्थापिते सन्ताने या विकल्पवासना विकल्पकारणभूता वासना । यदि वा, तदर्शनाहिता स्व-कार्यजननं प्रत्यभिमुखीकृता पूर्वपूर्वविकल्पजनिता वासना तस्याः प्रकृतेः स्वभावात् नावरणो-द्भूतेः संवृतिः स्वतः उद्भूता तत्त्वसंवरणात् सामान्यादिति (वि) कल्पबुद्धिः । सा किं करोति ? इत्याह–व्यवहारं मिथ्येतररूपम् आरचयति । कुतः ? इत्याह–वस्तुमात्रव्यवसायात्–अस्व-लक्षणेऽपि स्वाकारे स्वलक्षणलेशाध्यवसायात् । अनेन मिथ्यात्वमस्य दर्शयति । चेत् शब्दः परा-कूतोद्द्योतकः ।

ननु मत्तमूर्च्छितादेः इन्द्रियजा मानसी भ्रान्तिः विषादिमूर्त्यसवसंय (मूर्च्छाशयसंपर्क) कलुषितप्राक्तनान्मनसो दृष्टापि यदृष्टतथाविधभावसंपर्कमनःपूर्विका कल्प्यते; तर्हि क्षित्यादेः बीजसह[कृता]या दृष्टोऽपि अङ्कुरः खलविलादिव्यवहिते बीजे अङ्कुरो दृश्यमानः क्षित्यादे-रेव किन्न कल्प्यते ? तथा, यद्यथा (?) यथा मदिरादिप्रतिबन्धनिवृत्तिः तथा ज्ञानेषु मिथ्यात्व-निवृत्तिर्दृष्टापि यद्यन्यथा स्यात्; न तर्हि कारणनिवृत्तिप्रयुक्ता कार्यनिवृत्तिरिति न क्वचिद् व्यव-तिष्ठेत इत्यभिप्रायवता 'मिथ्याज्ञानम्' इत्यादि वदता एतत् परिहृतं यद्यपि तथापि भङ्ग्यन्तरेण [१९६क] परिहरन्नाह–न इत्यादि । परोक्तनिषेधे न इति शब्दः । कुतः ? इत्याह–क्षणिकै-कान्ते अर्थस्य कार्यस्य क्रिया करणं तद्विरोधस्य निर्णयाद् अनन्तरातीतप्रस्तावे इति शेषः ।

ततः किं जातम् ? इत्याह–कार्य इत्यादि ।

[कार्यकारणता नैव चित्तानां सन्ततिः कुतः ।
सन्तानान्तरवद्भेदात् वास्यवासकता कुतः ॥३॥

सत्यां च कार्यकारणतायां कुतः क्वचित् सन्ताननियमः ? सर्वत्र सर्वेषामानन्तर्या-

(१) "तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभाद्य···–तिमिरमक्ष्णोर्विप्लवः, इन्द्रियगतमिदं विभ्रमकारणम्। आशुभ्रमणम् अलातादेः। मन्दं हि भ्राम्यमाणे अलातादौ न चक्रभ्रान्तिरुत्पद्यते तदर्थमाशुग्रहणेन विशेष्यते भ्रमणम्। एतच्च विषयगतं विभ्रमकारणम्। नावा गमनं नौयानम्। गच्छन्त्यां नावि स्थितस्य गच्छ-द्वृक्षादिभ्रान्तिरुत्पद्यत इति. यानग्रहणम्। एतच्च बाह्याश्रयस्थितं विभ्रमकारणम्। संक्षोभो वातपित्त-श्लेष्मणाम्। वातादिषु हि क्षोभं गतेषु उच्चलितस्तम्भादिभ्रान्तिरुत्पद्यते। एतच्च अध्यात्मगतं विभ्रम-कारणम्। सर्वैरेव च विभ्रमकारणैरिन्द्रियविषयबाह्याध्यात्मिकाश्रयगतैः इन्द्रियमेव विकर्तव्यम्।"–न्याय-वि० टी० १।६। (२) निरर्थकमिदम्।

विशेषात्। सत्यपि वास्यवासकता न भवत्येव प्रत्यासत्तेरभावात्। ततो विकल्प एव [न] भवेत्।]

तद्विरोधनिर्णयात् **कार्यकारणता** कार्यता कारणता वा **नैव**। केषाम्? इत्याह—**चित्तानां** 'क्षणिकैकान्ते' इत्यनुवर्तते। अर्थक्रियारूपत्वात्तस्या[1] इति भावः। मा भूत् सा, तथापि
५ किम्? इत्याह—**सन्ततिः** सन्तानः **कुतः** '**चित्तानाम्**' इति सम्बन्धः। कार्यकारणताविशेषलक्षणत्वात् सन्ततेरिति मन्यते। भवतु वा तत्र तेषां कारणता तथापि दोषः, इत्याह—**वास्यवासकता** पूर्वचित्तं तस्य(त्तस्य) वासकता, उत्तरचित्तस्य वास्यता **कुतः** नैव। कुतः? **भेदात्** नानात्वात् 'एकसन्तानत्वेन अभिमतचित्तानाम्' इति घटना। दृष्टान्तमाह—सन्तानान्तराणामिव **सन्तानान्तरवद्** इति।

१० कारिकां विवृण्वन्नाह—**सत्यां च** इत्यादि। च शब्दः अपिशब्दार्थः संभावनायाम्। सत्यामपि **कार्यकारणतायां क्वचित्** लक्षणैकान्ते (क्षणैकान्ते) **कुतो** न कुतश्चित् **सन्ताननियमः**—'अयम् एकः सन्तानः, एते च नानासन्तानाः' इति विभागः; 'तदेकान्ते' इत्यनुसम्बन्धः।

ननु येषां क्षणानाम्[2] आनन्तर्येण पूर्वापरभावः तेषामेकसन्तानत्वम् अन्येषां विपर्यय इति चेत्; अत्राह—**सर्वत्र सर्वेषाम्** इत्यादि। **सर्वेषां** भिन्नैकसन्तानपातिनां क्षणानाम् **आनन्तर्याऽ-**
१५ **विशेषात् सर्वत्र** बहिरन्तर्वा। यद्वा, **सर्वत्र** कार्यकारणाभिमतानाम् **सर्वेषां तदविशेषात्** इति प्रत्येयम्।

अत्रापरः[3] [१९६ख] प्राह—नानन्तर्यात् सन्ताननियमः; अन्यथापि तद्भावात्, जागत्प्रबोधचेतसोरिवेति; तस्य समानं कालंश्रये (कालं येषां तानि[4]) जाग्रच्चेतांसि कस्यचित् प्रबोधस्य एकसन्तानानि कुतो न भवन्ति? देशादि देशस्यं भेदस्य सर्वत्राविशेषात्। एकस्य अनेको-
२० पादानाभावात् [न] इति चेत्; कथमेकस्माद् देवदत्तजाग्रद्विज्ञानात् प्रबोधज्ञानपञ्चकं कदाचित् भवति। एकस्यैव ततो भावे अन्येषामनुपादानत्वम्। तेषां तद्विज्ञानात्[5] पूर्वज्ञानोपादानत्वे 'नैकसामग्र्यधीनः भावानां सहभावः' इति निःसारमेतत्—*"**एकसामग्र्यधीनस्य**" [प्र०वा० ३।१८] इत्यादि। रसादीनां सहभावे हि एकसामग्र्यधीनतानियमाभावात्। न कालाभावा (नैककालभाविनाम्) एकसामग्रीव्यपदेशता इत्युक्तम्। तद्भावेऽपि न ज्ञायते किं कस्य तत्रोपा-
२५ दानमिति। रूपज्ञानं रूपज्ञानस्य, एवमन्यत्रापि योज्यमिति चेत्; आर्यं सौगतं ज्ञानमनुपादानं प्रसक्तम्, पूर्वं तथाविधस्यं[6] तदुपादानस्याभावात्, अन्यथा[7] कुतः सोपायं सुगतत्वम्? अनुमानस्य विकल्पेन भिन्नसन्तानत्वे तु प्रत्यक्षं प्रति उपादानत्वम्, अन्यथा विकल्पस्य तद् इति "**अभेदात् सदृशस्मृत्याम्**" [सिद्धिवि० १।७] इत्यादि दूषणमविचलितम्। अतो यथा एकमनेकस्य उपादानम् तथा अनेकमेकस्य, इतरथा जाग्रद्विज्ञानपञ्चकात् नैकं कदाचिद् [इति]

---

(१) कार्यकारणतायाः। (२) चित्तानाम्। (३) व्यवहितकारणवादी प्रज्ञाकरः। (४) व्यवहितेऽपि। (५) समानकालानि। (६) व्यर्थमेतत्। (७) प्रबोधचेतसः। (८) जाग्रच्चेतसः। (९) जाग्रद्विज्ञानात्। (१०) सर्वज्ञतुः ज्ञानस्य। (११) यदि पूर्वमपि सौगतं सर्वज्ञज्ञानमस्ति तदा कुतः 'उपायात् सर्वज्ञत्वं लभते' इति स्यात्?

अन्येषामानर्थक्यम् । सहकारित्वान्नेति चेत् ; तर्हि विषादिमूर्च्छितादिप्रतिबोधं प्रति वैनतेयादिज्ञानादेकमपार्थकम् । भिन्नकालानामेकत्र सहकारित्वे अनुमीयमानरूपसमानकौल्यरसः पूर्वरूपादेरुपजनने सहकारीति सामग्र्येकदेशः सामग्र्या लिङ्गमिति प्रसक्तम् ।

किञ्च, एकत्र भिन्नकालानेकोपादानसहकारिज्ञानव्यापारसंभवे न ज्ञायते भेदैकान्ते[3] सन्ततिनियम इति तदवस्थो दोषः । न च तेषां सजातीये उपयोगे अन्यत्र उपयोग इति चिन्तितम् । तत्र प्रबोधभिन्नकाले उपयोगो वा[4] तथैकस्य क्रमभाविनि कार्ये व्यापार इति *"नाऽक्रमात् क्रमिणो भावाः" [प्र० वा० १।४५] इति न बुद्ध्यामहे ।

अन्ये त्वाहुः—न अनन्तरं नापि भिन्नकालमुपादानम्, अपि तु सदंशम्, अतोऽयं नियम[5] इति ; तेषां शान्तचेतसः कुतश्चिद्[6] आविष्टप्रबोधभावे कथं स[7] इति निरूप्यताम् ? पुत्रस्य पितृचित्तधर्मानुवृत्तौ संभवेत्[8], नियमाभावः[9] अन्यत्रापि । तन्न सन्ताननियम इति स्थितम् ।

भवतु वा तन्नियमः, तथापि दोषः इत्याह—सत्यपि इत्यादि । पूर्वचित्तस्य वासकता अपरस्य वास्यता न भवत्येव । कुतः ? इत्याह—प्रत्यासत्तेरभावात् ।

अथ केयं प्रत्यासत्तिः यस्याः त्वया अत्राभावोऽभिधीयते ? हेतुफलभाव इति चेत् ; सा अस्त्येव इति हेतोरसिद्धिः, 'सत्यपि' इत्यादि वचनात् । [10]अन्यथाऽभ्युपगमे वा दोषः । देशादिनैकत्वम् ; तर्हि तदभावेऽपि[11] उपादानोपादेयभाववद् वास्यवासकभावोऽपि न विरुद्ध्यत इति सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिको हेतुः । यदि पुनः तदभावे अनुपादानेतरभावोऽपि नेष्यते ; 'सत्यपि' इत्यभ्युपगमविरोधः इत्युक्तो दोषः । यदि पुनः योग्यता ; कुतस्तदभावो भेदैकान्ते ? वास्यवासकत्वेन अभिमतयोः देशादिभेदात् ; [१५७ख] उक्तमत्रापि जन्यजनकभावयोग्यताभावात्, इयमपि योग्यता न विरुध्यत इति । दृष्टत्वाच्च, दृष्टं खलु जात्यन्धचित्तं शास्त्रादिपरिज्ञानंपरि(नपरि)कर्म देशादिव्यवहिते प्रबोधचेतसि वा नि(वि)रूपां वासनामादधानम् । न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम । न च स्वापादिदशाऽनु[भूयते] । यापि तत्परिकरचेतस्त्वचित्तकैः अनुभूयते [12]तदशाभावभयात् यतस्तत्र वासना कल्प्यते इति तथा कल्पंसादि (कार्पासादि[13]) कुसुमं कुस्थमादिरक्तं कालादिव्यवहिते फलजाथि । बीजपूरादिकाण्डादि काण्डादिकरक्तं यतः स्यात् भवेत् (?) ।

यत्पुनरेतत् निदर्शनम्—'सन्तानान्तरवत्' इति ; तदपि न सूक्तम् ; वैषम्यात्, हेतुफलभावस्य नियतत्वात् । अन्यत्रापि अस्य चोद्यस्य समत्वादिति ; तन्न ; अन्यथाऽभिप्रायात् ; तथाहि—राज्ञा (राज्ञो) राजपुत्राणामिव भेदेऽपि यथाकथञ्चिदस्तु लौकिकः सन्ताननियमः, वास्यवासकभावः पुनः कथञ्चित् कारणानुरूपकार्यभावः । स[14] पूर्वमेव कारणविनाशे न युक्तः ।

---

(१) गरुडध्यानादिकम् । (२) काले भवः कालयः । (३) क्षणिकैकान्ते । (४) वा शब्दः 'यथा' अर्थे । (५) सन्ताननियमः । (६) क्रोधादिसद्भावे । (७) एकसन्ताननियमः । (८) एकसन्तानत्वम् । (९) नियमान्न पुत्रः पितृचित्तमनुवर्तते इत्युक्ते प्राह । (१०) हेतुफलभावाभावस्वीकारे । (११) देशादिनैकत्वाभावेऽपि । (१२) स्वापादिदशा । (१३) तुलना—"व्यवहितस्यापि लाक्षारसादेरुपधानस्य दर्शनादिति" —प्र० वार्तिकाल० पृ० ४३३ । "लाक्षादिरसावसिक्तानामिव बीजानां···"—तत्त्वसं० प० पृ० १८२ । (१४) वास्यवासकभावः कारणानुरूपकार्यभावो वा ।

न हि यथा पितरि मृतेऽपि कालान्तरे तत्सन्तानं च गृह्णन्ति पुत्रादयः, दृश्यते अद्यापि राज्यस्थितेन राज्ञ (ज्ञाऽ)जनितोऽपि स्वराज्ये पुनः निवेशितः तत्सन्तानव्यपदेशभाक्, तथा [1]तदाकारम् ; अन्यथा चिरमृतेऽपि भर्त्तरि विधवायाः चिरभाविनि वा[2] कन्यायात्र(यास्त)दाकारमपत्यं भवेत् ।

५ यत्पुनरेतदुक्तम्–मृतेऽपि जाग्रच्चेतसि तदनुरूपं प्रबोधज्ञानमिति ; तदपि न सारम् ; *"सिद्धं यन्न परापेक्ष्यम्" [सिद्धिवि० १।२४] [१९८ क] इत्यादि कारिकाविचारे विचारितत्वात् । अपि च, अदर्शनमात्रेण स्वापादौ आत्माभावसिद्धौ घटादावपि स्यादिति न निराकुलमेतत्[3] *"अदृश्यानुपलम्भादात्मनो घटादिषु अभावाऽप्रतिसिद्धौ घटादीनां नैरात्म्याऽसिद्धेः निरात्मकेभ्यो घटादिभ्यः प्राणादेः अनिवृत्तिः" इ[ति]ना[दृश्यानुपलम्भ]
१० नादभावासिद्धिः, अपि तु प्रतिपत्रभिप्रायविषयाद् अवस्थाचतुष्टयादिवे[4][ति चेत्,] तर्हि सात्मकाऽनात्मकावस्थाभेदात् तद्विषयात् घटादीनां नैरात्म्यं केन वार्यते ? यथा च'सुप्तो देवदत्तः सुषुप्तो मृतो जीवति' इति व्यवहारभेदः, तथा कारणात् कार्यात् स्वभावाद् अन्यतश्च साध्यसिद्धिव्यवहारभेदोऽस्ति, स किन्नाऽभ्युपगम्यते ? कारणान्ययोर्व्यभिचारदर्शनात् सर्वधानास्वासे (कारणादीनामन्योन्यं व्यभिचारदर्शनात् सर्वत्रानाश्वासे) दृश्यादर्शनस्य व्यभिचारदर्शने स्वापादौ किन्नाम
१५ (किन्न आत्म)सत्त्वाशङ्का स्यात्, यतः जाग्रच्चेतस एव प्रबोधो निश्चीयेत ? न च व्यवहारः चैतन्यविर[हि]णां स्वापादिदशां मन्यते, तद्वत्यपि[5] जीवद्व्यवहारप्रवर्त्तनात् । [6]तेषां च [7]तत्र [8]तदभावमननादभावे न क्वचित् क्षणभङ्गदर्शनं सिध्येत्[9] । 'तैः'[10] अनुपलक्षितं [11]तदस्ति न स्वापादिचैतन्यम्' इति किं कृतो विभागः ?

यत्पुनरुक्तम्–कार्पासादिकुसुमे लाक्षादिरागात् फले तद्रागवासना इति ; तदप्यतिसाहसम्;
२० रञ्जितपुष्पस्य व्यवहितफलकारणत्वे अवान्तरबीजाङ्कुरादिवैफल्यम् । कथञ्चैवम् 'अनन्तरोऽर्थः ज्ञानं स्वाकारं जनयति' इति नियमः, [१९८ख] यतस्तदर्थिनां नियतदेशादौ वृत्तिः ? ततः स्थितम्–'क्षणिकैकान्ते वास्यवासकता न भवति' इति ।

तदभावे को दोषः ? इत्याह–तत इत्यादि । यत एवं **ततो विकल्प एव [न] भवेत्** कारणाभावादिति[12] मन्यते ।

२५ नन्वस्य सर्वस्य अभावो न बौद्धान् प्रति[13] प्रतिभासाद्वैतवादिनो बाधते अभीष्टत्वात् । न च पक्ष एव विपक्षः अतिप्रसङ्गादिति चेत् ; अत्राह–**अन्यतोऽपि (तो विनिवृत्ता)** इत्यादि ।

---

(१) पितुः आकारं न हि तत्सन्तानत्वेन गृह्णन्ति । (२) भर्तरि । (३) तुलना–"नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरमप्राणादिमत्त्वप्रसङ्गात् । निरात्मकेषु घटादिषु दृष्टादृष्टेषु प्राणाद्यदर्शनात् तन्निवृत्त्या आत्मगतेः । अदृश्यानुपलम्भादभावासिद्धौ घटादेर्नैरात्म्यासिद्धेः प्राणादेरनिवृत्तिः ।"–प्र० वा० स्व० पृ० ६२ । (४) जाग्रत्सुप्तसुषुप्तमृतेतिअवस्थाचतुष्टयमत्र ग्राह्यम् । (५) स्वापादिमत्यपि पुरुषे । (६) व्यवहारिणाम् । (७) स्वापादिदशायाम् । (८) चैतन्याभाव । (९) व्यवहारिभिः क्षणभङ्गस्याऽमननात् । (१०) व्यवहारिभिः । (११) क्षणभङ्गदर्शनम् । (१२) विकल्पस्य वासनाजन्यत्वस्वीकारात् । (१३) निरर्थकमेतत् ।

[अन्यतो विनिवृत्ता धीः स्वभावमनुवर्तते ।
प्रत्यक्षादीस्तँथात्मैकः प्रतिक्षण[विलक्षणान्] ॥४॥

सर्वतोऽन्यस्याद् व्यावृत्तं चित्तं बहिरन्तर्मुखभ्रान्ताभ्रान्तस्वभावान्वयि तत्क्षणस्थितिधर्मकं परिकल्प्य आत्मानमेव स्वगुण[पर्यायात्मकं] स्वतः संवेदननिष्ठितं प्रतिक्षिपतीत्ययुक्तम् ।] ५

अत्रायमभिप्रायः—चित्रमेकं ज्ञानं तदद्वैतम् , निरंशानेकज्ञानमात्रम् , सर्वविकल्पातीतं विभ्रममात्रं वा यत्रेदमुक्तम् *"मायामरीचिप्रभृतिप्रतिभासवद् असत्त्वेऽपि अदोषः" [प्र० वार्तिकाल० पृ० २८६] इति ? तत्र प्रथमपक्षे—**अन्यतः** सजातीयात् विजातीयाच्च **[वि] निवृत्ता** अपसृता **धीः** बुद्धिः **स्वभावान्** आत्मभूतान् आकारान् **अनुवर्तते** व्याप्नोति । कान् तान् ? इत्याह—**प्रत्यक्षादीन् प्रत्यक्षो[ऽ]भ्रान्त आदिर्येषां** भ्रान्तनीलादीनां ते १० तथोक्तानिति (क्ताः तानिति) । अनेन *"**एक[त्र] विरुद्धधर्माध्या[स]संभवे अनेकमेव न किञ्चित् स्यादिति सर्वस्य सर्वत्रोपयोगादिप्रसङ्गः**" [1]इत्यादि निरस्तमिति दर्शयति । चित्रैकचित्तस्य विरुद्धधर्माध्यासेऽपि पततोऽ(परमार्थतोऽ)भ्युपगमात् सौगतैरिति । **तथा** शब्दश्रवणात् यथाशब्दः अत्र लुप्तनिर्दिष्टोऽनुमीयते । **तथा** तेन एकस्य अनेकस्वभावभूताकारतादात्म्यप्रतिभासप्रकारेण, सहोत्पत्तिविनाशसंवेदनप्रकारेण सहभुवां सर्वेषां क्षणानामेकत्वप्रसङ्गेन [१९९क] १५ एकसन्तानापत्तेः **आत्मा** पुरुषः **एकः** 'स्वभावोऽनुवर्त्तते' इति सम्बन्धः । कथंभूतान् ? इत्याह—**प्रतिक्षण** इत्यादि । एतेन अशक्यविवेचनमपि शक्यपरिहारमिति दर्शितम् । नहि तदपि[2] स्वाकारतादात्म्याभासाद् अन्यथा उक्तदोषाद् [3]अपरम् । आत्मस्वभावानामध्य(मप)हरणं प्रचण्डनृपतिधना(न)मिव अशक्यसाधनम् । एतेन परमात्रेन(मार्थेन) तेषां दर्शनं निरूपितम् । २०

ननु प्रतिभासाद्वैते विवक्षितधीव्यतिरिक्तस्याऽभावात् कथमुच्यते—**'अन्यतो विनिवृत्ता धीः'** इति । नहि असतः किञ्चिद् व्यावर्त्तते । सतोऽपि अदर्शने कुतः कस्य केन विनिवृत्तिः प्रतीयते ? न च अ[न]न्यवेद्येषु[4] वेदनेषु केनचिद् अन्यवेदनमिति चेत् ; उक्तमत्र अन्यभावग्राहकप्रमाणाभावः । यथा च सुखेनाऽसंवेदनाद् दुःखाभावः तथा तेन सुखभावस्याऽवेदनादभाव इति न किञ्चित् स्यात् । सुखेन अविषयीक्रियमाणं दुःखमस्ति न ज्ञानान्तराणि इति पश्यत परस्य २५ सुधिषो (यो) दुश्चेष्टितम् ।

यत्पुनरुक्तम्—'सतोऽप्यविषयीकृता न कस्यचिद् विनिवृत्तिप्रतिपत्तिः' इति ; तदपि परस्य स्ववचा(वधा)य शूलतक्षा(तक्षणम्[5]) स्वप्रतिभासमात्रस्याप्यसिद्धेः, ज्ञानेन तद्विपरीतधर्माऽनिषेधात् तँददर्शनोपगमात् । यदि पुनः, निरपेक्षसुखादिवेदनमेव तद्विपरीतधर्मनिषेधनम् ;

(१) तुलना—"न चैकस्य विरुद्धौ स्वभावौ संभवतः, विरुद्धधर्माध्यासेन तस्यैकत्वहानिप्रसङ्गात् ।" —हेतु बि० टी० पृ० २२० । (२) अशक्यविवेचनमपि । (३) भिन्नप्रकारम् । (४) स्ववेद्येषु इत्यर्थः । (५) तीक्ष्णकरणम् । (६) विपरीतधर्माणामदर्शनात् ।

अविषयीकृतादपि तर्हि विनिवृत्तिः प्रतीयते' इत्यायातम् । अपि च, अयं स्वयमेव सर्वविकल्पान् प्रतिपद्यमानोऽपि तदतीतं तत्त्वं प्रतिपद्यते[२] वदति च *"नाऽविषयीकृताद् विनिवृत्तिसिद्धिः" इति तत्कारी तद्द्वेषी चेति उपेक्षामर्हति ।

यच्चान्यदुक्तम्–[१९९ख] 'अनन्यवेद्येषु वेदनेषु न चान्यवेदनम्'; तदपि न सुन्दरम्; प्रतिभासाद्वैताऽसिद्धिप्रसङ्गात् सर्वसंविदां निरालम्बनत्वाऽसिद्धेः । ततः सूक्तम्–**'अन्यतो विनिवृता धीः'** इति ।

कारिकां व्याख्यातुमाह–**सर्वतोऽन्यस्माद्** इत्यादि । **सर्वतो** विजातीयात् उपादानोपादेयाभि (यानभि) मतात् क्षणाद् **अन्यस्मात्** स्वतो भिन्नाद् **व्यावृत्तम्** अपसृतं **चित्तं** ज्ञानं **परिकल्प्य** । कथम्भूतम् ? इत्याह–**बहिरन्तर्मुखभ्रान्तात् तत्स्वभावाच्चापि (भ्रान्ताऽभ्रान्तस्वभावान्वयि)** बहिश्च अन्तश्च मुखमवभासनं ययोः तौ तथोक्तौ तौ च तौ **भ्रान्ताऽभ्रान्तस्वभावौ** तौ **अन्वेतुं** शीलम्, **तदन्वयो** वा अस्यास्तीति **तदन्वयि** बहिर्मुखाभ्रान्तस्वभावान्वयि । यदि वा, **बहिरन्तर्मुखौ** यौ स्वभावौ **भ्रान्तौ** च (**भ्रान्ताभ्रान्तौ** च) यौ स्वभावौ तान् अन्वेतुं शीलमिति ग्राह्यम् । तथाहि–परस्यैं सर्वं विकल्पज्ञानं स्वरूपे अभ्रान्तम्, *"सर्वचित्तचैत्तानाम्" [न्यायवि० १।१०] इत्यादि वचनात्, बहिः अर्थरूपे भ्रान्तम् *"भ्रान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमा" इत्यादि वचनात्[५] । उपलक्षणमेतत्, तेन अविकल्पेतरनीलेतरस्वभावान्वयि गृह्यते । पुनरपि किम्भूतम् ? इत्याह–*अक्षण (तत्क्षण) स्थितिधर्मकम्* । न चैतत् *'सर्वतोऽन्यस्याद् व्यावृत्तम्'* इत्यनेनैव कथितमिति किं पुनरुच्यते, यद् विसवंतो (यद्धि सर्वतो) व्यावृत्तं तत्क्षणस्थितिधर्मकमेव, अन्यथा नकं (न तत्) सर्वतो व्यावृत्तमिति चेत्; सत्यम्; तथापि यः पूर्वापरक्षणव्यावृत्तं नेच्छति तं प्रति तत्साधनार्थमिदं **तत्क्षण** इत्यादि । तथाहि–यस्मात् क्षणस्थितिधर्मकं नश्वरस्वभावं [२००क] तस्मात् नाशं प्रति अनपेक्षणात् प्रतिक्षणं नाशनियतमिति । यदि वा, पूर्वेण सहभाविनः सर्वस्माद् व्यावृत्तमुक्तम्, एतेन 'पूर्वापराभ्याम्'[६] इति विशेषः । किं करोति ? इत्याह–**प्रतिक्षिपति**–निराकरोति । किम् ? इत्याह–**आत्मानमेव** जीवमेव न तच्चित्तमेव इति एवकारार्थः । किम्भूतम् ? इत्याह–**स्वगुण** इत्यादि । पुनरपि कथम्भूतम् ? इत्याह–**स्वतः** इत्यादि । **स्वतः** आत्मनैव **संवेदननिष्ठितम् इति हेतोः अयुक्तम्** अनुपपन्नम् परस्य सर्वमिति ।

सांप्रतम् उत्तरं विकल्पत्रयं दूषयितुकाम आह–**'अभ्रान्तम्'** इत्यादि ।

[अभ्रान्तञ्चामुञ्चन्ती न मुञ्चत्यात्मचेतनाम् ।
बुद्धिः सीत्वा सदित्वा च आत्मानं प्रतिक्षणम् ॥५॥

चेतनोऽयमितीक्ष्यमाणः परस्मात् सर्वतः परावृत्तः प्रतिक्षणमात्मानं नात्यन्ताय वै

(१) सर्वविकल्पातीतम् । "परमार्थतस्तु विज्ञानं सर्वमेवाविकल्पकम् ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३०८, ३९८ । (२) इति महदाश्चर्यम् । (३) वाक्यमिदं पुनरुक्तमिव भाति । (४) बौद्धस्य । (५) "भ्रान्तिरपि च वस्तुसम्बन्धेन प्रमाणमेव ।"–प्र० वार्तिकाल० ३।१७५ । (६) क्षणाभ्यां व्यावृत्तमिति कथितम् ।

जहाति स्वगुणपर्यायान्वयलक्षणत्वात् तद्वस्तुनः । तद्व्यतिरेकभावस्यानुपपत्तेः कुतः सहेतुरहेतुर्वापि ।]

अभ्रान्तं जाग्रदशायां स्वरूपेऽपि वा, भ्रान्तं स्वप्नावस्थायां ग्राह्याकारे च **आत्मानं** स्वभावं **प्रतिक्षणं** क्षणं क्षणं प्रति **अमुञ्चती** स्वीकुर्वाणा **दद्धिः [बुद्धिः]** सर्वस्य प्रतीतिविशेषः । सा किं करोति ? इत्याह–**'सीत्वा'** इत्यादि । **च** शब्दः अपिशब्दार्थः भिन्नप्रक्रमः **'मुञ्चत्यात्मचेतनाम्'** इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । **'न'** इत्यपि निपातानामनेकार्थत्वात् ननि (ननु इ)त्यस्य अर्थे[1], आक्षेपे । ततोऽयमर्थः–बुद्धिः ननु आत्मचेतनामपि न केवलं गुणिनमक्यति तं परिणामिनं मुञ्चति जहाति, सकलशून्यता स्यादिति मन्यते । किं कृत्वा ? इत्याह– **सदित्वा** इति सूक्ष्मपरीक्षया स्थूलाद्येकस्वभावापि कथित (कथित)फलवत्[2] निरंशाऽनेकपरमाणुदशायां गंधा (गत्वा) । पुनरपि किं कृत्वा ? **सीत्वा** तादृक्षसाऽनन्दने (तादृक् स्वसंवेदने) बहिः परमाणुवत् मृता इत्यर्थः । तथा च सर्वदात्वे जगति जाते प्रतिभासमात्रस्यापि प्रत्यस्तमयात् [२००ख] किमाश्रयोऽयं कारणादीनां प्रतिषेधं ब्रूयादिति मन्यते । अनेन मध्यविकल्पद्वयं निरस्तम् ।

अन्त्यविकल्पमाश्रित्य इदमपरं व्याख्यानम्–**भ्रान्तमात्मानम् अमुञ्चती,** इतरथा ***"मायामरीचिप्रभृतिप्रतिभासवदसत्त्वेऽप्यदोषः"** [प्र० वार्तिकाल० ३।२११] इत्यस्य व्यवस्थापकप्रमाणाभावेन प्रतिज्ञामात्रत्वप्रसङ्गात् । न खलु विभ्रमाद् विभ्रमसिद्धिः; अतिप्रसङ्गात् । **भ्रान्तमात्मानममुञ्चन्ती** बहिरन्तश्च विरुद्धधर्माध्यासिनो विचाराक्षमस्य स्वभावस्यापि तत्र प्रतिभासनात् **प्रतिक्षणं 'बुद्धिः'** इति उभयत्र संबध्यते । किं करोति ? इत्याह–**न मुञ्चत्यात्मचेतनाम्** आत्मापरनामिकां पूर्वापरपर्यायां नयती (न्ती) चेतनां न जहाति इत्यर्थः । किं कृत्वा ? इत्याह–**सीत्वा सदित्वाच्च (त्वा च)** इति लौकिकी वचनप्रवृत्तिरियम् । यदि वा, तमात्मानं प्रतिक्षणममुञ्चती बुद्धिः **'स्वभावात्(न्) प्रतिक्षणविलक्षणाद् (न्) अनुवर्त्तते'** इति गतया कारिकया सम्बन्धः ।

ननु न भ्रान्तं नापि अभ्रान्तमात्मानं बुद्धिः बिभर्ति तस्मान्तम् (तस्यात्यन्तम)भावात् सर्वविकल्पातीतत्वात्तत्त्वस्येति चेत् ; अत्राह–**सीर्त्त (त्वा)** इत्यादि । आत्मचेतनां स्वप्रकाशं न मुञ्चन्ती अन्यथा स्थूलादिग्राह्यरूपवत् तत्परित्यागे बहिरर्थसत्त्ववद् भ्रान्तेतरविवेकोऽपि न सिध्येदिति ***"अज्ञानार्थकोऽसौ (अज्ञातार्थप्रकाशो वा) इति पारमार्थिकं प्रमाणलक्षणम्"** इति[3] प्लवते ।

स्वाभिमतप्रदर्शनपरं कारिकार्थं दर्शयन्नाह–**चेतनोऽयम्** इत्यादि । **चेतनः** स्वपरग्रहणस्वभावः आत्मा **'एकः'** इति गतेन सम्बन्धतः (न्धः, न) [२०१क] नैयायिकादिपरिकल्पितः **अयम्** इति स्वसंवेदनाध्यक्षेण **ईक्षमानः** (णः) अहमि(अहमहमि)कया न पुरुषाद्वैतवादिसांख्यकल्पितः,

(१) द्रष्टव्य इति सम्बन्धः । (२) 'कथितफलवत्' शीर्णफलवत् इत्यर्थः । (३) "तत्र पारमार्थिकप्रमाणलक्षणमेतत् । पूर्वं तु सांव्यवहारिकस्य"–प्रमाणवार्तिकाल० २।६ ।

तत्र नित्यम् आगमगम्यत्वेन 'अयम्' इत्युल्लेखाभावात् । ननु (नन्) आगमवत् तत्र स्वसंवेदनाध्यक्षमपि व्याप्रियते ततोऽयमदोष इति चेत् ; अत्राह–'परा' इत्यादि । **परावृत्तः** अपसृतः **परस्माद्** आत्मान्तराद् घटादेश्च तथाप्रतीतेः । नैवं [1]ब्रह्मात्मा ; [2]तदद्वैतोपरमात् । मदीय आत्मा तथा इति सांख्यः ; तत्राह–**सर्वतः** सर्वेण स्वरूपेण इव देशादिनापि **परावृत्तः** । सर्वतः [3] आद्यादिपाठान्तम् । यदि वा, सर्वस्मात् सर्वतः नैवं सांख्यात्मा सर्वथा *"सर्वं सर्वत्र विद्यते" इत्यस्य विरोधात् । अनेन आत्मनः सर्वगतत्वसाधनं सर्वमध्यक्ष[बाधित]मिति दर्शयति ।

प्रतिक्षणनाशिक्षणसन्तानात्मा इत्थम्भूत इति सौगतः; तत्राह–**प्रतिक्षणम्** इत्यादि । क्षणं क्षणं प्रति **आत्मानं स्वरूपं जहदपि नात्यन्ताय** 'नात्यन्तम्' इत्यस्यार्थेऽवंत (-र्थे चतुर्थ्यन्त) [3]प्रतिरूपकोऽयं निपातो वर्त्तते, **जहाति** किन्तु कथञ्चित् । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**स्वगुण** इत्यादि । **स्वे** आत्मीया ये **गुणा** ये च **पर्याया** न द्रव्यान्तरसम्बन्धिनः तेषु **अन्वयः** अनुगमनम् तस्य **लक्षणं** ग्रहणं स एव [वा] लक्षणं स्वरूपं यस्य तत्तथोक्तम् तस्य **भावात् तद्वस्तुनः** चेतनस्य इतरस्य वा भावस्य । आत्मनि प्रकृते । अपि च, **वस्तुन** इति सामान्यवचनं दृष्टान्ते न पराभ्युपेतोपलब्धिः इत्यस्य प्रदर्शनार्थम् । एतदपि कुतः ? इत्याह–**तद्व्यतिरेकेण** इत्यादि । **तद्व्यतिरेकेण** अनन्तरवर्णित [२०१ख] वस्तुव्यतिरेकेण **भावस्य** ब्रह्मण इव निरंशविज्ञानसन्तानस्यापि **अनुपपत्तेः** प्रमाणाभावादिति मन्यते । ततः किं जातम् ? इत्याह–**कुतो** न कश्चित् (कुतश्चित्) **सहेतुः** सकारणो **अहेतुर्वा** अकारणो वा अपिना *["यो यद्भावं प्रत्यन्यानपेक्षः स तत्स्वभावनियतः यथा अन्त्या कारण] सामग्री स्वस्वकार्योत्पादनं प्रति अनपेक्षया (क्षा) सती लअ (तद्) भावनियता, विनाशं प्रति अनपेक्षश्च भावः" [4]इति दुर्भाषितं साध्याद्यन्त्यधर्म्यसिद्धिः (?) ।

पुनरपि परस्य सहेतुके विनाशे दोषमुपदर्शयन्नाह–**हेतुमत्त्वे** इत्यादि ।

[हेतुमत्त्वे विनाशस्य नाशाद्भावः पुनर्भवेत् ।
नान्यथैकान्तिकाः सर्वेऽहेतुमन्नाशहेतवः ॥६॥

विनाशो यदि भावस्वभावो न भवेत् तस्य किं कुर्वाणो हेतुः स्यात् ? न तावदुत्पादयति ; पूर्वावधिपरिच्छिन्नवस्तुसत्तासम्बन्धलक्षणत्वादुत्पत्तेः । तस्य कथञ्चित् केनापि कार्यत्वे भावस्वभावानतिक्रान्तेः भावः स्यात्, तल्लक्षणत्वाद् वस्तुनः । कादाचित्कं सदकार्यमिति प्रक्रियाव्यावर्णनमात्रं विरोधात् । तथा अनुत्पत्तिधर्मकम् अनाधेयाग्रहेयातिशयात्मकं तथा स्वविनाशहेतुभावान्न विनश्यतीति । विनाशे वा विनष्टस्य सत्ता । यदि वा सतोऽनुत्पत्तिः उत्पत्तिहेत्वभावात् । घटादेरप्येवं प्रसङ्गात् । स्वसामग्रीजन्मनः तद्विनाशकारणस्यावश्यंभावनियमाभावान्न कश्चिद्धेतुरव्यभिचारी स्यात् । विनाशहेतुः प्राग-

(१) परव्यावृत्तः । (२) परस्वीकारे अद्वैतवादविरोधः । (३) चतुर्थीप्रतिरूपको निपातः । (४) तुलना–"ये यद्भावं प्रत्यनपेक्षास्ते तद्भावनियताः, यथा समनन्तरफला सामग्री स्वकार्योत्पादने नियता, विनाशं प्रत्यनपेक्षाश्च सर्वे जन्मिनः कृतका भावा इति स्वभावहेतुः ।"–तत्त्वसं० प० पृ० १३२ । द्रष्टव्यम्–पृ०···टि०···।

सतो विनाशस्य स्वभावं करोति न सत्तासम्बन्धमिति चेत् ; कः पुनर्भावानामन्योन्याभावप्रागभावकर्त्ता ? यतस्तत्स्वभावस्थितिः । अस्ति कश्चिद्विशेषः । परस्परस्वभावदेशकालपरिहारपरिणतिमभावं विद्मः । तथा हेतुमत्त्वं क्षणिकस्य विरुद्धप्रमाणबाधितम् । न हि अतीतेन वर्तमानस्य तद्वत्ता अतिप्रसङ्गात् ।]

अत्रायमभिप्रायः—एकान्तवादिकल्पितस्य वस्तुनः प्रमाणाभावेन असत्त्वान्न तस्य हेतुर्वा [१] (तुना) विनाश इत्युक्ति (क्तेः) लौकिकस्य अर्थस्य परेण स विनाशः कल्पनीयः, तत्रापि पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिलक्षणविकारस्य विनाशोत्पत्तिव्यपदेशे उभयत्रापि जैनमतसिद्धिः इत्युक्तमनन्तरप्रस्तावे अहेतुविनाशपक्षे *"उत्पादस्थितिभङ्गानाम्" [सिद्धिवि० ३।१७] इत्यादिना, सहेतुविनाशपक्षेऽपि *"अनादिनिधनं द्रव्यमुत्पित्सु खासुश (स्थास्नु)नश्वरम् ।" [सिद्धिवि० ३।२१] इत्यादिना । ततः तद्भूयात्[2] तेन नाशोत्पादवत् उत्पाद एकान्तेन भिन्नः अभ्युपगन्तव्यः । एवं च विनाशस्य भावादेकान्तेन भिन्नस्य प्रध्वंसस्य **हेतुमत्त्वे** सकारणत्वे अभ्युपगम्यमाने **नाशात्** प्रध्वंसात् **'विनाशस्य'** इत्यनुवर्त्तते **भावो** घटादिः **पुनर्भवेत्** स्वोपलम्भार्थक्रियाकारी पूर्ववत् पश्चादपि स्यादित्यर्थः । एतदुक्तं भवति—परव्यापाराज्जायमानो नाशः अन्यो[3] वा कृतको भवति, *"अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः [२०२क] कृतकः" [न्यायवि० ३।१४] इति वचनात् । कुतश्चिद् भवतोऽस्यापि[3] भावव्यपदेशाविरोधात्, कृतकश्च घटादिवदवश्यं नश्यति इति । ननु यस्य कृतकः स्वकारणान्नश्वरो जायते भवतु तस्याऽयं दोषो नास्माकम्, अनश्वरकृतकोऽपि हि भावः विनाशकारणसन्निपातात् विनश्यति न स्वभावतः । न च नाशस्य नाशकं कारणमस्ति इत्येके ; तत्राह—**नान्यथैकान्तिका** इत्यादि । विनाशस्य नाशाभावप्रकारेण **अन्यथा नैकान्तिकाः** अव्यभि (ऐकान्तिकाः व्यभि) चारिणो **न सर्वे** निरवशेषाः अनैकान्तिकाः स्युः इत्यर्थः । के ? इत्याह—**हेतुमन्नाशहेतवः** सकारणप्रध्वंसस्य हेतवः लिङ्गानि कृतकत्वादीनि । यदि वा, तद्धेतवः तत्कारणानि मुद्गरादीनि । यथैव हि विनाशकृतकत्वेऽपि न तन्नाशहेतवः अवश्यंभाविनः तथा घटादिविनाशहेतवोऽपि ।

अत्र अन्येषां दर्शनम्—[विनाशस्य] विनाशेऽपि भावस्य न प्रादुर्भावः, नहि देवदत्तस्य हन्तरि हते देवदत्तस्य प्रादुर्भाव इति; तन्न सारम्; वैषम्याद् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः । नहि यथा भावस्य प्रध्वंसभावः[4] तथा देवदत्तस्य हन्ताऽपि, तेन[5] आत्मनोऽन्यस्य देवदत्तेऽभावस्य[6] विधानात् । अस्य[7] नाशे भवत्येव तस्य प्रादुर्भावः, इतरथा तदभाववैफल्यम्, तस्मिन् सति जीवतोऽपि देवदत्तस्य अदर्शनप्रसङ्गः ।

अन्ये तु ब्रुवते—घटस्य प्रध्वंसवत् तत्प्रध्वंसोऽपि उपलब्धि प्रतिबध्नाति इति तददर्शनमिति; तदपि न सूक्तम् ; अतिप्रसङ्गात् । तथाहि—यदि अन्याभावोऽन्यस्य उप-

---

(१) जैनमतसिद्धिभयात् । (२) उत्पादो वा । (३) नाशस्यापि । (४) प्रध्वंसरूपेण परिणतिः तथा हन्तुः देवदत्तविनाशरूपेण परिणतिः । (५) हन्त्रा । (६) तिरोधानस्य । (७) तिरोधानात्मकस्य अभावस्य । (८) प्रध्वंसप्रध्वंसोऽपि । (९) प्रध्वंसरूपस्य कपालस्य नाशेऽपि घटस्य दर्शनं न भवति ।

लब्धिप्रतिघातकृत्; तर्हि पटाभावः सकलस्य उपलब्धिप्रतिबन्धकारी स्यात् प्रत्यासत्ति [२०२ख] विप्रकर्षाभावात्। अथा (अन्या)भावेनापि भावस्य विशेषणीभावस्य अस्य (अन्यस्य) वा सम्बन्धस्य परं प्रत्यसिद्धत्वात्, अनवस्थाना[त्] सम्बन्धान्तराभावात्। यदि पुनः, विशेषणीभावः अपरसम्बन्धरहितोऽपि कस्यचिदुच्यते; तर्हि समवायाद्यभावेऽपि गुणादिः कस्यचिदुच्यताम- विशेषात्। इन्द्रियेणाऽसम्बद्धस्य च तस्य ग्रहणे किमत्र [किमन्यत्र] इन्द्रियस्य विषयेण सम्बन्ध-कल्पनेन ?

किञ्च, प्रध्वंसनाशवत् प्रागभावनाशोऽपि घटोपलब्धिं प्रतिबध्नाति इति न पुनः [घटोत्पत्तिः स्यात्। अथ] घटभावेनै तस्वाशयस्यु (तत्प्रागभावस्य) तिरस्कारात् नासौ तर्दुपलब्धि-प्रतिबन्धकः; किमसौ तद्भावः प्रध्वंसकाले नास्ति येन तस्कारैको (तत्तिरस्कारको) न भवेत्। न चैकस्य एकत्र क्रियाऽक्रिये विरोधात्। अनादित्वात् प्रागभावस्य गगनादिवन्न नाश इत्येके; तेषां प्रागिव घटोत्पत्तिकाले दृश्यः सन् उपलभ्यते इति तदापि घटो नाद्यापि उत्पद्यते इति प्रतीतिः स्यात् पूर्ववत्। अथ घटभावेन तिरस्कारात् सतोऽपि तारानिकरस्येव भास्वता तस्याऽनुपलम्भनम्; नित्यस्य स्वविषयविज्ञानोत्पादनयोग्यस्य (स्याऽ) समग्रेतरकारणस्य ति[रस्कारा]योगात्। न च नित्यव्यापिनो व्यवधानं शब्दवत्। तदेवम् अनुपलब्धिकारणेषु दूरत्वादिषु असत्स्वपि अनुपलभ्यमानोऽपि [२०३क] यदि प्रागभावो घटकालेऽस्ति शब्दः तालवादिव्यापारात् पूर्वमूर्ध्वं च तथा अस्ति इति तस्यं आकाशकार्यगुणत्वकल्पनमयुक्तम्।

ननु यथा नित्यव्यापिनः सतो दृश्यस्यापि गोत्वादेः केनचित् तिरस्कारस्तथा अत्रापि स्यादिति चेत्; न; तत्रापि समत्वाद् दोषस्य। यदि पुनरेतन्मतम्–तदभावेन तस्य दृश्यतास्वण्डनात्तिरस्कार इति; तर्हि प्रागभावस्यापि नाशोऽभ्युपगतः स्यात्। अपि च, प्रध्वंसस्यापि तदभावः तिरस्कारकोऽस्तु भावतिरस्कारकत्वात् प्रागभाववत्। अस्याऽनभ्युपगमे नानुमानव्यवस्था। ततः सूक्तम्–**हेतुत्वे च** इत्यादि।

अत्र केचित् चोदयन्ति–यदि भावाद् भिन्नं विनाशमुद्दिश्य इदं दूषणमुच्यते सूरिणा, तर्हि भावस्य तत्कालेऽपि तदवस्थस्यैव भावात् किमर्थमुच्यते–'**विनाशस्य नाशाद्भावः पुनर्भवेत्**' इति। नहि गगनादेः सतः पुनर्भावो युक्तः। अथ '**पुनर्भवेत्**' इति 'पूर्ववद् दर्शनादिविषयो भवेत्' इति व्याख्यायते; तदपि न सुन्दरम्; तदापि ततः तद्विषयतानिषेधात्। इतिना अस्यापि दोषस्य अत्रैव निर्देशात्। तथाहि–**हेतु[म] त्वे विनाशस्य** अभ्युपगम्यमाने **नाशात्** ततो विनाशात् सकाशाद् **भावो** घटादिः **पुनः** इति अवधारणार्थः, अन्य[थेत्य]स्य अनन्तरं द्रष्टव्यः, **अन्यथैव** अन्येन एवकारेण एकान्तेन भिन्न इत्यर्थः **भवेत्** साधदि (स्यात् यदि) इति शेषः। अत्र पक्षे दूषणम् **ऐकान्तिका** इत्यादि। **न** इत्ययं भिन्नप्रक्रमः **ऐका-**

(१) द्रव्यस्य। (२) अभावस्य। (३) सन्निकर्षे। (४) अभावत्वाविशेषात्। (५) घटोत्पादेन। (६) घटोपलब्धिं। (७) प्रागभावः। (८) घटोत्पत्तिकालेऽपि प्रागभावः स्यादिति। (९) प्रागभावस्य। (१०) शब्दस्य। (११) प्रागभावाभावेन। (१२) प्रागभावस्य। (१३) प्रध्वंसाभावाभावः। (१४) एतदनुमानानभ्युपगमे। (१५) विनाशकालेऽपि। (१६) पूर्वमपि। (१७) इतिशब्देन।

न्तिक(का) इत्यूर्वमनं (इत्यूर्ध्वमनन्तरं) द्रष्टव्यः । ततोऽयमर्थः—**हेतुमतो नाशस्य** परेण ये **हेतवः** यानि कारणानि प्रतिपादितानि ते न **ऐकान्तिका** नावश्यकाभ्युपगमनार्हाः [२०३ख] तत्कृतनाशे सत्यपि तथैव घटादेः उपलम्भादिति मन्यते ।

अथवा **अनैकान्तिकाः** अवश्यं तज्जनका नां (नाम) । यद्येवम् अनेन पर्याप्तमिति पूर्वदूषणमनर्थकमिति चेत् ; न ; हेतोः विनाशं तेन च भावस्य तिरोधानमभ्युपगच्छन्ति [ये] ५ तेषां **'विनाशो यदि'** इत्यादिकस्य **'कादाचित्कमकार्यम्'** इत्यस्य च वृत्तिग्रन्थस्य भेदो न स्यात् ।

अन्येन अर्थेन कारिकां विवृण्वन्नाह—**विनाशो यदि** इत्यादि । **विनाशः** प्रध्वंसो **यदि भावः** स्व(भावस्व)भावो **न भवेत्** उत्तरपरिणामात्मको न स्याद् अपि तु भावाद् भिन्नः स्यादित्यर्थः । **तस्य** विनाशस्य **किं कुर्वाणो हेतुः** न किञ्चित्कुर्वाणः कारणं **स्यात्** मुद्गरादिः । १० अथवा, तस्य भावस्य किं कुर्वाणो विनाशः स्यात् , विनाशस्य च किं कुर्वाणो हेतुः स्यादिति योज्यम् । तथाहि—यदा भावाद् भिन्न एव विनाशः तदा नासौ '[1]तस्य किञ्चित्करोति' इति व्यपदिश्यते उपकारापेक्षत्वात् अर्थान्तरयोः[2] वास्तवसम्बन्धस्य, अन्यथा अतिप्रसङ्गात्[3] । योग्यता-सम्बन्धेऽपि अविनाभाव एव रूपरसादिवत्[4] न पुनर्भावनिवृत्तिः । सैव[5] तस्य[6] तेन[7] क्रियते इति चेत् ; यदि स्वभावभूता[8]; प्रथमोऽपि विनाशः [9]तथैवास्तु इत्यलं भेदैकान्तकल्पनया । अर्थान्तरं १५ चेत् ; तदवस्थो दोषोऽनवस्था च । विनाशेन च विनाशकरणात् तस्यैव सोऽस्तु पावकस्येव धूमः । तथा वधिना त एव (च विनाश एव) [10]तत्सम्बन्धान्नष्ट इति स्यान्न भावः । भावसम्बन्धिनः[11] करणाददोषश्चेत् ; उक्तमत्र, तेन तस्य उपकाराऽकरणात् 'तत्सम्बन्धिनः' इति घटनायोगात् । [२०४ क] भावेनाप्यसौ[12] क्रियते ततस्तत्सम्बन्धीति चेत् ; उभयोः स्यात् , तव (न च) भावः स्वविनाशहेतुः, सर्वदा प्रसङ्गात् , नित्यस्य अपेक्षायोगात् । विशेषणीभावसम्बन्धस्य तत्रैव भावात् २० तत्सम्बन्धी इत्यपि वार्त्तम् ; भेदैकान्ते [13]तत्सम्बन्धस्याविनमयि (स्यापि नियमयि)तुमशक्तेः । तन्निवृत्तिकरणाद् भावस्य विनाशः उपलम्भप्रतिबन्धकरणात् स्यादिति चेत् ; उक्तमत्र **तदवस्थस्य** [14]**तदयोगादिति** । किञ्च,

तिरोहिता ह्यभावास्ते योगिभिः स्वयं नेष्यन्ते । (नेष्यन्ते योगिभिः स्वयं ।)
योगिनो [न च] युक्ताः [स्युः] कथं सर्वार्थवेदनैः ॥ २५
सर्वज्ञत्वं तथा [चैवं] वर्ण्यते यैः स्वभक्तितः ।
तेषामसर्वविद्वान्तर्गता (द्वार्ता गता) केत्यपि चिन्त्यताम् ॥
ते यदा तैः समीक्ष्यन्ते तदा क्षीणा प्रतिक्षीणां (क्षणं) ।
योगिनः प्रति वार्त्तेयं नष्टानुत्पन्नगोचरा ॥
सांख्यस्य योगिनः सर्वे चिरं जीवं (जीवन्तु) साम्प्रतम् । ३०

---

(१) भावस्य । (२) भिन्नयोः । (३) सर्वस्य सर्वव्यपदेशप्रसङ्गात् । (४) स्यात् । (५) भाव-निवृत्तिरेव । (६) भावस्य । (७) नाशेन । (८) अभिन्ना । (९) अभिन्नोऽस्तु । (१०) विनाशसम्बन्धात् । (११) विनाशस्य । (१२) विनाशः । (१३) विशेषणीभावस्यापि । (१४) उपलम्भप्रतिबन्धायोगात् ।

सर्वदा [सर्वथा] भावा येभ्यःसोस्थोन (यैः कौटस्थ्येन) संस्थिताः ॥
योगिनः एवं चकारः (योगिनः वंचकाः) काकवद्भुवि वा नुः (?) ।
कैरिक तैस्ता संतीनाः कं यान्तु संश्रयम् (?) ॥
सदोपलभ्यमाना हि काटाः (भावाः) किन्नाम नाशिनः ।
अन्यथा नाशिनः सर्वे भवेयुः गगनादयः ॥
इति कपिलमुनीशैः संस्तुते संस्त (सांख्य) मार्गे,
अचलनिखिलभावानाश्रिते किन्तु नश्येत् ।
बत वदत विनाशे नैव चान्येन योगः ।
सत इह सततं तत् तन्निरोधो न वार्त्ता ॥ इति ।

तत् स्थितम्–'विनाशो यदि भावस्वभावो न भवेत् तस्य किं कुर्वाणस्य स्याद् विनाशः' इति ।

ननु यदुक्तम्–'तस्य विनाशस्य हेतुः किं कुर्वाणः स्यात्' इति ; तत्र उत्पत्तेः कुर्वाणः स्यादिति चेत् ; अत्राह–पूर्व इत्यादि । **न तावद् उत्पादयति** । तावच्छब्दो वितर्के[२०४ख] न क्रमार्थौ(र्थे) अन्यस्य प्रयोजनस्यावचनात् **नोत्पादयति** न जनयति **हेतुः** मुद्गरादिः **'विनाशम्'** इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । कुतः ? इत्याह–**पूर्वावधिः** प्रागभावः **तेन परिच्छिन्नं** विशिष्टं **यद्वस्तु** घटादिः **तस्य सत्तया सम्बन्धः** समवायः स एव **लक्षणं** यस्य तस्य भावात् **तत्त्वात्** । कस्य (कस्याः ?) इत्याह–**उत्पत्तेः** इति । न च प्रागस्ततो विनाशस्य सत्तया सम्बन्धः ; अनभ्युपगमात् [१]परस्य *"त्रिपदार्थसत्करी सत्ता" इति वचनात् । नापि प्रध्वंसस्य परेण[२] द्रव्यादिष्वन्त त त वि (ष्वन्तर्भाव) इष्यत इति मन्यते ।

नन्वेवम् अत्यल्पमिदमुच्यते–'स हेतुः विनाशं न तावद् उत्पादयति' इति, यावता घटादेर्हेतुः [३]तमवि(पि) नोत्पादयति । तथाहि–न तावद् घटादेः प्रागसतः तद्धेतुः[४] आत्मलाभ-लक्षणामुत्पत्तिमुपजनयति; तदन्योत्पत्तिकल्पनानर्थक्यप्रसङ्गात् । नापि प्रागसतः सत्तासम्बन्ध-लक्षणा (णाम्[५]); सत्तासमवायस्य नित्यत्वात् । न च कुतश्चिदज्ञा(दजा) तस्य बन्ध्यासुतस्येव सत्तया अन्येन[६] वा सम्बन्धः, यतः किञ्चित् केनचिदुत्पादितं भवेत् । जातस्येति चेत् ; यद (यदि) लब्धात्मलाभस्य; त[हिं] उक्तो दोषः–किमन्यया उत्पत्त्या ? कथमन्यथा शशशृङ्गादेर्भेद इति चेत् ; अयमपरः परस्यैं[७] दोषोऽस्तु । न खलु अस्त (अंश) दोषाः सन्तोऽपि अंकलङ्कमुपलीयन्ते ।

ननु न विनाशस्याद्य(न्य)स्यं वा प्रागसतः सत्तासम्बन्धलक्षणा उत्पत्तिः हेतुना क्रियते यत्रायं स्यात्, अपि तु स्वरूपमेव क्रियताभिति चेत् ; अत्राह–**तस्य** इत्यादि । **तस्य** विनाशस्य **कथञ्चित् केनापि** सत्तासम्बन्धकरणलक्षणेन [२०५क] स्वरूपलक्षणेन वा प्रकारेण **कार्यत्वे हेतुभाजनत्वे** (हेतुना जन्यत्वे) **भावस्वभावानतिक्रान्तेर्भावरूपानतिक्रमात् 'न तावदुत्पाद-**

(१) वैशेषिकस्य । "सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता"–वैशे० सू० १।२।७। (२) वैशेषिकेण । (३) घटमपि । (४) घटहेतुः । (५) उत्पत्तिमुपजनयतीति सम्बन्धः । (६) समवायेन वा । (७) वैशेषिकस्य । (८) कलङ्करहितम् अकलङ्कन्यायम् । (९) घटादेः ।

यति' इति सम्बन्धो भावः स्यादिति मन्यते । तथापि स कुतो भावः स्यादिति चेत् ? अत्राह—**तल्लक्षणत्वाद् वस्तुनः** इति । परमतापेक्षया स सत्तासम्बन्धो लक्षणं यस्य तस्य भावात् तत्त्वाद् **वस्तुनः** सद्वर्गस्येति व्याख्येयम् । स्वमतापेक्षया तु सः प्रागसतो हेतोरात्मलाभो लक्षणं यस्य तस्य भावात् तत्त्वात् **वस्तुनो** भावस्य इति, स्वप्रागभावाद् अन्यथा प्रध्वंसो न विशिष्येत अवान्तरजातिसम्बन्धविरहात्, इतरथा द्रव्यादिवत् सत्तासम्बन्धैः । यदि पुनः [४]कचित्तद्- ५
(द्)विरहेऽपि तत्सम्बन्धो नेष्यते ; तर्हि [कथं] तत्सम्बन्धविरहेऽपि द्रव्यादीनामेव अवान्तरजातियोगो न जात्यादीनामिति विभागः स्यात् । एतेन अन्यस्यापि विशेषकस्य धर्मस्य संभवो निरस्त इति मन्यते । व्याख्याता एकेन अर्थेन कारिका ।

साम्प्रतं प्रथमेन व्यतिरेकतां व्याकुर्वन्नाह—**कादाचित्कम्** इत्यादि । अत्रायमभिप्रायः—अनन्तरन्यायेन प्रागसन् पुनः कुतश्चित् जायमानो विनाशः कार्यम् , अत एव वस्तुव्यवस्था मितं १०
तत् (स्था, अभिमतं च तत्)। इदानीं विनाशलक्षणं वस्तु **कादाचित्कं** देशकालद्रव्यादिनियतं **सद्-कार्यम् इति प्रक्रियाव्यावर्णनमात्रश्चाष्टषष्टि (मात्रम् स्वेष्टि)** घटितकृतान्तपदार्थप्रपञ्चकथनमात्रम्। मात्रशब्देन अव्यवस्थितं तत्त्वं दर्शयति । कुतः ? इत्याह—**विरोधात्** । पूर्वापराभ्युपगमयोः अन्योऽन्यबाधनात् । तथाहि—यदि विनाश(शो) वस्तु प्रागसत्(सन्) कुतश्चित् जायते कथम-कार्यम् घटादिवत् ? अथाऽकार्यम् ; गगनादिवत् कथं कादाचित्कं [२०५ख] [कादाचित्कञ्च १५
अका]र्यं चेति परस्परविरुद्धमेतत् । ततः 'कादाचित्कत्वात् कार्यम्' इति मन्यते ।

तथा कादाचित्कम् 'अनुत्पत्तिधर्मकम्' इति प्रक्रियाव्यावर्णनमात्रम् । कुतः ? इत्याह—**विरोधात्** इति । तद्यथा **तत्कादाचित्कं** प्रागसत् पुनर्लब्धात्मलाभकं **कुड्यादिवत् कथमनुत्पत्तिधर्मकम्** अविद्यमानोत्पत्तिधर्मकम् ? तँथात्मलाभस्यैव उत्पत्तिरूपत्वस्यचिद् (त्वात् । कस्यचिद्) अर्थान्तरसत्तासम्बन्धनिषेधात् । अथाऽनुत्पत्तिधर्मकम् आकाशवद् वन्ध्यास्तन्धय- २०
वत् ; कथं कादाचित्कम् इति विरोधः ? तस्मात् कादाचित्कत्वाद् उत्पत्तिधर्मकमिति भावः ।

तथा, कादाचित्कम् **अनाधेयाऽप्रहेयाऽतिशयात्मकम्** अजन्याविनाशसामर्थ्यस्वभावम् **इति प्रक्रियाव्यावर्णनमात्रम्** । कुतः ? **विरोधात्** । तथा च कुतश्चिद् आत्मानं तल्लभते चैत्यदिवत् (चेत् पटादिवत्) दुरुपपादमनाधेयाऽप्रहेयातिशयात्मकत्वम् , अन्यत आत्मलाभस्यैव आधेयप्रहेयातिशयात्मकत्वात् । यदि पुनः गगनादिवत् अनाधेयाऽप्रहेयात्मकम् ; कथं कादा- २५
चित्कम् ? अथ जातस्य पुनः अतिशय आवानुपानेतुं वामशक्यत (आधातुमपनेतुं वा न शक्यते) इति तत्तदात्मकमुच्यते ; तदसत्य (तदसत् ;) कादाचित्कत्वे अर्थक्रियाकारित्वे वा तत्र आधेय-प्रहेयातिशयात्मकत्वं घटादिवत् पुनरनुमितेः प्रतिपद्यमानः केन वार्यते ?

तथैव कादाचित्कमविनश्वरम् इति प्रक्रियाव्यावर्णनमात्रं विरोधात्, सर्वस्य कादा-

---

(१) प्रागभावत्वप्रध्वंसत्वादि । (२) जातिसम्बन्धस्वीकारे । (३) स्यात् इति शेषः । (४) सामान्यादौ अवान्तरजातिविरहेऽपि । (५) सत्तासम्बन्ध । (६) सिद्धान्त । (७) असतः आत्मलाभ एवोत्पत्तिरिति भावः ।

चित्कस्य विनश्वरत्वेन प्रतीतिः (तेः) घटादिवत् इति। **तथा** कादाचित्कं **स्वविनाशहेतु(हेत्व)-भावात् स्वशब्देन** विनाश(शि) वस्तु परामृश्यते **तस्य विनाशः स्वो** विनाशस्य आत्मीयो **वा विनाशः तस्य हेतोः** कारणस्य **अभावात् न विनश्यति इति प्रक्रियाव्यावर्णनमात्रं विरोधात्** इति स्वमतव्याघातात्। [1]यो हि कादाचित्कत्वे जगतोऽपि विनाशकारणमभ्युपगच्छति तस्य [2]प्रकृते काऽक्षमा ? तथा **'विनाशे वा** प्रध्वंसे वा **'विनाशवस्तुनः'** इति सम्बन्धः। **वा शब्दः** अभ्युपगमसूचकः पक्षान्तरसूचको वा, **विनष्टस्य** प्रध्वंसविशेषणवतः **सत्तासम्बन्धिनो** घटादेः।

यदि वा, सतो विनाशाद् भिन्नस्य स्वतो विद्यमानस्य **अनुत्पत्तिः** पुनरप्रादुर्भावः। कुतः ? इत्याह-**उत्पत्तिहेत्वभावात्** इति। भावस्य उत्पत्तौ त्रिविधो हेतुः—समवायि-असमवायि-निमित्तभेदेन। न च विनाशः तेषामन्यतमः। आदित्यालोकाभावलक्षणे तमसि पुनः प्रदीपादिभावेन प्रहृतेऽपि पुनः तदालोकोन्मज्जनम्। नाप्यन्यस्य तत्कारणस्य भावनियम इति प्रक्रियावर्णनमात्रम्। कुतः ? विरोधात्। यदि विनाशविनाशेऽपि प्रादुर्भावः ; न तर्हि विनाश-विनाशः तद्भावः, तल्लक्षणत्वादस्य, कथमन्यथा नैरात्म्यनिषेधे सात्मकत्वसिद्धिः। ततो यदि [विनाश]विनाशः ; कथन्न भावप्रादुर्भावः ? न चेत् ; कथं तन्नाशः ?

यत्पुनरुक्तम्—उत्पत्तिहेतुभावादिति ; तदसारम् ; यतो घटोत्पत्तौ अवयवसंयोगः कारणम्, तस्यापि क्रिया [, अ]तः क्रियाविनाशविनाशे तत्प्रादुर्भावः[3], ततः संयोगः ततोऽपि घटः। यदि वा, विभागेन संयोगविनाशः कृत इति सहेतुकः [4]तस्यापि कुतश्चिन्नाशे संयोगोन्मज्जनम्। अथवा, घटाद् भिन्नस्य नाशस्य [२०६ख] भावे न तस्य किञ्चिदिति नाशनाशे निष्प्रतिद्वन्द्विनः केवलमुपलम्भो भवति तमोनाश इव इति किं हेतुना ?

यत्पुनरुक्तम्—आलोकाभावे तमसि नाशितेऽपि न दिनकरालोकप्रादुर्भाव इति; तदपि न सुपरीक्षिताभिधानम् ; तत्रापि चोद्यस्य समत्वात्। न आलोकाभावमात्रं तमः, सालोकापवरके बहुलालोकप्रदेशात् प्रविष्टस्य तमःप्रतिभासात्। विज्ञानाभावे चात्र तमसि सर्वत्र तदभावं एत-दस्तु नादित्यालोकाभावैः।

ज्ञान(ना)भावः तमः; अभावे न ज्ञानप्रादुर्भावः। न खलु चि(क्वचित्) तदभावं एव मतः (तमः); इतरथा आलोकोऽपि तमोऽभावो भवेत्। भावप्रत्ययवेद्यत्वाच्च नाऽभावमात्रं तमो घटादिवत्। ततः सूक्तम्—**कादाचित्कम्** इत्यादि।

तत्रैव दूषणान्तरमाह—**पटादेरपि** इत्यादि। न केवलं विनाशस्य किन्तु **घटादेरपि** हेतुमर्थे (हेतुमत्त्वे) कादाचित्कत्वे च सति **एवं** विनाशवत् **प्रसङ्गात्** कारणात् **'प्रक्रियावर्णनमात्रम्'** इति सम्बन्धः। पुनरपि दोषान्तरमाह—**स्वसामग्रीजन्मन** इत्यादि। स्वसामग्र्या जन्म यस्य भावस्य [२०७क] अभावस्य [वा] तस्य। **तद्विनाशकारणस्य** यत् तद्विनाशकारणं परेण अभ्युपगतं

---

(१) बौद्धः। (२) विनाशहेतुस्वीकारे। (३) क्रियाप्रादुर्भावः। (४) संयोगविनाशस्यापि। (५) घटस्य। (६) विज्ञानाभाव एव तमोऽस्तु। (७) तमः। (८) ज्ञानाभाव। (९) तमोऽस्ति इत्यादि।

तत् तच्छब्देन परामृश्यते, तच्च तद्विनाशकारणं च इति तस्य, अवश्यंभावनियमाऽभावात् कारणात् न कश्चित् कृतकत्वादिः अनित्यत्वसाधनो हेतुः अव्यभिचारी स्यादित्यर्थः ।

यदुक्तम्—न प्रागसतो विनाशस्य सत्तासम्बन्धलक्षणा उत्पत्तिः केनचित्[1] क्रियते अपि तु स्वरूपमेव; तत्राह सौगतः— [2]विनाशहेतुः इत्यादि । विनाशस्य हेतुः कारणं पराभ्युपगतः प्रागसतः स्वोत्पत्तेः पूर्वमसतोऽविद्यमानस्य विनाशस्य स्वभावं स्वरूपं करोति न सत्तासम्बन्धम् इत्येवं चेत्[3] यदि । तत्र दूषणमाह—कः पुनः इत्यादि । कः न कश्चित् पुनः इति अक्षमायाम्, भावानां घटादीनां यः अन्योऽन्याभावः, अत्यन्ताभावस्य एतद्विशेषत्वात् पृथगनभिधानम्, यश्च प्रागभावः तस्य कर्त्ता, यतः कर्तुः तत्स्वभावस्थितिः ? यत इति वा आक्षेपे, नैव तत्स्थितिः । तथा च प्रयोगः—[यः]अभावः स स निर्हेतुकः यथा प्रागभावादिः, अभावश्च विनाश इति । ननु यदि नाम प्रागभावादेरहेतुत्वं नैतावता विनाशस्य तत्, अन्यथा गगनादेरहेतुत्वात् घटादीनामपि तद्भवेत्[3] । प्रत्यक्षबाधनमुभयत्र समानमिति चेत्; अत्राह—अस्ति वा इत्यादि । अस्ति विद्यते वा कश्चिद् देशादिकृतो विशेषः भेदः प्रागभावादेर्विनाशस्य ? नास्ति इत्यर्थः । एतदुक्तं भवति—यथा प्रागभावादयः कारणान्वयव्यतिरेकाननुविधायिनः अकृतकाः तथा विनाशोऽपि । नहि महति दण्डादिसन्निपाते महान् अन्यथाविधे अन्यथा विनाशः; विनिवृत्तिमात्रस्य [२०७ख] सर्वत्र अविशेषादिति । न च भावतेः[4] प्रागभावादयः सन्ति; इत्याह—परस्पर इत्यादि । परस्परम् अन्योन्यं स्वभावश्च देशश्च कालश्च तेषां परिहारः तेन परिणतिम् आत्मलाभम् अभावं विद्मः 'भावानाम्' इति सम्बन्धः ।

एवं सौगतेनापि नैयायिकं विमुखतां[5] नीत्वा अधुना सौगतं स्वयं तां[6] नयन्नाह—तथा च इत्यादि । तथा च तेन च तत्परणत्यभाववेदनप्रकारेण हेतुमत्त्वं सकारणत्वं विरुद्धप्रमाणबाधितम् । कस्य ? इत्याह—क्षणिकस्य 'भावस्य' इति वचनपरिणामेन सम्बन्धः । इदमत्र तात्पर्यम्—नैयायिकस्य हेतुमतोऽपि विनाशस्य विनाशमनभ्युपगच्छतः अनित्यत्वहेतवो व्यभिचारिणः, प्रागभावादिकमहेतुमभ्युपगच्छतो विनाशो विनिहेतुः (शोऽपि निर्हेतुः) तदभावो वा । बौद्धस्य[7] पुनः क्षणिकत्वमभ्युपच्छतः कृतकत्वादयः असिद्धा एव इति [8]नासौ परमीतिशेते इति । कुतस्तस्य न हेतुत्वम् ? इत्याह—न ह्यतीत इत्यादि । [हि] यस्माद् अतीतेन कार्योत्पत्तेः प्रागेव नष्टेन भावेन वर्त्तमानस्य तद्वत्ता हेतुमत्ता [न] अतिप्रसङ्गात् सर्वेण अतीतेन सर्वस्य तद्वत्ताप्रसङ्गात् । निरूपितं चैतत्[9] *"कार्यकारणता नैव" [सिद्धवि० ४।३] इत्यादि ।

नन्वेवं नैयायिकस्येव सोगतस्यापि मताभावे सकलशून्यतैव स्यादिति चेत्; अत्राह—समक्षम् इत्यादि ।

[समक्षं गुणपर्यायस्वभावद्रव्यसाधनम् ।
विपक्षेऽर्थक्रियायोगाद् व्यावृत्तं विभ्रमात्मनः ॥७॥

(१) कारणेन । (२) तुलना—"न हि विनाशहेतुर्भावस्य स्वभावमेव करोति; तस्य स्वहेतुभ्यो निर्वृत्तेः ।"—हेतुवि० पृ० ५६ । (३) अहेतुकत्वं स्यात् । (४) अस्ये । (५) परमार्थतः । (६)विमुखताम्—युक्तिशून्यताम् । (७) बौद्धः । (८) नैयायिकम् । (९) हेतुमत्ता । (१०) पृ० २३९ ।

इति स्थितमेतत् सर्वम्···गुण···]

समक्षं प्रत्यक्षं **गुणश्च पर्यायाश्च स्वभावा** आत्मानो यस्य **द्रव्यस्य** तस्य **साधनम्** बहिरन्तश्च गुणपर्यायात्मकद्रव्यप्रत्यक्षत्वात् इत्यर्थः । [२०८क] अनेन सकलशून्यतां कल्पयतः प्रत्यक्षबाधां दर्शयति । स्यान्मतम्–अस्ति प्रत्यक्षबुद्धौ यस्यं प्रतिभासः, स तु भ्रान्तः बाध्यमानत्वाद् द्विचन्द्रादिप्रतिभासवदिति चेत् ; अत्राह–**विपक्ष** इत्यादि । **विपक्षे** भावाद्येकान्ते **अर्थक्रियायाः** दर्शनादिलक्षणाया **अयोगात् व्यावृत्तम्** अपसृतम् । कुतः ? **विभ्रमात्मनः** भ्रान्तस्वभावात् **'समक्षम्'** इति सम्बन्धः । एतदुक्तं भवति–यथा एकचन्द्रदर्शनभावाद् द्विचन्द्रदर्शनं भ्रान्तं तथा एकान्तदर्शनादिभावे अनन्तरसमक्षं भ्रान्तं स्यात् । न चैवमिति । कारिकार्थस्य नैकधा राजपथीकृतत्वात् प्रकृतमुपसंहृ [रन्नाह–इति] **स्थितमेतत्** इत्यादि । **स्थितं** निश्चितमेतत् । किं तत् ? इत्याह–**सर्वम्** इत्यादि । तथा परं स्थितम् इत्याह–**गुण** इत्यादि । तु सद्भावोऽत्र द्रष्टव्यः द्रव्यलक्षणान्तरनिषेधार्थत्वात् ।

ननु चेतनाऽचेतनयोः अमूर्त्तमूर्त्तयोः जीवकर्मणोः सम्बन्धाभावेन एकस्य गमने स्थाने वा नान्यस्य नियमेन गमनं स्थानं वा गवाश्ववत् । सम्बन्धेऽपि तदुत्पत्तिलक्षणे स एव दोषः घटकुलालवत् । तादात्म्यलक्षणे तु नायं दोषः कृतकत्व-शब्दवत्, अत्रापि अन्यतरदेव स्यात् कल्पितो वा भेद इति चेत् ; अत्राह–**चेतना** इत्यादि ।

[चेतनाचेतनावेतौ बन्धं प्रत्यपेक्षताम् ।
भिन्नौ लक्षणतोऽत्यन्तं हेमादिश्यामिकादिवत् ॥८॥

परस्परविलक्षणावपि चेतनाचेतनौ बन्धं प्रत्येकत्वं प्रतिपद्येते हेमश्यामिकादिवत् । न च मूर्तामूर्तयोः संयोगो विरुद्धः पञ्चस्कन्धकदम्बकाभावप्रसङ्गात् आत्ममनःसन्निकर्षादेश्च ।]

चेतन आत्मा **अचेतनः** कर्मपदार्थः तौ **चेतनाचेतनौ,** उपलक्षणमेतत् तेन अमूर्त्तमूर्तौ **एतौ** प्रत्यक्षानुमानप्रतीयमानौ **बन्धं** संयोगविशेषम् **प्रति अपेक्षक(क्ष्य)ताम्** सहचरादिकार्यसमानतादात्म्यं भिन्नद्रव्ययोः तद्विरोधात् । कुतस्तादात्म्यं न गतौ ? इत्याह–**भिन्नौ** परद्रव्यान्तरभूतौ यतः । [२०८ख] केन ? इत्याह–**लक्षणतः** स्वलक्षणेन आद्यादिपाठान्तः, तल्लक्षणमेव आश्रित्य । तथाहि–ज्ञानदर्शनोपयोगो जीवस्यैव लक्षणम्[४], अचेतने रूपाद्यात्मकत्वं पुद्गलस्यैव[५] इति । कथं भिन्नौ ? इत्याह–**अत्यन्तं** कालत्रयेऽपि परस्परं लक्षणसंक्रान्त्यभावमनेन दर्शयति । दृष्टान्तमुभयत्र दर्शयति **हेमादिश्यामिकादिवत् ।** एकेन आदिशब्देन माणिक्यादेः अपरेण किट्टादेः परिग्रहः ताविव तद्वदिति ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**परस्पर** इत्यादि । **परस्परम्** अन्योन्यं **विलक्षणावपि** विसदृशलक्षणावपि **चेतनाऽचेतनौ** जीवकर्मपुद्गलौ **बन्धं प्रति एकत्वं प्रतिपद्येते हेमश्यामिकादिवद्** आदिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते ।

---

(१) द्रव्यस्य । (२) तादात्म्यसम्बन्धे । (३) जीव एव स्यात् कर्म एव वा । (४) "उपयोगो लक्षणम्"–त० सू० २।८ । (५) "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ।"–त० सू० ५।२३ ।

ननु[मूर्त्ताऽ] मूर्त्तयोस्तयोः[1] संयोगविशेषलक्षणः कथं बन्धो येनैवं स्यादिति चेत् ? अत्राह–न च इत्यादि । न च नैव मूर्ताऽमूर्तयोः कर्मात्मनोः विरुद्धः संयोगः । कुतः ? इत्यत्राह–पञ्चस्कन्ध इत्यादि ।

ननु 'विषादिवत्' इत्यनेन परिहृतं यत इत्यदोषः । पञ्चस्कन्धा रूपादयः[2] तेषां कदम्बकस्य समूहस्य अभावप्रसङ्गात् कारणात् न च मूर्त्ताऽमूर्त्तयोर्विरुद्धः संयोगः इति पदघटना। ५ तथाहि–कचित् शरीरे रूपस्कन्धो मूर्त्तः, अमूर्त्ता वेदनादयः, तत्समूहरूपपरापररूपतया उपजायमानस्य संसारव्यपदेशात् । मूर्त्तेत्तरयोश्च संयोगविरोधः (धे) अन्यत्र रूपम् अन्यत्र वेदनादयः सह्यविन्ध्यवदिति न शरीरे [सु]खाद्यनुभवनमिति प्राप्तम् ।

ननु तत्कदम्बकं यदि संयोगः; तर्हि तदभावो न सौगतस्य दोषाय अभ्युपगमादिति [२९९क] चेत्; नैरन्तर्यस्य तेनाप्युपगमात् । न च नैरन्तर्यादन्यः संयोगो जैनस्यापि[3] । ततो १० यथा पञ्चस्कन्धानां मूर्त्तेतररूपाणामपि नैरन्तर्यलक्षणः संयोगः तथा जीवकर्मणोरिति । आत्मनः (आत्ममनः) सन्निकर्ष आत्ममनसोः संयोगः, *"आत्मा मनसा युज्यते" [न्याम० पृ० ७४] इति वचनात् आदिः यस्य स तथोक्तः तस्य च अभावप्रसङ्गात् न च तयोः संयोगो विरुद्धः । आदिशब्देन मनोगगनसन्निकर्षः प्रकृतिपुरुषसन्निकर्षश्च गृह्यते ।

[अस्तु] यथार्थग्रहणस्वभावस्य आत्मनो मिथ्याज्ञानादनुमितो बन्धः, स तु केन हेतुना ? १५ इत्यत्राह–शुभाऽशुभैः इत्यादि ।

[शुभाशुभैश्चेतनो जीवो बध्यतेऽचेतनैः स्वयम् ।
यथास्वमास्रवैश्च स्वैः मनोवाक्कायकर्मभिः ॥९॥

मनोवाक्कायकर्मभिः शुभैरशुभैश्चास्रवैः यथास्वं पुण्यपापबन्धो जीवानामित्यत्र न कश्चिद् विप्रतिपत्तुमर्हति किन्तु सर्वेषामविगीतोऽयमिति ।] २०

जीवः आत्मा । किंभूतः ? चेतनः स्वपरग्रहणस्वभावः न वैशेषिककल्पितः[4] तस्य बन्धफलाभावात् । तस्य हि फलं सुखदुःखादिकं मिथ्याज्ञानमन्यद्वा । न च सर्वदा (था) अचेतनस्य[5] तद् युक्तं विरोधात् । भिन्नस्य उत्पत्तावपि न तस्य किञ्चिद् अतिप्रसङ्गात्, समवायनिषेधात् । स किम् ? इत्याह–बध्यते संयुज्यते । कैः ? इत्याह–अचेतनैः कर्मपुद्गलैः न सौगतकल्पितैः चेतनरूपैः कर्मभिः *"चेतना कर्म" [अभिध० को० ४।१] २५ इति[12] तथागतवचनात् । कुतः स्याः (कुतोऽस्याः[13]) कर्मत्व (त्वम् ?) विरोधात्, आत्मस्वभा-

(१) जीवकर्मणोः । (२) पृ० २३१ । (३)रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्काराः । (४)पञ्चस्कन्धसमूहः । (५) संयोगाभावः । (६) अन्तराभावरूपस्य सम्बन्धस्य । "प्राक्षावस्थाविशेषे हि नैरन्तर्येण जातितः । ये पश्यत्याहरत्येष वस्तुनी ते तथाविधे ॥६६६॥ ये निरन्तरोत्पन्ने वस्तुनी ते एव संयुक्तशब्दवाच्ये···" –तत्त्वसं० प० पृ० २२१ । (७) "संयोगोऽपि नैरन्तर्यावस्थितार्थव्यतिरेकेण अपरो न प्रतीयते ।" –न्यायकुमु० पृ० २७७ । सन्मति० टी० पृ० ६७७ । (८) मूर्तामूर्तयोः । (९) सांख्याभिमतः । (१०) सर्वथा नित्यस्य निष्क्रियस्य स्वयमचेतनस्य च । (११) सुखदुःखादिकम् । (१२) "चेतना मानसं कर्म"–अभिध० को० । (१३) चेतनायाः ।

वत्वाच्चेतनायाः। विपरीता चेतना कर्मेति चेत्; तस्याः[1] कुतो भावः ? वासनातश्चेत्[2]; न; तन्निषेधात् अनन्तरमेव, तस्याश्च तत्त्व-तद्वेदनकाल एव नरकादिप्रापणसामर्थ्यवेदनात्, सर्वस्यापि हिंसादिचेतनादिभ्यः अपरोपदेशात् निवृत्तिः स्यात् तत्त्ववेदिता(नां) योगिनामिव। न खलु कश्चित् सचेतनो दुस्तटीपातमतितया न कं (नरकं) जानन्नेव आचरते दुःखभीरुः। न च निष्कलदर्शने[4] [२०९ख] चेतनानिश्चयेऽपि तत्सामर्थ्यानिश्चयकल्पनमिति[5] सुविचारितमेतत्। तत्सामर्थ्याग्रहणे च तद्वतोऽप्यग्रहणमिति न अचेतनकर्मपक्षाद् विशेषः।

ननु बध्यन्ते (ध्यतेऽ) सौ तैः[6], स तु नश्वरम् (न स्वयम्) अपि तु महेश्वरप्रेरितैः[7]। तथाहि–यः चेतनेन वध्यते स धीमता प्रेरितेन वध्यते, यथा चौरो निगडादिना, बध्यते च आत्मा तथाविधस्तेनेति, योऽसौ तत्प्रेरकः स महेश्वर इति चेत्; अत्राह–**स्वयम्** इति। **स्वयम्** आत्मना न ईश्वरादिना। यो हि चेतनः तैः बध्यते स एव आत्मबन्धनाय तेषां प्रेरकः किं तत्र ईश्वरेण अन्येन मन्यत वा (वेति मन्यते)। न चेदमत्र चोद्यम्–अर्वागदृशां तानि अपश्यन् कथं तेषां प्रेरक इति; स्वप्नादौ अदृष्टात्तानां(ष्टानां)मपि स्वकरचरणादीनां प्रेरकत्वदर्शनात्। यस्य च 'ईश्वरज्ञानमेकं नित्यमनात्मवेदकम्, तस्य ईश्वरः[9] 'तानि पश्यति' इत्यतिश्रद्धेयम्। अनित्यं चेत्; [11]तत्तर्हि तस्य[12] अदृष्टपूर्वकम्, अन्यथा *"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" [वैशे० सू० १।१।२] इति व्याहन्यते, अनेन व्यभिचारात्। तस्य च अदृष्टसम्बन्धो यदि अन्येन धीमता कृतः; अनवस्था। स्वयं चेत्; अन्यस्यापि [13]तथा अस्तु। इति साधूक्तम्–**स्वयम्** इति।

अथ मतम्–यदि चेतनः तैः स्वयं मन्यते (बध्यते) मुक्तात्मानोऽपि बध्येरन् विशेषाभावादिति चेत्; अत्राह–**आस्रवैः** इति। आस्रवन्ति समागच्छन्ति संसारिणां जीवानां कर्माणि यैः येभ्यो वा ते आस्रवा रागादयः तैः करणभूतैः कृत्वा। न केवलम् एतैरेव अपि तु **मनोवाक्कायकर्मभिश्च**[14] मनोवचनशरीरव्यापारैश्च। यद्येव(यदास्रव)शब्दः रागादिवद् एतेष्वपि प्रवर्तते निमित्तसाम्यात् [२१०क] तत्किमर्थं [15]'तच्छब्देन रागादय उच्यन्ते इति चेत्? सत्यम्, मनःप्रभृतीनां स्वशब्देनावि(भि)धानात्, [16]तच्छब्देन तेषामेव[17] अभिधानम् यथा *"दोषावरणयोर्हानिः"[आप्तमी० श्लो० ४] इत्यत्र दोषशब्देन आवरणयोरप्यभिधानेऽपि आवरणयोः पृथगभिधानात् दोषा रागादय उच्यन्ते[18]।

यदि वा, **आस्रवैः** मनोवाक्कायकर्मभिः इति समानाधिकरण्येन सम्बन्धः करणीयः।

---

(१) विपरीतायाः। (२) वासनायाश्च। (३) निर्विकल्पदर्शने। (४) निश्चयानिश्चयलक्षणविरुद्धधर्माध्यासप्रसङ्गात्। (५) कर्मभिः। (६) "अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥"–महाभा० वनप० ३०।२८। (७) कर्मणाम्। (८) कर्माणि। (९) वैशेषिकस्य। (१०) कर्माणि। (११) ईश्वरज्ञानम्। (१२) ईश्वरस्य। (१३) स्वयं सम्बन्धोऽस्तु। (१४) "कायवाङ्मनःकर्म योगः। स आस्रवः।"–त० सू० ६।१, २। (१५) आस्रवशब्देन। (१६) आस्रवशब्देन। (१७) रागादीनामेव। (१८) "वचनसामर्थ्यादज्ञानादिर्दोषः स्वपरपरिणामहेतुः। ···आवरणात् पौद्गलिकज्ञानावरणादिकर्मणो भिन्नस्वभाव एवाज्ञानादिर्दोषोऽभ्युह्यते।"–अष्टस० पृ० ५१।

तत्र च लौकिकन्यायापेक्षया मनःकर्मभिः इत्यनेन मानसा व्यापारा रागादयोऽपि गृह्यन्ते, ततः सिद्धा न तैर्बद्ध्यन्ते [1]निरास्रय(व)त्वात्तेषामिति मन्यते । अनेन सर्वेण एतत् कथयति—'विवाद-गोचरापन्नं कार्यं बुद्धिमत्कारणं तत्त्वात्[3] घटादिवत्' इत्यत्र यदि चेतनेन आत्मना सास्रवेण आत्मनोऽचैतनैर्बन्धः स्वयं क्रियते, इति सं एव क्रियते इति स एव धीमान् तत्कारणं साध्यते; तर्हि सिद्धसाधनम् । परश्चेत्; दृष्टान्तेऽपि म(न)तत्सिद्धिरिति । ५

ननु वध्यमानोऽसौ[8] आस्रवैः कृत्वा अचेतनैः स्वयम्, तथापि आत्मीयैरिव परकीयैरपि वध्यते इति मीमांसकः । स हि पुत्रादिसम्बन्धिभिः तैः[9] चिरमृतानामपि पित्रादीनाम् ब[द्ध]त्व-मभ्युपगच्छति, सौगतो वा अन्यकर्मभिः अन्यस्य, तं प्रति आह—स्वैः इति । स्वैः आत्मीयैः आस्रवैः न परकीयैः, अव्यवस्थापत्तेः । न खलु पुत्रस्य सुरादर्शनाभिलाषादयः पितरम् अत्यन्त-श्रोत्रियं सुरया योजयन्ति जीवन्तपि किमङ्ग पुनः मृतान् ? अन्यथा कृतानेकयोगोऽपि पिता १०
पुत्रदोषात् नरकं व्रजेदिति न कश्चित् प्रेक्षाकारी नियमेन सुकृतकारी स्यात् । कदाचित् पुत्रं दोषकारिणमाशङ्कमानः पुत्रो[२१०ख] वा न जननीयः । नहि वैरिणः[10] स्ववधमाशङ्कमान एव तम् आत्मनः सन्निहितमुपनयति । यदि पुनः कस्यचित् कश्चित् पुत्रः [11]श्रुतकारी दृष्ट इति स्वयं पुत्रजनने प्रवृत्तिः—अन्योऽपि तादृशो भविष्यति, कदाचिदर्थसन्देहो हि कृषीवलादिवत् प्रवृत्तेः अङ्गमिति; तदसाम्प्रतम् ; यतः कस्यचिदपकार्यपि तादृक्षो भविष्यति इत्यनर्थसंज्ञा- १५
(शङ्का)निवृत्तेः । ततः सूक्तम्—स्वैः इति । यद्वा, स्वैः अचेतनैर्बध्यते; अन्यथा टकपापैः सर्वोऽपि वध्येत । यदि असौ[14] अन्यस्मै ददाति, तदा सोऽपि[15] बध्यते । तथाहि—सौगतः 'जन्म-(यन्म) योपार्जितं पुण्यं तेन त्वाः[16] सर्वे सर्वे सत्त्वाः सुखिनो भवन्तु' इति[17] सर्वोऽपि वदतीति चेत्; वतिनैता (नैतावता) तस्य पुण्येन अन्ये सुखिनो नाम, [18]इतरथामतिर्यदैव पापो भणति 'मदीयेन अतिपापेन सर्वे योगिनो दुःखिता भवन्तु' तदाऽसौ[19] सकलसंसारदुःखरहितो योगिनस्तु २०
तत्सहिताः स्युः इति । यस्मै तद्दीयते स यदि(दी)च्छति, ततर्हि सर्वमेव तत्त (नहि सर्व एव तत्र) योगिनः तदिच्छन्ति इति चेत्; न युक्तमेतत्; यतो यदैव म्रियमाणाय चिरंजीविनम् [20]इच्छति, वर्षशतायुः स्वायुः ददाति, तदातुः तदैव मरणम् अन्यस्य चिरजीविनस्तम्(वित्वं) भवेत् । न चैवम् । किञ्च,

इष्टाय भाग्यहीनाय वक्रवन्ती (चक्रवर्ती) सपुण्यकम् । २५
ददानः पुण्यहीनः स्यात् इष्टश्चक्रिपदं व्रजेत् ॥

---

(१) मुक्तपुरुषाः । (२) रागादिरहितत्वात् । (३) कार्यत्वात् । (४) "महाभूतचतुष्टयमुपलब्धिम-त्पूर्वकं कार्यत्वात्···"—प्रश० कन्द० पृ० ५५ । न्यायकुसु० ५।१ । (५) स्वयं स्वः क्रियते । (६) आत्मा । (७) आस्रवैः । (८) क्षणिकत्वात्, अन्येन क्रियते अन्यश्च बध्यते इति भावः । (९) इति मन्येत । (१०) सकाशात् । (११) वेदानुसारी । (१२) टकः चौरवृत्त्या गृहीतं द्रव्यम् । (१३) टकद्रव्यग्राही पुरुषोऽपि । (१४) 'त्वाः सर्वे' इति व्यर्थमत्र द्विर्लिखितं भाति । (१५) "···यत्प्राप्तमर्थकुशलं मयाऽमलं । तेन सर्वजगदर्थसाधिनी सिद्धिरस्तु जगतोऽस्य सर्वदा ॥"—प्र० वार्तिकाल० पृ० ६४८ । तत्त्वसं० प० पृ० ९३६ । बोधिच० पं० पृ० ६०५ । (१६) कश्चित् पापबुद्धिः । (१७) पापी । (१८) कश्चिदिष्टजनः, अथ च ।

ततो यत्किञ्चिदेतत् ।

कथंभूतैः तैः ? इत्याह–**शुभाऽशुभैः** इति । पुण्यहेतुभिः **शुभैः** अपुण्यहेतुभिः **अशुभैः मनोवाक्कायकर्मभिः आस्रवैः** इति । तद्धेतुत्वम् एतेषां [२११क] वृत्तौ[1] निवेदयिष्यति ।

ननु च य एव पुण्यहेतवः त एव पापहेतवः शुभाचरणवतोऽपि अपायदर्शनात्, तथा य एव पापहेतवः त एव पुण्यहेतवोऽपि हिंसाद्यनुष्ठानरतस्यापि अभ्युदयदर्शनात् । एवं च हेतुसङ्करे कथं प्रेक्षाकारिणा धर्माद्युपायाचरणमिति चेत्; अत्राह–**यथास्वम्** इति । यानि स्वानि ये वा **यथास्वम्** इति । एतदुक्तं भवति–यस्य शुभस्य अशुभस्य वा चेतनस्य यानि मनोवाक्कायकर्माणि स्वानि कारणत्वेन प्रत्यासन्नानि ये वा आस्रवाः तेषामनतिक्रमेण चेतनोऽचैतनैर्बध्यते इति । न खलु शुभस्य अचेतनस्य कारणानि अशुभस्य सुता (सुतौ) भवितुमर्हन्ति, अन्यथा शाल्यङ्कुरकारणानि यवाङ्कुरस्य स्युः । यस्तु शुभाचारवतोऽपि अपायो दृश्यते नासौ तदाचारात् तज्जन्यानाद्वा (जन्याद्वा) कर्मणः, अपि तु पूर्वकृतदुष्कर्मणः, इतरथा तदाचारफलस्य तदैव निष्पन्न-[त्वान्न] कश्चिद् भाविना मन्त्रदेवताविशेषाराधनादिफलेन तद्वान् स्यात् । यदि च कदाचित् शुभाद्वाऽनन्तरमपायदर्शनात् सं एव तस्य तत्कारणस्य वा कारणम्; हन्त सविषं दिव्यमाहारं भुञ्जानस्य मृत्युः तदाहारकृतः ! यदि पुनः प्रायशः तदाहारात्[6] सं न दृष्टः, किन्तु विषाद् दृष्टः इति तदेवं तत्कारणं कल्प्यते नाहारः; एवं प्रकृतेति (तेऽपि) कल्पनायाम् किं विरुध्येत यतः सा न क्रियेत ? अपायस्य बज्जलं (बन्धनं) विरुद्धाचरणादेव दर्शनात् । ननु स्यादेतदेवं यदि शुभावणेत् (भाचरणात्) पुण्यं कुतश्चित् सिद्धं स्यादिति चेत्; आस्तां तावदेतत् वृत्तौ वक्ष्यति ।

एतेन 'हिंसाद्यनुष्ठानात् कदाचिद् [२११ख] [8]हिरण्यादिलाभोपलम्भात् तदनुष्ठानं धर्मसाधनम्' इति निरस्तम्; तल्लाभस्य पूर्वकृतसुकृतादेव भावात् । तदनुष्ठानेऽपि तत्त्वाभा (तल्लाभा) दर्शनात् । इदं तु स्यात्–इत्थं तेन कर्म कृतं यत्तदनुष्ठानसहितं फलं ददाति । [10]तत एव च [11]तद्भावे गुरुभार्याभिगमनादेः [12]तत् स्यात्] ।

एतेन [13]इदमपि प्रयुक्तम्–*"**परस्य अनुकूलेषु अनुकूलाभिमानजनितोऽभिलाषः अभिलषितुः अर्थाभिमुखक्रियाकारणं जनयति तत्तदात्मनोऽनुकूलेषु तज्जनिताभिलाषवत्** ।" इति; कथम् ? गुरुभार्यानुकूलेषु परपुरुषादिगमनादिषु पुत्रादेः तदनुकूलाभिलाषस्यापि धर्महेतुत्व-प्रसङ्गात् । गुरोः प्रतिकूलत्वान्नेति चेत्; मृते वा गुरौ स्यात् । यदि [14]प्रतिकूले च तपसि भतुर (कर्तुर) नुकूलाभिलाषोऽपि पुण्यहेतुर्न स्यात् ।

मीमांसकस्त्वाह–केव (नैव) हिंसाद्यनुष्ठानं मन्त्रसहितम्[15], यथा विषं केवलं मृत्यवे न

---

(१) टीकायाम् । (२) आस्रवकारकाः । (३) शुभाचारात् । (४) शुभ एव । (५) अपायस्य । (६) दिव्याहारात् । (७) मृत्युः । (८) विषमेव । (९) यज्ञादिदक्षिणायाम् । (१०) हिंसाद्यनुष्ठानादेव । (११) हिरण्यादिसुखसाधनलाभस्वीकारे (१२) सुखसाधनलाभः । (१३) तुलना–"परस्यानुकूलेष्वनुकूलाभिमानजनितोऽभिलाषः अभिलषितुरर्थाभिमुखक्रियाकारणमात्मविशेषगुणमाराभ्नोति अनुकूलेष्वनुकूलाभिमानजनिताभिलाषत्वात् आत्मनोऽनुकूलेष्वनुकूलाभिमानजनिताभिलाषवत्' इत्यस्य···"–प्रमेयक० पृ० ५५५ । (१४) 'यदि' इति निरर्थकम् । (१५) पापहेतुः ।

मन्त्रादिसहितम्, ततोऽभ्युदयस्य व्याधिशमनस्य भावादिति; तदयुक्तम् ; स्वेच्छामात्राद् अर्थाऽसिद्धेः, अतिप्रसङ्गाच्च । वेदस्य प्रमाणत्वस्य निषेत्स्यमानत्वात् न ततोऽस्य विभागस्य प्रतिपत्तिः[1], खार्पटिकागमादपि तत्प्रतीतिप्रसङ्गाच्च । ततो यत्किञ्चिदेतत् ।

यदि वा, **'शुभाऽशुभैः पुण्यापुण्यैरचेतनैः बध्यते'** इति सम्बन्धनीयम् । तर्हि अविशेषेण [२१२क] चेतनं (नः) तैः बध्यत इति चेत् ; अत्राह—**यथास्वम्** इति । यस्य चेतनस्य यः स्वः मन्दतीव्रादिरूपः क्रोधादिस्वभावस्तस्य अनतिक्रमेण इति ।

कारिकां व्याख्यातुमाह—**मनोवाक्काय** इत्यादि । **मनोवाक्कायकर्मभिः आस्रवैः** । अथवा **आस्रवैः** इत्यत्र च शब्दो द्रष्टव्यः । किंभूतैः ? इत्याह—**शुभैरशुभैश्च** ।

ननु कारिकायां **शुभाऽशुभैः** इति समस्तो निर्देशः कृतः, अत्र किमर्थं व्यस्तः क्रियते इति चेत् ? सङ्करादिपरिहारार्थः । ये शुभाः ते शुभा एव, ये च स्वस्य ते स्वस्यैव नान्यस्य' इति प्रतिपादनार्थः[3] तथानिर्देशः । कथम् ? इत्याह—**यथास्वम्** इति । किम् ? इत्याह—**पुण्यपापबन्धः** । केषाम् ? इत्याह—**जीवानाम्** । न प्रकृतेर्नापि ज्ञानक्ष[णस्य] । ता [कारिकायां सामान्यतो] जीव इत्युक्तम्, अत्र व्यक्त्यपेक्षं **'जीवानाम्'** इति वचनं जीवबहुत्वप्रतिपादनार्थम्, इतरथा अत्रापि 'जीवस्य' इत्येकवचनप्रयोगे मन्दमतेः आशङ्का स्यात्—'आचार्यमते [एक] एव जीवः' इति । न च तद्बन्धः तस्य[5] तत्कारणाभावात् सत्तामात्रा(त्रे) प्रमाणभाच्च (णाभावाच्च) । शरीरपरिमाणस्य चेतनापरिणामस्य अनाद्यनिधनस्य कर्तुर्भोक्तुः आत्मनः प्रतिपादनार्थं जीवग्रहणम् । अस्यैव ग्रहणम् अस्यैव तद्बाध्यत्वेन प्रसिद्धेः, आत्मादिशब्दानां तु परापेक्षया अन्यत्रापि प्रवृत्तेः ।

नन्वत्र परविप्रतिपत्तिनिरासार्थं प्रमाणं वक्तव्यमिति चेत् ; अत्राह—**अत्र** इत्यादि । **अत्र अर्थे न कश्चिद् विप्रतिपत्तुमर्हति** ।

स्यान्मतम्—प्रमाणेन विषयीकृते प्रमेये न कश्चिद् विप्रतिपत्तुमर्हति । न चायं तेन विषयीकृतः । तथाहि— न तावत् प्रत्यक्षेण; तत्र [२१२ख] तदप्रतिभासनात् । न वै खलु [10]आतसादितैलादिसंपर्के घटादेः पांशुराशिसम्बन्ध इव मनोवाक्कायकर्मभिरास्रवैः शुभैरशुभैश्च पुण्यपापबन्धो जीवानां प्रत्यक्षतः प्रतीयते; विप्रतिपत्तेरभावप्रसङ्गात् । नापि अनुमानेन; लिङ्गाभावात् । न च तत्कर्मास्रवाः लिङ्गम् ; 'कारणात् कार्यानुमानम्' इति प्राप्तेः । न चैवम्, व्यभिचारात्, *[11]**"नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्ति"** [प्र० वा० स्व० १।६६] । न च ते अन्यत्र अन्यदा तत्कारणत्वेन आतसतैलादिवत् प्रतीतं यतस्तेभ्यो बन्धोऽनुमीयेत [12]मालवकातसतैलसंपर्कादिव उदरमलबन्धः । लिङ्गान्तरमत्र साध्यसमम् । आगमेन विषयीकृत इति चेत् ; कथन्न तत्र कश्चिद् विप्रतिपत्तुमर्हति ? तद्विषयीकरणादेव विप्रतिपत्तीनामतीन्द्रियार्थे [13]'प्रकृतिः कारणं पुरुषः[14] कारणम्' इत्यादौ दर्शनात्, अन्यथा आगमेनापि तदविषयीकरणे निरालम्बा विप्रतिपत्तयो

---

(१) वेदात् । (२) इयं हिंसा पुण्यहेतुरियं च पापहेतुरिति । (३) पृथक्निर्देशः । (४) सांख्याभिमतायाः । (५) बौद्धाभिमतस्य । (६) नित्यैकजीवस्य । (७) 'अस्यैव ग्रहणम्' इति पुनरुक्तम् । (८) वैशेषिकाद्यपेक्षया । (९) नित्ये व्यापिनि निष्क्रिये च । (१०) अतीसीतैलादि । (११) द्रष्टव्यम्—हेतुबि० टी० पृ० २१० । न्यायवि० टी० २।४९ । (१२) मालवकतैलात् अतीसीतैलाद्वा । (१३) सांख्यस्य । (१४) वेदान्तिनः ।

न प्रवर्त्तेरन् । यदेव च विप्रतिपत्तिकारणं तत एव तन्निवृत्तिरिति न हेतुफलव्यवस्था । आगमविशेषोऽपि अतीन्द्रिये दुरवगमः, विशिष्टपुरुषप्रणीतत्वादेर्निश्चेतुमशक्यत्वात् । अथ 'तत्कर्मास्रवेभ्यः पुण्यबन्धो जीवानाम्'इत्यादि वाक्यं प्रमाणम्, अर्हद्वाक्यत्वात्, परिणामिघटादिप्रतिपादकतद्वाक्यवत्' इति; तदपि न सुन्दरम्; अत्र तद्वाक्यत्वाऽसिद्धेः । यदि पुनः 'तदपि तद्वाक्यम् अनेकान्तात्मकतत्त्वविषयत्वात् प्रसिद्धान्यतद्विषयवाक्यवत्' इति; तदपि तादृगेव; तद्विषयत्वे परापप्रतीतत्वाविरोधात् । नहि एतन्नामकमतीन्द्रियं सप्तमद्रव्यं प्रतिक्षणं [२१३क] परिणामीति विकलविदो वदतो वक्त्रं वक्रीभवति । तन्न आगमेनापि विषयीकृतः ।

अपरे मन्यन्ते—न प्रयाससाध्योऽयमर्थः **किन्तु सर्वेषामविगीतोऽयम्**, सर्वेषां वादिनां विगानरहितोऽयमिति न कश्चित् सचेतनो विप्रतिपत्तिमपि (महति) प्रमाणाङ्कुशरहिताः स्वमतसमर्थनमदवहलावलेपापन्ना गजा इव प्रवर्त्तमाना विप्रतिपत्तारः केन वार्यन्ते । दृश्यन्ते हि चार्वाकादयः अत्रैव विवदमानाः, न च ते तत्त्वप्रतिपत्तिं प्रति उपेक्षणीयाः समदर्शिभिः परहितावधानदीक्षावद्भिः अ क ल ङ्कैः । नापि तेषां विप्रतिपत्तय एवमेव निवर्त्तन्ते अपि तु प्रमाणात्, अतस्तदेवं तान् प्रति वक्तव्यं किमनेन **'अत्र न कश्चित्'** इत्यादिना ।

मीमांसकोऽपि *"श्वेतं छागमालभेत स्वर्गकामः" इति वचनात् द्रव्यादीनामेव पुण्यत्वमिच्छति, *"ब्राह्मणो न हन्तव्यः" इत्यादि वचनाच्च ब्रह्मवधादीनामेव पापत्वम्, न ताभ्यां परं पुण्यपापबन्ध इति । प्र भा क र स्त्वाह—

*"न मांसभक्षणे दोषः न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेव हि भूतानां निवृत्तिस्तु फलमिति (महाफला)॥"

[मनु० ५।५६] इति ।

सौगताः पुनः दानहिंसादिचित्तादिकमेव पुण्यादिकं पठन्ति । *"दानहिंसाविरतिचेतसां स्वर्गप्रापणसामर्थ्यात्, तेषां प्रत्यक्षत्वेऽपि न प्रत्यक्षत्वम्" इति सूरेर्वचनाद् इदमेवम् इत्यवसीयते । परमार्थतः कार्यकारणविरहान्न कस्यचित् तैस्तद्बन्धं इत्यन्यः ।

सांख्यस्य तु मतम्—तैः[10] प्रकृतिपरिणामविशेषो जायते, ततः तस्या[11] एव तद्बन्धो न पुरुषाणां शुद्धात्मनामिति । तत्रैव—

*"गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।
यत्तु दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायैव सुतुच्छकम्[12] ॥"

---

(१) अर्हद्वाक्यत्वासिद्धेः । (२) परस्य प्रतिवादिनो या अपप्रतीतिः तस्याप्यविरोधात् । (३) प्रमाणमेव । (४) "श्रेयो हि पुरुषप्रीतिः सा द्रव्यगुणकर्मभिः । चोदनालक्षणैः साध्या तस्मात्तेष्वेव धर्मता ॥"—मी० श्लो० सू० २ । (५) "न जातु ब्राह्मणं हन्यात् ।" मनु० ८।३८० । उदधृतमिदम्—सन्मति० टी० पृ० ७३१ । (६) "प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ।"—मनु० । (७) प्रतिभासाद्वैतवादी । (८) अचेतनैः कर्मभिः । (९) "न बध्यन्ते न मुच्यन्ते उदयव्ययधर्मिणः । संस्काराः पूर्ववत्सर्वो बध्यते न न मुच्यते ॥"—माध्य० का० १६।५ । (१०) मनोवाक्कायकर्मभिः । (११) प्रकृतेरेव । (१२) द्रष्टव्यम्—पृ० ८९ टि० ५ ।

इत्यभिधानात् न बन्धफलभावः [२१३ख] पारमार्थिक इत्येकः । एवमन्येऽपि कुनया वक्तव्याः । तदेव (वं) विप्रतिपत्तिदर्शनात् कथमुच्यते–'किन्तु सर्वेषामविगीतोऽयम्' इति?

अत्र प्रतिविधीयते–'पुण्यपापबन्धो जीवानाम् इत्यत्र न कश्चिद् विप्रतिपत्तुमर्हति' इति वदतोऽयमभिप्रायः–सर्वाद्वैतनिषेधात् जीवबहुत्वसिद्धेः 'जीवानाम्' इत्यत्र न कश्चिद् विप्रतिपत्तुमर्हति । कथं तत्प्रतिषेध इति चेत् ? उक्तमत्र, तथापि उच्यते किञ्चित्–विज्ञानलक्षणस्य अन्यस्य वा अद्वैतस्य अदृष्टस्य कल्पने तथाविधानां परिणामिनामन्यथाभूतानां वा सन्तानान्तराणां[1] तथा-कल्पनायां[2] तस्याः[3] पुरुषाधीनतया अनिवार्यत्वात् कथमद्वैतम् ? दृष्टस्य कल्पने; अन्यतो दर्शने अस्य सिद्धः परमार्थतो ग्राह्याभाव इति कथमद्वैतम् ? इतरथा ग्राह्यभेदवत् न ततस्तत्सिद्धिः ।

एतेन आगमात् तत्सिद्धिः प्रत्युक्ता । स्वतो दर्शनं वे (चेत्;) ज्ञाने एतत्[4] प्रतीयताम् । नहि अप्रमाणकं स्वदर्शनमन्यद्वा क्वचिदपि (स्वव्यव)स्थाम् अर्हति, अतिप्रसङ्गात् ।

अथ मतम्–नीलाद्यात्मकमेव तदद्वैतम्, अन्यस्याप्रतिभासेनासत्त्वात्, नीलादेश्च स्वप्रति-भासात्मकत्वं सुखादिवत् प्रतिभासमानस्य सतोऽन्यग्राहकादर्शनादिति; तन्न युक्तम् ; यतः प्रति-भासवशेन तत्त्वव्यवस्थायां 'नीलमहं वेद्मि, पीतमहं वेद्मि' इति अहमहमिकया ज्ञानस्वरूपवत् ततो भिन्नं नीलादिकं प्रतियत् प्रती[यते] इति तथैव स्यात्, अन्यथा न कस्यचिद्भेदकमिति स्वग्रहणमिति दूरोत्सारितम् । प्रत्यक्षबाधनमुभयत्र । न चेदमत्र चोद्यम्–'एकस्वभावेन स्वपरयोः[5] ऐक्यम्[6] । अनेकस्वभावेन; अनवस्था, तस्यापि पुनः अन्यस्वभावान्तरेण ग्रहणात् । [२१४क] न च ग्रहणस्वभावस्य ज्ञानस्य अगृहीतः स्वभावः; विरोधात्' इति । कथम् ? यस्माद् एकमेव (मेक)स्वभावमपि स्वपरौ(रौ) प्रतियत् प्रतीयते तस्मात् तौ[10] प्रत्येति । नापि तयोरैक्यं तदप्रतीतेः, इतरथा नीलज्ञानं येन स्वभावेन पीतात्[11] व्यावर्तते तेनैव रक्तात् व्यावृत्तौ [12]तयोरैक्यमिति महती चित्राद्वैतता ! स्वभावान्तरकल्पने तदवस्था अनवस्था । शेषमत्र चिन्तितम् । भवेत् (भवतु) वा तदनेकस्वभावं तद्ग्राहकम् तथापि नानवस्था, तद्वतो ग्रहणेऽपि स्वभावभूताया अपि योग्यतायाः ग्रहणनियमाऽयोगात् । केवलं कार्यदर्शनात् तदात्मिका[13] अनुमीय[ते] व्यवहारो नेदानीं (वेदानीं) प्रवर्त्तयते । तद्वतो ग्रहणे तद्ग्रहणेऽपि नानवस्था ; तत्स्वभावात्मकस्य तथैव प्रतिभासनात् । मध्या-दिता(भा)गात्मकनीलमन्या (नीलाद्या)कारज्ञानवत् । अस्यानभ्युपगमे कुतस्तदद्वैतमिति कथं जीवनानात्वनिराकरणमप्रमाणकं युक्तम् ? भावे वा तस्य प्रागभावप्रध्वंसाभावाऽनभ्युपगमे न [14]पुरुषाद्वैताद् भेद इति सुस्थिता चित्राद्वैतता ! [15]तदभ्युपगमे वा कथं प्रकृतविकल्पद्वयनिवृत्तिः ? तथाहि–येन स्वभावेन प्राक् पश्चाच्च तदसत् तेनैव स्वकाले सत्, स्वभावान्तरेण वा ? प्रथमपक्षे पूर्वं पश्चाच्च भावः[16] स्वकालेऽपि भावात्, कार्यकारणभावप्रतिषेधो वा पूर्वोत्तरक्षणविशेषयोरेव [17]तद्भावव्यपदेशात् । तदभावस्य विज्ञप्तिमात्रेऽपि उपगमाददोष इति चेत् ; कथमदोषः, यावता

(१) आत्मान्तराणाम् । (२) अदृष्ट । (३) कल्पनायाः । (४) अद्वैतस्य । (५) अद्वैतसिद्धिः । (६) स्वदर्शनम् । (७) नीलादेः प्रतिभासास्वीकारे । (८) वेदने । (९) स्वपरयोः । (१०) स्वपरौ । (११) पीतज्ञानात् । (१२) पीतज्ञान-रक्तज्ञानयोः । (१३) योग्यता । (१४) नित्यत्वापत्तिरिति भावः । (१५) प्रागभावप्रध्वंसाभावस्वीकारे । (१६) सद्भावः । (१७) कार्यकारणभाव ।

येनैव स्वभावेन कुतश्चित् जायते मध्यक्षणः तेनैव चेदपरस्य कारणम् ; पूर्वापरयोरैक्यम् । तदन्तरकल्पनायाम् आकल्पमनवस्थालता सौगतभूरुहमावेष्ट्य वर्त्तते । [२१४ ख] पूर्वोत्तरक्षणानभ्युपगमे च यथा अक्षणिकस्य अक्रमेण स्वकार्यकारिणो युगपत् सकलं स्वविषयं विज्ञानमुत्पाद्य उपरतस्य द्वितीयादिक्षण(ण)दर्शनाभावात् शून्यता तथा क्षणमात्रावलम्बिनो विज्ञानस्य भवेत् न वेति सुधियः चिन्तयन्तु ? तदा च शून्यतायामपि यदि न परस्य अनिष्टं किञ्चिदापद्यते सर्वदा [1]सैवास्तु । प्रत्यक्षादिविरोधः अन्यत्रापि समानः ।

किञ्च, *"स्वयं सैव प्रकाशते" [प्र० वा० २।३२७] [2]इत्येतदपि एवं सति अयुक्तं स्यात्, स्वग्रहणयोग्यतामन्तरेण जडार्थवत् [3]तदयोगात् । सापि स्वग्राह्यता योग्यतामपेक्षते, तत्र च प्रकृतविकल्पद्वयवृत्तिः अवश्यंभाविनी यथोक्तदोषात् । तन्न प्रत्यक्षसिद्धं स्वपरावभासकत्वं चेतसां निर्विकल्पात् निराकर्तुं युक्तम् अतिप्रसङ्गात् ।

ननु न समकालस्य परस्य प्रकाशिका बुद्धिः अप्रतिबन्धात्, स्वतन्त्रयोः उभयोः प्रतिभासनात्, पर एव वा नीलादिः [4]तत्प्रकाशकः स्यात् । अथ नीलादौ कर्मता प्रतीयते ततः स एतया[5] प्रकाश्यते न तेन बुद्धिर्विपर्ययादिति ; तत्र (तन्न ;) यतो नीलाव्य (न नीलाद् व्य) तिरेकेण कर्मतादर्शनम् । तत्स्वरूपमेव कर्मतेति चेत् ; न ; बुद्धावपि [6]तस्य भावात् । यदि पुनः गृहीतिकरणाद् बुद्धिरेव [7]तस्य ग्राहिका; तर्हि सा यदि ततो भिन्ना क्रियते 'गृहीतिः बुद्धिः नीलम्' इति त्रितयं स्वतन्त्रमाभाति न किञ्चित् कस्यचिद् ग्राहकम् । गृहीत्यापि भिन्नस्य [8]तदन्तरस्य करणे स एव दोषोऽनवस्था च, तेनापि तदन्तरस्य करणात् । न गृहीतिरपि बहिरर्थवत्ता (वद्)-गृहीताऽस्ति[9] । तद्गृहीतौ च [10]अनुबद्धप्रसङ्गः, अनवस्था च तत्रापि अपरा[परगृहीत्यपेक्षणात्।] अभिन्ना [२१५ क] चेत् ; नीलादिरेव [11]तया क्रियते इति प्राप्तम् ; तच्च न युक्तम् ; अन्यत एव [12]तस्य भावात्, कृतस्य करणायोगात् । [13]तया च क्रियमाणो नीलादिः उत्तरज्ञानवशतामेव (वंशतामेव) स्यात् न अर्थः । अर्थोपादानत्वान्नेति चेत् ; न ; अर्थाग्रहणात् तदुपादानत्वासिद्धिः । ग्रहणे वा कथं न प्रकृतो दोषः अनवस्था चक्रकं भवेत् । अभिन्नायाः तत्रापि गृहीतेः करणे पुनः पुनस्तस्यैव प्रवृत्तेः । तन्न समसमयस्य समुष्या (शेमुष्या) परस्य ग्रहणम् ।

एतेन भिन्नकालस्यापि [14]तया ग्रहणं स्वा(निवा)रितम् ; अविशेषात्, सर्वातीतानागतग्रहणप्रसङ्गाच्च । तन्न भिन्नस्य केनचित् कस्यचिद् ग्रहणमिति न जीववत् कुड्यमिति[15] चेत् ; न; उक्तमत्र, अविकल्पेन प्रत्यक्ष(क्षेण) प्रतीयमानस्य बुद्धिनीलाद्योर्वेद्यवेदकभावस्य निराकर्तुमशक्तेरिति । [न] च बुद्धिवत् नीलादेः प्रतिभासनम् [16]अपराधीनं परं प्रति प्रसिद्धम्, अन्यथा

(१) शून्यतैवास्तु । (२) "नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः । ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात्..."–इति पूर्वांशः । (३) स्वप्रकाशायोगात् । (४) बुद्धिप्रकाशकः । (५) बुद्ध्या । (६) स्वस्वरूपस्य । (७) नीलादेः । (८) गृहीतिः । (९) गृहीत्यन्तरस्य । (१०) 'अस्ति' इति वक्तुं शक्यते । (११) यः दोषप्रसङ्गः अर्थपक्षे अस्ति तस्य अनुबद्धत्वमत्रापि स्यात् । (१२) गृहीत्या । (१३) पूर्वनीलादेः । (१४) गृहीत्या । (१५) बुद्ध्या । (१६) न चेतनस्य जीवस्य सिद्धिर्नापि कुड्यस्य अचेतनस्येति भावः । (१७) स्वाधीनम्, न पराधीनम् अपराधीनम्' इति व्युत्पत्तेः ।

'नीलमहं वेद्मि' इति स्वप्नेऽपि न स्याद् अविषये तदवृत्तेः । नहि नीलदर्शी 'पीतमहं वेद्मि' इति कदाचिद् व्यवहरति ।

यत्पुनरुक्तम्—'नीलमेव शब्दः (बुद्धेः) कुतो न ग्राहकम्' इति ; तदपि तथा सुप्रतीत्या परिहृतम् । [1]परस्यापि नीलाकारं ज्ञानम् [2]आत्मवत् पीताकारज्ञानस्य ग्राहकं [3]तद्वद् आत्मनो वा अग्राहकं न स्यात् । आत्मनो ग्राहकत्वेन [4]अन्यस्य अग्राहकत्वेन प्रतीतेरिति चेत् ; अहमह- ५
मिकया बुद्धेः प्रतीयमानायाः स्वपरग्राहकत्वेन नीलादेश्च तद्ग्राह्यत्वेन प्रतीतिरिति समः समाधिः ।

यत्पुनरेतत्—न नीलादिस्वरूपव्यतिरेकेण ग्राह्यता प्रतिभाति, स्वरूपं च यथा बुद्ध्य-पेक्षया [२१५ ख] नीलस्य तथा तदपेक्षया[5] बुद्धेरपि इति ; तदपि न सारम् ; यतः सर्वभावा-नामन्योऽन्यं स्वरूपभेदात् । नहि एकस्य स्वरूपं [अन्यस्य]; सर्वस्य एक[त्व]प्रसङ्गात् । तथा १०
च बुद्धेर्ग्राह्यं ग्राहकं च स्वरूपम् नीलादेः, ग्राह्यमेव, तथाप्रतीतेरिति । इतरथा यया योग्यतया नीलाकारम् आत्मसात्करोति नीलज्ञानं तया पीतज्ञानं तमात्मसात्कुर्यात् । अत एव न धिया [6]तस्य गृहीतिः काचित् क्रियते, अपि तु स्वरूपमेव गृह्यते, यथा कारणेन कार्यस्य स्वरूपं जन्यते। कथञ्चैवंवादिनाम् आत्मनोऽपि बुद्धिर्ग्राहिका ? गृहीतिकरणात् ; प्रसङ्गः पूर्ववत् । अथ न [7]तस्य सा ग्राहिका किन्तु स्वयं प्रकाशते ; न ; 'स्वयम् आत्मानं गृह्णाति' इति नाममात्रभेदात् , नीलं १५
वा न गृह्णाति किन्तु 'प्रकाशयति' इत्यपि स्यात् ।

यच्चाप्युक्तम्—न समसमयस्य इतरस्य वा ग्राहिका इति ; तत् सर्वगम् ; तथाहि—ज्ञानम् आत्मनि नीलाद्याकारं वित्समकालम् इतरं वा बिभर्त्ति इति सर्वं वाच्यम् । 'यथादर्शनमपि' ; अन्यत्राप्युक्तम् ।

'ननु च नीलमहं वेद्मि' इति प्रतीतिः स्वप्नेऽपि ; ततः किम् ? तत्रैवं जाग्रद्दशायामपि २०
नीलादिप्रतिभासः असदर्थः सिध्यति इति चेत् ; न ; एकत्र तथाभावेन सर्वत्र तथाभाव-नियमासिद्धेः, इतरथा स्ववेदनेऽपि तथाभावसिद्धेः बहिरर्थवत् तदपि त्यागाङ्गं तंतो बहिरर्थादिव साधनादिप्रयोजनासिद्धेः, इतरथा असत्प्रतिभासत्वाविशेषेऽपि तदङ्गीकरणात्[10] [11]अर्धवैसस (वैशस) न्यायोऽनुष्ठितः स्यात् । ततो यथा प्रतिभासाविशेषेऽपि बहिरर्थप्रतिभा[सोऽ]सदर्थ [२१६ क] इष्यते सौगतेन, न स्ववेदनप्रतिभासः, तथा परेण[12] स्वप्नार्थप्रतिभासोऽसदर्थ इष्यते न जाग्र- २५
त्प्रतिभा[सः । ननु यथा जाग्रत्प्रतिभा]सादेः स्तम्भादेः परमार्थसत्त्वं ततः स्वप्नेऽपि [13]तत्तस्य भवेदिति भावे को दोषो बहिरर्थवादिनः ? प्रमाणतदाभासप्रणयनमनर्थकमिति चेत् ; सौगतस्यापि

---

(१) प्रतिभाताद्वैतवादिनः । (२) स्वरूपवत् । (३) पीताकारज्ञानवद्वा । (४) पीताकारज्ञानस्य । (५) नील.पेक्षया । (६) नीलादेः । (७) आत्मनः । (८) स्वप्नदशायामिव । (९) स्ववेदनात् । (१०) स्ववेदनस्वीकारात् । (११) "अर्धवैशन्यायः ॥२५६॥ यथा कश्चिद्यवनः कुक्कुटीमांसभोजनकामः तत्सन्ततिकामश्च तद्ग्रीवादिकं छित्त्वा भुङ्क्ते, उदरं च सन्तानार्थं स्थापयतीति यथा न संभवति तथा प्रकृतेऽपि ।"—भु० लौकिकन्याय० पृ० १०४ । "न चार्धवैशसं युक्तं तत्त्वज्ञाने विवक्षिते ।···कुक्कुटादेरेको देशः प्रसवाय कल्पते पच्यते देशान्तरमित्यर्धवैशसम्···"—बृहदा० वा० टी० १।४।१२७६ । लौकिकन्या० द्वि० । (१२) जैनादिना । (१३) स्तम्भादेः सत्त्वम् ।

*"सर्वमालम्बने, न स्वरूपे भ्रान्तम्" [प्र० वार्तिकाल० पृ० २८०] इति किमेवम[न]र्थकं न स्यात् ? अपि च, स्वप्नेतरयोः ततः परमार्थसिद्धौ मम प्रमाणतदाभासप्रणयनं वैकत्रस्थ (न विफलं), सौगतस्य पुनः [1]सकलं दर्शनं विज्ञप्तिमात्राऽसिद्धेः इत्यहो तस्य परदूषणकौशलम् !

अपरेषां दर्शनम्—स्वप्नवद् अन्यदापि सत्येतरप्रविभागवियोग इति ; तेषामपि न विज्ञप्तिमात्रं प्रसिध्यति, ज्ञप्तेरिव सकलविकल्पातीतस्यापि सिद्धेः दर्शनान्तरानुषङ्गात् । किं तेन तादृशा सिद्धेनेति चेत् ? किं ज्ञप्त्या ? न च अस्मिन्नेकान्ते न कस्यचित् सकलविकल्पातीतता क्षणिकैकान्तो वा सिध्यतीत्युक्तप्रायम् । भेदवद् अभेदस्यापि बहिरन्तश्च प्रतीतेः कुण्डलादिषु सर्पवत् । न चेयं प्रतीतिः कल्पितरूपा ; 'सः' इति प्रती(अती)तोल्लेखः 'अयम्' इति वर्त्तमान इति विकल्पयतोऽपि अनिवृत्तेः, अ[श्वं] विकल्पयतोऽपि गोबुद्धिवत् । तथा विकल्पयतः सकलशून्यतापि उक्ता । [न त]देकान्ते परेण बाध इष्यते यतो निर्विषयत्वं स्यात् स्वप्नज्ञानेऽपि तथानुषङ्गेन तदेकान्तहानेः । कुत [3]इयं प्रतीतिरिति चेत् ? भेदप्रतीतिवत् चक्षुरादेः इति । क्रमः अपरापरतद्व्यापाराद् अपरविशेषश्च उपवर्णितः । केवलं पूर्वोत्तरपर्याय[२१६ख]स्मरणदर्शनाभ्यां 'स एवायम्' इति प्रत्यवमर्शोऽन्यो जन्यते, यतः अपरपरिणामेषु तिष्ठतः पूर्वपर्यायस्थिता व्यवसीयते । न च इन्द्रियज्ञानमेव सविषयम् ; सर्वस्य स्वप्रतिभासिना विषयेण सविषयत्वात् । तदेकान्ते पुनः विशेषतः । एतेन कार्यकारणभावप्रतीतिरपि निरूपिता ; 'इदमस्माज्जातम्' इति अविगानेन प्रतीतेः । तन्न सर्वज्ञानानाम् विशेषकल्पना परस्य श्रेयसी ।

यत्पुनरेतत्—'यद् विशददर्शनमार्गावतारि न तत् परमार्थसत् यथा स्वप्नोपलब्धं मतङ्गजादिकम् , विशददर्शनमार्गावतारि च जाग्रद्दशादर्शनदृष्टस्तम्भादिकम्' इति ; तत्रापि दृष्टान्ते कुतः परमार्थसत्त्वाभावः प्राप्तः यतस्तेन विशददर्शनमार्गावतारित्वस्य अन्यस्य वा हेतोः व्याप्तिः सिध्येत् ? अप्रतिपन्नेन सात्मकत्वेनेव प्राणादेः आत्मना इव संहृतत्वादेः (संहृतत्वादेः[7]) कस्यचिद् व्याप्यस्यसिद्धेः । प्रतिपन्ने इति चेत् ; यदि विशददर्शनात् परमार्थसत्[8] ; कथं हेतुः अव्यभिचारी, अनेन व्यभिचारात् ? अपरमार्थसन्(त)चेत् ; बहिरर्थवत् न तत्सिद्धिरिति स एव दोषः—न तेन कस्यचिद् व्याप्तिः[9] इति । एतेन अनुमानादपि तत्प्रतिपन्नता प्रत्युक्ता ; तत्रापि अपरनिदर्शनान्वेषणे अनवस्था । जाग्रद्दृष्टस्तम्भादि निदर्शनमिति चेत् ; अन्योऽन्यसंश्रयः—सिद्धे हि स्वप्नदृष्टमतङ्गजादेः परमार्थसत्त्वाभावे ततो जाग्रद्दशोपलब्धस्तम्भादेश्च तत्सिद्धिः, अतश्च तत्सिद्धिः इति । यदि पुनः प्रतिपाद्येन स्वप्नदृष्टस्य घटादेः परमार्थसत्त्वाभावेऽपि उपगमात् [२१७क] तेन हेतोः व्याप्तिसिद्धेः, न हेतोः निरन्वयदोषः, दृष्टान्तस्य वा साध्यविकलता सन्दिग्धधर्मता वा ; तथा सति सांख्योऽपि 'अचेतनाः सुखादयः अनित्योत्पत्तिमत्त्वात् घटादिवत्' इति वदन् किमिति धर्मकीर्त्तिना स्व(स्वयं) ग्रहणं व्याचक्षाणेन अकारणमेव निरस्तः ? प्रतिपाद्येन सौगतेन लोकेन वा [10]तत्र [अ]नित्योत्पत्तिमत्त्वादेः अङ्गीकरणात् । प्रतिपाद्यवशेन च दृष्टान्ते साध्यसिद्धिः

(१) द्रष्टव्यम्—पृ० ६७ टि० ५ । (२) सांशम् न निरंशम् । (३) अभेदप्रतीतिः । (४) चक्षुरादिव्यापारात् । (५) परार्थाश्चक्षुरादयः संघातत्वात् शयनासनाद्यङ्गवत् इत्यादेः । (६) दृष्टान्तं प्रतिपन्नम् । (७)सिध्येत् । (८) पक्षलक्षणे उपात्तं स्वयं शब्दं । (९) द्रष्टव्यम्—प्र० वा० ४।३०***। (१०) घटादौ ।

न पुनः साध्यधर्मिणि हेतोः इति कोऽयं नियोगः ? यदि वा प्रतिपाद्येच्छामात्रसिद्धं साध्यमादाय दृष्टान्ते तेन हेतोः व्याप्तिरिष्यते ; तर्हि [1]अस्वेच्छा (अन्येच्छा) मात्रसिद्धमादाय सा किन्नेष्यते ? अप्रमाणभूतयोः स्वपरेच्छयोरविशेषात्[2] । तथाभ्युपगमे को दोष इति चेत् ; न कश्चित् ; केवलं साध्यवत् साधनस्यापि स्वेच्छाकल्पितस्य अभिमतसाध्येन व्याप्तिभावात् *"स्वदृष्टार्थ-प्रकाशकं परार्थमनुमानम्" [3]इत्यत्र अर्थग्रहणमनर्थकम् । तत्र स्वपरेच्छामात्रसिद्धेन साध्येन ५ हेतोर्व्याप्तिसिद्धिरिति कथन्न निरन्वयादिदोष इति चेत् ? अत एव, पक्षीकृतेऽपि तदभावसिद्धेः हेतोः आनर्थक्यम् । न च प्रतीतस्य अनर्थकविकल्पितनिरासः अतिप्रसङ्गात् । विकल्पस्यास्य तदतद्विषयत्वे तदयोगात् सकलशून्यतानुकूलत्वाच्च । [२१७ ख] अथ जाग्रत्प्रत्ययो बाधक इष्यते, यतस्तस्मिन् सति परमार्थसन्न भवति स्वप्नघटादिकम्, अपि तु तथा असदपि सत्त्वेन मिथ्या वितर्कितमिति व्यवहारप्रवृत्तेरिति चेत् ; न ; परेण[4] तस्य[5] तद्बाधकत्वाऽनभ्युपगमात् । १० अभ्युपगमेऽपि जाग्रत्तम्भादौ [6]तदभावान्न परमार्थसत्त्वाभावः स्यात् । भवतु वा कथञ्चित् तरे (तत्र) तदभावो नैतावता सर्वत्र तत्सिद्धिः, विपक्षे सद्भावबाधकप्रमाणाभावे सन्दिग्धविपक्ष-व्यावृत्तिकत्वेन अनैकान्तिकत्वात् । नहि परमार्थसदूदर्शनमार्गावतारित्वं केन विज्ञानं तश्चिद् (केनचिज्ज्ञातं कुतश्चिद्) बाध्यमानं दृष्टं सर्वज्ञे वक्तृत्वादिवत् ; तथा सतः कस्यचि[त्तद्]-दर्शनात् । [7]तथापि तत्र तदभावसाधने न वक्तृत्वादीनां (नाम)गमकत्वमिति मीमांसकं प्रति १५ विद्वेषो निर्निबन्धनः । दर्शने वा हेतोर्व्यभिचारः कथं परिहृतः स्यात् ? सुतपव न (नच) विरो-धोऽपि साक्षात् तत्र तद्भावं बाधते, अदृष्टेन हेतोः विरोधद्वयासिद्धेः ।

ननु परमार्थसत्त्वविरोधी तदभावः, तेन व्याप्तो हेतुः, अतः परम्परापाया (परम्परया) विरोध इति चेत् ; यदि कचित् तयोः सहभावदर्शनात् तेन तद्व्याप्तिः, कार्यत्वस्य बुद्धिमत्कार-णत्वेन व्याप्तिः[8], कचित्[9] सहभावदर्शनस्य अत्रापि भावात् । [10]विपक्षे बाधकम् अन्यत्रापि २० दुर्लभम् । भवतु वा विपक्षात् कथञ्चिदस्य व्यावृत्तिः, तथापि विशददर्शनगम्यत्वेऽपि परमार्थसत्त्वे हेतोः व्यभिचारापरिहारः । ततो यत्किञ्चिदेतत् ।

ननु न बौद्धेन कचित् किञ्चित् साध्यते निषिध्यते वा तत्कृतः[11], केवलं यो व्यवहारी प्रतिभासादिना जाग्रत्तम्भादीनां [२१८क] परमार्थ[त्वं] साधयति शतेन (स तेन) स्वप्नादौ तद्व्यभिचारेण तदभ्युपगतेन निरान्त (राक्रि) यते, तेन तत्र परमार्थसत्त्वाभावाभ्युपगमात् इत्येके । २५ तत्र किं पुरुषाभ्युपगमादप्रमाणकात् साधनं व्यभिचारि भवति ? तथा चेत् ; सत्त्वादि सर्वम-नैकान्तिकं तद्वत् स्यात्, प्रतिपाद्येन अनित्यघटादिवत् नित्ये गगनादौ [12]तदङ्गीकरणात् । यदि च प्रतिभासादिः अनैकान्तिकः ततः किं बहिरर्थपरमार्थसिद्धिः ? [न हि] सन्दिग्धव्यभिचारिणः

(१) न स्वेच्छा अस्वेच्छा, अन्येच्छा इत्यर्थः । (२) विशेषाभावात् । (३) "तत्र परार्थानुमानं स्वदृष्टार्थप्रकाशनमित्याचार्यीयलक्षणम् ।"—प्र० वा० मनो० ४।१ । "तत्र परार्थानुमानं तु स्वदृष्टार्थ-प्रकाशनम्"—प्र० वार्तिकाल० पृ० ४६७ । (४) प्रतिभासाद्वैतवादिना । (५) जाग्रत्प्रत्ययस्य । (६) बाधका-भावात् । (७) अदर्शनमात्रेण । (८) स्यात् । (९) घटादौ । (१०) यथा कार्यत्वहेतोः विपक्षे बाधकं दुर्लभम् तथा अन्यत्रापि विशददर्शनगम्यत्वेऽपि हेतौ दुर्लभम् । (११) एते दोषाः । (१२) सत्त्वस्वीकारात् ।

साधनात् साध्यसिद्धिरसन्दिग्धा उपजायते अतिप्रसङ्गात्। सन्दिग्धेऽर्थे सति को दोषः ? किं तेन व्यवहारानुपयोगिना समाश्रितेन इति ? किं पुनस्तत्त्वम्, यत् तत्परिहारेण समाश्रयणीयं स्यात् ? स्वसंवेदनमात्रमिति चेत्; ननु च प्रतिभासादिना तदपि सिध्यति, स च अभ्युपगमेन व्यभिचारीकृत इति न किञ्चिदेतत्। अथात्र विशेषोऽभ्युपगम्यते परेण; अन्यत्रापि सोऽभ्युपगम्यते इति। न च अन्यस्य व्यभिचारे अन्यस्य व्यभिचारः अतिप्रसङ्गात्। तदुक्तम्—

*"इन्द्रजालादिषु भ्रान्तिमीरयन्ति न चापरम्।
अपि चाण्डालगोपालबाललोलविलोचनाः ॥" [न्यायवि० श्लो० ५१] इति।

नन्वेवं बहिरर्थसाधनं प्रकृति (तं) चेत्; उच्यते—यथा बहिरर्थग्रहणानुबन्धमजहत एव ज्ञानस्य स्वग्रहणव्यापारः, स्वग्रहणानुबन्धं चाऽजहतो देशभिन्नार्थग्रहणव्यापारः, तथा कारणग्रहणानुबन्धमजहत एव कालभिन्नकार्यग्रहणसिद्धेः कार्यकारणभावः पारमार्थिकः सिध्यति, [1]तत्सिद्धेश्च यथा क्वचिद् धूमदर्शनादग्नेः सिद्धिः तथा क्वचिद् वाग्उपलम्भात् [2]चैतन्यसिद्धिः इति [२१८ ख] यदुक्तम्—*"वाग्बुद्ध्योः प्रमाणाभावेन कार्यकारणभावाऽसिद्धेर्न वाचो बुद्ध्यनुमानम्" इति; तन्निरस्तम्।

तत्त्वे (नन्वे)कदा बुद्धेर्वाचो दर्शनेऽपि न सर्वत्र सर्वदा तत एव, सालूकात् सालूकस्य दर्शनेऽपि पुनः गोमयादपि तद्दर्शनेन व्यभिचाराशङ्काऽनिवृत्तेः तत्रापि, तं (तत्) कथं वाचो बुद्ध्यनुमानम् इत्येके; ते चार्वाकादपि पापीयांसः; स्वयमेव 'यादृशाद् यादृशमुपलब्धम्, अन्यदापि तादृशादेव तादृशभावम्' अभ्युपगम्य पुनः [3]अन्य[थाभि]धानात्। कथं चैवं वादिनां सर्वं ज्ञानं स्वाग्राहिमा (स्वग्राहि न) पुनः परग्राह्यता[4] इति सिध्यति यतो मीमांसकादिनिवृत्तिः स्यात्। नहि प्रत्यक्षमियतो व्यापारान् कर्तुं समर्थम्, अविषये स्वयमवृत्तेः, एक[5]वाक्य (एकं च तद्) द्वैतनिषेधात्। अथ यत् स्वग्राहि न भवति तज् ज्ञानमेव न भवति। कुत एतत् ? स्वग्रहणात् तल्लक्षणान्तराभावात् इति। तदपि कुतः ? तथादर्शनात्। नन्वेकत्र तथादर्शने सर्वत्र तथाभावः कथंभूतस्य वृक्षस्य (कथमभूत् ? प्रत्यक्षस्य) स्वभावस्य एकदा दर्शनेऽपि स्वभावातिक्रमाऽनिवृत्तेः[6]। एवं सत्यपि ज्ञानं स्वस्वभावं कदाचनापि न जहाति, कार्यं तु कारणं जहाति इति प्रचण्डनृपतिचेष्टितम्! ततः साधूक्तम्—'जीवानाम् इत्यत्र न कश्चिद् विप्रतिपत्तुमर्हति' इति।

'पुण्यपापबन्ध' इत्यत्रापि न कश्चिद् विप्रतिपत्तुमर्हति। तद्यथा, तेषां यथावस्थितस्वपरप्रकाशनस्वभावत्वेना प्रकृत्याशुभामुरीणम् आगंतुके (त्वेन प्रकृत्या भास्वराणाम् आगन्तुक) मिथ्याज्ञानं विषादिभ्यः समुपलभ्य आगन्तुकं सुखादिकमपि तथाविधकारणप्रभवम् इत्यनु[मातु]मर्हन्तु परीक्षकाः [२१९क] इतरथा धूमादेः अग्न्यादि कथमनुमीयते ? एतावांस्तु विशेषः—यतो मिथ्याज्ञानादिकं विवादास्पदीभूतं भवति तत् 'पापम्' इत्याख्यायते, यतः सुखादिकं तत्

(१) कार्यकारणभावसिद्धेश्च। (२) बुद्धि। (३) व्यभिचारशङ्काप्रदर्शनात्। (४) ज्ञानं परेण ग्राह्यमिति। (५) कथं चैवं वादिनां सर्वं ज्ञानम् एकं च सिध्यति तद्द्वैतनिषेधात् इति सम्बन्धः। (६) स्वभावातिक्रमस्य आशङ्का स्यादिति भावः।

'पुण्यम्' इति । तथा च प्रयोगः तेषाम्—आगन्तुकविवादगोचरापन्नं सुखादिकं तत्संयुक्तविषादिकारणसमानकारणप्रभवम् आगन्तुके सति तत्परिणामत्वात् प्रसिद्धमिथ्याज्ञानवत् ।

इदमपि तु सुभाषितम्—'पुण्यपापबन्धो जीवानाम् इत्यत्र न कश्चिद् विप्रतिपत्तुमर्हति' इति । तथैव 'तेषां तद्बन्धः मनोवाक्कायकर्मभिः आस्रवैः शुभाशुभैः इत्यत्र न कश्चिद् विप्रतिपत्तुमर्हति' इति । तथाहि—विषादौ स्वपरात्मनोः अहिते हितबुद्धिः मिथ्याज्ञानतः, ततस्तत्र अविरतिः अत (अविरत) लक्षणा, ततोऽपि प्रमाणे (मादो) हितेतरविषयं मनसोऽप्रणिधानम्, तस्माच्च लोभः तदादातुं मनोवाक्कायव्यापारः, ततस्तदानम् (तदादानम्) आत्मनस्तेन संयोगः, तेन पुनः अपरं मिथ्याज्ञानम्, एवं परत्रापि वक्तव्यम् । तथा तत्रैव मिथ्याज्ञानात् क्रोधादयः तद्व्यापारः तदुपादानं मिथ्यात्म (ध्यामा) नादिकमिति व्याख्यातव्यम् । तद्वद् विशिष्टौषधादौ सम्यग्ज्ञानादेः तदुपादाने सुखादिकं व्याख्यातव्यम् । तदेवं सिद्धायां व्याप्तौ पुण्यपापबन्धोऽनुमितोऽतो भवति इत्यनुमीयते, आज्ञादि (अज्ञानादि) मिथ्याज्ञानादिकं च [त]त्कारणमित्यपि[3] । न च कारणात् कार्यानुमानमयुक्तम्, अन्यथा दृश्यानुपलब्धिः असद्व्यवहारसाधनम् अनिरूपितमेव स्यात्, तस्याः तत्कारणत्वोपगमात् । योग्यतानुमानेऽपि प्रतिबन्धवैकल्यसंभवाशङ्कया कथं निःशङ्कं तदनुमानं तन्दुलादेः ओदनाद्यनुमानवत् । अत्र कारण[२१९ख]विशेषकल्पनायाम् अन्यत् समानम् । तदुक्तम्[4]—

*"एषोऽहं मम कर्म शर्म हरते तद्बन्धनान्यास्रवैः,
ते क्रोधादिवशाः प्रमादजनिताः क्रोधादयः सो(तेऽ)व्रतात् ।
मिथ्याज्ञानकृतात्ततोऽस्मि सततं सम्यक् (क्त्ववान्) सव्रतो
दक्षः क्षीणकषाययोगतपसां कर्त्तेति मुक्तो यतिः ॥"
[यश० उ०पृ० २४६] इति ।

तनुक्तोवादिभ्य (तत्र क्रोधादिभ्य) एव हीनसंस्थानसंक्रान्तित्वं तेभ्योऽन्यदृष्टं तत्कारणं जायते अत (तथा) दर्शनात् इति । तदुक्तम्—

*"दुःखे विपर्यासमतिः तृष्णा च बन्धकारणम् ।
प्राणिनो यस्य तेन स्तः न स जन्माधिगच्छति ॥" [प्र० वा० १।८३] इति ।

चैव (?) पुनर्बन्ध इत्यादि ।

[पुनः फलविकल्पः स्यात् सुखदुःखादिलक्षणः ।
यथास्वं कालादिसामग्रीसन्निधौ बन्धसन्ततौ ॥१०॥
मूषिकालर्कविषविकारवत् ।]

पुनः तेषां पुण्यपापबन्धात् पश्चात् कालान्तर इत्यर्थः । फलविकल्पः तद्वच्च कार्यभेदः

(१) अचेतनकर्मबन्धः । (२) कर्मणा । (३) अनुमीयते इति सम्बन्धः । (४) असद्व्यवहारकारण । (५) "अस्त्यात्मास्तमितादिबन्धनगतः तद्बन्धनाम्यास्रवैः । ते क्रोधादिकृताः प्रमादजनिताः क्रोधादयस्तेऽव्रतात् ॥ मिथ्यात्वोपचितात् स एव समलः कालादिलब्धौ क्वचित् । सम्यक्त्वव्रतदक्षताकलुषतायोगैः क्रमान्मुच्यते ॥"—आत्मानु० श्लो० २४१ ।

स्याद् भवेत् । किं लक्षणः ? इत्याह–**सुख** इत्यादि । तत्र **आदि**शब्देन इष्टानिष्टशरीरादि-परिग्रहः । कस्मिन् सति स्यात् ? इत्याह– **बन्धसहितौ (सन्ततौ)** इति । जीवकर्मणोः संयोगविशेषः न समवायः चेतने समवायविरोधात् **बन्धः** तस्य **सन्ततिः** आफलावाप्तेः सन्तानेन समवस्थानम् । एतदुक्तं भवति–यदि क्रोधादिभ्यः आत्मसम्बन्धसन्तत्या प्राप्तफलकालं किञ्चिन्न स्यात् कुतो जन्मान्तरे फलविकल्पः ? क्रोधादेश्च जन्मकाल एव विलयात् । न ततः क्षणिकैकान्ते सन्ताननिषेधात् स[3] युक्तः ।

एतेन *"श्वेतं छागमालभेत स्वर्गकामः" इति वचनात् [न] मनोवाक्कायकर्मभ्यः फलविकल्पः इति निरस्तम्; द्रव्य[3]दीनाम् इष्टिकालादावेव विनाशात् । तत्प्रवाहं(ह)स्थितौ वरं तेभ्यः समुत्पन्नकर्मणां तत्स्थितिरस्तु विरोधाऽभावात्, न द्रव्यादीनां विपर्ययात्, ऐहिकफल-कालेऽपि [२२०क] तत्सन्ततेरप्रतिपत्तेरिति । तस्यां सत्याम् कथं कुतः स स्यात् ? इत्यत्राह– **यथास्वम्** इत्यादि । यस्य कर्मणो स (य) उदयः फलोपजन[न]सामर्थ्यपरिपाकः यथाकालम्, उदीरणम् अपक्वपरिपाचनं तस्य अनतिक्रमेण **यथास्वम्** इति । तयोर्ध्वसा सामर्थ्यात् स्वस्यात् (तपसः सामर्थ्यात् तत्स्यात् ।) अत्रायमभिप्रायः–यदि स्वेन स्वभावेन प्रथममुत्पन्नं शुभमशुभं वा कर्म तेनैव कालान्तरे स्थितमपि फलं जनयेत्, तदुत्पत्तिसमय एव तं[5]स्यात् । नहि कारणावैकल्ये फलवैकल्यम्, अतत्कार्यत्वप्रसङ्गात् ।

स्यान्मतम्–इत्थंभूत एव असौ स्वभावः यत् कालान्तरे कार्यम् । दृश्यते हि मन्त्रतन्त्रा-दीनां स्वदेशे समर्थानां देशान्तरे कार्यकरणमिति; तन्न युक्तम्; तत्कार्याणां कालान्तरेऽपि सह-भावप्रसङ्गात् । तथा च अस्य उत्पद्यते इदं कर्म इति योगिनोऽपि न बुद्धिः । न च परस्य[6] अकारणं विषयः *"अर्थवत् अर्थसहकारि प्रमाणम्" इति वचनात् । 'योगिनः अकारणमपि विषयः' इत्यपि वार्त्तम्; अन्यस्यापि तथासंभावनाप्रसङ्गात् *"यस्य यावती मात्रा" [प्र० वार्तिकाल० पृ० २२३] इतु (इति) न्यायात् ।

ननु ईश्वरज्ञानं नित्यमपि अर्थग्राहकम्, तथा नित्यमस्तु, अन्यथा अनीश्वरयोगिनो ज्ञानं क[थ]मर्थग्राहकम्[7] ? तत्कार्यत्वात्; कथमेकस्माद् एकस्वभावात् कर्मणः अन्यतो वा क्रमभावि कार्यद्वयम् ? तथा स्वभावादिति चेत्; स स्वभावः कारणस्य, कार्यस्य वा भवेत् ? न तावत् कारणस्य; एकस्वभावत्वात् । नहि य एव पूर्वकार्ये स एव अन्यत्र तद्व्यापारो युक्तः, कार्य-कालभेदाऽभावप्रसङ्गात् । नापि कार्यस्य; उत्पन्न-अनुत्पन्नविकल्पद्वये तदयोगात् । नाऽनुत्प-न्नस्य; खरविषाणवत् । नाप्युत्पन्नस्य; अन्योऽन्यसंश्रयात्– उत्पन्नस्य [२२०ख] तत्स्वभावता, तस्यां च तथोत्पत्तिः इति ।

ननु यथा एकस्माद् एकस्वभावाच्च युगपद् देशभिन्नं कार्यं तथा क्रमेण कालभिन्नमिति चेत्; भवतु सौगतस्य न जैनस्य, तस्य सर्वदा कारणस्वभावभेदादेव कार्यभेदभावात् ।

---

(१) एकक्षेत्रावगाहे सत्यन्योऽन्यानुप्रवेशलक्षणः । (२) फलविकल्पः । (३) द्रव्यगुणक्रियादीनाम् । (४) यज्ञकाल एव । (५) द्रव्यादिभ्यः । (६) प्रवाहस्थितिः । (७) फलम् । (८) नैयायिकादेः । (९) "न ह्यकारणं प्रतीतिविषयः"–हेतुबि० टी० पृ० ८० ।

अत्रापरः प्राह—यथा एकस्वभावेन कारणम् आत्मनि नानासामर्थ्यं बिभर्त्ति, तथा तेनैव नानाकार्यं कुर्योदिति, इतरथा अनवस्था इति; तन्न; जैनस्य समयाऽपरिज्ञानात्। न खलु जैनस्य 'किञ्चित् केनचित् स्वभावेन तत्सामर्थ्यं बिभर्त्ति' इति मतम्, अपि तु स्वकारणात् तदात्मकमुत्पद्यते संशयेतरस्वभावज्ञानैवदिति।

तदेतेन यदुक्तं केनचित्—*"रूपादिवद् धर्माऽधर्मसंस्काराणाम् आधारव्यापकत्वम्" ५ इति; तन्निरस्तम्; सर्वत्र सर्वदा तत्कार्योदयप्रसङ्गात्, मोक्षाभावप्रसङ्गात् धर्माद्यभावरूपत्वात्तस्य[1]। तत्र तदभावे नाधारव्यापकत्वं तेषाम्[2]; मोक्षे तद्रहितस्य आत्मनो भावात्[3]। कथं वा तत्र तेषाम्[4] तदभावोऽवसीयते? तत्कार्यशरीराद्यभावात्; किं पुनः 'कार्याऽभावात् कारणाभावगतिः' इत्येकान्तः? तथा चेत्; कथं सर्वत्र धर्मादिगतिः यतः सर्वगतात्मव्यापकत्वं सर्वत्र तत्कार्याभावात्। अदर्शनात्[5] सत्कार्याभावात् तत्र तत्कार्याभावो न धर्माद्यभावात् इति नोत्तरम्; १० मोक्षेऽपि तथा प्रसङ्गात्।

किं च, आत्ममनःसंयोगः स्वाधाराव्यापकोऽपि चेत् सर्वत्र सर्वदा आत्मनि धर्मादिकं जनयति; धर्मादिः तथा स्वाधाराऽव्यापकोऽपि सर्वत्र कार्यं करोति इति किं तद्व्यापकत्वकल्पनया? इति यत्किञ्चिदेतत्।

ननु न सर्वत्र सर्वं तत्कार्यं कालादिसामग्रीवैकल्यात् [२२१क] तद्भावे तु भवत्येवेति १५ चेत्; अत्राह—**कालादि** इत्यादि। **काल आदिर्येषां** ते देशद्रव्यविशेषादीनां ते तथोक्ताः तेषां **सामग्री** तः [ते[10]] एव विशिष्टपरिणामोपेता[11] न पुनः तेभ्योऽन्यैर्वै[12], तस्या एव कार्योदयः (य) प्रसङ्गात्। भिन्नायाश्चैं[13] [14]तत्सम्बन्धाऽयोगात् समवायनिषेधात्। [15]उपकार्योपकारकभावकल्पने सामग्रीवत् तैं[16] एव कार्यमुपकुर्वन्तु। पुनरपि तदन्तरकल्पने अनवस्था स्यात्। **तस्याः सन्निधौ** सन्निधाने अङ्गीक्रियमाणे उदय-उदीरणवशात् **फलविकल्पः स्यात्**। कर्मणां तत्कृतोपकाराभावे २० तत्सन्निधानवैयर्थ्यमिति मन्यते। यदि वा, तत्सन्निधौ फलविकल्पः स्यात्, तस्मिन् सत्येव भावात्, कर्मसु तेषु सत्स्वपि पूर्वमभावात् इति व्याख्येयम्। **'पुनः बन्धसन्ततौ फलविकल्पः स्यात्'** इत्यनेन दृश्यादेव सेवादेः तद्विकल्पन (ल्प) निराकरोति 'समानसेवादीनामपि[17] कस्यचिद् अचिराद् अपरस्य चिरात् फलम् अन्यस्य चिरादपि फलं न' इति फलविकल्पस्य दर्शनात्। न च समाने कारणे फलवैचित्र्यम्; अतत्फलत्वप्रसङ्गात्। नहि शुक्लयवबीजेभ्यः २५ शुक्लाऽशुक्लयवसंभवः।

एतेन दृश्यभूतविशेषात्[1] तत्संभवोऽपास्तः; परिस्राव्यस्फटिकभाजने व्यवस्थापितादपि जलात् नानाजन्तुजन्मोपलम्भात्। तत्र सूक्ष्मादृश्यभूतविशेषकल्पनं कर्मवादान्न विशेष्येव।

---

(१) शास्त्र। (२) यथा संशयज्ञानं स्याद्वादादर्थे संशयरूपमपि स्वरूपे असंशयात्मकं भवति तथा। (३) मोक्षस्य। (४) धर्मादीनाम्। (५) धर्मादिशून्यस्य आत्मनः सद्भावात्। (६) मोक्षे। (७) धर्मादीनामभावः। (८) कार्याणि सन्त्यपि न दृश्यन्ते। (९) आत्मव्यापकत्व। (१०) कालादयः। (११) सामग्री। (१२) भिन्नैव। (१३) सामग्र्याः। (१४) कालादिकारण। (१५) सामग्री-कारणयोः। (१६) कालादयः। (१७) पुरुषाणाम्। (१८) फलविकल्पः।

तद्विशेषो कदाचित् कचिदेव भवन्नात्मनः कारणनियमं सूचयति । आकस्मिकत्वे मिथ्याज्ञानादि-भेदोऽपि मिथ्याज्ञानादिनिमित्तास्रवपूर्वको न स्यात् । ततः स्थितं **पूर्वबन्ध (पुनर्बन्ध)** इत्यादि ।

दृष्टान्तमाह–[२२१ख] **मूषिक** इत्यादि । मूषिकाऽलर्कशब्दयोः कृतद्वन्द्वयोः विष-शब्देन षष्ठीसमासः तस्य पुनः **विकारशब्देन** । यदि वा, मूषिकालर्कविषाणां कृतद्वन्द्वानां विकारशब्देन तत्समासोऽभिधेयः, तद्विकारेण तुल्यं वर्त्तते इति **तद्वत्** इति ।

'सुखदुःखादिलक्षणः' इत्यत्र आदिशब्देन विवक्षितं मिथ्यादर्शनज्ञानफलं निरूपि-(पयि)तुं कारिकामुपन्यस्यति **उदयोदीरण** इत्यादिना ।

[उदयोदीरणसद्भावे दृष्टिप्रतिबन्धकर्मणाम् ।
मिथ्यादृष्टिधियौ कर्मप्रकृतीनां क्षयोपशमात् ॥११॥

जीवादितत्त्वार्थाश्रद्धानं मिथ्यादर्शनम् । जीवे तावन्नास्तिकयम् अन्यत्र जीवाभिमानश्च, मिथ्यादृष्टेः द्वैविध्यानतिक्रमात् विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिर्वेति । मिथ्यादृष्टेः क्षायोपशमिकभावस्यापि तद्घातिकर्मणामुदयोदीरणवशात् मत्यज्ञानादिपरिणतिः ।]

ननु च **आदि**शब्देन उपदर्शितोपदर्शनार्थं पुनः कारिका उच्यमाना पुनरुक्ततामावहेत्, अतिप्रसङ्गश्च इष्टानिष्टशरीरादिफलोपदर्शनार्थयोरपि तथावचनप्राप्तेः इति चेत् ; न; अन्यथा तदुपन्यासात् । तथाहि–'मिथ्याज्ञानादेः अविरतिः, ततः प्रमादः, अस्मात् क्रोधादयः, तेभ्यः आस्रवः, [ततः] कर्मबन्धः, पुनः बन्धसन्ततौ फलविकल्पः स्यात्' इति सूरेः अभिप्रायः, *"एषोऽहं मम कर्म शर्म हरते" [यश० उ० पृ० २४६] इत्यादि वचनात् । तत्र प्रथमं मिथ्यात्वादिकं यदि अकारणमन्यकारणं वा सर्वं तथैव स्यादिति; अत्राह–**उदयोदीरण** इत्यादि । अत्रायमभिप्रायः–तदपि मिथ्या[त्वा]दिकम् अन्यस्मात् कर्मोदयोदीरणवशाद् अनादित्वात् तत्प्रबन्धस्यैं बीजाङ्कुरप्रबन्धवत् इति । यद्वा, तत्र आदिशब्देन इष्टस्थानसंक्रमणादिपरिग्रहः, न मिथ्यादर्शनादेः तत्र विवादस्य *"मिथ्याज्ञानं विसंवादादप्रमाणम्" [सिद्धिवि० ४।२] इत्यादिना निराकृतत्वात् । तदेव अत्र पुनरपि दृष्टान्तार्थमुपदर्शयितुम् **'उदयोदीरण'** इत्यादिकां कारिकामाह । इदमत्र तात्पर्यम्–यथा मूषिकालर्कविषादि स्वकालादिसामग्री सत्तवा [सत्त्वे फलवत् तथा] उदयोदीरणवशात् [२२२क] मिथ्यात्वं किञ्चिद् उपलभ्य आगन्तुकम् अक्षणिकत्वादिमिथ्यात्वं तादृशादेव कारणादिष्यते तथा आगन्तुकसुखादिविकल्पोऽपि इति । उदये उदीरणे च सति । केषाम् ? इत्याह–**दृष्टि** इत्यादि । तद्रुचि (तत्त्वरुचि) ज्ञानप्रतिबन्ध-**कर्मणाम्** । किं स्यात् ? इत्याह–**मिथ्यादृष्टिधियौ** मिथ्यारुचि-मिथ्याज्ञाने 'स्याताम्' इति शेषः । [किं] सर्वदा इति चेत् ; अत्राह–**कर्म** इत्यादि । यदा कादिचत् कर्मप्रकृतयः क्षयोपशमवत्यो भवन्ति तदा आत्मनो विषयग्रहणाभिमुख्यम्, अन्यथा मत्तमूर्च्छितवत् तदयोगात्, तदापि कासाञ्चिद् उदयादिभावे मिथ्यारुच्यादिकमिति, यथा विषाद्युपयोगे मूर्च्छितस्य ।

(१) षष्ठीसमासः । (२) कर्मोदय-मिथ्यात्वादिसन्तानस्य । (३) ज्ञानोत्पत्त्ययोगात् ।

अकासाविद् दृष्टिकलानां (कासाञ्चिद् विषकल्पानां) कुतश्चित् क्षयोपशमे कासाञ्चिच्च उदयोदीरणे प्राथमिकप्रबोधे स विभ्रम इति मन्यते ।

'जीवादि' इत्यादिना कारिकां विवृण्वन् प्रथमं निर्दिष्टां मिथ्यादृष्टिं विवृणोति–**मिथ्यादर्शनम्** । किम् ? इत्याह–**जीवादि** इत्यादि । आदिशब्देन अजीवादिपरिग्रहः, स एव तत्त्वार्थः प्रमाणोपपन्नत्वात् तत्र **अश्रद्धानम्** अरुचिः । तदेव दर्शयन्नाह–**जीव** इत्यादि । **तावत्** शब्दः क्रमवाची **जीवे** आत्मनि **नास्तिक्यं** नास्तिकस्य भावो 'मिथ्यादर्शनम्' इति सम्बन्धः । तत्रैव अपरं दर्शयति **अन्यत्र** चेतनापरिणामशून्ये स्वयं कल्पिते धर्मिणि सर्वगतत्वादिधर्मोपरक्ते **जीवाभिमानश्च 'मिथ्यादर्शनम्'** इत्यनुवर्तते, अतस्मिन् तदभिमानस्य तद्रूपत्वात्[2] । किं पुनः द्विविधमेव तत्[3] प्रदर्श्यते ? इत्याह–**मिथ्यादृष्टेः** इत्यादि । मिथ्या दृष्टिः रुचिर्यस्य तस्य **द्वैध्या (द्वैविध्या) नतिक्रमात्** । कुतः ? इत्याह–[२२२ख] **विप्रतिपत्तिः** इत्यादि । तस्य जीवे विरुद्धा विपरीता वा प्रतिपत्तिः **विप्रतिपत्तिः अप्रतिपत्तिः** प्रतिपत्त्यभावो यतः **वा** शब्दो विकल्पार्थः **इति** शब्दः मिथ्यारुचिसमाप्त्यर्थः ।

ननु 'किं जीवोऽस्तु (स्ति) न [वा]' इति, तथा 'चेतनपरिणामस्वभावः अन्यो वा' इति संशयपक्षोऽपि तृतीयोऽस्ति सं कस्मान्नेहोच्यते इति चेत् ? न; तस्यं अप्रतिपत्तिशब्देन उक्तत्वात्, तथा वा (च) प्रतिपत्त्यभावरूपत्वात् संशयस्य इति । कथंभूतस्य मिथ्यादृष्टेस्तद्भवः ? इत्याह– **क्षायोपशमिकभावस्यापि** कर्मणां यः क्षयश्च उपशमश्च क्षयोपशमः तत्र भवो भावो यस्य तस्यापि **मिथ्यादृष्टेः** । **तदपि** शब्दः तस्यैव इत्यवधारणे, वच्छता (मिथ्यात्व) रहितस्य तदभावात् । संभावनायां वा । कुतस्तत्तस्येति चेत् ? अत्राह–**तद्धाति** इत्यादि । **तच्छब्देन** जीवः परामृश्यते, तस्य जीवस्य **घातिकर्माणि** यानि तत् कर्मसामान्यवचनेऽपि दर्शनोपघातद्वारेण तदुपघातकानि प्रक्रमाद् गृह्यन्ते, तेषाम् **उदयोदीरणवशात्** इति । न केवलं मिथ्यादर्शनमेव तस्य अतो भवति अपि तु मिथ्याज्ञानमपि इति दर्शयन्नाह–**मत्य** इत्यादि । **मत्यज्ञानम्** मिथ्याऽवग्रहादिज्ञानम् **आदिर्यस्य** श्रुताऽज्ञानादेः **स** तथोक्तः **स एव परिणतिः** । च शब्दोत्र (शब्दोऽत्र) द्रष्टव्यः । ततोऽयमर्थः–तत्परिणतिश्च क्षायोपशमिकभावस्यापि तद्घातिकर्मोदयोदीरणवशादिति ।

ननु च जीववदन्यत्रापि नास्तिक्यसंभवे 'जीवे **तावत्**' इति क्रमवाची शब्दः प्रयुज्यते । न चान्यत्र तँदिति चेत् ; अत्राह–**तत्र** इत्यादि ।

[तत्रेति द्वेधा नास्तिक्यं प्रज्ञप्तिसत् प्रज्ञप्तिसत् ।
तथादृष्टमदृष्टं वा तत्त्वमित्यात्मविद्विषाम् ॥१२॥

कुम्भस्तम्भादि दृष्टं प्रज्ञप्तिसत् संस्थानादेः स्वलक्षणेष्वभावात् । वृत्तिविकल्पानवस्थादोषानुवृत्तेः । स्थूलस्याभावात्, परिमण्डलादेरप्रतिभासनात्, तद्व्यतिरेकिणोऽसम्भवात् । विज्ञप्तिमात्रं परमार्थसत् ; यथादर्शनं प्रज्ञप्तिसत्त्वात् भ्रान्तस्यापि नानैकत्व-

(१) नैयायिकादिना । (२) मिथ्यात्वात् । (३) मिथ्यात्वम् । (४) संशयः । (५) संशयस्य । (६) नास्तिक्यम् ।

संभवात् ग्राह्य [ग्राहकसंवित्ति] भेदावभासनात् संभावितैकरूपस्य स्वतोऽसिद्धेः परतश्च स्वभावनैरात्म्यं सर्वभावानां प्रमाणाभावे न प्रतिपत्तुमर्हति शून्यवादी, भावे च। तदयमात्मानं मिथ्याभिनिवेशेन अनर्थगर्ते प्रवेश्यमानोऽपि न चेतयते। प्रमाणाभावेन प्रत्यक्षमेकं नापरं प्रमेयतत्त्वं वेति न तथा प्रतिपत्तुमर्हति। प्रमाणान्तरप्रतिषेधे प्रत्यक्षलक्षणानुपपत्तेः किं केन विदध्यात् प्रतिषेधयेद्वा यतः चातुर्भौतिकमेव जगत् स्यात्। यदि नाम स्वसंवेदनापेक्षया बहिरन्तश्चोपप्लुतमिति सूक्तमेवैतत्, निराकृतपरदर्शनगमनात्। विभ्रमैकान्तमुपेत्य स्वसंवेदनेऽपि अपलापोपलब्धेः अन्यथा विप्रतिषेधात् चतुर्भूतव्यवस्थामपि लक्षणभेदात् कथयितुमर्हति। न च चतुर्भूतव्यवस्थाकथनं युक्तम् परोक्षाणामपि लक्षणात् साकल्येन तत्त्वाप्रतिपत्तेरन्यथानुपपत्तेः।]

तत्र 'क्षायोपशमिकभावस्यापि तद्घाति [२२३क] कर्मोदयोदीरणवशात् मिथ्यादर्शनम्' इत्येवं व्यवस्थिते सति मते वा **नास्तिक्यं** नास्तिकस्य भावः कर्म वा **द्वेधा** द्विप्रकारं बाह्याध्यात्मिकविषयभेदेन, यदि वा, जीवाऽजीवगोचरना[ना]त्वेन विज्ञप्तिमात्रस्य (स्याऽ) भावात्, अथवा जाग्रत्स्वप्नविषयभेदेन वा भेदगोचरत्वेन च, यदि वा अनुमानादिप्रमाणतत्प्रमेयविषयभेदेन तद्विधिते (तद् द्वेधेति)। यदि वा, जीवे यन्नास्तिक्यं तस्य भेदं दर्शयन्नाह—**तत्र** इत्यादि। **तत्र** जीवे **नास्तिक्यं द्विधा (द्वेधा)** सौगतचार्वाकचर्वणभेदेन। अथवा, तत्र तयोः नास्तिक्य-अन्यत्रजीवाभिमानयोर्मध्ये नास्तिक्यं तद्द्वेधा इति व्याख्येयम्। तत् किम्? इत्याह—**प्रज्ञप्तिसत्** संवृतिसत् इत्यर्थः।

ननु प्रज्ञप्ति (प्रज्ञेति) शब्दो न क्वचित् संवृतिपर्यायतया रूढः तत एवं वक्तव्यं दृष्टं (स्पष्टं) संवृतिसत् इति, एवं हि स्पष्टो निर्देशो भवति *"तत्त्वसंवरणात् संवृतिः' मिथ्याविकल्पबुद्धिः" इति सर्वत्र प्रसिद्धेः तथा सत् इति। नापि एवंवचने कारिका मद (भ्रंश) इति चेत्; तन्न; परमतभेदप्रदर्शनार्थत्वात् तथावचनस्य। तथाहि—दृष्टं सर्वं चेतनभ्वा (चेतनमचेतनं वा) मिथ्येति मतम् *"मायामरीचिप्रभृति प्रतिभासवदसत्त्वेऽपि अदोषः" [प्र०वार्तिकाल० ३।२११] इति वचनात्। कुतः? इत्याह—**प्रज्ञप्तिसत्** इति हेतोः, प्रगता ज्ञप्तिः यस्य तत् तथोक्तं **प्रज्ञप्तिसत्** सत्त्वं यस्य सर्वस्य तदपि तथोक्तम्। नहि कस्यचित् परमार्थसत्त्वग्राहकं मानमस्ति, उपलम्भादेः स्वप्नेऽपि भावादिति। **तथादृष्टम्** उपलम्भगोचरचारि प्रकृष्टाऽद्वयज्ञप्तिरूपेण सद् विद्यमानं सर्वं सुखादिनीलादि न जीवाऽजीवरूपेण। *"यद् उपलभ्यते (१) च नीलादि कम्" इति वचनात्। अपरं दर्शनम् तथा च [२२३ख] **अन्यादृष्टं** सर्वं प्रज्ञप्तिसत् व्यवहारेण

(१) "समन्ताद्वरणं संवृतिः। अज्ञानं हि समन्तात् सर्वपदार्थतत्त्वाच्छादनात् संवृतिरित्युच्यते। परस्परसंभवनं वा संवृतिः अन्योऽन्यसमाश्रयेणेत्यर्थः। अथवा संवृतिः संकेतो लोकव्यवहार इत्यर्थः। स च अभिधानाभिधेयज्ञानज्ञेयादिलक्षणः।"—माध्य० वृ० पृ० २४०। "प्रमाणमन्तरेण प्रतीत्यभिमानमात्रं संवृतिः।" "संवृतिर्नाम विकल्पविज्ञानमधिमुक्तिमाह अनादिवासनातः।"—प्र० वार्तिका० पृ० ३।४। "संव्रियत आव्रियते यथाभूतपरिज्ञानं स्वभावावरणादावृतप्रकाशनाच्चावगेति संवृतिः। अविद्या मोहो विपर्यास इति पर्यायः।"—बोधिच० प० पृ० ३५२।

सत् *"प्रामाण्यं व्यवहारेण" [प्र० वा० १।६] इत्यभिधानात्। प्रक्षिथिला अविचारितरमणीया क्षमिः अस्य इति व्युत्पत्तेः इति। परमपि नास्तिक्यं दर्शयति **अदृष्टम्** अनुपलब्धं क्षणिकपरमाणुरूपवेदनं पुरुषवत् सकलशून्यत्वं वा परमार्थसत् इति। तत्[1] अन्यदपि दर्शयन्नाह—**तथा** इत्यादि। **तथा** तेन प्रकारेण **दृष्टं** दर्शनं प्रत्यक्षम् इति यावत्। दृष्टमेव इति अवधारणीयम्, तेन न अदृष्टं दर्शनादन्यत् अनुमानादिकमपि गृह्यते। तत् किम्? इत्याह—**तत्त्वम्**[2] इति। तत्त्वविषयत्वात् तत्त्वं विषयिणि विषयोपचारात् यथा *"उपलम्भः सत्ता" [प्र०वार्तिकाल० ३।५४] इति। यदि वा, दृष्टमेव दर्शनविषयीकृतमिव (मेव) न अनुमानादिविषयीकृतम् आत्मादितत्त्वं परमार्थसत् इति ग्राह्यम् **इति** एवम् **आत्मविद्विषां** नैरात्म्यवादिनां सौगतलौकायतानाम् **नास्तिक्यं द्वेधा** इति सम्बन्धः

कारिकां विवृण्वन्नाह—**कुम्भस्तम्भादि दृष्टम्**[3] इत्यादि। **कुम्भस्तम्भौ आदी** यस्य चेतनेतरवस्तुनः तत् तथोक्तम्, तच्च तत् दृष्टं च दर्शनविषयीकृतम् इत्यर्थः।

ननु च 'कुम्भादि' इति वक्तव्ये किमर्थं स्तम्भवचनमिति वक्तुं भव [ति]? स्तम्भस्य तद्वद्वा कुम्भस्य उपलम्भप्रतिपादनार्थम्, एकस्यापि तदपलापे द्वयोरपि स भवेत्। यथैव हि कुम्भदर्शनेन स्तम्भो न दृश्यते तथा स्तम्भदर्शनेन कुम्भोऽपि। परस्परपरिहारस्थिततदुपलम्भप्रतिज्ञाने कुतः सन्तानान्तरनिषेधो यतोऽद्वैतम्। एकस्य तदात्मकत्वे तद्ग्रहणे वा क्रमेणापि तस्य तदविरोधि (ध) इति कथं नैरात्म्यं क्षणिकत्वं वा इति तत्प्रतिपादने सिद्धं भवति। 'कुम्भादि' इति पुनरुच्यमाने मतान्तरदृष्टम्[4] आदिशब्देन पुरुषादि [२२४क] गृह्यते इति आशङ्क्येत। तत् किम्? इत्याह—**प्रज्ञप्तिसत्** इति। प्रगतज्ञप्ति सहि (सदि)त्यर्थः। तैमिरिकदृष्टकेशोण्डुकवत् व्यवहारेण वा सत्। अत्र 'यद् विशददर्शन' इत्यादि साधनं द्रष्टव्यम्[5]। तत्रैव युक्त्यन्तरमाह—**संस्थानादेः** इत्यादि। **संस्थानम्** दीर्घत्वादिकम् **आदिः** यस्य द्रव्यसामान्यादेः तस्य **स्वलक्षणेषु** बहिरन्तः-परमाणुलक्षणेषु **अभावात्**। कुतः? इत्याह—**वृत्ति** इत्यादि। गुणिनि गुणानाम् अवयवेषु अवयविनः विशेषेषु[6] जातेः समवायेन वर्त्तनं **वृत्तिः** तस्याः **विकल्पः** 'किम् एकदेशेन उत सर्वात्मना, क्रमेण यौगपद्येन वा' इति भेदचिन्तन(चिन्तनं) तेन तस्मिन् वा **अनवस्था**। 'एकदेशेन वर्त्तने[7] तत्रापि अपरभिन्नदेशकल्पनम्, तत्रापि अपरमिति देशाव्यवस्थितिः, सर्वात्मना गुणगुणिनोः अन्यतरदेव स्यात्, §एवमन्यत्र गुणिनोः अन्यतरत्§ एवमन्यत्रापि वक्तव्यम्। तथा सति गुणादयः [9]तद्वन्तश्च इति या व्यवहि(यो वृत्तिविकल्प आ)लम्बनादेः स तथोक्तः स चासौ **दोषश्च** तस्य **अनुवृत्तेः** सकाशात् **कुम्भस्तम्भादि दृष्टं प्रज्ञप्तिसद्** इति सम्बन्धः।

ननु मा भूत् संस्थानादिः आधारव्यतिरिक्ता (क्तो) यथोक्तदोषात्, स्वयमेव तु स्वलक्षणं कुम्भादिस्थूलादिरूपं स्यादिति जैनः; तत्राह—**स्थूलस्य अभावाद्** इति। **स्थूलस्य** महत्त्वोपेतस्य, उपलक्षणमेतत्, तेन दीर्घादेरभावात् 'स्वलक्षणस्य' इति वचनविभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः।

(१) नास्तिक्यम्। (२) उपलम्भविलोपे। (३) कुम्भस्तम्भादिप्रतिपादने। (४) पुरुषाद्वैतवादिदृष्टम्। (५) द्रष्टव्यम्—पृ० २६४ प० ७। (६) द्रव्यगुणकर्मसु। (७) एकदेशेऽपि। (८) वर्तने। (९) §एतदन्तर्गतः पाठो द्विर्लिखितः। (१०) गुणादिवन्तश्च।

तद्भावः पुनः कारणाऽभावात्। तस्य हि कारणं बह्ववयवसंयोगः, सो[2] च सर्वात्मना एकदेशेन वा अवयवानां दुरुपपादः। अपेक्षाकृतत्वाद्वा, स्थूलादिकमपेक्ष्य [सूक्ष्मादिकम्, सूक्ष्मादिकं चापेक्ष्य] स्थूलादिकमात्मानं [२२४ख] लभते। न च अपेक्ष(क्षा)भाविनो धर्माः पारमार्थिकाः। अनेन अभेदवादो दर्शितः इति विभागः, तदभावात् कुम्भादिकं प्रज्ञप्तिसद् इति घटना।

परमाणवस्तर्हि परमार्थसन्तो भवन्तु इति चेत्; अत्राह—परिमण्डल इत्यादि। [परिमण्डलं] सूक्ष्मनिरंशत्वम् आदिः यस्य क्षणभङ्गादेः तस्य अप्रतिभासनात् स्वलक्षणेषु इति तत् तत्सत्[3] इति। यथोक्तविशेषशून्यं नीलादिमात्रं परमार्थसत् इति चेत्; अत्राह—तद्व्यतिरेकिण [इत्यादि।] तस्मात् स्थूलकुम्भादेर्दृष्टाद् व्यतिरिक्तस्य नीलादेः असंभवात् 'अप्रतिभासनात्' इति अनन्तरोक्तो हेतुः अत्र द्रष्टव्यः। ततोऽयमर्थः—यथा अप्रतिभासनात् परिमण्डलादेरभावः तथा तद्व्यतिरेकिणो नीलादेरपि[4] इति न युक्तमेतत्—*"यद् यथावभासते तत् तथैव परमार्थसद् यथा नीलं नीलतयाऽवभासमानम्।" इत्यादि; नीलदृष्टान्ताभावात्। तथापि तत्कल्पनायां परिमण्डलादेरपि सो[5] केन वार्यत इति तन्निषेधवचनं पूर्वापरबाधितं 'तद्व्यतिरेकिणः' इत्यनेन एतद् दर्शयति। यदि स्थूलादिस्वभावाव्यतिरेकिणो नीलादेः तथावभासनेन परमार्थसत्त्वमिष्यते, सर्वस्य क्षणिकत्वस्य साधने तथावभासनहेतुना; नहि स्थूलादिप्रतिभासनवद् अक्षणिकत्व [प्रति]भासस्यापि कारणाऽभावादसिद्धो हेतुरिति। यदि पुनः नीलादेः तदव्यतिरेकिणोऽपि परमार्थसत्त्वं न तस्य इत्युच्यते; व्यभिचारी हेतुः स्यादिति। ततो नीलादेः तद्व्यतिरेकिणोऽसंभवात् कुम्भादिकं तथासद् इति।

संप्रति प्रज्ञप्तिशब्दस्य अपरमप्यर्थं दर्शयन्नाह—विज्ञप्ति[२२७क]मात्रम् इत्यादि। विशिष्टा ज्ञप्तिरेव तन्मात्रम् 'कुम्भस्तम्भादि दृष्टम्' इति सम्बन्धः *"यदवभासते तज्ज्ञानम्" इत्याद्यभिधानात्। तच्च किं भूतम्? इत्याह—परमार्थसद्, विज्ञप्तिमात्रस्य परमार्थसत्त्वेन उपगमात्। प्रज्ञाकरेण[6] प्युक्तम्—*"अज्ञातार्थप्रकाशो वा इत्येतत् पारमार्थिकं प्रमाणलक्षणम्" [प्र० वार्तिकाल० २।५] इति। एतत् माध्यमिकेन कदर्थयन्नाह—यथादर्शनम् इत्यादि। अत्रायमभिप्रायः—यथादर्शनं वा विज्ञप्तिमात्रं कल्पेत(प्येत), अन्यथा वा? प्रथमपक्षे यथादर्शनं दर्शनाऽनतिक्रमेण प्रज्ञप्तिसत्त्वात् बहिरर्थवद् अविचारितसद् विज्ञप्तिमात्रं न परमार्थसद् इति मन्यते। कुत एतत्? इत्यत्राह—भ्रान्तस्यापि इत्यादि। अत्रायमभिप्रायः—परेण*"चित्रप्रतिभासापि एकैव बुद्धिः" [प्र० वार्तिकाल० ३।२२०] इत्यादि वदता नानैकत्वेऽपि तस्याः परमार्थसत्त्वमङ्गीकृतं सर्वथा नैरात्म्यं निरूपयतो नानैकात्मनः तद्वत् संविदितात्मनः परिणामिनोऽपि आत्मनः परमार्थसत्त्वम्। तदेवं भ्रान्तस्यापि परिणामिन आत्मनः, न केवलम् अभ्रान्तस्य विज्ञप्तिमात्रस्य इति अपिशब्दार्थः। तस्य किम्? इत्याह—नानैकत्वसंभवात्। एवं मन्यते—यस्य नानैकत्वसंभवो न तस्याभ्रान्तत्वं यथा परिणामिन आत्मनः, नानैकत्वसंभवश्च विज्ञप्तिमात्रस्य

(१) स्थूलस्य। (२) संयोगः। (३) प्रज्ञप्तिसत्। (४) स्थूलत्व। (५) कल्पना। (६) स्थूलादिस्वभावाव्यतिरेकिणः। (७) प्रज्ञप्तिसत्। (८) प्रज्ञाकरेण। (९) बुद्धेः।

इति । यदि पुनः तदात्मनोऽपि तद्वत् परमार्थसत्त्वं परो मन्यते को दोषः स्यात् ? न कश्चित्, ते गुण एव तु स्यात् । नानैकत्वस्य विपक्षसंक्रमनिवारणात् असौगतं जगत् स्यादिति चेत्; न जाने अहमपि ईदृशम् ।

ननु भवतु भ्रान्तस्य नानैकत्वसंभवः नाऽभ्रान्तस्य तन्मात्रस्येति चेत्; अत्राह–[२२५ख] ग्राह्य [ग्राहकसंवित्ति] इत्यादि । ग्राह्यादिशब्दानां कृतद्वन्द्वानां भेदशब्देन षष्ठीसमासः तेन अवभासनात् 'तन्मात्रस्य' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । द्वितीयपक्षे–संभावितैकरूपस्य–संभावितम् अस्तीति मनसा अवधारि पुनं (अवभासितं) न पुनः प्रत्यक्षादिना प्रमाणेन निश्चितम् एकत्र (म)सहायम्, अथवा सन्तानान्तरनिषेधेन एकसंख्यायुक्तं रूपं स्वभावो यस्य तस्य स्वतः स्वसंवेदनाध्य[क्ष]तो असिद्धेः अप्रतिपत्तेः । नहि असूक्ष्मिकया (अतिसूक्ष्मेक्षिकया) कालभेदमिव देशभेदमपि चिन्तयतो नीलादिस्वभावम् अन्यथाभूतं वा परमाणुरूपं वेदनमाभाति । यदि वा स्वतोऽसिद्धेः अनिष्पत्तेः अनुत्पत्तेः इत्यर्थः । नहि कस्यचित् स्वत उत्पत्तिः, अहेतुकत्वेन सर्वत्र सर्वदा भावप्रसङ्गात्, नीलादि पीतादिर्न भवेत् । तथापि तन्नियमे अर्थाकार्यत्वेऽपि ज्ञानस्य तन्नियमः स्यादित्यलं तदुत्पत्तिसारूप्यकल्पनेन । तन्नियमवत् स्वरूपनियमोऽपि कल्पनातो नान्यतः सिध्यति । एतेन नित्यस्यैकरूपस्य सहकार्यपेक्षस्य तत्कृतोपकारानपेक्षस्य क्रमतोऽपि कार्यकरणे स्वभावनियमो व्याख्यातः । ततः स्थितम्–स्वतोऽसिद्धेः इति ।

तस्य परतोऽप्यसिद्धेः इति दर्शयन्नाह–परतश्च अन्यतोऽप्यसिद्धेः अप्रतिपत्तेः । तथाहि–संभावितैकरूपस्य चक्षुषि गन्धस्य, एवं परत्रापि, न प्रतिभानमस्ति नीलादिसुखादिव्यतिरिक्तव (रिक्तस्य वि)वादास्पदत्वात् । तत्र तत्प्रतिभासनभावेऽपि परमार्थतो ग्राह्यग्राहकभावाऽभावेन *"नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति" [प्र० २।३२७] इत्यादि, *"निरालम्बनाः [२२६क] प्रत्ययाः" [प्र० वार्तिकाल पृ० ३८७] इत्यादि *"यदवभासते तज्ज्ञानम्" इत्यादि च विरुध्यते, ज्ञानस्येव जडस्यापि परतः प्रतिभासाऽविरोधात् ।

किञ्च परस्यापि तद्रूपस्य परतः सिद्धिः, तस्यापि परतः इत्यनवस्था । अतद्रूपत्वे किं तस्य निर्भागंध(त्व)कल्पनया इति मन्यते ।

ननु तस्य स्वप्रतिभासरहितस्य परतः सिद्धौ विज्ञप्तिरूपतैव हीयते स्वप्रतिभासलक्षणत्वात्तस्याः, तत्कथं परानभ्युपगमो दूष्यत इति चेत् ? सत्यम्; तथापि यो (ये) अनिश्चितस्वसंवेदनरूपां ग्राह्यादिभ्रान्त्यन्थानुपपत्त्या तां व्यवस्थापयन्ति तान् प्रति इदमुच्यते, *"अद्वयं-यानमुत्तमम्" इत्यागमाद्वा[10]।

इदमपरं व्याख्यानम्–परतश्च स्वतः अन्यतः कारणादपि असिद्धेः अनुत्पत्तेः । तथथा–

---

(१),परिणाम्यात्मनोऽपि । (२) विज्ञप्तिमात्रस्य । (३) सत् भवेत् । (४) अहेतुकत्वेऽपि । (५) उत्पत्तिनियमे । (६) अर्थप्रतिनियमः । (७) अर्थप्रतिनियमवत् । (८) 'तस्या नानुभवोऽपरः । तस्यापि तुल्यचोद्यत्वात् स्वयं सैव प्रकाशते ॥' इति शेषः । (९) विज्ञप्तेः । (१०) विज्ञप्तिमात्रतां व्यवस्थापयन्ति तान् प्रति । "तथा चोक्तम्–अद्वयं···"–प्र०वार्तिकाल०२।७।

समकालात् परतस्तदुत्पत्तौ; तदपि परस्य कारणम् अविशेषात्[२], तथा च सति अन्योऽन्यसंश्रयः[३]। अथापि किञ्चिदेव कारणं कार्यं वा; तथा 'किञ्चिदेव कस्यचिदेव ग्राहकं ग्राह्यम्' इति [तथा] च निराकृतमेतत्[४]—*"नीलादिरपि ज्ञानस्य ग्राहकः स्यात्" इति। यथा च तस्य परेण जन्यते स्वरूपं नापरोत्पत्तिः क्रियते, तथा जंत (ज्ञानेन) तस्य नीलादेः स्वरूपं गृह्यते न गृहीतिः क्रियते। तस्मादेतदपि निरस्तम्—*"ज्ञानेन अर्थस्य तद्[५]पाया गृहीतेः करणे एकत्र[६] अर्थस्य करणम् अन्यत्र [७]अनवस्था" इति। एतेन भिन्नकालादपि तदुत्पत्तिः उक्ता। अपि च जन्यविज्ञानकालेऽसतः परस्मादुत्पत्तौ बन्ध्यासुतादपि उत्पत्तिः स्यात्[८] भेदाभावात्। अथ तस्यं[९] [१०]तत्कालेऽसत्त्वेऽपि स्वकाले सत्त्वं न बन्ध्यासुतस्य ततोऽयमदोषः; ननु तस्य कार्यकालेऽसत्त्ववत् स्वकाले सत्त्वं यदि न कुतश्चित् प्रतीयते; तर्हि वचनमात्रमेतन्न [२२६ख] समाधानमर्हति। प्रतीयते चेत्; कथं ग्राह्यग्राहकभावनिवृत्तिः? तन्न किञ्चिदेतत्। अथ परेण यतः कस्यचिदुत्पत्त्यनभ्युपगमात् किमर्थमेतदुच्यते इति मतिः; तस्य अनिष्टसिद्धिप्रतिपादनार्थम्। यदा हि तद्रूपस्य सतः स्वतः परतो वा नोत्पत्तिः अत एव [न] विनाशः, ततो नित्यत्वम् इति सर्वस्य क्षणिकत्वप्रतिज्ञाव्याघातः। ज्ञानवादिनां पुनः कालाऽभावाद् 'एकस्य कालत्रयानुयायित्वम्, एकक्षणानुवृत्तिः क्षणिकत्वम्' इति अपसिद्धान्तः।

ततः तदसिद्धिरस्तु। ततः किम्? इत्याह—**स्वभावेन** स्वरूपेण **नैरात्म्यं** स्वरूपतुच्छता **सर्वभावानां** 'तदसिद्धेः' इति पदघटना। एवं शून्यवादिना विज्ञप्तिमात्रादिनं घातयित्वा अधुना शून्यवादिनं स्वयमेव निहन्ति **प्रमाण** इत्यादिना। **प्रमाणस्य** प्रत्यक्षादेः **अभावेन** करणभूतेन **[न] प्रतिपत्तुमर्हति शून्यवादी 'स्वभावनैरात्म्यम्'** इति सम्बन्धः। यस्य हि सर्वं शून्यं तस्य प्रमाणाभावोऽपि[११]। तेन[१२] तत्प्रतिपत्तौ तस्यापि अनेन (अन्येन) तदभावेन प्रतिपत्तिः तस्याप्यन्येनेत्यनवस्थेति मन्यते। यदि वा, तदभावेन[१३] तत्प्रतिपत्तौ किमन्यत्रापि प्रमाणान्वेषणेन इति? अथ चेत्रैक (अथवा, एकत्र) नीलादिसुखादिप्रतिभासेन सकलशून्यताव्यवस्थाकारिणः प्रमाणस्य बाधनात्[१४] **तदभावे न प्रतिपत्तुमर्हति**—प्रमाणाभावे सति न प्रतिपत्तुमर्हति **'स्वभावनैरात्म्यम्'** इति वा व्याख्यानम्।

अत्राह प्र ज्ञा क र गु प्तः—*"**प्रतिभास एव कार्यकारणभावादिविकल्पशून्यत्वात् पर्युदासापेक्षया शून्यता यथा केवलं भूतलं घटशून्यता। तत्र च स्वसंवेदनाध्यक्ष-**[२२७क] **प्रमाणभावात् कथमुच्यते तदभावे न तत् प्रतिपत्तुमर्हति।**" इति; तं प्रत्याह—**भावे च** इति। भावेऽपि **प्रमाणस्य** प्रतिभासमात्रलक्षणस्वभावनैरात्म्यस्य वा अङ्गीक्रियमाणे। किम्? इत्याह—**तदयम्** इत्यादि। **तत्** तस्माद् भावाद् **अयं** प्र ज्ञा क र गु प्तादिः **न चेतयते**।

---

(१) उत्पद्यमानमपि। (२) समकालत्वात्। (३) परात् प्रकृतस्योत्पत्तिः, प्रकृतायाश्च परस्येति। (४) यदुच्यते प्रतिभासाद्वैतवादिना यदि समकालं ज्ञानं नीलादेर्ग्राहकम्, तदा नीलादिरपि कुतो न ज्ञानस्य ग्राहक इति? (५) अर्थादभिन्नायाः। (६) अभेदपक्षे। (७) भेदपक्षे सम्बन्धार्थम् उपकारान्तरस्वीकारे अनवस्था। (८) विशेषाभावात्। (९) कारणस्य। (१०) कार्यकाले। (११) शून्य एव। (१२) प्रमाणाभावेन। (१३) प्रमाणाभावेन। (१४) प्रमाणाभावे।

किं क्रियमाणोऽपि ? प्रवेश्यमानोऽपि । किम् ? इत्याह–अनर्थगर्त्तं स्वयम् अनर्थत्वेन अभ्युपगमाद् अनर्थः परिणामादिः तेन उपलक्षितं तद्रूपत्वा (त्वात्) गर्त्तमिव गर्त्तम् तत्प्रविष्टो युगसहस्रैरपि ततो नात्मानमुद्धरति । किम् अनर्थगर्त्तम् ? इत्याह–आत्मानं जीवमिति । केन ? इत्याह–मिथ्याभिनिवेशेन मिथ्या असत्यः अभिनिवेशः नैरात्म्याद्याग्रहः तस्य (यस्य) यस्मिन् चित्रैकप्रतिभासे स तथोक्तः तेन, स्वयम् आत्मना । ५

यद्वा, आत्मा न स्वत्तचेत (स्वतश्चेत्;) अनर्थगर्त्तं सकलशून्यतागर्त्तं प्रवेश्यमानोऽपि नात्मानं चेतयते । कुतः पुनः [1]अयमपि नात्मानं [2]न चेतयते इति चेत् ? उच्यते–प्रमाणाभावे न तदभावे सति वा [तथा] प्रतिपत्तुं वा अर्हति यतः । किम् ? इत्याह–प्रत्यक्षमेकम् 'प्रमाणम्' इति शेषः, नापरम् अनुमानादिकम् इत्येतत् । किमेतदेव तथा प्रतिपत्तुमर्हति नापरमपि ? इत्याह–प्रमेयतत्त्वं वा । वेति पक्षान्तरसूचने । प्रत्यक्षपरिच्छेद्यमेकं नापरम् आत्मादितत्त्वं प्रमेयतत्त्वम् इति । एतच्च कुतः तदभावे न तत्प्रतिपत्तुमर्हति ? इत्याह–प्रमाणान्तर इत्यादि । प्रत्यक्षप्रमाणाद् अन्यद् अनुमानादि तदन्तरं तस्य प्रतिषेधे निरासे सति प्रत्यक्षलक्षणानुपपत्तेः । प्रत्यक्षस्य हि लक्षणं वैशद्यं [3]साविप्लवम्, तच्च अशेषतद्व्यक्तिनिष्ठं[4] न [5]प्रमाणान्तरमन्तरेण प्रतिपत्तुं [२२७ ख] शक्यं प्रत्यक्षस्य नियतगोचरत्वात् । अकृतलक्षणत्वाच्च न ततः[6] तत्प्रतिपत्तिः, 'तदभावे न प्रतिपत्तुम् अर्हति' इति सम्बन्धः । १५

इदमपरं व्याख्यानम्–प्रमाणान्तरनिषेधे कर्त्तव्ये प्रत्यक्षलक्षणग्रहणं तन्निषेधस्य[7] तस्यानुपपत्तेः । नहि 'सर्वथा प्रमाणान्तरं नास्ति' इति प्रत्यक्षम् इयतो व्यापारान् कर्तुं समर्थम् नापरमिति तदभावे न प्रतिपत्तुमर्हति ।

अत्र त त्त्वो प प्ल व कृ द् आह–चार्वाकैश्चारु चर्चितं–स्वयम् एवं लक्षणतः तदनुपपत्तिः[8] तेषां न दोषाय, प्रत्यक्षोपगमस्तु व्यवहारेण इति ; तत्राह–किं केन ? इत्यादि । तदनुपपत्तेः २० कारणात् किं प्रत्यक्षादिलक्षणस्य परकीयस्य अतिव्याप्त्यादिकम्, केन ? न केनचित् विदध्यात् कुर्यात् चार्वाकः । न हि प्रमाणमन्तरेण तदपि कर्तुं शक्यं यतः *"परपर्यनुयोगपराणि वृहस्पतेः सूत्राणि" [9]इति सूक्तं स्यात् । किं तत् अतिव्याप्त्यादिकं केन प्रतिषेधयेद्वा यतो यस्मात् कस्यचिद् विधानात् प्रतिषेधाच्च जगत् स्यात् । किं भूतम् ? इत्याह–चातुर्भौतिकमेव चतुर्भिः पृथिव्यादिभिः उपश्रुतत्वात् भूतैरिवेगृह्यते इत (भूतैरेवेति गृह्यते यतः) इति । यदि वा, २५

(१) चार्वाकः । (२) 'न' इति निरर्थकं भाति । (३) अविप्लवेन सहितं वैशद्यम् । (४) प्रत्यक्षव्यक्ति । (५) अनुमान । (६) प्रत्यक्षात् । (७) प्रमाणान्तरनिषेधस्य । (८) तत्त्वोपप्लवग्रन्थस्य कर्ता जयराशिभट्टः । "नास्ति तत्फलं वा स्वर्गादि···उक्तं च परमार्थविद्भिरपि–लौकिको मार्गोऽनुसर्तव्यः अ···। लोकव्यवहारं प्रति सदृशौ बालपण्डितौ ॥" इत्यादि । ननु यद्युपप्लुतस्तत्त्वानां किमाया···अथातत्त्वं व्याख्यास्यामः पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा इत्यादि ? न; अन्यार्थत्वात् । किमर्थम् ? प्रतिबिम्बनार्थम् । किं पुनरत्र प्रतिबिम्ब्यते? पृथिव्यादीनि तत्त्वानि लोके प्रसिद्धानि,तान्यपि विचार्यमाणानि न व्यवतिष्ठन्ते किं पुनरन्यानि । (पृ०१) तदेवमुपप्लुतेष्वेव तत्त्वेषु अविचारितरमणीयाः सर्वे व्यवहारा घटन्त इति । (पृ० १२५)–तत्त्वोप० । (९) प्रत्यक्षानुपपत्तिः । (१०) उद्धृतमिदम्–सन्मति० टी० पृ० ६९, ७४ ।

किं पृथिव्यादिकं जीवादिकं च केन विदध्यात् प्रतिषेधयेद्वा प्रमाणाभावे उभयोः[1] अभ्युपगमः प्रतिषेधो वा स्यात् इति मन्यते । एतदेवाह—यतो यस्माद् विधानात् प्रतिषेधाच्च चातुर्भौतिकमेव जगत् स्यात् चतुर्भूतनिर्मितमेव स्यात् । एतदुक्तं भवति—प्रमाणाभावेन आत्मादिवद् भूतपरित्यागे सकलशून्यतापत्तेः, भूतवद् आत्मादिपरिग्रहे [२२८ क] व्यवहाराविशेषात् कुतः चातुर्भौतिकमेव विपर्ययभावात् ? तन्नायं[2] सौगतम् अतिशेते इति 'तदयम्' इत्यादिकम् आदर्शयति- तत्र हि प्रत्यक्षमन्यद्वा प्रमाणं प्रतिषिध्यते—तदुपलम्भादेर्बाधकाभावस्य अन्यस्य वा तल्लक्षणस्य[3] स्वप्नेऽपि भावात् । अदुष्टकारणारब्धत्वस्य[4] ज्ञातुमशक्तेः अतीन्द्रियस्येन्द्रियस्य दुष्टत्वस्य इतरस्य वा प्रत्यक्षतोऽज्ञाना[त् ज्ञा] नेऽपि पूर्वचोद्याऽनिवृत्तिः, पुनस्तत्रापि अदुष्टकारणारब्धत्वकल्पने 'तदेव चोद्यम् तदेव उत्तरम्' इत्यनवस्था । ज्ञानप्रामाण्यात्[5] तदवगमे अन्योऽन्यसंश्रयः—तथाहि सिद्धे[6] तत्प्रामाण्ये ततोऽदुष्टकारणारब्धत्वसिद्धिः, तस्याः तत्प्रामाण्यसिद्धिः इति । तन्न बहिः किञ्चित् प्रमाणम् , कस्यचिद् विधानं प्रतिषेधनं तु स्वसंवेदनप्रत्यक्षबलात् इति कस्यचित् एभैतोऽपि (एतत् शोभेत) ।

[अपि च] त त्त्वो प प्लु व करणात् ज य रा शिः सौगतमतमवलम्ब्य ब्रूयात् ; तत्राह—स्वसंवेदन इत्यादि । स्वेन स्वस्य वा वेदनं ग्रहणं तस्य उपेक्षया (अपेक्षया) अभ्युपगमेन यदि नाम इत्यरुचौ । तथा सति बहिः उपप्लुतम् , अन्तश्च अन्यथा, [इति] सौगतमतमेव निरस्तप्रसरं त (न) चार्वाकम् इति 'प्रत्यक्षं प्रमाणम्' इत्येवमुक्तम् । यदि नाम इति सम्बन्धः । तत्र उपहासपरं वचनमाह—सूक्तमेवैतत् असूक्तेऽपि 'सूक्तम्' इत्यभिधानात् , निराकृतपरदर्शनगमनात् सकलस्वदर्शनत्यागात् सूक्तलेशोऽपि नास्ति इति एवकारेण दर्शयति । कस्मात् असूक्तम् यस्माद् उपहास्यमेतदिति कदाचित् सौगतः तत्पक्षपातमुद्वहन् ब्रूयाद् इत्याह—स्वसंवेदन इत्यादि । अत्र अपिशब्दो द्रष्टव्यः । ततोऽयमर्थः—[२२८ ख] न केवलं बहिः अपितु स्वसंवेदनेऽपि अप्रस्तापो (अपलापो)पलब्धेः प्रलापस्य (अपलापस्य) निह्नवस्य उपलब्धेः दर्शनात् 'सूक्तमेवैतत्' इति सम्बन्धः । किं कृत्वा ? इत्याह—विभ्रमैकान्तमुपेत्य इति । बहिरिव तत्रापि विभ्रमस्य निरूपितत्वादिति नेदं पुनर्निरूप्यते । ननु सत्यं तत्रापि अपलापोपलब्धिरस्ति बहुजन्मजात्मनि जगति तत्रापि विवादवृत्तेरनिवारणात् , स तु उपलभ्यमानोऽपि अपलापो युक्त्या व्यवच्छिद्यते (द्यते इ)ति तस्य अपलापस्य व्यवच्छेदस्यापि तदुपलब्धिः इति सम्बन्धः । न च अविरुद्धविधिः तद्व्यवच्छेदकः ; अतिप्रसङ्गात् । तदभावः कुत इति चेत् ? अत्राह—अन्यथा इत्यादि । अन्यथा अन्येन विरोधाऽभावप्रकारेण विप्रतिषेधाद् अन्योऽन्यविरोधात् तस्य तदुपलब्धेः इत्यपेक्षम् । तथाहि—यदि प्रत्यक्ष-अपलापयोः विरोधः ; तर्हि स्वसंवेदन(ना)भावे तद्भावे वा स्वसंवेदनस्य वार्तापि दुर्लभा । न चैवम् । अथ सहभावः; न विरोधगतिरिति । प्रत्यक्षं च समानकालमन्यद्वा न तद्विरोधि ; अर्थग्रहणवत् दोषात् । विरोधोऽपि मिथ्यैकान्ते अनिर्दंते (निरंशे)

(१) पृथिव्यादि-जीवयोः । (२) चार्वाकः । (३) प्रमाणलक्षणस्य । (४) अदुष्टत्वस्य वा । (५) अदुष्टकारणारब्धत्वपरिज्ञाने । (६) ज्ञानप्रामाण्ये । (७) सत्यम् । (८) स्वसंवेदनेऽपि ।

कथमिव सतुष्य (सन्नप्य) वगम्यते ? नापि अनुमानतोऽनभ्युपगमात् इति मन्यते । अन्यथा स्वसंवेदनाभ्यक्षप्रतिज्ञाव्याघातः ।

इदमपरं व्याख्यानम्—न तावत् स्वसंवेदनात् तद्व्यवच्छेदः ; [1]तेन तस्य विरोधाऽभावात्, अन्यथा अन्येन अनुमानेन तद्व्यवच्छेदप्रकारेण विप्रतिपेधात् तस्य तदुपलब्धेः इति । तथा—यदि अनुमानेन तद्व्यवच्छेदः ; कथं स्वसंवेदनप्रत्यक्षमेव प्रमाणम् ? तच्च (तच्चेत् ;) कथं तेन तद्व्यवच्छेदः ? व्यवहारेण अनुमानोपगमाददोष इति चेत् ;[२२९ क] अथ कोऽयं व्यवहारो नाम ? असत्यपि अनुमाने प्रमाणे जनस्य तदस्तित्वविकल्पः [2]स इति चेत् ; न; अत्र प्रमाणाभावात् । न स्वसंवेदनप्रत्यक्षम् ; तत्र मिथ्यैकान्त[म]नभ्युपेत्य अपलापोपलब्धेः, न च स्वयमनवस्थितम् अन्यव्यवस्थानिबन्धनम् अतिप्रसङ्गात् । नाप्यनुमानम् ; [3]तदेव नास्ति तत एव तद्व्यवस्थानमित्यतिसाहसम् । संवृतिसिद्धेन तेन तद्व्यवस्थापि तादृगेव ; *"यादृशो यक्षः तादृशो बलिः" इति [4]न्यायात् ।

अन्यस्त्वाह— स्वसंवेदने विभ्रमैकान्ताभ्युपगमः प्रमाणान्न युक्तः; विभ्रमात् तदसिद्धेः । तन्न युक्तम्—स्वसंविदित इत्यादि इति चेत् ; न; अत्र बहिरर्थसिद्धेरनिवारणा [त्] दोषो मा भूत् परमतगमनमिति । तर्हि बहिरपि पृथिव्यादिमात्रे प्रत्यक्षं प्रमाणमिष्यते; तत्राह—**चतुर्भूत** इत्यादि । चतुर्णां पृथिव्यादीनां [भूतानां] **व्यवस्था** सङ्करव्यतिकरव्यतिरेकेण स्थितिः, **तां** एव **तामपि लक्षणभेदात्** धारणेरणद्रवनानात्वात् **कथयितुमर्हति** इति । तथा **'परो मिथ्याभिनिवेशेन स्वयम् अनर्थगर्तम् आत्मानं** जानंध जीवं (जात्यन्ध इव) **प्रवेश्यमानोऽपि [न] चेतयते'** इति सम्बन्धः । तथाहि—यथा धारणादिस्वभावभेदात् कालत्रयेऽपि परस्परं भिन्ना भूम्यादयः [तथा] तेभ्यः चेतनामूर्त्तत्वरूपभेदात् सहदर्शननियमेऽपि भिन्नश्च आत्मा इति ।

ननु यथा पूर्वमुक्तम् **'प्रतिपत्तुमर्हति'** इति, एवमत्रापि वक्तव्यम्, किमर्थमुक्तम्— **'कथयितुमर्हति'** इति चेत् ? उच्यते—**कथयति** परं प्रतिपादयति, **सं** च प्रतिपन्न [चैतन्यः] प्रतिपादनीयः, अन्यथा पाषाणादयः प्रतिपादनीयाः स्युः । अचेतनत्वान्नेति चेत्; प्रतिपाद्याभिमतेऽपि चैतन्यं कुतः प्रतिपन्नम् ? अध्यक्षत इति चेत् ; न; तस्य [10]तत्र [२२९ख] अप्रवृत्तेः । नहि परः परसुखदुःखादिकं प्रत्यक्षयितुमर्हति, अन्यथा सर्वज्ञनिषेधः"। चैतन्यमात्रं प्रत्यक्षयति, कथमन्यथा शरीरदर्शनात् 'जीवति' इति प्रतीतिः स्यात् , नहि विशेषणाऽग्रहणे तद्विशिष्टविशेष्यप्रतीतिः [12]दण्डा[ग्रहणे दण्ड्य]ग्रहणवद् इति चेत् ; न; चैतन्यस्य सुखाद्यव्यतिरेकात् । न च सुखाद्यग्रहेऽपि तदव्यतिरिक्तचैतन्यग्रहो युक्तः, अन्यथा [13]पिण्डाद्यग्रहणेऽपि मृद्द्रव्यग्रहः स्यात् ।

ननु यथा [14]भवदीयमते प्रतिक्षणपरिणामाऽग्रहेऽपि द्रव्यग्रहणम्, दूरे वा विशेषाग्रहणेऽपि

---

(१) स्वसंवेदनेन । (२) व्यवहारः । (३) अनुमानमेव । (४) "यथा बलिस्तथा यक्षः ।"—प्र० वार्तिकाल० पृ० २९३ । (५) विभ्रमैकान्ताऽसिद्धेः । (६) 'ता एव' इति निरर्थकमत्र । (७) धारणं पृथिव्याः ईरणं वायोः द्रवत्वं जलस्य उष्णता च अग्नेः लक्षणम्। (८) भूतेभ्यः । (९) परः । (१०) चैतन्ये । (११) 'विरुध्यते' इति शेषः । (१२) दण्डाग्रहणे दण्ड्यग्रहणवत् । (१३) पिण्डस्थासादिपर्यायाग्रहणेऽपि । (१४) जैनमते ।

सन्मात्रग्रहणं तथा अत्रापि स्यादिति चेत् ; न; तत्परिणामस्य प्राकृतपुरुषावेशत्वात्[1]। तद्विशेषाणाम् अतिदूरता(त्वा)दग्रहणं नैवं सुखादयोऽपि विपर्ययात्[2], तेषां स्वसंवेदनैकस्वभावत्वमिति चेत् ; कुत एतत् ? इन्द्रियेणाऽग्रहणात् । एतदपि कुतः ? परत्र सुखादौ संशयात् । तत् चैतन्येऽपि समानम् । दूरत्वाद् इन्द्रियेण परस्य सुखाद्यप्रत्यक्षत्वे प्रत्यो (द्वयो)रन्योऽन्यं संश्लेषे सुखाद्यनुभवनं भवेत् । शरीरान्तःप्रवृत्तेः सुखादेरननुभवने चैतन्येऽपि प्रसङ्गः । तदन्तःप्रविशिना[3] वा अनुभवनम् । तन्न प्रत्यक्षतः तत्प्रतिपत्तिः । 'जीवति अयम्' इत्ययं तु प्रत्ययः शरीराकारविशेषा(ष)दर्शनात् धूमवत्त्वदर्शनात् [क्वचित्] प्रदेशे अग्निप्रत्ययवत् इति अनुमानत्वेन प्रमाणान्तरनिषेधस्य इत्यस्य प्रदर्शनार्थमिति ।

यदि पुनः तद्व्यवस्था न तद्भेदात्[4] कथयितुमर्हति इति ; तत्राह—**अन्यथा** । अन्येन तदभावेऽपि तत्कथनप्रकारेण **अनवस्थाप्रसङ्गात्** भूतचतुष्टयावस्थितेरभावप्रसङ्गात् । लक्षणभेदाऽभावे लक्ष्यभेदाऽनवधारणात् । तत्त्वात्त [द] न्येन [२३०क] तत्प्रसङ्गात् इति वा वाच्यम् । तद्भेदादेव तर्हि कथयितुमर्हति इति चेत् ; अत्राह—**न च** इत्यादि । **न च** नैवं **चतुर्भूतव्यवस्थाकथनाहंत्वं (कथनं) तथा** लक्षणभेदप्रकारेण प्रत्यक्षेण करणभूतेन **युक्तम्** उपपन्नम् । कुतः ? इत्याह—**परोक्षाणामपि** न केवलं प्रत्यक्षाणामेव भूम्यादीनाम् **लक्षणात्** धारणादिस्वभावानां ज्ञानात् ।

यदि वा, प्रत्यक्षेण लक्षणभेदेन तद्व्यवस्थाकथनकाले परोक्षणात् (**परोक्षाणामपि लक्षणात्**) पुनः तथा लक्षणयुक्तानां दर्शनात् । न च तत्तथा प्रत्यक्षेण युक्तमिति । नहि धूमो देशान्तरादौ धूमध्वजपूर्वकत्वेन उपलभ्यमानः पूर्वप्रत्यक्षेण तथा कृतव्यवस्थ इति भणितुं शक्यते परोक्षाणामपि तद्रूपेणाङ्गनादिति । एतदपि कुतः ? इत्याह—**साकल्येन** सामस्त्येन **तत्त्वानां** पृथिव्यादीनां **प्रतिपत्तेः** निर्णयस्य **अन्यथा** परोक्षाणामपि लक्षणाभावप्रकारेण **अनुपपन्नाः (पत्तेः)** तेषामपि[5] **लक्षणात्** इति सम्बन्धः ।

यदि वा, परोक्षाणामपि तथादर्शनादिति । एतत् कुतः ? इत्याह—**साकल्येन** इत्यादि । **साकल्येन तत्त्वस्य** पृथिव्यादिस्वरूपस्य इदंतया नेदंतया वा **प्रतिपत्तेः अन्यथा** पुनः पुनः तथैव तेषां दर्शनाभावप्रकारेण **अनुपपत्तेः** इति । तथा सति धर्माधर्मस्वभावाः परलोकानुयायिचैतन्यस्वभावा विशिष्टसुखज्ञानादिस्वभावा वा न भूम्यादय इति दुराराध्या प्रतिपत्तिः ।

अथवा '**साकल्येन**' इत्यादि वाक्यम् उत्तरकारिकया सम्बद्ध्य व्याख्यातव्यम्—**साकल्येन** अनवयवेन **तत्त्वस्य** पृथिव्यादेः तृप्त्यादि (धृत्यादि) कार्यकारणस्वभावस्य या **प्रतिपत्तिः** तस्याः [२३०ख] **अन्यथा** अन्येन आध्यात्मिकज्ञानाभावप्रकारेण **अनुपपत्तेः** सकाशाद् **आध्यात्मिकज्ञानं** यद् अस्ति इति शेषः ।

[आध्यात्मिकं यतो ज्ञानं प्रत्यक्षं भूतगौरवम् ।
भूतमभूतं भूतज्ञेदास्तां भूतपञ्चमम् ॥१३॥

---

(१) पूर्वापरपर्यायरूपपरिणामस्य । (२) अतिनैकत्वात् । (३) परकायानुप्रवेशकारिणा पुरुषेण । (४) लक्षणभेदात् । (५) चतुर्भूतव्यवस्था । (६) स्वीकारात् । (७) परोक्षाणामपि ।

पृथिव्यादिस्वभावभेदं प्रतिपद्य विज्ञप्तिस्वभावभेदम्, हर्ष [विषादाद्यनेकाकारम्] अन्तःसमक्षं प्रतिक्षिपतीति कथं प्रेक्षावान्? अपि च भूतप्रत्यक्षं यदि तत्त्वान्तरम् परिसंख्या विरुध्येत। संवित्तेः तेष्वन्तर्भावकल्पनायां तत्त्वमेकमेव स्यात्।]

तथाहि– कुतश्चित् पृथिव्यादिविशेषात् बुभुक्षादिपीडापाये एकदा प्रतिपन्ने यद् एवंविधं तद् इयता कालादिना इत्थम्भूतप्राणिविशेषस्य तदपायकारणम् इति सिद्धायां व्याप्तौ पुनः तस्य तादृशस्य वा दर्शनात् सम्बन्धस्मृतौ प्रत्यभिज्ञाने चिन्तायां दृश्यमानस्य तत्कारणस्वभावप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिरिति प्रायिकमेतत्। तदुक्तमत्रैव–*"अक्षज्ञानम् (नैः)" [सिद्धिवि० १।२७] इत्यादि। न चैतत् पृथिव्यादेर्युक्तम्, पूर्वज्ञानस्य उत्तरज्ञानाकारपरिणामदर्शनात् मृत्पिण्डस्य स्थासपरिणामवत्। तदास्तां तिष्ठतु न विचारणीयम्। कुतः? इत्याह– **प्रत्यक्षं यतः**। न वै खलु पृथिव्याद्यसंभविगुणपर्यायोपचिततया प्रत्यक्षं तत्त्वं पृथिव्यादिभ्यो भिन्नम् अन्यद्वा इति विचारमर्हति, तेषामपि परस्परं तत्प्रसङ्गात्। किं तर्हि विचारणीयम्? इत्याह–**भूतगोचरम्** इत्यादि। पृथिव्यादिविषयं ज्ञानं **प्रत्यक्षम्** इन्द्रियज्ञानम् इत्यर्थः।

ननु अस्य आध्यात्मिकज्ञानादा (ज्ञानपदोपादानात्)त्तत्परिहारेणैव परिहृतं तत् किमर्थं पृथगेतदुच्यते? सत्यम्; तथापि पूर्वं सामान्येन अयं विशेषेण उच्यते इति विभागः।

अत्र परस्य[3] अनेकं दर्शनम्–भूतस्वभावः तद्[4] इत्येकम्। तत्परिणाम इत्यपरम्। तेभ्यो भिन्नमतत्त्वं मरीचिकाजलवत् इति अन्यत् तत्त्वम् इति परम्। तत्कार्यत्वात्[5] तत्रैव अन्तर्भवति इति पृथक्। तत्र अनेकं वाक्यम्–**भूतं** पृथिव्यादि **भूतरूपं चेत्** यदि **भूतगोचरं ज्ञानं प्रत्यक्षम् आस्तां** पर्याप्तम् तेनेत्यः(त्यर्थः)। कुतः? [२३१ क] इत्याह–**अभूतं स्यात् यतः** अभूतस्वभावं भवेत्। नहि सर्वभूतानि चेतनारूपाणि संविद्रते जगतः प्राणिमयत्वप्रसङ्गात्। कचित् तदाविर्भावतिरोभावकल्पनापि पापीयसी सांख्याविशेषात्[6], भूतव्यवस्था भूतरूपैव स्यादिति।

तथा **अभूतम्** ईषद्भूतरूपं परिणाममस्य कथञ्चित् परिणामिरूपत्वात् **चेत्** यदि तदपि **आस्ताम् अभूतं स्यात्** यतः कथञ्चिदपि[7] भूतरूपं न भवेत् अचेतनस्य चेतनपरिणामविरोधात्।

तथा **अभूतं** भूताद् अन्यत् **चेद्** अस्वतं **(आस्ताम्)** मरीचिकाजलवदसत् स्यात्। **चेत्** इत्येतद् अत्रापि सम्बन्धनीयम्। तदप्यास्ताम्। [8]ततः कस्यचित् विधानप्रतिषेधाऽभावात् इत्युक्तत्वात्।

भूतं परमार्थं **तच्चेद्** अस्तु **पञ्चमं** 'तत्त्वम्' इति शेषः। ततोऽन्यस्य सतो गत्यन्तराभावात् इति मन्यते।

तथा इदमपरम्[9]–**अभूतं** भूतेभ्यो व्यक्तात् कारणात् कार्यस्य अन्यत्वात् पटतन्तुवत् **चेत्**; तथापि **भूतं चेद्** भूतरूपं यदि, तत्कार्यत्वेन तत्रैव अन्तर्भावात् पृथिव्यां घटवदिति।

(१) अक्षादिरूपात्। (२) बुभुक्षादिपीडानिवारकम्। (३) चार्वाकस्य। (४) इन्द्रियज्ञानम्। (५) भूते एव। (६) सांख्यकल्पित। (७) सत्यार्थम्। (८) असद्रूपात्। (९) व्याख्यानम्।

एतदपि **आस्ताम्** । **अभूतं स्यात्** भूतरहितं सर्वं स्यात् भूतानामन्योऽन्यं कार्यकारणभावेन अन्तर्भावाद् भूतव्यवस्था न स्यात् । यदि पुनः काष्ठादेरन्तर्भूतपावकादेः पावकादिसमुद्भव[1] इति न दोषः ; तत्राह–**अस्तु पञ्चमं** तत्त्वं पृथिव्यादेः अन्तर्भूतचेतसो भावात् इति भावः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**पृथिव्यादि** इत्यादि । **पृथिव्यादेः स्वभावभेदं** स्वरूपनानात्वं **प्रतिपत्त्या (पद्य)** अभ्युपगम्य **विज्ञप्तिस्वभावभेदं** बुद्धीनां सन्तानभिन्नानां रूपनानात्वं विज्ञप्तिग्रहणं सांख्यवैशेषिक-आत्मनिषेधार्थम् स्वभावभेदग्रहणं [२३१ ख] सकलाद्वैतबाधार्थम् । किं भूतम् ? इत्याह–**हर्ष** इत्यादि । पुनरपि किंभूतम् ? इत्याह–**अन्तः** इत्यादि । अनेन शरीरात् गृहादिव दीपस्य [2]दर्शयति । **समक्षं** स्वसंवेदनप्रत्यक्षविषयं **प्रतिक्षिपति** निराकरोति इति हेतोः **कथं प्रेक्षावान् ? अपि च** इत्यादिना अत्रैव दूषणान्तरमाह–**भूतप्रत्यक्षं** पृथिव्यादिगोचरम् इन्द्रियज्ञानम् **यदि तरं** (तत्त्वान्तरं) पृथिव्यादिभ्योऽन्यत्वे सति **यदि** द्रव्यान्तरम् ; **परिसंख्या** चत्वार्येव तत्त्वानि इति परिगणनं **विरुध्येत** ।

इदमपरं व्याख्यानम्–**तत्त्वं** च पृथिव्यादिकार्यत्वेन **अन्तरं** च भिन्नम् इति चेत् ; अत्राह–**संवित्तेः** स्वपरग्रहणलक्षणायाः भूतप्रत्यक्षरूपचेतनायाः **तेषु** भूतेषु तत्स्वभावतया **अन्तर्भावकल्पनायां** क्रियमाणायां **तत्त्वम् एकमेव स्यात्** तच्चातुर्विध्यं हीयेत परस्पराऽन्तर्भावात् । अथ पृथिव्यादीनां परस्परविविक्तानां प्रतिभासनात् [3]नैवम् ; तर्हि संवित्तिविभक्तानां तथैव[4] प्रतिभासनात्, अन्यथा प्राणिमयं जगत् स्यादिति प्रकृतमपि मा भूदिति मन्यते ।

यदि पुनः तत्स्वभावतया न [5]तत्रान्तर्भावः अपि तु [6]तत्परिणामतया तत्राह–**स्यात् पर्याय** इत्यादि ।

[स्यात्पर्यायः पृथिव्यादेः सलिलादिस्तथा न वै ।
चेतनोऽचेतनस्य वाऽचेतनश्चेतनस्य च ॥१४॥

पुद्गलद्रव्यं सूक्ष्मं खरादिविवर्तमासाद्य पृथिव्यादिव्यपदेशभाक् पुनरन्यथा बहुलं परिणामि लक्ष्यते, यथा चन्द्रकान्तमणिः पृथिवीस्वभावो द्रवति चन्द्ररश्मेः, शुक्रशोणितं भस्ममृत्तिकादिपर्यन्तं रूपादिपरिणामं याति, तथैव मुक्ताफलादि । काष्ठादिकमग्निसात् भवति अरण्यादिसंयोगात् । न पुनः चेतनश्चैतन्यं विहाय विपरिवर्तते अचेतनश्चेतनो भवन् सँल्लक्ष्यते । तदयमुभयं चेतनेतरतत्त्वमेकीकुर्वन् पुद्गलद्रव्यलक्षणं पृथिव्यादिभेदेन चतुर्धा व्यवस्थापयन् कथं स्वस्थो विपर्यस्तबुद्धिर्देवानां प्रियः ? प्रत्यक्षस्यातीवलङ्घनात् । इहजन्मनि तावत् प्राणिनामाद्यन्तचित्तानि चित्तान्तरोपादानोपादेयभूतानि चित्तत्वात् यथा मध्यचित्तम् । अत्र पुनरन्यथानुपपत्तिरस्त्येव, जातस्य पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धात् भयादिप्रतिपत्तेः । अनेन पथिकाग्नेः ज्वालान्तरपूर्वकत्वं प्रत्यग्निवत् इति व्यभिचारचोदनं प्रत्युक्तम्, तेजःकारणपूर्वकत्वस्य तत्र विरोधात् । सतश्चेतनस्य चित्स्वभावेन परिणमतः कारणान्तरानपेक्षत्वात् स्वयमक्षेपेण विवर्तोपपत्तेः अनैमित्तिकत्वा-

(१) न पुनः पार्थिवात् काष्ठादेरग्निः जलाद्वा पार्थिवं मुक्ताफलादिकम् । (२) भिन्नत्वं दर्शयति । (३) न चातुर्विध्यहानिः । (४) परस्परविविक्तत्वया । (५) भूतेषु । (६) भूतपर्यायतया ।

दचेतनवत् । द्वितीये तदवश्यम्भावात् । यदि पुनः अन्त्यक्षणस्य नोत्तरीभवनशक्तिः ; अवस्तुत्वं स्वोपादानप्रबन्धाभावं साधयेत् अर्थक्रियालक्षणत्वाद्वस्तुनः । समर्थं न करोति चेति विरुद्धम् । सामग्रीजन्मनां विसदृशकार्याणां कादाचित्कत्वं न तु उत्तरीभवनस्य । तदेतत् अन्ते क्षयदर्शनमसिद्धम्, मध्ये स्थितिदर्शनमपि स्थितिं प्रसाधयेदव्यभिचारात् । यदि चेतनः अचेतनाकारेण विवर्तेत स्वापप्रबोधवत् प्रेत्यभावसिद्धेः कथञ्चानवद्यम्-अपर···। ५ चेतनेतरयोः स्वभावसिद्धयोः सङ्करव्यतिकरप्रतिपत्तिरयुक्तैव दृष्टहानेरदृष्टपरिकल्पनाच्च । [1]जलबुद्बुदवज्जीवाः [2]मदशक्तिवद् विज्ञानमिति परः अर्के कटुकिमानं दृष्ट्वा गुडे योजयति। विज्ञानेर्यदि स्वालक्षण्यादिविशेषेऽपि मदशक्त्यादिदृष्टान्तेन सत्त्वोत्पत्तिकृतकत्वादेः भूतस्वभावत्वम् ; तत एव परोऽपि भूतानामपि बुद्धिचैतन्यविवर्तानतिक्रमं सुखादिस्वसंवेदनवत् साधयेदिति विरुद्धाव्यभिचारीति मिथ्याभिनिवेशात् प्रमाणप्रमेयव्यवस्थामतिलङ्घयेत्] १०

इदमत्र तात्पर्यम्-संवित्तेः भूतपरिणामत्वेन [3]तत्रान्तर्भावे अनिष्टं किञ्चित् सिध्यति इष्टं च न सिध्यति । अनिष्टसिद्धिं तावद्दर्शयति-**स्याद्** भवेन् **पर्यायः** परिणामः । कस्य कः ? इत्याह-**पृथिव्यादेः सलिलादिः** । अस्यार्थं [4]स्वयमेव वृत्तौ[5] वक्ष्यति तन्नेह उच्यते । ततः पृथिव्यादौ सलिलादेः अन्तर्भाव इति भावः । इष्टासिद्धिं दर्शयन्नाह-**तथा** इत्यादि । येन अन्वयव्यतिरेकानुविधान [२३२ क] प्रकारेण पृथिव्यादेः पर्यायः सलिलादिः **तथा नवै** नैव १५ **चेतनोऽवग्रहादिः अचेतनस्य** चेतनस्वभावरहितस्य पृथिव्यादेः **अचेतनः** पृथिव्यादिः **चेतनस्य वा** पर्याय इति सम्बन्धः । तदनेन *"आत्मैवेदं सर्वम्" [छान्दो० ७।२५।२] इत्याद्यपि निरस्तम् । अवग्रहाद् ईहायाः ततोऽवायस्य अतो धारणायाः स्मृतेः प्रत्यभिज्ञाया अस्याः तर्कस्य अनुमानस्योत्पत्तिदर्शनात् । न चान्यस्य परिणामोऽन्यस्य ; अव्यवस्थापत्तेरिति मन्यते ।

स्यान्मतम्-यदि चेतनस्य नाचेतनः [6]तस्य वा चेतनः[7] ; कथं जाग्रदशातः स्वापदशा, २० तस्याश्च प्रबोधदशा यतस्तदा अवग्रहादिसंभव इति ? तत्र केषाञ्चित्परिहारः-तदशायामविकल्पकं दर्शनमस्ति [8]ततः प्रबोधः । [9]अन्येषां जाग्रद्विज्ञानात् सः[10] इति । [11]अपरेषां ज्ञानरहितादात्मनः[12] इति । नान्त्यः तावत् परिहारः संभवति ; ज्ञानाद् व्यतिरिक्तस्य आत्मनोऽन्यस्य वा भूताऽविशेषात्[13] । यद्यपि [14]कार्यभूतानां क्षणिकत्वमिति न स्मरणप्रत्यभिज्ञानादिसंभवतः (वः) तदापि (तथापि) तत्कारणभूतेभ्यः तत्संभवो नित्यत्वात्तेषाम्[15]। यद्यपि [16]तद्रूपादयः नास्मत्सदृशानां २५

(१) तुलना-"जलबुद्बुदवज्जीवाः" यथैव हि समुद्रादौ नियामकादृष्टरहिताः पदार्थसामर्थ्यवशात् वैचित्र्यव्यपदेशभाजो बुद्बुदाः प्रादुर्भवन्ति तथा सुखदुःखवैचित्र्यभाजो जीवाः···"-न्यायकुमु० पृ० ३४२। (२) "मदशक्तिवद् विज्ञानम्"-न्यायकुमु० पृ० ३४२। प्र० शा० भा० ३।३।५३। न्यायक० पृ० ४३७। न्यायवि० वि० प्र० पृ० ९३। "मदशक्तिवच्चैतन्यमिति"-प्रक० प० पृ० १४६। तुलना-"मद्याङ्गवद् भूतसमागमे ज्ञः···"-युक्त्यनु० श्लो० ३५। (३)भूतेषु । (४) ग्रन्थकारोऽकलङ्कदेवः । (५)स्वोपज्ञटीकायाम् । (६) अचेतनस्य । (७)न परिणामः तर्हि । (८) अविकल्पदर्शनात् । (९) प्रज्ञाकरादीनाम् । (१०) प्रबोधः । (११) नैयायिकादीनाम् । (१२) प्रबोधः । (१३) भूतवदचेतनत्वादित्यर्थः । (१४) कार्यरूपाणां भूतानाम् । (१५) कारणात्मकभूतानां परमाणूनामित्यर्थः । (१६) कारणात्मकभूतपरमाणुगता रूपादयः ।

प्रत्यक्षाः तथापि बुद्धा (बुद्ध्या)दयः [1]तदाश्रितत्वेऽपि प्रत्यक्षाः, यथा आकाशपरममहत्त्वाद्य-प्रत्यक्षत्वेऽपि [2]तदाश्रितः शब्दः प्रत्यक्षः ।

यस्तु मन्यते बुद्धेः शरीराश्रितत्वे [3]तस्य क्षणिकत्वाद् देशान्तरादौ प्रत्यभिज्ञानं न स्यादिति; स्यादेतदेवं यदि कार्यसंयोगिना कारणं न संयुज्येत, न चैवम्, पटसंयोगिना तन्तुसंयोगदर्शनात् । नापि मध्यमध्यमशरीरस्य प्रबोध(धा)कारणत्वात् (त्वम्); तद्भावे भावाद् [२३२ख] अभावे अभावात् । न जाग्रच्चित्तस्य[4], तदभाव एव भावात् । तथापि [5]तत् [6]तस्य चेत् कारणम् ; तर्हि विधवाया गर्भः चिरमृताद् भर्तुः न सन्निहितात् परपुरुषात्, इति न सा[7] निग्राह्या स्यात् ।

यदि मतम्—प्रबोधस्य शरीरकारणत्वे जाग्रच्चित्तानुकरणविरोध इति ; तदपि सुपरिहारम्; यतः कारणकारणस्यापि अनुका(क)रणसंभवात् तदविरोधः । तथाहि—तच्चेतसः शरीरं प्राणादिवत्, ततः पुनरपरं शरीरं प्राणादेरिव प्राणादिः तावद् अन्ता दशा, ततः पुनः तदनुरूपप्रबोधः पित्रनुरूप-पुत्रवत् इति । तद्यथा पितुः शुक्रादिपातः पुनः तत्परिणामविशेषात् पित्रनुरूपमपत्यशरीरम् ।

यदि वा, शरीरं बोधोपादानकारणम्, तच्चित्तं[8] सहकारिकारणम्, परस्य च सहकारि-कारणानुरूपं कार्यम्[9], अन्यथा कथमर्थानुरूपं ज्ञानम् ? 'भिन्नकालं कथं सहकारि' इत्यपि नोत्तरम्; सर्पादिदष्टमूर्च्छितस्य पूर्वामूर्च्छितः(त)चित्तं प्रति भिन्नकालतास्यापि (लस्यापि) मन्त्रादेः सह-कारित्वस्य परैरभ्युपगमात् । प्रथमः पुनः अपर्यालोचित एव ; स्वापादौ हि क्षणिकसंवेदनोपगमे जागरणात् तस्य विशेषो वाच्यः यतस्तत्र प्रत्यक्षसिद्धं क्षणक्षयादिकं तत्प्रवृत्त्यादिकारणं मरणवद् इति न स्यात् । समारोपः इति चेत् ; न ; तत्र तदभावात् । इतरथा तदुपलक्षणे न गाढनिद्रा दशा नाम । तदनुपलक्षणं तु *"नहि इमाः कल्पनाः" [प्र० वा० स्व० टी० पृ० १२७] इत्यादि[10] प्रतिहन्ति । यदि पुनः निश्चयाऽभावो विशेषः; सोऽपि न युक्तः ; तदभाव एव अस्तु । कथमनुभूतं क्षणक्षयादिकमननुभूतं यतस्तत्र [२३३ क] तद्व्यवहारो न स्यात् ? निर्विकल्पानु-भूतमननुभूतकल्पमिति चेत् ; न तर्हि स्वापादेः संहृताशेषविकल्पदशा भिद्यत इति "तत्रैव अन्यत्रापि—

*"संहृत्य सर्वतश्चिन्तां स्तिमितेनाऽन्तरात्मना ।
स्थितोऽपि चक्षुषा रूपमीक्षते साऽक्षजा मतिः ॥"

[प्र० वा० २।१२४] इति प्रवते ।

तत्र नीलादिविकल्पसद्भावेऽपि ततस्तत्र संवेदनाऽप्रवेदनात्, चेतनस्य चेतनः तस्य वा अचेतनः पर्यायः इति न युक्तमेतत्—'नवै चेतनोऽचेतनस्य' इत्यादि इति चेत् ; अत्र प्रति-विधीयते—

निर्णयेतरसंवित्तेः सदाऽभ्युपगमादयम् ।
न दोषो जायतेऽस्माकं सौगतैकान्तपक्षवत् ॥
प्रबोधस्यान्यथायोगादन्तरालेऽनुमीयते ।

(१) भूताश्रितत्वेऽपि । (२) आकाशाश्रितः । (३) शरीरस्य । (४) प्रबोधकारणत्वम् । (५) जाग्र-च्चित्तम् । (६) प्रबोधचित्तस्य । (७) विधवा । (८) जाग्रच्चित्तम् । (९) भवत्येव । (१०) "अप्रतिसंवेदिता एवोदयन्ते व्ययन्ते वा यतः सत्योऽप्यनुपलक्षिताः स्युः" इति शेषः । (११) स्वापादिवत् ।

संवित्तिरविकल्पाऽपि जैनैः किन्न सदा स्वयम् ॥
कार्यकारणभावोऽयमन्यथा नियतः कुतः ।
अहेतुरन्यहेतुर्वाऽदृष्टहेतुः प्रसज्यते ॥

यदि स्वापे संवित्तिरनुपलक्षितेति प्रबोधोऽहेतुकः[1], तर्हि मेघादिः अनुपलब्धोपादानः तथैव अहेतुः[2] इति सर्वे (वै) कादाचित्कमपि तथैव शङ्क्येत । अथ अन्यहेतुकः; तन्मेघादिरपि अन्यजातिकारण इति न चतुर्भूतव्यवस्था । अथ पृथिव्यादेरेव तदुत्पत्तिदर्शनात्[3]; अदृष्टमपि जलपटलादेः सजातीयं कारणमनुमीयताम् । ५

एतेनेदमपि प्रत्युक्तम्–*"यथा अविकल्पात् स्वापात् सविकल्पप्रबोधसंभवः तथा अचेतनात् चेतनसंभवः" इति; कथम् ? अन्यत्रापि प्रसङ्गात् । शक्यं हि वक्तुं यथा सूक्ष्मपृथिव्यादिभूतेभ्यः स्थूलतद्भूतभावः तथा जलादेः भूम्यादिभावस्था इति स्यात् (वः स्यात्[4] इति ।) १०

ननु यथा आत्मवत् [२३३ख] पृथिव्यादयो भिन्नजातीयाः परस्परं कथं तद्वदेवैपृथिव्यादेः सलिलादिपर्याय इति चेत्; अत्राह–**पुद्गलद्रव्यम्** इत्यादि । रूपरसगन्धस्पर्शवद्द्रव्यं **पुद्गलद्रव्यं सूक्ष्मम्** । किं स्यात् ? इत्याह–**पृथिव्यादिव्यपदेशभाक् 'स्यात्'** इति शेषः । अत्र आदिशब्देन जलादिपरिग्रहः । किं कृत्वा ? इत्याह–**आसाद्य** प्राप्य । किम् ? इत्यादि **स्वर** (त्याह–**खर** इत्यादि । **खर**) **विवर्त्तमासाद्य** पृथिवीव्यपदेशभाक् । एवमन्यत्र योज्यम । एतदुक्तं भवति–न पृथिव्यादयो भिन्नजातीया एकद्रव्यपर्यायत्वात् मृत्पिण्डादिवत् इति । १५

ननु प्रतीयमानपृथिव्यादिभ्यः किमन्यत् तद्व्यपदेशभागिति चेत् ; न; स्थूलस्य सूक्ष्मपूर्वकत्वस्यापि अव्यभिचारात् पटवत् इति तन्तुसिद्धेः । एवमपि भवतु पृथिव्याः स्वयं रूपरसगन्धस्पर्शवत्याः तथाविधकारणानुमानम्, न जलाऽनलाऽनिलेभ्यः गन्धरसरूपविरहितेभ्यो यथासंभवं किन्तु तदनुरूपं कारणान्तरमनुमीयते चेत्; न; तत्रापि [6]स्पर्शवत्त्वे सति गन्धाद्यनु[7]मानाऽनिराकरणात् । किं पुनः तत् ? इत्याह–**पुनरन्यथा** इत्यादि । **पुनः** पश्चाद् **अन्यथा** अन्येन पृथिव्यादिविलक्षणप्रकारेण **बहुलं** परिणामि **लक्ष्यते** पुद्गलद्रव्यमिति । तदेव दर्शयति **यथा** इत्यादिना । **'यथा'** इत्ययमुदाहरणप्रदर्शने, **चन्द्रकान्तमणिः** खरत्वेन **पृथिवीस्वभावो द्रवति (द्रवति)** जलीभवति । कुतः ? इत्याह–**चन्द्ररश्मेः** । न तन्मणिः द्रवति उपलम्भाद् अपि तु तत्संसक्ता जलात्मकाः चन्द्ररश्मयः इत्येके । तेषां तद्द्रुतौ को दोषः ? अदर्शनमिति चेत्; न; [२३४क] गन्धद्रव्यस्य सर्वदा सर्वदिक्षु भागानां गमनेऽपि तावत एव उपलम्भात्, तद्वद्रश्मेश्चाप्यदर्शनं किन्न स्यात् ? [10]तदपरापरोत्पत्तिः न तन्मणेः इति किं कृतो विभागः ? **शुक्रशोणितं द्रवरूपं** कललार्बुदादिक्रमेण **स्त्र्यादिपरिणामं याति** । किं भूतम् ? इत्याह– २०

(१) प्रबोधवत् कारणरहितः। (२) अहेतुकमिति । (३) पृथिव्यादिरेव तत्कारणं तर्हि । (४) इति न पृथिव्यादीनां तत्त्वान्तरम् । (५) आत्मवदेव । (६) "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ।"–त० सू० ५।२३ । (७) जलानलानिलादीनि गन्धरसरूपसहितानि स्पर्शवत्त्वात् पृथिवीवत् । (८) "वायुस्तावद् रूपादिमान् स्पर्शवत्त्वात् घटादिवत् ।...आपो गन्धवत्यः स्पर्शवत्त्वात् पृथिवीवत् । तेजोऽपि रसगन्धवत् रूपवत्त्वात् ।" –स० सि० ५।२३ । (९) चन्द्ररश्मेः । (१०) प्रतिक्षणं अपरापरचन्द्ररश्मय उत्पद्यन्ते चेत् ; मणिरपि अपरापर एवोत्पद्योऽस्तु ।

भस्म इत्यादि । भस्ममृत्तिकयोः कृतद्वन्द्वयोः आदिशब्देन बहुव्रीहिः, अत्र आदिशब्देन पिण्डादिपरिग्रहः, पुनः अस्य पर्यन्तशब्देन सं एव विधेयः । तथैव तेनैव विशिष्टौषधादि-प्रयोगप्रकारेण मुक्ताफलादि, आदिशब्देन हिमादि परिगृह्यते 'द्रवति' इति अनुवर्त्तते । यदि वा, पुद्गलद्रव्यं स्नेहविवर्त्तमासाद्य 'मुक्ताफलादिकं परिणामं याति' इति सम्बन्धः । अत्र आदिशब्देन स्तनकादेः (सूतकादेः) गुटिकादिपरिणामो गृह्यते । काष्ठादिकम् आदिशब्देन तृणादिकम् अग्निसाद् भवति । कुतः ? इत्याह–अरणि इत्यादि । आदिशब्दाद् विशिष्ट-द्रव्यादिसंयोगात् । ततः स्थितम्–पुद्गलद्रव्यम् इत्यादि ।

तर्हि तद्वत् पुरुषचेतनः तथा परिणमते न पुद्गलद्रव्यमिति ; अत्राह–न [पुनः] नैव चेतनो ब्रह्मात्मा चैतन्यं स्वपरावभासित्वं विहाय विपरिवर्त्तते पृथिव्यादिरूपेण परिणमते । एतदुक्तं भवति–पुद्गलद्रव्यं यथा पृथिव्यादिरूपेण विपरिवर्त्तते तत्र तद्रूपान्वयदर्शनात्, तथा यदि पुरुषः [1]तद्रूपेण विपरिवर्त्तिता (विपरिवर्तेत) ; चैतन्यान्वयः तत्र[2] प्रतीयेत । न चैवमिति । अचेतनस्तर्हि चेतनरूपेण परिणमत इति चेत् ; अत्राह–अचेतनः पृथिव्यादिः पुनः चेतनो भवन् सँल्लक्ष्यते । 'न पुनः' इत्यनुवर्त्तते, स (सँ)ल्लक्ष्यत इति । अनेनैतद् दर्शयति–[२३४ ख] यदि अचेतनः परिणामी चेतनः तत्परिणामः [3]तत्र तद्रूपान्वयः स लक्ष्यते (सँल्लक्ष्येत) । न च तदस्ति रूपादिरहितस्य अन्तःचेतनस्य परिस्फुरणात् । न च [4]तत्र रूपादी-नामनाविर्भावकल्पना श्रेयसी ; भूतानामन्योऽन्यात्मनि लक्षणानाविर्भावकल्पने न लक्षणभेदेन [5]तद्व्यवस्थाकथनम (नं) युक्तं स्यात् ।

उपसंहरन्नाह–तद् इत्यादि । यत एवं तत् तस्माद् अयं वावाकस्वत्वं (चार्वाकः स्वयं) पुद्गलद्रव्यलक्षणम् एकसंख्योपपन्नम् चतुर्धा चतुर्भिः प्रकारैः व्यवस्थापयन् । केन ? इत्याह–पृथिव्यादिभेदेन कथं स्वस्थः भूतगृहीत इत्यर्थः । कुतः ? इत्याह–विपर्यस्तबुद्धिः । यथा चन्द्रमसमेकं द्वित्वेन व्यवस्थापयन् तथाविधबुद्धिः तथा अयमपि यतः ।

ननु परचेतोवृत्तीनां दुरन्वयत्वात् तँथाविधबुद्धिरयमिति कुतो ज्ञायते इति चेत् ; अत्राह–देवानांप्रिय इत्यादि । देवानां मूर्खाणां प्रियो यतः । नहि असौ[6] सत्तामात्रेण तन्मयः (तत्प्रियः) अतिप्रसङ्गात्, अपि तु प्रमाणत्राणरहितत्वोपदेशात् सुखसंवर्धितमतीनां तेषां प्रमाणविषये अप्रवे-शात्, ततोऽसौ तँथाबुद्धिः अवगम्यते । तथाविधतत्त्वो (ततत्त्वो) पदेशोऽपि [7]तस्य कुतोऽवगम्यते इति चेत् ? अत्राह–प्रत्यक्षस्य इत्यादि । प्रत्यक्षस्य प्रमाणस्य प्रमेयस्य वा अतीव लङ्घनाद् अन्यथैव प्रतिपादनात् । किं पुनरयमेतदेव कुर्वन् अस्वस्थः ? न ; इत्याह–चेतनेतरतत्त्वम् एकीकुर्वन् । कथंभूतम् ? उभयम् ? अनेकशेषं पूर्ववदत्रापि ।

तदेवं मध्यावस्थायां चेतन एव चेतनीभवति इति साकल्येन [२३५क] विपक्षेऽनन्तर-बाधकोपदर्शनेन सिद्धायां व्याप्तौ यत्सिद्धं तदर्शयन्नाह–प्राणिनाम् इहजन्मनि इत्यादि ।

---

(१) बहुव्रीहिः । (२) पृथिव्यादिरूपेण । (३) पृथिव्यादिषु । (४) चेतने । (५) चेतने । (६) पृथि-व्यादिभूतचतुष्टयव्यवस्था । (७) विपर्यस्तबुद्धिः । (८) चार्वाकः । (९) विपर्यस्तबुद्धिः । (१०) चार्वाकस्य ।

प्राणा दश [1]आगमपठिता विद्यन्ते येषां ते **प्राणिनः** तेषाम् । एतेन सर्वसम्बन्धिनाम् आद्यन्तचित्तानां धर्मित्वेन उपादीयमानानां प्रमाणादिसत्त्वेन (प्राणादिमत्त्वेन) अनुमानसिद्धत्वं दर्शयति, इतरथा प्रत्यक्षेण तेषामग्रहणाद् अनुमानस्य वा[S]वचने हेतोः आश्रयासिद्धिः आशङ्क्येत । न च आत्मन एव तच्चित्ते तथा साधयितुमत्राभिप्रेत (तम्) 'चित्तानि' इति बहुनिर्देशात् । नापि एकत्र आत्मनि आद्यन्तयोः बहुचित्तसंभवः । ततः सूक्तम्–'**प्राणिनाम्**' इति वचनं सर्वसत्त्वाद्यन्तचित्ताम् (त्तानामनु) मानपरिच्छेद्यत्वज्ञापनार्थमिति । एवमपि तेषामनाद्यनन्तभूतानाम् आद्यन्तचित्तासंभव इति आश्रयासिद्धो हेतुः; यस्माद्धि न पूर्वचित्तमस्ति तद् आदिः, यस्माच्च नोर्ध्वं (नोऽन्तः) तद् अन्त्यम् , न चैतत्[3] जीवानाद्यनिबंधन (निधन) त्वे युक्तमिति चेत् ; अत्राह– **इहजन्मनि** अस्मिन् जन्मनि । **तावत्** शब्दः क्रमवाच्येव पूर्वपूर्वजन्मस्वपि तत्साधनक्रमप्रदर्शनार्थः । **आद्यन्तचित्तानि** । कथम्भूतानि तानि ? इत्याह–**चित्त** इत्यादि । **चित्तान्तरम् उपादानोपादेयभूतं** येषां तानि तथोक्तानि । भूतशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । ततोऽयमर्थः–आदिचित्तानि चित्तान्तरोपादानभूतानि अन्त्यचित्तानि चित्तान्तरोपादेयभूतानि इति । यदि वा, **चित्तान्तरस्य उपादानोपादेयभूतानि** इति ग्राह्यम् । तथा हि आदिचित्तानि पूर्वभवमरणान्त्यचित्तान्तरस्योपादेयभूतानि, अन्त्यचित्तानि भाविभवाद्यचित्तान्तरस्य उपादानभूतानि । एवमपि [4]एवं वक्तव्यम् [२३५ख] चित्तोपादानोपादेयभूतानि इति वक्तव्यं किमन्तरशब्देन भेदस्य उपादानोपादेयभूतवचनादेव सिद्धेः [5]अन्यथा तदयोगात् , एकात्मवदिति चेत् ; न ; साङ्ख्यं प्रति सिद्धसाध्यतापरिहारार्थम् एवंवचनात् । सांख्यो हि सर्वत्र कार्यकारणयोरभेदैकान्तवादी 'चित्तोपादानोपादेयभूतानि' इति वचने सिद्धसाध्यता मन्येत । तत्कुतः तानि तथाभूतानि ? इत्याह– **चित्तत्वात्** , विशेषस्य साध्यत्वात् सामान्यस्य साधनत्वात्[6] न प्रतिज्ञार्थैकदेशाऽसिद्धो हेतुः इत्येके[7] । विशेषयोः सामान्ययोर्वा एवं साध्यसाधनभावेऽपि नायं दोषः इत्यपरे । अन्यथा नित्यः शब्दः शब्दत्वात् इत्यादावपि स्यात् । अत्र दृष्टान्तमाह दर्शयितुम्–**यथा** इत्यादि । **यथा मध्यचित्तम्** इत्यर्थः ।

ननु जैनस्य 'लोहलेख्यं वज्रं पार्थिवत्वात् काष्ठवत्' इत्यादाविव न दृष्टान्तमात्राद् हेतुर्गमकः, अपि तु अन्यथानुपपत्तेः, [8]स च अत्र, [अतः] आह–**अत्र** इत्यादि । **अत्र** हेतोः **पुनः** इति सौष्ठवे, **अन्यथा** साध्याभावप्रकारेण **अनुपपत्तिः** अघटना **अस्ति**। **'एव'** निपातेन मनागपि तदुपपत्तिः नास्ति इति वदति । कुतः ? इत्याह–**जन्म तस्य (जातस्य[10])** इत्यादि । **जातैवादौवा**

---

(१) "पंच वि इंदियपाणा मणवचिकायेसु तिण्णि बलपाणा । आणापाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दस पाणा ।"–गो० जीव० गा० १२९ । (२) आद्यन्तचित्तानाम् । (३) आदिः अन्तश्च । (४) जन्म । (५) 'एवं वक्तव्यम्' इति निरर्थकं भाति । (६) भेदाभावे उपादानोपादेयभावासंभवात् । (७) सामान्यस्य च विशेषनिष्ठत्वात् न निरन्वयदोषोऽपि । (८) "ननु प्रत्ययविशेषो धर्मी सामान्यं साध्यमिति न प्रतिज्ञार्थैकदेशता ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३८७ । हेतु० टीकाको० पृ० ३९६ । प्रमेयर० १।१ । स्या० रत्ना० पृ० ४१–४२ । (९) अन्यथानुपपत्तिविशिष्टो हेतुः । (१०) तदहःसमुत्पन्नस्य बालकस्य । तुलना–"दृष्टास्मस्तस्मृत्यनुबन्धाजातस्य हर्षभयशोकसंप्रतिपत्तेः ।"–न्यायसूत्र० ३।१।१९ ।

(जातस्य) अन्यतस्य (उत्पन्नस्य) पूर्वम् अतीतजन्मन्यश्च (न्यभ्यस्त) स्तनादिपानादिकत्रस्य (कं तस्य) स्मृतेरनुबन्धात् अविच्छेदात्। एतदुक्तं भवति–मरणान्त्यचित्तस्य तत्त्वं यदि उत्तरजन्मादिप्रबोधाविनाभावि न भवेत्, तर्हि तत्र तदाहितसंस्कारवैधुर्ये जातस्य स्मृत्यनुबन्धः [न स्यात्]। मात्रपि ([1]भवन्नपि) पुरुषमात्रेण अन्येन कथमवगम्यते परचेतोवृत्तीनां [२३६क] ५ दुरन्वयत्वादिति चेत्; अत्राह–भयादि इत्यादि। भयम् आदिर्यस्य अभिलाषादेः तस्य प्रतिपत्तेः मुखविकारादिना निश्चितेः, अन्यथा कुतश्चित् परचेतोवृत्तिविशेषे प्रतिपत्त्यभावमुल्लेक्षामहे। न चैवम्, अतो वक्तु (क्त्र) विकारादेः भयादिप्रतिपत्तिः ततः [2]तदनुबन्धप्रतिपत्तिरिति।

एतेन 'जातस्य पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धात्' इत्यस्य हेतोः स्वरूपासिद्धिरपि प्रत्युक्ता।

ननु मध्यचेतसि चित्तत्वं यद्यपि चित्तान्तरोपादेयत्वसहितं दृष्टं तथापि आद्यन्तचेतसि १० तत्तथा न युक्तम्, अन्यथा प्रैत्यग्नेर्ज्वालापूर्वकत्वदर्शनात् पथिकाग्नेरपि पूर्वं (तैत्पूर्व)कत्वं तैत्त्वादनुमीयेत। व्यभिचाराशङ्का अन्यत्रापि इति चेत्; अत्राह–पथिकाग्नेः इत्यादि। 'अनेन' इत्ययं शब्दः अन्ते करणात् 'प्रत्यग्निवत्' इत्यस्य अनन्तरं यथास्थानं च द्रष्टव्यः। ततोऽयमर्थः– पथिकाग्नेः पथिकसम्बन्धिनः पावकस्य, पथिकस्य अनवस्थायित्वेन तत्संबन्धित्वस्य परोक्षताज्ञापनार्थम्, अथवा ज्वालान्तरपूर्वकत्वेतरत्वसंभवज्ञापनार्थं पथिकग्रहणम् तस्यैं हि अग्निः उत १५ यद्यपि संभवति। ज्वालान्तरपूर्वकत्वं साध्यम्, अत्र हेतुः 'पथिकाग्नित्वात्' इति द्रष्टव्यः। निदर्शनमाह–प्रत्यग्निवद् इति। कश्चित् पथिकः शीतार्तो अरणिनिर्मथनाद् अन्यतो वा प्रज्वलितात्रिः निःशीतो भूतात् (भूत्वा) क्वापि गतः, पुनस्तत्रैव अपरः पण्डितमानी (मानी) समागत्य ततोऽग्नेः प्रत्यग्निं प्रज्वाल्य अनुमानं करोति पथिकाग्नि [:] ज्वालान्तरपूर्वकः तत्त्वात्[5] प्रत्यग्निवत्। न चैवम्, अतः अनेन भवदीयानुमानस्य [२३६ख] व्यभिचार इति यद् व्यभिचार- २० चोदनं तदनेन अनन्तरग्रन्थेन प्रत्युक्तम् प्रकृते हेतुलक्षणभावाद् अन्यत्र विपर्ययात्। तमेव दर्शयन्नाह–तेजःकारण इत्यादि। तेजसः कारणं पुद्गलद्रव्यम् अनन्तरवर्णितम् तत्पूर्वकत्वस्य तत्र पथिकाग्नौ [अ]विरोधात्। विरोधाभावान्न ज्वालान्तरपूर्वकत्वमस्य[6], ननु (नतु) चेतने अभिहितनीत्या तत्पूर्वकत्वस्य अविरोध इति मन्यते।

अथ सर्वत्र सर्वदा सन्तु तदादिचित्तानि इष्टसाध्यानि ननु (नतु) मरणान्त्यचित्तानि प्रमा- २५ णाभावात्। तर्हि (नहि) [9]अर्वाग्भागदर्शिप्रत्यक्षम् इयतो व्यापारान् कर्तुं [समर्थम्] सन्निहितविषयबलोत्पत्तेः। लिङ्गाभावेन अभावात् नाप्यनुमानम्। चित्तत्वस्य भावालिंगाता वो (भावालिङ्गाभावो) असिद्ध इति चेत्; न; [10]तत् कार्यम्, कारणम्, अनुभयं वा स्यात्? तत्र उपदेयाभिमतात् प्रागेव भावात् न कार्यम्। 'स्नानादेः प्रागपि भवन् जलादिस्तत्कार्यम्' इत्येके; तेषां [12]प्राप्यमर्थक्रियाजातं किं कुर्वाणं जलादेः कारणम्? अकिञ्चित्करस्य [13]तदयोगाद् अतिप्रसङ्गात्।

---

(१) भवन्नपि स्मृत्यनुबन्धः। (२) स्मृत्यनुबन्ध। (३) [अग्निसमुद्भूतद्वितीयाग्नेः। (४) ज्वालापूर्वकत्वम् (५) अग्नित्वात्। (६) अन्यपथिकाग्निपूर्वकत्वज्ञापनार्थम्। (७) पथिकस्य। (८) अग्नित्वात्। (९) पथिकाग्नेः। (१०) अस्मदादिप्रत्यक्षम्। (११) चित्तम् (१२) भावि। (१३) कारणत्वायोगाद्।

न च अकारणं कार्यं युक्तम् । सत्ताम्[1] इति चेत् ; ननु च अनुत्पन्नमसत्[2] खरविषाणसमं कथं कस्यचित्[3] तामुपजनयति ? स्वकाले सत्त्वाददोषः ; कार्योत्पत्तेः प्रागपि तदा तत्सत्त्वे पूर्वभावित्वमेव कारणस्य अर्थादापतितं नानागतत्वम् । पश्चात् सत्त्वे प्रागेव उत्पन्ने कार्ये तदकिञ्चित्करत्वं कृतस्य करणाऽयोगात् । तत्र (तन्न) कार्यम् । नापि कारणम्; अर्वागदर्शिना कार्यादर्शने तद्विशिष्टताऽविनिश्चयात् । तदर्शने अनुमानवैकल्यम् । [२३७क] न च तन्मात्रं लिङ्गम् ; प्रतिबन्धवैकल्यसंभवात् । अनुभयस्य प्रतिबन्धाभावात् अलिङ्गत्वमिति । तत्राह–**सतः चेतनस्य** इत्यादि । **सतो** विद्यमानस्य **चेतनस्य** 'अन्त्यदशायाम्' इति प्र[क]माद् एतल्लभ्यते । अनेन एतत् कथयति–मध्ये चेतनस्य अन्यस्य वा सत्त्वं भिन्नकार्यकारित्वेनेव उत्तरस्वपरिणामकारित्वेन व्याप्तं प्रतिपन्नम् , तदिदानीं यदि तदभावेऽपि स्यात् निःस्वभावत्वमिति कुतः कस्यचित् तत्त्वमन्यद्वा ? अन्यथा सर्वस्य व्याप्यस्य स्वव्यापकाभावेऽपि भावाशङ्कया अनेनुमानं जगत् स्यादिति । **चित्स्वभावेन** चिद्रूपेण **परिणमतो** विवर्त्तमानस्य **कारणान्तराऽनपेक्षत्वात्** । यस्मात् कारणात् उत्पद्यते असौ चेतनः तस्माद् अन्यत् कारणं तदन्तरम् , तत्र न विद्यते अपेक्षा यस्य तद्वा न अपेक्ष्यते इति तस्य भावाऽभावात् (तस्य भावात) **'अत्र पुनः अन्यथानुपपत्तिः अस्त्येव'** इत्यनेन सम्बन्धः ।

ननु तदनपेक्षत्वेऽपि तद्रूपेण परिणामो न भविष्यति ? इत्याह–**स्वयम्** इत्यादि । **स्वयम्** आत्मना **अक्षेपेण** झटिति **विवर्तस्य उपपत्तेः** । एतदपि कुतः ? इत्याह–**अनैमित्तिक [त्वात्]** इत्यादि । निर्हेतुकस्य **अचेतनेचत् (तनवत्)** पृथिव्यादिव [त्] । परमाशङ्कते द्वेष (दूष) यितुं **द्वितीय** इत्यादि । तत्र उत्तरमाह– **तदवश्यम्** इत्यादि । तस्य द्वितीयक्षणस्य नियमेन भावात् ।

तु स तनस्य (**सतश्चेतनस्य**) इत्यादि अनभ्युपगच्छतो दूषणमाह–**यदि** इत्यादि । **पुनः** इति पक्षान्तरद्योतने, **अन्त्यक्षणस्य** मरणचित्तस्य **नोत्तरीभवनशक्तिः** नोत्तरपरिणामसामर्थ्यम् , **अवस्तुत्वम्** अन्त्यक्षणस्य । तत् किं कुर्यात् ? इत्याह–**स्वोपादान** इत्यादि । स्व इत्यनेन अन्ते (अन्त्यः) क्षणः परामृश्यते तस्य **उपादानप्रबन्धस्य अभावं साधयेत्** । कुतः ? इत्याह–**अर्थ** इत्यादि । [२३७] **अर्थस्य** कार्यस्य **[क्रिया]** करणं **तल्लक्षणत्वाद् वस्तुनः** । तत्सामर्थ्यं तल्लक्षणम् , तच्चैं सहकारिवैकल्यात् कार्याकारिणोऽपि तत्क्षणस्य अस्ति इति चेत् ; अत्राह– **समर्थम्** इत्यादि । **समर्थम्** अन्त्यक्षणजातम् इति **न करोति च इत्येवं विरुद्धम्** । तथाहि– यदि समर्थम् ; कथं न करोति ? न करोति चेत् ; कथं समर्थम् ? अन्यथा नित्यं समर्थमपि सहकारिवैकल्यात् सर्वदा न कुर्यादिति मन्यते । नार्थक्रिया नापि तत्सामर्थ्यं[11] तल्लक्षणम् , अपि तु सत्तासम्बन्ध इति[12] कस्मान्नाशङ्कितमिति चेत् ; अव्यापकत्वात् , सामान्यादौ[13] अभावात् ,

---

(१) कुर्वाणम् । (२) अविद्यमानम् । (३) सत्ताम् । (४) कारणमात्रम् । (५) कार्यकारण-उभयव्यतिरिक्तस्य । (६) उत्तरचित्तम् । (७) अनुमानशून्यम् । (८) अर्थक्रियासामर्थ्यम् । (९) वस्तुलक्षणम् । (१०) वस्तुलक्षणम् । (११) वस्तुलक्षणम् । (१२) वैशेषिकाभिमतम् । "द्रव्यादीनां त्रयाणामपि सत्तासम्बन्धः…"–प्रश० भा०, व्यो० पृ० १२१ । (१३) तेषां स्वतः सत्त्वात् सामान्यविशेषसमवायेषु सत्तासम्बन्धाभावात् ।

प्रविविक्तत्वाच्च । तर्हि तदुत्तरीभवनशक्त्यभावेऽपि विजातीयकरणशक्तेर्न तदवस्तुत्वम् इत्याशङ्कनीयमिति चेत्; न; चार्वा(र्वा)कस्य तथा मताभावाद् भूतसमुच्छेदानभ्युपगमात्। अत एवोक्तम् 'अचेतनवत्' इति ।

ननु यथा चेतनस्य संसारे अवग्रहादयो न तत ऊर्ध्वं तथा मरणात् पूर्वं सोऽपि न पक्षा-
५ दिति चेत्; अत्राह—सामग्र्या जन्म येषाम् विसदृशकार्याणां केषां (तेषां) कादाचित्कत्वं सुवर्णे कटकादीनामिव स्यात् न पुन (तु न) च उत्तरीभवनस्य कादाचित्कत्वम् । 'अचेतनवत्' इत्येतदत्रापेक्ष्यम् । न च 'अन्त्यचित्तानि चित्तान्तरोपादेयभूतानि' इति साधयतः प्रत्यक्षबाधा पक्षस्य यथा 'अश्रावणः शब्दः' इति साधयतः । अन्त्ये (अन्ते) क्षयदर्शनादिति चेत्; अत्राह—तत् तस्माद् उक्तन्यायात् एतत् परेण उच्यमानम् अन्ते मरणाद् ऊर्ध्वं यच्चेतनस्य परेण क्षयदर्शनम्
१० उपगतम् तद् असिद्धम् अनिश्चितम्, तत्र तत्क्षयाऽसिद्धेः । अदर्शनं पुनः प्राणभिन्मात्रस्य (भृन्मात्रस्य) तद्ग्रहणसामर्थ्यवैधुर्यात्[1] । न च तददर्शनं पक्षबाधनाय अलम्, [२३८क] अन्यथा शब्दे नित्यत्वाऽदर्शनमपि तद्बाधकं स्यादिति मन्यते । अतश्च तदसिद्धम् इत्याह—मध्ये जन्मन ऊर्ध्वं मरणात् प्राक् यत् स्थितिदर्शनं तदपि न केवलम् उक्तो न्यायः स्थितिं प्रसाध्ये(धये)त् 'अन्त्ये' (अन्ते) इति सम्बन्धः । कुतः ? इत्याह—अव्यभिचाराद् अविनाभावात् । तथाहि—
१५ यदि अन्ते स्थांतुर्न (स्थास्नुर्न) भवेत् भावो मध्येऽपि न भवेद् अविशेषादिति सौगतं मतम् । यदुक्तम्—

*"जातिरेव[2] हि भावानां विनाशे हेतुरिष्यते[3] ।
यो जातो न च विध्वस्तो नश्येत् पश्चात् सहेतव (सँ केन वा) ॥" इति ।

अथ मध्ये स्थितिः, तर्हि तत्रैं यत्तस्य रूपं तदेवापि (तदेव अन्तेऽपि) इति पश्चात् स्थितिः
२० केन वार्यते । एतदप्युक्तम्—

*"यद्येकस्मिन् क्षणे जातः तिष्ठेत् क्षणमिहापरम् ।
क्षणकोटी(टि)सहस्राणि ननु तिष्ठेत् तथैव सः ॥"

अथ मध्ये स्थास्नुरपि पुनः क्षरादि (क्षुरादि) विपायिप्रत्ययोपनिपाते नश्यति इति मतिः; सापि न युक्ता; यतः तथाविधस्यं गगनादिवत् तदयोगात्ँ *"सतोऽत्यन्तविनाशाऽसंभवात्"
२५ इत्युक्तत्वाच्च ।

सौगतमतानुसारी भूत्वा कदाचित् चार्वाको मध्ये स्थितेरनुपलब्धिं मध्ये स्थितेरदर्शनस्य असिद्धेश्च कारणात्, न केवलम् अव्यभिचारात् "मध्ये स्थितिदर्शनम्' इत्यादिना सम्बन्धः । अनेन मध्ये स्थितिदर्शनस्य असिद्धता परिहृता ।

ननु प्रसाधयतु मध्ये स्थितिदर्शनम् अन्ते स्थितिं चेतनस्य, [6]तां तु अचेतनरूपेण, ततो
३० विरुद्धो हेतुः इति चेत्; अत्राह—यदि इत्यादि । चेतनः सन् अचेतनाकारेण विवर्तेत पुनः

(१) अन्ते । (२) अलक्षत्वादिति । (३) उत्पत्तिरेव । (४) उद्धृतोऽयम्···"जातिरेव···नश्येत् पश्चात् स केन वा"—षड्द० बृह० पृ० १२ । (५) मध्ये । (६) सदा स्थास्नोः । (७) विनाशासंभवात् । (८) स्थितिम् ।

चेतनाकारेण विवर्तेत यदि स्वापप्रबोधवत् स्वापप्रबोधयोरिव प्रेत्यभावसिद्धेः मृत्वा पुनर्भवसिद्धेः कथं न कथञ्चिद् अनवद्यं स्यात् । किं तत् ? इत्याह–अपर इत्यादि । [२३८ख] एतदभ्युपगम्य दूषणमुक्तम्, यावता परमार्थतो नैतदस्ति इति । 'न पुनः चेतनः चैतन्यं विहाय' इत्यादिना उक्तं स्मारयन्नाह–चेतनेतरयोः इत्यादि । चेतनो जीवः इतरोऽचेतनः पृथिव्यादिः तयोः सङ्करश्च एकत्र प्रसक्तिः व्यतिकरश्च परस्परविषयगमनं तयोः प्रतिपत्तिः अयुक्तैव । कथं- ५
भूतयोः ? इत्याह–स्वभावसिद्धयोः एकैकपरिहारेण स्वस्वरूपेण सिद्धयोः । यदि वा, स्वस्मात् समानजातीयाद् भावात् निष्पन्नयोः । कुतः ? इत्याह–दृष्टस्य तयोर्भेदस्य हानेः सर्वस्य प्रक्षयस्य (प्रत्यक्षस्य) सा नासतां दर्शयति–नीलादिसुखादिप्रत्यक्षस्यापि तदनुषङ्गात् । अदृष्टस्य प्रत्यक्षेण अविषयीकृतस्य तयोः सङ्करादेः कल्पनाच्च इति । अनेनापि परस्य प्रमाणान्तर[२] प्रसङ्गं दर्शयति तदभावे तदयोगात् । १०

ननु[२] भवतु अदृष्टकल्पनम् अप्रमाणकं तु न स्यात्, व्यवहारेण तदभेदसाधकस्य अनुमानस्योपगमात् । तच्च अनुमानम्–चेतनो भूतपरिणामः तत्स्वभावो वा सत्त्वादिभ्यो जलबुद्बुदवत् मदशक्तिवच्च इति । एतदेवाह–जल इत्यादिना । जलस्य बुद्बुदैः समानं वर्त्तते इति तद्वत् । के ? इत्याह–जीवाः । एतदुक्तं भवति–यथा सत्त्वादिसन्तो (मन्तो) बुद्बुदा जलात्मकाः[३] तत्रैव भवन्ति विनश्यन्ति [च] तथा जीवाः पृथिव्यादिषु इति मदस्य जातिकया १५
मन्त्र्या (शक्त्या) तुल्यं वर्तते इति तद्वत् । किं तत् ? विज्ञानम् । इदमत्र तात्पर्यम्–यथा भतीकिण्वादिनिः (सती किण्वादिभिः) मदशक्तिः आत्मभूता अभिव्यज्यते, तत्रैव पुनः सा तिरोभवति तथा भूतैः विज्ञानम् । अत्रोत्तरमाह–इत्येव (वं) परः केवलम् अर्कसा (अर्के) कटुकिमानं [२३९ क] दृष्ट्वा गुडादावपि योजयति–कटुको गुडादिः सत्त्वादिभ्यो[४] गुडादिति (अर्कवत्) । तदनेन यथा अत्र पक्षस्य प्रत्यक्षबाधनं तथा प्रकृतेऽपि इति दर्शयति । हेतुं दूषयन्नाह–विज्ञप्तेः २०
इत्यादि । विज्ञप्तेः परिणामिचेतनायाः, यदि 'साधयेत्' इति सम्बन्धः । किम् ? इत्याह–भूत इत्यादि । कुतः ? इत्याह–सत्त्वोत्पत्ति इत्यादि । केन दृष्टान्तेन ? इत्याह–मदशक्त्यादि इत्यादि । कस्मिन् सत्यपि ? इत्याह–स्वालक्षण्यस्य इत्यादि । अत्र आदिशब्देन पर्यायादिविशेषो गृह्यते, तत्प्रतिबन्धाभावं दर्शयति तस्य । दूषणमाह–तत एव सत्त्वोत्पत्तिकृतत्वादेः 'साधयति' इति सम्बन्धः । किम् ? इत्याह–बुद्धि इत्यादि । बुद्धिश्च प्रधानस्य आद्यः परिणामो २५
महदाख्यः चैतन्यं तु पुरुषः तयोः विवर्त्तः परिणामः तस्य अनतिक्रमम् । केषाम् ? इत्याह–भूतानामपि न केवलम् अन्यस्य । कस्य च (कस्येव) ? इत्याह–सुखादि इत्यादि । सुखादि स्वसंवेदनं[५] च तयोरिव तद्वत् इति । कः ? इत्याह–परोऽपि सांख्यः–*"तस्मादपि षोडशकात्[६] पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि" [सांख्यका० २१] इति वचनात् । पुरुषाद्वैतवादीव (दी वा)*"पुरुष एव इदम्" [ऋक्० १०।९०।२] इत्याद्यभिधानात्, न केवलं चार्वाक एव इति अपिशब्दः ३०

(१) इतिः । (२) चार्वाकः । (३) चेतनाचेतनयोरभेद । (४) जले एव । (५) आदिपदेन उत्पत्तिसत्त्वकृतकरणादयो ग्राह्याः । (६) एकादशेन्द्रियपञ्चतन्मात्रासमूहरूपात् षोडशकगणात् । (७) रूपरसगन्धस्पर्शशब्द लक्षण पञ्चतन्मात्राभ्यः ।

इति हेतोः विरुद्धाऽव्यभिचारी 'सत्त्वोत्पत्तिकृतकत्वादिः' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः, विरुद्धं साध्यं न व्यभिचरति एवंशीलः चैतन्यभूतपरिणामवत् तेषामपि अन्यपरिणामप्रसाधनात्। यदि वा, विरुद्धेन साध्येन [अ]व्यभिचारी तदविनाभावी विरुद्ध इति यावत्। तथाहि–विज्ञानेः सत्त्वादि मध्यावस्थायाम् अनन्तरोक्तन्यायाद् विपक्षसद्भावबाधनात् चेतनोपादेयत्वाव्यभिचारि प्रतिष्ठापितं [२३९ ख] यथा च [1]अन्तर्व्याप्तौ असिद्धायां बहिर्व्याप्तेरकिञ्चित्करत्वं तथा [2]न सिद्धायामपि इति। यद्वक्ष्यति–प्र मा ण सं प्र हे–*"भविष्यति आत्मा सत्त्वात्" [प्रमाणसं० पृ० १०४] तत्र च न अचिद्रूपेण; अनिष्टापत्तेः साधनवैफल्याच्च। नापि चिद्रूपेण; तत्साधने पृथिव्यादावपि सद्भावे न तद्व्यभिचारी विशिष्टस्य हेतुत्वात्। इदमपरं व्याख्यानम्–तत एव इत्यादि। भूतानामपि इति, अयमपिशब्दो भिन्नक्रमः 'विरुद्धाऽव्यभिचारी' इत्यस्य अनन्तरं द्रष्टव्यः। ततोऽयमर्थो न केवलं विरुद्धाऽव्यभिचारी किन्तु व्यभिचार्यपि। विज्ञानेर्मध्यदशायां चैतन्यविवर्ताऽनतिक्रमेऽपि सत्त्वोत्पत्तिकृतकत्वादेर्दर्शनात्।

इति इत्यादिना उपसंहारमाह–इत्येवम् अनन्तरप्रकारेण मिथ्याभिनिवेशाद् असत्याऽऽग्रहात् प्रमाणप्रमेयव्यवस्थाम् अतिलङ्घयेत् प्रमाणस्य प्रमाणत्वस्य, भावप्रधानत्वात् निर्देशस्य, व्यवस्था विशद एव अभ्रान्त एव ज्ञाने स्थितिः ताम् अतिलङ्घयेत् अतीव प्रलयं नयेत्। तथाहि–भूतेभ्योऽत्यन्तमभिन्नं चैतन्यं भिन्नं (अत्यन्तभिन्नं चैतन्यमभिन्नं) पश्यत् प्रत्यक्षं यदि प्रमाणम्; द्विचन्द्रादिज्ञानं कथं न भवेत्[3] यतो लौकिकी (कीं) प्रत्यक्षतदाभासव्यवस्थामनुसरन् लौकायतिकः स्यात्? अथ अप्रमाणम्; द्विचन्द्रादिज्ञानवत् सर्वमविशेषेण भवेद् भूतेभ्योऽभिन्नस्य स्वरूपस्य ततो भिन्नस्य सर्वेण ग्रहणात्। नहि किञ्चिद्विज्ञानम् आत्मानं रूपाद्यात्मकं प्रत्येति [4]सारूप्यनिषेधात्। तथापि तस्य तथा प्रतीतिकल्पने सर्वस्य सर्वदर्शित्वकल्पने [5]लौकायतिकं जगत् स्यात्।

किं च, तदात्मकत्वेन [२४० क] सर्वस्य ज्ञानस्य अवभासने चार्वाकचर्विता सर्वविप्रतिपत्तिः इति किं शास्त्रप्रणयनेन? नहि नीलादिकं पश्यन्तं प्रति तदुपदेशः अर्थवान्। भ्रान्तिव्यवच्छेदार्थं तदिति चेत्; न; भ्रान्तिबुद्धेरपि तदात्मकत्वेन अवभासने तदवस्थो दोषः, ततः ततोऽभिन्नस्य स्वरूपस्य भिन्नस्य ग्रहणात् किन्नामाभ्रान्तं यत् प्रत्यक्षं प्रमाणं स्यात्? भूतात्ममात्रे अभ्रान्तमिति चेत्; स्यादेतदेवं यदि [6]तन्मात्रस्य कुतश्चित्सत्त्वं प्रतीयेत, दर्शनस्य तददर्शनेन व्यभिचारात्, अत्रापि बाधकस्य दुर्लभत्वात्।

यदि तर्हि तद् भूतेभ्यो भिन्नमवभासते तथैव सत् इत्येके। तथापि तस्य ततोऽभेदे [न] कस्यचित् कुतश्चिद् भेद इति न प्रत्यक्षप्रमाणव्यवस्था तत्प्रमेयव्यवस्था वा इत्यपरे।

अपरस्य तु दर्शनम्–सत्यम्; तद्भूतेभ्यः कारणत्वेन अभिमतेभ्यो भिन्नं तथाऽवभासनात्, कार्यस्य कारणात् भेदाच्च, तथापि यथा पार्थिवतन्तुभ्यः पटो जायमानो भिन्नोऽपि पार्थिव एव तथा चैतन्यं भूतात्मकशरीराद्[7] भूतात्मकम् इति; तदसत्यम्; यतो नहि यथा रूपादित्वेन तन्तुपटयोः

(१) पक्ष एव साध्यसाधनयोर्व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिः। तुलना–"अन्तर्व्याप्तावसिद्धायां बहिरङ्गमनर्थकम्" प्रमाणसं० पृ० १११। (२) 'न' इति निरर्थकम्। (३) प्रमाणम्' इति सम्बन्धः। (४) तदाकारताविराकरणात्। (५) भूतात्ममात्रस्य। (६) आयमानं भिन्नमपि।

साधर्म्यं तथा भूतचेतनयोः,[1] अरूपादित्वात् चेतनस्य । तत्रापि तत्कल्पने न प्रत्यक्षम्[2], साधनान्तरनिषेधात् । नानुमानम्, अन्यथा 'प्रत्यक्षमेव प्रमाणं नापरम्' इति प्रमाणव्यवस्थामतिलङ्घयति सत्त्वादेः पृथिवीदृष्टान्तेन चेतते (चेतने) रूपादिमत्त्वसाधने तैत एव भूतानां प्रत्येकं तत्साधनात् प्रमेयव्यवस्थाम् अतिलङ्घयति ।

'जीवे तावत् नास्तिक्यं मिथ्यादर्शनम्' इति व्याख्यातम्, संप्रति 'अन्यत्र जीवाभिमानश्च' इत्येतद् व्याख्यातुकाम आह—[२४०ख] **तथा च** इत्यादि । ५

[तथा चात्मा गुणैः कर्त्ताऽविकार्यप्यर्थान्तरैः ।
भोक्तेति मतं मिथ्या व्यापकादेशकल्पना ॥१५॥

स्वतः प्रवर्तमानस्यैवानेकरूपस्य परोपकारसंभवात् । तद्विहाय पुनरविकारिण एव प्रयत्नादृष्टसमवायात् कर्तृत्वं पुनः सुखदुःखादिसमवायात् भोक्तृत्वमिति बन्ध्यासूनोर्विक्रमादिगुणसम्पद्वक्तुमुपक्रमते । परिणामो वस्तुलक्षणम् । तथा परो जीवस्य तत्त्वं चैतन्यसुखदुःखादिपरिणामकर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणं चेतनः पुरुषः स्वयं स्वभावतः अकर्त्ता दर्शनात् भोक्तेति विभजते । प्रतिपन्नकार्यकारणात्मनोऽचेतनस्य प्रधानस्य तद्वृत्तिरिति सुख···। स्वतः प्रवर्तमानस्यैव शरीरोपकारसंभवात् ।] १०

तथा तेनैव प्रकारेण **गुणैः** प्रयत्नाऽदृष्टादिलक्षणैः करणैः कृत्वा **आत्मा कर्त्ता** । किंभूतैः ? **अर्थान्तरैः** ततोऽत्यन्तं विभिन्नैः । किंभूतोऽपि ? इत्याह—**अविकार्यपि** अनाधेयाऽप्रहेयातिशयोऽपि **इत्येवं मतम्**[3] **मिथ्या तथा (तथा) गुणैर्बुद्ध्यादिभिः अर्थान्तरैः आत्मा अविकार्यपि** सुखाद्यनुभवरूपतया गगनवदपरिणतोऽपि **भोक्ता** इति **मिथ्या** युक्तिविरोधात् । एवं वैशेषिकादेः अन्यत्र जीवाभिमानं प्रदर्श्य सांख्यस्य दर्शयन्नाह—**भोक्ता** इत्यादि । तत्रायमर्थः—गुणैः सत्त्वरजस्तमोभिः कारणभूतैः अर्थान्तरैः प्रधानाश्रितैः आत्मा पुरुषः **भोक्ता** तदुपदर्शितानामर्थानाम् अनुभविता अविकार्यपि तत्साक्षात्करणपरिणामरहितोऽपि **इति मिथ्या** । नहि तथाऽपरिणतं तथा भवति, विप्रतिषेधात् । सदा तत्स्वभावत्वे[6] जाग्रत्सुप्ताद्यविशेषः । सति दर्शने सतो दृश्यस्य अदर्शनायोगात् । तदाविर्भावतिरोभावकल्पनापि अविकारिणो[7] न युक्ता । एतेन पुरुषान्तरबुद्ध्यर्पिताकारस्य सर्वस्य सर्वैर्दर्शनम् उक्तम् । अदृष्टं न दर्शनस्य नियामकम् एकरूपत्वात्तस्यं । नापि दृश्यस्य निःस्वभावतापत्तेः । न च समानदर्शनानां कस्यचिद् दृश्यंद्य यद्य दृष्यं (दृश्यमन्यस्याद्दृश्यं) दृष्टमिति । तथा 'भोक्तापि सन्नकर्त्ता' इति मिथ्या, भोक्तुः अकर्तृत्वविरोधात्, सकलशक्तिविरहलक्षणत्वाद् अकर्तृत्वस्यं । अधुना तयोः[11] साधारणं मिथ्यात्वं दर्शयन्नाह—**व्यापक** इत्यादि ।

(१) साधर्म्यमस्ति । (२) प्रमाणं साधकमस्ति । (३) सत्त्वादिभ्यः । (४) आत्मनः । (५) नैयायिकस्य । (६) दर्शनस्वभावत्वे । (७) कदाचिदाविर्भावः कदाचित्र तिरोभावः । (८) कूटस्थनित्यस्य पुरुषस्य सदैकरूपत्वात् । (९) अदृष्टस्य । (१०) भुजिक्रियायाः कर्तुरेव च भोक्तृत्वात् । (११) नैयायिकसांख्ययोः ।

व्यापकस्य आत्मनोऽदेशकल्पना निरंशत्वकल्पना मिथ्या तयोः विरोधात् इति निरूपयिष्यते । [२४१क] 'व्यापकादेर्विकल्पनन्त(ल्पना)'इति क्वचित् पाठः । अत्र आदिशब्देन निरंशत्वादिपरिग्रहः, सोऽपि मिथ्या ऐकत्र प्रमाणाभावाद् अन्यत्र देहाऽव्यापकत्वप्रसङ्गात् ।

स्वतः इत्यादिना कारिकार्थमाह—स्वत आत्मना प्रवर्तमानस्यैव पूर्वाकारपरिहाराऽजहद्वृत्तमुत्तरं परिणामम् अनुभवत एवानेकरूपस्य परोपकारसंभवात् परेषाम् आत्मनो भिन्नानां बुद्ध्यादीनाम् उपकारो जनम् (जननम्) अथवा परैः सहकारिभिः उपकारः अतिशयो वा तस्य (तस्य) संभवात् कारणात् तद्विहाय तत् स्वतः प्रवर्त्तमानं वस्तुमात्रमुत्पत्त्रुत्पत्स्यमानं (वस्तु मुक्त्वा) पुनरविकारिण एव कूटस्थनित्यस्यैव आत्मनो जीवस्य प्रयत्नाऽदृष्टसमवायात् सकाशात् कर्तृत्वं पुनः पश्चात् प्रयत्नाऽदृष्टाकृष्टेष्टपदार्थप्राप्त्यनन्तरं सुखदुःखादिसमवायाद् भोक्तृत्वम् इत्येवं वन्ध्यासूनो (वन्ध्यासूनो)र्विक्रमादिगुणसम्पदं वक्तुम् उपक्रमते नैयायिकः । एतदुक्तं भवति—यथा वन्ध्यासुतस्य परोपकाराऽसंभवात् न विक्रमादिगुणसंपत्कीर्त्तनं न्याय्यं तथा अविकारिणः परोपकाराऽसंभवात् प्रयत्नाऽदृष्टयोरभावात् न तत्समवायात् कर्तृत्वं न्याय्यम्, तदभावात् तत्कुतः ? सुखदुःखादिविज्ञानाऽभावात् तत्समवायाद् भोक्तृत्वमपि तादृगेव इति । प्रयत्नाऽदृष्टयोः सहवचनं तयोः कार्यकारणभावाऽभावप्रदर्शनार्थम् । परेण हि प्रयत्नविशेषाद् अदृष्टः, तस्माच्च प्रयत्नविशेष इति इष्यते । तत्र अविकारिणि एकस्याप्यनुत्पत्तौ द्वितीयाभावस्य सुलभत्वात् । दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावाऽभावप्रदर्शनार्थं वा— तेन हि प्रयत्नस्य दृष्टान्तत्वम् अदृष्टस्य दार्ष्टान्तिकत्वम् इष्यते [२४१ख] । तद्यथा—'प्रयत्नसमानधर्मेण हि देवदत्तगुणेन तदुपकारकाः पश्वादयः समाकृष्टाः कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वात् प्रासादिवत्' इति ; तत्र प्रयत्नस्य अविकारिगुणत्वनिषेधे कुत एव अदृष्टस्य [10]तद्गुणत्वम् इति ?

ननु मा भूद् वन्ध्यासूनोः अत्यन्तमसतो विक्रमादिगुणसम्यग(सम्पद्)व्यावर्णनम् आत्मनस्तु अविकारिणोऽपि सत्त्वात् कर्तृत्वादिव्यावर्णनमुपपन्नमिति चेत् ; अत्राह—वस्तु इत्यादि । वस्तुनो भावस्य लक्षणं स्वभावः । किम् ? इत्याह—परिणामः । [11]तदभावे वस्तुत्वाऽयोगात् । तल्लक्षणं वस्तुनो विहाय पुनः अविकारिण एव वस्तुलक्षणपरिणामरहितस्यैव अवस्तुन एव इत्यर्थः, लक्षणनिवृत्त्या लक्ष्यनिवृत्तेरवश्यंभावात् । शेषं पूर्ववत् ।

एवं नैयायिकमतं निराकृत्य कापिलमतं निराकुर्वन्नाह—तथा इत्यादि । तथा तेन प्रकारेण परः सांख्यः जीवस्य आत्मनः तत्त्वं स्वरूपं चैतन्यसुखदुःखादिपरिणाम कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणं विभजते विलभते । किं गजे व (किं वत्) कथम् ? इत्याह—प्रतिपक्ष इत्यादि । प्रतिपक्षः कथञ्चिद्भेदेन आत्मसात्कृतः कार्यस्य उत्तरोत्तरस्य महदादेः कारणस्य पूर्वपूर्वस्य आत्म-

(१) व्यापकत्व-निरंशत्वयोः । (२) सर्वगतत्वपक्षे । (३) निरंशत्वे । (४) परकृतस्य उपकारस्य आधानायोगात् । (५) तत्तल्लक्षणकर्तृत्वाभावात् परोपकारः कुतः । (६) आत्मनः । (७) नैयायिकेन । (८) अदृष्टेन । (९) "देवदत्तविशेषगुणप्रेरितभूतकार्याः तदुपगृहीताश्च शरीरादयः कार्यत्वे सति तदुपभोगसाधनत्वात् गृहवदिति ।"—प्रश० किरणा० पृ० १४९ । (१०) अविकार्यात्मगुणत्वम् । (११) परिणामाभावे ।

(आत्मा) स्वभावो येन तस्य । कस्य ? इत्याह–**प्रधानस्य**[1] । किं भूतस्य ? इत्याह **अचेतनस्य** इति । **तस्य सुखदुःखादि (देः) वृत्तिः तत्परिणतिः इति** । 'प्रतिपन्न' इत्यादिना प्रधानवद् यदि पुरुषस्यापि प्रतिपन्नकार्यकारणात्मता[2] को दोषः स्याद् येन [3]तस्य अविकारित्वं कल्प्यते ? न च दोषमन्तरेण तत्त्यागः अप्रेक्षाकारितापत्तेः । स्यात् प्रत्यक्षादि वा वा (बाधा) दोषो यदि अविकार्यस्या (र्यत्वमस्य) प्रतीयेते (येत) [२४२क] दर्शयति 'सुख' इत्यादिना कृतोत्तरत्वम् । कृतोत्तरं चेतत्–*"**स्यात्पर्यायः पृथिव्यादेः**" [सिद्धिवि० ४।१४] इत्यादिना ।

ननु स्यादेवं यदि चेतनाः सुखादयः सिद्धाः स्युः, न चैवमिति चेत् ; कथं पुरुषः चेतनः ? अभ्युपगमात्, सोऽयम्[4] अन्यस्य सुखादावपि । न चास्य[5] स्वपरसम्बन्धित्वकृतो विशेषः; तदकिञ्चित्करत्वात् । एतेन 'आगमात्' इति चिन्तितम्[6] । यदि पुनः स्वयम् आत्मनो ग्रहणात्[7] स चेतनः; सुखादिरपि स्यात् । नहि तस्यापि पर एव साक्षात्कारी कश्चित् । पुरुष इति चेत् ; तस्यापि तथा अन्यकल्पने अनवस्थितिः । अपरस्याऽदर्शनम् उभयत्र । अचेतनप्रधानपरिणामत्वात् पृथिव्यादिवद् अस्वग्रहणात्मकाः सुखादयः[8] ; प्रत्यक्षेण पक्षबाधनं शब्दाऽश्रावणत्ववत् । कथं वा तत्परिणामाः ते[9] इत्यपि चिन्त्यम् । अनात्मग्रहणात्[10] ; अन्योऽन्यसंश्रयः[11] । उत्पत्त्यन्यत्वादेः (उत्पत्तिमत्त्वादेः) घटादिवदचेतनाः सुखादय इत्येके ; तत्र (तन्न ;) सत्त्वात्[12] तद्वत् पुरुषोऽप्यचेतनः स्यात् । तत्र यथा सत्त्वाऽविशेषेऽपि किञ्चित् चेतनम्, अपरम्[13] [14]अन्यथा, तथा उत्पत्त्याद्य (उत्पत्तिमत्त्वाद्य) विशेषेऽपि स्यात् । अत्र अन्ये हेतोः असिद्धतामुद्भावयन्ति ; तन्न ; अन्यथाभावस्य उत्पत्त्यादिव्यपदेशात्, तस्य सांख्यैरपि अङ्गीकरणात् अन्यस्य तद्व्यपदेशार्हस्य प्रमाणतः सौगतस्यापि असिद्धेः । ततः सुखादेः चेतनत्ववत् चेतनपरिणामत्वमुक्तमिति मन्यते । **चेतनः पुरुषः स्वयम्** आत्मना **अकर्त्ता** केवलं प्रधानकर्तृत्वारोपाद् उपचारेण कर्त्ता इत्युच्यते इति **'स्वयम्'** इत्यनेन दर्शयति, **स्वभावतः** स्वरूपतः न उपचारतः । **दर्शनाद्** दर्शितविषयस्य साक्षात्करणाद् **भोक्ता इत्येवं जीवस्य तत्त्वं विभजते** । एवं मन्यते भोक्तृत्ववत् [२४२ ख] कर्तृत्वमपि बुद्धिपूर्वं चेतनस्यैव युक्तं नेतरस्य ; अन्यथा [15]तत एव सकलपुरुषार्थसिद्धेः पुरुषकल्पना कमर्थं पुष्णाति ।

स्वत इत्यादिनैव **'व्यापको देश (कादेश)कल्पना मिथ्या'** इति च व्याख्यातम् । तथाहि–**स्वत** आत्मना **प्रवर्त्तमानस्यैव** युगपत् सर्वशरीरावयवान् स्वावयवैः व्याप्नुवतः **परस्य शरीरो(शरीरस्य उ)पकारो** धारणादिः तस्य **संभवान्न** निश्चा (वात् मिथ्या अ) **देशस्य**[16] सौगतकल्पिताविभागचित्तवद् इति । एतच्च चूर्णौ लघ्वादे ([17]लटादेः) जीवसिद्धौ [18]शास्त्रकृता चिन्तितम् अवधार्यम् । एतदपि कुतः इत्याह–**अवस्तु (वस्तु) लक्षणम्** इत्यादि । **[परिणामः]** सह क्रमेण वा अन्यथाभावो भावलक्षणम् । शेषं पूर्ववत् ।

---

(१) प्रकृतितत्त्वस्य । (२) स्वीक्रियेत । (३) पुरुषस्य । (४) जैनस्य । (५) अभ्युपगमस्य । (६) जैनागमे सुखादेश्चेतनत्ववर्णनात् । (७) पुरुषः । (८) इति चेत् । (९) सुखादयः । (१०) आत्मनाऽग्रहणात् । (११) सति सुखादेः आत्मनाऽग्रहणे अचेतनप्रधानपरिणामसिद्धिः, तत्सिद्धौ च अनात्मग्रहणसिद्धिरिति । (१२) पृथिव्यादिवत् । (१३) पृथिव्यादि । (१४) अचेतनम् । (१५) बुद्धिमतः प्रधानादेव । (१६) निरंशस्य । (१७) लटपिपीलिकादेः त्रसजीवस्य । (१८) अकलङ्कदेवेन ।

ननु यथा चरमक्षणः अनर्थक्रियाकार्यपि परार्थक्रियाकारिसाम्यात् [सन्] तथा आत्मापि स्यात्; तन्न युक्तं 'तद्विहाय' इत्यादि इति सांख्य-यौगाः; तत्राह—**अन्त्य** इत्यादि ।

[अन्त्यचित्तक्षणेवात्मा भावश्चेत् कारको यतः ।
स्यादभावस्ततस्तद्वदभावेनाविशेषतः॥१६॥

५ **नित्यस्यात्मनः अन्त्यबुद्धिक्षणस्य च स्वयमकिञ्चित्करस्यानर्थक्रियाकारिणः कुतश्चित्कारकादिसाधर्म्याद् वस्तुत्वे पुनः अकारकत्वादेव व्यक्तमवस्तुत्वम् अवस्तुसाधर्म्यात् ।]**

अन्त (अन्त्य) इचासौ **चित्तक्षणश्च** स **इव आत्मा** पुरुषोऽकारकः कार्यमकुर्वन् **भावो** वस्तु **स्याद्** भवेत् । कुतः ? **कारको यतः**, अन्येन कारकेण समानधर्मा **यतः** । **चेत्** शब्दः पराभिप्रायद्योतकः । अत्र दूषणमाह—**अभावस्वच्छः (अभावस्तुच्छः) स्यात्**
१० **'आत्मा'** इति सम्बन्धः । **ततः [तद्वत्]** अन्त्यचित्तक्षणाद् (णवद्) **अभावेन** नीरूपत्वेन **अविशेषतो** विशेषाऽभावात्, जैनान् प्रति साध्यसमो दृष्टान्त इति मन्यते ।

दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकौ एकेन तलप्रहारेण अपहस्तयन्नाह—**नित्य** इत्यादि । **नित्यस्य** अविकारिण **आत्मनः अन्त्यबुद्धिक्षणस्य** सौगतकल्पितस्य च इति समुच्चये । **स्वयं न किञ्चित्करस्य अनर्थक्रियाकारिणः कुतश्चिद् वस्तुत्वे** अङ्गीक्रियमाणे । कुतः कुतश्चिद् ? इत्याह—
१५ **कारकसाधर्म्याद्** [२४२क] इति । कारकेण साधर्म्यात् ज्ञेयत्वादिलक्षणाद् आदिशब्देन वस्तुत्वादिपरिग्रहः ।

ननु ज्ञेयत्वं स्वविषयज्ञानजनकत्वम्, अतः तच्चेत् तस्यास्ति; **'स्वयम् अकिञ्चित्करस्य'** इति विरुध्यते । वस्तुत्वादिसाधर्म्याच्च वस्तुत्वसाधने तदेव साधनं साध्यं च प्रसक्तम् । तत्र ज्ञेयत्वादिभावे व (च) यद्वक्ष्यति—**'अवस्तुसाधर्म्यात्'** इति; तदपि न सङ्गतम्, खरशृङ्गा-
२० दिना साधर्म्याभावादिति चेत्; न; अन्यथाऽभिप्रायात् । तद्यथा, यथाहि—परेण[1] अन्त्यचित्तक्षणस्य आत्मनो वा स्वयमकिञ्चित्करस्यापि वस्तुत्वं साध्यते कारि(र)काभिमतवत् केनचिद् उभयत्र विद्यमानेन धर्मेण, तदा हेतोरस्य असिद्धतोद्भावनार्थमाह—**पुनः** इत्यादि । **पुनः** अस्य प्रयोगस्य अनन्तरम् **अकारण (क) त्वादेव** कारकसाधर्म्याऽभावादेव न हेत्वन्तरात् इति एवकारार्थः । न हि स्वयमकिञ्चित्करस्य केनापि धर्मेण कारकसादृश्यं सदपि ज्ञातुं शक्यम्, तद्धर्म-
२५ ज्ञानोपायाऽसंभवात् । ततः किम् ? इत्याह—**व्यक्तं** यथा भवति तथा **अवस्तुत्वम्** वस्तुत्वसाधनाभावः प्रकृतस्य[2] इति । इदं तु निश्चितं स्याद् इत्याह—**अवस्तु** इत्यादि । **अवस्तुना** खरविषाणेन **साधर्म्याद्** अकिञ्चित्करत्वसादृश्यात् **व्यक्तमवस्तुत्वं** निःस्वभावत्वम् । यदा परोऽकिञ्चित्करस्यास्य[3] वस्तुत्वसाधने कल्पितं कारकसाधर्म्यमिच्छति तदा अकारकत्वादेव इत्यादि प्रतिप्रमाणमुच्यते ।

३० अन्त्यचित्तक्षणस्य अकिञ्चित्करस्य अवस्तुसाधर्म्यादि (द) वस्तुत्वे साध्ये अकारकत्वादेव इत्यस्य हेतोः परोपगतेन न्यायेन साध्याव्यभिचारं दर्शयन्नाह—**सत्ताम्** इत्यादि ।

---

(१) ज्ञेयत्वं । (२) नैयायिक-सौगतादिना । (३) आत्मनः । (४) अन्त्यचित्तक्षणस्य ।

[सत्तां व्याप्नोति चेत्कार्यसत्तैवार्थक्रिया स्वयम् ।
क्रमाक्रमाभ्यां कूटस्थात् स्वनिवृत्तौ निवर्तयेत् ॥१८॥

तत्सत्ताव्यतिरेकेण नार्थक्रियां प्रेक्षामहे । सा पुनः क्रमयौगपद्याभ्यां वस्तुसत्तां व्याप्नुयात् अन्त्यचित्तक्षणात् नित्याद्वा स्वयं व्यावर्तमाना तत्सत्तां निवर्तयेत् । अव्यापक-व्यावृत्तौ व्यावृत्त्यनियमात् । सा च···कथमव्यभिचारी सत्त्वादिहेतुः यतः क्षणिकमेव ५ परमार्थसत् सिध्येत् ।]

सत्तां विद्यमानतां [२४३ख] **व्याप्नोति चेत्** यदि । किम् ? इत्याह—**अर्थक्रिया स्वयम्** आत्मना । काऽसौ अर्थक्रिया ? इत्याह—**कार्यसत्तैव** तत्का (तत्क) रणसामर्थ्यम् , अस्य निरूपयिष्यमाणत्वात् । साऽपि अर्थक्रिया **क्रमाक्रमाभ्यां** व्याप्ता, '**चेद्**' इत्यनुवर्त्तते, '**व्याप्नोति**' इत्यस्य कर्तृप्र (त्र) त्ययपरिणामस्य अत्र सम्बन्धः । **कूटस्थाद्** अचलात् नित्यात् **स्वनिवृत्तौ** १० **सत्तां निवर्त्तयेद् अर्थक्रिया चेत्** । अथवा 'क्रमाऽक्रमौ स्वनिवृत्तौ निवर्त्तयतः' इति वचन-परिणामेन सम्बन्धः 'अर्थक्रियाम्' इति तां (इमूं) विभक्तिपरिणामेन । नहि अन्त्यचित्तक्षणस्य अकारकत्वादेव 'अवस्तुसाधर्म्याद् व्यक्तमवस्तुत्वम्' इति घटना ।

ननु अन्त्यचित्तक्षणो यद्यपि सजातीयं कार्यं न करोति, न चापि (तथापि) विजातीयस्य विषयविज्ञानादेः करणात् नाऽसिद्धो मदीयो हेतुः, भवदीय एव अकारकत्वादेव इत्यसिद्ध इति १५ चेत् ; एतच्चोद्यपरिहारपुरस्सरं न परमातरी (?) इति गम्यते । **तस्य सत्ता** स्वोत्तरपरिणाम-सद्भावः तस्या **व्यतिरेकः** अभावः तेन **ताम** (स्वसत्ताम) न्तरेण इत्यर्थः । **नार्थक्रियां** विजा-तीयकरणं **प्रेक्षामहे** अपि तु तयाँ सहैव प्रेक्षामहे । एवं मन्यते यथा शिशपायाः क्वचिद् वृक्ष-स्वभावतामुपलभ्य देशान्तरादावपि तत्स्वभावता, अन्यथा निःस्वभावतापत्तेः, व्यवस्थाप्यते, तथा तत एव भावस्य बहुलं सजातीयेतरकार्यजननसामर्थ्यस्वभावता (ता) दर्शनात् सर्वदा सा २० किन्न व्यवस्थाप्यते विशेषाभावात् ? इतरथा सर्वानुमानोच्छेदः ।

ननु भवतु तत्स्वभावता, तथापि सजातीयं न करिष्यति इति चेत् ; विरुद्धमेतत् [२४४क] 'समर्थं न करोति च' इति नित्यवत् । उपादानवच्च उपादेयस्याऽपि अदृश्यताविरोधात् । अथ कार्यसत्तया (अथ न कार्यसत्तया) भावसत्ता व्याप्ता ततो विजातीयकार्यासद्भावेऽपि सा न विरुध्यते । कुत एतत् ? तथादर्शनात्, तदितरत्र समानम् । यदि बन्धः (यदि पुनरयं निर्बन्धः) सजातीया- २५ करणेऽपि विजातीयकरणम् इति; तथा विजातीयाऽकरणेऽपि सजातीयकरणशङ्कया भाव्यमिति न निरारेका सुगतस्य इतरस्य वा सर्वज्ञता[१०] नाम ? कथञ्चैवंवादिनां सामग्री जनिका ? यतः *"एकसामग्र्यधीनस्य" [प्र०वा० ३।१८] इत्यादि सुघटं स्यात्[११] । तस्माद् विजातीयवत् सजातीयस्यापि करणमस्तु इति ।

---

(१) व्याप्नोति इति क्रिया कृदन्तप्रत्ययान्ता 'व्याप्ता' इति रूपं प्राप्ता अत्र सम्बध्यते । (२) द्विवचन । (३) 'ता' इति षष्ठीविभक्तेः संज्ञा । (४) अत्र तु 'अर्थक्रियाम्' इति द्वितीयान्तं सम्बध्यते । (५) अत्र पाठः त्रुटितः । (६) सत्तया । (७) पुरःस्थिते । (८) सजातीयेतरकरणस्वभावता । (९) भाव-सत्ता । (१०) सर्वेऽर्थाः सजातीयमेव उत्तरक्षणं कुर्वन्तु न सर्वज्ञचित्तं विजातीयमिति भावः । (११) तत्र हि सजातीयमुत्तरक्षणं जनयित्वैव विजातीयं क्षणं प्रति सहकारिभावकल्पनेनैव निर्वाहः ।

भवतु एवं ततः किम् ? इत्यत्राह–सा अनन्तरोक्ता पुनः अर्थक्रिया वस्तुसत्तां चेद् व्याप्नुयात् । केन प्रकारेण सा ? इत्यत्राह–क्रमयौगपद्याभ्याम् इति । ततः किम् ? इत्याह–व्यावर्त्तमाना अर्थक्रिया अन्त्यचित्तक्षणात् नित्याद्वा तयोः सत्तां निवर्त्तयेत् । कुत एतत् ? इत्यत्राह–स्वयम् आत्मना, अव्यापकस्य व्यावृत्तौ सत्यां व्यावृत्तेः अनियमाद् अवश्यंभावाऽभावाद् 'अव्याप्यस्य' इति शेषः ।

स्यान्मतम्–व्यावर्त्तताम् अन्त्यचित्तक्षणाद् अर्थक्रिया तथापि सत्ता न निवर्त्तते अप्रतिबन्धात्[1] इति चेत् ; अत्राह–सा च इत्यादि । कथम् अव्यभिचारी न कथञ्चित् हेतुः सत्त्वादिः अनर्थक्रियाकारिणि नित्येऽपि तद्भावाऽनिवारणादिति मन्यते । यतः व्यभिचारित्वात् क्षणिकमेव परयार्थसत् सिध्येत् ।

ननु न कार्यसत्तया वस्तुसत्ता व्याप्ता यतः तन्निवृत्तौ[2] साऽपि निवर्त्तेत अपि तु तज्जननसामर्थ्येन, तच्च सहकारि [२४४]वैकल्यात्[3] चरमक्षणस्य अस्ति इति नाऽसत्त्वमिति चेत् ; अत्राह–सामग्री इत्यादि ।

[सामग्री कारणं नैकं शक्तानां शक्तिमान् यदि ।
सामग्रीं प्राप्य नित्योऽर्थः करोत्येवं न किं पुनः ॥१९॥

नार्थक्रिया निवर्तमाना वस्तुसत्तां निवर्तयति, तत्सामर्थ्यं पुनरन्त्यक्षणस्यास्ति, न करोति सामग्रीवैकल्यात् । समर्थसादृश्यादित्ययुक्तम् ; नित्यस्यापि सर्वदा सामर्थ्येऽपि सामग्रीसाकल्यवैकल्याभ्यां कार्यकरणाकरणप्रसङ्गात् । विशेषतः पुनः नित्योऽर्थः संभवसामग्रीसन्निधिः करोत्यपि न पुनरन्त्यक्षणः सर्वथाऽभावात् । सहकारिसन्निधौ च स्वतः कथञ्चित्प्रवृत्तिरेव भावलक्षणम् । तन्नागमो युक्तिबाधने समर्थम् व्यासेरसिद्धेः ।]

शक्तानां गुणकार्योत्पत्तिं प्रति समर्थानां सहकारि-उपादानहेतूनां या सामग्री समग्रता मेव (सैव) कारणं कार्यजनिका इत्यर्थः, न तेषां मध्ये एकां (एकं) कारणम्[4] इति । चरमश्च क्षण एक इति परो मन्यते । तदभिप्रायद्योतनो यदिशब्दः । अस्य उत्तरं पठति–शक्तिमान् इत्यादि । शक्तिमान् सदा समर्थः सामग्रीं प्राप्य नित्योऽर्थः आत्मा अन्यो वा करोति एवं न [किं] पुनः । एतदुक्तं भवति–येथा क्षणिकं वस्तु चरमदशायां समर्थमपि सामग्रीविकल्पात् (वैकल्यात्) कार्याणि न सम्पादयति अन्यदा तु विपर्ययात् संपादयति तथा अक्षणमपि (अक्षणिकमपि) सर्वदा समर्थमपि सामग्रीवेलायां करोति नान्यदा इति ।

कारिकां व्याख्यातुमाह–नार्थक्रिया इत्यादि । न अर्थक्रिया कार्यसत्ता निवर्त्तमाना वस्तुसत्तां निवर्त्तयति तस्याः तेनव्याप्तेः (तयाऽव्याप्तेः) इति भावः । तत्सामर्थ्यम् पुनः इति सौष्ठवे अन्त्यक्षणस्य अस्ति । कार्यं कस्मान्न करोति इति चेत् ? आह–सामग्रीवैकल्यात्

(१) अर्थक्रियासत्तयोरविनाभावाभावात् । (२) कार्यनिवृत्तौ । (३) वस्तुसत्तापि । (४) तज्जननसामर्थ्यम् । (५) कार्याकरणेऽपि । (६) कार्यजनकम् । (७) उपान्त्यक्षणादौ । (८) अर्थक्रियायाः । (९) वस्तुसत्तया ।

सहकारिप्रत्ययवैधुर्य्यात् । कार्याकरणेऽपि 'अस्ति' इति कुतोऽवगम्यते इति चेत् ? आह–**समर्थम्** इत्यादि । येन कार्यं कृतं तद् इह समर्थं गृह्यते, अन्यस्य साध्यसमत्वात्, तेन **तत्सादृश्यात्** कस्यचिद् आकारस्य उभयत्र सद्भावात् । विवेचयन्ति हि लौकिकाः कृतमरणकार्येण सादृश्याद् विशेषेण (विषेण अ) परमपि[1] तत्समर्थमिति । तत्रोत्तरमाह–**इत्ययुक्तम्** । कुतः ? इत्याह– **नित्यस्यापि** न केवलं क्षणिकस्य **सामग्रीसाकल्या** (साकल्यवैकल्या) भ्यां **कार्यकरणाऽकरण-** ५ **प्रसङ्गात्** । [२४५क] कस्मिन् सत्यपि ? इत्याह–**सामर्थ्येऽपि** । कदा ? इत्याह–**सर्वदा** इति । चरमक्षणादस्य विशेषमपि दर्शयति–**विशेषत** इत्यादिना । विशेषः (विशेषतः) तत्क्षणाद् अतिशयेन, **पुनः** इति अतिशयभावनायाम् **नित्योऽर्थः करोति अपि**, न केवलं न करोति । किं भूतः ? इत्याह–**संभवात्(संभव)सामग्रीसन्निधिः** । संभवात् (वा) **सामग्रीसन्निधिः** अ- [स्ये] ति **संभवछेनैतदब्देन** (संभवसामग्रीसन्निधिः इति शब्देन) एतदर्शयति । यद्यपि १० सहकारिणा तस्य न किञ्चित् क्रियते, तथाप्यसौ तस्य संभवति सहभूय कार्यकरणात् क्षणिकपक्षवदिति ।

ननु तथा अन्त्यक्षणोऽपि करोति इति न तस्मादस्य[2] विशेष इति चेत्; अत्राह–**न पुनः नैव अन्त्यक्षणः** करोति **'अपि'** इति सम्बन्धः । कुतः ? इत्याह–**सर्वथा** सामस्त्यप्रकारेण न पुनः कार्यकाले **[अ] भावात्** । न च असन् कार्यजन्मनि व्याप्रियते, इतरथा चिरमृतादपि साक्षात् १५ शरीरे प्रणादिप्रसव इत्याशङ्कायां चित्तक्षणसन्तानात्मनापि न सात्मकत्वं जीवच्छरीरे स्यात् । यदि पुनः [स्व] काले सत् कार्यकृदिष्यते; तदपि न सुन्दरम्; यतः पूर्वं तत्समर्थेऽपि पश्चात् कार्यभावे न नित्यार्थनिषेधैः[3], तथा ग्राह्यग्राहकभावस्यापि अनिवारणात् । तदने[न] तस्य परत्रापि न व्यापार इति तदपि गतम् यत् पिञ्जने लग्नम् इति परस्य दर्शितं भवति ।

ननु चरमः अन्यो वा क्षणस्थायी भावः कार्यं कुर्वन् उपलभ्यते, न पुनः नित्योऽर्थः तत्कथं २० तस्मादस्य[4] विशेष इति चेत् ? अत्राह–**सहकारिण** इत्यादि । विसदृशकार्यजन्मनि यः **सहकारी** तस्य **सन्निवाव[5] सन्निधौ च स्वतः** स्वरूपेण **कथञ्चित्** न सर्वात्मना **प्रवृत्तिरेव** उत्तराकारेण गमनमेव **भावलक्षणं** [२४५ख] वस्तुरूपं 'तथैव दर्शनात्' इति मन्यते । तदेवम् अन्त्यचित्तक्षणस्य अवस्तुत्वे साधिते साधूक्तम्–**'अन्त्यचित्तक्षणो वात्मा'** इत्यादि ।

स्यान्मतम्[6]– *"**अकर्त्ता निर्गुणः शुद्धो भोक्ता सन्नात्मागमे**" यथा ते तस्यैव निषेधे २५ शास्त्रविरोधः, न च शास्त्रमनेन न्यायेन बाध्यते (बाध्यते) भिन्नविषयत्वात् । तदुक्तम्–

---

(१) विषम् । (२) नित्यस्य । (३) तत्रापि पूर्वं सामर्थ्येऽपि यथासहकारिसन्निपातं कार्योत्पादात् । (४) नित्यस्य । (५) 'सन्निवाव' इति व्यर्थमत्र । (६) उद्धृतोऽयम्–"अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः । अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कापिलदर्शने ॥" –स्या० म० पृ० १८५। षड्द० बृह० पृ० ४१ । "अकर्ता निर्गुणो भोक्ता आत्मा सांख्यनिदर्शने ।"–सूत्रकृ० टी० पृ० २१ । "अकर्ता निर्गुणः शुद्धः" –न्यायकुसु० पृ० ११२ । यशः उ० पृ० २५० । "अकर्ता निर्गुणः शुद्धो नित्यः सर्वगतोऽक्रियः । अमूर्तश्चेतनो भोक्ता आत्मा कापिलशासने ॥"–आत्मानुशा० ति० श्लो० १३७। तुलना–"तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य । कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥"–सांख्यका० १९ ।

*"अतीन्द्रियानसंवेद्यात् यस्यान्त्या(द्यान्पश्यन्त्या)र्षेण चक्षुषा ।
ये भावान् वव (वचनं तेषां) नानुमानेन बाध्यते ॥"

[वाक्यप० १।३८] इति ।

तत्राह–तत्र इत्यादि । तदवस्तुभूतापरिणाम्यात्मप्रतिपादकशास्त्रम् आगमः न युक्तेः अनन्तरोक्तायाः बाधने निराकरणे समर्थम् अपि तु सैव तद्बाधने समर्था, अतीन्द्रियेऽपि तस्यां [अ]प्रतिहतप्रसरत्वात् । व्याप्तेरसिद्धेः कथमन्यथा अनुमानप्रवृत्तिरिति मन्यते । यदि वा, तथाविधा(धा)त्मप्रतिपत्तिं विदव(ध)च्छास्त्रं तद्बाधने समर्थं न सत्तामात्रेण अतिप्रसङ्गात् । तत्प्रतिपत्तिश्च न प्रधाने अचेतने घटादिवत् करोति । नापि पुंसि तद्विकारशून्ये परोक्षे च सौ सत्यपि कमर्थं पुष्णाति ? स्वसंविदिते पुनः प्रतिप्राणि सर्वेषाम् आत्मना(नां) स्वसंवेदनाध्यक्षसिद्धत्वात् किं शास्त्रं करिष्यति ? न चाऽविकारिणि भ्रान्तिः, यौ तेन अपनीयते ।

एतेन पुरुषाद्वैतनिषेधेऽपि न शास्त्रं तद्बाधनसमर्थमिति निरूपितम् । ततः स्थितम्–'तत्र' इत्यादि ।

ननु यदि कथञ्चित् प्रवृत्तिरेवं भावलक्षणम् सा प्रधाने अस्ति इति तद्वस्तु, ततो नेतरवत् साङ्ख्यः एकान्तेन दूषितः स्यात् , तत्र च भेदानां परिमाणादेः साधनस्यं भावात् न तदभावाशङ्कापि युक्तेति चेत् ; अत्राह–'**अस्ति प्रधानम् इत्यत्र**' इत्यादि । [२४६क]

**[अस्ति प्रधानमित्यत्र भेदानामन्वयादयः ।
अन्यथैवोपपद्येरन् एकान्ते भावधर्मवत् ॥२०॥**

भेदानामेककारणपूर्वकत्वे साध्ये वैश्वरूप्यकारणभावात् विरुद्धा एव नित्यादिवत्, विश्वरूपादिकारणानां परिणाम एव संभवात् । स्वयमेकस्यात्मनः पुनरेकस्वभावस्य विश्वरूपाद्यनभ्युपगमात् । सामान्यविशेषात्मनां विकाराणां स्वभावानुरूपोत्पत्त्यविप्रतिषेधात् । न वै कारणसामान्यवचनेऽपि चिच्छक्तेः सहकारिकारणम् अपरिणामित्वात् । नन्वेवं सति शेषो भावः प्रसज्येत ।]

अस्ति प्रधानमित्यत्र साध्ये **भेदानां** महदादीनाम् **अन्वयः** अनुगमनम् **आदिः** येषां परिमाणादीनां ते अन्वयादयः परेण उच्यमाना हेतवः । कथम्भूताः ? इत्याह–**अन्यथा** साध्याभावप्रकारेणैव उपपद्येरन् मनागपि तद्भावप्रकारेण नोपपद्येरन् ततो नाऽनैकान्तिकाः किन्तु विरुद्धा एव इत्येवकारार्थः । अत्र दृष्टान्तमाह–**एकान्ते** नित्यक्षणिकैकान्ते साध्ये **भावधर्मवत्** भावः सत्त्वम्, उपलक्षणमेतत् , तेन कृतकत्वादिपरिग्रहः, स एव धर्मः पराश्रितत्वात् तेन तुल्यं वर्त्तते इति तद्वत् । स्वयम् 'अस्ति सर्वज्ञः' इति धर्मिणः सत्ताप्रसाधनात् तत्साधनदोषो नोद्भावितः स्वमतसिद्ध्यनुकूलत्वादि [ति] विरुद्धतैव आविष्कृता ।

---

(१) 'उक्तं च भर्तृहरिणा'–सम्मति० टी० पृ० ७५३। (२) युक्तिः । (३) युक्तेः । (४) प्रतिपत्तिः । (५) भ्रान्तिः । (६) युक्तिबाधन । (७) उत्तरपर्यायप्रवृत्तिः । (८) "भेदानां परिमाणात् समन्वयादशक्तितः प्रवृत्तेश्च । कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य ॥"–सांख्यका० १५ । (९) साधनाभावाशङ्का । (१०) साङ्ख्येव ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–एककारणपूर्वकत्वे इत्यादि । एकम् अद्वितीयं यत् कारणं प्रधानाख्यं तत्पूर्वकत्वे तन्निमित्तत्वे साध्ये । केषाम् ? भेदानां महदादीनाम् ।

ननु कारिकायाम् 'अस्ति प्रधानम्' इति अन्यत् साध्यं निर्दिष्टम् , वृत्तौ तु 'भेदानाम् एककारणपूर्वकत्वम्' अन्यदिति कथं वृत्तिसूत्रयोः साङ्गत्यम् ? सूत्रानुरूपया च वृत्त्या भवितव्यमिति चेत् ; अत्र केचित् परिहारमाहुः–प्रधानधर्मिणः सत्तासाधने भावाऽभावोभयधर्माणाम् (१) असिद्ध-विरुद्ध-अनैकान्तिकमिति दोषदर्शनात् , एवंसाध्यान्तरकरणेऽपि विरुद्धतादोष इति प्रतिपादनार्थमेवं वचनमिति; तैः 'एककारणपूर्वकत्वे' इत्यत्र अपिशब्दो द्रष्टव्यः, न केवलम् 'अस्ति प्रधानम्' इत्यत्र अपि तु तत्पूर्वकत्वेऽपि विरुद्धा एव इति अर्थप्रतिपत्तिर्यथा स्यादिति तथा सूत्रेऽपि 'अस्ति प्रधानम्' इत्येतद् [२४६ख] उपलक्षणत्वेन व्याख्येयम् , कथमन्यथा तदसाङ्गत्यपरिहारः ? १०

इदमपरं व्याख्यानम्–'एककारणम्' इति प्रधानस्य अपरमत्व(त्वा)र्थकमभिधानम् , तच्च तत् महदादिभ्यः पूर्वं भावात् पूर्वकं चेति तस्य भावे तत्त्वे साध्ये इति । पूर्वव्याख्याने 'भेदानाम्' इत्येतत् पूर्ववद् उत्तरत्रापि सम्बध्यते । अस्मिन् उत्तरत्रैव भेदानां महदादीनां वैश्वरूप्यकारणभावात् ननु विरुद्धा एव इति । निदर्शनमाह–नित्यादि । कुतः ? इत्याह–परिणाम एव संभवाद् इति । स्वगुणपर्यायैर्न परगुणपर्यायैः भावः परिणामः तत्रैव संभवात् १५ वैश्वरूप्यकार्यकारणत्व पादी (त्वादी)नाम् इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । एतदपि कुतः ? इत्यत्राह–विश्वरूपादिकारणानाम् इति । रूपम् आदि रसादेः असौ रूपादिः, विश्वो निरवशेषो पादः (रूपादिः) [न] नैयायिकमतवद् विकलो रूपादिर्येषां पुद्गलद्रव्याभिमतकारणानाम् *"रूपरसगन्धस्पर्शवन्तः पुद्गलाः" [त० सू० ५।२३] इति वचनात् , तेषां विश्वरूपादिकारणानां 'परिणाम एव संभवात्' इत्यनुवर्त्तते । एतदुक्तं भवति– २०

*"प्रकृतेर्महान् ततोऽहङ्कारः तस्माद् गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥"

[सांख्यका० २१]

इति वचनात् यथा भूतानि रूपादिमन्ति तथा तत्कारणानि पञ्च तन्मात्राभिमतानि , एवं तावदुक्तव्यम्–यावत् प्रकृतिः , विजातीयात् कार्यानुत्पत्तेः इति । 'कारणानाम्' इत्यनेन २५ प्रधानस्य पुद्गलापरनाम्नो विशेषापेक्षया बहुत्वं दर्शयति । तदपि कुतः एतत् ? इत्यत्राह–स्वयमे-

(१) व्याख्याकाराः । (२) प्रधानात्मकधर्मिणः । (३) भावसाधने असिद्धः, अभावे विरुद्धः उभयधर्मे च अनैकान्तिकः । "नासिद्धे भावधर्मोऽस्ति व्यभिचार्युभयाश्रयः । धर्मो विरुद्धोऽभावस्य सा सत्ता साध्यते कथम् ॥"–प्र० वा० ३।१९० । (४) न विद्यते परमं द्वितीयं यस्य तस्य भावस्तत्त्वम् अपरमत्वम्, तद् अर्थो यस्येति अपरमत्वार्थकम् , एकमेव प्रधानं न द्वितीयमित्यर्थः । (५) यथा नैयायिकमते अग्नौ रसगन्धौ जले गन्धः वायौ च रूपरसगन्धा न स्वीक्रियन्ते न तथा अत्र विकलत्वम् । (६)"स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः"–त० सू० । (७) रूपरसगन्धस्पर्शशब्दाः तन्मात्राः । (८) मूलकारणभूता । (९) कार्यापेक्षया ।

कस्य इत्यादि । स्वयं सांख्येन विश्वं [२४७ क] संपूर्णं रूपादि यस्य पृथिव्यादिकार्यस्य तत् तथोक्तं तस्य अनभ्युपगमात् । कस्य सम्बन्धिनः ? इत्याह–आत्मनः पुरुषस्य । पुनः इति पक्षान्तरद्योतने । किम्भूतस्य ? इत्याह–एकस्वभावस्य । एकः चेतनालक्षणो न रूपादिलक्षणः स्वभावो यस्य तस्य इति । एवं मन्यते–यथा पुरुषस्य रूपादिरदृष्टस्य न रूपादिमत्कार्यं तथा अन्यस्या पातरवा (पि, इतरथा) पुरुषस्यैव तदिति किं तत्त्वान्तरकल्पनयेति । पुनरपि किंभूतस्य ? इत्यत्राह– एकस्य [एक] संख्योपेतस्य । इदमत्र तात्पर्यम्–यथा तस्यैं देशकालस्वभावभिन्नम् अनेकं रूपादिमद् उपादेयमयुक्तं तथा एकस्य प्रधानस्य इति । इतश्च विश्वरूपादिकरणानां तत्रैव संभव इति दर्शयन्नाह–विकाराणाम् इत्यादि । विकाराणां विशिष्टकार्याणां न अविकारस्य प्रधानस्य । किंभूतानाम् ? सामान्यविशेषात्मनाम् इति । किं तेषाम् ? इत्याह–स्वभाव इत्यादि । तेषां विकाराणां यः स्वो भावः स्वरूपं तदनुरूपस्य विकारान्तरस्य उत्पत्तिः या तस्याः अविप्रतिषेधात् कारणात् तत्रैव "तेषां संभवात् इति सम्बन्धः । तन्न युक्तम्–

*"मूलप्रकृतिरविकृतिः" [सांख्यका० २२] इत्यादि ।

ननु मूलकारणाभावे कुतः तद्विकारा इति चेत् ? अन्येभ्यो विकारेभ्यः तेऽपि अन्येभ्यः इति अनादि § विप्रतिषेधात् कारणात् तत्रैव तेषां संभवादिति सम्बन्ध विषयं § तत्परम्परा इति नं सांख्यं प्रतिपत्ति (प्रति यन्नि-) दर्शनमुक्तम्–नित्यक्षणिकैकान्त (न्ते) सत्को (सत्त्वो) त्पत्त्यादि- [रि] ति; तन्न युक्तम्, तस्य तदसिद्धेः । स हि सत्त्वादेः नित्यैकान्ते साध्ये नित्यपुरुषवत् परिणामिनि महदादौ सत्त्वस्य [२४७ख] भावाद् व्यभिचारमिच्छति, कृतकत्वादेः तत्र भावेऽपि प्रकृतिपुरुषयोरभावाद् भागासिद्धत्वम् । क्षणिकत्वे पुनः सर्वस्य [क्षणिकत्वे] साध्ये नित्ये पुरुषे सत्त्वस्य भावात् तदेव व्यभिचारित्वम्, कृतकत्वादे[:] तथैव भागासिद्धत्वं न विरुद्धत्वम् । अथ प्रधानस्यैव तदुभयं साध्यते; भवेत् कृतकत्वादेर्विरुद्धत्वं परिणामिन्येव प्रधानादौ भावात्, न सत्त्वस्य नित्येऽपि पुरुषे तस्य भावात् ।

अथ पुरुषोऽपि परिणामी इति नैते दोषाः, तत्राह–न वै इत्यादि । न वै नैव कारणसामान्यवचनेऽपि परिणामिकारणम् इह गृह्यते । कुतः ? "चिच्छक्तेः (क्तिः)" [योगभा० १।२] इति वचनात् । नहि आत्मा चिच्छक्तेः सहकारिकारणम्; तस्याः "ततोऽव्यतिरेकात् । ततोऽयमर्थः–नैव परिणामिकारणम् आत्मा चिच्छक्तेः चेतनारूपसामर्थ्यस्य । कुतः ? इत्याह– अपरिणामि[त्वात्, परिणाम] रहितत्वाद् 'आत्मनः' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । तन्न नित्यक्षणिकैकान्ते साध्ये सत्त्वादिर्विरुद्धः अपि तु यथोक्त इति कापिलो मन्यते । एतदाचार्यः परिहरन्नाह–नन्वेवम् इत्यादि । ननु इति भावनायाम्, एवम् उक्तप्रकारेण सति तदकारणत्वे

(१) सर्वं कार्यं महदादिरूपम् । (२) प्रधानात्मक । (३) पुरुषस्य । (४) कार्यम् । (५) विकाराणाम् । (६) "…महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिः न विकृतिः पुरुषः ॥" इति शेषः । (७) § एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठः पुनर्लिखितः । (८) 'न' इति निरर्थकमत्र । (९) "चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसङ्क्रमाऽदर्शितविषया शुद्धा चामन्ता च सत्त्वगुणात्मिका चेयम् ।"–योगभा० । (१०) आत्मनः ।

इति शेषो भावः प्रसज्येत 'आत्मनः' इति सम्बन्धः । न चैवम्, अतः तस्यं सत्त्वमिच्छता परिणामित्वमभ्युपगन्तव्यमिति कथं निदर्शनाऽसिद्धिरिति भावः ।

भवतु तर्हि तच्छक्तेः कारणम् आत्मेति चेत्; अत्राह– ['बुद्ध्य' इत्यादि]

[बुद्ध्यध्यवसिते चिच्छक्तिः पुंसः स्वत एव चेत् ।
ज्ञानादयः कथन्न स्युश्चेतनस्यैव वृत्तयः ॥२१॥ ५

चेतनस्य वैश्वरूप्यादेः परिणामः सिद्धः, सुखादिव्यतिरेकेण चैतन्यवृत्तेरनुपलब्धेः। ततः दर्शनशक्तिः कार्यनिरपेक्षा बुद्ध्यध्यवसायवत् यतः बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते । उभययोः वैश्वरूप्यादेः संभवात् कुतः अपरिणामिनी चिच्छक्तिः बुद्धिविवर्तमनुविधत्ते ?]

बुद्ध्यध्यवसिते 'इन्द्रियाणि अर्थम् आलोचयन्ति' इत्यादिकया प्रणालिकया गृहीताकारवस्तूनि (वस्तुनि) **पुंसः चिच्छक्तिः** तदर्शनसामर्थ्यं **स्वत एव** न परतः **'वृत्तयः'** इत्यनेन [२४८क] लब्धैकवचनपरिणामेन सम्बन्धाद् वृत्तिः परिणामः, तथा **'स्युः'** इत्यनेनापि जातैकवचन[परिणामेन] सम्बन्धात् 'स्यात्' इति भवति । **चेद्** इति पराभिप्रायद्योतने । अत्र वृषणमाह–**ज्ञानादय** इत्यादि । **ज्ञानम् आदि**र्येषां सुखादीनां ते तथोक्ताः **कथं न स्युः** स्युरेव **चेतनस्यैव** पुरुषस्यैव **वृत्तयः** परिणामाः । एवं मन्यन्ते यथा ज्ञानादिभेदानां वैश्वरूप्यादयो नैककारणपूर्वका इतरथा शरीरादिवत् पुरुषाणामपि परिणामिनां किञ्चिद् अपरमेकं कारणं स्यात् इति व (न) सांख्यदर्शनम् तथा घटादिभेदानामपि इति ।

कारिकां व्याख्यातुमाह–**चेतनस्य** इत्यादि । **चेतनस्य परिणामः सिद्धः** । कुतः ? इत्याह–**वैश्वरूप्यादेः** सकाशाद् **आदि**शब्देन कार्यकारणभावादिपरिग्रहः । एतदपि कुतः ? इत्याह–**सुखादिव्यतिरेकेण चैतन्यवृत्तेः** चैतन्यपरिणामस्य **अनुपलब्धेः**, सुखाद्यात्मकत्वेन तत्तद्वृत्तेः (तँद्वृत्तेः) उपलब्धेश्च इति भावः । प्रकृतमुपसंहरन्नाह–**ततः** अनन्तरात् न्यायात् **न दर्शनशक्ते (क्तिः)** भूतान (किंभूता ?) इत्याह–**कार्य** इत्यादि । कार्यशब्दोऽयं भावप्रधानः **कार्यत्वनिरपेक्ष्या (क्षा)** कार्यभूतैव इत्यर्थः । अत्र दृष्टान्तमाह–**बुद्ध्यध्यवसायवद्** इति । बुद्धेः अध्यवसायः स्वपरनिर्णयः स इव तद्वत् । यथा तदध्यवसायो न कार्यत्वनिरपेक्षः तथा तच्छक्तिरपि, **यतः** तच्छक्तेः कार्यत्वनिरपेक्षत्वाद् *"**बुद्ध्यध्यवसितमर्थं (र्थं पुरुषः)** नित्यः पुमान्, **चेतयति (ते)**" पश्यति । यत इति वा आक्षेपे, तदभावात् नैव चेतयते । तन्न युक्तम्–*"**न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः**" [सांख्यका० २२] इति ।

---

(१) आत्मनः । (२) इन्द्रियाणि अर्थमालोचयन्ति बुद्धिरवधारयति मनः संकल्पते आत्मा चेतयते इति । "एवं बुद्ध्यहङ्कारमनश्चक्षुषां क्रमशो वृत्तिर्दृष्टा–चक्षू रूपं पश्यति मनः संकल्पयति अहङ्कारोऽभिमानयति बुद्धिरध्यवस्यति ।"–सांख्यका० माठर० पृ० ४० । (३) चैतन्यवृत्तेः । (४) उद्धृतमिदम्–त० श्लो० पृ० ५० । आप्त० पृ० १६४ । प्रमेयक० पृ० १०० । न्यायकु० पृ० १९० । न्यायवि०वि० प्र० पृ० २३५ । स्या० रत्ना० पृ० २३३। (५) कारणम् । (६) कार्यम् ।

ननु यदि नाम बुद्ध्यध्यवसायः कार्यत्वनिरपेक्षो (क्षो) नास्ति तच्छक्तेः किमायातं येन सोऽपि तस्य ? [२४८ख] नहि एकस्य धर्मोऽविशेषेण अन्यस्य इति चेत् ; अत्राह–वैश्व इत्यादि। वैश्वरूप्यादेः संभवात् उक्तनीत्येति मन्यते । कस्य सम्बन्धिनः ? इत्याह–उभययोः चैतन्यशक्ति-बुद्ध्यध्यवसाययोः भेदानामपि इति *"बुद्ध्यध्यवसितमर्थं नित्य (पुरुष) श्चेतय[ते] ।"
५ इति च ब्रुवाणेन बुद्धिवत् पुरुषोऽपि विषयाकारोऽभ्युपगन्तव्यः, अन्यथा बुद्धिप्रतिबन्धबाह्यमर्थम् अनाकारोऽपि पश्येत् इति किं बुद्धिकल्पनया ? अथेष्यते [२]सोऽपि तदाकारः; तत्राह–कुतः न कुतश्चिन्न्यायात् बुद्धिविवर्त्तः(र्तम्) बुद्धेः अर्थाकारं परिणामम् अनुविधत्ते अनुकरोति । का ? इत्याह–चिच्छक्तिः । किंभूता ? इत्याह–अपरिणामिनी । तदनुविधाने दर्पणादिवत् परिणामिनी स्यादिति भावः ।

१० इदमपरं व्याख्यानम्–कुतः कारणात् सा अपरिणामिनी अपि इति, अपिशब्दोऽत्र द्रष्टव्यः । तद्विवर्त्तम् अनुविधत्ते यदि स्वतः अर्थमपि तत एव अनुविधत्ते इति अनन्ततद्विवर्त्तेन अर्थे तदन्तरानवस्था स्यादिति मन्यते ।

तथा इदमपरम्[३]–चिच्छक्ति [र]परिणामिनी सदैकरूपा बुद्धेर्विवर्त्तं युगपत् क्रमभाव्यनेकनीलादिसुखादिप्रतिबिम्बपरिणामं कुतः अनुविधत्ते ? नैकत्वेन तत्समा नानैव[४] भवेद् विरो-
१५ धात् । तथाहि–यदि सर्वदा एकरूपा[५]; तर्हि न बुद्धिविवर्त्तानुकारिणी । [सा][६] चेत् ; नैकरूपा । न च विषयनानात्ववद् विषयिणः तद्ग्रहणशक्तिनानात्वमन्तरेण [७]तद्ग्रहणं युक्तम् , एकैकस्वभावस्य[८] अनेककार्यकरणवत् ।

तदेवं 'ज्ञानादयश्चेत् तस्यैव वृत्तयः' इति प्रसाधिते यल्लब्धं तदर्शयन्नाह–[२४९ क] ज्ञानम् (ज्ञानादिकम्) इत्यादि ।

२० [ज्ञानादिकमजीवस्य मूर्तस्य व्यतिरेकिणः ।
ज्ञानं जीवस्य वा मिथ्या अनेकं वेत्यनात्मकम् ॥२१॥

वृत्तिरचेतनस्य ज्ञानं चेतनस्योपलब्धिरिति स्वयंकल्पां भेदकल्पनां प्राह विशेषानुपलब्धेः अतिप्रसङ्गाच्च । तथा परो द्रव्यस्य स्वतश्चैतन्यविकलस्य व्यतिरेकिणं गुणमाह सम्बन्धात् । सत्यपि भावतस्तदभावात् । कथमज्ञश्चेतनो नाम अर्थान्तरात् चैतन्यात्
२५ अतिप्रसङ्गात् । तथा पुनश्चैतन्यस्य मूर्तस्य इतरस्य ज्ञानमनात्मकमिति च मिथ्यादर्शनानि ।]

ज्ञानादिग्रहणम् उपलक्षणं सुखादेः, तेन ज्ञानादिकं वृत्तिः अजीवस्य अचेतनस्य प्रधानस्य । किंभूतस्य ? मूर्त्तस्य रूपादिमत इति यज्ज्ञानं तत् मिथ्या यथोक्तन्यायवचनात् । अत्र दृष्टान्तमाह–जीवस्य इत्यादि । वक्ष्यमाणको वा शब्द इवार्थः अत्रापि सम्बन्धनीयः । ततोऽयमर्थः संपद्यते जीवस्य आत्मनः । किंभूतस्य ? व्यतिरेकिणो ज्ञानाद् एकान्तेन भिन्नस्य ।
३० 'मूर्त्तस्य' इत्येतद् विशेषणम् असंभवात् , परेण[९] तथाविधस्यापि आत्मनः अमूर्त्तत्वेन उपगमात्,

(१) चैतन्यशक्तिरपि । (२) पुरुषः । (३) व्याख्यानम् । (४) अनेकैव न भवेदिति अन्वयः । (५) चिच्छक्तिः । (६) बुद्धिविवर्तानुकारिणी चेत् ; । (७) विषयग्रहणम् । (८) कारणस्य । (९) साङ्ख्येन ।

अत्र नाभिसम्बध्यते, **ज्ञानं वृत्तिः** इति । ज्ञानमिव प्रकृतमपि ज्ञानं मिथ्या । इदमपि किमिव **मिथ्या** ? इत्याह–**अनात्मकम्** इति । न विद्यते आत्मा यस्य तद् **'अनात्मकम् ज्ञानम्'** इति ज्ञानं यथा **मिथ्या** तथा **'जीवस्य व्यतिरेकिणो ज्ञानं वृत्तिः'** इति ज्ञानं **मिथ्या** इति । एतदुक्तं भवति–यथा [1]अन्यात्मकं ज्ञानम् अनाश्रयं न कस्यचिद् गुणः तथा व्यतिरेकिणोऽपि[3] न गुणः स्याद् अतिप्रसङ्गात् । अथ आत्मन एव गुणः तत्र समवायात् ; न ; समवायस्य अविशेषे[5] [6]तदविशेषात् , प्रमाण(णा)भावेन असत्त्वाच्च[8] । [9]तत उत्पत्तेः तस्य [10]तद्गुणत्वे ; [11]उत्तरोत्तरं ज्ञानं पूर्वपूर्वस्य क्षणिकज्ञानस्य गुण इति ततोऽन्यस्य गुणिनः साधनमनवसरमेव । यथैव च क्षणिकस्य स्वसत्तासमये कार्यं कुर्वतः कारणत्वं दुरुपपादम् , हेतुफलयोः सहभावापत्तेः, तथा [अ] क्षणिकस्यापि कार्यकालविशेषणात् [12]तद्रूपात् [13]पूर्वोत्तरतद्रूपयोः सर्वथा [अ] व्यतिरेके[14], तावन्मात्रत्वात्तस्य इति । यथैव वा [२४९ख] स्वसत्तासमये [15]तस्य [16]तत्कुर्वतः [17]तद् दुरुपपादम् कार्यकाले स्वयमभावात् तथा [18]इतरस्यापि पूर्वकालविशेषणाद् [19]रूपाद् उत्तरस्य सर्वथा [अ]भेदात्[20] , [21]इतरथा एकमेव न किञ्चित् स्यात् । किञ्च, न परात्मनो युगपदनेकदेशकालव्याप्तिः, निरंशत्वाद् अनात्मकचित्तवद् इति । उपसंहारमाह–**अनेक (कं) वेत्ति मिथ्या 'ज्ञानम्'** इत्यनुवर्त्तते ।

कारिकार्थं कथयन्नाह–**'वृत्तिः अचेतनस्य'** इत्यादि । **वृत्तिः** परिणामः **अचेतनस्य** करणस्य । किम् ? **ज्ञानम्** , **चेतनस्य** पुरुषस्य **उपलब्धिः** दर्शनं **वृत्तिः** इत्येवं **स्वयम्** आत्मना न प्रमाणेन **प्रकृतिज्ञाम्** अपरिचितां (उपरचितां) **भेदकल्पनां प्राह** सांख्यः । कुतः ? इत्याह–**विशेषस्य** ज्ञानोपलब्ध्योः भेदस्य **अनुपलब्धेः** ।

ननु अयमनैकान्तिको हेतुः अयोगोलक-पावकयोः विशेषानुपलम्भेऽपि भेदादिति चेत् ; अत्राह–**अतिप्रसङ्गात्** पुरुषचैतन्ययोरपि भेदप्रसङ्गात् । शक्यं वक्तुं पुंसः अन्यदेव चैतन्यम् , संसर्गाद् अयोगोलकवह्निभेदा[भाव]वदभेदाध्यवसायः । **च** शब्दः अवधारणे । अतिप्रसङ्गादेव स्वयं प्रकृतिज्ञां भेदकल्पनां प्राह इति । न च [22]परिणामवादिनं प्रति दृष्टान्त[:] सिद्धोऽस्ति ; अयोगोलकस्य [23]तथापरिणामात् । अतिप्रसङ्गं दर्शयन्नाह–**तथा** इत्यादि । येन स्वमनीषिका (मनीषिका) प्रकारेण सांख्यो बुद्धिचैतन्ययोर्भेदमाह **तथा परो** यौगो **द्रव्यस्य** इति । सामान्यवचनेऽपि प्रस्तावाद् 'आत्मनः' इति गम्यते **स्वतः** स्वरूपेण **चैतन्यविकलस्य** अचेतनस्य **व्यतिरेकिणम्** अर्थान्तरभूतं **गुणमाह** । नैतव्यं (नैतन्मन्तव्यं) दर्शनम् । कुतः ? इत्याह–[२५० क] **सम्बन्धात्** समवायात् , तथा च बुद्धिवत् चैतन्यमपि न पुरुषस्य रूपम् , इति न युक्तमेतत्– *"चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्" [योगभा० १।९] इति मन्यते ।

---

(१) सर्वथा भिन्नम् । (२) निराश्रयत्वात् । (३) अर्थस्य । (४) एकत्वे । (५) सर्वान् प्रति अविशेषात् । (६) समवायस्य । (७) आत्मनः । (८) आत्मगुणत्वे । (९) बौद्धः प्राह । (१०) तत्स्वरूपात् । (११) पूर्वक्षणवर्तिनः उत्तरक्षणवर्तिनश्च स्वरूपस्य । (१२) अभेदे कारणत्वं दुरुपपादमिति सम्बन्धः । (१३) क्षणिकस्य । (१४) कार्यम् । (१५) कारणत्वम् । (१६) नित्यस्यापि । (१७) स्वरूपात् । (१८) एकरूपत्वात् कारणत्वं दुरुपपादमिति सम्बन्धः । (१९) अभेदेऽपि एकत्वाभावे । (२०) जैनादिकम् । (२१) अग्निसंसर्गादग्निरूपेण परिणामात् ।

[1]स आह–किमुच्यते **'तथा'** इति; यावता प्रमाणबलेन अहं सर्वमेतत् कथयामि इति । तत्राह–विद्यमानेऽपि **सत्य[पि] सम्बन्धि(सम्बन्धे)** द्रव्यचैतन्ययोः अत्यन्तभिन्नयोः समवाय-रूपे, **अपिशब्दः** संभावनायाम् **भावतः** प्रमाणाभावेन **तदभावात्** । बहिरन्तश्च जात्यन्तर-प्रतिभासे 'इह अवयवे अवयवी' इत्यादि प्रत्ययाभावे धर्मिणो विरहात् तद्विषयानुमानावृत्तेः इति । **कथम् अज्ञे** (ज्ञः अ)चेतनः सत्तात्मा (सन्नात्मा) **चेतनो नाम ?** नैव । कुतः ? इत्याह–**अर्थान्तरात्** ततो भिन्नाच्चैतन्यात् इति । कुतो न स्यात् ? इत्याह–**अतिप्रसङ्गात्** गगनादिरपि [2]ततः चेतनः स्यादिति बुद्ध्यादेर्विशेषगुणत्वं[3] 'नवद्रव्याणि' इति[4] च द्रव्य-संख्या विहन्यते, तत्सम्बन्धस्य[5] सर्वगतत्वेन [6]तत्राप्यविशेषात् । अथ सम्बन्धस्य [अ]विशेषे सम्बन्धिनोर्विशेष इष्यते ; न ; सम्बन्धवैफल्यप्रसङ्गात् । ययैव प्रत्यासत्त्या [7]तदविशेषेऽपि [8]तद्विशेषेष्टिः तयैव 'अस्य अयम्' इति व्यपदेशनियमभावात्[9] ।

किंच, यदि आत्मन्येव चैतन्यमुपलभ्येत ; युक्तमेतत्, न चैवं तदात्मनोऽनुपलब्धिः (ब्धेः) । तथापि तत्र[10] तत्कल्पने अन्यत्रापि तदस्तु अविशेषादिति । यदि वा, **अर्थशब्दोऽयं** घटादिविषयवाची, तस्मादन्यः तद्वत् स्वतो भिन्नज्ञानग्राह्यत्वं ग[तः] **तदन्तरं**[11] विषयान्तरं तस्मात् स्वयम् **अज्ञः** सन् **कथं चेतनो नाम ?** कुतः ? इत्याह–**अतिप्रसङ्गात्**[12] प्रयत्नादिसम्बन्धेऽ-पि चेतन[:] स्यात् । अथ अर्थग्रहणात्मकत्वाज् ज्ञानस्य, [13]तत्सम्बन्धादेव [२५०ख] चेतनः नेतरसम्बन्धात् तस्य [14]विपर्ययरूपत्वात् ; [15]तस्य स्वग्रहणाभावे अर्थग्रहणमपि दुर्लभं घटादिवदि-त्युक्तप्रायमिति ।

अतिप्रसङ्गं पुनरपि सांख्यस्य दर्शयन्नाह– **तथा पुनः** इत्यादि । **तथा** तेन सांख्यकल्पना-प्रकारेण **पुनः** सांख्यादिकल्पनायाः पश्चात् **चैत[न्य]स्य**[16] **मूर्त्तस्य** पृथिव्यादिचतुष्टयस्य **ज्ञानम्** अनेन पौरं[न्द रं][17] मतं दर्शितम् । अथवा *"पुरुष एव इदं सर्वम्" [ऋक्० १०।९०।२] इत्यादि दर्शनम् । यदि वा, [18]स्वदर्शनम्, अत्र **'मूर्त्तस्य'** इति न सम्बन्धनीयं जैनचेतनस्य अमू-र्त्तत्वं (र्तत्वात्, मूर्तत्वं) [19]कादाचित्कमत्र अनुपयोगीति न वक्तव्यम् । **इतरस्य** अचेतनस्य वा भूम्यादेः मूर्त्तस्य, अनेन अ वि द्ध क र्ण स्य समयो दर्शितः । ज्ञानग्रहणे अनुवर्त्तमाने पुनः ज्ञानग्रहणं तद्व्यवहितमिति सन्निहितसम्बन्धार्थम् **अनात्मकम्** आत्मशून्यं **'ज्ञानम्'** इत्येतदत्रापि सम्बन्धनीयम् । **च** इति समुच्चये **इति च** एवं सति **मिथ्यादर्शनानि** एकान्तवादिसंबन्धनीति (न्धीनीति) शेषः । उक्तानामपि यौगादिमतानां कापिलमतानन्तरं पुनः प्रदर्शनं तत्र अतिप्रसङ्ग-प्रतिपादनार्थम् ।

---

(१) नैयायिकः । (२) भिन्नचैतन्यात् । (३) "रूपरसगन्धस्पर्शस्नेहसांसिद्धिकद्रवत्वबुद्धिसुखदुःखे-च्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनाशब्दाः वैशेषिकगुणाः ।"–प्रश० भा० पृ० ३९ । (४) तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्ते-जोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि सामान्यविशेषसमवायेष्वनि नवैवेति ।"–प्रश०भा० पृ० ३ । (५) चेतना-समवायस्य । (६) आकाशेऽपि भावात् । (७) सम्बन्धाविशेषेऽपि । (८) सम्बन्धिनोर्विशेषता स्वीक्रियते । (९) किं सम्बन्धकल्पनया । (१०) आत्मनि । (११) अर्थान्तरम् । (१२) अन्यगुण । (१३) ज्ञानसम-वायादेव । (१४) अर्थग्रहणस्वभावाभावाद् । (१५) ज्ञानस्य । (१६) चैतन्यविशिष्टस्य । (१७) चार्वाक-सम्बन्धि । (१८) जैनदर्शनम् । (१९) कर्मसम्बद्धदशायाम् ।

ननु यदुक्तमत्रैव प्रस्तावे प्रथमकारिकायाम् **'मिथ्याज्ञानं स्वतः सतो ज्ञातुः आवरणोद्भूतेः'** इत्यादि; तदयुक्तम्; अमूर्त्तस्य आत्मनो मुक्तस्येव मूर्त्तेन आवरणाभिमतेन सम्बन्धाऽभावात्। न चासम्बद्धम् आवरणम्; अतिप्रसङ्गात्। एतदेवाह–[**कथमित्यादि**]

[कथं पुनरमूर्त्तस्य सम्बन्धः कर्मणेति चेत्।
माणिक्यादिर्न वै मूर्तिः मलसम्बन्धकारणम् ॥२२॥
मलैर्निसर्गाद् बध्येत जीवोऽमूर्तिः स्वदोषतः।३।

जीवस्य मूर्तिं कल्पयित्वापि कर्मबन्धनिमित्तं स्वदोषान्तरं कल्पितव्यं माणिक्यादिवत्। ततः पुनरमूर्तस्य चेतनस्य नैसर्गिका मिथ्यादर्शनादयो बन्धहेतवः।]

कथं न कथञ्चित् **पुनः अमूर्त्तस्य कर्मणा** मूर्त्तेन **सम्बन्धः**। ननु 'मूर्त्तेन' इत्यत्र न श्रूयते तत् कथं लभ्यमिति चेत्? **'अमूर्त्तस्य'** इति वचनात्। यदि कर्माऽपि अमूर्त्तं स्यात् तद्वचनमनर्थकं स्यात्, अमूर्त्तयोः [२५१क] सम्बन्धाऽविरोधात्। **'कर्मणा'** इति वचनाद् इतरस्य कर्मत्वाऽयोगात्। न च मूर्त्ताऽमूर्त्तयोः विरुद्धः संयोग इति; अतः प्रस्तुतत्वाद्वा। **चेद्** इति पराभिप्रायद्योतकः। अत्र उत्तरमाह–**मलैर्निसर्गाद्** इति।

नन्वेतत् **'परस्परविलक्षणावपि'** इत्यादिना ग्रन्थेन प्रतिपादितम्, **'शुभैः'** इत्यादिना च तद्बन्धकारणम्, तत् किमर्थं पुनरप्युच्यते इति चेत्? तस्यैव प्रकारान्तरेण समर्थनार्थम्। तथाहि–**'मनोवाक्कायकर्मभिः'** इत्यादि **'न कश्चिद् विप्रतिपत्तुमर्हति'** इति पर्यन्तवचनेऽपि 'पञ्चस्कन्धवत्' इत्यादिकमुल्लङ्घ्य कश्चिद् वदति मूर्त्ता एव हेमादयः मूर्त्तैः स्त्र्यादिकाभिः सम्बन्ध्य (स्वद्ध्य) माना दृष्टा इति मूर्त्तिरेव बन्धकारणम्, अत्मनि तदभावान्न तद्बन्धः इति; तं प्रति उच्यते–**मलैः** इत्यादि। **नवै** नैव **मूर्त्तिः मूल (मल)संबन्धकारणम्**। किं कारणम्? इत्याह–**माणिक्यादिः बध्येत**। कैः? इत्याह–**मलैः** किट्टकालिकादिभिः। **'मूर्त्तैः'** इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः। न चैवम्, अन्यथापि तस्य दर्शनादिति मन्यते।

अत्राह **परश्च** (परः–**स्व**) **दोषतः** इति। स्वस्य स्वो वा दोषः [10]दुष्टाकरप्रभवत्वादिलक्षणः तेन ततो **बध्येत** माणिक्यादिः 'इति' वा अनुवर्त्तते। कुतः? **निसर्गात्** स्वभावतः। एवमन्वयः– सदोषो माणिक्यादिः सम्बध्यते मणैः (मलैः) नेतरः, तथैव तस्य स्वाभाव्यात् तथा दर्शनादिति। तस्य उत्तरमाह–**जीवोऽमूर्त्तिः** इति। लुप्तः 'अपि' शब्दः अत्र द्रष्टव्यः ततो **जीवोऽपि** न केवले (लं) माणिक्यादिरेव। किंभूतः? इत्याह–**अमूर्त्तिः** अविद्यमानमूर्तिः। **मलैः** कर्मभिः **निसर्गात् स्वभावतः** [२५१ख] **स्वदोषतः** आत्मीयेन मिथ्यात्वादिदोषेण।

प्रकृत (तं) संभाव्य कारिकां विवृण्वन्नाह–**जीवस्य** इत्यादि। **जीवस्य मूर्त्तिं कल्पयित्वापि कर्मबन्धनिमित्तं स्वदोषान्तरं** भावकर्मलक्षणं **कल्पितव्यम् माणिक्यादेरिव तद्वद्**

(१) पृ० १२१। (२) कर्मणा। (३) अमूर्तवचनम्। (४) अविद्यादेः। (५) पृ० २५४। (६) पृ० २५५। (७) पृ० २५५। (८) कालिमादिभिः। (९) मूर्त्यभावात्। (१०) मलयुक्तखानिजन्यत्वात्।

इति । ततः तस्मान्न्यायात् पुनः अमूर्त्तस्य नैसर्गिका बन्धहेतवः । कस्य ? इत्याह–चेतनस्य । के ? इत्याह–मिथ्यादर्शन इत्यादि ।

ननु किममूर्त्तस्य मूर्त्तेन कर्मणा सम्बन्धकल्पनया, यावता [अ] मूर्त्तेनापि तेन तद्गुणादिसमवाये[२] न कश्चिद् दोषः । तदुक्तम्–*"आत्मविशेषगुणः कर्तृफलदायी कार्यविरोधी संयोगजोऽदृष्टो धर्मोऽपि व्याख्यातः" इति[३] चेत् ; अत्राह–जात्या इत्यादि ।

[जात्या व्यतिरिक्तयाऽर्थाः स्युरन्या जातिः स्वतः सती ।
तथैवार्थान्तरैः किन्न द्रव्यं स्याद् गुणकर्मभिः ॥२३॥]

जात्या इति सामान्यवचनेऽपि 'स्युः' इति वचनात् सत्ता परिगृह्यते । नहि अन्यया अर्थाः सन्तो भवन्ति । किंभूतया ? **व्यतिरिक्ताया (क्तया)** द्रव्यादेः एकान्तेन भिन्नया । किं तया ? इत्याह–**अर्थाः** द्रव्यगुणकर्मणि *"द्रव्यगुणकर्मसु अर्थः" [वैशे० सू० ८।२।३] इति[४] वचनात् । **स्युः** सन्तो भवेयुः । किन्नैव ? **'किम्'** इत्यनेन वक्ष्यमाणकेन सम्बन्धः । नहि स्वयमतद्रूपम् अन्येन तद् भवति, अन्यथा रूपादिना रादना (गगना) दिकं तद्वत्[५] स्यात् । तथाविधया जात्या अर्थानां समवायसम्बन्धोऽपि अत्रैव वृत्ते[६] निराकरिष्यते ।

किञ्च, जातिरपि यद्यसती; कथं तया किञ्चिदसत् सत् स्यात् ? नहि–बन्ध्यासुतो गगनकुसुममालया सन्नाम । सती जात्यन्तरेण चेत् ; अनवस्था । स्वतो यदि; तत्राह परैः–अर्थेभ्यः **अन्या जातिः** सत्तासामान्यं **स्वत** आत्मना स्यात् **सती** भवेत् **'किम्'** इत्यनेन **'स्यात्'** इत्यनेन वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः । [२५२क] अर्था अपि तथैव स्वयं स्युः इति मन्यते । तदनेन द्रव्यगुणयोः अभावात् *"आत्मविशेषगुणो धर्मादिः" इति[१०] निरस्तम्, [गुण][११] कर्मणोरभावात् *"आत्ममनःसंयोगजः"[१२] इति[१३] च । नहि कर्माऽभावे संयोगः;[१४] तत्पूर्वकत्वादस्य । अथवा, देवदत्तं प्रति उपसर्पतां पश्वादीनां पराभ्युपगमेन कर्माऽभावात्[१५] ततो धर्माद्यनुमानमनुपपन्नमिति[१६] दर्शयति ।

भवन्तु वा यथाकथञ्चित् परस्य अर्थाः, तथापि दोषं दर्शयन्नाह–**अर्थान्तरैः** द्रव्यादत्यन्तं भिन्नैः **द्रव्यं** पृथिव्यादि **स्याद्** भवेद् धवलं सङ्ख्येयादि गन्त्रादिकम् । कैः ? इत्याह–**गुणकर्मभिः** । **गुणैः** रूपादिभिः **कर्मभिः** गमनादिभिः यथासङ्ख्येन गुणैः धवलं (लं) सङ्ख्येयादि कर्मभिः गन्त्रादिकम् । **'किम्'** इत्येतद् अत्रापि सम्बन्धनीयम् , अन्यथा आत्मादिकमपि स्यात् अविशेषात् ।

---

(१) अदृष्टाख्येन । (२) स्वीक्रियमाणे । (३) "धर्मः पुरुषगुणः कर्तुः प्रियहितमोक्षहेतुः अतीन्द्रियोऽन्त्यसुखसंविज्ञानविरोधी पुरुषान्तःकरणसंयोगविशुद्धाभिसन्धिजः···"–प्रश० भा० पृ० १३८ । (४) "अर्थ इति द्रव्यगुणकर्मसु"–वैशे० सू० । (५) रूपि । (६) भिन्नया । (७) वृत्तौ, श्लोके वा । (८) जैनः । (९) सन्तः । (१०) "धर्मः पुरुषगुणः"–प्रश० भा० पृ० १३८ । (११) गुणपदार्थस्य कर्मपदार्थस्य च । (१२) "पुरुषान्तःकरणसंयोगविशुद्धाभिसन्धिजः"–प्रश० भा० पृ० १३८ । (१३) निरस्तम् । (१४) क्रियापूर्वकत्वात् । (१५) "देवदत्तविशेषगुणप्रेरितभूतकार्याः तदुपगृहीताश्च शरीरादयः कार्यत्वे सति तदुपभोगसाधनत्वात् गृहवदिति···"–प्रश० किरणा० पृ० १४९ । प्रश०व्यो० पृ० ४११ । प्रश०कन्द० पृ० ८८ ।

ततः किं प्राप्तम् ? इत्याह–**निष्कर्माणि** [इत्यादि]–

[निष्कर्माणि वा गुणिनः कारकाणि गुणैर्विना ।
समवायेन किंवृत्तिस्तद्वदेव दुरन्वयम् ॥२४॥

कर्मभ्योऽपसृतानि निरस्तकर्माण्येवं वाचा (एव वा) इत्यवधारणे । **कारकाणि** कर्त्रादीनि **गुणिनो** द्रव्याणि **सर्वैर्गुणैर्वा विना** 'स्युः' इत्यनेन गतेन सम्बन्धः, परस्परानापन्ना एव स्युः इति मन्यते ।

ननु नायं दोषः जातितद्वतोर्गुणगुणिनोः कर्मतद्वतोः भेदेऽपि सं समवायवृत्त्या जात्यादीनां तद्वृत्ति वर्त्तनादिति चेत् ; अत्राह–**समवायेन** समवाय एव च अवृत्ति (एव **वा वृत्तिः**) **किम्** ? नैव वृत्तिः, कुत्सिता वा वृत्तिः इति, यतः समवायस्य समवायिषु वृत्तौ 'इह समवायो वर्त्तते' इति प्रत्ययः सम्बन्धान्तरनिबन्धनः स्यात्, पुनरपि तैदन्तरनिबन्धन इत्यनवस्था, अन्यथा 'तन्तुषु पटः' इत्यादिप्रत्ययोऽप्यनेनैवं [२५२ख] व्यभिचारात् न समवायसाधकः स्यात् । तेषुं तैंदवृत्तौ वा न कस्यचित् सम्बन्धोऽपरायत्तत्वाद् आकाशवत् । अत एव इहप्रत्ययकर्तृत्वमपि तस्यं **तद्वदेव दुरन्वयम्**, इतरथा संयोगेऽपि प्रसङ्गः असम्बन्धेऽपि इत्येवं युक्तिबाधितं संकीर्त्यते वैशेषिकैः ।

अनेन *[1][10]**कार्यविरोधी कर्तृफलदायी**[11]" इति[12] च निरस्तं बोद्धव्यम् ॥ छ ॥ १५

इति र वि भ द्र पादपङ्कजभ्रमर-अ न न्त वी र्य विरचितायां
सि द्धि वि नि श्च य टी का यां जीवसिद्धिः चतुर्थ प्रस्तावः ।

---

(१) 'स' इति विसर्गैकम् । (२) द्रव्यादौ । (३) सम्बन्धान्तर । (४) 'इह समवायिषु समवायः' इति प्रत्ययभेदेन । (५) समवायिषु । (६) असम्बन्धे वा समवायस्य । (७) समवायस्य । (८) सम्बन्धत्वप्रसङ्गः । (९) स्वसम्बन्धिषु सम्बन्धाभावेऽपि । (१०) कार्यं सुखदुःखादिफलं विरोधि यस्य । अदृष्टं हि स्वकार्यं कृत्वा विनश्यतीति भावः । (११) धर्मः इति । द्रष्टव्यम्–पृ० ३०८ टि० ३ ।

[पञ्चमः प्रस्तावः]

[५ वादसिद्धिः]

एवम् अनन्तरप्रस्तावद्वयेन अशब्दयोजनं स्मरणादि श्रुतं व्याख्यातम् । यदुक्तमः (म्) 'शब्दैः परमन्यद्योजितं श्रुतम्' इति; तत्[1] संप्रति व्याख्यातुम् अवसरप्राप्तम् , तच्च परार्थमिति, परप्रतिपादनाय च तत्प्रयोगे न्यायवादिनमपि केचिदेकान्तवादिनो वचनाद्युपालम्भच्छलेन पराजयेन योजयन्तः समुपलभ्यन्ते तन्निषेधार्थं वादन्यायप्रस्तावं प्रस्तुवन् तदादौ संग्रहवृत्तमाह–

५ **पक्षस्थापनया** इत्यादि ।

[पक्षस्थापनया निरस्तविषयं वादे निगृह्णाति न,
स्वाकूतोज्झमसाधनाङ्गवचनादोषोक्तिसंकीर्तनैः ।
स्वार्थं साधितवन्तमस्तविषयस्तूष्णीम्भवन्तं ब्रुवन् ,
अन्यद्वा प्रलपन् परेण स समः स्वार्थासाधने (स्वार्थे असंसाधिते) ॥१॥]

१० **पक्षो** व [क्ष्यमाणल]क्षणः तस्य **स्थापना** समर्थनं तथा वादी प्रतिवादी वा **निगृह्णाति** विजयते । क ? **वादे** । कम् ? इत्याह–**निरस्तो विषयः** पक्षो यस्य स तथोक्तः तं वादिनं प्रतिवादिनम् । वादी अन्यथा कुर्वोत् भिक्षाति (कुतो न निगृह्णाति ?) इत्याह–**न** इत्यादि । **स्वाकूत**शब्देन स्वपक्षः परामृश्यते तस्य **उत्स (उज्झा)** त्यागः क्रियाविशेषणमेतत् , **स्वाकूतोज्झा** यथा भवति तथा न निगृह्णाति । पक्षस्थापनाहीनो न निगृह्णाति इत्यर्थः । कैः १५ कृत्वा ? इत्याह–[२५३क] **असाधनाङ्गम्** [न साधनाङ्गम] असाधनाङ्गम (ङ्गं) तस्य वचनम् , अथवा **न साधनाङ्गवचनम्**[2] । न दोषोऽदोषः तस्य **उक्तिः**, यदि वा न दोषोक्तिः **अदोषोक्तिः** विद्यमानस्यापि दोषस्य अनुच्चारणम्, **असाधनाङ्गवचनं वादोक्तिश्च (च अदोषोक्तिश्च) तयोः संकीर्त्तनानि** प्रकाशनानि तैरिति । कं तैः न निगृह्णाति ? इत्याह– **स्वार्थं साधितवन्तम् ।** किंभूतः ? इत्याह–**अस्तविषयः** निरस्तपक्षः । नन्वयमर्थः **'स्वाकू-** २० **तोज्झम्'** इत्यनेन उक्तः किमर्थं पुनरुच्यते ? सत्यम् उक्तः, तथापि पूर्वमनाश्रितपक्षो[3] न निगृह्णाति इत्यस्य प्रतिपादनार्थम् । तदुक्तम्[4]–*"**यतो वादिना उभयं कर्त्तव्यं स्वपक्षसाधनं परपक्षदूषणं च**" इति । जाचं (अयं) पुनः आश्रितपक्षोऽपि निरस्तविषयो न निगृह्णाति अस्येति विशेषः । इदमपरं व्याख्यानम्–**स्वाकूतो ज्ञानं (तोज्झं न) निगृह्णाति, न च स्वार्थं साधितवन्तं तत्संकीर्तनैः अस्तविषयः** असिद्धमहामहीप्रा(पा)न्तरितविषयः ।

---

(१) श्रुतम् । (२) शब्दप्रयोगे कर्त्तव्ये सति । (३) कथयन्तम् । (४) अन्यैः उक्तादिभिः उपायैः । (५) साधनाङ्गस्य अवचनम् । (६)वैतण्डिकः । (७) "विजिगीषुणा उभयं कर्त्तव्यं स्वपरपक्षसाधनदूषणम्" –अष्टस०, अष्टसह० पृ० ८७ । (८) असिद्धआसौ महामहीपः महाभूपालः तेन अन्तरितः आक्रान्तः विषयः पक्षः यस्य असिद्धपक्ष इति यावत् ।

ननु यद्यपि स्वार्थं साधितवन्तं न निगृह्णाति तर्हि तूष्णींभवन्तं निगृह्णाति इति चेत्; अत्राह–**तूष्णींभवन्तम्** इत्यादि। अत्रादिमतिप्रायः (अत्रायमभिप्रायः) तूष्णींभवन्तं किं परः स्वपक्षं साधयन् निगृह्णाति, किं वा त्वया साधनाभिधाने अधिकारिणापि न किञ्चिदुक्तम् मौनमेव अनुष्ठितम इत्यद्धा (इति, यद्वा) स्वार्थसिद्ध्यनुपयोगि ब्रुवन्, स्वयं तूष्णींभवन् वा ? तत्र प्रथमपक्षे उक्तम्–'**पक्षस्थापनया**' इत्यादि। द्वितीय आह–**तूष्णीं भवन्तम् 'न'** ५ [इति] सम्बन्धः। किं कुर्वन् ? **ब्रुवन्निति**। ब्रुवन् तूष्णींभावम् उद्भावयन्, **अन्यद्वा** असम्बद्धम् **प्रलपन्** वा पुरुषः। किंभूतः ? **परेण** निग्राह्येण **सम एव** [२५३ख] पूर्व एवकारोऽत्र द्रष्टव्यः। कस्मिन् सति तत्समः ? इत्याह–**स्वार्थासाधने** इति। यथैव हि तूष्णींभवतः साधनानभिधाने न स्वार्थसिद्धिः तथा तदुद्भावयतोऽपि अन्यद्वा ब्रुवतः। नहि तदुद्भावनमात्रेण स्वार्थसिद्धिः परस्य। शेषमत्र निरूपयिष्यते। तृतीयेऽप्याह– **सोऽप्ये** त्यादि (**सोऽप्यन्य** १० इत्यादि) ब्रुवतोऽन्यः इतरः तूष्णींभूतः, सोऽपि तूष्णींभवन्तं न निगृह्णाति। केन कारणेन ? इत्याह–**साध्या (स्वाकूतोज्झया)** करणभूतया इति।

ननु **'वादे निगृह्णाति'** इत्युक्तम्, तत् को वादः ? इत्यत्राह–**'समर्थवचनम्'** इत्यादि।

[समर्थवचनं जल्पं चतुरङ्गं विदुर्बुधाः १५
पक्षनिर्णयपर्यन्तं फलं मार्गप्रभावना ॥२॥

वादिनः तत्त्वप्रतिपादनसामर्थ्यमन्तरेण यथैवोन्मार्गशोधनेन मार्गप्रभावना न संभवति एवं परिषद्बलस्य यथार्हं सत्यदोषनिवेदनसामर्थ्येऽसति। स्वयमेवोद्धृत्य न्यायवादिनमपि व्यापारव्याहाराभ्यां प्रतिक्षिपतां दर्शनात् स्वयमौद्धत्यप्रच्छादनार्थम्। छलजातिनिग्रहस्थानानां भेदो लक्षणं च नेह प्रतन्यते। तैः साधनोपालम्भो जल्प इति कैश्चिल्लक्षणात्। २० ततश्चतुरङ्ग एव जल्पः वचनस्यापि सांकर्य्यं तदन्यतरतत्त्वेतरनिर्णयावसानमेव, न पुनः वक्त्रभिप्रायसूचनम्। साधनदूषणतदाभासव्यवस्थायाः वस्तुतत्त्वप्रतिबन्धात्, वक्त्रभिप्रायसूचनाभिधानस्य सर्वत्राविशेषात्। प्रतिबन्धाभावात् कथं शब्दैः स्वार्थप्रतिपादनमिति चेत्;]

समर्थवचनं जल्पं विदुः जानीयुः। के ? इत्याह–**बुधाः** विद्वांसः स म न्त भ द्र २५ स्वा मि प्रभृतयः। यदि तर्हि तेषां जल्पलक्षणपरिज्ञानं किमिति न्यायान्तरवद् वादन्यायो न निर्दिष्टः; तदनिर्देशे च कुतः तत्परिज्ञानं तेषामवगम्यताम् ? वचनलिङ्गा हि वक्तृचेतोविशेषा असर्वविदामिति चेत्; क एवमाह–सँ तैर्न निर्दिष्टः इति ? यावता–

---

(१) तूष्णींभूतो भवानिति कथनमात्रेण। (२) तुलना–"समर्थवचनं वादः। प्रकृतार्थप्रत्यायनपरं साधिसमक्षं जिगीषतोरेकत्र साधनदूषणवचनं वादः।"–प्रमाणसं० पृ० १११। त० श्लो० पृ० २८०। प्रमेयरत्नमा० ६।७७। प्रमाणनय० ८।१। प्रमाणमी० २।१।३०। (३) जल्पपरिज्ञानम्। (४) समन्तभद्रादीनाम्। (५) जल्पः।

*"अन्वर्थसंज्ञः सुमतिः मुनिस्त्वं स्वयं मतं येन सुयुक्तिनीतम् ।
यतश्च शेषेषु मतेषु नास्ति सर्वक्रियाकारकतत्त्वसिद्धिः ॥"
[बृहत्स्व० श्लो० १७]

इत्यादिना भगवतो न्यायेन प्रतिपाद्यजनप्रतिबोधनं स्तुवद्भिः सर्वत्र तदेव अभ्युपगतमिति ज्ञायते । कंणचरादिवत् स्वशास्त्रे क्वचित् छलाद्यनभिधानाच्च । यो हि स्वयमयुक्तमकुर्वन् परं युक्तकारिणम् अभिनन्दति स लोके अभिमतयुक्तकारिणं त्व (कारी) इति अवगम्यते ।

कथं पुनः तेनमेस्तस्य तस्सुतम् (तेन तत्सुतम्) इति चेत् ? उच्यते—सुमतिः मुनिः त्वम् अन्वर्थसंज्ञः अनुगतार्थाऽभिधानवान् । [२५४क] केन कारणेन ? इत्याह—येन कारणेन 'त्वया' इति अध्याहारः, स्वयं मतं स्वपक्षः सुयुक्ता (क्त्या) अबाधितयुक्त्या प्रमाणात्मिकया न तच्छलाद्यात्मिकया नीतम् अर्थिजनं प्रापितं स युक्त्या प्रबोधित इत्यर्थः । विपक्षे बाधकमाहुः यतश्च इत्यादि । ततः **'पक्षस्थापनया'** इत्यादि *"वादिना उभयं कर्त्तव्यम्" इत्यभिदधानेन उक्तं न वेति परीक्षकाः चिन्तयन्तु । यदि युक्तम्; किमिति तैः वादन्यायो नोक्तः ? तेषामेव च सूत्रकृतां भगवतां प्राकृतजनावेद्याभिप्रायाणामभिप्रायः सूरिणा अ क ल ङ्के न वो र्सि क का रे ण सप्रपञ्चः प्रकटीक्रियते ।

अथ 'को वादः' इति प्रश्ने किमर्थं **'जल्पं विदुः'** इति उत्तरमुच्यते वादजल्पयोः भेदात् । प्रश्नानुरूपेण च उत्तरेण भवितव्यम् अन्यथा स्वात्पृष्टः कोऽपि दाराम् (आम्रान् पृष्टः कोविदारान्) आचष्टे इति स्यात् । अथ तयोरभेदः; एवमपि प्रकृतानुरूपं वक्तव्यम् 'वादं विदुः' इति । नव (न च) कारिकाभिप्रायेण एवमभिधानाद् अल्पमतीनां तँद्भेदविभ्रमनिवारणार्थम् । अत एव वितण्डापि न कथान्तरम्, जल्पस्य वादादभेदे कथं वितण्डा तँद्विशेषः वँतो भिद्येत । नहि घटस्य पार्थिवत्वे तँद्विशेषाः पदार्थान्तरम् । यदि [वा] 'वादं विदुः' 'वादे' इत्येतद् अनुवर्त्तमानं विभक्तिपरिणामेन इह सम्बध्यते, तन्न जल्पाद् अन्यो वाद इति मन्यते ।

किं तत् जल्पं विदुः ? इत्याह—**समर्थवचनम्** । अथवा कथम्भूतं **जल्पं** वादं **विदुः** ? इत्याह—**समर्थवचनम्** इति । समर्थं चेद् (चेदं) वचनं च । यदि वा, समर्थं वचनमस्मिन् जल्पे तम् इति । किं पुनः वचन (नं) समर्थम् ? येन स्वयमभिप्रेतोऽर्थः [२५४ख] साध्यरूपः साधनरूपः विरुद्धदूषणतल्लक्षणश्च परं प्रति प्रतिपाद्यते वचनेन तत्समर्थम् इति उच्यते । वचनं च यथा अर्थप्रतिपादकं तथा निरूपयिष्यते । तदनेन त्रिरूपलिङ्गवाक्यमेवं पञ्चावयवमेवं वाक्यं वाद इति एकान्तं निराकरोति । परप्रतिपादनाय तदुदाहारो[10] न व्यसनेन । तत्र यावता वचनेन "तत्प्रतिपत्तिः तावत् समर्थम् इति किं नियमेन ? [तेन] *"छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः" [न्यायसू० १।२।२] इति निरस्तम्; छलादीनाम् असमर्थवचनत्वात् ।

(१) नैयायिकवैशेषिकवत् । (२) तत्त्वार्थवार्तिककारेण इत्यर्थः । अथवा प्रस्तुतग्रन्थगतमूलश्लोका अपि वार्तिकशब्देन उच्यन्ते, तत्कर्त्रा । (३) नैयायिकः प्राह । (४) वादजल्पयोर्भेदभ्रमनिराकरणार्थम् । (५) जल्पविशेषः । (६) वादात् । (७) घटविशेषाः । (८) बौद्धाभिमतम् । (९) नैयायिकस्वीकृतम् । (१०) उदाहरणम् उदाहारः कथनमित्यर्थः । (११) परप्रतिपत्तिः ।

नहि ते[1] स्वयं प्रवृत्ताः स्वपक्षं साधयन्ति साधनवैयर्थ्यप्रसङ्गात्, परत्र च दूषयितारः परपक्षं निराकुर्वन्त्य (न्त्य)विरोधात्[2]। तत्प्रयोगेऽपि सम्यक्साधनवादिनः साध्यसिद्धेरप्रतिबन्धात् परव्यामोहनार्थम् एकवृत्तम् (एतद्वृत्तम्) अनुष्ठेयम् असार्थां (असामर्थ्यां) वरणम्। उभयत्र असिद्धानैकान्तिकोद्भावनमपि तादृगेव, तर्थे (तदर्थे) तस्मिन् जल्पे वितण्डाभावः। तथाहि–*"सैव प्रतिपक्षस्थापनाहीनो जल्पो वितण्डा" [न्यायसू० १।२।३] इति; तत्र प्रतिपक्षस्थापनाहीनः स्वपक्षसमर्थ[न]रहितश्चेत्; न समर्थवचन इति कुतो जल्पः यतो वितण्डा स्यात्? अथ वैतण्डिकः परपक्षदूषणाय अवश्यं यतते ततस्तद्दूषणवचनं 'समर्थवचनम्' इत्युच्यते; तदपि न सारम्; यतः स्वपक्षसिद्ध्यभावे परपक्षाऽनिषेधात्। यथाह–*"वितण्डा आत्मतिरस्कारः" इति चेत्; अयं परस्यैव दोषोऽस्तु।

यदि मतं समर्थवचनस्य जल्पत्वे व्याख्यानादिषु अतिप्रसङ्ग इति; तत्राह–**चतुरङ्गम्** इति। यदि वा, कथं जल्प एव वादः तयोर्विषयभेदाद्, विजिगीषुविषयः [२५५क] जल्पो न वादः अस्य शिष्टादिविषयत्वात्[4] इति; तत्राह–**चतुरङ्गम्** इति। चत्वारि वादि-प्रतिवादि-प्राश्निक-परिषद्बललक्षणानि अङ्गानि, नावयवाः, वचनस्य तदनवयवत्वात्।

द्वितीये तु व्याख्याने अङ्गशब्दो अवयववाची संभवति, **'चतुरङ्ग(ङ्गं) समर्थ(र्थ)वचनं जल्पं वादं विदुः'** इति। [वादि]प्रतिवादिवचनात् न व्याख्यानादिषु समर्थवचनं जल्प इति दर्शयति तत्र तँदभावात्। सभा (सभ्य) सभापतिवचनात् तस्य विजिगीषुविषयताम्[6] अन्यथा व्याख्यानादिवत् तत्परिग्रहवैफल्यम्। एतावदेव च वादस्यापि निग्रहवतो रूपमिति कथं तयोः विषयभेद इति?

एतेन एकस्य वादिप्रतिवादिभेदकल्पनेऽपि न [10]तद्वचनं जल्प इत्युक्तं भवति। यदि तद्वचनं जल्पः तदनवसानम्[11] तन्नियमकारणस्य असाधनादिः (असाधनाङ्गादेः) अवचनादिति चेत्; अत्राह– **पक्षनिर्णयपर्यन्तम्** इति। **पक्षस्य** विवादगोचरार्थस्य **निर्णयः** विप्रतिपत्तिपरिहारेण अवस्थानं **पर्यन्तो** यस्य स तथोक्तः तम् इति न वादिप्रतिवादिगुणदोषसंकीर्तनपर्यन्तमिति भावः।

ननु यदि 'वादिसम्बन्धिपक्षनिर्णयपर्यन्तम्' इति गृह्यते जल्पाप्रवृत्तिः, पूर्वमेव [12]तन्निर्णय-

---

(१) छलादयः। (२) परपक्षेण सह विरोधाभावात्। (३) छलादिप्रयोगेऽपि। (४) जल्पः। "यत्र विजिगीषुः विजिगीषुणा सह लाभपूजाख्यातिकामः जयपराजयार्थं प्रवर्तते सा विजिगीषुकथा। विजिगीषुकथा जल्पवितण्डासंज्ञोक्ता।"–न्यायसा० पृ० १६। न्यायकलि० पृ० १३। (५) "तत्र वादो नाम यत् परस्परेण सह शास्त्रपूर्वं विगृह्य कथयति। स वादो द्विविधः संग्रहेण जल्पो वितण्डा च।"–चरकसं० पृ० २६२। "वादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः कथा। सा द्विविधा–वीतरागकथा विजिगीषुकथा चेति। यत्र वीतरागो वीतरागेणैव सह तत्त्वनिर्णयार्थं साधनोपालम्भौ करोति सा वीतरागकथा वादसंज्ञया उच्यते।"–न्यायसा० पृ० १५। "वादो नाम वीतरागयोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहपूर्वकः प्रमाणतर्कपूर्वकसाधनोपालम्भप्रयोगे क्रियमाणे एकपक्षनिर्णयावसानो वाक्यसमूहः।"–न्यायकलि० पृ० १३। (६) "उक्तं च–स्वसमयपरसमयज्ञाः कुकजाः पक्षद्वयस्थिताः क्षमिणः। वादपथेष्वभियुक्तास्तुलासमाः प्राश्निकाः प्रोक्ताः॥"–न्यायप्र०वृ० पृ० १४। प्रमाणमी० पृ० ६३। न्यायसा० दी० पृ० १५८। (७) वादिप्रतिवाद्यभावाद्। (८) दर्शयति। (९) वादजल्पयोः। (१०) समर्थवचनम्। (११) अपरिसमाप्तिः। (१२) प्राश्निपक्षस्य निर्णीतत्वादित्यर्थः।

भावात्, स्वनिश्चयवद् अन्यस्य निश्चयोत्पादनाय तद्धेतुप्रयोगात्, इतरथा गोपालवत् कुतस्तस्य जल्पे विकारः (जल्पेऽधिकारः)। एतेन प्राभ्रिकतैन्निर्ण [य] पर्यन्तमिति चिन्तितम् "सिद्धान्तद्वयवेदिनः" इति वचनात् निर्ज्ञातोभयपक्षाणामेव प्राभ्रिकत्वात्। पार्षदैः पुनः पार्षद इव न सर्वः स्वयं तन्निर्णयवान्[1] 'तैन्निर्णयपर्यन्तम्' इति च दुरवगाहम्। नापि 'प्रतिवादितन्निर्णयपर्यन्तम्' इत्युपपन्नम्; स्वदुरागमाहितदृढविभ्रमस्य प्रतिवादिनः [२५५ख] प्रतिपद्य (पाद्य) मानस्यापि तन्निर्णय (या) योगात्। तन्न युक्तं **'पक्षनिर्णयपर्यन्तम्'** इति चेत्; न सुन्दरमेतत्; यतः साध्याविनाभाविसाधनप्रयोगोपन्यासाद् अपहाय प्ररूढमपि व्यामोहं प्रतिवादिनः परपक्षं प्रतियन्तः प्रतीयन्ते अभिमानिनोऽपि, आतुरा इव परमौषधम्। येऽपि च केचिन्न प्रतियन्ति खलमतयः तदपेक्षया तैंदुपन्यासजनितः सत्यनिर्णयो [ज्ञातो]भयकृतान्तानाम्[2] अन्यवचनात् [3]प्रतिपत्तिः (तेः) जायते, इतरथा जन्मन([4]तन्मन)सि वादीतरगुणदोषप्रति[पत्ति]विश्ववैधुर्यात् कुतो [5]निकषोपलब्धसमा (षोपलसमा)नत्वं यतस्तदपेक्षा[6] स्यादिति।

किं पुनरस्य फलम्? इत्याह—**फलं 'जल्पस्य'** इत्यनुवर्त्तते। किम्? इत्याह—**मार्गस्य** सम्यग्ज्ञानादेः **प्रभावना** प्रकाशनम्।

ननु तत्त्वस्य आत्मादेः अध्यवसायः कुतश्चित् स्वयं निर्णयः तस्य दस्युभ्यः सौगतादिभ्यः संरक्षणं तत्फलमस्तु *"तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्" [न्यायसू० ४।२।५०] इति वचनादिति चेत्; यदि प्रमाणतः तत्संरक्षणम्; अनुकूलमाचरसि प्रमाणविषये प्रवृत्तेः, तत एव [7]तत्प्रकाशनस्य अवश्यंभावात्। [8]अन्यतश्चेत्; तन्न युक्तमिति निवेदयिष्यते। दस्यवोऽपि यदि प्रमाणतः [9]तन्निराकुर्वन्ति न छलादिवचनादप्रमाणकात्[10] तस्य [11]त्राणं प्राभ्रिकाः पक्षपातरहिताः तत्त्ववेदिनो मन्यते। यदि सप्रमाणकात्[12]; स्वत एव तद्रक्षितम्, किं तत्र छलादिप्रयासेन? वैवरक्ता हि हिंसकाः [किंशुकाः केन रज्यन्ते नाम]।

ननु च वादिना प्रतिवादी सभ्याश्च प्रतिपादनीयाः न सभापतिः सुकुमारप्रज्ञः, ततः किं तेनेंति 'त्र्यङ्गं जल्पं विदुः' इत्येवास्तु [२५६क] इति चेत् अत्राह—'वादि' इत्यादि। वादिनः प्रतिवादिप्राभ्रिकयोः तत्त्वप्रतिपादनसामर्थ्यम् उपलक्षणमेतत् तेन 'प्रतिवादिप्राभ्रिकयोः तत्त्वप्रतिपादनसामर्थ्यम्' इत्यपि गृह्यते तदन्तरेण यथैव येनैव प्रतिपाद्यप्रतीत्योः अभावप्रकारेण उन्मार्गस्य एकान्तस्य शोधनेन अपसारणेन **मार्गप्रभावना न संभवति** वक्ष्यमाणविधिना। **एवं परिषद्बलस्य** राज्ञः **यथार्हं** यथायोग्यं सत्ये, राज्ञे वादिप्रतिवादिनं (नां) **दोषनिवेदने सति**

---

(१) तुलना—"स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनं बुधैः। परार्थं मानमाख्यातं वाक्यं तदुपचारतः॥" —न्यायावता० श्लो० १०। (२) स्वपक्षनिर्णयाभावे। (३) पक्षनिर्णय। (४) "अपक्षपतिताः प्राज्ञाः सिद्धान्तद्वयवेदिनः। असद्ग्रहनिषेद्धारः प्राश्निकाः प्रग्रहा इव॥ इत्येवंविधप्राश्निकांश्च·····"—प्रमेयक० पृ० १४९। (५) राजा, सभापतिपदे स्थितः। (६) अतः। (७) सभापतिपक्षनिर्णयान्तम्। (८) अविनाभावित्वसाधनप्रयोगजनितः। (९) प्राश्निकादीनाम्। (१०) वादिवचनाज्जायमानायाः प्रतिपत्तेः सकाशात्। (११) प्राश्निकादिचेतसि। (१२) 'कसौटी' इत्याख्यः पाषाणः सुवर्णपरीक्षणोपयोगी। (१३) प्राश्निकाद्यपेक्षा। (१४) मार्गप्रकाशनस्य। (१५) छलादितः। (१६) स्वकृततत्त्वाध्यवसायम्। (१७) क्रियमाणं। (१८) संरक्षणम्। (१९) यदि सौगतादयः सप्रमाणकवाक्यात् तत्त्वं निराकुर्वन्ति। (२०) सभापतिना।

[1]तेन 'एवं त्वया स्थातव्यम्, त्वया एवं सभ्यैश्च यथावृत्तमेव अस्मि निवेदनीयम्' इत्यल्लङ्घनीयमाज्ञापनं कर्त्तव्यम्, [2]तत्र सामर्थ्येऽसति पुनर्न स्यात् तच्छोधनेन तत्प्रभावना इति । कुतः ? इत्याह—स्वयमेव उद्धृत्य इत्यादि । न्यायवादिनमपि न्यायं वदति इत्येवंशीलगुणमपि वादिनं प्रतिवादिनं (नां) प्रतिक्षिपतां दर्शनात् । काभ्याम् ? इत्याह—व्यापारव्याहाराभ्याम् अहोपुरुषिकया । किमर्थम् ? इत्याह—स्वयम् आत्मना वा अद्धृत्य (औद्धत्य) प्रच्छादनार्थम् । ५ ननु सभ्याः तन्निवारकाः, तान् उल्लङ्घयन्तं क्षिपतां दर्शनात् इति मन्यते । न्यायशास्त्रमेव तर्हि नियामकमिति चेत्; अत्राह—छल इत्यादि । *"वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्" [न्यायसू० १।२।१०] *"दूषणाभासास्तु जातयः" [न्यायवि० ३।१४०] *विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्" [न्यायसू० १।२।१९] एषां भेदो लक्षणं च नेह प्रतन्यते विस्तरभयाद् अन्यत्रैव तद द्रष्टव्यम् इति केचित् (कैश्चित्[4]) तैः साधनम् उपालम्भश्च १० यस्मिन् स तथोक्तः । कोऽसौ ? इत्याह—जल्पः इत्येवम् वादात् पृथगेव जल्पस्य कैश्चित् नैयायिकादिभिः लक्षणात्, [२२६ख] 'ताभ्यां तं प्रतिपक्षिपतां दर्शनाद्' इति सम्बन्धः ।

छलादीनाम् आक्रोशचपेटादिसमत्वादिति मन्यते । तथाहि—'औढ्योऽयं नवकम्बलत्वात्' इत्युक्ते स प्रतिवादी उद्भावयति 'मा अस्य नव कम्बलाः किन्तु एकः' इत्यसिद्धो हेतुरिति; तत्रेदं चिन्त्यते—किं सम्यक् साधनप्रयोगे पुरः स ए (प्रयोगपुरस्सरे) तदुद्भावने[5] प्रतिवादिनः पराजयः, १५ विपरीते वा ? तत्राद्यपक्षे स्वपक्षसिद्ध्यैव वादी प्रतिवादिनं विजयते किमन्येन ? यदि पुनः 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' इति तदुद्भावनेनापि;[6] तदसत्यम्; युक्त्या निगृहीते[7] तद्वैफल्यात्, [8]विषोपयोगमृते सत्तोमहि (शत्रौ नहि) तद्व्यापादनाय स्वल्पचपेटादिकं युज्यते । कथञ्चैवं हेत्वन्तरं[9] निग्रहस्थानं न दूषणान्तरोद्भावनम्[10] इति विभागः, यतो वादिनो युगपत् जयपराजयौ न स्याताम् ? तस्मात् नवकम्बलत्वादि [ति] हेत्वर्थस्य विवक्षितत्वात् नायमसिद्धो हेतुः । प्रकरणादि- २० भिश्च अनेकार्थेषु शब्देषु नियतार्थसंप्रत्ययः कर्त्तव्यः, अन्यथा सर्वशब्दानामनेकार्थत्वात् सर्वोऽपि एवं हेत्वादिः दुष्टः स्यात् 'नास्त्यत्र सीतस्यसो (शीतस्पर्शो) धूमकेतोः[11]—शिखिनः' इत्यादि प्रयो-

(१) राज्ञा । (२) आज्ञापने । (३) मार्गप्रभावना । (४) नैयायिकैः । (५) "यथोक्तोपपन्नः छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः"—न्यायसू० १।२।२ । (६) तुलना—"तत्त्वरक्षणार्थं सभ्यैरुपहर्त्तव्यमेव छलादि विजिगीषुभिरिति चेत्; नखचपेटशस्त्रप्रहारादीपनादिभिरपि इति वक्तव्यम् । तस्मान्न उपायानयं तत्त्वरक्षणोपायः ।"—वादन्या० पृ० ७१ । "लकुटचपेटादिभिस्तन्न्यक्कारस्यापि तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थत्वानुषङ्गात् ।"—न्यायकुमु० पृ० ३१८ । (७) "नवकम्बलोऽयं माणवक इति प्रयोगः । अत्र नवः कम्बलोऽस्येति वक्तुरभिप्रायः । विग्रहे तु विशेषो न समासे । तत्रार्थं छलवादी वक्तुरभिप्रायादविवक्षितमन्यार्थम्—नव कम्बला अस्येति तावदभिहितं भवता इति कल्पयति । कल्पयित्वा चासंभवेन प्रतिषेधति एकोऽस्य कम्बलः कुतो नव कम्बलाः इति ? तदिदं सामान्यशब्दे वाचि छलं वाक्छलमिति । अस्य प्रत्यवस्थानम्···। सोऽयमनुपपद्यमानार्थकल्पनया परवाक्योपालम्भो न कल्पते इति ।"—न्यायभा० १।२।१२ । चरकसं० पृ० २६६ । उपायह० पृ० १५ । न्यायसा० पृ० १६ । न्यायकलि० पृ० १६ । (८) छलाद्युद्भावने । (९) प्रयोजनम् । (१०) प्रतिवादिनि । (११) छलादिप्रयोगवैयर्थ्यात् । (१२) "अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम्"—न्यायसू० ५।२।६ । (१३) निग्रहस्थानमिति । (१४) 'अग्नेः' इत्यस्यार्थे 'शिखिनः' इति प्रयोगे क्रियमाणे कश्चित् शिखिशब्दं मयूरार्थकं मत्वा दूषयेत् ।

रोऽपि तदुद्भावनसंभवादिति । एवमसौ निवारणीयो न तावता निग्रहणीयः, समीचीनसाधन-प्रयोगवैफल्यम् अन्यथा स्यादिति । भावे च सकृत् जयपराजयौ वादिनः । किं पुनरेवंवादिना तदुद्भावनं न कर्तव्यम् ? 'न निग्रहबुद्ध्या प्रकृतदोषात् अपि तु निवारणबुद्ध्या' इति ब्रूमः । अनुद्भावने को दोषः ? न कश्चित् , यदि हेतुं समर्थयते । 'निग्रहः' इत्यपरे[४]; तदसाम्प्रतम्; यतः प्रतिवादिप्रयुक्तछलानुद्भावनं [२५७क] वादिनः पराजयाधिकरणं यदि सं एव 'मयैवं प्रयुक्तं छलं कृपया (त्वया) नोद्भावितमिति पर्यनुयोज्योपेक्षणात् निगृहीतोऽसि' इति व्यवस्थापयेत्; तर्हि तस्यैवं तदुद्भावने[११] स्वयं स्वदोषोद्भावनात् । अस्ति वा स्वभावतदुद्भावनावस्थयोः विशेषः ? दृश्यन्ते हि स्वयम् उद्भावितेनापि दोषेण निगृह्यमाणाः चौरप्रभृतयः । *"को हि स्वं कौपीनं विवृणुयात्" इति[१२] वचनात् स्वयं तदुद्भावनायोगाच्च । अथ सभ्याः[१३]; ते तर्हि यथा तदनुद्भावनं तस्य[१४] पराजयं व्यवस्थापयति (न्ति) तथा समीचीनसाधनवचनं जयमपि व्यवस्थापयन्तु । सह जयेतरौ स्यातामिति चेत्; [१५]जाल्पिकस्यैव अयं दोषोऽपरोऽस्तु । अथ तदनुद्भावनदोषैः न साधन-समीचीनता स्यात्[१६], सं[१७] दोषोऽपि मा भूत् ; अहो मध्यस्थाः प्राश्निकाः यदल्पदोषेण महागुणमपि साधनमसमीचीनं मन्यन्ते, न पुनः [१८]तद्गुणेन अल्पदोषम् 'अदोषम्' इति । तत्र आद्यपक्षे समीचीनसाधनप्रयोगपुरस्सरे छलोद्भावने वादी परं विजयत इति ।

नापि द्वितीये, द्वयोः समत्वात् कस्य विजयः ? अपरस्यापि पराजयो वा स्यात् ? यथैव प्रतिवादिनः छलप्रयोगो दोषः तथा वादिनः साधनाभासप्रयोगः[१९]। यदि प्रतिवादी [२०]तदुद्भावयेत् तथैव, अन्यथा सं[२१] एव पराजयवान् स्यात् यदि वादी जयवान् न चेत्, तयोः[२२] परस्परापेक्षत्वात् । भवति इति चेत् ; तत्र प्रतिवादिनः पर्यनुयोज्योपेक्षणमनुद्भाव्यते; तर्हि सोऽपि वा नो दोषमनुद्भाव्य जयति इति पुनरपि सकृत् जयेतरौ । यदि उद्भाव्य; वादी एव जीयते इत्युक्तं स्वदोष-[२५७ख] प्रकाशनात् । अथ प्राश्निकाः वादिदोषानुद्भावनं (ने) प्रतिवादिनो निग्रहं कल्पयन्ति; ते एव वादिनः साधनाभासवचनेन प्रतिवादिनः छलवचनेनं[२३] इति तदवस्था युगपद् द्वयोर्जयेतर-व्यवस्था । अथ तयोः परस्परदोषोद्भावनं प्रतीक्ष्य जयेतरव्यवस्थां ते[२४] विरचयन्ति; [२५]तदनुद्भावने का वार्त्ता ? [२६]तयोः साम्येन व्यवस्थापनमिति चेत् ; कुत एतत् ? अन्यतरस्यापि पक्षाऽसिद्धेरिति चेत् ; तदुद्भावनेऽपि तदैव[२७] अस्तु विशेषाऽभावात् , अन्योऽन्यदोषोद्भावनविशेषाभावेऽपि प्रकृत-[२५] स्याऽपरिसमाप्तेः । नापि प्रत्येकं जयेतरप्राप्तिपरिहारः ।

---

(१) छलोद्भावने । (२) अनेकार्थकशब्दप्रयोगमात्रेण । (३) छलोद्भावनम् । (४) नैयायिकाः । (५) तदा स्यात् यदा । (६) प्रतिवादी । (७) प्रतिवादिना । (८) वादिना । (९) "निग्रहप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणम् ।" —न्यायसू० ५।२।२१ । निग्रहस्थाने कृतेऽपि 'निगृहीतोऽसि' इति अवचनात् । (१०) प्रतिवादिन एव । (११) स्वकृतछलानुद्भावने । (१२) तुलना—"एतच्च कस्य पराजय इत्यनुयुक्तया परिषदा वचनीयम्, न खलु निग्रहं प्राप्तः स्वकौपीनं विवृणुयादिति ।"—न्यायभा० ५।२।२१ । (१३) वादिनः छलाद्यनुद्भावनमुद्भावयन्ति । (१४) वादिनः । (१५) छलादिप्रयोगं जल्पे स्वीकुर्वतो नैयायि-कस्य । (१६) तर्हि । (१७) छलाद्यनुद्भावनम् । (१८) साधनगुणेन । (१९) दोषः । (२०) साधनाभा-समुद्भावयेत् । (२१) प्रतिवादी । (२२) जय-पराजययोः । (२३) निग्रहं कल्पयन्तु । (२४) प्राश्निकाः । (२५) दोषानुद्भावने । (२६) वादिप्रतिवादिनोः । (२७) साम्येन व्यवस्थापकत्वस्तु ।

किञ्च, साधनाभास(स)वादिना परस्य छले समुद्भाविते किं तस्य तेनादिना(वा) नष्टा येन जयं व्यवस्थापयन्ति ? तदुद्भावनेन तिरोधानमुष्टा (नाम्नष्टा) इति चेत् ; तदुद्भावनमपि साधनदोषेस(ब) तिरोधानान्नष्टमिव किम् न स्यात् ? एवमेतत्, सै दोषो यदि प्रतिवादिनोद्भाव्योतान् भवने (नोद्भाव्येत । अनुद्भावने) किं स्यात् प्रतिवादिनः ? सतोऽपि दोषस्याऽनुद्भावनं निग्रह इति चेत् ; तस्य तद्दयां (तद्दुष्यं) प्रसक्तम् तन्न वा, अन्यतरं दोषमुद्भाव्य वादिनो जय- ५
मिच्छतः अंशेन पर्यनुयोज्योपेक्षणप्रसक्तिः । उभयदोषप्रकाशनेऽप्युक्तम् । एकप्रकाशने नवरि [द्वि]तीयप्रकाशनमिति तत्तच्छलवादिन (नं नि)गृह्णाति ।

ननु यदा छलवादी दोषमुद्भावयति तदा का गतिः ? सकृज्जयेतरप्राप्तिः । यदि वादी छलमुद्भावयेदिति चेत् ; तथा वादिनोऽपि तत्प्राप्तिप्रकाशनेऽपि तस्य दोषद्वयमायातम्, छलाप्रकाशं साधनाभासवचनं च । तत्र च चिन्तितं [२५८क] दूषणमनन्तरमेव । तस्मात् न साधनाभास- १०
वाद्यपि छलवादिनं विजयते । एतेन पूर्वपक्षवादी छलं वदन् परेण जीयते इति मतं चिन्तितम्, प्रकृतविकल्पद्वये तथैव दोषात् ।

ननु छलं त्रिविधम्—वाक्छलम्, सामान्यछलम्, उपचारछलं चेति । तत्र आद्यस्य व्याख्यानम्—स्वत्रम्(स्वयम्) *"अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायाद् अर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्" [न्यायसू० १।२।१२] अस्यायमर्थः—अविशेषेण प्रत्यय-संख्याविशेषवाचिसामान्य- १५
शब्देन अभिहितेऽर्थे 'नवकम्बलत्वात्' इति हेतोः वक्तुरभिप्रायात् तदा उक्त (तदुक्त)प्रत्ययकम्बलाप्रदि (लात् यत्) अर्थान्तरस्य नवसंख्योपेतार्थस्य कल्पना वाक्छलम् । यथा हि 'एषः नवकम्बलत्वात्' इत्युक्ते 'कुतोऽस्य एककम्बलस्य नव कम्बलाः' इति वचनम् ।

सामान्यछलव्याख्यानसूत्रम्—*"संभवतोऽर्थस्य अतिसामान्ययोगादसद्भूतार्थकल्पना सामान्यछलम्" [न्यायसू० १।२।१३] संभवतः श्रूयमाणस्य अर्थस्य अतिसामान्य- २०
योगात् अनैकान्तिकसामान्ययोगाद् असद्भूतार्थकल्पना तस्य अनेकस्य सामान्यस्य अहेतोः हेतुत्वकल्पना तया वचन व्याख्यातः (विघातः) स नो (सामान्य)छलम् । यथा 'ब्राह्मणोऽयं त्रिद्याचरणसम्पन्नः' इत्युक्ते कश्चिदाह—'संभवति ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पद्' इति तत्स्तुतिः । तत्रापरः प्राह—यदि ब्राह्मणत्वं तत्सम्पदो हेतुः ज्ञापकः कारको वाऽस्य; व्रातोऽपि (व्रात्योऽपि) द्विजः "तत्सम्पन्नः स्यादिति । २५

उपचारछलव्याख्यानम्—*"धर्मविकल्पनिर्देशे अर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारछलम्" [न्यायसू० १।२।१४] अयमत्रार्थः—उपचरितार्थाभिधाने [२५८ख] प्रधानार्थकल्पनया वचनव्याघातः तच्छलमिति । यथा 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इत्युक्ते 'न मञ्चाः क्रोशन्ति किन्तु तद्गताः पुरुषाः' इति । तदेतत् त्रिविधमपि छलं छलमात्रम् न निग्रहाय उक्तवत् ।

---

(१) साधनाभासवादिना । (२) छलोद्भावनमपि । (३) साधनाभासदोषः । (४) अथवा किमपि न स्यादिति भावः । (५) "तत् त्रिविधं वाक्छलं सामान्यछलमुपचारछलं चेति ।"—न्यायसू० १।२।११ । (६) प्रत्ययप्र नूतनम् । (७) "यद्विवक्षितमर्थमाह्नोति च अश्नुते च तदतिसामान्यम् । यथा ब्राह्मणत्वं विद्याचरणसम्पदं क्रियादाह्नोति क्रियादश्नुते ।"—न्यायभा० १।२।१३ । (८) ब्राह्मणस्य प्रशंसा । (९) असंस्कृतोऽपि । (१०) विद्याचरणयुक्तः ।

एतेन जातिरपि व्याख्याता । का पुनरियं जातिः ? *"साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः" [न्यायसू० १।२।१८] तत्र प्रत्यवस्थानं जातिः इति जातेः सामान्यलक्षणम् । §प्रश्लेषणं प्रत्यवस्थानम् § प्रत्यवस्थानमात्रं (नमत्र) प्रतिषेधाभास इत्येके; तदसत्यम्; प्रत्यवस्थानशब्दस्य उत्तरसामान्यवचनस्य तदाभासे[2] असत्य(त्या)र्थादौ वृत्तिविरोधात् । न चात्र तदस्ति ।

यत्पुनरत्रोदाहरणमुक्तम्–'अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटादिवत्' इत्युक्ते वैशेषिकेण; कश्चिदाह–यथा घटेऽनित्यत्वे सति कृतकत्वं दृष्टं तथा आकाशगुणत्वाभावेऽपि, तत इदमपि प्रसक्तम्–'न आकाशगुणः शब्दः कृतकत्वात् घटवत्' इति; प्रत्यवस्थानमात्रमेतत्; कथम् ? अप्रस्तुताकारत्वानागुणत्वबाधनेपि अनित्य (अप्रस्तुताकाशगुणत्वबाधनेऽपि अनित्य) त्वाबाधनात् । आगमबाधोऽपि इत्येके । तन्न वैशेषिकस्य सुभाषितम् आगमबाधने सर्वत्र *"आगमः प्रतिज्ञा" [न्यायभा० १।१।१] इत्यस्य विरोधात् । न च विभागेन तदागमत्वम्; अन्यत्रापि अनाश्वासापत्तेः । अनेन पूर्वहेतोर्व्याप्तेरखण्डनात् तन्मात्रम् इत्यपरे; तेषामखण्डितप्राप्तिका (व्याप्तिकात्) प्रकृतसाधनसमर्थात् [प्रा] क्तनादेव हेतोः जयेतरव्यवस्थानात् नेदं निग्रहस्थानम्, इतरथा तद्वैफल्यम् । द्वाभ्यां निग्रहेऽपि उक्तम् । [२५९क] कथं वा अनेन तद्व्याप्तेः अखण्डनम्, यावता घटादौ आकाशगुणत्वाभावसहचरितस्य कृतकत्वस्य वचनेऽपि यदि तेतेन (ते न) तद्व्याप्तिः अनित्यत्वेनापि न स्यात् इत्येवं तत्र प्रतिवादिनः अभिप्रायात् । पव (न च) वैशेषिकस्य सहदर्शनाद् अन्यद् व्याप्तिसाधकमस्ति ।

यत्पुनरुक्तम्–आकाशाऽप्रतिपत्तौ अप्रसिद्धविशेषणः पक्षः, शब्दगुणात् तत्प्रतिपत्तौ न तत्प्रतिषेध इति आकाशगुणत्वाभावेन न कृतकत्वस्य व्याप्तिः इति न पूर्वसमानता इति; तन्न युक्तम्; यतः आकाशस्य प्रतिपत्तावपि 'न शब्दात् प्रतिपत्तिः' इति निरूपयिष्यते, ततो यत्किञ्चिदेतत् ।

तस्यां विभागार्थम् *"साधर्म्यवैधर्म्याभ्याम्" [न्यायसू० १।२।१८] इत्येतत् । साधर्म्येणोक्ते हेतौ प्रत्यवस्थानं दर्शयति भाष्यकारैः–*"उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः" [न्यायसू० १।१।३५] इति, अस्य उदाहरणवैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं 'जातिः' इति शेषः । तत्र उदाहरणम्–'क्रियावान् आत्मा क्रियाहेतुगुणयोगत्वात्[7] लोष्टवत्' इति । अत्राह परः–यदि क्रियावद्द्रव्यसाधर्म्यात् क्रियाहेतुगुणसम्बन्धात् तथा आत्मा साध्यते; तर्हि तद्रव्यवभु (तद्वद्

(१) § एतदन्तर्गतः पाठो द्विर्लिखितः । (२) उत्तराभासे । (३) यतो न घटः आकाशगुणः । (४) जातेः । (५) "साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः ।"–न्यायसू० १।२।१८ । (६) "साधर्म्येणोपसंहारे साध्यधर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्येणैव प्रत्यवस्थानप्रविविच्यमाणं स्थापनाहेतुतः साधर्म्यसमः प्रतिषेधः । निदर्शनं क्रियावानात्मा द्रव्यस्य क्रियाहेतुगुणयोगात् । द्रव्यं खोष्टः क्रियाहेतुगुणयुक्तः क्रियावान् तथा चात्मा तस्मात् क्रियावानिति । एवमुपसंहृते परः साधर्म्येणैव प्रत्यवतिष्ठते निष्क्रिय आत्मा विभुनो द्रव्यस्य निष्क्रियत्वात् । विभु च आकाशं निष्क्रियं च, तथा चात्मा, तस्मान्निष्क्रियः इति । न चास्ति विशेषहेतुः क्रियावत्साधर्म्यात् क्रियावता भवितव्यं न पुनरक्रियसाधर्म्यान्निष्क्रियेणेति विशेषहेत्वभावात् साधर्म्यसमः प्रतिषेधो भवति ।"–न्यायभा० ४।१।२ । (७) क्रियाहेतुगुणः अदृष्टम् । (८) क्रियावान् ।

विभु) त्वाद् अक्रियत्वमस्यास्तु विशेषाभावादिति । एतच्च असदुत्तरं पूर्वहेतुव्याख्यानखण्डनात् । उपलक्षणमेतत्, तेन उदाहरणसाधर्म्येणापि प्रत्यवस्थानं जातिः । तद्यथा–'निष्क्रिय आत्मा विभुत्वाद् आकाशवत्' इति, अत्र प्रत्यवस्थानम्–'सक्रिय आत्मा क्रियाहेतुगुणयोगित्वात् लोष्टवत् अविशेषात्' इति । एतदपि तत एव [२५९ख] असदुत्तरम् । वैधर्म्येणोक्ते हेतौ प्रत्यवस्थानं दर्शयति स एव 'उदाहरणवैधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः' इत्यस्य उदाहरणसाधर्म्येण प्रत्यवस्थानं 'जातिः' इति शेषः । यथा 'न चेतनायतनं तृणादयः प्राणादिरहितत्वात्, यत् पुनः चेतनायतनं तत् प्राणादिमद् दृष्टं [यथा] जीवच्छरीरम्' इत्यत्र यदि जीवच्छरीर[वैधर्म्यादचेतनत्वं तर्हि तत्]साधर्म्यात् मूर्त्तत्वात् तृणादीनां चेतनत्वमस्तु विशेषहेत्वभावात् इति । उपलक्षणमेतत्, तेन 'उदाहरणवैधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः' इत्यस्य उदाहरणवैधर्म्येणापि प्रत्यवस्थानं जातिः इति । तत्रोदाहरणम्–'अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्, यदनित्यं न भवति [न तत् कृतकं] यथा आकाशम्' इत्युक्ते पर आह–यदि नित्यवैधर्म्यात् कृतकत्वाद् अनित्यः शब्दः तर्हि अनित्यवैधर्म्याद् अस्पर्शवत्त्वात् नित्योऽस्तु । कथिता जातिः । [3]निग्रहस्थानानि पुनरत्रैव यथावसरं कथयिष्यन्ते ।

निगमयन्नाह–**ततः चतुरङ्ग** इत्यादि । **'समर्थवचनं जल्पं विदुः'** इत्युक्तम् । तत्र किं तस्य साधर्म्यम् (सामर्थ्यम्) ? इत्याह–**वचनस्यापि** इत्यादि । **वचनस्यापि** न केवलम् अध्यक्षलिङ्गयोरेव **सामर्थ्यम्** 'अस्ति' इति वाक्यशेषः । किम्भूतम् ? इत्याह–**तदन्य** इत्यादि । तच्छब्देन वादिप्रतिवादिनोः तत्त्वे प्रकृते परामृश्येति [ते इ] ति **तदन्यतरस्य** वादित्वम् (वादिनः) **तत्त्वस्य इतरस्य** वा यो **निर्णयः** स एव **अवसानं** पर्यन्तं यस्य तत् तथोक्तं न इतरकल्पितम् इति एवकारार्थः । वक्त्रभिप्राय सूतमेव (सूचनमेव) [२६०क] तत् तस्येति चेत्; तत्राह–**[न] पुनः नैव वक्त्रभिप्रायसूचनम्** । एवकारोऽत्रापि द्रष्टव्यः अवधारणार्थो वा पुनःशब्दोऽत्र । कुतः? इत्याह–**साधन** इत्यादि । **साधनं च दूषणं च तदाभासश्च** साधनदूषणमात्रं (णतदाभासाः) तेषां **व्यवस्था** अभिधानविकल्पात्मिका स्थितिः **तस्या वस्तुत्वत्व(तत्त्व) प्रतिबन्धात्** । अस्याऽयमर्थः–वस्तु परमार्थसत् यत् साधनादितत्त्वं तत्रैं प्रतिबन्धाद् आयत्तत्वात् । एतदुक्तं भवति–साधनादिविकल्पः तद्विषयः, अन्यथा ततः तत्सिद्धेः तद्व्यवहारोच्छेदः, अविकल्पनिषेधात् । अनिषेधेऽपि [न] ततोऽपि, इतरथा अकिञ्चित्करादेरपि तत्सिद्धेः 'कृतकः शब्दः अनित्यत्वात् घटादिवत्' इत्यपि स्यात् । तद्विकल्पप्रभवाश्च नितरां तद्विषयाः, इति निराकृतमेतत्–*"विकल्पयोनयः शब्दाः" इत्यादि ।

(१) पूर्वहेतोः व्याख्यानखण्डनादेव । (२) भाष्यकारः । "वैधर्म्येण चोपसंहारे निष्क्रियः आत्मा विभुत्वात् । क्रियावद् द्रव्यमविभु दृष्टं यथा लोष्टः, न च तथात्मा तस्मान्निष्क्रियः इति । वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं निष्क्रियं द्रव्यमाकाशं क्रियाहेतुगुणरहितं दृष्टम्, न तथा आत्मा तस्मान्निष्क्रिय इति । न चास्ति विशेषहेतुः क्रियावद्वैधर्म्यात् निष्क्रियेण भवितव्यं न पुनरक्रियवैधर्म्यात् क्रियावतेति विशेषहेत्वभावात् वैधर्म्यसमः । अथ वैधर्म्यसमः–क्रियाहेतुगुणयुक्तो लोष्टः परिच्छिन्नो दृष्टः, न च तथात्मा तस्मान्न लोष्टवत् क्रियावानिति । न चास्ति विशेषहेतुः क्रियावत्साधर्म्यात् क्रियावता भवितव्यं न पुनः क्रियावद्वैधर्म्यादक्रियेणेति विशेषहेत्वभावाद् वैधर्म्यसमः ।"–न्यायभा० ५।१।२ । (३) "विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् ।"–न्यायसू० १।२।१९ । (४) वस्तुनि । (५) वस्तुविषयः । (६) वस्तुसिद्धेः । (७) अविकल्पाद् वस्तुसिद्धिः । (८) 'विकल्पाः शब्दयोनयः । तेषामन्योऽन्यसम्बन्धो मायाद् शब्दाः स्पृशन्त्यमी ।' इति शेषः –न्यायकुसु० पृ० ५६७ टि० ७ ।

'वक्त्रभिप्राय' इत्यादिना परमतमाशङ्कते दूषयितुम् । वक्तुः साधनादिवादिनः अभिप्रायः साधनादिविकल्पः सूच्यते अभिलप्यते येन तत्सूचनम् अभिधानं तयोः समाहारलक्षणो द्वन्द्वः तस्य सर्वत्र साधनादिसद्भाववत् तदभावेऽपि अविशेषात् । एतदपि कुतः ? इत्याह–प्रतिबन्धाभावात् साधनादिभिः सह वक्त्रभिप्रायसूचनस्य तादात्म्य-तदुत्पत्तिलक्षणाऽविनाभावा [भावा] न् कारणात् कथं शब्दैः उपलक्षणमेतत्, तेन विकल्पैः स्वार्थस्य साधनादिलक्षणस्य प्रतिपादनमिति चेत् ; अत्र परस्य स्ववचनविरोधं दर्शयितुं कारिकां नोपनेयम् इत्यादिकामाह–

[नोपनेयं क्वचित् किञ्चिदसिद्धं नापनीयते ।
वाचाऽङ्गं सूच्यते चेति वक्ता कथमनाकुलः ॥३॥

शब्दाः कथं कस्यचित् साधनमिति ब्रुवन् कथमवधेयवचनः ? तत्कृतां तत्त्वसिद्धिमुपजीवतीति साधनाङ्गवचनाद् भूतदोषोद्भावनाद्वा । शक्तस्य सूचनं हेतुवचनं स्वयमशक्तमपि, साध्योक्तिः पुनः पारम्पर्येण नालमिति परः प्राकृतशक्तिः ।]

क्वचित् शब्दादिधर्मिणि किञ्चिद् असिद्धम् अनित्यत्वादिकं नोपनेयं नोपढौकनीयम् । [२६०ख] कया ? वाचा अनित्यत्वशब्देन, साधनानर्थक्यम् अन्यथेति मन्यते । तत एव कुतश्चित् शब्दादेः किञ्चित् नित्यत्वादिकं नापनीयते न निराक्रियते वाचा 'न नित्यः' इति वचनेन । तदुक्तं वि नि श्र ये–*"ते तर्हि क्वचित् किञ्चिद् उपनयतोऽपनयतो वा कथं कस्यचित् साधनम्" इति । किं तर्हि तयाँ क्रियते ? इत्याह– वाचाऽङ्गं लिङ्गं सूच्यते च *"परार्थं तु अनुमानं स्वदृष्टार्थप्रकाशनम्" [प्र० वार्तिकाल० ४।१] इँति वचनाद् इत्येवं यो वक्ता स कथम् अनाकुलः आकुल एव पूर्वापरविरुद्धाऽभिधानात् । 'वाचा' इति उपलक्षणम्, तेन विकल्पेनापि 'सूच्यते च' इति वा उपलक्षणम्, तेन व्यवसीयते च ।

कारिकां विवरीतुमाह–शब्दा इत्यादि । शब्दाः कथं न कथञ्चित् कस्यचित् साधनम् इत्येवं ब्रुवन् सौगतः कथमवधेयवचनः ? कुतः ? इत्याह–तत्कृतां शब्दकृतां तत्त्वस्य सिद्धिं निर्णीतिम् उपजीवति इति हेतोः । एतदपि कुतः इत्याह–सिद्धिः साधनं तस्य अङ्गं निमित्तम् त्रिरूपं लिङ्गम् ; साध्यते अनेन इति वा साधनम्, अस्यां पक्षधर्मत्वादेः (दिः) अवयवः तस्य वचनात् प्रतिपादनात् 'शब्दैः' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । भूतस्य विद्यमानस्य दोषस्य असिद्धादेः उद्भावनाद्वा । इदमत्र तात्पर्यम्–साधनदूषणवचनेन तँदप्रतिपादने साधनाङ्गस्य अवचनाद् दोषस्य च अनुद्भावनाद् अनर्थकवचनाच्च निग्रहप्राप्तिः तद्वक्तुः । प्रतिपादने अयं दोषः अनुषक्ती इति ।

(१) तुलना–"तत्कृतां वस्तुसिद्धिमुपजीवति न तद्वाच्यतां चेति स्वदृष्टिरागमात्रमनवस्थानुषङ्गात् ।" –अष्टश० अष्टस० पृ० १३० । (२) पूर्वपक्षः–"साध्याभिधानात् पक्षोक्तिः पारम्पर्येण नाप्यलम् । शक्तस्य सूचकं हेतुवचोऽशक्तमपि स्वयम् ॥"–प्र० वा० ४।१७ । (३) वाचा । (४) "स्वेन दृष्टं स्वदृष्टं वादिप्रतिवादिभ्यां प्रतिपाद्यप्रतिपादकाभ्यां स्वदृष्टस्येत्यर्थः । यदि प्राश्निकाः तेषामधिकारात् । विप्रतिपत्तिनिरासस्तु सामर्थ्यादेव प्रसिद्धः । प्रकाश्यतेऽनेन स्वप्रतीतोऽर्थः परं प्रति । तच्च कार्यकारिद्विरूपलिङ्गरूपम् । तत्र स्वदृष्टोऽर्थः त्रिरूपं लिङ्गम् ।"–प्र० वार्तिकाल० ४।१ । (५) सिद्धौ । (६) साधनदूषणरूपपदार्थाकथने ।

स्यान्मतम्–*"न ततः किञ्चित् कश्चित् प्रतिपादयति प्रतिपद्यते [२६१क] वा केवलं तैमिरिकद्वयवद् भ्रान्त्या शब्दत इदं मया अग्नं प्रतिपादितः अहं च प्रतिपन्नः इति वक्तुः प्रतिपत्तुश्च बुद्धिः जायते" इति; तन्न सारम्; यतः कथमेवं स्वयं जानन्नेव शाब्दव्यवहारम् अनुबाधेत संयोग्यादिव्यवहारवत् ? यथैवायं संयोग्यादिलिङ्गं[2] प्रतिबन्धाभावेन सव्यभिचारमुपलभ्य परिहृतवान् तथा शब्दं परिहरेत्। अथ तत्परित्यागे क्षणमपि जीवितुं न शक्यते इति तत्यागः (न तत्त्यागः) तत एव भविष्यच्छकटाद्यनुमाने "कृत्तिकाद्युदयपरित्यागोऽपि मा भूत्। तथा च *"अद्य आदित्योदयात् श्व आदित्य उदेता इति नानुमानं व्यभिचारसंभवात्" इति प्लवते। यदि पुनः व्यवहारी तथाविधादपि शब्दात् लिङ्गादिकं प्रतिपद्यते इति तदर्था (र्थं) तदङ्गीकरणम्; अत एव संयोग्याद्यङ्गीकरणमस्तु। तदयम्[3] अप्रतिबद्धादपि शब्दात् लिङ्गं प्रतिपादयति न तथाविधाल्लिङ्गात् लिङ्गिनमिति प्राकृतशक्तिः। तैमिरिकोऽपि विज्ञाततैमिरज्ञानमिथ्यात्वो न ततो व्यवहारमारचयति, इतरथा विभ्रमज्ञाने प्र ज्ञा क र स्य पक्षत्रयस्थापनेमयुक्तं स्यात्–प्रतिपन्नव्यभिचारो न ततः प्रवर्त्तते अपि तु अनुमानात्, अन्यस्य जातविप्रलम्भस्य तरस्यत (नरस्य न) प्रमाणम् इति।

ननु तस्य शब्दादपि वस्तुप्रतिपत्तिं ततः तत्प्राप्तिं मन्यमानस्य तत् ज्ञानं प्रमाणं स्यात्, अयमस्यैव दोषोऽस्तु, अतो लिङ्गादिवत् शब्दादपि अनेन व्यवहारं कुर्वता "तद्वत् "तस्य [२६१ख] वस्तुतत्त्वप्रतिबन्धोऽभ्युपगन्तव्य इति स्थितम्।

भवत्वेतत्, तथापि शब्दो लि[ङ्ग] गमयति न साध्यमिति चेत्; अत्राह–'शक्तस्य सूचनम्' इत्यादि। शक्तस्य साध्यज्ञापने लिङ्गस्य समर्थस्य सूचनम्। किम् ? इत्याह–हेतुवचनं त्रिरूपलिङ्गवाक्यम्। किम्भूतम् ? इत्याह–अशक्तमपि साध्यज्ञापनेऽसमर्थमपि स्वयम् आत्मना इति। साध्यं(ध्य)वचनं किंभूतम् ? इत्याह–साध्योक्तिः अनित्यः शब्दः इति प्रतिज्ञावचनम्

(१) शब्दात्। तुलना–"अनेन एतदपि निराकृतम्–अद्वैते कथं परप्रतिबोधनाय प्रवर्तते इति। स्वपरयोरस्यार्थस्यासिद्धेः। अयं परोऽहं न परः इति स्वसंवेदनमेवैतद् उदयमासादयति। नात्र परमार्थतो विभागः–अहं प्रज्ञपयिता परः कथयति। द्वयोरपि स्वाकारोपरक्तप्रत्ययसंवेदनमेवैतत् न तु विभागः स्वप्नप्रत्ययवत् उन्मत्तप्रत्ययप्रलापवच्च। उन्मत्तस्तर्हि वादी कथं ततोऽद्वैतप्रतीतिरपि ? ननु सर्वप्रत्ययप्रलय एवायं प्रवर्तते नात्र प्रतीतेरुदयः। किं तर्हि प्रतिवादिनाऽन्येन वा कर्त्तव्यम्? किं क्रियमाणं किञ्चिद् दृश्यते?" –प्र० वार्तिकाल० पृ० २९३। (२) वैशेषिकाभिमतं। "संयोगि समवाय्येकार्थसमवायि विरोधि च।" –वैशे०सू० ३।१।९। (३) अविनाभावाभावेन। (४) शब्दत्यागे। (५) "भविष्यत्प्रतिपद्येत शकटं कृत्तिकोदयात्। इव आदित्य उदेतेति ग्रहणं वा भविष्यति॥"–लघी० श्लो० १४। कृत्तिकोदयमालक्ष्य रोहिण्यासत्तिकल्पनिवत्।"–मी० श्लो० पृ० ३५१। (६) व्यभिचारिणोऽपि। (७) बौद्धः। (८) अविनाभावशून्यात्। (९) "पीतशङ्खादिविज्ञानं तु न प्रमाणमेव तथार्थक्रियावासेरभावात्। संस्थानमात्रार्थक्रियाप्रसिद्धावन्यदेव ज्ञानं प्रमाणमनुमानं। तथाहि–प्रतिभास एवंभूतो यः स न संस्थानवर्जितः। दृश्यमन्यत्र दृष्टत्वादनुमानं तथा च तत्॥ येन न कदाचिद् व्यभिचार उपलब्धः स यथाभिप्रेते विसंवादात् विसंवादात एव। वस्तु व्यभिचारसंवेदी स विचार्य प्रवर्तते–संस्थानमात्रं तावत् प्राप्यते परत्र संदेहो विपर्ययो वा, ततोऽनुमानं संस्थाने संशयः परत्रेति प्रत्ययद्वयमेतत् प्रमाणमप्रमाणं च।···शब्दविषयं तु ज्ञानमभिप्रायविवेदनात् प्रमाणं···"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ५। (१०) लिङ्गादिवत्। (११) शब्दस्य।

पुनः न केवलं साधनात् साध्यसिद्धेः साक्षाद् अपि तु वचनवत् पारम्पर्येणापि नाऽलं साध्यप्रतिपादने न समर्थो (र्थम्) साध्य(ध्या)प्रतिपादनाद् इत्येवं परः प्राकृतशक्तिः प्राकृता प्राकृते वा शक्तिः अस्य, शक्तवत् साध्यप्रतिपादनसंभवादिति मन्यते ।

न तु (ननु) लिङ्गस्येव साध्यस्यापि प्रतिपादने वचनस्य सामर्थ्ये तत एव साध्यसिद्धेः हेतुवैफल्यमिति चेत् ; अत्राह–**सम्यग्विचारिता** इत्यादि ।

[सम्यग्विचारिता वाक्यविकल्पास्तत्त्वगोचरम् ।
साध्यं पश्यद्भिरज्ञेयं प्रायः प्राकृतबुद्धिभिः ॥४॥

सर्वं एवायमनुमानानुमेयव्यवहारो विकल्पारूढेन धर्मधर्मिन्यायेन न बहिः सदसत्त्वमेषते इति चेत् ; कथमर्थादेव लिङ्गादर्थगतिः ? कथञ्च धर्मधर्मितया भेद एव बुद्धिपरिकल्पितो नार्थोऽपि, विकल्पानामवस्तुसंस्पर्शाभ्युपगमात् । वस्त्वाश्रयत्वाद्वस्तुविषयत्वे कथं साध्याविनाभाविहेतुमन्तरेणानुपपन्नं हेतुवचनं तत्त्वविषयं न भवेत् ?]

सम्यक् साध्याविनाभावि(१)साधनोपन्यासेन **विचारिताः** परीक्षिताः **तत्त्वगोचरं** 'नयन्तः' इति वाक्यशेषः । के ? इत्याह–**वाक्यानां** कार्यभूताः अर्थ(२)**विकल्पाः** । यदि वा, **वाक्यानि विकल्पाश्च** इति ग्राह्यम् । वाक्यग्रहणं तस्यैव(३) केवलवर्णपदपरिहारेण व्यवहारोपयोगप्रतिपादनार्थम् । विकल्पग्रहणं दृष्टान्तार्थम् । यथा उक्तविधिना सम्यग् विचारिता विकल्पाः तत्त्वगोचराः तथा वाक्यान्यपि, 'रूपादिशब्दा निर्विषय(या) विकल्पयोनित्वात्(४) प्रधानादिशब्दवत्' इत्यत्र हेतोः असिद्धतोद्भावनार्थं वा [२६२क] ।

सर्वेण अनेन एतदुक्तं भवति–शब्दोऽनित्य इति प्रतिपाद्यमाना अपि स्वैसमयावष्टम्भाद् अनर्थकान्यशब्दसाधर्म्याद्वा [न] प्रतिपद्यन्ते तानुद्दिश्य हेतूपन्यास इति; तर्हि हेतोरेव साध्यसिद्धेः किं साध्यनिर्देशेनेति चेत् ? अत्राह–'**प्रायः**' इत्यादि। **प्रायो** बाहुल्येन क्षणिकत्वादिरूपेण न शब्दादिस्वभावेन यच्छब्दादि **साध्यम्** अनुमेयम् तद**ज्ञेयम्** अपरिच्छेद्यम् । कैः ? इत्याह–**प्राकृतबुद्धिभिः** सौगतैः । तेषां ज्ञानं सर्वमविकल्पम्, विकल्पस्यापि स्वरूपवद् बहिरपि एत्तेः (निर्विकल्पकत्वापत्तेः) एकस्यैं रूपद्वयविरोधात् । किं कुर्वद्भिः ? इत्याह–**पश्यद्भिः** इन्द्रियाणि तत्र व्यापारयद्भिः, इन्द्रियग्राह्यं न भवेदित्यर्थः ।

एतदुक्तं भवति–यथा हेतोः सिध्यति[६] साध्ये तत्प्रतीत्यर्थं वक्त्रविग्रहमावहति तथा चक्षुरादिव्यापारोऽपि द्रष्टुः अविशेषात् । को हि विशेषो येन इन्द्रियमनर्थकं दोषाय, अपि तु वचनमेव । यदि पुनः लिङ्गाद् गम्यमानेऽप्यर्थे नेन्द्रियव्यापारा स्किरतं (व्यापारतिरस्कारः तद्) बुद्ध्युत्पत्तावपि नापरापरस्य तस्यैं वैफल्यं स्यात् । अथ धर्मिमात्रे तत्साफल्यान्नायं दोषः; क्षणिकत्वादिधर्मे स्यात् । एकत्र गुणः सर्वत्र गुणं करोति न दोषो दोषमिति चिन्त्यमेतत् । ततोऽस्मादोषाद् बिभ्यता प्रतिज्ञावचनमिव इन्द्रियमपि तत्र परिहरणीयम् । धर्म्यसिद्धिः स्यादिति

(१) वचनादेव । (२) वाक्यस्यैव । (३) सांख्याभिमत । (४) स्वमताग्रहात् । (५) एकस्य विकल्पस्य स्वरूपे निर्विकल्पकत्वं बहिरर्थे च विकल्पकत्वमिति रूपद्वयं न संभवति विरोधादित्यर्थः । (६) सति । (७) इन्द्रियव्यापारस्य ।

चेत्; अयमपरोऽस्य दोषोऽस्तु ।

कारिकाया उत्तरार्धस्य व्याख्यानमकृत्वा सुगमत्वात् पूर्वार्धं समर्थयितुं पूर्वपक्षयन्नाह–सर्व एव [२६२ख] इत्यादि । सर्व एव कार्यहेतोः स्वभावहेतोर्वा अयं प्रतीयमानः अनुमानानुमेयव्यवहारो लिङ्गलिङ्गिव्यवहारो विकल्पारूढेन विकल्पावभासिना । केन ? इत्याह–धर्मः सत्त्वादिः धर्मी शब्दादिः तयोः न्यायः *"सर्वे भावाः स्वभावेन" [प्र०वा० ३।३९] इत्यादि[२] *"धर्मान्तरप्रतिक्षेपाऽप्रतिक्षेपौ" इत्यादिश्च, तेन । तर्हि तद्विकल्पस्य वस्त्वाश्रयत्वात् तद्व्यवहारः पारमार्थिकः इति चेत् ? अत्राह–न बहिरपेक्षते तद्व्यवहारः । किम् ? इत्याह–सदसत्त्वम् । सत्त्वमसत्त्वं च धर्मधर्मिणोः ; इत्यपेक्षते, विकल्पस्य निर्विषयत्वादिति मन्यते । चेद् इति पराभिप्रायद्योतकः । तत्र दूषणमाह–कथं न कथंचित् अर्थादेव वस्तुभूतादेव लिङ्गात् सत्त्वधूमादेः न कल्पितात् पक्षसपक्षाऽन्यतरत्वादेः इति एवकारार्थस्य (रार्थः । अर्थस्य) अग्न्यादेः गतिः प्रतिपत्तिः ? इष्यते च परेण[४] *"अर्थो हि अर्थं गमयति" इति वचनात् । कथं ततः[५] सा[६] न स्यादिति चेत् ? उच्यते–यदा हि धर्मधर्मिविकल्पो निर्विषयः तदा धर्मी शब्दः तद्धर्माः सत्त्वादयः पक्षसपक्षान्यतरत्वादेर्नातिरिच्यन्ते इति ।

ननु उक्तमत्र धर्मधर्मितया भेद एव बुद्धिपरिकल्पितो नार्थोऽपि इति चेत् ; अत्राह–कथं च इत्यादि । धर्मधर्मिणोर्भावः तत्ता तया यो भेदः स एव बुद्धिपरिकल्पितो नार्थेप्यर्थोपि (नार्थोऽपि) लिङ्गलिङ्गि [२६३क] लक्षणो न केवलं तत्तया भेद एव कथं वा न बुद्धिपरिकल्पितः किन्तु तत्कल्पित एव । कुतः ? इत्याह–विकल्पानाम् इत्यादि । इदमत्र तात्पर्यम्–उक्तविधिना न अन्तर्बहिर्वा निरंशोऽर्थः संभवति सांश च (सांशश्च) विकल्पविषयत्वात्, विकल्पानां च सौगतैः अवस्तुसंस्पर्शाऽभ्युपगमात् *"विकल्पोऽवस्तुनिर्भा[सो वि]संवादादुपप्लवः"[७] इति वचनात्, [न] अर्थोऽपि 'बुद्धिपरिकल्पितः' इति सम्बन्धः । पश्यतु प्रज्ञाकरस्य *"सर्वविकल्पातीतं प्रतिभासमात्रं तत्त्वम्"[८] इति मतम् । तस्य सत्त्वादयः अर्थरूपतयापि विकल्पिता भवन्ति नवेति चिन्त्यमेतत् । यदि भवन्ति ; कथम् *"अर्थो हि अर्थं गमयति" इति धर्मकीर्त्तिं वचनम् असौ गच्छेत् ? भवन्तु तर्हि वस्तुविषयाः ते[१०] इति चेत् ; अत्राह–वस्तु बहिरन्तश्च सांशो भावः आश्रयः कारणम् अवलम्ब्यं येषां तेषां भावात् तत्त्वात् । वस्तुविषयत्वे अङ्गीक्रियमाणे 'विकल्पानाम्' इत्यनुवर्त्तते, कथं केन प्रकारेण तत्त्वविषय (यं) न भवेत् । किम् ? इत्याह–हेतुवचनम् । किंभूतम् ? इत्याह–हेतुमन्तरेण अनुपपन्नम् । किंभूतं हेतुम् ?

(१) "तथा चानुमानानुमेयव्यवहारोऽयं सर्वो हि बुद्धिपरिकल्पितो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिभेदेनेति उक्तम्"–प्र० वा० स्वयू० १।३। "आचार्यदिग्नागेनाप्येतदुक्तमित्याह–तथा चेत्यादि···"–प्र० वा० स्वयू० टी० पृ० २४ । (२) "स्वस्वभावव्यवस्थितेः। स्वभावपरभावाभ्यां यस्माद् व्यावृत्तिभागिनः ॥" इति शेषः । (३) सत्त्वं धर्मस्य असत्त्वं च धर्मिणः । (४) "अर्थादर्थगतेः"–प्र० वा० ४।१५ । (५) विकल्पात् । (६) अर्थगतिः (७) "अथोक्तम्-विकल्पोऽवस्तुनिर्भासाद् विसंवादादुपप्लवः इति ।"–प्रज्ञ० कन्द० पृ० १९० । सन्मति० टी० पृ० ५०० । स्या०रत्ना०पृ०८२ । धर्मसं०पृ० १३४ । सर्वद० पृ० ४४ । (८) "विचार्यमाणं हि सकलमेव विचीर्यते नाद्वैतादपरं तत्त्वमस्ति"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३१ । (९) प्रज्ञाकरस्य । (१०) विकल्पाः ।

इत्याह–साध्य इत्यादि । वस्तुनो विकल्पाः ततः तद्वचनमिति मन्यते । अनेन पूर्वार्धं समर्थितम् ।

एवं तावत् लिङ्गलिङ्गिविकल्पानां केषाञ्चिद् बहिरर्थविषयत्वप्रतिपादनेन तज्जन्मनोऽभिधानस्यापि [1]तद्विषयत्वं प्रतिपादितम् । संप्रति विवक्षाप्रभवत्वेन तस्य[2] [२६३ख] तद्विषयत्वं परेण[3] यदुक्तं [4]तत्पूर्वपक्षयित्वा निराकुर्वन्नाह–**विवक्षा** इत्यादि ।

५ **[विवक्षाप्रभावं वाक्यं स्वार्थे न प्रतिबध्यते ।**
तत्सूचितेन लिङ्गेन कथं तत्त्वव्यवस्थितिः ॥५॥

वक्त्रभिप्रायमात्रं वाक्यं सूचयतीत्यविशेषेणाक्षिपन् पारम्पर्येणापि न ततस्तत्त्वं प्रतिपद्येत । न च वक्त्रभिप्रायमेकान्तेन सूचयन्ति श्रुतिदुष्टादेः अन्यत एव प्रसिद्धेः ।

*"पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुस्त्रिधैव सः ।
१० अविनाभावनियमात् हेत्वाभासास्ततोऽपरे ॥"
[हेतुबि० श्लो० १]

इत्यादिना स्वयमनभिमतस्यापि वस्तुनः प्रतिपत्तेः । तथा अनेकार्थेषु केनार्थोऽयं विवेचितः येन वक्त्रभिप्राय एवार्थः । शब्दैः क्वचित् विसंवादात् स्वयमनाश्वासे किं शब्दविकल्पव्यभिचारचोदनया स्वल्पकल्पनया, ज्ञानमेव किम्न प्रतिक्षिपेत् ?]

१५ **विवक्षैव प्रभवः** कारणं यस्य 'प्रभवति अस्मात्' इति व्युत्पत्तेः, विवक्षाया वा प्रभवो यस्य, ततः प्रभवति इति वा यत् तथोक्तम् । किम् ? इत्याह–**वाक्यम्** । तत् किन्न क्रियते ? इत्याह–**न प्रतिबध्यते** । क ? इत्याह–**स्वार्थे** स्व आत्मीयो वादिनो हेतुरूपोऽर्थः तस्मिन्, इति काका अर्थोऽत्र द्रष्टव्यः । अत्रोत्तरमाह–**तेन** वाक्येन यत् **सूचितं** तेन । केन ? **लिङ्गेन** विवक्षा विकल्पारूढा इति मन्यते । अन्यस्य तेन सूचनस्य परैः अनभ्युपगमात् **कथं** न कथञ्चित्
२० **तत्त्वस्य व्यवस्थितिः** इष्टस्य [क्षण]क्षयादेः । एतदुक्तं भवति–यत् तेन[5] विकल्पारूढं लिङ्गं सूचितं न तस्य तत्त्वे प्रतिबन्धः, यस्य[6] च तत्र प्रतिबन्धो न तत्तेन सूचितम् । न च अन्यस्य सूचने अन्यत्र प्रतिपत्तिः प्रवृत्तिर्वा, अन्यथा स्व(अश्व)शब्देन अश्ववचने गवि सा[7] भवेत् । अथ तदारूढेन प्रयोजनाऽसिद्धेः [8]अन्यत्र सा भवेत् ; तन्न; अतिप्रसङ्गात् । यदि पुनः तत्त्वतस्तेन सूचनेऽपि भ्रान्त्या [त्रि]रूपं लिङ्गं सूचितमिति प्रतिपत्तिः ; सापि न युक्ता ; अविषये भ्रान्तेरपि
२५ प्रतिपत्तेरयोगात्, इतरथा ततः अश्वशब्दात् गवि प्रतिपत्तिः स्यात् । असादृश्यान्नेति चेत् ; किं पुनः विकल्पाकार-अर्थस्वभावयोः सादृश्यमस्ति ? तथा चेत् ; प्रत्यक्षवद् विकल्पानामर्थविषयत्वं केन वार्यते ? प्रत्यक्षस्यापि सर्वथा [9]तदभावात् ।

यस्तु मन्यते–'तदभावेऽपि आन्तरोपप्लववशात् तथाप्रतिपत्तिः' इति ; सापि न [२६४ क] तत्त्वदृष्टिः; यतः यद् यत्कार्यं तत् तदेव गमयति प्रतिबन्धात्, यथा धूमः अग्निम्, विवक्षाकार्यं

---

(१) बहिरर्थविषयत्वम् । (२) शब्दस्य । (३) बौद्धेन । (४) "शब्देऽप्यभिप्रायनिवेदनात् ॥३॥ वक्तृव्यापारविषयो योऽर्थो बुद्धौ प्रकाशते । प्रामाण्यं तत्र शब्दस्य नार्थतत्त्वनिबन्धनम् ॥४॥"–प्र० वा० १।३-४ । (५) शब्देन । (६) वस्तुभूतार्थस्य । (७) प्रतिपत्तिः । (८) वस्तुभूतेऽर्थे । (९) सादृश्याभावात् ।

च वाक्यम् । तथा यत् यत्कार्यं न भवति तद् भ्रान्त्यापि तन्न गमयति यथा स[1] एव धूमः अपावकम् , अकार्यं च वाक्यम् अर्थस्य इति । यदि पुनः तथापि तया तत् तत्र बुद्धिं जनयति कुतश्चित् प्रत्यासत्तेः ; तत एव तर्हि परमार्थतः किञ्चिदकारणे[2] ज्ञानं करिष्यति, तद्विज्ञानं च तत्र प्रमाणं स्यात् अविसंवादाभिमानिनः यथा कुञ्चिकाविवरमणिज्ञानं मणौ ।

स्यान्मतम् , न वाक्यं कथञ्चिदपि अर्थे ज्ञानं जनयति विवक्षाया अन्यत्र, केवलं विकल्पान्तरमेवं जायते अतो वाक्यादर्थः प्रतीय [ते] इति ; न ; तथा क्रमप्रतीतेरभावात् पूर्वं वाक्याद् विवक्षाविकल्पः पुनः अर्थविकल्प इति । ततः स्थितम्–'**[तत्] सूचितेन लिङ्गेन कथं तत्त्वव्यवस्थितिः**' इति ।

इदमपरं व्याख्यानम्–'**विवक्षाप्रभवमपि** इति 'अपि' शब्दोऽत्र द्रष्टव्यः । **वाक्यं स्वार्थेन** स्वाभिधेयवस्तुना **प्रतिबध्यते कथम्**' इति प्रश्ने **तत्सूचितेन लिङ्गेन तत्त्वव्यवस्थितिर्यतः** इत्युत्तरम् ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**वक्त्रभिप्रायमात्रं** भवद्भिः अर्थं **वाक्यं सूचयति** इत्येवम् **अविशेषेण आक्षिपन्** क्रोडीकुर्वन् सौगतः **पारम्पर्येणापि** न केवलं सन्ते तो (साक्षात) वाक्यात् **तत्त्वं** साध्यं **वस्तु न प्रतिपद्येत** । अथ 'वाक्यात् लिङ्गम् , अतः[3] तत्त्वम्' इति ; परार्थानुमानं स्यादिति मन्यते । द्वितीयं कारिकाव्याख्यानं व्यतिरेकमुखेण अनेनैव दर्शितम् , वक्त्रभिप्रायसूचकत्वं [२६४ख] वाक्यस्याभ्युपगम्य दूषणमुक्तम् , इदानीम् एकान्तेन तदपि नास्तीति दर्शयन्नाह–**नच नैव वक्त्रभिप्रायम् एकान्तेन** अवश्यम्भावेन **सूचयन्ति** सूच्यत इत्युत (इति । कुतः ?) इत्याह–**श्रुति** इत्यादि । **आदि**शब्देन अर्थान्तरगमनपरिग्रहः । यत्रापि '**श्रुतिर्दृष्ट्या (श्रुतिदुष्टा)देः**' इति पाठः, तत्र **आदि**शब्देन कल्पनादुष्टादिपरिग्रहः । **श्रुतिदुष्टादेः अन्यत एव प्रसिद्धेः** । आदिशब्दलब्धमर्थम् उदाहरन्नाह–**पक्षधर्म** इत्यादि । '[4]**पक्षो धर्मी अवयवे समुदायोपचारात्** , तस्य **धर्मः तदंशेन** तस्य पक्षस्य अंशेन साध्यधर्मेण न तदेकदेशेन पक्षशब्देन समुदायावचनात् **व्याप्तो** व्याप्तियोगात् । '[5]**व्याप्तिश्च** व्यापकगता तत्र यत्रासौ साधनधर्मो भाव एव[6] नाभावे (वः) । व्याप्यगता तत्रैव यत्रासौ साध्यधर्मो[7] नान्यत्र । किम् ? इत्याह–**पुनः** इति वितर्के हेतुरेव मनागपि [अ] हेतुर्न भवति इत्येवकारार्थः । कति प्रकारः ? इत्यत्राह–**स हि स हेतुः खलु त्रिधा** । कुतः ? इत्याह–**विरुद्ध** इत्यादि ।

अत्र चोद्यते–यदि पक्षधर्मः ; कथम् असिद्धः ? स्वयम् आश्रयस्य च सन्देहे असिद्धो (द्धे) वाऽसिद्ध उच्यते । न च तदा कस्यचित् पक्षधर्मता । तथा यदि तदंशेन व्याप्तः ; कथं विरुद्धोऽनैकान्तिको वा ? तदंशव्याप्तिवचनेन अन्वयव्यतिरेकयोरभिधानेन [8]तन्निरासात् । स हि विपक्षे सन् असन् सपक्षे विरुद्धः, उभयत्र सन् संभाव्यमानो वा अनैकान्तिकः, न चास्य तदं-

(१) अग्निकार्यः । (२) अकारणभूताऽर्थविषयकम् । (३) लिङ्गात् । (४) "पक्षो धर्मी अवयवे समुदायोपचारात्"–हेतुबि० पृ० ५२ । (५) "व्याप्तिर्हि व्यापकस्य तत्र भाव एव, व्याप्यस्य वा तत्रैव भावः ।"–हेतुबि० पृ० ५३ । (६) व्यापकस्य भाव एव नाभावः कदाचन । (७) वर्तते तत्रैव व्याप्यस्य भावः । (८) विरुद्धानैकान्तिकनिराकरणात् ।

शब्यात्मिरिति ; न ; परापेक्षया एवमभिधानात् । [1]परो हि सत्त्वादीनां पक्षधर्मत्वं तदंशव्याप्तिं च [अभ्युपगच्छति] कुतोऽनेकान्तवादिनस्तस्य [२६५क] प्रमाणता ? [2]ते न क्वचित् सत्त्वादिसंभवः इति असिद्ध उच्यते, अनेकान्त एव वा अस्य तवोद्विराद्धः (संभवाद्विरुद्धः) कल्पितस्य क्षणिकैकान्तवद् अक्षणिकैकान्तेऽपि[3] व्यभिचारी इति, यद्वक्ष्यति–

*"असिद्धः सि द्ध से न स्य विरुद्धो दे व न न्दि नः ।
द्वेधा स म न्त भ द्र स्य हेतुरेकान्तसाधने ॥" [सिद्धिवि० परि० ६] इति ।

ततः परपरिकल्पितात् कार्यादेः अपरे कार्यादयो मरणादौ साध्ये अरिष्टादयः[4] हेत्वाभासा न [हेतवः] 'भवन्ति' इत्यध्याहारः । कुतः ? इत्याह–अविनाभावनियमात् । अस्यैव व्याख्यानं तत इत्यादि ।

द्वितीयं व्याख्यानमाह–ततः परे [5]संयोग्यादयो हेत्वाभासा भवन्ति इति । कुतः ? इत्याह–अविनाभावनियमात् । अस्यायमर्थः–विना भाव्य (साध्य) मन्तरेण अभाव्य (व) नियमः सा[ध्या]भावे अभावनियमः, पुनः अस्य न ज्ञायोगे (न चायोगे) साध्याभावेऽपि भाव इत्युक्तं भवति, तस्माद् इति । ततः किं जातम् ? इत्याह–स्वयम् आत्मना आदिना (अपिना) अनभिमतस्यापि न केवलम् अभिमतस्यैव वस्तुनः अर्थस्य प्रतिपत्तेः 'शब्देभ्यः' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । न च वक्त्रभिप्रायम् एकान्तेन सूचयन्ति शब्दा इत्यपेक्षम् (क्ष्यम्) ।

ननु यद्यप्येवं भावना (भावेन) व्याख्यायते–यथा (तथा) प्ययमस्य अर्थो न भवति किन्तु वक्त्रभिप्रायोऽर्थः इति चेत् ; अत्राह–तत्त्व (तथा) इत्यादि । तथा तेन उक्तप्रकारेण अनेकार्थेषु शब्देषु सत्सु केन पुरुषेण प्रमाणेन वा अर्थोऽयं निर्दिश्यमानो विवेचितः पृथक्कृतः येन वितेत्रजेन (विवेचनेन) वक्त्रभिप्राय एव नान्यः स्यादर्थः न केनचित् इत्यर्थः ।

एतेन [२६५ ख] [6]पत्रमपि चिन्तितम् ।

अथ कदाचिद् अर्थाभावेऽपि वृत्तेः अनर्थकाः शब्दाः ? इत्यत्राह–क्वचित् न सर्वत्र विसंवादात् वञ्चनात् । कैः ? इत्याह–शब्दैः संवादेऽपि बहुलं शब्दैः इत्यपेक्षम् (क्ष्यम्) स्वयम् आत्मना बौद्धेन अनाश्वासे क्रियमाणे किं स्वल्पकल्पनया । किंभूतया ? इत्याह–शब्दानां विकल्पानां व्यभिचारस्य चोदनं यस्यां तया । तर्हि किं कुर्यात् परः ? इत्याह–ज्ञानमेव विकल्पानाम् अनन्तरं निर्देशात् ज्ञानशब्देन 'दर्शनम्' इह गृह्यते, तदेव, न शब्दविकल्पानाम्[7], तत्प्रतिक्षेपेणैव तत्प्रतिक्षेपणात् [8]तन्मूलत्वात्तेषामिति मन्यते । किन्न प्रतिक्षिपेत् ? बहिः प्रतिक्षिपेदेव तस्य स्वप्नादौ अर्थाभावेऽपि दर्शनात् इत्येके[9] । येन स्वसंवेदनेन ज्ञानं 'ज्ञानम्' इति भवति तत् 'ज्ञानम्' इत्युच्यते, तदेव किन्न प्रतिक्षिपेत् ? द्वयनिर्भासवत् तत्रापि[10] अनाश्वासात् ।

एतदेव दर्शयन्नाह–[शक्यं हि वक्तुम्–

---

(१) बौद्धः । (२) बौद्धस्य । (३) सम्भवात् । (४) भाविकारणवादिप्रज्ञाकरकल्पिताः । (५) वैशेषिककल्पिताः । (६) पत्रवाक्यं ज्ञानेकार्थं भवति । (७) व्यभिचारचोदनया । (८) दर्शनमूलत्वात् विकल्पानाम् । (९) प्रतिभासाद्वैतवादिनः । (१०) स्वसंवेदनेऽपि ।

साध्योपलब्धेः प्रत्यक्षं पारम्पर्येण नाप्यलम् ।
शक्तस्य सूचिका साक्षात् काचन सर्वा न कल्पना ॥६॥
परमार्थैकतानत्वे बुद्धीनामनिबन्धना ।
न स्यात्प्रवृत्तिरर्थेषु समयान्तरभेदिषु ॥७॥

प्रमाणाभावे ज्ञानमेव किन्न प्रतिक्षिपेदिति । प्रतिक्षेपासिद्धिरिति वाक्यप्रतिक्षेपेऽपि ५ समानम् । तत्त्वप्रतिपत्तिं प्रति वाक्यविशेषैः अनुमानवृत्तौ व्यवहर्तारोऽतिशेरते नान्यथा । तत्कार्यव्यभिचारेऽपि यथा गमकत्वं तथा शब्दस्य ।]

शक्यं हि वक्तुम् इत्यादि । हि यस्मात् शक्यं वक्तुम् । किम् ? इत्याह–**साध्योपलब्धेः** साध्यस्य क्षणक्षयस्य स्वसंवदेनाऽनन्यवेद्यादेः या उपलब्धिः दृष्टिः साक्षात्करणं तस्याः **प्रत्यक्षं** [1]चतुर्विधम् अविकल्पदर्शनं **नाऽलम्** न समर्थम् । कथम् ? इत्याह–**पारम्पर्येण** १० 'अपि' शब्दोऽत्र व्याख्येयो भिन्नप्रक्रमन्यायात् । [न] केवलं साक्षाद् अपि तु पारम्पर्येणापि । तथाहि–न तावत् साक्षात्, परमार्थाभावेऽपि तत्प्रवृत्तेः उपप्लवदशायाम् । तथा सति यदवभासते न तत् परमार्थसत् यथा तैमिरिकोपलभ्यमानं [२६६क]केशोंद्र(शोण्ड)कादि, अवभासते च ज्ञानस्य स्वसंवेदनादि । न चैतन्मन्तव्यम्–केशोण्डुकादेः ज्ञानात्मकत्वे तत्सत्त्वात् साध्यविकलो दृष्टान्त इति ; सारूप्यनिषेधात्, ग्राह्यग्राहकाकारभेदप्रतीतेः अन्येन अन्यग्रहणाविरोधात् १५ जननवत् । अस्याभावे विज्ञानवादिनोऽनुमानाभावः । [2]तद्धि त्रिरूपलिङ्गजमिष्यते तदभावमभ्युपगच्छन् कथम् *"यदवभासते तज्ज्ञानं यथा सुखादि अवभासते च नीलादिकम्" इत्यादनुमानं वदेत् ? अस्य सांवृतत्वे कुतः अतो नीलादेः [3]भावतो ज्ञानत्वसिद्धिः अतिप्रसङ्गात् ? अथ *"यादृशो यक्षः तादृशो बलिः" [4]इति वचनात् सापि ततस्तथा[5] नेष्यते[6] ; वस्तुतः किं नीलादिकमस्तु ? 'ज्ञानम्' इति चेत् ; कुतः प्रमाणात् ? अत एवेति चेत् ; हन्त हतोऽसि, २० प्रकृतविरोधात् । यदि चेदमनुमानं परम्परयापि न [7]तत्र प्रतिबद्धम्, कथमस्यं [8]तदव्यभिचारः ? तथापि तद्भावो (वे)

*"लिङ्गलिङ्गिधियोरेवं पारम्पर्येण वस्तुनि ।
प्रतिबन्धात् तदाभासशून्ययोरप्यवञ्चनम् ॥" [प्र०वा० २।८२] इति प्लवते ।

यदि पुनः परम्परया तत्कार्यत्वेनोपगमान्नायं दोषः ; तथा सति सर्वमनुमानम् अव्य- २५ भिचारम् [9]अत एव स्यादिति न तदाभासो नाम । ततोऽस्य तत्र प्रतिबन्धाऽभावे न अव्यभिचार इति नातस्तत्सिद्धिः । प्रत्यक्षत इति चेत् ; न ; तस्य तावति व्यापारे सामर्थ्याभावात् । न हि [10]इदं सर्वं नीलादि 'ज्ञानम्' इति प्रत्येतुमर्हति, अनेन[11] (अन्येन) अन्यग्रहणप्रसङ्गात् । न च

---

(१) इन्द्रियमनःस्वसंवेदनयोगिप्रत्यक्षभेदेन । (२) अनुमानम् । (३) परमार्थतः । (४) "अद्वैतेऽपि कथं वृत्तिरिति चोद्यं निराकृतम् । यथा बलिस्तथा यक्ष इति किं केन सङ्गतम् ॥"–प्र०वार्तिकाल० पृ० २९३ । (५) परमार्थतः । (६) इति चेत् । (७) स्वार्थे । (८) अनुमानस्य । (९) अर्थाव्यभिचारः । (१०) परम्परया तत्कार्यत्वात् । (११) प्रत्यक्षं । (१२) अन्येन=प्रत्यक्षेण ।

सर्वं नीलादि भवदीयज्ञानाद् बहिर्भूतम् इति युक्तिरस्ति ; अत्र ततोऽन्यस्यापि अनिवारणात् । [२६६ ख] भवदीयानुपलम्भमात्रस्य तदभावसाधने साधर्म्यात् (नेऽसामर्थ्यात्), इतरथा सुखेन दुःखस्य अनुपलम्भादभावः स्यात् ।

ननु [न] मदीयमध्यक्षम् अशेषस्य नीलादेः ज्ञानात्मकत्वमवैति किन्तु स्वयं विषयीकृतस्य इति चेत् ; न ; तत्र विवादात् । तथाहि—त्वत्प्रत्यक्षं नीलादिकमात्मभूतं प्रत्येति इति कः प्रत्येति ? तदेवेति चेत् ; [1]अन्यस्य प्रत्यक्षं [2]तत् स्वतो भिन्नं प्रत्येति । तथा ब (च) तत्तथा प्रतिपद्यमानमात्मानं प्रत्येति तदेवेति न विज्ञप्तिमात्रसिद्धिः । स कथमिदं परस्मै निवेदयति ? कथं केन प्रश्नेण (प्रत्यक्षेण) त्वदीयप्रत्यक्षस्य परप्रतिपत्त्यहेतुत्वात्, ज्ञानान्तरवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । अन्यज्ञानस्य अधिपतिप्रत्ययो[3] भवतीति चेत् ; तर्हि तस्य केनचित् प्रत्यासत्तिविप्रकर्षाभावात् सर्वस्य भवेदिति न विवादो नाम भवेत् । न चैवं जैनान्[4] । कथं चैवं कार्यकारणभावो न भवेत्, यतः तद्वत् परेण परस्य ग्रहणं विरुद्धता न्ययापि (विरुध्येत । अपि) च प्रत्यक्षं तथा परप्रतिपत्तिहेतुः तथैव (तवैव) स्यात् । मम नेति चेत् ; भवदीयमन्यस्य न इति समानम् । नाप्यनुमानेन ; उक्तदोषात् ।

यत्पुनरेतत्—विवक्षितप्रत्यक्षात् नीलादेरभेदात् स्वात्मभूतमेव [5]तत् [6]तत्प्रत्येति इति तस्य ततोऽभेदः, कुतस्तेन[7] ग्रहणम् ? तद्यथा—यद् येन गृह्यते तत् तेन स्वात्मभूतं गृह्यते यथा स्वरूपम्, गृह्यते च नीलादिकम् इति । न त्विदमनुमानम् उक्तम् (युक्तम्) । तन्न अस्य परप्रतिपादनोपायोऽस्ति । पराभावान्न [8]स प्रतिपाद्यत इति चेत् ; तदेतद् अन्यत्रापि समानम् । शक्यं हि अन्येनापि वक्तुम् [२६७ क] अहं तावत् नीलादिकं स्वतो भिन्नं पश्यामि, न चान्यः प्रतिपत्ता अस्ति यो मया प्रतिपाद्यते, मां प्रति चोद्य त्वा (त्वं त्वी)करोति, प्रतिपक्षात् नः स्वार्थसिद्धिः ।

यत्पुनरेतत्—कथं स्वतो भिन्नं तत्[9] तत्प्रत्येति इति ? अभिन्नं कथं प्रत्येति ? तथादर्शनात्[10] ; अन्यत्र समानम् । तन्न केशोण्डुकादिकं ज्ञानात्मकं युक्तम् । ततो बहिर्भूतस्य परमार्थसत्त्वे च न विज्ञप्तिमात्रं प्रत्यक्षलक्षणे[11] वा अभ्रान्तग्रहणम् अर्थवदिति । तत्त्वसत्त्वाऽसत्त्वविकल्पविकलतापि एतेन चिन्तिता । ततः तदभ्युपगच्छता बहिः तैमिरिककेशादेः असत्त्वमभ्युपगन्तव्यमिति न साध्यशून्यो दृष्टान्तः ।

ननु प्रत्यक्षे सच्चेतनादेः प्रतिभासने कथं न तदुपलब्धिः ? तत्समर्थमिति चेत् ; न ; परमार्थोपलब्धिः (ब्धेः) विवक्षितत्वात् । अत एव साध्यग्रहणम् । भ्रान्तस्य साध्यत्वे क्लेशमात्रं भवेदिति । तत्तत् (तन्न) साक्षात् साध्योपलब्धेः प्रत्यक्षं समर्थम् । अत एव तद्विषयानुमानजनकत्वेन पारम्पर्येण[12] ; सर्वथा भ्रान्त्या तदनुत्पत्तेरिति मन्यते ।

---

(१) जैनस्य । (२) नीलादिकम् । (३) "चत्वारः प्रत्यया हेतुश्चालम्बनमनन्तरम् । तथैवाधिपतेर्वं च प्रत्ययो नास्ति पञ्चमः ॥"—माध्यमिकका० १।२। तुलना—"नीलाभासस्य हि चित्तस्य नीलादालम्बनप्रत्ययान्नीलाकारता । समनन्तरप्रत्ययात् बोधरूपता । चक्षुषोऽधिपतिप्रत्ययात् रूपग्रहणप्रतिनियमः । आलोकात् सहकारिप्रत्ययाद्धेतोः स्पष्टार्थता ।"—अ०ज्ञा०भामती २।२।१९।(४) प्रति विवादसद्भावात् । (५) प्रत्यक्षम् । (६) नीलादिकम् । (७) प्रत्यक्षेण नीलादेर्ग्रहणमिति भेदप्रयोगः । (८) परः । (९) नीलादिकम् । (१०) इति चेत् । (११) कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षमित्यत्र । (१२) साध्योपलब्धौ प्रत्यक्षं न समर्थमिति ।

ननु ग्राह्याकारवत् स्वरूपेऽपि विभ्रमे विभ्रमोऽपि न सिध्यति । ततस्तन्मात्रमस्तु इति चेत्; अत्राह—**शक्तस्य** इत्यादि । **शक्तस्य** लिङ्गस्य **सूचिका** ज्ञापिका **[का]चन कल्पना** न सर्वा, न सत् (न सा) । **साक्षात्** तत्सूचने समर्था तद्विषया इति यावत् । कल्पनाग्रहणमुपलक्षणम्, तेन शब्दोऽपि गृह्यते । यदि वा, कार्ये कारणस्य [1]तत्र वा कार्यस्योपचारात् कल्पनाशब्देन शब्द उच्यते । एतदुक्तं भवति—यथा प्रतिभासाविशेषे स्वरूपपरिहारेण अन्यत्र [2]भ्रान्तं तथा शक्त [२६७ख] सूचकशब्दविकल्पपरिहारेण प्रधानादिशब्दादिभ्रान्तत्वमिति ।

यत्पुनरेतत्[3]—**परमार्थैकतानत्व** इत्यादि । तत्र दूषणमाह—**परमार्थैकतानत्वे** इत्यादि । **परमार्थः** स्वलक्षणं तस्मिन् **एकः** प्रधानभूतः **तानः** तादात्म्यादिप्रतिबन्धो यासां तासां भावे **तत्त्वे** अङ्गीक्रियमाणे । कासाम् ? **बुद्धीनाम्** इति । तस्यां किं स्यात् ? इत्यत्राह—**स्यात्** भवेत् **प्रवृत्तिः** वर्त्तनम् । क ? **अर्थेषु** । किंभूतेषु ? **समयान्तरभेदिषु** बहिः परस्परविविक्ततनवः क्षणिका निरंशाः परमाणवो दर्शनविषया अन्तश्च अद्वयं वेदनम् इति दर्शनम् इह 'समयः' इत्युच्यते, नान्यः अप्रस्तावात्, ततोऽन्यः तदन्तरम् तद्भेत्तुं सौगतसमयाद् अन्यत्वेन व्यवस्थापनशीलेषु, स्थिरस्थूलसाधारणादिस्वभावेषु समस्तवो (समतन्त्रो)क्तिन्यायात् । किंभूता ? इत्याह—**निर्निबन्धना** आलम्बनरहिता इत्यर्थः । ततो मन्यामहे—बहिरन्तश्च बुद्धीनामविशेषेण परमार्थैकतानत्वं नास्तीति शब्दानां निर्विषयत्वं व्यवस्थापयितुकामस्य बुद्धीनां तदाजातं (तदायातम्)[4] अतः *"अधिकार्थिन्याः पतितं तदपि च यत् पिञ्जने लग्नम् ।" इत्यापतितम् ।

बहिरन्तश्च कस्यचित् प्रमाणाभावात् तदभावसाधनं त्व (च) सिद्धसाधनमिति मन्यमानस्य प्र ज्ञा क र स्य मतं पूर्वपक्षेणैव दूषयित्वा कारिकाद्वयस्य तात्पर्यं कथयन्नाह—**प्रमाणाभाव** इत्यादि । अस्यायमर्थः यदुक्तम्—**'ज्ञानमेव किं न प्रतिक्षिपेत्' इति** । तत्र तत्प्रतिक्षेपे प्रमाणप्रतिक्षेपो [२६८ क] ज्ञानात्मकत्वात् प्रमाणस्य, अस्य वा भावे **प्रतिक्षेपासिद्धिः** ज्ञानस्य अन्यस्य वा निरासाऽसिद्धिः । परमार्थसिद्धिवत् तत्प्रतिक्षेपसिद्धिरपि प्रमाणमन्तरेण नोपपद्यते । तदुक्तं न्याय वि नि श्च ये—*"**प्रमाणमात्मसात्कुर्वन्**" [न्यायवि० १।४९] [5]इत्यादि । ततो वेदनमात्रमस्तु इति मन्यते । इत्येवं चेत् ; अत्राह—**वाक्यप्रतिक्षेपेऽपि** वाक्यस्य सविषयत्वनिरासेऽपि न केवलं ज्ञानस्य **समानं** सदृशम् । न त्वरो क्रमे (?) । तदेव दर्शयन्नाह—**तत्त्व** इत्यादि । **तत्त्वस्य** [क्षण] क्षयादेः **प्रतिपत्तिं प्रति अनुमानस्य वृत्तौ** प्रवृत्तौ ।

ननु च [6]तत्प्रतिपत्तिरेव अनुमानं तत्कथमिदमुच्यते इति चेत् ? न ; उपचारेण अनुमानशब्देन लिङ्गाभिधानात् । कैः ? इत्यत्राह—**वाक्यविशेषैः** त्रिरूपलिङ्गवचनैः । तस्यां किम् ? इत्याह—**व्यवहर्त्तुं** (हर्तारो)व्याख्यातारोऽपि तिसेरते (**अतिशेरते**) **नान्यथा** नाऽपरेण प्रकारेण । इदमत्र तात्पर्यम्—'सर्वं वाक्यं बहिरर्थशून्यम्' इति प्रतिपादयतो न तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणम् । यदि पुनः 'यद्यत्राप्रतिबद्धं न तत्तत्र यथार्थप्रतीतिजनकं यथा धूमोऽपावके, बहिरर्थाऽप्रतिबद्धं च सर्वं वाक्यम्'

(१) कारणे । (२) बहिरर्थे भ्रान्तं प्रत्यक्षम् । (३) "परमार्थैकतानत्वे शब्दानामनिबन्धना । न स्यात् प्रवृत्तिरर्थेषु समयान्तरभेदिषु ॥"—प्र० वा० ३।२०६ । (४) निर्विषयत्वं प्राप्तम् । (५) "प्रतीतिमतिलङ्घयेत् । वितथज्ञानसन्तानविशेषेषु न केवलम् ॥" इति शेषः । (६) तत्त्वप्रतिपत्तिरेव ।

इत्यनुमानं तत्र प्रमाणम् । अस्य वाक्यस्य लिङ्गप्रतिपादने [1]प्रतिज्ञा स्ववचनविरोधिनी, तद्-प्रतिपादने कुतः परस्य लिङ्गप्रतीतिः इति ।

परमुपहसन्नाह—**तदयम्** (तत्कार्यं) इत्यादि । अग्न्यादेः काष्ठादिजन्मनोऽपि मण्यादेर्दर्शने **तत्कार्यस्य व्यभिचारेऽपि यथा गम[क]त्वं तथा शब्दस्य** क्वचिद् व्यभिचारेऽपि ।

तदर्शयन्नाह—**सामग्रीभ्य** इत्यादि ।

[सामग्रीभ्यो विचित्राभ्यः काष्ठादिभ्योऽग्निसंभवे ।
प्रतिपद्यते यतस्तत्त्वं किं शब्दं त्यक्तुमर्हति ॥८॥

तत्त्वप्रतिपत्तेः···शाब्दम्···। स्वार्थानुमानेऽपि प्रयोगदर्शनम् अन्यथाऽयुक्तमेव ।]

सामग्रीभ्यः कारणकलापेभ्यः । किंभूताभ्यः ? [२६८ ख] **विचित्राभ्यः** भिन्नजातीयाभ्यः । पुनरपि किंभूताभ्यः ? **काष्ठादिभ्यः** आदिशब्देन मण्यादिपरिग्रहः । तेन काष्ठादय एव विशिष्टाः सामग्रीशब्देन उच्यन्ते नान्या तेभ्यः सा[2] इति दर्शयति । यदि स्यात् काष्ठादीनाम् इति ब्रूयात् ।

किंच, अस्या[3] एव कार्यनिष्पत्तेः काष्ठादिकम् अनर्थकं स्यात् । [न] चान्यत उत्पन्नं कार्यमन्यस्य युक्तम् अतिप्रसङ्गात् । अथ तत्सम्बन्धिन्या जनकत्वे तस्याः[4] तदपि जनकं तत्सम्बन्धनाक (त्) । कुतः ? तत्र समवायात् । [5]अस्य सर्वगतत्वे कुतः कस्यचिदेव सा[6] इति चिन्त्यम् । यदि पुनः समवायसम्बन्धाविशेषेऽपि तत्सम्बन्धिविशेष इष्यते ; इष्यतां भिन्ना सामग्री तु न सिध्यति । ययैव प्रत्यासत्त्या समवायाविशेषेऽपि केचिदेव काश्चिदेव सामग्रीं बिभ्रति तयैव ते तत्कार्यं कुर्वन्तु [7]तया किम् ? समवायनिषेधाच्च न तत्सम्बन्धिनी । कार्यत्वादिति चेत् ; तां तर्हि काष्ठादयोऽस्वरूपेण जनयन्ति कार्ये कः प्रद्वेषः यतः [8]तत् ते न जनयन्ति ? अपरया सामग्र्येति चेत् ; स एव दोषः, अनवस्था चेति । **अग्निसंभवे** अपिशब्दा तु (शब्दोऽत्र) द्रष्टव्यः संभावनायाम् । नहि अग्निवद् धूमस्यापि विजातीयाभावे कार्यं लिङ्गं संभवति । तत्संभवेऽपि कार्यं **लिङ्गम्** *"सुविवेचितं कार्यं कारणं न व्यभिचरति" इति न्यायात् न **शब्दः** । किम् ? **लिङ्गम्** इत्यनुवर्त्तते । किंभूतः ? इत्याह—**यतः** शब्दात् **तत्त्वं** लिङ्गलक्षणम् अन्यद्वा **प्र[ति]पद्यते** सौगतः । तथाहि—योऽर्थे सति भवति शब्दः सोऽन्यः, यश्च [9]तदभावे सोऽपि अन्यः । [२६९ क] *"सुविवेचितं कार्यं कारणं न व्यभिचरति" इत्येतत् न सौगतकाककुलचर्वितम् । न चैतत् चोद्यम्—य एव घटशब्दो घटे सति दृश्यते स एव [10]तदभावे, तत्कथं लिङ्गमिति ; तदेकत्वाऽसिद्धेः, [11]उभयोरपि देशादिभेदात् इति । सादृश्यम् अन्यत्रापि न वार्यते ।

स्यान्मतम्—काष्ठादिजन्मना पावकेन मण्यादिजन्यस्य तस्य[12] न सादृश्यं कारणवैसादृश्यात्,

---

(१) वाक्यं न बहिरर्थप्रतिपादकमिति प्रतिज्ञा । (२) सामग्री । (३) सामग्र्याः । (४) सामग्र्याः । (५) समवायस्य । (६) सामग्री । (७) सामग्र्या । (८) कार्यम् । (९) अर्थाभावे । (१०) घटाभावे । (११) शब्दयोः । (१२) पावकस्य ।

न [तादृशात्] । तादृशाद्धि जायमानं तादृशं नान्यथा । § [1]तादृशान्यादृशव्यद्धि जायमानं तादृशन्नमधा § तादृशान्यादृशव्यवस्थैव न स्यादिति । तदेतदुत्तरं शब्देऽपि समानम् । यथैव च घटशब्दं समानं सर्वत्र जनो मन्यते तथा काष्ठमणिजनितं वह्निम् , सदृशव्यवहारदर्शनात् ।

यस्तु मन्यते—इन्धनात् पावको जायते, तदिन्धनं काष्ठवत् मणिरपि, तत्र तादृशादेव तादृशोद्भव इति । तत्र किमिदमिन्धनम् ? पावकजननयोग्यं वस्तु इति चेत् ; तर्हि धूमोऽपि तज्जननयोग्यात् [2]शक्रमूर्धादेर्भवन् तादृशात् तादृशः स्यात् । न चैतावता [3]शक्रमूर्धादिः अग्निर्भवति, इतरथा काष्ठं मणिः [4]स्यादविशेषात् ।

अन्येषां तु दर्शनम्—वक्तरि शब्दः देशान्तरादौ अर्थः तत्कथं सँ लिङ्गम् । न हि महानसधूमो महोदधिदहनस्य लिङ्गम् । कथं तर्हि पर्णकाद्या(द्वादि) देशान्तरादि तल्ली(वल्ली) दाहस्य कथं वा अन्यत्र प्रसुप्तस्य अन्यत्र प्रबोधस्थानान्तरादिचेतसो यतः प्र ज्ञा क र स्य निरुपादानः प्रबोधो न भवेत् । स्वयं च जलचन्द्रादेः चन्द्रादेरनुमानमिच्छति, [यदि] दं [२६९ख] दर्शनमवतिष्ठत (ते) ततो यत्किञ्चिदेतत् ।

ननु यदि कार्यं कारणं व्यभिचरति मा भूत् ततस्तदनुमानमिति चेत् ; एतदेवाह—**सामग्रीभ्यः विचित्राभ्यः काष्ठादिभ्योऽग्निसंभवे** सति कार्यलिङ्गं तल्लिङ्गमेव [न] भवति । तत्रोत्तरमाह—**शब्द [म्]** इत्यादि । **यतः** शब्दात् **तत्त्वम्** अभिमतं वस्तु **प्रतिपद्यते** सौगतः चार्वाको वा स शब्दः किम् ? अयमत्राऽभिप्रायः—उक्तदोषादनुमानं त्यजन्नपि **न शब्दं त्यक्तुमर्हति** मूकताप्राप्तेः । तदपरित्यागे कम (प्रत्यक्षादिकं) यद्यप्रमाणं न ततः [5]तत्त्वं प्रतिपद्येत, अन्यथा कथं प्रेक्षावान् किमर्थं वा अन्यत्र प्रमाणान्वेषणम् ? प्रमाणं चेत् ; सिद्धं नः समीहितम्, एवमर्थं चशब्दः । '**किम्**' इति सामान्यवचनम् ।

कारिकायाः प्रथमार्धस्य तात्पर्यमाह—'**तत्त्वप्रतिपत्तेः**' इत्यादिना । द्वितीयस्य [6]आह '**शाब्दम्**' इत्यादिना ।

ननु शब्दात् तत्त्वप्रतिपत्तेरभावादसिद्धो हेतुरिति चेत् ; अत्राह—[**स्वार्थानुमानेऽपि** इत्यादि] न केवलं परार्थानुमाने अपि तु **स्वार्थानुमानेऽपि प्रयोगदर्शनम् अन्यथा** अन्येन [7]तत्त्वप्रयोगदर्शनम् अन्यथा अन्येन] तत्त्वप्रतिपत्त्यभावप्रकारेण **अयुक्तमेव** तत्प्रयोजनाभावादिति भावः ।

इदं वा अन्यथा अयुक्तमेव इति दर्शयन्नाह—'**तत्त्व**' इत्यादि ।

[तत्त्वप्रत्यायनाद्वादी जयति प्रतिवाद्यपि ।
भूतदोषं समुद्भाव्य युगपत्संभवात्तयोः ॥९॥

शब्देन वक्त्रभिप्रायसूचनाङ्गीकरणे वादी निगृह्यते तत्त्वतः साधनाङ्गवचनात्,

---

(१) § एतदन्तर्गतः पाठः पुनर्लिखितः । (२) वल्मीकात् । (३) धूमोत्पादकत्वात् । (४) अग्न्युत्पादकत्वाविशेषात् । (५) शब्दः । (६) अप्रमाणभूतप्रत्यक्षादेः । (७) द्वितीयार्धस्य तात्पर्यमाह । (८) [एतदन्तर्गतः पाठः पुनर्लिखितः ।

तथा प्रतिवाद्यपि भूतदोषमप्रकाशयन् । तत्त्वं प्रमाणतोऽप्रतिपादयतः असाधनाङ्गवचनं भूतदोषं समुद्भावयति प्रतिवादीति युगपन्निग्रहप्राप्तिः जयनात् । तत्र स्वपक्षसिद्धिमन्तरेण कस्यचिज्जयो नाम न्यूनतया···मार्गप्रभावनालक्षणत्वाज्जयस्य । तस्मान्निराकृतपक्षत्वमेव निग्रहस्थानम् । कस्यचित्तूष्णींभावे तावता परस्य जयाभावात् कः केन निगृह्यते ? साधनदूषणतदाभासानामन्यतरस्य तथोद्भाव्यमाने तूष्णींभावस्यापि युगपत्संभवात् ।]

तत्त्वस्य तु (त्रि)रूपहेतुरूपस्य, यदि वा साध्यरूपस्य **प्रत्यायनाद्** सौगतो **जयति** 'प्रतिवादिनम्' इत्यध्याहारः । न केवलं वाद्येव अपि तु **प्रतिवाद्यपि** स एव जयति 'वादिनम्' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । [२७० क] किं कृत्वा ? इत्याह—**भूतदोषं** पारमार्थिकासिद्धादिदोषमुद्भाव्येत (**दोषं समुद्भाव्य** इति) 'अन्यथा अयुक्तमेव' इत्यनुवर्त्तते, अन्यथा प्रतिपत्त्यभावप्रकारेण तत्त्वप्रत्यायन-भूतदोषोद्भावनयोः अत्यन्तमसंभवात् । एतदेव दर्शयन्नाह—**युगपद्** इत्यादि । **युगपद्** एकदैव **संभवात् तयोः** जयपराजययोः । तथाहि—यथा सौगते समीचीनसाधनवति परः तद्विपरीतः पराजयवान् तथा सौगतोऽपि स्यात्, सतोऽपि तत्साधनस्य तेनाऽवचनात् । तथा, यथा सदोषसाधनवादी वैशेषिकादिः निग्रहवान् प्रतिवादी बौद्धोऽपि तथैव, तेन दोषस्य सतोऽपि अनुद्भावनात् ।

अथवा, अन्यथा पूर्वपक्षयित्वा कारिकेयं पठितव्या । यदि शब्दो (सत्त्वं) हेतुः[1] [2]तत एव साध्यसिद्धेः, पुनः कृतकत्वाद्युपादाने हेत्वन्तरं[3] नाम निग्रहस्थानं स्यात् । एतेन शाब्दं प्रमाणान्तरं व इत्येतदपि निरूपितमिति; अत्राह—**तत्त्व** इत्यादि । नन्वेतत् **'सम्यग् विचारिता'** इत्यादिना[4] शक्यपरिहृतम्, किमर्थं पुनरा [ह ?] दूषणान्तरप्रतिपादनार्थम् इत्यदोषः । **वादी** जैनो **जयति**, प्रतिवादिनम् । कुतः ? इत्याह—**तत्त्वस्य** जीवादेः समीचीनसाधनप्रतिज्ञादिवचनेन **प्रत्यायनात् प्रतिपाद्येपि (वाद्यपि)** सौगतो वादिनं **जयति** । किं कृत्वा ? **भूतदोषं** प्रतिज्ञादिवचनं परमार्थदूषण**मनुद्भाव्य** (णं **समुद्भाव्य**) । न चैतद् युक्तम् इति मन्यते । कुतः ? इत्याह—**युगपत् संभवात् तयोः** जयेतरयोः । तथाहि—यदैव वादी स्वाभिमतं युक्तितः [२७० ख] प्रतिपाद्य परं विजयते, तदैव परोऽनर्थकप्रतिज्ञादिवचनमुद्भाव्य[5], तत्र चैकदा संभवः ।

परार्थेन[6] कारिकां विवृण्वन्नाह—**वक्त्रभिप्राय** इत्यादि । **वक्त्रभिप्रायस्य सूचनं शब्देन** कार्यलिङ्गेन यज्ज्ञापनं तस्य **अङ्गीकरणे वादी** सौगतो **निगृह्यते** नैयायिकादिना । कुतः ? इत्याह—**साधनाङ्गस्य** पक्षधर्मत्वादेः । यदि वा, साधनमेव अङ्गं साध्यप्रतिपत्तेः निमित्तम् । अथवा, सिद्धिः साधनं तस्य अङ्गं कारणं तस्य, **अवचनाद्** 'वादिना' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । कथम् ? इत्याह—**तत्त्वतः** परमार्थेन । नहि अन्यसूचकेन तत्त्वतोऽन्यः सूचितो नाम अतिप्रसङ्गात् । **तथा** तेन प्रकारेण **प्रतिवाद्यपि** सौगतो **'निगृह्यते'** इत्यनुवर्त्तते । कुतः ?

---

(१) 'अनित्यः शब्दः सत्त्वात्' इत्यत्र । (२) सत्त्वादेव । (३) एकस्मादेव साध्यसिद्धौ द्वितीयहेतूपादाने हेत्वन्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति । "अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम् ।"—न्यायसू० ५।२।६ । (४) पृ० ३२२ । (५) वादिनं जयतीति सम्बन्धः । (६) द्वितीयार्थेन ।

इत्याह–भूत इत्यादि । [भूतस्य] सतोऽपि असिद्धादिदोषस्य अप्रकाशनात् ।

द्वितीयेन [1]तां व्याख्यातुकाम आह–तत्त्वम् इत्यादि । तत्त्वं प्रमाणतः [अ] प्रतिपाद्यतः सौगतस्य प्रतिज्ञादि असाधनाङ्गवचनम् भूतदोषं सद्भावयति ? काका व्याख्येयमेतत् । 'यदि' शब्दो वा अत्र द्रष्टव्यः । कः ? इत्याह–प्रतिवादी इति हेतोः युगपन्निग्रहप्राप्तिः । कुतः ? इत्याह–जयनात् 'युगपद्' इत्यनुवर्त्तते, भूतदोषात् पराजयवत् तत्त्वप्रत्यायनात् जयोऽपि वादिनोऽवश्यंभावी इति मन्यते । उपसंहारमाह–यत एवं तत् तस्मात् न कस्यचित् जयो नाम । केन विना ? इत्याह–स्वपक्ष इत्यादि । केन कृत्वा ? इत्याह न्यूनता इत्यादि । कुतः ? इत्याह–मार्गस्य सम्यग्दर्शनादेः प्रभावना प्रकाशनं लक्षणं यस्य [तस्य] भावात् [२७१क] तत्त्वात् । कस्य ? जयस्य इति । यत एवं तस्मात् निराकृतपक्षत्वमेव निराकृतः पक्षो यस्य तस्य भावः तत्त्वमेव नान्यत् प्रतिज्ञादिकं निग्रहस्थानं वादिनः प्रतिवादिनो वा । तत्तु असम्यक्साधनवादिनि जैने सौगतस्य प्रतिज्ञादिवचनमुद्भावयतोऽपि अस्तीति [2]स एव निगृह्यते इति भावः ।

एतेनेदमपि प्रत्युक्तं यदुक्तम्–*"[3]पञ्चावयवोपपन्नः" [न्यायसू० १।२।१] इत्यत्र[4] नैयायिकादिना अवयवन्यूनता-विपर्यास-आधिक्यं निग्रहस्थानम् इति; पर आह अत्य ल (ल्प)-मिदमुच्यते–'निराकृतपक्षत्वमेव निग्रहस्थानम्' इति; यावता तूष्णींभावोऽपि[5] तदिति चेत् ; अत्राह–कस्यचित् वादिनः प्रतिवादिनो वा तूष्णीम्भावे सति तावता तूष्णीम्भावमात्रेण परस्य प्रतिवादिनो वादिनो वा जयाभावात् कः केन निगृह्यते । कुतः ? इत्याह–युगपद् इत्यादि । न केवलं साधनाऽसाधनाङ्गप्रतिज्ञादिवचनोद्भावनयोः युगपत् संभवः किन्तु तूष्णीम्भावस्यापि युगपत् संभवात् । एतदुक्तं भवति–यदि वादिनः तूष्णीम्भावात् पराजयः [6]तस्यापि कदाचित् [7]तदुद्भावात् वादिनः संभवेदिति सकृज्जयेतरौ स्याताम् इति ।

ननु कस्यचित् तूष्णीम्भावमात्रेण न परस्य तयो (तयोः प्रसङ्गः) येनायं दोषः स्यात् , अपि तु तथोद्भावयतः, न च द्वयोः तूष्णीम्भावे [8]तदस्तीति चेत्; अत्राह–साधन इत्यादि । साधने ये (साधनं च) दूषणं च असिद्धत्वादि, तद् इत्यनेन साधनदूषणं परामृश्यते तदिव आभासत इति तदाभासम् च तत्त्वतो (तेषाम्) असिद्धादेः (अन्यतरस्यापि) तथा भावेन उद्भाव्यमान (ने)

(१) कारिकाम् । (२) सौगत एव । (३) "प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः" (न्यायसू० १।२।१) इति वादलक्षणे । "अनेन च 'हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम्, हेत्दाहरणाधिकमधिकम्' इति न्यूनाधिकयोरुद्भावनमनुज्ञायते । सिद्धान्ताविरुद्धग्रहणेनापि 'सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः' इति विरुद्धाख्यहेत्वाभासोद्भावनमनुज्ञातमित्येवं वादे त्रीणि निग्रहस्थानान्युद्भावनीयानि । अन्ये वदन्ति–विरुद्ध एव हेत्वाभासो वादे चोद्यते नानैकान्तिकादिरिति कथमेतद् युज्यते ? 'निग्रहस्थानेभ्यः पृथगुपदिष्टाः हेत्वाभासा वादे चोदनीया भविष्यन्ति' इति भाष्यकारवचनात् प्रमाणपदेन च तन्मूलावयवाक्षेपात् प्रमाणाभासमूलनिरासे सति सकलहेत्वाभासोद्भावनमपि तत्र सिद्धमिति । सिद्धान्ताविरुद्धग्रहणेन सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात् कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्त इत्यपसिद्धान्ताख्यनिग्रहस्थानानि वादे उद्भाव्यन्त इति ।"–न्यायम० प्रमे० पृ० १५० । (४) निग्रहस्थानम् । (५) प्रतिवादिनोऽपि । (६) तूष्णीम्भावात् । (७) जयः । (८) उद्भावनमस्ति ।

तयोश्च 'युगपत् संभवात्' इति सम्बन्धः। एवं मन्यते वादिना [२७१ख] असिद्धादीनां साधनदोषाणाम् अन्येन्य तस्मिन् (अन्यतरस्मिन्) प्रयुक्ते तन्नोद्भावयति परः किन्तु अन्यमेव यदा; तदा कस्य जयः पराजयो वा ? न कस्यचित्, अन्यथा द्वयोरपि सकृत् स्यात्, समतैव तु न्याय्या। क एवं व्यवस्थापयति ? 'सभा' इति चेत्; कुतः ? द्वयोरपि तत्त्वसिद्धेरभावात्, एकस्य[3] दुष्टसाधनवचनाद् अन्यस्य[3] अन्यदोषप्रकाशनात्। [४]सैव तर्हि तूष्णीम्भावमात्रप्रकाशनेऽपि, कस्यचिदिष्टसिद्धेरभावात् अन्यथा साधनोपयोगाभावं तयोः समतां व्यवस्थापयितुमर्हति। यदि पुनः वादिनः तदोषप्रकाशनाद् इतरो जयवान् इत्युच्यते; तिष्ठतु तावदेतद् **'असाधनाङ्ग'** इत्यादि कारिकया निरूपयिष्यमाणत्वात्।

यदा परस्यं अन्यदोषोद्भावनमुद्भाव्यते तदा वादी जयति इत्येके; तत् केन उद्भाव्यते ? वादिनेति चेत्; सकृज्जयेतरौ, परस्येव आत्मनोऽपि दोषस्य तेनैव प्रकाशनात्। एतेन 'सभया' इति निरस्तम्; सा हि यथा (यदा) वादिनोऽपि सन्तं दोषं नोपलक्ष्यते (नोपलक्षयति तदा) अमध्यस्थताप्रसङ्गादिति।

अत्रैव दूषणान्तरं दर्शयन्नाह—**असाधनाङ्ग** इत्यादि।

[असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः।
निग्रहस्थानमिष्टं चेत्[6] किं पुनः साध्यसाधनैः ॥१०॥

वादिनस्तूष्णींभावादसाधनाङ्गवचनाच्च निग्रहस्थानपर्यन्तजल्पपरिसमाप्तौ समम्।]

असाधनाङ्गस्य (साधनाङ्गस्य **अवचनम्**) अनुच्चारणं तूष्णीम्भावः **अदोषोद्भावनं** दोषस्य सतोऽपि अप्रकाशनम् उपेक्षणं **द्वयोः** याथासङ्ख्येन वादिप्रतिवादिनोः **निग्रहस्थानम् इष्टं चेत्** यदि **[किं न]** किञ्चित् **साध्यैः साधनैश्च** 'ज्ञातैः' इत्यध्याहारः। ध्यात्र (व्यक्त्य)पेक्षया उभयत्र बहुवचनम्। **पुनः** इति वितर्के। इदमत्र तात्पर्यम्—तत्परिज्ञानं यदि स्वार्थमेव; परप्रतिपादनाऽसंभवात्, कुतः कस्यचित् क [२७२क] कारुणिकत्वं यतः शिष्योपाध्यायव्यवस्था। प्रतिपादकाभावे वा कथं कस्यचित् तत्परिज्ञानम् इत्यपि चिन्त्यम्। स्वत इति चेत्; सर्वस्य स्यादिति शास्त्रप्रणयनमनर्थकम्। परार्थम् अपै (वै)ति चेत्; किमर्थं तूष्णीम्भूतः कश्चित् निगृह्यते ? स तावत् प्रतिपादनीयो यावत् तत्त्वं प्रतिपद्यते अन्यथा किमर्थंतूरेवा (किमर्थमेवम्) भिधीयते—*"तावद् अभिधानीयं यावत् प्रतिपाद्यः प्रतिपद्यते।" इति सुभाषितं स्यात्।

कथं परोपन्यस्तमजान [न्] तैः पुनः पुनः प्रतिपाद्यते न पुनः स्वसाधनम् इति कोऽर्थं नियोगः—अन्यः सर्वः प्रतिपाद्यते न वादी प्रतिवादी वेति च। 'दस्युत्वात्' इति चेत्; कथं

---

(१) प्रतिवादी। (२) वादिनः। (३) प्रतिवादिनः। (४) सभा एव। (५) प्रतिवादिनः। (६) पूर्वपक्षः—"असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः। निग्रहस्थानमन्यस्तु न युक्तमिति नेष्यते॥"—वादन्या० श्लो० १।

दस्युता ? समयान्तरावेशात्[1] ; तत्र एव प्रतिपाद्यते तदावेशपरित्यागेन प्रतिपादकसमये समावेशो यथा स्यात् । दृश्यन्ते हि समयान्तरानुषङ्गिणोऽपि तत्र विशेषप्रतिपादनवशाद् अन्यमार्गानुसारिणो भवन्तः । केचित् न सर्वे इति चेत् ; न तर्हि कश्चित् प्रतिपाद्यः, नहि अन्योऽपि प्रतिपाद्यमानोऽभीष्टसमय एव वर्तते, तत्राप्रवर्त्तनस्य कस्यचित् समयान्तरे प्रवर्त्तनस्य च दर्शनात् । कथमेवं शिष्टादिः दस्युर्न भवेत् वादप्रवृत्तिकाले तत्समावेशात्[2], इतरथा तत्र प्रवृत्तिः कुतः ? ५ सर्वदा नेति चेत् ; अन्ययोपि (अन्यस्यापि) सर्वदा स इति कुतो निश्चयः ? एतेन चोद्यकृत् शिष्योऽपि दस्युः स्यादिति विज्ञेयम् । अथ निग्रहबुद्ध्या प्रवृत्तेर्दस्युता; उक्तमत्र शिष्टादेः स्यात् ।

किञ्च, तूष्णमासीनो यदि वादी दस्युत्वान्न प्रतिबोध्यते, केवलं न (नि)गृह्यते; तर्हि वादिनाऽपि अनेन परोऽत्र एव न समीचीनसाधनात् प्रतिबोधनीयः, तं प्रति मौनं [२७२ख] विधातव्यं यत्किञ्चिद्वा भाषणीयम् । एवं सति स एव निगृहीति (निगृह्नातीति) चेत् ; तत्र १० ठकप्रयोगः कर्त्तव्यः यतोऽसौ विमुखो भवति, तत्परिज्ञानाय च ठकाः सेवनीयाः वादं चिकीर्षुभिः, न साधनपरिज्ञानार्थं तत्त्ववादिनः । ततस्तत्प्रयोगात्[3] निर्मुखीभूत एवं वक्तव्यः पर्यनुयोज्योऽपि अहमुपेक्षितस्त्वया ततो निगृहीतोऽसि इति । तया असाधुता स्यादिति चेत् ; न; दस्युनिग्रहे तदयोगात्, अन्यत्र समत्वात् ।

इदमपरं व्याख्यानम्—**साधनाङ्गं यन्न** भवति तस्य **वचनम्, दोषो** यो **न** भवति १५ तस्य **उद्भावनं द्वयोर्निग्रहस्थानम् इष्टं चेत् किं पुनः साध्यसाधनैः** इति । तथाहि— प्रतिज्ञादिवचनम् असिद्धादिवचनं च भूतदोषमुद्भाव्य वादिनि निगृहीते पुनः पुनः स्वपक्षसाधनाय प्रतिवादिनः प्रयासो निग्रहस्थानं स्यात् । तथाऽभूतदोषोद्भावनमुद्भाव्य प्रतिवादिनि वादिना निर्जिते पुनः तस्य स्वपक्षसाधनं[10] तादृशमेवेति ।

परः पुनरेतत् परिहरति—नैव कश्चित् निग्रहोत्तरकालं स्वपक्षसिद्धये यतते प्रयोजनाभावात्, २० *"**वादिना उभयं कर्त्तव्यम् स्वपक्षसाधनं परपक्षदूषणम्**" इति[11] तु वादिप्रवृत्तिनियमार्थम्। वादिना हि [न] यत्किञ्चन भाषणीयम् अपि तु स्वपरपक्षयोः साधनदूषणे, 'वादिना' इति वचनात्, इतरथा तस्य निग्रहः स्यादिति; तन्न सारम् ; यतः नासाधनाङ्गं विरुद्धसाधनमत्र गृह्यते, तस्य पक्षसाधनंकत्वेन (परपक्षसाधकत्वेन) साधनाङ्गत्वात्, ततो निग्रहस्याभिमतत्वात्, **'तस्मात् निराकृतपक्षत्वमेव निग्रहस्थानम्'** इति वचनात्, अपि तु *"[12]**असिद्धानैकान्तिकप्रतिज्ञादि-** २५ **[२७३क] तद्वचनम् असाधनाङ्गवचनं वादिनो निग्रहस्थानम्** ।" [वादन्या० पृ० ६६] कुत एतत् ? ततः तत्पक्षासिद्धेरिति चेत् ; किं पुनः परस्य पक्षसिद्धिरस्ति यतोऽसौ विजयी ? न च तज्जयमन्तरेण इतरस्य निग्रहो नाम, परस्परापेक्षत्वात् जयपराजययोः । न स्वपक्षसिद्ध्या

---

(१) चेत् । (२) समयान्तरप्रवेशार्थमेव । (३) स्वमतावेशात् । (४) वादे । (५) प्रतिवादी । (६) मूकः । (७) ठकप्रयोगात् । (८) वादिप्रतिवादिनोः । (९) वादिनः । (१०) निग्रहायैव । (११) "तस्माज्जिगीषता स्वपक्षश्च स्थापनीयः परपक्षश्च निराकर्तव्यः ।"—वादन्या० पृ० ७२ । (१२) "साधनस्य सिद्धेर्यदङ्गम् असिद्धो विरुद्धोऽनैकान्तिको वा हेत्वाभासः तस्यापि वचनं वादिनो निग्रहस्थानम् असमर्थोपादानात् ।"—वादन्या० पृ० ६६ ।

परो वादिनमभिभवति किन्तु तद्वचनदोषमात्रात् । न चैवं भ्रूनर्त्तनादेरपि अभिभवेद् अविशेषात् । भवत्येव तंतः परपक्षसिद्धिरिति चेत् ; न; इतरदोषमात्रात् तदयोगात् , अन्यथा साध्यस्य यानि साधनानि तदविनाभावीनि तैः किम् ? कथं चैवं वादिनो असिद्धादिः विरुद्धाद् विशिष्येत ?

ततः स्थितम्–**असाधनाङ्गस्य वचनं** वादिनो निग्रहस्थानम् **इष्टं चेत् किं पुनः साध्यसाधनैः** इति । तथा **अदोषस्य उद्भावनं** प्रतिवादिनो निग्रहस्थानं चिन्त्यम् । यदा हि वादिना अकलङ्कसाधने उपन्यस्ते परोऽदोषो (षे) दोषमुद्भावयति; तदा तत एव चेदसौ[2] निगृह्येत **किं साध्यसाधनैः** साध्यस्य सिद्धये यानि साधनानि उपन्यस्तानि तैः न किञ्चित् । परनिग्रहाय तदुपन्यासः[3] स च अन्यत्र एव जात इति मन्यते । ननु तदभावे[4] अदोषोद्भावनमेव न ज्ञायते; तस्य अन्यथापि परिज्ञानात् ।

किंच, सम्यक्साधनप्रयोगे यदा परो दोषं नोद्भावयति तदा कुतोऽसौ[5] निगृह्यते ? तत्प्रयोगादिति चेत् ; तत एव अदोषोद्भावनेऽपि निगृह्यताम् । नहि तत्प्रयोगः तदा तत्प्रयोगो भवति, अन्यथा अदोषोद्भावनमपि दुरन्वयम् । अथाभ्य(न्य)त एव निग्रहे किं ततः तेन ? त (तत) एव तद्भावे किमन्यतः तेन इति समानम् । [२७३ख] अत एव आह–**किं पुनः साध्यसाधनैः** इति । अस्यायमर्थः–अदोषोद्भावनं परस्य निग्रहस्थानमिष्टं चेत् ; **किं पुनः साध्यसाधनैः** तत् ? 'इष्टम्' इत्यनुवर्त्तते । इष्टं चेत् ; अदोषोद्भावनमनर्थकमिति मन्यते ।

स्यान्मतम्–अदोषोद्भावनं सदपि चेद् वादी निग्रहं नोद्भावयते; तर्हि पर्यनुयोज्योपेक्षणात् स एव निगृह्यते निराकृतपक्षत्वात् । तदुद्भावनेऽपि सर्वं समानम् । तदुभ[यस्य निग्रह] स्थानमिष्टमिति चेत् ; आस्तां तावदेतत् **'वादिनोऽनेकहेतूक्तौ'** [सिद्धिवि० परि०५] इत्यादिना निरूपयिष्यमाणत्वात् ।

अपरः प्राह–न साधुसाधनप्रयोगे अदोषोद्भावनं निग्रहस्थानमिष्टम् , अपि तु तद्विपरीतप्रयोगे इति; तत्राह–**किं पुनः साध्यसाधनैः** इति । तात्पर्यमिदमत्र–वादिना हेत्वाभासे प्रयुक्ते प्रतिवादिना च अदोषे समुद्भाविते न वादी प्रतिवादिनं निगृह्णाति; सदोषचेतनस्य (सदोषत्वेन तस्य) जयाभावात् , न तमन्तरेण इतरस्य निग्रहो नाम । तथा सति प्रतिवाद्यपि वादिनं निगृह्णीयादिति युगपत् जयेतरौ स्याताम् , ततः तयोः समतैव युक्ता । तथापि प्रतिवादिन एव स्थापयन्तः कथं प्राश्निका मध्यस्था यतो वादे अपेक्ष(क्ष्य)न्ते ? साध्यं साध्यते येषु तैः **साध्यसाधनैः** सभ्यैः **किम्** इति ।

ननु स्यात् समता यदि वादी प्रतिवादिनः अदोषोद्भावनं नाविर्भावयेत् , आविर्भावने तु मतं न यतीति (सं° तं[11] जयतीति) चेत् ; तत्रेदं चिन्त्यते–स्वदोषं प्रकाश्य, अन्यथा वा [12]तदाविर्भावयेदिति ? तत्र न तावदन्यः पक्षः; स्वदोषाऽप्रकाशने 'मया प्रयुक्तो दोषः अनेन [२७४क] नोद्भावितोऽपि कृत्य (तु अन्य) इति ज्ञातुमशक्तेः । नापि आद्यः; 'स्वयं स्वदोषप्रकाशनात्

(१) वादिपक्षे दोषोद्भावनात् । (२) प्रतिवादी । (३) साधनोपन्यासः । (४) अदोषोद्भावनादेव । (५) साधनाभावे । (६) प्रतिवादी । (७) सम्यक्साधनप्रयोगात् । (८) तदैव । (९) वादी । (१०) वादी । (११) प्रतिवादिनम् । (१२) तस्य प्रतिवादिनः अदोषोद्भावनमाविर्भावयेत् ।

तस्यैवं निग्रहप्राप्तिः' इत्युक्तत्वात् । यदि पुनः परत्रै भूतदोषप्रकाशनात् जयः स्वात्मनि भूतदोषो(षा)विर्भावनाद् विपर्ययोऽपि[3] स्यात् । अथ भूतदोषोद्भावनगुणेन तिरस्कारात् नासौ दोषः; तेन अस्य तिरस्कारात् कथमयं गुणः ?

किञ्च, यदि अन्यात्मदोषप्रकाशनात् स्वदोषाः स्वात्मनि दोषात्मतां जहति ; तर्हि असिद्धादीनां हेत्वाभासानामन्यतमं तदाभासं स्वयमेवोच्चार्य निष्ठुरं (निर्भरं) वक्तव्यम्–मया असिद्धोऽन्यो वा हेतुः प्रयुक्तोऽपि क्रिया (त्वया) नोद्भावित इति । तया च सस माह–(तथा च सभम् । इत्याह–) 'वादिनः' इत्यादि । [वादि]नः पूर्वपक्षवतः तूष्णींभावाद् असाधनाङ्गवचनात् स्वपरपक्षयोः साधनाङ्गं यन्न भवति प्रतिज्ञाद्यसिद्धा (ज्ञाद्यसिद्धा) दि, तस्य वचनात्, न पुनः *"न साधनाङ्गवचनाद् असाधनाङ्गवचनात्" इति व्याख्यानम्, अस्य 'तूष्णींभावात्' इत्यनेन गतत्वात् । 'च' इति समुच्चये । निग्रहस्थानं पर्यन्ते यस्य जल्प[स्य] वादस्य तस्य परिसमाप्तौ सत्याम् ।

ननु वादिवत् प्रतिवादिनोऽपि तूष्णींभावे यत्किञ्चनभाषणभावे वा द्वयोः समत्वान्न तत्परिसमाप्तिरिति चेत् ; अत्राह–भूत इत्यादि ।

[भूतदोषं समुद्भाव्य जितवान् पुनरन्यथा ।
परिसमाप्तेस्तावतैवास्य कथं वादी निगृह्यते ॥११॥

तन्न सुभाषितम्–*"विजिगीषुणोभयं कर्त्तव्यं स्वपक्षसाधनं परपक्षदूषणं च"इति ।]

भूतदोषं तूष्णींम्भावादिपरमार्थदोषम् उद्भाव्य (समुद्भाव्य) कथमुद्भाव्य ? इत्याह–जितवान् इति । यदि वा, तमु (समु)द्भाव्य वादी जितवान् यतः ततः पुनः पश्चाद् वितर्के च पुनः इति···[स्व]पक्षसिद्धिप्रतिपतमातः (द्धिं प्रतिपन्नवता) प्रतिवादी निगृह्यते । कुतः ? इत्याह–तावतैव भूतदोषोद्भावनमात्रेणैव [२७४ख] प्रस्या (अस्य) वादिनिग्रहरूपस्य परिसमाप्तेः इति । अन्यथा तदपरिसमाप्तिप्रज्ञाकरेण (प्रकरेण) कथं वादी निगृह्यते न कथञ्चित् ।

तथाहि–तां प्रति तत्प्रयत्नः वादिनो निग्रहार्थः, प्रतिबोधनार्थः, सता (सभा)प्रतिबोधनार्थः, एवमेव वादिति (वा स्यादिति) चत्वारः पक्षः । तत्र आद्ये पक्षे तद्वैफल्यम् ; अन्यत एव तन्निग्रहात्, तूष्णीम्भावादेरपि ठकप्रयोगाद्भावात् । द्वितीये तूष्णीम्भावादेर्निग्रहानुपपत्तेः । [न] हि परप्रतिपादनाय कृतावासना (कृतौ असता) दोषमात्रेण परान (न्) निग्रहेण योजयन्ति

(१) वादिनः । (२) प्रतिवादिनि । (३) पराजयोऽपि । (४) "अथवा तस्यैव साधनस्य यन्नाङ्गं प्रतिज्ञोपनयनिगमनादि तस्य असाधनाङ्गस्य साधनवाक्ये उपादानं वादिनो निग्रहस्थानं व्यर्थाभिधानात् ।" –वादन्या० पृ० ६१ । (५) "अथवा सिद्धिः साधनं तदङ्गं धर्मो यस्यार्थस्य विवादाश्रयस्य वादप्रस्तावहेतोः स साधनाङ्गः तदव्यतिरेकेणापरस्याप्यजिज्ञासितस्य विशेषस्य शास्त्राश्रयस्याजादिभिः प्रक्षेपो मोषणं च परस्यामोहनानुभाषणशक्तिविघातादिहेतोः, तदप्यसाधनाङ्गवचनं वादिनो निग्रहस्थानमप्रस्तुताभिधानात् ।" –वादन्या० पृ० ६६ । (६) स्वपक्षसिद्धिं प्रति ।

शिष्याणि (ष्यान्) च सिद्धान्तद्वयवेदिनं (नः) प्राश्निकाः। तृतीयविकल्पवार्त्तापि न युक्ता। चतुर्थे तु वक्तुः असम्बद्धाभिधायित्वम्, साक्षिसमक्षम् आत्मोत्कर्षज्ञापनार्थं तां प्रति यतते प्रतिवादी न तत्परिसमाप्तौ नितराम् आलोक्षाथा (?) ज्ञापितः स्यादिति सैव क्रियताम्।

अथ ततः तत्परिसमाप्तौ न कञ्चित् स्वपक्षसिद्धिं प्रति यतते इति; अत्राह—**तच्च** इत्यादि। **तत्** तस्मात् ततः तत्परिसमाप्तेर्न **सुभाषितम्**। किम्? इत्याह—**विजिगीषुणा** वादिना प्रतिवादिना वा **उभयं कर्त्तव्यम् स्वपक्षसाधनं परपक्षदूषणम् इति**। तथाहि—प्रतिवादिना विजिगीषुणा न तावत् तत्कर्त्तव्यम् अपि तु तेन वादी यतः कुतश्चित् निर्मुखः पिशाचो वा विधातव्यः। न तेनापि;[1] प्रतिवादी तथा विधातव्यः।

एतेन 'अदोषोद्भावनम्' इत्यपि व्याख्यातम्। ततः स्थितम्—**कस्यचित् तूष्णीम्भाव** इत्यादि। यदि शाब्दो हेतुः शाब्दं प्रमाणं वा; 'अनित्यः शब्दः' इति वचनादेव साध्यसिद्धेः किं [२७५क] कृतकत्वादिना, तत्सिद्धौ तद्वचनं निग्रहस्थानमिति।

अत्रैव दूषणान्तरमाह—**साकल्येन** इत्यादि।

[साकल्येनाविनाभावे सिद्धे हेतोः प्रसिध्यति।
ततः सत्त्वादिवादीव पक्षधर्मत्ववाद्यपि ॥१२॥

साकल्येन व्याप्तहेतुवचनात् पुनः पक्षधर्मत्ववचनं प्रतिज्ञोपनयवचनेन समानं भवेद्वा न वेति तथागतरागं परित्यज्य चक्षुषी निमील्य समुन्मील्य वा चिन्तय तावत् तत्तथा साधर्म्यवैधर्म्ययोः सहवचनेन साधनवाक्यं समानं भवेद्वा न वा? यदि समानमिति किं प्रतिज्ञादिवचनैरेव? साधनसामर्थ्यपरिज्ञानमुभयत्र समानम्।]

साकल्येन अ[न]वयवेन **अविनाभावे सिद्धे** निश्चिते सति। कस्य? हेतोः। **ततः** एव हेतोः सकाशात् **प्रसिध्यति** सति साध्य (ध्ये) **सत्त्वादिवादी [त्व आदि]** शब्देन उपनयादिपरिग्रहः। **पक्षधर्मत्ववाद्यपि** 'स्यात्' इत्यध्याहारः। पक्षधर्मत्ववादी सत्त्वा[दि]वादीव वत् (तद्वत्) सदृशः सत्त्वा[दि]वादी स्यात् इत्यर्थः। नहि 'अनित्यः शब्दः' इत्यस्मात् 'सन् कृतको वा शब्दः' इत्यादेः विशेषं पश्यामः। **अपि** शब्दात् 'यत् सत् कृतकं वा तदनित्यं यथा घटः, सन् कृतकश्च शब्दः' इत्यादिवाक्यवादी गृह्यते। हि उपनयति (यनि) गमन (ने) युगपत् साधर्म्यवैधर्म्यप्रयोगवादिनो न विशिष्यते (ष्येते) इति प्रवृत्तौ (ति वृत्तौ[2]) निरूपयिष्यते।

कारिकां व्याख्यातुमाह—'**साकल्येन**' इत्यादि। **साकल्येन व्याप्तस्य हेतोः** 'यत् सत् कृतकं वा तदनित्यं यथा घटः' इत्यादि **यद्वचनं तस्मात् पुनः** पश्चात् **पक्षधर्मत्ववचनं समानम्** सदृशम्। केन? इत्याह—**प्रतिज्ञोपनय** इत्यादि। **भवेद्वा नवेति तथागतरागं** सुगताग्रहम् अथवा **तथा** तेन 'प्रतिज्ञादिवचनं निग्रहस्थानम्, पक्षधर्मत्ववचनम्' इति[3] प्रकारेण **आगतरागं**

(१) वादिनापि, तत्कर्तव्यमिति सम्बन्धः। (२) टीकायाम्। (३) "अथवा तस्यैव साधनस्य पक्षाङ्गं प्रतिज्ञोपनयनिगमनादि, तस्यासाधनाङ्गस्य साधनवाक्ये उपादानं वादिनो निग्रहस्थानं व्यर्थाभिधानादेव।"—वादन्या० पृ० ६१।

परित्यज्य चक्षुषी निमील्य समुन्मील्य वा चिन्तय ता [वत्] तत्तथा साधर्म्यवैधर्म्ययोः सह युगपत् 'यत् सत् तदनित्यं यथा घटः, संश्च शब्दः, यदि (यद) नित्यं न भवति तत् सदपि न भवति यथा आकाशं तथा च शब्दः' इति यद् वचनं तेन समानम् 'यत् सत् तत् सर्वमनित्यम् घटवत्, संश्च शब्दः' इत्यादि साधनवाक्यं [२७५ख] भवेद्वा न वा इत्यादि सर्वं वक्तव्यम्।

ननु 'अनित्यः शब्दः' इत्यनेन प्रतिज्ञावचनेन 'संश्च शब्दः' इति पक्षधर्मत्ववचनं समानं भाव्यम्, साध्यस्यैव निर्देशात्। यथैव हि विप्रतिपन्नं प्रति शब्दस्य अनित्यत्वं साध्यम्, तथा सत्त्वादिकमपि अन्यथा तद्वचनानर्थक्यं स्यात्। 'अनित्यः शब्दः, कृतकत्वात्, यत् कृतकं तदनित्यं दृष्टं यथा घटः, कृतकश्च शब्दः' इति उपनयवचनेन च[1]। यथैव हि 'शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्' इत्यनेन उक्त एव अर्थः 'कृतकश्च शब्दः' इत्यनेनोच्यते तथा 'यत्कृतकं तदनित्यम्' इत्यनेनोक्तमेव 'कृतकश्च शब्दः' इत्यनेनापि उच्यते। साकल्यव्याप्तिवचनात् शब्दकृतकत्वाभिधानात् सामान्ये विशेषस्य अन्तर्भावात्। अन्यथा शब्दकृतकत्ववत् अन्यस्यापि तेनानभिधानाद् व्याप्तिवचनमनर्थकमापद्येत।

एतेन 'तस्मादनित्यः' इत्यनेन [3]निगमनवचनेन [4]तत्समानमिति चिन्तितम्। यथा खलु हेतुसामर्थ्येन उक्त एव अर्थो निगमनेन अभिधीयते तथा व्याप्तिवाक्येन उक्तः पक्षधर्मत्ववचनेन।

तथा साधर्म्यवैधर्म्ययोः सहवचनेन साधनवाक्यं समानम्। यथा वै खलु निश्चितेऽन्वये उक्ते व्यतिरेकस्य, अव्यतिरेकान्वय (व्यतिरेके च अन्वय)स्य अर्थापत्त्या गतिः तथा विपक्षसद्भाववाधकप्रमाणबलात् साकल्येन व्याप्तस्य अवगतस्य हेतोः वचनात् पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वम् अर्थापत्त्या अवगम्यते इति त्रिरूपसाधनवाक्यं कोपयुज्यत इति चेत्; अत्राह—यद(दि) समानम् इति किं प्रतिज्ञादिवचनैरिव (रेव) प्रतिज्ञादिवचनैरेव [२७६क] किम् इति, 'निगृह्येत' इति पदघटना। नहि तैर्वचनैः हेतोर्व्याप्तिः खण्ड्यते तत्परिज्ञानं वा यतस्तत्प्रतिबन्धः स्यात्।

ननु परार्थमनुमानं न हेतुदोषादेव दुष्टम् अपि तु वादिदोषादपि, अस्ति च दोषः प्रतिज्ञादिवचनरहितस्यापि साधनस्य साध्यसिद्धौ यत्सामर्थ्यं तदपरिज्ञानम्, अन्यथा न तत्प्रयोगं कुर्यात्। को हि धीमान् अनर्थके ज्ञानं नेव (अनर्थकज्ञानेनैव) आत्मानं क्लेशयति इति चेत्; अत्राह—साधन इत्यादि। साधनस्य सत्त्वादेः सामर्थ्यस्य परिज्ञानम् उभयत्र प्रतिज्ञादिवचने पक्षधर्मत्वादिवचने च उक्तविधिना समानम्। ततः सत्त्वादिवादीव पक्षधर्मत्वादिवादी च पक्षधर्मत्वादिवाद्यपि निगृह्येत इति मन्यते।

किं च, यदि परार्थे अनुमाने साधनसाधर्म्यो (सामर्थ्यो) परिज्ञानं दोषः इति वादी निगृह्येत तर्हि सौगतस्य इदमपरं निग्रहस्थानं स्यादिति दर्शयन्नाह—सत्त्वादेव इत्यादि।

[सत्त्वादेव क्षणस्थाने उत्पत्त्यादौ निगृह्यते।
धर्माधिकोक्तितो वादी तत्सामर्थ्यानभिज्ञया ॥१३॥

---

(१) हेतोरुपसंहार उपनयः। (२) समानं भाव्यमिति सम्बन्धः। (३) प्रतिज्ञाया उपसंहारो निगमनम्। (४) पक्षधर्मत्ववचनम्। (५) प्रतिज्ञादिवचनैः। (६) साधनसामर्थ्यपरिज्ञाने।

केवलस्यापि भावस्य विनाशसाधनसामर्थ्यात् पुनः उत्पत्तेः कृतकत्वाद्वेति उपाधिविशिष्टोपादानात् निग्रहस्थानम् स्वपरव्यापारापेक्षभावलक्षणत्वात्तेषाम्। न हि येनावश्यं निग्रहस्थानं तेन शिष्या व्युत्पादनीयाः। न हि शुद्धस्यापि साधनत्वे पुनरुपाध्यपेक्षणं युक्तम्।]

५ **सत्त्वाद्** विद्यमानत्वाद् भिन्नाभिन्नोपाधिरहितात् इति एवकारार्थ [:] **क्षणस्थाने** क्वचिद् धर्मिणि क्षणक्षये सिद्धे निश्चिते सति **उत्पत्त्यादौ** उत्पत्तिः आदिर्यस्य कृतकत्वादेः स तथोक्तः, तस्मिन् 'प्रयुक्ते' इत्यध्याहारः **निगृह्यते** 'वादी' इति शेषः।

ननु उत्पत्तिशब्देन प्रागसतः आत्मलाभलक्षणं सत्त्वमुच्यते, कृतकशब्देनापि तदेता (देवाऽ) पेक्षितपरव्यापारभावम्, एवं प्रयत्नानन्तरीयकत्वादावपि वक्तव्यम्, ततो यथा 'अनित्यः शब्दः
१० सत्त्वात्' इत्युक्ते न निग्रहः तथा उत्पत्तेः कृतकत्वात् प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् इत्युक्तेऽपि न स युक्तः। न हि शब्दान्तरेण तदेव उच्यमानं निग्रहाय जायते [२७६ख] अन्यथा धूमोऽपि तेनैव उच्यमानो जायेत इति चेत्; अत्राह—**धर्म** इत्यादि। **धर्मेण** प्रागसत्त्व-परव्यापारादिरूपेण भिन्नाभिन्नविशेषणेन **अधिकस्योक्तितः** उक्ते 'सत्त्वस्य' उत्पत्त्यादिना इति उभयत्र विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः। एतदुक्तं भवति—यच्छुद्धसत्त्वं सत्त्वशब्देनोच्यते तदेव उत्पत्त्यादिशब्देन
१५ यद्युच्येत; न दोषोऽयं स्यात्। तद्वचने च *"सत्त्वं शुद्धाशुद्धभेदेन भिन्नाऽभिन्नविशेषणभेदेन च शिष्यव्युत्पादनार्थं सत्त्वकृतकत्वादिशब्दैः अभिधीयते" इति प्रवते।

किंच, कृतकत्वादिशब्देषु सङ्केतमात्राश्रयणं न व्युत्पत्तेः कथमेवं सति प्रयत्नानन्तरीयकत्वस्य सपक्षैकदेशव्यापकत्वम्, तस्मिन् वा साध्ये अनित्यत्वस्य अनैकान्तिकत्वं शुद्धे सत्त्वे तद्योगात्? अनेन विशिष्टं तदुच्यते नोत्पत्त्यादिना इति किं कृतो विभागः?

२० एतेन अर्थान्तरं नोच्यते इति निरस्तम्।

ननु भवतु धर्मादि[धि]कस्य सत्त्वस्य अभिधानम् उत्पत्त्यादिना तथापि कथं तत्र निगृह्येत इति चेत्; अत्राह—**तद्** इत्यादि। तच्छब्देन सत्त्वं परामृश्यते **तस्य सामर्थ्यं** केवलस्य साधनशक्तिः **तस्यानभिज्ञया** अपरिज्ञानेन। एवंमन्यते यदि—शुद्धस्य सत्त्वस्य साधनसामर्थ्यं किं विशेषणननोन्ये (णेनान्येन) यत्तदुपादा [नं] न निग्रहस्थानमिति।

२५ [१०]अन्ये पुनराहुः— नोत्पत्त्यादेः क्वचिन् क्षणिकत्वं साध्यते परमार्थतस्तदभावात्, अपि तु

(१) विशेषण। (२) शब्दान्तरेण। (३) सत्त्वशब्देनैव उत्पत्त्यादिवचने। (४) तुलना—"यथा यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकं यथा घटादयः, संश्च शब्दः।"—हेतुबि० पृ० ५५। (५) "उपाधिभेदापेक्षो वा स्वभावः केवलोऽथवा। उच्यते साध्यसिद्ध्यर्थं नाशे कार्यत्वसत्त्ववत्॥"—प्र० वा० ३।१८५, १८६। (६) "क्वचित् स्वभावभूतधर्मपरिग्रहद्वारेण यथा तत्रैवोत्पत्तिः।"—प्र० वा० स्व० पृ० ३४९। (७) "यत् सत् तत्सर्वमनित्यं यथा घटादिरिति शुद्धस्य स्वभावहेतोः प्रयोगः। यदुत्पत्तिमत्तदनित्यमिति स्वभावभूतधर्मभेदेन स्वभावस्य प्रयोगः। यत्कृतकं तदनित्यमिति उपाधिभेदेन। एवं प्रत्ययभेदभेदित्वादयो द्रष्टव्याः।"—न्यायवि० ३।११-१३, १५। "एतेन प्रत्ययभेदभेदित्वादयो व्याख्याताः।"—प्र० वा० स्वयू० पृ० ३४८। (८) सत्त्वात् प्रयत्नानन्तरीयकत्वादेरभेदे। (९) प्रयत्नानन्तरीकत्वे। (१०) सत्त्वेन। (११) प्रतिभासाद्वैतवादिनः प्रज्ञाकरादयः।

तथावभासनात् *"यथावभासते" इत्यादि वचनात् । तदेव च सत्त्वम् *"उपलम्भः सत्ता" [प्र० वार्तिकाल० ३।५४] इति वचनात्, तेनायमदोष इति; तेषामपि इदमेवोत्तरम् । तथा सत्त्वादेः क्षणिकत्वेन अवभासादेव [२७७क] सर्ववस्तूनां क्षणस्थाने सिद्धे निश्चिते अङ्गीक्रियमाणे निगृह्येत सौगतः । कुतः ? इत्यत्राह–**धर्माधिकोक्तितः** इति । **धर्मश्च अधिकश्च तयोः उक्तितः** । नहि एकान्तक्षणिकता[वभा]सनं सर्वभावानां धर्मिणां धर्मः प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा सिद्धः । न तावत् प्रत्यक्षतः; तत्र तदप्रतिभासनात् । न खलु चक्षुरादिबुद्धौ क्षणिकत्वेन अवभासमाना भावा भासन्त इति निश्चयोऽस्ति 'कुण्डलादिपर्यायानुयायिनः सर्पादयः तत्रावभासन्ते' इति निर्णयात् ।

विरोधादयोऽपि एवं कृतोत्तराः । भेदाभेदैकान्तसंकल्पः पर्यायतद्वतोः अनैकान्तेन निराकृतः । तत्र अनवस्थोद्भावनम् अ च ट स्य स्वपक्षघातीव लक्ष्यते । हेतुत्रिरूपत्वनिश्चयेऽपि तत्संभवात् अभिलाप्येतराकारद्वयस्य तत्रोपगमात्, इतरथा निर्विकल्पकैकान्ते धर्मधर्मिभावाभावान्न हे तु त्रि न्दो र पि कल्पनयापि व्यवस्था ।

ननु पूर्वपर्यायप्रत्यक्षस्य नोत्तरपर्याये, तत्प्रत्यक्षस्य पूर्वपर्याये वृत्तिरिति कथं तेनैं तदनुयायित्वं कस्यचित् प्रतीयते इति चेत् ; तर्हि स्वरूपमात्रपर्यवसितं तत् कथमन्येषां ग्राहकं यतः तत् क्षणिकत्वावभासनं प्रतिपद्येत, धर्मप्रतिपत्तेः धर्मिप्रतिपत्तिनान्तरीयकत्वात् इति कथं सिद्धो हेतुः ? अत एव नाऽनुमानम् ; तदभावे तदभावात् । यदि पुनः संवृतिसिद्धं सर्वं क्षणिकत्वावभासनमभ्युपगम्य हेतोः सिद्धिः प्रार्थ्यते; परोऽपि संवृतिसिद्धम् एकस्य त्रिकालानुयायित्वावभासनमभ्युपगम्य असिद्धं [त]त्तथैव व्यवस्थापयेदविशेषात् ।

अथ स्वयम् [२७७ख] उपलभ्यमानाद्भावात् (मानात् भावान्) क्षणिकत्वावभासनधर्मानुपलभ्य सर्वेऽपि तद्धर्मका व्यवस्थाप्यन्ते; अत्रापि तदवस्थं चोद्यम्–केन तथा व्यवस्थाप्यन्ते ? नाध्यक्षेण अनुमानेन वा; उक्तदोषात् । संवृत्या तद्व्यवस्थापने ततः क्षणिकत्वमपि संवृतिसिद्धं स्यादिति न पारमार्थिकभावस्वभावनिश्चय इति महती सौगतस्य भावस्वभावनिरूपणकुशलता !

किंवा स्वयम् उपलभ्यमानेषु भावेषु क्षणिकत्वम् ? अपरापरकोटिविच्छिन्नतेति चेत् ; कोटिग्रहणपूर्वकमध्यक्षं यदि कस्यचित् तद्विच्छिन्नत्वं गृह्णीयात्, न तर्हि अनुगमग्रहणं दूषितं स्यात्, विच्छिन्नत्ववत् तद्विपर्ययस्यं अन्यग्रहणसंभवात् । अन्यथा चेत् ; तथैव अनुयायित्वं

(१) प्रतिभासनमेव । (२) प्रत्यक्षे । तुलना–"तस्मादुभयहानेन व्यावृत्यनुगमात्मकः । पुरुषोऽभ्युपगन्तव्यः कुण्डलादिषु सर्पवत् ॥"–मी० श्लो० आत्मवाद श्लो० २८ । "प्रत्यक्षप्रतिसंवेद्यः कुण्डलादिषु सर्पवत् ।"–न्यायवि० २।११६ । तत्त्वसं० श्लो० २२३-२४ । (३) "एकान्तेन विभिन्ने च ते स्यातां वस्तुनी सदा च । तयोः केन विभिन्नाभ्यामभेदस्य विभेदतः । तेषामभेदसिद्ध्यर्थमभिन्नो यदि दृश्यते ॥ अन्यः स्वभावस्तस्यापि तदभेदप्रसिद्धये । कल्पनीयः स्वभावोऽन्यः तथा स्यादनवस्थितिः ॥"–हेतुवि० टी० पृ० १०५ । (४) निश्चयो हि अर्थरूपे विकल्पकोऽपि सन् स्वरूपे अविकल्पको भवति । (५) वृत्तिरिति । (६) उत्तरपर्यायप्रत्यक्षस्य । (७) प्रत्यक्षेण । (८) धर्मिणो द्रव्यस्य । (९) प्रत्यक्षम् । (१०) प्रत्यक्षाभावे । (११) जैनोऽपि । (१२) पूर्वापरानुयायित्व । (१३) अविच्छिन्नत्वस्य । (१४) अन्येन प्रत्यक्षेण ग्रहणसंभवादिति भावः ।

गृह्णीयात् इत्युक्तम् । देशव्यवहितवत् कालव्यवहितस्यापि प्रत्यक्षेण ग्रहणमविरुद्धम् सारूप्यनिषेधात् । न दृष्टान्तासिद्धिरिति चेत् (च) । तन्न प्रत्यक्षतः पक्षधर्मतासिद्धिरस्य । नाप्यनुमानतः; तत्पूर्वकस्य अस्य तदभावे अभावात् । भवतु वा कुतश्चित् तत्सिद्धिः तथापि हेतुसिद्धित एव साध्यसिद्धेः अनुमानमनर्थकम् । तथाहि—पूर्वापरविच्छिन्नत्वेन भासने क्षणिकत्वावभासन[म]-
५ निश्चितस्य हेतुत्वायोगात् । तच्चेन्निश्चितम्; किमनिश्चितं यदनुमानसाध्यम् ? तद्व्यवहार इति चेत्; न; अस्य निश्चयात्मकत्वात् । तदिदमायातम्—घटविविक्तभूतलं निश्चिन्वतोऽपि न घटाभावविनिश्चय इति । कथं चैवंवादिनः सविकल्पप्रत्यक्षगृहीते [२७८क] व्यवहाराय मा (अ) नुमानं प्रवर्त्तेत ? कथं वा भावेषु क्षणिकत्वमनिच्छन्तः तथावभासनमिच्छन्ति ? परमार्थतः भावधर्मप्रतिपत्तेर्भावप्रतिपत्तिनान्तरीयकत्वात् । क्षणिकभावधर्मश्च तथावभासनम्, अन्यथा *"को
१० हि भावधर्ममिच्छन् भावं नेच्छेत्" [प्र० वा० स्वभृ० २।१९३] इत्यादि सुभाषितं ? कथम् ? यथा च क्षणिकत्वमनिच्छन्तो दृश्यन्ते तथा तथावभासनमपि । ततः स्थितम्—हेतुसिद्धावेव सिद्धिः साध्यस्य अनुमानमपार्थकम् निग्रहस्थानम् । एतदेवाह—**अधिकोक्तितः** हेतुनिश्चयाद् **अधिकस्य** अनुमानस्य **उक्तितो** निगृह्येत इति ।

यदि वा, क्षणिकाः सर्वे भावाः तथावभासनात्, यदि पुनः तथावभासमाना अपि तथा न
१५ स्युः नि (नी)रूपतां स्यात् संविन्निष्ठत्वात् प्रमेयव्यवस्थितेः इति । एतावतैव चेत् (च) प्रकृतं सिध्येत् नीलादिवद् इत्यने (इति) । न हि पुरुषाद्वैतवादिनं प्रति दृष्टान्तेऽपि परमार्थसाधने उपायान्तरमस्ति अनवस्थापत्तेः । न च तं प्रति क्षणिकत्वं साध्यं विवादाऽविशेषात् । ततोऽधिकस्य दृष्टान्तस्य उक्तेः निगृह्येत ।

यदि वा, अयमेकान्तः—यद् यथावभासते तत् तथैव परमार्थसत्; तर्हि स्तम्भादयः
२० स्थूलैकनानात्वस्वभावतया प्रतिभासमानाः तथैव सन्त इति *"मायामरीचिप्रभृतिप्रतिभासत्वेऽपि (सवदसत्त्वेऽपि) अदोषः" [प्र० वार्तिकाल० ३।२२१] इति प्रूयते । अक्रमवत् क्रमेणापि सांशयितैक(सांशान्वितैक) वस्तुसंभवे च कथं प्रतिज्ञाहेत्वोः संभवः ? तत्प्रतिभासनिषेधे च सर्वनिषेधनमिति नानुमानोत्थानं धर्मा (धर्म्या)दसिद्धेः । असमन्त (असन्त)श्चेत् तैरेव हेतुः अनैकान्तिक इति तद्वचनात् निगृह्येत । तदाह—**धर्माधिकोक्तितः** [२७८ख]
२५ धर्मश्चासौ अधिकश्च इति कामचारेण विशेषणविशेष्यत्वमिति अधिकस्य विशेष्यत्वम् । अधिकत्वं पुनः पक्षसपक्षस्यापि धर्मत्वात् निगृह्येत । तथा **सत्त्वादेव क्षणस्थानवद् उत्पत्त्यादौ** सिद्धे अङ्गीक्रियमाणे सौगतो विरुद्धाव्यभिचारिहेतुवचनात् निगृह्येत । **उत्पत्त्यादौ** इत्यत्र **आदि**शब्देन स्थितिविनाशयोर्ग्रहणम् । केन हेतुना निगृह्येत ? इत्यत्राह—**तत्** इत्यादि । **तस्य** हेतुसाधकस्य प्रमाणस्य साध्ये यत् **सामर्थ्यम्**, अथवा तस्य हेतोर्दृष्टान्तरहितस्य यत् तत्,
३० यदि वा स्वहेतोरिव परहेतोरपि, **तस्यानभिज्ञया** । यद्वा तस्य हेतोरभावेन **तत्सामर्थ्यस्य**

---

(१) प्रत्यक्षपूर्वकस्य । (२) व्यवहारस्य । (३) क्षणिकाः । (४) तुच्छत्वं स्यात् । (५) उपायान्तरकल्पने । (६) अधिकशब्दस्य ।

वा **अनभिज्ञायते (ज्ञया इति)** ।

कारिकां विवृणोति केवलस्य इत्यादिना । **अपि** शब्दो भिन्नप्रक्रमः, **केवलस्यापि न केवलं धूमादेः केवलस्य विनाशः साधनं साधर्म्यात् (विनाशसाधनसामर्थ्यात्)** कारणात् **पुनः** इति परामर्शे । [1]उपाधिना 'प्रागसतः' इत्यादिना **विशिष्टस्य उपादानाऽ(नात् म)** प्रयोगात् 'भावस्य' इत्यनुवर्त्तते । कथम् ? इत्याह–**उत्पत्तेः कृतकत्वाद्वा इत्येव (वं)** । ततः किम् ? इत्याह–**निग्रहस्थानम्** वादिनि (वादिन इति) शेषः ।

ननु यथा केवलो भावः सत्त्वशब्देन उच्यते, तद्वद् उत्पत्त्यादिशब्दैरिति ; अत्राह–**स्वपर** इत्यादि । **स्वपरयोः व्यापारयोः अपेक्षा यस्य** तौ वा अपेक्षते इति तदपेक्षः स चासौ भावश्च इति तल्लक्षणत्वात् **तेषाम्** उत्पत्त्यादीनाम् । स्वव्यपारापेक्षभावलक्षणा उत्पत्तिः *"प्रागसत आत्मलाभ उत्पत्तिः" इति वचनात् अभिन्नविशेषणो भाव [2]एवमुक्तः । परव्यापारापेक्षभावलक्षणाः कृतकत्वादयः *"अपेक्षितपरव्यापारो [२७९क] हि भावः कृतकः" [न्यायवि० ३।१४] [3]इत्याद्यभिधानात् । अनेन भिन्नविशेषणः । शुद्धस्यैव एवमभिधाने तद्धर्मानुक्तिः शब्दान्तराऽप्रयोगादिति मन्यते । कचित् **'स्वपरव्यापारापेक्षा'** इति पाठः । तत्र तदपेक्षयाँ भाव इति व्याख्येयम् । शुद्धस्य सामर्थ्येति (पि) सिद्ध (शिष्य) व्युत्पादनार्थं तद्विशिष्टोपादानमिति चेत् ; अत्राह–**नहि** इत्यादि । एवं मन्यते–**येन** प्रयुक्ते (क्तेन) **अवश्यं निग्रहस्थानम् न तेन शिष्याः** तँदनुग्रहाप्रवृत्तेः **व्युत्पादनीया** इति ।

इदमपरं व्याख्यानम्–**केवलस्य** सजातीयविजातीयविविक्तनिरंशक्षणस्य **यो भावः** सत्ता विषयिणि विषयोपचारात् , वस्तुनो वा उपलम्भो वा तस्यापि न केवलम् अन्यस्य यत् परेण विनाशसाधनसामर्थ्यमभ्युपगतम् , यद् उपलब्धिलक्षणप्राप्तं यत्र नोपलभ्यते तत्तत्र नास्ति यथा कचित्प्रदेशे तथाविधो घटः, उपलब्धिलक्षणप्राप्तौ च पूर्वापरक्षणौ मध्यक्षणे, सा (असौ[6]) वा तत्रँ नोपलभ्यते च । यदि वा *"यद् यथावभासते" इत्यादि प्रयोगापेक्षः; तस्मात् तस्य निग्रहस्थानम् । कस्मादिव ? इत्यत्राह–**उत्पत्तेः कृतकत्वाद्वा** इति । **'वा'** इति इवार्थः ।

एतदुक्तं भवति–यथा प्र ज्ञा क र स्य निरंशाद्वैतवादिनः न किञ्चित् प्रागसत् उत्पद्यते अपेक्षितपरव्यापारं कृतकं वा, तथापि तद्धेतु (तुं) वदतो निग्रहस्थानम् तथा न तँस्य कस्यचिद् भाव उपलम्भो वा स्वभावविरुद्धस्थूलैकस्थिरप्रतिभासेन बाधनात् , तथा तस्यैव तत्सामर्थ्यात् पुनः पश्चाद् **उपाधिना** सपक्षसत्त्वेन **विशिष्टोपादान (नं)** निग्रहस्थान(नम्) । यदि वा, पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वम् असपक्षेऽसत्त्वम् उपाधिः [२७९ख] तद्विशिष्टहेतोः उपादानाद् इति ग्राह्यम् । तथा स्व स्ववादी (तथा च वादी) **तयोः व्यापारौ** साधनप्रयोगौ **तदपेक्षो यो भावः** तल्लक्षणत्वात् रूपत्वाच्च **तेषाम्**, प्र ज्ञा क र गु प्त म (गु प्ते न) प्रयुक्तविनाशहेतूनाम् 'निग्र-

---

(१) विशेषणेन । (२) उत्पत्तिशब्देन । (३) "स्वभावनिष्पत्तौ अपेक्षितव्यापारभावो हि कृतकः । तेनेयं कृतकश्रुतिः स्वभावाभिधायिन्यपि परोपाधिमाक्षिपति ।"–प्र० वा० स्व० पृ० ३४८ । (४) स्वपरव्यापारापेक्षया । (५) शिष्यानुग्रहाभावात् । (६) मध्यक्षणो वा । (७) पूर्वापरक्षणयोः । (८) प्रज्ञाकरस्य ।

हृत्थानम्' इति सम्बन्धः । शक्यं वक्तुं यद् यत्र यथा उपलब्धिलक्षणप्राप्तम् उपलभ्यते तत् तत्त्वतः तथा विद्यते यथा चित्रज्ञानं स्वाकारेषु, कथञ्चिदुपलभ्यते च तथाविधो भावः स्वपर्यायेषु क्रमभाविषु । तथा निर्बाधबोधे यद् यथावभासते [तत् तथा परमार्थसत्] स्वसंवेदनवत्, प्रतिभासते च सर्वम् उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वेन । यथा (तथा) 'यो यं प्रत्यनपेक्षम्' (क्षः) इत्यादिकमपि वाच्यम् । नहि शुद्धस्यापि हेतुदृष्टान्तरहितस्यापि 'भावस्य' इत्यनुवर्त्तते साधनत्वे हेतुहीनस्य प्रत्यक्षत्वेन, साध्यसाधकत्वदृष्टान्तरहितस्य लंगंधे (गमकत्वे) पुनः उपाधिः (धेः) पक्षधर्मत्वार (त्वादेर) पेक्षणं यस्मिन् लिङ्गे तत्तथोक्तम्, उपाधिः(धेः) सपक्षसत्त्वस्य अपेक्षणं युक्तं समर्थम् उपपन्नं वा ।

पुनरपि तत्रैव पूर्वपक्षे दूषणान्तरं दर्शयन्नाह–**सर्वनाम्ना** इत्यादि ।

[सर्वनाम्नाँ विना वाक्यं तद्धितेन विना पदम् ।
संक्षेप्तव्यं समासार्थनिग्रहस्थानभीरुणा ॥१४॥

यत् सत् उत्पत्तिमत् कृतकं प्रयत्नानन्तरीयकं चेति वाक्यं सदुत्पन्नमित्यादि संक्षेप्तव्यं सदनित्यमिति वा । विपक्षे हेतुसद्भावबाधकप्रमाणबलेन व्याप्तौ सिद्धायां दृष्टान्तस्याकिञ्चित्करत्वात् । तथा च प्रतिज्ञैवेयं व्याप्तिः स्यात् । ततो वरं विनाशी शब्द इति प्रकृतं प्रतिज्ञातुम् ।]

सौगतेन लिङ्गप्रतिपादकं यद् **वाक्यम्** इष्यते तत् **संक्षेप्तव्यम्** । कथम् ? इत्याह– **सर्वनाम्ना विना** । 'यत् तत्'पदप्रयोगमन्तरेण । तत्रैव वाक्ये यत् **पदं** तदपि 'संक्षेप्तव्यम्' इति सम्बन्धः । कथम् ? इत्याह–**तद्धितेन विना** । केन ? इत्याह–[**'समा'** इत्यादि ।] **समान एवः (समास एव)** पदस्य पदान्तरेण प्रत्ययस्य प्रत्यक्षा (प्रकृत्या) यस्यार्थः स तथोक्तः तेन **निग्रहस्थानं** तत्र **नीरुणा (भीरुणा)** सौगतेन नाऽपरेण ।

कारिकां विवृणोति–**'यत् सद्** [२८०क] **उत्पत्तिमत् कृतकं प्रयत्नानन्तरीयकं च'** इत्यादि । तत्र प्रतिहेतुवाक्यभेदेऽपि । **'वाक्यम्'** इत्येकवचनं जात्यपेक्षम् । यदि च (यदि वा)

---

(१) उपलब्धिलक्षणप्राप्तो भावः । (२) स तत्स्वभावनियतः, यथा अन्त्या कारणसामग्री स्वकार्योत्पादने । (३) तुलना–"सत्त्वमात्रेण नश्वरत्वसिद्धौ उत्पत्तिमत्त्वकृतकत्वादिवचनमतिरिक्तविशेषणोपादानात् कृतकत्वप्रयत्नानन्तरीयकादिषु च कप्रत्ययातिरेकादसाधनाङ्गवचनं पराजयाय प्रभवेत्···'–अष्टश० अष्टस० पृ० ८६ । "कथं कृतकत्वादिति हेतुः क्वचिद्वदतः स्वार्थिकस्य कप्रत्ययस्य वचनम्,यत्कृतकं तदनित्यं दृष्टमिति व्याप्तिं प्रदर्शयते यत्तद् वचनमधिकं नाम निग्रहस्थानं न स्यात्, तेन विनापि तदर्थप्रतिपत्तेः । सर्वत्र वृत्तिपदप्रयोगादेव चार्थप्रतिपत्तौ संभाव्यमानायां वाक्यस्य वचनं कमर्थं पुष्णाति येनाधिकं न स्यात्···"–त० श्लो० पृ० २९१ । "अन्यथा त्वत्प्रयोगेऽपि स्वार्थिकस्तद्धितस्तथा । यत्तत्पदं च दोषः स्यात् प्रतीतार्थतया स्थितेः ॥ कृतं सर्वमनित्यं हि दृष्टं यद्वद् घटादिकम् । कृतश्च शब्द इत्येतन्मात्रात् साध्यस्य निर्णयात् ॥ संक्षेप्तव्यं ततस्तेन विनापि वचनं त्वया । अन्यथा निग्रहादुक्तमिदं सिद्धिविनिश्चये॥ सर्वनाम्ना विना वाक्यं तद्धितेन विना पदम् । संक्षेप्तव्यं समासार्थनिग्रहस्थानभीरुणा ॥"–न्यायवि० वि० द्वि० पृ० २३७–३८ । (४) तद्धितीयो यः 'स्वार्थे कः' इत्यादि प्रत्ययः तेन विना । 'कृतकम्' इत्यत्र 'कृतम्' इत्येव प्रयोक्तव्यमिति भावः ।

'इति' शब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते–'यत् सत् तदनित्यं यथा घटः संश्च शब्दः' इत्येवं वाक्यम्, एवं सर्वत्र योज्यम्। वाक्यग्रहणमुपलक्षणम्, तेन सन्नित्यादि पदमपि गृह्यते। तत् किं कर्त्तव्यम्? इत्याह–संक्षेप्तव्यम्। कथम्? इत्याह–सद् उत्पन्नम् इत्यादि। सदनित्यम् इति, उत्पन्नम् अनित्यम् इति, एवं सर्वत्र योज्यम्। ननु 'सर्वनाम्ना विना वाक्यं संक्षेप्तव्यम्' इत्युक्तम् न 'दृष्टान्तेन विना' इति, तत् किं दृष्टान्तो भणनीयः? इत्यत्राह–'सद्' इत्यादि। वा इति पूर्वहेतुसमुच्चये, ततः सदनित्यम् उत्पन्नमनित्यम् कृत [क] मनित्यम् यन्नित्यमनित्यम् इत्येवं विपक्षे हेतुसद्भावबाधकप्रमाणबलेन व्याप्तौ सिद्धायां निश्चितायां च दृष्टान्तस्य अकिञ्चित्करत्वात् तथा तत् संक्षेप्तव्यम् इति सम्बन्धः। तथा संक्षेपे को दोषः; इत्यत्राह–तथा च तेनैव अनन्तरोक्तप्रकारेण प्रतिज्ञैवेयं सदनित्यम् इत्यादिरूपा व्याप्तिः स्यात्। नहि 'शब्दोऽनित्यः', 'सदनित्यम्' इत्यवस्थयोः विशेषोऽस्ति, हेतुरत्र न कश्चित् स्यादित्येवकारार्थः। तथाहि– सदादेरेव पुनर्हेतुत्वेन उपादाने प्रतिज्ञार्थैकदेशता। यदि पुनः सदेव अनित्यत्वं गमयेत् तर्हि तस्य सर्वदा भावात् सर्वदा ततः साध्यप्रतीतेः विवादाभावः। भवतु प्रतिज्ञैव तत्र को दोषः? इत्यत्राह–ततः तस्माद् उक्तात् न्यायाद् वरं विनाशी शब्दः इत्येवं प्रकृतं प्रस्तावगोचरापन्नं प्रतिज्ञातुं यत् प्रकृतं [२८०ख] प्रतियतेत शिरस्ताडं क्रन्दतोऽपि प्रतिज्ञाया अनिवृत्तेरिति मन्यते।

ननु हेतोः साध्यसिद्धौ किं प्रतिज्ञया? तस्मिन् सिद्धौ किं हेतुना इति चेत्? अत्राह– [वि] नाशी इत्यादि।

यदि च (वा), उक्तन्यायेन दृष्टान्तस्य अकिञ्चित्करत्वे सिद्धे सति शब्दत्वादेरसाधारणस्य वचनं हेतोः न निग्रहस्थानमिति सदृष्टान्तं दर्शयन्नाह–**विनाशी** इत्यादि।

[विनाशी भाव इति वा हेतुनैव प्रसिध्यति।
अन्तर्व्याप्तावसिद्धायां बहिर्व्याप्तिरसाधनम्' ॥१५॥

विपक्षे हेतुसद्भावबाधकप्रमाणव्यावृत्तौ हेतुसामर्थ्यमन्यथानुपपत्तेरेव। ततो यथा सत्त्वं शब्दस्य नित्यत्वे नोपपद्यते तथा शब्दत्वम्।]

वा शब्दः इवार्थः, निपातानामनेकार्थत्वात्, 'विनाशी भाव' इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः। ततोऽयमर्थः–भावः सन् सर्वो विनाशी 'सद् अनित्यम्' इति वचनात्, यथा हेतुनैव न सदनित्यम् इति प्रतिज्ञामात्रेण प्रसिध्यति तथा ध्वनिः शब्दो विनाशी इति हेतुनैव प्रसिध्यति। एवं मन्यते यथा 'सदनित्यम्' इत्युक्त्वा हेतुं वदतो न दोषः तथा शब्दोऽनित्यः इत्युक्त्वापि इति।

(१) तुलना–"अन्तर्व्याप्तावसिद्धायां बहिरङ्गमनर्थकम्।"–प्रमाणसं० पृ० १११। "अन्तर्व्याप्त्यैव साध्यस्य सिद्धौ बहिरुदाहृतिः। व्यर्था स्यात्तदसद्भावेऽप्येवं न्यायविदो विदुः॥"–न्यायावता० श्लो० १०। "अन्तर्व्याप्त्या हेतोः साध्यप्रत्यायने शक्तावशक्तौ च बहिर्व्याप्तिरुद्भावनं व्यर्थम्। पक्षीकृत एव साधनस्य साध्येन व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिः अन्यत्र तु बहिर्व्याप्तिः। यथा अनेकान्तात्मकं वस्तु सत्त्वस्य तथैवोपपत्तेः, अग्निमानयं देशो धूमवत्त्वात्, य एवं स एवं यथा पाकस्थानम्।"–प्रमाणनय० ६।३५, ३१। धर्मसं० मू० पृ० ८२। जैनतर्कभा० पृ० १२।

ननु न मया सर्वं सद् अनित्यत्वेन व्याप्तं हेतोः साध्यते किन्तु प्रत्यक्षतः । प्रत्यक्षं हि तद् (सद्)नित्यमेव प्रतीयते इति चेत् ; अत्राह–**अन्तर्व्याप्तौ असिद्धायां** 'विवाद-स्थाने साध्येन साधनस्य व्याप्तिः, तस्यां विपक्षे बाधकबलेन असिद्धायां सत्याम् , दृष्टान्ते व्याप्तिः **बहिर्व्याप्तिः असाधनं** 'साध्यस्य' इति शेषः । ततोऽन्तर्व्याप्तिसिद्धिमिच्छता साध्यवत्यवत् ५ (वत्येव) परोक्षा सापि हेतोरेव साध्येति भावः ।

द्वितीयपातनिकायां कारिकाव्याख्यानम्–**विनाशी शब्दः इति** 'यत् प्रतिज्ञातम्, तत् **प्रसिध्यति** । केन ? इत्याह–**ध्वनिः** इति भावप्रधानोऽयं निर्देशः, **इति** शब्दस्य अनन्तरं द्रष्टव्यः ध्वनित्वं शब्दत्वम् इति यो **हेतुः तेनैव**, न हेत्वन्तरेण । [२८१ क] निदर्शनमाह–**विनाशी** इत्यादि । **वा** शब्दः पूर्वत्र द्रष्टव्यः, इतिशब्दोऽत्रापि योज्यः । ततो यथा भावः १० विनाशी 'भावः' इत्यनेनैव हेतुना प्रसिध्यति तथा प्रकृतमपि इति । नहि भावस्य अनित्यत्वेन व्याप्तिसाधने हेत्वन्तरमस्ति ।

इदमत्र तात्पर्यम्–'अनित्यः शब्दः' इत्यत्र धर्मिशब्देन अशब्दव्यावृत्तेः उक्तत्वात् पुनः 'शब्दत्वाद्' इति यथा भणितुं न लभ्यते तथा 'सदनित्यम्' इत्यत्र सच्छब्देन असद्व्यावृत्तेः कथनात् 'सत्त्वात्' इत्यपि[2] ।

१५ ननु 'यत् सत् तत्सर्वम् अनित्यम्' इत्येतेन सर्वस्य असतो व्यावृत्तेः उक्तत्वात् 'संश्च शब्दः' इत्यपि तादृशमेव[3] । अयमपरोऽस्य[4] दोषोऽस्तु ।

स्यान्मतम्–अदृष्टान्तं[5] शब्दत्वम् असाधनमिति ; अत्राह–'**अन्तः**' इत्यादि । सुगमम् ।

कारिकार्थं प्रकटयन्नाह–**विपक्ष** इत्यादि । **विपक्षे हेतोः सद्भावबाधकं यत् प्रमाणं** तस्य या **व्यावृत्तिः** तस्यां सत्यां **हेतुसामर्थ्यं** लिङ्गस्य स्वलिङ्गिज्ञापनशक्तिः । सा कुतः ? २० इत्याह–**अन्यथा** अन्येन साध्याभावप्रकारेण या **अनुपपत्तिः** लिङ्गस्य अघटना तस्या एव न पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वाभ्याम् इति **एव**कारार्थः, ततो यथा विपक्षे बाधकप्रमाणवृत्त्या हेतुसामर्थ्ये दर्शितेऽपि दृष्टान्तादिकमन्तरेण तदप्रतिपन्नवन्तं[6] प्रति दृष्टान्तवचनं तथा प्रतिज्ञावचनमन्तरेणापि तदप्रतिपत्ति ज्ञा (पत्तौ प्रतिज्ञा)वचनमिति मन्यते ।

द्वितीयमर्थं दर्शयति–**तत** इत्यादिना । **ततो** विपक्षबाधकप्रमाणवृत्तिन्यायाद् **यथा सत्त्वं** २५ शब्दस्य अन्यस्य वा **नित्यत्वे सति नोपपद्यते तथैव शब्दत्वम् इति** शब्द(सत्त्व)वत् शब्द[त्व]मपि हेतुः [२८१ ख] इति भावः ।

ननु पक्ष एव साधनस्य साध्येन व्याप्तिः अन्तर्व्याप्तिः, सा च *"**द्विष्ठसम्बन्धसंवित्तिः**" [प्र० वार्तिकाल० १।१] इत्यादि वचनात् साध्ये प्रतिपन्ने प्रतीयेत नान्यथा । [7]तत्प्रतिपत्तिश्च यदि प्रमाणान्तरात् ; अस्य[8] वैकल्यम् । [9]अस्मादेव ;] इति चेत् ; अन्योऽन्यसंश्रयः–सिद्धे

---

(१) पक्षे । (२) वक्तुं न शक्यम् । (३) न वक्तव्यमिति । (४) सौगतस्य । (५) सपक्षसत्त्व-शून्यम् । (६) प्रतिपाद्यम् । (७) साध्यप्रतिपत्तिश्च । (८) अनुमानस्य । (९) अनुमानात् ।

अतः साध्ये अस्य अन्तर्व्याप्तिसिद्धिः, अस्याश्च साध्यसिद्धिः । ततः साकल्यव्याप्तिः[1] श्रेयसी इति चेत्; अत्राह–**साकल्येन** इत्यादि ।

[साकल्येन कथं व्याप्तिरन्तर्व्याप्त्या विना भवेत् । १ ।

बहिर्व्याप्तिमात्रं न साधनम्, साकल्यव्याप्तिः साध्यसिद्धिमाक्षिपत्येव, ततः श्रेयान् साध्यनिर्देशः । क्रम···शब्दत्व···। ततोऽन्तर्व्याप्तिरेव श्रेयसी, तदभावे साकल्येन ५
व्याप्तिसाधने बहिर्दृष्टान्ताभावात् न कश्चित् हेतुः स्यात् । पक्षकल्पना फलवती । तद्भाव-हेतुभावयोरवाच्यत्वाद् किं विदुषः प्रति तादात्म्यतदुत्पत्तिप्रदर्शनेन दृष्टान्तेन ? यदुक्त-स्यासमर्थने साधनस्य निग्रहस्थानं स्यात् । तत्र साधनस्य दोषवत्त्वान्निग्रहस्थानमिति युक्तम् । *"दोषवत्त्वेऽपि यथा वाद्युक्तदोषोद्भावनायां प्रतिवादिनः सामर्थ्यान्निग्रह-स्थानम् ।" इति परस्य बालभाषितम् अनवस्थाप्रसङ्गात् । तत्र व्याप्तिवचनं प्रतिज्ञा- १०
मतिशेते ।]

साध्यधर्मिणि अत्र (अन्यत्र) च साध्येन साधनस्य व्याप्तिः **साकल्येन व्याप्तिः कथं** न कथञ्चिद् **भवेत् अन्तर्व्याप्त्या विना** तया स्याद् इति यावत् । बहिरिव साध्य-धर्मिण्यपि व्याप्तेर्वाद्(प्तिः सर्वत्र)इतरथा प्रादेशित्यु (शिकी) व्याप्तिः स्यात् । तथैव भवतु सेति चेत्; तत्प्रतिपत्तौ कथमात्मदोषम् आत्मनि परिहरेत् ? अथ पक्षे सौ न प्रतीयते अपि १५
तु सपक्षे; न तर्हि तत्प्रतिपत्तिः साकल्यव्याप्तिप्रतिपत्तेः अतद्रूपत्वात् । यदि पुनस्तत्र तत्प्रतिपक्षे-[पत्तिर्ने] ष्यते; कथमेवम् अतिप्रसङ्गो न भवेत् ।

कारिकार्धं व्याचष्टे–**बहिर्व्याप्तिमात्रम्** इत्यादिना । वज्रस्य लोहलेख्यत्वसाधने प्रत्यक्ष-विरोधात् तन्मात्रं [न] **साधनम्** । यत्र तु न तद्विरोधैः[4] तत्र साधनमेव इति परः; न; तादात्म्य-प्रतिबंध्यभ्यवेपि (प्रतिबन्धसद्भावेऽपि) तद्विरोधसंभवे[5] अन्यत्र कः समाश्वासः ? लैक्षणयुक्ते २०
बाधासंभवे तल्लक्षणमेव दूषितं स्यात् । तत्प्रतिबन्धभावः पुनः काष्ठादौ य [त] एव पार्थिवत्वं तत एव लोहलेख्यत्वदर्शनात् । नहि तद्भावे हेत्वंगपेक्षा (हेत्वन्तरापक्षा) नाम । तत एव तस्य सद्भावे नित्यं तदभाव (तद्भाव)प्रसङ्गो नाशवत् [२८२ख] इति चेत्; न; योग्यताया नित्य-मविरोधात् । काष्ठादेः पार्थिवस्य लोहलेख्यत्वेऽपि न सर्वस्य तद्भावो विपर्यये बाधकाभावादिति चेत्; तर्हि सकलव्याप्तिः अभ्युपगता स्यात् । तथेति चेत्; अत्राह–**साकल्येन व्याप्तिः** २५
साध्यसिद्धिम् आक्षिपत्येव, तदभावे तैत्प्रतिपत्तेरयोगात् इति मन्यते ।

प्रकृतमुपसंहरन्नाह–**तत** इत्यादि । यत एवं **ततः** तस्मात् **श्रेयान् साध्यनिर्देशः** प्रति-ज्ञावचनम्, अन्यथानुपपन्नत्वोपेतहेतुनिर्देशो तैदनिर्देशः प्रशस्यः, ततोऽपि तन्निर्देशो[8] बालबुद्ध्य-

---

(१) पक्षे सपक्षे च सर्वत्र साध्यसाधनयोः व्याप्तिः सकलव्याप्तिः । (२) व्याप्तिः । (३) प्रत्यक्ष-विरोधः । (४) प्रत्यक्षविरोधसंभवे । (५) तुलना–"लक्षणयुक्ते बाधासंभवे तल्लक्षणमेव दूषितं स्यादिति सर्वज्ञाश्वासः ॥"–प्र० वा० स्वभू० १।२२ । प्र० वार्तिकाल० ३।७१ । (६) लोहलेख्यत्वम् । (७) साकल्यव्याप्तिप्रतिपत्त्यसंभवात् । (८) साध्यनिर्देशः । (९) साध्यनिर्देशः ।

नुमहार्थत्वात् प्रशस्यत[र] इति श्रेयान् इत्युच्यते । यदि वा, तस्मात् साकल्येन व्याप्तिः तद्गृहीतिः विषयिणि विषयोपचारात् साध्यसिद्धिम् आक्षिपत्येव ततः श्रेयान् साध्यनिर्देशः ।

एवं मन्यते—साकल्यव्याप्तग्राक्षिप्तस्यापि साध्यस्य पुनः हेतोः साधनं तथा प्रतिज्ञावचनेनापि इति शब्दत्वसाधननिर्देशस्य प्रशस्यमसमर्थनाह (स्यत्वमिति समर्थनार्थं) माह—क्रम इत्यादि ।

५ नन्वेतद् 'विपक्षे' इत्यादिना समर्थितम् किं पुनः समर्थ्यते ? न अस्य अन्यथावतारात् । तथाहि—साकल्येन व्याप्तिः साध्यसिद्धिम् आक्षिपत्येव, यदि सकलव्यापकप्रतिपत्तिनान्तरीयका सकलव्याप्यस्य तदविनाभावसम्बन्धप्रतिपत्तिः । न चैवम् ,किन्तु विपक्षे बाधकप्रमाणपूर्विका इति चेत्; अत्राह—क्रमेत्यादि । सुगमम् । शब्दत्वग्रहणम् उपलक्षणम् तेन श्रावणत्वादिग्रहणम् । ततः किं जातम् ? इत्याह—यत एवं ततोऽन्तर्व्याप्तिः एव न बहिर्व्याप्तिः साकल्यव्याप्तिर्वा श्रेयसी

१० इति । [२८२ख] ।

इतश्च सैव श्रेयसी; इत्याह—तदभावे[1] विपक्षे बाधकप्रमाणवृत्त्यभावे साकल्येन अनवयवेन सत्त्वादेः अन्यस्य या व्याप्तिसाधने व्याप्तिसिद्धौ क्रियमाणायां बहिर्दृष्टान्ताभावात् न कस्यचित् (कश्चित्) स्वभावः कार्यं वा हेतुः स्यात् । यदुक्तं परेण—*"लक्षणकाले धर्मी प्रयोगकाले धर्मधर्मिसमुदायः व्याप्तिग्रहणकाले साधनधर्मः (साध्यधर्मः) पक्षः ।" इति[2];

१५ तदनेन निरस्तम् ; न हि यावान् कश्चिद् भावः धूमो वा स सर्वोऽपि विनाश-दहनाभ्यां व्याप्तः इति; अत्राह—न्य पक्ष (तत्पक्ष)कल्पना फलवती । ननु साकल्येन व्याप्तिसाधने बहिर्दृष्टान्ताभावात् माभूत् तदन्वेषणम् विपक्षे बाधकवृत्तेः तत्सिद्धेश्च, प्रयोगसमये तु तद्भा (दभा)वादन्वेषणं युक्तमिति; अत्राह—तद्भाव इत्यादि । किं न किञ्चित् 'प्रयोजनम्' इत्याध्याहारः । केन ? इत्याह—दृष्टान्तेन । किंभूतेन ? इत्याह—तादात्म्यतदुत्पत्तिप्रदर्शनेन । कान् प्रति ? इत्याह—

२० विदुषः प्रति [वि] पक्षे हेतुसद्भावबाधकप्रमाणप्रवृत्तिप्रविजृम्भितहेतुसामर्थ्यपरिज्ञानवतः प्रति । कुतः ? इत्यत्राह—अवाच्यत्वात् । कयोः ? इत्यत्राह—तद्भावहेतुभावयोः इति । अत्रापि 'विदुषः प्रति' इति सम्बन्धनीयम् । एतदुक्तं भवति—'तादात्म्यतदुत्पत्ती दृष्टान्ते न प्रदर्श्यते (दर्श्येते) साधनस्य, ते[3] चेदन्यतो ज्ञायेते किं तेन ? यदुक्तम्—

*"तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः ।

२५ ख्याप्येते विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः ॥" [प्र० वा० ३।२७] इति ।

किंभूतेन दृष्टान्तेन किम् ? इत्यत्राह—यदुक्तस्य येन दृष्टान्तेन असमर्थने । कस्य ? [२८३क] साधनस्य लिङ्गस्य । किंभूतस्य ? उक्तस्य उच्चरितस्य निग्रहस्थानं स्यात् 'तेन दृष्टान्तेन किम्' इति सम्बन्धः । अन्यत एव तत्समर्थनात् इति मन्यते ।

इदमपरमस्य व्याख्यानं यत् परेणोक्तम्—अविदुषः प्रति दृष्टान्तेनोक्तस्य स्वशब्देन प्रति-

३० पादितस्य साधनस्यासमर्थने निग्रहस्थानं स्यात् । 'इति' शब्दोऽत्र द्रष्टव्यः । पूर्वपक्षोऽयम् ;

(१) अन्तर्व्याप्त्यभावे । (२) "अत्र हेतुलक्षणे निश्चेतव्ये धर्मी अनुमेयः । अन्यत्र तु साध्यप्रतिपत्तिकाले समुदायोऽनुमेयः । व्याप्तिनिश्चयकाले तु धर्मोऽनुमेयः इति"—न्यायवि० टी० २।८ । (३) तादात्म्यतदुत्पत्ती ।

अत्र दूषणमाह–तत्र इत्यादि । तत्र पूर्वपक्षे साधनस्य दोषवत्त्वात् निग्रहस्थानं स्यात् इत्येव युक्तम् सैव निर्दोषता दृष्टान्तेन प्रकाश्यते इति; न; तस्या अन्यथापि प्रकाशनात् इत्युक्तप्रायम् । पूर्वके तु व्याख्याने 'तत्र' इत्यादि दूषणान्तरम् ऊह्यम् ।

पर आह–दोषवत्त्वेऽपि 'साधनस्य' इत्यनुवर्त्तते । यथा येन प्रकारेण वादिना उक्तो दोषः तेन उद्भावनायां प्रतिवादिनः सामर्थ्यं तस्मात् प्रतिवादिनो निग्रहस्थानं युक्तम् अन्यथा दोषस्य सतोऽप्यप्रकाशनात् प्रतिवादी निगृह्येत । यदि वा, 'तथोद्भावनेऽसामर्थ्यात्' इति ग्राह्यम् । एतच्च प्रतिवादिनो निग्रहस्थानम् । इदं व्याख्यानं चिन्त्यम्, दोषवद्भेन (वत्त्वेन) साधनस्य, वादिनिग्रहाधिकारे अन्यानधिकारात् । अत्राह आचार्यः–इत्येवं भाषितं परस्य बालभाषितम् । कुतः ? इत्याह–अनवस्थाप्रसङ्गात् इति । तथाहि–वादिना दोष इति (वति) साधने प्रयुक्तेऽपि यदा प्राश्निकाः तस्य निग्रहं व्यवस्थापयन्ति प्रतिवादिनः तदुद्भावनमपेक्ष्य, तदा स तम्[2], अन्यं दो (अन्यं वा दोषम्) द्भावयेत्, न किञ्चिद्वा उद्भावयेत् इति त्रयः पक्षाः । तत्र प्रथमपक्षे यथा प्रयुक्तेऽपि दोषे तत्प्रकाशनापेक्षा तथा [२८३ख] तत्र प्रकाशितेऽपि तत्परिहारापेक्षा पुनः तत्समर्थनापेक्षा इत्यनवस्था । यदि पुनः भूतदोषोद्भावनामात्रेण प्रतिवादिनः ते[3] जयं व्यवस्थापयति (न्ति); तर्हि वादिनोऽपि तद्दोषप्रयोगमात्रेण पराजयं व्यवस्थापयेयुः अलं [4]द्वितीयोपन्यासापेक्षणेन । अथ तावन्मात्रेण परस्य तथोद्भावनासामर्थ्यं न ज्ञायते इति तँदुपन्यासापेक्षणम्; तर्हि तदुपन्यासमात्रेण इतरस्यं तत्परिहारसामर्थ्यमपि न ज्ञायत इति तृतीयोपन्यासापेक्षणं हठादापतति । एतेन उत्तरं विकल्पद्वयं निरूपितम् ।

प्रकृतमुपसंहरन्नाह–तत्र इत्यादि । यत एवं तत् तस्मात् न 'तत्सर्वम् अनित्यम्' इति व्याप्तिवचनं प्रतिज्ञाम् अतिशेते । [5]तद्वचनं प्रतिज्ञैव स्यात् इत्यभिप्रायः ।

अत्राह परः–यदुक्तम् 'साकल्येन व्याप्तिसाधने नहिदृष्टान्तो भावात्' (बहिर्दृष्टान्ताभावात्) इति ; सारम् (तदसारम्) विवादगोचरस्य भावस्य क्षणिकत्वेन व्याप्तिसाधने अन्यस्य दृष्टान्तभावादिति ; तत्रोत्तरमाह–'न क्षणादूर्ध्वमस्थानम्' इत्यादि ।

[न क्षणादूर्ध्वमस्थानं तत्प्रत्यक्षात् प्रसिध्यति ।
उपलब्धिलक्षणप्राप्तं तत्रैकान्ते [च] किं पुनः ॥१६॥

अर्थक्रियायाः कुतो विपक्षाद् व्यावृत्तिः क्षणिकपक्षे प्रत्यक्षतानुपपत्तेः । तत्र आधिक्यदोषमुद्भाव्य परमार्थवादिनं परो विजयते इति घटामुपढौकते ।]

परिमाणोत्प्रदन्तर (परमाणोस्तदन्तर[6])व्यतिक्रमकाल [:] क्षणः तत ऊर्ध्वं भावस्य यदव (यद) स्थानं विनाशः तत्प्रत्यक्षणात् (क्षात्) न प्रसिध्यति । निरूपितं चैतत् *"पश्यन् स्वलक्षणान्येकम्" [सिद्धिवि० १।९] इत्यादिना । एतदुक्तं भवति–यदि क्षणिको

(१) निर्दोषतायाः । (२) दोषम् । (३) प्राश्निकाः । (४) प्रतिवाद्युद्भावनापेक्षणेन । (५) प्राश्निकैः सदोषसाधनवादिनः पराजयघोषणेन । (६) प्रतिवादिनः । (७) प्रतिवादिना कृतस्य दोषोद्भावनस्य अपेक्षा । (८) वादिनः । (९) व्याप्तिवचनम् । (१०) परमाण्वन्तर ।

भावः कचित् प्रत्यक्षसिद्धः स्यात् [1]तन्निदर्शनेन अन्योऽपि तथा स्यात् । न चैवमिति ।

स्यान्मतम्–पूर्वापरकोटिविच्छिन्नस्य मध्यक्षणस्य [2]तद्विविक्तयोर्वा तत्कोट्योः प्रत्यक्षेण उपलम्भाः (लम्भात्), अन्यथा एकक्षण [२८४ क] मानं (त्रं) प्रसज्येत, तत्र केवलं दृश्यानुपलब्धेः अभावव्यवहारः साध्यते इति; तत्राह–**तत्र** इत्यादि । **[तत्र]** तस्मिन् बाह्येतरनिरंश-
५ निरन्वयक्षणिकपरमाणुरूपे । कस्मिन् ? इत्याह–**एकान्ते** । किम् ? इत्याह–**किं पुनर्नैव 'प्रसिध्यति'** इत्यनुवर्त्तते । किम् ? इत्याह–**उपलब्धेः (ब्धि)** इत्यादि । एतदुक्तं भवति–तत्र एकान्ते यदि उपलब्धिलक्षणप्राप्तं किञ्चिद् भवति तस्य अनुपलम्भा (लम्भाद्) भावः तद्व्यवहारो वा प्रसिध्येत्, न चैतदस्ति इत्युक्तप्रायम् । **तल्लक्षणप्राप्तं तस्य** अनुपलम्भात् तत्र अभावः सिध्येत् । स तु नैकान्तेन, अक्रमेणेव क्रमेणापि एकस्य अनेकरूपसंभवादिति च, तत्तस्य
१० कस्यचिद्भावस्य क्षणक्षयदर्शनात् सर्वस्य तेन व्याप्तिसिद्धिरिति स्थितम् ।

यत्पुनरुक्तम् अ र्च टे नैं–*"**सत्त्वस्य विपक्षाद् व्यावृत्तेः क्षणिकत्वेन व्याप्तिसिद्धिः न बहिर्दृष्टान्तबलेन, दृष्टान्तवचनं तु कार्यहेत्वपेक्षया स्वभावविशेषापेक्षया च।**" तन्निराकुर्वन्नाह–**'अर्थ'** इत्यादि । **कुतो** न कुतश्चित् प्रमाणात् **विपक्षाद्** अक्षणिकाभिमताद् **व्यावृत्तिः** । कस्याः ? इत्याह–**अर्थक्रियायाः** । [4]तथा हि सत्त्वं व्याप्तम्, [5]सा ततो [6]व्यावर्त्तमाना [7]तदादाय
१५ निवर्त्तेत; सैवं तु [8]ततो न निवर्त्तते । कुतः ? इत्याह–**क्षणिकपक्षे प्रत्यक्षतानुपपत्तेः** । 'अर्थक्रियायाः' इति सम्बन्धः । यदा हि क्षणिकपक्षे क्रमयौगपद्याभ्यां प्रत्यक्षा अर्थक्रिया भवति तदा [10]"कुतश्चित् तयोः" निवृत्तौ सा [12] विनिवर्त्तते । यदा तु अक्षणिकवद् [13]इतरत्रापि न प्रत्यक्षा, तदा कुतः सा तत्त[14] एव व्यावर्त्तेत इति भावः ।

उपसंहारमाह–**तन्नेत्यादि** । यत एवं परस्य [२८४ ख] सदनित्यम् इत्यादि संक्षेप-
२० करणं प्रसक्तम् **तत्** तस्मात् **न आधिक्यादिदोषम् उद्भाव्य परमार्थवादिनं परः** प्रतिवादी **विजयते इत्येतद् घटाम्युपढौकत** इति ।

यदि पुनः आधिक्यादिदोषमुद्भाव्य परमार्थवादिनं परो विजयते, नहीदम् (तर्हीदम्) अपरं दूषणम् इति दर्शयन्नाह–**साध्योक्तिः** [:] **साधनम्** इत्यादि ।

[साध्योक्तिः साधनं शब्दाविनिवृत्तावसंभवात् ।
२५ **न भावः कृतकत्वं वा असमर्थितमसाधनम् ॥१७॥**

न हि'''एतावता प्रकृतार्थपरिसमाप्तौ किं सत्त्वकृतकत्वादिना ? नन्वेत-

---

(१) तदुदाहरणेन । (२) मध्यक्षणभिन्नयोः पूर्वापरयोः । (३) "सा हि साध्यविपर्यये हेतोर्बाधकप्रमाणवृत्तिः । यथा यत्सत् तत्क्षणिकमेव, अक्षणिकत्वे अर्थक्रियाविरोधात् तल्लक्षणवस्तुत्वं हीयते ।"–हेतुबि० पृ० ५४ । "स्वभावहेतौ विपर्यये बाधकप्रमाणवृत्त्या तादात्म्यसिद्धिनिबन्धनत्वात् ।"–हेतुबि० टी० पृ० ५१ । (४) अर्थक्रियया । (५) अर्थक्रिया । (६) नित्यात् । (७) सत्त्वम् । (८) अर्थक्रिया । (९) नित्यात् । (१०) नित्यात् । (११) क्रमयौगपद्ययोः । (१२) अर्थक्रिया । (१३) अक्षणिकेऽपि । (१४) नित्यादेव ।

तदप्युक्तम्–नासमर्थितमेव साधनमिष्यते निग्रह [प्राप्तेः] शब्दत्वं साधनमेव साध्यव्यापकस्वभावत्वात् साकल्येन अनित्यत्वसाधने सत्त्वादिवत् तदेकलक्षणोपपत्तेः, अन्यथा दृष्टान्ते सत्यप्यगमकत्वात् ।]

वचनम् **उक्तिः** अनित्यत्वविशिष्टा **साध्या** चासौ **उक्तिश्च** अनित्यः शब्दः इति । किं सा ? इत्याह–**साधनं** हेतुः इत्यर्थः । कुतः ? इत्याह–**शब्दस्य अ [वि] निवृत्तौ** अपरिणामे **[अ] संभवात्** कारणात् **'साध्योक्तिः साधनम्'** इति । ततः किं जातम् ? इत्याह–**न भावः कृतकत्वं वा** 'साधनम्' इत्यनुवर्त्तते, शब्दाऽनित्यत्वस्य र व संभावि (असंभवादिति) वचनाद् अन्यत एव सिद्धेः । यदि पुनः 'अनित्यः शब्दः' इत्युक्त्वा 'सत्त्वात् कृतकत्वाद्वा' इति ब्रूयात् ; तर्हि उक्तस्य शब्दत्वस्य [स्वय]मसमर्थस्य तत्रामर्थ्यापरिज्ञानेन सत्त्वादिकमुच्यमानं हेत्वन्तरतया निग्रहस्थानं स्यादिति मन्यते ।

ननु यदि शब्दो हेतुः ; [1]तस्य सदा भावात् ततः सदा साध्यप्रतीतेः न कदाचित् कस्यचित् नाम नित्यत्वे विवादः स्यादिति चेत् ; अत्राह–**असाधनम्** इत्यादि । **'भावः कृतकत्वं वा'** एतद् इह अनुवर्त्तते । **वा**शब्द इवार्थे । ततोऽयमर्थः–भाव इव कृतकत्वमिव शब्दः साधनं **नासमर्थितम्** अपि तु समर्थितमेव । समर्थनं च तस्य न सदा इति कुतः ततः सर्वदा व्य (साध्य)प्रतीतिः, इतरथा अन्यत्रापि समानमेतत् ।

नहि इत्यादिना कारिकां विवृणोति । **एतावता** शब्दस्य परिणाममन्तरेण [२८५ क] असंभवमात्रेण **प्रकृतार्थपरिसमाप्तौ** शब्दपरिणामसिद्धिनिष्पत्तौ **किं सत्त्वकृतकत्वादिना** 'प्रयुक्तेन' इत्यध्याहारः । ननु सर्वस्य सर्वदा भावाद् अर्थप्रतीतेर्न विवाद इति चेत् ; अत्राह–**ननु** इत्यादि । **ननु** इति शिरःकम्पे, **एतदप्युक्तम्** प्रतिपादितम् । किम् ? इत्याह–**नासमर्थितमेव साधनम् इष्यते** । कुतः ? इत्याह–**निग्रह** इत्यादि । न च सर्वदा तत्समर्थनम् , यतस्तथैव साध्यप्रतीतिरिति भावः ।

ननु दृष्टान्तेन तत्समर्थन (नं न) च [2]सोऽत्र इति चेत् ; अत्राह–शब्दत्वं श्रावणत्वं वा **साधनमेव** असाधनं न भवति । कुतः ? इत्याह–**साध्य** इत्यादि । **साध्यश्चासौ व्यापकश्च** सः **स्वभावो** यस्य तस्य भावात् **तत्त्वात्** । केव किमिते त्याह (किमिति चेत् ? आह–) **साकल्येन अनित्यत्वसाधने सत्त्वादिवत्** । एतदपि कुतः ? इत्याह–**तस्य एकं यल्लक्षणं तस्य उपपत्तेः, अन्यथा** एकलक्षणोपपत्त्यभावप्रकारेण **दृष्टान्ते सत्यपि अगमकत्वात्** । यथा 'प्रयत्नानन्तरीयकः अनित्यत्वाद् घटवत्' अत्र साध्यसाधनयोः तादात्म्यं सिद्धम् , अन्यथा 'अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्' इत्यादि न स्यात् । नहि इदं साध्यं क्रियमाणं तादात्म्यं जहाति । न साधनम् इति युक्तम् । यदुक्तम् अ र्च टे नै–*"**प्रयत्नानन्तरीयकत्वस्वभावम् अनित्यं**

---

(१) शब्दस्य । (२) दृष्टान्तः ।(३) "यदि प्रयत्नानन्तरीयकत्वमन्तरेणापि कृतकत्वस्य भावादतत्स्वभावत्वम् ; अनित्यत्वेऽप्ययमेव वृत्तान्तः । ततश्च तादात्म्यविरहात् प्रयत्नानन्तरीयकत्वस्यानित्यत्वेनान्वयो न स्यात् , तन्निवृत्तौ वा निवृत्तिरिति कथं ततस्तत् प्रतीयते ? नैष दोषः; प्रयत्नानन्तरीयकत्वार्थस्वभावस्यैव अनित्यत्वस्य तेन साधनात् ।"–हेतुवि० टी० पृ० ७३-७४ ।

साधनमेव तन्मात्रम्" [हेतुबि० टी० पृ० ७४] इति ; न ; सर्वानैकान्तिकनिर्मूलोपप्रसङ्गात् ।

पुनरपि आधिक्यादिदोषोद्भावना [तु] परमार्थवादिपराजये दूषणं दर्शयन्नाह-**न्यं वा (ता)मनुक्त्वा** इत्यादि ।

[स तामनुक्त्वा वाऽनुक्तं साधनं चेत् समर्थ्यते ।
साध्यवदूदूष्यमन्यच्च अप्रत्युच्चार्य दूष्यते ॥१८॥

पक्षमनुक्त्वा साधनं ब्रुवन् स्वयं पक्षीकरोति, पुनः समर्थनात् । साधनं यदि अनुक्त्वा समर्थयेत् किं यत्कृतकम् इत्यादिना ? परस्य साधनमप्रत्युच्चार्य दूषणसंभवे कथमनुक्तं न समर्थ्यते ? तदुभयत्राविशेषात् । तदन्यतरोक्तौ यदुक्तं निग्रहस्थानं तदुभयवचनेऽपि ।]

संवास नित्यः (**स ताम्** 'अनित्यः) शब्दः' इति प्रतिज्ञा**मनुक्त्वा** तद्वचने निग्रहप्राप्तिः अनर्थकाभिधानाद्वा वंचेत् (**चेत्**) [२८५ख] किम् ? इत्याह-**साधनं** सत्त्वादिलिङ्गम् । अत्र-दूषणम्-**समर्थ्यते** असिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वमलविकलं क्रियते **किम्न**, [२]किम्नकारयोः व्यवहितयोः अभिसम्बन्धः । किंभूतम् ? इत्याह-**अनुक्तम्** अनुच्चारितम् ।

नन्वेवं साधनाङ्गस्याबन्धना (वचनात्) निग्रहस्थानम्; उक्तस्य समर्थने प्रतिज्ञावचनं स्वयमभ्युपगतं निग्रहस्थानम् इत्युभयथा यान्नारज्जः (पाशारज्जू) ।

स्यादेतत्, उक्तं साधनं किमिव समर्थ्यते ? इत्याह-**साध्यवत्** शब्दानित्यत्ववद् इति । अनुक्तस्य समर्थने को दोषः इति चेत् ? उच्यते-**साध्यवत्** तत्र विप्रतिपत्तौ साधनान्तरात् समर्थितात् समर्थनम्, तस्यापि अनुक्तस्यैव समर्थनं तदन्तरात् तस्यापि अनुक्तस्यैव तदन्तरात् इत्यनवस्थानात् साधनप्रयोगोऽनवसरः । किं च, वादिना उभयं कर्त्तव्यम्-स्वपक्षसाधनं परपक्षदूषणं च । तव (तत्र) प्रतिपक्षः तदा दूषितो भवति यदा प्रतिज्ञादिनिगमनपर्यन्तं साधनवाक्यं दूषयति । तच्च उच्चार्य यदि सौगतो वादी दूषयति; कथं प्रतिज्ञाप्रयोगो निग्रहदायी न भवेत् ? इति दर्शयन्नाह-**दूष्यम्** इत्यादि । **दूष्यम्** निराकरणमन्यदीपं (णीयम् **अन्यत्**) **'साधनम्'** इत्यनुवर्त्तते, पक्षादीनाम् उपलक्षणभूतम् । **च** इति पूर्वसमुच्चये । **प्रत्युच्चार्य** पूर्वपक्षयित्वा **दूष्यते** निराक्रियते **'किम्'** इत्यनेन सम्बन्धः । शास्त्रे वादकाले वा पूर्वपक्षो न कर्त्तव्यः अन्यथा प्रतिज्ञावचनमवश्यंभावीति मन्यते ।

एतेन नैयायिकादेः वादिनः सौगतः प्रतिवादी साधनं प्रत्युच्चार्य दूषयन् निरस्तो वेदितव्यः । यदि पुनः नियमेन तदप्रत्युच्चार्य [२८६ क] दूष्यते ; तत्राह-**दूष्यं** च इत्यादि । **च** इति यथाऽर्थे । यथा साधनमप्रत्युच्चार्य दूष्यते तथा अनुक्तं किम्न समर्थ्यते ?

कारिकार्थं स्पष्टयति-**पक्षमनुक्त्वा** इत्यादिना । 'शब्दोऽनित्यः' इति **पक्षम् अनुक्त्वा साधनं ब्रुवन्** सौगतः **पक्षीकरोति स्वयम्** उच्यमानं साधनं साध्यं करोति । कुतः ? इत्यत्राह-**पुनः** तद्वचनोत्तरकालम् **समर्थनात्** असिद्धादिदोषविकलतया व्यवस्थापनात् 'साधनस्य' इति[3] विभक्तिपरिणामेन पदघटना । तच्च अवश्यम् अभ्युपेयम् अन्यथा निग्रहप्राप्तिः । अनुक्तं तत्[4]

(१) सौगतः । (२) 'किम्' 'न' इति शब्दयोः । (३) षष्ठीविभक्ति । (४) साधनम् ।

समर्थ्यते इत्यत्राह–साधनं यदि समर्थयेत् अनुक्त्वा पक्षवत् । अत्र दोषः किं कुत्सितम् । किम् ? इत्याह–यत् कृतकम् इत्यादि स्पष्टम् । परस्य प्रतिवादिनः साधनम् अप्रत्युच्चार्य । तत्प्रत्युच्चारणं (णे) प्रतिज्ञावचनं अवश्यम्भावीति मन्यते । दूषणसंभवे दूषणोद्भावनं (न)-संभवे 'साधनस्य' इति [1]विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । कथम् साधनमयुक्तं युक्त्या (मनुक्तम् अनुक्त्वा) न समर्थ्यते समर्थ्येतैव । कुतः ? इत्याह–तद् इत्यादि । त[दिति] निपातः तस्य ५ एतस्यार्थे । तस्य एवंवचनस्य उभयत्र साधनस्य दूषणा (णे) समर्थने वा (चा) विशेषादिति । ततः किं परस्य जातम् ? इत्यत्राह–तदन्यतरोक्तौ तयोः साधन-तत्समर्थनयोः अन्यतरस्य साधनस्यैव समर्थनरहितस्य समर्थनस्यैव वा साधनरहितस्य उक्तौ सत्यां यत् परेण निग्रह-स्थानम् उक्तम् [2]एकत्र उक्तस्य साधनस्य असमर्थनम् अन्यत्र [3]साधनाङ्गस्य वचनम् तदयु-[क्त]म् उभयवचनेऽपि तद्विशेषात् इति मन्यते । १०

यदुक्तं परेण–'शब्द[:] प्रमाणान्तरं च इत्यत्र यदि शब्दो लिङ्गं तत एव तर्हि सक-लसमीहितसिद्धेः [२८६ख] अन्यहेतूपादानात् वादिनो निग्रहस्थानम्' इति; तत्राह–वादि-नोऽनेकहेतूक्तौ इत्यादि ।

[वादिनोऽनेकहेतूक्तौ निगृहीतिः किलेष्यते ।
नानेकदूषणस्योक्तौ वैतण्डिकविनिग्रहः ॥१९॥ १५

साधनस्यैकदोषमुद्भाव्य शेषस्यानुद्भावनात् प्रतिवादिनः सकृज्जयपराजयौ स्याताम् । अनेकदोषोद्भावने कथमनेकसाधनवादिनमतिशयीत ?]

वादिनो जैनादेः निगृहीतिः कैलेत्यरुवा (किलेत्यरुचा) विष्यते सौगतेन । कस्मिन् ? इत्याह–अनेकहेतूक्तौ एकत्र साध्ये अनेकस्य ज्ञापकस्य उक्तौ सत्यां प्रकाशितप्रकाशनवत्, एकेन हेतुना गतेऽर्थे अन्यवैफल्यादिति मन्यते परः । तत्रेदं चिन्त्यते–वादिना उभयं कर्त्तव्यं २० स्वपक्षसाधनं परपक्षदूषणमिति सौगतो वादी स्वहेतुमेकमभिधाय परपक्षे अनेकान्ते विरोधवैय-धिकरण्यानवस्थाऽभावादिदोषमनेकं वदन् निगृह्यते, एकस्मादेवं दोषात् परपराजये अन्यवैफल्यम् । तर्हि तेन सर्वत्र एकमेव दूषणं वक्तव्यमिति नियमेन कात्स्न्येन परपक्षो दूषितः स्यात् । एवमर्थं च 'किल' इत्युच्यते । अथ 'द्विर्बद्धं सुबद्धम्' इति वचनाद् अनेकदूषणवच[नेऽपि न] निगृ-हीति तेरत (तिरिष्यते, अत) एव अनेक[हेतु]वचनेऽपि न स्यात् । एतदेव दर्शयन्नाह– २५ नानेकदूषणस्योक्तौ वादिनो न(नि)गृहीतिः इत्यनुवर्त्तते । वैतण्डिकस्य न वादवतो विनिग्रहः । यदि वा, 'वादिनः अनेकहेतूक्तौ निगृहीतिः' इति वचनात् प्रतिवादी तदुद्भावने जयवान् वक्तव्य इतरथा तदयोगात् । तत्र च वादिनोऽनेकदोषसंभवः, अनेकस्य वचनं सेन दोषो वचन (चेन्न दोषवचनं) परस्य सर्वस्यावचने अनेकहेतुवचनवत् प्रसङ्गः । एतदेव आह–न निगृहीतिः अनेकदूषणस्योक्तौ परस्य । शेषं पूर्ववदिति । ३०

(१) षष्ठी । (२) प्रथमविकल्पे । (३) द्वितीयविकल्पे । (४) हेतोः । (५) उद्धृतोऽयम्–न्यायवि० वि० प्र० पृ० ३०१। (६) जैनमते । (७) विरोधाख्यात् । (८) वादिनो निग्रहायोगाद् ।

कारिकां व्याचष्टे–साधनस्य प्रतिपक्षसाधनस्य वादिना उपन्यस्तस्य च एकदोषमुद्भाव्य शेषस्य [२८७क] सतोऽपि दोषस्य अनुद्भावनात् प्रतिवादिनः सकृज्जयपराजयौ स्याताम् । पुनः अनेकदोषोद्भावने कथमनेकसाधनं वा नम (नवादिनम्) अतिशयीत 'प्रतिवादी' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः ।

५ प्रतिज्ञादिवचनोपालम्भच्छलेन न्यायवादिनमपि निग्रहणेन संयोज्य आत्मानं मन्यमानं परमुपहसन्नाह–पक्षम् इत्यादि ।

[पक्षं साधितवन्तं चेद्दोषमुद्भावयन्नपि ।
वैतण्डिको निगृह्णीयाद् वादन्यायो महानयम् ॥२०॥

स्वपक्षस्थापनाहीनोऽपि प्रतिवादी तत्त्वं साधयन्तं सिद्धेरप्रतिबन्धकं दोषं वितण्ड-
१० योद्भावयन् जयतीति फल्गुप्रायम्, समर्थयोरेव विवादात् कथमन्यतरो वैतण्डिकः संभाव्येत ? न वै तदन्यतरो वैतण्डिकः साधनं प्रत्युच्चार्य दूषयतः प्रतिवादिनः प्रत्यवस्थानात्, स्वयं कथञ्चिदुत्तरमभिधायेति वा, तथा तयोर्वैतण्डिकत्वे परिपूर्णो वादन्यायः स्यात् !]

पक्षम् स्वाभिप्रेतमर्थं साध्याविनाभाविसाधनेन साधयन् न **निगृह्णीयात्** । **अपि** शब्दः भिन्नप्रक्रमः **वैतण्डिक** इत्यस्य अनन्तरं द्रष्टव्यः, **वैतण्डिकोऽपि** स्वपक्षस्थापना-
१५ हीनोऽपि *"स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो जल्पो वितण्डा।" [न्यायसू० १।२।३] इति वचनात्, [1]प्रतिपक्षो हस्तिप्रतिहस्तिन्यायेन स्वपक्ष उच्यते **चेद्** यदि तत्र दोषो **वादन्यायो महानयम्** वादन्यायो न भवति किन्तु वितण्डा स्यात् । प्रतिज्ञादिवचनवत् छलादेरप्यनर्थकस्य निग्रहबुद्ध्या उद्भावनसंभवादिति मन्यते । किं कुर्वन् स तं **निगृह्णीयात्** ? इत्यत्राह–**दोषमुद्भावयन्**, **'पक्षं साधितवन्तम्'** इति वचनात् पक्षसिद्ध्यप्रतिबन्धकमुद्भावयन्निति गम्यते ।

२० कारिकां विवृण्वन्नाह–स्वपक्षस्थापनाहीनो जयति इति फल्गुप्रायम् । कः ? इत्याह–प्रतिवादी । कया ? वितण्डया । किं कुर्वन् ? उद्भावयन् । किंभूतं कम् ? इत्याह–सिद्धेरप्रतिबन्धकं दोषम् इति । कम् ? इत्याह–तत्त्वं साधयन्तं वैतण्डिकस्य इयमेव गतिः यत् यथाकथञ्चित् जयति इति चेत् ; अत्राह–समर्थयोः इत्यादि । समर्थयोरेव सम्यक्साधनदूषणवचने शक्तयोरेव नाऽसमर्थयोः वादिप्रतिवादिनोः विवादात् [२८७ ख] समर्थस्यासमर्थन(र्थेन)
२५ तस्य[3] वा समर्थेन सह विवादासंभवात् प्रचण्डभूपतेरे व (रिव) क्लीवेनेति । कथम् अन्यतरो वादी [प्रतिवादी] वा वैतण्डिकः संभाव्येत तस्य तद्विपरीतत्वात् ।

स्यान्मतम्–वादिना सम्यक्साधने प्रयुक्ते प्रतिवादी [4]भूतदोषमपश्यन् यदि प्रतिज्ञादिवचनं सिद्धेरप्रतिबन्धकमपि सन्तं नोद्भावयेत् तस्य[5] ऐकान्तिकः पराजयः स्यात् । तदुद्भावने तु तत्र

---

(१) प्रतिपक्षोऽत्र स्वपक्षः,प्रतिवादिपक्षापेक्षया वादिपक्षस्यापि प्रतिपक्षत्वात् । (२)"उत्तरपक्षवादी वैतण्डिकः प्रथमवादिप्रसाध्यमानपक्षापेक्षया हस्तिप्रतिहस्तिन्यायेन प्रतिपक्ष इत्युच्यते तमसाधनमुपगच्छत्येव न तत्र साधनमुपदिशति परपक्षमेवाक्षिपन्नास्ते ।"–न्यायम० प्रमे० पृ० १५३ । (३) असमर्थस्य । (४) यथार्थं । (५) प्रतिवादिनः ।

सन्देहः । यदा वादी तथैव परिहरति तदा पराजयः । अपरिहारे अन्यथापरिहारे वा वाद्येव पराजीयते *"ऐकान्तिकपराजयाद्वरं सन्देहः" इति[1] प्रतिवादी वैतण्डिको भूत्वा प्रतिज्ञादिवचनमुद्भावयति । तथा वाद्यपि [2]तस्मिन् उद्भाविते तथा यदि उत्तरं न वदति तर्हि तस्य ऐकान्तिकः पराजयः स्यात्, उत्तरमात्रे तु उक्ते सन्देहः । यदा परः[3] तथैव दूषयेत् जयवान् स्यात् अदूषणे अन्यथादूषणे वा पराजयवान् इति§ ऐकान्तिकपराजयवान् इति,§ ऐकान्तिकपराजयाद् वरं सन्देहः इति वाद्यपि वैतण्डिको भूत्वा उत्तरमात्रं द[दा]तीति नाथोनरो (नान्यतरो) वैतण्डिकः अपि तु द्वावपि वैतण्डिकाविति । एतदेव दर्शयन्नाह—न वै इत्यादि । न वै नैव तदन्यतरो वादिप्रतिवादिनोः अन्यतरः वैतण्डिकः किन्तु द्वौ अपि वैतण्डिकौ इति भावः । कुतः ? इत्याह—प्रत्युच्चार्यन्ते यं (च्चार्य इत्यादि), अन्यथा [4]अननुभाषणं निग्रहस्थानं स्यात् । किम् ? इत्याह—साधनं वादि हेच्छं (हेतुं) तत्किं कुर्वतः ? दूषयतः प्रतिज्ञादिवचनोपालम्भच्छलेन निराकुर्वतः । कस्य ? इत्याह—प्रतिवादिनः । तस्य किम् ? इत्याह— [२८८ क] प्रति (प्रत्य)वस्थानात् निराकरणात् । केन ? इत्याह—स्वयम् आत्मना वादिनापि । कथम् ? इत्याह—कथञ्चित् यत्किञ्चिद् उत्तरमभिधाय इति शब्दः पूर्वपक्षसमाप्तौ, 'वा' इति पराभिप्रायद्योतने । अत्र दूषणमाह—तथा तेन उक्तप्रकारेण तयोर्वादिप्रतिवादिनो वैतण्डिकत्वे अभ्युपगम्यमाने वादन्यायः परिपूरिपूर्णत्वात् (परिपूर्णः स्यात्) उपहसनपरमेतत् । वितण्डैव स्यात् न वादन्याय इत्यर्थः ।

किञ्च, इदमसिद्धं द्रव्यो (द्वयोः) यदि प्रतिज्ञादिवचनात् समीचीनसाधनवाद्यपि वादी निग्रहार्हः कथमसौ[5] जेता [6]तद्वचनरहितसाधनवचनेन इति चेत् ? एतत् पूर्वार्धेन प्रदर्श्य उत्तरार्धेन च दूषयन्नाह—कारिकां जल्पाक इद का (इत्यादि) ।

[जल्पाकः साधयन्नर्थमनधिकोक्त्या जयत्यसौ । २०
प्रतिवादी किमिगृह्येत न प्रत्युच्चारणादिभिः ॥२१॥

वादिनः···साधन[नाङ्गवचनात्] प्रतिवादिनो निग्रहस्थानप्राप्तेः तथानुपपत्तेरिति फल्गुप्रायमिति ; साधनप्रत्युच्चारणवत् दोषान्तरोक्ति-अनुक्तिप्रभृतिभिः दोषवत्साधनवादिनापि पुनर्निगृह्येत । तदेतेन अप्रतिभादिः प्रत्युक्तः । कस्यचिद् विप्रतिपत्तौ अप्रतिपत्तौ वा परस्य स्वपक्षसिद्धिमन्तरेण जयाभावात् कः केन निगृह्यते ? यत्पुनः इष्टस्य अर्थसिद्धिः साधनं च तदङ्गं पक्षधर्मत्वादित्रिलक्षणाख्यो हेतवो गमकाः तद्विनाभावनियमात् ; तत्र पक्षधर्मत्वकार्यत्वपूर्वत्वादिलक्षणम् असाधनम्, अन्यथानुपपत्तिमनिश्चिन्वानः साध्यसाधनयोस्तादात्म्यतदुत्पत्ती कथं प्रतिपद्येत ? तत्प्रतिपत्तौ किं सम्बन्धान्तरेण अन्तर्गडुना ?]

(१) "तथापि ऐकान्तिकपराजयाद्वरं सन्देह इति युक्तं तत्प्रयोगकरणेन स्फुटाटोपकरणम् ।"—न्यायम० प्रमे० पृ० १५२ । (२) प्रतिज्ञादिवचने । (३) प्रतिवादी । (४) "विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्यापि अप्रत्युच्चारणमननुभाषणम्"—न्यायसू० ५।२।१६ । (५) वादी । (६) प्रतिज्ञादिवचन ।
§ एतदन्तर्गतः पाठः पुनर्लिखितः ।

जल्पाको वादी **जयति** इति चेत् । किं कुर्वन् ? इत्याह–**साधयन्** । किम् ? इत्याह–**अर्थं** स्वपक्षम् । कथये (कया ? इ)त्याह–**अनधिकोक्त्या** न विद्यते अधिका (कम्) उपलक्षणमेतत् तेन न्यूनमपि यस्यां सा तथोक्ता तया इति । तर्हि वादिनो जय एव प्रतिवादिनः पराजय इति कस्यामवस्थायां दोषः स्यात् ? त[दु]द्भावनं वा प्रतिवादिनः पराजयः स्यात् । ५ न तावद् अनधिकोक्त्या अर्थं साधयान् (साधयेत्) । अत्रापि इदं चिन्त्यते किं सतोऽपि (सतामपि) स्वदोषाणामनुद्भावनात्, समीचीनसाधनवचनाद्वा वादी जयति ? तत्र अन्त्ये पक्षे उक्तं जल्पादि विरुध्येत इति, स एव परस्य पराजय इति । प्रथमपक्षेऽपि स एव वादी स्वयं स (स्व)दोषमुद्भाव्य जयति तर्हि [1]तस्य पराजय इत्युक्तम् । यदि पुनः प्राश्निकप्रकाशितात् तदनुद्भावनात्; तें[2] तर्हि यथा दोषस्य अनुद्भावनं [२८८ ख] परस्य पराजयं व्यवस्थापयन्ति १० तथा वादिनोऽपि वचनमिति यत्किञ्चिदेतत् । एतेन सदोषसाधनवचनकालोऽपि निरूपितः । तत् तस्मिन् पक्षे च प्रतिवादिनः परोक्तः पराजयः । एतदेव दर्शयन्नाह–**प्रतिवादी निगृह्येत किं नैव** । कैः ? इत्याह–**प्रत्युच्चारणादिभिः** । आदिशब्देन दोषोद्भावनादिपरिग्रहः ।

कारिकार्थं प्रकाशयन्नाह–**वादिन** इत्यादि । गतार्थमेतत् । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**साधन** इत्यादि । **प्रतिवादिनो निग्रहस्थानप्राप्तेः तथा** परोक्तप्रकारेण **अनुपपत्तेः फल्गुप्रायम् इति १५ साधनप्रत्युच्चारणवद् दोषान्तरोक्तिश्च अनुक्तिश्च प्रभृति** येषाम् अदोषोद्भावनादीनां तैः इति वादिजयादेव तन्निग्रहस्थानप्राप्तेरिति मन्यते । तैरेव [3]तत्प्राप्तिः [4]नातः इति चेत्; अत्राह–**दोषवत्साधनवादिनापि** न केवलम् अन्येन **पुनः** एवं सति **निगृह्येत** प्रतिवादी इति सम्बन्धः । शेषमत्र चिन्तितम् ।

एतदन्यत्रातिसं (तिदिश) न्नाह–**तदेतेन** इत्यादि । **तद्** इत्ययं निपातः तेन इत्यस्य अर्थे २० वर्त्तते । तेन **पक्षस्थापनया** इत्यादिना **एतेन** इदानीं चेतसि प्रत्यक्षतया प्रतिभासमानेन । **'एतेन'** इत्युच्यमाने अनन्तरे संप्रतिपत्तिः स्यात्, **'तेन'** इत्युच्यमाने चिरव्यवहिते, तस्मात् **'तदेतेन'** इत्युच्यते । **प्रत्युक्तो** निरस्तः [कथम् ?] इत्याह–**अप्रतिभा** इत्यादि । उत्तराप्रति[पत्तिप्रति]-भा आदिर्येषां निग्रहस्थानानां तानि तथा । [5]तेषां प्रपञ्चः स नेह प्रदर्श्यते ग्रन्थगौरवभयात् क था त्र य भ ङ्गाँ द् अवगन्तव्यः । [२८९ क] कथं प्रत्युक्त इत्युक्तः ? इत्यादि (इ–) २५ **कस्यचिद्** वादिनो [प्रतिवादिनो] **वा विप्रतिपत्तौ** अन्यथा व्यवस्थितस्य परमार्थस्य अन्यथा-ग्रहणे **अप्रतिपत्तौ** तद्ग्रहणाभ्यु वेच (णाभावे च) **परस्य** प्रतिवादिनो **वा स्वपक्षसिद्धिमन्तरेण जयाभावात्** कारणात् **कः केन निगृह्यते** न कश्चित् केनचित् ? जयपराजययोः अन्योऽन्यापेक्षत्वादिति ।

तदेवं **'वादिप्रतिवादिप्राश्निक'** इत्यादिना **'चतुरङ्ग एव'** इत्यनेन (इत्यन्तेन) ३० **'चतुरङ्गं विदुर्बुधाः'** इति[6] व्याख्यातम् । **'वचनस्यापि'** इत्यादिना[7] **'स्वार्थानुमानेऽपि**

(१) वादिनः । (२) प्राश्निकाः । (३) निग्रहप्राप्तिः । (४) न वादिजयात् । (५) "उत्तरस्याप्रति-पत्तिरप्रतिभा"–न्यायसू०५।२।१८ । (६) निग्रहस्थानानाम् । (७) एतन्नामकाद् ग्रन्थविशेषात् । (८) पृ० ३११ । (९) पृ० ३११ । (१०) पृ० ३११ ।

प्रयोगप्रदर्शनम् अन्यथाऽयुक्तमेव' इत्यनेन (इत्यन्तेन[1]) च समर्थं च तद्वचनं च इति **समर्थ-वचनम्** इत्येतच्च[2], 'तत्त्वप्रत्यायनात्' इत्यादिना[3] 'मार्गप्रभावनालक्षणत्वात्' इति पर्यन्तेन[4] पुनः **पक्षनिर्णयपर्यन्तेन** पुनः 'पक्षनिर्णयपर्यन्तं फलं मार्गप्रभावना' इति च[5]। 'कस्यचित् तूष्णींभाव' इत्यादिना[6] विपक्षे बाधकमुपदर्शितम्।

संप्रति '**समर्थस्य** साध्य सिद्धौ (सिद्धौ) शक्तस्य **वचनं जल्पं विदुः**' इत्येतद् ५ व्यवस्थापयितुकामः परमतं दूषयितुमुपन्यस्यति 'यत्पुनः' इत्यादि। यद् वादलक्षणं **पुनः** इति पक्षान्तरद्योतने। किं तत्? इत्याह–**इष्टस्य** वादिनोऽभिमतस्य **अर्थसिद्धिः साधनम्** अनुमेय-प्रतीतिः इति यावत्, साध्यते अनेन इति **साधनं** लिङ्गम् इत्यर्थः। **च** इति पूर्वसमुच्चयार्थः। **तदङ्गम्** तस्य साधनस्य लिङ्गस्य अङ्गम् अवयवः। किं तत्? इत्याह–**'पूर्वपक्षधर्मत्वादि,'**[7] **आदिशब्देन** [8]सपक्षे सपक्षे सत्त्वमसत्त्वं वा पक्षे (असपक्षे) गृह्यते, तस्य वा सिद्धिः। उप- १० (अथ) साधनस्य अङ्गं निमित्तं के? इत्याह–**त्रिलक्षणाः** [२८९ ख] त्रयः-पक्षधर्मत्वादयो लक्षणं येषां ते तथोक्ताः। कियन्तः ते? त्रय इति कार्य-स्वभाव-अनुपलम्भभेदेन[9]। ते किम्? इत्याह–**हेतावः** (**हेतवो**) गमकाः। यदि वा, पक्षधर्मत्वादीनि त्रीणि लक्षणानि येषाम् इति ग्राह्यम्।

इदमपरं व्याख्यानं[10] नैयायिकाद्यपेक्षया। **तस्य** अनन्तरसाधनस्य **अङ्गम्** अवयवः। किम्? इत्याह–**पक्षधर्मत्वादि**। केवलान्वयिनः साधनस्य पक्षधर्मत्वम्। आदिशब्देन स्वपक्षे १५ सर्वं (सपक्षे सत्त्वं) गृह्यते। ततः *"पूर्ववच्छेषवत्" [न्यायसू० १।१।५] इति [11]सूत्रं संगृहीतम्। साधनादिभ्यः पूर्वः पक्षः पूर्वम् अभिधानात्[12], स यस्यास्ति तत्[13]तद्वदिति। पक्षाद् उक्ताद् उद्धरितः शेषः सपक्षो यस्यास्ति तत्तद्वत्[14]। केवलव्यतिरेकिणो [लि]ङ्गस्य पक्षधर्मत्वम्, आदिशब्देन सामान्यतो दृष्टं चेति गृह्यते। तेन *"पूर्ववत् सामान्यतो दृष्टं च" [न्यायसू० १।१।५] इति सूत्रपरिग्रहः। सामान्येन च शब्दाद् विशेषणेनैव (शेषेणैव) अदृष्टं विपक्षे इत्यर्थः। २० अन्वयव्यतिरेकवतः अङ्गं पक्षधर्मत्वम्। आदिशब्देन शेषवत् सामान्यतो दृष्टं च इति गृह्यते। अतः तृतीयमपि सूत्रम् अनुगृहीतम्–*"पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोदृष्टं च" [न्यायसू० १।१।५] इति। तस्याः सिद्धेः अङ्गं निमित्तं **तदङ्गं त्रयो हेतवः** केवलान्वय[केवलव्यतिरेक-अन्वय]

---

(१) पृ० ३३०। (२) पृ० ३११। व्याख्यातम् इति सम्बन्धः। (३) पृ० ३३१।(४) पृ० ३३२। (५) 'पुनः पक्षनिर्णयपर्यन्तेन' इति द्विरुक्तमत्र। (६) पृ० ३११। व्याख्यातम्। (७) पृ० ३३२। (८) "इष्टस्यार्थ (स्य) सिद्धिः साधनं तस्य निर्वर्त्तकमङ्गं तस्य वचनं तस्याङ्गस्यानुच्चारणं वादिनो निग्रहाधिकरणम्–तस्य साधनाङ्गमिह निश्चितत्रैरूप्यं लिङ्गमुच्यते, तस्य साधनाङ्गस्य वचनं त्रिरूपलिङ्गख्यानम्, तस्य साधनाङ्गस्यावचनमनुच्चारणमनभिधानम्…"–वादन्या० टी० पृ० ३। (९) 'पूर्व' इति निरर्थकम्। (१०) "त्रैरूप्यं पुनर्लिङ्गस्यानुमेये सत्त्वमेव सपक्षे एव सत्त्वम् असपक्षे चासत्त्वमेव निश्चितम्।"–न्यायवि० २।५। (११) एकः 'सपक्षे' शब्दः द्विर्लिखितः। (१२) "अनुपलब्धिः स्वभावः कार्यं चेति।"–न्यायवि० २।११। (१३) अग्रे उच्यमानम्। (१४) "तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतो दृष्टं च" इति। (१५) उच्चारणापेक्षया, हेतोः पूर्वं पक्षः समुच्चार्यते इत्यर्थः। (१६) पूर्ववद् इति। (१७) शेषवद् इति। तुलना "अथवा त्रिविधमिति पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टं चेति। पूर्वं साध्यं तद्व्याप्त्या यस्यास्तीति तत् पूर्ववत्। साध्यसजातीयः शेषः तदस्यास्तीति तत् शेषवत्। पूर्ववद्गम साध्यव्यापकं शेषवदिति समानेऽस्ति…"–न्यायवा० पृ० ४६।

व्यतिरेकिणः'। किं लक्षणाः ? त्रिलक्षणाः। उपलक्षणमेतत् तेन द्विलक्षणग्रहणम्[2]। अथवा, पक्षधर्मत्वादीनि त्रीणि लक्षणानि येषां ते तथोक्ताः। उपलक्षणमेतत् ततः पक्षधर्मत्वादिद्वयादिलक्षणा अपि गृह्यन्ते। त्रयो हेतवः कारणाकार्य [कारण-कार्य-अकार्यकारण] सामान्यभेदेन।

एवं च [3]पूर्ववत् [२९० क] कार्यात् पूर्वं जायमानत्वात् पूर्वं कारणम् अस्य अस्ति इति। शेषवद् इति शेषं कार्यम् अस्ति इति शेषवद् इति। सामान्येन [अ]कार्यकारणत्वेन सामान्यतोदृष्टं रसादीनि (दीति) सूत्रत्रयम् अनुसृतं भवति। एतेन [4]वीतादि[5] व्याख्यातम्। कुतः तदक्रम ? इत्याह—तद् इत्यादि। तेषु पक्षधर्मत्वादिषु त्रिषु हेतुषु वा अविनाभावस्य नियमाद् इति। वादाधिकारात् तद्वचनपरिग्रहः। तत्र दूषणमाह—तत्र इत्यादि। [तत्र] तस्मिन् पूर्वपक्षे पक्षधर्मत्वं च कार्यत्वं पूर्वत्वं[6] पूर्वत्वं च तदादिर्यस्य तत् तथोक्तं तल्लक्षणं यस्य तदपि तथोक्तम्। आदिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते—पक्षधर्मत्वादि[8], तदस व्याप्तः (तदंशव्याप्तः) इत्यस्य संग्रहार्थः। कार्यत्वादि, [9]ततः स्वभावत्वादिपरिग्रहः। पूर्ववत्त्वादिः, शेषवत्त्वादेः आदिशब्देन ग्रहणम्। तदसाधनम् अलिङ्गम्। कुतः ? इत्याह—अन्यथा इत्यादि।

ननु भवतु त इ (ते ई) हितत्वं[7] तथापि पक्षधर्मत्व-कार्यत्वादिलक्षणं साधनमेव तादात्म्यतदुत्पत्तिप्रतिबन्धादिति चेत्; अत्राह—साध्य इत्यादि। साध्यादभेदात् साध्यशब्देन स्वभावहेतुः उच्यते, ततोऽभेदात्। साधनशब्देन कारणो हेतुः। तयोः तादात्म्यं च साध्यरूपता तदुत्पत्तिश्च साध्याद् आत्मलाभः ते तादात्म्यतदुत्पत्ती कथं न कथंचित् प्रतिपद्येत सौगतः। किं कुर्वन् ? अन्यथा साध्याभावप्रकारेण अनुपपत्तिमघटां हेतोः सतीमसतीं वा अनिश्चिन्वानः। एतदुक्तं भवति—अन्यथानुपपत्त्या तादात्म्यतदुत्पत्ती व्याप्ते। नहि यद् यदभावेऽपि भवति तत् तत्स्वभावं तत्कार्यं वा मनीषिणो मन्यन्ते। ततः तस्या[9] निश्चयाभावे [10]तयोः [२९० ख] अनिश्चयात्। पूर्वत्वादिकार्यत्वादिलक्षणम् असाधनम् इति निश्चिनोति नाम इति चेत्; अत्राह—तत्प्रतिपत्तौ तस्या अन्यथानुपपत्तेः प्रतिपत्तौ निश्चये अङ्गीक्रियमाणे याः (?)

---

(१) "त्रिविधमिति अन्वयी व्यतिरेकी अन्वयव्यतिरेकी चेति। तत्रान्वयव्यतिरेकी विवक्षितजातीयोपपत्तौ विपक्षाद्वृत्तिः यथा अनित्यः शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सति अस्मदादिबाह्यकरणप्रत्यक्षत्वात् घटवदिति। अन्वयी विवक्षिततज्जातीयवृत्तित्वे सति विपक्षहीनः। यथा सर्वानित्यत्ववादिनाम् अनित्यः शब्दः कृतकत्वादिति। अस्य हि विपक्षो नास्ति। व्यतिरेकी विवक्षितव्यापकत्वे सति सपक्षाभावे सति विपक्षाद्वृत्तिः यथा नेदं जीवच्छरीरं निरात्मकम् अप्राणादिमत्त्वप्रसङ्गादिति।"—न्यायवा० पृ० ४६। (२) केवलान्वयिनः विपक्षेऽसत्त्वाभावात्, केवलव्यतिरेकिणश्च सपक्षसत्त्वाभावात्। (३) "पूर्ववदिति यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते यथा मेघोन्नत्या भविष्यति वृष्टिरिति। शेषवत् तद् यत्र कार्येण कारणमनुमीयते पूर्वोदकविपरीतमुदकं नद्याः पूर्णत्वं शीघ्रत्वं च दृष्ट्वा स्रोतसोऽनुमीयते भूता वृष्टिरिति। सामान्यतोदृष्टं यज्यापूर्वकमन्यत्र दृष्टस्य अन्यत्र दर्शनमिति तथा चाक्षिपस्य।"—न्यायभा० १।१।५। (४) सांख्योक्तम्। "तत्र प्रथमं तावद् द्विविधं वीतमवीतं च। अन्वयमुखेन प्रवर्त्तमानं विधायकं वीतम्, व्यतिरेकमुखेन प्रवर्तमानं निषेधकमवीतम्। तत्रावीतं शेषवत्···वीतं द्वेधा पूर्ववत् सामान्यतो दृष्टं च।"—सांख्यत० कौ० का० ५। (५) 'पूर्वक्रम' इति पुस्तकक्रम। (६) इत्यत्र आदिशब्दः। (७) आदिशब्दात्। (८) हेतुस्त्रिविधिः। (९) अन्यथानुपपत्तेः। (१०) तादात्म्यतदुत्पत्त्योः।

किं सम्बन्धान्तरेण तादात्म्यादिलक्षणेन ? किंभूतेन ? अन्तर्गडुना अनर्थकेन । अन्यथानुपपत्तिसम्बन्धेन तत्प्रयोजनप्रसाधनादिति मन्यते ।

स्यान्मतम्—सम्बन्धान्तरमन्तरेण 'सापि न सती निश्चीयते वा तत्कथं तस्य अन्तरं गतः नेति (अन्तर्गडुतेति) चेत् ; अत्राह—**एकलक्षणसिद्धिः** [इत्यादि] ।

[एकलक्षणसिद्धिर्वा साकल्येन कथं तथा ।
एतत्पूर्ववदादौ च योजनीयमसाधनम् ॥२२॥] ५

एकं प्रधानम् अन्यथानुपपन्नत्वं यत् साधनलक्षणं तस्य **सिद्धिः** निर्णीतिः **साकल्येन कथम्** इत्यादिना 'कृता' इति अध्याहारः । वक्ष्यमाणानन्तरपरिच्छेदे करिष्यते इति वा । एवं तावत् 'पूर्वत्वकार्यत्वादिलक्षणं सौगतकल्पितम् अन्यथानुपपत्तिरहितत्वादसाधनम्' इति प्रतिपाद्य [नैयायिकं] प्रति पूर्वत्वादिलक्षणं तद्रहितत्वादसाधनम्' इति प्रतिपादयन्नाह—**तथा** १० इत्यादि । **तथा** तेन अनन्तरप्रकारेण **योजनीयम् असाधनम् इत्येतत्** । क ? इत्यत्राह—**पूर्ववद्** इत्यादि । **आदि**शब्देन वीतादिपरिग्रहः । तथाहि—पूर्ववच्छेषवत् पक्षसपक्षवत्, न साधनम् अन्यथानुपपत्तिरहितत्वात् तदन्यवत् । इतरथा 'विवादास्पदं सर्वमनित्यं सत्त्वात् दीपादिवत्' इत्यपि स्यात् पूर्ववच्छेषवद् इत्यस्य लक्षणस्य भावात् । अथ अनित्यत्वाभावेऽपि सत्त्वस्य आत्मादौ भावात् नेदं साधनम् ; किं तर्हि स्यात् ? यत् तदभावे नियमेन न भवति; १५ अन्यथानुपपत्तिरियम्, इति अन्तर्गडुना किं 'पूर्ववद्' इत्यादिना ? तथा पूर्ववत्सामान्यतोदृष्टं [२९१क] विपक्ष (पक्षविपक्षवत्); इत्येतदपि तद्रहितं न साधनम्, अन्यथा 'स्वसंवेदनं घटादिज्ञानम् आत्मविशेषगुणत्वात्, यः पुनः स्वसंवेदनो न भवति स तद्विशेषगुणो न भवति इति यथा रूपादिः' इत्यपि स्यात्, पूर्ववत्त्वस्य विपक्षे सामान्यतो विशेषतो वाऽदर्शनस्य च भावात् । अथ मतं स्वसंवेदनाभावेऽपि प्रयत्नादौ तद्विशेषगुणत्वस्य भावात् नेदं साधनमिति; किं तर्हि स्यात् ? २० यत् तदभावे नियमेन न भवति ; उक्तमत्र अन्यथानुपपत्तिसमर्थनमिति । तथा पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोऽदृष्टम् इति वचन[म]युक्तम् ; कथमन्यथा 'पक्वान्येतानि फलानि एवंरसानि च एकशाखाप्रभवत्वाद् उपयुक्तफलवत्, यानि पुनः एवंविधानि न भवन्ति तानि एकशाखाप्रभवाणि न भवन्ति यथा अविवक्षितफलानि' इत्येवमाद्यपि युक्तं [न] भवेत् । बाधितविषयत्वात् नेति चेत् ; ननु *"लक्षणयुक्ते बाधासंभवे तल्लक्षणमेव दूषितं स्यात्" [प्र० वा०स्ववृ० २५ पृ० ६६] इति कथमन्यत्र समाश्वासो यतः पूर्ववत्त्वादि साधनं स्यात् ? अबाधितत्वस्यापि तल्लक्षणात् (क्षणत्वात्) । नाऽस्य लक्षणयोगः इति चेत् ; किमिदं बाधिततत्त्वम (धितत्वम् ?) साध्याभावेऽपि साध्यधर्मिणि दर्शनम् ; अबाधितत्वं तदभावे नियमेनाऽदर्शनम् इति अन्यथानुपपन्नत्वम्—अबाधितत्वम् इति नैनयोः अवस्थयोः विशेषः ।

---

(१) अन्यथानुपपत्तिरपि । (२) अन्यथानुपपत्तिरहितत्वात् । (३) अन्यथानुपपत्तिरहितम् । (४) आत्मविशेषगुणः । (५) साध्याभावे-विपक्षे इत्यर्थः । (६) अबाधितत्व-अन्यथानुपपन्नत्वयोः ।

किञ्च, अबाधितविषयत्वं किं बाधकस्यादर्शनात्, उत पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोऽदृष्टम् इत्येतस्मात्, आहोस्वित् विपक्षे बाधकप्रमाणदिति त्रयः पक्षाः। तत्र आद्ये पक्षे व्यभिचारः, सतोऽपि बाधकस्य कुतश्चिददर्शनसंभवात्, पुनः पर्यायेण दर्शनात्, [२९१ख] अदृष्टदोषेषु शास्त्रेषु परीक्षया पुनः दोषदर्शन(नात्)। कालत्रयबाधा[ऽ]दर्शनम् अन्तर्व्याप्तिमन्वाकर्षति। द्वितीये प्रकृतमपि परिहृतम्। तृतीये सिद्धो नः सिद्धान्तः।

यत्पुनरेतत्–पूर्ववत् कारणवत् इति; तदप्यसारम्; वीतरागाभावप्रसङ्गात्। क्षणक्षयान्यो या (कणचरोऽन्यो वा) वीतरागत्वेन अभिमतो रागादिमान् पुरुषवत्। पुरुषो हि रागादीनां कारणमिष्यते बुद्ध्यादीनां कार्याणां तद्विशेषगुणत्वोपगमात्। वीतरागत्वेनोपगतो न तत्कारणम्; न तर्हि संसारिणो मोक्षः स्यात्, इति तदर्थमनुष्ठानमनर्थकम्। न चैतन्मन्तव्यम्–सामग्री रागादिकारणं न केवलः पुरुषः, तस्याः तदनुमाने सिद्धसाधनम्, पुरुषाद् व्यभिचार इति; नित्यस्य अपेक्षानिषेधात् तस्याः तत्कारणत्वानुपपत्तेः। यदि पुनस्तस्य तत्कृतोऽवस्थाविशेषः तदव्यभिचारी इति; तत एव तदनुमानम् एकलक्षणशासनम्।

यच्चान्यत्–'शेषवत् कार्यवद्' इति; तदप्यसुन्दरम्; यादृश एव घटादेः संस्थानविशेषः चक्रचीवरनारदण्डादेर्भवति तादृशस्यैव पाकजोत्पत्तौ तदभावेऽपि स्वयमभ्युपगमात्। एवं च सति चक्रादिवत् उपलब्धिमदभावेऽपि क्वचित्तत्संभवाशङ्कायां कथमतः पर्वतादौ बुद्धिमत्कारणानुमानं निःशङ्कम्। अथ यथा चक्राद्यभावेऽपि तदर्शनं [तथा] बुद्धिमदभावे यदि कदाचित् स्यात् को विरोधः? विरोधे वा तत एव गमकत्वोपगतेः (त्वोपपत्तेः) किं 'शेषवत्' इत्यनेन।

यत् पुनरन्यत्–[२९२क] सामान्यतः सामान्येन अकार्यकारणत्वेन दृष्टं रूपादौ रसादिकम्; तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; यतः कुतः कुतश्चित् यस्य कस्यचित् प्रतिपत्तिप्रसङ्गात्। अथ एकस्मिन् द्रव्ये ततस्तदनुमानम्, अतोऽयमदोषः; तर्हि रसाद् रूपवत् क्वचित् फले बुद्ध्यादेरनुमानं सहभावस्य कदाचिदर्शनं (नात्)। तत्र तस्य (तस्याऽ) समवायाच्चेति चेत्; एकार्थसमवायः तर्हि गमकत्वे निबन्धनम्। भवतु को दोष इति चेत्; न; ततः तद्वत् कर्मणोऽनुमितिः स्यात् तदविशेषात्। तथापि रूपादेरेव तत्संभवे किमेकार्थसमवायेन? यदि च रूपरसादेः क्वचित् सहभावदर्शनाद् अन्यत्र रसाद् रूपगतिः; तर्हि स्पर्शवत्त्वादेः तत्र दर्शनात् स्पर्शात् जलादौ गन्धादिप्रतिपत्तिरस्तु। अथ अनुमीयमानजलादिसजातीये गन्धाद्यदर्शनात् नैवम्; अत एव सर्वत्र तदनुमानम्। नचायमेकान्तः तत्सजातीये एव दृष्टसम्बन्धलिङ्गिनं गमयति तत्, अन्यथाप्यविरोधात्, इतरथा कथन्न परमतसिद्धिरिति यत्किञ्चिदेतत्।

---

(१) क्रमेण (२) अबाधितत्वमपि। (३) कणादः इत्यर्थः। (४) रागादिकारणम्। (५)सामग्र्याः। (६) रागाद्यनुमाने। (७) यतः सामग्री रागादिकारणम् अतः केवलपुरुषात् तदुत्पादो न भवति। (८) पुरुषस्य (९) सामग्र्याः। (१०) पुरुषस्य। (११) अग्निसंयोगजरूपाद्युत्पत्तौ। (१२) चक्राद्यभावेऽपि। (१३) "सामान्यतोदृष्टं तु यदकार्यकारणभूताल्लिङ्गात् तादृशस्यैव लिङ्गिनोऽनुमानं यथा कपित्थादौ रूपेण रसानुमानम्।"–न्यायम० प्रमा० पृ० ११९। (१४) 'कुतः' इति द्विर्लिखितम्। (१५) फले। (१६) बुद्ध्यादेः। (१७) एकार्थसमवायात्। (१८) रूपवत्। (१९) क्रियायाः (२०) अनुमितिसंभवे। (२१) फले। (२२) लिङ्गम्।

ननु साकल्येन साध्याभावे साधनाभावस्य प्रत्यक्षतः प्रतिपत्तौ प्रतिपत्तुः सर्वज्ञत्वम् । अनुमानतोऽनवस्था[1] । न च मानान्तरमिति चेत् ; अत्राह–'**सत्तर्केणोह्यते रूपम्**' इत्यादि ।

[सत्तर्केणोह्यते रूपं प्रत्यक्षस्येतरस्य वा ।
अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोरेकलक्षणम् ॥२३॥

सन्निकृष्टं विप्रकृष्टं वार्थं साकल्येनेदन्तया नेदन्तया वा व्यवस्थापयितुकामस्य अन्यथाभावविषयस्तर्कः परं शरणं नापरम्, सर्व [विषयत्वात्] ततः शब्दविकल्पयोस्तत्त्वसाधनमलङ्घ्यशासनं प्रचण्डभूपतेर्वा ।]

त(सत्त)र्केण सर्वत्र स्ववेदनाभावे ज्ञानत्वानुपपत्तिलक्षणान्तराभावाद् इति अस्पष्टोहविकल्पेन[न] दर्शनादिना **ऊह्यते** वितर्क्यते यद् **रूपं** स्वभावः । कस्य ? इत्याह–**हेतोः** लिङ्गस्य । किंभूतस्य ? **प्रत्यक्षस्य** प्रत्यक्षग्रहणयोग्यस्य [२९२ख] सत्त्वधूमादेः **इतरस्य वा** तदग्रहणयोग्यस्य वा । यथा अनन्तज्ञानस्य अनन्तसुखसाधने तस्य वा बुभुक्षाद्यभावे (व) साधने तत्रैव वा अनन्तवीर्यस्य । ए न च (एतच्च) अस्मदाद्यपेक्षया उक्तम् ; अन्यस्य अशेषं प्रत्यक्षमेव । किं तद्रूपम् ? इत्याह–**अन्यथानुपपन्नत्वम्** साध्याभावे नियमेन साधनस्य अघटनम् । तत्किम् ? इत्याह–**तद्रूपम् एकलक्षणं** प्रधानलक्षणम् । कस्य ? इत्याह–**हेतोः** इति आवृत्त्या सम्बन्धः । एतदुक्तं भवति–न प्रत्यक्षेण अनुमानेन वा निश्चितं रूपम् एकं लक्षणं हेतोः यतः प्रतिपत्तुः सर्वज्ञत्वमनवस्था वा, किन्तु मनोविकल्पेन । सर्वज्ञत्वमतस्तस्येष्यत एव । यदाह–

*"अशेषविदिहेष्यते सदसदात्मसामान्यवित् ।
जिन प्रकृतिमानुषोऽपि किमुताखिलज्ञानवान् ॥" [पात्रके० श्लो० १९] इति ।

ननु तर्को नास्ति अनुपलम्भात् खरविषाणवत्, कथं तेन असता किञ्चिदूह्यते ? सतोऽपि वा आनर्थक्यम्, तदर्थस्यान्यतः सिद्धिः तेति (सिद्धेरिति) चेत् ; अत्राह–**सन्निकृष्टम्** इत्यादि । **सन्निकृष्टं** पुरुषमात्रदर्शनयोग्यं **विप्रकृष्टं** वा तद्विपरीतम् **अर्थं** सत्त्व-धूमादिकम् **साकल्येन** देशकालान्तरव्याप्त्या **इदंतया** अनित्यादि-अग्निस्वभावकार्यतया **नेदंतया** वा नित्य-अनग्निस्वभावकार्यतया **अनव(व्यव)स्थापयितुकामस्य** लोकस्य **तर्कः परं** प्रकृष्टं **शरणम्** । किंभूतः ? **अन्यथा** साध्याभाव [अभावः] स **विषयो** यस्य स तथोक्तः । इदमुक्तं भवति–अनभिमतपरिहारेण अभिमतं तत्त्वम् अनवद्येन [२९३ क] व्यवस्थापयितुमिच्छता अनुमानमेष्टव्यम् । [2]तदप्यभ्युपगच्छता लिङ्गं साध्याविनाभावनियमैकलक्षणम् तश्चय स च (तन्निश्चयश्च) तर्कात् नान्यतः इति तर्कमभ्युपगम्य निषेधतो द्विष्टकामितेति ।

यत्पुनरुक्तम्–स्वतोपि (सतोऽपि) वानर्थक्यं तदन्यस्य (तदर्थस्य) अन्यतः सिद्धेरिति ;

---

(१) तस्याप्यन्यतोऽनुमानात् सम्बन्धप्रतिपत्तिरिति । (२) अनन्तसुखस्य वा । (३) बुभुक्षाद्यभावे साध्ये । तुलना–"केवली न भुङ्क्ते रागद्वेषाभावानन्तवीर्यसद्भावान्यथानुपपत्तेः ।"–प्रमेयक० पृ० ३००। "असाताकृताया अपरत्वेऽप्यस्या दुःखरूपतया अनन्तसुखे भगवत्यसंभवात् ।"–प्रमेयक० पृ० ३०५ । (४) सर्वज्ञस्य । (५) तर्केण । (६) अनुमानमपि ।

तत्राह– **नापरम्** इति तर्कोऽन्यदपरम् अभ्यक्षादि क्रमविचारं न 'शरणम्' इत्यनुवर्तते । कुतः स[1] एव शरणम् ? इत्याह–'सर्वं' इत्यादि । प्रकृतं निगमयन्नाह–**तत** इत्यादि । यत एवं ततः शब्दविकल्पयोः शब्दविकल्पाभ्यां[2] **तत्त्वसाधनम्** अलङ्घ्यशासनम् प्रचण्डभूपतेर्यदलङ्घ्यं शासनम् आज्ञापनं वा तदिव इति ।

ननु तर्कविकल्पप्रस्तावे किमर्थमप्रस्तुतशब्दग्रहणमिति चेत्[3] ? उच्यते–'**वचनस्यापि**' इत्याद्यभिधानादस्यापि[4] प्रस्तावात् ।

ननु[5] तयोरर्थे प्रतिबन्धद्वयस्याभावात् कथं तद्विषयत्वमिति चेत् ? अत्राह–**योग्य** इत्यादि ।

[योग्यः शब्दो विकल्पो वा सर्वः सर्वत्र चेत्स्वतः ।
मिथ्यात्वं परतस्तस्य चक्षुरादिधियामिवँ ॥२४॥
शब्दानां चेत्स्वतोऽतत्त्वं न प्रयत्नैरपि शक्यते ।
प्रत्यक्षस्य साध्यत्वात् कुतस्तत्त्वव्यवस्थितिः ॥२५॥]

योग्यः समर्थः प्रत्यक्षवत् तयोस्तत्र योग्यतासम्बन्धो नान्यः इति तन्निषेधेऽपि न दोष इति भावः । कः ? इत्याह–**शब्दो विकल्पो वा** । किं कश्चित् ? न इत्याह–**सर्वः** । कुतः ? **स्वतः** स्वमाहात्म्यात् । किंच अर्थे किंभूते ? **सर्वत्र** सर्वस्मिन् । **चेत्** शब्दः निपातत्वादवधारणार्थः सर्वत्रैव इति । तन्न युक्तम्–*"तयोः[6] नियमार्थयोग्यतायां धूमादिवत् पुरुषेच्छावशादर्थान्तरे वृत्तिर्न स्यात्" इति; तत्रापि तद्योग्यत्वात् । युगपत् ततः सर्वार्थप्रतिपत्तिः इति चेत्; न; एकत्र[7] अपरेण[8] क्षयोपशमस्य [9]अन्यत्र सङ्केतस्य अनियतस्यापेक्षणात् । स्वयं योग्यस्य [२९३ख] किं तेन ? इत्यपि वार्तम्; अयोग्यस्य नितरां किं तेन ? न हि सिकताः पीडनमपेक्ष्य तैलोपादानमिति । नन्वेवमर्थाभावे [10]तदप्रवृत्तिः; इत्यत्राह–**मिथ्यात्वम्** इत्यादि । **[मिथ्यात्वं]** स्वार्थस्यान्यथा विषयीकरणम् 'शब्दस्य विकल्पस्य च' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । कुतः ? इत्याह–**परतः**[11] कस्यचित्[12] कर्मणः[13], अन्यस्य[14] मिथ्याज्ञानात् । तदुक्तम्–

*"विज्ञानगुणदोषाभ्यां वाग्वृत्तेर्गुणदोषता[15] ।" [प्रमाणसं० २।१६] इति ।

किं स्ये ति कि (किमिव ? इ) त्याह–**चक्षुरादिधियाम् [इव]** इति । * प्रसर (प्रभास्वर) मिदं चित्तं प्रकृत्या" [प्र० वा० १।२१०] [16]इति वचनात् [17]आसां स्वार्थे सतो (स्वतो) योग्यानां परतः तिमिरादेः यथान्वत् ([18]न्यत्वे) तथा [प्र]कृतस्यापि[19] इति ।

---

(१) तर्कः (२) परमार्थसद्वस्तु । (३) 'शब्दविकल्पयोः' इत्यत्र शब्दग्रहणम् । (४) शब्दस्यापि । (५) शब्दविकल्पयोः । (६) तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षण । (७) "यद्येवं शास्त्रकारेण कथमन्यत्र प्रतिपादितम्–योग्यः शब्दो···"–न्यायवि० वि० द्वि० पृ० ३२१। (८) तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावेऽपि । (९) शब्दविकल्पयोः । (१०) विकल्पे । (११) जैनेन । (१२) शब्दे । (१३) शब्दविकल्पयोः । (१४) विकल्पस्य । (१५) ज्ञानावरणकर्मणः । (१६) शब्दस्य । (१७) 'वाग्वक्त्रो वा न वक्त्रः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः ।' इति शेषः । (१८) 'आयन्तयो मकाः ।' इत्युत्तरार्धम् । (१९) बुद्धीनाम् । (२०) मिथ्यात्वम् । (२१) शब्दस्यापि ।

ननु शब्दः स्वार्थे योग्यो ज्ञानकार्यजननादवसीयते, तच्च सङ्केताद् इति । कुतस्तदवसाय इति चेत् ? अत्राह–शब्दानां पूर्वं जात्यपेक्षया एकवचनम्, अत्र व्यक्त्यपेक्षया बहुवचनम् । स्वतः स्वरूपतः तत्त्वं (अतत्त्वं) प्रतिपादनयोग्यत्वे (त्वे) न चेत् शब्दः पराभिप्रायद्योतने । प्रयत्नैरपि समयकरणैरपि न शक्यते कर्तुं तद्योग्यत्वम् । बहुवचने, न केवलम् एकेन द्वाभ्यां वा अपि तु बहुभिरपि इति दर्शयति । तथाहि–यो यत्र स्वतोऽयोग्यः स तत्र प्रयत्नैरपि तथा न भवति यथा सिकतादिः तैले, स्वतोऽयोग्याश्च परस्यै शब्दाः तत्त्वप्रतिपादने इति । शक्यते च तत्कर्तुं प्रयत्नैः, ततस्तैः(स्ते) स्वतो योग्याः, रूपादिप्रतिपत्तिविशेषस्य रूपादिशब्दान्वयदर्शनात् । तदुक्तम्–*"विशेषं कुरुते हेतुः विस्रसा परिणामिनाम् ।" इति[3] मन्यते ।

तदनेन [एतत्] निरस्तम् ; *"कार्यदर्शनाद् योग्यता अनुयीयते,[२९४क] योग्यतातः कार्यम् [इति] अन्योऽन्यसंश्रयात्" इति । कथम् ? योग्यतातः तत्र कार्यप्रतिपत्तेरनभ्युपगमात्, तत्कार्यस्य प्रत्यक्षत्वात् । केवलं तत्कार्ये (र्यं) किं तादात्म्यादिप्रतिबन्धात् उत अन्यत इति विचारो योग्यतात इति ब्रूमः, तस्या विचारसहत्वादि [ति] स्यात्, तद्भावे (तदभावे) कुतः तत्त्वस्य स्वलक्षणस्य [व्यवस्थितिः] व्यवस्थानम् ? कुतश्चिदन्यस्य तद्व्यवस्थाहेतोः अभावादिति मन्यते । अविकल्पकप्रत्यक्षादिति चेत् ; अत्राह–प्रत्यक्षस्य सविकल्प [स्य] बौद्धं प्रति विपक्षत्वाद् अविकल्पकस्य इति गम्यते । साध्योऽप्रसिद्धः *"साध्यमप्रसिद्धम्"[न्याय-वि० श्लो० १७२] इति वचनात्, विषयो निरंशक्षणिकज्ञानरूपादिलक्षणो यस्य, अन्यस्य विकल्पविषयत्वात् तत्तथोक्तं तस्या [स्य] भावात् तथा तत्कृतः तद्व्यवस्था । यदि वा, साध्यं च तद्द्वयं बुद्ध्यात्मनः पुरुषवद् अप्रसिद्धत्वात् विषयस्य स्वपराव्यवस्थापकत्वेन जडघटाविशेषात् तस्य भावात् तत्त्वादिति ग्राह्यम् ।

स्यान्मतम्–तत्त्वतः सविकल्पस्य [6]इतरस्य वा कचिन् प्रमाणेन (णत्वेन) इष्टम् अतस्तदभावो नाद्वैतवादिनो दोषाय, तत्त्वाव्यवस्था वा । यत्तु इष्टं तद् व्यवहारेण *"प्रामाण्यं व्यवहारेण" [प्र० वा० १।६] इत्यभिधानात् [7]इति वचनात् इति ; तत्राह–तत्त्व इत्यादि ।

[तत्त्वविद्या विना वेत्ति जगत्तत्त्वं क्षणक्षयम् ।
वक्ति वागगोचरं हेतुं साधयेत्किमसाधनैः ॥२६॥

निर्विषयं मिथ्याज्ञानम् अध्यक्षमनुमानं च स्थूलैकाकारगोचरं व्यवहारेण प्रमाणीकृत्य तत्त्वं व्यावर्णयितुमिच्छति प्रतिबन्धादिविकल्पस्य सर्वस्यैव असमीक्षित [तत्त्वार्थेन] अतिशयाभावात् परमार्थावताराय लोकप्रतीतिं न प्रमाणं समाश्रयति । तत्प्रमाणत्वे क्षणक्षयादेः बाधनम् । तदप्रमाणस्य कुतश्चित् परमार्थसाधनत्वे अन्यत्रापि प्रमाणान्वेषणं कैमर्थक्यं प्रतिपद्यते ? साकल्येन तत्त्वावताराय प्रतिबन्धः···। वक्त्र[भिप्रायसूचकैः]

(१) प्रयत्नैरपि इत्यत्र । (२) बौद्धस्य । (३) "अत एवोक्तम्–विशेषं कुरुते हेतुः विस्रसा परिणामिनाम् । बुद्ध्यादिर्घटादीनामा न्यवच्यतिरेकवान् ॥ इति ॥"–न्यायवि० वि० प्र० पृ० ६२ । (४) योग्यतातो । (५) सामान्यस्य । (६) निर्विकल्पस्य । (७) 'इतिवचनात्' इति पुनरुक्तम् ।

शब्दैः परं तत्त्वसाधनं प्रतिपिपादयिषति साधनैः किं पुनस्तत्त्वं न साधयेत् यतस्तेन वादी निगृह्यते । न च प्रत्यक्षबुद्धिः स्वलक्षणं यथालक्षणं प्रसाधयति, स्थूलस्यैकस्य अनेकावयवरूपादिसाधारणस्य अतद्व्यपराकृतवस्तुमात्रस्य च तत्र प्रतिभासनात् । तदसाधारणस्य संवेदनाभ्युपगमे विकल्पस्यापि तदङ्गीकरणमशक्यनिषेधम् ? तथा सति संवेदनाद्वैताय साधनादिव्यवहाराय च दत्तो जलाञ्जलिः । विकल्पाविकल्पयोः प्रतीत्यभावाविशेषात् । न च प्रतिभासभेदमात्रं बुद्धीनामेकविषयत्वेन विरुद्धम् ।]

अस्यायमर्थः—निरंशाः क्षणिका ज्ञानज्ञेयपरमाणवः तथाविधा बहिरर्थशून्या विज्ञानसन्ततयः सर्वाः सर्वथा भ्रान्ताः, सर्वविकल्पातीतं प्रतिभासमात्रं सूकलशून्यतित्वं (न्यात्मकम्) **तत्त्वम्** इति दर्शनभेदः तस्य **वित्तिः** याथात्म्येन ग्रहणं तया **विना** तामन्तरेण विकल्पानाम् अतत्त्वविषयत्वाद् **वेत्ति** जानाति [२९४ ख] सौगतः । किम् ? इत्याह—**जगत्तत्त्वम्** जगतः स्वरूपम् । किंभूतम् ? **[क्षण] क्षयम्** । उपलक्षणमेतत् [तेन] विज्ञानसन्ततिमात्रम् भ्रान्तिमात्रम् सकलविकल्पविकलप्रतिभासमात्रम् शून्यमात्रम्, अनेन परस्य पूर्वापराभ्युपगमविरोधं दर्शयति । तथाहि—यदि जगत्तत्त्वं तथाविधं वेत्ति कथं तत्त्ववित्तिः परमार्थतो नास्ति यतः *"प्रामाण्यं व्यवहारेण" [प्र० वा० १।६] इति ब्रूयात् ? अथ नास्ति ; कथं विद्यात् तदिति ? *"संप्रति स्त्येव व(ष्टेत्) विरोधवत्" इत्यादिना **वक्ति** कथयति । कम् ? **हेतुम्** । अन्यथा कुतः परार्थानुमानम् । पूर्वस्यानन्तरमस्य वचनम् जगतः क्षणक्षयप्रतिपत्तिमभ्युपगमयति इदं दूषणमिति प्रतिपादनार्थं नान्यथा । किंभूतम् ? इत्याह—**वाग्गोचरम्** वाचो गोचरो यो न भवति तम् इति, स्वयमेव वचनागोचरं हेतुं वदति तत्प्रतिपादनार्थं च वाक्यम् उपन्यस्यति इति स्ववचनविरोध इति मन्यते ।

ननु व्यवहारेण तत्त्ववित्तिर सि (स्ति) हेतुश्च वाग्गोचरो[2] न तत्त्वतः इति चेत् ; अत्राह—**साधयेत् किं** न किञ्चित् । कैः ? **असाधनैः** । परमार्थतः साधनानि यानि न भवन्ति तैः इति, स्वयमसाधनेभ्यो व्यवहारिणा साधनत्वेनोपगतेभ्यः अन्यस्य तत्त्वसिद्धौ सौगतेन उपगतेभ्यो वित्य (अनित्य)त्वादिभ्यः सुखादौ सांख्यस्य तत्त्वतोऽचेतनत्वसिद्धिः स्यादिति मन्यते ।

यत्पुनरत्रोक्तम्—*"[3]यादृशो यक्षः तादृशो बलिः यादृशानि साधनानि तादृशमेव तत् साध्यम्" इति ; तदनेन निरस्तम् ; परमार्थसाधनाभावे यादृशतादृशप्रतिपत्तेरयोगादिति । [२९५ क]

कारिकां विवृण्वन्नाह—**निर्विषयम्** इत्यादि । विषयान्निष्क्रान्तम् निरस्तविषयं वा **मिथ्याज्ञानम्** अनुमानम् अध्यक्षं च स्थूलैकाकारगोचरं व्यवहारेण प्रमाणीकृत्य स्वयमप्रमाणं प्रमाणयता भ्य (अन्य) **तत्त्वं व्यावर्णयितुं** व्यवस्थापयितुम् **इच्छति** सौगतः । न च तद्व्यवस्था, मरीचिकाजलज्ञानात् सत्यजलव्यवस्थावदिति मन्यते । स्योदयत्—मा भूत् प्रत्यक्षात् तदा-

(१) विज्ञानसन्तत्यादिरूपम् । (२) व्यवहारेण । (३) "अद्वैतेऽपि कथं वृत्तिरिति चोद्यं निराकृतम् । यथा बलिस्तथा यक्ष इति किं केन संगतम् ॥"—प्र० वार्तिकाल० पृ० १९३ । (४) स्थूलैकाकारविषयात् ।

कारणोपरात् तदुव्यवस्था अनुमानात् स्यात् परम्परया तत्प्रतिबद्धात् *"भ्रान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमा" [1]इति वचनादिति ; तत्राह–प्रतिबन्धादि इत्यादि । लिङ्गलिङ्गिनोः अविनाभावः प्रतिबन्धः आदिर्यस्य पक्षधर्मत्वादेः तस्य यो विकल्पः तद्ग्राही निश्चयः, अविकल्पस्य [2]तत्राप्रवृत्तेः स्वयमविष[ये तद्]योगात् । नहि 'इदमतो जातम्, अयमस्य स्वभावो अस्य धर्मो वा' इति व्यापारो (रे) [3]तत्सामर्थ्यम्; कारणादिपरमाणुदर्शनव्यापारस्य [4]परं प्रत्यसिद्धेः। तस्य [5]अतिशयाभावाद् अनुमानाद् भेदाभावात् । केन ? इत्याह–असमीक्षित इत्यादि । किं कस्यचित् ? न; इत्याह सर्वस्यैव । एवमुक्तं भवति–प्रतिबन्धादिविकल्पस्य मिथ्यात्वे अनुमानस्य वस्तुनि पारम्पर्येणापि न प्रतिबन्धः इति न युक्तम् *"लिङ्गलिङ्गिधियोरेवम्" [प्र० वा० २।८२] [6]इत्यादि, *"मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्या" [प्र० वा० २।५७] इत्यादि च ।

यदि पुनरेतन्मतम्–न परमाणुदर्शनम् अग्निधूमयोः वृक्षशिंशपयोः, [7]धूमपर्वतस्य अदर्शनम्, अपि तु स्थूलैकत्वदर्शनमेव लोकस्य तत्रैव प्रमाणादिव्यवहारात् इति, तदप्रमाणं [प्रमाणं] वा भवतः स्यात् ? प्रथमपक्षे दोषमाह–लोक इत्यादि । लोकप्रतीतिं स्थूलैकाकारसंवित्तिम् [२५५ख] किंभूता (ताम् ?) न प्रमाणं समाश्रयति । किमर्थम् ? इत्याह–परमार्थावतारायेति । द्वितीयेऽप्याह–तत्प्रमाणत्वे, क्षणक्षयादेः आदिशब्देन निरंशत्वादिपरिग्रहः । बाधनमणावबाधनम्, अक्रमवत्) क्रमेणापि एकस्य अनेकाकारसिद्धेः सविकल्पकं प्रमाणं स्यादिति भावः । परमार्थावतारायेति [10]तामप्रमाणं समाश्रयतः को दोषः ? इत्यत्राह–तदप्रमाण्यस्य इत्यादि । सा चासौ लोकप्रतीतिः अप्रमाणं च तदप्रमाणं तस्य परमार्थसाधनत्वे अभ्युपगम्यमाने कुतश्चित् तत एव लोकव्यवहारमिथ्यादेः अन्यत्रापि नित्यत्रापि[11] नित्यत्वादावपि प्रमाणान्वेषणं कैमर्थक्यं प्रतिपद्यते प्रमाणमन्तरेण [12]अन्यस्यापि सिद्धेरिति । एतदेव दर्शयन्नाह–साकल्येन इत्यादि । तत्त्वावतारायेति आत्मेश्वरादितत्त्वप्रवेशार्थम् अप्रमाणं सार्थकम् '(सात्मकं) जीवच्छरीरम्' इत्यादि, 'विमत्यधिकरणभावापन्नं तन्वादि बुद्धिमत्कारणम्' इत्यादि वा अनुमानम् । मिथ्याज्ञानाद् अनुमानान्न क्षणक्षयादिसिद्धिः । 'अग्निरत्र' [इत्यनु]मानात् कथमग्निसिद्धिरिति ? तथा परेणाप्युच्यते–ततो मिथ्याज्ञानाद् आत्माद्यसिद्धौ कथं क्षणक्षयादिसिद्धिरिति ? ननु यथा लोकतः क्षणक्षयादौ सत्त्वादिप्रतिबन्धसिद्धिः[13] नैवम् आत्मादौ प्राणादिमत्त्वादेः इति चेत् ; उक्तमत्र–प्रतिबन्धेत्यादि ।

अपरमप्युच्यते–शब्दैः इत्यादि । तत्त्वस्य क्षणक्षयादेः सम्बन्धि साधनं लिङ्गं प्रतिपिपादयिषति परं प्रति । कैः ? इत्याह शब्दैः । किंभूतैः ? इत्याह–वक्त्र इत्यादि । साधनाप्रतिबद्धैरिति भावः । किं पुनः तत्त्वं न साधयेत्? साधयेदेव । कैः ? इत्याह–असाधनैः[२५६क]

(१) द्रष्टव्यम्–पृ० ८२ टि० ४ । (२) सम्बन्धादौ । (३) निर्विकल्पकप्रत्यक्षसामर्थ्यम् । (४) जैनादिकं । (५) प्रतिबन्धादिविकल्पस्य । (६) 'पारम्पर्येण वस्तुनि । प्रतिबन्धात् तदाभासशून्ययोरप्यबाधनम् ।' इति शेषः । (७) 'अभिधावतोः । मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ।' इति शेषः । (८) पूर्वं सति धूमपर्वतयोः अदर्शनं स्यादिति भावः । (९) स्थूलैकत्वदर्शनं एव । (१०) लोकप्रतीतिम् । (११) 'नित्यत्रापि' इति व्यर्थम् । (१२) वैशाधिकादेरपि नित्यतत्त्वसिद्धिः स्यात् । (१३) अविनाभावात् ।

साध्या [प्रतिषद्धैः] प्राणादिमत्त्वादिभिः यतो [S]साधनैः तत्त्वसाधनं तेन निगृह्येत वादी । यत इति वा आक्षेपे नैव इति ।

ननु अनुमानानुमेययोरभावात् सन्ति च क्रमात् तस्य हेतुत्वादिप्रभेदविकलस्य भावात् (?) तस्य स्वसंवेदनाध्यक्षतः सिद्धेः नायं दोषः इत्यपरः । तं प्रति आह–न च इत्यादि।

५ स्यान्मतम्–एतत् 'प्रतिबन्धादि' इत्यादिना उक्तमिति किमर्थं पुनरुच्यते इति चेत् ? सत्यमुक्तम्, तथापि–

*"द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना ।
लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः ॥" [माध्यमिकका० २४।८]

इति वचनात् लोकसंवृतिसत्यापेक्षया तदुक्तम्, प्रतिभासाद्वैतपरमार्थसत्यापेक्षया इद-
१० मुच्यते–न च नैव प्रत्यक्षबुद्धिः स्वसंवेदनाध्यक्षं स्वलक्षणं स्वस्वरूपं प्रसाधयति संशयादि-रहितं व्यवस्थापयति । किं मनागपि न ? इत्याह–यथालक्षणं यत् तस्य परेण ग्राह्यग्राहकाकार-संवित्तिरहिततया अविभागलक्षणमुच्यते तदनतिक्रमेण । कुतः ? इत्यत्राह–स्थूलस्यैकस्य इत्यादि । तात्पर्यमिदमत्र–नीलादेः शरीरसुखादिनीलादिव्यतिरिक्तस्य ग्राहकस्याभावात्, अव-भासमानस्यैव स्वतः ज्ञानात्मकत्वमिति परः, तस्य स्थूलैकस्य अनेकावयवरूपादिसाधारणस्य
१५ केवलं तत्र प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासनात् ।

तस्यान्मथाव भासन्ते (स्यान्मतम्–यद् यथावभासते) तथा तदद्वयं निरंशं भावेऽपि क्रमवद् भासत इति । तदुक्तम्–

*"मन्त्राद्युपप्लुताक्षाणां यथा मृच्छकलादयः[1]" [प्र० वा० २।३५५] इत्यादि ।
*"[दूरे] यथा वा मरुषु महानल्पोऽपि भासते[2]।"[प्र०वा० २।३५६] इत्यादि[२९६ख]

२० *"अविभागोऽपि" [प्र०वा० २।३५४] इत्यादि चेति । तत्राह–अतद्रूपपरावृत्तवस्तु-मात्रं च तस्य स्थूलैकस्य तत्र प्रतिभासनात् । एतदुक्तं भवति–यदा परपरिकल्पि[त] तत्त्वं तदवभासात् पूर्वं पश्चाद्वा प्रमाणतः सिद्धं भवति यथा गजादिप्रतिभासात् मूढ (मृच्छक) लादयः तदा तत्तथा प्रतिभासत इति युक्तम् । न चैवम्, आत्रोधिमार्गं घहारात् (गौं व्यवहारात्) तस्यैव प्रतिभासनात् । तथापि तस्यैव प्रतिभासोपगमो (मे) न किञ्चित् स्वरूपेण प्रतिगतं
२५ स्यात्, कदाचित्तत्रापि अन्यस्य तथावभासकल्पनादिति ।

ननु अस्थूलापेक्षया स्थूलम् अनेकापेक्षया च एकः कल्प्यते । न च अपेक्षया पारमार्थिका धर्मा भवन्ति; अतिप्रसङ्गात् । न स्थूलस्यैकस्य प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासनम् अपि तु विकल्पे, तत्र ज्ञानपरमाण्वभासनमिति चेत्; अत्राह–तदसाधारण इत्यादि । तस्य परकीयस्य असाधारणस्य सर्वतो व्यावृत्तस्य संवेदनाभ्युपगमे । किम् ? इत्याह–विकल्पस्यापि न केवलमध्यक्षस्य तद्-

(१) विज्ञानाद्वैतवादिना । (२) नीलादेः । (३) 'अन्यथैवावभासन्ते तद्रूपरहिता अपि' इति शेषः । (४) 'तथैवादर्शनाद् तेषामनुपप्लुतचेतसाम्' इति पूर्वार्धम् । (५) 'बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः । ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ।' इति शेषः । (६) प्रत्यक्षे ।

अनीकरणं स्वपरसाधारणसंवेदनाङ्गीकरणम् अशक्यनिषेधम् अङ्गीकरणस्य इच्छातोऽविशेषात् । स तथा सति संवेदनाद्वैताय साधनादिव्यवहाराय च दत्तो जलाञ्जलिः तस्य कल्पितसामान्यगोचरत्वादिति ।

अथ मतम्–विकल्पात् तत्प्रतिभासाभावान्न तदङ्गीकरणमिति; तत्राह–प्रतीत्य इत्यादि । विकल्पाऽविकल्पयोः योऽयम् असाधारण (णं) प्रतीत्यभावः तस्य अविशेषात् । एवं सति ५ प्रत्यक्षबुद्धौ असाधारणप्रतीत्यभावे *"यदवभासते तज्ज्ञानम्" [२९७क] इत्यादौ *"यद् यथावभासते" इत्यादौ च धर्मिप्रभृति सर्वमसिद्धम् । तत्र तत्प्रतीत्यभ्युपगमे विकल्पेऽपि स्वपरयोः तथाविधयोः प्रतीतिरिति । (प्रतीतिरस्ति न वेति)। प्रथमे; अनैकान्तिको हेतुः । परत्र; असिद्धः । एकस्य स्वपरयोरिव पूर्वापरयोरपि ग्रहणमविरुद्धमिति । ततः स्थितम्–तत्त्वविद्या विना इत्यादि । १०

ननु च सिद्धि (?)

"शब्देनाभ्यामनाक्षस्व (नाव्यापृताक्षस्य) बुद्धावप्रतिभासनात् ।
अर्थस्य तद्दृष्टाविव तदनिर्दिष्टस्य वेदकम् ॥" इति[1] ।

तत्कथमुच्यते–'वक्तव्यं वाग्गोचरं (वक्ति वागगोचरं) हेतुम्' इति 'योग्यः शब्दः [विकल्पो वा] सर्वः सर्वत्र' इति वेति (वेति) चेत्; अत्राह–नच इत्यादि । १५ नच नैव प्रतिभासभेदमात्रम् । कासाम् ? बुद्धीनाम् एकविषयत्वेन विरुद्धम् एकविषयत्वेऽपि तन्मात्रस्य संभवात्, विशिष्टस्तु तद्भेदः[2] तेन्न (तेन) विरुद्ध्यते इति मात्रशब्देन दर्शयति ।

तदेव सदृष्टान्तं दर्शयन्नाह–दूरासन्नादि इत्यादि ।

[दूरासन्नादिसामग्रीप्रत्यक्षैकार्थसंविदाम् ।
प्रतिभासो यथा भिन्नः प्रत्यक्षेतरयोस्तथा ॥२४॥ २०

चक्षुरादिज्ञानमेकत्र प्रतिभासभेदमनुभवद् यदीष्यते; प्रत्यक्षादीनां सामग्रीभेदात् प्रतिभासभेदेऽपि एकविषयत्वं कथम् स्यात् ? विकल्पस्य अतस्मिंस्तद्ग्रहान्निर्विषयत्वं वदन् हतस्त्वम् असाधनाङ्गवचनात् । सम्बन्धस्य एकान्तेन अतत्स्वरूपत्वात् । यथादर्शनं च तत्त्वम्; अन्यथा तत्त्वानुपपत्त्या अनेकान्तसिद्धिः । कथम् ? तल्लक्षणसिद्धिरन्यानपेक्षणमनन्तरं वक्ष्यामः ।] २५

दूरासन्नशब्दौ भावप्रधानौ, तेन दूरत्वम् आसन्नत्वम् आदिर्यासाम् । आदिशब्देन दूरतरत्वआसन्नतरत्वादिपरिग्रहः, अथवा मन्दलोचनत्वादि[परि]ग्रहः, ता तथोक्तैः (तास्तथोक्ताः) सामग्र्यो यामां (यासां) ता अपि तथा ताश्च ताः प्रत्यक्षाश्च पुनरपि ता एकार्थ-

(१) असाधारणसंवेदनप्रतीत्यभावे । (२) प्रत्यक्षबुद्धौ । (३) विकल्पविषयस्य परमार्थत्वसिद्धेः । (४) श्लोकोऽयम् अपोहसिद्धौ (पृ० ६) 'यच्छाब्दम्' इति कृत्वा समुद्धृतः । सन्मति० टी० पृ० २६० । (५) प्रतिभासभेदः ।

संविदश्च तासां प्रतिभासो यथा येन विशदेतरप्रकारेण भिन्नः प्रत्यक्षेतरयोः इन्द्रिय-शब्दज्ञानयोः तथा प्रतिभासो भिन्नः इत्यनुवर्त्तते ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–'चक्षुरादि' इत्यादि । चक्षुरादिर्यस्य घ्राणादेः तस्य ज्ञानम् एकत्र ग्राह्ये प्रतिभासभेदं विशदेतरनिर्भासातिशयम् अनुभवद् यदीष्यते सौगतेन । कुतः ? सामग्रीभेदात् । कथं न स्यात् स्यादेव । किम् ? इत्याह–एकविषयत्वम् । कासाम् ? [२९७ख] इत्याह–प्रत्यादि (प्रत्यक्षेत्यादि) । कस्मिन्नपि ? इत्याह–प्रतिभासभेदेऽपि । ततो निराकृतमेतत्–*"यौ भिन्नप्रतिभासौ प्रत्ययौ न भावैक (तावैक)विषयौ यथा रूपरसप्रत्ययौ, भिन्नप्रतिभासौ च शाब्द-इन्द्रियप्रत्ययौ । तथा *"यौ एकविषयौ तौ न भिन्नप्रतिभासौ यथा सन्निहिते नीले पुरुषद्वयस्य तत्प्रत्ययौ, एकविषयौ न (च) परस्य प्रकृत अव्ययौ (प्रत्ययौ)।" इति ; कथम् ? एकविषयत्वेऽपि मन्देतरचक्षुषोः[2] प्रत्ययप्रतिभासातिशयोपगमेन व्यभिचारात् ।

यस्त्वाह–प्र ज्ञा क रः *"तद्विषयस्य परं प्रति असिद्धेः तत्रापि अविशदनिर्भासस्य एकविषयत्वाभावाद् अन्यत्वा (था) तदभावात् सामग्रीभेदात् तद्भावोऽखण्डैकविषयत्वेऽपि चक्षुरादिबुद्धीनां रूपादिप्रतिभासभेदः सामग्रीविशेषात् इति स्यात्" इति ; स न प्रेक्षावान् ; यतः अविशदनिर्भासिनो विज्ञानाद् द्वंद्व (?) सौगतानामर्थे प्रवृत्त्यभावप्रसङ्गः । नहि निर्विषयतां जानन्नेव जातस्य त नः (?) प्रेक्षाकारी प्रवर्त्तते, सर्वत्र प्रमाणपरीक्षाभावप्रसङ्गात् । प्रवर्त्तमाने च अविसंवादभाग् न भवेत् । भवति च, लिप्यादौ तदूव्यवहारदर्शनात् । *"ममैवं प्रतिभासोऽयम्" [प्र० वार्तिकाल० १।१] [3]इत्याद्यनुमानाद् अविशदनिर्भासा [न्] तत्र ते प्रवर्त्तन्ते न इन्द्रियग्रामाद् इति महती काहलता ! पुनरपि अनुमाने अनवस्था । तन्न किञ्चिदेतत् । अथ स्वलक्षणविषयत्वाद् विशदेतरेन्द्रियज्ञानयोः एकविषयत्वमस्तु न प्रत्यक्षपरोक्षयोः, [4]अवस्तुसामान्यविषयत्वात् परोक्षस्येति ; तदेवाह–विकल्प इत्यादि । अतस्मिन्न [स्वलक्षणे तदग्रहात्] स्वलक्षण [२९८ क] ग्रहात् निर्विषयत्वम् इत्येवं वेदन् स (इत्येवं वदन्) हतो निराकृतस्त्वं पूर्वमेवेति । कुतः ? इत्यत्राह–'असाधनाङ्ग' इत्यादि । एतदुक्तं भवति–यदा [अ]वस्तुसत्सामान्यविषयो विकल्पः तदा तत्प्रभवं वचनमपि [5]तद्विषयमिति न परमार्थसाधनाङ्ग-विषयमिति तदवचनात् निगृहीतेः अर्हन्न (न्) हतस्त्वम् इति । विकल्पस्य परम्परया स्वलक्षण-प्रतिबन्धात् [6]तत्प्रभवस्य वचनस्यापि [7]तत्र सं इति चेत् ; अत्राह–सम्बन्धस्य परम्पराविनाभावस्य [8]एकान्तेन नियमेन [अतत्त्वरूपत्वात्] अतत्त्वं तदवस्तुरूपत्वात् । परपरिकल्पितस्वलक्षणस्य कुतश्चिदसिद्धेः कथं तत्र[9] साक्षादन्यथा वा कस्यचित् तत्त्वतः प्रति[बन्धो] भवेत् ? तदसिद्धौ (द्धौ) किं तत्त्वमिति चेत् ? अत्राह–तत्त्वम् इत्यादि । दर्शनानतिक्रमेण [यथा]दर्शनं च स्थूलादेः इति भावः । ततः किं जातम् ? इत्याह–अन्यथा इत्यादि । अन्यथा अन्येन अने-

(१) नीलप्रत्ययौ । (२) पुरुषयोः । (३) प्रतिभास एवम्भूतो यः स न संख्यानवर्जितः । एवमन्यत्र दृष्टत्वादनुमानं तथा च तत् ॥"–प्र०वार्तिकाल० २।११। (४) अवस्तु वस्तु सामान्यं तद्विषयत्वात् । (५) अवस्तुविषयमिति । (६) विकल्पप्रभवस्य । (७) स्वलक्षणे । (८) सम्बन्धः । (९) स्वलक्षणे ।

कान्तसिद्धेरप्यकारकेण तत्त्वस्य या अनुपपत्तिः तया अनेकान्तसिद्धिः । अत्र परः[1] पृच्छति सदसि "[illegible]" इत्यादिना ? संपृष्ट (सः पृष्ट) आह–तल्लक्षण इत्यादि । तस्य हेतोः लक्षण-अनन्तरं वक्ष्यमाणप्रस्तावः तत्र, अन्यस्य पक्षधर्मत्वादेः अनपेक्षणं वक्ष्यामः इति ।

तदेवं जल्पस्वरूपं निरूप्य अधुना सदसि [2]तदुपन्यासप्रयोजनं दर्शयन्नाह–स्याद्वादेन इत्यादि । ५

[स्याद्वादेन समस्तवस्तुविषयेणैकान्तवादेष्व-
भिध्वस्तेष्वेकमुखीकृता मतिमतां नैयायिकी शेमुषी ।
तत्त्वार्थाभिनिवेशिनी निरुपमञ्चारित्रमासादय-
न्त्यद्धाऽनन्तचतुष्टयस्य महतो हेतुर्विनिश्चीयते ॥२८॥]

स्यात् इति निपातः प्रशस्तार्थः । स्याद्वादेन च प्रशस्तजल्पेन । किंभूतेन ? समस्त- १०
वस्तुविषयेण समस्तेन संपूर्णेन वस्तुविषयेण तद्विधेन (सामस्त्येन) वस्तु विषयो यस्य । किम् ? इत्याह–अभिध्वस्तेषु निराकृतेषु । केषु ? इत्याह–एकान्तवादेषु एकान्तसंबन्धि [२९८ख] कथाभेदेषु । बहुवचनात् सकलकथाप्राप्तेः । तेषु सत्सु किम् ? इत्याह–एकमुखीकृता अन्यकथाभ्यो विनिवर्त्य प्रशस्तजल्पनियता कृता च (का ?) इत्याह–सेमुखी (शेमुषी) । किंभूता ? नैयायिकी न्यायनियुक्ता । केषाम् ? इत्याह–मतिमतां प्राज्ञानाम् । सा तथा १५
कुतः ? इत्याह–तत्त्व इत्यादि । तत्त्वार्थाभिनिवेशिन्येव न्याययुक्ता भवति । किं कुर्वाणा ? इत्याह–आसादयन्ती । किम् ? चारित्रम् वादिप्रतिवादिपक्षयोः माध्यस्थ्यम्, अनुपम-मुपमम् (निरुपमम् अनुपमम्) द्राक्षुदिति (अद्धा झटिति) हेतुर्लिङ्गं विनिश्चीयते । सकलविप्रतिपत्तिमलविविक्ता(क्तं) व्यवस्थाप्यते । कस्य सम्बन्धि ? इत्याह–अनन्तच-तुष्टयस्य महत इति । २०

ननु पावकादेरपि हेतुः विनिश्चेतव्यः ; सत्यम् ; तथापि प्रधाने कृतो यत्नः [3]अन्यत्रापि भवति । अत एव उच्यते महत इति ।

यदि वा प्रस्तोष्यमाणप्रस्तावपातनिकावृत्तमेतत् । [4]अस्य एवं प्रवेशः । हेतुवद् अनुमेय-ज्ञानेऽपि विवादभावात् तदपि विनिश्चीयताम् ; इत्यत्राह–स्याद्वादेन अनेकान्तशासनेन समस्त-वस्तुविषयिणा (विषयेण) *"उन्मिषितमपि अनेकान्तमन्तरेण न संभवति" इति २५
वचनाद् एकान्तवादेषु सौगतादिसमयेषु अभिध्वस्तेषु एकमुखीकृता अनेकान्ताभिमु-खीकृता शेषं पूर्ववत् । अतः तस्य हेतुरेव विनिश्चीयते नानुमेयज्ञानमिति ।

ननु हेतुवत् तद्वाक्येऽपि विवादवृत्तेः [5]तदपि परैरिव भवद्भिरपि किन्न विनिश्चीयते इति चेत् ? न ; अस्य अनन्तरं विचारितत्वात् । अत एव [२९९ क] परार्थानुमानावचनमिति ।

---

(१) बौद्धः । (२) जल्पोपन्यास । (३) गौणेऽपि । (४) वृत्तस्य । (५) हेतुवाक्यमपि ।

मार्गप्रभावनायाः सि[illegible] स्वाद्वादेन इत्यादि । नैयायिकी प्रमाण-
प्रमेयन्यायनियुक्ता [illegible] इति यावत् । तत्त्वार्थाभिनिवेशिनी तत्त्वार्था-
भिरुचिसंप्रयुक्त निरुपमं [illegible] । आसादयन्ती [illegible]
(त्यद्वा) 'अनन्तचतुष्टयस्य अनन्तज्ञानादेः महतो हेतुः कारणम् तत्पलेति (तत्त्वेति)
५ विनिश्चीयते ।

इति रविभद्रपादोपजीविअनन्तवीर्यमुनिविरचितायां
सिद्धिविनिश्चयटीकायां जल्पसिद्धिः पञ्चमः प्रस्तावः ।

---

(१) अनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यैकक्षणत्व ।